पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

युग निर्माण योजना– दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम

सम्पादक
ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक :

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

भूमिका

सूक्ष्मजगत की दिव्य-प्रेरणा से उद्‌भूत संकल्प ही युग निर्माण योजना के रूप में जाना जाता है। व्यक्ति के चिन्तन-चरित्र-व्यवहार में बदलाव, व्यक्ति से परिवार एवं परिवार से समाज का नवनिर्माण तथा समस्त विश्व-वसुधा एवं इस जमाने का, युग का, एक 'एरा' का नवनिर्माण स्वयं में एक अनूठा अभूतपूर्व कार्यक्रम है, जिसकी संकल्पना परमपूज्य गुरुदेव द्वारा की गई एवं अमली जामा पहनाया गया। यही युग निर्माण की प्रक्रिया परमपूज्य गुरुदेव के नवयुग के समाज, भावी सतयुग के आगमन की घोषणा का मूल आधार बनी। इसी का विवेचन विस्तार से प्रस्तुत वाङ्मय में हुआ है।

परमपूज्य गुरुदेव इसका शुभारम्भ मथुरा में आयोजित १९५८ के सहस्रकुण्डी गायत्री महायज्ञ से हुआ बताते हैं, जिसमें धर्म-तंत्र के माध्यम से लोकमानस को विचार-क्रान्ति प्रक्रिया के प्रवाह में ढालने की घोषणा कर विधिवत गायत्री परिवार अथवा युग निर्माण मिशन की स्थापना कर दी गयी थी। इसका स्वरूप उनने इस प्रकार बनाया कि इस विचारधारा का समर्थन करने वाले सहायक सदस्य, प्रतिदिन एक घण्टा व दस पैसा (बाद में बीस पैसा अथवा एक दिन की आजीविका) नित्य देने वाले सक्रिय सदस्य, प्रतिदिन चार घण्टे युग परिवर्तन आन्दोलन के लिए समर्पण करने वाले कर्मठ कार्यकर्त्ता एवं आजीवन अपना समय लोक-सेवा के निमित्त लगाने वाले लोकसेवी-वानप्रस्थ- परिव्राजक कहलायेंगे। आत्म-निर्माण, परिवार-निर्माण , समाज-निर्माण की त्रिविध कार्यपद्धति इस मिशन की बनायी गयी। स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन एवं सभ्य समाज की अभिनव रचना की धुरी पर सारे प्रयासों को नियोजित किया गया। बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक क्रान्ति की आधारशिला पर तथा प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक कार्यक्रमों की सुव्यवस्थित नीति पर युग निर्माण का सारा ढाँचा बनाया गया।

इस प्रकार वाङ्मय के इस खण्ड के माध्यम से उस संगठन ने जन्म लिया जो आज देव संस्कृति दिग्विजय करता हुआ सारी विश्व-वसुधा में नवजागरण का शंखनाद कर रहा है। पूज्यवर सदा से एक ही बात कहते व लिखते रहे हैं कि धर्मतंत्र के माध्यम से ही राष्ट्र का भावनात्मक नवनिर्माण संभव है। सारी बहिरंग की परिस्थितियाँ, भौतिक विकास की दिशा में किये जा रहे प्रयास प्रत्यक्षवादी उन्मादी प्रगति की ओर आज मानवता को ले जा रहे हैं। आज इसी कारण जीवन का कोई पक्ष विकृतियों से अछूता नहीं है। युग निर्माण की प्रक्रिया धर्मतंत्र को विडम्बनाओं से मुक्त कर उसके परिष्कृत उपयोग तथा जाग्रत आत्माओं के माध्यम से नवनिर्माण के निमित्त समानान्तर स्तर पर प्रयासों पर केन्द्रित है। राजतंत्र आज जहाँ लोभ और भय के आधार पर अंकुश स्थापित करने की बात कहता है, वहाँ धर्मतंत्र मानवी अंतःकरण में दिव्य प्रेरणाओं का संचार कर व्यक्ति को अपनी गतिविधियाँ बदलने को विवश कर देता है। बिना किसी बाहरी दबाव या प्रयास के मनुष्य अपने आप अपनी भावनाओं के आधार पर अपने को बदल लें, यह क्षमता धर्म के अतिरिक्त और किसी तत्त्व में नहीं है। नवयुग के नवनिर्माण की भूमिका सम्पादन कर सकना, केवल जाग्रत, जीवन्त और कर्त्तव्यनिष्ठ लोगों द्वारा ही संभव है। उसी को लक्ष्य मानकर भावनाशीलों का परिकर युग निर्माण परिवार के रूप में खड़ा किया गया है।

पूज्यवर का अभिमत रहा है कि युग परिवर्तन के लिए लोकशिक्षण धर्मतंत्र के माध्यम से होना अत्यधिक अनिवार्य है। गायत्री, यज्ञ एवं संस्कार प्रक्रिया के द्वारा यह ढाँचा पूज्यवर ने तैयार किया एवं क्रमबद्ध ढंग से विचार परिवर्तन की प्रक्रिया संपन्न करती हुई यह यात्रा अब इक्कीसवीं

सदी की ओर कदम बढ़ा रही है। संगठन को संस्था प्रक्रिया के ढाँचे में न बाँधकर आत्मीयता के माध्यम से गूँथकर एक विराट परिवार का रूप दिया गया है,यही इसकी विशेषता है । लोकमंगल के प्रयास में अनेकानेक संगठन लगे हैं किंतु गायत्री परिवार-युग निर्माण मिशन की कार्यशैली ने उसे एक अनूठी ही स्थापना के रूप में जन-जन के मनों में बिठा दिया है।

परमपूज्य गुरुदेव ने लिखा है कि परमार्थ में ही सच्चा स्वार्थ है। जो भी अपना भौतिक, आध्यात्मिक कल्याण चाहता है उसे अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु समाज हित में स्वयं को खपाना चाहिए। अपने आपको ढालने-बदलने के लिए हर मनुष्य के लिए सर्वोत्तम, सर्वसुलभ प्रयोगशाला है- उसका अपना परिवार। अपने आपे के बाद अपना सबसे बड़ा प्रभाव क्षेत्र अपना परिवार ही होता है। उसके प्रति अपने उत्तरदायित्वों को निबाहते हुए भी वह सब किया जा सकता है जो व्यक्ति आत्मकल्याण हेतु करना चाहता है। अनिवार्य नहीं कि सभी को वैराग्य लेकर हिमालय जाना पड़े, गुफा-कन्दराओं में वास करना पड़े। मनुष्य यदि गृहस्थ को तपोवन बना ले तो त्याग, संयम, सहिष्णुता की साधना करते हुए वह निरन्तर आत्मिक प्रगति के पथ पर गतिशील हो सकता है। समाज निर्माण के निमित्त पूज्यवर ने शतसूत्री कार्यक्रम युग निर्माण योजना के अन्तर्गत दिए हैं। इन सबका विस्तार से विवेचन पाठकगण इस खण्ड में कर सकेंगे । बड़ी ही सारगर्भित प्रतिपादन भरी शैली में वे शुचिता व ममता को व्यक्ति निर्माण का तथा एकता व समता को समाज निर्माण का आधार बताते हुए युग निर्माण की प्रक्रिया को विस्तार से समझाकर प्रत्येक को आश्वस्त करते दिखाई देते हैं। शारीरिक स्वच्छता, मन- आचरण की शुद्धि को शुचिता, 'हम सबके सब हमारे' की भावना को ममता, 'मेरेपन का त्याग' तथा 'एक बनकर नेक बनकर' बिखराव को समाज से मिटाने को एकता, मानव-मानव के बीच बिलगाव मिटाकर समता की सर्वतोमुखी स्थापना की बात इस खण्ड में विस्तार से लिखी गयी है।

युग निर्माण योजना के दर्शन व स्वरूप के साथ कार्यक्रम समझाते हुए पूज्यवर ने तीन चरणों की योजना बनाई-प्रचारात्मक, रचनात्मक, संघर्षात्मक। ज्ञानयज्ञों द्वारा विवेकशीलता का जागरण-लेखनी, प्रदर्शनी एवं विचारों के माध्यम से भावनात्मक नवनिर्माण, प्रचारात्मक आंदोलन द्वारा बौद्धिक क्रान्ति के अन्तर्गत आता है। विभूतियों के सुनियोजन द्वारा समाज में रचनात्मक प्रवृत्तियों का विस्तार-नैतिक मूल्यों का प्रचार-प्रसार रचनात्मक कार्यक्रम- नैतिक क्रान्ति के अन्तर्गत तथा दुष्प्रवृत्तियों से मोर्चा लेकर अवांछनीयताओं का निष्कासन, संघर्षात्मक क्रान्ति, सामाजिक क्रान्ति के अन्तर्गत कार्यक्रम रूप में दिये गये हैं। कहना नहीं चाहिए कि ऐसे सुनिश्चित आधार पर टिकी योजना भगवत्प्रेरणा के अतिरिक्त और कुछ हो भी नहीं सकती। ऐसी ही युगान्तकारी प्रत्यावर्तन प्रक्रिया को गतिशील करने वाली योजना के समग्र दर्शन व कार्यक्रम को परिजन इसमें पढ़ सकते हैं। निश्चित ही आज की स्थिति से निराश परिजन वाङ्मय के इस खण्ड से आशावाद की ऊषा, लालिमा की संभावना प्रकट होते देखेंगे व अपने चिन्तन को विधेयात्मक बनाएँगे।

—ब्रह्मवर्चस

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्ज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही हैं। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानीगणों के वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देखा सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबोकर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता, मन को व विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों-करोड़ों के मनों के अंतःस्थल को छूकर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्लमार्क्स के साम्यवाद की क्रांन्ति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्‌बोधन से एक विराट् गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े करते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाये, कैसे छन्दबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर, १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आस-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्‌भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे, छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला

की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किंतु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक-दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि- "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गईं- संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख-सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद

पैदल लम्बा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अँग्रेजी सीखकर लौटे। आसनसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मदनमोहन मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से, मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान, बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जनआक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रान्तिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्तजी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री श्रीगोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधीजी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधानमंत्री राहत फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्रीकृष्णदत्तपालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रहकर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अत: पुन: सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमश: उनके अध्यवसाय घर- घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदयस्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ। स्थान बदला, आगरा से मथुरा आग गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों

का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतःस्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुःखी था- पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रान्ति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि-विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परमवंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के ज़ल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनने महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूलथाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञानसम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप-पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों के द्वारा विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनाते रहे. पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों को विशेष कार्य-भार सौंप परमवंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया-पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन, संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के

अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक, साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी-बूटी, यज्ञ विज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना, मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञानसम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का, एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युगशिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन-जाग्रति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञासंस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञामण्डल, स्वाध्याय-मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया-कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तपसाधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया-कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी के दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट-आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नवनिर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरुसत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युग संधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नवनिर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रान्ति ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद, दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु सम्पन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९४ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी गई। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो एक सौ आठ खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हुआ। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जाएँगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़-चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है। ooo

suchi yny

विषय-सूची

* *

युग निर्माण योजना और उसकी दिशाधारा

युग निर्माण योजना- एक परिचय, एक झाँकी

अधर्म और असुरता के अभिवर्द्धन एवं धर्म तथा देवत्व के पराभव का असन्तुलन सुधारने के लिए भगवान समय-समय पर किसी सुधारवादी प्रचण्ड प्रक्रिया के रूप में अवतार लेते रहे हैं । आज की परिस्थितियाँ भी इसी के उपयुक्त हैं । धन, बुद्धि और विज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ असंयम, अनाचार और अविवेक भी बढ़ा है, फलतः जहाँ साधनों की बढ़ोत्तरी से सुख-सुविधाएँ बढ़नी चाहिए थीं, वहाँ रोग, शोक और कष्ट-कलह की विपत्तियाँ घुमड़ने लगी हैं । स्थिति क्रमशः बिगड़ती ही चली है और विकृतियाँ इस सीमा तक जा पहुँची हैं मानो मनुष्य जाति अपनी चिरसंचित सभ्यता को तिलाञ्जलि देकर सामूहिक आत्म-हत्या करने ही चल पड़ी हो । ऐसी विषम परिस्थितियों में गीता में दिया हुआ भगवान का असंतुलन सुधारने का आश्वासन यदि यथासमय कार्यान्वित होता है तो उसे उचित ही समझा जाना चाहिए ।

बढ़ती हुई सर्वग्राही असुरता की प्रतिक्रिया भी हुई है । अन्तरिक्ष में ऐसे दिव्य प्रवाह उमड़े हैं जो इस सुन्दर विश्व की गरिमा को जीवित रखने के लिए गतिशील हैं । ध्वंस की चुनौती सृजन ने स्वीकार की है और असुरता को सर्वभक्षी, सर्वनाशी न होने देने के लिए देवत्व ने प्रतिरोध का साज सजाया है । इन्हीं दिव्य प्रयत्नों की एक झाँकी युग निर्माण योजना अभियान के रूप में भी देखी जा सकती है ।

गायत्री तपोभूमि मथुरा के विशालकाय सहस्रकुण्डी गायत्री महायज्ञ के पूर्व एक हलचल उमड़ी, जिसने अनेक अन्तःकरणों को मथ डाला और इस बात के लिए विवश किया कि जन-मानस में दिन-दिन भरती जाने वाली विकृतियों के नियन्त्रण और भावनात्मक परिष्कार के लिए कुछ कारगर प्रयास किये जाएँ । जिस सत्ता ने यह हलचल उत्पन्न की उसी ने यह मार्ग भी सुझाया कि यह प्रयोजन संघ शक्ति के माध्यम से ही होगा और वह संगठन धर्म प्रकृति का होना चाहिए । राजतन्त्र और धर्मतन्त्र दो ही मानव-जीवन को प्रभावित करने वाले आधार हैं । राजतन्त्र जन-साधारण के भौतिक जीवन को प्रभावित करता है और धर्मतन्त्र अन्तःकरण के मर्मस्थल को स्पर्श करके दिशा और दृष्टि का निर्धारण करता है । दोनों की शक्ति असामान्य है । दोनों का प्रभाव अपने-अपने क्षेत्र में अद्भुत है । दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । इतना ही नहीं धर्मतन्त्र का महत्व राजतन्त्र से ऊपर ही है । क्योंकि अन्तरंग जीवन के अनुरूप ही भौतिक परिस्थिति में हेर-फेर होता है । अस्तु, उस दिव्य हलचल की यह प्रेरणा उचित ही थी कि धर्मतन्त्र की संगठनात्मक प्रवृत्तियाँ, बढ़ी हुई असुरता का शमन करने के लिए सजग हों और आगे आएँ ।

सूक्ष्म जगत की एक दिव्य प्रेरणा ही कहना चाहिए कि उपर्युक्त प्रयोजन की पूर्ति का संकल्प लेकर युग निर्माण आन्दोलन सामने आया । मोटी दृष्टि से इस प्रयास को मानुषी समझा जा सकता है पर वस्तुतः उसके पीछे अति मानवीय शक्तियाँ ही काम कर रही हैं । मानुषी प्रयत्न इतनी साधनरहित परिस्थितियों में, इतने अधिक सक्रिय और सफल हो सके हों, ऐसा प्रमाण अन्यत्र ढूँढ़ा जा सकना कठिन है । युग निर्माण आन्दोलन के आरम्भ से लेकर प्रगति के अद्यावधि चरणों पर दृष्टि डाली जाय तो उसे कुछ जादू-चमत्कार के स्तर का समझा जा सकता है ।

बैठे-बैठे एक दिन यह आकांक्षा उमड़ी कि धर्म पक्ष की सजग आत्माओं को एक स्थान पर एकत्रित किया जाय और उनकी अन्तःचेतना को उभारकर जन-मानस के भावनात्मक नव-निर्माण में लगाया जाय । सर्वथा साधन रहित एकाकी व्यक्ति ऐसा मनोरथ बना तो सकता है पर वैसा करने का उपहासास्पद दुस्साहस नहीं कर सकता, पर हुआ वैसा ही । मनोरथ ने संकल्प का रूप धारण किया और देखते-देखते वह कार्यरूप में परिणति हो गयी ।

विश्वव्यापी भावनात्मक आन्दोलन का उद्भव और विस्तार भारत से होता रहा है । भारतीय संस्कृति वस्तुतः विश्व संस्कृति है । भारतीय धर्म को निस्संकोच विश्व धर्म कहा जा सकता है । भारतीय धर्म का प्रतीक यज्ञ और भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि गायत्री मन्त्र है । इन दोनों का समन्वय जहाँ उपासनात्मक कर्म-काण्ड का प्रयोजन पूरा करता है, वहाँ आस्थाओं को दार्शनिक प्रकाश भी देता है और उन्हें उत्कृष्टता की दिशा में प्रेरित भी करता है । अस्तु, धर्मतन्त्र के माध्यम से विश्वव्यापी भावनात्मक नवनिर्माण का आधार गायत्री और यज्ञ के तत्वदर्शन को बनाना पड़ा । उसे कार्यरूप में परिणित करने के लिए गायत्री यज्ञ का कलेवर खड़ा करना पड़ा ।

योजना की सामाजिक पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए वर्षों तक अखण्ड ज्योति पत्रिका, प्रखर साहित्य, आत्मीयतापूर्ण जन-सम्पर्क, लोक परिष्कार के छुटपुट आयोजनों की लम्बी शृंखला धैर्यपूर्वक चलायी जाती रही । प्रयास यही किया गया कि मात्र विस्तार ही नहीं दृढ़ता भी बढ़े । इन प्रयासों द्वारा जाग्रत मनोभूमि के व्यक्तियों को अच्छी संख्या में सूत्रबद्ध किया जा सका ।

सन् १९५८ में गायत्री तपोभूमि मथुरा द्वारा एक विशालकाय सहस्र-कुण्डी गायत्री यज्ञ का आयोजन हुआ। यह मात्र धर्मानुष्ठान ही नहीं था वरन् प्राचीनकाल के धर्म संगठन को परिष्कृत करने के लिए किये जाने वाले 'वाजपेय' यज्ञों की पुनरावृत्ति थी। राजतन्त्र के क्षेत्र में जब विकृतियाँ भर जाती थीं तब उनके समाधान का उपाय सोचने और प्रयास करने के लिए अश्वमेध सरीखे राजसूय यज्ञ होते थे और धर्मक्षेत्र की विकृतियों के निराकरण के लिए धर्मनेताओं का प्रयास वाजपेय यज्ञों के रूप में प्रस्तुत होता था। सन् ५८ के उपर्युक्त गायत्री महायज्ञ को भावनात्मक विकृतियों के विरुद्ध कारगर मोर्चा खड़ा करने वाला वाजपेय स्तर का प्रयास कहा जा सकता है।

उस आयोजन का स्वरूप अपने ढंग का विलक्षण था। देशभर के आस्थावान् धर्मप्रेमी सजीव और सक्रिय, व्यक्तित्वों को तलाश किया गया और आमन्त्रित किया गया। आश्चर्य यह कि धर्म क्षेत्र के अधिकांश प्रबुद्ध व्यक्तियों को वह निमन्त्रण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मिल गया और वे उससे इस कदर प्रेरित, प्रभावित हुए कि आयोजन में सम्मिलित होने से अपने को रोक ही नहीं सके। लगभग एक लाख उस स्तर के लोग उसमें सम्मिलित हुए। कहते हैं इतना विशालकाय इस स्तर का धार्मिक आयोजन महाभारत के बाद अब तक एक भी नहीं हुआ। आगन्तुकों के ठहरने के लिए सात मील की परिधि, साथ ऋषि नामों पर साथ नगर बनाये गये थे। जिनमें निवास, रोशनी, जल, सफाई, भोजन आदि की निशुल्क व्यवस्था थी। २४ लाख गायत्री मन्त्र की आहुतियों वाले उस धर्मानुष्ठान को देखने के लिए प्रायः चार लाख दर्शक भी उपस्थित थे। इस प्रकार समारोह की उपस्थिति पाँच लाख से कम नहीं कूती गई। इस विशालकाय जन समूह के बीच युग निर्माण आन्दोलन की रूपरेखा तैयार की गई। उसका संगठन खड़ा किया। इतना ही नहीं उस प्रक्रिया के कार्यान्वित होने का शुभारम्भ भी उसी समय हो गया। आगन्तुक आये थे एक धर्म सम्मेलन का आनन्द लेने, लौटे नवनिर्माण के सक्रिय कार्यकर्ता बनकर। इतने स्वल्प समय और प्रयास में ऐसा आश्चर्यजनक परिणाम निकले इसे अति मानवीय प्रयास ही कह सकते हैं।

उपर्युक्त ऐतिहासिक धर्मानुष्ठान की अन्य विशेषताओं की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं, बातें बताने के लिए तो अभी भी लाखों उपस्थित लोगों के द्वारा होती रहने वाली चर्चाएँ ही पर्याप्त हैं। यहाँ उसके अति मानवीय स्वरूप की एक झाँकी करने के लिए एक ही रहस्योद्घाटन करना पर्याप्त है, कि इतना विशालकाय आयोजन बिना किसी आर्थिक प्रबन्ध के इस तरह खड़ा कर दिया गया जिसे निकट से देखने वाले लोग अन्त तक 'सनक' कहते रहे। ४०० स्वयंसेवकों ने दो महीने अथक परिश्रम करके जहाँ प्रारम्भिक व्यवस्था श्रमदान से जुटाई वहाँ आगन्तुकों में से प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ आटा, दाल चावल भी लाया। उन्हीं में से एक चौथाई व्यक्ति हर दिन स्वयंसेवकों की ड्यूटी देते रहे। फलतः लाखों रुपया खर्च करके सम्पन्न हो सकने वाली भोजनादि की व्ययसाध्य व्यवस्था भी पूर्ण हो गई। दान-पेटियों में निकले पैसे से बिजली, तम्बू, हवन-सामग्री, पंडाल आदि का खर्च निकल गया। बिना अर्थ संग्रह का प्रयास किए इतने विशालकाय ऐतिहासिक आयोजन का सम्पन्न होना सदा आश्चर्य की तरह ही स्मरण किया जाता रहेगा। इसी प्रकार इतनी भीड़भाड़ के बीच इतनी सुन्दर और सुव्यवस्थित कार्यपद्धति का निर्धारण होना तथा उसके कार्यान्वित होने का प्रवाह बह निकलना और भी अधिक आश्चर्यचकित कर देने वाली प्रक्रिया है। जो हो युग निर्माण योजना का आरम्भ उस धर्मानुष्ठान के माध्यम से ही सम्पन्न हुआ। आरम्भ भी ऐसा जो कभी बीच में शिथिल नहीं हुआ वरन् दिन-दिन अग्रगामी ही होता चला आया।

स्वरूप और कार्यपद्धति

युग निर्माण योजना की दिशा एवं कार्यपद्धति इस पुस्तक में स्पष्ट है। इसके सदस्य चार प्रकार के हैं (१) सहायक सदस्य-जो इस विचारधारा में रुचि रखते हैं। उसका साहित्य पढ़ते हैं। समर्थन करते हैं और यथाशक्ति सहयोग करते हैं। (२) सक्रिय सदस्य-जो प्रतिदिन एक घण्टा समय और बीस पैसा नित्य देकर उससे अपने क्षेत्र में नव-निर्माण विचारधारा का प्रसार करते हैं। (३) कर्मठ कार्यकर्त्ता-जो शरीर और परिवार के लिए २० घण्टे मात्र देते हैं और शेष ४ घण्टे युग परिवर्तन आन्दोलन के लिए समर्पित करते हैं, साथ ही महीने में एक दिन की आजीविका भी उसी प्रयोजन में लगाते हैं। (४) लोक-सेवी वानप्रस्थ-जिन्हें पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्ति मिल गई है और जो अपना पूरा समय अवैतनिक रूप से नव-निर्माण कार्यक्रमों में नियोजित किये रहते हैं। उपर्युक्त चारों प्रकार के सदस्यों की संख्या कुल मिलाकर इन दिनों लगभग २४ लाख है। उनमें से प्रत्येक का प्रयास यह रहता है कि उसके सेवा-सम्पर्क, कार्यक्षेत्र से कम से कम दस नये व्यक्ति उसी के जैसे और भी निकलें। इस प्रकार मिशन का कार्यक्षेत्र दिन-दिन आगे ही बढ़ता चला जा रहा है और साहसी मनुष्यों की, कार्यकर्ताओं की संख्या निरन्तर बढ़ती चली जा रही है।

आत्म-निर्माण, परिवार-निर्माण, समाज-निर्माण की त्रिविध कार्यपद्धति इस मिशन की है। स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज की अभिनव रचना के इर्द-गिर्द मिशन के सारे प्रयास घूमते हैं राजनैतिक क्रान्ति इस देश में हो चुकी। आर्थिक क्रान्ति के लिए राजनेता प्रयत्नशील हैं। प्रगति का सर्वांगीण प्रयोजन पूरा करने वाली तीन क्रान्तियाँ अभी शेष हैं। वे जब तक पूरी न होंगी हम संकटों से पार न हो सकेंगे। बौद्धिक क्रान्ति, नैतिक क्रान्ति एवं सामाजिक क्रान्ति की तीन आवश्यकताएँ ऐसी हैं जिनके बिना उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न साकार न हो सकेंगे। चरित्रवान व्यक्ति ही किसी राष्ट्र की वास्तविक सम्पदा हैं। विवेकशीलता, न्यायनिष्ठा और निष्पक्ष चिन्तन

से ही विकृतियों का जाल-जंजाल कटता है। व्यक्तिगत स्वार्थों का उत्सर्ग सामाजिक प्रगति के लिए करने की परम्परा जब तक प्रचलित न होगी तब तक कोई राष्ट्र सच्चे अर्थों में सामर्थ्यवान नहीं बन सकता है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर यह भावनात्मक नव-निर्माण का सर्वतोमुखी अभियान चल रहा है। इसकी प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक शत-सूत्री गतिविधियों का यही प्रयोजन है।

भारत की ८० फीसदी जनता देहातों में रहती है। यहाँ अशिक्षितों की संख्या ७७ प्रतिशत है। यही है भारत का असली स्वरूप-असली बहुमत। इसका बौद्धिक स्तर दैनिक काम-काज में थोड़ा ऊँचा उठता है तो वह धर्म परम्परा का ही क्षेत्र है। हमें जो कुछ भी इस बहुमत से कहना है वह उनके बौद्धिक स्तर से तालमेल मिलाते हुए ही कहना चाहिए, तभी उसे ठीक तरह समझा और हृदयंगम किया जा सकेगा। गाँधीजी अपनी जनता का मनः स्तर जानते थे। उन्होंने स्वतन्त्रता आन्दोलन में धार्मिकता का समावेश किया। रामराज्य, धर्म-राज्य, गौ-रक्षा, रामधुन, सत्य अहिंसा आदि को प्रधानता दी और स्वयं एक सन्त के रूप में जनता के सामने आये। यदि आन्दोलन इस स्तर का न रहा होता तो कदाचित् ही इतना लोकप्रिय होता। अभी भी जन-मानस, उसी स्तर का है। यदि स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त आवश्यक परिवर्तन अभीष्ट हो तो जन-मानस का स्तर समझते हुए ही दूरदर्शितापूर्ण कार्यपद्धति अपनाई जानी चाहिए। युग निर्माण योजना का प्रयास इसी स्तर का है। फलस्वरूप उसे लगभग गाँधीजी के आन्दोलन जैसी ही सफलता भी मिल रही है। उसका विश्वास है कि यदि धर्मक्षेत्र में लगी हुई श्रम, समय, मनोयोग, धन, श्रद्धा जैसी सम्पदाओं को नवनिर्माण के लिए प्रयुक्त किया जा सके तो उज्ज्वल भविष्य के स्वप्नों को साकार कर सकना तनिक भी कठिन न रह जायगा।

युग निर्माण योजना संगठन संस्थाओं जैसा नहीं, परिवार स्तर का है। केन्द्र से प्रेरणा भर दी जाती है। कार्यकलाप की पूछताछ, नैतिक प्रोत्साहन, मार्गदर्शन भर मिलता है। अन्य कोई नियंत्रण शाखा संगठनों पर नहीं है। सदस्यगण अपना स्थानीय संगठन बनाते हैं। एक कार्यवाहक मात्र नियुक्त करते हैं और बिना पदों की आपाधापी किए निर्धारित सेवा-साधना में संलग्न रहते हैं। यही प्रक्रिया अब तक संस्था संगठनों में चलने वाली खींचतान से बचाये रही है और आशा की जानी चाहिए कि बिना अन्तर्द्वन्द्वों में उलझे यह परिवार निर्धारित लक्ष्य की दिशा में शान्ति और उत्साह के साथ अग्रगामी होता चला जायगा।

इन दिनों हजारों शाखाओं में संगठित लाखों सदस्यों का यह युग निर्माण परिवार अपने ढंग से जन-मानस का परिष्कार करने की दिशा में सफलतापूर्वक आगे बढ़ रहा है। उसका प्रचार-तन्त्र जितना प्राचीन है, उतना ही अर्वाचीन भी। आयोजित गायत्री यज्ञों के धर्मानुष्ठानों में जनता श्रद्धा और उत्साहपूर्वक भाग लेती है। सम्मिलित होने वाले प्रत्येक व्यक्ति को देव-दक्षिणा देने के लिए तैयार किया जाता है। देव-दक्षिणा के दो पक्ष हैं, एक अपने वर्तमान दोष-दुर्गुणों में से कम से कम एक का संकल्प पूर्वक त्याग और एक सद्गुण को दृढ़तापूर्वक अपनाने का व्रत धारण, इस प्रकार अब तक लाखों व्यक्तियों ने यज्ञीय परम्पर अपनाकर वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में उत्कृष्टता की स्थापना की है। गायत्री यज्ञों के साथ जुड़े हुए सुव्यवस्थित युग निर्माण सम्मेलनों द्वारा जन-मानस में उस दृष्टिकोण को उतारने का प्रयत्न किया जाता है जिसके आधार पर मनुष्य में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण सम्भव हो सके।

युग निर्माण योजना द्वारा प्रचलित संस्कारों, आयोजनों की प्रक्रिया परिवार निर्माण की दृष्टि में अतीव महत्वपूर्ण पद्धति है। गर्भवती का पुंसवन संस्कार सारे परिवार को यह सिखाता, समझाता है कि निकट भविष्य में घर आने वाले शिशु को सुसंस्कृत बनाने के लिए परिवार का वातावरण किस स्तर का बनाया जाए और उसके लिए क्या किया जाए? नामकरण संस्कार के समय शिशु के शारीरिक, मानसिक विकास की समग्र शिक्षा दी जाती है। 'अन्नप्राशन' के समय सन्तुलित आहार और ईमानदारी से उपार्जित अन्न के लाभ एवं प्रयोग समझाये जाते हैं। मुण्डन संस्कार के समय मानसिक विकास की रीति-नीति पर साङ्गोपाङ्ग प्रकाश डाला जाता है। यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर पशु-प्रवृत्तियाँ त्यागने और मानवीय कर्त्तव्यों को हृदयंगम तथा चरितार्थ करने वाला द्विजत्व व्रत धारण कराया जाता है। विवाह संस्कार के समय दाम्पत्य कर्त्तव्यों तथा पारिवारिक कर्त्तव्यों के निर्वाह का स्वरूप सिखाया, समझाया जाता है। वानप्रस्थ संस्कार के द्वारा वह साहसिक कदम उठाया जाता है, जिसके अनुसार व्यक्ति अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व पूर्ण करने के उपरान्त समाज की अवैतनिक सेवा करते रहने की साधना अपनाए। जन्म दिन पर शेष जीवन के सदुपयोग की योजनाएँ बनती हैं और विवाह दिन मनाने की परिपाटी दाम्पत्य जीवन में नई उमंगों और नई गतिविधियों का सृजन करती है। मृतक श्राद्ध संस्कार में पूर्वजों की उपार्जित सम्पदा का एक बड़ा भाग लोकमंगल के लिए लगाने के लिए कहा जाता है ताकि उस पुण्य से स्वर्गीय आत्मा को अधिक शान्ति मिल सके।

पर्व-त्यौहारों में समाज निर्माण की असीम प्रेरणाएँ भरी पड़ी हैं। यदि उन्हें सामूहिक रीति से सामाजिक सम्मेलनों के रूप में मनाया जा सके तो जन-साधारण को वह दिशा मिल सकती है, जिस पर चलते हुए समाज उत्कर्ष का प्रयोजन पूरा हो सके। बसन्त पंचमी शिक्षा प्रसार की, होली प्रेम मिलन की, रामनवमी मर्यादा पालन की, गंगा दशहरा आत्म-परिष्कार की, श्रावणी पाप प्रायश्चित की, विजयदशमी शक्ति संवर्धन की, दीपावली धन उपार्जन एवं सदुपयोग की, गीता जयन्ती कर्मयोग की प्रेरणाओं से ओतप्रोत है। इन उत्सवों को धर्मश्रद्धा के

जागरण के साथ-साथ उनके मूल प्रयोजनों को जनमानस में उतारने के लिए भली-भाँति प्रयुक्त किया जा सकता है। युग निर्माण योजना इसके सफल प्रयोग कर रही है। हजारों शाखाएँ कम से कम छह-छह पर्व हर वर्ष मनाती हैं। इस प्रकार प्रायः बीस-पच्चीस हजार छोटे से सम्मेलन देश भर में होते हैं। हर सम्मेलन में पाँच सौ की उपस्थिति का औसत माना जाय तो करोड़ों व्यक्तियों को नवनिर्माण मिशन की प्रेरणा मिलती है। गायकों और वक्ताओं को इन आयोजनों की पूर्ति के लिए प्रशिक्षित करना पड़ता है। हर शाखा को चार-छह गायक वक्ता तो मिशन के अनुरूप बोलने के लिए तैयार करने ही पड़े हैं। उनकी संख्या सहज ही बीस-पच्चीस हजार हो गयी है। इतने प्रशिक्षित उद्बोधक शायद ही किसी अन्य संगठन के पास हों।

गीता कथा, रामायण कथा, भागवत कथा, सत्यनारायण कथा, प्रज्ञापुराण कथा जैसे आयोजन दीप यज्ञ के साथ इस अभिनव पद्धति से सम्पन्न किए जाते हैं कि पौराणिक उपाख्यानों, प्रसंगों, संवादों के साथ आज की वैयक्तिक एवं सामाजिक समस्याओं को जोड़ा जा सके और उनका समाधान सुझाया जा सके। उपर्युक्त कथाओं के साप्ताहिक आयोजनों को तो एक प्रकार के शिक्षण शिविर ही कहा जा सकता है। लोकशिक्षण के साथ-साथ लोकनिर्माण की पद्धति सिखाना ही नहीं उसे कार्यान्वित करने का व्यावहारिक स्वरूप भी इन्हीं दिनों समझा दिया जाता है। शाखाएँ प्रायः अपने वार्षिकोत्सव इसी सप्ताह आयोजनों की पद्धति से मनाती हैं, जो आकर्षक भी रहते हैं और सफल भी सिद्ध होते हैं।

धर्म मंच के माध्यम से हिन्दू समाज में एक प्रकार से समग्र क्रान्ति जैसी हलचल उत्पन्न हो रही है। अब अगला कदम ठीक इसी आधार पर मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, पारसी आदि धर्मों की मान्यताओं तथा परम्पराओं को प्रगतिशील दिशा में अग्रसर करने की दिशा में उठाया जा रहा है। आशा की जानी चाहिए अब तक परस्पर लड़ने और विपाक्त वातावरण बनाने वाले धर्म, सम्प्रदाय भविष्य में एक दूसरे के पूरक, सहयोगी बनकर विश्व-बन्धुत्व की भावनाएँ विकसित करेंगे। वैयक्तिक सद्भावनाओं एवं सामाजिक सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धक सहायक बनेंगे।

युग निर्माण योजना का लक्ष्य वैयक्तिक जीवन में शुचिता, पवित्रता, सच्चरित्रता, समता, उदारता, सहकारिता उत्पन्न करता है। यह मिशन सामाजिक जीवन में एकता और समता की स्थापना के लिए व्यग्र है। इस संसार में एक राष्ट्र, एक धर्म, एक भाषा, एक आचार रहे। जाति और लिंग के आधार पर मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेद भाव न रहे। हर व्यक्ति को योग्यतानुसार काम करना पड़े, आवश्यकतानुसार गुजारा मिले। धनी और निर्धन के बीच की खाई पूरी तरह पट जाय। न केवल मनुष्य मात्र को वरन् अन्य प्राणियों को भी न्याय का संरक्षण मिले। दूसरों के अधिकार को, अपने कर्तव्य को प्राथमिकता देने की प्रवृत्ति हर किसी में उगती रहे, सज्जनता और सहृदयता का वातावरण विकसित होता चला जाए ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में युग निर्माण योजना प्राणपण से प्रयत्नशील है।

साधन एवं कार्यक्रम

भावनात्मक नवनिर्माण के लिए इस मिशन द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण साहित्य सृजा गया है। हिन्दू धर्म कोई सम्प्रदाय नहीं, वरन् विशुद्ध मानव धर्म, विश्व धर्म है। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए समस्त आर्ष साहित्य को प्रगतिशील अनुवाद समेत जनसाधारण के सामने प्रस्तुत किया गया है।

(१) चारों वेद, (२) १०८ उपनिषद्, (३) छहों दर्शन, (४) बीस स्मृतियाँ, (५) अठारहों पुराण, (६) २४ गीताएँ (७) योगवाशिष्ठ आदि आर्ष ग्रन्थ जिस सरल भाषा में प्रकाशित हुए हैं उससे भारतीय धर्म की गरिमा बुद्धिजीवी वर्ग में अधिक अच्छी तरह समझी गयी है।

जीवन जीने की कला सिखाने के लिए सस्ते मूल्य की विचारोत्तेजक पुस्तकें छपी हैं। व्यक्ति और समाज के सन्मुख उपस्थित समस्याओं के समाधान के लिए सैकड़ों पुस्तकें छपी हैं। इनके अनेक संस्करण छप चुके हैं। जनता में वितरण करने के लिए नवनिर्माण आन्दोलन के समर्थन में विज्ञप्तियाँ छपी हैं। जिन्हें अब तक लाखों की नहीं करोड़ों की संख्या में वितरित किया जा चुका है। दुरंगे-तिरंगे पोस्टर चिपकाने के लिए तथा तस्वीरों की तरह प्रयुक्त होने के लिए भारी संख्या में छपे हैं। इस साहित्य की लोकप्रियता और प्रभावशीलता सर्वत्र एक स्वर से स्वीकार की गई है।

मिशन की कई पत्रिकाएँ निकलती हैं। मासिक अखण्ड ज्योति में विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय करने वाले अत्यन्त खोजपरक लेख रहते हैं। उन्हें बुद्धिजीवी वर्ग में एक अनोखे प्रतिपादन के रूप में मान्यता मिली है। हिन्दी युग निर्माण योजना मासिक में आदर्शवादी जीवन चरित्रों, घटनाओं, स्मरणों के माध्यम से आदर्शवादी रीति-नीति अपनाने की प्रेरणा दी जाती रही है। इन दोनों पत्रिकाओं ने नवनिर्माण के तत्वदर्शन एवं व्यावहारिक स्वरूप को जनमानस में गहराई तक प्रतिष्ठापित करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है।

उपर्युक्त दोनों हिन्दी मासिक पत्रिकाओं का सारांश अन्य भाषाओं में अनुवाद करके मासिक पत्रिकाएँ निकाली गई हैं ताकि उन भाषा-भाषी क्षेत्रों में भी इस विचारधारा का विस्तार हो सके। (१) अँग्रेजी अखण्ड ज्योति (२) गुजराती युग निर्माण योजना (३) मराठी युग निर्माण योजना (४) उड़िया युग निर्माण योजना इन दिनों सफलता पूर्वक चल रही है। इन सब पत्रिकाओं की ग्राहक संख्या लाखों में पहुँच चुकी है। इसके अतिरिक्त बंगला और तामिल भाषा में भी इन पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है। इन पत्रिकाओं के अतिरिक्त पुस्तकें, विज्ञप्तियाँ, ट्रेक्ट आदि भी सभी भारतीय भाषाओं में छापे जा रहे हैं। आशा

करनी चाहिए कि भारत की सभी मान्यता प्राप्त भाषाओं में इनका प्रकाशन होने लगेगा । देश का कोई कोना ऐसा न बचेगा जहाँ इस प्रकाश की किरणें न पहुँचें ।

आन्दोलन की प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक गतिविधियाँ अब इतनी अधिक हो गई हैं कि उनकी जानकारी सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए एक स्वतन्त्र पाक्षिक पत्र प्रकाशित करना पड़ा । पाक्षिक प्रज्ञा अभियान बड़े साइज के १० पृष्ठों में निकलता है और उसमें शाखा संगठनों द्वारा चल रही गतिविधियों के समाचार रहते हैं । अगले दिनों क्या किया जाना चाहिए ? इसका समुचित मार्ग दर्शन इसमें रहता है । शाखा संगठनों को मजबूत बनाने और कार्यक्षेत्र में अधिक उत्साह के साथ अग्रसर होने की प्रेरणा देने में इस पाक्षिक पत्रिका ने असाधारण योगदान दिया है ।

सदस्यगण जो बीस पैसा प्रतिदिन ज्ञान यज्ञ के लिए निकालते रहते हैं । उसी से सारा साहित्य खरीदा जाता है सदस्यगण हर मास प्रकाशित होते रहने वाला यह साहित्य मँगाते हैं । झोला पुस्तकालयों और चलपुस्तकालयों के माध्यम से शिक्षितों को घर-घर पढ़ाने और वापस लेने जाते हैं । इस प्रकार हर प्रकाशन की प्रत्येक प्रति तुरन्त ही कम से कम दस व्यक्तियों द्वारा पढ़ ली जाती है । अशिक्षितों को पढ़कर सुनाने का भी क्रम प्रायः हर सदस्य चलाता है । इस प्रकार इस प्रकाश से पढ़े और बिना पढ़े दोनों ही वर्ग समान रूप से लाभान्वित होते हैं ।

वाणी और लेखनी के अतिरिक्त प्रचार तन्त्र का तीसरा माध्यम है कलामंच । संगीत, अभिनय, कविता सम्मेलन, सहगान कीर्तन, गतिशील गायन, छाया नाट्य आदि के माध्यम से लोकमंगल और लोकरंजन का समन्वय करके मिशन की प्रेरणाओं को बाल-वृद्ध, नर-नारी, शिक्षित, अशिक्षित सभी के लिए उपलब्ध किया गया है । संगीत मण्डलियाँ, नाटक मण्डलियाँ, कविता सम्मेलन मण्डलियाँ अपने-अपने क्षेत्र में लोकप्रिय हो रही हैं और जनमानस में क्रांतिकारी उमंगें उत्पन्न कर रही हैं ।

युग निर्माण गीतों के ग्रामोफोन रिकार्ड एवं ऑडियोटेप बनाये गये हैं, जिन्हें लाउडस्पीकरों की सहायता से शाखा द्वारा लोकप्रिय बनाया जा रहा है । रिकार्ड किये गये गीत इतने भावपूर्ण हैं कि उन्हें गाने-गुनगुनाने का प्रचलन समस्त हिन्दी भाषी क्षेत्र में देखा जा सकता है । यह रिकार्ड निर्माण कार्यक्रम और भी अधिक तैयारी के साथ आगे चलाया जा रहा है ।

स्लाइड प्रोजेक्टर (प्रकाश चित्र यन्त्र) के द्वारा मिशन से सम्बन्धित स्लाइडें अपने ढंग की उत्तम प्रकार की भूमिका सम्पादित करती हैं । छोटे देहातों में, गली मौहल्लों में, विभिन्न संस्थाओं एवं संगठनों के बीच इस चित्र दर्शन के साथ चलने वाले प्रवचन सब बड़े चाव से सुने जाते हैं और भारी संख्या में इसे देखने-सुनने के लिए जनता उपस्थित होती है । इस प्रकार प्रायः १०० प्रचारक इन स्लाइड प्रोजेक्टरों के माध्यम से हर दिन औसतन २५ हजार जनता को मिशन का सन्देश सुनाते रहते हैं ।

ऊपर की पंक्तियों में लेखनी, वाणी और कलामंच के माध्यम से चल रहे प्रचारात्मक कार्यों की चर्चा हुई । उन्हें नियमित और व्यवस्थित बनाये रखने के लिए मिशन के अखण्ड ज्योति संस्थान एवं गायत्री तपोभूमि, मथुरा में दो साधन सम्पन्न प्रेस हैं । प्रस्तुत साहित्य प्रायः अपने ही प्रेस में छपता है । शाखा संगठनों के कार्यकर्ताओं को प्रचारात्मक, रचनात्मक मोर्चे सँभालने के लिए नियमित रूप से शान्तिकुंज हरिद्वार में तीन-तीन महीने के शिक्षण शिविर चलाये जाते हैं । इस ट्रेनिंग को प्राप्त करने के उपरान्त उन कार्यकर्ताओं को अपने क्षेत्र में बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक क्रान्ति का बीजारोपण तथा उसका विकास-विस्तार करने में पूरी-पूरी सफलता प्राप्त होती है । यह प्रशिक्षण क्रमबद्ध रूप से चलता रहता है ।

रचनात्मक कार्यक्रमों में निम्न सत्प्रवृत्तियाँ प्रायः हर शाखा द्वारा किसी न किसी रूप में चलाई जा रही हैं । अन्न की बर्बादी को रोकना, बड़ी दावतें, पत्तलों पर जूठन छोड़ना, दूध की पकवान-मिष्ठान्नों से बर्बादी जैसे अविवेकपूर्ण प्रचलन जहाँ रोके जा रहे हैं वहाँ शाक फलों के उत्पादन, घरेलू वाटिकाओं का प्रचलन, निरक्षरता निवारण, पुरुषों के लिए रात्रि पाठशालाओं, महिलाओं के लिए अपरान्ह पाठशालाओं का संस्थापन, स्वच्छता आन्दोलन, व्यायाम और स्वास्थ्य संवर्द्धन, श्रमदान की नियमित परम्परा, सहकारी समितियों की स्थापना, शिक्षण संस्थाओं का विस्तार, पुस्तकालयों, वाचनालयों, चल पुस्तकालयों का प्रचलन जैसी अनेक रचनात्मक प्रवृत्तियों का विस्तार किया जा रहा है ।

संघर्षात्मक कार्यक्रमों में उन नैतिक और सामाजिक प्रायः सभी विकृतियों के लिए विशुद्ध वातावरण बनाया जा रहा है । हराम की कमाई, बेईमानी, रिश्वत, मिलावट, अपराधी दुष्प्रवृत्तियाँ, कामचोरी, हरामखोरी, संकीर्ण स्वार्थ-परता, अस्वच्छता, अशिष्टता जैसी दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध लोकमानस तैयार किया गया है । ऐसे लोगों के विरुद्ध घृणा, तिरस्कार और असहयोग का वातावरण बनाया गया है । इन बुराइयों को छोड़ने के लिए विवश करने वाली विवेक सद्भावना के हर पहलू को उभारा गया है ।

नशेबाजी, अभक्ष्य भक्षण, विवाह-शादियों की खर्चीली धूम-धाम, गरीबी और बेईमानी बढ़ाने वाली दहेज प्रथा, जेवरों का प्रचलन, फैशन-परस्ती का बचकानापन, मृतक भोज, बालविवाह, अनमेल विवाह, पर्दा प्रथा, अन्ध-विश्वास, भाग्यवाद, मूढ़ परम्पराएँ, बहुप्रजनन, जाति-पाँति के आधार पर ऊँच-नीच मान्यता, नर-नारी के बीच भेद-भाव, धर्म के नाम पर पशुबलि जैसी सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध युग निर्माण योजना ने एक संघर्षात्मक मोर्चा खड़ा किया है । न्यायनिष्ठ और विवेकशील वर्ग का संघर्ष आन्दोलनों में भारी सहयोग मिल रहा है ।

अभी प्रचार, प्रदर्शन, असहयोग, विरोध जैसे माध्यम ही संघर्ष प्रयोजनों के लिए अपनाये गये हैं पर अगले दिनों धरना, सत्याग्रह, घिराव जैसे कठोर कदम भी उठाये

जायेंगे । एक दिन वह भी आवेगा जब अवांछनीयता के विरुद्ध युग निर्माण योजना तीव्र संघर्ष खड़ा करेगी और 'करो या मरो' की उग्रता लेकर मैदान में आयेगी । अनीतिवादियों को अनाचार बन्द करने के लिए बाध्य करेगी । जैसे-जैसे लोग अनौचित्य की हानियों को समझते जायेंगे और उसे निरस्त करने की आवश्यकता अनुभव करते जायेंगे वैसे-वैसे ही इस प्रकार के संघर्ष की पृष्ठभूमि बनती जायगी । उपयुक्त अवसर पर एक ऐसा धर्म युद्ध खड़ा किया जायेगा, जिसके आगे असुरता का खड़े रह सकना सम्भव ही न हो सके ।

स्थिर रचनात्मक कार्यक्रमों में जीवनोपयोगी समग्र शिक्षा पद्धति का निर्माण और विकास किया गया है । इसे शासकीय शिक्षा पद्धति के समानान्तर भी कहा जा सकता है । हर शाखा संगठन अपने यहाँ इस स्तर का एक विद्यालय स्थापित करने जा रहा है, जिसमें निरक्षरता निवारण से लेकर साक्षरों को जीवनोपयोगी शिक्षा द्वारा समान रूप से लाभान्वित किया जाय ।

अपने देश में लगभग ७७ प्रतिशत अशिक्षित हैं । सरकारी स्कूलों की क्षमता मात्र २ प्रतिशत को पढ़ाने की है । यह बच्चों के शिक्षण का भी पूरा और सही प्रबन्ध नहीं कर पा रही है, तब ७७ प्रतिशत निरक्षरों को साक्षर बनाने का कार्य वह कैसे कर पावेगी ? युग की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए शिक्षा आवश्यक है । निरक्षरों के सीमित मानसिक स्तर को जब तक विकसित न किया जाय तब तक वे न तो कुछ महत्वपूर्ण बात सीख, समझ सकेंगे और न उस प्रकार के कदम उठा सकेंगे जिनमें युग समस्याओं के समाधान में योगदान मिल सके । अस्तु, यह नितान्त आवश्यक है कि वर्तमान निरक्षरों को साक्षर बनाने के लिए एक अत्यन्त प्रचण्ड आन्दोलन चलाया जाय । युग निर्माण योजना इन दिनों इस कार्य को अपने हाथों में ले रही है और आशा की जानी चाहिए कि इस स्तर पर निरक्षरता निवारण का आंदोलन सफलतापूर्वक चलाया जा सकेगा ।

इतना ही नहीं शिक्षा पद्धति के परिवर्तन का प्रश्न भी राष्ट्र की प्रमुख समस्याओं में से एक बन गया है । प्रचलित शिक्षा पद्धति एक सड़े-गले ढर्रे पर चल रही है । छात्रों के मन में एकमात्र महत्वाकांक्षा आराम की नौकरी पाने की रहती है । नौकरियाँ सीमित हैं । उनकी तुलना में शिक्षितों की संख्या अनेक गुनी है । नौकरी कितनों को मिले ? न मिलने पर छात्र विद्रोही बनते हैं । आरामतलबी के स्वप्न देर तक देखते रहने के कारण वे पैतृक श्रमसाध्य धन्धों के योग्य रहते नहीं, आराम की अच्छी नौकरी मिलती नहीं । विलासी जीवन का लक्ष्य लेकर नौकरी करने वालों को हरामखोरी और ऊपरी आमदनी की धुन रहती है, जिससे देश की और उलटी क्षति उनकी नियुक्ति से पहुँचती है । उचित था कि सरकार शिक्षा पद्धति बदलती, माध्यमिक स्तर का शिक्षण अनिवार्य करती । इसके बाद विशिष्ट छात्रों को, विशिष्ट शिक्षा के लिए चुनौती का अवसर मिलता । शेष छात्र पैतृक धन्धों में लगते अथवा जापान के ढंग की कुटीर उद्योग प्रक्रिया में उन्हें खपाया जाता । पर यह सब तो सरकारी समझ की बात है । आज की स्थिति में सरकार शायद ही ऐसा कुछ कर पावे । हमें उसका मुँह ताकने या निन्दा, स्तुति में उलझने की अपेक्षा जन-स्तर पर उपयोगी शिक्षा पद्धति का सृजन और विकास करना चाहिए, यह मान्यता युग निर्माण योजना की है, अस्तु वह उसे कार्यान्वित करने में लग भी गई है ।

न्यूनतम समग्र शिक्षा पद्धति में उन सब विषयों को ले लिया गया है जिनकी सामान्य व्यक्ति के जीवन में आये दिन आवश्यकता पड़ती है । शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय-क्षेत्रों की आवश्यकता सभी जानकारियों को सामान्य ज्ञान की तरह संग्रह करके पाँच पुस्तकें बनाई गई हैं । सरकारी पाठ्यक्रमों का उपयोगी अंश ले लिया गया है और छात्रों के सिर पर निरर्थक बोझ की तरह लदने वाला कूड़ा करकट हटा दिया गया है । युग निर्माण मिशन की विचारधारा एवं कार्यपद्धति भी शिक्षण प्रक्रिया में सम्मिलित है और उनकी पाठ्य पुस्तकें बनी हैं ।

पुरुषों के लिए रात्रि पाठशालाएँ, महिलाओं के लिए तीसरे पहर की पाठशालाएँ बालकों के लिए नियमित पाठशालाएँ इसी शिक्षा पद्धति के अनुसार चलेंगी और उनकी परीक्षाएँ क्रमबद्ध रूप में हुआ करेंगी । योजना के अनुसार प्रतिवर्ष ऐसी पाठशालाओं की संख्या कई हजार पहुँच जानी चाहिए ।

इस शिक्षण के साथ दो और भी अंग जुड़े हुए हैं (१) व्यायाम, खेलकूद, ड्रिल, कवायद, शस्त्र संचालन, स्वयं सेवक शिक्षा । (२) कुटीर उद्योग, मरम्मत, स्वच्छता व्यवस्था । शरीरबल और मनोबल की वृद्धि के लिए, चुस्ती, हिम्मत और श्रमशीलता बढ़ाने के लिए हल्के और कड़े व्यायाम हर बाल-वृद्ध, नर-नारी को सिखाये जाने चाहिए । घरेलू बर्तनों की, कपड़ों की, फर्नीचर की, इमारत की टूट-फूट सुधारने एवं सुसज्जा बनाए रखने की कला हर किसी को आनी चाहिए । शाक-वाटिका आँगनों में, बड़े गमलों में, लकड़ी की पेटियों में लगाई जा सकती है और उससे परिवार के लायक शाक सदा प्राप्त करते रहा जा सकता है । कपड़ों की धुलाई, सिलाई, मरम्मत करना आता हो तो काफी पैसा बच सकता है ? कम से कम इतने गृह उद्योग तो हर किसी को आने चाहिए । घरेलू उपयोग के लिए बिस्कुट, टाफी, साबुन, रंग, वार्निस, शरबत, सुगन्धित तेल, मधुमक्खी पालन, पशुपालन जैसी कितनी ही वस्तुएँ ऐसी बन सकती हैं जो अपेक्षाकृत सस्ती और अच्छी सिद्ध हों ।

यों अपने देश में कुटीर उद्योगों के विकास की भारी गुंजाइश है । पर वे उद्योग सहकारी समितियों के माध्यम से ही चल सकते हैं । कच्चा माल कारीगरों को देना, तैयार माल लेना और विक्रय क्षेत्र तलाश कर उचित मूल्य पर बेचना, सहकारी समितियाँ करें तो देश में उद्योगों की लहर

ा सकती है और उससे बेकारी निवारण तथा आर्थिक गति में भारी सहायता मिल सकती है । इस दिशा में प्रयत्न ना चाहिए । इसका मार्गदर्शन किया जाय और जनता में सके लिए उत्साह पैदा किया जाय तो कोई कारण नहीं कि स दिशा में प्रगति न हो सके । युग निर्माण योजना इस दिशा ं न केवल उपयोगी साहित्य ही छाप रही है वरन् गायत्री पोभूमि मथुरा में एक वर्ष के ऐसे शिक्षण सत्र भी चलते हते हैं, जिनमें गृह उद्योगों के संचालन की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करके अपने क्षेत्र में उस प्रक्रिया को भली प्रकार संचालित कर सकें । इस शिक्षा में शिक्षार्थी स्वयं तो बेकारी का हल निकाल ही लेता है साथ ही दूसरे कितनों की ही बेकारी दूर करने में सहायक बनता है ।

शिक्षा प्रसार में बाधक दो मनोवृत्तियाँ ऐसी हैं जिन्हें तथ्यहीन भी नहीं कहा जा सकता, जनसाधारण की दृष्टि में शिक्षा का-साक्षरता का जो थोड़ा बहुत महत्व है उसके अनुसार वह शिक्षा के लिए बहुत अधिक मूल्य नहीं चुकाना चाहता । वर्तमान शिक्षा पद्धति में शिक्षार्थी का पूरा समय लग जाता है । देश में जिन परिवारों के परम्परागत व्यवसाय चल रहे हैं उनमें बच्चों का भी पर्याप्त योगदान होता है । पूरे समय के लिए उन्हें छोड़ देना घाटे का सौदा दिखाई देता है । दूसरे वर्तमान शिक्षा में कुछ विचारणा जुड़ी है । जो पढ़ने वालों में परम्परागत व्यवसाय को निखारने, संभालने की जगह उससे दूर भागने की मनोवृत्ति पैदा करती है । इन दो कारणों से सामान्य नागरिक, वयस्क या किशोरों को शिक्षा में लगाने से सकुचता हो तो कोई आश्चर्य नहीं । न्यूनतम पाठ्यक्रम में आवश्यक ज्ञान की पूर्ति के साथ-साथ उसकी शिक्षण पद्धति में इन दोनों समस्याओं का निराकरण भी होता है ।

आशा की जानी चाहिए कि न्यूनतम समान शिक्षा पद्धति, निरक्षरता निवारण की सामान्य ज्ञान के अभाव पूर्ति की-शारीरिक, मानसिक, स्वास्थ्य संवर्द्धन की-बेकारी निवारण की और भावनाशील चरित्रवान् लोकसेवी उत्पन्न करने की आवश्यकता पूरी करेगी । छात्र उपयोगी ज्ञान सीमित समय में प्राप्त करके अपनी निर्धारित दिशा की ओर चल सकेंगे । मानसिक भार से समय और धन के अपव्यय से छुटकारा पाकर उस बचत को उपयोगी प्रयोजन में लगा सकेंगे ।

ठीक इसी प्रकार की एक महिला शिक्षा योजना शान्तिकुंज-सप्तसरोवर हरिद्वार में चल रही है । माता भगवती देवी के संरक्षण में एकवर्षीय प्रशिक्षण व्यवस्था किशोरी कन्याओं के लिए चल रही है । तीन महीने की शिक्षा में विवाहित महिलाओं को परिवार निर्माण के हर पहलू को सिखाने, समझाने की व्यवस्था रहेगी । देश व्यापी महिला जागरण के लिए प्रचारिकाओं के शिक्षण सत्र भी वहीं चलेंगे । महिला उत्थान का नवनिर्माण पक्ष धीरे-धीरे शान्तिकुंज से ही विकसित होता चला जा रहा है और अगले दिनों उसे एक सुविकसित एवं सुसंगठित अभियान के रूप में देखा जा सकेगा ।

महिलाओं की भावनात्मक पृष्ठभूमि से लेकर उनके कार्यों और उत्तरदायित्वों के अनुसार ही महिला जागरण तथा शिक्षण की गतिविधियों का निर्धारण होना चाहिए । यह कार्य जाग्रत चेतना सम्पन्न महिलाएँ ही अधिक अच्छे ढंग से कर सकती हैं । इसी तथ्य को ध्यान में रखकर उक्त व्यवस्था बनायी गयी है जिससे लोकसेवी मनोवृत्ति तथा तदनुरूप क्षमतासम्पन्न कार्यकर्त्रियाँ तैयार किये जाने को प्राथमिक वरीयता दी गयी है ।

राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए हर नागरिक का योगदान होना चाहिए । राष्ट्रोत्थान के लिए क्या किया जाए, कैसे किया जाए ? इस जानकारी तथा उसके अनुरूप व्यावहारिक योजनाओं का उतना अभाव नहीं जितना उन्हें कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक प्रखर भावनाओं का है । जब तक राष्ट्र देवता के पूजन-आराधन में अपना न्यूनाधिक समय, धन, श्रम, प्रतिभा चढ़ाने के लिए हर व्यक्ति में आतुरता पैदा न हो तब तक किसी भी हितकारी योजना को कार्यान्वित किया जाना सम्भव नहीं । यह हो जाए, तो जो कार्य, योजनाएँ, रूपरेखाएँ सामने हैं उन्हीं के सहारे लम्बी मंजिल तै की जा सकती है ।

हर योग्यता के व्यक्ति को अपने क्षेत्र में अपने ढंग से कुछ न कुछ काम सामाजिक पुनरुत्थान के लिए करना ही चाहिए । उस प्रवृत्ति को विकसित करने के लिए शतसूत्री योजना के बहुमुखी कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये हैं । हर नागरिक न्यूनतम एक मुट्ठी अन्न और एक घण्टा श्रमदान नियमित रूप से लोकमंगल के लिए प्रस्तुत करे इसके लिए पूरा-पूरा जोर दिया जा रहा है । यह कर्त्तव्य जब हर किसी को नितान्त आवश्यक प्रतीत होगा, तो देश में एक ऐसी अभिनव सृजन शक्ति उत्पन्न होगी जिसके आधार पर नव निर्माण के अति महत्वपूर्ण प्रयोजन सहज ही पूरे होते रह सकें ।

यदि १० लाख नागरिक भी सृजन अभियान में सम्मिलित होकर श्रमदान करने का व्रत ले सकें तो इतने लोगों का एक घण्टा समय पूरे आठ घण्टे काम करने वाले सवा लाख कार्यकर्ताओं की बराबर हो जाता है । एक मुट्ठी अन्न यदि दस पैसे का माना जाय तो दस लाख मुट्ठी अन्न हर दिन एक लाख रुपये का हो सकता है । सवा लाख श्रमिक और एक लाख रुपया प्रतिदिन की शक्ति मिलकर इतनी बड़ी हो जाती है कि उतने भर से जनस्तर पर प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक प्रयोजन पूरे करने में आशातीत सफलता मिल सके । यदि यह प्रवृत्ति एक करोड़ भारतीय नागरिकों में पैदा की जा सकी तो उनके इतने से स्वल्प अनुदान से नवनिर्माण के वे स्वप्न साकार हो सकेंगे जो आज असम्भव जैसे प्रतीत होते हैं । जनता एक अचिन्त्य अनिर्वचनीय शक्ति से ओत-प्रोत महादैत्य है, यदि उसे जगाया, सधाया जा सके तो उसके बलबूते वह सब कुछ सम्पन्न किया जा सकता है जिसकी कल्पना भी साधारणतया बड़ी विचित्र लगती है । युग निर्माण आन्दोलन उसी महादैत्य को जगाने की समग्र साधना में तत्पर है ।

युग निर्माण आन्दोलन का यह संक्षिप्त परिचय है । उसकी वर्तमान गतिविधियों की प्रचंड हलचलों की तथा अब तक की उपलब्धियों की जानकारी प्राप्त करनी हो उन्हें पाक्षिक प्रज्ञा अभियान में छपते रहने वाले समाचारों पर एक नजर डालनी चाहिए । इस दृष्टिपात से सहज ही यह विदित हो जायगा कि साधनहीन परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ यह अभियान किस जादुई प्रगति के साथ निर्धारित लक्ष्य की ओर अग्रसर हुआ है । पिछली उपलब्धियों और सम्भावनाओं का यदि गम्भीरता से मूल्यांकन किया जाय तो किसी को भी इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि यह अभियान मानुषी नहीं दैवी है । ईश्वरेच्छा पर आधारित प्रयोजन को यदि राई से पर्वत होते देखा जाय तो उसमें आश्चर्य की दृष्टि से नहीं वरन् समय- समय पर होने वाले सृष्टि-सन्तुलन के लिये ईश्वरीय प्रयास के रूप में देखा जाना चाहिए । विश्व के समक्ष नव-निर्माण का लक्ष्य लेकर गतिशील इस अभियान की भावी सफलता पर, पिछली उपलब्धियों के आधार पर विश्वास किया जाय तो यह उचित ही होगा ।

ईश्वरेच्छा तथा मानवीय पुरुषार्थ का समन्वय चमत्कार उत्पन्न करेगा ही । किसी एक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक जोर देने तथा दूसरे पक्ष को सर्वथा भुला देने से कुछ छुट-पुट सामयिक उपलब्धियाँ भले ही कर ली जाएँ पर लम्बे समय तक भटकाव से बचते हुए लोककल्याण की दिशा में उपलब्धियों की श्रृंखला एकांगी आचरण से सम्भव नहीं । युग निर्माण अभियान में मानवीय पुरुषार्थ को जाग्रत करने, प्रखर बनाने तथा उसे सही दिशा में, सही ढंग से प्रयुक्त करने की प्रक्रिया सतत् चल रही है । ईश्वरीय मार्गदर्शन, अनुग्रह, अनुकम्पा एवं सहायता की स्पष्ट झलक पूर्व उपलब्धियों तथा वर्तमान हलचलों में मिलती है । अस्तु, कृष्ण के मार्गदर्शन में अर्जुन के पुरुषार्थ की सफलता जैसी आशा इस संदर्भ में अत्युक्ति न होगी ।

नवनिर्माण के मूल सूत्र

गीता में मनुष्य की तुलना एक ऐसे पीपल के वृक्ष के साथ की है जिसकी जड़ें ऊपर और शाखा, पत्ते नीचे हैं । मस्तिष्क ही जड़ है और शरीर उसका वृक्ष । वृक्ष का ऊपर वाला भाग दिखाई पड़ता है, जड़ें नीचे जमीन में दबी होने से दिखाई नहीं पड़तीं, पर वस्तुतः जड़ों की प्रतिक्रिया छाया-प्रतिध्वनि-परिणिति ही वृक्ष का दृश्यमान कलेवर बनकर सामने आती है । जड़ों को जब पानी नहीं मिलता और वे सूखने लगती हैं, तो पेड़ का दृश्यमान ढाँचा मुरझाने, कुम्हलाने, सूखने और नष्ट होने लगता है । जड़ें गहरी घुसती जाती हैं, खाद-पानी पाती हैं तो पेड़ की हरियाली और अभिवृद्धि देखते ही बनती है । मनुष्य की स्थिति बिलकुल यही है । विचारणाएँ उसकी जड़ें हैं । चिन्तन का स्तर जैसा होता है, आस्थाएँ और आकांक्षाएँ जिस दिशा में चलती हैं, बाह्य परिस्थितियाँ बिलकुल उसी के अनुरूप ढलती हुई चली जाती हैं ।

बीमार, दुर्बल और अकाल मृत्यु के ग्रास होने वालों में अधिकांश वे होते हैं जो संयम नहीं बरतते । थोड़े से प्रारब्ध ग्रस्तों या परमार्थ परायणों का अपवाद छोड़ दिया जाय तो सामान्यक्रम यही मिलेगा कि चटोरी जीभ ने पेट खराब किया, कामेन्द्रिय के असंयम ने खोखला किया अस्त-व्यस्त दिनचर्या ने जीवनी शक्ति का बेहिसाब अपव्यय किया, फलस्वरूप प्रकृति का दण्ड उस पर अस्वस्थता बनकर बरसा ।

जनमानस के पुनर्निर्माण से ही उलझनें सुलझेंगी

कोई व्यक्ति दरिद्र, अभावग्रस्त दीखता है तो समझना चाहिए परिश्रम करने में उत्साह की-प्रस्तुत कार्यों में पूरी दिलचस्पी लेकर उन्हें उच्चस्तरीय बनाने की, क्षमता उसमें कम है । आमदनी से खर्च अधिक करता है, उपार्जन और आवश्यकताओं का तालमेल नहीं बिठाता, अच्छी स्थिति तलाश करने की आकांक्षा सो गई है । यही सब कारण प्रधानतया दरिद्रता के होते हैं अन्यथा भुजाएँ साक्षात् हनुमान हैं और मस्तिष्क गणेश, इनके निरन्तर साथ रहते हुए किसी को दरिद्र रहने की आवश्यकता नहीं । अपंग व्यक्ति भी अपने बचे-खुचे अवयवों के सहारे अपने सम्मान पूर्वक निर्वाह का रास्ता निकाल सकते हैं, निकाल रहे हैं । आन्तरिक दरिद्रता ही बाहर की दरिद्रता बनकर प्रकट होती रहती है ।

विद्या और ज्ञान की कमी विशुद्ध रूप से जिज्ञासा का अभाव ही है । ज्ञान-संचय की आकांक्षा हो तो सर्वथा साधन रहित व्यक्ति भी जार्जवाशिंगटन की तरह विद्वान् बन सकता है । कालिदास की तरह मूढ़मति अपनी लगन से उच्च शिक्षा सम्पन्न हो सकता है । विनोबा की तरह व्यस्त और वृद्ध व्यक्ति भी सत्रह भाषाओं का विद्वान् बन सकता है । नित्य एक-एक, दो-दो घण्टा पढ़ने के लिए कोई समय निकालता रहे तो उसकी जिज्ञासा पुस्तकों की व्यवस्था से लेकर पढ़ाने, बताने मे सहयोग देने तक साधन जुटा सकती है । विद्या की आकांक्षा यदि सच्ची हो, गहरी हो तो उसके रहते कोई व्यक्ति कदापि मूर्ख, अशिक्षित नहीं रह सकता । परिस्थितियों को नहीं मुख्य बाधा उत्कृष्ट अभिलाषा में कमी की होती है ।

यदि कोई व्यक्ति अपने साथियों, परिचितों में उपेक्षणीय, तिरस्कृत रहता है तो समझना चाहिए दोष लोगों का नहीं, कमी उसमें अपने में है । गन्दे, क्रोधी, अव्यवस्थित, अशिष्ट, व्यसनी, दुर्गुणी और अप्रामाणिक व्यक्ति हर जगह हेय दृष्टि से देखे जायेंगे । उनके घर वाले तक [illegible] करेंगे । जिनमें यह [illegible] व्यक्तियों को [illegible] बिठाया जाता [illegible] पाने के लिए ह[illegible] कोई लालायित रहता है ।

मनुष्य दु:खी, निराश, चिन्तित, उद्विग्न बैठा रहता हो तो समझना चाहिए सही सोचने की विधि से अपरिचित होने का ही यह परिणाम है । जिसे परिस्थितियों का सही मूल्यांकन करना नहीं आता, जो संसार के ढर्रे को समझता नहीं, महत्वाकांक्षाओं को अपनी क्षमता के साथ तोलता नहीं, अपनी सामर्थ्य बढ़ाने और त्रुटियाँ सुधारने की अपेक्षा दूसरों के दोष गिनता रहता है उसे सदा शिकायतें करते ही पाया जायेगा । उसे चिन्ता और खीज से कभी छुटकारा नहीं मिल सकता । प्रसन्न और सन्तुष्ट रहना तो केवल उनके भाग्य में बदा होता है जो उपलब्ध साधनों से सन्तुष्ट रहना और उनका सदुपयोग करना जानते हैं । अधिक अच्छी स्थिति प्राप्त करने के लिए शान्तचित्त और योजनाबद्ध रीति से आगे बढ़ना और बात है और आकाश पाताल जैसे मनोरथ खड़े करके उनके लिए साधन न जुटा पाने के कारण प्रस्तुत असफलता पर खीजते रहना अलग बात है ।

एक व्यक्ति चोर बनकर घृणा का पात्र बनता है, जेल जाता है, दूसरा ठीक उसी स्थिति, योग्यता का व्यक्ति जनता के हृदय पर शासन करता है, प्रचुर सम्मान और सहयोग पाता है । इन सर्वथा विपरीत परिस्थितियों का कारण उनके दृष्टिकोण का अन्तर ही है । एक व्यक्ति अपना अनुकरणीय आदर्श ऐतिहासिक बनाकर जाता है और मरने पर भी अजर-अमर रहता है । स्वयं शान्ति पाता है और दूसरों को सुख देता है । इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति दुष्ट, दुराचारी, पापी और अपराधी बनकर जीवित और मृतक किसी भी स्थिति में रहे घोर घृणा और धिक्कार का पात्र बना रहता है । परिश्रम, पुरुषार्थ दोनों को अपनी दिशा में लगभग समान ही करना पड़ा, पर आस्थाओं के अन्तर ने एक को असुर बना दिया, दूसरे को देवता । एक स्वर्ग में पहुँचा दूसरा नरक में सड़ा । इस भिन्नता के लिए और कोई नहीं केवल मनुष्य की अन्तरंग स्थिति ही जिम्मेदार है । मनुष्य जैसा भी कुछ दीखता है उसकी आन्तरिक स्थिति का ही परिणाम है ।

इस तथ्य को जितनी जल्दी समझ लिया जाय, जितनी गहराई तक समझ लिया जाय उतना ही उत्तम है क्योंकि मनुष्य को सुखी और समुन्नत बनाने का उद्देश्य उसकी आन्तरिक स्थिति को, विचार पद्धति को सुधारे, बदले बिना और किसी प्रकार पूरा हो ही नहीं सकता । बाहरी मदद क्षणिक है, उससे झूठा मन समझा लेने के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । आलसी और व्यसनी को, दरिद्रता से द्रवित होकर कुछ आर्थिक सहायता दी जाए तो उससे उसका अभाव कुछ दिन के लिए ही दूर होगा । असंयमी को दवा देकर उसका रोग आज तो ठीक किया जा सकता है पर कल ही वह फिर असंयम बरतेगा और दूसरी बीमारी लगा लेगा ।

हजरत मुहम्मद साहब के पास एक भिखारी आया और उनसे कुछ सहायता देने की प्रार्थना की । उन्होंने उसे पास बिठा लिया और आश्वासन दिया कि तेरी दरिद्रता सदा के लिये दूर कर देंगे । भिक्षुक के पास एक लोटा मात्र था । उन्होंने उसे बेच दिया और दो दिन के लिए आटा और एक कुल्हाड़ी खरीदकर उसे दे दी । कहा-"दो दिन इससे पेट भर और जंगल से लकड़ी काटकर बाजार में बेच । यही क्रम रोज चला तो तेरा दरिद्र सदा के लिए दूर हो जायेगा ।" उसने बात मान ली और एक महीने बाद ही वह सात दीनार इकट्ठे कर लेने वाला सुसम्पन्न बन गया । आगे चलकर उसने अपने परिश्रम के बलबूते पर और भी बहुत कुछ कमाया और अमीर कहलाया ।

हमें मनुष्य की व्यक्तिगत दयनीय स्थिति में सुधार करने के लिए उसकी जड़ों को कुरेदना पड़ेगा और उन्हीं में खाद-पानी देने का प्रबन्ध करना पड़ेगा । पेड़ को सूखने से-टूटने से बचाने का यही तरीका है । आज का मनुष्य भावनात्मक स्तर पर बेहिसाब लड़खड़ा गया है, उसके सोचने की पद्धति में अदूर-दर्शिता और निकृष्टता की मलीनता छा गई है । फलस्वरूप उसके कृत्य बेतुके, बेढंगे और अवांछनीय स्तर के हो रहे हैं । इसी का परिणाम अगणित प्रकार की उलझनों, चिन्ताओं, समस्याओं, अभावों और कष्टों के रूप में सामने आ रहा है । यदि यह तथ्य भली प्रकार समझ लिया जाय तो यह नितान्त आवश्यक प्रतीत होगा कि लोगों का सोचने का तरीका सुधारने के लिए प्रबल प्रयत्न किया जाय अन्यथा इन दिनों आर्थिक स्थिति सुधारने के जो एकांगी प्रयत्न चल रहे हैं वे और उलटी विपत्ति उत्पन्न करेंगे । दुर्बुद्धिग्रस्त को अधिक साधन मिलने से वह अपना और दूसरों का विनाश और भी तेजी से करेगा । भौतिक साधनों का लाभ तभी है जब उनका सदुपयोग करा सकने वाली विवेक बुद्धि भी उपलब्ध हो । उद्धत मनुष्य वैभव को पाकर उद्दण्ड, स्वेच्छाचारी, अनाचारी ही बन सकता है । आज सर्वत्र यही हो रहा है । साधन जितने बढ़ रहे हैं उसी अनुपात से दुष्टता भी प्रबल होती चली जा रही है । क्या धनी, क्या विद्वान् , क्या प्रतिभावान् कलाकार अपनी बढ़ी विभूतियों के सहारे संसार पर गजब ढाने में ही लगे हुए हैं ।

यह तो हुई व्यक्तिगत स्थिति की बात । सामूहिक परिस्थितियों पर जरा-सा दृष्टिपात करें तो समस्त उलझी हुई समस्याओं का कारण, सामूहिक चिन्तन ही है, जिन्हें परम्परा या समाज की मान्यता कह सकते हैं । वे इतना अहित कर रही हैं जितना कोई बाहरी आक्रमणकारी देश भी नहीं कर सकता ।

अपने देश में आधी जनसंख्या स्त्रियों के रूप में घरों में कैदी का जीवन जी रही है । पर्दे की कठोरता ने उसे शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वावलम्बन की तीनों मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित कर दिया है । अपंग जैसा जीवन जीने के लिए उसे विवश किया गया है । फलस्वरूप यह आधी जनसंख्या भारभूत जीवन ही जी रही है । यदि अन्य देशों की तरह अपने यहाँ भी नारी को मनुष्योचित अधिकार मिले होते और वह भी मनुष्य की तरह जीवन-यापन कर रही होती, तो घरों की स्थिति कितनी समुन्नत

होती और उसके योगदान से समाज आर्थिक, बौद्धिक आदि सभी स्तरों पर दूनी प्रगति कर सका होता । स्त्रियों के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण की अपनी मान्यताओं ने देश को कितनी बड़ी हानि पहुँचाई है, इसे यदि धन में आँका जाय तो वह पहाड़ की बराबर रुपयों से भी कहीं अधिक की क्षति सिद्ध होगी ।

विवाह-शादियों में होने वाले अपव्यय को ही लें । हर विवाह में यदि औसत बीस हजार भी खर्च माना जाय और व्यक्ति को अपने जीवन में बहिन, भाई और बच्चों के पाँच विवाह भी करने पड़े, तो एक लाख हर गृहस्थ की पूँजी बर्बाद हुई । इतने मूलधन को कृषि, व्यवसाय आदि में लगाकर वह परिवार सुसम्पन्न बन सकता था । बच्चों को उच्च शिक्षा और पौष्टिक आहार देकर स्वस्थ, सुदृढ़ बना सकता था । पर वह धन तो विवाह-शादियों की फिजूलखर्ची में बर्बाद हो गया । अब गई-गुजरी स्थिति में जीवनयापन करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं । हर साल विवाह-शादियों के माध्यम से अपने देश में प्रायः एक हजार अरब रुपया बर्बाद होता है । यदि यह धन शिक्षा, उद्योग आदि उपयोगी कार्यों में लगा होता तो उसके फलस्वरूप आज अपने देश की स्थिति कहाँ से कहाँ पहुँच गई होती । वह बर्बादी यदि रुक सकी होती तो पिछले २५ वर्षों में हम अमेरिका से अधिक धनी और समुन्नत बन गये होते ।

अन्य सामाजिक कुरीतियाँ भी कम भयंकर नहीं । मृत्यु-भोज, विवाह-शादियों के बाद के बहुत दिन तक चलते रहने वाले खर्चीले अलन-चलन आदि के नाम पर अनाप-शनाप पैसे की बर्बादी से दरिद्रता की जड़ें गहरी होती हैं। सोने-चाँदी के कीमती जेवरों में अरबों-खरबों का धन रुका पड़ा है और गल रहा है । यदि वह उद्योगों की उपार्जन प्रक्रिया में घूम रहा होता, बैंक में भी पड़ा रहता तो उससे व्यक्ति और समाज की आर्थिक उन्नति में कुछ तो योगदान मिलता ही । कुरीतियाँ कितनी खर्चीली हैं, यह किसी से छिपा नहीं । उनकी पूर्ति आज महँगाई के जमाने में ईमानदारी की साधारण आजीविका से नहीं हो सकती । अतएव लगभग हर आदमी को उन बढ़ी-चढ़ी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बेईमान बनना पड़ रहा है । यह बेईमानी हमारे स्वभाव का-चरित्र का एक अंग बनती चली जा रही है, फलस्वरूप आर्थिक और नैतिक क्षेत्र में जो भारी गिरावट आई है उसका अभिशाप अनेक प्रकार से सारे समाज को भुगतना पड़ रहा है । यह सब विकृत चिन्तन का ही परिणाम है । यदि हमारी चिन्तन पद्धति सही रही होती तो पिछले हजार वर्षों से जो दुर्दिन देखने पड़ रहे हैं यह न देखने पड़ते ।

अपने देश में ८४ लाख साधु-महात्मा और भिक्षुक हैं । इनमें से वास्तविक अपंग और वास्तविक लोकसेवक तो मुट्ठी भर होंगे शेष आलसी और प्रमादी हो इस वर्ग में घुसे पड़े हैं । इनके भरण-पोषण में यदि दैनिक दो रुपया प्रतिव्यक्ति का भी हिसाब बैठे तो लगभग ६१३.२ करोड़ रुपया वार्षिक का भार गरीब गृहस्थों को वहन करना पड़ता है । यदि यह लोग उपार्जन में लगे होते और बजाय दान पर जीवित रहने के स्वयं ही कुछ कमाते और वह कमाई दो रुपया प्रतिदिन की भी होती तो ६०० करोड़ उलटे कमा लेते इस प्रकार ६०० करोड़ की क्षति बचती और ६०० करोड़ की कमाई होती । देश में १२०० करोड़ का धन बढ़ता और खाली दिमाग शैतान की दुकान वाली कहावत के अनुसार इन लोगों द्वारा जो खुराफातें रची जाती रहती हैं, उनसे छुट्टी मिलती । हमारे स्वाभिमान का स्तर ऊँचा होता और संसार में हम भिक्षुक मनोवृत्ति के लोग न समझे जाते । यह भिक्षा वृत्ति हमारी नस-नस में समा गई है । देवी-देवाताओं से, साधु सत्पुरुषों से माँगना ही माँगना हमें सूझता है । देश के आर्थिक निर्माण के लिए भी हम विदेशों के आगे याचना की ही झोली फैलाये फिरते हैं । यह विचार पद्धति बदली ही जानी चाहिए ।

पाकिस्तान जैसे भाग अपने देश के मुसलमानिस्तान ईसाईस्तान जैसे टुकड़े करें, इसमें दोष किसी का नहीं अपना है । जाति-पाँति के नाम पर एकता तोड़ी तो विदेशी आक्रमणों ने धर दबोचा, छुआछूत बढ़ाई तो हरिजन विधर्मी बनते चले गये । इन बौद्धिक भूलों ने हमें कितने असहनीय दण्ड भुगतने के लिए विवश किया, इस पर विचार करते हैं तो खून के आँसू टपकते हैं ।

आज भी अपने देश में धन की, विद्या की, प्रतिभा की कमी नहीं । कमी है केवल उदारता की, देशभक्ति की । हर व्यक्ति अपने को अमीर बनाने में; अधिकाधिक मौज-मजा करने में अहंकार की तृप्ति में लगा है । अपनी सारी उपलब्धियों का लाभ अपने आप तक ही सीमित रखना चाहता है । यदि थोड़ी उदारता अन्तःकरणों में उतर गई होती और जो सम्पत्ति, जो विद्या, जो बुद्धि स्वार्थपरता की तृप्ति में लगी हुई है वह यदि समाज निर्माण में लग गई होती, लोगों ने औसत भारतीय नागरिक की तरह गुजारे में सन्तोष किया होता और अपनी उपलब्धियों को लोक-मंगल के लिए समर्पित किया होता तो जो कुछ वैभव हमारे पास है, उतने से ही हमारा देश प्राचीनकाल के रामराज्य जैसी उन्नति से कहीं आगे निकल गया होता । उस जमाने में तो विज्ञान भी नहीं था । आज तो विज्ञान ने इतने साधन हमें दे दिये हैं कि इन उपलब्धियों को उदारतापूर्वक प्रयुक्त किया गया होता तो इस देश के ऊपर स्वर्ग निछावर होता । इतना ही नहीं इतने ही साधनों से समस्त विश्व का नवनिर्माण कर सकना सम्भव हो गया होता । पर उस संकीर्ण स्वार्थपरता को क्या कहा जाय जो मनुष्य के गले में फाँसी बनी बैठी है और अहंता एवं विलासिता की तृप्ति से एक कदम आगे नहीं बढ़ने देती । उस दुर्बुद्धि को क्या कहा जाय जो लोभ और मोह के अतिरिक्त, वासना और तृष्णा के अतिरिक्त और किसी उच्च-स्तरीय भावना को अन्तःकरण में जमने, पनपने ही नहीं देती ।

यह अपने देश के व्यक्ति और समाज का चित्रण हुआ। विश्व पर अन्यत्र दृष्टि दौड़ाइये तो लगता है, मनुष्य जाति की सबसे बड़ी शत्रु दुर्बुद्धि ही है। उसी ने प्रगति के समस्त पथ अवरुद्ध किए हैं और उसी ने असंख्य प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न की हैं। बड़े राष्ट्रों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को ही लीजिए। उनके पास जितने साधन हैं उनका उपयोग यदि आपा-धापी के लिए न किया जाय, विश्व कल्याण सच्चे मन से ध्यान में रखा जाय तो संपत्ति और बुद्धि का आधे से अधिक उपयोग जो विनाश युद्ध आदि के लिए हो रहा है उसे रोका जा सकता है और उन साधनों को विश्व मानव की सुख-शान्ति में प्रयुक्त किया जा सकता है।

अणु-आयुधों को बनाने में अब तक जितनी सम्पत्ति और बुद्धि लगी है, सेना का ढाँचा खड़ा करने में जितना खर्च किया जाता है यदि वह सृजनात्मक कार्य में लगा होता तो विश्व के हर नागरिक के लिए भोजन, वस्त्र चिकित्सा, शिक्षा एवं आजीविका के पर्याप्त साधन उपलब्ध हो गये होते। अणु-आयुधों वाले खर्च से ऊँची-नीची जमीन को समतल बनाकर लोगों का सुख-सुविधा से रहने का प्रबन्ध हो सकता था। विनाश और शत्रुता के दावघातों में लगी हुई बुद्धि यदि पिछड़े हुए लोगों को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने में लग गई होती तो पृथ्वी पर देव समाज का निवास दीख पड़ता और यहाँ की सुख-सुविधाएँ काल्पनिक स्वर्ग से अधिक बढ़-चढ़कर समुन्नत रही होतीं।

दुर्बुद्धि का ही दूसरा नाम दुर्भाग्य है। दुष्टता का नाम ही नरक है। बाहर जो कुछ बुरा, दुःखद दीख रहा है वस्तुतः वह हमारी आन्तरिक, बुद्धिगत मलीनता की दुर्गन्ध मात्र है।

काम पत्ते सींचने से नहीं चलेगा। रक्त विकार के कारण उत्पन्न हो रहे कोढ़ की मरहम-पट्टी ही पर्याप्त नहीं, कोढ़ी का रक्त शुद्ध किया जाना चाहिए। व्यक्ति और समाज की, देश और विश्व की किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। सुखद परिस्थितियाँ उत्पन्न करना यदि वस्तुतः अभीष्ट हो तो हमें जन-मानस का परिष्कार, परिवर्तन करना होगा। ज्ञान-यज्ञ, बौद्धिक-क्रान्ति और भावनात्मक नवनिर्माण का आन्दोलन इन्हीं प्रयोजनों के लिए है, इसकी सफलता पर ही विश्व-शांति का-मानव जाति के भविष्य का समूचा आधार अवलम्बित है।

भगवान की यह सुन्दर सृष्टि, हेय स्थिति में नहीं रहेगी

भगवान का प्रिय पुत्र मनुष्य देर तक दुर्दशाग्रस्त नहीं पड़ा रहा सकता है। उसकी सर्वोत्तम कलाकृति यह धरती सदा दुर्गति के गर्त में नहीं गिरी रह सकती। भगवान ने अपना यह सृजन बड़े मनोयोग और अरमानों के साथ किया है। वे उसे देर तक दयनीय स्थिति में रहने नहीं दे सकते। माली को बगीचा सौंपा तो जाता है पर उसके हाथों बेच नहीं दिया जाता। इस विश्व की व्यवस्था मनुष्य के हाथों सौंपी जरूर गई थी-वह उसे सुन्दर, सुरक्षित और समुन्नत रखे यह उत्तरदायित्व दिया अवश्य गया था, पर यदि यह उसे सँभालता नहीं-व्यतिक्रम करता है, तो उसी की मनमर्जी नहीं चलती रहने दी जा सकती। जिन्होंने इतनी उमंगों के साथ इतना साधन और मनोयोग जुटाकर यह उद्यान लगाया है-यह लोक बसाया है, वह उसकी दूसरी व्यवस्था बनायेगा। माली बदलेगा, क्रम सुधारेगा या जो भी करेगा अपने अरमानों के इस सुरम्य मर्त्यलोक को इस प्रकार अस्त-व्यस्त नहीं होने देगा जैसा कि वह हो रहा है, किया जा रहा है।

भगवान अपने उद्यान की इन दिनों सुव्यवस्था बनाने में लगे हुए हैं। पुरानी अस्तव्यस्तता में परिवर्तन करने जा रहे हैं। कारण कि वर्तमान स्थिति उनकी कल्पना की दुनिया से जरा भी तालमेल नहीं रखती। वर्तमान ढर्रा तो ऐसा चल पड़ा है कि इसे कुछ समय और इसी प्रकार चलने दिया जाए तो फिर मनुष्य जाति को सामूहिक आत्म-हत्या के लिये विवश होना पड़ेगा और इस विश्व-वसुधा की गौरव-गरिमा का सर्वनाश होकर रहेगा।

अपना ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते इस युवराज मनुष्य को वे इस संसार में सुव्यवस्था बनाये रखने का भार सौंपते जरूर हैं, उसे कुछ कर दिखाने का अवसर भी देते हैं, अनावश्यक हस्तक्षेप भी नहीं करते। पर जब बात बिगड़ती दीखती है तो वे मूक दर्शक भी बने नहीं रह सकते। बच्चे को आँगन में खेलने की छूट जरूर रहती है, पर जब काँच खाने या आग पकड़ने की कोशिश करता है तो माँ तत्काल भागी आती है। उसे रोकती ही नहीं-धमकाती भी है ताकि वह उस तरह के हानिकर काम भविष्य में न करे, डर जाय। ऐसा ही कुछ इन दिनों होने जा रहा है।

मनुष्य खेल-खिलौने में उलझ गया और अपना प्रयोजन भूल गया। बच्चा स्कूल पढ़ने भेजा जाता है पर कई बार वह रास्ते में मटरगश्ती करता रह जाता है, स्कूल पहुँचता ही नहीं। तब उसकी कान खिंचाई होती है। अध्यापक समझता है कि उसका भविष्य पढ़ने से बनेगा। पढ़ाई की उपेक्षा कर खेल में मस्त रहेगा तो उसे पीछे पछताना ही पड़ेगा। ऐसा ही उद्बोधन इन दिनों होने जा रहा है।

मनुष्य को अतिरिक्त सुविधाएँ इसलिए दी गई थीं कि वह उनकी सहायता से अधिक काम कर सके। जो उत्तरदायित्व उसे सौंपा गया है, उसे वह सरलतापूर्वक ठीक प्रकार निबाह सके किन्तु यदि उन सुविधाओं में लिप्त होकर बैठा रह जाय और लक्ष्य को भुला दिया जाय तो अनर्थ ही होगा। खजाना लाने, पहुँचाने के लिए दी गई जीप को यदि कोई खजान्ची नाच, तमाशों को देखने के लिए घुमाता फिरे और सरकारी काम ठप्प पड़ा रहे तो वह अनुत्तरदायित्वपूर्ण गतिविधि निन्दनीय ठहराई जायेगी तथा उस कर्मचारी को दण्ड दिया जायगा।

इन दिनों ऐसा ही कुछ ही हुआ है । मनुष्य को असाधारण सुविधा-सामग्री प्रदान की गई । शरीर ऐसी अतिरिक्त विशेषताओं से सम्पन्न कर दिया गया जैसा कि ८४ लाख योनियों में से किसी को भी प्राप्त नहीं । बोलना किसे आता है ? सोचने का ऐसा बढ़िया यन्त्र किसके पास है ? इतनी समुन्नत इन्द्रियों से सम्पन्न कौन-सा जीव है ? यह अतिरिक्त ईश्वरीय अनुदान-मनुष्य के साथ पक्षपात नहीं है और न अन्य जीवों के साथ अन्धेर, अन्याय । यह असाधारण काम करने के लिए है, जिससे भगवान का यह विश्व सुन्दर, समुन्नत रखने में अतिरिक्त उत्तरदायित्व निबाहा जा सके । पर यदि इस शरीर का उपयोग इन्द्रिय लिप्सा, अहंकार की तृप्ति में, वासना-तृष्णा में ही निमग्न कर दिया जाए वैयक्तिक स्वार्थ की-लोभ-मोह प्रवृत्तियों में ही अपने को सीमित करके बैठ रहा जाय तो इसे एक दुर्भाग्य ही कहा जाएगा ।

उसी प्रकार मनुष्य को सांसारिक वैभव के अतिरिक्त अनुदान मिले हैं । सुखद परिवार, सुव्यवस्थित समाज, निर्वाह की सुविधा, मनोरंजन के साधन आदि से सम्पन्न परिस्थितियाँ सामने मौजूद हैं । मनुष्य जैसी परिवार प्रक्रिया, ऐसा सुगठित समाज किन जीवों को मिला है ? इतने सुविधा-साधन और किस प्राणी को प्राप्त हैं ? शिक्षा चिकित्सा, सुसज्जा, कला, वाहन, निवास, उपार्जन, विनोद आदि के ऐसे साधन और किस जीवधारी को प्राप्त हैं ? यह अतिरिक्त सुविधाएँ एकमात्र मनुष्य को ही क्यों मिलीं ? इसका सीधा-सा सरल और स्पष्ट उत्तर यही है कि इन साधनों की सहायता से कलक्टर, मिनिस्टर की तरह मनुष्य अपना उत्तरदायित्व अधिक सुविधापूर्वक अधिक अच्छी तरह निबाह सके । मिनिस्टर को मोटर सरकारी काम के लिए दौरे करने को मिली होती है, पर यदि वह दौरे नहीं करके उस मोटर को टैक्सी की तरह किराये पर चलाए और अपना घर भरे तो यह निन्दनीय और दण्डनीय ही होगा । आज मनुष्य यही कर रहा है । उसने अपनी सभी सुविधाओं को केवल अधिकार माना है, उसके साथ जुड़े हुए कर्तव्य को नहीं समझा है । जो मिला है, उसे ईश्वरीय प्रयोजन के लिए नहीं व्यक्तिगत लोभ, मोह और अहंकार के संकीर्ण स्वार्थों में नियोजित कर रहा है । इसे उसने अपना चातुर्य, अधिकार और सौभाग्य भर माना है । जो मिला है उसका भौंड़ा उपयोग करने में इतना अस्तव्यस्त है कि नर जन्म के साथ जुड़े हुए उत्तरदायित्वों और कर्तव्यों की, आँख उठाकर देखने की भी फुरसत नहीं । इस बुद्धि विपर्यय को एक दुर्घटना ही कहा जायेगा ।

मनुष्य की गतिविधियाँ दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटनाओं का रूप ले बैठी हैं । ऐसी दशा में जो परिणाम होना चाहिए वही हो रहा है । शराब के नशे में मस्तिष्क अस्तव्यस्त हो जाए तो फिर शरीर की सारी गतिविधियाँ ही गड़बड़ा जाती हैं । विश्व के व्यवस्थापक मनुष्य की रीति-नीति ओछी और उच्छृंखल हो जाय तो फिर सन्तुलन कहाँ रह सकता है । सामान्यक्रम कैसे चल सकता है ? वह सब भी औंधा और उलटा ही होना चाहिए । हो भी वही रहा है । जिधर भी दृष्टि उठाकर देखा जाय अन्धेरा छाया हुआ है । मर्यादाएँ हटती जा रही हैं और उच्छृंखलता के झण्डे फहरा रहे हैं । कर्तव्य को बहिष्कृत कर दिया गया है, अधिकार का बोलबाला है । जिसके हाथ जो कुछ है वह उसका अधिक से अधिक उपयोग अपने संकीर्ण स्वार्थों के लिए कर रहा है । न्याय और नीति का किसी को ध्यान ही नहीं । अपराधों और अनाचारों का क्रम आँधी-तूफान की तरह आसमान छू रहा है । शिकायत सबको सबकी है सन्तोष किसी को किसी से नहीं । बाहर से सभ्यता का जैसा आवरण ओढ़ रखा गया है भीतर से उसके ठीक विपरीत मलीनता और दुष्टता सँजो कर रखी गई है ।

इसका परिणाम बाह्य परिस्थितियों पर जो होना चाहिए वह सामने है । जीवन का कोई क्रम विकृतियों से अछूता नहीं । शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक, आर्थिक, सामाजिक किसी भी स्तर को क्यों न लें, स्थिति अत्यन्त निराशाजनक है । धर्मनीति से लेकर राजनीति तक, कला से लेकर विज्ञान तक हर क्षेत्र में विडम्बनाओं और विभीषिकाओं को अपनाकर मनुष्य सत्यानाश के सर्वग्राही मार्ग पर सरपट दौड़ा चला जा रहा है । ऐसी-दशा में सर्वत्र दुःख-दारिद्र्य की, शोक-संताप की, क्लेश-कलह की परिस्थितियाँ फैली पड़ी हैं ।

यह परिस्थिति यथावत् देर तक नहीं चल सकती । चलती रही तो मनुष्य आवरण में पशु एवं पिशाच ही दृश्यमान होंगे और एक दूसरे का रक्त पीकर अपना अस्तित्व आप मिटा लेंगे । अणुबमों से लेकर अनाचारों तक के सर्वग्राही राकेट इस प्रकार दुनिया की चिरसभ्यता का अन्त कर देंगे । यह सब होने नहीं दिया जा सकता । भगवान को यह स्वीकार नहीं । महाकाल अपना लौह दण्ड लेकर चल पड़े हैं । मनुष्य का दृष्टिकोण और आचरण बदला ही जायगा । इच्छा और अनिच्छा से उसे बदलने के लिए विवश होना ही पड़ेगा । असन्तुलन को सन्तुलन में बदलने के आश्वासन के अनुसार 'तदात्मानं सृजाम्यहम्' का वचन पूरा करने अवतरित होकर वे आ ही रहे हैं । अबकी बार उनका आगमन किसी व्यक्ति के रूप में नहीं एक प्रखर आँधी और तूफान जैसी प्रक्रिया रूप में होगा । इसी का नाम है युग परिवर्तन अभियान अर्थात् जनमानस का भावनात्मक परिष्कार ।

धर्मसत्ता की शक्ति राजसत्ता से बढ़कर

आदर्शों को क्रियान्वित करने की बात ही हमें सोचनी है । क्रिया के लिए शक्ति की आवश्यकता है । जन-मानस को प्रभावित करने के लिए भी शक्ति चाहिए । छोटे-मोटे दैनिक नित्य-कर्म भी शारीरिक व मानसिक शक्ति जुटाने से ही सम्पन्न होते हैं । उसके बिना तो इस संसार में एक पत्ता तक हिलने की क्रिया भी सम्पन्न नहीं हो सकती ।

जनमानस को प्रभावित करने और उसे किसी दिशा में चलाने की दो ही शक्तियाँ प्रधान हैं एक राजसत्ता दूसरी धर्मसत्ता । इनके पास अर्थशक्ति और दण्डशक्ति रहती है, वह इनके द्वारा लोगों को आकर्षित और आतंकित करती हैं और अपने साधनों के द्वारा लोगों को जिधर चाहती है उधर चलने के लिए विवश कर सकती है । कानून, पुलिस, कचहरी, जेल-जब्ती आदि के भय से लोग उधर चलने को विवश होते हैं । अर्थ का आकर्षण और दण्ड का आतंक इन दोनों माध्यमों ने शासन के हाथों में यह शक्ति सन्निहित कर दी है जिसका उपयोग करके वह चाहे जिधर जनप्रवृत्तियों को मोड़ सकता है । दुष्प्रवृत्तियों को रोकने के लिए उसके हाथों में बहुत कुछ होता है । उन साधनों का उपयोग यदि सही दिशा में, सही तरीके से किया जा सके तो उससे व्यक्ति और समाज की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाया जा सकता है ।

दूसरी उतनी प्रभावशाली वरन् उससे भी अधिक शक्तिशाली है, धर्मसत्ता । इन दिनों धर्म काफी बदनाम है । इस राजमहल में उल्लू और चमगादड़ों ने, बर्रों और बिच्छुओं ने कब्जा जमाया हुआ है इसलिए उसकी दुर्गन्ध से परिचित लोग धर्म शब्द से ही चिढ़ते हैं और अन्ध विश्वास और ठग विद्या का जाल-जंजाल भर मानते हैं । आज की दयनीय दुर्दशा में यदि प्रबुद्ध वर्ग में ऐसी मान्यता जड़ जमा रही है तो उसे अनुचित भी नहीं माना जा सकता है । पर यह ध्यान रखना चाहिए, यह तिरस्कार और आक्रोश बिडम्बनाओं के प्रति ही हो सकता है । धर्म की मूलसत्ता से इनकार कर सकना, उसे अनुपयोगी या अनावश्यक ठहरा सकना किसी के लिए सम्भव नहीं । धर्म का एक अर्थ है मानवीय अन्तरात्मा की जो मूल प्रकृति है, उसी का नाम धर्म है । वह विलग कैसे हो सकती है । आग और गर्मी को अलग कैसे किया जा सकता है । आत्मा और उसकी मूलभूत प्रकृति धर्म भावना परस्पर जुड़ी ही रहेगी ।

धर्म अन्तःकरण को प्रभावित और प्रशासित करता है, उसमें उत्कृष्टता अपनाने, आदर्शों को कार्यान्वित करने की उमंग उत्पन्न करता है । इस प्रकार धर्म का शासन मनुष्य के गहन अन्तरात्मा पर जाकर प्रतिष्ठित होता है, जबकि राज-सत्ता केवल भौतिक जीवन को ही प्रभावित, आकर्षित और आतंकित करती है । धर्म उमंग पैदा करता है और शासन आतंक प्रस्तुत करता है । दोनों की तुलना यहाँ इस दृष्टि से नहीं की जा रही कि इसमें कौन कमजोर है, कौन बलवान ? कौन महत्वपूर्ण है, कौन निरर्थक ? दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । दोनों का क्षेत्र बँटा हुआ होते हुए भी वस्तुतः एक के द्वारा दूसरे को सफल प्रयोजन होने में सहायता ही मिलती है । दोनों एक दूसरे के विपरीत दिशा में चलें तो जनसाधारण को हानि ही उठानी पड़ती है ।

राज-सत्ता अपने हाथ में नहीं वह दूसरों के हाथ में है । धर्म और राजनीति का समन्वय हो सका होता तो उसका परिणाम अति उत्तम होता, पर आज की स्थिति में यह कठिन है । अस्तु, भावनात्मक नवनिर्माण के लिए हमें राजसत्ता का सहारा टटोलने की अपेक्षा धर्मसत्ता का ही आश्रय लेना चाहिए । सरकार को अपने अन्य भौतिक उत्तरदायित्व निर्वाहों के लिए छुट्टी देनी चाहिए । हमें जन-मानस का स्पर्श करने के लिए विशेष रूप से धर्म-सत्ता का ही उपयोग करना होगा । उसके माध्यम से जनभावनाओं को जगाया, मोड़ा सुधारा और उठाया जा सकता है । संसार को पलटकर रख देने वाले महामानव धर्मक्षेत्र के उद्यान में ही उपजे हैं । प्राचीनकाल के अवतार, देवदूत, ऋषि, मनीषी, सन्त, ब्राह्मण मानव जाति का मस्तक ऊँचा करते रहे हैं और उन्होंने जनसमाज को सर्वतोमुखी प्रगति के पथ पर अग्रसर करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । समस्त संसार में महामानवों का गौरव भरा इतिहास धर्म क्षेत्र का ही अनुदान है । बुद्ध, गान्धी, दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक, मालवीय जैसी विभूतियाँ धर्म क्षेत्र से ही निकली हैं । राज्याधिकारी जनसाधारण मस्तिष्क को प्रभावित कर सकते हैं हृदय को नहीं छू सकते । यह प्रयोजन धर्मक्षेत्र ही पूरा करता है ।

रोष, आक्रोश, घृणा या उत्साह का आवेग, आवेश, उत्पन्न करके किसी से कुछ दुस्साहसपूर्ण कार्य कराया जा सकता है, पर जीवन को तिल-तिल जलाने की, आत्म-संयम और परमार्थ का प्रकाश उत्पन्न करने की निष्ठा केवल धर्म आस्था ही जगा सकती है । आवेश में अहंकार की पूर्ति यश लालसा, विजय लाभ जैसे उथले कारण भी हो सकते हैं और समयानुसार वह उत्साह ठण्डा भी पड़ सकता है, पर वृत्ति द्वारा आत्म-मंथन करके जिसने श्रेय पथ पर कदम बढ़ाया, वह देर तक, अन्त तक बिना कोई प्रत्यक्ष लाभ पाये भी अपने गन्तव्य की ओर चलता रह सकता है । धर्मश्रद्धा के आधार पर किए हुए लोक निश्चय ही देर तक टिके रह सकते हैं । यह धर्म श्रद्धा ही युग निर्माण के चारों आधारों को कार्यान्वित करने के लिए प्रयुक्त की जा रही है ।

धर्म की अविवेकपूर्ण अन्धश्रद्धा की वर्तमान उपलब्धियों का भी मूल्यांकन किया जाय तो आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है कि इन आधार पर मनुष्य कितना अधिक त्याग करने के लिए तैयार हो सकता हैं । ८४ लाख साधु-महात्मा इस देश में हैं, इनका निर्वाह खर्च एक साधारण गृहस्थ से कम नहीं अधिक ही है । फिर उन्हें आये दिन जो सनकें उठा करती हैं उनकी पूर्ति भी तो धर्म श्रद्धालु लोगों को ही करनी पड़ती है इस प्रकार लगभग १००० करोड़ रुपया इन साधुओं और उनकी सनकों की पूर्ति में हर वर्ष जनता को खर्च करना पड़ता है, यह किसी के दबाव से नहीं, दुखी होकर नहीं, हँसी-खुशी और प्रसन्नतापूर्वक खर्च किया जाता है ।

तीर्थों के लिए न जाने कितना खर्च होता है । सोमवती अमावस्या के गंगा स्नान को ही लें तो गंगोत्री से लेकर गंगासागर तक प्रायः हर सोमवती अमावस्या को लगभग

किराये-भाड़े और दान-पुण्य तक का औसत खर्च एक आदमी के पीछे १०० रुपया भी माना जाय तो यह २०० लाख हुआ । वर्ष में प्रायः पाँच सोमवती अमावस्या होती हैं, इस प्रकार यह रकम १०००० करोड़ बैठती है । फिर अकेली गंगा ही तो नहीं है । नर्मदा, कावेरी, गोदावरी आदि पर भी लोग अपने-अपने क्षेत्र में इस प्रकार का पवित्र स्नान करने आते हैं और वह सारा खर्च भी लगभग इतना और भी बैठ जाता होगा ।

यह अकेली सोमवती अमावस्या के स्नान का लेखा-जोखा हुआ । चारों धाम की यात्रा, छुट-पुट तीर्थों के मेले-ठेले, परिक्रमाएँ, रामलीला, रासलीला विपुल धन खर्च कराती हैं, मन्दिरों की स्थाई सम्पत्ति ६००० अरब कूती गई है । उनका वार्षिक पूजा-पाठ, भोग राग एवं रख-रखाव का खर्च एक अरब रुपया वार्षिक है । कथावार्ता, हवन, पूजन, ब्रह्मभोज, श्राद्ध , पिण्ड दान आदि धर्म के नाम पर होने वाली सारी धन शक्ति और जन-शक्ति का लेखा-जोखा लिया जाय तो वह शासन सत्ता पर होने वाले खर्च से कम नहीं अधिक ही पड़ता है । सरकारी टैक्स चुकाने में लोग आनाकानी भी करते हैं और विरोध भी, पर पिता की मृत्यु हो जाने पर मृतक भोज के लिए कर्ज लेकर, खेत बेचकर भी व्यवस्था करते हैं । धर्म प्रयोजनों में इस समय भी इस गरीब देश की जनता जितना समय, श्रम और धन खर्च करती है, उसे देखते हुए यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि धर्म कलेवर के लिए लोग स्वेच्छापूर्वक कितना त्याग करने को तैयार रहते हैं । निस्संदेह यह एक बड़ी शक्ति है । जिसे धर्म कलेवर के उथलेपन तक सीमित न रखकर यदि गहराई तक उतार दिया जाय तो उसके द्वारा इतना महान प्रयोजन सिद्ध हो सकता है कि आश्चर्यचकित रह जाना पड़े ।

यह कहा जा सकता है कि यह अन्धश्रद्धा हुई । लोग अन्धश्रद्धावश इतना खर्च करते हैं, उन्हें देव कृपा, परलोक सुख आदि का प्रलोभन रहता है । यदि यह अन्ध-विश्वास हट जाय तो फिर लोग उच्च उद्देश्यों के लिए उतना खर्च न करेंगे । यह आशंका भी सारहीन है । पाश्चात्य देशों की ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों पर बारीकी से दृष्टिपात किया जाय तो पता लगेगा कि उनका कार्य कितना व्यापक और कितना खर्चीला है । इस सबकी पूर्ति सुशिक्षित और प्रबुद्ध वर्ग की धर्म श्रद्धा से ही होती है ।

संसार भर में प्रायः एक लाख सुशिक्षित पादरी ईसाई धर्म प्रचार में लगे हैं । उनके द्वारा चलाये जा रहे अस्पताल और स्कूलों का खर्चा बढ़ा-चढ़ा है । बाइबिल प्रायः ६०० भाषाओं में करोड़ों की संख्या में छपती है और लागत से कम मूल्य में या मुफ्त में वितरित होती है । इसी प्रकार का उस धर्म का लक्ष्य देने वाला साहित्य सभी भाषाओं में विपुल मात्रा में छपता, वितरित होता है । पादरियों को प्रशिक्षित करने, उनके निर्वाह का खर्च जुटाने तथा मिशन की गतिविधियाँ जारी रखने मे इतना अधिक खर्च होता है जो भारत में अन्धश्रद्धा के कारण होने वाले खर्च की तुलना में सौ गुना अधिक है । इतनी धनशक्ति, जनशक्ति यदि ईसाई धर्म प्रचार में न लगी होती तो इन्हीं १०० वर्षों में ईसाई जनसंख्या २० करोड़ से बढ़ाकर छह गुनी अर्थात् एक अरब बीस करोड़ कैसे हो जाती ? संसार में ६ अरब आबादी में दो अरब से अधिक ईसाई होना उनकी प्रचार तत्परता का ही परिणाम है । इसके लिए उन्हें बहुत कुछ त्याग करना पड़ा है । यह उपलब्धियाँ सुरक्षित वर्ग से ही प्राप्त हुई हैं।

धन की चर्चा इसलिए की गई है कि वह सबसे स्थूल है और इस आधार पर किसी बात को समझा जा सकता है । भावनापरक, समय-साध्य, कष्टसाध्य कार्यों का लेखा-जोखा लिया जाय तो प्रतीत होगा कि धर्म प्रेरणा से प्रेरित होकर लोग उस दिशा में भी कितना त्याग करते और कष्ट उठाते हैं । जप, तप, व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य, दान-पुण्य, तीर्थयात्रा, पदयात्रा आदि शारीरिक कष्ट सहने और मन को तन्मय करने की प्रक्रिया का लेखा-जोखा तैयार किया जाय तो विदित होगा कि मनुष्य इन प्रेरणाओं से प्रभावित होकर न जाने क्या-क्या कर गुजरता है । स्त्रियाँ पतियों की लाश के साथ सती हो जाती हैं, लोग अपने बच्चों को देवता के आगे बलि दे देते हैं, अपने अंग काटकर चढ़ा देते हैं । यह अन्धविश्वास का चमत्कार है, यह नहीं सोचना चाहिए कि मात्र अन्ध-विश्वास से प्रेरित होकर ही मनुष्य कुछ बडा त्याग, बलिदान कर सकता है । सच तो यह है कि यदि विवेक, तर्क, तथ्य और वस्तुस्थिति को समझकर, समझाकर किया और कराया जा सके तो वह अनुदान इससे घटकर नहीं बढ़कर ही हो सकता है । धर्म श्रद्धा सत्कर्मों के लिए, आत्मकल्याण और परमार्थ के लिए इतनी अधिक प्रेरणा दे सकती है कि नवनिर्माण के लिए जिन साधनों के जुटाये जाने की कठिनाई दीखती है उन्हें सहज ही जुटाया जा सके ।

जनता एक दैत्य है । उसका साधन स्रोत अपार है । राजसत्ता का सारा खर्च जनता के एक नगण्य से अनुदान टैक्स से चलता है । इस टैक्स की तुलना में अन्य कार्यों के लिए वह कहीं अधिक धन-साधन तथा समय लगाती है । उन्हीं साधनों में से कुछ अंश नव-निर्माण, पुण्य-प्रयोजन के लिए लगाने के लिए खुशी-खुशी सहमत किया जा सकता है, शर्त एक ही है कि इस महान अभियान की उपलब्धियों को उसे ठीक तरह समझाया जा सके, गले उतारा और हृदयंगम कराया जा सके, कठिनाई इतनी ही भर है । यदि जनता इसे आवश्यक और उपयोगी मान लेती है तो युग परिवर्तन अभियान के लिए आवश्यक सभी साधन सहज ही जुटाये जा सकते हैं । आज असंभव दीखने वाला लक्ष्य कल नितान्त सरल सिद्ध हो सकता है ।

आज बेशक धर्म क्षेत्र में व्यवसायियों की भरमार है । यह अति महत्वपूर्ण प्रक्रिया एक प्रकार से बदनाम हो गई है और प्रतिगामी तत्वों के हाथों में चली गई है, पर इसका

अर्थ यह नहीं कि उसकी उपेक्षा करके सदा के लिए उसके अस्तित्व का अन्त ही कर दिया जाय। श्रद्धा का विषय बहुत नाजुक है, यदि एक बार उसे उखड़ जाने दिया गया तो फिर यह बड़े प्रयत्नपूर्वक खड़ा किया गया, लाखों वर्षों तक सुयोग्य हाथों से सींचा गया कल्पवृक्ष फिर दुबारा लगाना कठिन हो जाएगा। इसलिए उचित यह है कि प्रतिगामी हाथों से उसे छीन लिया जाए और अन्धश्रद्धा को विवेकशीलता के रूप में परिणित किया जाए। इस प्रकार धर्मश्रद्धा से मनुष्य समाज को मिलने वाले लाभ भी मिलते रहेंगे और प्रतिगामी धर्म व्यवसायियों के हाथों से यह क्षेत्र छिन जाने के कारण उसके कलङ्क को धोया जा सकेगा और उस शक्ति को प्रगतिशीलता की दिशा में नियोजित किया जा सकेगा।

अपने देश की वर्तमान स्थिति में धार्मिक पृष्ठभूमि ही एक ऐसी है जिस पर खड़े होकर सर्वसाधारण को कुछ महत्वपूर्ण तथ्य समझाये जा सकते हैं। ८० प्रतिशत भारतीय जनता देहातों में रहती है। जिन्होंने केवल धर्म चर्चा सुनी है-उसकी पूर्व भूमिका इसी स्तर की है। उसके साथ कड़ी जोड़ते हुए जो कहा जायेगा उसे वह आसानी से सुनसमझ सकेगी। नवयुग का आधार भावनात्मक नव निर्माण है। स्पष्टतः यह धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म की परिधि में आता है। इसलिए इसी पृष्ठभूमि पर स्थापित और अग्रसर किया जाना चाहिए। राजसत्ता का सहयोग इस दिशा में रहा होता तो कार्य और भी जल्दी किया जा सकता था, पर वह सहयोग न सही, अकेली धर्मसत्ता अपने आप में भी इतनी कमजोर नहीं है कि जन-मानस की दिशा मोड़ने का कठिन दीखने वाला कार्य सरल न बना सके।

धर्मतन्त्र की अपनी शक्ति है। उसका चिरसमर्पित स्थान और स्तर है। इस वीणा के बिखरे तारों को सहेजकर युग रागिनी से वायुमण्डल को गुँजाया जा सकता है। युग निर्माण योजना अपना लक्ष्य पूरा करने के लिए इसी शक्ति तन्त्र को साथ लेकर चली है।

इन दिनों भारतीय धर्म को आगे रखकर-भारतीय समाज की परिस्थितियों को प्रधानता देते हुए लोकशिक्षण किया जा रहा है। यह प्राथमिकता इसलिए दी गई है कि विश्व धर्म की भूमिका अगले दिनों भारतीय धर्म ही सम्पन्न करेगा। उसी में थोड़ा सुधार-परिष्कार करने में विश्व धर्म को समस्त आवश्यकताएँ पूरी की जा सकेंगी, यह विशेषताएँ और किसी धर्म में नहीं हैं। हिन्दू धर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है। साम्प्रदायिक भूमिका से लाख करोड़ मील ऊँचे उठे हुए तत्वदर्शियों ने इसे मानव मात्र की विश्वव्यापी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकने योग्य शाश्वत धर्म के रूप में विनिर्मित किया है। सामयिक विकृतियों को हटा देने के बाद यह खरा सोना सिद्ध होगा वह हर कसौटी पर सौ टंच प्रमाणित होगा।

विश्व का नेतृत्व अगले दिनों यही विचारधारा करेगी-इसलिए उसे परिष्कृत बनाने का काम यदि पहले हाथ में लिया गया है तो उसे उचित ही माना जाना चाहिए।

जिस पद्धति से भारतीय धर्मशास्त्रों के माध्यम से, आप्त पुरुषों के प्रतिपादन से सहायता लेकर भारतीय धर्मानुयायी कार्यकर्त्ता एकता, समता, शुचिता, ममता का पथ प्रशस्त कर रहे हैं और इस समाज में फैली हुई कुरीतियों का, विकृतियों का उन्मूलन करने में लगे हुए हैं, ठीक उसी प्रकार अन्य धर्मावलम्बियों को अपने धर्म शास्त्रों के सहारे उपयुक्त आधार का समर्थन करने की पद्धति बता दी गई है और उन्हें उस कार्य में लगा दिया गया है। जिस प्रकार हिन्दू धर्म में कितनी ही अन्ध परम्पराएँ और मूढ़-मान्यताएँ घुस पड़ी हैं वैसी ही अन्य धर्मों में भी हैं। उनका उन्मूलन करने में उसी धर्म-सम्प्रदाय के लोगों को जुटाया गया है। यह सही तरीका है। आज की पक्षपात भरी मनोभूमि में एक धर्म वाले दूसरे धर्म वालों से सुधार की बातें कहें तो प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जायेगा और अकारण विग्रह खड़ा होगा।

अपने समाज की कटु आलोचना भी की जा सकती है। पिछले दिनों हम लोग हिन्दू धर्म की विकृतियों का कटुतम विरोध और खण्डन करते रहे हैं। इसका किसी ने बुरा नहीं माना। पर एक बार अमेरिका की मिस कैथरायन मेयो ने 'मदर इण्डिया' पुस्तक लिखकर भारतीय समाज की कुरीतियों को इंगित किया था। इस पर सारे देश में बुरी तरह बाबैला मचा और इस पुस्तक के जवाब में भारतीयों ने अमेरिका समाज की बुराइयाँ छाप कर तुर्की का तुर्की जवाब दिया। यही बात अब भी हो सकती है। लोग दूसरे सम्प्रदाय वालों के मुँह से अपने समाज की बुराइयाँ सुनना पसन्द नहीं करते। इसलिए आज की मनःस्थिति को समझते हुए अपनी कार्यशैली यही है कि धर्मतन्त्र की विभिन्न इकाइयाँ अपने-अपने क्षेत्रों में एक समान उद्देश्य रखकर काम करें। मुसलमान कार्यकर्त्ता मुसलमानों में-ईसाई ईसाइयों में, बौद्ध-बौद्धों में, यहूदी यहूदियों में-पारसी पारसियों में और भी छुटपुट सम्प्रदाय बिखरे पड़े हैं उन सबमें उसी वर्ग सम्प्रदाय के कार्यकर्त्ताओं को जुटाया जा रहा है और उस वर्ग की स्थिति में जो सुधार करने आवश्यक हैं उन्हें उन्हीं की प्रचलित परम्परा में ढालकर परिवर्तन के लिए वातावरण एवं उत्साह पैदा करने के लिए कहा जा रहा है।

नैतिक मूल्य सब में एक से हैं। उनमें सुधार लगभग सबका एक जैसा है। चोरी, बेईमानी, झूठ, दगाबाजी, आलस्य, नशा, माँस भक्षण, क्रूरता, कठोरता आदि नैतिक दोष-दुर्गुणों का विरोध भी हर धर्म में मौजूद है। एकता, समता, प्रेम, दया, करुणा, न्याय, विवेक जैसे सद्गुणों का समर्थन भी हर धर्म में मौजूद है और उस वर्ग में प्रचलित कथापुराण भी उनके जाने-समझे हुए उपलब्ध हैं। इस प्रकार अपने सम्प्रदाय से मिलती-जुलती शैली में नव निर्माण की विचारधारा को फैलाते हुए सबको विविध दिशाओं से

घसीटते हुए एक केन्द्र पर लाया जा सकता है । यह तरीका सही और सरल है ।

इससे पूर्व एक धर्म के झण्डे के नीचे सबको लाने का प्रयत्न प्रायः सभी धर्मावलम्बियों ने किया है और उस खींचतान में दूसरों को अपने धर्म में दीक्षित करने का क्रम चलाया है । इससे उद्देश्य कम पूरा हुआ कटुता अधिक बढ़ी । एक प्रयोग यह भी चला कि सब धर्मों का थोड़ा-थोड़ा सार लेकर एक अलग से समन्वित धर्म बनाया जाय, ऐसा प्रयास थियोसोफी-'सत्य समाज' आदि ने किया पर उसमें भी कोई प्रगति नहीं हुई । वर्तमान जनमानस का स्तर देखते हुए यही तरीका व्यावहारिक और सरल है कि हर सम्प्रदाय के युग निर्माण कार्यकर्त्ता अपने धर्म में से ही ढूँढ़कर अवांछनीयता विरोधी और उपयुक्तता समर्थक आधार निकाल लें और उस वर्ग की कुरीतियों एवं विकृतियों को प्रधानता देते हुए ऐसा कार्यक्रम बनायें जो योजना के मूल प्रयोजन से पूरी तरह तालमेल खाता है ।इस प्रकार कार्यशैली का बाह्य स्वरूप पृथक-पृथक रहते हुए भी उन सबके बीच मूलभूत एकता बनी रहेगी और प्रत्येक क्षेत्र की प्रगति केन्द्रीकरण की दिशा में होगी ।

जाग्रत आत्माओं में दिव्य प्रकाश का अवतरण

रात्रि सदा नहीं रहती । अन्धेरा सदैव कहाँ छाया रहता है ? विपत्ति की घटाएँ निरन्तर कब घुमड़ती हैं ? ग्रहण देर तक कहाँ बना रहता है ? अशुभ घड़ियाँ आती तो हैं पर देर तक नहीं रहतीं । मल-मूत्र त्याग करते समय मनुष्य गन्दा तो होता है पर शुद्ध भी जल्दी ही कर लेता है । दुःख, अपमान, संकट , घाटा, दुर्भाग्य, विग्रह आदि के क्षण आते तो हैं पर जल्दी ही चले भी जाते हैं । मनुष्य के ऊपर इन दिनों असुरता का आक्रमण हुआ है और सूर्य-चन्द्र पर पड़ने वाली राहु-केतु की छाया की तरह ग्रहण लग गया है । यह असमंजस की घडी अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकती । अन्धकार के बाद प्रकाश आता ही है । अब प्रभात के सूर्योदय का प्रकाश उदय होने में देर नहीं । ऊषाकाल की आभा प्राची में लालिमा बनकर प्रकट हो रही है ।

कहना न होगा कि अगणित रूपों में प्रस्तुत विपत्तियों का एक ही कारण है-मानवीय कर्तव्य में निकृष्टता का समावेश और उसका निमित्त है अशुद्ध चिन्तन एवं विकृत दृष्टिकोण । समस्याओं की संख्या हजार-लाख है । चेचक की फुन्सियों की संख्या बहुत है, हर फुन्सी का अलग से उपचार नहीं हो सकता । रक्त शुद्धि की एक ही दवा हर फुन्सी को अच्छा करेगी । समस्याएँ दीखती तो अगणित हैं जिधर दृष्टि उठाकर देखें उधर ही अन्धेर, अनाचार दिखाई पड़ता है पर है यह समुद्री तूफान के कारण उठी हुई गरजती, उफनती हुई लहरें ही । हर लहर को पकड़ना रोकना कठिन है । तूफान रुकेगा तो ही लहरें रुकेंगी ।

अलग-अलग समस्याओं और विकृतियों का लेखा-जोखा लेने लगे तो उसका ब्यौरा तैयार करते हुए सिर चकरा जायेगा । उनके अलग-अलग उपाय सोचना तो और भी कठिन है । फिर उन उपायों को कार्यान्वित करने के साधन खड़े करने की रूपरेखा बनायी जाएगी तो उतना कर सकना असम्भव प्रतीत होगा । धीरे-धीरे छुटपुट एक-एक समस्या का समाधान हाथ में लिया जाय तो भी बनती नहीं क्योंकि एक का समाधान जब तक जड़ जमा नहीं पायेगा तब तक इस उफनती दुनिया के और हजार छिद्र फूट पड़ेंगे । राष्ट्र संघ के सचिव इसी में तो चिंतित रहते हैं । एक क्षेत्र की समस्या सुलझ नहीं पाती तब तक दूसरी नई खड़ी हो जाती है । ऐसा होना स्वाभाविक भी है ।

सड़े तालाब में से लाख-करोड़ मच्छर पैदा होते हैं। एक-एक मच्छर को पकड़ना और मारना कठिन है । तालाब की सफाई करने से ही उस विपत्ति से छुटकारा मिलेगा । विपत्तियाँ और विकृतियाँ भौतिक अवश्य हैं पर उनका स्थायी समाधान दार्शनिक आधार पर ही किया जा सकता है । युग परिवर्तन का मूल उद्‌गम इसी पर केन्द्रित है । भगवान वह प्रक्रिया खड़ी करने जा रहे हैं, जिसमें मनुष्य को अशुद्ध चिन्तन के दुष्परिणामों का भान हो-वह अपनी भूल समझे और उसे सुधारने के लिए उलट पड़े, यह प्रक्रिया जिस क्रम से सम्पन्न होगी उसी अनुपात से विकृतियों के समाधान अनायास ही अप्रत्याशित रूप से निकलते चले आयेंगे ।

दूसरा दूसरों को न तो खींच सकता है और न दबा सकता है । बाहरी दबाव क्षणिक होता है । बदलता तो मनुष्य अपने आप है, अन्यथा रोज उपदेश, प्रवचन सुनकर भी इस कान से उस कान निकाल दिये जाते हैं । दबाव पड़ने पर बाहर से कुछ दिखा दिया जाता भीतर कुछ बना रहता है । इन विडम्बनाओं से क्या बनता है । बनेगा तो अन्तःकरण के बदलने से और इसके लिए आत्मप्रेरणा की आवश्यकता है । इन दिनों यही होने जा रहा है । सबसे पहले जाग्रत आत्माओं के भीतर आत्मपरिवर्तन की तिलमिलाहट पैदा होगी । वे गहराई से आत्म-निरीक्षण करेंगे । अन्धी भेड़ों के गिरोह में से अपने को अलग निकालेंगे और स्वतन्त्र चिन्तन करेंगे । 'लोग ऐसा करते हैं तो हम भी ऐसा करेंगे' का परावलम्बन बहिष्कृत होगा । विशेषतया तब जबकि जनमानस में घोर अविवेक और गहन अनाचार ने गहरी जड़ें जमा ली हों, ऐसे समय में दूसरों का प्रभाव ग्रहण करना, उनका अनुगमन, अनुकरण करना, उन्हीं की तरह अपने को पतन के गहरे गर्त में डाले रहना होगा । क्रान्ति यहीं से आरम्भ होगी । परिवर्तन का प्रथम बिन्दु यहीं रहेगा ।

युग परिवर्तन का आरम्भ व्यक्ति परिवर्तन की उग्र प्रक्रिया के साथ आरम्भ होगा । इसके लिए भगवान ऐसा सूक्ष्म प्रेरणा प्रवाह उत्पन्न कर रहे हैं जो हर जीवित और जाग्रत आत्मा को व्याकुल, बेचैन कर दे । अपनी स्थिति

पर पुनर्विचार करने के लिए हर घड़ी विवश करे और उसे घसीटकर उस स्थान पर खड़ा कर दे जहाँ स्वतन्त्र चिन्तन अनिवार्य हो जाता है । विवेक का प्रकाश जब अपनाया जाता है तब अँधेरे की आशंकाएँ और विभीषिकाएँ सभी तिरोहित हो जाती हैं । ईश्वरीय प्रकाश विवेक के रूप में अवतरित होता है और जहाँ भी वे दिव्य किरणें पड़ती हैं वहाँ अन्धानुकरण एवं पूर्वाग्रहों का विनाश होता है । मनुष्य इतना साहस अनुभव करता है कि औचित्य के मार्ग पर अकेला ही चल पड़े । भले ही उसके तथाकथित शुभचिन्तक उसके लिए उसे रोकते, टोकते ही रह जाएँ ।

आत्मपरिवर्तन के साथ-साथ यही जाग्रत आत्माएँ विश्व परिवर्तन की भूमिका प्रस्तुत करेंगी । प्रकाशवान ही प्रकाश दे सकता है । आग से आग उत्पन्न होती है । जागा हुआ ही दूसरों को जगा सकता है । जागरण की भूमिका जाग्रत आत्माएँ ही निभाएँगी । आत्मपरिवर्तन की चिनगारियाँ ही युग परिवर्तन के प्रचण्ड दावानल का रूप धारण करेंगी । यही सब तो इन दिनों हो रहा है । जाग्रत आत्माओं में एक असाधारण हलचल इन दिनों उठ रही है । उनकी अन्तरात्मा उन्हें पग-पग बेचैन कर रही है, ढर्रे का पशु जीवन नहीं जिएँगे, पेट और प्रजनन के लिए-वासना और तृष्णा के लिए जिन्दगी के दिन पूरे करने वाले नरकीटों की पंक्ति में नहीं खड़े रहेंगे, ईश्वर के अरमान और उद्देश्य को निरर्थक नहीं बनने देंगे । लोगों का अनुकरण नहीं करेंगे, उनके लिए स्वतः अनुकरणीय आदर्श बनकर खड़े होंगे । यह आन्तरिक समुद्र मन्थन इन दिनों हर जीवित और जाग्रत आत्मा के अन्दर इतनी तेजी से चल रहा है कि वे सोच नहीं पा रहे कि आखिर यह हो क्या रहा है वे पुराने ही हैं पर भीतर कौन घुस पड़ा जो उन्हें ऊँचा सोचने के लिए ही नहीं, ऊँचा करने के लिए भी विवश, बेचैन कर रहा है । निश्चित रूप से यह ईश्वरीय प्रेरणा का अवतरण है ।

युग परिवर्तन की भाव चेतना पहले सुसंस्कारी जाग्रत आत्माओं के अन्तःकरण में अवतरित हो तो यह सर्वथा उचित और उपयुक्त ही है । भगवान राम कौशिल्या की कोख में जन्मे और कृष्ण देवकी के गर्भ में आये । वे महान आत्माएँ थीं । घृणित और ओछे स्तर के नागरिक जीव दिव्य प्रकाश का तेज धारण ही नहीं कर पाते । नव जागरण का प्राथमिक श्रेय निश्चित क्रम से सुसंस्कारी जाग्रत आत्माओं को मिलेगा । वे ही आगे आवेंगी, मशाल की तरह जलेंगी और सर्वत्र प्रकाश उत्पन्न करेंगी । अविवेक और अनौचित्य के बन्धनों से वे स्वयं मुक्त होंगी और अपने आदर्शों से असंख्य लोगों को अनुगमन के लिए प्रभावित ही नहीं बाध्य भी करेंगी ।

युग निर्माण परिवार ऐसी ही जाग्रत और सुसंस्कारी आत्माओं का समूह है । संयोग ही कहना चाहिए कि उसे इन बिखरे हुए मणि-माणिक्यों को एक सूत्र में आबद्ध होकर एक बहुमूल्य माला के रूप में गुँथ जाने का अवसर मिल गया । अगले ही दिनों युग निर्माण परिवार का प्रत्येक घटक अपनी यह भूमिका प्रस्तुत करेगा जिसका विस्तार युग परिवर्तन के रूप में असंदिग्ध रूप में दृष्टिगोचर हो सके ।

हमारा इष्ट और उपास्य-आत्मदेव

आत्मा में प्रचण्ड शक्ति के स्रोत दबे पड़े हैं, उन्हें उभारने के लिए आत्म-जागरण की तप-साधना करनी पड़ती है । अपनी आत्मा समस्त देवताओं की शक्ति अपने में भरे बैठी है । कषाय और कल्मषों ने उसकी शक्ति को कुण्ठित कर रखा है और उसे निकृष्ट स्तर का पाप-ताप भरा जीवन-यापन करने की दुर्गति में पटक दिया है । अपनी मलीनताओं को हटाने का प्रयास ही पात्रत्व और विकास की आवश्यकता पूरी करता है । अपना पात्रत्व जितना बढ़ता है उतना दैवी अनुग्रह अनायास ही बरसता है । दैवी विशेषताओं से अपना व्यक्तित्व उसी अनुपात में सुसम्पन्न बनता है । किसी अन्य देवी-देवता के सामने नाक रगड़ने की, प्रार्थना, खुशामद करने की, रिश्वत देने की, गिड़गिड़ाने की हमें तनिक भी आवश्यकता नहीं है । आत्मदेव सबसे बड़ा है । अन्य समस्त दैवी शक्तियाँ उसी की अनुचर हैं । अन्य देवताओं की उपासना भी प्रकारान्तर से आत्मदेव की उपासना ही है । जिस किसी उपाय से हम अपना आन्तरिक स्तर ऊँचा उठा सकें उसी से कुछ चमत्कार वरदान प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा कितने ही स्तोत्र पाठ और जप-तप करते रहने पर दैवी अनुग्रह की एक किरण भी प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं हो सकता ।

आत्मबल से ही मनुष्य की महत्ता और क्षमता बढ़ती है उसी आधार पर बड़े प्रयोजन पूरे होते हैं । आत्मबल सम्पादित करने को जो योग साधना करनी पड़ती है उसे हम 'जीवन साधना' के नाम से पुकारते हैं । शरीर और मन की गतिविधियों को नियन्त्रित एवं परिष्कृत करने का प्रयास ही जीवन साधना है । इसी के अन्तर्गत उपासना का भी एक छोटा प्रकरण जुड़ा हुआ है । पूजा के लिए हमारा नित्य नियमित और निर्धारित समय रहना चाहिए और उस समय जो जप, ध्यान, पूजा-पाठ किया जाय उसे भाव विभोर मनःस्थिति में किया जाना चाहिए तभी उसकी सार्थकता सामने आएगी ।

यह भ्रम अपने मन से हटा ही देना चाहिए कि यत्किन्चित पूजा-पाठ से कोई देवी-देवता प्रसन्न होकर हमारी उचित-अनुचित मनोकामनाओं को पूरा कर देगा । यह अज्ञानसूचक मान्यता जितनी जल्दी हटाई जा सके. उतना ही समय और शक्ति का अपव्यय बचेगा । हमें सोचना यह चाहिए ब्रह्म बीज-शक्ति पुंज अपने इष्ट-देव, आत्मदेव ही हैं । जो कुछ मिलना होगा उसी से मिलेगा । इसीलिए अन्यान्यों की खुशामद, रिश्वत के आधार पर प्रसन्न करने का प्रयत्न छोड़कर हमें आत्मदेव का द्वार

खटखटाना चाहिए और विश्वास करना चाहिए कि उसे भी केवल पूजा कर कर्मकाण्डों से प्रसन्न नहीं किया जा सकता । आत्मदेव का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए आत्मबल का सम्पादन करने के लिए भी हमें जीवन साधना करनी चाहिए । साथ ही जीवन के अन्तर्गत एक छोटे प्रकरण उपासना को भी अविच्छिन्न रूप से अपने दैनिक क्रियाकलाप में जुड़ा रखना चाहिए ।

गायत्री मन्त्र को उपासना को सार्वभौम इसी दृष्टि से बताया जाता रहा है कि उसका भावार्थ, उपासनाविधान, अनुष्ठान, आत्मदेव को परिष्कृत बनाने के केन्द्र-बिन्दु पर केन्द्रित है । उस आधार पर अपनी अन्तःचेतना को उच्च सत्ता के साथ जोड़ देने का, प्राण प्रक्रिया को ही प्रखर बनाने का साधन प्रयास करना है । इसमें जिसे जितनी सफलता मिल जाती है, वह उतना ही आत्मिक विभूतियों से सम्पन्न बनता है । सिद्धियों की श्रृंखला कौन कितनी मात्रा में प्राप्त कर सकता है, इसका सम्पूर्ण आधार इस केन्द्र पर केन्द्रित है कि कौन साधक अपनी आन्तरिक पवित्रता को कितनी विकसित कर सका । सुनिश्चित तथ्य यही है, समस्त वरदानों की वर्षा आत्मदेव के अनुग्रह से ही सम्भव होती है । गायत्री मन्त्र में वरेण्य भर्गो शक्तियों से सम्पन्न सविता देव को आत्मदेव के प्रतीक रूप में ही प्रस्तुत किया है ।

जीवन साधना का आधार मनन और चिन्तन

जीवन साधना का अर्थ है अपने समय, श्रम और साधनों का कण-कण उपयोगी दिशा में नियोजित किये रहना । भाव साधना का अर्थ है अन्तरात्मा के महत्तम भाव स्थल को उच्चसत्ता के साथ सम्बद्ध करना । दोनों परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं । एक के बिना दूसरी अधूरी है । दो पहियों का रथ ही आत्मिक प्रगति का यात्रा क्रम सही प्रकार चला पाता है । इन दोनों में उपेक्षा किसी की भी नहीं होनी चाहिए । निष्ठा के उस कल्पवृक्ष को पोषण, साधना की खाद और उपासना का पानी नियमित रूप से देते रहने पर ही सम्भव होता है ।

जीवन साधना के दो उपाय हैं मनन और चिन्तन । मनन का अर्थ है अपने को आत्मा के रूप में देखने, समझने, अनुभव करने मे विभिन्न कल्पना चित्र बनना, मनुष्य जीवन के उद्देश्य का विचार करना, अन्य जीवों की अपेक्षा अपने को मिली हुई विभूतियों का मूल्यांकन करना, वे जिस प्रयोग के लिए मिली हैं उसका विवेचन करना मरने के बाद ईश्वर के सम्मुख उपस्थित होने और न्याय तुला पर खरे-खोटे उतरने के परिणामों के भले-बुरे फल मस्तिष्क में अपनी वर्तमान गतिविधियों में घुसी हुई अवांछनीयताओं को ढूँढ़ निकालना, उनके कारण उत्पन्न हो रही-हानियों का हिसाब लगाना । इन भूलों को सुधार लिया तो सम्भवत: प्रगति का स्वरूप तैयार करने जैसे आत्मनिरीक्षण और आत्मपरीक्षण के विभिन्न पक्षों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालना मनन का प्रमुख उद्देश्य एवं स्वरूप है । जिस प्रकार सभी बड़े उद्योग या कारखाने के सम्बन्ध में उसके संचालक बारीकी से हर पक्ष का विचार विश्लेषण करते हैं इसी प्रकार हमें जीवन की वर्तमान स्थिति का गंभीर विवेचन करना चाहिए । मनन का यही उद्देश्य एवं स्वरूप है ।

चिन्तन कहते हैं विवेचन के आधार पर सामने व्यक्त हुई त्रुटियों में सुधार करने के लिए एक सुनिश्चित रूपरेखा बनाना, उसे कार्यान्वित करने का साहस एकत्रित करना । ऐसे उदाहरण ढूँढ़ने चाहिए जिनमें दूसरों ने ऐसी ही स्थिति को बदल डालने का साहस किया हो, कार्यक्रम बनाया और निबाहा हो । उसी आधार पर अपने में आवश्यक हेर-फेर करने के लिए विचार-क्षेत्र में और कार्यक्षेत्र में क्या-क्या करना चाहिए, कैसे करना चाहिए उस परिवर्तन में आने वाली बाधाओं से कैसे निपटना चाहिए, आत्मिक विकास की इस साङ्गोपांग योजना एवं कार्यपद्धति का नाम ही चिन्तन है । चिन्तन और मनन दोनों ही हमारे नित्य कार्य में सम्मिलित रहने चाहिए ।

जीवन के कितने ही पक्ष हैं । उनमें से एक-एक दिन एक-एक पक्ष को लाया जा सकता है । एक दिन शारीरिक, दूसरे दिन मानसिक, तीसरे दिन दाम्पत्य जीवन, चौथे दिन शिशु समस्या, पाँचवें दिन आर्थिक, छठे दिन उपासनात्मक, सातवें दिन आध्यात्मिक पथ पर विस्तृत कल्पनाचित्र बनाने, उनका निरीक्षण, परीक्षण करने से जीवन-क्रम की एक परिष्कृत पद्धति और प्रक्रिया विनिर्मित हो सकती है और उस पर चलने का संकल्प एवं साहसपूर्वक कदम बढ़ाया जाय तो आज का तुच्छ दीखने वाला जन्म कल से ही महत्ता की ओर द्रुतगति से बढ़े चलता हुआ दीख पड़ सकता है ।

हर दिन नया जन्म, हर दिन नई 'मृत्यु' का अभ्यास, चिन्तन और मनन की साधना को व्यावहारिक रूप देने में बहुत सफल रहता है । प्रातःकाल आँख खुलने और शैय्या त्यागने के बीच आमतौर से कुछ अर्द्ध-विश्राम जैसा सम रहता है । इस समय यह सोचना चाहिए कि आज अभी-अभी हमारा जन्म हुआ और उसकी आयु केवल एक दिन की है । रात को सोते समय इस दिन जीवन की समाप्ति हो जायगी । आज का अमूल्य अवसर सर्वोत्तम रीति-नीति के साथ व्यतीत करना है । मन को कुविचारों से बचाना है, शरीर से कुकर्म नहीं करने हैं, समय तथा श्रम को उपयोगी कार्यों में लगाना है । धन-सम्पत्ति को ईश्वर की पवित्र धरोहर समझकर अपने लिए उसको नितान्त आवश्यक कार्य में ही खर्च करना है, संयम और सादगी से रहना है । साधनों का एक उपयुक्त अंश परमार्थ के लिए लगाना है, किसी से दुर्व्यवहार नहीं करना है, सभी कर्त्तव्यों का निष्ठा पूर्वक पालन करना है ताकि यह दिन सर्वोत्तम रीति-नीति के लिए जिया जा सके ।

इस चिन्तन के साथ-साथ समय विशेष की दिनचर्या, चिन्तन की दिशा, कार्यक्रमों की सुधरी हुई योजना, गलती होने के सम्भावित अवसरों पर अधिक सतर्क रहने की पूर्व तैयारी, परमार्थ प्रयोजनों का नित्य कर्म तथा दैनिक खर्चों में कमावेशी आदि उस दिन के लिए जीवन के हर पक्ष की रोचक, क्रमबद्ध, सर्वाङ्गीण योजना तैयार कर लेनी चाहिए। इसके बाद नित्य कर्म से निवृत्त होकर दूसरे कर्मों में लग जाना चाहिए।

सबेरे बनी हुई दिन भर की कार्य-पद्धति एवं रूपरेखा को नोट करके रखा जाय और हर घण्टे पर उसमें क्या बन पड़ा, क्या नहीं बन पड़ा के चिन्ह लगाते रहा जाय तो सतर्कता के फलस्वरूप निश्चित रूप से अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ जीवन जिया जा सकेगा। यह क्रम निरन्तर चलता रहे तो यह प्रक्रिया स्वभाव का अङ्ग बन जाएगी और ढर्रे पर क्रम चलने लगेगा। कोई नया परिवर्तन आरम्भ में तो भारी लगता है, पर थोड़े ही दिनों में वह अभ्यास में आने पर सरल और स्वाभाविक जैसा लगता है। उसके निर्वाह में तनिक भी अड़चन व असम्भावना प्रतीत नहीं होती।

दिन भर इस प्रकार व्यवस्थित और योजनाबद्ध दिनचर्या बिताने के उपरान्त रात को सोते समय यह विचार करते हुए निद्रा देवी की गोद में जाना चाहिए कि आज के जीवन का अन्त हो रहा है और प्रसन्नतापूर्वक निद्रा मृत्यु की गोद में चिर विश्राम किया जा रहा है। इस अवसर पर अकेले विदा होने, लोभ और मोह के सारे जंजाल का भार मन पर से उतार फेंकने की कल्पना करनी चाहिए। धन और परिवार केवल उन उद्देश्यों के लिए सेवासाधना को चरितार्थ करने के लिए मिले थे वे अपने नहीं ईश्वर की अमानत थे। ईश्वर को लौटाकर हलके चित्त से शान्ति और प्रसन्नतापूर्वक विदा हो रहे हैं। यह विदाई का चिन्तन लोभ, मोह, अहंकार, वासना आदि अनेक मानसिक जाल-जंजाल को सहने में सहायक होता है। युग निर्माण परिवार के प्रत्येक सदस्य को मनन-चिन्तन की नित्य जन्म, नित्य मृत्यु की विचारणा को अपने दैनिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिए।

उपासना भावभरी हो

उपासना का अर्थ है पास बैठना। भगवान की उपासना अर्थात् भगवान के पास बैठना। यह आत्मा की भूख है जिसे तृप्त किया ही जाना चाहिए। बछड़ा गाय के पास न पहुँचे तो दूध कहाँ से पाये। माँ की छाती से न लिपटे तो शिशु को दुलार कहाँ से मिले। पारस के छुए बिना लोहा सोना कैसे बने, अग्नि की समीपता में आये बिना नगण्य-सा खनिज रसायन कैसे बने? ईश्वर के समीप पहुँचे बिना आत्मा की प्यास सदा अतृप्त ही बनी रहती है। हिमालय से जुड़ी न हो तो गंगा का प्रवाह निर्बाध कैसे बहेगा। विद्युत केन्द्र से तारों का सम्बन्ध हुए बिना बत्ती कहाँ जलती है? वादक की उँगलियों का स्पर्श हुए बिना वीणा के तार कहाँ झनझनाते हैं।

ईश्वर उपासना आत्मा की वैसी ही आवश्यकता है जैसी शरीर को प्राण की है। प्राणविहीन शरीर किस काम का। वह आत्मा अनाथ और अपंग ही रहेगी जिस पर परमात्मा का प्रकाश बरसता न हो। चन्द्रमा की चाँदनी प्रकारान्तर में सूर्य ज्योति का ही प्रतिबिम्ब है, चन्द्रमा में अपना निज का प्रकाश नहीं। परमात्मा से रहित आत्मा पशु का आवरण ओढ़े, दीन, हीन, दयनीय, दुर्दशा ग्रस्त, अपंग, असहाय की तरह मारा-मारा फिरता है। परमात्मा और आत्मा का सामीप्य-सान्निध्य ही जीवधारी का सौभाग्य है। वियोग तो वैधव्य से भी गई-गुजरी, नीरस, कर्कश स्थिति में डाले रहता है।

यों भगवान समीपतम है। हमारे रोम-रोम में, साँस-साँस में वही स्पन्दित हो रहा है, पर दुर्भाग्य यह है कि हमने उसकी ओर से मुँह फेर लिया है। परमेश्वर पास है पर उसकी ओर से विमुख होते जा रहे हैं। समस्त अभावों और शोक-सन्ताप का यह एक ही कारण है। उपासना की प्रक्रिया आत्मा और परमात्मा को पास-पास बैठने का अवसर देती है और जी खोलकर, अपना हृदय उँडेल कर परस्पर अपनी अन्तरंग वार्ता करने का आधार बनाती है। यही है उपासना का प्रयोजन।

कई लोग पूजा का कर्मकाण्ड तो पूरा कर लेते हैं पर उसके साथ जिस भक्ति भावना का समावेश होना चाहिए उसका कहीं दर्शन भी नहीं होता। ऐसे क्रियाकृत्य को पूजा भर कह सकते हैं, उपासना नहीं। उपासना की छाया है पूजा। पूजा के बिना भी उपासना हो सकती है पर उपासना रहित पूजा तो मात्र क्रियाकृत्य बनकर दैनिक अभ्यासक्रम बनाये रहने की परिपाटी मात्र गतिशील रखती है। उससे कुछ आत्मिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यही कारण है कि भाव रहित क्रियाकृत्य मात्र करते रहने वाले लोग पुजारी मात्र रह जाते हैं। भक्ति तो भावना के साथ जुड़ी रहती है। जहाँ गहरी भावना नहीं वहाँ भक्ति कैसी? भक्ति रहित उपासना तो ऐसी है जैसे प्राण रहित शरीर।

युग निर्माण परिवार के प्रत्येक परिजन को अपने नित्य कर्म में भाव भरी उपासना के लिए अनिवार्य रूप से स्थान रखना चाहिए। भगवान के सामने उपस्थिति अनुभव करने के लिए उनका एक प्रतीक बहुत सहायक होता है। गायत्री मन्त्र का या गायत्री माता का चित्र स्थापित करना चाहिए। शक्ति और शान्ति के प्रतीक अग्नि तथा जल को इस उपासना में साक्षी बनाना चाहिए। अग्नि शक्ति की प्रतीक है, उसे पूजा स्थान में दीपक या धूपबत्ती के रूप में तथा शान्ति के प्रतीक जल को एक छोटे लोटे में कलश की तरह प्रतिष्ठित करना चाहिए। पूजन के लिए अक्षत पुष्प, चन्दन आदि भी समर्पित करने चाहिए। कलश धूप-दीप पहिले से ही उपस्थित हैं। इस प्रकार

पूजन हुआ । यह वस्तुएँ भगवान के चित्र प्रतीक के सम्मुख उपस्थित करते हुए कम से कम एक माला गायत्री मन्त्र का जप अवश्य करना चाहिए ।

आत्मशुद्धि के लिए उपासना आरम्भ करने से पूर्व पवित्रीकरण, आचमन, प्राणायाम, न्यास और पाँचों कृत्य करने चाहिए और शिखा यज्ञोपवीत को जल से स्पर्श करना चाहिए । शरीर शुद्धि के बाद गायत्री मन्त्र से भगवान का आह्वान करें । पंचोपचार पूजन पुरुष सूक्त में इस प्रयोजन के लिये दिए हुए पाँच मन्त्रों से अथवा गायत्री मन्त्र से किया जा सकता है । इसके बाद एक बार गायत्री मन्त्र से अथवा 'स्तुता मया वरदा'.... . . मन्त्र से आह्वान और पूजा समाप्त होने के बाद गायत्री मन्त्र से ही विसर्जन कर देना चाहिए । कलश का जल सूर्य के सम्मुख अर्घ्य रूप में चढ़ा देना चाहिए । यह द्वैत की अद्वैत में परिणति की समर्पण विद्या है ।

उपासना का स्थान, उपयोग में आने वाले उपकरण, अपना शरीर वस्त्र सभी स्वच्छ रहने चाहिए । वस्तुतः यह भगवान से मिलने की वेला है, उसमें किसी बहुत बड़े महापुरुष के घर में आगमन जैसे उत्साह की अधिकता तथा सतर्कता रहनी चाहिए । जो कुछ भी पूजन में प्रयुक्त हो, उत्कृष्ट हो, वैसी ही उत्साह और भावभरी मनोभूमि उस समय रहनी चाहिए । भौतिक दृष्टि से इस पुनीत अवसर को, आत्मा-परमात्मा की मिलन वेला को ससार का सर्वोत्कृष्ट भावभरा मिलन कहकर ही अनुभव करना चाहिए । बिछुड़े हुए माता-पुत्र अथवा पति-पत्नी जब लम्बे बिछोह के बाद मिलते हैं, तब उनकी जो व्याकुल मनःस्थिति होती है, वैसी ही उपासक की बन सके, इसका पूरा-पूरा प्रयत्न करना चाहिए । इस भाव गरिमा के अनुरूप ही उपासना का ऊँचा-नीचा स्तर माना जाता है ।

इस समय ध्यान एकाग्र करने की आवश्यकता नहीं है । एकाग्रता की योग साधनाएँ अलग हैं । उपासना में तो अपना हृदय खोलकर भगवान के सामने रखना चाहिए और अन्तरात्मा में विराजमान होकर वे हमसे क्या कहते हैं, इसी वार्तालाप के लिए यह उपयुक्त अवसर है । भगवान द्वारा मनुष्य जीवन प्रदान करने के उद्देश्य और उनके निर्देश आकांक्षाओं को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए । अन्तरात्मा में बैठे हुए वे इसी दिशा में निरन्तर उद्बोधन करते हैं और मनुष्य जीवन के साथ जुड़े हुए आत्म परिष्कार और लोकमंगल के कर्त्तव्यों का दृढ़तापूर्वक पालन करने के लिए वे निर्देश देते हैं । उतना ही उनका सन्देश एवं अनुरोध है । यदि हम उसे सुन सकें और तदनुरूप अपने को ढाल सकें तो समझना चाहिए भगवान का प्यार जीत लिया और उन्हें एक प्रकार से अपना बना लिया । यदि इस सन्दर्भ में उपेक्षा बरती गई तो समझना चाहिए कि जप-तप की मूल भावना से भी अपना परिचय नहीं हो पाया । ऐसी दशा में वह पूजा एक कर्मकाण्ड मात्र ही रहेगी, उसमें आत्मा का कोई बल, सम्बल न मिलेगा ।

भगवान की बात सुननी चाहिए और अपनी कहनी चाहिए । अब तक की भूलों को सच्चे मन से स्वीकार करना, उन पर पछताना और भविष्य में प्रायश्चित स्वरूप पिछली भूलों की क्षतिपूर्ति करना, भावी जीवन को उत्कृष्टतम बनाने के लिए आत्मविवेचन करना और उसके लिए बल और साहस माँगना यही पूजा के अवसर पर किया जाने वाला आत्मविवेचन है ।

भौतिक लाभों की प्राप्ति, कठिनाइयों की निवृत्ति के लिए भगवान से कुछ कहना अपना ओछापन प्रकट करना है । यह अपने पुरुषार्थ भरी भुजाओं से संतुलित मस्तिष्क से माँगने की चीजें हैं । यह पारस और कल्प-वृक्ष हमारे पास हैं उनकी सहायता से बड़ी कठिनाइयों को पार करना और उन्नति के उच्च शिखर पर चढ़ दौड़ना हर किसी के लिए सम्भव है । ईश्वर के भौतिक यही दो स्वरूप हैं जो हमारे साथ हरदम मौजूद हैं । सुख-सुविधाओं की प्राप्ति और कष्टों की निवृत्ति के लिए शारीरिक पुरुषार्थ परायणता और मानसिक दूरदर्शिता ही ऋद्धि-सिद्धि बनकर सामने आती हैं । हमें जो कुछ सांसारिक सुख एवं साधन माँगना हो इन्हीं दोनों से माँगना चाहिए । भुजाएँ लक्ष्मी और मस्तिष्क नारायण के रूप में अपने साथ ही मौजूद है । उपासना का समय तो आत्मा में परमात्मा का भावनात्मक मिलन है । उसमें भौतिक सन्दर्भों का प्रवेश नहीं होने देना चाहिए ।

यह भावभरी उपासना जितनी देर अवकाश हो और मन लगे उतनी ही करनी चाहिए । पूजन जप के साथ-साथ इन्हीं भावनाओं से अन्तःकरण ओत-प्रोत रहना चाहिए । उसमें कम से कम आध घण्टा लगना ही चाहिए । एक माला जप पूरा होने पर जितना समय शेष बचे उसे दिव्य मिलन का, आत्मा का परमात्मा के साथ सम्भाषण का, परस्पर प्रेम भावनाओं के आदान-प्रदान का अनुभव करने में लगाना चाहिए । चिन्तन और मनन की दैनिक साधना को इसी के साथ जोड़ा जा सके तो और भी उत्तम है अन्यथा उसके लिए दूसरी सुविधा का समय निकालना चाहिए ।

उपासना वृक्ष का पोषण, सिंचन, मनन और चिन्तन के खाद-पानी से होता है । इसलिए उपासना की ही भाँति मनन और चिन्तन को भी आवश्यक समझना चाहिए । उपासना हमारे अति आवश्यक नित्य कर्म का अंग रहनी चाहिए ।

इन दोनो के मेल से हमारे जीवनक्रम में दिव्यता का उदय शीघ्र होने लगेगा ।

हमारा आत्मवादी जीवन दर्शन

मनुष्य को सदाचरण की मर्यादा में रखने, समाज के प्रति कर्तव्य पालन करने एवं स्नेह-सौजन्य का उदार परिचय देने के लिए तत्पर करना साधारण नहीं असाधारण कार्य है । यह कार्य राजसत्ता के द्वारा किया तो जाता है पर पूरी तरह सम्भव हो नहीं पाता । राजसत्ता का आयुध दण्ड

है । कानून, पुलिस, कचहरी, जेल आदि तक उसका क्रियाकलाप सीमित है । इस पकड़ से बच निकलने के लिए मनुष्य हजारों रास्ते निकाल लेता है । अपराधियों में से बहुत थोड़े पकड़ में आते हैं जो पकड़ जाते हैं उनमें से बहुत कम को दण्ड मिलता है और जिन्हें दण्ड मिलता है उनमें से बहुत थोड़ों में सुधार होता है, अधिकांश तो उनमें से अपराधी प्रवृत्ति में पारंगत, अभ्यासी एवं निर्लज्ज ही हो जाते हैं । सुधार के उद्देश्य से बनाये गये प्रजातन्त्री कानून तो अपराधों के नियंत्रण में प्रायः असफल ही रहते हैं । यदि राजसत्ता ने कभी दुष्टता, दुर्बुद्धि को रोका है तो उसके लिए नृशंस आतंकवादी दमन ही फलीभूत हुआ है ।

आन्तरिक स्तर को उत्कृष्ट और समुन्नत बनाने के लिए दार्शनिक आस्थाएँ ही काम करती हैं । यह प्रयोजन धर्म, अध्यात्म और आस्तिकता के सहारे पूरा किया जाता रहा है । यह तत्वदर्शन यदि सही स्तर का हो तो निस्संदेह उससे व्यक्ति की महत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने और विकसित करने का उद्देश्य पूरा होता रह सकता है । दुर्भाग्य यही रहा कि पिछले दिनों इन महान अवलम्बनों को भी विकृत कर दिया गया । अब ईश्वर का रूप यह है कि वह थोड़ी पूजा-पत्री करने वालों से, भोग प्रसाद खिलाने वालों से प्रसन्न होकर पात्रता और पुरुषार्थ न होने पर भी मनोकामनाएँ पूर्ण करने वाला मान लिया गया है । कर्मकाण्ड करने पर पाप कर्मों के दण्ड से छुटकारा मिलने की बात सरेआम कही जाती हैं ऐसी दशा में आस्तिकवाद का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है । भाग्यवादी परावलम्बन और पाप दण्ड से बचने की निर्भयता द्वारा व्यक्ति व समाज का पतन ही हो सकता है उत्थान नहीं । अध्यात्म की विकृत मान्यताओं ने उसकी सारी उपयोगिता नष्ट कर दी ।

दूसरा विकल्प देश-भक्ति, समाज निष्ठा, नीति-शास्त्र के रूप में पिछले दिनों रखे गये हैं । पर ये दार्शनिक स्तर के नहीं रखे जा सके, उन्हें भौतिक उपयोगिता के आधार पर प्रतिपादित किया गया । फलतः नीति के रूप में उन्हें मान्यता मिली । आस्था के मर्मस्थल तक उनका प्रवेश न हो सका यही कारण है कि समाज निष्ठा का जोर-शोर से प्रतिपादन करने वाले लोग भी भीतर ही भीतर इतने कुकर्म करते पाये जाते हैं कि कथनी और करनी का भारी अन्तर आश्चर्यचकित कर देता है ।

ऐसी दशा में परिष्कृत जीवन दर्शन का स्वरूप स्थिर करने की आवश्यकता सामने आती है । इसके लिए आत्मवादी वेदान्त दर्शन ही मन के उपयुक्त बैठता है । हम मूलतः ईश्वर के पुत्र राजकुमार और दिव्य विशेषताओं से भरेपूरे हैं । हमारे सामने ईश्वर द्वारा सौंपा गया आत्म-परिष्कार एवं लोक-मंगल का विशाल उत्तरदायित्व प्रस्तुत है । निकृष्ट चिन्तन एवं घृणित कर्तृत्व हमारी गौरव गरिमा पर लगा हुआ कलंक है, जिसे अविलम्ब निरस्त किया जाना चाहिए । यह विश्व भगवान का साकार रूप है इसे सुन्दर, सुव्यवस्थित, समुन्नत बनाने की कर्मठ साधना की जानी चाहिए । प्रत्येक के साथ सौहार्द्र, सौजन्य का व्यवहार किया जाना चाहिए । यही है आत्मवादी तत्वदर्शन, जिसे जन-मानस में प्रतिष्ठापित करने के लिए युग निर्माण योजना द्वारा पूरी तत्परता के साथ प्रयुक्त किया जा रहा है । यदि यह आत्मवादी जीवन दर्शन लोकश्रद्धा में परिणित हो सका तो विश्वास किया जाना चाहिए कि सतयुगी वातावरण का, मनुष्य कलेवर में देव ज्योति का दर्शन कर सकना निश्चित रूप से सम्भव हो सकेगा ।

मनुष्य अपने आप में महान है । उसमें सम्पूर्ण देव सत्ता और उत्कृष्टतम गरिमा ओत-प्रोत है । यह आत्मा ही परमात्मा का स्वरूप है । माया, मलीनता, भ्रान्ति ही समस्त दुःख, शोक का कारण है । इस मान्यता में आत्मानुभूति पर ही सारा ध्यान केन्द्रित किया गया है कि इस मार्ग पर जितनी प्रगति होगी व्यक्ति उतना ही महान् बनता चला जाएगा । यही आत्मदर्शन है । इसमें न ईश्वर भक्ति की तरह पक्षपात की आशा है और न समाज भक्ति की तरह बुद्धिबल के आधार पर उलटी-सीधी व्यवस्थाएँ गढ़ डालने की गुंजायश । युग परिवर्तन का, भावनात्मक नवनिर्माण का आधार यह आत्मवाद ही हो सकता है । युगनिर्माण परिवार के परिजनों को अपनी आस्थाएँ आत्मदर्शन के आधार पर विनिर्मित एवम् विकसित करनी चाहिए ।

आत्मा का परिष्कृत रूप ही परमात्मा है । हम अपनी मलीनताओं को तिलांजलि देकर अधिकाधिक परिष्कृत, और उदात्त बनें और अपूर्णताओं से विरत होकर पूर्णता का आनन्द लाभ करें, यही अपना चरम लक्ष्य होना चाहिए । इसमें किसी अन्य ईश्वर को, किसी अन्य आधार पर प्रसन्न करने की जरूरत नहीं पड़ती वरन् आत्मनिरीक्षण एवं आत्मशोधन पर ही ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है । अन्तः-करण कितना उत्कृष्ट एवं उदात्त बना इसी कसौटी पर आत्मिक प्रगति की परख करनी पड़ती है ।

हमें आत्मगौरव की रक्षा को परमात्मा के सम्मान की रक्षा के रूप में देखना चाहिए और आन्तरिक गरिमा पर आँच न आने देकर अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेना चाहिए । ऊँचा उठने के लिए ऊँचे आदर्श अपनाने पड़ते है । हमारी भावनाएँ आत्मा के, परमात्मा के गौरव को सुरक्षित एवं सुविकसित रखने के लिए सब कुछ कर गुजरने की निष्ठा के साथ सुसम्बद्ध रहनी चाहिए ।

हम कोई ऐसा काम न करें जिसमें अपनी अन्तरात्मा ही अपने को धिक्कारे । इस तथ्य का निरन्तर ध्यान बनाये रखा जाए । अपनी क्षुद्रताएँ और दुष्टताएँ दूसरों से छिपाकर रखी जा सकती हैं । दूसरों को झुठलाया और भ्रमाया जा सकता है, पर अपने आप से तो कुछ छिपाया नहीं जा सकता । दूसरे तो किसी भय या प्रलोभन से अपने दोषों को सहन कर सकते हैं पर आत्मा तो वैसा क्यों करेगा ? आत्म-धिक्कार, आत्म-प्रताड़ना, आत्म-असन्तोष,

आत्म विद्रोह मानवी-चेतना को मिलने वाला सबसे बड़ा दण्ड है । शरीर को दर्द, चोट, ताप आदि से कष्ट होता है । मन को शोक, अपमान, घाटा, विछोह आदि से दु:ख होता है । पर आत्मा को तिलमिला देने वाली पीड़ा तो आत्मधिक्कार के रूप में ही सहनी पड़ती है ।

अपना कर्त्तव्य, अपना चिन्तन, अपना स्तर-अपनी के आत्मा सामने तो स्पष्ट रहता है । उससे कुछ कैसे छिप सकता है ? फिर यह भी स्पष्ट है कि शुद्ध, बुद्ध और निरंजन ईश्वर का प्रतीक प्रतिनिधि होने के कारण वह निष्पक्ष न्यायाधीश की भूमिका ही सम्पन्न करता है और अनाचार को सहन न करके आत्मधिक्कार की प्रचण्ड प्रताड़ना से सारा व्यक्तित्व ही हिल जाता है और मनुष्य हर घड़ी बेतरह काँपता रहता है । इस कँपकँपी की प्रतिक्रियाएँ शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक स्तर में अगणित उद्वेग बनकर सामने आती हैं । मनुष्य को कहीं चैन नहीं मिलता । हर घड़ी उचटा-उचटा, उद्विग्न और अशान्त रहता है । साधन कितने ही अधिक क्यों न हों । लगता है उसका कुछ छिन गया, कुछ खो गया, कुछ भूल गया, कहीं भटक गया और किसी भारी विपत्ति के जंजाल में वह फँस गया ।

बाहर से इस अशान्ति का कोई कारण नहीं दीखता पर भीतर की बेचैनी, अविश्रान्ति इतना उद्वेग उत्पन्न करती है मानो किसी ने लगातार भगाया, दौड़ाया हो, मुद्दतों से सोने का अवसर न मिला हो । अगणित शारीरिक और मानसिक रोग इस आत्मधिक्कार की प्रताड़ना से ही उत्पन्न होते हैं । इस आत्मदण्ड से पीड़ित व्यक्ति प्रचुर साधन सम्पन्न होते हुए भी निरन्तर व्याकुल-बेचैन रहता है ।

मरने के बाद स्वर्ग-नरक मिलने, न मिलने की बात पर सन्देह किया जा सकता है पर घृणित जीवनक्रम अपनाये हुए व्यक्ति की आत्मप्रताड़ना को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है और उसकी प्रतिक्रिया कितने उद्वेग, अवरोध बनकर सामने खड़ी है इसको कभी भी, कहीं भी, अनुभव किया जा सकता है । यह नरक जीवित स्थिति में ही हर घड़ी भुगतना पड़ता है । अपना आपा ही आदमी को इतना डरावना लगता है मानो हजार यमदूतों का प्रतीक बनकर वह असंख्य नरकों को ऊपर उलीचने के लिए आतुर खड़ा हो ।

आत्मदर्शन इन्हीं तथ्यों की ओर प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करता है और इंगित करता है कि छोटे-छोटे इन्द्रियलिप्सा जन्य, लोभ, मोह के आकर्षणों से प्रेरित, अवांछनीय गतिविधियों से बचा ही जाना चाहिए । अहंता जन्य ईर्ष्या और एषणाओं के लिए व्याकुल नहीं रहना चाहिए । अपनी आँख में अपना सम्मान जिससे बढ़ सके, अन्त:करण में निवास करने वाला परमात्मा जिससे सन्तुष्ट और सहमत हो सके ऐसे ही क्रियाकलाप अपनाने चाहिए ऐसा ही दृष्टिकोण विकसित करना चाहिए । आत्म-दर्शन को यदि सचमुच अपनाया गया होगा तो आत्मशोधन और आत्मपरिष्कार की प्रबल उत्कण्ठा अन्त:करण में उठ खड़ी होगी । उसे किसी भी कारण से अवरुद्ध नहीं किया जा सकेगा ।

आत्मगौरव की माँग है कि शानदार जीवन जिया जाय । शानदार सोचा और शानदार किया जाय । देश की आन-बान, शान पर सब कुछ निछावर करने वाले स्वाभिमानी, सेनानायकों से कम नहीं वरन् बढ़कर है आत्मवादी । उसको आत्मा की, परमात्मा की, शान की चिन्ता रहती है । इसकी इज्जत बनाए रखने के लिए उसे बड़ा त्याग करने में हिचक नहीं होती ।

आत्मवादी न दुष्ट हो सकता है न कुकर्मी । न छल कर सकता है, न प्रपंच रच सकता है । निकृष्ट चिन्तन से भी उसे घोर घृणा होती है, मस्तिष्क भगवान् विष्णु का क्षीर सागर, शिव का कैलाश, मानसरोवर और ब्रह्मा का ब्रह्मलोक है । ऐसे पवित्र स्थान में पिशाच और चाण्डाल जैसे दुष्ट-दुर्भावों का क्या काम ? अनैतिक और पतनोन्मुख विचारों को ऐसे देव स्थान में गन्दगी बखेरने का अवसर कैसे दिया जा सकता है ? आत्मभाव की भूमिका में जीवित मनुष्य इस दिशा में पूर्णतया सजग और सतर्क रहता है ।

व्यक्तिगत जीवन में जिस उच्चस्तरीय 'शुचिता' का समावेश भावनात्मक नव-निर्माण में प्रधान रूप में रचा गया है, उसकी स्थापना पुष्टि और परिपक्वता आत्मदर्शन की प्रौढ़ता के साथ जुड़ी है । हममें से प्रत्येक को आत्म-गौरव की, आत्मसम्मान की, आत्म-परिष्कार की, आत्म साक्षात्कार की चेष्टा करनी चाहिए । आत्मसम्मान के नाम पर कई बार ओछे स्तर का अहंकार विदूषक जैसा वेष बनाकर सामने आ खड़ा होता है । हमें अहंकार और आत्मसम्मान का अन्तर समझना चाहिए । अहंकार वस्तुओं और परिस्थितियों को खोजता है और उनके आधार पर रुष्ट, तुष्ट होता है, जबकि आत्म-गौरव आन्तरिक स्तर पर-गुण, कर्म, स्वभाव के स्वरूप पर आकांक्षाओं और विचारणाओं की दिशा पर आधारित रहता है । जिसकी अन्त:भूमिका उज्ज्वल है उसे बाह्य परिस्थितियों से कुछ लेना-देना नहीं रह जाता । उसे भौतिक जीवन की सफलता, असफलताएँ प्रभावित नहीं करतीं । सम्पदाएँ नहीं आन्तरिक विभूतियाँ उसकी सन्तुष्टि का केन्द्र रहती हैं । अहंकारी व्यक्ति जहाँ बाह्य प्रतिकूलताएँ देखकर ही असन्तुलित और रुष्ट-असन्तुष्ट होने लगता है वहाँ आत्मवादी को आन्तरिक स्तर की उत्कृष्टता ही परिपूर्ण सन्तोष दे सकने के लिए पर्याप्त प्रतीत होती है ।

आत्मवादी-अपने शरीर, मन और व्यवहार को ऐसा उज्ज्वल, उत्कृष्ट बनाने में लगा रहता है जिससे इस काय-कलेवर में निवास करने वाले आत्मा का गौरव बढ़ता हो शरीर स्वच्छ, वस्त्र स्वच्छ, उपकरण स्वच्छ, घर स्वच्छ, उसका निवास और प्रभाव जहाँ भी रहेगा वहाँ स्वच्छता की प्रतिष्ठापना के लिए निरन्तर प्रयास चल रहा होगा । आन्तरिक स्वच्छता जहाँ होगी वहाँ बाह्य स्वच्छता भी

छाया की तरह साथ रहेगी । गन्दगी से जुड़े रहना मनुष्य के स्तर पर लगने वाली लांछना है । इसे कोई स्वाभिमानी क्यों सहन करेगा ?

सृष्टि का हर काम पूर्ण व्यवस्था और क्रमबद्धता के साथ चल रहा है । सूर्य नियत समय पर उगता-डूबता है । मनुष्य की दिनचर्या नियमित और नियन्त्रित होनी चाहिए । उसे एक क्षण भी अस्त-व्यस्तता में नहीं गुजारना चाहिए । ईश्वर प्रदत्त सबसे प्रधान सम्पदा के रूप में जीवन के क्षण ही तो मिले हैं इनमें से एक क्षण भी बर्बाद नहीं होना चाहिए । समय का पूरा-पूरा सदुपयोग किया जाना चाहिए । अस्त-व्यस्तता के लिए, आलस्य, प्रमाद के लिए कहीं कोई गुंजायश नहीं रहनी चाहिए । हर काम क्रमबद्ध, योजनाबद्ध, व्यवस्थित और कलात्मक, सम्पूर्ण मनोयोग के साथ किया हुआ होना चाहिए । आत्मवाद की मान्यता कहाँ कितनी गहरी है, इसे किसी की कार्यपद्धति में सतर्कता और सजगता के समावेश के रूप में देखा-परखा जा सकता है । उसमें आलस्य, प्रमाद के लिए, लापरवाही और उपेक्षा के लिए कहीं रत्ती भर भी गुंजायश न मिलेगी ।

हर किसी से मधुर भाषण, नम्र व्यवहार, शिष्टता और शालीनता का समुचित समावेश, हर किसी का आदर, चेहरे पर सन्तोष और उल्लास व्यक्त करती रहने वाली अनवरत एवं अभ्यस्त हल्की मुसकान को देखकर यह जाना जा सकता है कि आत्मवाद का रंग कितना गहरा चढ़ा है । सज्जनता, सादगी और संजीदगी की मात्रा के अनुरूप किसी के अन्तःकरण का स्तर गिरा या उठा हुआ नापा जा सकता है । विरोध और मतभेद में भी अनौचित्य के साथ ही लड़ाई को सीमित रखने की, व्यक्ति के नाते हर किसी का सम्मान करने की कला जिसे आ गई समझना चाहिए अपनी और दूसरों की आत्मा के सम्मान सुविधा की आवश्यकता का तथ्य जान लिया गया ।

आत्मगौरव और कर्त्तव्यनिष्ठा परस्पर अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं । मनुष्य के कन्धे पर अनेक कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व रखे गए हैं । नागरिक कर्त्तव्यों का पालन हर किसी के लिए आवश्यक है । स्त्री, बच्चे, माँ-बाप, भाई-बहिन, मित्र, पड़ौसी, सेवक, स्वामी सभी के प्रति अपने कुछ कर्त्तव्य हैं । समाज के प्रति जिम्मेदारियाँ हैं । इन सबको सही ढंग से निवाहने पर ही आत्मगौरव की रक्षा हो सकती है । मर्यादाओं का पालन किया ही जाना चाहिए । पशु प्रवृत्तियों और कुसंस्कारों को नियन्त्रित रखना ही चाहिए । अधिकारों के लिए उतना बेचैन नहीं होना चाहिए जितना कि कर्तव्य पालन में भूल न होने देने के लिए । दूसरे लोग क्या करते हैं, उनने क्या बदला चुकाया और लेखा-जोखा लेने की अपेक्षा इतना सोचना ही पर्याप्त है कि हमने अपना कर्त्तव्य पूरा किया या नहीं । दूसरे भूल करते हैं तो उनसे अपनी तुलना क्या ? आत्मवादी को आदर्श बनना पड़ता है ताकि दूसरों को अनुकरण का उदाहरण और सन्मार्ग पर चलने का प्रकाश अवलम्बन आधार मिल सके ।

आत्मवादी हराम की, अनीति की कमाई नहीं खा सकता । पाप का पैसा खाने से भूखा मरना अच्छा । यह सिद्धान्त जिसने अपना लिया वह न्यायोचित उपलब्धियों में ही गुजारा करने की व्यवस्था बनाता है, दुनिया में बहुत लोग गरीबी का जीवन जीते हैं । रूखा-सूखा खाकर, फटा- टूटा पहनकर ईमानदारी का जीवन जीने में आत्मवादी की शान है । वह बेईमानी की, हराम की, चोरी, चालाकी की कमाई की ओर निगाह उठाकर भी नहीं देखता । न उसे जुआ खेलना आता है न सट्टा-लाटरी लगाने को मन चलता है । बीसों उँगलियों की-पूरे परिश्रम की, खरी कमाई खाकर जिस स्तर का भी रहन-सहन रखा जा सके वह उतने में ही बादशाहों जैसी शान समझता है । उचक्के लोग ऐय्याशी का ठाठ-बाट बनाए फिरते हैं उससे उसे ईर्ष्या होती है न इच्छा । ईमानदारी की कमाई अपने आप में इतनी शानदार है कि उसके लिए चने चबाकर और टाट ओढ़कर जीना पड़े तो उसे अपने लिए शान और सम्मान भरा उपहार ही मानना चाहिए ।

आत्मनिष्ठ का जीवन उसकी निष्ठा का सूचना पट होता है । बेईमानी की कमाई से जो वैभव प्रदर्शन किया जाता है वह एक तरह से अपनी अनैतिकता की सार्वजनिक घोषणा है । कोई सुप्तात्मा ही अपने बेईमान होने के इस सूचना पट को लगाकर प्रसन्न हो सकता है । आत्मवादी इसके लिए ललचाना तो दूर उस ओर फूटी आँख देखना भी पसन्द न करेगा । उसे तो आत्मा का वर्चस्व बढ़ाने वाली हर क्रिया रुचिकर लगेगी । न वह भौतिकता की आकांक्षा करेगा और न उससे प्रभावित होगा । उसे कुछ प्राप्त भी हो जायेगा तो किसी आवश्यकता युक्त व्यक्ति की ओर ही उसे बढ़ा देगा ।

आत्मवाद की प्रेरणा है, आत्मगौरव की रक्षा । कहना न होगा कि आत्मगौरव, ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा, सज्जनता और सुव्यवस्था से भरे जीवनक्रम के साथ जुड़ा हुआ है । हमें ऐसा ही जीवनक्रम स्वयं अपनाना चाहिए और ऐसी ही आस्था अपने परिवार प्रभाव क्षेत्र में उत्पन्न करनी चाहिए ।

परिवार जीवन विकास की प्रयोगशाला

अपने आपको ढालने, बदलने, बनाने की सर्वोत्तम प्रयोगशाला है, अपना परिवार । अपने आपे के बाद अपना सबसे बड़ा प्रभाव क्षेत्र अपना परिवार ही होता है । उसके प्रति अपना कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व भी जुड़ा रहता है । इसलिए आत्मनिर्माण और परिवार निर्माण को एक साथ मिलाकर भी चला जा सकता है ।

तैरना सीखने के लिए तालाब चाहिए । निशाना साधने के लिए बंदूक, पढ़ने के लिए पुस्तक चाहिए और वैज्ञानिक प्रयोगों के लिए प्रयोगशाला । यों अपनी आस्थाएँ, मान्यताएँ एकाकी भी बनाई, बदली जा सकती हैं । पर वे

खरी उतरी कि नहीं, परिपक्व हुई कि नहीं ? इसका परीक्षण भी हो होना चाहिए । इसके लिये उपयुक्त कसौटी परिवार ही हो सकता है । फिर वह ईश्वर का सींचा हुआ एक बगीचा भी है । उसे कर्मठ और कुशल माली की तरह सम्भाला संजोया जाना भी है । विश्व-मानव के चरणों में मनुष्य अपनी श्रेष्ठतम श्रद्धांजलि एक सुसंस्कृत परिवार के रूप में ही तो प्रस्तुत करता है । परिवार निर्माण की प्रक्रिया जहाँ पुनीत उत्तरदायित्व का निर्वाह करती है वहाँ आत्म-निर्माण का पथ प्रशस्त करने में भी असाधारण रूप से सहायक होती है ।

जल्दी सोने और जल्दी उठने की आदत स्वास्थ्य संरक्षण से लेकर प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में सबसे महत्वपूर्ण कार्य निपटाने का अवसर पाने तक अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है । संसार के जितने भी कुकर्म, अनाचार होते हैं उनमें से ७० प्रतिशत रात्रि के प्रथम प्रहर में होते हैं । वह समय जागने का नहीं । सिनेमा, शराब, व्यभिचार, जुआ, गप-शप आदि का दौर इसी प्रहर में होता है । यदि यह आध्यात्मिक विपत्ति का समय सोकर व्यतीत कर दिया जाय तो अधिकांश बुराइयों से छुटकारा मिल जाता है, और प्रातःकाल का ब्रह्ममुहूर्त उपासना, विद्याध्यन, व्यायाम आदि किसी भी उपयोगी कार्य में लगाया जा सकता है । इस संदर्भ में जैन धर्म की परम्परा बहुत ही प्रशंसनीय है कि सूर्य डूबने से पहले भोजन करके निवृत्त हो जाया जाय । इसी में एक कड़ी हमें और जोड़ देनी है कि यथा सम्भव अधिक रात व्यतीत किये बिना जल्दी ही सो भी जाया जाय ।

रात्रि में भोजन के बाद ज्ञान वृद्धि का सात्विक मनोरंजन चलना चाहिए, सारे परिवार को इकट्ठा करके विचार गोष्ठी चलाई जाय । घर के शिक्षितों में क्रमशः एक-एक दिन घण्टा या आधा घण्टा सत्साहित्य पढ़कर सुनाया करें और शेष सब लोग सुना करें । युग निर्माण साहित्य में इस प्रयोजन के लिए कितनी ही पुस्तकें बहुत ही महत्वपूर्ण हैं । पत्रिकाओं में समाचार प्रसंग, संस्मरण तथा जीवन वृतान्त छपते हैं और भी कितने ही जीवनोपयोगी विषय रहते हैं । उन्हें पढ़ने और सुनने की पद्धति चल पड़े तो एक प्रकार से स्वाध्याय और सत्संग की आवश्यकता सहज ही पूरी होती रहेगी । कुछ ही दिन में इसका प्रभाव दीखने लगेगा और प्रतीत होगा कि इस भावनात्मक आहार को पाकर हर एक का अन्तःकरण कितना विकसित हो रहा है । अपना नित्य का स्वाध्याय इसी आयोजन से जुड़ा रह सकता है । पढ़ने-सुनने के बाद प्रश्नोत्तर का क्रम अपनाया जाय ।

परिवार को सुन्दर और सुव्यवस्थित बनाने में घर के हर सदस्य को अपना योगदान देने का अवसर नित्य मिलता रहे । घर की सफाई, पुताई, फर्नीचर, साज, सँभाल रंग-रोगन, कपड़े धोना, टूटी चीजों की मरम्मत, पुस्तकों की जिल्दें, हर वस्तु को नियत स्थान पर जमाना जैसे कार्यों में छोटे-बड़े सबको कुछ न कुछ समय देना चाहिए । घर में कृषि, पशुपालन, गृह उद्योग जैसे कुछ काम चलते हों तो उसमें भी हाथ बटाने का, बाल-वृद्ध सबका यथासम्भव योगदान रहना चाहिए । घर में कुछ लोग बिस्तर घिसते रहें, कुछ मटरगस्ती करें बहुत ही बुरा तरीका है । परिवार के प्रत्येक समर्थ सदस्य को यह अनुभव होना चाहिए कि उस परिवार में उसके भी कुछ कर्त्तव्य उत्तरदायित्व हैं । उसके विकास में उसका भी योगदान है । इस दृष्टि से श्रमदान की एक क्रमबद्ध व्यवस्था रहनी चाहिए ।

स्वच्छता और सौन्दर्य, सुसज्जा, सुव्यवस्था, शालीन परिवार की शान है । गन्दगी की छोटी-छोटी दुर्बलताओं पर बारीक नजर रखनी चाहिए और जहाँ कहीं आलस्य, प्रमाद, फूहड़पन बरता जा रहा हो उसे हटाने में मिठास और सहयोग के साथ कार्य करना चाहिए । धमकी, निन्दा भर्त्सना, गाली-गलौज, कटुवचन, तिरस्कार, मारपीट झल्लाहट जैसे आवेश-ग्रस्त आचरण का किसी शालीन परिवार में कोई स्थान नहीं रहना चाहिए । छोटों को बड़ों के साथ अशिष्टता बरतना जिस प्रकार हेय माना जाता है ठीक वैसी ही परम्परा किसी सभ्य परिवार में बड़ों द्वारा छोटों के प्रति भी निबाही जानी चाहिए । अनुचित आचरणों या भूलों के लिए कहा सुना, समझाया, रोका जाना चाहिए पर उसमें सज्जनता, नम्रता, शालीनता का समुचित पुट बना रहे इसका पूरा ध्यान रखा जाय । किसी का भी अपमान न किया जाय किसी के भी स्वाभिमान को चोट न पहुँचाई जाय भले ही वह आयु में कितना ही छोटा नितान्त अबोध बालक ही क्यों न हो । 'तू' का उच्चारण असभ्य माना जाय छोटों को भी 'आप' न सही कम से कम 'तुम' तो कहा ही जाय । कन्या और पुत्र में, बहू और बेटी में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होना चाहिए ।

परिवार में हर किसी की नियत दिनचर्या होनी चाहिए । समय के विभाजन से कई तरह के कार्य करने का-यहाँ तक कि मनोरंजन और विश्राम का भी पर्याप्त समय मिल जाता है । जिन घरों में अनियमित दिनचर्या चलती है, सोने, जागने, खाने, नहाने का नियत समय नहीं रहता, वहाँ काम जरा-सा होते हुए भी सारा दिन बर्बाद हो जाता है और किसी को कभी अवकाश नहीं मिलता ।

सामूहिक प्रार्थना प्रातः और सायं काल अथवा दोनों में से एक समय अवश्य ही निर्धारित रहनी चाहिए । सामूहिक गायत्री जप का उच्चारण कोई सुन्दर-सी भावपूर्ण प्रार्थना सब लोग मिलकर गाएँ । युग निर्माण सत्संकल्प का नित्य पाठ करें ।

घर में हर किसी को सादगी और मितव्ययिता का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए । चटोरापन, फिजूलखर्ची, उद्धत शृंगार, गाली-गलौज जैसी बुरी आदतें बच्चों में भी नहीं पनपने देनी चाहिए । आमदनी और खर्च के हर मद का अनुमानित बजट बना लेना चाहिए और यथासम्भव उसी की मर्यादा में चलना चाहिए । बचत की थोड़ी गुंजायश रखी ही जानी चाहिए ।

बड़ों का आदर करना सभी सीखें । छोटे-बड़ों का चरणस्पर्श पूर्वक अभिवादन किया करें । अपने भाग से अधिक की इच्छा न करें, मिल-बाँटकर खाया जाय, इन छोटी बातों का घर में बारीकी से ध्यान रखा जाए । बड़े बच्चे छोटों को पढ़ाया करें, सँभालने, सुधारने, हँसने खिलाने, घुमाने-फिराने में सहयोग दिया करें । घर का क्रम और वातावरण ही इतना सुन्दर और सुव्यस्थित बनाया जाय कि घर में घुसते ही सारी थकान दूर हो जाय और फिर सिनेमा आदि के लिए भागने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत न हो ।

छोटे-मोटे खेल-विनोदों के साथ संगीत का अभ्यास यदि घर में चल पड़े और गीत-वाद्य का शौक लग सके तो समझना चाहिए सरसता घर में बिखर ही पड़ेगी । बच्चों को साथ लेकर पार्क आदि में घूमने जाना, किसी त्यौहार आदि पर पिकनिक मनाना, घर के वातावरण को बहुत ही उल्लास पूर्ण बना देता है ।

घर में हर किसी को स्वावलम्बी और सुसंस्कारी बनाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया जाए । लाड़-चाव में किसी को भी फिजूलखर्ची की आदत न डालने दी जाय । बच्चों के मन पर यह संस्कार नहीं पढ़ने देना चाहिए कि हमारे लिए जन्म भर के लिए हराम की कमाई खाने को छोड़ जाएगा और हम बैठे गुलछर्रे उड़ाया करेंगे । इस प्रकार की आशा बच्चों को दिलाना या परिस्थिति बनाना सन्तान की नैतिक हत्या कर डालने के बराबर है । बच्चों को प्यार खूब दिया जाए पर स्वावलम्बन का अभ्यास भी कराया जाना आवश्यक है ।

इस प्रकार की परम्पराएँ घर में डालने वाले गृहपति को अपने ऊपर अनेक नियन्त्रण, प्रतिबन्ध लगाने पड़ते हैं । अपने को काफी साधना, सुधारना पड़ता है, जिससे आत्म निर्माण में भारी सहायता मिलती है, परिवार निर्माण का दुहरा प्रयोजन भी साथ-साथ सिद्ध होता चलता है ।

युग निर्माण परिवार के सदस्य इस भाँति सोचें

सार्वजनिक जीवन में कई लोग कई उद्देश्यों से प्रवेश करते हैं । कुछ सचमुच ही आत्मकल्याण और परमार्थ प्रयोजन का लक्ष्य सामने रखकर लोक-मंगल के पुण्य क्षेत्र में प्रवेश करते हैं । कुछ को धन अथवा यश कमाने की इच्छा रहती है; इसलिए सेवा एवं परमार्थ परायणता की खाल ओढ़कर लोकसेवी बनने का आडम्बर बनाते हैं । युग निर्माण परिवार के परिजनों को उथले स्तर पर खड़े होकर इस क्षेत्र में प्रवेश करना शक्य न होगा ।

हमें समझना चाहिए कि भौतिक उद्देश्यों के लिए यह युग निर्माण अभियान नहीं चल रहा है । जन-मानस का भावनात्मक नवनिर्माण अपना उद्देश्य है । यह कार्य आत्म-निर्माण से ही आरम्भ हो सकता है । अपना स्तर ऊँचा होगा तो ही हम दूसरों को ऊँचा उठा सकने में समर्थ हो सकते हैं । जलता हुआ दीपक ही दूसरे दीपक को जला सकता है । जो दीपक स्वयं बुझा पड़ा है वह दूसरों को जला सकने में समर्थ नहीं हो सकता ।

हम आत्मनिर्माण में प्रवृत्त होकर ही समाज निर्माण का लक्ष्य पूरा कर सकेंगे । युग निर्माण परिवार के प्रत्येक सदस्य को अपनी स्थिति अनुभव करना चाहिए । उसे विश्वास करना चाहिए कि उसने दैवी प्रयोजन के लिए यह जन्म लिया है । इस युग संधिवेला मे उसे विशेष उद्देश्य के लिए भेजा गया है । उसे शिश्नोदर परायण नर-कीटकों की पंक्ति में अपने को नहीं बिठाना है उसे लोभ-मोह के लिये नहीं सड़ना-मरना है ।

युग पुरुष के चरणों पर इस परिवार की जो भावभरी माला सर्वप्रथम समर्पित की जा रही है उसका अति महत्वपूर्ण मणि मुक्तक है । उसे ऐतिहासिक भूमिका सम्पादन करने का अवसर मिला है । इस अभियान के संचालकों ने उसे प्रयत्नपूर्वक ढूँढ़ा, सँभाला और भावभरी अभिव्यन्जनाओं से सींचा-सँजोया है । उसे तुच्छता से ऊँचा उठना और महानता का वरण करना है । इसके लिए अवसर उसके सामने गोदी पसारे, चुनौती लिए हुए सामने खड़ा है । आत्मबोध की दिव्य ज्योति से अपने आपको ज्योतिर्मय बनाया जाना चाहिए । इतिहास जिन युग निर्माताओं की खोज में है उसे उनकी पंक्ति में बिना आगा पीछा सोचे साहसपूर्वक जा बैठना चाहिए ।

युग निर्माण परिवार का प्रत्येक सदस्य आत्मचिन्तन करे, आत्मबोध के प्रकाश से अपना अन्तःकरण आलोकित करे । परिवार की सदस्यता के साथ जुड़े हुए उत्तरदायित्व की गरिमा समझे तभी वह अपनी समुचित भूमिका सम्पादित कर सकेगा । हमें अपने बारे में इस प्रकार सोचना चाहिए कि जन्म-जन्मान्तर से संग्रहीत अपनी उच्च आत्मिक स्थिति आज अग्नि-परीक्षा की कसौटी पर कसी जा रही है । महाकाल अपने संकेतों पर चलने के लिए बार-बार हमें पुकार रहा है, रीछ-वानरो के पथ पर हमें चलना ही चाहिए । अभियान की संचालक सत्ताएँ बड़ी-बड़ी आशाएँ लगाए बैठी हैं उन्हें निराश नहीं करना चाहिए । युग की गुहार जीवित और जाग्रत सुसंस्कारी आत्माओं का आह्वान कर रही है, उसे तिरस्कृत नहीं किया जाना चाहिए । यह समय ऐसा है जैसा किसी-किसी सौभाग्यशाली के ही जीवन में आता है । कितने व्यक्ति किन्हीं महत्वपूर्ण अवसरों की तलाश में रहते हैं, उन्हें उच्चस्तरीय प्रयोजनों में असाधारण भूमिका सम्पादित करने का सौभाग्य मिले और वे अपना जीवन धन्य बनावें । यह अवसर युग निर्माण परिवार के सदस्यों के सामने मौजूद है उन्हें इसका समुचित सदुपयोग करना चाहिए । इस समय की उपेक्षा उन्हें चिरकाल तक पश्चाताप की आग में जलाती रहेगी ।

युग निर्माण परिवार के प्रत्येक सदस्य को अपने उच्च- स्तर को, महान कर्त्तव्य और दायित्व को सम चाहिए । जो कुछ उसे करना है उसके शुभारम्भ के

आत्मपरिष्कार के लिए आगे बढ़ना चाहिए । अपने आप को हममें से जो जितना उत्कृष्ट, परिष्कृत बना सकेगा वह उतनी सफलतापूर्वक अपना उत्तरदायित्व पूरा कर सकेगा । समाज का निर्माण, युग का परिवर्तन हमारे अपने निर्माण एवं परिवर्तन के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है । यदि हम दूसरे तथाकथित समाजसेवियों की तरह बाहरी दौड़-धूप तो बहुत करें पर आत्म-चिन्तन, आत्मसुधार, आत्मनिर्माण और आत्मविकास की आवश्यकता पूरी न करें तो हमारी सामर्थ्य स्वल्प रहेगी और कुछ कहने लायक परिणाम न निकलेगा । लोकनिर्माण व्यक्ति पर अवलम्बित है और व्यक्ति निर्माण का पहला कदम हमें अपने निर्माण के रूप में ही उठाना चाहिए ।

जिन्होंने युग निर्माण अभियान का घटक परिजन अपने को माना है, उन्हें अपनी वास्तविकता इसी रूप में देखनी, समझनी और स्वीकार करनी चाहिए । भगवान कुछ करने जा रहे हैं और विश्व की दिशा उलटने वाली है, उसे सर्वनाशी गर्त में गिरने से बचाकर उज्ज्वल भविष्य की दिशा में लौटने के लिए तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है ।

इन दिनों सूक्ष्म जगत में दिव्य हलचलें इसी स्तर की हो रही हैं और उनका क्रम तीव्र से तीव्रतर होता जा रहा है, निकट भविष्य में वह तीव्रतम होने जा रहा है । यह मनुष्यकृत आन्दोलन नहीं है, जो आज चले कल ठप्प हो जाय ।

जिन लोगो ने इस महाप्रयास में भाग लेने की तड़पन अनुभव की है उन्हें समझ लेना चाहिए कि यह कोई बहकावा या भावावेश नहीं है । सामयिक उत्तेजना भी इसका कारण नहीं है । यह आत्मा का निर्देश और ईश्वर का संकेत है उसे उन्होंने एक असाधारण सौभाग्य के रूप में उपलब्ध किया है । ऐसे महान् अवसरों पर अग्रदूत बनने का अवसर हर किसी को नहीं मिलता । रामावतार में जो श्रेय अंगद, हनुमान और नल-नील को मिला उससे दूसरों को वंचित ही रहना पड़ा । युग परिवर्तन की अग्रिम पंक्ति में जिन्हें घसीटा या धकेला गया है, उन्हें अपने को आत्मा का, परमात्मा का प्रिय भक्त ही अनुभव करना चाहिए और शान्तचित्त से धैर्यपूर्वक उस पथ पर चलने की सुनिश्चित तैयारी करनी चाहिए । खींचतान में अनावश्यक समय नष्ट नहीं करना चाहिए ।

आत्मा की पुकार अनसुनी करके वे लोभ-मोह के पुराने ढर्रे पर चलते रहे तो आत्मधिक्कार की इतनी निकट मार पड़ेगी कि झंझट से बच निकलने और लोभ, मोह को न छोड़ने की चतुरता बहुत महँगी पड़ेगी । अन्तर्द्वन्द्व उन्हें किसी काम का न छोड़ेगा । मौज-मजा का आनन्द आत्मप्रताड़ना न उठाने देगी और साहस की कमी से ईश्वरीय निर्देश पालन करते हुए जीवन को धन्य बनाने का अवसर भी हाथ से निकल जाएगा । इस दुहरी दुर्गति से बचना चाहिए । उनके लिए इस विषम वेला मे अतिरिक्त कार्य और अतिरिक्त उत्तरदायित्व नियति ने निर्धारित किया है, इसे बिना मन डुलाये सच्चे मन से स्वीकार कर लेना चाहिए और उसी के अनुरूप अपनी-अपनी गतिविधियों का निर्धारण करना चाहिए ।

युग निर्माण परिवार के हर परिजन को अपने भावी जीवन के लिए एक नियत, निर्धारित दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और सुनिश्चित कार्यक्रम अपनाना चाहिए । तभी उन्हें शान्ति मिलेगी और वे सन्तोष अनुभव कर सकेंगे ।

श्रेयपथ पर चलने वालों की कुछ आस्थाएँ अत्यन्त सुदृढ़ होनी चाहिए । इस परिवार के प्रत्येक सदस्य की मान्यता यह होनी चाहिए कि वह निःसन्देह एक सुसंस्कारी, उच्च आत्मा है । जन्म-जन्मान्तरों से चली आ रही आत्मिक प्रगति के कारण ही उसे जीवित, जाग्रत, भावनाशील, दूरदर्शी और उदात्त अन्तःकरण मिला है । इस दिव्य परिवार में जुड़ जाना भी इसी शृंखला की एक महत्वपूर्ण कड़ी है ।

ऐसी ही समर्थ आत्माओं को युग परिवर्तन जैसे चिरकाल में सभी आने वाले महान् दैवी प्रयासों में अग्रदूत की तरह नियत नियुक्त किया जाता है ।

अपनी यह आस्था चट्टान की तरह अड़िग होनी चाहिए कि युग बदल रहा है, पुराने सड़े-गले मूल्यांकन नष्ट होने जा रहे हैं । दुनिया आज जिस लोभ-मोह और स्वार्थ-अनाचार से सर्वनाशी पथ पर दौड़ रही है उसे वापस लौटना पड़ेगा । अन्धपरम्पराओं और मूढ़-मान्यताओं का अन्त होकर रहेगा । अगले दिनों न्याय, सत्य और विवेक की ही विजय वैजयन्ती फहरायेगी । हमें मूढ़ता और दुष्टतावादियों से तनिक भी प्रभावित नहीं होना चाहिए और विश्वास रखना चाहिए कि बदलना उन्हें भी पड़ेगा । महाकाल के हाथ उन्हें करारी चपत लगाने के लिए उठ ही पड़े हैं । हमें अपने को एकाकी, दुर्बल या साधन-हीन नहीं मानना चाहिये, वरन् यह समझकर चलना चाहिए कि पीछे अजेय शक्तियाँ विद्यमान हैं जो इस महान अभियान के अपने प्रयासों को पूर्ण सफलता प्रदान करके रहेंगी ।

हमारा सुदृढ़ निश्चय होना चाहिए कि यह संसार ही भगवान का सच्चा स्वरूप है । लोकमंगल के लिए किए गये प्रयास भगवान की सर्वोत्तम पूजा है । ईश्वरीय प्यार को प्राप्त करने के लिए अपना आन्तरिक स्तर परिष्कृत करना ही सर्वश्रेष्ठ तप-साधना है । इन दिनों वही युग साधना है । योग साधनात्मक विशेष तप संचय के लिए अपना एक शक्तिशाली संयन्त्र काम कर रहा है । उसका उपार्जन हम सभी के लिए है । उसमें से जिस-जिस प्रयोजन के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी सहज ही मिलती रहेगी । अलग-अलग, छुट-पुट तप-साधना और योगाभ्यास के झंझट में पड़ने का यह समय बिल्कुल नहीं है । एक बड़ी भट्टी पर सबका भोजन पक रहा है तो अलग-अलग चूल्हे जलाने की क्या आवश्यकता ? इन दिनों आत्मकल्याण का सब से उत्तम माध्यम आत्मनिर्माण और युग निर्माण के

महान् अभियान का अंग बनकर काम करना भी है।

हमें लोभ और मोह के अवांछनीय अन्धकार से ऊपर उठना ही चाहिए। परिवार के लालन-पालन के लिए, शरीर निर्वाह के लिए हमें उचित की सीमा तक ही रहना चाहिए। लोभवश धन कुवेर बनने की आकांक्षा से और अपने स्त्री-बच्चों को राजा-रानी बना जाने की संकीर्ण स्वार्थपरता से ऊपर उठना चाहिए। अपना उत्तरदायित्व आत्मकल्याण का भी है और समाज का ऋण चुकाने का भी। समाज की ओर से विमुख रहकर आत्मिक स्तर की उपेक्षा बरतकर लोभ और मोह में अन्तःचेतना बुरी तरह डूबी हुई है। परमार्थ प्रयोजन में समय, श्रम, मनोयोग एवं सादगी का उपयोग करने में जी धड़कता है, साहस नहीं उठता और कंजूसी आड़े आती है तो समझना चाहिए कि अपनी वाचालता और विडम्बना में ही प्रगति हुई है। आत्मिक स्तर तो गड्ढे में ही पड़ा है। ऐसी हेय स्थिति में हम में से किसी को भी नहीं पड़ा रहना चाहिए। अपनी आधी सम्पदाएँ और विभूतियाँ शरीर निर्वाह और परिवार पालन के भौतिक पथ को और आधी आत्मपरिष्कार संस्कार, लोक-मंगल के लिए बाँट देनी चाहिए। यह बँटवारा न्यायानुकूल है। भौतिक पक्ष के ऊपर सारा जीवन रस टपका दिया जाय और आत्मिक पक्ष एक-एक बूँद के लिए प्यासा मरे, वह जीवन का अत्यन्त भयंकर दुर्भाग्य और अतीव दुःखात्मक दुर्घटना होगी। हमें नित्य ही लेखा-जोखा लेते रहना चाहिए कि भौतिक पक्ष को हम आधे से अधिक तो नहीं दे रहे हैं। कहीं आत्मिक पक्ष के साथ अन्याय तो नहीं हो रहा है।

हम अकेले चलें। सूर्य-चन्द्र की तरह अकेले चलने में हमें तनिक भी संकोच न हो। अपनी आस्थाओं को दूसरों के कहे-सुने अनुसार नहीं वरन् अपने स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर विकसित करें। अन्धी भेड़ों की तरह झुण्ड का अनुगमन करने की मनोवृत्ति छोड़ें। सिंह की तरह अपना मार्ग अपनी विवेक चेतना के आधार पर स्वयं निर्धारित करें। सही को अपनाने और गलत को छोड़ देने का साहस ही युग निर्माण परिवार के परिजनों की वह पूँजी है जिसके आधार पर वे युग साधना की वेला में ईश्वर प्रदत्त उत्तरदायित्व का सही रीति से निर्वाह कर सकेंगे। ऐसी क्षमता पैदा करना हमारे लिए उचित भी है, आवश्यक भी।

हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि ईंटों का समूह इमारत के रूप में, बूँदों का समूह समुद्र के रूप में, रेशों का समूह रस्सों के रूप में दिखाई पड़ता है। मनुष्यों के संगठित समूह का नाम ही समाज है। जिस समय के मनुष्य जिस समाज के होते हैं वैसा ही समूह, समाज, राष्ट्र या विश्व बन जाता है। युग परिवर्तन का अर्थ है मनुष्यों का वर्तमान स्तर बदल देना।

यदि लोग उत्कृष्ट स्तर पर सोचने लगें तो कल ही उसकी प्रतिक्रिया स्वर्गीय परिस्थितियों के रूप में सामने आ सकती है। युग परिवर्तन का आधार है, जनमानस का स्तर ऊँचा उठा देना। युग निर्माण का अर्थ है भावनात्मक नव-निर्माण। अपने महान अभियान का केन्द्र-बिन्दु यही है। युग परिवर्तन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कार्य व्यक्ति निर्माण से आरम्भ करना होगा और इसका सबसे प्रथम कार्य है आत्मनिर्माण। दूसरों का निर्माण करना कठिन ही है। दूसरे अपना कहना न मानें यह सम्भव है पर अपने को तो अपना कहना मानने में कुछ कठिनाई नहीं होनी चाहिए। आपका सबसे समीपवर्ती अपने प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाला सबसे पहला और सबसे उपयुक्त व्यक्ति अपना आपा ही है। हमें नवनिर्माण का कार्य यहीं से आरम्भ करना चाहिए। अपने आपको बदलकर युग परिवर्तन का श्रीगणेश शुभारंभ करना चाहिए।

किसी को बाहरी जानकारी देनी हो, समाचार सुनना हो, गणित, भूगोल पढ़ना हो तो यह कार्य वाणी मात्र से भी हो सकता है। लिखकर भी किया जा सकता है और वह प्रयोजन आसानी से पूरा हो सकता है। पर यदि चरित्र निर्माण या व्यक्तित्व का परिवर्तन करना है तो फिर उसके सामने आदर्श उपस्थित करना ही प्रभावशाली उपाय रह जाता है। प्रभावशाली व्यक्तित्व अपनी प्रखर कार्यपद्धति से अनुप्राणित करके दूसरों को अपना अनुयायी बनाते हैं। संसार के समस्त महामानवों का यही इतिहास है। उन्हें दूसरों से जो कहना था, कराना था वह उन्होंने पहले स्वयं किया, उसी कर्तृत्व का प्रभाव पड़ा।

बुद्ध ने स्वयं घर त्यागा तो उनके अनुयायी ढाई लाख युवक, युवतियाँ उसी मार्ग पर चलने के लिए तैयार हो गये। गाँधीजी को जो दूसरों से कराना था, पहले उन्होंने उसे स्वयं किया। यदि वे केवल उपदेश करते और अपना आचरण विपरीत प्रकार का रखते तो उनके प्रतिपादन को बुद्धिसंगत भर बताया जाता, कोई अनुगमन करने को तैयार न होता। जहाँ तक व्यक्ति के परिवर्तन का प्रश्न है वह परिवर्तित व्यक्ति का आदर्श सामने आने पर ही सम्भव होता है। बुद्ध, गाँधी, हरिश्चन्द्र आदि ने अपने को एक साँचा बनाया तब कहीं दूसरे खिलौने, दूसरे व्यक्तित्व उसमें ढलने शुरू हुए।

युग निर्माण परिवार के हर सदस्य को यह देखना है कि वह लोगों को क्या बनाना चाहता है; उनसे क्या कराना चाहता है। उसे भारी कार्यपद्धति को, विचार शैली को पहले अपने ऊपर उतारना चाहिए, फिर अपने विचार और आचरण का सम्मिश्रण एक अत्यन्त प्रभावशाली शक्ति उत्पन्न करेगा। उससे अगणित व्यक्ति प्रभावित होते तथा बनते-ढलते चले जावेंगे। अपनी निष्ठा कितनी प्रबल है इसकी परीक्षा पहले अपने ऊपर ही करनी चाहिए। यदि आदर्शों को मनवाने के लिए अपना आपा हमने सहमत कर लिया तो निःसन्देह अगणित व्यक्ति हमारे समर्थक, सहयोगी, अनुयायी बनते चले जाएँ। फिर युग परिवर्तन अभियान की सफलता में कोई व्यतिरेक व्यवधान शेष न रह जाएगा। बाधा एक ही है कि हम जिस विचारणा को दूसरों

से मनवाना चाहते हैं, उसे अपने गले उतारने को तैयार नहीं होते । यदि इस समस्या को हल कर लिया गया तो समझना चाहिए सफलता की तीन चौथाई मंजिल पार कर ली ।

व्यक्तिगत जीवन में हर मनुष्य को व्यवस्थित, चरित्रवान, सद्गुणी और सत्प्रवृत्ति सम्पन्न बनाने की अपनी शिक्षा पद्धति है । उसे हमें अपने व्यावहारिक जीवन में उतारना चाहिए । समय की पाबन्दी, नियमितता, निरालस्यता, श्रमशीलता, स्वच्छता, वस्तुओं की व्यवस्था जैसी छोटी-छोटी आदत ही किसी व्यक्तित्व को निखारती उभारती हैं । बया पक्षी का सुन्दर घोंसला मामूली तिनकों का होता है पर उसे बनाया कुशलता, तत्परता और मनयोग के साथ जाता है । अपनी छोटी-छोटी आदतें यदि परिष्कृत स्तर की हैं तो उसका प्रभाव परिवार, पड़ौस से आरम्भ होकर हर दूर क्षेत्रों तक फैलता चला जाएगा ।

अपनी वाणी में नम्रता, शिष्टता, मधुरता और शीलता का समावेश होना ही चाहिए । उसमें दूसरों के सम्मान का समुचित पुट रहना चाहिए । ईमानदारी और प्रामाणिकता ही किसी व्यक्ति का वजन बढ़ाती है । बेईमानी, लफंगे, झूठे, ठग और चालाक व्यक्ति अपनी इज्जत खो बैठते हैं और फिर उनकी साधारण बातों पर भी कोई भरोसा नहीं करता । लोग यह भारी भूल करते हैं कि अपने दोष-दुर्गुणों के छिपे रहने की बात सोचते रहते हैं । यह सर्वथा असम्भव है, पारा पचता नहीं कोई खाले तो शरीर में से फूट निकलता है । दुष्प्रवृत्तियाँ और दुर्भावनाएँ, पाप और कुकर्म, निकृष्टता और दुष्टता के जो भी तत्व अपने भीतर होंगे, उनके छिपे रहने की कोई सम्भावना नहीं है । पाप छत पर चढ़कर चिल्लाते है, यह उक्ति सोलहों आने सच है । शराब पीकर भी दुर्गन्ध न आये, नशा न आये यह सम्भव नहीं । मक्खी खाने पर कै हो ही जायेगी, पेट का सब बाहर निकल ही आयेगा । मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियाँ कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न न करें यह सम्भव नहीं । शाश्वत सत्य को झुठलाने का प्रयास न करना ही श्रेयस्कर है । आत्मपरिष्कार ही उसका एकमात्र हल है ।

युग परिवर्तन का अर्थ है, व्यक्ति परिवर्तन और यह महान प्रक्रिया अपने से आरम्भ होकर दूसरों पर प्रतिध्वनित होती है । यह तथ्य हमें हजार बार मान लेना चाहिए और उसे कूट-कूट कर नस-नस में भर लेना चाहिए कि दुनिया को पलटना जिस उपकरण के माध्यम से किया जा सकता है वह अपना परिष्कृत व्यक्तित्व ही है । भले ही अपनी वाणी काम न करे, भले ही प्रचार और भाषण करना न आये पर यदि हम अपने को ढालने में सफल हो गये तो उतने भर में भी अगणित लोगों को प्रभावित कर सकेंगे । अपना व्यक्तित्व हर दृष्टि में आदर्श उत्कृष्ट और सुधारने बदलने के लिए हम चल पड़े तो निश्चित रूप से हमें निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने में तनिक भी कठिनाई न होगी ।

इस अभियान के साधन यों जुटेंगे

छोटी-सी इमारत बनाने के लिए ईंट-चूने की, लोहा-लकड़ी की, पूँजी-श्रम एवं कौशल की आवश्यकता पड़ती है । फिर विश्व के नवनिर्माण जैसे अत्यन्त विशाल काम के प्रयोजनों को पूरा करने के लिए भी साधनों की तो आवश्यकता पड़ेगी ही । इन्हें कहाँ से जुटाया जायगा, कैसे जुटाया जाएगा । इस प्रश्न पर योजना के निर्माताओं ने पहले ही विचार कर लिया है ।

युग निर्माण परिवार के परिजनों द्वारा इस आन्दोलन का आरम्भ किया गया है और उसे अग्रगामी बनाया जा रहा है । अस्तु, उनके ऊपर ही यह उत्तरदायित्व भी डाला गया है कि वे अपनी श्रद्धा, सद्भावना, सहानुभूति की भाव प्रक्रिया को व्यवहार क्षेत्र में विकसित करें । अपने श्रम का एक अंश और अपनी आजीविका का एक भाग इस महा मिशन के लिए नियमित रूप से समर्पित करते रहने का व्रत ग्रहण करें । इसे इस भाव भरे विशाल परिवार द्वारा सहर्ष स्वीकारा भी गया है । उसी अनुदान का परिणाम है कि अब तक इतना आशाजनक और उत्साहवर्द्धक रचनात्मक कार्य संभव हो सका है ।

दूसरा द्वार विभूतिवानों का खटखटाया जा रहा है । भावनाशील लोगों से कहा जा रहा है कि यदि उनकी अन्तरात्मा में मानव जीवन की महत्ता के अनुरूप कुछ उच्चस्तरीय कार्य करने की आकांक्षा जाग्रत हो रही है, आत्मा यदि ईश्वर के सान्निध्य, साक्षात्कार को तड़प रहा है तो उन्हें इस विशाल विश्व को प्रभु की साकार प्रतिमा मान कर उसकी सेवा-साधना में तत्पर होना और साकार भगवान की अपने श्रम बिन्दुओं से अर्चना करनी चाहिए । अपने देश में भावनाओं की कमी नहीं, त्याग बलिदान से लेकर पुण्य-परमार्थ तक के प्रयोजनों के लिए बहुत कुछ किया जाता रहता है । पर दुर्भाग्य यही है कि उस भावनात्मक विभूति को दिशा नहीं मिली । अपने देश ८४ लाख साधु-महात्मा हैं । ७ लाख गाँव है । एक गां पीछे बारह साधुओं का औसत आता है । यदि वे इस क्र से बिखर जायें और योजनाबद्ध होकर कार्य करें त आलस्य, प्रमाद, व्यसन, अपराध, अनाचार एवं अनैतिकता, मूढ़-मान्यता, निरक्षरता, सामाजिक कुरीतियों व परम्पराओ का सहज ही उन्मूलन कर सकते हैं । इतने अधिक लोक-सेवियों की सहायता से राष्ट्र का कायाकल्प हो सकता है ।

युग निर्माण योजना ने इस भावुक वर्ग के हर पक्ष से गृही और विरक्त, उदार सहृदय व्यक्तियों को झकझोरा है कि वे अपनी उदात्त भावनाओं का सदुपयोग करें । अपनी सहृदय सद्भावना से नर नारायण को लाभान्वित होने दें ।

दरिद्र नारायण को उनकी उदार सद्भावना की स्नेहसिक्त सहायता मिल सके, इसका प्रयास करें।

इसी प्रकार विद्या विभूति से सम्पन्न लोगों से कहा गया कि उनकी मस्तिष्कीय उपलब्धियाँ उन्हीं के लिए सीमित न रहें वरन् समाज का पिछड़ापन और व्यक्ति का अध:पतन रोकने के काम आयें। प्रतिभावानों को चुनौती दी गई है कि वे अपनी चतुरता एवं कुशलता का परिचय नव निर्माण के कर्मक्षेत्र में प्रस्तुत करें। अपने व्यक्तित्व की विशेषता को धैर्य, साहस, शौर्य को इस कसौटी पर चढ़ने दें कि उन्होंने अपने बलबूते पर सृजन अभियान में क्या योगदान दिया और अपने प्रभाव से कितनों को इस प्रयोजन में लगाया। धनवानों से अनुरोध किया है कि वे बेटे से पोतों को सात पीढ़ियों तक ब्याज-भाड़े की कमाई खाने और अमीरों के गुलछर्रे उड़ाने की योजना बनाना बन्द करें। संग्रह से बाज आयें। विलासिता और अहंता से हाथ रोकें। कमाई का एक अंश युग की सबसे बड़ी आवश्यकता के लिये, भावनात्मक नवनिर्माण के लिए प्रस्तुत करें। स्वर्ग के लिये, यश के लिए नहीं मानवी महानता का अग्रिम वर्द्धन करने के लिए बढ़-चढ़ कर अनुदान प्रस्तुत करें, यत्किंचित देकर दान लकीर न पीटें।

कलाकारों को कहा गया है कि उनमें साहित्य निर्माण की, काव्य रचना की, मधुर स्वर की, गायन की, मूर्तिकला और चित्रकला जैसी विशेषताएँ हैं तो उसका उपयोग जनमानस में उदात्त भावनाएँ उभारने के लिए उपयोग करें।

प्रसन्नता की बात है कि यह उद्बोधन निरर्थक नहीं जा रहा है। विभूतिवान् वर्ग को यह अनुभव करने का अवसर मिला है कि उन्हें जो अतिरिक्त विशेषताएँ ईश्वर ने प्रदान की हैं उनकी सार्थकता इसी में है कि वे वंश, धर्म, समाज और संस्कृति के पुनरुत्थान को संभव बनाने वाले इस व्यापक अभियान में भाग लेकर अपनी विभूतियों का श्रेष्ठतम सदुपयोग करें। आशा की जानी चाहिए कि यथार्थता की उपयोगिता को अगले दिनों समझा जायगा और विभूतिवान वर्ग आगे आकर अभियान की आवश्यकता अपने सहज अनुदान से पूरा करेगा।

युग निर्माण परिवार के परिजनों का वर्ग आरम्भ से ही काम कर रहा है। विभूतिवानों को खटखटाया और जगाया जा रहा है। आग्रह-अनुरोध के अतिरिक्त उन्हें यह भी कहा जा रहा है कि भावना, विद्या, प्रतिभा, सम्पत्ति, कला यह पाँचों ही विभूतियाँ भगवान की विशेष अमानतें हैं, उन्हें यदि उन्होंने लोक-मंगल में प्रयुक्त करने में कृपणता की और अपने हेय स्वार्थों की पूर्ति में ही उनको लगाते रहे तो प्रकारान्तर से यह एक ऐसा अपराध होगा जिसका दण्ड उन्हें जनता की ओर से भगवान की अदालत में भुगतना पड़ेगा। अनुरोध कारगर न हुआ तो अगले ही दिनों यह भी कहा जाएगा कि वह इन अपराधों को सुधारने के लिए कारगर उपाय अपनाएँ। यद्यपि अभी यह असमंजसपूर्ण क्षेत्र है पर विश्वास किया गया है कि नवनिर्माण के अभियान में देर-सबेर में विभूतियों का उपयोग किया जा सकेगा। इस दिशा में प्रगति भी हो रही है।

तीसरा वर्ग जनता का है। उसे भी नवनिर्माण के लिए आवश्यक योगदान करने के लिए कहा गया है। आरम्भ में केवल युग निर्माण परिवार के सदस्य न्यूनतम अनुदान के रूप में एक घण्टा श्रमदान और दस पैसे का अनुदान दे रहे हैं। यही कदम उठाने के लिए सर्वसाधारण को कहा जा रहा है। इस आन्दोलन से प्रभावित हर व्यक्ति को नव-निर्माण के लिए समय दान, श्रमदान किसी न किसी रूप में करना ही चाहिए। अब भगवान गंगाजल, गुलाबजल और पंचामृत से स्नान करके सन्तुष्ट होने वाले नहीं हैं। उनकी माँग श्रम बिन्दुओं की है। अब भगवान का सच्चा भक्त वह माना जायगा जो पसीने की बूँदों से उन्हें स्नान कराये। नवनिर्माण के लिये अपना शारीरिक श्रम नित्य-नियमित रूप से करते रहने का व्रत ले।

इसी प्रकार जनसाधारण को यह कहा जा रहा है कि अपने परिवार का एक सदस्य 'नवयुग' अवतरण अनुष्ठान को भी मान लेना चाहिए। घर में, परिवार में यदि पाँच व्यक्ति हैं तो छठा नवनिर्माण समझा जाना चाहिए और एक बढ़े हुए सदस्य के भरण-पोषण में जो खर्च पड़ता है वह युग परिवर्तन के लिए प्रस्तुत करना चाहिए। यह प्रवृति तब पनपेगी जबकि हर व्यक्ति यह अनुभव करेगा कि उसके शारीरिक, पारिवारिक उत्तरदायित्व में ही एक समाज के नवनिर्माण का प्रयोजन भी जुड़ा हुआ है। तब मात्र मौखिक चर्चा तक सीमित न होगा वरन् उस दिशा में कुछ शुरू करेगा। करने के लिए तो काम यह है कि हर भावनाशील व्यक्ति को अपने श्रम बिन्दुओं का अपनी आजीविका के एक अंश का अनुदान नियमित रूप से प्रस्तुत करना चाहिए।

विश्वास किया गया है कि यह प्रवृति जनसाधारण में निश्चित रूप से पनपेगी और जब वह पनपेगी तो नव-निर्माण के विशालकाय अभियान में काम आने वाले साधन सहज ही जुटते चले जायेंगे। व्यक्ति विशेष का बड़े से बड़ा अनुदान तुच्छ है। जनता की एक बूँद अनुदान इकट्ठा होकर वह समुद्र के बराबर बन सकता है, कोटि-कोटि जनसाधारण का एक-एक रज कण एकत्रित होकर एक बड़ा पहाड़ बन सकता है। जनशक्ति को विश्व की महानतम शक्ति कह सकते हैं, जहाँ वह है वहाँ किसी भी वस्तु की कमी नहीं रह सकती। जहाँ यह नहीं है वहाँ बहुत कुछ होते हुए भी कुछ नहीं है यही मानना होगा।

युग निर्माण आन्दोलन की संरचना के लिये आवश्यक साधन जुटाने के लिए जो आधार सोचे गये हैं, प्रयुक्त किए गये हैं तथा जिन पर आशा केन्द्र स्थिर किये गए हैं इनमें (१) युग निर्माण परिवार के परिजनों द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले समयदान तथा नियमित अनुदान, (२) विभूतिवान आत्माओं के संभावित सहयोग को (३) के श्रमदान तथा अपने परिवार से एक नया सदस्य

अभियान मानने को प्रधानता दी गई है और यह आशा हो गई है कि इन तीन आधारों पर वे सभी साधन जुटाये जा सकेंगे जिनकी युग परिवर्तन के लिए आवश्यकता पड़ेगी ।

पाँच अमानतें, जो ईश्वरीय प्रयोजनों में ही लगाई जाएँ

गीता में भगवान ने विभूति योग का वर्णन करते हुए बताया है कि जहाँ कहीं विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं वहाँ मेरा विशेष अंश देखा, समझा जाना चाहिए । सर्व साधारण को जो विशेषताएँ, विभूतियाँ नहीं मिली हैं वे यदि कुछ ही लोगों को मिलती हैं तो यही माना जायगा कि यह विशुद्ध अमानत है और उन्हें अपने परम प्रिय उद्यान को सुरम्य, सुविकसित बनाने के लिए ही दिया है । यदि विशेष अनुदान को अपने पूर्व कृत पुण्यों के कारण उपलब्ध प्रारब्ध माना जाए तो भी उसका प्रयोजन यही है कि हर जन्म में उस प्रक्रिया को अधिकाधिक प्रखर किया जाय और अधिक पुण्य करते हुए, अधिक उत्तम प्रतिफल प्राप्त करते हुए उस प्रगति चक्र को तीव्र किया जाय और जीवन लक्ष्य तक जल्दी से जल्दी पहुँचा जाए ।

यह सन्देश हर विभूतिवान व्यक्ति तक पहुँचाना युग निर्माण योजना का महत्वपूर्ण कार्यक्रम है । आग लगने पर फायर ब्रिग्रेड यूनिटों से अधिकाधिक तत्परता से काम करने की आशा की जाती है । यदि वे उपेक्षा बरतें तो उनकी भर्त्सना भी कठोरतापूर्वक की जाती है, जहाँ विभूतियाँ संग्रहीत हैं वहाँ युग की पुकार पहुँचाई जा रही है कि उन विभूतियों के अधिकाधिक मात्रा मे लोक-मंगल के लिए समर्पित करने का ठीक यही समय है कहना न होगा कि भावनात्मक नवनिर्माण से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ सत्प्रयोजन हो नहीं सकता । साधारण समय में अन्य प्रकार के दानपुण्यों की भी आन्दोलनों की-कार्यक्षेत्रों की भी उपयोगिता हो सकती है । पर आज के आपत्ति काल में तो भावनात्मक नवनिर्माण को ही प्रमुखता मिलनी चाहिए ।

ईश्वर प्रदत्त यह पाँच विभूतियाँ हैं । (१) भावना (२) विद्या (३)प्रतिभा (४) धन (५) कला । यह जहाँ भी हैं जिनके पास भी हैं, उसे अनुभव करना चाहिए कि भगवान की कुछ अतिरिक्त कलाएँ, अतिरिक्त अनुकम्पाएँ उसे उपलब्ध हैं । इसमें उसे अपना सौभाग्य और भगवान का विशेष अनुग्रह मानना चाहिए, जो सर्वसाधारण को नहीं मिला वह उन्हें विशेष अमानत और विशेष अनुग्रह के रूप में मिला है । उन्हें इस योग्य समझा गया है कि जो हर किसी को नहीं दिया जा सकता है वह उन्हें विशेष रूप से दिया गया है । इस सौभाग्य को वस्तुओं के रूप में नहीं वरन् भगवान की दृष्टि में उनकी पात्रता बढ़ी-चढ़ी मानी गयी यह समझकर प्रसन्न होना चाहिए ।

वस्तुओं का महत्व नहीं, वह तो दूसरों को भी मिली हुई हैं । साँप के माथे में मणि, सीप के पेट में मोती और भूमि के गर्भ में स्वर्ण रौप्य भरा पड़ा है । धन का स्वामित्व किसी के गौरव का चिह्न नहीं । पुस्तकालयों में विद्या का भण्डार भरा पड़ा है, प्रेस की मशीनें निरन्तर ग्रन्थ छापती रहती हैं, विद्या का पदार्थ के रूप में क्या महत्व ? प्रतिभा सिंह व्याघ्र की देखते ही बनती है । उदात्त तो वृक्ष और बादल भी हैं । कलाओं की दृष्टियों से मोर की सारी काया चित्रकला से भरीपूरी है, उसे नाचना कितना सुन्दर आता है । भौंरे का गुंजन और कोयल की कूक कवियों के मन में बसी हुई है । कलाकार अपने आप में होना बड़ी बात नहीं । किसी व्यक्ति को इनमें से कुछ मिल गई तो वह अपनी सम्पन्नता का गर्व तो कर सकता है और उनसे सदुपयोग का लाभ भी ले सकता है, पर यदि गहराई मे प्रवेश करें तो इस वस्तु संग्रह से भी बड़ा सौभाग्य उसे इस बात में प्रतीत होगा कि उसे ही भगवान् ने इन विभूतियों का पात्र चुना है जबकि असंख्य व्यक्ति इन विभूतियों से वंचित हैं, तरसते हैं । यहाँ यह भूल नहीं करनी चाहिए कि यह सुविधाएँ अनायास ही मिल गयीं और मैं चाहे-जैसा उपयोग कर सकता हूँ । वरन् यह सोचना चाहिए कि यह जो कुछ मिला है, उसी तरह है जैसे किसी खजाची को धनराशि या सेनाध्यक्ष को शस्त्र भण्डार मिलता है । यह उनके निजी उपयोग के लिए नहीं होता । निजी खर्च के लिए तो उन्हें निर्धारित वेतन पर ही निर्वाह करना पड़ता है । वह धन या शस्त्र तो सरकारी प्रयोजन के लिए अमानत के रूप में रखे होते हैं । खजांची तथा सेनाध्यक्ष को अपना सौभाग्य इतना ही मानना चाहिए जो विभूतियाँ हर किसी को सौंपी जातीं वे उसे सौंपी गई और प्रामाणिक एवं विश्वस्त समझा गया । दूसरे लोगों की तुलना में वह अपनी सम्पन्नता पर गर्व कर सकता है और अपने जी में सन्तोष अनुभव कर सकता है । पर उसे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह विशेष विभूतियाँ मुझे व्यक्तिगत रूप से सुखोपभोग के लिए, संग्रह-संचय करने के लिए अथवा उनमें लीन अपने छोटे परिवार तक सीमित रखने के लिए मिली हैं । यदि ऐसा किया गया, मान लिया गया तो समझना चाहिए यह सम्पन्नता, अभावग्रस्त स्थिति में रहने से भी अधिक महँगी पड़ेगी ।

कोई खजांची सरकारी कोष को निजी काम में खर्च कर डाले तो उसे पुलिस पकड़ ले जाएगी, जलील होना पड़ेगा और कठोर कारावास का दण्ड सहना पडेगा । जो धन लिया गया था उसके बदले भारी जुर्माना होगा और साथ ही साथ सारी पूँजी उसी में जब्त कर ली जायगी । उस बुद्धिभ्रम ग्रस्त खजांची से वह चपरासी कहीं अच्छा जो साधारण वेतन पाता, साधारण पद पर काम करता और साधारण जीवन जिया है । उसे पदवी न मिली सही पर जलील तो नहीं होना पड़ा । जिस सेनाध्यक्ष ने सरकारी

शस्त्र भण्डार को चोर-बाजारी में बेच दिया अथवा उन्हें लेकर डकैतियाँ डालीं और अपना घर भरा, उसकी दुर्गति होने वाली है।

जिन्हें सम्पदाएँ मिलती हैं उनके सौभाग्य के साथ दुर्भाग्य भी जुड़ा रहता है। सम्पत्ति अपने साथ एक मद लाती है, इसलिए उसे वारुणी की, मदिरा की उपमा दी गई है। नशा पीकर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, होश हवाश भूल जाता है; क्या करना, क्या नहीं करना यह स्मरण नहीं रहता है और बेढंगी चाल चलने लगता है। ठीक यही हालत उन लोगों की होती है जो ईश्वर के अनुग्रह का कारण समझ नहीं पाते और उसके साथ जुड़े हुए उत्तरदायित्व की ओर ध्यान नहीं देते। उन्हें लगता है जो कुछ हमें मिला है वह अपनी निजी विलासिता की वृद्धि के लिए है। यदि ऐसा होता तो ईश्वर किसी को देने किसी को न देने का पक्षपात न करता उसे सब पुत्र समान रूप से प्रिय हैं। जो देना होता सबको समान रूप से देता। पर यदि किसी को उसने अतिरिक्त दिया है तो उसका कारण न तो पक्षपात है, न अन्धेर। ईश्वर की सृष्टि में हर काम बहुत व्यवस्थापूर्वक होता है। निर्वाह की सुविधा ही हर प्राणी को मिलती है। जिसे उससे अधिक कुछ मिला हो, उसे वह विशुद्ध रूप से अमानत माननी चाहिए और उस परम पवित्र थाती का उपयोग उसी निमित्त करना चाहिए जिसके लिये यह मिली है।

हर विभूतिवान को यह समझना चाहिए कि उसका निजी उपयोग सामान्य निर्वाहक्रम से अधिक नहीं हो सकता। वह चाहे तो भी प्रकृति वैसा नहीं करने देगी। कोई न तो बीस सेर रोटी खा सकता है, न पचास गज का कुर्ता पहन सकता है, न तीस फुट के बिस्तर का उपयोग कर सकता है। प्रकृति निर्धारित कोटे के अन्तर्गत ही उपयोग करने देती है। अतिरिक्त खर्चा या संग्रह तो मनुष्य तृष्णा या व्यामोह में व्यस्त रहकर ही करता है। मिली हुई विभूतियों का सदुपयोग करके मनुष्य अतिरिक्त रूप से यश और संतोष दो सत्य परिणाम ही प्राप्त कर सकता है। उसे अपने इस कर्तव्य को हजार बार समझना चाहिए और जो मिला है उसे बढ़ाते रहने, संग्रह करते रहने और अपने तथा परिवार के लिए प्रयुक्त करते रहने में निमग्न नहीं रहना चाहिए।

पिता की कमाई की देखभाल बड़े लड़के को इसलिए सौंपी जाती है कि वह अपने छोटे भाई-बहिनों के सुख-दुःख का ध्यान रखे और जो धन उसे सौंपा गया है उसके साथ ही जुड़े हुए छोटे भाई बहिनों के लिये भी खर्च करे। पर यदि कोई लड़का यह समझे कि पिता की कमाई केवल उसी के अपने खर्च के लिए मिली है, उसे गुलछर्रे उड़ाने का पूरा अधिकार है, और उन भाई-बहिनों का इसमें कोई हक नहीं है तो वह अपनी जवां मर्दी से वैसा करे, कर तो सकता है पर वास्तव में यह अन्याय है। पिता की आत्मा हमसे दुःखी ही होगी और उसे अपने साथ तथा उन छोटे बच्चों के साथ विश्वासघात ही मानेगी। ठीक यही बात इन विभूतिवानों पर लागू होती है जो उन्हें अतिरिक्त रूप से मिला है वह उनका अपना पुरुषार्थ नहीं है, किसी अज्ञात शक्ति का अनुदान है।

तीव्र बुद्धि अपने आप कौन पैदा कर लेगा ? प्रतिभा जन्म-जात आती है, स्वास्थ्य और सौन्दर्य अपने हाथ में कहाँ है ? मीठा और सुरीला गला अपने आप कौन बना सकता है ? यदि वे विशेषताएँ उपार्जित कर सकने की मूलभूत क्षमता जन्मजात रूप से मिली हुई न हो तो कोई कितनी सफलता प्राप्त कर सकता है ? यह ठीक है कि पुरुषार्थ का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है, पर वह उतना ही है जितना हीरे पर खराद करने का। यदि ऐसा न होता तो मुनीम बुद्धिमान और परिश्रमी होते हुए भी साधारण कर्मचारी बना रहता है और मालिक क्यों जल्दी ही विशाल सम्पत्ति का स्वामी बन जाता है। निःसन्देह मनुष्य के पास जो विशेष उपलब्धियाँ हैं उनका मूलभूत आधार ईश्वर प्रदत्त है।

घर का बड़ा व्यक्ति अकेला बैठा माल-मलाई खाता रहे और घर के और सब बच्चे मुँह की तरफ देखते रहें, उन्हें उसमें से एक टुकड़ा भी न मिले और भूखा सोना पड़े तो यह निष्ठुरता धिक्कारी ही जाएगी। ऐसा निष्ठुर आचरण कोई हृदयहीन ही कर सकेगा। जिनकी मुट्ठी में विभूतियाँ हैं और वे उनका लाभ अकेले ही उठाते रहते हैं। दूसरों का पिछड़ापन दुःख-कष्ट उन्हें दीखता-सूझता ही नहीं, उन्हें आँखे रहते हुए भी भावना के क्षेत्र में अन्धा ही कहा जायगा।

सरकारी कानून की दृष्टि से जिसने कमाया है या उसे कहीं से मिला है वह उस सम्पदा को चाहे जैसे खर्च कर सकता है। अपने शौक-मौज में उड़ाता रह सकता है। उस पर रोकथाम के लिए कोई बन्धन नहीं है। किन्तु ईश्वरीय कानून उससे भिन्न हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर ने बिना मूल्य शरीर, बुद्धि, इन्द्रियाँ, स्त्री, बच्चे तथा अनेक सुख-साधन दिए हैं। उसकी उदारता को स्मरण रखा जाय और कृतज्ञता का परिचय देने के लिए उस अनन्त अनुदान का एक अंश समाज की सुख-शान्ति के लिए वापस लौटाया जाय। ईश्वरीय कानून यही है। न उसे तोड़ा जा सकता है, सरकारी कानून तोड़ने में भी लोग कहाँ चूकते हैं ? पर ध्यान रखा जाय राज्य दण्ड से बचा जा सकता है, पर ईश्वर के दरबार में न तो चालाकी चल सकती है और न गलती छिप सकती है। उसकी शासन व्यवस्था में जहाँ असीम प्यार और अनुदान की गुंजायश है वहाँ अत्यन्त कठोर और निर्दय दण्ड का भी विधान है।

ईश्वर केवल उदार और दयालु ही नहीं है, न अत्यन्त क्रूर, कठोर और निर्दय ही है। उसका प्यार सहृदयता के साथ जुड़ा हुआ है, पर जो निर्लज्ज, निष्ठुरता की रीति-नीति अपनाए हुए हैं उन्हें याद रखना चाहिए कि पूजा-पत्री के छुट-पुट, टंट-घंट ईश्वर को बहकाने के लिए काफी नहीं। उसे बहकाया नहीं सन्तुष्ट किया जाना चाहिए। स्तवन वंदन से बहकाने भर का उद्देश्य पूरा हो सकता है। उसे

सन्तुष्ट तो हम अपने आचरण से ही कर सकते हैं और यह दिव्य आचरण दया, उदारता, सेवा एवं परमार्थ प्रयोजनों में अपनी प्रवृत्ति का परिचय देने से ही सिद्ध होता है ।

यह पाँचों विभूतियाँ एक प्रकार से टीम द्वारा जीती गयी रनिंग शील्ड की तरह हैं । जिसने पूर्व जन्मों में अपनी उदारता का परिचय दिया है उन्हें वे उपहार के रूप में मिली हैं, पर साथ ही यह शर्त जुड़ी हुई है कि इन चल पुरस्कारो को अगले वर्ष वापस करना होगा और वे अन्य विजेताओं को दिये जायेंगे । एक वर्ष तक उन शील्डों को सम्हाल कर रखना पड़ता है, उन्हें टूटने-फूटने नहीं दिया जाता और अगले वर्ष ज्यों का त्यों वापस कर दिया जाता है । पिछले दिनों उदारता का परिचय देने के फलस्वरूप यह उपहार, शील्ड, विभूतियों के रूप में मिले हैं । वे सदा के लिए नहीं थोड़े दिन के लिए हैं । इसलिए हैं कि पिछले बार जैसी उदारता का और भी अधिक मात्रा में और भी अधिक तत्परतापूर्वक परिचय दिया जा सके और इस आधार पर आत्मिक महानता का विकास करते हुए ईश्वरीय अनुग्रह-अनुदान और भी बड़ी मात्रा में प्राप्त किया जा सके । पर जो लोग तथ्य को भूल जाते हैं और सम्पत्ति के मद में मोहान्ध होकर उसे विलासिता, अहन्ता की पूर्ति के लिए उपयोग करते हैं वे एक प्रकार से अनर्थ करने पर उतारू होते हैं ।

सम्पदा हमारी माता है । उसके आगमन पर हमें अपने कर्तव्य धर्म का ही स्मरण करना चाहिए । उसका पत्नी की तरह उपभोग नहीं करना चाहिए । माता का दूध ही बालक पी सकता है । पिता जैसा अधिकार उसका नहीं है । सम्पदा ईश्वर की पत्नी है-मनुष्य की माता ! माता से अपना निर्वाह मात्र लिया जाय और आगे उसे अपने अन्य बच्चों को सम्हालने दिया जाय । अपने पास माता रहती है सो ठीक है, पर उस पर अपने लिए ही सीमित रहने का बंधन नहीं लगाना चाहिए ।

जो हमारे पास है वह हमारे उपयोग, उपभोग के लिए है यही असुर भावना है । जिनकी यह मनोवृत्ति है वे असुर हैं । देवता और असुर का अन्तर आकृति से नहीं प्रकृति से होता है । आकृति से तो लगभग सभी एक से होते हैं । पर जिनके क्रूरता के बड़े-बडे दाँत हैं, जो दूसरे पीड़ितों को सहलाते नहीं सींग मारते हैं, स्वार्थपरता की कलंक कालिमा से जिन्होंने अपना चेहरा पोत लिया है वे असुर हैं । यह अलंकार चित्रण है, रंग-रूप में कोई सफेद रंग का और चूहे जैसे छोटे दाँतों वाला भी असुर हो सकता है । हमे असुर नहीं देवता जैसा दिव्य-उदार बनना चाहिए ।

उदारता व्यवहार की साक्षी माँगती है । जिनमें दया है, करुणा है वह परमार्थ प्रयोजन के लिए उपलब्धियों को समर्पित किए बिना रह ही नहीं सकता । यदि अन्तर में कोमलता हो तो वह संसार के दैन्य को हटाने के लिए अपने को हिम खण्ड की तरह गलायेगा ही । सूर्य निकलते ही जमी हुई बर्फ गलने लगती है । सद्ज्ञान की प्रकाश किरणें जिस अन्तःकरण पर पड़ेंगी उसी क्षण भावना शक्ति आत्मा जाग्रत हो उठेगी और उसे परमार्थ प्रयोजनों में संलग्न देखा जाएगा । सद्ज्ञान मस्तिष्क में नहीं अन्तःकरण में उदय होता है, वह जब प्रकाशित होता है, तो मनुष्य दीपक की तरह अपने को जलाकर दूर-दूर तक प्रकाश फैलाने लगता है । यही धर्म परम्परा है और यही ईश्वरीय प्रेरणा । प्रत्येक विभूतिवान को इस तथ्य पर हर घड़ी अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए । यह निर्णय करना चाहिए कि जो कुछ उसे अनुदान मिला हुआ है उसे अपने सीमित स्वार्थ के लिए ही खर्च करते रहा जाए, उसके जमा करने और बढ़ाने का ही क्रम चलाया जाय, अथवा वह जिस प्रयोजन के मिला है, उसकी ओर ध्यान दिया जाए ।

युग निर्माण परिवार के प्रत्येक परिजन को निरन्तर आत्म-निरीक्षण करना चाहिए और देखना चाहिए कि भारत के औसत नागरिक के स्तर से वह अपने ऊपर अधिक खर्च तो नहीं करता ? यदि करता है तो आत्मा की, न्याय की, कर्तव्य की पुकार सुननी चाहिए और उस अतिरिक्त खर्च को तुरन्त घटाना चाहिए । हमें अधिक कमाने की, अधिक बढ़ाने की, अधिक जोड़ने की ललक छोड़नी चाहिए और यह देखना चाहिए कि जो उपलब्ध है उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग क्या हो सकता है ? जो पास है उसी का ठीक उपयोग कर सकना जब संभव नहीं हो रहा है तो अधिक उपार्जन से भी क्या बनने वाला है । उससे तो साँप के दूध पीने पर बढ़ने वाले विष की तरह अधिक तृष्णा-वासना प्रबल होगी और पतन का क्रम ही तं होगा ।

हमें उपयोग करने की बात को उपार्जन की ललक स असंख्य गुना महत्व देना चाहिए । देखना चाहिए कि सामान्य नागरिक की अपेक्षा पाँचों विभूतियों में से किसी का कुछ अंश अपने लिए अतिरिक्त रूप से लिया है क्या ? औसत भारतीय की तुलना में यदि अपने को बुद्धि, प्रतिभा, विद्या, भावना, और समर्थता कुछ अधिक मात्रा में मिली है तो उचित यह है कि उस अतिरिक्त अंश को विश्व मानव की पवित्र धरोहर समझकर उसी के चरणों में अर्पित करने का निश्चय करें । उस निश्चय में घाटा कुछ नहीं, केवल बड़प्पन बेचकर उसके बदले में महानता खरीदी जाय । यह गधा बेचकर गाय खरीदने जैसी बुद्धिमानी भर है । ऐसा साहस करना कुछ खोना, कुछ गँवाना नहीं है वरन् चक्र-वृद्धि ब्याज समेत अनेक गुना वापस करने वाले किसी प्रामाणिक बैंक में जमा करने की दूरदर्शिता दिखाना भर है ।

हमें दरवाजे-दरवाजे जाना चाहिए और जहाँ कहीं भी विभूतियाँ जमा हैं वहाँ उन्हें उद्बोधन करना चाहिए कि ईश्वरीय प्रयोजन जिसके लिए उन्हें धरोहर रूप में रखा गया है, आज युग की आवश्यकता पुकारी जा रही है, ऐसी विषम वेला में उसे न छिपाना चाहिए और न छिपाने देना चाहिए ।

यह इसलिए भी आवश्यक है कि महाकाल की सरकार इन पाँचों का राष्ट्रीयकरण करने वाली है । ऐसी समाज व्यवस्था शीघ्र खड़ी होगी जिसमें इन पाँचों विभूतियों को व्यक्तिगत स्वार्थों में प्रयुक्त न होने दिया जायगा । ऐसा होता रहा तो अणुशक्ति के भण्डार में विस्फोट होने की तरह दुर्घटना होगी । विनाश या विकास इन्हीं विभूतियों के दुरुपयोग-सदुपयोग पर निर्भर है । अच्छा हो विवेक और न्याय की पुकार से द्रवित होकर अपना रुख बदल दें, अन्यथा परिवर्तन तो होना ही है, इन विभूतियों को लगना तो सृजन में ही है । वह बलात् न किया जाय, आत्मा की पुकार ही उसे समय रहते सम्पन्न कर दे यही उचित है । इस औचित्य के लिए हमें अपने सहित हर विभूतिवान को झकझोरना चाहिए और निष्ठुरता को उदारता में बदलने का प्रयत्न करना चाहिए ।

उदात्त भावनाएँ मानव की सर्वोत्कृष्ट सम्पदा

उदात्त भावनाएँ मनुष्य के लिए भगवान का सबसे बड़ा वरदान हैं । क्योंकि पशु जीवन से ऊँचे उठकर मानवीय गरिमा को प्राप्त कर सकना और उससे भी एक कदम आगे बढ़कर देवत्व का वरण करना, उच्च भावनाओं के अवलम्बन से ही सम्भव होता है । नर को नारायण बना देने की क्षमता अन्तःकरण के विकसित भाव से ही होती हैं । इस संसार का सबसे बड़ा आनन्द जिसे उल्लास कहते हैं, उच्च भावनाओं पर ही अवलम्बित है । 'प्रेम' जिसे परमेश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति भी कहा जा सकता है, केवल भावनाशील अन्तःकरण में ही उद्भूत होता है । इस प्रेम पारस से जिस मनुष्य या पदार्थ को स्पर्श करा दिया जाए वह प्राणप्रिय लगता है और उसकी समीपता से रोम-रोम आनन्द विभोर हो उठता है । यह सब उदात्त भावनाओं का ही चमत्कार है ।

यह दैवी अनुदान जिसे प्राप्त है वह ओछे और कृपण लोगों की तरह नहीं सोचता । इन्द्रिय लिप्सा उसे बाँधती नहीं और न पैसे का आकर्षण उसके पैरों में जंजीर बनता है । अहंता तृप्ति और वासनाओं की ललक से ऊँचा उठकर वह सोचता है, मानो सचमुच वह आत्मा ही है । मानव जीवन की गरिमा, आत्मा का उच्चस्तरीय लक्ष्य और कर्तव्य, ईश्वर की पुकार, यही लक्ष्य उसके मस्तिष्क पर छाए रहते हैं । आकांक्षा एक ही उठती रहती है, ईश्वर का प्यार पाने के लिए, आत्मा का आशीर्वाद लेने के लिए वह क्या बड़े से बड़ा कदम उठा सकता है और भय प्रलोभन से ऊँचा उठकर कैसे वह अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करके जन-जीवन में प्रकाश भरी प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है । अपूर्णता को पूर्णता में समर्पित करने के लिए लालायित अन्तःकरण जिसे भी मिला हो समझना चाहिए वह कीड़े-मकोड़ों की मौत नहीं मर सकता । अपनी ज्योति से विश्व वसुधा के कण-कण को ज्योतिर्मय करेगा ।

हमें मनुष्य की सुषुप्त भावनाओं के जागरण और अभिवर्द्धन का हर सम्भव उपाय करना चाहिए । साथ ही जहाँ उसके अंकुर उगे हुए हैं, उन्हें सींचने में कमी नहीं करनी चाहिए । उच्च भावनाशील आत्माओं से यह धरती खाली नहीं है, पर दुर्भाग्य इतना ही है कि उन्हें भ्रान्त पथ प्रदर्शन मिला और भटककर वे इस दिव्य विभूति को ऐसे ही कूड़े-कबाड़ में गँवा बैठे ।

सन्त-महात्माओं, त्यागी, दानी, परमार्थ प्रवृत्तियों में, निरत व्यक्तियों में उदात्त भावनाओं के बीजांकुर की झाँकी की जा सकती है । यदि वह मूल बीज न होता तो सुख सुविधाएँ छोड़कर कष्टकर जीवन क्यों स्वीकार करते और उपार्जित धनराशि को ऐसे कामों में खर्च क्यों करते जिनमें उनका अपना कोई प्रत्यक्ष स्वार्थ साधन नहीं होता ? गृह त्यागियों में कुछ लोग कामचोर या मुफ्तखोर, ढोंगी भी हो सकते हैं, सभी तो वैसे नहीं होते । पर देखा गया है कि जो सचमुच आत्म-कल्याण एवं ईश्वर प्राप्ति के उद्देश्य से सुख सुविधाओं को त्याग कर घर से निकले थे, उन्हें रास्ता नहीं मिला और ऐसे जंजाल में भटक गये जहाँ लोक और परलोक में से एक भी प्रयोजन पूरा न हो सका ।

परलोक इसलिए नहीं सधा कि उनने मात्र कार्य कष्ट सहा । उदात्त वृत्तियों का अभिवर्द्धन तो सेवा-साधना का जल सिंचन चाहता था, उसकी एक बूँद भी न मिल सकी । पूजा-पाठ की प्रक्रिया दुहराई जाती रही सो ठीक, पर न तो ईश्वर का स्वरूप समझा गया और न उसकी प्राप्ति का आधार जाना गया । ईश्वर मनुष्य के रोम-रोम में बसा है । स्वार्थपरता और संकीर्णता की दीवार के पीछे ही वह छिपा बैठा है । यह दीवार गिरा दी जाय तो पल भर में ईश्वर से लिपटने का आनन्द मिल सकता है । यह किसी ने उन्हें बताया होता तो निस्सन्देह इन तप, त्याग करने वाले लोगों में से हर एक को सचमुच ही ईश्वर मिल गया होता और वे सच्चे अर्थों में ऋषि बन गये होते ।

अपने भावनात्मक पिछड़े हुए और दिग्भ्रान्त राष्ट्र को ऊँचा उठाना और सही रास्ते पर लाना इतना बड़ा काम है कि उसके साथ ही आर्थिक तंगी से लेकर अस्वस्थता के अगणित अवरोध सहज ही हट जाते हैं । आज अन्न का नहीं भावनाओं का दुर्भिक्ष पड़ा हुआ है, उस अभाव की पूर्ति करने के लिए हमें अपनी समस्त महत्वाकांक्षाओं को समेट लेना चाहिए । एक ही महत्वाकांक्षा जीवित रखनी चाहिए कि मानव जाति के भविष्य निर्माण की इस युग वेला में हम अपना अधिक से अधिक योगदान कर सकें ।

संसार में सत्प्रवृत्तियों का, सद्भानाओं का, उत्कृष्ट विचारणाओं का, आदर्शवादी आस्थाओं का बीजारोपण और उनका पोषण, सिंचन, अभिवर्द्धन इतना बड़ा पुण्य कार्य है कि इसे चाहें तो प्रसन्नतापूर्वक धर्म की मूर्ति कह सकते हैं । अपनी उदात्त भावनाओं का अभिवर्द्धन, इन क्रियाकलापों के अपनाने से उसके लिए समय, श्रम, पसीना, मनोयोग, साधनों का अधिकाधिक अंश लगाने का साहस करने से ही होगा, आन्तरिक महानता का विकास

होगा और वह तृप्ति मिलेगी जो उदात्त भावनाओं का सदुपयोग करने वालों को अनादिकाल से मिलती रही है ।

जिनमें इन उदात्त भावनाओं के बीजांकुर मौजूद हैं उन्हें संसार के अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्ति मानकर उनके पास जाना चाहिए और प्रयत्न यह करना चाहिए कि पलायनवाद से विरत होकर कर्मठता के क्षेत्र में उतरें और भगवान की मूर्तिवान प्रतिमा, विश्वात्मा की प्रत्यक्ष सेवा-साधना करके अपना लोक-परलोक बनाए । उन्हें सेवा-साधना का, उपासना और साधना का श्रेष्ठतम महात्म्य बताया, समझाया जाना चाहिए और उन अगणित महामानवों के दृष्टान्त उपस्थित करने चाहिए जो दूसरों को तारते हुये स्वयं तरे ।

विरक्त को साधु और गृहस्थ को ब्राह्मण कहते हैं । दोनों की मनोभूमि एवं जिम्मेदारी में नहीं केवल विधि व्यवस्था में ही थोड़ा अन्तर होता है । एक वर्ग पर्यटन में निरत रहने के कारण गृहस्थ के बन्धन नहीं बँधता, दूसरा एक स्थान पर रहने के कारण आश्रम व्यवस्था के लिये विवाहित होकर रहता है । कार्यपद्धति दोनों की एक है । इसलिए साधु-ब्राह्मण शब्द एक जोड़े के रूप में बोला जाता है और दोनों का स्तर एक होता है । जो निर्वाह भर की आजीविका से सन्तुष्ट रहकर शेष सारी क्षमता अपनी उदात्त भावनाओं को चरितार्थ करने में आत्म-निर्माण और विश्व-निर्माण में नियोजित रखे वह ब्राह्मण । वस्तुतः जिसके भी अन्तरंग में उत्कृष्टता की उमंगें उठ रही होंगी उसके सोचने का, काम करने का वही तरीका रह सकेगा जो प्राचीनकाल में साधु-ब्राह्मण का था ।

हम अपना अन्तःकरण टटोलें और उसमें यदि कुछ उदात्त जीवनतत्व के कण मिल जाएँ तो उन्हें सींचे-सँजोये और जितना अधिक सम्भव हो सके साधु-ब्राह्मण की परम्परा जीवित रखने के लिये खुद ही कुछ कर दिखायें ।

अनैतिक कार्यों में ज्ञान का उपयोग 'ब्रह्मराक्षस' की घृणित भूमिका है

विभूतिवान व्यक्तियों में, सर्वप्रथम गणना उदात्त भावनाशीलों की है । जिनका दृष्टिकोण लेने की कामना से ऊँचा उठकर देने की आकांक्षा में विकसित हो गया है-जिन्हें स्वार्थ नहीं परमार्थ प्रिय है, उन्हें मनुष्य कलेवर में विचरण करने वाले मूर्तिमान देवता ही कहना चाहिए । धरती माता इन्हीं से गौरवान्वित होती है । भूले-भटकों को सही रास्ते पर चलाने के लिए इंगत करने वाले, पथ प्रकाशित करने वाले मरने के बाद भी जीवित रहते हैं । स्वर्ग पाने के लिए उन्हें मरने के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, वरन् उत्कृष्ट चिन्तन स्वयं ही स्वर्ग बना अन्तःकरण में क्रीड़ा-कल्लोल करता रहता है । निर्धन रहते हुए भी वे धनियों से अधिक सुखी और सन्तुष्ट रहते हैं । नेकी की राह पर चलते हुए स्वल्प आजीविका में सन्तोष कर लेना उन्हें वन-उपवनों में योग तप करने वालों की अपेक्षा अधिक प्रकाश देता है ।

ईश्वर को समर्पित किया हुआ जीवन ईश्वरीय प्रेरणाओं और मर्यादाओं के अनुरूप चलता है तो समझना चाहिए ईश्वर का तादात्म्य हो गया, भक्ति का समग्र तत्व समझने वाले से भगवान दूर कहाँ रहता है । वासना और तृष्णा की कीचड़ से जिन्होंने अपना उद्धार कर लिया और आदर्शों के लिए जीवित रहने का जिन्होंने व्रत धारण कर लिया उन्हें जीवन मुक्त ही कहना चाहिए, उनके चिन्तन का प्रत्येक क्षण और श्रम का प्रत्येक कण, अपनी उत्कृष्टता की रक्षा करने एवं प्रत्येक क्रिया के पीछे आने वालों का पथ प्रशस्त करने में लगी रहती है, समझना चाहिए कि इस स्तर के व्यक्ति ने अपना जीवन कृतकृत्य और मनुष्यता को गौरवान्वित कर दिया । त्यागी और बलिदानी, परमार्थी और लोकसेवी, साधु और ब्राह्मण, सुधारक और शहीद इसी स्तर के होते हैं । मनुष्य जाति के भाग्य को, संसार के प्रवाह को ऐसे ही लोग पलटते हैं । उन्हें दैवी विभूति सम्पन्न देवदूत कहा जाय तो उचित ही होगा ।

इसके बाद विद्वानों का नम्बर आता है । विद्या तपस्वी को प्राप्त होती है जो शौक, मौज, आलस्य, प्रमाद को जीत सकता है । भौतिक आकर्षणों से निरत होकर जिसकी रुचि अध्ययन में हो गई उसी के लिए विद्वान बन सकना सम्भव है, यह प्रत्यक्ष तपश्चर्या है । ज्ञान योग की साधना को महत्वपूर्ण योगाभ्यासों में ही गिना गया है । विद्या प्राप्ति के लिए किया गया श्रम सदा से तप-साधना की श्रेणी में ही सम्मिलित रखा जाता रहा है ।

ज्ञान निस्सन्देह पारस की तुलना में और भी महान है । पारस लोहे को सोना भर बनाता है पर ज्ञान के स्पर्श से मनुष्य महानतम बन जाता है पर यह होता तभी है जब उसके सदुपयोग की व्यवस्था बनी रहे ।

यह बुद्धि तत्व सर्वसाधारण को कामचलाऊ मात्रा में ही मिला है । वे इस स्वल्प मात्रा से हित-अनिहित भी थोड़ा ही कर सकते हैं, पर जिन्हें यह प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है वे चाहें तो उससे अपना एवं दूसरों का हित अनहित भी बड़ी मात्रा में कर सकते हैं । अस्तु, जिन्हें अतिरिक्त रूप से विद्या प्राप्त है वे उसके सदुपयोग की जिम्मेदारी भी वहन करें ।

विद्या एवं बुद्धि जिन्हें प्रचुर मात्रा में मिली है वे वकील यदि चाहें तो अपनी चतुरता से क्रूर डाकू को कानूनी पकड़ से छुड़ा सकते हैं और उसे आगे फिर वैसे ही दुष्कर्म, अधिक साहस और उत्साह के साथ करने की सुविधा देकर असंख्य जनता पर निर्दयता ढाने के निमित बना सकते हैं । यह एक चतुर वकील के लिए बाये हाथ का खेल है कि अपनी अन्टी गरम करे और डाकुओं को प्रकारान्तर से सहायता पहुँचाए । दूसरा वकील जब यह

प्रतीत हो जाय कि मुझे अन्याय का समर्थन करना पड़ेगा तो उस मुकदमे को छोड़ देता है । मामूली आपसी झगड़ा हो तो दोनों पक्षों को मिलाकर फैसला कराने का प्रयत्न करता है कि वे मुकदमे की लम्बी जन्जीर में खिंचने से बच जाएँ । इससे उसे फीस का घाटा हो सकता है, पर अपने प्रभाव एवं विद्या बल से वह दूसरों को सच्ची राहत पहुँचाने में ही प्रयुक्त करने की बात सोचता है ।

भारत, पाकिस्तान के बँटवारे का कोई कारण या आधार नहीं था । चन्द लोगों का बुद्धि-बल ही था, जिससे तिल का ताड़ खड़ा करके भारत भूमि के खण्ड-खण्ड करा दिए और लाखों मनुष्यों को प्राण गँवाने, अपार सम्पदा नष्ट होने और कल तक के सगे भाइयों जैसे लोगों को जानी दुश्मन बना देने की भूमिका निबाही । सम्प्रदायों का जाल विद्वानों का ही रचा हुआ है । प्राचीनकाल में भारत में एक वैदिक धर्म था, एक हिन्दू जाति । एक उपास्य गायत्री, एक दर्शन, एक समाज । किन्तु तथाकथित विद्वानों के मस्तिष्क में कीड़े कुलबुलाए और वे सम्प्रदाओं की पूँछ से सम्प्रदाय निकालते चले गये । उन्हें पन्थ संचालक का श्रेय तो मिला, पर जो अनेकता और बुद्धि भ्रम का भेदभाव फैला उसके कारण विभाजित हिन्दू जाति दिन-दिन दुर्बल होती गयी और उसे उस दुर्बलता से जुड़े हुए अगणित कष्ट सहने पड़े ।

सामन्तवादी युग में यह विद्या पैसे से खरीदी जाती रही । उनकी विलासी दुष्प्रवृत्तियों के पोषण में कविता, साहित्य, गीत, नाटक आदि बड़ी मात्रा में सृजे जाते रहे । मन्दिरों में पाई जाने वाली मूर्तिकला तक में पशु-प्रवृत्तियों की भरमार मौजूद है । वैसे ही चित्र चित्रित किये जाते रहे । यह सब विद्या बुद्धि का दुरुपयोग है । हमारे क्रमिक अधःपतन में यही दुष्प्रवृत्तियाँ प्रधान रूप से कारण बनती चली आई हैं । आततायियों और आक्रमणकारियों ने भी क्षति पहुँचाई पर इस बौद्धिक क्षति ने तो समाज का मेरुदण्ड ही तोड़कर रख दिया ।

आज जबकि घायल समाज को राहत देने वाले साहित्य की जरूरत थी, उद्बोधन आवश्यक थे, तब भी वह ढर्रा बदला नहीं है, वरन् स्वतन्त्रता मिलने के बाद विनाश की स्वतन्त्रता का भरपूर उपयोग किया जा रहा है । धर्म मंच से जो प्रवचन किए जाते रहते हैं उनमें गढे मुर्दे उखाड़ने के अतिरिक्त जीवन संचार और प्रगति के लिये उद्बोधन की दिशा दे सकने वाले तथ्य कहीं ढूँढे नहीं मिलते । व्यक्ति और समाज के युग निर्माण के आधारभूत सिद्धान्तों की कहीं चर्चा तक सुनाई नहीं देती । विद्या से सजी वाणी द्वारा लोकमानस को उद्बोधन मिलना चाहिए था, वह एक प्रकार से मौन ही हो गया है । साहित्य की दशा और भी दयनीय है । पशु प्रवृत्तियों को भड़काने वाला साहित्य लिखा जा रहा है छप रहा है, बिक रहा है । उसी की बाढ़ आई हुई है । लगता है इस बाढ़ में जो कुछ श्रेयस्कर कहीं जीवित रहा होगा वह भी मर-खप जायगा ।

बहेलियों के पास शिकारी कुत्ते होते हैं । खरगोश, लोमड़ी, हिरन आदि जानवरों के पीछे वे उन्हें दौड़ाते हैं । कुत्ते कई मील दौड़कर भारी परिश्रम के उपरान्त शिकार दबोचे हुए मुँह में दबाये घसीट लाते हैं । बहेलिये उससे अपनी झोली भरते हैं और कुत्तों को एक टुकड़ा देकर सन्तुष्ट कर देते हैं । यही क्रम आज विद्या बुद्धि के क्षेत्र में चल रहा है । पुस्तक-प्रकाशक बहेलिए-तथाकथित साहित्यकारों से चटपटा लिखाते रहते हैं । गन्दे, अश्लील, कामुक, पशु प्रवृत्तियाँ भड़काने वाले चोरी, डकैती, ठगी की कला सिखाने वाले उपन्यास यदि इकट्ठे किए जाएँ तो वे एवरेस्ट की चोटी जितने ऊँचे हो जाएँगे । दिशाविहीन पाठक उन्हीं विष मिश्रित गोलियों को गले निगलता रहता है । चूहों को मारने की दवा आटे में मिलाकर गोलियाँ बनाकर बिखेर दी जाती हैं, उन्हें खाते ही चूहा तड़प-तड़प कर मर जाता है । यह साहित्य ठीक इसी प्रकार का है । इसे पढ़ने के बाद कोई अपरिपक्व बुद्धि पाठक वैसा ही अनुकरण करने के लिए विवश होता है । अनेक साहित्यकार बहेलियों के कुत्तों की भूमिका प्रस्तुत कर रहे हैं । अनेक प्रकाशक और विक्रेता मालामाल हो रहे हैं । कुछ टुकड़े खाकर यह साहित्यकार पाठकों का माँस इन आततायियों के पेट में पहुँचाने में अपनी विद्या बुद्धि, कला-कौशल का परिचय दे रहे हैं । विद्या माता को व्यभिचारिणी वेश्या के रूप में जिस तरह प्रस्तुत किया जा रहा है, उसे देखकर यही कहना पड़ता है-"हे भगवान इस संसार से विद्या का अस्तित्व मिटा दो, इससे तो हमारी निरक्षरता ही अच्छी है ।"

इन दिनों प्रकाश की एक-एक किरण मूल्यवान है और उद्बोधन का एक-एक शब्द अनमोल है । इस युग सन्ध्या में जहाँ कहीं विद्या-विद्या के रूप में जीवित हो तो उसकी चिन्तन दिशा इसी ओर चलनी चाहिए कि पतन की दिशा उत्थान की ओर कैसे मोड़ी जा सकती है ? पशुता को मनुष्यता में, देवत्व में कैसे परिणित किया जा सकता है ? कम से कम विद्यावान को विद्या की गरिमा अक्षुण्य बनाए रखने की दृष्टि से इस मार्ग पर चलते हुए रुकना, झिझकना न चाहिए । साधारण ईमानदारी से जो कमाया जा सके, सन्तोषपूर्वक गुजर करके अपनी विद्या का एक बड़ा अंश मृत मानवता को जीवित करने के लिए समर्पित करना चाहिए । कवि केवल उद्बोधक कविता ही लिखें । साहित्यकार यदि कलम उठाए तो उस पक्ष में उठायें जिससे अनाचार को भस्मसात करने और जीवन संचार में सहायता मिले । ऐसा प्रेरक साहित्य और कविताएँ प्रान्तीय भाषाओं में अनुवादित करने एवं स्वतन्त्र रूप में लिखे जाने की जरूरत है, जो उस क्षेत्र में लोकप्रिय हो सके और जिनके माध्यम से जन-जीवन में आशा की किरणें उद्वेलित हो सके । विद्वानों के समर्थन का विषय केवल न्याय और विवेक होना चाहिए । आज ऐसे अभिनव सृजन का भण्डार भरना है जो वर्तमान कूड़े-कचरे को

जाग्रत जन-जीवन की बौद्धिक भूख बुझा सके, उसे दिशा और प्रकाश दे सके ।

इसके लिए हमें स्वयं की विद्या, बुद्धि टटोलने से लेकर अन्य सुशिक्षितों का, विद्वानों का, लेखकों, वक्ताओं, चिन्तकों का दरवाजा भी खटखटाना चाहिए । उनसे आग्रहपूर्वक अनुरोध किया जाय कि अपने ज्ञान को, वासना और तृष्णा की पूर्ति में न उलझाये रखकर युग परिवर्तन जैसी विश्व मानव की महती आवश्यकता को पूरी करने में भी नियोजित करें । यह कैसे किया जा सकता है, इच्छुकों को इसके हजारों प्रकार अपने ही क्षेत्र में उपलब्ध हो सकते हैं ।

प्रतिभाओं को नवयुग की चुनौती

प्रतिभा व्यक्तित्व की उस विशेषता का नाम है । जिसमें चिन्तन को कर्तृत्व मे बदलने का, योजनाओं को कार्यान्वित करने की सूझ-बूझ युक्त साहस जुड़ा होता है । प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति आत्म-विश्वास के धनी होते हैं । उन्हें खतरे उठाने में मजा आता है और इतनी हिम्मत रखते हैं कि समयानुसार आवश्यक साधन जुटते या जुटाते जाते रहेंगे । सूझ-बूझ और हिम्मत के धनी एक बार जिस बात का निश्चय कर लेते हैं, जो ठान लेते हैं उसके लिए जोश और होश को मिलाकर ऐसी चाल चलते हैं कि साधनों का अभाव और प्रतिकूलताओं का प्रभाव उनका कुछ बिगाड़ नहीं पाता । जो कठिनाई सामने आती है, उन्हें बारीकी से देखते हैं, सन्तुलित रूप से विश्लेषण करते हैं, शान्तचित्त से उपाय खोजते हैं और समाधान का जो तरीका निश्चित करते हैं उस पर पूरे मनोयोग और साहस के साथ चल पड़ते हैं । सफलता के लिए उन्हें उतावली नहीं होती । वे इसके लिए पूरे जन्म भर प्रयत्न करते हुए अगले जन्म में सफलता मिलने तक के लिए भी तैयार रहते हैं । धैर्य, विवेक और साहस इन तीन को जिन्होंने साथ ले लिया वे कठिन से कठिन मार्ग पर चल सकते हैं और अपने अद्‌भुत शौर्य से साथियों को चकित कर सकते हैं । प्रतिभा का यही स्वरूप है ।

जिनमें यह विशेषता होती है महत्वपूर्ण कार्य उन्हीं के कन्धों पर रखे जाते हैं या वे स्वयं ही ऐसा बोझ दौड़कर अपने कन्धों पर उठा लेते हैं । उसमें उन्हे डर नहीं लगता वरन् खतरों के साथ उलझने में एक नई किस्म का मजा आता है जिसे शूरवीर ही जानते हैं, कायर तो उतने आगे तक सोचने की बात तक से डर जाते हैं ।

प्रतिभा की इस प्रवृत्ति को क्षत्रिय मनोवृत्ति कह सकते हैं । शूरवीर योद्धा यह जानते हुए भी कि लड़ाई के मोर्चे पर जान गँवानी पड़ सकती है, सदा मौत के साथ अठखेलियाँ करते रहते हैं ।.आँख मिचौनी खेलते रहते हैं जीवन और मरण, सफलता और असफलता उन्हे खेल मे हुई हार जीत से अधिक प्रभावित नहीं करती, क्योंकि शौर्य और साहस के प्रदर्शन का अपना एक अनोखा ही आन है ।

ऐसे प्रतिभावान व्यक्तियों को सांसारिक प्रवृतियों में, परमार्थ प्रयोजन में, संघर्ष विद्रोह में, सृजन और संगठन में सदा महत्वपूर्ण स्थान पर जाएगा । वे बहुधा अकेले ही सूर्य, चन्द्रमा की तरह चल पड़ते हैं । परिस्थितियाँ अनुकूल हैं या नहीं यह नहीं देखते, वरन् यह जानते हैं कि चल पड़ने पर परिस्थितियों और गतिविधियों का किसी प्रका तालमेल बैठ जाता है और कोई विधि-व्यवस्था ऐसी जरू बैठ जाती है जिसके आधार पर निर्वाह से लेकर लम्बी यात्रा तक के लिए सभी उपकरण अपने ढंग से अपने समय पर जुटते चले जाते हैं ।

इन्हीं प्रतिभावानों को दूसरे शब्दों में मनस्वी या तेजस्वी कह सकते हैं, उन्होंने भला या बुरा जो भी रास्ता अपनाया, उसमें कुछ चमत्कार उत्पन्न करते हैं । ठग या डाकू का धन्धा अपनालें तो भी चोटी की करतूतें कर दिखाते हैं और परमार्थ की दिशा में चल पड़ें तो इतिहास पर अपने चरण चिह्नों की अमिट छाप छोड़ते हैं । महापुरुषों में से प्रत्येक में अपने-अपने ढंग की योग्यता और रुचि भिन्नता हो सकती है, पर प्रतिभा की पूँजी सबके पास रही होती है । उसके बिना तो बुझे दीपक क तरह सुयोग्य और सम्पन्न व्यक्ति भी निरीह, निस्तेजवान एक कोने में पड़ा सड़ता रहता है ।

दूध के कड़ाही में उबलते ही उसका विश्लेषण आरम्भ हो जाता है, घी वाला अंश मलाई बनकर ऊपर तैरने लगता है और खनिज पदार्थों वाला भाग नीचे पेंदे में जमा होकर जलने लगता है । समय की चुनौती सामने आने पर प्रतिभाएँ उछलकर ऊपर आ जाती हैं और क्षुद्रता का कूड़ा-करकट डरकर पेंदे में जा छुपता है । महाकाल उसकी दुर्गति बनादे यह बात दूसरी है, पर अपनी ओर से उनका प्रयास यही होता है कि किसी सुरक्षित तली मे मुँह छिपा कर अपनी जान बचायें ।

संसार का इतिहास प्रतिभाओं का इतिहास है । युग परिवर्तन का इतिहास पिछली स्मृतियों के घटनाक्रमों क पीछे छोड़कर विश्व का, मानव जाति का-एक नया कायाकल्प सम्पन्न करने वाला हर प्रकार अनोखा होगा । इस रंगमंच पर प्रतिभाएँ ही अभिनय करेंगी । कायर तो कल्पना के धनी और बातों के मर्द होते हैं, इनका उपयोग आरम्भिक भीड़-भाड़ भरे प्रचार-प्रयोजन तक ही सीमित रहता है । महत्वपूर्ण भूमिकाएँ तो दुस्साहसी ही सम्पन्न करते हैं, यह ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा अनुदान जिस किसी के पास जितनी भी मात्रा में हो उसे छिपा बचाकर न रखें । युग की पुकार है कि उसे तत्काल विश्व मानव के चरणों में भावभरी श्रद्धांजलि के रूप मे प्रस्तुत करें ।

राजनेताओं की भीड में हम इस तत्व को जहाँ-तहाँ जगमगाता हुआ देख सकते हैं, उनमें जोश और जीवन अवश्य होता है, दुस्साहस भी । राजनीति के

इकट्ठे पहलवानों को जब हम प्रतिभा की कसौटी पर परखते हैं तो उनमें से बहुतों में यह तत्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान दीखता है ।

इन प्रतिभावानों को हमें अत्यन्त आत्मीयता और दूरदर्शिता पूर्ण सलाह यह देनी चाहिए कि वे जड़ को पकड़ें और पेड़ की ऊँची चोटी तक क्रमशः चढ़ते हुए चले जाएँ । जनता के हृदय में स्थान प्राप्त करने के लिये उसके समकक्ष अपना उज्ज्वल चरित्र और सेवा-परायण कर्तृत्व सिद्ध करना होगा ।

भारत की समस्या उतनी राजनैतिक नहीं, जितनी बौद्धिक, नागरिक और सामाजिक है । किसी भी सेवा-भावी देशभक्त को यह गहराई से समझ लेना चाहिए कि जब तक देश को नीचे से न उठाया जाएगा, जड़ को न सींचा जाएगा, तब तक ऊपर की सजावट पत्तों का छिड़काव कुछ कारगर सिद्ध नहीं होगा । एसेम्बलियों में पास हुए प्रस्ताव या विधायकों द्वारा बनाये हुए कानून तब तक देश का कुछ भी भला न कर सकेंगे, जब तक पिछड़ी हुई जनता की मनोभूमि उन्हें समझने और स्वीकार करने योग्य विकसित न की जाए । जनता का दैत्य करोड़ कुम्भकर्णों से बढ़कर है । वह जिस दिन जगेगा, एक घण्टा श्रम लगाकर सरकारी योजनाओं से हजार गुना काम बात ही बात में करके दिखा देगा । जब यह दैत्य एक-एक पैसा छोड़ देने पर उतारू हो जाय तो ९० करोड़ के देश में ९० लाख रुपया हर दिन विकास कार्यों के लिए मिल सकते हैं । आम बोने और पकने में कुछ देर तो लगती है, पर उसका लाभ टिकाऊ हो जाता है । जनसेवा के क्षेत्र में उतरने वालों अपना स्थान जनता के हृदय में बनाने में श्रम और समय तो लगेगा, त्याग भी करना पड़ेगा और कष्ट सहना पड़ेगा, पर उस प्रतीक्षा के बाद जो नेतृत्व, जो गौरव, जो मान उसे मिलेगा वह इतना सुदृढ़ होगा कि उसे उखाड़ना तो दूर किसी के लिए उसे हिला सकना भी सम्भव न होगा । जननेतृत्व के लिए अभिलाषी प्रतिभाओं को हमारी अत्यन्त नेक, व्यावहारिक और दूरदर्शितापूर्ण सलाह यह है कि वे इधर-उधर न भटकें, भीड़ में धक्के न खाएँ, वरन् युग निर्माण योजना के कार्यक्षेत्र में सीधे प्रवेश करें और देखें कि वे आत्मगौरव को तृप्त करने वाले ही नहीं राष्ट्र की सर्वतोमुखी प्रगति में योगदान दे सकने वाला कितना महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कर रहे हैं ।

हमें राष्ट्र की ठोस और सर्वतोमुखी प्रगति यदि सचमुच अपेक्षित हो और सच्चे मन से इसके लिए काम करना हो तो उसके लिए कटिबद्ध होना चाहिए और बौद्धिक, नैतिक एवं सामाजिक क्रान्ति का समग्र अनुष्ठान करना चाहिए । उसी प्रक्रिया का नाम युग निर्माण योजना है । हर प्रतिभा को उस आधार पर काम करने की हर क्षेत्र में सुविधा अनुभव हो सकती है ।

रेलगाड़ी की कतार में इंजन कौन-सा है ? यह आसानी से जाना जा सकता है । प्रतिभाएँ हर क्षेत्र में आगे रहती हैं और उन पर उत्तरदायित्वों का बोझ लदा होता है । ऐसे लोग पूर्ण जिम्मेदारियों में व्यस्त रहते हुए भी अपना थोड़ा-सा ध्यान किसी और मोड़ दें तो उस दिशा में उतना कर सकते हैं जितना सामान्य मनुष्य चिरकाल तक घिस-घिस करते रहने पर भी नहीं कर पाते । यही कारण है कि प्रतिभा पाँच प्रचण्ड शक्तियों में से एक महत्वपूर्ण ईश्वरीय विभूति मानी गयी है । प्रतिभाओं को हमें पकड़ना चाहिए । उन्हें सादर आमन्त्रित करना चाहिए और उनकी विभूति के साथ व्यक्तित्व को भी सम्मानित करना चाहिए । सम्मानित महानतम समस्याओं में मूर्धन्य प्रश्न मनुष्य का भावनात्मक नव-निर्माण है । इसके लिए चल रहे प्रचण्ड अभियान में उनका योगदान रहना ही चाहिए ।

हमें हर क्षेत्र में विद्यमान प्रतिभाओं पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए । भले ही आज उनकी रुचि का विषय दूसरा हो , भले ही वे आज इस प्रयोजन में रुचि न ले सकें, पर कल यदि उनमें तनिक भी अभिरुचि पैदा की जा सकी तो असाधारण कार्य सम्पन्न होगा । नारद पचासों व्यक्तियों को उपदेश देते थे पर जब वाल्मीकि के भीतर भरी असाधारण प्रतिभा को देखा तो वे उसके पीछे ही पड़ गये । स्वयं जोखिम उठाकर भी उसे बदलकर छोड़ा । शक्ति का प्रवाह जो दूसरी तरफ मुड़ा तो उधर भी चमत्कार कर दिखाया । डाकू था तो पहले नम्बर का, सन्त बना तो पहले नम्बर । प्रतिभाएँ सदा पहले नम्बर पर रहती हैं । सूरदास, तुलसीदास अपने पूर्व अध्याय में कामुकता में अग्रणी थे । सन्त बने तो भी अग्रणी रहे । अंगुलिमाल डाकू और अम्बपाली वेश्या जब हेय थे तब उस क्षेत्र में भी प्रसिद्ध थे और पलटे तो बुद्ध के शिष्यों में अग्रिम मोर्चा सँभाल रहे थे ।

हमें प्रतिभाओं तक नव-निर्माण मिशन की रूपरेखा, कार्यपद्धति और सम्भावना पहुँचानी चाहिए । उनके पास किसी सहयोग की योजना का उद्देश्य लेकर नहीं वरन् मात्र अभियान का स्वरूप समझाने के लिए सम्पर्क बनाना चाहिए । यदि उनका झुकाव इस ओर मोड़ा जा सकता तो उनका परामर्श और चिन्तन ही प्रयोजन की पूर्ति में बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है ।

प्रतिभाएँ सभी क्षेत्रों में मौजूद हैं । साहित्य, कला, व्यवसाय, चिकित्सा, विज्ञान, अध्यापन, संगठन, निर्माण जैसे कार्यों में वे अपनी तत्परता के कारण बहुत कुछ कर रही होंगी । कई बार यश और श्रेय लेने के झंझट में शक्ति का अनावश्यक अपव्यय देखकर निस्पृह व्यक्ति पीछे रहकर काम करना पसन्द करते हैं और आगे दूसरों को रखते हैं । गाँधी जी कांग्रेस को चलाते थे पर उसके पदाधिकारी कभी नहीं रहे । अन्य क्षेत्रों में भी ऐसे लोग होते हैं । हमें पद से नहीं गुण से मतलब है । इसलिए प्रतिभा जहाँ भी पड़ी हो, वहाँ से उसका रुख अपनी ओर भी मोड़ने का प्रयास किया जाना चाहिए और यदि उनका थोड़ा रुझान दिखाई पड़े तो उन्हें प्रस्तुत शत-सूत्री कार्यक्रमों में से किसी को किसी हद तक अपनाने के लिए सहमत करना चाहिए ।

प्रतिभा से रहित कोई व्यक्ति नहीं इसमें से प्रत्येक में उसका न्यूनाधिक अंश होता है । उसे टटोलना चाहिए और बढ़ाना चाहिए । अपने इस प्रतिभा तत्व का एक बड़ा अंश नवनिर्माण अभियान को अग्रगामी बनाने में लगाने का प्रयास करना चाहिए । जिस लगन, सूझ-बूझ, मनोयोग और तत्परता के साथ अपने लाभदायक कार्यों में निरत होते हैं, उसी तत्परता से लोकमंगल के इस सुव्यवस्थित और सुनियोजित आन्दोलन को सफल बनाने में भी अपनी प्रतिभा को नियोजित करके कार्य संलग्न होना चाहिए ।

धन को पीड़ित मानवता ने पुकारा है

विभूतियों में इन दिनों अग्रिम स्थान धन को मिल गया है । पर वस्तुतः वह उसका स्थान नहीं है । प्रथम स्थान उदात्त भावनाओं का है । वे जिनके पास हैं वे देव हैं । महामानवों को, ऋषि व तपस्वियों को, त्यागी-बलिदानियों को देव संज्ञा में गिना जाता है, वे दीपक की तरह जलकर सर्वत्र प्रकाश फैलाते हैं । इस संसार में जितना चेतनात्मक वर्चस्व है उसे उदात्त भावनाओं का वैभव ही कहना चाहिए । दूसरा स्थान है विद्या का, इसे ब्राह्मणत्व कह सकते हैं । तीसरी विभूति है प्रतिभा इसे क्षत्रियत्व कहा जा सकता है, इसके बाद चौथी गणना धन की है ।

मानव जाति का दुर्भाग्य ही है कि आज धन को सर्वप्रथम स्थान और सम्मान मिल गया । इसी का दुष्परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति अधिकाधिक धन संग्रह करके बड़े से बड़ा सम्माननीय बनना चाहता है, जबकि धन का उपयोग बिना उसे रोके निरन्तर सत्प्रयोजनों में प्रयुक्त करते रहना ही हो सकता है । गड्ढे में जमा किया पानी तथा पेट में रुका हुआ अन्न सड़ जाता है और अनेक विकार पैदा करता है । तिजोरी में बन्द नोट अपने संग्रह कर्त्ता को उन्मादी बनाते हैं और सारे समाज में बदबू भरी महामारी फैलाते हैं । इसलिए धन के उपार्जन की प्रशंसा के साथ-साथ यह तथ्य भी जुड़ा हुआ है कि समाज की महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे तत्काल प्रयुक्त करते रहा जाय ।

भारतीय संस्कृति में पाँच महापातक बताये गये हैं । (१) हिंसा (२) असत्य (३) चोरी (४) व्यभिचार (५) परिग्रह । परिग्रह का अर्थ है विलासिता और अहन्ता के लिए धन का संग्रह । इसे महापातकों में गिना गया है । यों आज जिसके पास जितना अधिक धन संग्रहीत है, वह उतना ही बड़ा सम्मानस्पद है, पर आध्यात्मिक व्याख्या इसके प्रतिकूल है । सम्मान, नीतियुक्त उपार्जन के लिये किए गए पुरुषार्थ का किया जाना चाहिए और उसके द्वारा लोक-मंगल के जो प्रयोजन पूरे किये गये, उसकी भी सराहना की जानी चाहिए । धनी का, धन-सम्मान इन दो आधारों पर किया जा सकता है । धन एक विभूति है, उसके पीछे दैवी अनुकम्पा की झाँकी है, इसलिए अपने यहाँ दीपावली पर्व पर लक्ष्मी की पूजा होती है । पर वह धन सम्मानित नहीं हो सकता जो लोकहित से अवरुद्ध होकर चन्द व्यक्तियों की विलासिता और अहन्ता की पूर्ति में लगा हुआ है । ऐसे धन की निन्दा की गई है ।

नव-निर्माण के लिए धन की नितान्त आवश्यकता है । प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक विविध कार्यक्रमों के हर मोर्चे पर लड़ने के लिए भावना, सूझ-बूझ और प्रतिभा की तरह पैसा भी चाहिए । इसके लिए धन का आह्वान किया जाना चाहिए और उसे दौड़कर आना भी चाहिए । ऋषि विश्वामित्र एक समय नई दुनिया बनाने में निरत थे उन्हें पैसे की जरूरत पड़ी । उनके प्रधान शिष्य राजा हरिश्चन्द्र ने न केवल राजपाट ही सौंपा वरन् अपने और पत्नी तथा बच्चों के शरीरों को बेचकर भी उस आवश्यकता की पूर्ति की । सन्त सुदामा का गुरुकुल लड़खड़ा रहा था, भगवान कृष्ण ने स्थिति को समझा और धन के कारण प्रस्तुत कठिनाई को दूर कर दिया । राणा प्रताप का स्वतन्त्रता संग्राम शिथिल पड़ता जाता था, भामाशाह आए और उनने अपनी समस्त पूँजी उनके सामने रख दी । बुद्ध का मिशन समस्त विश्व में अपना प्रकाश फैलाने के लिए तत्पर था, पर प्रचारकों के तैयार करने और बाहर भेजने के लिए धन की कठिनाई के कारण गाड़ी रुक गई थी, सम्राट अशोक ने अपना सारा साम्राज्य उस मिशन को सौंप दिया । उसी का फल था कि बौद्ध धर्म एक समय समस्त एशिया का सर्वमान्य धर्म बन गया था ।

जगद्गुरु शंकराचार्य को वैदिक धर्म की स्थापना के लिए चलना था, इस प्रयोजन की पूर्ति में राजा मान्धाता की सेना और राज्यकोष की धनराशि समर्पित की गई । जमुनालाल बजाज को गाँधीजी ने धर्म पुत्र माना और उनने अपनी कमाई का बहुत बड़ा अंश गाँधीजी के कार्यों के लिए प्रस्तुत कर दिया । सुभाषचन्द्र बोस को वर्मा के भारतीयों ने सोने से तोला था ताकि आजाद हिन्द फौज की आवश्यकताओं में अवरोध उत्पन्न न होने पावे । प्राचीनकाल में यह नित्य की परम्परा थी । राजा कर्ण अपने बड़े वेतन से न्यूनतम अंश निर्वाह के लिए रखकर शेष बचे हुए का नित्य प्रातःकाल ही दान कर देते थे । वाजिश्रवा हर वर्ष सर्वमेध यज्ञ करते थे और जो कुछ जमा पूँजी होती सारी खाली कर देते ।

उन दिनों धन कमाने में बहुत उत्साह था । लोग बचत करने में पूरी सतर्कता रखते थे और संग्रहीत धन को समय-समय पर लोकोपयोगी कार्यों के लिए प्रामाणिक व्यक्तियों को, ब्राह्मणों को सौंप देते थे । इस समय क्या सर्वोपरि महत्व का है, उसका निर्णय दूरदर्शी मनीषी ही कर सकते हैं । सामान्य लोग तो अपने यश की पच्चड़ ढोकर ऐसे अनुपयोगी कार्यों को करने के लिए लालायित रहते हैं जिससे उन्हें तत्काल यश मिले, भले ही इस प्राथमिकता के कारण अन्य आवश्यक काम रुके पड़े रहे ।

इस तथ्य को सामने रखकर उन दिनों जहाँ धन प्रामाणिक लोगों को दिया जाता था, वहाँ उन्हीं के ऊपर उसके सदुपयोग का उत्तरदायित्व भी सौंप दिया जाता था। जनता ब्राह्मण के हाथ में दान देकर निश्चिंत हो जाती थी प्रत्येक धार्मिक कर्मकाण्ड में ब्राह्मण को दान, भोजन का प्रमुख महत्व है। उस जमाने में यह विशुद्ध रूप से लोक मंगल के लिए ही दिया जाता था। निस्पृह ब्राह्मणों ने अपने खाने, पहनने तक में मितव्ययिता का कठोर प्रतिबन्ध लगा रखा था। निजी रूप से न उनकी कोई आवश्यकताएँ थीं, न खर्च। ब्राह्मण को मिला दान का एक पैसा विशुद्ध रूप से तात्कालिक लोकमंगल के प्रयोजनों में ही प्रयुक्त होता था।

इन दिनों दान का सर्वोत्तम उपयोग विश्व के भावनात्मक नवनिर्माण में ही किया जा सकता है। मन बहलाने के लिए, लोक दिखावे के लिए विज्ञापन के मद में या प्रेमवश छुटपुट सेवा-सहायता को बढ़े-चढ़े दान-पुण्य के रूप में समझा जा सकता है, पर मनुष्य की मूल जड़ता बनी रही तो वे बाहरी उपचार क्षणिक लाभ दिखाकर समाप्त हो जाएँगे। इसलिए सूक्ष्म बुद्धि व दूरदर्शिता का भी समावेश करना चाहिए। सद्‌भावना-संवर्द्धन को समस्त श्रेष्ठ सत्कर्मों में प्रधानता देनी चाहिए।

धन कुछ आदमियों के पास दूसरों की तुलना में अत्यधिक रहेगा, असमानता की खाई चौड़ी रहेगी तो परस्पर ईर्षा, द्वेष बढ़ेगा और चोरी, डकैती, हत्या आदि के रूप में विद्रोह खड़ा होगा। जिसके पास अधिक होगा वह अहंता और विलासिता से ग्रस्त होकर अपना नाश करेगा और दूसरों को ईर्ष्यालु एवं अपराधी बनायेगा। इसलिये परम्परा यही कहती है कि देश के औसत नागरिक जितना खर्च करके, शेष समाज में सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने के लिए दानरूप में उसे वापस लौटा दिया जाए। इसमें मनुष्य को अपने पुरुषार्थ और उदार अन्तःकरण का दुहरा श्रेय मिलता है। ऐसी दशा में पूँजी का व्यक्तिगत संचय भी उपयुक्त कहा जा सकता था, पर जब लोग उसका दुरुपयोग करें तो विवशता में उसे बलात् छीनने के अतिरिक्त कोई उपाय ही शेष नहीं रह जाता। बढ़ता हुआ साम्यवादी तूफान वस्तुतः स्वार्थी और लोभी धनपतियों की संकीर्णता का ही परिणाम है। जिसके प्रवाह में न केवल सम्पदा बह जाएगी वरन् साथ ही आस्तिकता जैसा उपयोगी दर्शन पद्‌दलित होगा इसका दोष जितना आज के संकीर्णतावादी धनिकों को दिया जाएगा, उतना कम्युनिष्टों को नहीं। क्योंकि अपनी कृपणता के कारण उन्हीं ने धनवानों के विरुद्ध आग भड़काई। यदि वे पूर्वकाल की भाँति उदार बने रहते तो मनुष्य को अपनी गौरवशाली गरिमा का श्रेय मिलता रहता। धनी और दानी के रूप में उनको प्रशंसा मिलती रहती और व्यक्तिगत पूँजी रखने की छूट रहती। पर यदि उस क्रम को तोड़ा जा रहा है तो फिर इसकी प्रतिक्रिया बलात् छीनने के अतिरिक्त और क्या हो सकती है?

अस्तु, धन को ट्रस्टी की तरह सँभालकर रखने और अधिक उपार्जन के लोकोपयोगी कार्यों में प्रयुक्त करते रहने की पद्धति ही सर्वोत्तम थी। पर उसे तो यह धनपति ही अपनी कुपात्रता के कारण अपने हाथों गँवा रहे हैं। यदि उन्होंने उदारता गँवायी न होती तो संभवतः प्राचीनकाल का आध्यात्मिक साम्यवाद ही संसार की सर्वोत्तम अर्थ-व्यवस्था समझा जाता। अभी भी उसकी उपयोगिता का परिचय उदार धनवान देते रह सकते हैं और विचार के लिए यह गुंजायश छोड़ सकते हैं कि धनी को उदार बनाया जा सके तो उसका स्वेच्छा त्याग उसके अपने लिए और समस्त समाज के लिए कितना अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है? साम्यवाद का यह विकल्प व्यावहारिक है।

जहाँ धन संग्रहीत हो वहाँ विश्वात्मा की, युगमानस की यह पुकार भी पहुँचानी चाहिए कि यह ईश्वरीय सम्पदा विश्व मानव के जीवन-मरण की समस्या सुलझाने के लिए अपेक्षित है। यह संग्रह गो ग्रास है, उसे गाय के मुख में ही पहुँचा दिया जाए। लोभ और मोह की जंजीरों में लक्ष्मी माता के हाथ-पाँव बाँधकर उसे उलटा न लटकाया जाय। शरीर की विलासिता के लिए नहीं-मन की अहंता बढ़ाने के लिये नहीं, कुटुम्बियों को हराम की कमाई से गुलछर्रे उड़ाने के लिए नहीं, इस ईश्वर-प्रदत्त विभूति को वहाँ प्रयुक्त किया जाय जहाँ युग की आत्मा उसके बिना मृत प्रायः मूर्छित पड़ी हो। लोभवश धन को बढ़ाते ही जाना-मोहवश उसे चन्द व्यक्तियों को ही दे जाना एक प्रकार से सत्प्रवृत्ति को तड़प-तड़प कर मर जाने के लिए बाध्य करना है। धनियों को यह तथ्य भी समझना चाहिये जिस सूझ-बूझ से उनने कमाई की है, उसी बुद्धिमत्ता के साथ उसके विनियोग का भी फैसला करना चाहिए।

कुछ कटु तथ्य हर धनी को समझ लेने चाहिए। अगले दिनों सम्पत्तिवान ही सम्मानित नहीं होंगे वरन् उन्हें समाज की दुर्दशा की ओर से मुँह फेरे रहने वाले पाषाण हृदय, निष्ठुर और कृपण कहकर तिरस्कृत किया जायगा। आँधी-तूफान की तरह बढ़ती हुई वह समाज व्यवस्था निकट आ पहुँची है, जिसमें सम्पत्ति पर व्यक्ति का नहीं समाज का स्वामित्व होगा। लोगों को शक्ति भर श्रम करना पड़ेगा और आवश्यकतानुसार लेना पड़ेगा। ब्याज भाड़े के आधार पर संग्रहीत पूँजी के सहारे किसी को भी बैठकर खाते रहने का अवसर नहीं मिलेगा। बेटे-पोतों को भी नहीं। सरकार मृत्यु टैक्स, सुपर टैक्स आदि के नाम पर धीरे-धीरे समस्त सम्पदा से उत्तराधिकारियों को अभी से वंचित करती चली जा रही है, आगे यह व्यवस्था और भी कड़ी होगी और उपार्जन न कर सकने योग्य असमर्थ स्त्री, बच्चों को छोड़कर कोई समर्थ वंशज बाप-दादों की कमाई का उत्तराधिकारी न बन सकेगा। पूर्वकाल में श्राद्ध के नाम पर समर्थ वंशज उन पूर्वजों की कमाई को समाज के लिए लौटा देते थे और अपनी मेहनत के बल पर पेट पालते थे। आगे यह व्यवस्था बलात् लाद दी जाएगी। हर हालत में किसी की पीढ़ियाँ हराम की कमाई पर जिन्दा न रहेंगी। जिन्हें यह सुविधा मिली है, वे व्यसनी और विलासी बनकर अपनी प्रतिभा और प्रामाणिकता नष्ट

ही करते रहे हैं । कोई अभिभावक बच्चों को निकम्मा बनाने की यह मूढ़ता क्यों करे ?

इन तथ्यों को आज का धनिक वर्ग समझ सके तो उसमें एक मौलिक सूझ-बूझ उत्पन्न हो सकती है कि सम्पदा को निरन्तर बढ़ाते चलना उतना आवश्यक नहीं जितना कि अब तक की कमाई को सदुपयोग के लिए नियोजित कर देना । जहाँ यह विवेक जाग्रत होगा वहाँ लोभ, मोह की जंजीरें ढीली पड़ेंगी और लोक-मंगल का महत्वपूर्ण तथ्य भगवान बावन के समान हाथ पसारे खड़ा प्रतीत होगा । यदि उदात्त भावनाओं का एक कण भी जीवित हुआ तो फिर उस भगवान को निराश वापस लौटाते न बन पड़ेगा ।

आज जन-जागरण के लिए हजारों, लाखों कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करने के लिए शिक्षण शिविरों की आवश्यकता है । लोग अपना काम छोड़ करके सर्वतोमुखी क्रान्ति की प्रक्रिया सीखने तो लड़-झगड़कर आ भी सकते हैं पर उनके घर वाले उन्हें उस शिक्षा के समय का भोजन खर्च देने को आसानी से तैयार न होंगे । ऐसी दशा में कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था रुकी ही पड़ी रहेगी । यदि उनके लिए रूखी रोटी और चटनी जुटाई जा सकती, तो बुद्ध के ढाई लाख शिष्यों की तरह इससे भी अधिक संख्या में लोग युग परिवर्तन की शिक्षा लेने के लिए आते और यहाँ से जाते ही अनाचार से टकराने में सीना खोलकर अड़ जाते ।

आज के सन्त-महात्माओं का जन्म जिस पलायनवादी स्वर्ग मुक्ति की स्वार्थपरता के आधार पर हुआ है, उसमें लोक-मंगल के लिए कुछ त्याग, बलिदान करने के पुरुषार्थ की गुंजायश नहीं है । हराम की रोटी, अकर्मण्यता गतिविधियों और ठग विद्या में फँसाने की आदत ने उनमें से अधिकांश की तेजस्विता नष्ट कर दी है । यदि उनमें जीवन होता तो समाज का यह काम कुछ कठिन न होता । इतनी बड़ी जनशक्ति भारत को नहीं विश्व को पलट सकती थी मगर इन ५६ लाख सन्त प्रतिभाओं के दर्शन भर करके सन्तुष्ट रहना पड़ेगा, इनसे कुछ आशा करना व्यर्थ है । लोकसेवी तो सदस्यों में से ही निकालने पड़ेंगे । उनके लिए सीधी-सीधी निर्वाह व्याख्या करनी पड़ेगी । बिना कार्यकर्त्ताओं के विश्व क्रान्ति नहीं हो सकती । कार्यकर्ताओं को रोटी कपड़ा तो चाहिए ? सोचा गया है कि यदि १०० प्रति व्यक्ति पीछे खर्च करने की व्यवस्था अपने पास हो तो हजारों व्यक्ति कर्मक्षेत्र में उतर सकते हैं और अपनी लगन एवं तत्परता से देखते-देखते युगान्तकारी उथल-पुथल उत्पन्न कर सकते हैं ।

इन दिनों मन्दिर, धर्मशालाएँ, कुएँ, तालाब, बगीचे बनाये जाना रोका भी जा सकता है । विज्ञापन और वाह-वाही के लोभी उथली बुद्धि के दानी ढकोसले को खड़ा करने के लिए अनेक विद्यमान हैं । जिनमें दूरदर्शिता है उन्हें भामाशाह जैसी सूझ-बूझ का परिचय देना चाहिए । उस पैसे का इतना ऊँचा सदुपयोग जिसके ऊपर लाख मन्दिर और करोड़ धर्मशालाएँ निछावर करके फेंके जा सकते हैं । इन दिनों तीर्थयात्रा की उतनी जरूरत नहीं जितनी जन-जागरण के लिए द्वार-द्वार अलख जगाने वाले पदयात्रियों की, आज मिष्ठान्न, पकवानों को लातों त रौंदने वाले ब्रह्मभोजों और भण्डारे की उतनी आवश्यकत नहीं जितनी जन-जागरण के लिए प्राण हथेली पर लेकर निकलने वालों के लिए चना सत्तू जुटाने की ।

दूरदर्शिता जिस धनी हृदय में मौजूद हो उसे झकझोरा जाना चाहिए और कहा जाना चाहिए इस आड़े वक्त में उसकी कृपणता असह्य है । ऐसी युग परिवर्तन की बेला मे तो रीछ, वानर नितान्त खाली हाथ होने पर अपने प्राण हथेली पर रखकर दौड़ पड़े थे । आज दशमुख के रावणों से नहीं, सौ कुटुम्बियों के कौरवों से नहीं, हजार भुजा वाले सहस्रबाहु से नहीं, अरबों की जनसंख्या वाले मानव समाज पर अगणित दुष्प्रवृत्तियों और दुर्भावनाओं के साथ छाए हुए-सर्वग्राही महाअसुर से जूझना है । इस महाभारत में किसी को भी दर्शक बनकर नहीं बैठे रहना चाहिए । जिसके पास जो है उसी को लेकर आगे आना चाहिए ।

नव-निर्माण में भी धन की आवश्यकता काफी है। प्रचारात्मक-ज्ञान यज्ञ प्रक्रिया के लिए अगणित छोटे-बड़े आयोजन करने पड़ेंगे । प्रचार साधनों की, प्रचारकों की जरूरत पड़ेगी । हर भाषा में प्रचुर साहित्य चाहिए, युग निर्माण शाखाओं के छोटे-छोटे भवन मन्दिर बनने हैं । उनमें विविध प्रचार उपकरण चाहिए, व्यायाम-शालाओं की स्थापना होनी है । धर्मतन्त्र की नये सिरे से प्रतिष्ठापना करनी है । कलामंच का पुनर्गठन करना है । शिक्षा को जनस्तर पर कार्यान्वित किए जाने की विशालकाय योजना है । सृजन सेना को सुसज्जित करके उसे बहुमुखी भावनात्मक नव-निर्माण के युद्ध मोर्चे पर झोंक देना है, दुष्टता और मूढ़ताओं से इंच-इंच भूमि छीनने के लिए डट कर लड़ना है । इसमें अस्सी घाव खाने वाले राणा साँगा, बादलों की तरह उमड़ते चले आ रहे हैं, उनके लिये मरहम-पट्टी भी कहीं से प्राप्त करनी ही पड़ेगी । यह सब काम ऐसे हैं जो पैसा चाहते हैं । यह मूढ़ताग्रस्त क्षेत्रों से नहीं मिल सकता । यह आवश्यकता तो जाग्रत आत्माओं की उदात्त भावनाएँ ही पूरा करेंगी । ऐसे भाव सम्पन्न नर नारायण यदि लक्ष्मी युक्त भी हों तो उनका पवित्रतम कर्तव यही हो जाता है, कि यह अमानत इस आड़े समय उदारता और ईमानदारी के साथ समाज को वापस कर दें । युग के नारायण ने इस महत्वपूर्ण घड़ी में लक्ष्मी को पुकारा है, वह जहाँ भी हो आने दी जाए । आड़े वक्त में कोई उसे बाँधने, रोकने का प्रयत्न न करे ।

युग निर्माण परिवार के हर सदस्य को अपनी उदारता का स्तर और आगे बढ़ाना चाहिए । दस पैसा रोज और एक घण्टा समय आरम्भिक प्रतीक पूजा थी । अभ्यास के रूप में इतना छोटा ही श्री गणेश कराया गया था । वह अन्तिम नहीं न्यूनतम था । गुजारा भर कर पाने वालों को भी महीने में एक दिन की कमाई देनी चाहिए ताकि उनके बदले में एक कार्यकर्त्ता उसकी रोटी खाकर सर्वग्राही

असुरता से लड़ने के लिए खड़ा रह सके । प्रश्न पैसे की तंगी का नहीं दिल की तंगी का है । हम तनिक-सी अपने हृदय में विशालता ला सकें तो प्रतीत होगा कि निर्धन दीखने वाले व्यक्ति बहुत कुछ मौजूद हैं ।

युग निर्माण परिजनों को जेवर, जायदाद बनाने की नहीं, विश्वनिर्माण की योजनाएँ बनानी चाहिए । ऐसा करने में ही युग सेनानी, युग निर्माताओं के अनुरूप शान रहेगी ।

सरस्वती केवल देव प्रयोजनों में ही लगायी जाय

कलाकारों में साहित्यकारों की, कवियों की, चित्रकारों की, मूर्तिकारों की, गायकों की, वादकों की, अभिनेताओं की गणना होती है । यह विशेषताएँ जनमानस को भाव विभोर करने की, भावना स्तर का स्पर्श करने की क्षमताओं से परिपूर्ण है, कला की माता सरस्वती की प्रतिमूर्ति है । उसका उपयोग केवल लोकमानस की उत्कृष्टता की दिशा में अग्रसर करने के लिये ही किए जाना चाहिए ।

खेद इस बात का है कि आज कला को, कामुकता को, पशु प्रवृत्तियों को उत्तेजित करने के कुत्सित केन्द्र पर केन्द्रित कर दिया गया है । स्वर और वाद्य जब भी प्रखर हो रहा होगा केवल वासना भड़काई जा रही होगी । नारी को माता, भगिनी पुत्री के रूप में चित्रित करने वाला गीत वाद्य ढूँढ़े नहीं मिलता, उसे रूपसी, प्रेयसी, रमणी, कामिनी के रूप में प्रस्तुत करने वाली कुत्साओं की तृप्ति का खिलौना सिद्ध करने वाली कला ही आज चारों ओर नारकीय दुर्गन्ध के रूप में बिखरी पड़ी है । अपने उच्च उद्देश्य से पतित होकर यह पाशविक प्रयोजनों के पतनोन्मुख साधन जुटाने में लगी हुई है । कलामंच ने कुछ ऐसा माहौल खड़ा कर दिया है मानो नारी की माँसलता का वर्णन करने, दु:शासन द्वारा द्रौपदी को भरी सभा में नंगी करने के अतिरिक्त और कोई कार्य ही उसका न हो ।

कला को जो मानवी मर्मस्थल का स्पर्श करने में समर्थ थी, मनुष्य मे देवत्व का उदय कर सकती थी, उसने विपरीत दिशा में चलने की ठान-ठानी है । इसका दुष्परिणाम जनमानस में दिन-दिन बढ़ते हुए कल्मष के रूप में सर्वत्र देखा जा सकता है । आवश्यकता इस बात की है कि सरस्वती माता को व्यभिचारिणी वेश्या के स्तर पर बिठाने वाले तथाकथित कलाकारों को प्रस्तुत गतिविधियों से विरत करने का प्रचण्ड प्रयास किया जाय । समझाने से वे न मानें तो वातावरण ऐसा उत्पन्न किया जाय जिसमें अपनी भ्रष्टता के फलस्वरूप सर्वत्र उन्हें भर्त्सना के अतिरिक्त और कुछ न मिल सके ।

कला की शक्ति को युग निर्माण योजना सृजनात्मक प्रयोजनों में ही प्रयुक्त होने देगी । उसे रचनात्मक दिशा में ही लगने दिया जाएगा । इस शक्ति को पुनः परिष्कृत और संगठित किया जाना है, उसे भावनात्मक नवनिर्माण में नियोजित किया जाना है, प्रत्येक कलाकार को यह समझाया जाना है कि उस विभूति को पाकर उसके ऊपर जो अतिरिक्त उत्तरदायित्व आते हैं उन्हें पूरा करने के लिए वह ईमानदारी से प्रयास किए जाने चाहिए । कला को उसी लक्ष्य के लिए नियोजित किया जाना चाहिए जिसके लिए उसका आविर्भाव हुआ है ।

युग निर्माण योजना के चार आधार

व्यक्ति और समाज के नए निर्माण के लिये चार आधार निर्धारित किये गए हैं । इनमें दो व्यक्ति निर्माण के लिये, दो समाज निर्माण के लिए हैं । व्यक्ति अपना निजी जीवन संयमी, सदाचारी, निर्मल और उज्ज्वल बनाये रहे । दूसरों के प्रति उसका व्यवहार करुणा, आत्मीयता, सेवा, उदारता से भरा हो तो समझना चाहिए व्यक्ति का निर्माण हो गया और भावी सतयुग का देव नागरिक बनने की स्थिति उसने प्राप्त कर ली ।

इसी प्रकार समाज निर्माण के दो आधार हैं । विविध प्रकार के भेद-भावों को प्रथकतावादी अवरोधों को दूर करके समस्त विश्व को एकता के केन्द्र पर केन्द्रित किया जाय । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श सामने रखकर विश्व की पुनः संरचना की जाय । परायापन ही दृष्टिगोचर न हो । सारा विश्व अपना घर-परिवार प्रतीत हो और भाषा, देश, धर्म, संस्कृत जैसे आधारों को प्रथकतावादी प्रवृत्ति पनपाने से विरत कर दिया जाय ।

मनुष्य-मनुष्य के बीच दिखाई देने वाली असमानता का कहीं अस्तित्व शेष न रहे । नर और नारी होने के कारण किसी को छोटा-बड़ा न समझा जाए और जाति वंश के कारण किसी को नीच-ऊँच न ठहराया जाय, धन का वितरण इस प्रकार का न हो जिससे कोई अमीर बने और न कोई गरीब रहे । हर व्यक्ति को प्रगति के लिए समान अवसर मिले । शक्ति के अनुसार हर किसी को काम करना पड़े और आवश्यकता के अनुरूप हर किसी को साधन उपलब्ध हों । समता का वातावरण उत्पन्न करना, वैसी परिस्थितियों का सृजन, नवनिर्माण आन्दोलन का लक्ष्य है । जनमानस का भावनात्मक नवनिर्माण इसी आधार पर किया जा रहा है कि उसमें उपरोक्त चार तथ्यों को अंगीकार करने में तनिक भी अड़चन अनुभव न हो ।

(१) शुचिता (२) ममता, यह दो व्यक्ति निर्माण के आधार हैं और (३) एकता (४) समता, समाज निर्माण के इन्हीं चार आधारों को कार्यान्वित करने के लिए युग निर्माण योजना की गतिविधियों को केन्द्रित माना जाना चाहिए ।

शुचिता जीवन की प्रधान नीति

भावनात्मक नव-निर्माण का प्रथम आधार है- शुचिता । शुचिता का अर्थ है पवित्रता । हर व्यक्ति शरीर, मन, उपकरण और आचरण की दृष्टि से अधिकाधिक

शुद्ध और पवित्र बनने का प्रयास करे । बाह्य जीवन में इसे शरीर, वस्त्र, निवास और उपकरणों की स्वच्छता के रूप में प्रयुक्त किया जाना चाहिए । अपने देश में गन्दगी एक प्रकार से स्वभाव का अंग बन गयी है । लोग स्वच्छता के उद्देश्य और स्वरूप को ही भूल गये हैं । अब केवल छूत-छात का ढकोसला और पीठ पर दो लोटा पानी ढुलका लेने का अधूरा स्नान भर पुरानी स्वच्छता परिपाटी का ध्वंसावशेष रह गया है । भोजन पकाने और खाने में पाश्चात्य लोग भी स्वच्छता बरतते हैं । खाद्य पदार्थों को बनाते या खाते समय हाथ में रहने वाले पसीने का स्पर्श न होने पावे इनका ध्यान रखते हैं । मक्खियाँ नहीं भिनकने देते, धूल, मिट्टी नहीं पड़ने देते और बर्तनों की सफाई का पूरा ध्यान रखते हैं । अपने यहाँ वे वैज्ञानिक आधार ही भोजन के समय बरती जाने वाली छूत का कारण थे, पर लोग इस मूल बात को भूलकर जाति-पाँति की छूत को ही प्रधानता देने लगे हैं ।

स्नान करने से पवित्रता बढ़ती है यह ठीक बात है पर वह दो लोटे पीठ पर लुढ़काकर जमे हुए पसीने को और भी अधिक बदबूदार बना लेने के रूप में नहीं होनी चाहिए । शरीर का प्रत्येक अंग रगड़कर, मल कर स्वच्छ किया जाय और पीछे उसे खुरदरे स्वच्छ वस्त्र से सुखाया जाय, धुले वस्त्र पहने जाएँ तो ही वह स्नान है अन्यथा बिना मैल छुड़ाये, बिना बदन सुखाये वे ही मैले कपड़े फिर लपेट लेने की चिह्न-पूजा से स्नान का कोई प्रयोजन पूरा नहीं होता और जिस तरह के स्नान से आज शारीरिक पवित्रता मान ली जाती है वह एक ढकोसला ही प्रतीत होता है । हमारी स्वच्छता स्वास्थ्य के नियमों पर आधारित और सर्वांङ्गीण होनी चाहिए । शरीर और वस्त्रों से हमें स्वच्छ रहना चाहिए । बिछाने-ओढ़ने के वस्त्रों में जो गन्दगी आमतौर से भरी रहती है उसे दूर किया ही जाना चाहिए ।

जो बाहर से गंदा-गलीज रहता है उसकी भीतरी स्थिति आलसी, प्रमादी, आकर्षण और अस्त-व्यस्त जैसी होनी चाहिए । व्यवस्था और स्वच्छता एक ही वस्तु के नाम हैं । व्यवस्थित जीवन प्रगति का प्रधान आधार है । इस आधार को जमाने के लिए हमें सर्वांगीण स्वच्छता की और पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए । भारत के देहातों में मल-मूत्र प्रायः गाँव में ही या गाँव के निकट ही सड़ता रहता है । इससे बहुमूल्य खाद की भी बर्बादी होती है । गंदगी फैलती है और स्वभाव में मलीनता को स्वीकार करने की प्रवृत्ति का पोषण होता है । युग निर्माण में सर्वतोमुखी स्वच्छता के हर पहलू पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाना है ।

बाह्य शुचिता का दूसरा पक्ष है-मन की, आचरण की शुद्धि । मन में छल, कपट, असत्य, प्रपंच, षड्यन्त्र जैसी घृणित दुष्प्रवृत्तियों के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए । बालकों की तरह भोला, सरल, निष्कपट और निर्मल मन रखने से ही मानवी उत्कृष्टता की रक्षा हो सकती है । जो भीतर हो वही बाहर प्रकट किया जाय । बनावट या बहकावे के लिए अपनी रीति-नीति में कोई स्थान न हो । हम जो हैं वही प्रकट करें, लोगों को भ्रम में न डालें । जो मन में हो वाणी से प्रकट करें । बताना कुछ-करना कुछ जैसी विश्वासघाती गतिविधियों के लिए किसी के जीवन में कोई स्थान नहीं होना चाहिए । दुराचरण को, दुर्भावन को प्रश्रय दुराव की आड़ में ही मिलता है । स्थिति स्प रहे तो बनाए या ठगे जाने की गुंजायश ही न रहे । इसलि असत्य ही सब पापों का मूल बताया है क्योंकि उसक आड़ में ही अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ पलती और पनपती हैं । सत को इसलिए सबसे बड़ा पुण्य बताया गया है कि यदि मानसिक निर्मलता रहेगी तो वहाँ अन्य अनेक सत्प्रवृत्तियाँ निवास करने लगेंगी । सत्य केवल भाषा तक सीमित नहीं होता, सत्य बोलना तो विशाल सत्य आचरण का एक छोटा-सा अंश मात्र है । सत्य बोलने से आरम्भ करके मानसिक शुचिता का हर विचार और हर कार्य के साथ उत्कृष्ट दृष्टिकोण का समावेश समन्वय करना पड़ता है तभी सर्वांगपूर्ण मानसिक पवित्रता पवित्रता सम्भव होती है ।

बौद्धिक शुचिता का अर्थ है-हर मान्यता को विवेक और न्याय की कसौटी पर कसने के उपरान्त ही स्वीकार करना । पानी को छन्ने में छानना जितना आवश्यक है उससे कहीं अधिक आवश्यक है कि हम प्रचलित मान्यताओं में से हर एक को तर्क और प्रमाण की कसौटी पर कसें । विवेक के आधार पर हर विचार का खरा-खोटापन परखें और जो उचित, उपयुक्त प्रतीत हो उसी को स्वीकार करें ।

पिछले दिनों लम्बे समय से एक अन्धेर-अन्धकार का युग चला आ रहा है । उसने हमारी नैतिक, दार्शनिक एवं सामाजिक विचारणा एवं परम्परा को अस्त-व्यस्त, नष्ट-भ्रष्ट करके रख दिया है । स्वार्थ परायणता और संकीर्णता की बाढ़ ने नीति और धर्म की ऐसी व्याख्याएँ कर डाली हैं जो उपहासास्पद होती हैं । मूढ़-मान्यताओं और अन्ध परम्पराओं ने संस्कृति का कलेवर ओढ़ लिया है । जैसे जंगली हाथी को पकड़ने के लिये सिखाए, सधाए हाथी भेजे जाते हैं उसी प्रकार विदेशी आक्रमणकारियों ने इस देश के धर्म गुरुओं को सधाकर उनके माध्यम से ऐसी दार्शनिक भ्रष्टता का जाल खड़ा कर दिया, जिसमे जकड़े हुए हम कभी स्वतन्त्र चिन्तन में समर्थ ही न हो सके । बौद्धिक पराधीनता हर पराधीनता से अधिक जटिल होती है । हर बुरा-भला कार्य ईश्वर की इच्छा से होता है, भाग्य पहले से ही निर्धारित है, वह टलता नहीं जैसी न जाने कितनी दार्शनिक भ्रान्ति अपने समाज में अपनी जड़ें जमाए बैठी हैं । सामाजिक कुरीतियों का अन्त ही नहीं । नैतिक व्याख्याएँ भी बड़ी विचित्र हैं धर्म का बाह्य कलेवर तो कर्मकाण्डों के रूप में खड़ा है पर उसका प्राण तो न जाने कब का निकाल लिया गया । इन परिस्थितियों में बौद्धिक शुचिता की सम्भावना विवेक रूपी साबुन लगाने से ही हो सकती है । तर्क का पानी और औचित्य की धूप भी इस साबुन के साथ चाहिए तभी हमारी बौद्धिक चादर

में स्वच्छता, शुचिता का समावेश हो सकेगा । आज तो वह बेतरह गन्दी पड़ी हुई है ।

शुचिता का समावेश आचरण में भी पूरी तरह होना चाहिए । हर व्यक्ति ईमानदार, कर्त्तव्यपरायण बने । परिश्रम और ईमानदारी की रोटी पर सन्तोष करे । हराम के धन पर न ललचाए । बेईमानी के हथकंडे स्वीकार न करे । मनुष्यता की गरिमा और मनुष्य की शान तभी अक्षुण्ण रहती है जब भय व प्रलोभनों के आगे झुकना स्वीकार न किया जाय और नीति-न्याय के औचित्य का सम्बल पकड़े हुए सीना तानकर खड़ा रहा जाय । चरित्र मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति है । उसकी रक्षा करते हुए यदि दूसरों की तुलना में गरीबी का, सादगी का; अभाव ग्रस्त जीवन जीना पड़े तो उसे अपनी शान ही समझनी चाहिए । अनीतिपूर्वक बेईमानी अपनाकर यदि कोई धनी बनता है या उन्नतिशील कहलाता है तो वह सारी प्रगति धिक्कारे जाने योग्य है । कर्त्तव्य और औचित्य का पालन करते हुए भले ही कष्टसाध्य जीवन जीना पड़े, पर उस पथ से विचलित न होना ही मनुष्यता की रक्षा कहा जाएगा । उसी का नाम चारित्रिक शुचिता है ।

इन दिनों चारों ओर भ्रष्टता का वातावरण है । बहुसंख्यक अवांछनीय गतिविधियाँ ही अपनाए बैठे हैं और गर्हित तरीके अपनाकर तथाकथित सम्पन्नता एवं सफलता एकत्रित कर रहे हैं । इस प्रवाह में बिना लड़खड़ाए आत्मा की पुकार पर आदर्शवादी बनकर खड़ा रहना सचमुच एक भारी शौर्य है और साहस का प्रमाण देना है । चारित्रिक शुचिता बनाये रहना तीर्थयात्रा ब्रह्मभोज, गोदान जैसे तथाकथित दान-पुण्यों की अपेक्षा हजार-गुना अधिक महत्वपूर्ण धर्म कृत्य है ।

नव-निर्माण के दो सामाजिक आधार हैं-एकता और समता-दो व्यक्तिगत आधार हैं-शुचिता और ममता । भावी देव समाज निर्माण में हर व्यक्ति को सर्वाङ्गीण की महत्ता समझने और समझाने का प्रयास करना चाहिए । शारीरिक, उपकरणात्मक, वातावरणपरक, मानसिक; बौद्धिक, चारित्रिक हर क्षेत्र में अधिकाधिक शुचिता का समावेश किया जाना चाहिए । शुचिता के आदर्श को अपनाकर पवित्र बनी मनुष्यता ही इस धरती पर परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकने मे समर्थ होंगी । इस निर्मलता से जो प्रकाश दीपावली के अवसर पर जलाये गये मिट्टी के नन्हें दीपों की तरह प्रकाशित होगा वह समाज में फैले हुए अज्ञानान्धकार को दूर करके रख देगा । यह सहज सामर्थ्य सृजन के प्रत्येक सैनिक में विद्यमान है । इसे विकसित भर करना है ।

'हम सबके सब हमारे' की आत्म सम्भावना

युग परिवर्तन का दूसरा आधार है-ममता । ममता अर्थात् मेरापन । इस संसार में जो कुछ है सो सब मेरा है यह भावना आत्म-विस्तार की यथार्थ प्रगति का परिचय देती है । थोड़े-से लोगों को, थोड़ी-सी सम्पति को अपनी मानने की संकीर्णता असंख्य अनाचार कुविचारों को जन्म देती है । इसलिए इस सीमित संकीर्णता को लोभ या मोह के नाम से हेय व निन्दनीय ठहराया गया है ।

मेरे अपने तो स्त्री-बच्चे ही हैं और सब तो विराने हैं यह मान्यता विरानों के न्यायोचित अधिकारों का हनन करके अपना चन्द लोगों के लिए अधिकाधिक सुख साधन जुटाने का रास्ता खोलती है । अपनेपन की जो छोटी-सी परिधि स्थापित कर रखी है, उसी में सारी सुख-सुविधाएँ एकत्रित करने को मन चलता है । पाप और अनाचार का आरम्भ यहीं से होता है ।

यदि यह सोचा जाय कि सभी अपने हैं बिराना कोई नहीं । सब में एक ही आत्मा विद्यमान है । अपनी आत्मा ही सब में बिखरी पड़ी है, सभी को अपने जैसा ही सुख-दुःख होता है । दूसरों के दुःख को अपना दुःख समझा जाय और अन्य लोगों के सुख में अपने सुख की अनुभूति समझी जाय तो समझना चाहिए कि ममता का मानवोचित विकास हो चला ।

जिसे मोह कहते हैं, वह ममता का छोटा और सड़ा हुआ रूप है । पानी जब तक बहता रहता है तब तक शुद्ध रहता है, पर जब छोटे गड्ढे में कैद हो जाता है तो वह सड़ने लगता है और अपनी पवित्रता खो बैठता है । इसी प्रकार जब अपने शरीर या परिवार तक ही ममता संकीर्ण कर ली जाती है तब केवल सड़ा हुआ, कुत्सित, गन्दा और भ्रष्ट जीवन जीने का ही एकमात्र विकल्प रह जाता है । स्वभावतः अपनेपन के साथ प्रीति होती है और जहाँ विरानापन रहता है वहीं उपेक्षा बुद्धि काम करती है । यदि अपने शरीर तक ही ममता सीमित है तो फिर दूसरे पशु-पक्षियों का माँस खाने के लिए उन्हें अत्यन्त व्याकुल, विह्वल, कातर होकर करुणाभरी चीत्कार करने का कष्ट सहते देखकर तनिक भी व्यथा नहीं हो सकती ? अपना तो केवल यही शरीर है । दूसरे शरीरों से हमें क्या मतलब, उनके सुख-दुःख से अपना क्या सम्बन्ध । यह संकीर्णता हमें माँसाहार की खुली छूट देती है । इतना ही नहीं उसी आधार पर चोरी, ठगी, शोषण, अनाचार, व्यभिचार करने में तनिक भी संकोच नहीं होता । जो प्यारा लगेगा उसका सुख बढ़ाने, कष्ट मिटाने की भी उत्कट इच्छा होगी । अपने शरीर के लिए ,अपने परिवार के लिए मनुष्य इसी लिए अधिकाधिक सुविधा साधन जुटाता है, कि उनके साथ उसका ममत्व सघनतापूर्वक जुड़ा हुआ है । इसलिए इस छोटे क्षेत्र के लिए हम मरते-पचते रहते हैं कि वहाँ हमने अपनापन जोड़ा हुआ है । यदि यही ममता अधिक बड़े क्षेत्र में विस्तृत हो चले तो फिर जाति भक्ति, प्रान्त भक्ति, सम्प्रदाय भक्ति, वर्ग भक्ति, देश-भक्ति आदि के रूप में विकसित होगी । प्यार वहाँ केन्द्रित होगा जहाँ अपनापन होगा । अपनत्व जितना सघन होगा उतना ही प्रगाढ़ होता जाएगा और फिर उसी अनुपात में उस

सुविधा-असुविधा अपनी प्रतीत होगी । वहाँ का दुःख अपना दुःख प्रतीत होगा और उस क्षेत्र की उन्नति में अपनी प्रसन्नता झाँकती हुई दृष्टिगोचर होगी । यह शाश्वत तथ्य है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता । समाज परायणता में ही व्यक्ति की समग्र सुख-शान्ति और प्रगति सन्निहित है । कोई एकाकी प्रगति करले तो पड़ौस की ईर्ष्या दुर्दशा उसका उपयोग, उपभोग न करने देगी । पड़ौस के छप्पर में आग लगे तो बचेगा अपना घर भी नहीं । घड़ी के पुर्जों की तरह व्यक्ति की निज की सुरक्षा और सुख-शान्ति समाज की प्रगति और समर्थता के साथ जुड़ी है । इसीलिए नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र का एक स्वर से प्रतिपादन यही है कि मनुष्य को समाजनिष्ठ होना चाहिए । तभी उसकी अपनी निज की और समस्त समाज की सुख-शान्ति अक्षुण्ण रह सकेगी ।

यह समाजनिष्ठा कैसे विकसित हो, कैसे वास्तविक हो इसका एक ही उपाय है कि व्यक्ति की आन्तरिक स्थिति को, आत्मीयता को, विस्तृत, व्यापक बनाने वाली चेतना उत्पन्न की जाय । बाहर की टीमटाम से काम नहीं चलेगा । यह प्रतिपादन का नहीं अनुभूति का विषय है । समाज परायणता का, समाज-सेवा का प्रतिपादन करने वाले अनेक समाज-सेवी बाहर से लम्बी-चौड़ी आदर्शवाद की, लोक-मंगल की, जन कल्याण की बातें कहते हैं पर भीतर से उनकी स्वार्थपरता छोटे दायरे में केन्द्रित रहने के कारण वे आचरण ठीक उलटा करते हैं । समाज को दूसरों को बड़ी से बड़ी हानि पहुँचाकर भी वे गुप-चुप अपना स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं, इस विडम्बना का विश्लेषण करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि बौद्धिक दृष्टि से समाज परायणता की बात उनने भली प्रकार स्वीकार कर ली पर जहाँ तक आत्मिक स्थिति का सम्बन्ध है वह जहाँ की तहाँ अविकसित पड़ी रही । प्रेरणा का स्रोत बुद्धि नहीं अन्तःकरण है । अन्तरात्मा जो चाहती है, जो मानती है, उसी के अनुरूप बुद्धि तो साधन जुटा देती है । बुद्धि में निष्कर्ष निकालने भर की शक्ति है, प्रेरणा का उद्गम वह नहीं है । आकांक्षाएँ और आस्थाएँ तो अन्तःकरण में जमा होती हैं शक्ति उन्हीं में रहती है । कर्तृत्व की दिशा वहीं से मिलती है । आत्मीयता का, ममता का, भावनात्मक विस्तार हुए बिना किसी भी व्यक्ति का सच्चे अर्थों में समाजनिष्ठ, परमार्थ परायण होना एक प्रकार से असम्भव ही है ।

युग परिवर्तन के लिए चौथा आधार इस भावनात्मक निर्माण को आवश्यक समझा गया है । इसकी पृष्ठभूमि दार्शनिक एवं आध्यात्मिक हो ही सकती है । हमारी आस्थाएँ यह मानने के लिए अग्रसर हों कि अपनी ममता, एक छोटे से शरीर या परिवार तक सीमित नहीं है । समीपवर्ती होने के कारण लोक-सेवा का एक अंग इस क्षेत्र को मानना है और उसके लिए आवश्यक उत्तरदायित्वों का भी निर्वाह करना है । पर सर्वतोभावेन इसी छोटे दायरे में आबद्ध-अवरुद्ध होकर नहीं बैठ जाना है । प्रेम-भावना और आत्मीयता का क्षेत्र बढ़ाना है, उसे अधिकाधिक विस्तृत करना है । उसे मनुष्य की परिधि से भी आगे बढ़ाकर प्राणिमात्र तक व्यापक बनाना है । सभी मेरे, मैं सभी का, इसी मान्यता को आत्म-विस्तार, आत्म-साक्षात्कार, आत्मदर्शन अथवा भवबन्धनों से मुक्ति कहते हैं, यही जीवन का परम लक्ष्य है । अपूर्णता का अन्त इसी पूर्णता में मिलने पर ही होता है ।

जिसे सब अपने लगेंगे यह अपनों के साथ अनीति नहीं बरतेगा, उन्हें दुखी नहीं करेगा । उनके दुःख अपने दुःख प्रतीत होंगे और दूर करने के लिए वैसी ही तड़पन उत्पन्न होगी, जैसी अपने शरीर की व्यथा दूर करने के लिए होती है । समस्त सत्कर्मों का परमार्थ प्रयोजनों का स्रोत यही है । इस अन्तःप्रेरणा की पूर्ति के लिये किए गए समस्त कार्य पुण्य बन जाते हैं । अपने शरीर को, परिवार को सुखी बनाने में कौन कुछ कमी छोड़ता है ? यह प्रवृत्ति व्यापक बनकर जब समस्त समाज को सुखी बनाने के लिए अग्रसर होती है तो फिर दुष्कर्म कर सकना सम्भव नहीं रहता । जो भी किया जाता है फिर उसका स्वरूप स्वभावतः लोकमंगल ही बन जाता है ।

भावपूर्ण मनोभूमि में की हुई सेवा-साधना आन्तरिक आनन्द और उल्लास का भी अभिवर्द्धन करती है और उससे आत्मा का स्तर भी उत्कृष्टतम होता जाता है । इसके अभाव में समाज सेवी कहलाने वाले काम यदि यश कामना या आर्थिक लाभ के उद्देश्य से किये जाए तो उन तथाकथित समाज कल्याण के कामों की लकीर पीटते रहने पर भी अन्तरात्मा में किसी उल्लास-आनन्द की अनुभूति नहीं होती । इतना ही नहीं यदि यश या धन इच्छानुरूप न मिले तो उन कामों को छोड़ने में ही नहीं बिगाड़ने तक में संकोच नहीं होता । निर्धारित मात्रा पूरी करना भी भार प्रतीत होता है । जबकि आत्मिक स्तर पर ममता की प्रेरणा से किए हुए सेवा कार्यों में अधिकाधिक मनोयोग के साथ-अधिक समय तक करते हुए उत्साह, सन्तोष अनुभव होता रहता है । भावना के अनुरूप उन कार्यों का परिणाम, प्रभाव भी होता है ।

ममता का परिष्कार सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्द्धन करेगा तथा परस्पर आत्मीयता के अति गहरे सम्बन्ध स्थापित करेगा । आत्मीयता और सेवा-सहायता की मात्रा बढ़ाकर ही पारस्परिक सम्बन्धों में सरसता आ सकेगी । शुभ-कर्मों के लिए भावनात्मक सरसता का समन्वय कितना श्रेयस्कर होगा इसे हम कल प्रत्यक्ष देखेंगे ।

हम एक बनेंगे—नेक बनेंगे

एकता का अर्थ है-बिखराव की प्रवृत्ति को दूर कर केन्द्रीकरण की दिशा में अग्रसर होना । व्यक्तिगत अहन्ता एवं स्वार्थपरता को घटाते चलने और समष्टि के विकास में अपना भाग लेकर सन्तुष्ट रहने की प्रवृत्ति हमें एकता की ओर ले जाती है और इसी दिशा में चलते हुए, (वसुधैव कुटुम्बकम्) का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है ।

सब हमारे और हम सबके इसी का नाम अध्यात्म है । इसी को 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की मान्यता कहते हैं, यही अद्वैत वेदान्त का चरम लक्ष्य है ।

तथ्य यही है कि हम सब एक ही समान सूर्य की पृथक दीखने वाली किरणें मात्र हैं । घड़ी के पुर्जे होते अलग-अलग अवश्य हैं पर यदि हर पुर्जा अलग-अलग आपा-धापी करे-अपनी अहन्ता अलग सँजोये तो फिर घड़ी का चलना बन्द ही हो जायगा, साथ ही उस पुर्जे की भी छदाम कीमत न रहेगी । शरीर के सभी अंग-प्रत्यंग मिलजुल कर काम करते हैं तो काया भी जीवित रहती है और अवयवों की भी प्रतिष्ठा है । पर यदि सब अंग अलग-अलग अपने स्वार्थों की खींचतान करें, सहयोग से हाथ खींच लें तो फिर शरीर तो मर ही जाएगा साथ ही उन स्वार्थी अवयवों को भी कुछ लाभ न मिलेगा । वे सब या तो जमीन में गढ सकेंगे या फिर आग में जलकर खाक बन जाएँगे । सभी जानते हैं कि तिनके मिलकर रस्सी बनी है, बूँदें मिलकर समुद्र बनता है यह एकता नष्ट हो जाए, सब पर अपना-अपना स्वार्थ और लालच सवार हो जाय, तो समुद्र तो सूखेगा ही बचेंगी बूँदें भी नहीं । रस्सी का अस्तित्व तो न रहेगा पर वे तिनके भी कहीं खाई-खड्डे में खाद-कूड़े बन जाएँगे ।

मनुष्य को मनुष्य से अलग करने वाली सभी दुष्प्रवृत्तियों और संकीर्णताओं का अन्त किया जाना चाहिए । ताकि लोग परस्पर एकता का, घनिष्टता का अनुभव कर सकें । एक दूसरे के अधिकाधिक निकट आ सकें । वर्ग भेद उत्पन्न करने वाली हर प्रवृत्ति को निरुत्साहित किया जाना चाहिए । जाति, वर्ण, भाषा, देश, धर्म, संस्कृति आदि के नाम पर इतने विभेद पिछले दिनों खड़े कर दिए गए हैं कि उनने न केवल आदमी के बीच खाई खोदी है वरन् परस्पर एक दूसरे को बिराना, अपरिचित, विरोधी और शत्रु भी बना दिया है । जब तक यह दीवारें गिराई नहीं जायेंगी, प्रथकतावादी संकीर्णता के रक्त रंजित पंजे मनुष्य की छाती में गढे ही रहेंगे ।

भाषा को ही लीजिए । यदि संसार में हजारों भाषाएँ नहीं, सब लोग एक भाषा बोलें, एक लिपि में लिखें ? तो ज्ञान के आदान-प्रदान में जो भारी बाधाएँ उपस्थित है वे एक भी न रहें । एक विद्वान का प्रतिपादन एक भाषा में छपने के कारण समस्त विश्व में एक ही दिन में सरलतापूर्वक उपलब्ध हो जाएँ । अनुवाद की तनिक भी कठिनाई न रहे । किसी देश का निवासी किसी देश में पहुँच कर वहाँ अपना अनुभव करे, धड़ल्ले से बात-चीत करे, सीखे-सिखाए । अनेक भाषाओं के कारण मनुष्य समाज छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटा पड़ा है । अपने ही भाषा क्षेत्र में कूप मण्डूक की तरह टर्राता रहता है । विश्व को 'एक भाषा हुए बिना विश्व परिवार का स्वप्न साकार कैसे हो सकता है । जब भाषा की दीवार शिक्षित व्यक्तियों को भी गूँगे-बहरे की तरह एक दूसरे को समझने में असमर्थ रख रही है तो फिर निकटता और एकता कैसे सम्भव होगी ।

यदि हमें मानवी एकता का लक्ष्य प्राप्त करना है और ज्ञान की परिधि को विश्वव्यापी बनाना है तो एक विश्व भाषा बनाये बिना काम चल ही नहीं सकता । आरम्भ में एक क्षेत्रीय भाषा इस प्रकार से भी रह सकती है पर उन दोनों को ही सीखना अनिवार्य होना चाहिए । पीछे क्षेत्रीय भाषाओं का झंझट मिटाया जा सकता है और दुहरा वजन ढोने से इनकार भी किया जा सकता है ।

एक भाषा की तरह एक विश्व राष्ट्र होना भी आवश्यक है । छोटे-छोटे जमीन के टुकड़ों को लेकर देश-भक्ति की मदिरा पिये हुए उन्मत्त राजनीतिज्ञ एक दूसरे पर हमला करने और शोषण करने से नहीं चूकते । एक देश की जनता को दूसरे देश की जनता का शत्रु घोषित करते हैं । क्षेत्रीय स्वार्थों को लेकर कूटनीतिक शोषण की शतरंज बिछाते हैं । अब तक न जाने कितने युद्ध इस धरती पर इसी कारण हुए और कितनी बहुमूल्य प्रतिभाएँ इसी विभेद की आग में जलकर नष्ट हो गई हमें एक विश्व राष्ट्र का निर्माण करना होगा । भौगोलिक आधार पर देशों का नया विभाजन होगा और वे केवल प्रान्तों की तरह विश्व राष्ट्र के अंग होंगे । यह देशों का वर्गीकरण केवल यातायात, जलवायु जैसी सुविधा के कारण होंगे । उनके बीच अपने-पराये की कोई प्रतिद्वन्द्विता न होगी । विश्व के प्राकृतिक साधनों का उपयोग समस्त मानव जाति मिल जुलकर करेगी । अफ्रीका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि में खाली जमीन पड़ी है और भारत, चीन जैसे घने देशों की आबादी को कितना पिच-पिच रहना पड़ रहा है । विश्व राष्ट्र भूमि और आबादी का तारतम्य मिलकर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती कि सबका कौटुम्बिक एकता के आधार पर भूमि, खनिज, पशुधन सम्पदा आदि का समान रूप से लाभ मिल सके । मतभेदों को विश्व न्यायालय तय करेगा । गड़बड़ी को विश्व सेना रोकेगी । प्रान्तों में स्थानीय पुलिस भर रहेगी । चुनाव परोक्ष होंगे । ग्राम समितियाँ क्षेत्रीय समितियों का, क्षेत्रीय, प्रान्तीय शासन समिति का और राष्ट्र विश्व शासन का चुनाव करेंगे । चुनावों में खड़े होने वाले प्रतिनिधियों के लिए उनके पिछले क्रियाकलाप की उत्कृष्टता के आधार पर ही प्रामाणिकता मिलेगी । हर कोई चुनाव लड़ने के लिए खड़ा न हो सकेगा । उनकी प्रामाणिकता और उपयुक्तता की जाँच-पड़ताल एक परखे हुए अति उच्चस्तर के व्यक्तियों की समिति ही करेगी और उसके द्वारा प्रमाणित होने पर ही कोई व्यक्ति चुनाव लड़ सकेगा । इस प्रकार सीमित किन्तु परिष्कृत स्तर का प्रजातन्त्र प्रजा की उच्च भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर सकेगा । कानून सरलतम बनेंगे । अपराधियों के साथ 'अधिक कठोरता बरती जाएगी ताकि वैसा दुस्साहस दूसरे लोग करने की हिम्मत न करें । हर व्यक्ति को शिक्षा, चिकित्सा एवं आजीविका के साधन उपलब्ध करना शासन का कार्य होगा । व्यक्ति सामर्थ्यानुसार कार्य और आवश्यकतानुसार लेंगे । पूँजी पर स्वामित्व समाज का विश्वशासन का होगा ।

विश्व धर्म एक होगा । नीति, सदाचार, कर्तव्य, गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता, आदर्शवादी चरित्रनिष्ठा यही चिन्तन प्रक्रिया धर्म का मूलभूत आधार होगी । इन तथ्यों को दार्शनिक ढंग से समझाने और उन्हें व्यवहार में लाने की विधिव्यवस्था, रीति-नीति समझाना धर्म प्रधान उद्देश्य होगा ।

पुराने धर्म ग्रन्थों एवं धर्म संस्थापकों के उतने ही अंश ग्राह्य किये जाएँगे जो विश्व धर्म की आवश्यकता पूरी करते हैं । एकता, समता, ममता और शुचिता का सत्य सनातन धर्म जितना जिस सम्प्रदाय का आचार्य पैगम्बर द्वारा समर्पित होगा उतना एकत्रित करके यह सर्व धर्म समन्वय का एकतापरक स्वरूप बनेगा । विभेद एवं बुद्धि भ्रम उत्पन्न करने वाले सभी प्रतिपादक असामयिक समझकर उपेक्षित कर दिये जाएँगे । इस प्रकार यह प्राचीनतम और नवीनतम सार्वभौम धर्म प्रत्येक मनुष्य के लिए समान रूप से उपयोगी होगा । लोग एक ही विश्व धर्म मानेंगे । इसे मानव धर्म या सत्य धर्म भी कहा जा सकेगा ।

एक संस्कृति के अर्थ हैं-क्या परम्परा, रहन-सहन, आहार-विहार, वस्त्र की एकता, समस्वरता । एक तरह के वस्त्र-पोशाक, रीति-रिवाज, खान-पान, खेल-कूद आदि के कारण समय की और धन की बहुत ही बर्बादी बच सकती है । एक-सी वेष-भूषा में रहने से भेद बुद्धि पैदा नहीं होती । सैनिकों में, स्कूल के विद्यार्थियों में पोशाक की समानता जहाँ सुन्दरता पैदा करती है वहाँ कपड़ों के आधार पर नीच-ऊँच की विषमता से भी बचाती है ।

एक ही स्थान पर तरह-तरह के रस्म, रिवाजों की क्या आवश्यकता ? विभिन्न वर्गों के विभिन्न रीति-रिवाज पारस्परिक विभेद को ही बढ़ा सकते हैं । उन्हें घटाते हुए अनेकता को एकता में परिणित करने के लिए ही हमारे प्रयास चलने चाहिए । सांस्कृतिक एकता जितनी घनिष्ट होगी उतना ही हम यह अनुभव करने लगेंगे कि हम सब वस्तुतः एक ही घर परिवार के सदस्य हैं ।

एक राष्ट्र, एक धर्म, एक भाषा, एक संस्कृति को आधार बनाकर ही हम सर्वतोमुखी घनिष्ट एकता की ओर अग्रसर हो सकते हैं । यह एकता नवयुग का महत्वपूर्ण आधार होगी ।

समता की सर्वतोमुखी प्रतिष्ठापना

नवयुग निर्माण का चौथा आधार है-समता । मनुष्य और मनुष्य के बीच न्यूनतम अन्तर रहने दिया जाय । सभी को एक जैसी स्थिति में रहने का अवसर मिले । इससे न अहंकार बढ़ेगा, न ईर्ष्या । जिनके पास विपुल सम्पदा होती है वे उसका उपयोग कर अपनी सुख-सुविधाओं को अत्यधिक बढ़ा लेते हैं । दूसरों से अपनी तुलना करते हैं तो गर्व करते हैं । इससे अहंकार बढ़ता है और अपने से छोटों के साथ दर्पपूर्ण व्यवहार किया जाने लगता है । वैसी स्थिति में सामान्य अभावग्रस्त लोगों को भी वैसी ही सुविधा प्राप्त करने का मन चलता है । वैसा सर्वसुलभ नहीं होता । अस्तु, ईर्ष्या का सिलसिला चलता है । सब लोग ठीक से रह रहे हैं, उससे अत्यधिक ऊँची सुख-सुविधाओं का कोई उपभोग करे तो उसके प्रति ईर्ष्या जागना मनुष्य का स्वभाव है । इससे ईर्ष्यावश शत्रुता बढ़ती है । चोरी, डकैती, लूट, हत्या जैसी अनैतिक घटनाएँ घटती हैं । सम्पन्न व्यक्ति जैसी सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए साधारण लोग जब उचित मार्ग अवरुद्ध देखते हैं तो अनुचित को अपना बैठते हैं और छल, ठगी, बेईमानी, झूठ, कपट आदि की अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ पनपती हैं । इस प्रकार की बुराइयों का जन्म आर्थिक असमानता के कारण होता है । सम्पन्न व्यक्ति अनेक प्रकार के व्यसन तथा उद्धत आचरणों से ग्रस्त हो जाते हैं ।

अस्तु, आर्थिक समानता को मनुष्य समाज की सुख-शान्ति और प्रगति के लिए नितान्त आवश्यक माना गया है । ऊँची दीवार तभी उठती है कहीं जब गड्ढा खोदकर वहाँ की मिट्टी उठा दी जाती है । इस संसार में साधन उतने ही हैं जितने से हर किसी को अपनी सामान्य आवश्यकताएँ पूरी करने का अवसर मिलता रहे । यदि कुछ चतुर व्यक्ति धनी, अमीर बनने के लालच में देश की औसत स्थिति से अधिक सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं तो इसका परिणाम किन्हीं भोले लोगों को दुःखी और अभाव ग्रस्त जीवन बिताने के लिए विवश होना पड़ेगा । सज्जनोचित परम्परा यही रही है कि यदि किसी के पास अतिरिक्त आय के स्रोत हैं, तो उसमें से उपयोग-उपभोग उतना ही करे जितना कि उस समाज के औसत आदमी को उपलब्ध है । शेष को दान के रूप में समाज को वापस लौटा देना चाहिए । यह प्रथा जब से बन्द हुई, लोग लालचवश अधिक संग्रह करने और उसका विलासिता में अधिक उपयोग करने लगे तो समाज में अनेक प्रकार के विप्लव, उपद्रव खड़े हो गए ।

ईर्ष्या रहित, अहंकार रहित जीवनक्रम रह सके इसके लिए आर्थिक एकता आवश्यक है । मनुष्य की उपयोगिता के अनुरूप उसे थोड़ी अधिक सुविधा की रियायत दी जा सकती है पर वह अन्तर अनुपात में इतना ही होना चाहिए जितनी हाथ की ऊँगलियों में होता है । अति अमीर और अति गरीब के बीच की खाई कभी भी किसी समाज मे, सौजन्य और शान्ति नहीं रहने दे सकती । चाहे साम्यवादी पद्धति से मनुष्य को बलात् विवश किया जाय कि वह आवश्यकतानुसार लेने और सामर्थ्यानुसार काम करने की सर्वोपयोगी विधि व्यवस्था का पालन करे, चाहे अध्यात्मवादी-अपरिग्रही आदर्श स्वेच्छापूर्वक अपनाने की सादगी का, देश के सामान्य नागरिक स्तर का, निर्वाह करते हुए जो बचे उसे बिना किसी अहंकार या विज्ञापन के विशुद्ध कर्तव्य बुद्धि से समाज को दानरूप में लौटा दे । पद्धति कोई भी क्यों न हो, दोनों का निष्कर्ष एक है । आर्थिक समानता की व्यवस्था बनाये बिना आये दिन

असंख्य प्रकार के अवांछनीय उपद्रवों को उठते रहना रोका न जा सकेगा ।

समता का दूसरा स्तर है-मानवीय अधिकारों की समानता । नर और नारी भगवान की दो भुजाएँ हैं-दो आँखें हैं । उनका अधिकार और कर्त्तव्य समान है । इन दोनों में न कोई वरिष्ठ है न कनिष्ठ, दोनों के बीच जिम्मेदारियाँ और कर्त्तव्य मर्यादाएँ समान होनी चाहिए । नर खेत, बाजार में उपार्जन करता है तो नारी भी घर के क्षेत्र में रहकर चौकीदारी, पाठशाला, धुलाई, सिलाई, शिशु-पालन, सेवा-सुश्रूषा आदि के अनेक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व सँभालती है, जिसका आर्थिक मूल्यांकन किया जाय जो वह नर के अर्जन से किसी भी प्रकार कम नहीं बैठता । प्रेम के बन्धनों में बँधे हुए दोनों परस्पर एक दूसरे को बड़ा और अपने को छोटा मानें यह नम्रता और महानता का चिह्न है । पर पुरुष नारी को अपने से हेय और छोटा माने यह अनुचित है । फिर सामाजिक नियम कर्त्तव्य और मर्यादाओं में अन्तर बरता जाय यह तो सरासर अन्याय है ।

पर्दा, घूँघट यदि व्यभिचार से बचाने वाला और पतिव्रत धर्म का चिह्न है, तो उसी नियम को पुरुष भी पालन करे, क्योंकि उसके लिए भी पत्नीव्रत एवं कुदृष्टि इतनी ही अनिवार्य है । पर्दा, घूँघट दोनों ही करें तो कम से कम उसे न्यायानुकूल निष्पक्ष तो कहा जा सकेगा । स्त्रियों पर ही वह बन्धन लागू हो और पुरुष पर न हो वहाँ यह न्याय की स्पष्ट रूप से हत्या है । इसी प्रकार विवाहों के सम्बन्ध में भी एक ही मर्यादाएँ दोनों के लिए रहनी चाहिए । यदि एक साथ दो या अधिक पत्नियाँ रखने की पुरुष छूट चाहता हो तो वैसी ही प्रथा-परिपाटी नारी के लिए भी प्रचलित कर देनी चाहिए । यदि विधुर को पुनः विवाह में कोई बन्धन न हो तो विधवा के लिए भी वैसी ही सुविधा मिलनी चाहिए ।

कन्या और पुत्र के बीच का भेदभाव मानवीय नैतिकता के सर्वथा विरुद्ध है । पुत्र को घर का दीपक और कन्या को पराये घर का कूड़ा क्यों समझा जाना चाहिए ? हमें भी माता और पत्नी ने ही जीवन जीने तथा सुविधा सम्पन्न रहने का अवसर दिया है । नारी को नर से कम नहीं अधिक ही सम्मान मिलना चाहिए ।

एक स्वार्थ, एक केन्द्र, एक लक्ष्य, एक आधार से सम्बद्ध होकर हम चलें तो भिन्नता उत्पन्न करने वाले सारे बंधन टूटते हुए चलें जाएँगे । मनुष्यों की एक जाति है । घोड़ों की एक जाति, गायों की एक जाति, कबूतरों की एक, सारस एक जाति के फिर मनुष्य की एक जाति क्यों नहीं ? व्यवसाय के आधार पर वर्ग बने । यह बात समझ में आती है । श्रमिक, सैनिक, साहित्यकार, वैज्ञानिक, शिल्पी आदि की जातियाँ कही जा सकती हैं । समान रुचि और समान अनुभव होने से वे किसी विशेष प्रयोजन के लिए एकत्रित भी होते रह सकते हैं । पर इतने कारण को विभेद उत्पन्न करने वाला नहीं बनने दिया जा सकता । एक पिता के चार बेटे हों और वे चार प्रकार के अलग-अलग व्यवसाय करें तो उनकी एकता में, समता में कोई अन्तर नहीं आता ।

पाश्चात्य देशों में गोरी चमड़ी और काली चमड़ी के नाम पर वही नीच-ऊँच की मान्यता प्रचलित है, जो भारत में सवर्ण और असवर्णों के बीच । भारत में तो इस विभेद की अति ही हो चली है । ब्राह्मण-ब्राह्मण के बीच भी ऊँच-नीच है और अछूत-अछूत के बीच छूतछात है । आदमी-आदमी के बीच छोटाई-बड़ाई हो सकती है पर उसका आधार गुण, कर्म, स्वभाव, सेवा, सदाचार, परमार्थ जैसी उत्कृष्टताएँ होनी चाहिए । किसी को नीच तो माना जा सकता है पर उसका कारण उसकी दुष्टता, दुर्बुद्धि ही होनी चाहिए जन्म, जाति, वंश के रूप में सभी ब्रह्माजी के पुत्र, मनु की सन्तान हैं ।

शास्त्र, समाज, धर्म और व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह समानता की समान सुविधाएँ उत्पन्न करे । हर व्यक्ति अपनी योग्यता और सामर्थ्य का पूरा-पूरा लाभ देने के लिए बाध्य रहे । यह कर्त्तव्य-निष्ठा भले ही भावनात्मक स्तर पर अध्यात्म द्वारा उत्पन्न की जाए, भले ही शासन उसके लिए कठोर प्रतिबन्ध लगाये । तरीका जो भी हर मानव प्राणी को पूरा श्रम करने और उपलब्ध साधनों के उपभोग करने का पूरा अवसर मिलना चाहिए ।

राजकीय अधिकारियों, सम्पन्न व्यक्तियों तथा दूसरे सत्ताधारियों को उनके सत्ता आतंक के कारण कोई सम्मान लाभ न लेने दिया जाय । अतिरिक्त सम्मान प्राप्त करने का अवसर केवल समाज के प्रति किए गए सेवा कार्यों तथा प्रस्तुत किये गये आदर्श, आचरणों के आधार पर ही मिलना चाहिए । वैभव के आधार पर किसी को सम्मान प्राप्त करने का जाल, रचना अथवा दब्बू प्रकृति के लोगों द्वारा उन्हें सम्मानित किया जाना भी रुकना चाहिए अन्यथा लोग किसी भी प्रकार अमीर या सत्ताधारी बनकर सम्मान प्राप्त करने की अपनी लालसा तृप्त करेंगे और आदर्शवादी लोगों का हक मारा जाएगा ।

अतिरिक्त सम्मानास्पद स्थिति धन, पद, लिंग, जाति के आधार पर किसी को न मिल सके । कोई अनुचित रीति से अपने लिए इन आधारों पर अनुचित सुविधाएँ तथा सम्मानित स्थिति प्राप्त न कर सके, इसके लिए हमें उपयुक्त वातावरण बनाना चाहिए ।

सृजन सेना तीन मोर्चों पर लड़ेगी

युग निर्माण परिवार के सदस्य जब तक सदस्यता की प्राथमिक शर्त पूरी करने तक सीमित रहते हैं तब तक उन्हें परिजन कहा जाता है । बीस पैसा नित्य नियमित रूप से निकालने की प्रक्रिया ज्ञान घट के चलाते रहने से जो पैसा इकट्ठा होता है उससे वे मिशन की पत्रिकाएँ तथा पुस्तकें मँगाते रहते हैं । इस प्रकार उनका घर ज्ञान मं...

पुस्तकालय के रूप में विकसित होता चला जाता है । इन्हें वे स्वयं पढ़ते हैं । अपने परिवार के सदस्यों को पढ़ाते या सुनाते हैं तथा पड़ौस-परिचय क्षेत्र में इसे पढ़ने देने, वापस लेने का क्रम चलाते हैं । यह प्रत्येक परिजन द्वारा अपनाई जाने वाली आवश्यक प्रक्रिया है । यदि इतना भी न बन पड़े तो उन्हें मिशन का समर्थक सहयोगी मात्र माना जा सकता है-सदस्य या परिजन नहीं ।

आशा की जाती है कि प्रत्येक परिजन सदस्यता की शर्त पूरी करने तक ही सीमित न रहेगा वरन् आगे चढ़कर समाज रचना में योगदान देगा प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक कार्यक्रमों मे भाग लेगा, उन्हें गतिशील बनाने के लिए अधिक त्याग-बलिदान प्रस्तुत करेगा । जब उस स्तर की उमंग उत्पन्न होने लगे और सक्रियता में प्रखरता आने लगे तो उसे अग्रगामी माना जाएगा । युग निर्माता कहा जायगा और सृजन सेना के सैनिकों की पंक्ति में गिना जायगा

यों फौजी सैनिकों की तरह कोई संगठन खड़ा करना अपना उद्देश्य नहीं है । सद्भावनाओं का, सत्प्रवृत्तियों का सृजन अपना लक्ष्य है । इस उद्देश्य को जिन्होंने अपने आवश्यक नित्य कर्मों में सम्मिलित कर लिया है, उन्हें अपने शरीर और परिवार की तरह ही नवयुग के अनुरूप वातावरण का सृजन करने में उत्साह है, उन्हें उनकी कर्मठता के अनुरूप सृजन सेना का सैनिक ही कहा जाएगा । अपनी परिभाषा के अनुसार सभी कर्मठ कार्यकर्त्ताओं को सृजन सेना का सैनिक माना जाता है । कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व की गरिमा की दृष्टि से उन्हें इस सम्मान से सम्मानित किया जाता है ।

परिवार के प्रत्येक परिजन को सृजन के सैनिक के रूप में परिणित होने का प्रयत्न करना चाहिए । मिशन को-कार्यकर्त्ताओं की प्रगति को इसे एक महत्वपूर्ण उपलब्धि गिना जाएगा ।

युग निर्माण योजना की कार्यपद्धति तीन भागों में, विभक्त है । (१) प्रचारात्मक (२) रचनात्मक (३)संघर्षात्मक । सेना को तीन भागों में विभक्त किया जाता है थल सेना, (२) जल सेना और (३) वायु सेना तीन साधनों से संयुक्त सेना ही सर्वाङ्गीण पूर्ण सेना कहलाती है । इसमें से कोई एक अंग ही किसी देश के पास हो तो उसे सैन्य दृष्टि से अपूर्ण ही माना जाएगा ।

जनमानस का परिष्कार भी एक महाभारत है, धर्म युद्ध है उसे कुरुक्षेत्र में कृष्ण के मार्गदर्शन और अर्जुन के पुरुषार्थ से लड़ा जायगा । भगवान् कृष्ण ने पाञ्चजन्य शंख बजाकर युद्ध की घोषणा की थी और उसके लिए शौर्य, साहस का संचार किया था । अर्जुन ने गाण्डीव उठाकर शर सन्धाने थे । पुरुषार्थ और प्रयत्न, त्याग और बलिदान का इस पक्ष में उदय हुआ था । गीता का ज्ञानयोग और अर्जुन का कर्मयोग एक स्थान पर लाकर खड़ा किया गया था, दोनों का समन्वय किया गया था । द्वापर के अन्त में जो हुआ था उसी की पुनरावृत्ति आज फिर हो रही है । जनमानस धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र है । ज्ञान, भूमिका और कर्म भूमिका के समस्त सूत्र इसी केन्द्र में समाविष्ट है । यहाँ कौरवों का साम्राज्य है । अगणित दोष-दुर्गुण, अनाचार कुविचार सौ असुरताओं का यहाँ बोलबाला है । मानवता की, नैतिकता की, दूरदर्शिता की, धर्मनिष्ठा की, पुरुषार्थ की पाँचों पाण्डवों की एक ही पत्नी द्रोपदी, संस्कृति आज भरी सभा में नंगी की जा रही है । किसी एक देश पर नहीं समस्त विश्व पर सुशासन उठ गया । कहीं रामराज्य, धर्मराज्य दिखाई नहीं पड़ता सर्वत्र दुष्प्रवृत्तियों का दुःशासन अपना आधिपत्य जमाए बैठा है । इन परिस्थितियों में महाभारत के अतिरिक्त और क्या उपाय रह जाता है । शस्त्रों से नहीं भावनाओं से लड़ा जाने वाला यह महा अभियान प्रकारान्तर से समूल महाभारत की सूक्ष्म पुनरावृत्ति ही है ।

किसी समय का यह सुरम्य नन्दन वन आज झाड़-झंखाड़ों से कंटकाकीर्ण और कुरूप स्थिति में हिंस्र पशुओं का स्थल दुर्गम और अति भयानक अरण्य बना बैठा है । इसे पुनः पूर्व स्थिति में लाना है । भूमि-शोधन, बीज वपन, सिंचन, संरक्षण जैसी कर्मठ और कुशल माली द्वारा अपनाई जाने वाली सभी गतिविधियाँ क्रियान्वित करनी हैं । यही है अपनी कार्यपद्धति, योजना और तैयारी ।

जन मानस-देव मन्दिर में उलूक और चमगादड़ बस गये हैं, उसमें खरपतवार उग आये हैं, काँटे और कंकड भर गये हैं, उन्हें उखाड़ना, उड़ाना पड़ेगा और भूमि को जोतकर इस योग्य बनाना पड़ेगा कि उसमें जो फल-फूलो के वृक्ष गुल्म लगाये जा सकें, वे उग और बढ़ सकें ।

पिछले दो हजार वर्ष के अज्ञानान्धकार के युग ने हमारे चिन्तन की धारा को बेतरह विकृत किया है । उसी के कारण यह समर्थ देश इतना दुर्बल हो गया कि केवल १५ हजार आक्रमणकारी इस इतने बड़े देश पर एक हजार वर्ष तक निर्भय और नृशंस आधिपत्य जमाये रहने में सफल हो सके । दो विश्व युद्धों को छेड़ने के कारण जर्मनी को दो बार पराधीन बनना पड़ा पर वह हर बार कुछ ही दिन में उस पराधीनता पाश से मुक्त हो गया । जापान, इटली आदि भी पराधीनता पास को अधिक समय स्वीकार न कर सके और स्वतन्त्र हो गये । भारत एक हजार वर्ष तक गुलाम रहा, इसमें आक्रमणकारियों की बलिष्ठता कारण नहीं अपनी दुर्बलताएँ ही मुख्य कारण थीं, जिनने देश को एक केन्द्र पर केन्द्रित और संगठित नहीं होने दिया ।

कभी इस देश का एक धर्म था, एक शास्त्र, एक उपास्य, एक संस्कृति थी, एक परम्परा थी, पर सम्प्रदायवादियों ने इस एकता को हजारों टुकड़ों में काट कर फेंक दिया । मत-मतान्तर का जाल इस बुरी तरह बिछा कि जनमानस परस्पर विरोधी विचार-धाराओं में घसीटे जाने के कारण भ्रमित और किंकर्त्तव्यविमूढ हो गया । अनेक सम्प्रदाय, अनेक मन्त्र, अनेक ग्रन्थ, अनेक देवता, अनेक विचार, अनेक आचार, अनेक जाति की अनेकता-खेल, विनोद के रूप में ही नहीं फैली अपने साथ अन्धविश्वासों और मूढ़-मान्यताओं का एक सुविस्तृत

जंजाल भी लेकर आई और उसमें सारा समाज बुरी तरह जकड़ गया।

दोष उन सम्प्रदाय प्रवर्तकों का है जिनने अपनी अलग शिष्य मंडली बनाने और अपनी अतिरिक्त अलग प्रभुसत्ता स्थापित करने की सनक में पूर्व मान्यताओं के विपरीत अपने नए-नए प्रतिपादन खड़े किए और अपनी बौद्धिक प्रखरता से भोले लोगों के मनों में बिठाया। बात गुरु चेले तक रहती तो भी बनी रह सकती थी, पर अपनी प्रथकता का औचित्य सही करने के लिए, अपने वंशधरों के लिए आजीविका के स्थायी स्रोत खोलने के लिए ऐसी मूढ़-मान्यताएँ प्रचलित की गईं जिनने उनका प्रयोजन तो पूरा कर दिया पर साथ ही अनैतिक और अवांछनीय अन्धविश्वासों में भटका दिया। आज अगणित अनैतिकताएँ और मूढ़-मान्यताएँ हमारी धर्म-परम्परा बनी हैं फलतः हम समस्त साधनों से सम्पन्न होते हुए भी दिन-दिन दुर्बल होते चले जा रहे हैं।

एक चौथाई जनता के मानवोचित नागरिक अधिकार छीन लिए गए, उन्हें अछूत, अंत्यज घोषित कर दिया गया। आधी जनता नारी समाज के रूप में पर्दा प्रथा में जकड़ कर अपंग बना दी गई और उसके लिए ऐसे प्रतिबन्ध गढ़े गये मानो वह मनुष्य न होकर मनुष्येतर किसी पशु जैसे वर्ग का सदस्य हो। रिश्वत और खुशामद से किसी भी अनैतिक कार्य में मदद देने वाले देवता खड़े कर दिये गये और उनके द्वारा मारण, मोहक, उच्चाटन, वशीकरण जैसे घृणित कर्मों में सहायता की आशा दिलाई गई। देव शक्तियों को निष्ठुर, निर्दय, क्रूर और रक्त पिपासु गढ़ा गया और उन्हें निरीह पशुओं की बलि खिलाकर इस बात का रास्ता साफ किया गया कि अपने स्वार्थ के लिए कोई भी कुछ कर सकता है। दया-धर्म का कोई बन्धन नहीं है। भाग्यवादी मान्यता से जिनसे कहा जाता है, सब कुछ पूर्व निश्चित है, प्रारब्ध ही सब कुछ कराता है, मनुष्य को बौद्धिक पराधीनता में जकड़ देने की लौह श्रृंखला है। जाति और उपजातियों के विभेद जिनके कारण एक ही समाज के लोग परस्पर रोटी-बेटी का व्यवहार करना तो दूर परस्पर एक दूसरे को छू भी नहीं सकते। कितने ही बड़े पाप किए जाएँ। गंगा स्नान, देव दर्शन, कथा श्रवण जैसे छुट-पुट सस्ते कर्मकाण्डों द्वारा ही उनके परिणाम भुगतने से छुटकारा मिल सकता है आदि ऐसी अगणित मान्यताएँ धर्म स्तर से प्रचलित की गईं जिनका प्रभाव हमारी नैतिकता, विचारशीलता और सामाजिकता पर अत्यन्त घातक रूप से पड़ा और हमारी सभी स्वस्थ परम्पराएँ लड़खड़ा गईं, एक दुर्बल सृष्टि और पतित समाज के रूप में परिणित हो गई। अभी भी हम उसी मानसिक भ्रम जंजाल में उलझे हुए उन्हें ही सनातन परम्परा मान रहे हैं। विवेक की कसौटी-पर सर्वथा खोटी सिद्ध होने पर भी हमारी मूढ़-मान्यताएँ जहाँ की तहाँ जमी बैठी हैं, हटने का, खिसकने का नाम नहीं लेतीं।

जिस समाज का दर्शन भ्रष्ट हो जाता है उसे पतित-पराधीन ही बनकर रहना पड़ता है। यह तथ्य हमारे सामने स्पष्ट है। हमें अपने मनःक्षेत्र को फिर से जोतना पड़ेगा। उसके झंखाड़ उखाड़ने पड़ेंगे। अवांछनीय पूर्वाग्रहों को विदाई देनी पड़ेगी। तब यह भूमि इस योग्य होगी कि उस पर प्रगतिशीलता, विवेकशीलता बोई जा सकेगी और समृद्धि तथा विभूतियों की समर्थता और प्रखरता की फसल उगाई जा सके। युगनिर्माण योजना का यह प्रथम चरण ही ज्ञान यज्ञ है। इसे बौद्धिक क्रान्ति नाम दिया जा सकता है। भावनात्मक नव-निर्माण का आरम्भ यहीं से होता है कि जनसाधारण को अपनी मान्यताओं के सम्बन्ध में स्वतन्त्र और निष्पक्ष रीति से चिन्तन करने का अवसर मिले और इतना साहस उगे कि जो अनुचित है, अनुपयुक्त है उसे छोड़ने के लिए साहस प्रदर्शित कर सके और जो उचित है उसे अपनाने के लिए कदम बढ़ा सके। चिन्तन की इसी भूमिका को विकासोन्मुख बनाने के लिए ऐसी विचारधारा प्रस्तुत की जा रही है जिसके आधार पर लोग विभिन्न क्षेत्रों में फैली हुई अवांछनीयता की विभीषिका समझ सकें और औचित्य अपनाने के सत्परिणामों का अनुमान लगा सकें। लेखनी से, प्रदर्शनी से अथवा जिस तरह भी सम्भव हो मान्यताओं के परिशोधन का अभियान अग्रसर किया जा रहा है। युग निर्माण योजना की यही थल सेना है। यही भूमि की जुताई है। इसी को बौद्धिक क्रान्ति का नाम दिया जा सकता है।

योजना का दूसरा चरण है रचनात्मक प्रवृत्तियों का अभिवर्द्धन। जो उचित है, उसको स्वीकार करना ही काफी नहीं वरन् उसका समर्थन और सहयोग भी किया जाना चाहिए और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए अपनी देववृत्ति को व्यवहार क्षेत्र में उतरने का-अभ्यस्त होने का अवसर भी मिलना चाहिए। यह कार्य रचनात्मक कार्यों के द्वारा, सेवा-साधना के माध्यम से ही हो सकते हैं। आदर्शवादी मान्यताएँ जब व्यवहार क्षेत्र में उतारी जाती हैं, तभी वे अभ्यास में आती हैं-स्वभाव का अंग बनती हैं, और संस्कार के रूप में आस्था बनकर अन्तःकरण में प्रतिष्ठित होती हैं। व्यक्तिगत जीवन की सहृदयता एवं सज्जनता को लोक-सेवा की शिला पर घिसकर ही तीव्र किया जा सकता है। यह कार्य रचनात्मक सेवा कार्यों को कार्यान्वित करने से सम्भव है।

पिछले दिनों जिस प्रकार दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों को मन में जमे रहने और उन्हें कार्यान्वित होने का अवसर मिलते रहने से स्वभाव का अंग बनी हैं। अब जिन सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों का महत्त्व समझाया जा रहा है, जिन्हें अपनाने का आग्रह किया जा रहा है, उनकी मौखिक स्वीकृति प्राप्त करने से काम नहीं चलेगा। वरन् उन्हे भी अभ्यास में उतारने, कार्यान्वित करने का-प्रत्यक्ष अवसर मिलेगा तभी तो विकसित, परिष्कृत और परिपक्व होंगी। तालाब में घुसकर ही तैरना आता है, अखाड़े में जाकर ही पहलवान बना जाता है। अपने नैतिक और सामाजिक कर्त्तव्यों की गहरी अनुभूति तभी हो सकती है जब आत्मनिर्माण और लोकनिर्माण की दिशा में

कुछ व्यावहारिक कदम उठाये, कुछ कष्ट सहा जाय, कुछ त्याग किया जाय और कुछ ऐसा शौर्य-साहस प्रदर्शित किया जाय जिससे विकृत मान्यताओं को उखाड़ने और परिष्कृत आस्थाओं को जड़ जमाने का अवसर मिले। इसी प्रयोजन के लिए रचनात्मक कार्यपद्धति युग निर्माण योजना का द्वितीय चरण बना हुआ है।

समाज को बिगाड़ने वाली शक्तियाँ बहुत दिनों से काम करती रही हैं। अब निर्माण का व्यापक आन्दोलन शुरू होना चाहिए। जो जिस स्थिति में है-जैसी उसकी योग्यता या रुचि है उसी के अनुसार उसे अपने समीपवर्ती क्षेत्र में कुछ ऐसा परमार्थपरक काम आरम्भ कर देना चाहिए, जिससे राष्ट्र के भौतिक या आत्मिक विकास में सहायता मिले। पारिश्रमिक लेकर तो किसी से कुछ भी कराया जा सकता है। सेवावृत्ति का विकास तब होता है जब उस प्रकार के कार्य निस्वार्थ भावना से किये जाएँ। रचनात्मक कार्यपद्धति इसी का नाम है। जिसके अनुसार विभिन्न स्तर के व्यक्तियों को सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन के लिए समय, श्रम, बुद्धि, प्रतिभा या साधनों का अनुदान देने के लिये बाध्य होना पड़ता हो। सृजन की दिशा में किए गए एक बूँद प्रयत्नों का सम्मिलित स्वरूप भरे हुए मंगल कलश के रूप में सामने आ सकता है। सब लोग थोड़ा-थोड़ा बनाने की बात सोचें और उस दिशा में कुछ न कुछ करना आरम्भ करें तो निस्सन्देह उस विशाल जनसहयोग का परिणाम आशाजनक ही नहीं आश्चर्यजनक बनकर सामने आ सकता है।

फिलहाल सारे विश्व की बात छोड़ दें, देश की ही बात सोचें तो पचास करोड़ व्यक्तियों की जनशक्ति यदि एक घण्टा रोज राष्ट्र के, युग निर्माण के लिए प्रदान करते रहने को तैयार हो जाए तो वह श्रम छह करोड़ से अधिक लोगों का स्थायी श्रम बन जाएगा। आठ घण्टा एक आदमी श्रम करता है। ५० करोड़ घण्टों में विभाजित करने से वह संख्या ६ करोड़ २५ लाख हो जाती है। इतने विभिन्न योग्यता और स्तर के व्यक्ति यदि निरन्तर नव निर्माण में अवैतनिक रूप से भावभरी मनःस्थिति में काम करें तो उसका परिणाम एक साल में ही कितना बड़ा हो जाएगा। उतने से ही कितनी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ सफल हो जाएँगी इसका अनुमान लगाया जाना चाहिए। यदि गहरी धर्मभावना जाग्रत की जा सके तो हर व्यक्ति को एक घण्टा मानव जाति का भविष्य उज्ज्वल बनाने के लिए लगाते रहने को तैयार किया जा सकता है और उसके विशालकाय सत्परिणामों को आँखों के आगे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

यदि इस देश के निवासी बीस पैसा प्रतिदिन राष्ट्रीय उत्कर्ष के लिए देने को तैयार हो जाएँ तो ९० करोड़ व्यक्तियों के बीस पैसे मिलकर १८ करोड़ रुपया प्रतिदिन होते हैं अर्थात् वर्ष में ३२४० करोड़ रुपया। यह रकम भारत सरकार के बजट से भी बड़ी है। सरकार के पास कुल मिलाकर ९० लाख से अधिक कर्मचारी हैं हमारे एक घण्टे रोज के समयदान में १० करोड़ श्रमिक जुटते हैं। एक घण्टा समय और बीस पैसा राष्ट्र के नवनिर्माण के लिए देने वाला छोटा-सा साहस, छोटा-सा त्याग उत्पन्न करने के लिए लोकमानस जगाया जा सकता है और उसकी सद्भावनाओं के मर्मस्थल को छुआ जा सके तो इतना स्वल्प अनुदान ही नहीं वरन् उसमें कहीं अधिक सहृदयता दिखाने के लिए उसे प्रोत्साहित किया जा सकता है।

युग निर्माण योजना की उपास्य जनता-जनार्दन है। इसे महानतम दैत्य कहना चाहिए। यह जग पड़े तो समझना चाहिए जड़-चेतन प्रकृति का कण-कण दिव्य प्रकाश से आलोकित हो गया। अपना ज्ञानयज्ञ, जनजागरण, विचार क्रान्ति-अभियान किस हद तक सफल हुआ, उसकी परख साथ की साथ होती चलती है। कल्पना लोक में उड़ते रहने और बातों के बतासे खाते-खिलाते रहने की प्रचलित विडम्बना को उपहासास्पद ठहराकर उसे तिरस्कृत, बहिष्कृत कर दिया गया है। यदि किसी को युग-निर्माण की सत्यता ने सचमुच प्रभावित किया है तो उसका प्रमाण देना चाहिए और प्रस्तुत रचनात्मक कार्यों में हाथ बटाना चाहिए। इसी कसौटी पर आस्था की गहराई तत्काल कसी जा सकती है। शतसूत्री योजना इसी दृष्टि से बनाई गई है कि हर स्थिति का व्यक्ति अपने ढंग से, अपने क्षेत्र में राष्ट्रीय उत्कर्ष के लिए कुछ काम कर सके। यह सृजन प्रक्रिया व्यक्ति निर्माण, समाज निर्माण मे समान रूप में सहायक होगी और अभियान संलग्न कार्यकर्त्ता अपनी सफलता, असफलता का तत्काल लेखा-जोखा लेता रह सकेगा। सच्चे अर्थों में प्रभावित मनुष्य तो वही है जो उसके लिए कुछ कार्य करने का साहस दिखा सके। इस कसौटी के कारण अपना ज्ञान-यज्ञ जितना व्यापक होता जाता है, तत्काल उसका सत्परिणाम रचनात्मक कार्यों की प्रगति के रूप में सामने प्रस्तुत होता जाता है।

युग निर्माण का तीसरा चरण है, संघर्ष। यह भी उतना ही आवश्यक है जितना सृजन। दुष्प्रवृत्तियाँ जहाँ जड़ जमा लेती हैं वहाँ से सहज नहीं हटतीं। रोग एक बार हावी जाय तो कड़ुई दवा, इन्जेक्सन, आपरेशन, उपवास आदि अनेक उपायों से उसके साथ लड़ना पड़ता है, तब कहीं पिण्ड छूटता है। खटमल, मच्छर, जुएँ, पिस्सू यदि घर में घुस पड़ें तो उनसे अपने आप चले जाने की आशा नहीं की जा सकती उन्हें हटाने ,भगाने की तरकीबें चलानी पड़ेंगी। चोर, डाकू यदि ऐसे ही भलमनसाहत से मान जाते तो फिर पुलिस, जेल आदि का झंझट क्यों खड़ा करना पड़ता। लालची आक्रमणकारी इरादे जब तक दुनिया में रहेंगे तब तक सशस्त्र सेना भी रखनी ही पडेगी। फसल को खाने वाले पशु-पक्षियों और कीड़ों को न रोका जाय तो विकट परिश्रम करने पर भी किसान के हाथ कुछ आने वाला नहीं है।

देवत्व के अभिवर्द्धन के लिए जहाँ सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों को गतिशील किया जाना आवश्यक है, रचनात्मक कार्यक्रम का सरंजाम जुटाया जाना अभीष्ट है, उतना ही आवश्यक यह भी है कि दुष्प्रवृत्तियों से असुरता के उन्मूलन के लिए लोहा लिया जाय । भगवान का अवतार जब भी होता है उसके यही उद्देश्य होते हैं-धर्म की स्थापना और अधर्म का नाश । दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, दोनों ही समान रूप से महत्वपूर्ण हैं । असुरता भी इस दुनिया में कम नहीं, दुष्प्रवृत्तियों का पक्ष भी काफी भारी है । उन्हें उखाड़ने, हटाने के बिना सत्प्रवृत्तियाँ पनपेंगी ही नहीं । खरपतवार की निराई न की जाय तो खेत में बोये उपयोगी पौधे बढ़ेंगे ही नहीं ।

व्यक्तिगत जीवन में आलस्य, प्रमाद, मलीनता, अशिष्टता, उद्दण्डता, दीनता, भीरुता, असंयम, छल, चोरी, बेईमानी, फिजूलखर्ची, अहन्ता, स्वार्थपरता, व्यसन, व्यभिचार जैसे दोष-दुर्गुण को जहाँ उखाड़ना है वहाँ सामाजिक जीवन में से अन्धविश्वास, अनाचार, रिश्वत, मिलावट, कुरीतियाँ, वर्गविद्वेष, असमानताजन्य परम्परा जैसी अवांछनीय रीति-नीतियाँ बन्द करनी हैं ।

राज क्रान्ति तब तक अधूरी ही रहेगी जब तक उसकी पूरक बौद्धिक क्रान्ति, नैतिक क्रान्ति और सामाजिक क्रान्ति सम्पन्न नहीं हो जाती । इस युग निर्माण के लिए हर क्षेत्र में घुसी हुई अवांछनीयता का उन्मूलन और वांछनीयता के संस्थापन का क्रम साथ-साथ चलना पड़ेगा । अगले दिनों हमें बौद्धिक क्रान्ति के लिए अपना प्रचारात्मक अभियान तेज करना है । नैतिक क्रान्ति के लिए रचनात्मक कार्यक्रम का विशालकाय संयन्त्र चालू करना है । सामाजिक क्रान्ति के लिए प्रचलित दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों का प्रचलन बन्द करना है ताकि एक की देखा-देखी दूसरा भी वैसा ही करने का दुस्साहस न कर सके ।

हमें इन तीनों को देश, काल, पात्र के अनुसार परिस्थिति और साधनों के अनुसार साथ-साथ कार्यान्वित करते आगे चलना और बढ़ना पड़ रहा है ।

विचार क्रान्ति, नैतिक क्रान्ति और सामाजिक क्रान्ति

विचार क्रान्ति के सन्दर्भ में हमें यह ज्ञान लेना चाहिए कि व्यक्ति की दृष्टि आस्था और आकांक्षाओं का स्तर निकृष्ट हो जाने से उसका चिन्तन और कर्तृत्व विकृत हुआ । दुर्भावनाएँ और दुष्प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई । फलतः हर क्षेत्र में अवांछनीयता उमड़ पड़ी । यही वह कारण है जिसने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में असंख्य समस्याएँ और उलझनें उत्पन्न कर दी हैं । व्यक्तिगत गतिविधियाँ पतनोन्मुख होंगी तो समाज की संगठन शक्ति, सुव्यवस्था, समर्थता और समृद्धि लड़खड़ाती ही चली जाएगी । इन दिनों यही हुआ है । हमें हर समस्या का ऊहापोह करने की आवश्यकता नहीं । इस एक ही गुत्थी को सुलझा लेने से और सब गाँठें खुल जाएँगी अन्यथा मूल कारण जहाँ का तहाँ बने रहने पर सुधार या विकास के उपाय कारगर न हो सकेंगे ।

बुद्धि भ्रम ने हमें संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति में, सुख-सुविधा खोजने का अभ्यस्त कर दिया है । उच्छृंखलता, असंयम, अहन्ता का प्रदर्शन, सम्पदाओं का संचय, विवेक का विसर्जन यही सब कारण हैं जिनमें उलझकर मनुष्य ने अपना स्वरूप विस्मृत कर दिया और असुरता को अपना बैठा । कुत्साएँ और कुण्ठाएँ उसे साक्षात् नारकीय स्थिति में डाले हुए हैं । युग निर्माण योजना का प्रारम्भिक प्रयास चिन्तन की अवांछनीयता के निवारण से आरम्भ होता है । बौद्धिक क्रान्ति का प्रयोजन यही है । इस भावनात्मक नव निर्माण के प्रयास को हम लोग 'ज्ञान यज्ञ' कहने जा रहे हैं ।

नैतिकता के लिए हमें जनसाधारण का रचनात्मक पथ प्रदर्शन करना होगा । प्रचार पृष्ठभूमि तैयार करना ही सृजनात्मक प्रक्रिया का बीजारोपण है । एक दूसरे को उपदेश करता रहे तो काम नहीं चल सकता, सृजन जीवन का एक आवश्यक अंग है, उसे दैनिक नित्य कर्मों में सम्मिलित रखा जाना चाहिए । यह तथ्य जब तक जन साधारण के मस्तिष्क के साथ ही अभ्यास में भी न उतरेगा तब तक उद्देश्य की पूर्ति न हो सकेगी । एक को देखकर दूसरे को उत्साह आता है । रचनात्मक प्रवृत्तियों को कार्यान्वित करने से न केवल राष्ट्र निर्माण की सम्भावनाएँ मूर्तिमान होती हैं वरन् व्यक्ति की मानवोचित सद्भावनाओं का भी विकास होता है । व्यक्ति और समाज की प्रगति का यही तरीका है । जिनमें थोड़ा अधिक उत्साह उत्पन्न हो चुका है, जिनकी भावनाओं में उभार आया है उन्हें एक घण्टा समय बीस पैसा जनजागरण में लगाते रहने तक सीमित नहीं रखा जाता, वरन् कुछ अतिरिक्त सेवा कार्य करने के लिए नियोजित किया जाता है । कर्मठ कार्यकर्ता प्रायः चार घण्टा समय नित्य और महीने में एक दिन की आमदनी उन प्रयोजनों में लगाते हैं । इस प्रकार पुस्तकालय, विद्यालय, गृह उद्योग, शिक्षा, सफाई, व्यायामशाला, पदयात्रा, वृक्षारोपण, सामूहिक श्रमदान, शिक्षण शिविर जैसे शतसूत्री योजना में वर्णित विविध कार्यों में जुट जाते हैं । तदनुसार हर व्यक्ति के मन में यह उल्लास उत्पन्न होता है कि अपनी योग्यता और स्थिति के अनुरूप नवनिर्माण के लिए उसे भी कुछ न कुछ करना चाहिए । मिलजुल कर यह उल्लासक्रम इस प्रकार बढता ही जाता है और जहाँ सामूहिकता, सेवा भावना जैसी चर्चा भी नहीं थी, वहाँ अभिनव सृजनात्मक कार्यों में परस्पर प्रतिस्पर्धा लगी हुई दीखती है ।

सामाजिक क्रान्ति को एक संघर्षात्मक प्रक्रिया द्वारा ही पूरा किया जा सकेगा । अवांछनीयता की दाढ़ में जब खून लग जाता है तब वह अपने निहित स्वार्थों को सहज ही छोड़ने के लिए तैयार नहीं होती । पशु प्रलोभन से आकर्षित

होता है और दण्ड से डरता है । समझाने से हृदय बदलने के लिए जिसे तैयार नहीं किया जा सकता ऐसी पशुता भी कम नहीं है । उसे दण्ड और विरोध से ही नियन्त्रित रखा जा सकता है और निरस्त किया जा सकता है । कहा गया है कि धर्म स्थापना के साथ-साथ अधर्म के उन्मूलन को भी समान महत्व देना होगा । बगीचे की सिंचाई के साथ-साथ माली को गुड़ाई, निराई और छटाई भी करनी पड़ती है । माता बच्चों का प्यार करने के साथ चपत लगाने से भी नहीं चूकती ।

व्यक्तियों में गुण, कर्म, स्वभाव की अगणित दुष्प्रवृत्तियाँ घुस पड़ी हैं । दृष्टिकोण में निकृष्टता के अनगिनत तत्वों ने जड़ जमाली है । जीवनक्रम घोर विकृतियों से भर गया है । कुत्साओं और कुण्ठाओं ने मनुष्य को पशु स्तर पर ला खड़ा किया है । अपराधी प्रवृत्ति बे हिसाब फल-फूल रही है । सामाजिक परम्पराओं में मूढ़-मान्यताओं और अन्धविश्वासों की भरमार है । शोषण और उत्पीड़न नये-नये आवरण पहनकर आता है और भलाई की आड़ में बुराई के विषबीज बिखेरता है । मुख में राम बगल में छुरी वाली उक्ति आज पग-पग पर चरितार्थ हो रही है । राजनैतिक क्षेत्रों में कथनी और करनी में कोई साम्य नहीं दिखता । अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो हो रहा है, उससे मनुष्य जाति का भविष्य अन्धकार में गिरता ही दीखता है । विज्ञान और अज्ञान की जोड़ी मनुष्य जाति को सामूहिक आत्महत्या करने के लिए विवश करने में लगी हुई है । इन परिस्थितियों में विचारों को बदलने, दृष्टिकोण में उत्कृष्टता का समावेश और भावनात्मक नव-निर्माण का प्रयोजन पूरा करने के लिए प्रशिक्षण के साथ-साथ उन्मूलन की गतिविधियों में भी प्रखरता लानी पड़ेगी ।

व्यक्तिगत दोष-दुर्गुणों में क्रोध, आलस्य, अनियमितता, असंयम, अपव्यय, नशेबाजी, अभक्ष भक्षण, चटोरापन, कृपणता, स्वार्थ परायणता, व्यसन, मद्यपान आदि हैं । सामाजिक दोषों में बेईमानी, शेखीखोरी, रिश्वत, चोरी जुआ, उत्पीड़न, हराम की कमाई, व्यभिचार, उच्छृंखलता, छल जैसे दुष्कर्मों की गणना की जा सकती है । कुरीतियाँ, अन्ध-परम्पराएँ, मूढ़-मान्यताएँ ऐसी हैं जिन्हें सामाजिक ही नहीं बौद्धिक विकृति भी कह सकते हैं । उनके उन्मूलन के लिए बहुत किया जाता है । स्वार्थी राजनेता, गुण्डे, अपराधी, असामाजिक तत्व, रिश्वतखोर अफसर, धर्म व्यवसायी, छली, प्रपंची, जमाखोर, मुनाफाखोर व्यवसायी, कुरीतियों के पोषक, कला और साहित्य से अनाचार उभारने वाले कलाकार, मुफ्तखोर, हरामखोर, तस्करी आदि कुकर्म पोषक वर्ग इन दिनो बढ़ता ही चला जा रहा है । इसका प्रतिरोध न किया जा सका तो उनकी दुष्टता अनुनय-विनय मात्र से रुकने वाली नहीं है । जब तक इन वर्गों को यह विदित न हो जाय कि इन दुष्प्रवृत्तियों को अपनाये रहने से लाभ कम और हानि अधिक है तब तक वे सहज मानने वाले नहीं हैं ।

इसके लिए अनाचारी तत्वों के प्रति समाज में घृणा, असहयोग, विरोध, प्रतिरोध एवं संघर्ष की वृत्ति उत्पन्न करनी होगी । इन दिनों कुकर्मी लोगों को व्यवहारकुशल, भाग्यवान माना जाता है और जिन्हें उनका उत्पीड़न सहना पड़ा, उनके अतिरिक्त अन्य लोग न उनकी निन्दा करते हैं न विरोध, कई बार तो उन सफलताओं और उपलब्धियों की प्रशंसा तक की जाती है जो स्पष्टतः अनीति से उपार्जित की गई थीं । दुष्प्रवृत्तियों के रोकने का कारगर उपाय यह है कि उनके विरुद्ध घोर घृणा उभरे । कोई उसकी प्रशंसा न करे, न सहयोग दे । उनसे साहसपूर्वक भिड़ा भी जाय और विरोध करने में भी पीछे न रहा जाय । कानून से, व्यक्तिगत अथवा सामूहिक प्रतिरोध से अवांछनीय तत्वों का रास्ता बन्द किया जाय । भले ही इसे अपने को झंझट या कष्ट सहना पड़े ।

एक व्यक्ति के साथ किया गया अन्याय, सारे समाज के प्रति किया गया अन्याय मानना चाहिए । दूसरों को सता जाते देखकर हर व्यक्ति के मन में वैसे भाव उभरने चाहि जैसे उसे स्वयं सताया जाता तब उभरते । हम मुसीबत में होते हैं तो यही चाहते हैं कि दूसरे लोग सहायता करने आवें । दूसरों को इस स्थिति में पड़ा देखकर भी हमारे मन में वैसे ही भाव उमड़ने चाहिए और अनाचार से लड़ने के लिए हर व्यक्ति को आक्रोश एवं शौर्य-साहस का प्रदर्शन करना चाहिए । ऐसा वातावरण बनाने में योगदान देना चाहिए जिनमें वैसी अनीति बरतना सम्भव न रह जाय । हर दुष्ट-दुरात्मा को हर ओर से निन्दा-भर्त्सना, असहयोग एवं विरोध-प्रतिरोध का सामना करना पड़े, ऐसे ही प्रयास आज की बहुमुखी दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन कर सकते हैं ।

युग निर्माण परिवार के हर सदस्य को युग परिवर्तन की प्रक्रिया को एक धर्म युद्ध मानकर चलने के लिए कहा गया है । पाप और अनाचार से, दुष्टता और असुरता से लड़ना इस आपत्तिकाल में हर प्रबुद्ध एवं भावनाशील व्यक्ति के लिए अनिवार्य हो गया है । अज्ञान असुर से प्रचारात्मक मोर्चे पर और अनाचार दानव से संघर्ष मोर्चे पर लड़ा जायगा, तभी हर मस्तिष्क पर अधिकार किये हुए आज के हिरण्याक्ष लोभी दृष्टिकोण का अन्त किया जा सकेगा ।

नवयुग के अवतरण में लगे हुए युग निर्माण परिवार के परिजनों को सृजन सेना के सैनिक कहा जाता है । धर्म युद्ध के तीनों मोर्चों पर उनको लड़ने के लिए कटिबद्ध रहना होता है और जो जिस स्थिति में है उसे उसी परिस्थिति में जितना सम्भव हो करना होता है । अपनी सृजन सेना की अन्य लोगो द्वारा निहित स्वार्थों एवं संकीर्ण उद्देश्यों के लिए खडे किये दलों से तुलना नहीं का जा सकती । हम सर्वतोमुखी सृजन के हर मोर्चे पर लड़ने वाले सैनिक हैं और उस महान प्रयोजन के लिए उतना ही बड़ा त्याग, बलिदान प्रस्तुत करने की तैयारी कर रहे हैं, जितना कि शत्रु के आक्रमण से देश को बचाने के लिए सुरक्षा मोर्चे पर लड़ने वाले सशस्त्र सैनिक दिखाते हैं ।

युग परिवर्तन के प्राचीन इतिहास के साथ एक महायुद्ध जुड़ा हुआ है । इस बार भी उसकी पुनरावृत्ति होगी । पर यह पूर्वकालीन शस्त्र युद्धों से भिन्न होगा, यह क्षेत्रीय नहीं व्यापक होगा । इसमें विचारों के अस्त्र प्रयुक्त होंगे और घर-घर में इसका मोर्चा खुला रहेगा । भाई-भाई से, मित्र-मित्र से और स्वजन-स्वजन से लड़ेगा । अपनी दुर्बलताओं से हर किसी को स्वयं लड़ना पड़ेगा । परिवार को सुधारने के लिए मन्त्रणाएँ, प्रेम, आग्रह यहाँ तक कि भूख हड़ताल मौन धारण, असहयोग आदि का सहारा लेकर उन्हें सन्मार्ग अपनाने के लिए विवश करना होगा । समाज में फैली हुई दुष्प्रवृत्तियों से असहयोग, विरोध, संघर्ष के तीनों उपाय काम में लाने पड़ेंगे और समयानुसार अहिंसा से लेकर हिंसा तक के आधार ग्रहण करने पड़ेंगे । इस प्रकार नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रान्ति के साथ जुड़ा हुआ एक अति प्रचण्ड एवं अति व्यापक किन्तु अनोखा महाभारत लड़ा जाएगा । इसकी व्यूह रचना अनोखे ढंग से की गई है जो समयानुसार सामने आती रहेगी ।

सत्परामर्श अपना स्वभाव बने

दीपक से दीपक जलता है और चिनगारी से आग पैदा होती है । प्रचारात्मक प्रक्रिया को हमें स्वयं दीपक बन कर गतिशील बनाना चाहिए । दीपक स्वयं जलता है और अपने आपको प्रकाश रूप में परिणत करता है । बर्फ स्वयं गलती है और सरोवर के रूप में परिणति होती है । बीज गलकर ही वृक्ष बनता है, बादल बरसकर अपना रूप तो मिटा देता है पर संसार में हरीतिमा और सरसता शीतलता दीखती है वह उस बादल के त्याग का ही परिणाम है । युग निर्माण परिवार के सदस्यों को यही आदर्श अपनाना चाहिए और अपनी आन्तरिक गरिमा को कार्यक्षेत्र में उतारकर उसे विश्वमंगल के रूप में विकसित होने देना चाहिए ।

संयोगवश न कोई ऊँचा उठता है और न नीचा गिरता है । विचारों की ही शक्ति है कि मनुष्य को आसमान पर उड़ा ले जाती है या गहरे गर्त में धकेल देती है । अक्सर उच्च विचारणाएँ धुएँ की तरह यूँ हलकी-फुलकी मन मस्तिष्क में घूमती रहती हैं । लोग उन्हें कहने-सुनने भर के लिए प्रयुक्त करते हैं । पर यदि सचमुच उन्हें आस्था के रूप में विकसित कर लिया जाय, सच्चे मन से हृदय में बिठाकर श्रद्धा या निष्ठा में परिणित कर दिया जाय, तो फिर आज का सामान्य व्यक्ति भी कल महामानव बन सकता है । इस तथ्य को हमें गहराई से समझना चाहिए और प्रयास यह करना चाहिए कि उत्कृष्ट विचारधारा मस्तिष्क तक सीमित न रहकर, हृदय में उतर के अन्तःकरण में स्थान जमाए-रोम-रोम में समाये और कार्यरूप में उतरे । यदि ऐसा हो सके तो समझना चाहिए कि जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर लिया ।

अपनी सबसे बड़ी सेवा मनुष्य यही कर सकता कि अपना मस्तिष्क और अन्तःकरण उच्च विचारणाओं में रंग ले । दूसरों की सबसे बड़ी सहायता यही की जा सकती है कि उनके सोचने में जो त्रुटि है उसे सुधार दिया जाए । मनुष्य शक्ति का पुंज है वह शारीरिक दृष्टि से अपंग, असमर्थ होते हुए भी यदि मस्तिष्क और हृदय की दृष्टि से स्वस्थ है तो समझना चाहिए उसकी मूल सम्पदा का ८० प्रतिशत भाग मौजूद है और वह उतने में ही अनेक असमर्थताओं और असुविधाओं के रहते हुए भी अपना और दूसरों का भला कर सकता है, इस संसार का सबसे बड़ा पुण्य-परमार्थ एक ही है कि हम लोगों की अवसाद ग्रस्त मनोभूमि में प्रकाश की किरणों का प्रवेश कराने में सहायता प्रदान करें । उसका भटकाव दूर करें और कुत्साओं और कुण्ठाओं के दलदल से उबारें । मनोबल दान करने से बढ़कर और अनुदान इस संसार में है नहीं । अन्नदान, वस्त्रदान आदि तो किसी विपत्तिग्रस्त की सामयिक शारीरिक सहायता मात्र है, इनसे किसी के अन्तरंग का पोषण नहीं होगा । यदि अन्तःकरण दुर्दशा ग्रस्त बना रहे तो कुबेर जितनी सम्पदा पाकर भी मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता ।

हममें से प्रत्येक की अटूट निष्ठा इस बात में होनी चाहिए कि अपनी उच्च आस्थाओं का अधिकाधिक पोषण, अभिवर्द्धन करेंगे और उस सम्पदा से अपने समीपवर्ती क्षेत्र को अधिकाधिक लाभान्वित करेंगे । यह एक ही रीति-नीति यदि मजबूती से अपना ली जाय तो लोगों की दृष्टि में वह भले ही कोई बड़ा काम दिखाई न दे, पर आत्मा और परमात्मा के दरबार में उसे अति उच्चकोटि का परमार्थ माना जायगा । व्यक्तिगत उत्कृष्टता के अभिवर्द्धन के लिए हमें जीवन की गुत्थियों को सुलझाने वाला, दैवी सम्पदाओं की ओर उन्मुख करने वाला स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन और मनन अपनाने का अधिकाधिक प्रयत्न करते रहना चाहिए और जब भी अवसर मिले ऐसे विचारों के साथ रमण करना चाहिए जो मलीनता से उबारने और परमार्थ में संलग्न होने का साहस उत्पन्न करते हों ।

लोकसेवा के लिए, जनकल्याण के लिए, पुण्य-परमार्थ के लिए, देश धर्म समाज को समुन्नत बनाने के लिए-हमें एक रीति-नीति अपना ही लेनी चाहिए कि अपने सम्पर्क क्षेत्र में उत्कृष्टता की आस्थाओं का बीजारोपण करेंगे । यह कार्य सरल है कठिन नहीं । वे कार्य कठिन लगते हैं, जो पहले किये नहीं गए हैं, अनभ्यस्त हैं । अभ्यास और व्यवहार में आने वाले कार्य वस्तुतः कठिन होते हुए भी नितान्त सरल हो जाते हैं । हमारा सम्पर्क सैकड़ों से स्थायी और हजारों से अस्थायी होता है । लोगों से मिलना-जुलना बना ही रहता है, बातें भी करनी ही पड़ती हैं । वे अपनी बातें हम से कहते हैं या हमें उनसे अपना कुछ प्रयोजन कहना पड़ता है । यह बन्द नहीं हो सकता ।

सांसारिक वार्तालाप के बीच उत्कृष्टता, आदर्शवादिता का पुट देते रहने की आदत डाल लेना आरम्भ में ही सतर्कता, चेष्टा और मनोयोग की अपेक्षा करेगा,

वह नितान्त सरल और स्वाभाविक हो जाएगा । कितनों को गालियाँ देने, बकते रहने की आदत पड़ जाती है । कइयों को निन्दा, चुगली किये बिना, छिद्रान्वेषण में अकल लड़ाये बिना रोटी हजम नहीं होती । यह सब केवल वार्तालाप में कुछ अतिरिक्त मिला देने की आदत मात्र है जो पीछे इतनी मजबूत हो जाती है कि हानि उठाने पर भी वह छुड़ाये नहीं छूटती । इसी प्रकार अपने स्वभाव में लोगों को सत्परामर्श देते रहने की, उनकी भूलों की ओर इंगति करते रहने की आदत डाले तो उसका भारी हितकर परिणाम हो सकता है । सम्भव है कोई तत्काल अपनी बात न माने । पर यह भी निश्चित है कि सुलझे हुए विचारों में असाधारण शक्ति होती है, वे कहीं ठीक तरह बैठ जाएँ जो आज न सही, जब भी अवसर मिलता है उभरकर ऊपर आते हैं और सुधरी हुई गतिविधियाँ अपनाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं ।

इसके लिए न अलग से समय निकालने की आवश्यकता है, न अतिरिक्त कार्यक्रम बनाने की । साधारण दैनिक वार्तालाप में आदर्शवादी परामर्श एवं प्रेरणा देते रहने की अपनी आदत बनानी पड़ती है और यह परमार्थ प्रयोजन सहज ही, अनायास ही स्वसंचालित रीति से अपना काम करता है ।

यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि किसी व्यक्ति को उसकी गलती सुनना मंजूर नहीं । हर आदमी अपने को सही समझता है । गलती बताने वाले को अपना अपमानकर्ता समझता है और अपने पूर्वाग्रह को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर उसी का समर्थन करने में अपनी मान रक्षा समझता है । इस जनमानस की अति दुःखद दुर्बलता को हमें ध्यान में रखना होगा और जो बात कहनी है सीधे आदेश देने या सीधी गलती बताने की अपेक्षा उसे घुमाकर कहना चाहिए, यदि इतनी कुशलता सीख ली गई तो फिर बिना विरोध का सामना किए अपना तीर निशाने पर लगा रहेगा । जो कहना है किसी दूसरे का विवरण सुनाते हुए कहना चाहिए । जैसे किसी को नशा न पीने का परामर्श देना हो तो सीधी बात कहने से नशेबाज रुष्ट होगा और झुँझलायेगा यदि किसी अन्य नशेबाज को उठानी पड़ी हानि का दुःखद वर्णन क्रोध की नहीं करुणा की भाषा में कहकर सुनाया जाय तो वह व्यक्ति परोक्ष रूप से उसका प्रभाव अपने ऊपर अधिक अच्छी तरह ग्रहण कर सकता है । यह बड़ों की, विरानों की बात रही । पर अपने अति घनिष्टों को, छोटों को सीधा परामर्श भी दिया जा सकता है । हाँ एक ही बात ध्यान में रखनी होगी कि उसमें आक्रोश, घृणा, तिरस्कार के भाव नहीं, शालीनता, आत्मीयता, करुणा और सद्भावना का पुट रहे । लोग सत्परामर्श से नहीं, कहने के ढंग पर नाराज होते हैं । अक्सर होता यह है कि जिन बातों से हमारी असहमति सी होती है, उनके प्रति आक्रोश भी होता है । मन का उफलापन उस आक्रोश को ही पहले उभार लाता है और कहा जाना चाहिए उसकी अपेक्षा आक्रोश अधिक व्यक्त कर दिया जाता है । बस यही विरोध का कारण बनता है । यदि सामने वाले के प्रति अपनी सहज आत्मीयता, हित कामना और सहानुभूति का पुट लगाते चला जाय तो मतभेद वाले संदर्भों को भली-भाँति व्यक्त किया जा सकता है और विरोध का सामना किए बिना उसका सत्परिणाम देखा जा सकता है ।

हमें अपने आपको एक प्रकाश यन्त्र के रूप में, प्रचार तन्त्र के रूप में विकसित करना चाहिए । भले ही लेख लिखना, भाषण देना न आये पर सामान्य वार्तालाप में आदर्शवादिता का पुट घोले रहने की आदत डाले रह सकते हैं और इस प्रकार अपने सम्पर्क क्षेत्र में नवनिर्माण विचारधारा के लिए गहरा स्थान बना सकने में सफल हो सकते हैं ।

झोला पुस्तकालय संचालन में परोक्ष रूप से पहले अभिरुचि जगाना, उत्सुकता उत्पन्न करना पीछे पुस्तक देने लेने के क्रम से अपने सम्पर्क क्षेत्र को सद्विचारणाओं से उच्चस्तरीय आस्थाओं से आलोकित कर सकते हैं । इस सन्दर्भ में सबसे बड़ा काम अपने वार्तालाप में उपयुक्त परामर्श का रंग घोले रहने से हो सकता है । इसे हमें अपने स्वभाव का अंग बना लेना चाहिए ।

एक से अनेक बनने के लिए प्रयत्न करें

अपने आपे का विस्तार करना आत्मविकास की दृष्टि से अनिवार्य है और लोकमंगल की दृष्टि से आवश्यक है । जिस प्रकाश को लेकर यह मिशन अग्रगामी हो रहा है उसका विस्तार होना ही चाहिए । इस चिनगारी को दावानल का प्रचण्ड रूप धारण करना ही चाहिए । जहाँ के तहाँ अवरुद्ध रह जाने वाले बौने कहलाते हैं, देखने में कुरूप लगते हैं और उपहासास्पद बनते हैं । न हमें बौना रहना शोभा देता है, न हमारे मिशन को । प्रगति के पथ पर अपने चरण बढ़ने ही चाहिए । हमें विकासोन्मुख रहना ही चाहिए ।

ब्रह्म अकेला था । अकेलापन उसे नीरस, कर्कश औ हेय लगा, सो उसने एक से बहुत होने की इच्छा की । यह इच्छा ही उसकी पत्नी शक्ति बन गई और फिर उन दोनो के संयोग से यह इतना सृष्टि कलेवर बनकर खड़ा हो गया । ब्रह्म का अंश होने के नाते हमारी अन्तरात्मा की इच्छा होनी स्वाभाविक है । आत्मा प्रकाश रूप है, ज्ञान-रूप है, आनन्द रूप है, सो उसे वैसी ही परिस्थिति मे साहचर्य का सन्तोष अनुभव होता है । इस प्रयोजन को ज्ञानयज्ञ ही पूरा करता है । लोकमंगल की प्रवृति को सहचरी बनाकर ही वह सन्तोष, आनन्द और उल्लास का अनुभव कर सकता है । इसके बिना विपुल सुख-सामग्री से भी उसे अहंकार का पोषण करने के अतिरिक्त गहन स्तर का समाधान मिल ही नहीं सकता ।

नवनिर्माण विचारधारा के स्वाध्याय, मनन, चिन्तन ने ही इस परिवार का निर्माण किया है । इसी आधार पर

प्रबुद्ध आत्माएँ इकट्ठी होकर इस माला में गुँथी हैं । इस विचारधारा को आगे बढ़ाना हम सबका परम पवित्र कर्तव्य है । जहाँ कहीं अखण्ड ज्योति, युग निर्माण पत्रिकाएँ पहुँचती हैं वहाँ यह कर्तव्य भी साथ ही जा पहुँचता है कि इन्हें अखबार, पुस्तक न समझा जाय वरन् प्रकाश पुंज मान कर इससे दूसरों को भी लाभान्वित होने दिया जाय । सज्जन लोग अपने कुएँ से दूसरों की प्यास बुझाते, अपने बगीचे में विश्राम करते, अपने अलाव पर दूसरों को तापते, अपने द्वार की बत्ती से दूसरों को रास्ता पाते देखते हैं तो प्रसन्नता अनुभव करते हैं । यह प्रसन्नता हममें से हर एक को अनुभव करनी चाहिए । कहीं कोई पत्रिका ऐसी नहीं रहनी चाहिए , जिसे केवल मँगाने वाले ने ही पढ़ा हो । यही बात ट्रैक्टों, पुस्तकों के सम्बन्ध में भी कार्यान्वित की जानी चाहिए ।

एक से दस का क्रम विधान प्रायः सभी प्रबुद्ध परिजन अपनाते हैं । इसमें और भी अधिक उत्साह रहना चाहिए । अपने घर-परिवार का एक भी वयस्क व्यक्ति ऐसा न बचे जो इस विचारधारा को पढ़ता या सुनता न हो । इसी प्रकार जहाँ अपना घनिष्ट भाव, परिचय तथा सम्पर्क है वहाँ इस साहित्य के प्रति अभिरुचि उत्पन्न की ही जानी चाहिए, इसे पढ़ने का उत्साह पैदा किया ही जाना चाहिए । कहना न होगा कि साहित्य देना ही पर्याप्त नहीं साथ ही मिशन के स्वरूप, क्रियाकलाप एवं परिणामों पर भी जी खोल कर विचार व्यक्त करने चाहिए । इस प्रकार उत्पन्न किया गया आकर्षण और उत्साह ही उन्हें आगे चलकर क्षुद्र से महान बनने का पथ प्रशस्त कर सकता है ।

एकाकी प्रयत्नों की ही चर्चा पिछले पृष्ठों पर की गई है । पर आरम्भ ऐसे ही करना चाहिए । बीज पहले एक अकेला ही होता है पर जब वह विकसित होता है, तो अनेक डालियों, शाखाओं, पत्र-पल्लवों से भर जाता है । हमें उपजाऊ बीज बनना है । हम समूह के रूप में विकसित हों, संघ बनायें, निर्वंश न रहें । यह आकांक्षा उत्पन्न हो सकी, तो निश्चय ही थोड़े दिनों में इसी विचारधारा से प्रभावित और इसी मार्ग के पथिक अनेक अपने साथ होंगे । इससे अपना उत्साह बढ़ता है । संघबद्धता अपनी प्रवृत्तियों को प्रखर बनाये रखने की दृष्टि से आवश्यक है । इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि युग परिवर्तन जैसे महान प्रयोजन के लिए संघ शक्ति की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है । उसके बिना गाड़ी आगे बढ़ नहीं सकती । अकेला व्यक्ति कितना ही सुयोग्य क्यों न हो लोकमंगल जैसे प्रयोजन को संघ शक्ति के अभाव में गतिशील नहीं बना सकता है । इस युग की सबसे बड़ी शक्ति संगठन ही है । इसी को दुर्गा, चण्डी या काली कहते हैं । अस्तु, यह प्रयत्न हममें से प्रत्येक को प्राणपण से करना चाहिए कि हम अकेले न रहें । अपने जैसे और भी साथी-सहचर ढूँढ़ें और संघ शक्ति के अभीष्ट उद्देश्य की दिशा में कुछ कहने लायक सफलता प्राप्त करें ।

जो लोग अपने झोला पुस्तकालय से लाभ उठाते हैं, पत्रिकाएँ पढ़ते हैं, उन्हीं में से एक दो साथी ऐसे ढूँढ़े जा सकते हैं जो इस विचारधारा के कार्यक्षेत्र को गतिशील बनाने को थोड़ा-बहुत समय देने साथ चलने के लिए तैयार हो सकें । यों हर किसी के मित्र साथी तो ढेरों होते हैं पर उनका संपर्क आधार भिन्न होता है । इस कार्य में वे ही लोग सहायक हो सकते हैं जो इस विचारधारा से परिचित, प्रभावित हैं । ऐसे लोग उन्हीं में से ढूँढ़ने पड़ेंगे जो अपना साहित्य पिछले दिनों रुचिपूर्वक पढ़ते रहे हैं । साथी ढूँढ़ लेना और जनसम्पर्क के लिए उन्हें साथ चलने के लिए सहमत कर लेना, सब शक्ति के उदय का आरम्भ किन्तु अति महत्वपूर्ण बिन्दु है । यह सफलता जिसने प्राप्त करली समझना चाहिए युग परिवर्तन की दिशा में उसके द्वारा कुछ महत्वपूर्ण कार्य बन पड़ने का द्वार खुल गया ।

एक या दो साथी मिल जाने पर एक टोली गठित कर लेनी चाहिए । युग निर्माण संगठन की पहली इकाई यह टोली है । टोली का काम है अपने क्षेत्र में इस विचारधारा को व्यापक बनाने के लिए, उसका परिचय कराने के लिए निकलना । उसका सीधा-सादा रूप मिशन के स्वरूप और कार्यक्रम से लोगों को परिचित करना और उन्हें एक-एक करके विज्ञप्तियाँ पढ़ने और वापस करते रहने के लिए सहमत कराना । इतने छोटे काम के लिए प्रायः कोई भी मना नहीं करता । दो तीन की मंडली एक साथ चलती है तो उसका प्रभाव और भी अधिक पड़ता है, खास-तौर से तब जबकि किसी प्रकार की याचना के लिए नहीं जाया गया हो ।

यह प्रयास एकाध महीने जारी रखने पर ही देखते-देखते उस विचारधारा से प्रभावित लोगों की संख्या सैकड़ों तक पहुँचती है और वे समर्थक एवं प्रशंसक के रूप में उत्साहित दीखते हैं । जिन्हें पत्रिकाओं के कुछ अंश पढ़ने को मिल गये, उनमें थोड़ा-सा उत्साह और भर दिया गया तो फिर वे उससे चिपक ही जाते हैं और बार-बार विज्ञप्तियाँ, पत्रिकाएँ, ट्रैक्ट आदि की माँग करते हैं । फिर उन्हें घर देने नहीं जाना पड़ता है वरन् वे स्वयं ही लेने आ पहुँचते हैं । इस प्रकार एक अच्छा-खासा स्वाध्याय मंडल बन जाता है ।

अब इसी सन्दर्भ में अगला कदम यह है कि प्रभावित व्यक्तियों को पत्रिकाओं का नियमित सदस्य बना लिया जाय । उनसे चन्दा भिजवाकर पत्रिकाएँ स्वयं मँगाने के लिए रजामन्द कर लिया जाय । जब चन्दा समाप्त होने को हो तब जरूर उनसे वसूल करना और भिजवाना भी टोली का ही उत्तरदायित्व है । कोई कहने, टोकने वाला न हो तो मँगाई हुई पत्रिकाओं को पढ़ने में भी उपेक्षा करने लगते हैं और वर्ष पूरा होने पर चन्दा भेजना तो भूल ही जाते हैं । टोली का काम अपने लगाये पौधों को तब तक सींचते, सँभालते रहना है जब तक वे मजबूत वृक्ष की तरह विकसित न हो जाएँ और वे भी अपनी ही तरह झोला पुस्तकालय सँभालने-टोली बनाने का प्रयत्न आरम्भ न कर दें ।

ऐसे परिपक्व व्यक्ति जहाँ जितने हों उन्हें क्रमबद्ध शाखा संगठन के रूप में, युग निर्माण परिवार के रूप में

संगठित करना चाहिए । ज्ञान यज्ञ की नियमित आहुति के रूप में एक घण्टा समय और बीस पैसा नित्य लगाते रहने की प्रतिज्ञा ही सक्रिय सदस्यता की शर्त है । इसमें व्यतिक्रम न होने पावे, नियमितता बनी रहे इसके लिए 'ज्ञान-घट' की स्थापना बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है । इसलिए अब उसे एक नियम प्रतिबन्ध के रूप में ले लिए गया है । सक्रिय सदस्यों के यहाँ 'ज्ञान घट' होने ही चाहिए । यह सरकारी अल्पबचत योजनाओं जैसे हैं, लागत मूल्य पर मिलते हैं, मथुरा से मँगाये जा सकते हैं ।

बीस पैसा तीनों पत्रिकाओं तथा युग निर्माण साहित्य मँगाते रहने के लिए है । एक घण्टा समय अपने परिचय क्षेत्र में उस साहित्य को पढ़ाने, वापस लाने एवं विचार विनिमय करने के लिए है । यह उन सदस्यों को समझा देना चाहिए और कार्य करने की शैली उनके साथ जाकर समझा देनी चाहिए । जहाँ इस प्रकार कम से कम पाँच सक्रिय सदस्य बन जाएँ वहाँ युग निर्माण शाखा की स्थापना हो जाती है । हमारा व्यक्तिगत प्रयत्न तब तक अपूर्ण ही समझना चाहिए जब तक टोली और उसके बाद शाखा संगठन की स्थापना न हो जाय ।

इतना तो करना ही चाहिए

शरीर यात्रा और परिवार निर्वाह के लिए जीवन सम्पदा का यो आधा भाग रखा जाना चाहिए । आत्मा को अपनी आधी उपलब्धियाँ देनी चाहिए पर यदि इतना न बन पड़े तो अधिक से अधिक इतना किया जा सकता है कि तीन चौथाई भौतिक जीवन के लिए लगा दी जाय । किन्तु हर हालत में एक चौथाई तो आत्मा की भूख बुझाने के लिए, ईश्वरीय प्रयोजन पूरा करने के लिए और समाज का ऋण चुकाने के लिए रखा जाय । यदि तीनों को सर्वथा विमुख, अतृप्त और उपेक्षित रखा गया तो यह ऐसी भूल होगी जिसके लिए चिरकाल तक पश्चाताप करते रहना ही हाथ रह जायेगा ।

भौतिक जीवन में शरीर यात्रा और परिवार पोषण आता है । इसके लिए २४ घण्टे का तीन चौथाई १८ घण्टे लगाया जाना किसी भी प्रकार से कम नहीं है । आठ घण्टे यदि पूरे परिश्रम और गहरे मनोयोग से आजीविका उपार्जित की जाय तो यह पर्याप्त हो जाती है । छह-सात घण्टे का सोना युवा व्यक्ति के लिए पर्याप्त है । चार या पाँच घण्टे नित्य कर्म, गृह व्यवस्था, मनोरंजन आदि के लिए । इसके बाद भी ६ घण्टे या कम से कम ४ घण्टे परमार्थ प्रयोजन के लिए सुरक्षित ही बच सकते हैं । एक घण्टा उपासना, मनन, चिन्तन एवं एक घण्टा स्वाध्याय, के लिए रखा जाए तो दो घण्टे यह भी काटे जा सकते हैं । लोकमंगल के लिए दो घण्टे तो दिये ही जाने चाहिए । नये अभ्यासियों के लिए युग निर्माण परिवार की सदस्यता के रूप में इससे भी आधा, मात्र एक घण्टा इसलिए रखा गया है कि उन्हें आरम्भ में यह प्रयास भारी न पड़े । यह न्यूनतम तथा आरम्भिक भर्ती का नियम है । जिनकी निष्ठा थोड़ी परिपक्व हो गई है, उन्हें न्यूनतम की मात्रा दो घण्टे कर लेनी चाहिए । वैसे उपासना और स्वाध्याय के लिए एक घण्टा लेकर उसमें से भी एक घण्टा लोकमंगल के लिए समर्पित किया जा सकता है क्योंकि इन दिनों आपत्ति कालीन स्थिति है सामान्य समय नहीं । इन संकट के क्षणों में मानव जाति को अन्धकारमय भविष्य के गर्त में गिरने से बचाने के लिए यदि सारा समय लगा दिया जाय और यह मान लिया जाय कि भौतिक जीवन जितना जी लिया उतना ही पर्याप्त है तो यह अधिक दूरदर्शिता की, अधिक सराहनीय साहसिकता की बात होगी, पर न्यूनतम दो घण्टे तो लगाते ही रहना चाहिए ।

'ज्ञान यज्ञ' इस युग का सबसे बड़ा और सबसे पवित्र यज्ञ है । अपने समय की आहुतियाँ इसी ब्रह्ममुख में हमें समर्पित करनी चाहिए । दो घण्टे का समय इसी के लिए नियोजित रखना चाहिए और इस संकल्प को दृढ़तापूर्वक निबाहना चाहिए । पिछले दिनों यह कहा जाता है कि यह समय झोला पुस्तकालय के लिए लगाना चाहिए । युग निर्माण साहित्य एक झोले में लेकर निकलना चाहिए और उसे अपने पड़ोसियों, मित्रों, स्वजन, सम्बन्धियों, परिचितों में पढ़ने के लिए देना चाहिए । यह कार्य बहुत चतुरता का है । ऐसे ही पुस्तकें बाँटते फिरने में लोग उसका महत्व ही नहीं समझते । कोई तो लेने में भी आनाकानी करेंगे और कुछ ले लेंगे तो उसे एक कोने में पटककर खो गँवा देंगे । वापस माँगने पर मना कर देंगे ।

पुस्तकें देने से पूर्व ज्ञान की भूख जगानी है, जो आज कल मर-सी गई है । जिसके पास जाया जाए, उसकी मनोभूमि, अभिरुचि, उलझन आदि परिस्थितियों को जानने का प्रयत्न करना चाहिए और फिर उस सन्दर्भ को लेकर चर्चा आरम्भ करते हुए-उस कठिनाई को हल करने वाली एक अच्छी पुस्तक की चर्चा करनी चाहिए । जब उत्सुकता बढ़े तो अगले दिन देने का वायदा करके एक दिन और उत्सुकता को बढ़ने दिया जा सकता है । दूसरे दिन जाते ही हाथ में पुस्तक थमा देने की अपेक्षा-फिर कल वाले विषय पर चर्चा करनी चाहिए और सुझाये हुए समाधान से इन्हीं जैसे दूसरे लोगों को राहत मिली हो उसका जिक्र करना चाहिए । भूख लगने पर भोजन अच्छा भी लगता है और पचता भी है । उत्सुकता जगाने में जो माथा-पच्ची करनी पड़ती है, मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का परिचय देना पड़ता है उसी पर झोला पुस्तकालय की सफलता निर्भर है ।

जनसम्पर्क का समय मात्र पुस्तकें वापस लेने के लिए ही नहीं है, वरन् उसका अधिक उपयोग वार्तालाप करने में-उत्कृष्ट विचारों का महात्म्य समझाने में है । सत्यनारायण व्रत को पण्डित लोग कथा के रूप मे उसका महात्म्य भी सुनाते रहते हैं । यदि विचार क्रान्ति का, ज्ञान यज्ञ का, भावनात्मक नवनिर्माण का महात्म्य समझाने में सफल हो गये तो समझना चाहिए बहुत बड़ा कार्य हुआ । इस प्रयास का आरम्भ दूसरे की परिस्थितियों तथा विचार-

धाराओं के साथ-ताल-मेल बिठाकर ही आरम्भ किया जाना चाहिए यह तथ्य समझ में आ जाय तो हर किसी में नवनिर्माण साहित्य के प्रति रुचि जगाई जा सकती है और उसका आन्तरिक धरातल ऊंचा उठाकर उसे अनेक उलझनों से उबारने में सहायता दी जा सकती है। हमें नित्य अपना दो घण्टा समय इसी जनसम्पर्क में-विचार विनिमय तथा पुस्तकें देने, लेने में लगाना चाहिए।

झोला पुस्तकालय चलाने के लिए घर में ज्ञान मन्दिर स्थापित होना चाहिए। उसमें कम से कम दस पैसे रोज डालने चाहिए। कमाई में से भी हमें तीन, चौथाई भौतिक खर्च के लिए और एक चौथाई आत्मिक प्रयोजन के लिये, ज्ञान यज्ञ के लिए देना चाहिए। पर आरम्भ दस पैसे मात्र से भी किया जा सकता है। उसमें नियमितता बनी रहे इसलिए संस्था द्वारा इसी प्रयोजन के लिए बनाये गये ज्ञान घट अपने यहाँ स्थापित कर लेना चाहिए। दस पैसे रोज से महीने में तीन रुपये होते हैं। उस धन से मासिक अखण्ड ज्योति, मासिक और पाक्षिक युग निर्माण योजना तथा ट्रैक्ट, विज्ञप्ति आदि मँगाते रहना चाहिए। झोला पुस्तकालय के लिए हर महीने नया साहित्य इतने पैसे से भी काम-चलाऊ मात्रा में आता रह सकता है।

भावनात्मक नवनिर्माण का यह आरम्भिक प्रयास परिवार के हर सदस्य को पढ़कर या सुनकर लाभान्वित न करता हो किन्तु बाहर के परिचय में यों इस प्रकाश को फैलाना ही चाहिए।

हमारा विकासक्रम रुके नहीं

प्रकृति का क्रम है कि प्रारम्भ छोटे रूप में हो क्रमशः विकास चरम-बिन्दु तक हो। मनुष्य की स्वाभाविक प्रक्रिया भी यही है। बालक शरीर के साथ-साथ मन से भी छोटा होता है। बुद्धि ही नहीं भावना भी छोटी होती है। छोटा बालक हर किसी से कुछ प्राप्त करने की ही आशा करता है। माँ से दूध, बहिन से गोदी की सवारी, पिता से मिठाई, भाई से खिलौना, हर सम्बन्धी से कुछ पाने की ही उसकी इच्छा होती है। थोड़ा बड़ा होता है, स्कूल जाता है, तो साथी, सहपाठियों को अपनी पुस्तक, खड़िया, पेन्सिल नाश्ता में से कुछ हिस्सा देने लगता है। अपने खिलौनों से उन्हें खेलने देता है। यह उदारता का, आत्म-भूमिका के क्रमिक विकास का अगला कदम बढ़ा।

इसके बाद उम्र बढ़ती है। विवाह होता है। अपनी शौक, मौज, इच्छा, आवश्यकता में कटौती करके पत्नी के लिए उपहारों का सिलसिला शुरू होता है। स्वयं का खाना-पहनना उतना अच्छा नहीं लगता जितना पत्नी को खिलाना-पहनाना। यह आत्म-भाव के विस्तार की प्रक्रिया है। इसके बाद बच्चे होते हैं, उन्हें खिलाना, पिलाना, हँसाना, प्रसन्न रखना, अपनी प्रसन्नता का कारण बन जाता है। स्वयं बढ़िया खाने-पहनने में उतना आनन्द नहीं आता जितना बच्चों को खाते-पहनते देखकर प्रसन्नता होती है।

अपने खर्च में, सुख-सुविधाओं में कटौती करके बच्चों को सुखी-समुन्नत बनाने में ही आकांक्षाएँ केन्द्रित हो जाती हैं। आयु के साथ-साथ यह क्रम और भी बढ़ता है। वयोवृद्ध, बुड्ढे, बुढ़िया खुद रूखा-सूखा, बचा-कुचा खाकर, टूटा-फटा पहनकर सन्तुष्ट रहते हैं और बच्चों की प्रसन्नता में उतना ही आनन्द लेते हैं जितना बचपन में अपने खाने-पहनने या कुछ पाने में होता था। अब लेने की आकांक्षा चली जाती है और देने ही देने की बात सूझती है। बच्चे काम-धन्धे में लग जावें तो उनसे अपना कर्ज वसूल किया जाए बात सूझती ही नहीं। वरन् जो कुछ जमापूँजी, जेवर-जायदाद पास में है, उसे कितना, किस बहाने दें, यही उधेड़बुन मस्तिष्क में चलती रहती है, और अन्ततः मरने के समय पूरी तरह खाली हाथ होकर-जीवनभर का समस्त उपार्जन घर-परिवार वालों के लिए छोड़कर विदाई ले ली जाती है।

यह प्रकृति प्रदत्त क्रम है। प्रकृति चाहती है कि सृष्टि की सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि आयु वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य अधिक उदार बनता चला जाए और अपने उपार्जन का, योग्यता का अधिकाधिक लाभ अपने से छोटों को, पिछड़ों को देता चला जाय। उसी प्रकृति की इच्छा के अनुसार स्वभावतः अन्तःप्रेरणा काम करती है और वैसा ही करने, बदलने के लिए मनुष्य को उस प्रकृति क्रम के आगे विवश होना पड़ता है।

यह भौतिक प्रक्रिया का, प्रकृति चेतना का क्रम हुआ। इसी क्रम की उच्च अन्तःस्थिति में आत्मिक चेतना-दिव्य प्रकृति विकसित करना चाहती है। घर की दीवार में बन्द चन्द लोगों को कुटुम्ब-परिवार से आगे बढ़कर उदात्त चेतना-वसुधैव कुटुम्बकम् की मान्यता अपनाने की प्रेरणा करती है। अपना आपा, एक शरीर या एक घर तक सीमित न रखकर आकाश की तरह व्यापक बनने के लिए उमंग उत्पन्न करती है। दैवी सुकृति की, ईश्वरीय चेतना की-आत्मिक प्रेरणा की यही दिशा है। जो इस क्रम से अग्रसर हो रहा हो समझना चाहिए उसी में आत्म-विकास की प्रक्रिया सही दिशा, सही रीति से विकसित हो रही है। जो भौतिक प्रकृति के बन्धनों तक बँधा है, शरीरगत महत्वाकांक्षाओं में तो बढ़ा पर चन्द लोगों के परिवार तक सीमित हो गया समझना चाहिए। यह अभी जड़ प्रकृति के ही संकेतों पर चल रहा है, आत्मिक प्रकाश की किरणें उस तक नहीं पहुँचीं। यदि पहुँचती तो उसे इस सीमित परिधि से और भी आगे बढ़ने के लिए विवश होना पड़ता। वह अपना आपा विश्व-मानव व्यापक क्षेत्र में विस्तृत करता और लोक-मंगल को भी अपने अति आवश्यक नित्य कर्मों में सम्मिलित करता। हमें आत्मिक दृष्टि से अविकसित स्तर पर नहीं पड़ा रहना। थोड़ा-सा पूजा-पाठ, जप-ध्यान करके अपने आत्मिक कर्तव्य की इतिश्री नहीं मान लेनी चाहिए। वरन् अंतःप्रेरणा और कर्मपद्धति में आध्यात्मिक प्रकाश को समग्र रूप से ओत-प्रोत करना चाहिए। जीवन

लक्ष्य इसी प्रकार पूरा हो सकता है । आत्म-शक्ति इसी प्रकार मिल सकती है ।

युग-निर्माण योजना न केवल समाज निर्माण की, वरन् व्यक्ति निर्माण की एक सर्वांगीण जीवन साधना है । इसमें लोक-कल्याण के जितने तथ्य सन्निहित हैं उससे हजार गुनी सम्भावनाएँ आत्म-विकास और आत्म-कल्याण की भरी हुई हैं । इसे एक योगाभ्यास तप-साधना कहा जाय तो उचित ही होगा । इस पद्धति के माध्यम से चलने वाले को तपोवन में घर बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती वरन् उसका घर जीवन ही तपोवन बन जाता है । दृष्टिकोण में उदात्त उत्कृष्टता का समावेश, क्रियाकलाप में उत्कृष्ट आदर्शवादिता का समन्वय, आत्मोन्नति का एक ही मार्ग है । इसे भूतकाल के साधु-ब्राह्मण उस समय की परिस्थिति और आवश्यकता के अनुरूप कार्यान्वित करते थे । आज की परिस्थिति और आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए यह युग-साधना सामने आई है । बाह्य कर्म पद्धति में अन्तर समयानुसार किया गया है पर अंतरंग में यह पूर्णतया आत्म-कल्याण की ही पुरातन जैसी पुण्य प्रक्रिया ही है ।

युग निर्माण परिवार की सदस्यता का आरम्भ एक घण्टा समय और बीस पैसा नित्य ज्ञान-यज्ञ के लिए नियोजित करते रहने के रूप में आरम्भ कराया जाता है । यह स्कूल जाने वाले छात्र का पट्टी पूजन है-श्री गणेश है-न्यूनतम रूप है । घोड़े या बैल को आरम्भ में गाड़ी में जोतते हैं तो हलका वजन रखते हैं ताकि वह गड़बड़ाने, लड़खड़ाने न लगे । आरम्भ में साधने के लिए ही कम बोझ डाला जाता है । पर ऐसा नहीं हो सकता कि आजीवन केवल उतना ही हलका या सधने के समय वाला श्रम ही पर्याप्त मान लिया जाए । परिपक्वता के साथ वजन ढोने की क्षमता भी बढ़ती है और उसे वह ढोने के लिए विवश भी किया जाता है ।

हँसी-खेल की तरह अपने शौक-मौज में से एक घण्टा निकाल देना बहुत ही सरल और पता भी न चलने वाला कार्य परिवर्तन मात्र है । इसी प्रकार दस पैसा कितना स्वल्प होता है-आधे कप चाय से भी कम, एक पान की कीमत । अनिच्छा, अश्रद्धा हो तो यह भी असहनीय भार है, पर जहाँ उपयोगिता स्वीकार कर ली गई है वहाँ कार्य के महत्व की तुलना में इतना नगण्य-सा त्याग करते रहना किसी व्यस्त से व्यस्त और निर्धन से निर्धन व्यक्ति के लिए भी हँसी-खेल जितना ही होगा ।

कदम इससे आगे बढ़ने चाहिए । अनिवार्य सदस्यता शर्त को पूरा करने वाले युग-निर्माण परिवार में सक्रिय सदस्य माने जाते हैं । उनमें तनिक-सी ही सही, सक्रियता तो आई । आदर्शों के लिए कुछ अनुदान देना तो सीखा । आरम्भ थोड़ा है तो आगे उसमें बढ़ोत्तरी हो सकती है । उच्च विचारों को उच्च कर्तृत्व के साथ जोड़ देने का साहस, आत्मिक सक्रियता माना गया है । अस्तु, इन प्रारम्भिक श्रेणी के किन्तु निष्ठा का प्रमाण देने वालों को परिवार का सक्रिय सदस्य ठीक ही कहा गया है ।

इससे अगला कदम कर्मठ कार्यकर्ता का है । आस्था, निष्ठा, गम्भीरता और परिपक्वता बढ़ेगी तो यह अधिक काम करने की, अधिक त्याग करने की प्रेरणा करेगी ही और यह तड़पन इतनी प्रबल होगी कि रोकने से रुकेगी भी नहीं । तब कुछ अधिक करना पड़ेगा । २४ घण्टा समय में से छठा हिस्सा ४ घण्टा आत्मिक प्रयोजनों के लिए लगाना ही पड़ेगा । प्राचीनकाल में हर सद्गृहस्थ अपने समय और धन का एक चौथाई भाग धर्म प्रयोजन के लिए निकालता था । उतना न सही छठा अंश तो चाहिए ही । सोने, कमाने और इधर-उधर के प्रयोजनों में २० घण्टे लगाना कम न[हीं] । आत्म-कल्याण की अविच्छिन्न साधना युग-निर्माण सा[धना] के लिए-४ घण्टे का समय नियोजित करना ही चाहि[ए] और आजीविका में से चौथाई न सही ३०वाँ अंश, महीने में एक दिन का उपार्जन तो इस परम पुनीत ईश्वरीय प्रयोजन के लिए अर्पण करना ही चाहिए । ज्ञान-यज्ञ की अनेक सूझी दिशाओं का चिन्तन कुछ अधिक त्याग किए बिना कैसे सम्भव हो सकता है । बीस पैसा प्रतिदिन में तो प्राय: पत्रिकाओं का चन्दा भर जमा हो सकता है । झोला पुस्तकालय के लिए अन्य साहित्य तथा विज्ञप्ति, पोस्टर आदि का प्रसार करने के लिए अधिक पैसा लगाना आवश्यक प्रतीत होगा । इसकी पूर्ति तभी सम्भव होगी जब महीने में कम से कम एक दिन की कमाई तो उसके लिए लगाई जाए । इसी प्रकार कुछ अधिक ठोस काम चार घण्टा लगाने पर ही सम्भव है । एक घण्टा तो इधर-उधर आने जाने की चिह्न-पूजा में ही समाप्त हो जाता है । काम करना हो तो उसके लिए अधिक समय ही देना पड़ेगा । किया हुआ कार्य कुछ ठोस परिणाम दिखा सके, इसके लिए सक्रिय सदस्यता का विकास कर्मठ-कार्यकर्ता में ही होना चाहिए ।

इससे अगला और अन्तिम काम कर्मयोगी वानप्रस्थ का है । जिसके पास घर-परिवार के गुजारे के लिए संचित पूँजी मौजूद है, उन्हें बिना एक दिन की प्रतीक्षा किए इसी वर्ग में-किसी भी आयु में सम्मिलित हो जाना चाहिए । गुजारे की व्यवस्था होने पर भी अधिक कमाई के लालच में फँसे रहना लोभ और मोह के घृणित बन्धनों में बँधे रहना, किसी जाग्रत आत्मा को शोभा नहीं देता । अगले दिनों समाजवादी व्यवस्था आ रही है । उसमें हर व्यक्ति को उतना ही मिलेगा जितनी आवश्यकता है और हर किसी को कठोर श्रम करने के लिए विवश होना पड़ेगा । किसी को भी बाप-दादों की कमाई खाने के लिए नहीं मिलेगी । उत्तराधिकारी बेटे-पोते नहीं वरन् समाज, राष्ट्र होगा । इन सुनिश्चित संभावनाओं को देखते हुए, यह लिप्सा छोड़ ही देनी चाहिए कि जब तक जिएँ तब तक पैसा बचाने में ही लगे रहें ।

यदि संचित पूँजी नहीं है तो फिर उस समय तक कर्मयोगी वानप्रस्थ बनने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जब तक कि बच्चे कमाने लायक नहीं हो जाते । बड़े बच्चे को आरम्भ से ही यह शिक्षा देते रहना चाहिए कि उसे अपने

छोटे भाई-बहिनों की सहायता के रूप में माता-पिता के ऋण से उऋण होना है । यदि यह धर्मश्रद्धा बड़े बच्चे के अन्तःकरण में उतार दी गई है, तो वह खुशी-खुशी छोटे भाई-बहिनों का भार अपने कन्धों पर उठा लेंगे, किन्तु यदि आरम्भ से ही बाप की दौलत समेटने और उससे गुलछर्रे उड़ाने के सब्जबाग दिखा दिये गये हैं, तो फिर बाप का पिण्ड तब तक छूटना मुश्किल है जब तक उसकी हड्डी पसली कोल्हू में पूरी तरह नहीं पिस जाती 'दौलत कमाओ' बेटे को छोड़ो का अन्धेर ही आज हर जगह छाया हुआ है । लोभ-मोह के बन्धनों में बँधे हुए नरक के कीड़े स्वयं को और अपने बच्चों को दुर्नीति में फँसाकर दुर्गति की ओर घसीटे लिए जा रहे हैं । हमें विवेक-बुद्धि से काम लेकर इस स्थिति से साहसपूर्वक उबरना चाहिए । आत्मिक-प्रगति का सच्चा प्रमाण यह व्यावहारिक साहसिकता ही देगी । चारों धाम की यात्रा करके स्वर्ग के लिए बिस्तर बाँधे बैठे रहना सर्वथा उपहासास्पद और अज्ञानमूलक ही सिद्ध होगा ।

पहले से ही ध्यान रखा जाय तो परिवार को स्वावलम्बी बनाने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है । पत्नी को सुशिक्षित बनाकर स्वावलम्बी बनाया जा सकता है । उठती आयु में ही एक दो बच्चे पैदा करके वह क्रम समाप्त किया जा सकता है । युवावस्था के उपार्जन से या पैतृक सम्पत्ति के सहारे घर-परिवार को अपने पाँवों आप खड़े होने योग्य बनाया जा सकता है । पेन्शन आदि मिलती हो तो छोटे बालकों का उससे भी काम चल सकता है । घर में कई भाई कमाने वाले हों तो एक भाई को लोकमंगल के लिए समर्पित कर सकते हैं । इच्छा और उत्कंठा की बात प्रधान है । उस ढंग से सोचना शुरू किया जाय तो समय से पहले भी कुछ मार्ग निकल सकता है अन्यथा बच्चों के स्वावलम्बी बनने के बाद तो हर हालत में व्यक्ति का कार्य लोकमंगल के लिए अपने आप को समर्पित करके समाज का ऋण चुकाने और जीवनोद्देश्य के साथ जुड़े हुए ईश्वरीय अरमानों, आदेशों को पूरा करने के लिए जुट ही जाना चाहिए ।

कर्मयोगी वानप्रस्थ ही इस युग का श्रेष्ठतम संन्यास है । अब न कहीं वन हैं और न उनमें निर्वाह के लिए फल फूल हैं । पहले की तरह अब किसी के वनवासी, संन्यासी होने की गुंजायश नहीं । भिक्षा का अन्न इन दिनों अत्यन्त हेय है । लोगों की कमाई सात्विक नहीं रही, श्रद्धा चली गई, फिर यदि हो भी तो अपने स्वर्ग मुक्ति जैसे स्वार्थ साधन के लिए किसी की भिक्षा स्वीकार करना आत्मिक पतन का चिह्न है । कुछ भजन किया भी तो वह जिसका अन्न खाया उसके कर्ज में चला जाएगा । अपने पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा । ऐसी परिस्थितियों में किसी को भी भिक्षा-जीवी संन्यासी की पुरानी परम्परा नहीं अपनानी चाहिए । उस परम्परा के साथ जो शारीरिक, मानसिक अत्यन्त कठोर प्रतिबन्ध जुड़े हुए हैं, वे भी किसी से निभते नहीं, इस प्रकार संन्यास का मखौल ही बनता है । हममें से किसी को भी संन्यासी होने की बात नहीं सोचनी चाहिए वरन् यदि जीवन ईश्वर को समर्पित करना हो तो कर्मयोगी वानप्रस्थ ही आजीवन रहना चाहिए ।

घर में रहकर घरवालों की थोड़ी सहायता, परामर्श देते हुए वहाँ रोटी खाते रहना नितान्त न्यायानुकूल है । वस्त्र सादे ही पहनने चाहिए । आवश्यक हो तो प्रतीक रूप में पीला दुपट्टा, तौलिया या रूमाल अपने कर्तव्य और स्तर का स्मरण दिलाते रहने के लिए रखा जा सकता है । यज्ञोपवीत पीला रंगे रहने से भी काम चल सकता है । अब ब्रह्मचर्य का बन्धन इतना ही पर्याप्त है कि बच्चे पैदा न किये जाएँ । बुढ़ापे में बच्चे उत्पन्न करना वैसे भी एक प्रकार की लानत है । जितना संयम सधे उतना निबाहा जाय, पर संतानोत्पादन से हर हालत में बचा जाय । आहार-विहार में जितनी सात्विकता बरती जा सके उतना अच्छा । स्वाध्याय-भजन के लिए समय की मात्रा बढ़ा दी जाए । इतने ही नियमोपनियम इन दिनों कर्मयोगी वानप्रस्थ के लिए पर्याप्त हैं । मूल तथ्य यह है कि उसे अपने समय श्रम और मनोयोग का अधिकाधिक भाग संसार में सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन के लिए, भावनात्मक नवनिर्माण के लिए समर्पित करना चाहिए ।

लोक-सेवी, अनुभवी और निस्पृह कार्यकर्ताओं की पूर्ति वानप्रस्थ आश्रम ही करता था । प्राचीनकाल की भारतीय गरिमा का आधार साधु-ब्राह्मणों की, वानप्रस्थों की, जनकल्याण के लिए आत्मसमर्पण की भावना ही थी । उसके कारण सुयोग्य व्यक्तियों का बाहुमूल्य समय, श्रम, ज्ञान और मनोयोग लोक-मंगल के लिए बिना मूल्य मिलता था । फलस्वरूप समस्त सत्प्रवृत्तियाँ पूरी तरह फलती-फूलती थीं । आज समाज कल्याण के हर काम के लिये सरकार कर्मचारी रखती है । उनका महँगा वेतन, भत्ता इस पर भी कामचोरी, भावनाओं का अभाव, अनुभव की कमी जैसी बातें जुड़ जाने से लकीर ही पिटती है । काम के और ईमानदार आदमी उनमें कम ही होते हैं । जो होते हैं, वे वेतन भोगी होने के कारण पारमार्थिक प्रवृत्तियाँ जन्मा पाने में असफल रहते हैं ।

इस अभाव की पूर्ति कर्मयोगी वानप्रस्थ ही करेंगे । युग निर्माण परिवार के परिजनों को ही क्रमशः सक्रिय सदस्य की कक्षा से आगे बढ़कर कर्मठ कार्यकर्त्ता के रूप में विकसित होना होगा और फिर अन्ततः कर्मयोगी वानप्रस्थ बनकर पूरी श्रद्धा और तत्परता के साथ कार्यक्षेत्र में उतरना होगा ।

काम कितना अधिक करने को पड़ा है, मंजिल कितनी लम्बी पार करनी है, विकृतियों की जड़ कितनी गहरी हैं, सृजन के कितने साधन जुटाने हैं, उसे देखते हैं तो लगता है कि इस युग के हर भावनाशील जाग्रत और जीवित व्यक्ति को गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, समर्थ गुरु रामदास, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, गाँधी, दयानन्द आदि की तरह भरी जवानी में ही कर्मक्षेत्र में पड़ना चाहिए । बुढ़ापे का इन्तजार नहीं देखना

पर इतना साहस न हो तो कम से कम इतना तो करना ही चाहिए कि पके फल की तरह पेड़ में चिपके रहने की धृष्टता न करें । जिनके पारिवारिक उत्तरदायित्व पूरे हो चुके हैं वे घर-गृहस्थी की छोटी सीमा में ही आबद्ध न रहकर विशाल कर्मक्षेत्र में उतरें और जन-जाग्रति का शंख बजाएँ, युग परिवर्तन की कमान सम्भालें ।

आत्मिक विकास की दिशा में आगे बढ़ने की हमारी पद्धति इसी दिशा में चलनी चाहिए । दीपक की तरह अपने को जलाकर संसार में प्रकाश उत्पन्न करने की तैयारी करनी चाहिए । देवताओं को जन्त्र-मन्त्र से वश में करके इस लोक में भौतिक मनोकामनाएँ पूर्ण करने और परलोक में स्वर्ग का मजा लूटने की तरकीबें भिड़ाते रहने वाले ओछे लोगों के वर्ग में सम्मिलित होने से हमें बिलकुल इनकार कर देना चाहिए । यह भटके हुए लोग किसी का मार्ग-दर्शन नहीं कर सकते । उस तरफ हमें भूलकर भी नहीं सोचना चाहिए । हमें आत्मिक विकास की अन्तिम श्रेणी कर्मयोगी वानप्रस्थ की माननी चाहिए । अपने लोभ-मोह और काम-क्रोध पर विजय प्राप्त करनी चाहिए । भगवान ने जो शरीरबल, बुद्धिबल, साधनबल दिया है उसे सच्चे मन से विश्व मानव के, नर नारायण के चरणों पर अर्पित करने के लिए उल्लास और उत्साह उत्पन्न करना चाहिए । वह आत्मसमर्पण व्यक्ति का भी कल्याण करेगा और समाज के लिए भी सुख-सौभाग्य के दिन वापिस लावेगा । युग निर्माण परिवार के परिजनों का आत्मिक विकासक्रम इसी दिशा में गतिशील रहना चाहिए । वे सक्रिय सदस्य से कर्मठ कार्यकर्ता बनें और अन्ततः कर्मयोगी वानप्रस्थ के रूप में जीवन यज्ञ की पूर्णाहुति करते हुए पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करें ।

हम संघबद्ध होकर काम करें

अपने प्रयत्न से नव-निर्माण विचारधारा से प्रभावित एक समुदाय इस परिवार के प्रत्येक सदस्य को बनाने का प्रयत्न करना चाहिए । इस अभियान के सम्पर्क में आने पर व्यक्ति की विचारणा उत्कृष्टता की ओर और कार्यपद्धति आदर्शवादिता की ओर निश्चित रूप में अग्रसर होती है । वे स्वयं अपना स्तर ऊँचा उठाने से सुख-शान्तिमय समुन्नत जीवन जीते हैं और अपने सम्पर्क में आने वालों को हर्षोल्लास भरी परिस्थिति में रहने का अवसर देते हैं । वे शान्ति से जीते हैं और चैन से जीने देते हैं । चन्दन का वृक्ष अपने आस-पास उगते हुए झंखाड़ों को भी सुगन्धित बना देता है । युग निर्माण विचारधारा के सम्पर्क में आया हुआ व्यक्ति चन्दन वृक्ष से कम नहीं अधिक ही होता है ।

बिहार प्रान्त में एक निःसन्तान किसान था, नाम था-'हजारी ।' किसी ने बताया कि यदि वह आम्र वृक्ष लगाये तो उसके पुण्य से सन्तान हो सकती है । उसने स्वयं आम्र वृक्ष लगाये और दूसरों से लगवाये । इन पेड़ों की छाया, लकड़ी, हरीतिमा, फल, फूलों से कितनों को लाभ मिलेगा, यह सोचा तो हजारी को यह कार्य परम पवित्र लगा । व उसी काम में जुट गया । घर में गुजारेभर का खेत था । वह उस क्षेत्र में दूर-दूर तक घूमा, हर घर में यह समझाने के लिए गया कि आम्र वृक्ष लगाना पुण्य है सो दूसरों ने भी उसकी नेक सलाह मानी और उस क्षेत्र में आमों के हजार बाग लग गये । उसकी इस सेवा का मूल्यांकन किया गया तो हर किसी ने उसे भूरि-भूरि सराहा । आम्र उपवनों के क्षेत्र का नाम-हजारी किसान की स्मृति में हजारी बाग रख दिया । वह अब बिहार प्रान्त का प्रख्यात जिला है ।

हममें से हर परिजन को 'हजारी' बनने का प्रयत्न करना चाहिए । युग निर्माण परिवार का किसी को सदस्य बना देना उसे आम्र वृक्ष नहीं कल्पवृक्ष बना देना है । वह अपने लिए और दूसरों के लिए कितना उपयोगी सिद्ध होगा इसकी कल्पना की जाए तो उत्कृष्ट विचारधारा से ओत प्रोत व्यक्ति को निःसन्देह कल्पवृक्ष ही नाम दिया ज सकता है । उन्हें लगाने वालों को मनुष्य तो क्या भगवान भी सराहेगा और उसकी आत्मा इस सत्प्रयत्न के लिए गहरा संतोष व्यक्त करेगी । हमें निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए कि अधिकाधिक लोग इस विचारधारा के सम्पर्क में आयें और अपने व्यक्तित्व में महानता का समावेश करके मानव जाति का भविष्य उज्ज्वल बनाने की महत्वपूर्ण भूमिका सम्पादित करें ।

अपने उपार्जित इन सभी पृष्ठों-पुष्पों को एक माला मे पिरोकर उसे नर-नारायण के चरणों में श्रेष्ठतम श्रद्धांजलि की तरह अर्पण करना चाहिए । संगठित सज्जनों को ही देव समाज कहते हैं । इन लोगों को ही संगठित करने का कार्य भी अपने पवित्र कर्तव्य में सम्मिलित रखना चाहिए ।

युग निर्माण शाखा संगठन वहाँ स्थापित हो जाता है जहाँ न्यूनतम पाँच सक्रिय सदस्य होते हैं । एक घण्टा समय और बीस पैसा ज्ञानयज्ञ के लिए देने वालो को सक्रिय सदस्य माना जाता है । ज्ञान घट की स्थापना उनके संकल्प की सुनिश्चितता का प्रमाण है । अपने सम्पर्क क्षेत्र में पहले के भी बहुत लोग उसमें ऐसे हो सकते हैं जो इस आन्दोलन से परिचित एवं प्रभावित तो हों पर संघबद्ध होने के लिए किसी के द्वारा प्रोत्साहित न किए जाने से ऐसे ही जहाँ के तहाँ बिखरे पड़े हों । इन्हे ढूँढ़ा जाय तो उनकी भी बड़ी संख्या अपने क्षेत्र में मिल सकती है । इन सभी के पास एक बार संघबद्ध होने का अनुरोध लेकर जाना चाहिए । यदि टोली बनाकर इसी कार्य के लिए खड़े हो जाया जाए, आन्दोलन के हर समर्थक, प्रशासक, प्रभावित और परिचित व्यक्ति को सक्रिय सदस्य बनने के लिए आग्रह एवं अनुरोधपूर्वक कहा-समझाया और दबाया जाए, तो विश्वास किया जाना चाहिए कि उनमे से ८० प्रतिशत व्यक्ति सदस्यता स्वीकार करने के लिए तैयार हो जायेंगे और ज्ञान घट स्थापित कर लेंगे ।

इन सक्रिय सदस्यों को बार-बार इकट्ठे होने, मिलने-जुलने, विचार-विमर्श करने और कदम से कदम

मिलाकर कुछ काम करने की व्यवस्था बनानी चाहिए, तभी वह संगठन गतिशील रह सकेगा अन्यथा उत्साह धीरे-धीरे शिथिल पड़ता जाएगा और कुछ दिन में ठंडा पड़ जाएगा। इस संगठन को सक्रिय बनाये रखने के लिए कुछ अतिरिक्त सेवा करते रहने के लिए उन्हीं लोगों में से एक कर्त्तव्य परायण शाखा संचालक चुनना चाहिए और उसकी नियुक्ति केन्द्र से करा लेनी चाहिए। अपने, संगठनों में पद-लोलुपता के लिए कोई स्थान नहीं है। एक कार्यवाहक की नियुक्ति पर्याप्त है जैसे चपरासी, चौकीदार का पद होता है यह लगभग वैसा ही है। चैयरमैन की तरह यह ऊँची कुर्सी पर बैठे ऐसी विडम्बना अपने यहाँ आरम्भ से ही नहीं रही है। कार्यवाहक की नियुक्ति, शाखा कार्यालय का स्थान निर्धारण यह दो बातें आवश्यक हैं। यह दो काम हो जाने पर अपनी छोटी शाखाओं का छोटा -सा कार्य विधिवत् आरम्भ हो जाता है।

शाखा के मुख्य कर्तव्य यह हैं (१) सदस्यों में घनिष्टता उत्पन्न करना। (२) प्रत्येक सदस्य के समयदान का उपयुक्त निर्धारण, विभाजन और स्वरूप निर्धारित करना। (३) ज्ञान घटों का धन एकत्रित करके उनका साहित्य इकट्ठा मँगाना और उन तक पहुँचाना (४) प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक शतसूत्री कार्यक्रमों को स्थानीय स्थिति के अनुरूप कार्यान्वित करना।

संक्षेप में यह चार कार्य विभाजन हैं, उनके साथ अगणित उत्तरदायित्व और क्रियाकलाप जुड़े हुए हैं। उनमें से स्थानीय सामर्थ्य के अनुसार जितना अधिक किया जा सकता हो करना चाहिए।

आमतौर से यह सोचा जाता है कि धनवान्, विद्वान् प्रतिभावान बड़े आदमी जिस कार्य को हाथ में लेते हैं वह पार पड़ता है। पर अपने शाखा संगठन पुरानी मान्यताओं को गलत सिद्ध करके एक नया कीर्तिमान स्थापित कर रहे हैं कि यदि भावनाओं में गहराई, हृदय में तड़पन और पुरुषार्थ में प्रवाह हो तो छोटे समझने वाले व्यक्ति भी वह कर सकते हैं जिसे देखकर बड़े कहलाने वाले आश्चर्य से चकित रह जाएँ। ऐसा हो सकता है-यह बात पीछे पड़ गई, यह प्रमाणित किया जा रहा है कि ऐसा ही हो रहा है। यह विश्वव्यापी महापरिवर्तन मध्यमवर्ग के द्वारा आरम्भ हो रहा है और बिना तथाकथित बड़े लोगों की प्रतीक्षा किए हुए ही संगठन अपनी श्रद्धासिक्त तत्परता के आधार पर वह कार्य कर रहा है जो एक प्रकार से अनुपम, अद्भुत और ऐतिहासिक ही कहा जा सकता है।

उच्च उद्देश्य के लिए उच्च आदर्श वाले व्यक्तियों का एकत्रीकरण एक और एक ग्यारह की उक्ति को चरितार्थ करता है। अपने शाखा संगठन भले ही कलेवर और साधनों की दृष्टि से छोटे हैं पर उनमें जो भावनिष्ठा और दूरदर्शिता का समावेश होता है उनके कारण वे आशातीत काम कर गुजरें तो इसमें कुछ अचम्भा नहीं माना जाना चाहिए।

यह विचारधारा ही अत्यन्त उच्चकोटि की है। फिर उनको शक्ति का पोषण मिल गया तो उसके प्रयासों का आँधी-तूफानों की तरह उठ खड़ा होना स्वाभाविक है। थोड़े से डाकू बहुत बड़े समुदाय पर संघ शक्ति के बल से विजय पा जाते हैं, उसी प्रकार संघ शक्ति से सम्पन्न देवत्व हजार गुना अधिक प्रभावी होगा। युगनिर्माण शाखाएँ उसी का उपभोग नवनिर्माण के महान मिशन को अग्रसर करने के लिए कर रही हैं। फलस्वरूप यह छोटे-छोटे संगठन चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं।

हमें संगठित होकर काम करने का महत्व समझना चाहिए। युग निर्माण आन्दोलन के समर्थक हर परिजन को संघबद्ध हो जाना चाहिए। इस विचारधारा के लोगों की हर जगह शाखाएँ गठित होनी चाहिए और उनके सदस्यों को सृजन सेना के सैनिक बनकर धरती पर स्वर्ग के अवतरण का-मनुष्य में देवत्व के उदय का लक्ष्य पूरा करने के लिए आगे बढ़ना चाहिए।

पिछड़ापन दूर करने में परिवार अग्रणी रहे

पिछले दिनों मनुष्य समाज के जिन दो वर्गों का बे-तरह शोषण, उत्पीड़न हुआ है उनमें एक है-नारी, दूसरा है-अछूत मनुष्य। उन्हें मनुष्य जाति की सदस्यता से भी एक तरह से वंचित किया गया है। उनके जन्मजात अधिकारों को इस तरह पददलित किया गया है कि न्याय और नीति को लज्जा से सिर झुका लेना पड़ता है।

नर और नारी की मूलभूत सत्ता में कोई अन्तर नहीं। दोनों ही एक पक्षी के पंख हैं। एक प्राणी के दो पैर, दो हाथ हैं। न इनमें कोई छोटा है, न बड़ा। न किसी के अधिकार अधिक हैं, न कम। न किसी का पद ऊँचा है, न नीचा। दोनों की शारीरिक स्थिति में यत्किंचित अन्तर है तो वह एक दूसरे से बढ़कर विशेषता सम्पन्न होने की दृष्टि से ही है दोनों ही एक दूसरे से बढ़कर हैं, दोनों में से हेय कोई भी नहीं।

किन्तु इस स्वाभाविक स्थिति को पिछले दिनों अस्वीकार किया। पुरुष ने केवल अपने को श्रेष्ठ बताया तथा अपनी पाशविक सत्ता के बल पर अपनी सहचरी को पददलित भी कर दिया। उसके सामान्य और स्वाभाविक अधिकारों का अपहरण कर लिया। जिस तरह पशु को वह न्याय नहीं मिलता जो मनुष्य वर्ग के लोग आपस में देते हैं, उसी प्रकार नारी को भी उन अधिकारों से वंचित कर दिया गया जो मनुष्य जाति के सदस्य होने के नाते उन्हें मिलने चाहिए थे।

उसी आततायी आतंक का फल है कि नारी को आज पददलित, परमुखापेक्षी, दीन-हीन जीवनयापन करना पड़ रहा है, पिंजड़े में बन्द पक्षी की तरह-आजीवन कारावास दण्ड पाये हुए कैदी की तरह उसे पुरुष की चेरी, दासी, पैर की जूती बनकर जीवनयापन करना पड़ रहा है। नर को हर प्रकार की छूट है और नारी पर हर प्रकार के बन्धन। धर्मशास्त्रों से लेकर समाज व्यवस्था तक ने उन्हें

पग-पग पर पद्‌दलित स्थिति का समर्थन दिया, ऐसी स्थिति में यदि वह दिन-दिन गई गुजरी स्थिति में गिरती, विपन्नताओं से घिरती चली जाय तो आश्चर्य ही क्या है ?

इस अन्याय का, शोषण-उत्पीडन का अन्त होना ही चाहिए, न्याय और विवेक के आधार पर आधारित नवयुग की आधारशिला समता और ममता की पृष्ठभूमि पर विनिर्मित होगी । नर और नारी के बीच की अनीतिमूलक असमानता स्वीकार न की जाएगी । न्याय और कानून दोनों के लिए एकसमान होगा । जो प्रतिबन्ध एक पर लागू होंगे वे ही दूसरे को भी स्वीकार करने पड़ेंगे । जो सुविधा एक चाहेगा वही दूसरे को भी देनी चाहिए । लिंग भेद के आधार पर चल रही वर्तमान विषमता को निरस्त होना ही पड़ेगा ।

इसी प्रकार जाति-पाँति के नाम पर चल रही ऊँच-नीच की अन्धेरगर्दी का भी अन्त होना है । भ्रष्ट दुराचारियों को पतित घोषित किया जाय । उनका सामाजिक बहिष्कार हो, उन्हें अछूत समझा जाए तो कोई बात समझ में भी आती है पर यदि किसी वंश परिवार में जन्म लेने मात्र से किसी को ऊँच, किसी को नीच घोषित किया जाय तो यह सर्वथा अविवेकयुक्त, अनीतिमूलक मान्यता ही कही जाएगी । पिछले दिनों हिन्दू समाज में यह अन्याय भी खूब चला है । तथाकथित छोटे वंश में जन्म लेने के कारण श्रेष्ठ गुण, कर्म, स्वभाव युक्त सज्जनों को भी नीच, अछूत माना जाता रहा है और उन्हें पग-पग पर तिरस्कृत किया जाता रहा है । दूसरी ओर समस्त विशेषताओं से रहित अमुक वंश में श्रेष्ठ माने जाने की मान्यता के आधार पर ऊँचे, सम्माननीय कहे जाते रहे हैं । समय आ गया कि उन मूढ़-मान्यताओं का अन्त किया जाए और जाति तथा लिंग के आधार पर प्रचलित ऊँच नीच की मान्यता का अन्त किया जाए ।

युग निर्माण परिवार के स्त्री सदस्यों को यह विशेष कर्तव्य सौंपा गया है कि अपने पददलित वर्ग को ऊँचा उठाने में अपना ध्यान केन्द्रित करें और अपने वर्ग में सघन सम्पर्क बनाकर उसे ऊँचा उठाने के लिए, आगे बढ़ाने के लिए अधिकाधिक योगदान करें । सुख-सुविधाओं को लात मारकर वे नारी जाति के उत्कर्ष के लिए बढ़-चढ़ कर बलिदान प्रस्तुत करें ।

इसी प्रकार युग निर्माण परिवार के तथाकथित अछूतों को यह कहा गया है कि अपने वर्ग में जितनी अच्छी तरह-जितनी अधिक मात्रा में काम कर सकते हैं उतना दूसरे लोग नहीं कर सकते । उनमें से जिनमें जीवन हो प्रकाश हो-उत्पीड़न के प्रति दर्द-विद्रोह हो वे भी निजी सुख-सुविधाओं की योजना न बनाएँ वरन् पिछड़े वर्ग में प्रगतिशीलता उत्पन्न करने के लिए अपनी समस्त योग्यताओं को, साधनों को समर्पित कर दें ।

पुरुष का विशेष उत्तरदायित्व है कि वे नारी उत्कर्ष में अतिरिक्त योगदान देकर पिछले दिनों किए गए अन्याय का प्रायश्चित करें । इसी प्रकार संवर्ण लोगों का कर्तव्य है कि तथाकथित अछूतों को पिछले दिन लांछित किया गया है उतनी ही अधिक सुविधाएँ उन्हें ऊँचा उठाने तथा आगे बढ़ाने के लिए प्रदान करें । नीचे वाले ऊपर उठने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दें और ऊपर वाले पूरा सहारा देकर उन्हें ऊपर उठाएँ तभी वर्तमान विषमता का अन्त हो सकेगा । न्याय और नीति की परिस्थितियाँ तभी बनेंगी ।

नारी की क्षमता विकसित होने दी जाए

शताब्दियों, नर ने नारी का, पत्नी पुत्री और माता का रिश्ता होते भी बे-तरह शोषण किया है । एक ओर उसे जेवर-कपड़े से सजाता रहा और गीत-वाद्यों में उसके रूप यौवन की सराहना करने में अतिशयोक्ति का अन्त करता रहा । दूसरी ओर उसे पद्‌दलित, पराधीन और अपंग बनाने में भी कोई कमी न रखी । जिस तरह बेईमान दुकानदार लेने के बाँट अलग और देने के अलग रखकर बेईमानी पर पर्दा डाले रहता है, उसी प्रकार ऐसी प्रथा-परम्परा बनाई गई जिसमें पुरुष के साथ असाधारण पक्षपात और स्त्री के साथ आशातीत अनीति बरती गई । भगवान की दोनों भुजाएँ, दोनों आँखें नर-नारी हर दृष्टि से समान कर्तव्य और समान अधिकार लेकर जन्मे हैं पर एक तानाशाह बन बैठा और दूसरे को पतित पशुओं से भी गुजरी स्थिति में पटकने जैसे बन्धन प्रतिबन्ध लगा दिए गए । नर की बर्बरता की कितनी अधिक शिकार नारी हुई है । यह एक करुण कथा है । अपने इतने समीपवर्ती सम्बन्धी के साथ इतना जघन्य व्यवहार करके नर ने अपनी गरिमा को बे हिसाब गिराया है । पिछले दिनों जो किया गया है उसका प्रायश्चित करके ही नर अपनी कलंक कालिमा धो सकता है ।

भूल सुधार की माँग है कि नारी पर से पाशविक प्रतिबन्ध अविलम्ब हटाये जाएँ, उसे पर्दा प्रथा से मुक्त किया जाए । प्रायश्चित की माँग है कि नारी का पिछड़ापन दूर करने के लिए नर न्यायानुकूल से बढ़कर उसकी कुछ अतिरिक्त सहायता करे, बीमारी से छूटने पर दुर्बल व्यक्ति को स्वास्थ्य लाभ करने के लिए उसके घर वाले कुछ अतिरिक्त पौष्टिक आहार आदि की सुविधाएँ देते हैं, उसी प्रकार नर के अन्दर यदि आत्मा मौजूद हो तो उसे उसी के अन्याय से दुर्बल नारी को समर्थ, स्वावलम्बी बनाने के लिए कुछ अतिरिक्त सहायता देनी चाहिए । यह सहायता भोजन-वस्त्र के रूप में नहीं, बन्धनों से थोड़ा अवकाश दिया जाए, उसे सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में प्रवेश करने दिया जाए । घर से बाहर निकलने में जो हजार शंका-कुशंकाएँ की जाती हैं उस ओछेपन से अपने को विरत कर लिया जाय ।

ऐसी नारियों की कमी नहीं है जो सुयोग्य हैं अथवा सुयोग्य बनने के लायक जिनके पास समय सुविधाएँ हैं, यदि पुरुष सहयोग करें-उन्हें नारी समाज की कुछ सेवा करने के उपयुक्त बनने के अवसर प्रदान करें तो निश्चय ही वे और भी अधिक योग्य बन सकती हैं जो आज

अशिक्षित, अयोग्य हैं उन्हें भी कल प्रशिक्षित एवं सुयोग्य बनाया जा सकता है । जिनके पास बहुत छोटे कई बच्चे हैं और घर में इन्हें सँभालने वाला कोई नहीं है उनकी बात दूसरी है अन्यथा महिलाओं के पास कुछ समय रहता है । तीसरे पहर के तीन-तीन घण्टे तो प्रायः हर महिला को अवकाश मिल सकता है । वह अपनी योग्यता से समीपवर्ती महिलाओं को लाभान्वित करने की प्रक्रियाएँ इस अवकाश के समय में सहज ही अपना सकती है । विवेकवान व्यक्ति का कर्तव्य है कि वे अपने घर-परिवार की कई महिलाओं में से जिनके पास मनोबल और अवकाश हो उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करें ।

नारी समाज के उत्कर्ष में नारी को ही आगे आना पड़ेगा । भारतीय समाज की दशा विचित्र है उसमें नर और नारी का सम्मिश्रण विचित्र शंका-कुशंकाओं, अविश्वासों और कुकल्पनाओं से घिरा भरा रहता है । इसलिए नारी वर्ग के उत्कर्ष की अगणित योजनाओं को कार्यान्वित कर सकना नर को उतना सुगम नहीं जितना नारी के लिए । महर्षि कर्वे ने नारी समाज के लिए अविस्मरणीय सेवा की है पर वे यह सब कार्यक्रम अपनी पत्नी को तथा दूसरों महिलाओं को ही आगे रखकर करते रहे, वर्तमान परिस्थितियों में यही सम्भव है । जो लोग नारी उत्कर्ष के महत्व को समझते हैं, भारत के आधे जनसमाज की अपंग स्थिति को दूर करना चाहते है, उनके लिए प्रथम कार्य यही करने का है कि अपने घर की नारियों में इस ओर रुचि उत्पन्न करें । उन्हें योग्य बनायें, आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करें और मार्गदर्शन एवं सहयोग करके उन्हें कार्यक्षेत्र में उतारें ।

अपने घर के बाहर भी ऐसी महिलाएँ हो सकती हैं । जिनके पास अवकाश है, जिनके बच्चे बड़े हो चुके, जिनके घर में बच्चे को सँभालने के लिए वृद्धाएँ या दूसरे लोग मौजूद हैं जिनके बच्चे नहीं हैं, विधवाएँ, परित्यक्ताएँ तथा ऐसी कन्याएँ जो विवाह के झंझट में पड़कर अपनी जिन्दगी कोल्हू के बैल जैसी बनाने से स्पष्ट इनकार कर चुकी हैं, नारी सेवा के लिए सब प्रकार उपयुक्त हो सकती हैं । मानव समाज की आज की सबसे बड़ी आवश्यकता, भारत की सबसे बड़ी समस्या-नारी प्रगति है । जिन्हें तनिक भी दिलचस्पी हो उन्हें आज के आपत्ति धर्म को देखते हुए अपनी सुख-सुविधाएँ इसी महान प्रयोजन के लिए समर्पित करनी चाहिए । जिनमें अपनी पीड़ित और पद्दलित जाति के लिए दर्द और सहानुभूति है, जो उसके लिए कुछ करने को इच्छुक, उत्सुक हैं उन्हें हर विचारशील का पूरा-पूरा प्रोत्साहन और समर्थन मिलना चाहिए इसके लिए यदि कुछ महिलाओं को गृहस्थ सुख से वंचित रहना पड़ता हो तो उसे उन्हें इस युग को श्रेष्ठतम तपश्चर्या समझकर अंगीकार करना चाहिए ।

इन दिनों नारी के सामने समाज सेवा का कोई स्पष्ट चित्र, रूप या कार्यक्षेत्र नहीं है, इसलिए इच्छा रहते हुए भी कुछ कर नहीं पाती । शिक्षा पर्याप्त हो गई । विवाह का योग नहीं बना । खाली समय काटना अखरा । बस वे अध्यापिका जैसी कोई नौकरी कर लेती हैं और फिर कुछ कमाने का चस्का पड़ जाने से तथा एक ढर्रा पड़ जाने से वे उसी क्रम को अन्त तक अपनाये रहती हैं । शिक्षा का यह कोई श्रेष्ठ सदुपयोग नहीं है । जिनके घर में पैसे की तंगी है वे नौकरी करें बात समझ में आती है । फिर जिन्हें इस प्रकार की कोई विवशता नहीं है, गुजारे में कठिनाई नहीं है, उन्हें नौकरी की ओर नहीं नारी सेवा जैसे जीवन को धन्य बनाने वाले महान कार्य की ओर आकर्षित होना चाहिए ।

क्या करना चाहिए ? कैसे करना चाहिए ? इसकी रूपरेखा स्पष्ट है । व्यक्तिगत रूप से हर नारी को शिक्षित, स्वावलम्बी और महत्वपूर्ण बनने का अवसर मिल सके ऐसा प्रयत्न करना चाहिए । इसके लिए सर्वतोमुखी नारी शिक्षा का प्रचलन आवश्यक है । भारतीय नारी को तीसरे पहर अवकाश रहता है । उस समय के लिए गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले, गाँव-गाँव महिला पाठशालाएँ चलानी चाहिए । घर-घर जाकर इसके लिए उत्साह उत्पन्न करना चाहिए और बिना पढ़ी तथा पढ़ी हुई सभी महिलाओं को उसमें सम्मिलित होने के लिए आग्रहपूर्वक अनुरोध करना चाहिए । थोड़ा प्रयत्न करने पर मुहल्लों में ऐसी पाठशालाएँ स्थापित हो सकती हैं, उन्हीं में से कोई सुशिक्षित नारी पढ़ाने-सिखाने का उत्तरदायित्व स्वयं उठाये या कई-कई मिल-जुलकर उठालें । स्थान इन्हीं महिलाओं में से किन्हीं का घर चुन लिया जाय और वहाँ पाठशाला चालू कर दी जाए ।

महिलाओं की कितनी ही अपनी समस्याएँ हैं । घर में घुसे-घुसे उनके स्वास्थ्य में जंग लग जाती है, शिशुपालन, प्रजनन, अनियमितता, पुरुषों की प्रतीक्षा में खाने-सोने की अव्यवस्था जैसे कारणों से उनका स्वास्थ्य लड़खड़ाने लगता है, उसे सँभालने-सुधारने के लिए क्या किया जाना चाहिए यह महिला स्वास्थ्य संरक्षण की अतिरिक्त समस्या है, जिसमें अतिरिक्त ज्ञान और साधन जुटाने की आवश्यकता है यह उन्हें मिलना ही चाहिए ।

शिशु-पालन का मूल्य, महत्व और फलितार्थ सोचा-समझा जाए तो वह बहुत बड़ी बात है, अन्यथा बच्चे तो पशु-पक्षी भी जनते-पालते हैं, महिलाओं को यह जानकारी होनी ही चाहिए कि वे बालकों का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य विकास करने में अपना कर्त्तव्य भली प्रकार निबाह सकें ।

गृह उद्योग की जानकारी उसकी स्वावलम्बन क्षमता विकसित करती है । घर को सुन्दर, सुसज्जित बनाती है तथा आर्थिक बचत कराती है । कपड़ों की धुलाई, रँगाई, प्रेस, सिलाई, मरम्मत आदि जान लें तो काफी आर्थिक बचत हो सकती है । साबुन, सुगन्धित तेल, स्याहियाँ, रंग, वार्निश, पेन्ट, खिलौने बनाना, बिस्कुट , लेमन चूस, शर्बत बनाना, टूटी-फूटी वस्तुओं की मरम्मत जैसे छोटे गृह-उद्योगों का उन्हें अनुभव हो तो समय का ...

नहीं परिवार के लोगों सामने एक आदर्श भी रखा जा सकता है ।

कहानी कहना एक कला है । वह आती हो तो रात्रि को सारा घर घेरे बैठा हुआ और सबको अति सस्ता एवं ज्ञानवर्द्धक मनोरंजन मिलता रहेगा । संगीत आता हो तो बात ही क्या है । घर-भर में भाव लहरी लहराती रह सकती है । परिवार की अर्थ व्यवस्था पारस्परिक स्नेह, सौजन्य, सहयोग आदि का वातावरण कैसे बनाया जाय यह जानकारी महिलाओं के लिए नितान्त आवश्यक है घर में शाकवाटिका लगाकर वे शाक-भाजी की आवश्यकता मनोरंजन के साथ-साथ पूरी करती रह सकती हैं । फूल उगाना आता हो तो घर में शोभा-सुसज्जा का प्रवाह बह उठता है ।

जितना कुछ कुमारी अवस्था में उनने पढ़ होता है वह ससुराल में पहुँचाने पर कुछ ही दिन में विस्मृत हो जाता है । आवश्यकता इस बात है कि तीसरे प्रहर वे अपनी शिक्षा को आगे बढ़ाने का अवसर प्राप्त करती रहें कि अपनी ज्ञान सम्पदा को दिन-दिन आगे बढ़ाती रहें ।

इस प्रकार के अनेक कार्य हैं जो महिलाओं के क्षेत्र में किये ही जाने चाहिए । उनकी निरक्षरता दूर की जाए अनेक सामाजिक कुरीतियों तथा मूढ़-मान्यताओं से-छुटकारा दिलाया जाना आवश्यक है । यह सब एक संगठित आन्दोलन के रूप में होना चाहिए और उसके लिए हर जगह महिला कल्याण संस्थान खुलने चाहिए ।

भारत की महिला समस्या पर अगले दिनों विशेष साहित्य सृजा जाना है । उनका एक ऐसा संगठन खड़ा किया जाना है जो प्रबुद्ध महिलाओं की योग्यताओं का सहयोग, उपयोग नारी जागरण के लिए उपलब्ध कर सके । यह संकेत मात्र है, परिस्थितियों के अनुसार अगले कदम उठाए जाते रहेंगे और नारी के पिछड़ेपन की क्षति करते हुये उसे विश्व का भावनात्मक नेतृत्व कर सकने योग्य बनाना पड़ेगा । कहा जा चुका है कि नर अब तक अपनी कर्मठता की परीक्षा में ही उत्तीर्ण हो सकता है, भावनात्मक दृष्टि से उसने हर क्षेत्र में पिछड़ेपन का परिचय दिया है और असफल रहा है । नवयुग का निर्माण भावनात्मक स्तर पर किया जा रहा है और इस विशेषता से स्वभावतः सुसम्पन्न नारी ही यह उत्तरदायित्व वहन कर सकेगी । यह नेतृत्व उसे ही सौंपा जा सकेगा । इसके लिए अगले दिनों बहुत कुछ करना पड़ेगा । कितनी ही अगली योजनाएँ हैं जिन्हें समयानुसार ही सामने लाया जाना उचित होगा ।

इस प्रकार का प्रचलन पुरुषों को अपनी महिलाएँ आगे करके या उनके साथ स्वयं जाकर अपने स्थानों से आरम्भ करना चाहिए । कुछ महिलाएँ ऐसी निकलनी चाहिए, जो इस महिला कल्याण की शैली का जाकर उत्साही, स्थानीय महिलाओं के साथ आरम्भ करा सकें । इच्छा रहते हुए संकोची वृत्ति घरवालों के अनुग्रह एवं अनुभव न होने के कारण कुछ कर नहीं पातीं । उनकी कठिनाइयों का समाधान करने के लिए ऐसी प्रभावशाली महिलाओं की आवश्यकता पड़ेगी जो जगह-जगह जाकर शुभारम्भ और मार्गदर्शन करके इस प्रक्रिया को ढर्रे पर ला सकें । यों देश में सर्वत्र महिला लोक-सेवियों को इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए बाहर निकलना पड़ेगा ; युग निर्माण योजना की चार हजार शाखाओं को ऐसी अनुभवी महिलाओं की सहायता एवं मार्गदर्शन की तत्काल आवश्यकता है ।

इस अभाव की पूर्ति महिलाओं को स्वयं करनी पड़ेगी । पुरुषों की सहायता उपलब्ध रहेगी यह तो आशा की जा सकती है, पर इस देश में पिछड़ी परम्परा में नर-नारी के कार्यक्षेत्र अलग-अलग रहते आये हैं, इसलिए वर्तमान परिस्थितियों में तो नारी को ही आगे आना पड़ेगा । प्रत्येक देश, प्रत्येक समाज, प्रत्येक वर्ग, अपने-अपने कार्य क्षेत्र में-प्रभाव क्षेत्र में कुछ करने के लिए जुटा हुआ है, नारी को भी अपने को भी अपने क्षेत्र के उत्कर्ष की बागडोर स्वयं ही सँभालनी पड़ेगी । वयस्क पति-पत्नी जोड़ा बनाकर भी घरों में जाएँ और यह कार्य करें तो भी काम चल सकता है । पर साहस महिलाओं को भी तो दिखाना पड़ेगा, बंगाल में मुक्तिवाहिनी ने ही विजय पाई । उनके न्याय पक्ष और पराक्रम को देखते हुए भारत की सेना भी सहायता करने के लिए सम्मिलित हो गई । यदि बंगाली लोग चुप बैठे रहते और यह आशा करते कि भारतीय सेना हमारे संकट दूर कर जाए तो बात बनती नहीं । अपने पैरों पर खड़े होने वाले की सहायता दूसरे करते हैं, ईश्वर भी उन्हीं की सहायता करता है और परिस्थितियाँ भी उन्हीं के अनुकूल पड़ती हैं ।

भारत का नारी समाज संकोच, भय छोड़कर महिला उत्कर्ष के अभियान में सम्मिलित हो यही युग की पुकार है । त्याग, बलिदान की तो उसमें कमी नहीं । पति के लिए, बच्चों के लिए उसका सारा जीवन ही त्याग-बलिदान से ओत-प्रोत बीतता है । इसलिए उसे लोभ, मोह छोड़ने की बात कहने की-कष्ट के सहने के लिए तैयार होने का उद्‌बोधन करने, की तो आवश्यकता प्रतीत नहीं होती यह गुण तो उसमें प्रकृति-प्रदत्त और जन्मजात है । उद्‌बोधन केवल संकोच और झिझक छोड़ने का करना है । यदि ऐसा किया जा सके तो विश्व को चकाचौंध कर देने वाले अगणित नारी रत्न अपने देश में अनायास ही पैदा हो जाएँ ।

पिछड़े वर्ग को आगे बढ़ाया जाए

स्वराज्य देने में यो अँग्रेजों ने भी उदारता दिखाई पर वह सम्भव तब हुई जब भारतवासियों ने इसके लिए प्रत्यन और पुरुषार्थ किया । यों उचित तो यही है कि शोषक अपने कुमार्ग छोड़ें और पिछले पाप का प्रायश्चित करने के लिए जिसको जो क्षति पहुँचाई है उसकी क्षतिपूर्ति करें पर होता ऐसा कम ही है । भलमनसाहत दुनिया में अभी आयी नहीं है । इसलिए व्यवहारतः शोषितों को भी काटना नहीं तो फुफकारना जरूर पड़ता है । अपने अधिकारों की माँग

उन्हें इस प्रकार रखनी होती है, कि किसी को उसे अस्वीकार करते बन ही न पड़े ।

कुप्रथा कैसे चल पड़ी, इसका ऊहापोह करने की अपेक्षा अवांछनीयता का निराकरण ही उचित है । अन्धेर का समय चला गया, न्याय की शक्तियाँ प्रबल हो रही हैं । परम्परा के नाम पर अनौचित्य को पकड़े रहने का दुराग्रह सफल नहीं हो सकता । अब तक भारी संख्या में अछूत हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान, ईसाई बन चुके । पाकिस्तान, नागालैण्ड बना चुके अब और भी अधिक खण्ड-विखण्ड न कराने हों तो सभ्य संसार की पंक्ति में खड़े होने के लिए हमें अपनी कलंक कालिमा को धो डालना चाहिए और जाति एवं लिंग के नाम पर बरते जाने वाले भेदभाव का अविलम्ब अन्त करना चाहिए ।

इस प्रयास में आगे सवर्ण हिन्दुओं को आना चाहिए और अछूत पर लगे प्रतिबन्धों को हटाकर उन्हें समान नागरिकता के अधिकार बिना माँगे ही दे देने चाहिए । एक ही धर्म के अनुयायी परस्पर हिल-मिलकर एकता और समानता के आधार पर न रह सके तो मानना चाहिए कि मान्यता का प्रथम पाठ भी हमने नहीं पढ़ा । अलग-अलग पड़े रहने के कारण शिक्षा, सभ्यता, अर्थव्यवस्था आदि जिस-जिस क्षेत्र में से पिछड़ गये हों आगे बढ़कर हमें उनकी उस कमी को पूरा करना चाहिए ।

साथ ही यह भी एक तथ्य है कि इसके लिए शोषित वर्ग चुप बैठा रहे और सब कुछ शोषक स्वयं ही ठीक कर देंगे, यह आशा नहीं करनी चाहिए । उनकी ओर से भी वैसे ही प्रयास होने चाहिए जैसे अँग्रेजी शासन को हटाने के लिए भारतीयों ने किये थे ।

इसी प्रकार पिछड़ी जाति में से चमकदार दीख पड़ने वाली आत्माओं से युग निर्माण योजना का आग्रह है कि वे आगे आएँ और औसत भारतीय की तुलना में अधिक पिछड़ापन जो उनके सिर पर लद गया है उसे दूर करने के लिए भरसक प्रयत्न करें ।

यों स्वास्थ्य, शिक्षा, अर्थ-व्यवस्था, मनोभूमि, प्रथा परम्परा, दृष्टिकोण आदि में सुधार और विकास करने की योजना सभी के लिए एक ही स्तर की हो सकती है पर अछूत वर्ग के लिए उनमें विशेषता यह जोड़ी जा सकती है कि उन्हें कार्यान्वित करने के लिए उसी वर्ग के लोग प्रधान रूप से आगे आएँ । समर्थन में सहयोग दूसरों का मिलेगा पर अग्रिम भूमिका उन्हें ही हाथ में लेनी चाहिए ।

कहना न होगा कि हम नव-निर्माण की आधारशिला धर्मतन्त्र के माध्यम से रखने चले हैं । अछूत वर्ग में भी यही क्रियाकलाप चलेंगे । विशेषता यह होनी चाहिए कि उस क्षेत्र में काम करने के लिए उसी वर्ग के लोग कमान सँभालें तो उत्साह दूना-चौगुना उत्पन्न होगा । अपने वर्ग के व्यक्ति की बात रुचिपूर्वक सुनी जाती है । इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए धर्म और भाषाओं के क्षेत्र में उसी धर्म और भाषा वाले व्यक्ति को काम करने के लिए आगे किया गया है । सोचा अछूत के बारे में भी यही गया है कि उनके विभिन्न वर्गों में ये ही लोग आगे आएँ और उन्हीं सब योजनाओं को उसी ढंग से कार्यान्वित करें, जिस तरह से उसे सवर्ण हिन्दुओं में किया जाता है ।

धर्ममंच से जन्म-दिन, विवाह दिन, पर्व-संस्कार कथा, यज्ञ आदि के आधार पर लोक-शिक्षण किया जाता है । इसी क्रियाकलाप को लेकर अछूत कार्यकर्ता अपने वर्ग में निकल पड़ें और उन क्रिया-कृत्यों के साथ-साथ अछूतों की समानता प्राप्त करने, संघर्षात्मक नहीं विकासोन्मुख रचनात्मक तैयारी के लिए प्रोत्साहित करें । जिन कुरीतियों के कारण स्वयं खोखले होते जा रहे हैं उन्हें छोड़ने तथा विकासोन्मुख क्रियाकलापों को अपनाने की प्रेरणा उन्हीं आयोजनों में उन्हें एकत्रित करके देते रहें । जातीय पंचायतों के फैसले अक्सर उस वर्ग में अधिक ध्यानपूर्वक अपनाये और माने जाते हैं । इन आयोजनों को जातीय पञ्चायतों का भी रूप दिया जा सकता है । उनमें विचारशील, प्रगतिशील लोगों को आगे रखा जा सकता है और सुधार की दिशा में प्रगति की दिशा में जहाँ जो करना आवश्यक हो, उसे सूझ-बूझ के साथ आरम्भ कराया जा सकता है ।

अछूत वर्ग के लिए ऐसे धर्म-नेताओं की परिपूर्ण शिक्षा व्यवस्था मथुरा में मौजूद है । किन विशेषताओं को उन्हें अपनाना पड़ेगा और क्रियाकलाप में किस स्थिति में क्या अन्तर करना पड़ेगा ? यह व्यावहारिक विधिव्यवस्था क्षेत्रीय परिस्थितियों से तालमेल बिठाकर ही बनाई जानी है ।

पिछड़े वर्ग के लोग अपनी बौद्धिक, सामाजिक आर्थिक और आत्मिक प्रगति अधिक तीव्रता से करें तो रूढ़िवादी सवर्णों को भी अपने दुराग्रह छोड़ने के लिए आसानी से विवश किया जा सकेगा । यों विचारशील वर्ग इस भेद-भाव को दूर करने के लिए पहले से ही सहमत है । उनके द्वारा प्रयत्न भी हो रहे हैं । कानून भी उस भेद-भाव को समाप्त कर चुका है प्रत्यक्षतः अभी सन्तोष-जनक सुधार नहीं हुआ है । शहरी शिक्षित और उन्नत वर्ग के अछूतों की समस्या बहुत कुछ हल हुई पर देहाती क्षेत्र में वही रूढ़िवादिता अभी भी जहाँ की तहाँ है । समयानुसार सब कुछ हो जाएगा यह सोचकर संतोष कर लेने या चुप बैठे रहने से काम नहीं चलेगा । स्थिति की विषमता घटी जरूर है पर अभी उसका उन्मूलन नहीं हुआ है । इस दिशा में प्रयत्न होने चाहिए । क्या किया जाना चाहिए इसे सब जानते हैं । प्रश्न यह है कि कौन करे ? सवर्णों में उन्हें उठाने का समुचित उत्साह होता तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इन चौबीस वर्षों में यह जातिगत विषमता कहीं ढूँढ़े भी न मिलती । पर वैसा हो नहीं हो सका । इसके लिए पिछड़े वर्गों के लोगों में विद्यमान शिक्षित प्रतिभाओं को आगे आना चाहिए और इस संक्रान्ति बेला में अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को तिलांजलि देकर जातिगत पिछड़ेपन को दूर करना चाहिए ताकि उसी के साथ जुड़े हुए समग्र राष्ट्र और समस्त विश्व का पिछड़ापन दूर सके ।

* * *

युग निर्माण योजना—दर्शन और स्वरूप

युग निर्माण आन्दोलन और उसका प्रयोजन

युग परिवर्तन का अर्थ है–विचार परिवर्तन । यदि जन-साधारण की वर्तमान मान्यताओं एवं आस्थाओं का स्तर बदला जा सके तो हाड़-माँस की दृष्टि से ज्यों का त्यों रहने पर भी मनुष्य आश्चर्यजनक रीति से बदल जाएगा । साधारण राजकुमार का भगवान बुद्ध, एक जघन्य डाकू का ऋषि बाल्मीकि, दुर्दान्त हत्यारे का ऋषि अंगुलिमाल, वेश्या का साध्वी आम्बपाली, अशिक्षित जुलाहे का सन्त कबीर, अछूत का तत्त्वज्ञानी रैदास, व्यभिचारी का विल्वमंगल बन जाना विचारणाओं के परिवर्तन का ही चमत्कार है । मनुष्य का हाड़-माँस का आवरण भले ही न बदले पर विचारणाओं का परिवर्तन कुछ ही समय में किसी को भी देवता या असुर बना सकता है ।

सामूहिक परिस्थितियों के बारे में यही बात लागू होती है । दुष्प्रवृत्तियों से ग्रसित व्यक्तियों का समूह जहाँ रहता है वहाँ नरक की दुर्गन्ध उड़ती है और दुःख -दारिद्र एवं शोक का दावानल जलता रहता है कन्तु वे व्यक्ति यदि अपनी गतिविधियों को बदल डालें तथा सज्जनोचित रीति-नीति अपना लें तो देखते-देखते वहीं स्वर्ग का अवतरण उपस्थित हो जाएगा । सुविधा एवं साधन-सामग्री ऐसे वातावरण से सहज ही प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाती है । पारस्परिक स्नेह-सहयोग एवं सौजन्य के द्वारा बड़ी से बड़ी कठिनाई का हल सम्भव हो जाता है । भावना-स्तर में प्रविष्ट हुई सत्प्रवृत्ति बाह्य-जीवन को समृद्धियों एवं विभूतियों से सहज ही परिपूर्ण कर देती है ।

युग-निर्माण का अर्थ है–व्यक्तित्व एवं विचार-स्तर को सत्प्रवृत्यिों से ओत-प्रोत करना । विश्व-शान्ति का यही एकमात्र मार्ग है । हमें इस पुण्य परम्परा को पुनर्जीवित करके नये युग के अवतरण में महत्त्वपूर्ण योग देना है । मानव जाति का भविष्य उज्ज्वल है । अगला समय स्वर्गीय सम्भावनाओं से ओत-प्रोत है । गंगा आने वाली है–भगीरथ को उसकी पूर्व भूमिका-भर बनानी है । अगले दिनों मानव जाति का आध्यात्मिक उत्कर्ष होना है । इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । अनात्म आस्थाओं को अपनाकर व्यक्ति निजी जीवन में नारकीय यन्त्रणाएँ सह रहा है और सामूहिक दृष्टि से सर्वनाश के कगार पर खड़ा है । ईर्ष्या, द्वेष और लोभ-स्वार्थ से प्रेरित मनुष्य तृतीय युद्ध की विभीषिका में फँस कर अणु-आयुधों से अपना सर्वनाश कर सकता है तब विज्ञानाचार्य, दार्शनिक आइन्सटीन की वह भविष्य-वाणी सार्थक होकर रहेगी जिसमें उन्होंने कहा था कि "तीसरा महायुद्ध अणु-आयुधों से और चौथा महायुद्ध पत्थरों से लड़ा जाएगा ।" तब मनुष्य के पास न इतना ज्ञान रहेगा और न साधन जिसके आधार पर वह पत्थर के अतिरिक्त और किसी शस्त्र का उपयोग कर सके ।

सर्वनाश के कगार पर पहुँचने के उपरान्त अब पीछे लौटने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं । मनुष्य बड़ा मूर्ख जानवर है पर उसकी बुद्धिमत्ता में भी सन्देह नहीं । अनात्मक रीति-नीति अपनाकर उसके दुष्परिणाम उसने देख लिए । इससे वह शिक्षा लेगा ही । मानना चाहिये कि वह आत्महत्या नहीं करेगा, जो देखा, समझा और सीखा है उससे लाभ उठायेगा, अपने को बदलेगा और उस राह पर चलेगा जिस पर चलते हुए स्वयं जीवित रहना और दूसरों को जीवित रहने देना सम्भव हो सकता है । अगले दिन इसी प्रकार के आ रहे हैं । मनुष्य मूर्खता का अ[ध्याय] समाप्त कर बुद्धिमत्ता का शुभारम्भ करने जा रहा है, भवितव्यता में हमें अनुकूल भूमिका प्रस्तुत कर अपने [को] श्रेय-साधकों-भगीरथों की पंक्ति में खड़ा करना चाहिए युग निर्माण परिवार यही कर रहा है ।

युग निर्माण आंदोलन का लक्ष्य मानव समाज को स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज की महान उपलब्धियाँ प्रदान करना है, यह तीनों विभूतियाँ भावनात्मक नव-निर्माण के द्वारा ही संभव होंगी । आत्म-निर्माण, परिवार-निर्माण और समाज-निर्माण की तीन साधनाएँ पूरी करने से ही उपरोक्त तीन वरदान, मानव जाति प्राप्त करेगी, जिससे चिरस्थायी सुख-शांति का आनन्द एवं संतोष लाभ किया जा सके । धरती पर स्वर्ग का अवतरण इन्हीं भगीरथ प्रयत्नों द्वारा संभव होगा । सतयुग एवं रामराज्य की पुनः प्रतिष्ठापना का यही एकमात्र मार्ग है ।

अखण्ड-ज्योति परिवार के छोटे से संगठन से इस परम पुनीत अभियान का शुभारम्भ किया गया था । बीज तब छोटे रूप में बोया गया था, पर आगे चलकर यह उस विशाल वट-वृक्ष के रूप में परिणत हो गया है, जिसकी छाया का आश्रय लेने वाले असंख्य मनुष्य, पशु-पक्षी एवं कीट-पतंग शांति-लाभ करते हैं । इस महान प्रयोजन के लिए जिस ज्ञान-यज्ञ की विशालकाय व्यवस्था बनाई गई है, उसे इस युग की अनुपम योजना कहा जाए तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी ।

बुरे या भले युगों में वस्तुओं या व्यक्तियों का बाह्य स्वरूप एक जैसा ही रहता है । नदी, पहाड़, बादल, पेड़, पशु, पक्षी, रात, दिन आदि से सम्पन्न संसार का स्वरूप सदा-सर्वदा एक जैसा ही रहता है । मनुष्यों की आकृतियाँ भी एक जैसी ही रहती हैं । आहार, निद्रा, प्रजनन, सर्दी, गर्मी, कृषि, व्यवसाय आदि प्रक्रियाएँ एक ही निर्धारित ढर्रे पर चलती रहती हैं । इन सब बातों का युग परिवर्तन पर

कोई प्रभाव नहीं पड़ता । जो बदलता है, वह तथ्य मानवीय दृष्टिकोण ही है । दृष्टिकोण के उत्कृष्ट एवं निकृष्ट होने से विचारणाओं एवं कार्य-पद्धतियों में जमीन-आसमान जैसा अंतर हो जाता है । उत्कृष्ट देवताओं की तरह स्वर्गीय आनन्द-उल्लास से भरा-पूरा रहता है, पर जब उसका दृष्टिकोण निकृष्ट स्तर का बन जाता है तो उसका मस्तिष्क एवं शरीर उस तरह की गतिविधियाँ अपना लेता है, जिनसे कलह-क्लेश, शोक-संताप, अभाव-अनीति की नारकीय परिस्थिति उत्पन्न होकर सर्वत्र दारुण-दु:ख, दारिद्र भरी अशांति एवं दुर्गन्ध फैल पड़ती है । यही कलियुग एवं सतयुग का, नरक एवं स्वर्ग का अंतर है । मानवीय दृष्टिकोण के इस हेर-फेर को ही युग परिवर्तन कहना चाहिए ।

परिस्थितियाँ विचारणा की दासी हैं । मनुष्य की भावनाएँ, प्रवृत्तियाँ एवं अंत:प्रेरणाएँ जिस दिशा में चलती हैं, उसी के अनुरूप भली या बुरी परिस्थितियाँ सामने आकर खड़ी हो जाती हैं । अच्छी परिस्थितियाँ एवं साधन-सुविधाओं से भरे वातावरण में जन्मे व्यक्ति अपनी भावनात्मक हीनता के कारण कुछ ही समय में दु:ख-दारिद्र्य एव शोक-संताप भरी दुर्गति के गर्त में जा गिरते हैं । इसके विपरीत विपन्न परिवारों एवं परिस्थितियों में जन्मे व्यक्ति अपनी भावनात्मक उत्कृष्टता के कारण प्रगति-पथ पर तीव्रगति से अग्रसर होते हुए चले जाते हैं । चमड़े की आँखों से ही यह दीखता है कि मनुष्य साधनों एवं परिस्थितियों के आधार पर ऊँचे उठते, आगे बढ़ते हैं, पर ज्ञान-चक्षुओं से देखने पर वस्तुस्थिति दूसरी ही प्रतीत होती है । तात्विक चिंतन से पता चलता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व एक प्रचंड चुम्बकत्व से भरा पड़ा है । वह अपने स्तर के अनुरूप परिस्थितियों एवं साधनों को अपनी ओर सहज ही आकर्षित कर उन्हें सहज ही एकत्रित कर लेता है ।

अध्यात्मवाद की शिक्षा यह है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का स्तर ऊँचा उठाया जाए । इससे व्यक्तित्व और सामाजिक जीवन में सर्वांगीण सुख-शान्ति का आविर्भाव होगा । यह भावनात्मक उत्कृष्टता जितनी बढ़ती जाएगी उसी अनुपात में व्यक्ति निजी जीवन में स्वर्गीय आनन्द-उल्लास का अनुभव करेगा और सामूहिक जीवन में सतयुग जैसी समृद्धि भरी अनुभूतियाँ सर्वत्र बिखरी दिखाई पड़ेंगी ।

भौतिकवाद की शिक्षा यह है कि जैसे भी बने, उचित-अनुचित रीति से जल्दी-से जल्दी, अधिक-से-अधिक मात्रा में समृद्धि एकत्रित करो, लोगों को छल-बल से प्रभावित कर अपना काम निकालो । इस तरह कम समय तथा कम श्रम में अधिक उन्नति की जा सकेगी । आज इस रीति-नीति को बहुसंख्यक लोगों ने अपना रखा है । फलस्वरूप 'आटे के प्रलोभन में जान गँवाने' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है । मृगतृष्णा में भटकने वाले हिरन की तरह लोग सुख के स्थान पर विविध यंत्रणाओं, व्यथा-वेदनाओं का त्रास सह रहे हैं ।

व्यक्ति एवं समाज की चिरस्थायी सुख-शान्ति, प्रगति-समृद्धि की प्रतिष्ठापना का एकमात्र मार्ग यही है कि हमारा सबसे अधिक ध्यान अपने व्यक्तित्व का स्तर ऊँचा उठाने वाले गुण, कर्म, स्वभाव के परिष्कार पर केन्द्रित किया जाए । इसी राह पर चलते हुए व्यक्ति स्वर्ग के और समाज सतयुग के आनन्द को प्राप्त करेंगे । उनकी समस्त उलझी हुई समस्याओं का पथ-प्रशस्त करना युग निर्माण योजना का उद्देश्य है । इस आंदोलन के अन्तर्गत उसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति की गई है, जिसके आधार पर समय-समय पर संसार को विपन्न परिस्थितियों के भँवर में से उबारकर सुख-शान्ति के तट पर लाकर खड़ा किया जा सकता है ।

संसार में अगणित प्रकार के क्लेश, कलह, दु:ख, दारिद्र एवं शोक-संताप इसलिए उत्पन्न होते और बढ़ते हैं कि लोग अनीतिमूलक भौतिकवाद को अपने दृष्टिकोण में सम्मिलित कर लेते हैं । यह भूल जब-तक सुधारी न जाएगी तब तक रोग बढ़ता ही रहेगा और विपन्न से विपन्नतम विभीषिकाओं का सर्वनाशी-सृजन करता चला जाएगा । इस अवरोध की चिकित्सा एक ही हो सकती है कि जिस कारण व्यथा उपजी थी उसे हटाया जाए । भौतिकवादी मान्यताओं का तिरस्कार कर उनके स्थान पर अध्यात्मवादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठापना द्वारा ही आन्तरिक जीवन में सुख-समृद्धि का लाभ लिया जा सकता है । इसी तथ्य को जन-मानस में प्रविष्ट करते रहना साधु-ब्राह्मणों का, अवतार देवताओं का एकमात्र उद्देश्य रहा है । पतनोन्मुख मानव स्वभाव पर नियन्त्रण करने के लिए इस धर्मतन्त्र को तत्वदर्शी मनीषियों द्वारा सदा ही किसी न किसी रूप में गतिशील रखना पड़ता है । पर जब स्थिति अधिक विपन्न हो जाती है तब उसे विशेष रूप से, विशेष विधि-व्यवस्था के साथ कार्यान्वित किया जाता है । आज यही किया जा रहा है । युग निर्माण आन्दोलन का प्रयोजन यही है कि जनमानस में इस तथ्य को गहराई तक प्रतिपादित किया जाए । हमारा भावनात्मक स्तर सुधरे तो बाह्य जीवन की समस्त परिस्थितियाँ सुधर जाएँगी, समस्त अवरोध दूर हो जाएँगे और समस्त कष्टों से त्राण मिल जायेगा ।

हमारा 'ज्ञान यज्ञ' इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए है । जनसाधारण का विचार-स्तर, भाव-स्तर, दृष्टिकोण, जीवनोद्देश्य एवं क्रिया-कलाप मानवोचित गौरव के अनुसार बदल दिया जाए । इसी प्रयोजन को लेकर युग निर्माण का भावनात्मक आंदोलन समय की सबसे बड़ी आवश्यकता के रूप में आविर्भूत हुआ है ।

युग निर्माण का मंगलाचरण

धर्म, शिक्षा, त्याग, सभ्यता, विज्ञान-कला आदि मानव जीवन की आवश्यक प्रवृत्तियों की जन्मभूमि यह भारत भूमि है । ज्ञान-विज्ञान का सर्वप्रथम उद्भव यहीं से हुआ है । ऋग्वेद संसार की आदि पुस्तक मानी जाती है । समस्त भूमण्डल के लिए ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश उत्पन्न

करने और फैलाने वाला यह भारत ही है । पशु को मनुष्य बनाने वाली जिस सभ्यता और संस्कृति का उद्‌भव यहाँ हुआ वह किसी देश, जाति, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग या समाज के लिए नहीं, वरन् समस्त संसार के लिए है । भारतीय सभ्यता-मानवता की, समस्त मनुष्य जाति की अत्यन्त ही विवेक एवं दूरदर्शिता से भरी हुई जीवन पद्धति है । इसे अपनाने पर मनुष्य अगणित प्रकार की असुविधाओं, विकृतियों और बुराइयों से बचकर सुख, समृद्धि, सफलता और सद्‌गति का अधिकारी बनता है । तत्वदर्शी ऋषियों ने इसी दृष्टि से अनेक प्रकार के आदर्श, नियम, प्रतिबन्ध, रीति-रिवाज, आचार-विचार विनिर्मित किये थे । इनमें अन्धविश्वास या मूढ़-परम्परा के लिए रत्ती भर भी स्थान नहीं है । यह समस्त सांस्कृतिक ढाँचा मानव जाति के कल्याण को ध्यान में रखकर ही खड़ा किया गया है । इसकी एक-एक ईंट विज्ञान, तत्वज्ञान और दूरदर्शिता से परिपूर्ण है ।

आदर्श, सिद्धान्त और मान्यताएँ जो भारतीय संस्कृति में हैं वे मनुष्य के लक्ष्य, उद्देश्य और कार्यक्रम को देवत्व की ओर ले जाने वाली हैं । उन्हें अपना लेने के बाद मनुष्य ऊँचा ही उठता है । नीचे नहीं गिरता । इस सर्वाङ्गीण उत्कर्ष को चारों ओर से मजबूत बनाने, प्रोत्साहित करने के लिए लोकाचार के अनेक सामाजिक कार्यक्रम, विधान एवं व्यवहार बनाये गये हैं । इनका प्रयोजन भौतिक-विज्ञान एवं मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव, विचार एवं आचरण को देवत्व की ओर अग्रसर करना है । ऊँचे आदर्श और जीवनयापन के प्रभावशाली तरीके-इन दोनों का सम्मिश्रण ही मनुष्य को महानता की ओर ले जाता है । ऋषियों ने ऐसी ही व्यवस्था बनाई थी और उसी के आधार पर तुच्छ मानव प्राणी को महापुरुष के उच्च स्थान तक ले जाने में वे सफल हुए थे । इस प्रयोग का नाम ही भारतीय संस्कृति है ।

जब भारतीय संस्कृति का लोग महत्व समझते थे, उस पर विश्वास करते थे, उसको आचरण में लाते हुए अपना गौरव समझते थे, तब इस देश में घर-घर महापुरुष उत्पन्न होते थे । भौतिक समृद्धि और सामाजिक सुख-शान्ति की कमी न थी । इस संस्कृति के ढाँचे में ढले हुए नर-रत्न अपने प्रकाश से समस्त संसार मे प्रकाश उत्पन्न करते थे और उसी आकर्षण के कारण विश्व की जनता उन्हें जगद्‌गुरु चक्रवर्ती शासक एवं भू सुर-पृथ्वी के देवता मानती थी । यह देश स्वर्ग की अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझा जाता था । अतीत का इतिहास इस तथ्य का मुक्त कण्ठ से उद्‌घोष कर रहा है ।

भारतीय संस्कृति के प्रभाव से प्रभावित प्रत्येक परिवार में स्वर्गीय शान्ति एवं सद्‌भावनाओं का निवास रहता था । पिता और पुत्र के बीच कैसे सम्बन्ध थे इसका उदाहरण देखना हो तो विमाता की आज्ञा से १४ वर्ष के लिए वनवास जाने वाले राम, अन्ध माता-पिता को कन्धे पर काँवर में बिठाकर तीर्थ यात्रा कराने वाले श्रवण कुमार, पिता के दान करने पर यमपुर खुशी-खुशी प्रस्थान करने वाले नचिकेता का चरित्र पढ़ लेना चाहिए । भाई का भाई के प्रति क्या कर्त्तव्य है इसकी झाँकी, राम-लक्ष्मण और भरत का चरित्र पढ़ लेने से सहज ही हो जाती है । कौरवों को जब यक्षों ने बन्दी बना लिया तो युधिष्ठिर ने भ्रातृ-प्रेम के वशीभूत होकर उन्हें छुड़वाया । पुष्कर के दुर्व्यवहार को भुलाकर नल ने अपने भाई को क्षमा कर दिया । ऐसे भ्रातृ-प्रेम के उदाहरण पग-पग पर मिलेंगे । सच्चे मित्र कैसे होते हैं । यह कृष्ण ने सुदामा और अर्जुन के साथ अपना कर्त्तव्य पालन करके दिखाया था ।

पति-पत्नी के बीच कैसे सम्बन्ध होने चाहिए इसके उदाहरण पत्नीव्रती पुरुष और पतिव्रता नारियों ने पग-पग पर उपस्थित किये हैं । सीता, सावित्री, शैव्या, दमयन्ती, गान्धारी, अनुसूया, सुकन्या आदि की कथाएँ घर-घर गाई जाती हैं । परस्त्री को माता एवं पुत्री समझने वाले भी सभी कोई थे । शिवाजी द्वारा, यवन कन्या को सुरक्षित रूप से सम्मानपूर्वक राजमहल में पहुँचा देना, अर्जुन का उर्वशी को लौटा देना, कच का रूपगर्विता देवयानी का प्रस्ताव अस्वीकार करना, सूर्पनखा का लक्ष्मण द्वारा उपहास होना जैसे प्रसंगों की कमी नहीं है । भीष्म, हनुमान जैसे अखण्ड ब्रह्मचारी प्रचुर संख्या में परिलक्षित होते हैं ।

अतिथि सत्कार के लिए मोरध्वज का अपना पुत्र दे देना, भूखे बहेलिये के लिए कबूतर-कबूतरी का अपना शरीर दे देना, दुर्भिक्ष पीड़ित समय में अनेक दिनों से भूखे ब्राह्मण परिवार का अपनी थाली की रोटियाँ चाण्डाल को दे देना आदि अनेक वृतान्त महाभारत में देखे जा सकते हैं । शरणागत कबूतर की रक्षा के लिए राजा शिव ने अपना माँस काट-काट कर दे दिया था । कुन्ती ने ब्राह्मण कुमार के बदले अपने पुत्र भीम को राक्षस का आहार बनने के लिए भेजा था ।

अपने स्वार्थ, सुख-साधन, धन-सम्पदा संग्रह, ऐश-आराम को लात मारकर अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिए निमित्त लोक-सेवा और परमार्थ में जीवन व्यतीत करने में यहाँ के लोग अपने जीवन की सफलता मानते रहे हैं । गौतम बुद्ध अपने राजपाट और सुख-सौभाग्य को छोड़कर हिंसा और अज्ञान में डूबे हुए संसार को दया और आत्मज्ञान की शिक्षा देने के लिए निकल पड़े । महावीर ने लालची और विषयासक्त दुनिया को त्याग और संयम का पाठ पढ़ाने के लिए अपना जीवन उत्सर्ग किया । भगीरथ ने राज सुख को छोड़कर दीर्घकाल तक कठोर तप किया और प्यासी पृथ्वी को तृप्त करने के लिए तरण-तारणी गंगा का अवतरण कराने का महान कार्य सम्पादन किया । नारद जी कुछ घड़ी भी एक स्थान पर न ठहरकर आत्म-ज्ञान का प्रसार करने के लिए हर घड़ी पर्यटन करते रहते थे । व्यास जी ने संसार को धर्म-ज्ञान देने के लिए अष्टादश पुराणों की रचना की । आदि कवि बाल्मीकि ने रामायण की रचना करके मानव जाति को कर्त्तव्यपथ पर चलने के

लिए अग्रसर किया । चरक, सुश्रुत, वागभट्ट, धन्वन्तरि, प्रभृति ऋषियों ने जीवन भर जड़ी-बूटियों, धातुओं, विषों आदि के लिए सर्वाङ्गपूर्ण चिकित्सा-शास्त्र का आविर्भाव किया । ज्योतिष विद्या की महान खोज, आकाशस्थ ग्रह-नक्षत्रों की गति-विधियों और उनका मनुष्य जाति पर जो प्रभाव पड़ता है उसकी खोज करने वाले वे ऋषि ही थे । सूर्य-सिद्धान्त, मकरन्द, ग्रहलाघव आदि को देखने से आश्चर्य होता है कि उस समय बिना वैज्ञानिक यन्त्रों के इस प्रकार की शोध करके संसार को महान ज्ञान देने के लिए उन्हें कितना श्रम करना पड़ा होगा ।

सदा अपने को तप से तप्त करके अपनी महान सेवाएँ विश्व मानव के उत्कर्ष में लगाने वाले ऋषियों की जीवनियाँ पढ़ने पर मनुष्य की अन्तरात्मा उनके चरणों पर लोट जाने को करती है । विश्वामित्र, वशिष्ठ, जमदग्नि, कश्यप, भारद्वाज, कपिल, कणाद, गौतम, जैमिनी, पाराशर, याज्ञवल्क्य, शंख, कात्यायन, गोभिल, पिप्पलाद, शुकदेव, श्रृङ्गी, लोमस, धौम्य, जरुत्कार, वैशम्पायन आदि ऋषियों ने अपने को तिल-तिल जलाकर संसार के लिए वह प्रकाश उत्पन्न किया, जिसकी आभा अभी तक बुझ नहीं सकी है । सूत और शौनक निरन्तर प्राचीनकाल के महापुरुषों की गाथाएँ, विरुदावलियाँ, धर्मचर्चाएँ सुना-सुना कर मानव जाति की सुप्त अन्तरात्माओं को जगाया करते थे । दधीचि ने असुरत्व से देवत्व की रक्षा के लिए अपनी हड्डियाँ ही दान कर दीं । धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिए बन्दा बैरागी खौलते तेल के कढ़ाव में प्रसन्नतापूर्वक कूद पड़ा । हकीकतराय का कत्ल, गुरु बालकों के जीवित दीवारों में चुने जाने की कथाएँ आज भी धर्म-कर्त्तव्य की उपेक्षा करके धन संग्रह और इन्द्रिय भोगों में लगे हुए लोगों पर लानत देती हुई आकाश में विहार कर रही हैं ।

आज अधिकांश पण्डित, पुरोहित, साधु, ब्राह्मण आदि संसार को मिथ्या बताते हुए मुफ्त का माल चरते रहते हैं और आलस्य प्रमाद से चित हटाकर संसार का बौद्धिक स्तर ऊँचा उठाने के लिये कुछ भी श्रम नहीं करते, पर भारतीय संस्कृति की परम्परा इससे सर्वथा भिन्न रही है । साधुता और ब्राह्मणत्व का आदर्श दूसरा ही है । शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट, सिख धर्म के दस गुरु, दयानन्द, संत ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, चैतन्य, कबीर, विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि असंख्य धर्मगुरु लोकहित के लिए जीवन भर घोर परिश्रम, प्रयत्न और परिभ्रमण करते रहे । उन्होंने लोक-सेवा को एकान्त मुक्ति से अधिक महत्त्व दिया । भगवान बुद्ध जब अपनी जीवन लीला समाप्त करने लगे तो उनके शिष्यों ने पूछा-"आप तो अब मुक्ति के लिए प्रयाण कर रहे हैं ।" बुद्ध ने उत्तर दिया-' 'जब तक संसार में एक भी प्राणी बंधन में बँधा हुआ है तब तक मुझे मुक्ति की कोई कामना नहीं है । मैं मानवता का उत्कर्ष करने के लिये बार-बार जन्म लेता और मरता रहूँगा ।" स्वामी दयानन्द सरस्वती भी योग साधना करने हिमालय में गये थे, पर उन्हें वहाँ ईश्वरीय प्रेरणा हुई कि "लोक-सेवा ही सर्वोत्तम योग साधना है ।" स्वामी जी तपस्या से लौट आए और अज्ञानग्रस्त जनता में ज्ञान प्रसार को ही अपनी साधना मानते हुए जीवन समाप्त कर दिया । शंकराचार्य और दयानन्द अपने इस महान त्याग के उपलक्ष्य में विष पान करके स्वर्ग सिधारे । गान्धीजी ने जीवन भर ऐसा ही तप करके महात्मा शब्द को सार्थक किया । लोकमान्य तिलक और महामना मालवीय जैसे व्यक्तियों का चरित्र ही 'पण्डित' शब्द का वास्तविक प्रमाण है । गुरु कैसे होते हैं ? यह जानना हो तो गुरुगोविन्द सिंह आदि सिखों के दस गुरुओं का चरित्र पढ़ना चाहिए । शिष्य भी तब ऐसे ही होते थे । एकलव्य, अरुणि, उद्दालक, धौम्य, नचिकेता आदि शिष्यों के चरित्र पढ़ने से अपनी संस्कृति पर सहज ही गर्व होने लगता है ।

भारतीय संस्कृति में पले हुए राजा कैसे होते थे ? इसका उदाहरण राजा जनक के जीवन से मिल सकता है । वे अपने गुजारे के लिए स्वयं खेती करते थे और राज्य कोष से एक पाई भी अपने लिए न लेकर उसे जनता के निमित्त ही खर्च करते थे । जनक को अपना खेत जोतते समय हल की नोक की उचाट से एक कन्या मिली थी । हल की नोंक को संस्कृति में सीता कहते हैं, इसलिए जनक ने अपने खेत में मिली हुई इस कन्या का नाम सीता रखा था । महर्षि विश्वामित्र को जब किसी यज्ञीय (लोक हितकारी) कार्य के लिए धन की आवश्यकता पड़ी तो राजा हरिश्चन्द्र ने समस्त राज्य-कोष ही दान नहीं कर दिया वरन् अपने तथा स्त्री-बच्चों के शरीर को बेचकर भी उसकी पूर्ति की और एक सच्चे राजा का आदर्श उपस्थित किया । छत्रपति शिवाजी का विशाल राज्य था, उसे उन्होंने समर्थ गुरु रामदास के चरणों में अर्पित कर दिया था और स्वयं गुरु की आज्ञानुसार एक मुनीम की तरह उसका संचालन करते थे । भरत भी राम की चरण पादुकाओं को शासक मानकर स्वयं एक तुच्छ सेवक की भाँति १४ वर्ष राज्य चलाते रहे । धौलपुर की राजगद्दी के मालिक नरसिंह भगवान और मेवाड़ की राजगद्दी के मालिक भगवान एकलिंग जी माने जाते थे । राजा लोग अपने को उनका संचालक कहते थे । पीछे यद्यपि यह बात दिखावा मात्र रह गई, पर आरम्भ से यह त्याग उसी शृंखला का एक प्रतीक अवश्य था । विक्रमादित्य प्रजा की वास्तविक स्थिति जानने के लिए वेष बदले प्रजाजनों के बीच घूमते रहते थे । राणा प्रताप राजसुख की परवाह न करके जीवन भर स्वाधीनता संग्राम में धर्मयुद्ध लड़ते रहे । महान् राजपुत्र दुर्गादास राठौर को लड़ाई में रोटी भी नसीब नहीं हो पाती थी तो वह घोड़े पर चढ़ा हुआ भाले की नोक में छेद कर भुट्टे भून खाता था और स्वाधीनता संग्राम लड़ता रहता था । छत्रसाल की गाथा सर्वविदित है । ऐसे होते थे यहाँ के शासक । राज्यों के मन्त्री, प्रधानमन्त्री कैसे होते थे उसका नमूना चाणक्य का जीवन है । यह विश्व का अभूतपूर्व

कूटनीतिज्ञ एक फूँस की झोंपड़ी में गरीब लोगों की भाँति रहता था और राज्य-कोष से अपने व्यय के लिये कुछ भी नहीं लेता था ।

धन-सम्पति जिनके पास होती थी वे उसे सात पीढ़ियों के लिए तिजोरी में बन्द नहीं करते थे वरन् तात्कालिक लोक-हित के लिए उसे मुक्त हस्त से दान करते रहते थे । राजा कर्ण की दानवीरता प्रसिद्ध है । कहते हैं कि वे सवा मन स्वर्ण रोज दान करते थे । कृष्ण ने जब उनकी दानवीरता की परीक्षा कराई है तो उन्होंने अपनी जान जोखिम में डालकर कवच-कुण्डल दिये हैं । मरते समय भी दाँत तोड़ कर उसमें लगा हुआ स्वर्ण दान करके याचकों को विमुख नहीं लौटने दिया है । राजा बलि ने तीनों लोक का राज्य ही नहीं शरीर भी उस समय लोकसेवा के प्रतीक समझे जाने वाले ब्राह्मण-वामन को दान दिया है । जरूरतमन्दों के लिए लोग अपनी परसी थाली तक दे देते थे । भामाशाह ने अपनी करोड़ों की सम्पत्ति तिनके की तरह राणा प्रताप को दे डाली । राजा महेन्द्र प्रताप अपनी जमींदारी राष्ट्रीय शिक्षा के लि अर्पित करके भारतीय स्वाधीनता के लिए विदेश चले गये थे । परशुराम ने २१ बार पृथ्वी का राज्य प्राप्त करके उसे दान दिया था । सुभाष बोस को बर्मा में भारतीयों ने अपना सर्वस्व स्वाधीनता संग्राम चलाने के लिए दिया था । उससे पूर्व बोस भारत की अपनी लाखों रुपये की सम्पत्ति को राष्ट्र के लिए सौंप कर उसको सार्वजनिक सम्पत्ति घोषित कर गये थे । सी० आर० दास अपनी बैरिस्ट्री में हजारों रुपया कमाते थे, वह सारा का सारा देकर और कई बार कर्ज लेकर भी सार्वजनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करते थे । जमुनालाल बजाज ने अपने को गाँधी जी का पाँचवा दत्तक पुत्र घोषित करके अपनी सारी सम्पत्ति महात्मा गाँधी के चरणों में अर्पित कर दी थी ।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राजा राममोहनराय, गोपाल कृष्ण गोखले, महादेव गोविन्द रानाडे, गणेश शंकर विद्यार्थी, श्रद्धानन्द, सर्वदानन्द, दर्शनानन्द, लेखराम, हैडगेवार आदि का जीवन जिस प्रकार से व्यतीत हुआ है उसमें भारतीय संस्कृति की झाँकी देखी जा सकती है । भूषण, गंग और चन्दवरदाई आदि चारणो ने अपनी ओजस्वी वाणी और कविता से अनेक निष्प्राणों को प्राणवान बनाया । गंग इसी अपराध में हाथी के पैर के नीचे कुचलवाये गये, चन्दवरदाई ने गजनी में जो कष्ट सहा वह किसी से छिपा नहीं है । १८५७ से लेकर स्वाधीनता के हिंसात्मक संग्राम के क्रान्तिकारी वीर सैनिक और १९२१ से लेकर १९४७ तक की अहिंसात्मक राज्यक्रान्ति में अगणित व्यक्तियों ने जो त्याग किये हैं उनकी गाथाएँ पढ़ते-सुनते हुए भुजाएँ फड़कने लगती हैं । पाकिस्तानी बर्बरता के सामने सिर न झुका कर अपने धर्म को अक्षुण्ण रखने के लिए पंजाब और बंगाल के लाखों स्त्री-पुरुषों ने जो त्याग किये हैं उनका स्मरण करके, चित्तौड़ की रानियों के जौहर और गुरु गोविन्द सिंह के पुत्रों की स्मृति ताजी हो जाती है ।

आस्तिकता की प्रतिष्ठापना के लिए घोर तप करने वाले लोगों की संख्या कम नहीं है । ध्रुव, प्रह्लाद सरीखे भक्त प्राचीनकाल में हुए हैं और मध्यकाल में सूर, तुलसी, रामकृष्ण परमहंस, रैदास, कबीर, दादू, रामानन्द, रामानुज, शटकोपाचार्य, तिरुवल्लुवर जैसे संतों की संख्या बहुत बड़ी है । अनीति के निवारण के लिए त्रेता में ऋषियों ने अपना खून निकाल-निकाल कर एक घड़ा भरा था और वह घट अन्त में राक्षसों के विध्वंस कराने के निमित्त-सीता जन्म का हेतु बना था । इसी मार्ग पर यह आस्तिक सन्त अपनी साधना, भक्ति, ज्ञान, दीक्षा आदि के द्वारा अनीति निवारण और धर्म विस्तार का कार्य करते रहे हैं ।

विश्व मानव की सेवा के लिए भारतीय स्त्रियाँ भी पुरुषों के पीछे नहीं रही हैं । उनका कार्य-क्षेत्र पुरुषों के समान विस्तृत क्षेत्र में न रहकर सीमित क्षेत्र में रहा है, इसलिए उन्हें यश उतना ही मिला है केवल कुछ पतिव्रता स्त्रियों के कौतूहलपूर्ण चरित्रों का ही ग्रंथों में विस्तृत वर्णन आया है पर सच बात यह है कि भारतीय नारी ने प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों से अधिक किया है । उन्हीं की प्रेरणा और छत्रछाया से समर्थ होकर, पुरुष जाति कुछ कर सकने में सफल हो सकी । इसीलिए उनका नाम पुरुषों से पहले लिया जाता रहा है । सीताराम, राधेश्याम, गौरीशंकर, लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश, मायाब्रह्म, सावित्री-सत्यवान् आदि नामों में पहला नाम नारी का है, दूसरा नर का है । कोई क्षेत्र ऐसा नहीं रहा है जिसमें भारतीय नारी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादित न की हो । वेदों के दृष्टा जिस प्रकार विश्वामित्र आदि ऋषि हुए हैं । वैसे ही ऋषिकाएँ-स्त्रियाँ भी हुई हैं । ऋग्वेद १० । ८५ । १०-१३४ । १०-४० । ८-९१ । १०-९५ । ५-२८ । ८-९१ आदि अनेक सूत्रों की दृष्टा घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, जुहू, अदिति, सरमा, रोमशा, लोपा, मुद्रा, शास्वती, सूर्या, सावित्री आदि ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ ही हैं । मनु की पुत्री इड़ा बड़ी प्रकाण्ड याज्ञिक थी । उसने अपने पिता मनु का यज्ञ कराया था । मैत्रेयी एक समय की अद्वितीय विद्वान थी, शाण्डिल्य की पुत्री श्रीमती ने अत्यन्त कठोर तप किये थे, महाभारत में शान्ति पर्व के अध्याय ३० में सुलभा नामक एक विदुषी का वर्णन है, जिसने शास्त्रार्थ में राजा जनक जैसे ब्रह्मज्ञानी के छक्के छुड़ा दिए थे । भागवत में स्वधा की पुत्री वयुना और धारिणी का वर्णन है, वे विज्ञान विद्या में निष्णात् थीं । ब्रह्म वैवर्त पुराण में वर्णित वेदवती को चारों वेद कण्ठाग्र थे । भारती देवी नामक महिला ने शंकराचार्य से ऐसा शास्त्रार्थ किया था कि बड़े-बड़े विद्वान भी अचम्भित रह गये थे । उसके प्रश्नों से निरुत्तर होकर शंकराचार्य को उत्तर देने के लिये कुछ माह की मोहलत माँगनी पड़ी थी ।

युद्ध कला प्रवीण कैकेयी को दशरथ जी लड़ाई में अपने साथ ले गये थे और जब रथ टूटने लगा तो कैकेयी ने ही उसका तात्कालिक उपचार करके पराजय से बचाया था । मदालसा, महामाया के चरित्र भी प्रसिद्ध हैं । चित्तौड़

की रानियाँ, बूँदी की रानी दुर्गावती, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, चाँदबीबी आदि के पराक्रम से दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है । द्रोपदी, गान्धारी, कुन्ती आदि की असाधारण योग्यता को सुनते-सुनते तृप्ति नहीं होती । मीरा ने लोक-लाज छोड़कर, राज परिवार त्याग कर जनता जनार्दन के हृदयों में भक्ति का दिव्य रस ओत-प्रोत किया था । समाज-सुधार और राजनैतिक क्षेत्रों में प्राण-पण से संलग्न महिलाएँ इस शताब्दी में भी कम नहीं हुई हैं ।

महापुरुषों और महान नारियों के दिव्य-चरित्र से भारतीय इतिहास का पन्ना-पन्ना जगमगा रहा है । यहाँ घर-घर में ऐसे नर-रत्न पैदा होते रहे हैं जिनके उज्ज्वल चरित्र प्रकाश स्तम्भों की भाँति आज भी गिरी हुई मनुष्य जाति का पथ-प्रदर्शन करने के लिए जाज्वल्यमान हो रहे हैं । यह क्रम इस देश में केवल इसलिए चलता रहा है कि यहाँ ऋषि प्रणीत संस्कृति के प्रति लोगों की गम्भीर आस्था रही है । इन धर्मशास्त्रों, ऋषि प्रणालियों, आप्त वचनों का अनुगमन करने के लिए लोग श्रद्धापूर्वक हृदय और मस्तिष्क के द्वार खोले रहे हैं । आज भोगवादी भौतिक संस्कृति ने उस हमारी सनातन परम्परा से जन-साधारण को विमुख कर दिया है । फलस्वरूप सर्वत्र घोर अशान्ति, दारिद्र, रोग, शोक, भय, उत्पीड़न, तृष्णा और वासना से सभी के हृदय जर्जर हो रहे हैं ।

हमारा निश्चित विश्वास है कि भारतीय संस्कृति, ऋषि प्रणीत, रीति-नीति अपना करके ही मनुष्यता का उत्कर्ष हो सकता है, अन्यथा वर्तमान गतिविधि उसे सब प्रकार नष्ट करके ही छोड़ेगी । सत्य अमर है, श्रद्धा अमर है, धर्म अमर है, प्रेम अमर है, न्याय अमर है ये कभी मन्द भले ही हो जाएँ पर मर नहीं सकते । भारतीय संस्कृति भी अमर है, वह आज तमसाच्छन्न हो रही है, पर कल अवश्य ही निर्मल होगी । हमारी अन्तरात्मा कहती है कि वह पुनः सजीव होगी और उसकी विजय दुन्दुभी फिर एक बार विश्व में बजेगी ।

हम उस भविष्य की प्रतीक्षा करते हैं जिसमें भारत में घर-घर अपने प्राचीन आदर्शों की भावना एवं मान्यता का विकास होगा । लोग आपस में ऐसे व्यवहार रखेंगे जैसे प्राचीन भारत में रखे जाते थे । माँ-बाप, भाई-बहिन, भाई-भाई, पिता-पुत्र, सास-बहू, स्त्री-पुरुष, स्वजन-सम्बन्धी, बन्धु-बन्धुओं के बीच ऐसे प्रचुर एवं प्रेमपूर्ण सम्बन्ध होंगे जिन्हें देख कर देवता भी ईर्ष्या करें । पुरुष स्त्रियों के प्रति और स्त्रियाँ पुरुष के प्रति अत्यन्त ही पवित्र भावनाएँ रखा करेंगी । व्यापारी और ग्राहक के बीच उचित मुनाफे पर ठीक वस्तुओं का ईमानदारी के साथ क्रय-विक्रय होगा । मजदूर पूरा काम करने में और मालिक पूरी मजदूरी देने में कसर न रखेंगे । आलस्य को, काम से जी चुराने को मानवीय अपराध समझा जाएगा और हर आदमी पसीना बहाये बिना रोटी खाना पसन्द न करेगा । मनुष्य परस्पर सहिष्णु, सहनशील, एक-दूसरे की स्थिति और कठिनाई को समझने वाले तथा उदार व्यवहार करने वाले होंगे । छल, चोरी, व्यभिचार, बेईमानी, दगाबाजी, विश्वासघात, अनीति, अन्याय आदि से लोग वैसे ही घृणा करेंगे जैसे अखाद्य और अभक्ष को भूखा रहने पर भी कोई नहीं खाता । संयम, सदाचार और नियमित जीवन के कारण सब लोग नीरोग और दीर्घजीवी रहेंगे । सन्तोषी और परिश्रमी होने के कारण उन्हें किसी बात का घाटा न रहेगा । परस्पर स्नेह और सद्भावों के कारण आपसी व्यवहार स्वर्गीय सुख जैसे मधुर हो जायेंगे ।

यह बातें आज की स्थिति में तुलना करते हुए असम्भव-सी दीखते हैं, पर वस्तुतः ये कुछ भी कठिन नहीं है । भारतीय संस्कृति के यह सहज फलितार्थ हैं । इस देश हैं लाखों-करोड़ों वर्षों तक लगातार ऐसा ही वातावरण स्थिर रहा है । हमारी यही विशेषताएँ हैं । यदि हम अनार्य संस्कृति के कीचड़ में से अपने पैर निकाल लें और आर्य संस्कृति की ओर कदम बढ़ावें तो उस प्राचीन इतिहास की पुनरावृत्ति होना बिल्कुल सहज और स्वाभाविक है । इस भूमिका में वह विशेषताएँ हैं कि वे सहज विकास करती रहें तो घर-घर में राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, भीम, अर्जुन, गान्धी, जवाहर पैदा हो सकते हैं और सब प्रकार की सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण होते हुए हम भटके हुए संसार को सही रास्ते पर ला सकते हैं । युग-निर्माण योजना का मंगलाचरण एवं शिलान्यास दिव्य-चेतना उत्पन्न करने एवं राष्ट्र के उसी प्राचीन गौरव को वापिस लाने के लिए किया गया है ।

शुभारम्भ और श्रीगणेश

युग-निर्माण की प्रक्रिया का आधार आत्म-निर्माण, परिवार-निर्माण और समाज-निर्माण है । स्वस्थ-शरीर, स्वच्छ-मन और सभ्य-समाज की रचना इसी क्रम से हो सकती है । सुधार का पहला लक्ष्य अपने आपको बनाया जाए । अपने आपका थोड़ा विकसित रूप ही परिवार है । मनुष्य जीवन का परिवार के साथ भी उसी प्रकार सम्बन्ध है जैसे शरीर से उसके विभिन्न अंग जुड़े हुए हैं । कोई भी अंग पीड़ित हो तो सारा शरीर व्यथित हो जाता है, उसी प्रकार परिवार के सदस्यों का अस्त-व्यस्त होना भी मनुष्य के लिए बड़ा दुःखदायक सिद्ध होता है । इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह प्रयत्न करना आवश्यक है कि परिवार के अन्य सदस्य भी शारीरिक और मानसिक दृष्टि से सुविकसित बनें । सब लोग अपने-अपने परिवारों को सुधारने लगें तो सारा समाज, सारा संसार सहज ही सुधर जाएगा ।

सम्बद्ध समाज में सद्ज्ञान का, प्रसार का कार्य करते हुए परमार्थ का व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त किया जा सकता है । पानी में घुसकर ही तैरना सीखा जाता है, स्कूल में भर्ती होने से ही पढ़ाई होती है । क्रिया से ही अभ्यास होता है । आध्यात्मिक गुणों का अभ्यास तभी होता है जब त्याग, उदारता और सेवा-पूर्ण पारमार्थिक

कार्यों को करते रहने का अवसर मिले । समाज-सेवा के कार्यक्रमों को नियमित रूप से अपनाए रहना इसीलिए आवश्यक माना गया है । आध्यात्मिक साधन भी सेवा के अभाव में अधूरे रह जाते हैं । भजन की ही भाँति परमार्थ को भी साधन का अंग माना गया है । इन सब बातों पर विचार करते हुए अपना और संसार का कल्याण करने के लिए सेवाकार्यों में भी संलग्न रहना पड़ता है । सभ्य-समाज की रचना इस लोक-सेवा की प्रवृत्ति पर ही निर्भर रहती है । जिस समाज के लोगों में जितना परमार्थ भाव रहता है उसकी सभ्यता भी उसी अनुपात से बढ़ी-चढ़ी रहती है ।

व्यक्ति, परिवार और समाज की स्थिति उच्चकोटि की बनाने के लिए कुछ प्रयत्न किया जाय इसके लिए परिस्थितियों ने विचारशील लोगों की, अन्तरात्मा को विवश किया है । टालमटोल और उपेक्षा का–पीछे कभी देख लेंगे, अभी क्या जल्दी है–यह कहने का समय चला गया । अब और अधिक विलम्ब किया गया तो विभीषिकाएँ सारी मानव सभ्यता के सामने संकट उत्पन्न कर देंगी और इस संसार में रौरव नरक के अतिरिक्त और कुछ शेष न रहेगा ।

कार्य का प्रारम्भ हम अपने आप से करते हैं । इन पंक्तियों का लेखक अपने व्यक्तिगत परिवार में ही 'अखण्ड-ज्योति' के सदस्यों की गणना करता है । उसने जीवनपर्यन्त लोगों के साथ निरन्तर वैसा ही व्यक्तिगत सम्पर्क रखा है, उनके सुख-दुःख में उसी प्रकार भाग लिया है जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने अंश-वंश के लोगों के साथ लेता है– वे ही लोग 'अखण्ड-ज्योति' के सदस्य हैं । 'अखण्ड-ज्योति' साधारण अखबारों की श्रेणी में नहीं आती । श्रेय पथ पर चलने वाले संस्कारवान् व्यक्तियों को सम्बन्ध-सूत्र में पिरोये रहने की यह एक सूत्र शृंखला है । इसके पृष्ठों को, हम लोगों की अन्तरात्मा को एक-दूसरे के निकट लाने और एक दूसरे की भावनाओं का आदान-प्रदान करने का एक विशिष्ट माध्यम ही माना जा सकता है । लेखों के आधार पर नहीं, भावना और आत्मीयता के सुदृढ़ सम्बन्धों की मजबूत रस्सी में बँधा हुआ यह एक ऐसा संगठन है जिसे कौटुम्बिक परिजनों से किसी भी प्रकार कम महत्त्व नहीं दिया जा सकता । व्यक्तिगत एकता और आत्मीयता के बंधन हम लोगों के बीच इतनी मजबूती से बँधे हुए हैं कि इस समूह को परिवार कहने में कोई अत्युक्ति नहीं हो सकती ।

गायत्री उपासना करने में हमारा मार्ग-दर्शन, परामर्श एवं सहयोग लेने वाले व्यक्तियों को हम गायत्री परिवार कहते रहे हैं । जो लोग उपासना को उस विधि से तो नहीं करते, पर जीवन निर्माण के कार्यक्रमों में सहमत हैं ऐसे लोगों की भी संख्या कम नहीं । उपासना और जीवन निर्माण विद्या के दोनों ही माध्यमों से हमारे साथ सम्बद्ध व्यक्तियों के विशाल जनसमूह को हम अखण्ड-ज्योति के नाम से पुकारते हैं । यह सभी लोग हमें व्यक्तिगत रूप से अपने शरीर के अंगों की तरह प्रिय हैं और विश्वास है कि ये लोग भी हमें उसी दृष्टि से देखते हैं, पारस्परिक प्रेम-भाव और भावनात्मक आदान-प्रदान को बनाये रखने में 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका महत्त्वपूर्ण कड़ी का काम करती रहती है ।

अपनी मार्गदर्शक सत्ता की प्रेरणा पर अब तक हम अपने जीवन का कार्यक्रम बनाते और उसकी पूर्ति करते चले आ रहे हैं । मार्गदर्शक सत्ता द्वारा युग-निर्माण योजना का जो कार्यक्रम हमें मिला है उसका आरम्भ भी उसी पद्धति से स्वयं भी किया है जिसके अनुसार दूसरों को प्रेरणा देनी है ।

हमारा व्यक्तिगत निर्माण कार्य-जीवन के आरम्भ से ही चलता आ रहा है । परम पूज्य पिता जी की उद्भट विद्वता और सच्चे ब्राह्मणों जैसी संस्कृति निष्ठा ने जन्मकाल से ही प्रभावित किए रखा, पीछे १५-१६ वर्ष की आयु में गुरुदेव ने हाथ पकड़ लिया । जिस प्रकार गोदी में लेकर कोई माता अपने बच्चे को सुरक्षित रखे रहती है, पयपान कराती है, उसी प्रकार अज्ञात सत्ता ने अपना दुलार सुधारात्मक प्रवृत्ति के रूप में ही हमें पिलाया है और कुमार्ग पर पैर पड़ने से बचाया है । इतने पर भी जन्म-जन्मान्तरों के संचित कुसंस्कार, जो बीज रूप में अज्ञात चेतना में छिपे पड़े हैं, उन्हें सुधारने की ओर हमारा ध्यान है, अब भी है तथा आगे आत्मसुधार की प्रक्रिया को और भी तीव्र करेंगे, क्योंकि दूसरों को जिस काम के लिए कहना है उसको स्वयं भी तो करना ही ठहरा । इस दिशा में अपने प्रयत्नों को अब और भी तीव्र कर रहे हैं ।

दूसरा कदम परिवार निर्माण का है यों कहने को एक छोटा परिवार भी हमारा मौजूद है; पर सही बात यह है कि हमने अपने विचार-परिवार को ही अपना वास्तविक परिवार माना है । कभी यह कल्पना ही नहीं आती कि हमारा कुटुम्ब घियामंडी के छोटे मकान में रहने वाले लोगों तक ही सीमित है । 'अखण्ड-ज्योति परिवार' के लाखों-करोड़ों व्यक्ति सदा हमें अपने सच्चे स्वजन-सम्बन्धी दीखते रहे हैं । उनके सम्बन्ध में हमारी चिंता, आकांक्षा और जिम्मेदारी उतनी ही रहती है जितनी किसी दूसरे को अपनी निजी परिवार की रहती है । यों सारा समाज और सारा संसार ही अपना है, पर जिनके साथ प्रेम और कर्तव्य के आवश्यक बंधन बँधे होते हैं, उनके लिए कुछ विशेष सोचना और करना पड़ता है । अपने इस लाखों-करोड़ों व्यक्तियों के कुटुम्ब के प्रति हमें सदा ऐसी ही अनुभूति होती रहती है ।

युग निर्माण योजना को कार्यान्वित करते हुए हमें आत्म-निर्माण के अतिरिक्त परिवार निर्माण का कार्य भी करना है । योजना का प्रारम्भ यहीं से हुआ है । आगे चल कर उसका व्यापक विस्तार होगा पर श्रीगणेश का क्षेत्र तो वही रह सकता है जो हमारे अत्यन्त निकटवर्ती कुटुम्बी परिजनों का है, जिन पर हमारा कुछ अधिकार है उन्हीं से कुछ करने के लिए बलपूर्वक कहा भी जा सकता है ।

अपने अधिकार क्षेत्र में ही कुछ कर सकना हमारे लिए सम्भव भी था, वही कर भी रहे हैं। परिवार-निर्माण का काम 'अखण्ड-ज्योति' के सदस्यों से-अपने विचार परिवार से आरम्भ करते हुए हमें पूरा और पक्का विश्वास है कि इसे ध्यानपूर्वक सुना और समझा जाएगा। इतना ही नहीं वरन् प्रत्येक परिजन उससे जितना बन पड़ेगा उतना करेंगे भी।

शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हमें क्या करना चाहिए। क्या सोचना चाहिए, इसकी एक छोटी रूपरेखा अगले पृष्ठों पर उपस्थित है। इसमें से जो कर सकना सम्भव हो उसे हर व्यक्ति को आज से और अभी से ही आरम्भ कर देना चाहिए। युग निर्माण योजना को कार्यान्वित करने का आदेश हमें बसंत पर्व पर मिला था, इसलिए इसके प्रारम्भ की जन्मतिथि सदा यही मनाई जाया करेगी। इस पुण्य पर्व से इसका जितना अंश जिन्हें प्रारम्भ करना हो उसी दिन से उसका श्रीगणेश करें।

योजना में जो कार्यक्रम हैं वे भारतीय संस्कृति को, भारतीय परम्परा को ध्यान में रखते हुए बनाये गये हैं। क्योंकि हम स्वयं इसी श्रेणी में आते हैं और हमारे वर्तमान परिजन भी इसी वर्ग के हैं। हर व्यक्ति अपने क्षेत्र और वर्ग को देखकर ही कुछ करने की व्यवस्था बना सकता है। चूँकि योजना विश्वव्यापी है, सभी वर्गों, सभी जातियों, सभी देशों और सभी धर्मों के लिए है इसलिए उसका मूल आधार एक रहते हुए भी स्थिति के अनुरूप इसके कार्यक्रम बदलते रहेंगे। जैसे समाज-सुधार के लिए दहेज, मृत्युभोज आदि। जिन बुराइयों का वर्णन है वे हिन्दू समाज की हैं, ईसाई धर्म के लोग उन्हें छोड़ दें और उनके समाज में जो कुरीतियाँ प्रचलित हों उन्हें सुधारने का प्रयत्न करें। गायत्री-मन्त्र की जो महिमा हिन्दू धर्म में है मुसलमानों में वही कलमा शरीफ की है। वे उसी मन्त्र को भावनापूर्वक जप सकते हैं। इसी प्रकार अन्य बातों में भी देश काल पात्र एवं परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए आवश्यक हेर-फेर करें।

युग निर्माण का आधार
व्यक्ति-निर्माण

व्यक्ति के परिवर्तन से ही समाज, विश्व एवं युग का परिवर्तन सम्भव है। इस धरती पर स्वर्ग का वातावरण सृजन करने के लिए हमें जन-मानस का स्तर बदलना पड़ेगा। आज जिस स्वार्थपरता, संकीर्णता, असंयम और अनीति ने अपने पैर पसार रखे हैं, उसे हटाने का प्रयत्न करना होगा और उसके स्थान पर सज्जनोचित सद्भावनाओं एवं सत्प्रवृत्तियों को प्रतिष्ठापित करना पड़ेगा। यह कार्य केवल कहने-सुनने से, लिखने-पढ़ने से सम्भव नहीं। इसके लिए प्रयत्न यह करना होगा कि सुधरे हुए आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार लोग अपना जीवन-क्रम बनावें। कहा भी गया है-

"नजरें तेरी बदली तो, नजारे बदल गये।
किश्ती ने बदला रुख तो, किनारे बदल गये।।"

उपरोक्त शेर में एक सनातन सत्य छिपा हुआ है। जब अपनी नजरें बदलती हैं तो नजारे अर्थात् दृश्य बदल जाते हैं। नाव जब अपना रुख दूसरी ओर मोड़ लेती है तो इधर का किनारा उधर और उधर का इधर दीखने लगता है। एक जंकशन पर पास-पास खड़ी हुई दो गाड़ियों में आरम्भ में एक छोटा सा मोड़ दिशाओं में थोड़ा-अन्तर बनाता है। धीरे-धीरे यह अन्तर इतना बढ़ जाता है कि एक दिल्ली से चलकर कलकत्ता जा पहुँचती है ओर दूसरी मुम्बई। दिल्ली में इन दोनों के बीच थोड़ा-सा अन्तरा था पर अन्त में दोनों के बीच में सैकड़ों मील का अन्तर पड़ जाता है। मानव-जीवन में भी यही तथ्य काम करता है। व्यक्तियों के दृष्टिकोण में थोड़ा-सा अन्तर जीवन की परिस्थितियों में भारी परिवर्तन प्रस्तुत कर देता है।

बच्चा आरम्भ में एक पैसा चुराने की आदत सीखता है, बड़ा होने पर वह कुछ बढ़ी-चढ़ी गड़बड़ी करने लगता है, समयानुसार बड़े हाथ मारने की क्षमता प्राप्त करता है और परिस्थितियाँ अनुकूल रहें तो एक दिन नामी चोर होकर जेलखाने पहुँचता है। सभी उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं, कोई अपना नहीं रह जाता। सर्वत्र निन्दा, असहयोग, घृणा ही उसे प्राप्त होती है और कठिनाइयों से पार निकलने का कोई रास्ता दिखाई नहीं देता। एक दूसरा बच्चा उसी का साथी ईमानदारी पर दृढ़ आस्था जमाता है। माँ-बाप उस पर भरोसा करते हैं, अध्यापक उस पर प्रेम और गर्व करते हैं, बड़ा होने पर जहाँ वह कारोबार करता है, वहाँ उसका सम्मान देवता की तरह होता है और अपने कृपालुओं की सहायता से वह बहुत ऊँची स्थिति तक जा पहुँचता है। आरम्भ में इन बालकों के स्वभाव में थोड़ा-सा अन्तर था। एक-दो पैसा चुराने न चुराने या उससे खरीदी जा सकने वाली वस्तु के मिलने न मिलने का कोई बड़ा महत्त्व न था पर इसी भिन्नता ने जब अपनी परिपक्वता प्राप्त की तो दोनों में इतना अन्तर आ गया कि उसका कोई अन्दाजा नहीं।

बुराई और भलाई की परस्पर विरोधी वृत्तियाँ आरम्भ में बहुत छोटे रूप में होती हैं पर उनका परिपोषण होते रहने से धीरे-धीरे बड़ा विशाल रूप बन जाता है। व्यभिचार का आरम्भ हँसी-दिल्लगी या छोटी उच्छृंखलता से होता है, इस मार्ग पर बढ़ते हुए कदम किसी नारी को वेश्या बना सकते हैं। इसके विपरीत यदि सदाचार के प्रति थोड़ी दृढ़ता रहे तो वही वृत्ति उसे आदर्श पतिव्रता के रूप में अजर-अमर बना सकती है। कामचोरी और आलस्य की वृत्ति आरम्भ में छोटी-छोटी उपेक्षा या टालमटोल के रूप में दिखाई पड़ती है पर अन्त में वही व्यक्ति आलस्य, प्रमाद और लापरवाही में अपना सब कुछ गँवा कर दर

दर की ठोकरें खाते-फिरने की स्थिति में पहुँच जाता है । एक-दूसरा व्यक्ति जिसे परिश्रम में अपना गौरव और चमकता भविष्य दीखता है, निरन्तर हँसी-खुशी के साथ परिश्रम करता रहता है और इसी पुरुषार्थ के बल पर वह उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचता है ।

हर किसी पर अविश्वास करने वाले, सबको सन्देह और तुच्छता की दृष्टि में देखने वाले व्यक्ति अपने मन में सोचते हैं कि हम बहुत बुद्धिमान हैं, किसी की बातों में नहीं आते और चौकस रहकर अपनी जरा भी हानि नहीं होने देते पर वस्तुतः यह उनकी भारी भूल है । अविश्वासी को किसी का सच्चा प्रेम नहीं मिल सकता । भावना छिपती नहीं, जब दूसरे को यह मालूम पड़ता है कि यह हमारे प्रति अविश्वास करता है तो वह भी सच्चा प्रेम नहीं कर सकता और न सहानुभूति रखता है । ऐसी प्रकृति के व्यक्ति आमतौर से मित्र होते नहीं देखे गये हैं । माना कि विश्वास में खतरा है । यदि खरे-खोटे की परख न करके हर किसी पर विश्वास करने लगा जाए तो उसमें ठगे जाने का खतरा भी है पर साथ ही यह भी निश्चित है किसी ने कभी दूसरों को अपना बनाया है तो उसे पूरा विश्वास अवश्य करना पड़ा है । एक व्यक्ति दूसरे का गुलाम तभी बनता है जब उसमें अपने लिए सच्ची सहानुभूति एवं आस्था अनुभव करता है । दाम्पत्य जीवन में, भाई-भाइयों में जहाँ भी सच्ची आत्मीयता पाई जाएगी वहाँ उसके मूल में विश्वास, वफादारी और गहरा आत्म-भाव अवश्य होगा । अविश्वास के वातावरण में एक ऐसी घुटन रहती है कि मनुष्य वहाँ से अलग हटकर ही सन्तोष की साँस ले पाता है । परायों को अपना बनाने और अपनों को पराया बनाने में यह विश्वास एवं अविश्वास ही प्रमुख कारण रहा होता है ।

छिद्रान्वेषण की वृत्ति अपने अन्दर हो तो संसार के सभी मनुष्य दुष्ट, दुराचारी दिखाई देंगे । ढूँढ़ने पर दोष तो भगवान में भी मिल सकते हैं, न हों तो थोपे जा सकते हैं । कोई हानि होने या आपत्ति आने पर लोग ऐसा करते हैं । कोई तो अपने ऊपर आई हुई आपत्ति का कारण तक ईश्वर को मान लेते हैं और उसी पर सारा दोष थोप छोड़-छोड़कर अलग हो जाते हैं । मनुष्यों में दोष ढूँढ़ते रहने पर तो उनमें असंख्य दोष निकाले या सोचे जा सकते हैं । ऐसी छिद्रान्वेषी प्रकृति के लोगों को सारी दुनिया बुराइयों से भरी हुई, दुष्ट, दुराचारी और अपने प्रति शत्रुता रखने वाली दिखाई देती है । उन्हें अपने चारों ओर निन्दनीय वातावरण दृष्टिगोचर होता है । निन्दा और आलोचना के अतिरिक्त कभी किसी के प्रति अच्छे भाव वे प्रकट ही नहीं कर पाते, किसी की प्रशंसा उनके मुख से निकलती ही नहीं । ऐसे लोग अपनी इस क्षुद्रता के कारण ही सबके बुरे बने रहते हैं । पीठ पीछे की हुई निन्दा नमक मिर्च लगाकर उस आदमी के पास जा पहुँचती है जिसके बारे में बुरा अभिमत प्रकट करने के लिए उसे सुनी हुई बुराई को उस तक पहुँचा देते हैं, जिसके सम्बन्ध में कटु अभिमत प्रकट किया गया था । ऐसी दशा में वहम भी प्र भावना से शत्रुता का ही रुख धारणा करता औ उसके विरोधी एवं शत्रुओं की संख्या बढ़ती जात बैठे रहने वाले, मुँह फुलाकर बात करने वा चढ़ाते रहने वाले और कर्कश स्वर में बोलने वा किसी के मन में अपने लिए आदर भाव प्राप्त न सकते । उन्हें बदले में द्वेष, घृणा, विरोध ही उपल हैं । अपना मन हर घड़ी खिन्न, सन्तप्त और क्षोभित है उसकी जलन से होने वाले शारीरिक एवं मान दुष्परिणामों की तो कल्पना नहीं की जा सकती ।

जिनकी दूसरों के गुण देखने की आदत है वे बुरे ल में भी चतुरता, मुस्तैदी, पुरुषार्थ, साहस आदि गुणों को दे हैं और उनकी उन विशेषताओं की प्रशंसा करते हैं । य ठीक है कि बुराइयों का प्रतिरोध किया जाना चाहिए, उन्हें रोका जाना चाहिए, पर यह भी ठीक है कि किसी को निन्दा करके या चिढ़ाने से नहीं सुधारा जा सकता । उन परिस्थितियों, समस्याओं या मनोवृत्तियों को सुधारने के लिए प्रयत्न करना होगा जिसके कारण बुराई उत्पन्न होती है । आमतौर से मनुष्य उससे प्रभावित रहता है जो उसकी किसी न किसी अंश में प्रशंसा करता है और उनमें जो थोड़ी बहुत अच्छाई है, उसका आदर करता है । मनुष्य अपने विरोधी की नहीं, प्रशंसक की बात मान सकता है और यदि सुधार सम्भव है तो उसी के द्वारा सम्भव है, जिनके प्रति मन में सद्भावना जमी हुई है । ऐसी सद्भावना जमाते रहने में वे ही सफल हो सकते हैं जो सद्भावनायुक्त, गुणग्राही एवं प्रशंसक हैं । इस विशेषता के कारण मनुष्य अजातशत्रु हो जाता है और अपने बुरे स्वभाव के कारण शत्रुता करना चाहते हैं वे भी देर तक नहीं कर पाते । सज्जनता के सामने उन्हें एक दिन परास्त होना ही पड़ता है ।

जरा-सी प्रतिकूलता को सहन न कर सकने वाले आवेशग्रस्त, उत्तेजित, अधीर और उतावले मनुष्य सदा गलत सोचते और गलत काम करते हैं । उत्तेजना एक प्रकार का दिमागी बुखार है । जिस प्रकार बुखार आने पर देह का सारा कार्यक्रम लड़खड़ा जाता है, उसी प्रकार आवेश आने पर मस्तिष्क की विचारधारा एवं निर्णय प्रक्रिया अस्त-व्यस्त हो जाती है, उस स्थिति में कोई व्यक्ति सही निर्णय नहीं कर सकता । आवेशग्रस्त मनुष्य प्रायः न करने योग्य ऐसे कामकर डालते हैं जिनके लिए पश्चाताप ही करते रहना पड़ता है । आत्म-हत्याएँ इन्हीं परिस्थितियों में होती हैं । कहनी-अनकहनी कह बैठते हैं । मारपीट, गाली-गलौज, लड़ाई-झगड़े कत्ल आदि के दुःखद कार्य भी उत्तेजना के वातावरण में ही बन पड़ते हैं । अधीरता भी एक प्रकार का आवेश ही है । बहुत जल्दी मनमानी सफलता अत्यन्त सरलतापूर्वक मिल जाने के सपने बाल-बुद्धि के लोग देखा करते हैं । वे यह नहीं सोचते कि महत्त्वपूर्ण सफलताएँ तब मिला करती हैं जबकि व्यक्ति श्रमशीलता, पुरुषार्थ, साहस, धैर्य एवं सद्गुणों की अग्निपरीक्षा में गुजरकर अपने आपको उसके उपयुक्त सिद्ध

कर देता है । जल्दबाजी में होता कुछ नहीं बिगड़ता बहुत कुछ है । इसलिए धैर्य को सन्तुलन और शान्ति को एक श्रेष्ठ मानवीय गुण माना गया है । कठिनाइयों से हर किसी को पाला पड़ता है, विघ्नों से रहित कोई काम नहीं । तुर्त-फुर्त सफलता किसे मिलती है, किसके सब साथी सज्जन-और सद्गुणी होते हैं ?

हर समझदार आदमी को सहनशीलता धैर्य और समझौते का मार्ग अपनाना पड़ता है । जो प्राप्त है उसमें प्रसन्नता अनुभव करते हुए अधिक के लिए प्रयत्नशील रहना बुद्धिमानी की बात है, पर यह परले सिरे की मूर्खता है कि अपनी कल्पना के अनुरूप सब कुछ न मिल जाने पर मनुष्य खिन्न, दुःखी और असन्तुष्ट बना रहे । सबकी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं हो सकतीं । अधूरे में जो सन्तोष कर सकता है उसी को इस संसार में थोड़ी-सी प्रसन्नता उपलब्ध हो सकती है अन्यथा असन्तोष और तृष्णा की आग में जल मरने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है । अधीर, असन्तोषी और महत्त्वाकांक्षी मनुष्य जितने दुःखी देखे जाते हैं उतनी जलन, दर्द और पीड़ा घायल और बीमारों को भी नहीं होती । सन्तोष का मरहम लगाकर कोई भी व्यक्ति इस जलन से छुटकारा प्राप्त कर सकता है ।

कुढ़न एक ऐसी बीमारी है जिसका कोई इलाज नहीं, अपनी स्थिति को दूसरों की तुलना में हीन मानकर कितने ही व्यक्ति असन्तोष से कुढ़ते रहते हैं । पुरुषार्थ के अभाव में प्रयत्नपूर्वक वे उस ऊँची स्थिति तक पहुँचने का साहस तो करते नहीं उल्टे जो आगे बढ़े हुए हैं, उनसे ईर्ष्या करने लगते हैं । उन्हें लगता है कि यदि आगे बढ़े हुए की टाँग पकड़कर पीछे घसीट लिया जाए या आगे बढ़ने से रोक दिया जाए तो विषमता की स्थिति दूर हो सकती है ईर्ष्या में सही भाव छिपा रहता है । दूसरों की प्रशंसा या प्रगति सहन न कर सकने में ईर्ष्यालु की महत्त्वाकांक्षा छिपी रहती है । वह अपने से बड़े समझे जाने वालों की तुलना में अपने को हीन समझा जाना पसन्द नहीं करता । इस कमी को प्रयत्न और पुरुषार्थ द्वारा स्वयं उन्नति करके पूरा किया जा सकता है, पर इस कठिन मार्ग पर चलने की अपेक्षा लोग यही ठीक समझते हैं कि आगे बढ़े हुए को पीछे घसीटा जाए, उनकी निन्दा की जाए या हानि पहुँचाई जाए । ईर्ष्यालु लोग ऐसा ही कुछ किया करते हैं । कुछ आगे बढ़े हुए लोग अपने से छोटों को बढ़ते देखना नहीं चाहते । वे सोचते हैं यदि चढ़कर मेरी बराबर आ जावेंगे तो फिर मेरी क्या विशेषता रहेगी ? इसलिए बढ़ते हुओं को ऊपर उठने से पहले ही दबा देना चाहिए ।

इन द्वेष-वृत्तियों का परित्याग करके यदि मनुष्य अपने अन्दर सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाने में लग जाय तो उसकी दुनिया आज की अपेक्षा कल दूसरी ही हो सकती है । दृष्टिकोण के बदलने से दृश्य बदलते हैं । नाव के मुड़ने से किनारे पलट जाते हैं । हमें इस प्रकार का सुधार आप में निरन्तर करते रहना चाहिए । सुधार के लिए हर दिन शुभ है उसके लिए कोई आयु अधिक नहीं । बूढ़े और मौत के मुँह में खड़े हुए व्यक्ति भी यदि अपने सुधार आरम्भ करें तो उन्हें भी आशाजनक सफलता प्राप्त हो सकती है । जिनके सामने अभी लम्बा जीवन पड़ा है वे तो इस आत्म-सुधार की प्रक्रिया को धीरे-धीरे चलाते रहें तो भी अपने जीवनक्रम का कायाकल्प कर सकते हैं ।

मानसिक स्वच्छता का महत्त्व

मन की चाल दुमुँही है । जिस प्रकार दुमुँहा साँप कभी आगे चलता है, कभी पीछे । उसी प्रकार मन में दो परस्पर विरोधी वृत्तियाँ काम करती रहती हैं । उनमें से किसे प्रोत्साहन दिया जाए और किसे रोका जाए यह कार्य विवेक-बुद्धि का है । हमें बारीकी के साथ यह देखना होगा कि इस समय हमारे मन की गति किस दिशा में है । यदि सही दिशा में प्रगति हो रही है तो उसे प्रोत्साहन दिया जाए और यदि दिशा गलत है तो उसे पूरी शक्ति के साथ रोका जाए, इसी में बुद्धिमत्ता है क्योंकि सही दिशा में चलता हुआ मन जहाँ हमारे लिए श्रेयस्कर परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है वहाँ कुमार्ग पर चलते रहने में एक दिन दुःखदायी दुर्दिन का सामना भी करना पड़ता है । इसलिए समय रहते चेत जाना ही उचित है ।

उचित दिशा में चलता हुआ मन आशावादी, दूरदर्शी, पुरुषार्थी, गुणग्राही और सुधारवादी होता है । इसके विपरीत पतनोन्मुख मन सदा निराश रहने वाला, तुरन्त की बात सोचने वाला, भाग्यवादी, कठिनाइयों की बात सोच-सोच कर खिन्न रहने वाला और अपने आप का पक्षपात करने वाला होता है । वह परिस्थितियों के निर्माण में अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं करता । मन पत्थर या काँच का बना नहीं होता जो बदला न जा सके । प्रयत्न करने पर मन को सुधारा और बदला जा सकता है । यह सुधार ही जीवन का वास्तविक सुधार है । युग निर्माण का प्रमुख आधार यह मानसिक परिवर्तन ही है । दुमुँहे साँप की उलटी चाल को यदि सीधा कर दिया जाए तो वह पीछे लौटने की अपेक्षा स्वभावतः आगे बढ़ने लगेगा । हमारे मन यदि अग्रगामी पथ पर बढ़ने की दिशा पकड़ लें तो जीवन के सुख-शान्ति और भविष्य के उज्ज्वल बनने में कोई सन्देह नहीं रह जाता ।

निराशा एक प्रकार की कायरता है । बुजदिल आदमी ही हिम्मत हारते हैं । जिसमें वीरता तथा शूरता का, पुरुषार्थ और पराक्रम का एक कण भी शेष होगा वह यही अनुभव करेगा कि मनुष्य महान है, उसकी शक्तियाँ महान

हैं, वह दृढ़ निश्चय और सतत परिश्रम के द्वारा असम्भव को सम्भव बना सकता है । यह जरूरी नहीं कि पहला प्रयत्न ही सफल होना चाहिए । असफलताओं का मन पर जो प्रभाव पड़ने नहीं देते और आगामी कल के लिए आशान्वित रहते हैं वस्तुतः वे ही शूरवीर हैं । वीरता शरीर में नहीं मन में निवास करती है । जो मरते दम तक आशा को नहीं छोड़ते और जीवन संग्राम को एक खेल समझते हुए हँसते, खेलते, लड़ते रहते हैं उन्हीं वीर पुरुषार्थी महामनाओं के गले में अन्ततः विजय वैजयन्ती पहनाई जाती है । बार-बार अग्नि परीक्षा में गुजरने के बाद ही सोना कुन्दन कहलाता है । कठिनाइयों और असफलताओं से हताश न होना, धीरता का यह एक ही चिन्ह है । जिन्होंने अपने को इस कसौटी पर खरा सिद्ध किया है उन्हीं की जीवन साधना सफल हुई और उन्हीं के नाम इतिहास के पृष्ठों पर अमर रहे हैं ।

अपने सुधार के बिना परिस्थितियाँ नहीं सुधर सकतीं । अपना दृष्टिकोण बदले बिना जीवन की गतिविधियाँ नहीं बदली जा सकतीं । इस तथ्य को मनुष्य जितना जल्दी समझ ले उतना ही अच्छा है । हम दूसरों को सुधारना चाहते हैं पर इसके लिए समर्थ वही हो सकता है जो पहले इस सुधार के प्रयोग को अपने ऊपर आजमा कर अपनी योग्यता की परीक्षा दे । दूसरे लोग अपना कहना न मानें यह हो सकता है पर हम अपनी बात स्वयं ही न मानें इसका क्या कारण है ? अपनी मान्यताओं को यदि हम स्वयं ही कार्यरूप में परिणति न करें तो फिर सभी स्त्री-बच्चों से, मित्र-पड़ोसियों से या सारे संसार से यह आशा कैसे करेंगे कि वे अपनी बुरी आदतों को छोड़कर उस उत्तम मार्ग पर चलने लगें जिसकी कि आप शिक्षा देते हैं ।

अपना मन अपना है, उसे समझाना और सुधारना तो अपने वश की बात ही हो सकती है । बाहरी अस्वच्छता साफ करने में कुछ अड़चनें आवें यह बात समझ में आती है पर अपना घर, अपना मन भी साफ-सुथरा न बनाया जा सकने में कौन-सी बहानेबाजी ठीक जँचेगी ? यह कार्य कोई देवता या गुरु कर देगा यह सोचना व्यर्थ है । हर आदमी अपने को स्वयं ही सुधार या बिगाड़ सकता है दूसरे लोग इस कार्य में सहायता कर सकते हैं, पर रोटी खाने, दही जमाने, विद्या पढ़ने की तरह मन सुधारने का काम भी स्वयम् करना पड़ेगा । यह नहीं हो सकता कि किसी दूसरे के आशीर्वाद या वरदान से हमारी मानसिक अस्वच्छता दूर हो जाए । यह कार्य हमें स्वयं ही करना होगा, संसार के सुधार का आन्दोलन, समाज को बदलने का अभियान हमें आरम्भ करना चाहिए पर संसार में, समाज में सबसे पहला वह व्यक्ति कौन' हो सकता है जिससे सुधार कार्य आरम्भ किया जाए ? वह हम स्वयं ही हो सकते हैं । अपने प्रयत्नों से अपने को सुधार कर ही हम संसार और समाज की सेवा कर सकने के अधिकारी सिद्ध हो सकते हैं ।

विचार ही जीवन का निर्माण करते हैं

विचारों में अपार शक्ति है । शक्ति सदैव कर्म क प्रेरणा देती है । वह अच्छे कार्यों में लग जाए तो अच्छे और बुरे मार्ग की ओर प्रवृत्त हो जाए तो बुरे परिणाम प्राप्त होते हैं । विचारों में एक प्रकार की चेतना शक्ति होती है । किसी भी प्रकार के विचारों के एक स्थान पर केन्द्रित होते रहने पर उनकी सूक्ष्म-चेतना शक्ति घनीभूत होती जाती है, प्रत्येक विचार आत्मा और बुद्धि के संसर्ग से पैदा होता है । बुद्धि उसका आकार-प्रकार निर्धारित करती है तो आत्मा उसमें चेतना फूँकती है । इस तरह विचार अपने आप में एक सजीव और सूक्ष्म-तत्व हैं । मनुष्य के विचार एक तरह की सजीव तरंगें हैं जो जीवन, संसार और यहाँ के पदार्थों को प्रेरणा देती रहती हैं । इन सजीव विचारों का जब केन्द्रीकरण हो जाता है तो एक प्रचण्ड शक्ति का उद्भव होता है । स्वामी विवेकानन्द ने विचारों की इस शक्ति का उल्लेख करते हुए बताया-"कोई व्यक्ति भले ही किसी गुफा में जाकर विचार करे और विचार करते-करते ही वह मर जाए, तो भी वे विचार कुछ समय उपरान्त गुफा की दीवारों का विच्छेद कर बाहर निकल पड़ेंगे, और सर्वत्र फैल जाएँगे, वे विचार तब सबको प्रभावित करेंगे ।"

विचारों का हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है । अपने सुख-दुःख, हानि लाभ, उन्नति-अवनति, सफलता-असफलता सभी कुछ हमारे अपने विचारों पर निर्भर करते हैं । जैसे विचार होते हैं वैसा ही हमारा जीवन बनता है । संसार कल्पवृक्ष है, इसकी छाया तले बैठकर हम जो विचार करेंगे वैसे ही परिणाम प्राप्त होंगे । जो अपने आपको सद्विचारों से भरे रखते हैं वे पग-पग पर जीव के महान् वरदानों से विभूषित होते हैं, सफलता, महानत सुख-शान्ति, प्रसन्नता के परितोष उन्हें मिलते रहते हैं । इसके विपरीत जो अपने आपको हीन, अभागा, बदनसीब समझते हैं उनका जीवन भी दीन-हीन बन जाता है । विचारों से गिरे हुए व्यक्ति को फिर परमात्मा भी नहीं उठा सकता । जो अन्धकारमय, निराशावादी विचार रखते हैं उनका जीवन कभी उन्नत और उत्कृष्ट नहीं बन सकता । मनुष्य को वैसा ही मिलता है जैसे उनके विचार होते हैं ।

कुँए में मुँह करके आवाज देने पर वैसे ही प्रतिध्व उत्पन्न होती है । संसार भी इस कुएँ की आवाज की तर ही है । मनुष्य' जैसा सोचता है, विचारता है वैसी ही प्रतिक्रिया वातावरण में होती है । मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही उसके आस-पास का वातावरण बन जाता है । मनुष्य के विचार शक्तिशाली चुम्बक की तरह हैं जो अपने समानधर्मी विचारों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं । एक ही तरह के विचारों के घनीभूत होने पर वैसी ही क्रिया होती है और वैसे ही स्थूल परिणाम प्राप्त होते हैं ।

विचार एक प्रचण्ड शक्ति है और वह भी असीम। अमर्यादित, अणु-शक्ति से भी प्रबल। विचार जब घनीभूत होकर संकल्प का रूप धारण कर लेता है तो प्रकृति स्वयं अपने नियमों का व्यतिरेक करके भी उसको मार्ग दे देती है। इतना ही नहीं उसके अनुकूल बन जाती है। मनुष्य जिस तरह के विचारों को प्रश्रय देता है, उसके वैसे ही आदर्श, हावभाव, रहन-सहन ही नहीं, शरीर में तेज, मुद्रा आदि वैसे ही बन जाते हैं। जहाँ सद्विचार की प्रचुरता होगी वहाँ वैसा ही वातावरण बन जाएगा। ऋषियों के अहिंसा, सत्य, प्रेम, न्याय के विचारों से प्रभावित क्षेत्र में हिंसक पशु भी अपनी हिंसा छोड़कर अहिंसक पशुओं के साथ विचरण करते थे।

जहाँ घृणा, द्वेष, क्रोध आदि से सम्बन्धित विचारों का निवास होगा वहाँ नारकीय परिस्थितियों का निर्माण होना स्वाभाविक है। मनुष्य में यदि इस तरह के विचार घर कर जाएँ कि मैं अभागा हूँ, दुःखी हूँ, दीन-हीन हूँ तो उसका उत्कर्ष कोई भी शक्ति साध नहीं सकेगी। वह सदैव दीन-हीन परिस्थितियों में पड़ा रहेगा। इसके विपरीत मनुष्य में सामर्थ्य, उत्साह, आत्मविश्वास के गौरवयुक्त विचार होंगे तो प्रगति-उन्नति स्वयं ही अपना द्वार खोल देगी।

किसी भी शक्ति का उपयोग सृजनात्मक एवं ध्वंसात्मक दोनों ही रास्तों में होता है। विज्ञान की शक्ति से मनुष्य के जीवन में वातावरण परिवर्तन हुआ। असम्भव को सम्भव बनाया विज्ञान ने। किन्तु आज विज्ञान के विनाशकारी स्वरूप में मानवता का भविष्य अन्धकारमय दिखाई देता है। जन-मानस में बहुत बड़ा भय व्याप्त है। ठीक इसी तरह विचारों की शक्ति पुरागामी होने से मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य का द्वार खुल जाता है और प्रतिगामी होने पर वही शक्ति उसके विनाश का कारण बन जाती है। गीताकार ने इसी सत्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा—"आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" विचारों का केन्द्र मन ही मनुष्य का बन्धु है और वही शत्रु भी।

आवश्यकता इस बात की है कि विचारों को निम्न भूमि से हटाकर उन्हें ऊर्ध्वगामी बनाया जाए जिससे मनुष्य की उन्नति और उसका कल्याण सध सके। दीन-हीन, क्लेश एवं दुःखों से भरे हुए नारकीय जीवन से छुटकारा पाकर मनुष्य इसी धरती पर स्वर्गीय जीवन की उपलब्धि कर सके। विचारों के ऊर्ध्वगामी बन जाने पर नित्य जीवन के सम्पर्क में आने वाले पशु-पक्षी, लता-वृक्ष-पुष्पों में अथाह आत्मीयता; प्रेम, एकता, सहयोग से दर्शन होंगे। अपने कर्त्तव्य धर्म से एक क्षण भी मनुष्य असावधान नहीं हो सकता। सद्विचारों के होने पर स्वार्थ को पोषण नहीं मिलता। धन-सम्पत्ति पाकर भी मनुष्य मदमस्त नहीं होता। बुराइयाँ पास भी न फटकेंगी। विचारों में विमलता, उत्कृष्टता आने पर प्रसाद, प्रसन्नता, सुख-शान्ति, सन्तोष मिल जाते हैं, विचारों की विमलता से समस्त दुःख-द्वन्द्वों का नाश हो जाता है।

मन को सुधारा जाए

मनुष्य के अस्तित्व पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो उसकी एकमात्र विशेषता उसका मनोबल ही दृष्टिगोचर होता है। शरीर की दृष्टि से वह अन्य प्राणियों की तुलना में बहुत गया-बीता है। मनोबल की विशेषता के कारण ही वह सृष्टि का मुकुटमणि प्राणी बना हुआ है, मन वस्तुतः एक बड़ी शक्ति है। अनन्त चेतना के केन्द्र परमात्मा का प्रकाश इस जड़ प्रकृति में जो पड़ता है तो उसका प्रतिबिम्ब मन के रूप में ही सामने आता है। जड़ पदार्थ कितने ही उत्कृष्ट क्यों न हों चेतना के बिना वे निरर्थक हैं। इस पृथ्वी के गर्भ में रत्नों की खान स्वर्ण भण्डार और न जाने क्या-क्या बहुमूल्य सम्पदाएँ भरी पड़ी हैं पर वे तब तक प्रकाश में नहीं आतीं जब तक कोई चेतना सम्पन्न मनुष्य उनसे सम्पर्क स्थापित नहीं करता है। स्वर्ण और रत्न का मूल्य चेतन-प्राणी की चेतना के कारण ही है अन्यथा वे मिट्टी-कंकड़ के समान ही पड़े रहते हैं। इस देह को ही लीजिए, कितनी बहुमूल्य, प्रिय एवं उपयोगी लगती है पर यदि चेतना नष्ट हो जाय- मूर्छा उन्माद या मृत्यु की स्थिति आ जाए तो यह देह किसी काम की नहीं रह जाती। मानव-जीवन में जो कुछ श्रेष्ठता एवं महत्ता है वह केवल उसकी मानसिक-स्थिति-मनोभूमि के कारण ही है।

आलसी और उत्साही, कायर और वीर, दीन और समृद्ध, दुर्गुणी और सद्गुणी, पापी और पुण्यात्मा, अशिक्षित और विद्वान, तुच्छ और महान, तिरस्कृत और प्रतिष्ठित का जो आकाश-पाताल का अन्तर मनुष्यों के बीच में दीख पड़ता है उसका प्रधान कारण उस व्यक्ति की मानसिक स्थिति ही है। परिस्थितियाँ भी एक सीमा तक इन भिन्नताओं में सहायक होती हैं पर उनका प्रभाव पाँच प्रतिशत ही होता है। बुरी से बुरी परिस्थितियों में पड़ा हुआ मनुष्य भी अपनी कुशलता और मानसिक विशेषताओं के द्वारा उन बाधाओं को पार करता हुआ, देर-सबेर में अच्छी स्थिति प्राप्त कर लेगा। अपने सद्गुणों सद्विचारों एवं सत्प्रयत्नों द्वारा कोई भी मनुष्य बुरी से बुरी परिस्थिति को पार करके ऊँचा उठ सकता है, मानवोचित सम्मान और सुविधाएँ प्राप्त कर सकता है पर जिसकी मनोभूमि निम्न श्रेणी की है जो दुर्बुद्धि से, दुर्गुणों से, दुष्प्रवृत्तियों से ग्रसित है उसके पास यदि कुबेर जैसी सम्पदा और इन्द्र जैसी सुविधा हो तो भी वह अधिक दिन तक ठहर न सकेगी कुछ ही दिन में नष्ट हो जाएँगी।

तात्पर्य केवल इतना है कि नीति और अनीति के आधार पर प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा, प्रेम, द्वेष, शान्ति-अशान्ति, दण्ड-पुरस्कार, स्वर्ग-नरक मिलते हैं पर लौकिक सफलताओं का आधार जागरूकता, पुरुषार्थ, साहस आदि गुण ही हैं। यह सभी गुण शरीर के नहीं मन के हैं। मन को उपयोगी, अनुकूल उचित आदतों का, विचार-पद्धति का अभ्यस्त बना लेने से ही नाना प्रकार के उन गुणों का—

आविर्भाव होता है जो लौकिक एवं पारलौकिक सफलताओं के मूल आधार हैं।

नैतिक आदर्शों का पालन शरीर पर प्रतिबन्धों से नहीं मन की उच्च स्थिति पर निर्भर है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर के षड्रिपु जो मन में छिपे बैठे रहते हैं समय-समय पर हिंसा, झूठ, पाखण्ड, स्वार्थ, बेईमानी, रिश्वतखोरी, दहेज, कन्या-विक्रय, वर-विक्रय, माँसाहार, जुआ-खोरी आदि सामाजिक बुराइयों के रूप में फूट पड़ते हैं। नाना प्रकार के दुष्कर्म यद्यपि अलग-अलग प्रकार के दीख पड़ते हैं पर उनका मूल एक ही है 'मन की मलीनता, जिस प्रकार पेट खराब होने से नाना प्रकार के शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार मन मलीन होने पर हमारे वैयक्तिक-आन्तरिक जीवन में नाना प्रकार के कुकर्म बन पड़ते हैं। जिस प्रकार रोगों के कारण शरीर को पीड़ा उठानी पड़ती है उसी प्रकार मन की मलीनता से हमारा सारा बौद्धिक संस्थान-विचार क्षेत्र औंधा हो जाता है और कार्यशैली ऐसी ओछी बन पड़ती है कि पग-पग पर असफलता, चिन्ता, त्रास, शोक, विक्षोभ के अवसर उपस्थित होने लगते हैं। अव्यवस्थित मनोभूमि को लेकर इस संसार में न तो कोई महान बना है और न किसी ने अपने जीवन को सफल बनाया है। उसके लिए क्लेश और कलह, शोक और सन्ताप, दैन्य और दारिद्र्य ही सुनिश्चित हैं, न्यूनाधिक मात्रा में वे ही उसे मिलने हैं, वे ही मिलते भी रहते हैं।

हमारे आध्यात्मिक लक्ष्य की आधारशिला मन की स्वच्छता है। जप, तप, भजन, ध्यान, व्रत, उपवास, तीर्थ, हवन, दान-पुण्य, कथा-कीर्तन सभी का महत्त्व है, पर उनका पूरा लाभ उन्हीं को मिलता है जिन्होने मन की स्वच्छता के लिए भी समुचित श्रम किया है। मन मलीन हो, दुष्टता एवं नीचता की दुष्प्रवृत्तियों से मन गन्दी कीचड़ की तरह सड़ रहा हो तो भजन, पूजन में भी कितना लाभ मिलने वाला है ? अन्तरात्मा की निर्मलता अपने आप की एक साधना है, जिसमें किलोल करने के लिए भगवान स्वयं दौड़े आते हैं। थोड़ी साधना से भी उन्हें आत्म-दर्शन का, मुक्ति एवं साक्षात्कार का लक्ष्य सहज ही प्राप्त हो जाता है। स्वल्प साधना भी उनके लिए सिद्धिदायनी बन जाती है।

'सुमनस' शब्द संस्कृत भाषा में एक बहुत ही प्रतिष्ठा और श्रेष्ठता का प्रतीक है। जिसका मन स्वच्छ होता है उसे 'सुमनस' कहकर सम्मानित किया जाता है। ऋषि लोग प्रसन्न होकर किसी को 'सौमनस' अर्थात् सुन्दर मन वाला होने का आशीर्वाद दिया करते थे। वस्तुतः इस निकम्मे प्राणी मनुष्य में यदि कोई विशेषता हो सकती है तो वह उसकी मानसिक स्वच्छता ही है, जिसे यह सम्पदा प्राप्त हुई उसका जीवन सच्चे अर्थों में सफल हो गया।

वैयक्तिक और सामूहिक दोनों ही दृष्टियों से जन-मानस की स्वच्छता एवं उत्कृष्टता नितान्त आवश्यक है। बिना न तो मनुष्य व्यक्तिगत रूप से सुखी रह सकेगा और न समाज ही समुन्नत हो सकेगा। आमदनी और सुविधाएँ बढ़ाने वाली योजनाएँ भी तब तक कुछ अधिक उपयोगी सिद्ध न होंगी जब तक अन्तःकरण का स्तर ऊँचा न उठे।

जब हमारे सामने अनेक समस्याएँ विभिन्न प्रकार के विचार होते हैं, तब यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इनमें कौन हितकारी है और कौन हित के विपरीत. कौन सही है और कौन गलत है। ऐसी अवस्था में विवेक ही हमारा मार्ग-दर्शन कर सकता है। जिसमें विवेक की कमी होती है वे नाजुक क्षणों में अपना सही मार्ग निश्चित नहीं कर पाते और गलत रास्ते पर चल पड़ते हैं, जिसके कारण उन्हें पतन और असफलता के गर्त मे गिरकर लांछित और अपमानित होना पड़ता है, जिसमें विवेक-शक्ति का प्राधान्य होता है। वे दूरदर्शी होते हैं, काम के परिणाम को समझते हैं, अपने विचारों के महत्त्व को जानते हैं और इसीलिए उपयुक्त मार्ग को अपनाते हैं। यही शक्ति साधारण व्यक्ति को नेता, महात्मा और युग-पुरुष बनाती है।

मानव होने के नाते हमारा यह प्राथमिक कर्त्तव्य है कि हम इस विवेक को जाग्रत करें और उसकी आवाज को सुनना सीखें। संसार के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी मनुष्य इसकी कृपा के लिए लालायित रहते हैं। इससे हम यह निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मनुष्य के लिए अपने विवेक की सदैव रक्षा करना परमावश्यक है। किसी स्वार्थ के लिए भी विवेक की हत्या करने से उसका कुफल भोगना पड़ता है। चाहे वैयक्तिक विषय हो और चाहे सामाजिक, चाहे राजनीतिक समस्या हो अथवा धार्मिक, हम को विवेक युक्त निर्णय का सदैव ध्यान रखना चाहिए। लकीर के फकीर बन जाने या 'बाबा वाक्य प्रमाण' मान लेने से मनुष्य की बुद्धि कुंठित हो जाती है और वह गलत मार्ग पर चलने लग जाता है इसलिए प्राचीन या नवीन कोई भी विषय हो हमको उसका उचित-अनुचित, सत्य-असत्य का पूर्ण विचार करके ही निर्णय करना चाहिए।

हमारा आन्तरिक महाभारत

मनुष्य के अन्तःकरण में दो प्रवृत्तियाँ रहती हैं, जिन्हे आसुरी एवं दैवी प्रकृति कहते हैं। इन दोनों में सदा परस्पर संघर्ष चलता रहता है। गीता में जिस महाभारत का वर्णन है और अर्जुन को जिसमें लड़ाया गया है वह वस्तुतः आध्यात्मिक युद्ध ही है। आसुरी प्रवृत्तियाँ बड़ी प्रबल हैं। कौरवों के रूप मे उनकी बहुत बड़ी संख्या है, सेना भी उसकी बड़ी है। पाण्डव पाँच ही थे उनके सहायक एवं सैनिक भी थोड़े ही थे फिर भी भगवान ने युद्ध की आवश्यकता समझी और अर्जुन से कहा-लड़ने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। तामसिक-आसुरी प्रकृति का दमन किये बिना सतोगुणी दैवी प्रकृति का अस्तित्व ही खतरे में

पड़ जाएगा । इसलिए लड़ना जरूरी है । अर्जुन पहले तो झंझट में पड़ने से कतराये पर भगवान ने जब युद्ध को अनिवार्य बताया तो उसे लड़ने के लिए कटिबद्ध होना पड़ा । इस लड़ाई को इतिहासकार 'महाभारत' के नाम से पुकारते हैं । अध्यात्म की भाषा में इसे 'साधना समर' कहते हैं ।

देवासुर-संग्राम की अनेक कथाओं में उसी 'साधना समर' का अलंकारिक निरूपण है । असुर प्रबल होते हैं, देवता उनसे दुःख पाते हैं, अन्त में दोनों पक्ष लड़ते हैं, देवता अपने को हारता-सा अनुभव करते हैं, वे भगवान के पास जाते हैं, प्रार्थना करते हैं, भगवान उनकी सहायता करते हैं । अन्त में असुर सारे मारे जाते हैं, देवता विजयी होते हैं । देवासुर संग्राम के अगणित पौराणिक उपाख्यानों की पृष्ठभूमि यही है । हमारा अन्तःप्रदेश ही वह धर्म क्षेत्र है, जिसमें महाभारत होता रहता है । असुर मायावी है । तमोगुण का असुर हमें माया में फँसाये रहता है । इन्द्रिय-सुखों का लालच देकर वह अपना जाल फैलाता है और अपने मायापाश में जीव को बाँध लेता है । उस असुर के और भी कितने ही अस्त्र-शस्त्र हैं । जिनसे जीव को अपने वशवर्ती करके पद-दलित करने में वह सफल होता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर यह छह ऐसे ही सम्मोहन अस्त्र हैं, जिसमें मूर्छित होकर जीव बँध जाता है और यह मूर्च्छा ऐसी होती है कि उससे निकलने की इच्छा भी नहीं होती है वरन् उसी स्थिति में पड़े रहने को जी चाहता है ।

आत्मा का कल्याण उस तम प्रवृत्ति में पड़े रहने से नहीं हो सकता जिसमें माया-मोहित अगणित जीव पाशबद्ध स्थिति में पड़े रहते हैं । इन बन्धनों को काटे बिना कल्याण का और कोई मार्ग नहीं । आत्मा की पुकार 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की है । यह अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना चाहती है । तम अन्धकार और सत ही प्रकाश है, उसको धारण करने का 'प्रयत्न ही साधना' है । साधना को जीवन की अनिवार्य आवश्यकता माना गया है । तम की दुष्प्रवृत्तियों से छुटकारा केवल इस एक ही उपाय से हो सकता है । सच्ची शान्ति और प्रगति का मार्ग भी यही है ।

अन्तरात्मा में निरन्तर चलने वाले देवासुर-संग्राम में तामसिकता का पक्ष भौतिक सुख-साधन इकट्ठे करते रहता और सात्त्विकता का पक्ष आत्म-कल्याण की दिशा में अग्रसर होने का है । जब दोनों में से कोई एक पक्ष प्रबल हो उठता है तो संग्राम में तेजी दिखाई देने लगती है । यदि असुरता प्रबल हुई तो दुष्प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि होकर पतन का नारकीय परिपाक सामने आ जाता है और यदि सुर पक्ष प्रबल हुआ तो सत्प्रवृत्तियों का उभार आता है और मनुष्य सत्पुरुष, महा-मानव ऋषि एवं देवदूत बनकर पूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए द्रुतगति से आगे बढ़ता है ।

एक बीच की स्थिति हो, रजोगुण ही अवसाद भूमिका कहलाती है । इसमें तम और सत् दोनों मिले रहते हैं । लड़ाई बन्द हो जाती है और काम-चलाऊ समझौता सा करके दैवी और आसुरी तत्व एक ही घर में रहने लगते हैं, भले और बुरे दोनों ही तरह के काम मनुष्य करता रहता है । पाप के प्रति घृणा न रहने से, आत्मिक प्रगति की ओर कोई विशेष उत्साह न रहने से दिन काटने की जैसी स्थिति बन जाती है । जैसी मन्द विष पीकर मूर्छित हुए अर्द्धमृत प्राणी की होती है । मानव जीवन जैसा अलभ्य अवसर प्राप्त होने पर इस प्रकार का अवसाद चिन्ताजनक ही है ।

इस अवसाद की स्थिति का अन्त करना ही उचित है, देवासुर-संग्राम में अपने देवपक्ष को विजयी बनाना ही श्रेयस्कर है । तम को छोड़े और सत का प्रकाश ग्रहण करें इसी में हमारा हित है, साधना में ही मनुष्य का सच्चा स्वार्थ निहित है ।

पुराणों में देवासुर-संग्राम का वर्णन पग-पग पर किया गया है । प्रत्येक पुराण में किसी न किसी बहाने किन्हीं देवताओं और किन्हीं असुरों की लड़ाई के प्रसंग बार-बार वर्णन किये गये हैं । सच तो यह है कि यह देवासुर-संग्राम अनादि काल से चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा, गीता में जिस धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र का वर्णन है और जिस महाभारत में धर्म और अधर्म का पक्ष प्रतिपादन करने वाली कौरव-पाण्डव सेनाओं का वर्णन हुआ वह भी केवल उस शस्त्र-युद्ध तक सीमित नहीं है वरन् हमारे अन्तःकरण में निरन्तर होते रहने वाले देवासुर-संग्राम का ही चित्रण है । मनुष्य के भीतर पाप और पुण्य-दोनों प्रकार से सबल संस्कार मौजूद हैं । दोनों की शक्ति प्रचण्ड है, दोनों ही उद्भट योद्धाओं के समान हैं । दोनों एक दूसरे से प्रतिकूल प्रकृति के होने से परस्पर लड़ते भी रहते हैं और एक-दूसरे को परास्त करने का प्रयत्न भी करते हैं । यही देवासुर-संग्राम है । हर मनुष्य के भीतर पाप और पतन के असुरता के कुसंस्कार पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं । चौरासी लाख निम्न योनियों में लाखों वर्षों तक भ्रमण करने की अवधि में इसने उन्हें जमा किया होता है । पाशविक वृत्तियाँ उन पतित योनियों में उपयुक्त भले ही कही जाएँ पर मनुष्य के महान् गौरव को देखते हुए ये हेय एवं त्याज्य ही होती हैं । सुर-दुर्लभ मानव शरीर में देवत्व की छाया रहती है । क्योंकि यह योनि ईश्वर के सबसे निकट है इस शरीर में आये हुए जीव के लिए ईश्वर तक पहुँचने में छोटी छलाँग लगानी मात्र शेष रह जाती है । इसलिए उनका महत्त्व एवं उत्तरदायित्व भी अधिक है । देवत्व मनुष्य को अपनी तरह ऊँचा उठाने के लिए खींचता है और असुरता की पाशविक वृत्तियाँ अपनी ओर आकृष्ट किए रहना चाहती हैं । इसी खींचतान में हवा के सहारे उड़ने वाले तिनकों की तरह आमतौर से मनुष्य कभी इधर कभी उधर उड़ते हैं । कोई व्यक्ति एक समय बुरे काम करता है तो दूसरे समय में अच्छे काम करता हुआ दिखाई देता है और कोई इसके प्रतिकूल अच्छे कामों को छोड़ कर बुराई में फँसता देखा जाता है । ऐसे उदाहरणों से मनुष्य की

आदेश गलत है । धर्म और कर्त्तव्य के विपरीत है । ऐसी दशा में से एक का चुनाव करना पड़ता है । गुरुजनों की बात मानें या औचित्य को शिरोधार्य करें ? ऐसा धर्मसंकट उपस्थित होने पर धर्म, औचित्य एवं कर्त्तव्य को ही प्रधानता दी जानी चाहिए ।

पिता अपने ही व्यवसाय में अपने बच्चों को लगाये रखना चाहता है, पर बच्चों की प्रतिभा एवं अभिरुचि दूसरी दिशा में सुविधा खोजती है । क्या यह उचित होगा कि बच्चों की आकांक्षा को निरस्त करके बड़ों की व्यवस्था ही प्रधान रहे ? यदि ऐसा ही किया जाता रहता तो संसार के लगभग सभी महापुरुष अपने पिता के आज्ञाकारी होते और उन्हीं के छोटे-मोटे व्यवसायों को चलाते रहने वाले तुच्छ व्यक्ति बने रहते ।

संसार में समझदार और वृद्ध पुरुषों की कमी नहीं है । उनके अनुभव तथा ज्ञान से नई पीढ़ी का भावी मार्गदर्शन होता है । इसलिए उनकी महत्ता को सेवा से अक्षुण्ण रखा जाता रहा है । गुरुजनों की सेवा-शिक्षा और आज्ञा का सचमुच ध्यान रखना कर्त्तव्य माना गया है । वैसा ही हमें करना भी चाहिए । उनके शारीरिक सुख और सुविधा का तो पूरा-पूरा ही ध्यान रखा जाना चाहिए और यदि उनका कोई सुझाव या आदेश व्यावहारिक न हो तो कम से कम, अपमान के शब्दों में प्रत्युत्तर तो नहीं ही देना चाहिए, ऐसे प्रसंगों पर चुप हो जाने से तात्कालिक झंझट उत्पन्न होने से रोका जा सकता है ।

औचित्य और आज्ञा के धर्म-संकट में जो उचित है, जो धर्म है, जो कर्त्तव्य है उसे ही प्रधानता दी जानी चाहिए । वृद्ध पुरुष बड़े हैं पर धर्म और कर्त्तव्य उससे भी बड़ा है, बड़ों का आदेश पालन किया जाना चाहिए पर विवेक की पुकार उससे भी पहले सुनी जानी चाहिए । व्यामोह यदि वृद्धों के कलेवर में प्रवेश करके बोले तो उस से पूर्व औचित्य का ध्यान आवश्यक है फिर चाहे वह बालक के मुख से ही उच्चारित हुआ हो । आयु वृद्धि से ज्ञान-वृद्धि बड़ा है । आयु का महत्त्व निश्चय ही हुआ है पर विवेक से बढ़कर उसकी महत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती । बड़ों को सभी बातें हम मानें उनको सभी प्रकार सुखी-सन्तुष्ट बनाने का प्रयत्न करें पर जब वे अनैतिक, असंगत अविवेकपूर्ण आदेश देने लगें तो उसकी पूर्ति के लिए तत्परता दिखाना आवश्यक नहीं । वृद्धावस्था की प्रतिष्ठा ज्ञान, विवेक, धर्म और दूरदर्शिता के कारण ही होती है । यदि ये तत्व उसमें न रहें तो वृद्ध पुरुष न रहकर बूढ़े आदमी मात्र रह जाते हैं । हमें वृद्ध पुरुषों तथा गुरुजनों का सम्पूर्ण अनुगमन करना चाहिए पर यह जरूरी नहीं कि सफेद बालों के कारण विवेकहीन बूढ़े आदमी भी हमारे . यनें ।

युग निर्माण का आरम्भ अपने आप से किया जाए

उत्कृष्ट श्रेणी का जीवनयापन करने के लिए यह आवश्यक है कि उस प्रकार की प्रेरणा देते रहने वाले प्रौढ़ विचार हमें निरन्तर मिलते रहें । पेट्रोल जब तक भरा रहता है तब तक मोटर चलती रहती है । तेल निबट जाने पर बढ़िया मोटर भी आगे नहीं बढ़ती । सब सुविधाएँ होते हुए भी प्रेरणाप्रद विचारों के अभाव में मनुष्य न तो श्रेष्ठ सत्कर्म कर सकता है और न आत्म-निर्माण की दिशा में प्रगति कर पाता है । इसके विपरीत जिन्हें अनेक व्यस्तताएँ, समस्याएँ घेरे रहती हैं वे भी सद्विचारों की प्रेरणा उपलब्ध होते रहने पर आंतरिक उत्कर्ष के पथ पर तेजी से बढ़ते चले जाते हैं ।

ईश्वर उपासना की ही तरह स्वाध्याय को भी प्रमुखता दी जानी चाहिए । साधना में निष्ठा बनाए रहना सद्ज्ञान की ही निरन्तर प्रेरणा से संभव होता है अन्यथा उस नीरस कार्य से मन ऊबने लगता है, आलस आता है और उत्साहपूर्वक आरम्भ की हुई साधना पहले अस्त-व्यस्त, अव्यवस्थित होती है और अंत में वह छूट ही जाती है । सद्प्रवृत्तियों की मोटर में सद्विचारों का पैट्रोल ही काम करता है । इसका प्रबंध रखे बिना कोई ड्राइवर अपनी गाड़ी को निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचाने में सफल नहीं होता, नित्य का स्वाध्याय हमारे जीवन में एक नैष्ठिक धर्म कर्त्तव्य की तरह सुनिश्चित रहना चाहिए ।

जो कुछ प्रेरणाप्रद साहित्य पढ़ा गया है उस पर विचार करना चाहिए और यह प्रयत्न करना चाहिए कि आत्मोत्थान के लिए किस प्रकार, किन-किन विचारों को कितने अंशों में हम पूरा कर सकते हैं । आज की स्थिति में जितना कुछ संभव हो उतना सुधार आरम्भ कर ही देना चाहिए । पूर्णरूपेण आदर्श जीवन तो इस संसार में किसी का भी नहीं है, हमें भी पूर्ण पवित्र जीवन एक ही दिन में प्राप्त हो जाने की आशा नहीं करनी चाहिए । धीरे-धीरे एक-एक कदम बढ़ाते हुए उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकना संभव होता है अपने गुण, कर्म, स्वभाव में जो-जो दोष-दुर्गुण भरे पड़े हों, उनका बारीकी से निरीक्षण करना चाहिए और उन्हें घटाने का प्रयत्न आरम्भ कर देना चाहिए ।

चिरसंचित संस्कार धीरे-धीरे ही दूर होते हैं । छोड़-देने की इच्छा रहते हुए भी अभ्यास में आई नई बातें बार-बार प्रबल हो उठती हैं और प्रयत्नों को असफल करने की रचना रचती हैं । यह कठिनाई प्रत्येक आत्मसुधार करने वाले के सामने आती है । सफल वही होता है जो असफलताओं से खिन्न होकर प्रयत्न नहीं छोड़ता, बार-बार भूलें होना स्वाभाविक है पर उन्हें सुधारने की

प्रक्रिया छोड़ी नहीं जानी चाहिए । निराश हुए बिना, बार-बार लौट आने वाली बुरी आदतों को सुधारने में लगा ही रहना चाहिए ।

अपनी अच्छाइयों को भी समझना चाहिए । जो सद्‌गुण मौजूद हैं उन्हें बढ़ाना चाहिए, जो नहीं हैं उन्हें उत्पन्न करना चाहिए । नशेबाजी की आदत किसी को जन्म से ही नहीं होती । पीछे से सीखी जाती है । जो सद्‌गुण हमें अब तक के वातावरण में प्राप्त नहीं हो सके हैं, उन्हें सीखने का अभ्यास अब आरम्भ किया जा सकता है । सिखाने से बंदर जैसा उद्दण्ड जानवर तरह-तरह के खेल-तमाशे करना सीख जाता है तो कोई कारण नहीं कि मन पर लाठी के बल से नियंत्रण रखा जाए, प्यार पुचकार से समझाया जाए तो वह भी सद्‌गुणों को अपने स्वभाव का अंग न बना ले । यह कार्य कठिन दीखता तो है पर वस्तुतः वैसा नहीं है ।

रात को सोते समय दिनभर के कार्यों का लेखा-जोखा लेना चाहिए । जिस प्रकार प्रातः या दिन में कोई समय स्वाध्याय के लिए नियत किया गया है, उसी प्रकार रात को सोते समय कुछ मिनट अपने दिन भर के कामों पर समीक्षक की कठोर दृष्टि से आवश्यक विवेचन करने में लगाए जाए । शरीर से प्रायः कम ही दुष्कर्म होते हैं पर मन में यह बुरी लत पड़ी रहती है कि छोटे कारणों को लेकर बुरी-बुरी बातें सोचने लगे । किसी का रूप यौवन देखकर उनकी ओर अनैतिक भाव उठते हैं, कोई हमारी थोड़ी सी हानि कर दे तो उसके प्रति मरने-मारने तक की प्रतिहिंसा जगती है, किसी की बढ़ती को देखकर ईर्ष्या होना, कहीं स्वार्थ सधता दीखे तो चोरी की इच्छा होने जैसे अनेक दुर्भाव मन में उठते रहते हैं । यद्यपि वह दुर्भाव कार्यान्वित नहीं हो सके, किसी पर प्रकट नहीं हुए, पर उनसे अपनी जो हानि होनी थी वह तो हुई ही । मनोभूमि अपवित्र हुई, अनीति को प्रश्रय मिला और पाप का बीजांकुर उत्पन्न हुआ । यदि कभी ऐसा अवसर आवे कि बाहरी रोकथाम न हो तो उठने वाले कुविचार आसानी से चरितार्थ भी हो सकते हैं ।

जो चोरी करने की बात सोचता रहता है उसके लिए अवसर पाते ही वैसा कर बैठना क्या कठिन होगा शरीर से ब्रह्मज्ञानी और मन से व्यभिचारी बना हुआ व्यक्ति वस्तुतः व्यभिचारी ही माना जाएगा । मजबूरी के प्रतिबंधों से शारीरिक क्रिया भले ही न हुई, पर वह पाप सूक्ष्म रूप से मन में तो मौजूद था । मौका मिलता तो वह कुकर्म भी हो ही जाता ।

कई बार सदाचारी समझे जाने वाले लोग आश्चर्यजनक दुष्कर्म करते पाए जाते हैं । उसका कारण यही है कि उनके भीतर ही भीतर वह दुष्प्रवृत्ति जड़ जमाए बैठी रहती है । उसे जब भी अवसर मिलता है, नग्न रूप में प्रकट हो जाती है । इसलिए प्रयत्न यह होना चाहिए कि मनोभूमि में भीतर छिपे रहने वाले दुर्भावों का उन्मूलन करते रहा जाए ।

रात को सोते समय आत्म-निरीक्षण करके यह देखना चाहिए कि आज कब-कब, किस-किस घटना को लेकर क्या-क्या दुर्भाव हुए ? फिर सोचना चाहिए कि इन भावों के स्थान पर किन-किन भावों का आना उचित था । आगे जब कभी ऐसे अवसर आवें तो इस प्रकार सोचने की बजाय हम इस प्रकार सोचा करेंगे, इस प्रकार की विचारणा करनी चाहिए और मन को वैसी ही सलाह देनी चाहिए । इसके लिए कोई कठोर व्रत लेने की जरूरत नहीं है, क्योंकि दुष्प्रवृतियों का उन्मूलन एक दिन का काम नहीं है । रोज ही यह प्रयत्न चलता रहे तो दृष्टिकोण स्वयं ही बदलने लगता है । दुष्प्रवृत्तियां वहीं पनपती रहती हैं जहाँ उसकी रोकथाम नहीं होती । चोरों की घात अँधेरे में लगती है, मच्छर सीलन के स्थान पर ही अंडे देते हैं, इसी प्रकार दुष्प्रवृत्तियाँ वहीं पनपेंगी, जहाँ उन पर कड़ी नजर न रखी जाएगी । जहाँ चौकीदारी का, जाँच-पड़ताल का ठीक प्रबंध रहता है वहाँ चोरों की घात नहीं लगती । दुर्भाव भी एक प्रकार के चोर ही हैं जो वहाँ ठहरते हैं जहाँ निरीक्षण न होता हो । चौकसी और निगरानी को देखकर उन्हें वह स्थान छोड़ने को ही विवश होना पड़ता है ।

अगले दिन क्या कार्य करने हैं और उनमें क्या-क्या ऐसे अवसर आ सकते हैं जिनमें दुर्भावनाएँ उठने की संभावना है ? यदि आशंका के अनुरूप परिस्थिति आए तो उस समय मन में क्या-क्या प्रतिक्रिया उठे ? क्या दृष्टिकोण रहे ? आदि बातों को पहले से ही सोच रखना चाहिए और अवसर आने पर वैसी ही भावनाएँ मन में लाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

इस प्रकार दिन में सद्‌विचारों का अभ्यास करना और रात को उनकी विवेचना करना उचित है । आज की समीक्षा और कल की तैयारी करने से कुविचारों पर नियंत्रण प्राप्त करते चलना सहज होता जाता है । उसी प्रकार जो सद्‌गुण अपने में नहीं थे, उन्हें किस प्रकार धीरे-धीरे अपने स्वभाव में शामिल किया जाए, इसकी नित्य विवेचना होती रहे तो उनका भी अभ्यास में सम्मिलित हो जाना कुछ कठिन नहीं रहता ।

दिन में किसी समय कम से कम एक घंटे का जीवन निर्माता स्वाध्याय, रात को एक या आधा घंटा आत्म-निरीक्षण एवं निर्माण की विवेचना का यदि नित्य नियम रहे और दिनभर अपने विचारों और आचरणों पर कड़ी निगरानी रखी जाए तो हमारी आंतरिक गतिविधियों में भारी परिवर्तन हो सकता है । दैनिक जीवन में क्या परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर आमतौर से क्या विचार उठा करते हैं उन्हें समझना चाहिए और यह विचार करना चाहिए कि उनमें कितना औचित्य एवं कितना अनौचित्य रहता है । जो अनुचित हो उसे छोड़कर उनके स्थान पर उचित दृष्टिकोण अपनाने की बात सोची जाए तो यह विचारणा कार्यरूप में भी परिणत होने लगती है ।

२.११ युग निर्माण योजना–दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम

यदि विचार बदल जाएँगें तो कार्यों का बदलना सुनिश्चित है । कार्य बदलने पर भी विचारों का न बदलना सम्भव है, पर विचार बदल जाने पर उनसे विपरीत कार्य देर तक नहीं होते रह सकते । विचार बीज है, कार्य अंकुर, विचार पिता हैं, कार्य पुत्र । इसलिए जीवन परिवर्तन का कार्य विचार परिवर्तन से आरम्भ होता है । जीवन-निर्माण का, आत्म-निर्माण का अर्थ है–'विचार-निर्माण ।'

लोहे से लोहा काटा जाता है, काँटे से काँटा निकलता है, विष से विष मरता है, सशस्त्र सेना का मुकाबला करने के लिए वैसी ही सेना चाहिए । कुविचारों का शमन सद्‌विचारों से ही संभव है । इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि अपने गुण, कर्म, स्वभाव में जो त्रुटियाँ एवं बुराइयाँ दिखाई दे, उनके विरोधी विचारों को पर्याप्त मात्रा में जुटा कर रखा जाय और उन्हें बार-बार मस्तिष्क में स्थान मिलते रहने का प्रबंध किया जाए । जब आलस्य घेर रहा हो तब परिश्रम, उत्साह, स्फूर्ति और तत्परता को प्रोत्साहन देने वाले विचारों पर देर तक मनन-चिंतन करना चाहिए, आलस्य हट जाएगा । जब कामुकता जग रही हो तो ब्रह्मचर्य, मातृ-भावना एवं चारित्रिक पवित्रता की विचारधारा को मन में स्थान देना चाहिए, वासना शांत हो जाएगी ।

क्रोध का आवेश चढ़ रहा हो तो शांति, प्रेम, क्षमा, मैत्री, सहानुभूति, उदारता की दृष्टि से विचार करना शुरू कर देना चाहिउ, गुस्सा ठंडा हो जाएगा । शोक, निराशा और चिंता घेरने लगे तब साहस, आशा, पुरुषार्थ और पुनर्निर्माण की बात सोचनी चाहिए, मन संतुलित होने लगेगा । यदि निकृष्ट विचार मनुष्य को गिरा सकते हैं तो उत्कृष्ट विचार उसे ऊँचा भी उठा सकते हैं ।

अपनी दुर्बलताएँ छोड़ने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी हानियों पर अधिक से अधिक विचार किया जाए । साथ ही वह बुराई छोड़ देने पर जो लाभ मिलेगा उसका आशापूर्ण चित्र भी मन में बनाना चाहिए । नशा छोड़ना हो तो उसके द्वारा जो शारीरिक, आर्थिक और मानसिक हानियाँ होती हैं उन पर विचार करना और उसे छोड़ने पर स्वास्थ्य-सुधार, पैसे की बचत तथा मनोबल बढ़ने का सुनहरा चित्र मनःक्षेत्र में स्थापित करना आवश्यक है । कुछ दिन लगातार यह उपक्रम चलने लगे तो नशे के प्रति घृणा हो जाएगी और वह अवश्य छूट जाएगा किन्तु यदि इस प्रक्रिया को पूर्ण किए बिना ही किसी जोश-आवेश में नशा छोड़ देने की प्रक्रिया कर ली है तो यह आशंका बनी ही रहेगी कि यह उत्साह ठंडा होने पर पुरानी आदत फिर सबल हो उठे और नशा करना फिर शुरू हो जाए । इसलिए इस सुनिश्चित तथ्य को भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि जीवन को सुधार की दिशा में मोड़ने के लिए -- कोटि की विचारधारा को मनोभूमि में नियमित रूप से स्थान देते रहना नितान्त आवश्यक है । इस अनिवार्य आवश्यकता की उपेक्षा करके कभी कोई व्यक्ति न अब तक आत्म-निर्माण कर सका है और न आगे कर सकेगा ।

युग-निर्माण का सत्संकल्प नित्य दुहराना चाहिए । स्वाध्याय से पहले इसे एक बार भावनापूर्वक पढ़ना और तब स्वाध्याय आरम्भ करना चाहिए । सत्संगों और विचार गोष्ठियों में इसे पढ़ा और दुहराया जाना चाहिए । एक व्यक्ति संकल्प का एक-एक वाक्य पढ़े और बाकी लोग उसे दुहरावें । इस सत्संकल्प का पढ़ा जाना हमारे नित्य-नियमों का एक अंग रहना चाहिए ।

यदि हम अपने व्यक्तित्व को श्रेष्ठता के ढाँचे में ढालने के लिए सचमुच ही उत्सुक एवं उद्यत हों तो अपने दैनिक कार्यक्रम में उत्कृष्ट विचारधाराओं को मस्तिष्क में ठूँसने का एक नियमित विभाग हमें बना ही लेना चाहिए । मन लगे चाहे न लगे, फुरसत मिले चाहे न मिले, इसके लिए बलपूर्वक, हठपूर्वक समय निकालना ही चाहिए । नित्य कितने ही काम अनिच्छापूर्वक भी करने पड़ते हैं और समय न रहने पर भी आकस्मिक स्थिति के अनुरूप समय निकालना पड़ता है । विचार-निर्माण को भी ऐसी ही एक अनिवार्य आवश्यकता मानना चाहिए और उसके लिए हठपूर्वक कटिबद्ध हो जाना चाहिए । थोड़े ही समय में यही क्रम बहुत ही रुचिकर लगने लगेगा, संतोष और आनन्ददायक प्रतीत होगा ।

नित्य-नियमित ईश्वर उपासना के बारे में हम सदा से कहते रहे हैं । चरित्र-निर्माण की आधारशिला ही आस्तिकता है । ईश्वर विश्वास छोड़ देने से मनुष्य अंकुश रहित उन्मत्त हाथी की तरह आचरण करता है, अपने लिए तथा दूसरों के लिए विपत्ति का कारण बनता है । इसलिए हममें से हर एक को किसी न किसी रूप में ईश्वर की उपासना नित्य ही करनी चाहिए । गायत्री उपासना के साथ-साथ जितना भी जिस प्रकार भी संभव हो ईश्वर स्मरण करना चाहिए । इतना तो हर कोई कर सकता है कि सोकर उठते समय पन्द्रह मिनट ईश्वर का ध्यान-स्मरण करके तब अन्य कार्य करे । इसी प्रकार रात को सोते समय परमात्मा का स्मरण करते हुए सोया जाए ।

युग निर्माण योजना के प्रत्येक परिजन को (१) अपने दैनिक जीवन में उपासना को स्थान देना चाहिए ।(२) स्वाध्याय के लिए कोई निश्चित समय निर्धारित करना चाहिए । (३) नित्य युग-निर्माण का सत्संकल्प याद रखना चाहिए । (४) सोते समय आत्मनिरीक्षण का कार्यक्रम नियमित रूप से चलाना चाहिए । (५) दिन में समय-समय पर कुविचारों से लड़ते रहने की तैयारी करनी चाहिए । यह पाँच कार्यक्रम आत्म-निर्माण की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हैं । युग-निर्माण अपने आप से ही आरम्भ करना है ।

युग निर्माण का शुभारम्भ आत्म-निर्माण से

कहना न होगा कि नव-निर्माण अभियान का शुभारम्भ अपने आप से शुरू किया जाना है। 'दूसरे को उपदेश और अपनी उपेक्षा' यह बात अन्य प्रकरणों में चल भी सकती है पर जहाँ लोकमानस के परिष्कार का प्रश्न सामने आयेगा, वहाँ उसका प्रथम चरण स्वयं ही उठाना पड़ेगा। उत्कृष्टता उपदेश से नहीं अनुकरण से उत्पन्न होती है, इस तथ्य को जितनी जल्दी और जितनी गहराई से समझ लिया जाए उतना ही उत्तम है। यदि अखण्ड-ज्योति प्रतिपादित ज्ञान को उपयोगी माना जाय तो फिर उसे मस्तिष्क से आगे बढ़ाकर अन्तःकरण तक ले जाया जाए। इसे जानकारी मात्र न रहने देकर आस्था में परिणत किया जाए और दो साहसिक कदम उठायें ही जाएँ। एक यह कि अपनी वर्तमान जीवनचर्या में जितना भी सम्भव हो सके परिवर्तन किया जाए भले ही वह परिवर्तन न्यूनतम ही क्यों न हो। अपनी अवांछनीयताओं को ढूँढ़ना, स्वीकार करना, उन्हें हटाने की आवश्यकता अनुभव करना और साहसपूर्वक कुछ में तो लड़ पड़ा ही जाय और उन्हें छोड़ने के लिए ऐसा संकल्प पूर्ण निश्चय किया जाय कि भविष्य में उसे निबाहते हुए किसी बाधा को आड़े न आने दिया जाए। दूसरा कदम यह है कि अपने में जिन सद्गुणों का अभाव है उनमें से कुछ को अपनाने और स्वभाव, अभ्यास में लाने का व्रत धारण किया जाए। निकृष्टताओं, उत्कृष्टताओं में परिणत करने के शौर्य-साहस का नाम ही आत्मबल है। तप-तितीक्षा का, साधना उपासना का-स्वाध्याय-सत्संग का-एकमात्र प्रयोजन इस आत्मबल को उत्पन्न करने की पृष्ठभूमि-मनःस्थिति-बनाना ही है। ईश्वर को न किसी की खुशामद चाहिए और न रिश्वत। यह न तो पूजा-पत्री से प्रभावित होता है और न विविध-विधि कर्मकाण्डों का उसकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता से कोई सम्बन्ध है। सारा धर्म आवरण और उपासना प्रकरण तो विशुद्ध रूप से आन्तरिक परिशोधन के लिए है। अवांछनीयताओं के निराकरण और वांछनीयताओं के अभिवर्द्धन का शौर्य-साहस प्रदर्शन करने से आत्मबल बढ़ता है। बढ़ा हुआ आत्म-बल ही वह शक्ति है जिससे आश्चर्यजनक एवं चमत्कारी आध्यात्मिक विभूतियों से मनुष्य सुसम्पन्न बनता है। ज्ञान और तप की सार्थकता उस साहसिकता की कसौटी पर कसी जाती है जिसके आधार पर दुष्प्रवृत्तियों को उखाड़ना और सत्प्रवृत्तियों को जमाने का संकल्प, साहस और पराक्रम सम्भव हो सके।

उपरोक्त दो प्रयास आध्यात्मिक साधना के वे दो चरण हैं जिनके सहारे जीवन-लक्ष्य की पूर्ति तक क्रमबद्ध रूप से बढ़ा जा सकता है। इन्हें साधना एवं उपासना का युग्म कहा जा सकता है। दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन साधना है और सत्प्रवृत्तियों का संस्थापन उपासना है। असुरता का उन्मूलन और देवत्व का परिपोषण यही धर्मधारणा है और यही ईश्वर आराधना। यह तथ्य यदि गहराई से समझ लिया जाए तो तत्व-दर्शन के उस मूल प्रयोजन को समझ लिया जाए जिसके लिए आस्तिकता और धार्मिकता का विशालकाय कलेवर दूरदर्शी ऋषियों ने खड़ा किया है। आत्मिक प्रगति की दिशा में हम इन्हीं दो कदमों को क्रमबद्ध रूप से आगे बढ़ाते हुए अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। वह तो हुआ सनातन और शाश्वत सत्य। यदि सामयिक परिस्थितियों की दृष्टि से भी सोचें तो लोकमानस को निकृष्टता से उत्कृष्टता की ओर मोड़ने के लिए भी इसी उपाय का तात्कालिक उपचार के रूप में भी प्रयोग करना पड़ेगा। विचार-क्रान्ति इस युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह विचार-क्रान्ति इतनी सजीव होनी चाहिए कि उसकी कमर में नैतिक-क्रान्ति और सामाजिक क्रान्ति भी बँधी और खिंची चली आए। इस समग्र विचार क्रान्ति का शुभारम्भ अपने आप से ही हो सकता है। दूसरों को शिक्षा देने के लिए वाणी और लेखनी एक हद तक ही काम करती है। असली प्रभाव तो उपदेशक के चरित्र का ही पड़ता है। अनुकरण के लिए जब तक आदर्श सामने न हो तब तक उस कष्ट-साध्य मार्ग पर चलने का लोगों में साहस ही नहीं होता। भौतिक जानकारियाँ लेखनी और वाणी से भी पूरी हो सकती हैं। पर आध्यात्मिक प्रशिक्षण के लिए तो शिक्षक का परिवर्तित उत्साह उत्पन्न ही नहीं हो सकता, जिसके आधार पर व्यक्ति में-समाज में-महत्वपूर्ण परिवर्तन सम्पन्न होते हैं।

युग निर्माण की सीढ़ियाँ हैं (१) आत्म-निर्माण (२) परिवार-निर्माण और (३) समाज-निर्माण। इनमें से क्रमशः एक के बाद दूसरी पर चढ़ने के लिए अधिक योग्यता और समर्थता चाहिए। सबसे सरल और सबसे आवश्यक आत्म-निर्माण है। प्रत्येक स्थिति के व्यक्ति इस दिशा में निरन्तर आगे बढ़ते रह सकते हैं। घोर व्यस्त, सर्वथा अयोग्य, असमर्थ, यहाँ तक कि रुग्ण-अपंग व्यक्ति भी इस मार्ग पर उपयोगी कदम बढ़ा सकते हैं। आत्म-निरीक्षण करके गुण, कर्म, स्वभाव में भरे हुए दोष-दुर्गुणों को ढूँढ़ा जा सकता है और उन्हें निरस्त करने का प्रयास आरम्भ किया जा सकता है। लोहे से लोहा कटता है और विचारों से विचारों की काट की जाती है। हेय आदतें, इच्छाएँ और मान्यताएँ जो अपने मनःक्षेत्र में जड़ जमाये बैठी हों उन्हें आत्म-निरीक्षण की टॉर्च जलाकर बारीकी से तलाश करना चाहिए और निश्चय करना चाहिए कि उनका उन्मूलन करके ही रहेंगे। प्रत्येक निकृष्ट विचार के विरोधी विचारों की एक सुसज्जित सेना खड़ी करनी चाहिए, उन्हें नोट करना चाहिए कि बार-बार उन पर मनन-चिन्तन करते हुए मनःक्षेत्र में गहराई तक प्रतिष्ठापित करना चाहिए।

यथा अपने भीतर यदि कामुक दृष्टि ने जड़ें जमा रखी हों। मानसिक अथवा शारीरिक व्यभिचार होता रहता हो तो उस अपव्यय से होने वाली शारीरिक, मानसिक, नैतिक,

सामाजिक हानियों की लम्बी सूची नोट करनी चाहिए। जिन्होंने इन बुरी आदत के चंगुल में अपने को फँसाये रखा, उन्हें दुष्परिणाम भोगने पड़े, उनके उदाहरण सामने रखने चाहिए। इसके विपरीत जिन्होंने संयम साधा उन प्राचीन एवं अर्वाचीन व्यक्तियों के उदाहरणों की जीवनचर्या सामने लानी चाहिए। कामुकता की प्रवृत्ति कितनी मूर्खता पूर्ण और कितनी अहितकर है, इस सन्दर्भ में यदि देर तक चिन्तन-मनन करते रहा जाए तो बुद्धि इतने तर्क और प्रमाण प्रस्तुत कर देगी कि इस दिशा में बना हुआ रुझान प्रत्येक दृष्टि से अवांछनीय प्रतीत होगा। मल-मूत्र, अस्थि-मज्जा जैसी घृणित वस्तुओं के ऊपर जो चिकनी चमड़ी चिपकी हुई है उसमें सौन्दर्य निहारना और मुग्ध होना कितना उपहासास्पद है। किसी रूपवान की काया की यदि चमड़ी उखाड़कर चिन्तन के सम्मुख रखा जाय तो प्रतीत होगा कि सुन्दर दीखने वाली काया वस्तुतः घोर घृणास्पद वस्तुओं से ही भरी पड़ी है। उसका सौन्दर्य सर्वथा दिखावटी और बनावटी है। उस दुष्प्रवृत्ति को अपनाकर हम पाते कुछ नहीं खोते ही खोते हैं। अपने बहुमूल्य वस्त्रों में आग लगाकर थोड़ी देर तापना बुद्धिमत्ता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। हम अपना ही तेज, ओजस, बल-वर्चस्व जलाकर, गला कर कुछ क्षण का घिनौना मनोरंजन करें इससे क्या बनेगा, क्या मिलेगा? दूसरे से कुछ पाने में लाभ की बात सोची जा सकती है। चोरी, उठाईगीरी आदि से कुछ तो लाभ होता है पर व्यभिचार में तो अपनी वह बहुमूल्य सामर्थ्य जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी थी, गन्दी नाली में बहा दी जाती है। कुत्ता सूखी हड्डी चबाकर अपने ही जबड़े छील लेता है और उसमें से बहने वाले रक्त को सूखी हड्डी का रस समझकर स्वाद लेता है। इस मूर्खता में कुत्ता अपने ही जबड़े घायल करता है और देर तक उनकी पीड़ा सहता है। कामुकता के प्रयास लगभग इसी स्तर के हैं। इसके अतिरिक्त समाज में जो अव्यवस्था फैलती है, मर्यादाएँ, टूटने से पारिवारिक विशृंखलता उत्पन्न होती है, उसकी हानियाँ अलग हैं। ऐसे-ऐसे अनेक आधार कामुकता की दुष्प्रवृत्ति के विरुद्ध सोचे जा सकते हैं और हर दिन कई बार गम्भीरतापूर्वक उनका चिन्तन-मनन किया जा सकता है।

ऊपर की पंक्तियों में काम-विकार की चर्चा की गई। अन्यान्य कुविचारों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार आलस्य, प्रमाद, अपव्यय आदि के विरुद्ध भी प्रतिपक्षी विचारधारा की ईंटें जमाते हुए ऐसी दीवार खड़ी की जा सकती है, जिससे सिर पटक कर मनःक्षेत्र पर आधिपत्य जमाने वाले असुर विचारों को निराशा और असफलता के साथ वापिस लौटना पड़े। असुरता की अपने ऊपर विजय केवल इसलिए होती है कि हम उसे सहन करते हैं और पोषण, समर्थन प्रदान करते हैं। वस्तुतः उसमें अपनी निजी कोई ऐसी क्षमता नहीं है कि हमारे ऊपर विजय प्राप्त कर सके। जब भी, जो भी डटकर उनका सामना करने खड़ा हो जाएगा, उन्हें अपना शत्रु मानेगा, घृणा करेगा जो उनका साथ निभाने पर होने वाली अपार हानि का विचार करता रहेगा उसे किसी मनोविकार से कभी हारना न पड़ेगा। पाप नहीं, जीतता हमारा अवसाद है। विरोध प्रतिरोध का सामना न करना पड़े तो छोटे-छोटे कीड़े तक बहुमूल्य वस्तुओं को, सुदृढ़ शरीरों को खोखला कर देते हैं फिर मनोविकार वस्तुतः कितने ही दुर्बल क्यों न हों-प्रतिरोध रहित मनःक्षेत्र पर कब्जा कर ही लेंगे। इसमें उनकी समर्थता एवं प्रबलता कारण नहीं वरन् अप- उपेक्षा, मूर्छा, कायरता को ही दोष दिया जाएगा। सतर्कता जागरूकता एवं प्रतिरोध करने की क्षमता जिसने भी विकसित की है उसे मनोविकारों से परास्त होने का दुर्दिन नहीं देखना पड़ेगा।

सत्प्रवृत्ति का अभिवर्द्धन आत्मनिर्माण का, आत्म विकास का दूसरा चरण है। सद्गुणों के अभाव में हम निस्तेज जीवन जीते हैं। समृद्धि, सशक्तता, विभूति, प्रतिभा एवं सफलता किसी के पास आसमान से नहीं टपकती। उन्हें सद्गुणो की प्रतिक्रिया ही कह सकते हैं। क्या बुरे क्या भले, हर स्तर के लोग सफलताएँ अपने सद्गुणों के आधार पर ही प्राप्त करते हैं। डाकू तक तभी सफल होते हैं जब उनमें शौर्य, साहस, निर्भीकता और सतर्कता जैसे गुणों का बाहुल्य हो। यह गुण न हो तो डकैती करते बन ही नहीं पड़ेगी। चोर जेबकट की चतुरता एवं कुशलता उच्चस्तर की होती है। दूसरे की असावधानी से लाभ उठाने एवं अपने दुष्कृत्य को छिपाने के लिए उसे सूक्ष्म बुद्धि का असाधारण परिचय देना पड़ता है। यदि इन सद्गुणों का अभाव हो तो चोरी, जेबकटी बन ही नहीं पड़ेगी। कोई करेगा तो असफल रहेगा। ठगी तभी सफल होती है जब मधुर भाषण और दूसरे का विश्वास अर्जित करने की कला आती हो। बनावटी रूप से ही सही-पर छल से सफलता तभी मिलेगी जब दूसरो के ऊपर अपनी विश्वसनीयता की छाप डालने वाला अभिनय कर सकना ठीक तरह आता हो। उसके बिना छल प्रयास की कलई आरम्भ में ही खुल जाएगी।

यह सब तो हेय प्रयोजनों के लिए सद्गुणों के उपयोग की बात हुई। सदुद्देश्यों की पूर्ति के लिए सफलता प्राप्त करना तो व्यक्तित्व में उपयोगी सद्गुणो की स्थापना किए बिना सम्भव हो ही नहीं सकता। दुर्गुणी व्यक्ति तो उपलब्ध सम्पदा की रक्षा तक नहीं कर सकते। सहज ही जो कुछ उन्हें मिला हुआ है उस तक का समुचित लाभ उठा सकना उनके लिए सम्भव न होगा। कितने ही दुर्गुणी अपने बाप-दादों की छोड़ी हुई प्रचुर सम्पदा को कुछ ही दिनों में बारूद की तरह फूँक कर समाप्त कर देते हैं। सुविधा और सम्मान भरी उपलब्धियों से देखते-देखते हाथ धो बैठते हैं। इसके विपरीत गरीबी और कठिनाइयों को अभाव ग्रस्त, असुविधा भरी परिस्थितियों में जन्मे बालक अपनी उत्कट इच्छा-शक्ति, श्रमसाधना, अध्यवसाय एवं

तलाश प्रयास को अपनाते हुए उन्नति के उच्च शिखर पर जा पहुँचते हैं । अपने हाथों अपना मार्ग बनाते हैं और प्रगति के उच्च शिखर पर जा पहुँचते हैं ।

सद्‌गुणों का अर्थ सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, ईश्वर-भक्ति जैसे उच्च आदर्शों तक सीमित नहीं रखा जाना चाहिए । उनकी परिधि अन्तरंग और बहिरंग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तक फैली हुई है । समग्र व्यक्तित्व को परिष्कृत सज्जनोचित एवं प्रामाणिक बनाने वाली सभी आदतों एवं रुझानों को सद्‌गुण की सीमा में सम्मिलित किया जाएगा । कोई व्यक्ति झूठ नहीं बोलता, चोरी नहीं करता, व्यभिचार से बचा है यह बचाव उचित है और अनुकरणीय भी, पर इतने को ही आत्म-निर्माण मान बैठना अपर्याप्त होगा । कीट-पतंग और वृक्ष-वनस्पति भी तो झूठ चोरी से बचे रहते हैं । यह स्थूल सदाचार का आंशिक पालन मात्र हुआ । इतने भर से आत्मविकास का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता । मन में कुहराम मचाने वाली घुटन का भी अन्त होना चाहिए । जिन उद्वेगों और विकारों ने मनःक्षेत्र को अस्तव्यस्त करके रख दिया है उनका भी निराकरण होना चाहिए । गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता का अभाव रहने के लिए जो सर्वतोमुखी दरिद्रता छाई हुई है उसका भी अन्त होना चाहिए ।

धर्म और अध्यात्म के विशालकाय कलेवर का एक ही उद्देश्य है–व्यक्तित्व को उत्कृष्टता के, सज्जनोचित शालीनता के, प्रतिभा और कर्म-कौशल के उच्च शिखर तक पहुँचाना । इस प्रयोजन के लिए जिस उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व की आवश्यकता है उसे जुटाने के लिए अनवरत अथक प्रयत्न करना, इसी का नाम तप साधना है । स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिन्तन का इसके अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं । ईश्वर-प्राप्ति, आत्म-साक्षात्कार, स्वर्ग- उपलब्धि और जीवन-मुक्ति का तात्विक स्वरूप यही है कि व्यक्ति अपनी समस्त क्षुद्रताओं और निकृष्टताओं को निरस्त करके सदुद्देश्यपूर्ण सत्प्रयोजनों में निरत रहने का अभ्यस्त बन जाए । परिष्कृत आत्मा का नाम ही परमात्मा है । अपने कषाय-कल्मषों का निराकरण करना ही तप साधना है । ईश्वर प्रेम का सहारा लेकर अन्तःकरण में अपार प्रेम-निष्ठा की धारणा और उसका लाभ उदार सेवा प्रवृत्ति के रूप में प्राणिमात्र को देना, ईश्वर-भक्ति हमें इसी लक्ष्य की ओर ले जाती है । स्पष्ट है कि ईश्वर को किसी की खुशामद या रिश्वत की जरूरत नहीं । कर्मकाण्डों का घटाटोप उसे न तो आकर्षित करता है और न प्रभावित । जीव और ब्रह्म का मिलन मात्र उस अवरोध को हटाने से ही सम्भव हो सकता है जो कषाय-कल्मषों के रूप में हमारे अन्तरंग और बहिरंग जीवन को निकृष्ट एवं पतित स्तर का बनाते हैं । अध्यात्म दर्शन की सारी सफलता इस बात पर निर्भर है कि व्यक्तित्व के समग्र-निर्माण के लिए कितना साहस किया गया, दुर्गुणों को निरस्त करने और सद्‌गुणों को बढ़ाने में कितना प्रयास किया गया ?

नव-निर्माण आन्दोलन का प्रथम चरण आत्म-निर्माण है । उस दिशा में कदम बढ़ाने के लिए किसी भी स्थिति के व्यक्ति को कुछ भी कठिनाई अनुभव नहीं होनी चाहिए, पर्दे में जकड़ी स्त्रियाँ, जेल में बन्द कैदी चारपाई पर पड़े रोगी और अपंग, असमर्थ व्यक्ति भी आज जिस स्थिति में हैं उससे ऊँचे उठने, आगे बढ़ने में उन्हें कुछ भी कठिनाई अनुभव नहीं होनी चाहिए । मनोविकारों को ढूँढ़ निकालने और उनके विरुद्ध मोर्चा खड़ा कर देने में सांसारिक कोई विघ्न-बाधा अवरोध उत्पन्न नहीं कर सकती । दैनिक जीवन में निरन्तर काम आने वाली आदतों को परिष्कृत बनाने का प्रयास भी ऐसा है जिसके न बन पड़ने का कोई कारण नहीं । आलस्य में समय न गँवाना–हर काम नियत पर–नियमित रूप से–उत्साह और मनोयोग पूर्वक करने की आदत डाली जाए तो प्रतीत होगा कि अपना क्रिया-कलाप कितना उत्तम, कितना व्यवस्थित, कितना अधिक सम्पन्न हो रहा है । प्रातःकाल अपनी दिनचर्या का निर्धारण कर लेना और पूरी मुस्तैदी से उसे पूरा करना–आलस्य-प्रमाद को आड़े हाथों लेना–व्यक्तित्व निर्माण की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है । जल्दी सोने जल्दी उठने की एक छोटी-सी आदत को लें तो प्रतीत होगा कि प्रातःकाल का कितना बहुमूल्य समय मुफ्त ही हाथ लग जाता है और उसका जिस भी कार्य में उपयोग किया जाए उसमें सफलता का कैसा स्वर्ण अवसर मिलता है । क्या व्यायाम, क्या अध्ययन, क्या भजन कुछ भी कार्य प्रातःकाल किया जाए चौगुना प्रतिफल उत्पन्न करेगा । जो लोग देर में सोते और देर में उठते हैं वे यह नहीं जानते कि प्रातःकाल का ब्राह्म मुहूर्त इतना बहुमूल्य है जिसे हीरे मोतियों से भी नहीं तोला जा सकता, नियमित दिनचर्या का निर्धारण और उस पर हर दिन पूरी मुस्तैदी के साथ आचरण, देखने में यह बहुत छोटी बात मालूम पड़ती है पर यदि उसका परिणाम देखा जाए तो प्रतीत होगा कि हमने एक चौथाई जिन्दगी को बर्बादी से बचाकर कहने लायक उपलब्धियों में नियोजित कर लिया । अस्त-व्यस्त और अनियमित व्यक्ति यों साधारण ढील-पोल के दोषी ठहराये जाते हैं पर बारीकी से देखने पर स्पष्ट हो जाता है–कि ये लगभग आधी जिन्दगी जितना बहुमूल्य समय नष्ट कर देते हैं जिसका यदि क्रमबद्ध उपयोग हो सका होता तो प्रगति की कितनी ही कहने लायक उपलब्धियाँ सामने आतीं । यदि एक घण्टा रोज कोई व्यक्ति उपयोगी अध्ययन में लगाता रहे तो कुछ ही समय में वह ऐसा ज्ञानवान बन सकता है जिसकी विद्या-बुद्धि पर ईर्ष्या की जा सके ।

स्वच्छता और व्यवस्था ऐसा गुण है जिसमें किसी की सुरुचि का सहज ही परिचय प्राप्त किया जा सकता है । गन्दगी से घृणा और स्वच्छता से प्रेम रखा जाए तो वह उत्साह सहज ही बना रहेगा जिसके आधार पर शरीर, वस्त्र, फर्नीचर, पुस्तकें, स्टेशनरी, बर्तन, फर्श, चित्र साइकिल आदि सम्बन्धित सामान को स्वच्छ एवं सुव्यवस्थित रखा जा सके । सफाई की यह आदत हिसाब-

किताब पर, लेन-देन पर भी लागू होती है । घर, दफ्तर को-बच्चों को-वस्तुओं को साफ-सुथरा रखकर न केवल आगन्तुकों को अपनी सुरुचि का परिचय देते हैं वरन् अपने स्वभाव में अनोखी विशेपता उत्पन्न करते हैं । यह विशेपता पारस्परिक व्यवहार की सफाई से लेकर रुके-उलझे कामों को निपटाने से लेकर वहाँ तक विकसित होती जहाँ तक मन में गाँठे बाँधने, दुराव-दुर्भाव की जड़ें जमना भी असम्भव हो जाय ।

धन-अपव्यय, पर्याप्त आजीविका रहते हुए भी मनुष्य को दरिद्र ही बनाये रहेगा । वह कर्ज करेगा, जलील होगा, ब्याज भरेगा और महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ सामने आ खड़ी होने पर बगलें झाँकेगा । आमदनी से कम खर्च करने के बजट बनाकर चलना आवश्यक होता है । जेब में पैसे भरे फिरना चाहे जिस काम के लिए खर्च करते रहना कुबेर को भी दरिद्र बना देगा । आजीविका कितनी ही अधिक क्यों न हो, बेसमझे खर्च करने वाले लोग आर्थिक तंगी का ही रोना रोते रहेंगे जबकि व्यवस्थित व्यक्ति थोड़ी आमदनी में भी हँसी-खुशी के दिन काटते रहते हैं । धन की तरह समय का अपव्यय, चिंतन का अपव्यय कम घातक नहीं है । यह सम्पदाएँ बहुमूल्य हैं, यदि इन्हें सुनियोजित रीति से सत्प्रयोजन में लगायें तो उसका कितना बड़ा सत्परिणाम होता है-कितनी बड़ी उपलब्धियाँ संग्रहीत होती हैं-इसे देखते हुए बूँद-बूँद से घड़ा भरने की कहावत अक्षरशः सत्य सिद्ध होती है ।

जिसे ईमानदारी का जीवन जीना हो उसे पूर्व तैयारी मितव्ययी रहने की-सादा जीवन जीने की करनी चाहिए जो कम में गुजारा करना जानता-है, उसी के लिए यह सम्भव है कि कम आमदनी से सन्तोषपूर्वक निर्वाह कर ले । ईमानदारी से आय सीमित रहती है-उतनी नहीं हो सकती जितनी बेईमानी अपनाने से । ऐसी दशा में यदि श्रेष्ठ जीवन जीना हो तो अपने खर्च जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक घटाने चाहिए । जिसने खर्च बढ़ा रखे हैं उन्हें उनकी पूर्ति के लिए बेईमानी का रास्ता ही अपनाना पड़ेगा । फिजूलखर्ची यों निर्दोष भी मालूम पड़ सकती है । अपना कमाना अपना उड़ाना इसमें किसी को क्या ऐतराज होना चाहिए । परन्तु बात इतनी सरल नहीं है । प्रकारान्तर से फिजूलखर्ची बेईमानी अपनाने के लिए बाध्य करती है । अनियन्त्रित खर्च करने की आदत बढ़ती ही जाती है और वह देखते-देखते उस सीमा को छूती है जहाँ न्यायोचित आमदनी कम पड़े और घटोत्तरी की पूर्ति के लिए बेईमानी पर उतारू होना पड़े । जिसने आमदनी और खर्च का ताल-मेल बिठाना सीखा है वही कुछ सत्कर्मों के लिए भी बचा सकता है अन्यथा सदुद्देश्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य भी आर्थिक तंगी के कारण रुके पड़े रहेंगे, सादगी की जीवनचर्या सस्ती पड़ती है, कम समय लेती है । अस्तु, मितव्ययी व्यक्ति के लिए ही यह सम्भव होता है कि वह आदर्शवादी जीवन जी सके और परमार्थ की दिशा में कुछ करने लायक योगदान दे सके ।

दूसरों का आदर करना, सद्व्यवहार का अभ्यस्त होना, सज्जनोचित शिष्टाचार बरतना-मधुर वचन बोलना यह व्यक्तित्व की गरिमा बढ़ाने वाली साधना है । मनुष्य सामाजिक प्राणी है । उसे दूसरों के साथ मिल-जुल कर रहना पड़ता है । स्नेह, सौहार्द्र का वातावरण तभी बना रह सकता है जब दूसरों के साथ शालीनता का व्यवहार किया जाए । अहंकारी व्यक्ति दूसरों को तुच्छ समझते हैं और कटुवचन एवं दुर्व्यवहार पर उतारू रहते हैं । उद्धत आतंकवादी, उच्छृंखल, आचरण करके कोई अपने अहंकार की पूर्ति होने की बात सोच सकता है पर वस्तुतः वह हर किसी की दृष्टि में अपना सम्मान खोता है । स्तर गिराता है और घृणास्पद बनता है । उद्धत आचरण मे सम्भव है सामने वाला चुप ही रहे परन्तु उसका स्नेह-सहयोग तो चला ही जाता है । इस प्रकार क्रोधी, अशिष्ट, उच्छृंखल व्यक्ति अपना मान बढ़ाने की बात सोचता है पर वस्तुतः उसे निरन्तर खोता चला जाता है । कुसमय में अपने को एकाकी अनुभव करता है । स्नेह-सहयोग से वंचित होकर वह भूत-बैताल की अशान्त अतृप्त मनः स्थिति में जा फँसता है । प्रगति के लिए एकाकी पुरुषार्थ पर्याप्त नहीं होता । उसके लिए कुछ सच्चे सहयोगी होने चाहिए । स्पष्ट है कि स्नेही सहयोगी प्राप्त करने के लिए कम से कम सज्जनोचित और शालीनता युक्त सद्व्यवहार तो बरतना ही पड़ता है । सामाजिक व्यक्ति को संतुलित तो रहना ही चाहिए ।

ईर्ष्या, द्वेष, झूठ, छल, प्रपंच, दुरभि सन्धि, षड्यन्त्र, शोषण, अपहरण, आक्रमणों की आसुरी-मनोवृत्ति अप-कर मनुष्य अपराधी आचरण ही करता है । उसक गतिविधियाँ ऐसी हो जाती हैं जिससे मनुष्य सब की आँखों मे गिरता है यहाँ तक कि अपनी आँखों में भी । धन या पद पाने की अपेक्षा लोक-श्रद्धा का प्राप्त करना अधिक मूल्यवान है । दुष्ट-दुराचारी बनकर कोई यदि साधन सम्पन्न बन जाए तो यही कहा जाना चाहिए कि उसने खोया बहुत और पाया कम । व्यसनी, व्यभिचारी, आलसी और प्रमादी, आतंकवादी-अत्याचारी उस सुखद उपलब्धि से वंचित ही रहते हैं जिसे पाने के लिए यह कुमार्ग अपनाया । दुर्भावनाओं और दुष्परिणामों का आश्रय लेकर मनुष्य दूसरों की जितनी हानि करता है, उसकी तुलना में अपनी असंख्य गुनी हानि कर लेता है । उद्धत आचरण के परिणामों पर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो उसे परले सिरे की मूर्खता ही कहा जाएगा ।

समय को नियमितता के बन्धनों में बाँधो जाना चाहिए, चौबीसों घण्टे की निर्धारित दिनचर्या बनानी चाहिए और उस पर तत्परतापूर्वक चलते जाना चाहिए । समय ही सबसे बड़ी सम्पदा है, उसका एक क्षण भी बर्बाद नहीं होना चाहिए । शरीर की क्षमता के अनुरूप श्रम किया जाए-काम का स्तर और सिलसिला बदलते रहा जाय तो थकान नहीं चढ़ेगी । हर काम में दिलचस्पी पैदा की जाए-उसे खेल समझते हुए पूरे मनोयोग के साथ करना

चाहिए। यह आदत पड़ जाए तो दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति भी बिना थके बहुत काम करता रह सकता है। आहार-विहार विवेकपूर्ण और क्रमबद्ध होना चाहिए। समयानुसार काम बदलने से विश्राम और विनोद का उद्देश्य पूरा हो सकता है। छुट्टी के दिन घर की–सामान की सफाई में जुट जाया जाए तो उपयोगी मनोरंजन और विश्राम का लाभ मिल जाएगा। अनियमित और अस्त-व्यस्त रीति से समय गँवाना अपने ही पैरों कुल्हाड़ी मारना है अपना ही भविष्य अन्धकारमय बनाना है। सामने प्रस्तुत कामों को दिलचस्पी और मनोयोग के साथ करने का अभ्यास करना मनोनिग्रह का सर्वोत्तम योगाभ्यास है। उस साधना में निष्णात-व्यक्ति हाथों-हाथ क्रिया-कुशलता के अभिवर्द्धन और सफलताओं के वरण का उत्साहपूर्वक लाभ प्राप्त करता है। नियमबद्ध एवं क्रम-बद्ध होकर हम जो बन्धन अपने ऊपर लगाते हैं वे बन्दूक की सीमित नली में बारूद भरकर चलाने की तरह प्रचण्ड-शक्ति के स्रोत बनते हैं और हमारी भौतिक एवं आत्मिक प्रगति के अवरुद्ध द्वारों को खोलते हैं।

मन को, मस्तिष्क को अस्त-व्यस्त उड़ानें उड़ने की छूट नहीं देना चाहिए। शरीर की तरह उसे भी क्रमबद्ध और उपयोगी चिन्तन के लिए सधाया जाना चाहिए। कुसंस्कारी मन बनैले सुअर की तरह कहीं भी किधर भी दौड़ लगाता रहता है। शरीर भले ही विश्राम करे पर मन तो कुछ सोचेगा ही। यह सोचना भी शारीरिक श्रम की तरह ही उत्पादक होता है। समय की बर्बादी की तरह ही अनुपयोगी और निरर्थक चिन्तन भी हमारी बहुमूल्य शक्ति को नष्ट करता है। दुष्ट-चिन्तन तो आग से खेलने की तरह है। आज परिस्थितियों में जो सम्भव नहीं वैसी आकाश-पाताल जैसी कल्पनाएँ करते रहने से मन निरन्तर कलुषित होता चला जाता है और फिर उपयोगी योजनाएँ बनाने के लिये गहराई तक प्रवेश कर सकना उसके लिए सम्भव ही नहीं रहता। उद्धत आचरण शरीर को नष्ट करते हैं और उद्धत विचार मन-मस्तिष्क का सत्यानाश करके रख देते हैं। मनोनिग्रह का योगाभ्यास में बहुत माहात्म्य गाया गया है। इस चित्त-निरोध का व्यावहारिक स्वरूप यही है कि जिस दिशा को हम उपयोगी मानते हैं और जिस संदर्भ में सोचना आवश्यक समझते हैं उसी निर्देश पर हमारी विचारणा गतिशील रहे। वैज्ञानिकों, बुद्धि-जीवियों और योगाभ्यासियों में यही विशेषता होती है कि वे अपने मस्तिष्क को निर्धारित प्रयोजन पर ही लगाये रहते हैं। अस्त-व्यस्त उड़ानों में उसे तनिक भी नहीं भटकने देते। यह आदत हमें डालनी चाहिए और जानना चाहिए कि चिन्तन का क्षेत्र निर्धारित करके–उस पर मन को केन्द्रित करने की आदत डाली जाए तो मस्तिष्कीय प्रखरता का, मनोबल सम्पादन का द्वार खुल जाएगा, और मन्द-बुद्धि जैसी मस्तिष्कीय बनावट रहते हुए अपने चिन्तन क्षेत्र में निष्णात बन जाएँगे। समय को दिनचर्या में बाँध कर शरीर का श्रेष्ठतम उपयोग किया जा सकता है। मन का महत्त्व शरीर से कम नहीं अधिक है। उसका भटकाव रोकने और उपयोगी-निर्दिष्ट चिन्तन में यदि सधाया जाना सम्भव हो सके तो मस्तिष्क की विचार-शक्ति से बहुमूल्य लाभ उठाया जा सकता है। समुन्नत जीवन विकास में यह शरीर और मन पर बन्धन लगाने की साधना सही रूप से तप-तितीक्षा का, व्रत संयम का उच्चस्तरीय लाभ दे सकती है।

ऊपर की पंक्तियों में कुछ मोटे सुझाव संकेत भर हैं। विचार करने पर अनेक प्रसंग ऐसे सामने आते हैं जिनमें विधि निषेध की आवश्यकता पड़ती है। क्या छोड़ना क्या अपनाना इसका महत्त्वपूर्ण निर्णय करना पड़ता है। यह हर दिन प्रस्तुत परिस्थितियों और आवश्यकताओं को देखते हुए किया जाना चाहिए। यह मान्यता हृदयंगम की जानी चाहिए कि आत्म-निर्माण का महान लक्ष्य प्राप्त करने के लिए अवांछनीयताओं का क्रमशः परित्याग करना ही पड़ेगा और उपयोगी गुण, कर्म, स्वभाव को व्यावहारिक जीवन में समाविष्ट करने का साहसपूर्ण प्रयास करना ही होगा। विधि और निषेध के दो कदम क्रमबद्ध रूप से निरन्तर उठते चलने की व्रतशीलता ही हमें प्रगति के उच्च लक्ष्य तक पहुँचा सकने में समर्थ हो सकती है।

आत्म-निर्माण के मूलभूत चार दार्शनिक सिद्धान्तों पर हर दिन बहुत गम्भीरता के साथ बहुत देर तक मनन-चिन्तन करना चाहिए। जब भी समय मिले चार तथ्यों को चार वेदों का सार तत्व मानकर समझना और हृदयंगम करना चाहिए। यह तथ्य जितनी गहराई तक अन्तःकरण में प्रवेश कर सकेंगे, प्रतिष्ठित हो सकेंगे, उसी अनुपात से आत्म-निर्माण के लिए आवश्यक वातावरण बनता चला जाएगा।

आत्म-दर्शन का प्रथम तथ्य है आत्मा को परमात्मा का परम पवित्र अंश मानना और शरीर एवं मन को उससे सर्वथा भिन्न मात्र वाहन अथवा औजार भर समझना। शरीर और आत्मा के स्वार्थों का स्पष्ट वर्गीकरण। व्यक्तियों के लिए हम किस सीमा तक क्या करते हैं इसकी लक्ष्मण रेखा निर्धारित करना और आत्मा के स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपनी क्षमताओं का एक बड़ा अंश बचाना–उसे आत्म-कल्याण के प्रयोजनों में लगाना।

दूसरा आध्यात्मिक तथ्य है–मानव-जीवन को ईश्वर का सर्वोपरि आहार मानना। इसे लोकमंगल के लिए दी हुई परम पवित्र अमानत स्वीकार करना। स्पष्ट है कि प्राणि मात्र ईश्वर की सन्तान है। निष्पक्ष न्यायकारी पिता समान रूप से ही अपने सब बालकों को अनुदान देता है। मनुष्य को इतने सुविधा-साधन वह विलासिता और अहंता की पूर्ति के लिए देकर पक्षपाती और अन्यायी नहीं बन सकता। जो मिला वह खजांची के पास रहने वाली बैंक अमानत की तरह है। संसार को सुखी-समुन्नत बनाने के लिए ही मनुष्य को विभिन्न सुविधाएँ मिली हैं। उनमें से निर्वाह के लिए न्यूनतम भाग अपने लिए रख कर शेष को लोकमंगल के लिए, ईश्वर के इस सुरम्य उद्यान को

अधिक सुरम्य सुविकसित बनाने के लिए खर्च किया जाना चाहिए ।

तीसरा महासत्य है–अपूर्णता को पूर्णता तक पहुँचाने का जीवन लक्ष्य प्राप्त करना । दोष-दुर्गुणों का निराकरण करते चलने से ही ईश्वर और जीव के बीच की खाई पट सकती है । इन्हीं दो कदमों को साहस और श्रद्धा के साथ अनवरत रूप से उठाते रहने पर जीवन लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव हो सकता है । उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व की नीति अपनाकर ही आत्मा को परमात्मा बनने और नर को नारायण स्तर तक पहुँचने का अवसर मिल सकता है । स्वर्ग, मुक्ति, आत्म-दर्शन ईश्वर प्राप्ति आदि इसी अपूर्णता के निराकरण का काम है ।

चौथा महासत्य है– इस विश्व-ब्रह्माण्ड को ईश्वर की साकार प्रतिमा मानना । श्रम-सीकरों और श्रद्धा-सद्भावना के अमृत जल से उसका अभिषेक करने की तप-साधना, सहृदयता विकसित करना । आत्मीयता का अधिकाधिक विस्तार करना । अपनेपन को शरीर परिवार तक सीमित न रहने देकर उसे विश्व-सम्पदा मानना और अपने कर्त्तव्यों को छोटे दायरे में थोड़े लोगों तक सीमित न रखकर अधिकाधिक व्यापक बनाना ।

यह चार सत्य–चार तथ्य ही समस्त अध्यात्म विज्ञान के, साधना विधान के केन्द्र-बिन्दु हैं । चार वेदों का सार यही है । इन्हीं महासत्यों के हृदयंगम करने और उन्हें व्यवहार में उतारने से परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है । जीवन उद्देश्य पूर्ण होता है । इन महासत्यों को जितनी श्रद्धा और जागरूकता के साथ अपनाया जाएगा आत्म-निर्माण उतना ही सरल और सफल होता चला जाएगा । युग-निर्माण की दिशा में बढ़ते हुए हमें सर्वप्रथम आत्म-निर्माण पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिए ।

आत्म-निर्माण हमारा प्रमुख कर्त्तव्य

आरम्भ में ही बताया गया है कि युग-निर्माण योजना क्या है और उसकी पूर्ति के लिए हमें क्या करना होगा ? युग-निर्माण के तीन अंग हैं–(१) आत्म-निर्माण (२) कुटुम्ब-निर्माण और (३) समाज-निर्माण । आत्म-निर्माण कार्यक्रम के अन्तर्गत अपने गुण, कर्म, स्वभाव के भीतर जो अनेक प्रकार की बुराइयाँ भरी पड़ी हैं उन्हें धीरे-धीरे सुधारते हुए सभ्य, सुसंस्कृत, सज्जन और श्रेष्ठ मानव बनाने की ओर अग्रसर होना पड़ेगा । यह प्रगति धीमी हो सकती है । हम मानते हैं कि सभी में इतना बल नहीं होता कि परिस्थितियो और आदतों के कारण गहराई तक जड़ जमाकर बैठी हुई अनेक बुराइयों को, त्रुटियों को एक ही दिन में सुधार लिया जाए । मनुष्य अपूर्ण और दुर्बल है, आत्म-निर्माण का कार्य सब से कठिन कार्य है । इतना होने पर भी असम्भव नहीं । किसी न किसी रूप में अपने सुधार का कुछ न कुछ कार्य आज से ही आरम्भ कर दिया जाए और आत्मसुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास की मंजिल पार करने के लिए कदम-कदम बढ़ाते हुए एक दिन पूर्णता का परम लक्ष्य प्राप्त कर लिया जाए । हमें यह निश्चय करना ही पड़ेगा कि हमें अब अपनी बुराइयों और दुर्बलताओं से जूझना है । गीता में अर्जुन और कृष्ण का सम्वाद मूलतः इन आन्तरिक बुराइयों से लड़ने के लिए ही है । कौरवों और पाण्डवों के रूप में तमोगुण, असुरता और सतोगुण, मानवता के संघर्ष का ही महाभारत में चित्रण किया गया है । यह महाभारत युग निर्माण योजना के साथ-साथ आरम्भ किया जा रहा है । हममें से प्रत्येक को अर्जुन बनकर इसी महाभारत की विजय के लिए गाण्डीव उठाना और पांचजन्य बजाना पड़ेगा । प्रगति कितनी ही मन्द क्यों न हो, कार्यक्रम कितना ही हलका क्यों न बनाया जाए आत्म-सुधार की दिशा में हमें चल पड़ने को अब तत्पर होना ही होगा ।

आमतौर से हर आदमी अपने को सही, निर्दोष, निर्भ्रान्त और ठीक काम करने वाला मानता है । जबकि वस्तुतः उसमें अनेक त्रुटियाँ और बुराइयाँ भरी पड़ी हैं । त्रुटियों के कारण उसकी उन्नति रुकी पड़ी रहती है और बुराइयों के कारण शक्तियों की बर्बादी ही नहीं होती रहती वरन् आये दिन नित नई आपत्तियाँ भी खड़ी होती रहती हैं पर कठिनाई एक ही है कि अपने दोष किसी की समझ में नहीं आते जो जीवनक्रम चल रहा है उससे असन्तोष तो रहता है, पर यह सूझ नहीं पड़ता कि इसमें क्या परिवर्तन किया जाए और किस प्रकार किया जाए ? अपनी आँख की फुली किसी को दिखाई नहीं पड़ती । अपना चेहरा अपनी आँखों से देख सकना कठिन है । यह तभी सम्भव होता है जब दर्पण का सहारा मिले । अपनी भूलों को ढूँढने के लिए दर्पण के समान आत्म-निरीक्षण की सद्बुद्धि अभीष्ट होती है । जिस प्रकार हम दूसरों को बताते हुए कर सकते हैं वैसी ही निष्पक्ष और तीक्ष्ण-बुद्धि अपने बारे में पैदा हो जाए तो आत्म-सुधार की आधी मंजिल पार हो जाती है ।

रोग और उसकी चिकित्सा

रोग का सही ज्ञान हो जाए तो चिकित्सा का कार्य बहुत सरल हो जाता है, बीमारी का पता लग जाने पर फिर उसकी दवा ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं रहता । हमारी प्रगति और सुख-शान्ति में बाधा पड़ने के कारणों में अधिकांश अपने दोष होते हैं । कभी-कभी दुष्ट, दुरात्मा अकारण ही दूसरों को सताने में मजा लेते हैं और अपनी स्वार्थ-साधना करने के लिए शैतानी कुचक्र रचते रहते हैं । इनका प्रतिरोध करने के लिए भी अपने में सज्जनता का होना आवश्यक है क्योंकि दुष्ट-दुरात्माओं से निपटने के. लिए अपने साथ जिस जनशक्ति की, लोकमत की, राजसत्ता की सहायता आवश्यक होती है, उसकी उपलब्धि भी अपने सज्जन होने पर ही सम्भव है । अपना स्वभाव

और चरित्र यदि दूषित हो तो किसी अवसर पर हमें निर्दोष सताया जा रहा हो तो भी अपना कोई सहायक न बनेगा। वरन् उस मुसीबत को मजा चखने की बात कहकर प्रसन्नता अनुभव करेंगे। दुष्टों को आक्रमण करने के लिए कुछ निमित्त चाहिए? उच्च कोटि की सज्जनता के सामने उनके भी हौसले परास्त हो जाते हैं। सज्जनता में अपनी एक विशिष्ट शान्ति है जिसके आगे पड़ने में दुष्ट-दुरात्माओं को आमतौर से हिचक होती है, यदि वे हमला करते भी हैं तो उन्हें अन्ततः परास्त ही होना पड़ता है। यह एक तथ्य है कि दृढ़ चरित्र के लोगों ने अपनी आत्मिक विशेषताओं के कारण न केवल परास्त किया है वरन् उनका हृदय परिवर्तन करके दुरात्मा से धर्मात्मा भी बना दिया है। इतिहास के पृष्ठ ऐसे उदाहरणों से पूरी तरह रँगे हुए हैं। दुष्टों से निपटने की समस्याएँ रहती तो हर मनुष्य के जीवन में हैं पर परेशान उन्हें ही करती हैं जिनमें अपनी त्रुटियाँ कुछ विशेष मात्रा में होती हैं, पर यह समस्याएँ अपवाद रूप ही हैं।

प्रगति और शान्ति का आधार

मूल प्रश्न उन तथ्यों का है जिनके ऊपर हमारी प्रगति और शान्ति निर्भर रहती है। यह तथ्य अपने सद्गुण ही हो सकते हैं। धन, विद्या, बुद्धि, बल, मित्र आदि अनेक बल इस दुनिया में ऐसे मौजूद हैं जिनकी सहायता से प्रगति का पहिया आगे घूमता है पर सबसे बड़ा बल है, स्वभाव बल, चरित्र बल, विचार बल व व्यवस्था बल। इसका विचार अपनी भीतरी स्थिति को सुधारने पर ही सम्भव हो सकता है पर कठिनाई यह है कि अपना पक्षपात करने का ऐसा पर्दा मनुष्य की बुद्धि पर पड़ा रहता है कि अपनी त्रुटियाँ दीख ही नहीं पड़तीं। सारी खराबियाँ और बुराइयाँ दूसरों में दीखती हैं। लोग दूसरों को सुधारना चाहते हैं और स्वयं अपरिवर्तनशील रहना चाहते हैं।

अपनी आलोचना कर सकना, आत्म-निरीक्षण करके अपनी बुराइयाँ ढूँढ़ सकना और उन्हें सुधारने के लिए तत्पर हो सकना सचमुच ही एक बड़ी बहादुरी और दूरदर्शिता का काम है। जिसमें इतना साहस आ गया उसे सच्चे अर्थों में आध्यात्मिक व्यक्ति कहा जा सकता है। आत्म-कल्याण की पहली सीढ़ी आत्म-निरीक्षण और उसके लिए ईमानदारी से तत्पर रहता है वह गिरी हुई स्थिति में नहीं पड़ा रह सकता। उसके जीवन का विकास होने ही वाला है, उसे प्रगति के पथ पर चलते हुए एक दिन महापुरुषों की श्रेणी में अपनी गणना कराने का अवसर मिलने ही वाला है।

आत्म-चिन्तन और उपासना

युग निर्माण परिवार के प्रत्येक सदस्य को प्रातःकाल का समय ईश्वर चिन्तन के लिए और सायंकाल का समय आत्म-निरीक्षण के लिए नियत करना चाहिए। नित्य कर्म से निवृत्त होकर नियमित संध्या जप ध्यान करना एक उचित धर्म विधान है। उसे पालन करने का प्रयत्न हम सब लोग करें। असुविधा और परिस्थितियों के कारण इसमें कुछ व्यतिरेक होना क्षम्य भी कहा जा सकता है पर शैया पर नींद खुलने से लेकर जमीन पर पैर रखने के बीच का जो थोड़ा-सा समय रहता है वह अनिवार्य रूप से हममें से हर एक को ईश्वर चिन्तन में लगाना चाहिए। इस समय में फुरसत न मिलने जैसे बहाने का भी कोई प्रश्न नहीं है। सर्वव्यापक, निष्पक्ष, न्यायकारी परमेश्वर से सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त करने की प्रार्थना इस समय मन ही मन करते रहनी चाहिए। गायत्री मन्त्र का भावार्थ भी यही है। मानसिक गायत्री जाप इसे कहा जा सकता है। भावनापूर्वक मानसिक जाप परमात्मा का ध्यान इस समय बहुत आसानी से हो सकता है। जो लोग नियमित उपासना करते हैं उन्हें भी और जो नहीं करते हैं उन्हें भी यह क्रम आरम्भ कर देना चाहिए। चारपाई से नीचे उतरने से पूर्व १५ मिनट की यह प्रार्थना अपने परिवार के हर व्यक्ति को करनी चाहिए और अपने प्रभाव में परिवार के जो-जो स्दस्य हों उनसे इसे नियमित रूप से कराना चाहिए।

अपना दैनिक कार्य आरम्भ करने से पूर्व 'युग-निर्माण का सत्संकल्प' भावनापूर्वक पढ़ना चाहिए। जो पढ़े नहीं हैं उन्हें उतना ही कह लेना चाहिए उन्हें उस मन्त्र का सार भाग अपने शब्दों में कह लेना चाहिए। मानव-जीवन का आदर्श, कर्त्तव्य, धर्म और सदाचार का इस संकल्प मन्त्र में भावनापूर्ण समावेश हुआ है। इसका पाठ करना किसी धर्म ग्रन्थ के पाठ से कम प्रेरणा और पुण्यफल प्रदान करने वाला नहीं है।

बुराइयों और त्रुटियों का सुधार

सायंकाल को चारपाई पर पड़ने से लेकर सोने तक का समय आत्म-निरीक्षण में लगाना चाहिए। आज के दिन हमने क्या-क्या भूलें और बुराइयाँ कीं इस पर बहुत बारीकी से सोचना चाहिए। भूलें वे हैं जो अपराधों की श्रेणी में नहीं आतीं पर व्यक्ति के विकास में बाधक हैं। चिड़चिड़ापन, ईर्ष्या, आलस, प्रमाद, कटुभाषण, अशिष्टता, निन्दा, चुगली, कुसंग, चिन्ता, परेशानी, व्यसन, वासनात्मक कुविचारों एवं दुर्भावनाओं में जो समय नष्ट होता है उसे स्पष्टतः समय की बर्बादी कहा जाएगा। प्रगति के मार्ग में यह छोटे-छोटे दुर्गुण ही बहुत बड़ी बाधा बनकर प्रस्तुत होते है इसलिए सायंकाल को आत्म-निरीक्षण के समय यह विचार करना चाहिए कि आज इस प्रकार की भूलों में हमारा कितना समय बर्बाद हुआ। यह भूलें प्रत्यक्षतः अपराध नहीं मानी जातीं तो भी यह अपराधों के समान ही हानिकारक हैं। बुराइयों में नैतिक बुराइयाँ गिनी जाती हैं, झूठ, हिंसा, नशेबाजी, व्यभिचार, बेईमानी, चोरी, जुआ, ठगी, क्रूरता, गुण्डागर्दी, अशिष्टता आदि की मोटी बुराइयाँ तो स्पष्टतः त्याज्य हैं। इनके विचारों का मन में प्रवेश

करना भी मानसिक पाप कहा जाता है । उससे भी बचना चाहिए । आज दिन जो बुराइयों और भूलें बन पड़ी हैं उनका आत्मा द्वारा मन से उसी प्रकार लेखा-जोखा लिया जाना चाहिए जिस प्रकार कोई उद्योगपति अपने कारखाने के मैनेजर से रोज के कार्य और हिसाब का लेखा-जोखा लिया करता है । दोषों की कमी होते चलना और गुणों की बढ़ोत्तरी होना आत्मिक प्रगति के व्यापार में लाभ होने का चिन्ह है । यदि बुराइयाँ बढ़ रही हैं और अच्छाइयाँ घटें तो समझना चाहिए फर्म दिवालिया होने जा रही है । पूर्ण निर्दोष कोई नहीं और न कोई पूर्ण गुणवान् ही इस दुनिया में है फिर भी प्रयास करते रहा जाए तो हमारी बुराइयाँ और भूलें दिन-दिन घटती और श्रेष्ठताएँ बढ़ती चल सकती हैं । इससे आज का लेखा-जोखा समझने के बाद कल के लिए ऐसी योजना सोचनी चाहिए कि श्रेष्ठता की अभिवृद्धि और क्षुद्रता की कमी होने लगे । रोज-रोज यह कार्यक्रम ठीक तरह बनाया जाता रहे और उस पर अगले दिन चला जाता रहे तो आत्म-सुधार का कार्य निरन्तर गतिमान रह सकता है ।

समय का विभाजन

हम में से हर एक को आठ घण्टे रोजी-रोटी कमाने के लिए, दस-घण्टे सोने, खाने और नित्य कर्म के लिए लगाने चाहिए । इसके बाद ६ घण्टे शेष बचते हैं । इन्हें आत्म-निर्माण में, परिवार-निर्माण में और समाज-निर्माण के लिए परमार्थ-प्रयोजन में खर्च करना चाहिए । उपासना यदि सच्चे मन से पूर्ण निष्ठा और तन्मयतापूर्वक की जाए तो वह एक घण्टा भी, बेमन से बेगार भुगत कर किये जाने वाले छह घण्टे जप से भी अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है । घट-घटवासी भगवान विधान को नहीं, भावना को देखते हैं । विशेष व्यक्तियों द्वारा या विशेष अवसरों पर, विशेष साधनाओं के लिए, विशेष समय भी उपासना में लगाया जाना चाहिए, पर साधारण परिस्थितियों के व्यक्तियों के लिए नियमित रूप से सच्चे मन से की गई एक घण्टे की उपासना भी पर्याप्त हो सकती है । परमार्थ के लिए निकाले गये छह घण्टे में से उपासना का एक घण्टा कम कर देने के बाद शेष पाँच घण्टे जो बचते हैं उनमें से एक घण्टा स्वाध्याय के लिए निश्चित रूप से रखा जाना चाहिए । यह कार्य भजन से किसी भी प्रकार कम महत्त्व का नहीं है । आत्म-निर्माण की समस्याओं को, जीवन की विभिन्न गुत्थियों को सुलझाने में सहायता करने वाला साहित्य ही स्वाध्याय की आवश्यकता पूरी करता है । कथा-पुराणों की धर्मगाथाएँ सुनना पढ़ना भी उचित है पर उसे स्वाध्याय नहीं मानना चाहिए क्योंकि उसके द्वारा वर्तमान काल की परिस्थितियों और समस्याओं को ध्यान में रखते हुए कोई क्रमबद्ध सुझाव प्रस्तुत नहीं किये जाते हैं ।

प्रतिभा और क्षमता बढ़ावें

ज्ञान वृद्धि के लिए, अपने बौद्धिक विकास के लिए विद्याध्ययन, शारीरिक उन्नति के लिए व्यायाम, टहलना, उपचार कोई कला-कौशल सीखना आदि के कार्यक्रम भी आत्म-निर्माण के अन्तर्गत आते हैं । हम आज जहां कल उससे ऊँचे स्तर पर पहुँचें, आज की अपेक्षा क हमारी क्षमता, योग्यता, शक्ति, सामर्थ्य और प्रति अधिक विकसित हो यह भावना रखते हुए अगले दिन क कार्यक्रम बनाते रहना चाहिए और एक-एक कदम प्रगति की ओर बढ़ाते हुए पूर्ण विकास के लिए हमें निरन्त अग्रसर होते रहना चाहिए । विभिन्न व्यक्तियों की परिस्थिति, अभिरुचि और सुविधा भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है इसलिए सब के लिए कोई एक समान कार्यक्रम तो नहीं बन सकता पर सोचने और ढूँढ़ने पर हर व्यक्ति अपनी प्रतिभा और क्षमता को आज की अपेक्षा कल कुछ न कुछ बढ़ाने के लिए कोई न कोई उपाय निकाल ही सकता है । कोई न कोई मार्ग ढूँढ़ ही सकता है ।

युग निर्माण का दूसरा चरण परिवार-निर्माण

युग-निर्माण अभियान का प्रथम चरण आत्म-निर्माण है । जिस पर पिछले पृष्ठों पर प्रकाश डाला जा चुका है । अभियान का दूसरा चरण है–परिवार-निर्माण । आमतौर से हर मनुष्य परिवार बनाकर रहता है जो लोग विवाह नहीं करते वे भी माँ-बाप, बहिन-भाई आदि के साथ रहते हैं यह भी परिवार ही तो हुआ । स्त्री-बच्चों तक ही तो परिवार की सीमा अवरुद्ध नहीं की जा सकती । इतना ही नहीं वैरागी, सन्त, महात्मा तक जमात-संगत बनाकर रहते हैं । आश्रम सम्प्रदाय, मण्डली बनाते हैं । गुरु-शिष्यो की परम्परा चल पड़ती है और परिवार बन जाता है । कोई उद्योग-व्यवसाय आदि आत्मीयता के साथ उच्च आदर्शों को सामने रख कर चलाये जाएँ तो साथ काम करने वाले भी परिवारीजन ही बन जाते हैं । छात्र और अध्यापको का सम्बन्ध वस्तुतः एक परिवार ही है । प्राचीनकाल में गुरुकुल इसी आदर्श पर चलते थे । थोड़ी और उदार दृ का विकास हो तो यह परिधि देश, धर्म आदि की सीम लाँघती हुई विश्व-परिवार पर जा टिकती है, तब वसुधैव कुटुम्बकम् एक कल्पना नहीं–व्यावहारिक सत्य दृष्टिगोचर होता है । पूर्ण एकाकी तो कोई जड़, मृतक अथवा परमहंस ही रह सकता है । सामान्य मनुष्य का जहाँ तक प्रश्न है उसे परिवार बनाकर ही रहना पड़ता है । स्नेह-सहयोग का जब तक आदान-प्रदान न हो, तब तक आत्मा की अतृप्ति को समाधान मिलता ही नहीं ।

परिवार एक प्रकार से छोटा राष्ट्र है । सुविस्तृत समाज का छोटा संस्करण है । युग-निर्माण की क्षमता विकसित करने के लिए हमें परिवार-निर्माण की पाठशाला में प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए । भोजन वस्त्र की, शौक-मौज की शिक्षा सुविधा की व्यवस्था बनाये रहने से ही परिवार की आवश्यकता पूर्ण नहीं हो जाती वरन् उस छोटे क्षेत्र में

ऐसा वातावरण बनाना पड़ता है जिसमें पलने वाले प्राणी हर दृष्टि से समुन्नत-सुसंस्कृत बन सकें। अधिक खर्च करने अधिक सुविधा-साधन रहने से, नौकर-चाकरों की व्यवस्था रहने से घर साफ-सुथरा और सुसज्जित रह सकता है। सम्पन्नता के आधार पर बढ़िया भोजन, वस्त्र, ऐश-आराम, विनोद-मनोरंजन के साधन मिल सकते हैं किन्तु व्यक्तित्व को समग्र रूप से विकसित कर सकने वाले सुसंस्कार केवल उपयुक्त वातावरण में ही सम्भव हो सकते हैं। ऐसा वातावरण कहीं बना बनाया नहीं मिलता न कहीं खरीदा जा सकता है, उसे तो स्वयं बनाना पड़ता है।

प्राचीनकाल के गुरुकुलों की बात दूसरी थी वहाँ उत्कृष्टता का वातावरण बना हुआ रहता था। घर-परिवार में जो कमी रहती थी, उसकी पूर्ति वहाँ हो जाती थी, ऋषि-तपस्वी अपने ज्ञान, कर्म और प्रभाव से विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण की आवश्यकता पूरी करते थे पर अब वैसे गुरुकुल या विद्यालय कहाँ हैं? अब तो वह आवश्यकता प्रत्येक सद्गृहस्थ को स्वयं ही पूरी करनी पड़ेगी। इसे यदि पूरा न किया गया, घर में सुसंस्कृत वातावरण न बनाया जा सका, परिष्कृत परम्पराओं का प्रचलन न किया जा सका तो उस घर में रहने, पलने वाले लोग भूत-बैताल बन कर ही रहेंगे। स्वास्थ्य, शिक्षा, चतुरता की दृष्टि से वे कितने ही अच्छे क्यों न हों, मानवी सद्गुणों से वंचित ही रहेंगे। कोई कितना कमाता है-कितना बड़ा कहाता है यह बात अलग है और किसका व्यक्तित्व कितना समुन्नत है, यह प्रश्न बिल्कुल अलग है। बड़ा आदमी बनना सरल है-श्रेष्ठ, सज्जन बनना कठिन है। सुख-शान्तिपूर्वक रहने और अपने साथियों को प्रसन्न संतुष्ट रखने के लिए बड़प्पन की नहीं-महानता की आवश्यकता पड़ती है। उसी का उपार्जन मानव-जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। कोई परिवार इस दिशा में जितना सफल होता है उसकी उतनी ही सार्थकता मानी जा सकती है।

घर के वातावरण में यदि अवांछनीयताएँ, विकृतियाँ फैली हुई है तो इसका एकमात्र कारण सद्प्रवृत्तियाँ, सद्भावनाएँ उत्पन्न कर सकने वाले वातावरण का अभाव है। उसे पैदा करने पर ही उलझनें सुलझेंगी। अन्धकार का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है। ठीक यही बात पारिवारिक वातावरण पर लागू होती है जहाँ सद्भावनाओं को आरोपित, पल्लवित न किया गया होगा वहाँ दुर्भावनाओं को, दुष्प्रवृत्तियों की कँटीली झाड़ियाँ उगेंगी ही और उनके काँटे चुभे बिना रहेंगे ही नहीं। यही है पारिवारिक क्लेश-कलह का दार्शनिक कारण। बाहरी दृष्टि से लड़-झगड़ या मनोमालिन्य के दूसरे स्थूल कारण भी हो सकते हैं। उनका निवारण भी किया जा सकता है फिर भी आन्तरिक दुर्बुद्धि जहाँ बनी हुई है वहाँ द्वेष और क्लेश के लिए कुछ न कुछ बहाने सामने आते ही रहेंगे और दुर्गन्ध भरी नारकीय सड़न उत्पन्न करते ही रहेंगे। ऐसे घर-परिवार में रहकर कोई व्यक्ति न तो सुखी-सम्पन्न रह सकता है और न जीवन में महत्त्वपूर्ण प्रगति कर सकने योग्य गुण, कर्म, स्वभाव का अभ्यस्त हो सकता है।

अवांछनीय वातावरण में पलने वाले प्राणी हेय और गई-गुजरी स्थिति में ही जिन्दगी गुजारते हैं। अधिक पैसा, अधिक ठाठ-बाट और अधिक वैभव पाकर आदमी सुख-शान्ति में तनिक भी वृद्धि नहीं होती। आनन्द और उल्लास तो केवल सुसंस्कारी व्यक्तियों के हिस्से में ही आता है। ये ही स्वयं संतुष्ट रहते और साथियों को आनन्द देते हैं। प्रसन्न रहने और रखने की विशेषता ही देव-प्रकृति कहलाती है वस्तुतः यही सबसे बड़ी दौलत है। अभागे लोग पैसे को ही सब कुछ मानते और उसी के लिए मरते-खपते हैं। विवेकवान जानते हैं कि परिष्कृत दृष्टिकोण से सद्भावनाओं से बढ़कर और कोई आनन्ददायक वस्तु इस संसार में नहीं है इसलिए वे इसके उपार्जन अभिवर्द्धन पर ध्यान देते हैं? भले ही पैसे की दृष्टि से उन्हें गरीबों की श्रेणी में ही क्यों न रहना पड़े।

परिवार-निर्माण का अपना प्रयोजन इतना भर ही नहीं है जितना कि गृह-विज्ञान की प्रचलित पुस्तकों में बताया पढ़ाया जाता है। उसे गृहसज्जा भर कहा जा सकता है। परिवार-निर्माण की दृष्टि से भी यह आरम्भिक और उचित कदम है। आवश्यकता उसकी भी है पर उतना भर कर लेने पर भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। अमीर लोग गृहसज्जा के लिए नौकर-रखते भी हैं। सफाई, सुव्यवस्था और सजावट के लिए यदि नौकर चाकर मौजूद हैं तो वह कार्य हो ही जाउगा। कुशल गृहिणियाँ भी यदि निरालस्य, स्फूर्तिवान और सुरुचिपूर्ण प्रकृति की हों तो वे जागरूक रहकर चलते-फिरते गन्दगी एवं अव्यवस्था को हटाती, समेटती रहती हैं। बात की बात में सब कुछ सुन्दर, सुव्यवस्थित बन जाता है।

वस्तुतः कूड़ा-करकट तो दिमागी गन्दगी का नाम है, फूहड़ प्रकृति ही घर में सर्वत्र अव्यवस्था फैलाये रहती है। कामों को आधा-अधूरा छोड़ने की आदत का नाम ही गन्दगी है जिसकी प्रकृति में पूरा काम निबटाकर ही आगे बढ़ने की आदत जुड़ गई है उसे कुछ सिखाना नहीं पड़ता। ऐसी प्रकृति घर की हर वस्तु को सुन्दर, सुव्यवस्थित बनाये रहती है। घर का सामान, बर्तन, फर्नीचर, दीवारें, छतें, कोठरी, नाली, प्रसाधन, कपड़े, पुस्तकें, खाद्य पदार्थ आदि किस तरह सँभालें, सजाये जाएँ इसकी शिक्षा का नाम ही इन दिनों स्कूलों में 'गृह-विज्ञान' के नाम से पढ़ाया जाता है। वह व्यवहार ज्ञान है। इतना सब कुछ जान लेने पर भी यदि आलसी और फूहड़ प्रकृति स्वभाव का अंग बनी रहे तो फिर सारा पढ़ा-पढ़ाया बेकार है।

गृहविज्ञान पढ़ाने वाली अध्यापिकाओं के घर जब नरक जैसी गन्दगी और अस्त-व्यस्तता से भरे दीखते हैं तब यही मानना पड़ता है कि जानकारी प्राप्त कर लेने से कुछ बनता नहीं, मूल बात स्वभाव के परिष्कार की है।

यदि वह किसी प्रकार सम्भव हो सके तो सर्वथा निरक्षर होने पर भी गृह-सज्जा की समस्त आवश्यकताएँ बिना किसी के सिखाये-पढ़ाये भी अपनी भौतिक सूझ-बूझ से सम्भव-सम्पन्न हो सकती हैं । निर्धनता, रुग्णता और व्यस्तता रहते हुए भी जहाँ सुरुचि जीवित होगी, वहाँ सुन्दरता और सुसज्जा अनायास ही बनी रहेगी । इसके विपरीत आलस और फूहड़ प्रकृति अनेक सहायकों तथा साधनों के रहते हुए भी पग-पग पर बिखरी हुई कुरूपता, कुरुचि और गन्दगी का परिचय देती रहेगी ।

इन पंक्तियों में यह नहीं बताया जा रहा है कि घर को साफ-सुथरा रखने के लिए किस प्रकार क्या करना चाहिए, दीवारों की पुताई, फर्नीचर पर वार्निश, कपड़ों की धुलाई, पर्दों की रँगाई, झाड़-पोंछ और चीजों का यथास्थान यथावत् रखना, पुस्तकों में लिखा भले ही हो, पर उसकी वास्तविक शिक्षा दैनिक-अभ्यास से ही मिलती है । जिन घरों में यही होता रहता है, उनमें पलने वाली लड़कियाँ जहाँ भी जाती हैं, वहीं सुरुचिपूर्ण सुसज्जा बात की बात में बना देती हैं । वैसी आदत न हो, प्रकृति न हो, तो फिर हर बात पर कहने-सुनने और डाँटने-डपटने की आवश्यकता पड़ती रहेगी । इससे भी कुछ काम बनेगा नहीं, कलह और असन्तोष बढ़ेगा । गृह-सज्जा जैसा छोटा विषय भी मूलतः घर के सदस्यों की प्रकृति से जुड़ा है । उसका स्तर यदि सुधरा हुआ हो तो कोई बिना पढी महिला भाषण देना भले ही न जानती हो व्यवहार रूप से इतना कुछ करके दिखा सकती है कि गृह-विज्ञान पढ़ाने वाली प्रोफेसर भी सिर झुका के रह जाए । हमें इसी सुरुचि के विकास को घर की सुव्यवस्था का मूलभूत कारण मानकर चलना चाहिए और उसी के विकास का उपयुक्त वातावरण तैयार करना चाहिए ।

परिवार निर्माण वस्तुतः एक दर्शन है–क्रियाकलाप तक उसे सीमित नहीं रखा जा सकता । जिस प्रकार की व्यवस्था अभीष्ट हो उसके लिए परिवार के लोगों की मनःस्थिति का निर्माण किया जाना चाहिए । यह प्रयोजन तभी सफल हो पड़ता है, जब अपना मनोयोग, समय और श्रम उसके लिए नियमित रूप से लगाया जाए । यह अभिरुचि, तत्परता एवं संलग्नता तब उत्पन्न हो सकती है, जब परिवार निर्माण की आवश्यकता को गम्भीरतापूर्वक समझा जाय और यह सोचा जाए कि इस महान् उत्तरदायित्व का निर्वाह करना कितना अधिक महत्त्वपूर्ण है । यह काम नौकरों से, बाहर के आदमियों से कराने का नहीं है । अन्यान्य लोग बता-सिखा सकते हैं, परिवार के लोगों में घुल-मिल नहीं सकते, घनिष्ट आत्मीयता भरा अपनापन ही आन्तरिक आदान-प्रदान का माध्यम होता है । मनःस्थिति पर प्रभाव डालने की क्षमता केवल उन्हीं में होती है, जो अन्तःक्षेत्र का स्पर्श करें । विशेषतया स्वभाव एवं दृष्टिकोण में परिष्कृत परिवर्तन करने के लिए तो ऐसे ही शिक्षक की आवश्यकता पड़ती है । ऐसा शिक्षक बाहर से ढूँढना बेकार है, यह कार्य हमें स्वयं ही करना पड़ेगा । भोजन, स्नान, निद्रा, विनोद आदि की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए श्रम हमें स्वयं ही करना होता है, यह प्रयोजन दूसरों के द्वारा पूरे नहीं कराये जा सकते । परिवार निर्माण का कार्य अपने अतिरिक्त बाहर के लोगों से कराया नहीं जा सकता । आज की स्थिति में इस तथ्य को हमें पूरी तरह ध्यान में रखना चाहिए । दूसरे, कुछ सामयिक परामर्श दे सकते हैं या क्षणिक प्रभाव डाल सकते हैं । सुसंस्कारों की जड़ जमाने के लिए जिस अध्यवसाय की दीर्घकालीन और अनवरत आवश्यकता पड़ती है, उसकी पूर्ति कोई बाहर का व्यक्ति कब तक और कहाँ तक करेगा ?

प्रश्न इतना भर नहीं है कि परिवार का वातावरण अच्छा बनाया जाए और परिजनों को सुसंस्कृत स्तर तक पहुँचाया जाए, यह केवल एक पक्ष है । परिवार-निर्माण का दूसरा पक्ष और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । यह है–अपनी निज की आदतों, आस्थाओं और गतिविधियों का निर्माण नियन्त्रण करना । यह कार्य परिवार की प्रयोगशाला मे ही सम्भव हो सकता है । जलाशय में घुसे बिना तैरना कहाँ आता है । व्यायामशाला में प्रवेश किए बिना पहलवान कौन बनता है ? पाठशाला में भर्ती हुए बिना सुशिक्षित कौन बनता है ? व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर ही अपने गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता का अभ्यास किया जाता है । एकाकी चिन्तन-मनन, अध्ययन, प्रवचन करते रहने से केवल बौद्धिक समाधान मिलता है । सत्प्रवृत्तियाँ परिपक्व तो अभ्यास से होती हैं । अभ्यास के लिए उपकरण चाहिए । इस प्रयोजन के लिए परिवार से बढ़कर और कोई उपयुक्त माध्यम हो ही नहीं सकता । जिन लोगों के बीच हमें रहना पड़ रहा है, उन्हें परिष्कृत बनाने के लिए प्रयास करना वस्तुतः अपनी प्रकृति को ही सुधारना है । बकझक करनी हो तो बात दूसरी है–यदि सचमुच किन्हीं पर बदलने योग्य प्रभाव उत्पन्न करना है तो उसका एकमात्र उपाय अपनी स्थिति का प्रभाव डालने योग्य बनाना ही हो सकता है । जो इस दिशा में वस्तुतः बढ़ाना चाहता होगा, उसे अपनी प्रभावोत्पादक क्षमता बढ़ानी पड़ेगी । अपना अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करना पड़ेगा । अपने व्यक्तित्व को उतना प्रामाणिक बनाना पड़ेगा कि जिसके सम्पर्क में आ जाए–उस पर छाप पड़े । परिवार-निर्माण के लिए प्रयास करना वस्तुतः अपनी श्रेष्ठ मान्यताओं को मूर्त रूप देने के लिए प्रयोगशाला में प्रवेश करना है । परिजनों के माध्यम से अपनी शालीनता एवं क्रिया-कुशलता को विकासोन्मुख बनाना है । इस प्रकार परिवार-निर्माण की दिशा में किए गए प्रयास-केवल कुटुम्बियों की सार्थक सेवा ही सम्पन्न नहीं करते, वरन् अपने व्यक्तित्व को भी निखारते हैं । अपनी आदतों में भी उत्कृष्टता का समुचित समावेश करते हैं यह दुहरे लाभ की प्रक्रिया सर्वथा अपनाये जाने ही योग्य है । परिवार निर्माण दुहरी सफलता प्रस्तुत करता है । सुसंस्कृत परिजन न केवल अपने लिए, वरन् निर्माणकर्त्ता के लिए भी आनन्द

भरे अनुदान प्रस्तुत करते हैं । 'मेंहदी पीसने वाले के हाथ रंग जाते हैं,' वाली उक्ति के अनुसार उस कार्य में संलग्न व्यक्ति को आत्म-निर्माण का लाभ भी मिलता ही है ।

आजीविका-उपार्जन के अतिरिक्त कुछ समय हमें परिवार-निर्माण के लिए भी नियमित रूप से देना चाहिए । यह एक उच्च कोटि का मनोरंजन है । ताश, शतरंज, गपशप, सिनेमा, मटरगश्ती, यारबासी, आलस्य, अनुत्साह पूर्वक काम करने की मन्दगति आदि व्यसनों और प्रमादों में हमारा बहुत-सा समय नष्ट होता है । हिसाब लगाया जाय तो प्रतीत होगा कि समय की यह बर्बादी बहुत बड़ी है । इतनी अधिक है कि उसे बचाकर ही परिवार-निर्माण के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करने का अवसर प्राप्त किया जा सकता है और फुरसत न मिलने का बहाना सर्वथा निरर्थक सिद्ध हो सकता है । मनोरंजनों में सबसे बढ़िया, सबसे सार्थक, सबसे हल्का और सबसे सरल परिवार-निर्माण ही है । इसमें न केवल अपना ही, वरन् साथ-साथ सारे घर-परिवार का मनोरंजन होता है । उसकी आड़ में प्रशिक्षण इतना अधिक हो जाता है कि कोई विद्वान् अध्यापक भी उतना नहीं कर सकता ।

परिवार-निर्माण के दो पक्ष हैं–एक व्यावहारिक क्रिया-परक और दूसरा दार्शनिक-दृष्टिकोण परक । हमें दोनों ही तथ्यों का अपनी क्रिया-प्रक्रिया में समुचित समावेश करके चलना होगा । व्यावहारिक कार्यक्रम में घर की सुव्यवस्था, सुन्दरता एवं सुसज्जा पर ध्यान दिया जाना चाहिए । उसके लिए अकेले ही नहीं लगना चाहिए, वरन् क्रमशः सभी लोगों को साथ लगाना चाहिए । स्वयं साथ लगने से दूसरों में उत्साह पैदा होता है, अन्यथा सृजनात्मक कार्यों में रूखापन समझा जाता है और उसे भार–बेकार समझकर कन्नी काटने की मनोवृत्ति रहती है । आदेश-निर्देश देते रहने से बात बनती नहीं । प्रयोजन तब पूरा होता है, जब स्वयं आगे चला जाए और कन्धे से कन्धा लगाकर काम करने के लिए दूसरों को आमन्त्रण दिया जाय । 'अपने मरे बिना स्वर्ग नहीं दीखता' वाली कहावत ऐसे हर काम पर लागू होती है ? इंजन आगे चलता है तो डिब्बे पीछे लुढ़कने लगते हैं । परिवार-निर्माण के लिए बनाये गए व्यवस्था-क्रम में हमें स्वयं ही इंजन की भूमिका सम्पादित करनी चाहिए ।

आजीविका उपार्जन और सार्वजनिक सेवा के अतिरिक्त शेष समय घर पर रहते हुए भी व्यतीत करना चाहिए और उसे परिवार-निर्माण में लगाना चाहिए । इस समय का क्रियात्मक उपयोग यह है कि सफाई, सुव्यवस्था एवं सुसज्जा के कार्यों में हर दिन कुछ न कुछ कार्य निर्धारित रखा जाए । कूड़ा-कचरा और गन्दगी हर समय उत्पन्न होती है । अभी जो स्थान या वस्तु साफ है, कुछ समय मे किसी न किसी कारण से वहाँ धूल और गन्दगी जमने लगेगी । इसलिए बार-बार बुहारी या कपड़े का झाड़न और चीजों को अस्त-व्यस्त पड़ी रहने देने की बुरी आदत घर में प्रायः सभी को किसी न किसी मात्रा में है । अस्तु, आज की व्यवस्था और सफाई कल तक यथावत् नहीं बनी रहेगी, उसे बार-बार सँभालना पड़ता है । चीजों को यथास्थान, करीने से रखना-झाड़ू और झाड़न का बार-बार उपयोग करना–बर्तनों का माँजना, कपड़ों को धोना आदि ऐसे काम हैं, जिन्हें समय-समय पर करते रहना पड़ता है । टूट-फूट भी होती ही रहती है । टूटे बर्तन, फटे कपड़े, छितरी पुस्तकों की जिल्दें यह माँग करती हैं कि उन्हें सुधारा-सँभाला जाय । मरम्मत में कुशल होना सद्गृहस्थ का आवश्यक क्रिया-कौशल है । जब जो वस्तु टूटती-फूटती दिखाई पड़े, उसे अविलम्ब सुधार-सँभाल देना चाहिए । कपड़ा जहाँ से फटा है, वहाँ तुरन्त सीं दिया जाए तो वह हानि न होगी, जो कई दिन उपेक्षा करते रहने से उसकी जिन्दगी ही समाप्त हो जाने के रूप में सामने आती है । घर में कुछ स्थान गन्दगी के होते हैं । बर्तन साफ करने, मल-मूत्र त्यागने के साथ-साथ कूड़ा जमा करने के स्थान आमतौर से गन्दे पड़े रहते हैं और उनमें सड़न, बदबू, गन्दगी पैदा होती रहती है । गन्दी चीजों से दूर रहने की आदत गन्दगी को और अधिक बढ़ाती है । होना यह चाहिए कि जहाँ भी गन्दगी दिखाई पड़े, वहाँ तुरन्त तत्काल उसे हटाने के लिए उत्साह प्रदर्शित किया जाए । गन्दगी से जूझते रहने से ही उसके स्थान पर सफाई को स्थापित किया जा सकता है, उससे दूर रहने की उपेक्षा से तो वह और अधिक बढ़ती चली जाएगी । स्वच्छता से प्रेम करना उसी का सार्थक है, जो गन्दगी हटाने को उत्साह का परिचय दे सके । घर के सभी लोगों में यह प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिए । गन्दगी एवं कुरूपता विरोधी मोर्चे पर लड़ने के लिए घर के हर सदस्य में शौर्य, साहस उत्पन्न करना चाहिए । क्या शरीर, क्या वस्त्र, क्या सामान, क्या घर सब कुछ ऐसा सुन्दर, सुव्यस्थित रखा जाए, मानो कोई बड़ा अफसर आज ही इन सब चीजों का मुआयना करने के लिए आ रहा हो । सफाई और सुरुचि सम्वर्द्धन इसी अभियान का दूसरा पक्ष है । मकान की दीवारें अपने हाथों आसानी से पोती जा सकती हैं । मेजपोश, पर्दे आदि रँगने में कहाँ अधिक देर लगती है । घर के लोगों को साथ में लगाकर स्वच्छता और सुसज्जा में हर दिन एक घण्टा भी लगाया जाए तो उसकी हर वस्तु सुरुचिपूर्ण रह सकती है और वहाँ सुसंस्कृत वातावरण का आभास मिलता रह सकता है ।

बात सफाई और शोभा-सुन्दरता भर की नहीं हो रही है, वरन् यह कहा जा रहा है कि परिवार के हर सदस्य में सुव्यवस्था के लिए तत्परता बरतने की आदत होनी चाहिए । यह आदत वस्तुओं को सुन्दर ढंग से रखने तक सीमित नहीं रह सकती, वरन् चिन्तन एवं कर्तृत्व के अन्यान्य क्षेत्रों तक विकसित होकर मनुष्य को जागरूक और तत्पर बनाये रखने में असाधारण रूप से सहायता करती है । छोटे कामों से घृणा न करना सुव्यवस्था को उत्पादक मनोरंजन मानना, खाली समय का उपयोग करना

आलस्य, प्रमाद को हावी न होने देना, काम को अधूरा न छोड़ना, सुसज्जा की अभिरुचि बढ़ाना जैसे अनेक ऐसे गुण परिवार में बढ़ते हैं, जो देखने में छोटे लगते हैं, पर प्रकृति के अंग बनकर सामने प्रस्तुत कार्यों को सही ढंग से करने पर मिलने वाली महत्त्वपूर्ण सफलता का अंग बनते हैं । टूटी चीजों की मरम्मत करना यों एक गृहशिल्प भी है, उससे आर्थिक बचत भी है, पर आदत के रूप में बड़ा लाभ यह है कि बर्बादी तनिक भी न होने दी जाए । वस्तुओं से अधिकाधिक काम लिया जाय । कहावत है कि "जो टूटे को बनाना और रूठे को मनाना जानता है, वह बुद्धिमान है ।" निर्माण, सृजन और सुधार की मनोवृत्ति टूटी वस्तुओं की मरम्मत करने और बदरंग चीजों को चमकाने के प्रयास के साथ-साथ विकसित होती है । घर-आँगन में, गमलों में, टोकरी और पेटियों में फल-फूल एवं शाकभाजी लगाये जा सकते हैं । इसमें शोभा भी है और आर्थिक लाभ भी । इससे भी बड़ा लाभ उत्पादन, पोषण और संरक्षण की मनोवृत्ति विकसित होने का है, सद्गुणों को ऐसे छुट-पुट प्रयासों के सहारे ही विकसित किया जा सकता है ।

परिवार में सद्ज्ञान की अभिवृद्धि की आवश्यकता पूरी की जानी चाहिए । परिजनों को कूप-मण्डूक नहीं रहने देना चाहिए । जीवन की–समाज की समस्याओं से अपरिचित रहना ऐसी भूल है, जिसके कारण कभी-कभी ऐसी ठोकरें खानी पड़ती हैं, जो आदमी को चित्त-पट्ट करके रख दें । अवकाश के समय में समाचारों एवं कथा, संस्मरणों के माध्यम से उपयोगी जानकारी बढ़ाने का कार्य हर सद्गृहस्थ को हाथ में लेना चाहिए । रूखे, नीरस और निर्देशात्मक उपदेशों को प्रायः व्यंग्य, उपहास, एवं अवज्ञा में धकेल दिया जाता है । कथा-कहानी के माध्यम से घुमा-फिराकर शिक्षा दी जाए तो उसमें मनोरंजन-आकर्षण भी रहता है और परोक्ष रूप से दी गई शिक्षा का चित्त पर प्रभाव भी पड़ता है । अखबारों में से ऐसे समाचार चुने जा सकते हैं, जिनमें कुछ शिक्षा सामग्री हो । उनकी समीक्षा, विवेचना करते रहें तो ऐसे ज्ञान की वृद्धि हो सकती है, जो जीवन-विकास में–लोक-व्यवहार में उचित मार्गदर्शन कर सके । पञ्चतन्त्र और हितोपदेश नामक संस्कृत कथा-ग्रन्थों ने उद्दण्ड राजकुमारों को सुयोग्य बना दिया था । हम भी उसी रीति-नीति को अपनाकर परिवार के लोगों के लिए उपयोगी दिशा-निर्देश करते रह सकते हैं । जो पढ़े-लिखे हैं, उन्हें प्रेरक पुस्तकें पढ़ते रहने के लिए भी कहा, समझाया और प्रोत्साहित किया जा सकता है । स्वाध्याय के लिए सामग्री और समय की व्यवस्था बनाकर हम घर के पढ़े-लिखे सदस्यों के लिए बौद्धिक एवं भावनात्मक उत्कर्ष का द्वार खोल सकते हैं । पढ़े सदस्य प्रतिदिन अवकाश वाले निर्धारित समय में निर्दिष्ट पुस्तक प्रसंग पढ़कर सुनाया करें तो आगे चलकर यही आदत परिवार प्रशिक्षण में अभिरुचि बनकर विकसित हो सकती है । सुनाते रहने वालों को सुयोग्य वक्ता बनने की–झेंप झिझक से पिण्ड छुड़ाने का–सुअवसर प्राप्त कर सकती है ।

घर में आस्तिकता का वातावरण रहना चाहिए । हर सदस्य को भगवान का स्मरण और नमन करने की आदत होनी चाहिए । चाहे उसके लिए दो मिनट का ही समय लगे, पर लगना अवश्य चाहिए । आस्तिकता के साथ अनेक श्रेष्ठ मान्यताएँ जुड़ी रहती हैं, सुसंस्कृत व्यक्तित्व विकसित करने की दृष्टि से दैनिक जीवन में आस्तिकता को परिपुष्ट बनाने वाली उपासना के लिए कुछ न कुछ स्थान होना ही चाहिए । किसी उपयुक्त स्थान पर गायत्री माता का चित्र टाँगा जाए और यह नियम बनाया जाए कि दैनिक कार्य आरम्भ करने से पूर्व उस प्रतिमा का अभिनन्दन करके–कम से-कम पाँच मन्त्र मन जप करके तब आगे बढ़ा जाए । इसमें स्नान आदि का बन्धन नहीं है । बच्चे स्कूल जाते समय, स्त्रियाँ चूल्हा जलाते समय, पुरुष दफ्तर, दुकान पर जाते समय यह नमन-अभिनन्दन चित्र के सामने खड़े होकर कर सकते हैं । इसमें दो मिनट का समय लगता है । नियमित परम्परा को अनिवार्य बनाये रखने की दृष्टि से इतना थोड़ा समय भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । उससे आस्तिकता के संस्कार जमते और बढ़ते हैं । इसका परिणाम दृष्टिकोण में उच्चस्तरीय आदर्शों को समाविष्ट रहने का लाभ मिलता है । सायंकाल सामूहिक रूप से आरती करने की, संगीत सहगान की परम्परा डाली जाए तो एक उत्साह एवं सद्भाव सम्वर्द्धक वातावरण बनता है ।

घर के सदस्य अपने-अपने कामों में ही व्यस्त न रहें, वरन् एक-दूसरे को सुनने-समझने तथा सहयोग देने-लेने की स्थिति में भी रहें, ऐसी परम्पराएँ, पुनः प्रचलित करनी चाहिए । अधिक पढ़े-कम पढ़ों को पढ़ायें, साथ खेलें, साथ टहलें, जिसको जो आता हो–वह दूसरों को सिखायें । तेल-मालिश आदि में एक दूसरे की सहायता करें । भोजन-साथ-साथ बैठकर करें । कभी-कभी रसोई बनाने में भी सब लोग साथ-साथ जुट जाएँ । कपड़े धोने में एक साबुन लगाये तो दूसरा धोये । इस प्रकार छोटे-बड़े कामों में सर्वथा एकाकीपन रखने की अपेक्षा मिल-जुलकर करने की सहयोगी सहकारी प्रवृत्ति पनपेगी और उसका अच्छा परिणाम सामने आयेगा । बच्चों को ऐसी आदत डालनी चाहिए कि कोई मिठाई आदि आवे तो मिल-बाँटकर खायें, एकाकी अथवा अधिक खाने का अनुग्रह न करें । ऐसी आदत डालने के लिए उन्हीं के हाथ से बाँटने का कार्य कराना चाहिए । भोजन परोसने में रुचि लेने से भी उदारता के बीज जमते हैं । खिलौनों से दूसरों को भी

खिलाने की आदत डाली जाए । अपने को हथियाये रहना और दूसरे का छीनने का प्रयत्न करना–जैसी संकीर्णता पनपने नहीं देनी चाहिए । जेवर भी एक से दूसरी स्त्रियों में उलटने-पलटते रहें तो इससे विघटन आशंकाओं की जड़ कटती है । हारी-बीमारी में, हर दुःख-सुख में एक-दूसरे का पूरा ध्यान रखें । किसी के खिन्न, उदास अथवा रुष्ट होने पर उपेक्षा न बरती जाए, वरन् कारण जानने और समाधान ढूँढ़ने का प्रयत्न किया जाए । हर सदस्य को दूसरे को शिष्ट सम्बोधन के साथ पुकारें । 'तू' को असभ्य बोली माना जाए । बड़े भी छोटों को 'तू' न कहें । 'तुम' एवं 'आप' का सम्बोधन और नाम के आगे 'जी' लगाने का प्रचलन किसी परिवार को सभ्यतानुगामी सिद्ध करता है । गाली-गलौज, कटु वचन, व्यंग्य, उपहास, चीखना-चिल्लाना, रूठना-क्रोधावेश में भरना, मार-पीट करना, अपना सिर धुनना–असभ्य और अवांछनीय व्यवहार घोषित किया जाए और वैसा आचरण करने वाले की भर्त्सना की जाए । वैसा बार-बार न होने पाये, इस पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाया जाए और ऐसी उद्दण्डता रोकने की पूरे परिवार द्वारा चेष्टा की जाए । मतभेद और विरोध संघर्ष के अवसर आने पर भी शिष्टाचार का उल्लंघन न होने दिया जाए । बुराई रोकने के लिए अशिष्टता बरती जाय तो फिर सुधार कम और बिगाड़ ही अधिक होगा ।

अपव्यय किसी को न करने दिया जाए । उचित आवश्यकताओं की पूर्ति की जानी चाहिए पर पैसे को उलीचने और फूँकने की आदत नहीं पड़ने देनी चाहिए । लाड़-चाव में बच्चों को अपव्ययी बना देना–उन्हें भावी जीवन में दुःख-दारिद्र्य भुगतने का शाप देना है । पैसा कमाने में उतनी बुद्धिमत्ता नहीं, जितनी उसका खर्च करने में । स्वास्थ्य-शिक्षा आदि की उपयोगी आवश्यकताएँ पूर्ण करने में कुछ भी खर्च किया जा सकता है, पर विलासिता, ऐय्याशी एवं शान-शौकत के नाम पर अवांछनीय अपव्यय एक पाई का भी नहीं होने देना चाहिए । प्रश्न खर्च का नहीं, आदतों का है । फिजूलखर्ची का विष बीज अनैतिकता, दरिद्रता एवं हेय दुर्व्यसनों के रूप में पनपता है, अमीरी की शान फिजूलखर्ची के रूप में जो इन दिनों बढ़ रही है, उसे रोकना चाहिए । सादगी का सीधा सम्बन्ध सज्जनता से है–यह समझना और समझाना चाहिए । पैसा उड़ाने-फूँकने के लिए नहीं, अपनी अथवा दूसरों की उपयोगी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए है । यह तथ्य जब तक समझा न जाएगा, तब तक व्यक्तित्व में ओछापन ही भरा रहेगा ।

परिवार को एक सहयोग-समिति के रूप में विकसित करना चाहिए । जिसमें हर सदस्य अपने कर्त्तव्य और अधिकार की मर्यादाओं को समझें । न तो कोई पिसता रहे और न किसी को मटरगश्ती करने दी जाए । बड़े-बूढ़े भी खाली बैठना अपना अधिकार एवं सम्मान न समझें, वरन् सामर्थ्य भर श्रम करते हुए परिवार के विकास में समुचित योगदान करें । विचार-स्वतन्त्रता का सम्मान किया जाए । न किसी पर अवांछनीय प्रतिबन्ध लगे और न कोई उच्छृंखलता करते, तभी परिवार में सुसन्तुलन बना रह सकता है । हराम की कमाई खाने का लालच किसी में पैदा न होने दिया जाए । परिवार के हर सदस्य को स्वावलम्बी बनाया जाए । पूर्वजों की संचित सम्पत्ति पर गुजारा करना अशक्तता एवं लोलुपता को लज्जास्पद कृत्य माना जाए । हर व्यक्ति स्वावलम्बनपूर्वक कमाये । पूर्वजों की संचित पूँजी सामाजिक सत्कार्यों के लिए दान कर दी जाए । यही श्राद्ध की परम्परा है । उत्तराधिकार में प्रचुर सम्पदा छोड़ मरना–अपने बच्चों का पतन-हनन करना है । उन्हें सुयोग्य, स्वावलम्बी बनाया जाए और अपने परिश्रम की कमाई पर गुजारा करने में स्वाभिमान अनुभव करने दिया जाए । औलाद सात पीढ़ी तक बैठकर खाती रहे, ऐसा संचय करना–वस्तुतः समाज का हक मारना है । अतिरिक्त सम्पदा पर तत्वतः समाज का ही अधिकार होना चाहिए, उसे लोक-मंगल में ही खर्च होना चाहिए । समर्थ बालकों को हराम की कमाई न तो खानी चाहिए और न उन्हें दी जानी चाहिए । इस तथ्य को जिस परिवार में समझ लिया जाएगा, वह सम्पन्न भले ही न हो सुसंस्कृत अवश्य माना जाएगा ।

हमें समझना चाहिए कि परिवार एक पूरा समाज, एक पूरा राष्ट्र है । भले ही उसका आकार छोटा हो, पर समस्याएँ वे सभी मौजूद हैं–जो किसी राष्ट्र या समाज के सामने प्रस्तुत रहती हैं । प्रधानमन्त्री अथवा राष्ट्रपति को जो बात अपने देश को समुन्नत बनाने के लिए सोचनी-करनी चाहिए, वही सब कुछ किसी सद्गृहस्थ को परिवार-निर्माण के लिए करना चाहिए । एक कुशल माली जिस तरह अपने उद्यान को सुरम्य, सुविकसित बनाने के लिए अथक परिश्रम करता है–हर पौधे पर पूरा ध्यान रखता है, उसे सींचता-छाँटता है, उसी प्रकार परिवार के हर सदस्य को सुसंस्कृत बनाने के लिए उसके साथ नरम-कठोर व्यवहार करते रहना चाहिए । उपार्जन और गपबाजी में ही आमतौर से लोग अथवा अधिकांश समय गुजारते हैं । फलतः परिवार की उपेक्षा होती रहती है और उसमें ऐसे विषबीज पनपते रहते हैं, जिनके कारण आगे चलकर कुटुम्ब दुष्प्रवृत्तियों का फूट-फिसाद का शिकार होकर नष्ट-भ्रष्ट ही हो जाए ।

अपने समग्र व्यक्तित्व का विकास करने के लिए–गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत करने के लिए–परिवार-निर्माण के कार्यक्रम को एक उपयोगी–प्रयोग प्रकरण मानना चाहिए । यह छोटे रूप में देश-सेवा, समाज-सेवा, विश्व-सेवा ही है । अपना और परिवार के सदस्यों का कल्याण तो इसमें ही है । कहना न होगा कि इस प्रयोग में सफलता प्राप्त करने के लिए अपना निर्माण भी करना है । इस प्रकार युग-निर्माण का दूसरा चरण-परिवार-निर्माण–अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति में एक अति कड़ी सिद्ध होता है ।

वास्तविक परिवार योजना

कहा जा चुका है कि युग-निर्माण योजना के स्वरूप, शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज का दूसरा कार्यक्रम कुटुम्ब-निर्माण का है । इसे ही वास्तविक परिवार नियोजन भी कह सकते हैं, जिस प्रकार विभिन्न अवयवों के मिलने से एक शरीर बनता है उसी प्रकार कुटुम्ब के सब सदस्यों को मिलाकर एक परिवार या पूर्ण-व्यक्तित्व बनता है । घर का एक आदमी आदर्शवादी और श्रेष्ठ बने तो शेष सारा कुटुम्ब फूहड़पन का ऊबड-खावड़ जीवन व्यतीत करे, यह बहुत ही बेतुकी बात है । हम कुल्ला तो रोज कर लिया करें, मुँह भी खूब धो लिया करें, पर अन्य सारे शरीर को गन्दा ही रहने दें । स्नान और सफाई की व्यवस्था न करें तो यह कहाँ की शुद्धता मानी जाएगी । स्त्री, बच्चे, भाई, बहिन जो लोग मिल-जुलकर एक साथ एक घर में रहते हैं, एक चौके में भोजन करते हैं उनके गुण, कर्म, स्वभाव का आपस में तालमेल बैठना चाहिए । सभी को अपने आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन करना और सद्भाव में इतनी सज्जनता उत्पन्न करना आवश्यक है कि जिससे सब लोग शान्तिपूर्वक रह सकें ।

परिवार की सांस्कृतिक पाठशाला

जीवन विकास की शिक्षा का अधिकांश भाग परिवार की पाठशाला में पूर्ण होता है । परिवार के वातावरण को ही संस्कृति कहते हैं, खानदान की अच्छाई की तलाश इस पारिवारिक वातावरण के आधार पर ही की जाती है । विवाह-शादियों में लोग ऊँचे खानदान की बात बहुत बारीकी से देखा करते हैं । अब तो वह रूढ़ि मात्र रह गई, पर प्राचीनकाल में इस देख-भाल का, खानदान का मतलब परिवार ही समझा जाता था । उन्नतशील व्यक्तियों और महापुरुषों का निर्माण इस खानदानी वातावरण में पाले-पोसे जाने से ही संभव होता है । निकृष्ट परिस्थितियों के कुटुम्ब में पाले-पोसे पर कोई बिरला ही अपवाद रूप से कभी कोई विकसित व्यक्तित्व का महापुरुष बन सका होगा । इसलिए यह आवश्यक है जैसे हम अपने स्वास्थ्य, सुविधा, मनोरंजन, उपार्जन आदि की बातें सोचा करते हैं, इन समस्याओं के लिए चिन्तित रहा करते हैं, उसी प्रकार अपने ऊपर जिस परिवार का उत्तरदायित्व भगवान ने सौंपा है, उसे सभ्य, सुसंस्कृत और सुविकसित बनाने के लिए पूरा-पूरा ध्यान दें और इसके लिए जो कुछ किया जाना सम्भव हो उसे पूरी तत्परता और दिलचस्पी के साथ, एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण कार्य समझकर करते रहें । हमारे घर दीक्षा विद्यालय होने चाहिए । बच्चे स्कूल में शिक्षा प्राप्त करें, तो व्यक्तित्व के विकास की आवश्यक दीक्षा उन्हें घर में मिल सके ऐसा वातावरण उत्पन्न करना, हममें से प्रत्येक को अपना परम पवित्र कर्त्तव्य मानना चाहिए । कार्य यह भी कठिन है, भी मंद हो सकती है, पर उपेक्षा से भी काम चलने वाला नहीं है । कुछ करने से ही तो आगे बढ़ना सम्भव होगा ।

परिवार विकास की आवश्यकता

साधना-स्वाध्याय और आत्मोन्नति के लिए परमार्थ के लिए छोड़े गये छह घंटों में से आधा समय अर्थात् तीन घंटे खर्च किये जा सकते हैं । शेष तीन घंटे परिवार और समाज की सेवा में लगाने चाहिए, जिन्हें अपना परिवार सभ्य और सुविकसित देखना हो तो उन्हें कम से कम एक घंटा अपनी परिवार-गोष्ठी के लिए बिल्कुल निश्चित रूप में नियत रखना चाहिए । जब सब लोग फुरसत में होते हैं तब परिवार की दैनिक समस्याओं पर विचार- विनिमय करने के लिए एक नियम समय पर ज्ञान-गोष्ठी का कार्यक्रम रखा जाया करे । आज के दिन किसके मन में क्या भले-बुरे भाव उठे और क्या प्रिय-अप्रिय परिस्थितियों का सामना करना पड़ा इसकी चर्चा इस गोष्ठी में की जानी रहनी चाहिए और उलझनों को सुलझाने वाले सुझाव भी साथ-साथ ही प्रस्तुत किये जाते रहने चाहिए ।

समाचार पत्रों में छपती रहने वाली, अपने आस-पास घटित होते रहने वाली, घटनाओं से लेकर उनकी आलोचना और समीक्षा इस दृष्टिकोण को लेकर की जानी चाहिए कि उस समीक्षा के प्रभाव से अपने परिवार को दुष्टों और दुष्टताओं से सावधान रहने और सज्जनों एवं सत्कर्मों की ओर अभिमुख होने की प्रेरणा मिले । पौराणिक उपन्यास, कहानियों के माध्यम से भी इस प्रकार का शिक्षण हो सकता है । कहानी कहना भी एक बड़ी महत्त्वपूर्ण कला है और परिवार निर्माण के लिए तो उसकी उपयोगिता बहुत ही अधिक है । व्याख्यान, प्रवचन, भजन, सत्संग आदि के कार्यक्रम सभा-सोसाइटियों के उपयुक्त हो सकते हैं पर घर की दैनिक गोष्ठियों में उनका विशेष उपयोग नहीं है । उनमें कृत्रिमता का पुट अधिक रहने से नये-नये लोगों पर ही प्रभाव पड़ता है । घर में सीधी-सादी बातें ही कारगर होती हैं । चर्चा, समीक्षा, विचार-विनिमय, गप-शप, कहानी आदि के हलके-फुलके तरीके न तो किसी के मस्तिष्क पर भार बनते हैं और न उन्हें सुनाते-सुनते कोई ऊबता है । इसलिए परिवार का प्रशिक्षण इन्हीं साधनों के आधार पर किया जाना चाहिए । हमारी दैनिक परिवार ज्ञान गोष्ठियों की प्रक्रिया ही गतिमान हो सकती है ।

अभिभावकों का उत्तरदायित्व

कोई अभिभावक अपने स्त्री, बच्चों के लिए, परिजनों के लिए भोजन, वस्त्र, दवा, फीस, किताब, जेबखर्च, मनो-विनोद आदि का प्रबन्ध कर देने मात्र से अपने कर्त्तव्यों से उऋण नहीं हो सकता । पैसे खर्च करके जो लोग अपने पारिवारिक कर्त्तव्यों को पूरा किया मानते हैं, वे भारी भूल करते हैं । सुसंस्कारों का प्रदान करना एवं उनकी मनोभूमि को सुरुचिपूर्ण, सुसंस्कृत बनाना भी उन्हीं का काम है, इसके बिना अधिकांश उत्तरदायित्व अपूर्ण ही

माना जाएगा। स्कूलों में शिक्षा मिल सकती है दीक्षा नहीं, संस्कृति की दीक्षा तो उसी वातावरण में मिलती है जहाँ मनुष्य रहता है। प्राचीनकाल में ऋषि अपने शिष्यों की शिक्षा और दीक्षा दोनों का ही प्रबन्ध अपने आश्रमों में रखकर किया करते थे। वे आश्रम छात्रों के घर भी थे और शिक्षालय भी। गुरुकुलों में सर्वाङ्गपूर्ण विकास का वातावरण रहता था और उनमें पलकर बालक अपने भावी जीवन को समुन्नत बनाने की शिक्षा-साधना किया करते थे। आज वैसा वातावरण बाहर कहीं नहीं दीखता। अब यह कार्य प्रत्येक अभिभावक को स्वयं करना पड़ेगा। अपने घर का वातावरण ऐसा बनाना पड़ेगा जिसमें रहने और साँस लेने से परिवार का प्रत्येक व्यक्ति सभ्य नागरिक बनने की सुविधा प्राप्त कर सके। हमारे घरों को दीक्षा विद्यालयों में परिणत होना चाहिए, बड़ों का जीवन ऐसा हो जिसे देखकर छोटे यह प्रभाव अनायास ही ग्रहण कर लें और स्वयं भी आगे वैसे ही बनने और ढलने की तैयारी करें। एक घण्टे की ज्ञान-गोष्ठी के अतिरिक्त निरन्तर अपने परिवार की गतिविधियों पर दृष्टि रखें और समय-समय पर परिजनों का प्रेम, शांति, धैर्य एवं सज्जनता के साथ आवश्यक मार्ग-दर्शन करते रहें तो उसका प्रभाव घर के वातावरण को प्रभावित करता ही रहेगा।

प्रणाली और प्रक्रिया सीखिये

कई व्यक्ति अपने परिवार को सुसंस्कृत तो बनाना चाहते हैं पर इसके लिए केवल अपशब्द कहना, क्रोधित रहना, निन्दा करना, गाली-गलौज या मारपीट करना जैसे बेहूदे तरीके ही उनके पास होते हैं। इन उपायों से किसी का सुधर सकना तो दूर, उलटे अधिक बिगड़ने, चिड़चिड़े होने और विरोधी बनने का ही परिणाम सामने आ सकता है। जिस प्रकार स्कूल के बच्चों को पढ़ाने के लिए अध्यापकों को पढ़ाने की ट्रेनिंग अलग से लेनी पड़ती है उसी प्रकार अभिभावकों को, गृहस्वामियों और कुलपतियों को भी अपने परिवार का प्रशिक्षण करने की क्रमबद्ध शिक्षा प्राप्त करनी पड़ेगी। दुःख की बात है कि जहाँ मशीनें चलाने और नौकरी करने जैसे कामों की ट्रेनिंग के लिए अनेक स्थानों पर प्रशिक्षण चलते हैं वहाँ अपना जीवन भलमनसाहत के साथ जीने और अपने अंगभूत परिवार को सुसंस्कृत बनाने की क्षमता प्राप्त करने का कोई प्रशिक्षण संस्थान नहीं है। लगता है कि अभाव की पूर्ति के लिए भी हमें ही एक व्यापक और प्रभावपूर्ण व्यवस्था बनानी पड़ेगी। जब तक ऐसी कोई व्यावहारिक शिक्षण व्यवस्था नहीं बन जाती तब तक अखण्ड ज्योति के पृष्ठों में ही बहुत कुछ मार्गदर्शन प्रस्तुत किया जाता रहेगा।

जो हो, हमें आत्म-निर्माण और परिवार-निर्माण की उपयोगिता और आवश्यकता समझनी ही होगी और आज की परिस्थितियों के अनुसार हमें कुछ न कुछ सोचने और करने के लिए कटिबद्ध होना ही पड़ेगा। युग-निर्माण का श्रीगणेश और शुभारम्भ इसी प्रकार तो होने वाला है।

'समाज-निर्माण' अपने कर्त्तव्य का तीसरा चरण

व्यक्ति सुखी रहे, इसके लिए समुन्नत समाज की आवश्यकता है। समुन्नत समाज भी अपने आप नहीं बन जाता, उसे उत्कृष्ट नेतृत्व में अग्रगामी सज्जनों का समूह विनिर्मित करता है। जब श्रेष्ठ व्यक्ति घट जाते हैं और सामाजिक वातावरण में उत्कृष्टता बनाये रखने के रचनात्मक प्रयास शिथिल हो जाते हैं, तो समाज का स्तर गिर जाता है। समाज गिरेगा तो उस काल के व्यक्ति भी निकृष्ट अधःपतित और दीन-दुर्बल बनते चले जाएँगे। अच्छा समाज, अच्छे व्यक्ति उत्पन्न करता है और अच्छे व्यक्ति अच्छा समाज बनाते हैं। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। मुर्गी में से अण्डा या अण्डे में से मुर्गी? बीज में से वृक्ष अथवा वृक्ष में से बीज की तरह हैं। यह प्रश्न भी है कि व्यक्तियों से समाज अथवा समाज से व्यक्ति? वस्तुतः दोनों इतने अविच्छिन्न हैं कि उन्हें प्रथक किया ही नहीं जा सकता है। अच्छे व्यक्तियों की आवश्यकता हो तो अच्छा समाज बनाने के लिए जुटना चाहिए। अच्छा समाज बनाने पर ही श्रेष्ठ व्यक्तित्व की आवश्यकता पूरी होगी। सुख-साधनों का अभिवर्धन और समुन्नत लोक-व्यवहार का प्रचलन ही सर्वतोमुखी सुख-शान्ति की आवश्यकता पूरी करता है और इस प्रकार का उत्पादन प्रखर प्रतिभा सम्पन्न सुसंस्कृत व्यक्ति ही कर सकने में समर्थ होते हैं।

निजी स्वार्थ-सिद्धि से विचारें अथवा परिवार के हित-साधन की दृष्टि से देखें—दोनों ही तरह यह आवश्यक हो जाता है कि सुसंस्कृत-समाज में रहकर ही निर्वाह करने का अवसर मिले। बुरे लोगों के बीच, बुरे वातावरण में—अपनी तथा परिवार की प्रगति के लिए किये गए सारे प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। जिस मुहल्ले में आग लगी हो, हैजा फैला हो—उसमें रहने वाले स्वच्छता प्रिय अथवा जागरूक लोगों की भी सुरक्षा नहीं होती। सूखे के साथ गीला जलने की कहावत चरितार्थ होती है। चोरों और दुष्टों के पड़ौस में रहकर कोई सज्जन भी चैन से नहीं बैठ सकता। बैठना चाहे तो भी वे दुष्ट लोग शान्त रहने न देंगे। उपद्रव खड़े करके सन्तुलन बिगाड़ेंगे। अपने परिवार को सुसंस्कृत बनाने के लिए कुछ भी क्यों न किया जाता रहे, पड़ौस की गन्दी हवा अपना प्रभाव छोड़ेगी और निकृष्टता का आकर्षण कुटुम्बियों में भी उसी प्रकार की दुर्बुद्धि के संस्कार पैदा करेगा। वेश्याओं के पड़ौस में रहकर—उनकी हरकतें भर देखते रहा जाए तो सदाचार की मानसिक मर्यादाएँ टूटे बिना न रहेंगी।

समाज में अनैतिक, अवांछनीय, अपराधी-तत्व भरे पड़े हों तो उनकी हलचलें, हरकतें-किसी सन्त, सज्जन उत्कृष्टता को सुरक्षित नहीं रहने दे सकतीं। विकृत में असीम विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं और अनेक

विग्रह उत्पन्न करती हैं । उनकी लपेट में आये बिना कोई नीतिवान् व्यक्ति भी रह नहीं सकता । उसे प्रत्यक्ष एवं परोक्ष आक्रमणों का शिकार होना पड़ेगा । जहाँ खाद्य-पदार्थों में मिलावट का बोलवाला हो–वहाँ स्वास्थ्य-रक्षा पर ध्यान रखे रहने वाला व्यक्ति भी बीमार पड़े बिना नहीं रह सकता ।

कुरीतियों और रूढ़ियों से भरे समाज में सामान्य मनोबल का सुधारवादी–चीं बोल जाएगा और उसे सिद्धान्तवाद ताक पर रखते हुए समूहगत प्रवाह में बहने के लिए बाध्य होना पड़ेगा । दहेज के विरोधी और आदर्श-विवाहों के समर्थक को भी जब अपनी जवान कन्या के लिए विवाह का कोई सुयोग बनता नहीं दीखता तो जाति -बिरादरी वालों और दहेज-लोभियों को शरण में ही जाना पड़ता है और उनके इशारे पर चलने के लिए विवश होना पड़ता है । सुविस्तृत समाज के विरुद्ध एकाकी खड़े रहने वाले तो कोई विरले ही सुस्साहसी होते हैं, सामान्य मनोबल के लोग तो लड़खड़ा ही जाते हैं ।

शिक्षा में उद्दण्डता भरती चली जाए तो न तो अपनी लड़की की गृहस्थी चैन से रहेगी और न बेटे की बहू घर में शान्ति रहने देगी । क्या जामाता, क्या पुत्र-वधू ? निकले तो उसी शिक्षा-संस्था से हैं, जहाँ–उच्छृंखलता का निरन्तर बोलवाला रहता है । यह बच्चे जिस प्रकार का प्रशिक्षण पाते रहे हैं, उसका प्रभाव उनके गृहस्थ पर न पड़े-यह हो ही नहीं सकता । 'देश व शिक्षा-पद्धति से हमें क्या लेना-देना' कहकर काम नहीं चल सकता । उसका प्रभाव अपने बच्चों के गृहस्थ-जीवन पर पड़ेगा ही और फलस्वरूप अपनी बेचैनी भी बढ़ेगी ही ।

इसी प्रकार शासन की स्थिति, व्यापारियों की रीति-नीति, अपराधों और अनैतिकता की वृद्धि, साहित्य और कला-संगीत का प्रवाह, मूर्धन्य व्यक्तियों का कर्तृत्व –वर्ग-संघर्ष आदि की विषाक्तता-किसी सज्जन, सद्गृहस्थ को शान्तिपूर्वक जीवन-यापन नहीं करने दे सकती । वास्तविकता यही है कि व्यक्ति एकाकी निर्वाह नहीं कर सकता, उसे समाज से प्रभावित होना ही पड़ता है । इतना ही नहीं, उस प्रवाह में जन-साधारण की पीढ़ियों का मनःस्तर अनायास ही ढलता चला जाता है । बुरे वातावरण में केवल बुराई ही पनपती है, बुरे लोग बढ़ते हैं और उनके उपद्रवों से बुरी परिस्थितियाँ ही उफनती हैं । ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत रूप से किया गया स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, पूजा, पाठ अथवा सज्जनोचित निर्वाह में कुछ सार नहीं रह जाता ।

व्यक्ति-निर्माण और परिवार-निर्माण की तरह ही समाज-निर्माण भी हमारे अत्यन्त आवश्यक दैनिक कार्यक्रमों का अंग माना जाना चाहिए । अपने लिए हम जितना श्रम, समय, मनोयोग एवं धन खर्च करते हैं, उतना ही समाज को समुन्नत, सुसंस्कृत बनाने के लिए लगाना चाहिए । यह परोपकार परमार्थ की दृष्टि से ही नहीं, विशुद्ध स्वार्थ-साधन और सुरक्षा की दृष्टि से भी आवश्यक है ।

अपनी क्षुद्रता को संकीर्णता को व्यापक आत्मीयता में विकसित करना ही अध्यात्म तत्व-दर्शन का मूलभूत प्रयोजन है । इस दृष्टिकोण को अपनाने पर ही संयम, सदाचार, सेवा एवं लोक-मंगल के लिए-संकल्प एवं उत्साह उत्पन्न होता है और उन्हें निरन्तर निबाहने के लिए साहस, विश्वास बढ़ता है । ईश्वर-भक्ति इस तात्विक दृष्टि का नाम है । इसी तत्व-दर्शन का प्रतिपादन करने के लिए धर्म, अध्यात्म एवं ईश्वरवाद का विशालकाय कलेवर खड़ा किया गया है । स्वर्ग और मुक्ति जैसे अमरफल आत्म-विस्तार के कल्पवृक्ष पर ही लगते हैं । साधना, उपासना, तपश्चर्या, योग-परायणता, वैराग्य, संन्यास, दान-पुण्य, स्वाध्याय, सत्संग एवं विविध-विधि धर्म-कृत्यों का एकमात्र प्रयोजन यही है कि आत्मा पर चढ़े हुए संकीर्ण-स्वार्थपरता के वे कषाय-कल्मष हट जायँ, जो वासना-तृष्णा के–लोभ-मोह के भव-बन्धनों में जकड़े रहते हैं । नरक कोई स्थान नहीं, संकीर्ण-स्वार्थपरता की, निकृष्ट दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया मात्र है । उदारता एवं सेवा-साधना के जल-साबुन से ही मनःक्षेत्र पर छाई हुई मलीनताएँ धोई जाती हैं । यह समस्त प्रयोजन समाज-सेवा का व्रत धारण किये बिना सम्भव नहीं हो सकते । सेवा-धर्म को अंगीकार किए बिना कोई व्यक्ति मात्र पूजा-पाठ की टण्टघण्ट अपनाये रहकर सच्चा अध्यात्मवादी नहीं बन सकता और न उसे आत्मिक प्रगति का लाभ मिल सकता है ।

प्राचीनकाल में साधु और ब्राह्मण वर्ग अपना समस्त जीवन लोक-मंगल के लिए समर्पित करते थे । वानप्रस्थ-आश्रम स्वार्थ की परिधि से निकलकर परमार्थ की कक्षा में प्रवेश करने की सन्धि बेला ही तो है । क्षुद्रता की-संकीर्णता को–आत्मवत् सर्वभूतेषु, वसुधैव कुटुम्बकम् कार्यक्रम वानप्रस्थ के रूप में आप्त-पुरुषों ने निर्धारित किया है । भारतीय संस्कृति की सुनिश्चित परम्परा है कि वैयक्तिक और पारिवारिक प्रयोजनों के लिए किसी को भी आधे से अधिक समय एवं मनोयोग नहीं लगाना चाहिए ।

जीवन का पूर्वार्द्ध–ब्रह्मचर्य-गृहस्थ की भौतिक-प्रगति के लिए पर्याप्त है । उत्तरार्द्ध को-वानप्रस्थ एवं संन्यास के रूप में समाज के लिए समर्पित करना चाहिए । यह विधान इसीलिए है कि व्यक्ति को अपना महत्त्वपूर्ण अनुदान समाज-निर्माण के लिए देना चाहिए । दान-पुण्य का जो महात्म्य महत्व बताया गया है, उसके पीछे जो यही प्रयोजन है ।

प्राचीनकाल में साधु-ब्राह्मण उन्हें कहते थे, जो लोक-मंगल के लिए 'सर्वतोभावेन' आत्म-दान करके उसी में तन्मय निमग्न हो जाएँ । उन दिनों देवालयों और तीर्थस्थानों का निर्माण–जन-कल्याण के लिए संचालित प्रवृत्तियों के केन्द्र संस्थान के रूप में होता था । उनका संचालन ऋषि-कल्प, देव-पुरुषों के हाथ में रहता था । जनता भी इस झंझट में नहीं पड़ती थी कि इन दिनों किन सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन को प्राथमिकता दी जाए ? यह निर्णय साधु-ब्राह्मणों की परिषद् ही करती थी ।

धार्मिक जनता साधु-ब्राह्मणों को-तीर्थ, देवालयों को दान इसी के लिए देती थी कि उसके द्वारा समाज में सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन का प्रयोजन पूरा होता रहे । इन लोक-सेवा के निमित्त बने धर्म-केन्द्रों को भगवान का निवास-गृह माना जाता था और वहाँ जाकर लोग श्रद्धा से मस्तक नवाते थे एवं संचालित सत्प्रवृत्तियों में योगदान देने की प्रेरणा प्राप्त करते थे । तीर्थ में विशेष समारोह भी समय-समय पर इसी आह्वान के लिए होते थे कि इन अवसरों पर अधिक संख्या में, अधिक भावना-सम्पन्न लोग एकत्रित हों और समाज-निर्माण के लिए तत्कालीन योजनाओं को अग्रगामी बनाने के लिए व्यावहारिक मार्ग-दर्शन एवं अभीष्ट उत्साह प्राप्त करें । समय दान, श्रम दान, धन दान का एक मात्र उद्देश्य समाज के पिछड़ेपन को दूर करना, पिछड़े वर्गों को ऊँचा उठाना है । इस प्रयोजन को पूरा करने वाले व्यक्तियों तथा संगठनों का पोषण करना है ।

पिछड़े वर्ग में अन्धे, कोढ़ी, अपंग, दीन, दुर्बल ही नहीं आते, वरन् ऐसे अज्ञानी, कुमार्गगामी, उद्दण्ड एवं दुराग्रही भी आते हैं-जो औचित्य एवं विवेक का तिरस्कार करते, अवांछनीय लोक-प्रवाह में बहते हुए आ रहे हैं । अन्न-वस्त्र अन्धे-अपंगों को बाँटने भर से समाज-सेवा की इतिश्री नहीं हो जाती, वरन् उनकी सहायता का भी ध्यान रखना चाहिए-जो अविवेक का शिकार होकर घिनौना और दुराग्रही जीवन जी रहे हैं, वस्तुतः यह वर्ग और भी अधिक दया का पात्र है । सत्प्रेरणाएँ देकर यदि सन्मार्गगामी बनाया जा सके तो गन्दे नाले में गिरकर नष्ट होने वाली महत्त्वपूर्ण शक्ति को बचाया और उपयोगी प्रयोजनों में लगाया जा सकता है । इसमें उन भूले-भटकों का भी कल्याण होता है और समाज को ऊँचा उठने का भी अवसर मिलता है । विचार-क्रान्ति एवं ज्ञान-यज्ञ की पुण्य-प्रक्रिया ज्ञान-दान के जिस महान उद्देश्य को पूर्ण करती है, उसे अन्न-वस्त्र दान की तुलना में लाख-करोड़ गुना अधिक श्रेयस्कर, सत्परिणामोत्पादक माना जाएगा ।

अपने समाज में आज अगणित दुष्प्रवृत्ति संव्याप्त है । असंख्य उलझी हुई समस्याएँ सामने हैं । कष्ट, कलह और शोक-सन्ताप के असीम कारण मौजूद हैं । इन विकृतियों के दुष्परिणाम पग-पग पर भुगतने पड़ रहे हैं । मनुष्य पतित और दुष्ट बनता जा रहा है । अपने और दूसरों के लिए विपत्तियाँ और विभीषिकाएँ उत्पन्न कर रहा है, इस समस्त विशृंखलता की जड में व्यापक दुर्बुद्धि ही उफनती दिखाई देती है । चिन्तन का स्तर निकृष्टता के दल-दल में फँस जाने से उत्पन्न विग्रह की चीख-पुकार ही आज दसों दिशाओं में कुहराम गूँज रहा है । संसार में न तो वस्तुओं का अभाव है और न उपयुक्त परिस्थितियों में कोई कमी है, विपत्ति केवल दुर्बुद्धि की उत्पन्न की हुई है । सद्भावों का स्थान दुर्भावों ने-सत्प्रवृत्तियों के स्थान दुष्प्रवृत्तियों ने पकड़ लिया है । फलस्वरूप जो वस्तुएँ सुख-शान्ति एवं प्रगति के अभिवर्द्धन में लग सकती थी, वे ही विपत्तियाँ एवं उलझनें बढ़ाने में प्रयुक्त हो रही हैं । प्रगति के स्थान पर अधोगति पल्ले बँध रही है । इसका निराकरण फुन्सियों पर मरहम लगाने से नहीं, रक्त-शुद्धि का उपचार करने से होगा । अमुक कठिनाई को अमुक उपाय से हल करने की बात सोचना मुरझाये पेड़ की पत्तियाँ धोने की तरह हैं, इससे कुछ बनेगा नहीं । काम तो जड़ सींचने से चलेगा ।

जीवन के हर क्षेत्र में-समाज के हर वर्ग में दुष्प्रवृत्तियों ने गहराई तक जड़ें जमा ली हैं । फलस्वरूप हर दिशा में संकटों के दानव सर्वभक्षी नग्न-नर्तन कर रहे हैं । लड़ना हमें उस दुर्बुद्धि से है, जो समस्त विपत्तियों की जननी है । समाज-सेवा के यों छुट-पुट उपाय भी बहुत हैं और उन्हें खड़ा करने वाले को थोड़ा यश भी मिल जाता है, पर इससे संकट के मूल प्रयोजन को टालने में रत्तीभर भी सहायता नहीं मिलती । अन्न-क्षेत्र, सदावर्त, प्याऊ, धर्मशाला, दवाखाना, बगीचा, मन्दिर आदि स्थापित करने वाले 'धर्मात्मा' कहलाने की वाहवाही प्राप्त कर सकते हैं । आत्म-विज्ञापन का लाभ तो इसमें प्रत्यक्ष है, पर विश्व-संकट की छाई हुई घटाओं को खिसकाने में इससे तनिक भी सहायता नहीं मिलती । दुर्बुद्धि से लड़ने के लिए विचार-क्रान्ति का गाण्डीव उठाना पड़ेगा और पाञ्चजन्य बजाना पड़ेगा । परशुराम के फरसे को संभालकर निकृष्ट-चिन्तन के परिवार का सिर उतारना पड़ेगा । किसी समय रावण, कुम्भकरण, कंस, जरासन्ध, दुर्योधन, दुःशासन, महिषासुर, मधुकैटभ, वृत्रासुर, हिरण्यकश्यप आदि का दमन धर्म-स्थापना के लिए आवश्यक माना गया था । आज दुष्प्रवृत्तियों के परिपोषक ज्ञान का कलेवर ओढ़कर नग्न नृत्य करने वाले अज्ञानरूपी महादैत्य का दमन करना पड़ेगा । विचार-क्रान्ति किए बिना समाज-निर्माण की आधार-शिला नहीं रखी जा सकेगी । ज्ञान यज्ञ के बिना सुख-शान्ति एवं प्रगति की सर्वतोमुखी सम्भावनाएँ प्रस्तुत कर सकने वाले नव-युग का अवतरण नहीं हो सकेगा । हमें हनुमान आदि की तरह, पाण्डवों की तरह-धर्म की स्थापना कर सकने वाले अधर्म विरोधी अभियान में अपने आप को झोंकना चाहिए । गोवर्धन उठाने में योगदान देने वाले ग्वाल-बालों की तरह अपनी भूमिका उत्साहपूर्वक सम्पन्न करनी चाहिए । भले ही वह देखने में कितनी ही नगण्य क्यों न हो ।

युग निर्माण योजना का तीसरा चरण समाज-निर्माण का है । आत्म-निर्माण और परिवार-निर्माण के समान ही उसकी भी महत्ता, उपयोगिता है । संगठनात्मक, प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक कार्यक्रमों के अन्तर्गत समाज-निर्माण की जो सुव्यवस्थित क्रिया-प्रक्रिया प्रस्तुत की गई है, उसमें उन सभी तत्वों का समावेश है-जो आज की स्थिति में समाजोत्थान के सुनिश्चित आधार बन सकते हैं । विचार-विस्तार जैसा व्यापक और महान् प्रयोजन संगठित संस्थान ही कर सकते हैं । वह मिल-जुलकर करने का काम है । एक व्यक्ति चाहे कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, जन-सम्पर्क का कार्य बड़े

पैमाने पर नहीं कर सकता । इस युग की सबसे बड़ी सामर्थ्य 'संघ-शक्ति' ही है । जहाँ भी युग-निर्माण विचारधारा से परिचित प्रभावित लोग हों, वहाँ उन्हें संघबद्ध होना चाहिए और युग-निर्माण शाखा-संगठन खड़ा कर लेना चाहिए । प्रतिदिन १० पैसा और एक घण्टा समय नव-निर्माण आन्दोलन के लिए नियमित रूप से देते रहने वाला कोई भी व्यक्ति इस शाखा-संगठन का सदस्य बन सकता है । पदाधिकारी एक ही होता है, जिसे कार्य-वाहक कहते हैं ।

संगठन का प्रथम और प्रमुख कार्य विचार-क्रान्ति की भूमिका प्रस्तुत करना है । इसके लिए झोला-पुस्तकालय ज्ञान-रथ, विज्ञप्ति-वितरण, पोस्टर चिपकाना, दीवार-लेखन आदि कार्य हाथ में लेने होते हैं । साप्ताहिक-सत्संग कथा, कीर्तन, विचार-गोष्ठियाँ, युग-निर्माण सम्मेलन कविता-सम्मेलन, संगीत-सम्मेलन, गायत्री-यज्ञ, जन्म-दिन, विवाह-दिन, संस्कार, पर्व-आयोजन आदि के माध्यम से जन-सम्मेलनों के प्रचार अभियान को आगे बढ़ाया जाता है । पढ़े-लिखों को साहित्य पढ़ाकर और बिना पढ़ों को प्रतिपादनों को सुनाकर विचार-परिष्कार का प्रयास किया जाता है । 'मस्तिष्कीय धुलाई' का नाम ही ज्ञान-यज्ञ है । पिछले अज्ञानान्धकार-युग की अनैतिकताएँ, कुरीतियाँ, मूढ़ताएँ, अन्ध-मान्यताएँ, संकीर्णताएँ अभी भी हमारे मस्तिष्कों में कूट-कूट कर भरी हैं । मनुष्य बेतरह व्यक्तिवादी और स्वार्थान्ध बना हुआ है । लोक-मंगल, परमार्थ प्रयोजन एवं समाज-उत्थान में हमारा क्या योगदान होना चाहिए ? यह बात एक तरह से भुला ही दी गई है । अध्यात्म दर्शन तक सिद्धि-चमत्कार, स्वर्ग, मुक्ति और मनोकामना पूर्ति की सड़ी दुर्गन्ध में फँसकर रह गया है । लोक-मंगल के उद्देश्य से यह ढाँचा खड़ा किया गया था, वह किसी को ध्यान ही नहीं । प्रातःस्नान करके पाप-फल से बचाव और सस्ते कर्मकाण्ड करके स्वर्ग का अक्षय-पुण्य प्राप्त करने के लालच में जैसे-तैसे लोग कुछ धार्मिक टण्ट-घण्ट करते हैं । संयम-सेवा की कर्त्तव्य-निष्ठा तो एक प्रकार से धर्म-प्रयोजनों में से हटा ही दी गई है । जब धर्म-अध्यात्म का यह हाल है, तो अन्य क्षेत्रों में अनाचार की सड़ाँध जितनी कुछ पनपे-कम है । इस स्थिति को बदलने के लिए क्रान्तिकारी विचारधारा का लोक-मानस में प्रवेश कराया जाना आवश्यक है । उखाड़ने के साथ-साथ उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श-कर्तृत्व की प्रेरणा भरने वाले तत्वज्ञान की स्थापना भी आवश्यक है । युग-निर्माण साहित्य द्वारा इन्हीं प्रयोजनों की पूर्ति की जा रही है । लेखनी और वाणी के दोनों माध्यमों के ज्ञान-यज्ञ को ज्योतिर्मय बनाने के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है । हम में से प्रत्येक को इन संगठनात्मक और प्रचारात्मक कार्यक्रमों में उत्साहपूर्वक अपना भाव भरा योगदान देना चाहिए ।

समाज-निर्माण का आधार बनाने वाले संगठनात्मक और प्रचारात्मक पूर्वार्द्ध की जहाँ जड़ जमने लगे, वहाँ अभियान का उत्तरार्द्ध कार्यान्वित किया जाना चाहिए । युग-निर्माण पाठशाला, शिल्पशाला, प्रौढ़-शिक्षा, पुस्तकालय, व्यायामशाला आदि की स्थापना और संचालन-व्यवस्था बनाई जानी चाहिए । शाखाओं की समर्थता प्रसिद्ध करने वाले, ज्ञान-रथ, लाउडस्पीकर, स्लाइड-प्रोजेक्टर, टेप-रिकॉर्डर, यज्ञ-आच्छादन आदि उपकरण एकत्रित करने चाहिए और उनके माध्यम से जन-जागरण का अभियान तीव्र करना चाहिए । सामूहिक श्रमदान की परम्परा जहाँ भी चल पड़ेगी, वहाँ अनेक रचनात्मक कार्य सहज ही बढ़ने लगेंगे । सहकारी आन्दोलन को प्रोत्साहित किया जा सके तो सृजन की असंख्य प्रवृत्तियाँ सहज ही सामने खड़ी हो सकती हैं ।

संघर्षात्मक आन्दोलनों में कुरीतियों और अनैतिकताओं के दुहरे मोर्चे पर लड़ा जाना आवश्यक है । विवाहोन्माद में होने वाला अपव्यय, दहेज-प्रचलन रोकने के लिए हमें युद्ध स्तर पर तीव्र आन्दोलन खड़ा करना चाहिए और देश को निरन्तर खोखला, अनैतिक और दरिद्र बनाते जाने वाले इस अनाचार का हर सम्भव उपाय डटकर विरोध करना चाहिए । मृतक-भोज, भिक्षा-व्यवसाय, धर्म-क्षेत्र पर छाया हुआ पुरोहितवाद, भूत-पलीत, भाग्यवाद, धर्म के नाम पर पशु-बलि, विवाह, अनमेल-विवाह, जन्म-जाति के नाम पर ऊँच-नीच की मान्यता, पर्दा-प्रथा, लड़की-लड़के की असमानता, स्त्री और शूद्रों के प्रति अमानवी प्रतिबन्ध ऐसे हैं, जिन्हें अविलम्ब हटाया जाना चाहिए । नैतिक क्षेत्र में माँसाहार, नशेबाजी, आलस्य, श्रम की अप्रतिष्ठा, पशुओं के साथ बरती जाने वाली निर्दयता, भ्रष्टाचार, चोरी, बेईमानी, रिश्वत, जमाखोरी, मुनाफाखोरी, सन्तान की अवांछनीय अभिवृद्धि, गन्दगी, फिजूलखर्ची, नागरिक-कर्त्तव्यों की उपेक्षा, समय की बर्बादी, उद्दण्डता उच्छृंखलता आदि अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं, जिन्हें सहन किया जाता रहा तो इस नासूर से सारा समाज शरीर ही सड़ जाएगा ।

अनाचार प्रायः हर क्षेत्र मे अपनी जड़ें गहरी करता चला जा रहा है । इसके खतरों से जनसाधारण को सचेत किया जाना चाहिए । लोक-मानस में अवांछनीयता के प्रति विरोध, असहयोग एवं विद्रोह की भावनाएँ जगाई जानी चाहिए । कुड़कुड़ाते रहने की अपेक्षा अनीति से जूझने की संघर्षात्मक चेतना उभारी जानी चाहिए और उसका सजीव मार्ग-दर्शन हमें आगे बढ़कर करना चाहिए । ऐसे संघर्ष को आगे बढ़ाने वाले को प्रतिपक्षियों का आक्रमण सहना पड़ता है और तरह-तरह की क्षति उठानी पड़ती है । इसके सहने के लिए जिनमें धैर्य, शौर्य, सन्तुलन और साहस हो, उन्हें आगे बढ़कर संघर्ष का मोर्चा संभालना चाहिए । कम से कम इतना तो संघर्ष मोर्चे पर हम में से हर किसी को करना चाहिए कि अनीति एवं अनौचित्य के साथ कोई सम्बन्ध न रखें–समर्थन न करें–सहयोग न दें । उससे पूरी तरह अलग रहें और समय-समय पर अपने असहयोग एवं विरोध को व्यक्त करते रहें । दुर्बल और असंगठित स्थिति

में इस 'असहयोग' से भी काम चल सकता है । आगे बढ़ना हो तो विरोध व्यक्त करने के लिए लेखनी, वाणी और प्रदर्शन जैसे साधनों का उपयोग किया जा सकता है । सत्याग्रह, घिराव, भर्त्सना, धिक्कार और दूसरे प्रतिरोधात्मक उपाय भी काम में लाये जा सकते हैं । कहाँ, किस अनीति के विरुद्ध क्या काम उठाया जाए ? इसका निर्णय अपने पक्ष के साहस और संगठन पर निर्भर करता है । जहाँ जो सम्भव हो-अनीति के विरुद्ध मोर्चा बनाया ही जाना चाहिए -तांकि आततायी, अनाचारियों को निर्भय होकर कुछ भी करते रहने की छूट न मिले ।

समाज-निर्माण के लिए हमें सृजन-सेना का सैनिक बनकर संगठनात्मक, प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक मोर्चे सँभालने चाहिए । इसके लिए अपने समय और साधनों का अधिकाधिक अनुदान विश्व-मानव के चरणों पर समर्पित करना चाहिए । साधारणतया आठ घण्टे आजीविका उपार्जन के लिए, सात घण्टा शयन-विश्राम के लिए, पाँच घण्टा घरेलू और शारीरिक कामों के लिए, कुल मिलाकर २० घण्टे निजी कामों में खर्च करने चाहिए और ४ घण्टे समाज-निर्माण की उपरोक्त चार क्रिया-प्रक्रियाओं में लगाने चाहिए । एक घण्टा समय और दस पैसा प्रतिदिन विचार-क्रान्ति के लिए लगाना तो आरम्भिक सदस्यता शर्त है । कर्मठ कार्यकर्त्ताओं को एक न्यूनतम अनुदान तक सीमित न रहकर बढ़े-बढ़े त्याग, बलिदान का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए । महीने में एक दिन की आजीविका समाज-निर्माण के लिए हर उदार व्यक्ति आसानी से खर्च कर सकता है । यों यदि हृदय में विशालता हो तो घर-परिवार के एक सदस्य के रूप में युग-परिवर्तन के देवता को-महाकाल को गिना जा सकता है । समझा जा सकता है कि यदि एक सन्तान और होती तो उसका भी किसी प्रकार भरण-पोषण करना ही पड़ता । वैसा मानकर चला जाए । तो निर्धन व्यक्ति भी इस महान् प्रयोजन के लिए अपना अनुकरणीय अनुदान आर्थिक स्तर पर भी प्रस्तुत कर सकता है । समय, श्रम, प्रभाव, मनोयोग एवं धन जैसे समस्त साधनों की बड़ी-बड़ी मात्रा हमें युग-देवता के सम्मुख प्रस्तुत करनी चाहिए । पेट और प्रजनन के लिए, लोभ और मोह के लिए ही सारी शक्तियाँ लगी रहें तो यह किसी आदर्शवादी और विचारशील व्यक्ति के लिए लज्जा की बात ही समझी जा सकती है ।

जिनके पारिवारिक उत्तरदायित्व हलके हो गये हैं । बड़े बच्चे कमाऊ हो गये हैं और अपने छोटे बहिन-भाइयों को सम्हालने की स्थिति में आ गये हैं अथवा पूर्व संचित सम्पत्ति के सहारे वे स्वावलम्बी बनने तक अपना निर्वाह कर सकते हैं, उन्हें अपना पूरा समय लोक-मंगल के लिए समर्पित करना चाहिए । रिटायर लोग पेन्शन, फण्ड आदि इतना पा लेते हैं कि उनके पीछे यदि पत्नी आदि की जिम्मेदारी रह गई हो तो उसकी भी पूर्ति होती रहे । जिनके बच्चे नहीं हैं, वे तो मानो भगवान ने इसी प्रयोजन के लिए आरम्भ से ही परोपकारी, पुण्यात्मा के रूप में पैदा किए हैं, उन्हें अपने को ऐसा सौभाग्यशाली मानना चाहिए, जिनके सामने परमार्थी-जीवन जीने का द्वार खुला पड़ा है । जिन्हें केवल कन्याएँ दी हैं, वे भी कम सौभाग्यवान् नहीं हैं । बच्चियों का विवाह करके वे समाज-निर्माण के मोर्चे पर निरन्तर जुटे रह सकते हैं । साधु और ब्राह्मणों की प्राचीन परम्परा को पुनर्जीवित करने के लिए हम में से प्रत्येक को उत्तरार्द्ध-वानप्रस्थ प्रयोजन के लिए समर्पित करने की तैयारी करनी चाहिए । समाज-निर्माण का व्यापक और महान् प्रयोजन ऐसा दुस्साहस कर गुजरने वाले ही सम्पन्न करते हैं, जिनकी अन्तरात्मा में-आदर्शवादी विचारणा में उभरती, उमँगती हों-लोक-मंगल के लिए कुछ अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करने की महत्त्वाकांक्षा जागती हो-उसे युग की पुकार सुननी चाहिए और स्वार्थपरता को परमार्थ-परायणता में परिवर्तित करके अपनी महानता का परिचय देना चाहिए ।

आत्म-निर्माण, परिवार-निर्माण और समाज-निर्माण की त्रिविधि क्रिया-प्रक्रिया सम्पन्न करते हुए युग-निर्माण की समग्र आवश्यकता पूरी की जाए-उसके लिए बढ़-चढ़कर शौर्य, साहस दिखाया जाए-इसी में प्रज्ञा परिवार के सदस्यों का गौरव है ।

विचार बदलें--तो युग बदले

मनुष्य जैसा कुछ दिखाई पड़ता है-समाज का जैसा ही कुछ स्वरूप है, वह उसमें सन्निहित तात्कालिक विचारधाराओं का प्रतिबिम्ब मात्र है । मान्यताएँ एवं आस्थाएँ ही हैं जो अन्तःकरण में आकांक्षा, प्रेरणा बन कर विकसित होती है और उन्हीं के आधार पर क्रिया-कलापों का सृजन होने लगता है । व्यक्ति जो कुछ करता दिखाई पड़ता है वस्तुतः उसकी जड़ में वे मान्यता ही हैं जो उसके अन्तःकरण में बद्धमूल होकर प्रतिष्ठापित हो गई हैं । विभिन्न मनुष्यों और विभिन्न समाजों के बीच क्रिया-कलाप एवं रहन-सहन का जो स्तर दिखाई पड़ता है, उसका कारण और कुछ नहीं उनकी आस्थाओं में सन्निहित भिन्नता मात्र ही है । जिन आदर्शों और मान्यताओं को मनुष्य अपना लेता है, उसी के अनुरूप उसकी गतिविधियों का सृजन होता रहता है ।

सन्त इमर्सन ने एक महत्त्वपूर्ण भविष्य-वाणी की थी कि ''भविष्य में संसार से युद्धों का अन्त सदा के लिए हो जाएगा'' उनका कथन था कि ''आज लोगों के मनों में शत्रु, आक्रमण, योद्धा, संपत्ति, संघर्ष, विजय की जो विचारणा उत्पन्न और प्रतिष्ठापित कर दी गई हैं वही युद्धों का कारण है । भविष्य में विश्व-बन्धुत्व, विश्व-नागरिकता, विश्व-परिवार के विचार उत्पन्न होंगे और विजय के स्थान पर त्याग और सेवा में लोग रस लेने लगेंगे । तब कोई किसी का शत्रु न रहेगा । हर किसी की सहायता करने की बात सोचेगा ।

प्रकृति में इस प्रकार का अन्तर लाया जाना पूर्णतया संभव है। संसार का बुद्धिजीवी वर्ग प्रबल प्रयत्नों के द्वारा यह कर सकता है। विचारधाराओं और आस्थाओं के परिवर्तन के साथ-साथ मनुष्य की प्रकृति बदल जाएगी। फलतः युद्धों का भी अन्त हो जाएगा।''

यह भविष्य-वाणी केवल कल्पना नहीं एक सुनिश्चित सच्चाई है। भविष्य में जन-मानस का नव-निर्माण होगा। विचार-क्रान्ति का एक तूफान आवेगा और उस तूफान में आज की समस्त कुण्ठाएँ और विकृतियाँ हलके-फुलके तिनकों की तरह उड़कर तितर-बितर हो जाएगी। नये विचारों के अनुरूप नया समाज बनेगा, नया व्यक्ति ढलेगा, नई परम्पराएँ प्रतिष्ठापित होंगी और नई गतिविधियों की, नई हलचलें सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगेंगी।

यह सोचना ठीक नहीं कि वर्तमान कुत्सित मान्यताओं में मनुष्य को कोई सुविधा, आकर्षण, सुख अथवा लाभ है और भावी उत्कृष्ट विचारधाराएँ अपनाने पर उसे असुविधाओं एवं कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, इसलिए लोग वर्तमान रीति-नीति छोड़कर नई रीति-नीति अपनाने के लिए प्रस्तुत न होंगे। सच्चाई कुछ दूसरी हीं है। आज की मान्यताएँ जीवन को बहुत ही भारी, बहुत ही खर्चीला, बहुत उलझा हुआ और कष्टसाध्य बनाए हुए हैं। इस भार को ढोने में उसकी कमर टूटी जा रही है। बाहर से कोई जरा भी शौक-मौज की बात भले ही कहले, करले पर अन्तरंग खोल कर देखा जाए तो यहाँ कष्ट, व्यथा, कुढ़न, झुँझलाहट, अशान्ति, खीज और असन्तोष के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। हर स्तर का व्यक्ति अपने अन्तरंग में अपने ढंग की लगभग ऐसी ही स्थिति बनाये बैठा है। अपने साथियों से-अपनी परिस्थितियों से-किसी को सन्तोष नहीं है। बाह्य और अन्तरंग जीवन में हर व्यक्ति असंतुष्ट पाया जाएगा।

चूँकि उत्कृष्ट विचारों की दुनियाँ का व्यावहारिक स्वरूप हमारी आँखों के आगे स्पष्ट नहीं है, वैसी स्थिति देखने को कहाँ मिले-कहीं वैसे द्रश्य आँखों के आगे नहीं आते, इसलिए बात पूरी समझ में नहीं आती। यदि कहीं ऐसा समाज अथवा वातावरण सामने आ जाय जिसे देख कर उत्कृष्ट जीवन की सुविधाओं का अनुमान लगाया जा सके तो निश्चित रूप से लोग उन स्थितियों में अपने को बदलने के लिए तैयार हो जाएँगे और यह अनुभव स्पष्टतया करेंगे कि कुत्सित आस्थाओं से लेकर भारभूत जीवन जीने की अपेक्षा उत्कृष्ट विचारणाओं को अपना कर जीना कितना सरल, सुखद, शान्ति और उल्लास से परिपूर्ण है। वह दिन आएगा-लाया जायगा-जबकि लोग निकृष्टता की कष्टकर विभीषिका की हानि को समझेंगे और उसे घृणापूर्वक परित्याग करेंगे। वह दिन आएगा-लाया जाएगा-जबकि लोग उत्कृष्टता की सुखद संभावनाओं को मूर्तिमान देखेंगे और उसे निष्ठापूर्वक हृदयंगम करने के लिए तत्पर होंगे। नवयुग बदला हुआ दृष्टिगोचर होगा। तब सन्त इमर्सन की भविष्य-वाणी के अनुसार केवल युद्धों का ही अन्त नहीं होगा, वरन् रोग, शोक, ईर्ष्या, उद्वेग, अभाव, असन्तोष आदि सभी विकृतियों का समाधान हो जाएगा तब मनुष्य परस्पर परिपूर्ण स्नेह-सद्भाव के साथ रहेंगे, उन परिस्थितियों में मनुष्य को देवता और समाज को स्वर्ग कहने-मानने में किसी को कोई आपत्ति न रह जाएगी।

यह परिवर्तन तोप, तलवारों से संभव नहीं। दण्ड, कानून के प्रतिबन्धों का प्रभाव केवल शरीर पर पड़ता है। शरीर रोक रखा जाए और मन प्रतिकूल दिशा में चले तो वह प्रतिबन्ध देर तक कायम नहीं रह सकते। मनुष्य इतना चतुर है कि अपनी अन्तरंग आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए प्रतिबन्धों को तोड़ कर कोई न कोई गुप्त, प्रकट मार्ग निकाल लेता है। किसी को मार भी डाला जाए तो उसकी आत्मा नये जन्म में फिर उन्हीं पूर्व संचित संस्कारों के अनुरूप काम करना शुरू कर देती है। व्यक्ति का परिवर्तन उसके विचारों का परिवर्तन ही है। आस्थाएँ बदलने से व्यक्ति का दृष्टिकोण बदलता है और उसकी सारी क्रिया-पद्धति ही बदल जाती है। जो व्यक्ति आज नरक में पड़ा हुआ है-दूसरों को नरक में घसीट रहा है-वह यदि भावनात्मक स्तर पर पलटा खा जाए तो उसकी सारी गतिविधियाँ उलटी हो सकती हैं। वहीं अपने लिए स्वर्गीय दृष्टिकोण सृजन कर के उत्कृष्ट जीवन जी सकता है और अपने समीपवर्ती वातावरण में स्वर्गीय सुगन्ध से हर किसी को आनन्द-विभोर कर सकता है। असली परिवर्तन दृष्टिकोण का विचारधाराओं का परिवर्तन ही है, जिसके आधार पर व्यक्ति ही नहीं समाज, संसार और युग सब कुछ बदला जा सकता है।

जन-आस्थाएँ बदलने के लिए ऐसे दृश्य और अवसर विनिर्मित किए जाने चाहिए जिन्हें प्रत्यक्ष देख कर लोग यह अनुमान लगा सकें कि उत्कृष्ट विचारणाएँ एवं आस्थाएँ किस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकती हैं। यह प्रयोग और प्रशिक्षण लोगों की वस्तुस्थिति समझाने में सहायक सिद्ध होंगे। ऐसे आश्रमों की, परिवारों की, छात्रावासों की, सहकारी निर्वाह समितियों की स्थापना इस दृष्टि से बहुत उपयोगी रहेगी जिसमें उत्कृष्ट स्तर के दृष्टिकोण सम्पन्न व्यक्ति साथ-साथ रहकर उत्कृष्ट जीवन जियें और उपलब्ध सुविधाओं की जानकारी सर्व साधारण को देकर उन्हें वैसे ही अनुकरण की प्रेरणा दें। लोग बुरी बातों की नकल कर सकते हैं तो अच्छाई की भी नकल करेंगे। बुराई से अच्छाई की शक्ति अधिक है। इसलिए बुराई जिस तेजी से फैलती है। अच्छाई यदि ठोस तथ्यों पर आधारित हो तो उससे अधिक तेजी के साथ फैल सकती है।

पर यह तो बहुत आगे की बात हो गई। अभी तो हमें क-ख-ग शुरू करना है। उत्कृष्ट मनोभूमि के लोग हैं कहाँ, जिनका समूह एकत्रित किया जाए ? उत्कृष्टता एक दिन में पैदा नहीं होती यह बहुत समय के स्वाध्याय, सत्संग, चिंतन, मनन से क्रमशः उत्पन्न और परिपक्व होती है। जो

भावावेश में एक ही क्षण दुर्जन से सज्जन बन जाते हैं उन्हें फिर फिसल कर दूसरे ही दिन अपनी पुराने जगह पहुँचने में देर नहीं लगती । इसलिए नई दुनिया बसाने के लिए आज जो क्रम शुरू किया जाता है वह यह है कि उत्कृष्टता की विचारणा का वैज्ञानिक और बुद्धिसंगत तर्क और प्रयासों के परिपुष्ट स्वरूप जनसाधारण को मनोभूमि तक पहुँचने के लिए अथक प्रयत्न किया जाए ।

पिछले दिनों धर्म और अध्यात्म की शिक्षा, शास्त्र प्रवचन, ऋद्धि-सिद्धि देवता की प्रसन्नता, स्वर्ग-मुक्ति जैसे पारलौकिक अप्रत्यक्ष आधारों पर दी जाती रही है । अभी भी कथा-प्रवचनों का वही आधार चल रहा है । इस बुद्धिवादी युग में ये आधार अप्रामाणिक माने जा रहे हैं और उनकी उपेक्षा की जा रही है । इस उपेक्षा के पीछे एक कारण धर्म का वह स्वरूप भी है जो किसी समय श्रद्धालु मनोभूमि के लिए समाधान कारक रहा होगा पर आज उपयोगिता सिद्ध नहीं कर पाता । फलतः लोग उसे संदिग्ध, अप्रामाणिक एवं काल्पनिक कहकर उपेक्षा में डाल देते हैं । धर्म का वास्तविक स्वरूप वैसा पोला नहीं है जैसा कि आज समझा और समझाया जाता है । उसके पीछे ठोस आधार हैं । तर्क, प्रमाण और सच्चाई के आधार पर धर्म एवं अध्यात्म के सिद्धान्त पूरी तरह खरे हैं, आवश्यकता इस बात की है कि समय के अनुरूप बुद्धिसंगत ढंग से उस उत्कृष्ट विचारधारा को प्रस्तुत किया जाए । यह आवश्यकता और ठीक ढंग से पूरी की जा सके तो कोई कारण नहीं कि वर्तमान पीढ़ी उसे स्वीकार न करे, साम्यवाद में नई विचारधारा बुद्धिसंगत ढंग से प्रस्तुत की गई तो पचास वर्ष के भीतर संसार की आधी से अधिक आबादी ने उसे स्वीकार ही नहीं कार्यरूप में परिणत करना भी आरम्भ कर दिया । अध्यात्मवाद-साम्यवाद की तुलना में कहीं अधिक स्थायी, कहीं अधिक उत्कृष्ट, कहीं अधिक सर्वाङ्गपूर्ण, कहीं अधिक भावनात्मक है । इसलिए यदि उसे बुद्धिसंगत ढंग से प्रस्तुत किया जा सके तो कोई कारण नहीं कि जनता उसे स्वीकार न करे और लोकरीति में उसे उचित स्थान न मिले ।

'युग निर्माण योजना' के अन्तर्गत इसी महत्त्वपूर्ण कार्य को सर्वोपरि तत्परता के साथ हाथ में लिया गया है । उत्कृष्टता की अध्यात्म विचारधारा को आज की परिस्थितियों के साथ मिलाकर इस ढंग से विनिर्मित किया जा रहा है कि उसे हर व्यक्ति ठीक तरह से समझ सके और उसकी उपयोगिता स्वीकार कर सके । नई दुनियां बना सकने योग्य-उत्कृष्ट विचारधारा के निर्माण का कार्य जिस ढंग से किया जा रहा है उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा हर विचारशील और दूरदर्शी बुद्धिजीवी ने की है । यह तथ्य एक स्वर से स्वीकार किया जा रहा है कि युग-निर्माण की विचारधारा यदि ठीक तरह समझी और समझाई जा सके तो निश्चित रूप से लोगों के दृष्टिकोण बदल सकते हैं, उन्हें नए ढंग से सोचने का आधार मिल सकता है । इस आधार पर व्यक्ति और समाज की नई गतिविधियों का, नई रीति-नीतियों का सृजन किया जा सकता है ।

ऐसी विचारधाराओं के निर्माण का कार्य अत्यन्त सस्ते और अत्यन्त प्रेरक साहित्य के रूप में 'युग निर्माण योजना' के केन्द्रीय कार्यालय द्वारा किया जा रहा है । ३२०० के लगभग पुस्तकें, जीवन निर्माण ट्रैक्ट, फोल्डर आदि लिखे और प्रकाशित किए जा चुके हैं आगे और भी बहुत कुछ लिखा जाने को है । अनेक भाषाओं में इनके अनुवाद की तैयारियाँ हैं पर लिखते या छापते चलने से ही कुछ काम नहीं बनने वाला है । इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है-इन विचारों को जन-जन के मन तक पहुँचाने की प्रचार-प्रक्रिया । यदि उसकी व्यवस्था न हो सकी तो यह सारी लिखाई, छपाई कूड़े-कचरे के ढेर में पड़ी, सड़ती रहेगी और चूहे दीमकों की खुराक बनकर पंसारियों के यहाँ रद्दी की पुड़ियों में बँधकर नष्ट हो जायगी । निर्माण जितना महत्त्वपूर्ण है-प्रसार उससे भी महत्त्वपूर्ण है । निर्माण एक या कुछ व्यक्ति भी कर सकते हैं पर प्रसार के लिए तो अनेक व्यक्तियों का श्रम एवं मनोयोग चाहिए । यदि हम यह व्यवस्था ठीक तरह बना सकें तो समझना चाहिए कि व्यक्ति-निर्माण की-समाज निर्माण की-एक बहुत बड़ी मंजिल पार कर ली ।

यह भली-भाँति समझ लिया जाना चाहिए कि व्यक्ति और कुछ नहीं विचारणाओं और आस्थाओं का प्रतीक मात्र है । उसकी समस्त गतिविधियाँ उसकी अन्तःनिष्ठा की प्रतिबिम्ब हैं । समाज व्यक्तियों का समूह ही तो है जिस स्तर के व्यक्ति होंगे उनका समाज भी वैसा ही होगा । यदि हमें उत्कृष्ट व्यक्ति, उत्कृष्ट-समाज एवं उत्कृष्ट युग अपेक्षित हो तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि हर मनुष्य को उत्कृष्ट विचार-धाराओं से लगातार सम्बन्ध रखने की एक सुनियोजित व्यवस्था बनाई जाए । उत्कृष्ट विचारणाओं से प्रभावित व्यक्ति ही-उत्कृष्ट रीति-नीति स्थिर रूप से अपना सकते हैं । उन्ही की संख्या वृद्धि उत्कृष्टता के नये युग का सृजन कर सकती है ।

उत्कृष्ट विचारों का सतत सान्निध्य

अपने को बदले बिना दूसरों का बदला जा सकना संभव नहीं । युग-निर्माण का शुभारम्भ अपने आपका निर्माण करने की प्रक्रिया के साथ होना चाहिए । वाणी और लेखनी की शक्ति अब धीरे-धीरे घटती चली जा रही है क्योंकि वक्ता और लेखक स्वयं वैसा आचरण नहीं करते जैसा कि दूसरों से कराना चाहते हैं । चारित्रिक शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उपदेशक दूसरों के सामने आपना आदर्श उपस्थित करें, यदि सद्भावनाओं सम्पत्ति का संसार में बढ़ाया जाना उचित और अ है तो उसका प्रथम प्रयोग अपने आप पर से ही

करना चाहिए, जो वस्तु लाभदायक है उसका उपभोग सबसे पहले हम स्वयं ही क्यों न करें ?

सद्‌विचारों की महत्ता का अनुभव तो हम करते हैं पर उनकी दृढ़ता नहीं रह पाती । जब कोई अच्छी पुस्तक पढ़ते या सत्संग, प्रवचन सुनते हैं तो इच्छा होती है कि इसी अच्छे मार्ग पर चलें पर जैसे ही वह प्रसंग पलटा कि दूसरी प्रकार के पूर्व अभ्यास, विचार पुनः मस्तिष्क पर अधिकार जमा लेते हैं और वही पुराना घिसा-पिटा कार्यक्रम पुनः चलने लगता है । इस प्रकार उत्कृष्ट जीवन बनाने की आकांक्षा एक कल्पना मात्र बनी रहती है, उसके चरितार्थ होने का अवसर प्रायः आने ही नहीं पाता ।

कारण यह है कि अभ्यस्त विचार बहुत दिनों से मस्तिष्क में अपनी जड़ जमाये हुए हैं, मन उनका अभ्यस्त भी बना हुआ है । शरीर ने एक स्वभाव एवं ढर्रे के रूप में उन्हें समझाया हुआ है । इस प्रकार उन पुराने विचारों का पूरा आधिपत्य अपने मन और शरीर पर जमा हुआ है । यह आधिपत्य हटे और ये उत्कृष्ट विचार वह स्थान ग्रहण करें तो ही यह संभव है कि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और अन्तःकरण चतुष्टय बदले । जब अन्तःभूमिका बदलेगी तब उसका प्रकाश बाह्य कार्यक्रमों में दृष्टिगोचर होगा । परिवर्तन का यही तरीका है ।

उच्च विचारों को बहुत थोड़ी देर तक हमारी मनोभूमि में स्थान मिलता है । जितनी देर सत्संग-स्वाध्याय का अवसर मिलता है उतने थोडे समय ही तो अच्छे विचार मस्तिष्क मे ठहर पाते हैं । इसके बाद वही पुराने कुविचार आँधी-तूफान की तरह आकर उन श्रेष्ठ विचारों की छोटी- सी बदली को उड़ाकर एक ओर भगा देते हैं । निकृष्ट विचारों में तात्कालिक लाभ और आकर्षण स्वभावतः अधिक होता है, चिरकाल से अभ्यास में आते रहने के कारण उनकी जड़े भी बहुत गहरी हो जाती हैं । इन्हें उखाड़कर नये श्रेष्ठ विचारों की स्थापना करना सचमुच बड़े अध्यवसाय का काम है ।

किसी घने जंगल में कँटीली झाड़ियाँ सारी भूमि को घेरे रहती हैं, गहराई तक अपनी जड़ें जमाये रहती हैं यदि उस जंगल को कृषि योग्य बनाना हो तो वह झाड-झंखाड़ काटने की व्यवस्था करनी पड़ती है फिर भूमि खोद कर जड़ें उखाड़नी पड़ती हैं । जोतकर खेत को एकसमान करना पड़ता है । खाद और पानी की व्यवस्था जुटानी होती है । इतना प्रबन्ध करने पर ही वह घने जंगल की ऊबड़-खाबड़ भूमि परिपूर्ण अन्न उपजाने वाली कृषि, भूमि के योग्य बन पाती है । मनोभूमि को सत्कर्मों की, सद्भावनाओं की हरी-भरी फसल उगाने योग्य बनाने के लिए ऐसा ही पुरुषार्थ किया जाना आवश्यक होता है ।

दस-पाँच मिनट कुछ पढ़ने-सुनने या सोचने, चाहने से ही परिष्कृत मनोभूमि का बन जाना और उसके द्वारा सत्कर्मों का प्रवाह बहने लगना कठिन है । इसलिए क्रमबद्ध, योजनाबद्ध, दीर्घकालीन और सुस्थिर प्रयत्न करना होता है । फैलाया हुआ पानी नीचे की ओर आसनी से बिना प्रयत्न के बहने लगता है पर यदि उसे ऊपर पहुँचाना हो तो इसके लिए कई उपकरण जुटाने की व्यवस्था की जाती है । बिना विशेष प्रयत्नों के पानी ऊपर नहीं चढ़ सकता है । इसी प्रकार स्वल्प-सा मनोभूमि का परिवर्तन भी संभव नहीं और बिना आन्तरिक परिवर्तन के बाह्य जीवन में श्रेष्ठता की स्थापना हो ही कैसे सकती है ?

विचारों को जितनी तीव्रता और निष्ठा के साथ जितनी अधिक देर मस्तिष्क में निवास करने का अवसर मिलता है वैसे ही प्रभाव की मनोभूमि में प्रबलता होती चलती है । देर तक स्वार्थपूर्ण विचार मन में रहें और थोड़ी देर सद्‌विचारों के लिए अवसर मिले तो वह अधिक देर रहने वाला प्रभाव कम समय वाले प्रभाव को परास्त कर देगा । इसलिए उत्कृष्ट जीवन की वास्तविक आकांक्षा करने वाले के लिए एक ही मार्ग रह जाता है कि मन में अधिक समय तक अधिक प्रौढ़, अधिक प्रेरणाप्रद उत्कृष्ट कोटि के विचारों को स्थान मिले ।

जिसका बहुमत होता है उसकी जीत होती है । बहती गंगा में यदि थोड़ा मैला पानी पड़ जाए तो उसकी गन्दगी प्रभावशाली न होगी, पर यदि गन्दे नाले में थोड़ा गंगाजल डाला जाए तो उसे पवित्र न बनाया जा सकेगा । इसी प्रकार यदि मन में अधिक समय तक बुरे विचार भरे रहेंगे तो थोड़ी देर, थोडे से अच्छे विचारों को स्थान देने से भी कितना काम चलेगा ? उचित यही है कि हमारा अधिकांश समय इस प्रकार बीते जिससे उच्च भावनाएं हमारी मनोभूमि में विचरण करती रहें ।

संसार में बुराई इसलिए फैली है कि लोगों के मन में बुरे विचारों का बाहुल्य रहता है । चोर, डाकू, जुआरी, व्यभिचारी, व्यसनी अपने विचारों के पक्के होते हैं । उन्हें ठीक जँच गया है, उसी इच्छा की पूर्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते हैं । निष्ठा के अनुरूप काम करने से भावनास्तर में परिपक्वता आती है और उस परिपक्वता में दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता भरी रहती है ।

शराबी अपने विचारों में पक्का होता हैं । बदनामी, धनहीनता और स्वास्थ्यनाश की परवा न करके भी वह शराब पीता है । मन और कर्म की इस एकता से जो दृढ़ता उसमें रहती है उसके फलस्वरूप कई अन्य कमजोर प्रकृति के मनुष्य भी उसके प्रभाव में आकर शराब पीना सीख जाते हैं । चरित्र शिक्षण की यही पद्धति सफल होती है । बुरे स्तर के व्यक्ति अपनी बुराइयों में तन्मय रहकर दूसरे अनेक को अपना साथी बनाते और बुराई सिखाते हैं ।

बुराई की ही भाँति अच्छाई में भी अपनी शक्ति एवं विशेषता होती है पर वह प्रभावशाली तभी बनती है जब मन, वचन और कर्म में एकता हो । यदि प्रौढ़ और परिपक्व आचरण के श्रेष्ठ व्यक्ति कभी प्रकाश में आते हैं तो उनसे भी अगणित लोग प्रेरणा प्राप्त करते हैं । गाँधीजी

का प्रभाव अभी पिछले ही दिनों हम लोगों ने आँखों से देखा है, उनकी प्रेरणा से अगणित व्यक्तियों की भावनाएँ बदली और लाखों व्यक्तियों ने हँसते-हँसते भारी बलिदान करने की जोखिम उठाई ।

अच्छाई इसीलिए पनप नहीं पाती कि उसका शिक्षण करने वाले ऐसे लोग नहीं निकल पाते जो अपनी एकनिष्ठा के द्वारा दूसरों की अन्तरात्मा पर अपनी छाप छोड़ सकें । अपने अवगुणों को छिपाने के लिए या सस्ती प्रशंसा करने के लिए धर्म का आडम्बर-मात्र ओढ़ लेते हैं । 'पर उपदेश कुशल' बहुत हैं पर जो आदेशों को दैनिक जीवन में कार्यान्वित करें ऐसे लोग कम हैं । यही कारण है कि अच्छाई बढ़ नहीं पाती, फैल नहीं पाती । यदि सज्जनतापूर्ण सच्चे व्यक्तित्व प्रकाश में आने लगें तो उनके प्रभाव से अच्छाइयाँ भी तेजी से फैलें । बुराई का स्थान अच्छाई को मिल जाए और युग परिवर्तन की बात कुछ भी कठिन दिखाई न दे ।

उत्कृष्ट एवं प्रौढ विचारों को अधिकाधिक समय तक हमारे मस्तिष्क में स्थान मिलता रहे ऐसा प्रबंध यदि कर लिया जाए तो कुछ ही दिनों में अपनी इच्छा, अभिलाषा और प्रवृत्ति उसी दिशा में ढल जाएगी और बाह्य जीवन में वह सात्विक परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगेगा । विचारों की शक्ति महान है, उससे हमारा जीवन तो बदलता ही है संसार का नक्शा भी बदल सकता है ।

कैसा अच्छा होता कि प्राचीनकाल की तरह जीवन के प्रत्येक पहलू पर उत्कृष्ट समाधान प्रस्तुत करने वाले साधु-ब्राह्मण आज भी हमें उपलब्ध रहे होते । वे अपने उज्ज्वल चरित्र, सुलझे हुए मस्तिष्क और परिपक्व ज्ञान द्वारा सच्चा मार्गदर्शन करा सकते तो कुमार्ग पर ले जाने वाली सभी दुष्प्रवृत्तियाँ शमन होतीं पर आज उनके दर्शन दुर्लभ हैं । देश, काल और पात्र की स्थिति का ध्यान रखते हुए आज के बुद्धिवादी एवं संघर्षमय युग के अनुरूप समाधान प्रस्तुत करके जीवन को ऊँचा उठाने वाले व्यावहारिक सुझाव दे सकें, ऐसे मनीषी कहाँ हैं ? उनका अभाव इतना अखरता है कि चारों ओर सूना ही सूना दीखता है । ऋषियों की यह भूमि ऋषि-तत्व से रहित हो गई, जैसी लगती है ।

दुर्भाग्य एक और भी है कि स्वाध्याय के उपयुक्त साहित्य भी कहीं-कहीं ही दृष्टिगोचर होता है । पुस्तक विक्रेताओं की दुकानें खोज मारने पर मुश्किल से ही कुछ पुस्तकें ऐसी मिलेगी जो जीवन-निर्माण के लिए आज की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत करती हों । प्रेसों में ऐसा कूड़ा-कचरा दिन-रात छपता है जिसे पढ़कर लोगों के दिमाग और भी अधिक खराब हों ।

आज की परिस्थितियों में जो भी संभव हो हमें ऐसा साहित्य तलाश करना चाहिए जो प्रकाश एवं प्रेरणा प्रदान करने की क्षमता से सम्पन्न हो । उसे पढ़ने के लिए कम से कम एक घण्टा निश्चित रूप से नियत करना चाहिए । धीरे-धीरे समझ-समझ कर विचारपूर्वक उसे पढ़ना चाहिए । पढ़ने के बाद उन विचारों पर बराबर मनन करना चाहिए । जब भी मस्तिष्क खाली रहे यह सोचना आरम्भ कर देना चाहिए कि आज के स्वाध्याय में जो पढ़ा गया था, उस आदर्श तक पहुँचने के लिए हम प्रयत्न करें, जो कुछ सुधार संभव है उसे किसी न किसी रूप में जल्दी ही आरम्भ करें । श्रेष्ठ लोगों के चरित्रों को पढ़ना और वैसा ही गौरव स्वयं भी प्राप्त करने की बात सोचते रहना मनन और चिन्तन की दृष्टि से आवश्यक है ।

जितनी अधिक देर तक मन में उच्च भावनाओं का प्रवाह बहता रहे उतना ही अच्छा है । ऐसा साहित्य हमारे लिए संजीवन बूटी का काम करेगा । उसे पढ़ना अपने अत्यन्त प्राणप्रिय कामों में से एक बना लेना चाहिए । सुलझे हुए विचारों के सच्चे मार्गदर्शक न मिलने के अभाव की पूर्ति इस साहित्य से ही संभव है । आज उलझे हुए विचारों के लोग बहुत हैं । धर्म के नाम पर आलस्य, अकर्मण्यता, निराशा, दीनता, कर्त्तव्य की उपेक्षा, स्वार्थपरता, संकीर्णता की शिक्षा देने वाले सत्संगों से जितनी दूर रहा जाए उतना ही कल्याण है ।

कहीं से भी, किसी प्रकार से भी जीवन को समुचित बनाने वाले, सुलझे हुए उत्कृष्ट विचारों को मस्तिष्क में भरने का साधन जुटाना चाहिए । स्वाध्याय से, सत्संग से, मनन से, चिन्तन से जैसे भी बन पड़े वैसे यह प्रयत्न करना चाहिए कि हमारा मस्तिष्क उच्च विचारधारा में निमग्न रहे यदि इस प्रकार के विचारों में मन लगने लगे, उनकी उपयोगिता समझ पड़ने लगे, उनको अपनाते हुए आनन्द का अनुभव होने लगे तो समझना चाहिए कि आधी मंजिल पार कर ली गई ।

हम बदलेंगे तो जमाना भी बदलेगा

नये समाज की, सभ्य समाज की नवयुग की, रचना करने के लिए एक ही प्रक्रिया पूर्ण करनी होगी और वह है-'भाव परिवर्तन' । इसके लिए ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो इस पुण्य-प्रक्रिया की महत्ता और श्रेष्ठता को सच्चे मन से अनुभव करें, उसके लिए कुछ समय देने और श्रम करने को भी तत्पर हों ।

राष्ट्र के भावनात्मक निर्माण के लिए अनेक प्रवृत्तियों को अग्रसर करने की आवश्यकता अनुभव होती है । पर लोक-सेवकों के अभाव में वे सबकी सब कागजी कल्पना जैसी बनी रह जाती हैं । इस युग में निरक्षरता सबसे बड़ा अभिशाप है । आवश्यकता इस बात की है कि देश में एक भी नर-नारी अपढ़ न रहे । यह कार्य सरकारी स्कूलों के द्वारा संभव नहीं । जो लोग दिन भर काम में लगे रहते हैं वे स्कूल कैसे जावें और यदि वे जाने भी लगें तो इन करोड़ों लोगों को पढ़ाने का खर्च सरकार कहाँ से लावे ?

यह कार्य केवल इस प्रकार हो सकता है कि प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति सेवा बुद्धि से कम-से-कम पाँच व्यक्तियों को साक्षर बनाने की प्रतिज्ञा ले । अपने घर वालों में से, पड़ोसियों में से पाँच व्यक्तियों को शिक्षा की उपयोगिता समझाकर उन्हें एक घंटा प्रतिदिन पढ़ने के लिए तैयार कर लेना कुछ कठिन तो अवश्य है पर असंभव नहीं । शिक्षा का महत्त्व न समझने वाले इसे बेकार की बात समझेंगे, उपहास करेंगे, असमर्थता प्रकट करेंगे और निराशा की बात कहेंगे पर प्रयत्न करने वाले में यदि कुछ विशेषता हो और वह लगा ही रहे तो अन्ततः उसे सफलता मिलेगी । प्रौढ़ शिक्षा की दिशा में वह भारी काम कर सकेगा ।

'प्रज्ञा परिवार' के 'अखण्ड ज्योति परिवार' के लाखों सदस्य यदि अपने से यह कार्य आरम्भ कर दें तो करोड़ों व्यक्तियों को वे शिक्षित कर सकते हैं । आगामी कुछ ही वर्षों में सारे विश्व का प्रशिक्षण कर सकते हैं । यदि अपना परिवार बढ़ता रहे और उसका प्रत्येक सदस्य हर वर्ष दस नये शिक्षित व्यक्ति ऐसे और तैयार कर ले जो हमारी ही तरह-शिक्षा के लिए समय देने लगें तो आगामी कुछ वर्ष में वह शृंखला चक्रवृद्धि ब्याज की तरह बढ़ती हुई साक्षरता की देशव्यापी आवश्यकता को सहज ही पूरा कर सकती है । ६ अरब की संख्या में हम लोग थोड़े से हैं, पर व्रतशील बनकर इस एक कार्य को ही हाथ में ले लें तो समग्र शिक्षा को पूरी तरह सुनिश्चित रूप से हमारा अपना परिवार ही पूरा कर सकता है । इतनी बड़ी बात का पूरा होना क्या कोई कम महत्त्व की बात है ?

खाद्य समस्या आज की दूसरी समस्या है । जन-संख्या बढ़ती जा रही है और धरती उतना अन्न नहीं उपजाती । अन्न का उत्पादन बढ़ाना, शाक-भाजी का अधिक उपयोग करना, अन्न को जरा भी बर्बाद न होने देना जरूरी है । साथ ही जूठन छोड़ने और अधिक प्रकार के खाद्यान्न परोसे जाने वाली, अधिक व्यक्तियों को सम्मिलित करने वाली दावतों की प्रथा समाप्त करना भी आवश्यक है । इसलिए व्यापक लोक-शिक्षण किया जाना चाहिए । खाली जगहों में, यहाँ तक कि घर के आँगनों में भी जहाँ संभव हो वहाँ शाक-भाजी उगायी जानी चाहिए । खाद्य का उत्पादन एक राष्ट्रीय-गौरव की बात समझी जाए और हर व्यक्ति इस दिशा में दिलचस्पी लेने लगे, इसके लिए प्रयत्न किया जाए ।

एक कार्य बहुत ही सरल यह है कि सप्ताह मे कम-से-कम एक समय कुछ न खाने या शाक-दूध पर रहने की उपवास प्रक्रिया को प्रचलित किया जाए । आध्यात्मिक, धार्मिक, शारीरिक, मानसिक, राष्ट्रीय हर दृष्टि से यह उपवास आवश्यक है । इस प्रक्रिया के प्रचलित होने से सात प्रतिशत अन्न की बचत हो सकती है और बिना उत्पादन बढ़े भी सारी समस्या का तत्काल हल निकल सकता है ।

कुछ लोग यह उपवास बिल्कुल न करेंगे तो कुछ ऐसे भी होंगे जो पूरे दिन का साप्ताहिक उपवास रखेंगे । इस प्रकार यदि यह आन्दोलन जोर पकड़ जाए तो न केवल खाद्य समस्या ही हल हो वरन् मनुष्यों में इस बहाने देश-भक्ति, जनहित एवं स्वावलम्बन की भावनाएँ भी उमड़ें । उपवास का स्वास्थ्य पर जो आशाजनक प्रभाव पड़ेगा । यह लाभ तो और भी अधिक उत्साहवर्द्धक होगा । सात्विक आहार, मसालों की उपेक्षा, कड़ी भूख लगने पर चबा-चबा कर ही भोजन करना, भगवान को अर्पण करके खाना आदि कितनी ही भोजन सम्बन्धी सत्प्रवृत्तियाँ इसी आन्दोलन के साथ जोड़ी जा सकती हैं और उनका शारीरिक और मानसिक दृष्टि से आशाजनक सत्परिणाम हो सकता है ।

देखा-देखी ही तो प्रवृत्तियाँ पनपती हैं । हम २४ लाख व्यक्तियों में से प्रत्येक का परिवार पाँच-छह मनुष्यों का भी हो तो सवा करोड़ व्यक्ति, कल से ही यह खाद्य बचत का, आहार शुद्धि का व्रत आन्दोलन चला सकते हैं और प्रयत्न करें तो उसकी प्रेरणा दूसरों को भी देकर इस प्रक्रिया को देशव्यापी बना सकते हैं । निश्चय ही उसका राष्ट्र की खाद्य समस्या पर भारी असर पड़ेगा ।

जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए, ब्रह्मचर्य को व्यावहारिक बनाने के लिए हम अधिक निष्ठापूर्ण आचरण करें । वासना भड़काने वाले साहित्य, चित्र, फिल्म, दृश्य एवं प्रसंगों का बहिष्कार करें । वानप्रस्थ की परम्परा आरम्भ करें, बाल विवाहों को रोकें, परिवार नियोजन का ध्यान रखें तथा इस सम्बन्ध में परिवार नियोजन कार्यकर्त्ताओं का भी परामर्श प्राप्त करें ।

छोटे परिवारों का उत्तरदायित्व भी ठीक तरह निर्वाह सकना आज की स्थिति में कठिन पड़ता है तो उसे अधिक क्यों बढ़ाया जाए ? यह विचारधारा हम लोगों के जीवन में स्थान प्राप्त करे तो स्वास्थ्य सुधरेगा, आयु बढ़ेगी, ब्रह्मचर्य का तेज व्यक्तित्व के विकास में सहायता करेगा और आत्मबल की आशाजनक वृद्धि होगी । जन-संख्या की बढ़ोत्तरी रोकने का राष्ट्रीय प्रश्न थोड़ी-सी सावधानी रखने से ही हल हो सकता है ।

सामाजिक कुरीतियाँ अन्ध-परम्पराओं के रूप में ही बढ़ती हैं । उनके पीछे विवेक नहीं अनुकरण ही प्रधान होता है । यदि बुरी प्रथाओं के दुष्परिणामों को समझते हुए भी लोग देखा-देखी हानिकारक बातों को अपनाये रहते हैं तो वैसी ही अनुकरणीय आदर्श और उपयोगी परम्पराएँ हम लोग प्रस्तुत करने लगें तो निश्चय ही उनका भारी स्वागत होगा और जनता उन्हें भी एक उत्साहवर्द्धक परम्परा मानकर उस मार्ग पर चलने लगेगी ।

गायत्री-यज्ञ आन्दोलन को आरम्भ करते हुए जब हमने यज्ञ कार्यों को केवल पंडितों का ही अधिकार न मान कर प्रत्येक गायत्री-उपासक को, महिलाओं को सम्मिलित करने और गुपचुप मन्त्र न पढ़कर सस्वर उच्चारण करने की प्रक्रिया को जन्म दिया था तो आरम्भ में उसका थोड़ा विरोध हुआ पर अब वह सब एक परम्परा बन गया । सर्वत्र अब इसी परम्परा को अपनाया जाता है और कोई

उसका विरोध नहीं करता । कन्या पक्ष को उसका दोष पकड़ा जाता है और कन्या पक्ष मनचाहे दहेज के बिना विरोध के स्वीकार किया जाता है । आरम्भ में ही विरोध न कर सकना हुआ, बड़े मैंने न जो भी भले-बुरे काम होने लगते हैं वे ही एक प्रथा बन जाते हैं । हमारे लड़के परिवर्तन अपनाने से अच्छी परम्पराओं को जन्म दे सकते हैं ।

दहेज को हटाने कुप्रथा का अन्त करने के लिए यदि गायत्री परिवार के परिजन तैयार हों, जहाँ तो आदर्श विवाहों का एक नया दौर देश भर में आरम्भ हो सकता है । बिना दहेज के, बिना जेवरों के, बिना बाजे-बाजे के, बहुत छोटी बारात के, परम सात्विक वातावरण में सम्पन्न होने वाले विवाहों को देखकर जन-मानस को बड़ी शिक्षा मिलेगी और असंख्य व्यक्ति उन्हीं का अनुकरण करने लगेंगे । क्या इतना साहस दिखा सकना अपने परिवार के लिए कुछ असंभव कार्य है ? हम लोग थोड़ी हिम्मत दिखावें तो आसानी से ऐसी परम्परा चल पड़ सकती है । हिन्दू जाति के मुँह पर लगी हुई एक भारी कलंक कालिमा धुल सकती है और हर सद्गृहस्थ को चिन्ता में जलाने वाली, खून के आँसुओं से रुलाने वाली उस दुष्ट पूतना का अन्त हो सकता है ।

जातियों और उपजातियों का जंजाल देश में फूट फैलाने और दहेज जैसी कुप्रथाओं को जन्म देने का प्रधान कारण है । अब समय आ गया है कि जातियाँ न सही तो उपजातियों की संकीर्णता तो समाप्त करने के लिए कदम बढ़ा ही दिया जाए । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शास्त्रों में इन चार ही जातियों का वर्णन मिलता है । उपजातियों का जंजाल काटकर रोटी-बेटी का दायरा जाति मात्र में बढ़ा दिया जाए, तो अच्छे लड़के ढूँढने में, अच्छी कन्याएँ प्राप्त करने में भारी सुविधा हो सकती है । ब्राह्मणों में करीब ४५० ऐसी उपजातियाँ हैं जिनमें परस्पर रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं होता । यदि ब्राह्मण मात्र में यह दायरा बढ़ा दिया जाए तो सबको कितनी अधिक सुविधा होगी, उसकी कल्पना प्रत्येक समझदार आसानी से कर सकता है । संकीर्णता भी इससे घटेगी और आत्मीयता का दायरा बढ़ेगा । इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी अपना दायरा बढ़ाते हुए एकता की दिशा में बढ़ने का आध्यात्मिक लक्ष्य पूरा कर सकते हैं ।

नशेबाजी और माँसाहार की असुरता का व्यापक प्रसार मनुष्यों की मनोभूमि में दिन-दिन तमोगुण बढ़ाता जा रहा है । दया, करुणा, मैत्री, आत्मीयता, न्याय की मानवीय सत्प्रवृत्तियों से माँसाहार का बैर है । दोनों एक-दूसरे के घोर प्रतिकूल हैं । जीभ के स्वाद जैसे अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए जो दूसरों को प्राणान्तक पीड़ा दे सकता है उसमें देवत्व की, मनुष्यता की स्थिरता कैसे रहेगी ? माँसाहार, आहार का नहीं, एक नैतिक प्रश्न है । इसे नैतिक स्तर पर ही विचारा जाना चाहिए तो वे विचार लाभकारक सिद्ध हो सकते हैं । भाई-बहिनों का विवाह होने लगे तो बड़ी आर्थिक दृष्टि से, पर नैतिक कारणों से हम उसे लाभदायक होते हुए भी स्वीकार नहीं कर सकते । माँसाहार स्वास्थ्य के लिए लाभदायक भी होता हो तो इससे उसको नैतिक समर्थन नहीं मिल सकता । उसका परित्याग ही किया जाना चाहिए ।

नशेबाजी में केवल हानि ही हानि है, लाभ कुछ नहीं, तम्बाकू, भाँग, गाँजा, चरस, अफीम, शराब से किसी का कुछ लाभ नहीं होता, हानि अपार है । शरीर खोखला होता है और मन में दुष्प्रवृत्तियाँ उठती हैं । शरीर और मन दोनों ही क्षेत्रों में नशेबाजी से भारी हानि होती है । धन का अपव्यय इतना अधिक होता है कि यदि उसे रोका जा सके तो वह बचत उत्थान के कार्यों में भारी योगदान दे सकती है । नशा सेवन से उत्पन्न हुई शारीरिक और मानसिक विकृतियाँ मनुष्य के नैतिक जीवन को प्रभावित करती हैं । भावनाओं का परिवर्तन करने के लिए नशेबाजी का छोड़ना आवश्यक है ।

सुधार और निर्माण का आन्दोलन माँसाहार और नशेबाजी को छोड़ने के साथ सम्बद्ध है । यदि यह दुष्प्रवृत्ति भी न छोड़ी जा सकीं, तो असत्य, कामुकता, बेईमानी जैसी बड़ी बुराइयाँ कैसे दूर होंगी ?

स्वास्थ्य की समस्या का हल करने के लिए, व्यायाम और श्रमशीलता को जन-जीवन में प्रधान स्थान मिलना चाहिए । आहार-विहार के सुसंयम का सफाई और नियमितता का प्रयत्न होना चाहिए । आर्थिक कठिनाइयों को सुलझाने के लिए मितव्ययिता और सादगी को अपनाया जाना आवश्यक है । सामाजिक शान्ति के लिए न्याय, समानता, उदारता का आचरण होना चाहिए । इन सत्प्रवृत्तियों को स्थिति के अनुसार हम अपने व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित करने लगें तो निश्चय ही उससे श्रेष्ठ परम्पराओं का जन्म होगा और दूसरे लोग भी उनका अनुकरण करने लगेंगे ।

यही सभी प्रक्रियाएँ युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत कार्यान्वित की जानी हैं । इसका श्रीगणेश अपने परिवार से हो चुका है । इसलिए अब आवश्यकता इस बात की है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को समझे, जो सुना और समझा गया है उसे कार्यान्वित करने के लिए कटिबद्ध हो ।

बूँद-बूँद जोड़ने से घड़ा भर जाता है, पतले धागे मिलकर मोटा मजबूत रस्सा बनाते हैं । हम सबका सम्मिलित प्रयत्न युग-निर्माण के रूप में परिणत हो सकता है । युग बदल सकता है बशर्ते कि हम स्वयं बदलें । बहुत कुछ हो सकता है बशर्ते कि हम स्वयं भी कुछ करने को तैयार हों । अपने बदलने, सुधारने और करने की आवश्यकता है । इस परिवर्तन के साथ ही हमारा राष्ट्र और संसार बदलेगा । प्रलोभनों और आकर्षणों

आपको घुलाते रहने की अपेक्षा अब हमें आदर्शवाद की प्रतिष्ठापना करने के लिए कष्ट उठाने की भावनाएँ अपने अन्दर उत्पन्न करनी हैं । यही उत्पादन विश्व-शान्ति की सुरम्य हरियाली के रूप में दृष्टिगोचर हो सकेगा ।

महर्षि अरविन्द ने भी कहा है कि जमाने को बदलने और नये युग के निर्माण की जिम्मेदारी वस्तुतः हमारी है । उनके अनुसार–हर एक आदमी यह कह रहा है कि अब सतयुग नहीं रहा, ईमानदारी, विश्वास, सत्यता इस संसार से विदा ले गईं, अब तो कलियुग आ गया है और बढ़ता चला जा रहा है पर इस सतयुग के सम्बन्ध में किसी ने विचार नहीं किया कि आखिर यह है क्या ? सतयुग कोई ऐसी चीज तो है नहीं जो कि जन्म-जन्मान्तर में किसी एक निश्चित समय पर ही आवेगा और फिर बहुत समय के लिए आँखों के सामने से गायब हो जाएगा । सतयुग और कलियुग को तो हम अपने विचारों से स्वयं बना सकते हैं । जिस समय इस जाग्रत जीवन का अधिकार समाप्त करके मनुष्य सूक्ष्म जीवन में पहुँच जाता है, कामना, वासना, संस्कार आदि से किसी भी तरह का अपना सम्बन्ध नहीं रखता । इस स्थूल शरीर में अवस्था भेद के अनुसार अपने जीवन की और अवस्था भेद की समता नहीं रखता अर्थात् आधार और आधारों के सम्बन्धों को दूर कर देगा उसी समय उस संसार में सतयुग का पुनः उदय होगा । इस पृथ्वी पर रहने वाली मनुष्य जाति मन, बुद्धि और शरीर को ही सब कुछ समझती और बतलाती है । इन्हीं के चक्कर में पड़ी वह अनेक प्रकार के खेल खेला करती है, परलोक की खोज खबर वह नहीं रखना चाहती । वहाँ की चर्चा को उसने भुला दिया है । आज फिर नये सिरे से हमें उसकी चर्चा जारी करनी होगी, सोई हुई शक्ति को फिर जगाना होगा, अहंकार को दबा कर रखना होगा । हम दिव्य-लोक के जीव हैं, यह ज्ञान हमें फिर से पाना होगा, यही सतयुग की स्थापना करेगा, इसीलिए हमें साधना और तपस्या करनी है । यदि इस प्रयत्न से एक बार भी हम लोग उस स्थान तक पहुँच गये तो पीड़ाओं तथा वेदनाओं से छुटकारा पाकर सिद्ध बनकर सत्य और आनन्द की लीला में प्रविष्ट होकर इस मृत्युलोक को ही स्वर्ग में बदल देंगे । सतयुग के लोग स्वर्गलोक का पता लगाकर इस भूलोक को छोड़ कर वहाँ उस महत् लोक में पहुँचते थे । लेकिन हम लोग स्वर्गलोक के अधिकारी बनकर इस पृथ्वी को नहीं त्यागेंगे हम इस मृत्युलोक में ही स्वर्ग की लीला का आनन्द लेंगे ।

जब तक माया के फंदे से जीव नहीं छूटता है और भेद-भाव के विचार मन में भरे रहते हैं तब तक उसे वास्तविक ज्ञान नहीं होता है । माया के फन्दे से छूटकर और भेदभाव के विचारों की भावनाओं को निकालने पर ही उसे ज्ञान होता है, तब दिव्य दृष्टि से देखने लगता है । उसमें तथा ब्रह्म में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह जाता, वास्तव में समस्त ब्रह्माण्ड, यह संसार, हमारा शरीर सभी कुछ ब्रह्ममय है इसलिए इस तरह का ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर मृत्युलोक में विचरण करते हुए एक बार फिर से सतयुग की स्थापना करने का भार हम लोगों के ऊपर है जिसे पूरा करना है । नूतन समाज के निर्माण की–नये युग के निर्माण की–जिम्मेदारी हमें उठानी ही होगी ।

सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए नेतृत्व की आवश्यकता

समाज के पुनर्निर्माण के लिए हमें स्वस्थ परम्पराओं को सुविकसित करने और हानिकारक कुरीतियों को हटाने के लिए कुछ विशेष काम करना पड़ेगा । अव्यवस्थित समाज में रहने वाले व्यक्ति कभी महापुरुष नहीं बन सकते । चारों ओर फैली हुई निकृष्ट प्रथाएँ तथा विचारधाराएँ बालकपन से ही मनुष्य को प्रभावित करती हैं । ऐसी दशा में उसका मन भी संकीर्णताओं और ओछेपन से भरा रहता है । व्यक्तित्व के विकास के लिए समाज का स्तर ऊँचा उठाना आवश्यक है । इसलिए अध्यात्म तत्व को मूर्तिमान देखने की आकांक्षा करने वाले प्रबुद्ध व्यक्तियों को अपने समय के समाज में प्रचलित अव्यवस्थाओं को दूर करने के लिए कुछ ठोस और कड़े कदम उठाने ही पड़ते हैं ।

हम भी इन जिम्मेदारियों से बच नहीं सकते । सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए साहसपूर्ण कदम उठाने की आवश्यकता है । विवाहों के नाम पर होने वाला अपव्यय हमारे समाज की सबसे घातक कुरीति है । उसका उन्मूलन हमारे जातीय जीवन-मरण का प्रश्न है । इस कुप्रथा की जड़ें इतनी गहरी घुस गई हैं कि उन्हें एकाकी कोई व्यक्ति नहीं उखाड़ सकता, इसके लिए सामूहिक एवं संगठित प्रयत्न ही सफल हो सकते हैं । अतः जातीय संगठनों की आवश्यकता का प्रतिपादन किया जाता रहा है । इस संगठन का प्राथमिक उद्देश्य अपव्यय रहित आदर्श विवाहों की परम्परा प्रचलित करना है पर बात यहीं तक सीमित रहने वाली नहीं है । आगे चलकर कुरीतियों का उन्मूलन तथा सभ्य-समाज के लिए उपयुक्त स्वस्थ परम्पराओं का प्रचलन करना पड़ेगा । आरम्भ इस रूप में हो रहा है पर इसका अन्त एक सुविकसित, स्वस्थ, सशक्त एवं प्रबुद्ध समाज की नवरचना की सफलता के रूप में ही होगा ।

यह भ्रम किसी को भी नहीं करना चाहिए कि जाति-पाँति के नाम पर जो संकीर्णता का विष आज चारों ओर फैला हुआ है, उसको इन संगठनों द्वारा प्रोत्साहन मिलेगा, ऐसा कदापि सम्भव नहीं । हम प्रगतिशील विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं और एक आदर्शवादी कार्यक्रम आरम्भ कर रहे हैं । दूसरे जातीय संगठनों ने उस संकीर्णता

का विष भले ही बढ़ाया हो पर हम तो उसका उन्मूलन करने चले हैं और हर कदम फूँक–फूँककर उठाने की सावधानी रख रहे हैं । ऐसी दशा में लक्ष्य से विपरीत दिशा में काम होने लगेगा, ऐसी आशंका क्यों करनी चाहिए ? युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत आरम्भ किए गए प्रगतिशील रचनात्मक सामाजिक क्रान्ति की भूमिका हो सम्पन्न करेंगे उनके द्वारा पुनर्निर्माण का रचनात्मक कार्य ही सम्भव होगा ।

इस रचनात्मक कार्यक्रम को, सांस्कृतिक परम्परा को कार्यान्वित करने के लिए ऐसे कर्मठ एवं सक्रिय कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है, जो इस दिशा में कुछ कहने लायक योगदान दे सकें, अधिक समय लगावें और अधिक उत्साह प्रदर्शित करें । इन छोटे रूप में आरम्भ की जाने वाली इस सामाजिक क्रान्ति का रूप आगे चलकर निश्चित रूप से बहुत व्यापक होने वाला है । उसका नेतृत्व, राजनैतिक पीढ़ी के नवरत्न राजनैतिक स्वाधीनता संघर्ष में बहुत कुछ त्याग–बलिदान करके भारत माता का मस्तक ऊँचा कर चुके हैं । अब वर्तमान पीढ़ी के सामने सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति की आवश्यकता उपस्थित है । इसके लिए वैसा ही साहस एवं त्याग अभीष्ट है जैसा कि स्वतन्त्रता–सेनानी पिछले दिनों दिखा चुके हैं ।

युग निर्माण योजना को समग्र रूप से कार्यान्वित करने के लिए प्रभावशाली नेतृत्वों की आवश्यकता है, वह अभी पूर्ण नहीं हुआ है । इस आवश्यकता की पूर्ति की जानी चाहिए । अपने परिवार में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं जो नेतृत्व के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं, उनके कदम आगे बढ़ने चाहिए । समय की पुकार अनसुनी न की जानी चाहिए । आन्दोलनों के आरम्भकर्त्ता अपने मौलिक साहस के कारण अधिक श्रेय प्राप्त करते हैं । पीछे तो उसके व्यापक हो जाने पर अनेक उपयुक्त व्यक्ति उसमें आ मिलते हैं । देखना यह है कि युग की इस महान् आवश्यकता की पूर्ति के लिए साहसपूर्ण कदम उठाने के लिए हम में से कौन आगे बढ़ते हैं और किसको इतिहास में अमर बनाने वाला श्रेय लाभ प्राप्त होता है ।

हमारी नीति और क्रिया-पद्धति

विश्व-शान्ति का एकमात्र उपाय है-सत्य और धर्म का अवलम्बन । आत्म-कल्याण भी इसी मार्ग पर चलने से होता है । प्रत्येक निष्ठावान व्यक्ति को प्रचलित अंध-परम्पराओं में से केवल सत्य और धर्म को चुनने और अपनाने का साहस करना चाहिए । आदर्शवाद कहने और सुनने में अच्छा लगता है पर कठिनाई उसके व्यावहारिक रूप को क्रियान्वित करते समय आती है । इस कठिनाई से लड़ने के लिए ही युग-निर्माण योजना को एक आध्यात्मिक प्रशिक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

विशुद्ध अध्यात्म साधन

जो योजनाएँ हम अपने स्वजन सहचरों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं उन्हें विशुद्ध रूप से एक आध्यात्मिक साधन-क्रम माना जाना चाहिए, क्योंकि उन्हें व्यवहार में लाने पर सत्य और धर्म का ही अवलम्बन करना पड़ेगा, विवेक और कर्त्तव्य को ही प्रमुखता देनी पड़ेगी । स्वार्थ और लोभ का, वासना और तृष्णा का-दमन किए बिना इनमें से एक भी कार्य नहीं किया जा सकता । प्रस्तुत योजना में से किसी का भी, किसी भी अंश मे आचरण किया जाएगा तो उससे जीवन-शोधन की प्रक्रिया स्पष्ट ही पूर्ण होगी और लोक-सेवा तो प्रत्यक्ष ही बन पड़ेगी । इस प्रकार जीवन-विकास का लक्ष्य दिन-दिन प्रशस्त होता जाएगा । सेवा-धर्म के अपनाये बिना किसी का शरीर, जीवन, किसी का धन व ज्ञान सार्थक नहीं हो सकता । अखाड़े में जाए बिना कौन पहलवान बना है ? पानी में घुसे बिना किसे तैरना आया है ? इसी प्रकार सेवा कार्य में संलग्न होकर त्याग और करुणा की वृत्तियों को विकसित किये बिना किसी का भी अन्तःकरण न निर्मल हो सका, और न आगे होगा ।

सेवा का सूक्ष्म दर्शन

सेवा कार्यों द्वारा आत्मोन्नति करने का मार्ग सनातन शाश्वत और सर्वसुलभ है । उपासना का सम्मिश्रण हो, जाने से तो सेवा सोने में सुगन्धि का काम करती है । इस मार्ग में जितना अपना लाभ है उतना ही दूसरों का भी लाभ है । जिनकी सेवा की गई है उनका हित साधन होगा ही, उनके सुखों में वृद्धि होगी ही । इस प्रकार उससे स्वार्थ ओर परमार्थ दोनों का लाभ है । जहाँ अपना जीवन धन्य बनता है वहाँ दूसरों के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त होने में जनता-जनार्दन की, विश्व-वसुधा की सुख-शान्ति में वृद्धि होती है । जिन विपत्तियों में होकर आज समस्त संसार गुजर रहा है उन्हें हल करने का मार्ग अपनाते हुए यदि हम आत्म-कल्याण का लक्ष्य भी पूरा करते हैं तो यह निस्सन्देह बहुत बड़ी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता की ही बात कही जाएगी ।

विचार-परिवर्तन ही जीवन परिवर्तन का मूल है । जिस दिशा में भी परिवर्तन प्रस्तुत करना है उससे सम्बन्धित मान्यताओं और विचारधाराओं में परिवर्तन करना होता है, साथ ही यह भी प्रयत्न किया जाता है कि परिवर्तित विचारधाराओं के अनुरूप कार्य-पद्धति में ही हेर-फेर करने का साहस लोग करने लगें । यही एकमात्र प्रक्रिया युग परिवर्तन की कार्य-पद्धति है । हमें यही सेवा-क्रम अपनाना है । विपत्तिग्रस्तों की उनकी तात्कालिक आवश्यकता के अनुरूप कुछ आर्थिक या [illegible] सहायता पहुँचाना भी आवश्यक होता है पर ऐसे [illegible] सदा नहीं आते । ऐसे विपत्तिग्रस्त, जिनकी सहायता

आपको घुलाते रहने की अपेक्षा अब हमें आदर्शवाद की प्रतिष्ठापना करने के लिए कष्ट उठाने की भावनाएँ अपने अन्दर उत्पन्न करनी हैं । यही उत्पादन विश्व-शान्ति की सुरम्य हरियाली के रूप में दृष्टिगोचर हो सकेगा ।

महर्षि अरविन्द ने भी कहा है कि जमाने को बदलने और नये युग के निर्माण की जिम्मेदारी वस्तुतः हमारी है । उनके अनुसार–हर एक आदमी यह कह रहा है कि अब सतयुग नहीं रहा, ईमानदारी, विश्वास, सत्यता इस संसार से विदा ले गई, अब तो कलियुग आ गया है और बढ़ता चला जा रहा है पर इस सतयुग के सम्बन्ध में किसी ने विचार नहीं किया कि आखिर यह है क्या ? सतयुग कोई ऐसी चीज तो है नहीं जो कि जन्म-जन्मान्तर में किसी एक निश्चित समय पर ही आवेगा और फिर बहुत समय के लिए आँखों के सामने से गायब हो जाएगा । सतयुग और कलियुग को तो हम अपने विचारों से स्वयं बना सकते हैं । जिस समय इस जाग्रत जीवन का अधिकार समाप्त करके मनुष्य सूक्ष्म जीवन में पहुँच जाता है, कामना, वासना, संस्कार आदि से किसी भी तरह का अपना सम्बन्ध नहीं रखता । इस स्थूल शरीर में अवस्था भेद के अनुसार अपने जीवन की और अवस्था भेद की समता नहीं रखता अर्थात् आधार और आधारों के सम्बन्धों को दूर कर देगा उसी समय उस संसार में सतयुग का पुनः उदय होगा । इस पृथ्वी पर रहने वाली मनुष्य जाति मन, बुद्धि और शरीर को ही सब कुछ समझती और बतलाती है । इन्हीं के चक्कर में पड़ी वह अनेक प्रकार के खेल खेला करती है, परलोक की खोज खबर वह नहीं रखना चाहती । वहाँ की चर्चा को उसने भुला दिया है । आज फिर नये सिरे से हमें उसकी चर्चा जारी करनी होगी, सोई हुई शक्ति को फिर जगाना होगा, अहंकार को दबा कर रखना होगा । हम दिव्य-लोक के जीव हैं, यह ज्ञान हमें फिर से पाना होगा, यही सतयुग की स्थापना करेगा, इसीलिए हमें साधना और तपस्या करनी है । यदि इस प्रयत्न से एक बार भी हम लोग उस स्थान तक पहुँच गये तो पीड़ाओं तथा वेदनाओं से छुटकारा पाकर सिद्ध बनकर सत्य और आनन्द की लीला में प्रविष्ट होकर इस मृत्युलोक को ही स्वर्ग में बदल देंगे । सतयुग के लोग स्वर्गलोक का पता लगाकर इस भूलोक को छोड़ कर वहाँ उस महत् लोक में पहुँचते थे । लेकिन हम लोग स्वर्गलोक के अधिकारी बनकर इस पृथ्वी को नहीं त्यागेंगे हम इस मृत्युलोक में ही स्वर्ग की लीला का आनन्द लेंगे ।

जब तक माया के फंदे से जीव नहीं छूटता है और भेद-भाव के विचार मन में भरे रहते हैं तब तक उसे वास्तविक ज्ञान नहीं होता है । माया के फन्दे से छूटकर और भेदभाव के विचारों को भावनाओं को निकालने पर ही उसे ज्ञान होता है, तब दिव्य दृष्टि से देखने लगता है । उसमें तथा ब्रह्म में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह जाता, वास्तव में समस्त ब्रह्माण्ड, यह संसार, हमारा शरीर सभी कुछ ब्रह्ममय है इसलिए इस तरह का ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर मृत्युलोक में विचरण करते हुए एक बार फिर से सतयुग की स्थापना करने का भार हम लोगों के ऊपर है जिसे पूरा करना है । नूतन समाज के निर्माण की–नये युग के निर्माण की–जिम्मेदारी हमें उठानी ही होगी ।

सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए नेतृत्व की आवश्यकता

समाज के पुनर्निर्माण के लिए हमें स्वस्थ परम्पराओं को सुविकसित करने और हानिकारक कुरीतियों को हटाने के लिए कुछ विशेष काम करना पड़ेगा । अव्यवस्थित समाज में रहने वाले व्यक्ति कभी महापुरुष नहीं बन सकते । चारों ओर फैली हुई निकृष्ट प्रथाएँ तथा विचारधाराएँ बालकपन से ही मनुष्य को प्रभावित करती हैं । ऐसी दशा में उसका मन भी संकीर्णताओं और ओछेपन से भरा रहता है । व्यक्तित्व के विकास के लिए समाज का स्तर ऊँचा उठाना आवश्यक है । इसलिए अध्यात्म तत्व को मूर्तिमान देखने की आकांक्षा करने वाले प्रबुद्ध व्यक्तियों को अपने समय के समाज में प्रचलित अव्यवस्थाओं को दूर करने के लिए कुछ ठोस और कड़े कदम उठाने ही पड़ते हैं ।

हम भी इन जिम्मेदारियों से बच नहीं सकते । सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए साहसपूर्ण कदम उठाने की आवश्यकता है । विवाहों के नाम पर होने वाला अपव्यय हमारे समाज की सबसे घातक कुरीति है । उसका उन्मूलन हमारे जातीय जीवन-मरण का प्रश्न है । इस कुप्रथा की जड़ें इतनी गहरी घुस गई हैं कि उन्हें एकाकी कोई व्यक्ति नहीं उखाड़ सकता, इसके लिए सामूहिक एवं संगठित प्रयत्न ही सफल हो सकते हैं । अतः जातीय संगठनों की आवश्यकता का प्रतिपादन किया जाता रहा है । इस संगठन का प्राथमिक उद्देश्य अपव्यय रहित आदर्श विवाहों की परम्परा प्रचलित करना है पर बात यहीं तक सीमित रहने वाली नहीं है । आगे चलकर कुरीतियों का उन्मूलन तथा सभ्य-समाज के लिए उपयुक्त स्वस्थ परम्पराओं का प्रचलन करना पड़ेगा । आरम्भ इस रूप में हो रहा है पर इसका अन्त एक सुविकसित, स्वस्थ, सशक्त एवं प्रबुद्ध समाज की नवरचना की सफलता के रूप में ही होगा ।

यह भ्रम किसी को भी नहीं करना चाहिए कि जाति-पाँति के नाम पर जो संकीर्णता का विष आज चारों ओर फैला हुआ है, उसको इन संगठनों द्वारा प्रोत्साहन मिलेगा, ऐसा कदापि सम्भव नहीं । हम प्रगतिशील विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं और एक आदर्शवादी कार्यक्रम आरम्भ कर रहे हैं । दूसरे जातीय संगठनों ने उस संकीर्णता

का विष भले ही बढ़ाया हो पर हम तो उसका उन्मूलन करने चले हैं और हर कदम फूँक-फूँककर उठाने की सावधानी रख रहे हैं। ऐसी दशा में लक्ष्य से विपरीत दिशा में काम होने लगेगा, ऐसी आशंका क्यों करनी चाहिए ? युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत आरम्भ किए गए प्रगतिशील रचनात्मक सामाजिक क्रान्ति की भूमिका ही सम्पन्न करेंगे उनके द्वारा पुनर्निर्माण का रचनात्मक कार्य ही सम्भव होगा।

इस रचनात्मक कार्यक्रम को, सांस्कृतिक परम्परा को कार्यान्वित करने के लिए ऐसे कर्मठ एवं सक्रिय कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है, जो इस दिशा में कुछ कहने लायक योगदान दे सके, अधिक समय लगावें और अधिक उत्साह प्रदर्शित करें। इन छोटे रूप में आरम्भ की जाने वाली इस सामाजिक क्रान्ति का रूप आगे चलकर निश्चित रूप से बहुत व्यापक होने वाला है। उसका नेतृत्व, राजनैतिक पीढ़ी के नवरत्न राजनैतिक स्वाधीनता संघर्ष में बहुत कुछ त्याग-बलिदान करके भारत माता का मस्तक ऊँचा कर चुके हैं। अब वर्तमान पीढ़ी के सामने सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति की आवश्यकता उपस्थित है। इसके लिए वैसा ही साहस एवं त्याग अभीष्ट है जैसा कि स्वतन्त्रता-सेनानी पिछले दिनों दिखा चुके हैं।

युग निर्माण योजना को समग्र रूप से कार्यान्वित करने के लिए प्रभावशाली नेतृत्वों की आवश्यकता है, वह अभी पूर्ण नहीं हुआ है। इस आवश्यकता की पूर्ति की जानी चाहिए। अपने परिवार में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं जो नेतृत्व के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं, उनके कदम आगे बढ़ने चाहिए। समय की पुकार अनसुनी न की जानी चाहिए। आन्दोलनों के आरम्भकर्त्ता अपने मौलिक साहस के कारण अधिक श्रेय प्राप्त करते हैं। पीछे तो उसके व्यापक हो जाने पर अनेक उपयुक्त व्यक्ति उसमें आ मिलते हैं। देखना यह है कि युग की इस महान् आवश्यकता की पूर्ति के लिए साहसपूर्ण कदम उठाने के लिए हम में से कौन आगे बढ़ते हैं और किसको इतिहास में अमर बनाने वाला श्रेय लाभ प्राप्त होता है।

हमारी नीति और क्रिया-पद्धति

विश्व-शान्ति का एकमात्र उपाय है-सत्य और धर्म का अवलम्बन। आत्म-कल्याण भी इसी मार्ग पर चलने से होता है। प्रत्येक निष्ठावान व्यक्ति को प्रचलित अंध-परम्पराओं में से केवल सत्य और धर्म को चुनने और अपनाने का साहस करना चाहिए। आदर्शवाद कहने और सुनने में अच्छा लगता है, पर कठिनाई उसके व्यावहारिक रूप को क्रियान्वित करते समय आती है। इस कठिनाई से लड़ने के लिए ही युग-निर्माण योजना को एक आध्यात्मिक प्रशिक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

विशुद्ध अध्यात्म साधन

जो योजनाएँ हम अपने स्वजन सहचरों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं उन्हें विशुद्ध रूप से एक आध्यात्मिक साधन-क्रम माना जाना चाहिए, क्योंकि उन्हें व्यवहार में लाने पर सत्य और धर्म का ही अवलम्बन करना पड़ेगा, विवेक और कर्त्तव्य को ही प्रमुखता देनी पड़ेगी। स्वार्थ और लोभ का, वासना और तृष्णा का-दमन किए बिना इनमें से एक भी कार्य नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत योजना में से किसी का भी, किसी भी अंश में आचरण किया जाएगा तो उससे जीवन-शोधन की प्रक्रिया स्पष्ट ही पूर्ण होगी और लोक-सेवा तो प्रत्यक्ष ही बन पड़ेगी। इस प्रकार जीवन-विकास का लक्ष्य दिन-दिन प्रशस्त होता जाएगा। सेवा-धर्म के अपनाये बिना किसी का शरीर, जीवन, किसी का धन व ज्ञान सार्थक नहीं हो सकता। अखाड़े में जाए बिना कौन पहलवान बना है ? पानी में घुसे बिना किसे तैरना आया है ? इसी प्रकार सेवा कार्य में संलग्न होकर त्याग और करुणा की वृत्तियों को विकसित किये बिना किसी का भी अन्तःकरण न निर्मल हो सका, और न आगे होगा।

सेवा का सूक्ष्म दर्शन

सेवा कार्यों द्वारा आत्मोन्नति करने का मार्ग सनातन शाश्वत और सर्वसुलभ है। उपासना का सम्मिश्रण हो, जाने से तो सेवा सोने में सुगन्धि का काम करती है। इस मार्ग में जितना अपना लाभ है उतना ही दूसरों का भी लाभ है। जिनकी सेवा की गई है उनका हित साधन होगा ही, उनके सुखों में वृद्धि होगी ही। इस प्रकार उससे स्वार्थ ओर परमार्थ दोनों का लाभ है। जहाँ अपना जीवन धन्य बनता है वहाँ दूसरों के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त होने में जनता-जनार्दन की, विश्व-वसुधा की सुख-शान्ति में वृद्धि होती है। जिन विपत्तियों में होकर आज समस्त संसार गुजर रहा है उन्हें हल करने का मार्ग अपनाते हुए यदि हम आत्म-कल्याण का लक्ष्य भी पूरा करते हैं तो यह निस्सन्देह बहुत बड़ी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता की ही बात कही जाएगी।

विचार-परिवर्तन ही जीवन परिवर्तन का मूल है। जिस दिशा में भी परिवर्तन प्रस्तुत करना है, उससे सम्बन्धित मान्यताओं और विचारधाराओं में परिवर्तन करना होता है, साथ ही यह भी प्रयत्न किया जाता है कि परिवर्तित विचारधाराओं के अनुरूप कार्य-पद्धति में ही हेर-फेर करने का साहस लोग करने लगें। यही एकमात्र प्रक्रिया युग परिवर्तन की कार्य-पद्धति है। हमें यही सेवा-क्रम अपनाना है। विपत्तिग्रस्तों को उनकी तात्कालिक आवश्यकता के अनुरूप कुछ आर्थिक या शारीरिक सहायता पहुँचाना भी आवश्यक होता है पर ऐसे अवसर सदा नहीं आते। ऐसे विपत्तिग्रस्त, जिनकी सहायता दूसरों

को करनी ही पड़े कम ही होते हैं । धन अपहरण करने के लिए चोर-डाकुओं की भाँति बहानेबाज बहुरुपिये भी बहुत फिरते हैं । वे कभी पीड़ित का रूप बना लेते हैं, कभी धर्मध्वजी का । वस्तुतः विपत्ति-ग्रस्तों को उनकी स्थिति सँभलने तक सहायता करना उचित है, पर भावुकतावश ऐसे धूर्तों के जाल में भी नहीं फँसना चाहिए, जो वस्तुतः सहायता के अधिकारी नहीं होते हैं जिन्हें मुफ्त का धन प्राप्त करने का चस्का पड़ जाता है, वे आलसी और निकम्मे ही नहीं बनते वरन् बहानेबाजी, प्रवंचना एवं अनेक नैतिक बुराइयाँ भी बढ़ाने लगते हैं । इसलिए सेवा के मार्ग में इस खतरे से भी हम सबको पूरी सतर्कता और सावधानी बरतनी चाहिए, अन्यथा पुण्यफल देने वाली होने की अपेक्षा वह सेवा पाप और दुष्टता का पोषण करने लगेगी और सर्प को दूध पिलाने पर विष बढ़ने के समान संसार में विपत्ति ही उत्पन्न करेगी ।

सद्विचारों की प्रचण्ड-शक्ति

सद्विचारों की प्रेरणा और सत्कर्मों के लिए प्रोत्साहन यही इस विश्व का सबसे बड़ा पुण्यकार्य है । इसे ही ब्रह्म ज्ञान या ब्रह्म-यज्ञ कहते हैं । युग-निर्माण का आयोजन करते हुए हमें ज्ञान-यज्ञ के लिए बड़े से बड़ा त्याग और प्रयत्न करना चाहिए । ज्ञान में वह शक्ति मौजूद है कि उसको यदि भावना स्तर तक पहुँचाकर प्रखर एवं ओजस्वी बना दिया जाए तो निस्सन्देह व्यक्ति उस प्रकार के कार्य करने लगेगा और जहाँ सत्कर्म होने लगेंगे वहाँ स्वर्गीय वातावरण उत्पन्न होने में कोई कठिनाई नहीं रहेगी ।

हम यही प्रयत्न करने चले हैं । इन पंक्तियों के माध्यम से तथा अन्तरात्मा की प्रचंड आकांक्षा द्वारा 'अखण्ड-ज्योति परिवार' के प्रत्येक सदस्य के मन में यह भावनाएँ उत्पन्न हो रही हैं कि उसे उपासना, जीवन-शोधन और सेवा-कार्यों का भी उसी प्रकार ध्यान रखना चाहिए जैसे कि रोटी कमाने, वासनाओं को तृप्त करने तथा शरीर का पोषण करने का ध्यान रखा जाता है । यदि इस प्रयत्न में हमें सफलता मिलती है तो निश्चय ही २४ लाख व्यक्तियों का आज का 'अखण्ड ज्योति परिवार' कल करोड़ों और परसों ६ अरब व्यक्तियों के जीवन में सत्प्रवृत्तियों का जागरण उत्पन्न करके स्वर्गीय परिस्थितियों का निर्माण करेगा ।

सत्प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि

हमें ऐसे सेवा-कार्यों का सृजन करना चाहिए, जिनके सम्पर्क में आने वाले प्रभावित हुए बिना न रहे । अन्न-वस्त्र देने से किसी की भूख बुझ सकती है, सामयिक आवश्यकता पूरी हो सकती है, पर उसे वह मार्ग नहीं मिल सकता जिससे उसे आजीवन अपने अभावों को अपने बलबूते पर दूर करने का उपाय मिल जाए । जो ज्ञान इस आवश्यकता को पूर्ण कर सकता हो वह हजारों टन अन्न और ढेरों वस्त्र देने से अधिक महत्त्वपूर्ण है । हमें महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रतिपादित करनी है, इसलिए महत्वपूर्ण सेवा-कार्यों का भी अपनाया जाना जरूरी है ।

जिन सेवा कार्यों को हम पाठकों के सामने प्रस्तुत कर रहे हैं वे सभी ऐसे हैं जिनसे व्यक्ति की तात्कालिक आवश्यकताएँ पूर्ण करने में ही सुविधा न मिलेगी वरन् जीवन की समस्याओं के सुलझाने में भी स्थायी रूप से योगदान मिलेगा । साथ ही एक विशेषता यह भी है कि इसमें धन की नहीं भावना की ही प्रधानता रहेगी । इन कार्यों को गरीब और स्वल्प साधन सम्पन्न व्यक्ति भी कर सकते हैं ।

अपनी कार्यशैली यह होनी चाहिए कि योजना की प्रस्तुत विचारधारा को जन-मानस में प्रवेश कराने के लिए हम सब व्यापक रूप से प्रयत्न करें । युग-निर्माण की विचारधारा अत्यन्त ही प्रौढ़ और प्रखर चेतना युक्त, विश्व-समस्याओं को हल करने की क्षमता एवं संभावना से परिपूर्ण है । इसे जनमन में प्रवेश कराने के लिए हमारा विशाल परिवार यदि जुट पड़े तो चक्रवृद्धि ब्याज के क्रम से लाखों-करोड़ों अन्तःकरण में यह प्रेरणा हिलोरें मारने लगेगी ।

प्रभाव क्षेत्र में प्रेरणा

अच्छा तो यह है कि हम लोग अधिक से अधिक जन-सम्पर्क बनावें और प्रस्तुत विचारधारा को अपनी बुद्धि, प्रतिभा और सामयिक परिस्थिति के अनुसार विभिन्न प्रकार से उन सबको समझावें जो अपने सम्पर्क में किसी भी प्रकार आया करते हैं । अपने स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी, मित्र, स्वजन, सम्बन्धी, परिचित एवं किसी भी रूप से सम्बद्ध होने वाले व्यक्तियों को इस विचारधारा का परिचय मिले और वे उस प्रेरणा से प्रेरित होकर कुछ करने के लिए कटिबद्ध हो जाएँ ऐसा प्रयास पूर्णतया सम्भव है । सच्ची श्रद्धा, सच्ची लगन और सच्ची चेष्टा होने पर सच्चाई से भरे विचार निस्सन्देह दूसरों पर जादू की तरह असर कर सकते हैं ।

पिछले कुछ वर्षों में अपने स्वल्प प्रयत्नों से लाखों व्यक्तियों को निष्ठापूर्वक गायत्री उपासना में संलग्न किया जा चुका है । तब की अपेक्षा अब अपने साथियों की संख्या और निष्ठा कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी हैं । युग-निर्माण की सफलता के सम्बन्ध में सन्देह करने को कोई बात नहीं, क्योंकि इसके पीछे युग की पुकार और दैवी प्रेरणा का प्रचंड-बल मौजूद है । यह बल जिस प्रक्रिया के भी पीछे होगा उसकी सफलता सुनिश्चित ही रहती है ।

'अखण्ड-ज्योति' इस प्रवृत्ति का मूल उद्गम होने से उसको अधिकाधिक लोगों में पढ़ाया या सुनाया जाना आवश्यक है । हममें से प्रत्येक व्यक्ति सर्वप्रथम कार्य यह करे कि अपनी पत्रिका को अपने सम्बन्धित समाज में लोक-प्रिय बनाने का प्रयत्न करे । जो लोग इसे पढ़ेंगे वे इन कार्यक्रमों से प्रभावित होंगे और उस मार्ग पर चलने का प्रयत्न करेंगे जिसके लिए कि प्रेरणा दी जा रही है । एक

निश्चित विचारधारा से प्रभावित लोगों का संगठन भी बन सकता है और उनके द्वारा ऐसे सामूहिक प्रयत्न भी आरम्भ हो सकते हैं जो युग-परिवर्तन की महत्त्वपूर्ण भूमिका के रूप में संसार के सामने आवें ।

विचार-क्रान्ति का प्रतिफल

नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए लोकमानस को अनुकूल एवं भावान्वित करने का हमारा प्रथम प्रयत्न होना चाहिए । इस प्रयत्न को विचार-क्रान्ति कहा जा सकता है । विचार क्रान्ति जब मस्तिष्क क्षेत्र से उतरकर व्यवहार क्षेत्र में आवेगी तो उसका परम श्रेयस्कर स्वरूप नैतिक क्रान्ति जैसा दिखाई देगा । मनुष्य ईश्वर का पुत्र है । उसे पृथ्वी का देवता कहा गया है । असत् मार्ग छोड़ कर-असत् दृष्टिकोण का परित्याग कर यदि वह विवेक, सत्य, धर्म और कर्तव्य को अपना ले तो फिर इस धरती पर प्रयत्क्ष ही स्वर्ग अवतरित दिखाई देगा । इसी महा अभियान के संलग्न होने के लिए हम अखण्ड-ज्योति परिवार के प्रत्येक सदस्य का आह्वान करते हैं ।

हमारी कार्य-पद्धति यह हो

जिस प्रकार आक्रमणकारी देशों से निपटने के लिए हम अपने सैन्य साधन तेजी से बढ़ाने में संलग्न हैं, जिस प्रकार गरीबी और अशिक्षा को दूर करने के लिए देश में अनेक प्रवृत्तियाँ चल रही हैं उसी प्रकार सद्भावनाओं का अकाल दूर करने के लिए विशाल परिमाण में यह प्रयत्न करना होगा कि जन-मानस में उत्कृष्टता एवं आदर्शवाद के लिए उत्साह उत्पन्न हो, लोग उसका महत्त्व समझें और इस दिशा में अग्रसर होने के लिए आवश्यक धैर्य और शौर्य की वृत्ति को परिपक्व बनावें ।

जिस प्रकार कृषि का एक बड़ा फार्म बनाने के लिए विशिष्ट उपकरणों की आवश्यकता होती है, जिस प्रकार कोई बड़ा कारखाना या मिल लगाने के लिए अनेक यंत्र एवं उपकरण अभीष्ट होते हैं उसी प्रकार सद्भावनाओं का उत्पादन विशाल परिमाण में करने के लिए बड़े उपकरणों की आवश्यकता होगी । यह उपकरण हो सकते हैं वे व्यक्ति जो अपने साथ कुछ जन्मजात सुसंस्कार लेकर जन्में हों । मजबूत लोहे की बनी हुई मशीन ही देर तक ठीक काम कर सकती है । कच्चे लोहे से बने हुए यन्त्र या पुर्जे थोड़ा-सा दबाव पड़ने पर निष्प्रयोज्य हो जाते हैं । तत्काल उत्साह देकर या आवेश उत्पन्न करके किसी से कुछ सत्कर्म कराया तो जा सकता है पर मनोभूमि कच्ची होने के कारण वह उत्साह देर तक ठहरता नहीं, आवेश ठण्डा होते ही लोग पुनः अपने पुराने ढर्रे पर लौट आते हैं ।

दृढ़-चरित्र, दृढ़-प्रतिज्ञ और प्रकाशवान् व्यक्तित्व ही युग-निर्माण का उद्देश्य पूर्ण कर सकते हैं, अब उन्हीं को ढूँढ़ा और पकाया जाना चाहिए । प्रारम्भिक प्रयत्न यह होना चाहिए कि जिन लोगों में धैर्य, नीति और सदाचार के बीजांकुर किसी रूप में उगे हुए दिखाई पड़ें, पहले उन्हें प्रभावित किया जाए खाद और पानी पाकर मुरझाये हुए पौधे भी हरे-भरे होते और तेजी से बढ़ते हैं । जिनमें थोड़ी भी अभिरुचि सत्प्रवृत्तियों की ओर है उन्हें यदि सत्संग का खाद और स्वाध्याय का पानी मिलने लगे तो वे अवश्य ही सुविकसित होंगे ।

युग-निर्माण की प्रौढ़ विचारधारा वर्षा के जल के समान उपयोगी सिद्ध होती है । हम लोग अपने छोटे-मोटे व्यक्तित्वों के द्वारा भी उन नवविकसित अंकुरों के लिए खाद की आवश्यकता पूरी कर सकते हैं । विद्वानों और दिग्गजों से शास्त्रार्थ करने की शक्ति भले ही न हो पर अभिनव बीजांकुरों को प्रेरणा देने के लिए कोई भी ईमानदार और भावनाशील व्यक्ति कुछ न कुछ प्रेरणा देने वाले मार्गदर्शन अवश्य कर सकता है । देखना यह चाहिए कि हमारे परिवार, पड़ौस में, स्वजन-सहयोगियों में, परिचित प्रियजनों में कौन-कौन व्यक्ति ऐसे हैं जिनके गुण-कर्म-स्वभाव में सज्जनता और विचारशीलता का अंश समुचित मात्रा में विद्यमान है जो लोग ऐसे दीख पड़ें । उनके नाम नोट कर लेने चाहिए और उन्हें प्रेरणा देने का कार्य अपने जिम्मे ले लेना चाहिए ।

सत्साहित्य पढ़ने में रुचि उत्पन्न करना पहला काम है । आमतौर से लोग आत्म-निर्माण जैसे रूखे और शुष्क समझे जाने वाले विषय को पढ़ना और सुनना पसंद नहीं करते । मनोरंजन और स्वार्थ की बातों में सहज ही मन लगता है पर उत्कृष्ट आदर्शवाद के सुनने-समझने तक की अभिरुचि नहीं जगती । इस ओर अभिरुचि को जगाना, आधी बाजी जीत लेने के समान है । किसी जमाने में चाय का प्रचार बिल्कुल भी न था, लोग उसके नाम, स्वाद और गुण से बिल्कुल भी परिचित न थे, पर चाय कम्पनी के प्रचारकों ने बड़े ही सुव्यवस्थित रूप से उसका प्रचार जम कर किया और कुछ ही दिनों में उसका चस्का जन-साधारण को लगा दिया । आज घर-घर चाय का प्रचार है, रात-दिन होठों पर प्याले लगे रहते हैं । बीड़ी और सिगरेट का प्रचार भी इसी तरह व्यापक बनता जाता है । यही गतिविधि यदि सद्विचारों, सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाने में अपनाई जावे तो उसका भी वैसा ही परिणाम निकलेगा, यदि सद्विचारों को सुनने-समझने में चाय, बीड़ी जैसा रस आने लगे तो समझना चाहिए कि तीन चौथाई मोर्चा फतह हो गया । विचारों को यदि अन्तःकरण में समुचित स्थान मिल जावे तो उसका प्रभाव प्रत्यक्ष जीवन पर पड़ेगा ही, लोग वैसे ही काम भी अवश्य करने लगेंगे ।

निकिल के बने सिक्कों का खोटा-खरा परखने के लिए दुकानदार लोग एक चुम्बक अपने पास रखते हैं और उससे छूकर यह जान लेते हैं कि वह असली है या नकली जो सिक्के चुम्बक से चिपक जाते हैं वे असली, जो नहीं चिपकते वे नकली माने जाते हैं । सद्विचारों की ओर अभिरुचि जिनकी लग सके उनसे यह सहज ही आशा

जा सकती है कि ये आगे चलकर श्रेष्ठ कर्मों में भी प्रवृत्त होंगे और युग-निर्माण कार्यक्रम के लिए कुछ उपयुक्त सिद्ध हो सकेंगे । मनोभूमि की श्रेष्ठता को ठीक तरह परिपक्व बनाने के लिए बहुत दिनों तक लगातार उसे सद्विचारों को हृदयगंम करते रहने की आवश्यकता होती है । अभ्रक, भस्म, मकरध्वज आदि रसायन बनाने के लिए उनके अग्नि-संस्कार करने पड़ते हैं, अनेक पुट देने होते हैं और घुटाई-पिसाई की व्यवस्था बनाई जाती है । इसी प्रकार किसी व्यक्ति के 'दृढ़-पुरुष' बनाने के लिए उसे देर तक प्रौढ़ सद्विचारों के साथ अपने आपको घोटना पीसना पड़ता है । रसायन बनाने वाले वैद्यों की तरह युग-पुरुष बनाने के लिए हमें भी उसी प्रक्रिया को अपनाना होगा ।

बड़े काम के लिए बड़े व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है । हाथी लोहे की मोटी जंजीरों से बाँधे जाते हैं । पतली कमजोर रस्सी से बाँध कर उन्हें रोक रख सकना कठिन है । युग-निर्माण जैसे महान् कार्य के लिए ऐसे लोगों की आवश्यकता है जिन्होंने उत्कृष्ट विचारों को चिन्तन और मनन करते-करते अपनी मनोभूमि को प्रलोभन और कठिनाइयों से टक्कर लेने की क्षमता से सुसम्पन्न बना लिया हो । बाह्य आवेश से नहीं वरन् अन्तरात्मा की सुस्थिर प्रेरणा के आधार पर जो लोग श्रेष्ठता के सन्मार्ग पर आरूढ़ होते हैं उन्हीं के लिए अन्त समय तक चलते रहना संभव होता है ।

भड़काने वाले, आवेश उत्पन्न करने वाले भाषण सुनकर, लेख पढ़कर या अन्य प्रकार की उत्तेजना से प्रभावित होकर कोई व्यक्ति तत्काल सत्कर्म करने की प्रतिज्ञा कर लेता है, पर आन्तरिक दुर्बलता के कारण वह प्रतिज्ञा देर तक निभती नहीं । नामवरी और प्रशंसा के लोभ से कई व्यक्ति कुछ सत्कर्म करते हैं उसमें दिखावा अधिक होता है । जब तक दिखावा रहा तब तक उत्साह भी रहा, जब पद छिना, प्रतिष्ठा घटी तभी वे उससे विरत होने लगे । हमने आन्दोलनों के भीतर घुसकर देखा है, अनेक से हमारा अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध रहा है और अनेक आन्दोलनों को हमने जन्म दिया है । इसलिए हमारे जीवन भर के अनुभवों का निष्कर्ष इस रूप में है कि मनोभूमि की परिपक्वता के बिना जो लोग क्षणिक प्रेरणा या आवेश में कुछ काम कर बैठते हैं वे देर तक परमार्थ के कठिन मार्ग पर चलते नहीं रह सकते । व्रत को अन्त तक निबाहने की आशा केवल उन्हीं से की जा सकती है जिन्होंने उस आदर्शवाद की भावनाओं को चिरकाल तक अपने अन्तःकरण में पर्याप्त स्थान दिया है और भली प्रकार सोच-समझ कर उस मार्ग पर चलने का कदम उठाया है । युग-निर्माण के लिए ऐसे ही परिपक्व मनोभूमि के व्यक्तियों की आवश्यकता है ।

समाज में अनेक प्रकार की सत्प्रवृत्तियों का बढ़ाया जाना और अनेक दुष्प्रवृत्तियों को हटाया जाना आवश्यक है । जिस सभ्य समाज की रचना का स्वप्न साकार करने के लिए हम अग्रसर हो रहे हैं उसका आधार ऐसे सुदृढ़ व्यक्तित्व ही हो सकते हैं जो अपना आदर्श उपस्थित करके दूसरों को अनुकरण की प्रेरणा दे सकें । बुराइयों को मिटाने के लिए उनसे टक्कर लेना आवश्यक है । टकराने में चोट लगने का खतरा रहता ही है, उसे सहने में शूरवीर ही समर्थ होते हैं । कमजोर तबियत के आदमी ऐसे अवसरों पर भाग खड़े होते हैं और विरोधियों के हौसले बढ़ाने में सहायक होते हैं । युग-निर्माण कार्यों में अनुकरण के उपयुक्त आदर्श उपस्थित करना और दुराचार से संघर्ष करना अनिवार्य है । इसलिए यह भी आवश्यक है कि इन प्रवृत्तियों को अग्रसर करने वाले लोग काफी मजबूत हों । यह आन्तरिक मजबूती, सद्विचारों को निरन्तर हृदयंगम करते रहने से ही प्राप्त हो सकती है ।

सज्जन प्रकृति के नर-नारियों को तलाश करना और उन्हें स्वाध्याय-सत्संग के बाद खाद पानी से सींचना विशाल वट वृक्षों को रोपने के समान इस युग का सबसे बड़ा पुण्य-परमार्थ समझा जाना चाहिए । पतित मनोभूमि का मनुष्य दीन-हीन और तुच्छ-घृणित ही समझा जा सकता है, पर यदि वह आत्मबल सम्पन्न हो तो नर-रत्न, महापुरुष, ऋषि और अवतार भी बन सकता है । तुच्छ को महान बना देने की शक्ति केवल उत्कृष्ट विचारों में ही रहती है । "स्वाति का जल सीप में पड़ने से मोती बनता है, बाँस में पड़ने से बंसलोचन और केला में जाने से कपूर बनता है ।" सद्विचारों की स्वाति-बूँद जिस मन-मस्तिष्क में प्रवेश करती है उसे अजर-अमर ही बना देती है, वह उज्ज्वल नक्षत्र की तरह स्वयं चमकता है और अन्य व्यक्तियों को प्रकाश देने का निमित बन जाता है । इसलिए सद्विचारों की उपयुक्त मनोभूमि में प्रतिष्ठापना करने का प्रयत्न 'ब्रह्मकर्म' माना जाता है । उससे बड़ा पुण्य-परमार्थ और कुछ भी इस धरती पर नहीं है ।

इन तथ्यों को हमें भली-भाँति समझना चाहिए और धर्म-कर्तव्य की दृष्टि से, जीवन को सफल बनाने की दृष्टि से, युग-निर्माण की दृष्टि से सद्विचारों के प्रचार की पुण्य-प्रक्रिया को अपने और दूसरों की मनोभूमि में गहराई तक प्रवेश करने के लिए अपना समय और मनोयोग नियमित रूप से लगाते रहने का व्रत लेना चाहिए । स्वयं स्वाध्यायशील बनें, मनन और चिन्तन द्वारा आत्म-निर्माण के लिए सद्विचारों को व्यावहारिक जीवन में उतारें, अपने परिवार के हर सदस्य को इस लाभ से लाभान्वित होने के लिए प्रेरित करें । साथ ही यह भी प्रयत्न करें कि अपने समीपवर्ती क्षेत्र में, सभी प्रिय परिचितजनों में उस विचारधारा का विस्तार हो । जिन पर भी अपना प्रभाव हो, उन्हें ऐसी प्रेरणा देनी चाहिए कि वे सद्विचारों को नियमित रूप से अपनाने की अभिरुचि उत्पन्न करें । प्रभाव वही सराहनीय है जिससे प्रभावित व्यक्तियों को उत्कर्ष की प्रेरणा मिले । जिसमें भी सुसंस्कारों का बीजांकुर दिखाई पड़े उसे सींचने के लिए हमें अवसर और अवकाश निकाल ही लेना चाहिए ।

हम प्रज्ञा परिवार के सदस्य इस गतिविधि को सच्चे मन से अपनावेंगे तो अपना परिवार दिन दूना रात चौगुना

बढ़ेगा । सज्जनों का समुदाय बढ़ना उनका अल्पमत में न रहकर बहुमत तक पहुँच जाना इस बात का प्रमाण होगा कि युग-परिवर्तन की पुण्य-प्रक्रिया सफलता के बिल्कुल समीप जा पहुँची है । इस प्रजातंत्र के युग में जिसे वोट अधिक मिल जाते हैं वही दल या व्यक्ति राज्य शासन सँभालता है । उसी की इच्छा सारी प्रजा को माननी पड़ती है । सज्जनता का, सद्भावना का, मानवता का यदि बहुमत होगा, अधिक संख्या में लोग उस प्रकार के बन जाएँगे तो उनका प्रतिफल भी यही होगा कि अल्पमत वाले दुर्बुद्धियुक्त व्यक्तियों को बहुमत के आगे झुकने को विवश होना पड़े । आज सद्भावना अल्पमत में है तो दुष्प्रवृत्तियों के आगे उन्हें परास्त होना पड़ता है, कल जब दुर्भावनाएँ अल्पमत में होंगी तो उन्हें सद्भावनाओं का आधिपत्य स्वीकार करना होगा । हमें यही सब तो करना है ।

हमारा एक भी प्रिय परिजन ऐसा न रहे जो अपने प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत होने पर भी सद्विचारों में अभिरुचि लेने के लिए प्रेरणा प्राप्त न करे । स्वाध्याय का साधन 'अखण्ड-ज्योति' प्रस्तुत करती है, सत्संग की प्रेरणा पूर्ति हम स्वयं करें । उभयपक्षीय लाभों से अपने प्रभाव परिक्षेत्र को पूरी तरह लाभान्वित करें । इसमें हमारा धर्म-कर्त्तव्यपालन होता है, स्वजनों का जीवन सुधरता है और युग -निर्माण का एक सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होता है, ऐसे उपयोगी कार्य के लिए हमें प्रयत्नशील होना ही चाहिए ।

संगठन और उसका भावी स्वरूप

युग निर्माण का शतसूत्री कार्यक्रम इस दृष्टि से बनाया गया है कि उसके आधार पर कोई एक व्यक्ति भी अपना छोटा क्षेत्र बनाकर कार्य आरम्भ कर सकता है । व्यापक क्षेत्र में विस्तृत किए जाने वाले प्रयत्न, संगठित प्रयत्नों से ही विफल होते हैं, इसलिए हमें अधिक संघ-बद्ध एवं संगठित ही होना पड़ेगा और युग-निर्माण की महान योजना को सफल बनाने के लिए, एक सुसंगठित सेना के रूप में ही कदम बढ़ाना पड़ेगा पर उस संघ का निर्माण भी तो एक सुदृढ़ आधार पर होना चाहिए । अपरिपक्व विचारों वाले लोगों में कोई क्षणिक आवेश उत्पन्न करके कुछ काम करा लेना कठिन नहीं है । अधिकांश आन्दोलन ऐसे ही उत्तेजनात्मक वातावरण में उत्पन्न किये जाते हैं पर वे देर तक ठहरते नहीं, जोश ठंडा होते ही वह कार्यक्रम भी समाप्त हो जाता है, ऐसे अनेक प्रकार के आन्दोलन आँधी-तूफान की तरह उठते और पानी के बबूले की तरह नष्ट होते हमने अपनी आँखों से देखे हैं ।

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि पारमार्थिक कार्यों में निरन्तर प्रेरणा देने वाली आत्मिक स्थिति जिनकी बन गई होगी वे ही युग-निर्माण जैसे महान कार्य के लिए देर तक धैर्यपूर्वक कुछ कर सकने वाले होंगे । ऐसे ही लोगों के द्वारा ठोस कार्यों की आशा की जा सकती है । गायत्री आन्दोलन में केवल भाषण सुनकर या यज्ञ-प्रदर्शन देखकर जो लोग शामिल हुए थे वे देर तक अपनी माला साधे न रह सके, पर जिन लोगों ने गायत्री साहित्य पढ़कर विचार मंथन के बाद इस मार्ग पर कदम बढ़ाया था, वे पूर्ण निष्ठा और श्रद्धा के साथ लक्ष्य की ओर तेजी से बढ़ते चले जा रहे हैं । युग-निर्माण कार्य के लिए हम उत्तेजनात्मक वातावरण में अपरिपक्व लोगों को साथ लेकर बालू के महल जैसा कच्चा आधार खड़ा नहीं करना चाहते । इसलिए इस संघ में उन्हीं लोगों पर आशा भरी नजर डाली जाएगी जो बात को गहराई तक समझ चुके हैं, उसकी जड़ तक जा चुके हैं ।

अखण्ड-ज्योति परिवार में वे लोग हैं जो हमारे साथ हिल-मिलकर बैठते और हमारे चौके में भोजन करते हैं । अखण्ड-ज्योति परिवार एक रसोईघर है, जिसमें हम अपने बड़े अरमानों के साथ इस भोजन को पकाते हैं और जो स्वजन हमें अपना समझते हैं उनको माता जैसी वात्सल्य भावना के साथ परोसते, खिलाते हैं, जिन्हें इस परिवार में रहते इस रसोई-घर में भोजन करते लम्बा समय हो गया उनसे हमें बड़ी-बड़ी आशा हैं तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है । गायत्री आन्दोलन कुछ ही वर्षों में विशाल रूप में पनपा था । गायत्री तपोभूमि का निर्माण, २४ लाख गायत्री उपासकों का आविर्भाव एक हजार कुंडों वाले यज्ञ का अभूतपूर्व आयोजन, देश भर में २४ हजार कुण्डों के यज्ञों की आश्चर्यजनक पूर्ति आदि अगणित कार्य ऐसे थे जो बात की बात में सम्पन्न किए गए थे ।

जिस युग निर्माण योजना को लेकर अपना संघ-बद्ध अखण्ड-ज्योति परिवार अग्रसर हो रहा है उसके हर परिजन को अभी हाल में प्रारम्भिक कार्यक्रम ऐसा सौंपा गया है जिसे वह अकेला ही कर सके । औंधे-सीधे लोगों का भानमती का कुनबा इकट्ठा करके कोई संगठन बना लिया जाए तो वह ठहरता कहाँ है ? गायत्री परिवारों की कितनी ही शाखाएँ इसी प्रकार ठप्प हुईं । अब उस गलती को दुबारा नहीं दुहराना चाहिए । जिन लोगों की दृष्टि में विचारों का कोई मूल्य या महत्त्व नहीं वे किसी कार्य में देर तक कब ठहरने वाले हैं ? जो लोग अखण्ड-ज्योति नहीं मँगा सके, जो गायत्री साहित्य नहीं पढ़ सके वे किसी समय बड़े भारी श्रद्धावान दीखने वाले साधक भी आज सब कुछ छोड़ बैठे दीखते हैं । प्रेरणा का सूत्र टूट गया, अपना निज का कोई गहरा स्तर था नहीं फिर उनके पैर भौतिक बाधाओं के झकझोरे में कब तक टिके रहते ? इसीलिए हम यह बारीकी से देखते रहते हैं कि सामने बैठा हुआ लम्बी-चौड़ी बातें बनाने वाला व्यक्ति हमारी विचारधारा के साथ अखण्ड-ज्योति या साहित्य के माध्यम से बँधा है या नहीं ? यदि वह इस की उपेक्षा करता है तो हम समझ लेते हैं कि यह देर तक टिकने वाला नहीं है । जो हमारे विचारों तक को प्यार नहीं करते, उनका मूल्य

नहीं समझते वे शिष्टाचार में मीठे शब्द भले ही कहें–गुरुजी, गुरुजी ! वस्तुतः वे हमसे हजारों मील दूर हैं, उनसे किसी बड़े काम की कोई आशा नहीं रखी जा सकती ।

जीवन का लम्बे कटु और मधुर अनुभवों का निष्कर्ष यही है । इसलिए हम अखण्ड-ज्योति परिवार के लोगों को एक सुदृढ़ संघ मानते हैं और आशा करते हैं कि इस संघ की शाखाएँ देश के कोने-कोने में फैलें, क्योंकि बिना संगठन के युग-निर्माण जैसा विशाल कार्य पूरा हो सकना किसी भी प्रकार संभव न होगा पर लंगड़े संगठन, अन्धी शाखाएँ बनने में कुछ लाभ नहीं, भले ही थोड़ा हो पर ठोस हो । इसलिए उस संगठन में कौन सम्मिलित हों इसकी तलाश आरम्भ करने का अपना यह पहला कदम है कि अखण्ड-ज्योति एवं युग निर्माण योजना के अतिरिक्त अत्यन्त सुन्दर और सस्ते क्रान्तिधर्मी हमारे साहित्य को पढ़ते रहने में जिन्होंने रुचि ली है, जिन्हें आनन्द आया है, जिन्होंने प्रसन्नता प्रकट की है, उत्साह दिखाया है उन्हें इस योग्य माना जा सकता है कि अपने संगठन के यह सदस्य बनें । विचारों की एकता से ही अखंड-ज्योति परिवार एक प्रचंड-शक्ति के रूप में विद्यमान है । विचारों की एकता एक अत्यन्त सुदृढ़ एवं अत्यन्त शक्तिशाली तत्व है । इस तत्व के आधार पर जिनके हृदय जुड़ गये हैं वे ही एक जी और एक प्राण होकर कुछ काम कर सकने में समर्थ होते हैं । डाकुओं के छोटे-छोटे गिरोह विचारों की एकता और व्यक्तिगत वफादारी के आधार पर ही संगठित होते और आतंक फैलाते हैं । यही तथ्य सज्जनों के लिए भी है, उनका संगठन भी विचारधारा, भावना एवं वफादारी के आधार पर ही दृढ़ हो सकता हैं, हमें आगे बढ़ना और फैलना है तो ऐसे ही लोग तलाश करने पड़ेंगे । इस तलाश की दृष्टि से ही यह विचार-प्रसार योजना है जो पिछले पृष्ठों में प्रस्तुत की गई है ।

कुछ दिन यह क्रम यदि हम लोग निष्ठापूर्वक चलाते रहें तो विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि हम आज जितने हैं उसकी अपेक्षा अगले वर्षों तक कई गुना हो जावेंगे और हममें से प्रत्येक अखण्ड-ज्योति का सदस्य अपनी विचारधारा के लोगों के साथ सम्बन्धित एवं संगठित होकर एक छोटी संस्था का रूप धारण कर लेगा । संस्थाएँ बनावें नहीं स्वयं एक संस्था बनें । संस्थाओं में लोग अकसर उत्तरदायित्व को एक दूसरे पर टालते हैं और पारस्परिक मनमुटाव एवं ईर्ष्या के दलदल में फँस जाते हैं । व्यक्ति ने स्वयं ही एक संस्था का रूप धारण कर लिया है तो फिर यह झंझट क्यों पैदा होंगे ? फिर हर व्यक्ति को अपने प्रयत्न का श्रेय और सन्तोष भी मिलेगा, संस्थाओं में किसी के प्रयत्न का श्रेय किसी को मिलता भी देखा जाता है, इसलिए सोचना यह है कि हम में से हर व्यक्ति एक संस्था का रूप धारण कर ले और अपने प्रचार के आधार पर एक छोटा सर्किल गठित करे । एक नगर में ऐसे अनेक सर्किल रह सकते हैं और वे इकट्ठे होकर एक बड़े सामूहिक संगठन का रूप बना सकते हैं । अपने संगठन का यही रूप रहे और प्रयत्न यह किया जाए कि इस वर्ग जो नये लोग अपने विचार-प्रभाव में आये हैं, आगे चलकर वे भी अपने विचारों की वंश-वृद्धि कर अपना एक स्वतन्त्र सर्किल बनावें । इसी प्रकार वंश बढ़ते हैं, उसी प्रकार संगठन पनपते हैं । यही हमें भी करना चाहिए ।

स्वस्थ शरीर के लिए सत्प्रयत्न

स्थान-स्थान पर जब संगठन बनने लगें, कई व्यक्तियों का सम्मिलित प्रयत्न जब दीखने लगे तो उसके द्वारा प्रत्यक्ष प्रवृत्तियों की योजनाएँ चल सकती हैं । स्वस्थ शरीर का उद्देश्य प्राप्त करने के लिए–आसन, प्राणायाम, सूर्य-नमस्कार, आदि सिखाने वाली व्यायाम कक्षाएँ चल सकती हैं, व्यायाम शालाएँ बन सकती हैं, महिलाओं को घरों में जाकर स्वास्थ्य सुधारने वाले आसन सिखाने का कार्य कोई कुशल महिलाएँ कर सकती हैं । आहार सम्बन्धी बुरी आदतों को छुड़ाने के लिए–माँसाहार और नशेबाजी दूर करने के लिए विचार–सूत्रों का आयोजन किया जा सकता है । प्राकृतिक चिकित्सालयों, कल्प-चिकित्सालयों और आरोग्याश्रमों की व्यवस्था की जा सकती है । रोगियों को परामर्श देने के लिए ऐसे प्रचार अस्पताल भी खुल सकते हैं जिनमें अनुभवी आरोग्यशास्त्री रोगी की कठिनाई को ध्यानपूर्वक सुने और वह परामर्श दे जिससे नीरोगता प्राप्त करना उसके लिए सुलभ हो जाए । प्रत्येक रोग की छोटी-छोटी परामर्श पुस्तिकाएँ भी हो सकती हैं जिन्हें लोग खरीदें और अपना इलाज आप कर लें । जैसे दवा की कीमत देनी पड़ती है उसी प्रकार इन परामर्श-पुस्तिकाओं को भी लोग मूल्य देकर खरीदें और अपना इलाज आप कर सकने में समर्थ हो जावें । तुलसी की खेती करके उसके द्वारा बन सकने वाली सस्ती औषधियाँ बनाई और बिना मूल्य वितरण की जा सकती हैं । स्वास्थ्य सम्बन्धी चित्रपट एवं भजन-संगीत आदि के द्वारा लोगों को इकट्ठा करके इन्हें आवश्यक शिक्षण दिया जा सकता है । ब्रह्मचर्य की शिक्षा का प्रसार स्कूलों में किया जा सकता है । बड़े-बड़े रंगीन चित्रों की प्रदर्शिनी लगाकर भी स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाओं का प्रसार किया जा सकता है । सरकारी स्वास्थ्य विभाग रैडक्रास सोसाइटी एवं अन्य संस्थाओं द्वारा स्वास्थ्य सम्बन्धी ज्ञान के बड़े-बड़े रंगीन नक्शे एवं चित्र छपे हैं, उन्हें जहाँ-तहाँ टाँगने-बेचने एवं दिखाने का क्रम चल सकता है । गर्मी की छुट्टियों में विद्यार्थियों के लिए, अन्य अवकाश के समयों पर लोगों के लिए स्वास्थ्य शिविर लगाये जा सकते हैं । इस प्रकार की परिस्थितियों के अनुसार अनेक बातें सोची और की जा सकती हैं ।

स्वच्छ मनोभूमि के लिए दो उपचार

स्वच्छ मन का आन्दोलन व्यक्ति की आन्तरिक दुर्बलता के विरुद्ध एक महान अभियान है । कुविचारों की हानियाँ, स्वार्थपरता के दुष्परिणाम अभी लोगों की आँखों में नहीं हैं । आज हर आदमी यही सोचता है कि अनैतिक

रहने में ही उसका भौतिक लाभ है । इसलिए वह बाहर से नैतिकता का समर्थन करते हुए भी भीतर ही भीतर अनैतिक रहता है । हमें मानसिक स्वच्छता का वह पहलू जनता के सामने प्रस्तुत करना होगा जिसके अनुसार यह भली प्रकार समझा जा सके कि अनैतिकता व्यक्तिगत स्वार्थपरता की दृष्टि से भी घातक है । इसमें हानि ही हानि है । यह विचारधारा अभी सामने नहीं आई है । अब तक लोग सदाचार का लाभ परलोक में मिलने की ही बात जानते हैं । जब धर्म और परलोक की बात को एक ओर रखकर नये दृष्टिकोण के अनुसार लोगों को यह समझाना पड़ेगा कि सूखी हड्डी चबाकर जिस प्रकार कुत्ता अपने ही जबड़े को घायल कर लेता और वह मसूड़ों से निकला अपना ही खून पीकर कुछ देर प्रसन्न रहते हुए भी अन्ततः घाटे में रहता है उसी प्रकार अनैतिकता भौतिक दृष्टि से भी, स्वार्थ की दृष्टि से भी घातक है । बात पुरानी है पर कहनी नये ढंग से पड़ेगी । हर व्यक्तिगत बुराई के विरुद्ध हम इसी दृष्टिकोण से एक प्रचंड विचारधारा का सर्वांङ्गपूर्ण आचार-शास्त्र प्रस्तुत करते जा रहे हैं । हमारी पुस्तिकाओं में यही विचारधारा रहेगी और हमारा विश्वास है कि पढ़ने वाले को भी उसी दृष्टि से सोचने को विवश होना पड़ेगा । उस विचारधारा को हम समझें, औरों को समझाएँ तो व्यक्ति अपने आपको बदल सकता है । मनुष्य विचार वाला और परिवर्तनशील प्राणी है, उसे बदला जाना संभव है ।

सत्संग और स्वाध्याय की शक्ति

व्यक्तिगत विचारधारा का परिवर्तन सत्संग और स्वाध्याय से ही सम्भव है । इस क्षेत्र में यही दो माध्यम काम करते हैं । चिन्तन और मनन की आदत पड़े तो मनुष्य आत्म-निरीक्षण कर सकता है और अपनी बुराइयों के एवं दुर्बलताओं के बारे में बहुत कुछ सोच-समझ सकता है, उन्हें छोड़ और सुधार भी सकता है । ऐसी विचार-गोष्ठियाँ जिनमें अपनी मानसिक स्थिति को सुधारने का मार्ग-दर्शन होता रहे बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकती है । ईश्वर उपासना का भी इस दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है । आस्तिकता एवं उपासना को अपनाने से भी मनुष्य सज्जन बनता है । ईश्वर के निष्पक्ष, न्यायकारी और पापों का दण्ड देने वाला मानने से कर्मफल की अनिवार्यता पर निष्ठा जमती है और मनुष्य नरक एवं दुर्गति के भय से, पाप से बचता है । इसलिए ईश्वर-उपासना का अधिकाधिक प्रचार करना चाहिए । यों गायत्री उपासना हिन्दू धर्म में सर्वश्रेष्ठ है, यही अनादि, सनातन तथा सभ्यता एवं संस्कृति की गंगोत्री है । इसकी उपासना का माध्यम बनाने के लिए पूरा जोर दिया जाए पर इसे अनिवार्य न बनाया जाए कोई दूसरा माध्यम रखना चाहे तो वैसा भी कर सकते हैं । किसी न किसी रूप में उपासना के लिए हर व्यक्ति को समझाया जाए । बहुधा लोग ईश्वर और देवता को स्वार्थ, लाभ करने और सिद्धि वरदान प्राप्त करने के लिए पूजते हैं और इसी रूप को जानते हैं । अब उसका दूसरा पहलू भी समझाया जाना चाहिए कि पापों का दण्ड और अकर्मण्यता की उपेक्षा न करने में भी ईश्वर बड़ा कठोर है । इस कठोरता से भी जन-साधारण को परिचित कराया जाना चाहिए और अधूरी आस्तिकता को सर्वाङ्गपूर्ण रूप से प्रस्तुत किया जाना चाहिए । स्वच्छ मन का सम्बन्ध चूँकि हर व्यक्ति के अपने निजी आत्म-निरीक्षण एवं आत्म-सुधार से है इसलिए व्यक्तिगत रूप से विचार-विमर्श ही इस दृष्टि से उपयोगी हो सकता है । कोई आन्दोलनात्मक रूप इसका अभी समझ में नहीं आता पर यदि कोई सूझ पड़े तो वह भी करना चाहिए ।

सभ्य समाज की अभिनव रचना

सभ्य समाज की दिशा में अनेक सामूहिक एवं आन्दोलनात्मक कार्यक्रम बन सकते हैं । पशुबलि विरोध का पिछले दिनों एक पदयात्रा एवं सत्याग्रह जैसा कार्यक्रम चला था । जुलूस, प्रभातफेरी एवं पदयात्रा के रूप में एक से वस्त्र पहिनकर, पोस्टर, झंडे नारों जैसी तैयारी के साथ कोई समूह निकलता है तो उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव जनता पर पड़ता है । यज्ञ आयोजनों में जलयात्रा, परिक्रमा जैसे कार्यों को देखकर स्त्रियों का उल्लास रोके नहीं रुकता और जो आरम्भ में उसकी उपेक्षा करती थीं वे भी दूसरों को उसमें देखकर आप भी सम्मिलित होने को आतुर हो उठती देखी गई हैं । काँग्रेस के स्वतंत्रता संग्राम में इस प्रकार के सामूहिक जुलूसों का बड़ा महत्त्व रहा है । जन-समुदाय की सम्मिलित शक्ति को देखकर समर्थकों के हौसले दूने हो जाते हैं और वे कुछ कर गुजरने के लिए उत्साह में भर जाते हैं । विरोधियों के हौसले पस्त करने में भी इस प्रकार के प्रदर्शन जादू का काम करते हैं । तपोभूमि में एक हजार कुण्डों का जो विशाल आयोजन हुआ था, उससे प्रभावित लोगों द्वारा देश भर में हजारों गायत्री यज्ञों की व्यवस्था बन गई । समाज विरोधी कुकृत्यों एवं दुष्प्रवृत्तियों के विरोध में यदि यदा-कदा सामूहिक प्रदर्शन संभव हो सकें; उसमें पर्याप्त संख्या में अपने संगठित कार्यकर्त्ता सम्मिलित हों तो निश्चय ही उसका भारी प्रभाव जनता पर पड़ेगा । मेले-सी वेशभूषा से संगठित लोक-सेविकों का प्रदर्शन तो कुछ दूसरा ही अर्थ रखता है । कहते हैं कि चोर के पैर नहीं होते वह घर के लोगों के जाग पड़ने पर खाँस देने मात्र से भाग जाता है । सामाजिक कुरीतियाँ असत्य पर अविवेक पर ठहरी हुई हैं, वे कागज के रावण जैसी दीखती तो बहुत बड़ी हैं पर अन्दर ही अन्दर खोखली पड़ी हैं । उनमें आग लगाने के लिए एक मशाल काफी हो सकती है । चोर जैसे अविवेक को भगा देने के लिए इतने जाग्रत लोगों की शक्ति-प्रदर्शन कुछ मानी रखता है । दिन निकलते ही उल्लू, चमगादड़ छिपने लगते हैं विरोध के सामने अविवेकपूर्ण परम्पराएँ क्या टिकेंगी ?

दहेज विरोधी अभियान

दहेज–विरोधी पुस्तिकाएँ स्कूल–स्कूल में जाकर लड़की–लड़कों को पढ़ाई जा सकती हैं और उनके विवेक को जाग्रत करके इस निश्चय पर दृढ़ किया जा सकता है कि वे आजीवन अविवाहित रहना स्वीकार करें पर दहेज और फिजूलखर्ची भरे विवाहोन्माद के पिशाच के आगे मस्तक न झुकावें । पकी हुई लकड़ी मुश्किल से झुकती है पर बच्चों के शुद्ध हृदय में विवेक की छाप जल्दी पड़ती है वे तर्क को जल्दी समझते हैं । समाज–सुधारकों की एक पीढ़ी इन कुरीतियों से लड़ते–लड़ते मर खप गई, पर उन्माद जहाँ का तहाँ है, घटा नहीं बढ़ा है । अब हम दूसरे मोर्चे पर लड़ेंगे । नक्कू चौधरी और पंच अपना काम करें वे दहेज और विवाह की फिजूलखर्ची को जितना चाहें बढ़ावें, उन्हें छूट है । हम उनके मनसूबों को उनके घर में ही मिट्टी में मिला देंगे । घर–घर में प्रह्लाद उत्पन्न करके इन हिरण्यकश्यपों को बता देंगे कि इस अनीति को, मूर्खता को अब अधिक देर चलने नहीं दिया जा सकता । अब न विवाहोन्माद का खर–दूषण जिन्दा रखा जा सकता है और न दहेज की सूर्पणखा स्वच्छन्द विचरती रहने दी जा सकती है । मूर्खता की यह पूतना अनेक बालकों के कलेजे खा गई अब इसका अन्त आ पहुँचा । उसे अपनी मौत मरना ही है ।

सामाजिक दबाव का मूल्यांकन

बाल–विवाह के विरुद्ध शारदा कानून मौजूद है, दहेज के खिलाफ भी कोई कानून पास हुआ है पर इनसे कुछ बनने वाला नहीं है । कानून तो हर बुराई के विरुद्ध मौजूद है पर उन बुराइयों को करने वाले कितने पकड़ में आते हैं तथा जो पकड़े जाते हैं उनमें से कितने सजा पाते हैं और उन सजा पाने वालों में से कितने उन्हें छोड़ देने की बात सोचते हैं ? आज के नरम और लचीले कानून तो न्याय के नाटक और वकीलों की चाँदी बनने के माध्यम रह गये हैं । उनसे बुराइयों का दमन इतनी पुलिस और इतनी अदालतें होते हुए भी कितना कम हो पाता है इसे हम में से हर कोई जानता है । यह सब उपयोगी हैं, इनकी आवश्यकता भी हैं पर सामाजिक अनाचार, अन्धविश्वास, अविवेक और अन्याय का उन्मूलन इन ढीले–ढाले कानूनों से नहीं वरन् प्रजातंत्री पद्धति मे केवल सामाजिक वातावरण बनाने से ही हो सकता है । खाद्य पदार्थों में मिलावट, रिश्वत, बेईमानी, चोर–बाजारी, मुनाफाखोरी आदि तब मिटेंगी जब इनके करने वाले समाज से बहिष्कृत होंगे । अभी तो वे मूँछों पर ताव देते हुए जितनी अनीति करते हैं उतना ही अधिक मान पाते हैं । धन से मान मिलने की वर्तमान परिपाटी ने हर आदमी को लालच की ओर झुकने का अवसर दिया है इसमें ईमानदार गरीबों और परमार्थ के लिए कष्ट सहने वाले अनेक सज्जनों को सार्वजनिक सम्मान के आयोजन करने होंगे, जिससे उनका अनुकरण करने की प्रवृत्ति जन–मानस में पनपे । सार्वजनिक मान–पत्र, अभिनन्दन, थैली, पुरस्कार, पदक आदि देते रहने की कुछ व्यवस्था कोई सार्वजनिक संस्था करती रहे तो इससे सच्चाई और ईमानदारी के लिए कष्ट सहने वाले लोगों का हौंसला बढ़ सकता है ।

बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष

बुराइयों की होली जलाई जा सकती है । जिस प्रकार रामलीला का कागजी रावण मरता है, सूर्पनखा की हर साल नाक कटती है, होली के अवसर पर होलिका राक्षसी की चिता जलाई जाती है, उसी प्रकार अश्लीलता, नशेबाजी, बेईमानी एवं कुरीतियों की होली जलाई जा सकती है और उनके विरुद्ध जन–मानस में घृणा उत्पन्न की जा सकती है । हमें यह पूरा–पूरा ध्यान रखना होगा कि कोई अशान्ति, उत्तेजना या उपद्रव जैसी बात न होने पावे । किसी को चिढ़ाया न जाए, यदि विरोध में कोई कुछ अनुचित व्यवहार भी करे तो पूर्ण शान्त रहा जाए और मुस्कान एवं विनम्रता से उसका उत्तर दिया जाए ।

इस प्रकार के अगणित प्रचारात्मक, सुधारात्मक, आन्दोलनात्मक, विरोधात्मक, प्रदर्शनात्मक, रचनात्मक एवं सेवात्मक कार्यक्रम हो सकते हैं । स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न योजनाएँ बन सकती हैं । बड़ों के पैर छूने की, कष्ट पीड़ितों की सेवा करने की और पाठशालाएँ चलाकर विचारात्मक शिक्षा देने की योजना बन सकती है ।

युग–निर्माण की दिशा में उक्त कार्यक्रम पिछले कई वर्षों से भली–भाँति चल रहा है, उसे भी अब और भी सुव्यवस्थित रूप दिया जाना चाहिए । किन्तु आत्मिक उत्कृष्टता और भौतिक श्रेष्ठता के दोनों लक्ष्य प्राप्त करने के लिए अब तक के चलते आ रहे अभियान को जितना अधिक हो सके सुव्यवस्थित रूप दिया जाए और इसे सुसंयत रूप से अग्रगामी बनाया जाए । अखण्ड–ज्योति जिस मिशन को लेकर अवतीर्ण हुई थी उसे उसने अब तक बहुत शानदार ढंग से निकाला है । अब आगे भी उसे जी जान से जुटे रहना है, लक्ष्य की पूर्ति के लिए हम सब को अब उसी ओर द्रुतगति से अग्रसर होना है ।

हमारे दो कार्यक्रम

हम आत्म–कल्याण और युग–निर्माण इन दो कार्यक्रमों को लेकर आगे बढ़ रहे हैं । गाड़ी के दो पहिये की तरह हमारे जीवन के दो पहलू हैं–एक भीतरी दूसरा बाहरी । दोनों के सन्तुलन से ही हमारी सुख–शान्ति स्थिर रह सकती है और इसी स्थिति में प्रगति सम्भव है । मनुष्य आत्मिक दृष्टि से पतित हो, दुर्मति–दुर्गुणी और दुष्कर्मी हो तो बाहरी जीवन में कितनी ही सुविधाएँ क्यों न उपलब्ध हों वह दुःखी ही रहेगा । इस प्रगति को यदि बाह्य

परिस्थितियाँ दूषित हैं तो आन्तरिक श्रेष्ठता भी देर तक टिक न सकेगी । असुरों के प्रभुता काल में बेचारे सन्त महात्मा जो किसी का कुछ नहीं बिगाड़ते थे अनीति के शिकार होते रहते थे । भगवान् राम जब वनवास में थे तब उन्होंने असुरों द्वारा मारे गये सन्त महात्माओं की अस्थिओं के ढेर लगे देखकर बहुत दुःख मनाया । जिस समाज में दुष्टता और दुर्बुद्धि बढ़ जाती है उसमें सत्पुरुष भी न तो अपनी सज्जनता की और न अपनी ही रक्षा कर पाते हैं । इसलिए जीवन के दोनों पहलू ही रथ से जुते हुए दो घोड़ों की तरह संभालने पड़ते हैं । दोनों में ताल-मेल बिठाना पड़ता है । रथ का एक घोड़ा आगे की ओर चले और दूसरा पीछे की तरफ लौटे तो प्रगति अवरुद्ध हो जाती है । इसी प्रकार हमारा बाह्य जीवन और आन्तरिक स्थिति दोनों का समान रूप से प्रगतिशील होना आवश्यक माना गया है ।

आत्मा सूक्ष्म है, निराकार है । स्थूल वस्तुओं की सहायता से ही उसका अस्तित्व और आकार सामने आता है । शरीर का आधार यह कार्य करता है, मन के आधार पर यह सोचता है और संसार क्षेत्र में गतिशील रहता है । शरीर, मन और संसार का यह तीनों ही आत्मा के बाह्य शरीर हैं । इन तीनों की सुव्यवस्था पर आत्मिक स्थिरता निर्भर रहती है । आत्म-कल्याण के लिए ईश्वर उपासना एवं योग साधना की आवश्यकता होती है; यह हमारी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है । इसकी पूर्ति के लिए ऋषियों एवं शास्त्रों ने हमें कुछ-न-कुछ समय नित्य लगाते रहने का आदेश दिया है । उपासना और साधना रहित व्यक्ति की आत्मा मलीन और पतनोन्मुख हो जाती है, स्वार्थ और भोग का नशा उसे पाप की नारकीय ज्वाला में घसीट ले जाता है । इसलिए अपने अस्तित्व का सही रूप जानने और अपने लक्ष्य के प्रति गतिशील रहने के लिए उसे अध्यात्म का सहारा लेना पड़ता है । आत्म-कल्याण का यही मार्ग है ।

जीवन के तीन आधार

जितनी आवश्यकता आत्म-कल्याण की है उतनी ही जीवन के तीन आधारों को स्वस्थ रखने की है । शरीर, मन और समाज यही तीन आधार हैं, जिन पर हमारी जीवन-यात्रा गतिमान् रहती है । शरीर अपंग हो जाए, मन उन्मादग्रस्त हो जाए और संसार में युद्ध, दुर्भिक्ष, महामारी, भूकम्प जैसी आपत्तियाँ उत्पन्न हो जाएँ तो कहाँ तो शान्ति रहेगी और कहाँ प्रगति टिकेगी ? आत्म-कल्याण का लक्ष्य भी इन परिस्थितियों में किस प्रकार उपलब्ध हो सकेगा ?

राज-शासन और सामाजिक संस्थाओं द्वारा यह प्रयत्न किसी न किसी रूप में रहता ही है कि जनता का शरीर मन और सामाजिक स्तर सुस्थिर रहे, इसके बिना भौतिक प्रगति के सारे प्रयत्न निष्फल रहेंगे । जिस देश के निवासी बीमारी और कमजोरी से घिरे हों, मनों में अविवेक, अन्धविश्वास, असन्तोष घर किए हुए हो, समाज में द्वेष, असहयोग, अनीति, पाप, स्वार्थ जैसी प्रवृत्तियाँ पनप रही हों तो उस देश का भविष्य उज्ज्वल कैसे हो सकता है ? चाहे कोई देश हो या समाज, गाँव हो या घर, परिवार हो या व्यक्ति जहाँ भी यह असन्तुलन रहेगा, वहाँ न सुख दृष्टिगोचर होगा न शान्ति । पतन और पीड़ा, विक्षोभ और असफलता ही वहाँ फैली-फूटी दिखाई पड़ेगी ।

एक समस्या के दो पहलू

भौतिकता और आध्यात्मिकता परस्पर दोनों एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं, एक के बिना दूसरी अधूरी है । जंगल में गुफा में भी रहने वाले विरक्त महात्मा को भोजन, प्रकाश, वस्त्र, माला, कमण्डल, आसन, खड़ाऊँ, पुस्तक, कम्बल, आग आदि वस्तुओं की आवश्यकता रहेगी ही और इन सब को जुटाने का प्रयत्न करना ही पड़ेगा, इसके बिना उसका जीवित रहना भी सम्भव न रहेगा । इतनी भौतिकता तो गुफा निवासी महात्मा को भी बरतनी पड़ेगी और अपने परिवार के प्रति प्रेम और त्याग बरतने की आध्यात्मिकता चोर-उठाईगीर और निरन्तर भौतिकवादी को भी रखनी पड़ेगी । भौतिकता को तमतत्व और आध्यात्मिकता को सततत्व, माना गया है । दोनों के मिलने से रजतत्व बना है । इसी में मानव की स्थिति है । एक के भी समाप्त हो जाने पर मनुष्य का रूप ही नहीं रहता । तम नष्ट होकर सत ही रह जाए तो व्यक्ति देवता या परमहंस होगा, यदि सत नष्ट होकर तम ही रह जाए तो असुरता या पैशाचिकता ही बची रहेगी । दोनों स्थितियों में मनुष्यत्व का व्यतिरेक हो जाएगा । इसलिए मानव जीवन की स्थिति जब तक है तब तक भौतिकता और आध्यात्मिकता दोनों ही साथ-साथ रहती हैं । अन्तर केवल प्राथमिकता का है । सज्जनों के लिए आध्यात्मिकता की प्रमुखता रहती है, वे उसकी रक्षा के लिए भौतिक आधार की बहुत अंशों तक उपेक्षा भी कर सकते हैं । इसी प्रकार दुर्जनों के लिए भौतिकता का स्थान पहला है । वे उस प्रकार के लाभों के लिए आध्यात्मिक मर्यादाओं का उल्लंघन भी कर देते हैं । इतने पर भी दोनों ही प्रकृति के लोग किसी न किसी रूप में भौतिक और आत्मिक तथ्यों को अपनाते ही हैं, उन्हें अपनाये ही रहना पड़ता है ।

अगली कक्षाओं में प्रवेश

आत्म-कल्याण की महान प्रक्रिया गायत्री उपासना की प्रथम कक्षा को बढ़ाकर अब दूसरी कक्षा का कार्यक्रम प्रस्तुत कर दिया गया है । जप, अनुष्ठान और हवन से आगे बढ़कर पंचकोशों के अनावरण के लिए उठाये गये कदम प्रगति की दृष्टि से आवश्यक थे । इसी प्रकार युग-निर्माण के लिए भी अब अगली कक्षा आरम्भ होनी ही है । यह अगले कदम अधिक महत्त्वपूर्ण, अधिक उपयोगी, अधिक प्रभावशाली, अधिक व्यापक होंगे । छोटी कक्षाओं की तुलना में उच्च कक्षाएँ हर दृष्टि से भारी बैठती हैं, हमारे अगले कार्यक्रम भी अधिक उच्चकोटि के होने चाहिए और तदनुरूप कदम उठने चाहिए ।

ऊपर कहा जा चुका है कि आत्मा का बाह्य कलेवर, भौतिक क्रिया-कलाप शरीर, मन और समाज के तीन आधारों पर उसी प्रकार आधारित है जिस प्रकार आन्तरिक स्तर अन्नमय-कोश, मनोमय-कोश प्राणमय-कोश, विज्ञानमय-कोश, आनन्दमय-कोश, के पाँच संस्थानों पर निर्भर है । आत्म-कल्याण की उच्च कक्षा में प्रवेश पाने के लिए जिस प्रकार इन पाँचों कोशों का अनावरण करना अभीष्ट है, उसी प्रकार युग-निर्माण के लिए, भौतिक जीवन की सुस्थिरता के लिए (१) स्वस्थ शरीर (२) शुद्ध मन और (३) सभ्य समाज की आवश्यकता है । आध्यात्मिक और भौतिक प्रगति के दोनों पहिये जब चलेंगे तभी हम सच्ची सुख-शान्ति के अधिकारी बनेंगे । दोनों हाथ, दोनों पैर, दोनों आँख, दोनों कान, दोनों फेफड़े ठीक होने पर ही शरीर की स्वस्थता और सुडौलता निर्भर है । यदि लकवा मार जाय या कोई व्यक्ति टौंटा, लंगड़ा, काना हो जाए तो वह अधूरा अपंग ही रहेगा, इसी प्रकार हमारी आत्मिक और भौतिक प्रगति का समन्वय ही सच्चा विकास कहलावेगा । एकांगी विकास में अति है समस्वरता नहीं, वह आश्चर्य-जनक हो सकती है आदर्श नहीं । हमें आदर्श को ही अपनाना पड़ेगा क्योंकि उसी में शक्ति और उसी में स्थिरता सन्निहित है ।

विवेकशीलता का महान अभियान

हम आत्म-कल्याण और युगनिर्माण के दो महान उद्देश्यों को लेकर अग्रसर हुए हैं । यद्यपि यह दो भिन्न बातें मालूम पड़ती हैं पर वस्तुतः एक ही चीज के दो पहलू मात्र हैं । आत्म-कल्याण का यदि हमें ध्यान न होगा, ईश्वर, आत्मा, परलोक, कर्मफल, धर्म एवं कर्त्तव्य के प्रति हमारी गहरी आस्था न होगी तो बाह्य उन्नति के नाम पर हम देर तक सही मार्ग पर नहीं चल सकेंगे । पग-पग पर आने वाले आकर्षण, प्रलोभन एवं भय विचलित कर देंगे । पथ-भ्रष्ट हो जाने के लिए अनेक कारण इस संसार में मौजूद हैं । उनसे बचना केवल आध्यात्मिक आधार पर ही संभव है ।

आत्म की अदम्य पिपासा

आत्मा की एकमात्र प्यास भी परमात्मा-सा बनने की है । वह अणु से विभु, लघु से महान, बिन्दु से सिन्धु बनने के लिए निरन्तर व्याकुल रहती है । इस अशान्ति को मिटाना और जीवनोद्देश्य को पूरा होना भी आध्यात्मिक विचारधारा को अपनाने से ही सम्भव है । आत्म-कल्याण के लिए हमें उपासना का मार्ग अपनाना पड़ेगा । स्वाध्याय, सत्संग, मनन और चिन्तन द्वारा आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण एवं आत्म-विकास का आधार ग्रहण करना होगा । अन्तःकरण की पवित्रता और पुष्टि के लिए इस अवलम्बन को मजबूती से पकड़े रहना आवश्यक है । इसके बिना लौकिक प्रगति भी संभव नहीं । धर्म और नीति का आधार अध्यात्म है । उसे छोड़ देने पर चतुरता और कूटनीति ही मनुष्य के पल्ले पड़ती है । उससे तात्कालिक लाभ तो हो जाता है पर अन्त बहुत ही दुःखद होता है । व्यक्तिगत कमाई करने वाले अनीति और बेईमानी पर उतर आते हैं । सार्वजनिक काम करने वालों को भी मद, मोह एवं लोभ कम नहीं सताते । संस्थाओं एवं लोक-सेवकों में जो भारी फूट एवं अनैतिकता दीख पड़ रही है उसका एकमात्र कारण उनकी आत्मिक दुर्बलता ही है, अन्यथा सेवा का व्रत धारण करने वाले लोग अपने लक्ष्य की महानता को भूलकर छोटे प्रलोभनों में इस बुरी तरह क्यों उलझते ?

सुस्थिरता का एकमात्र अवलम्बन

आध्यात्मिकता मानव जीवन की रीढ़ है । रीढ़ की हड्डी टूट जाए तो फिर जिन्दगी बेकार हो जाती है । इसी प्रकार जिसमें आध्यात्मिक आस्था न रहेगी वह व्यक्ति अन्य किसी आधार पर इस प्रलोभन भरी दुनिया में धर्म-कर्त्तव्य पर टिका न रह सकेगा । यह गड़बड़ में पड़ेगा और गड़बड़ियाँ करेगा । सच्चाई, नीति और भलाई की नीति चिरकाल तक अपनाये रहना केवल उसी के लिए संभव हो सकता है जो ईश्वर की सर्वज्ञता और न्यायशीलता पर विश्वास करता है । गान्धीजी कहा करते थे-"प्रार्थना जीवन का ध्रुवतारा है ।" रात्रि के गहन अन्धकार में ध्रुवतारे का अवलम्बन छोड़ देने वाला भटकता ही फिरेगा । आज हमने आस्तिकता और उपासना का मार्ग छोड़ दिया है और सचमुच हम बुरी तरह बीहड़ वन में भटकते रहे हैं । भटकते-भटकते वहाँ आ पहुँचे हैं जहाँ से सर्वनाश अत्यन्त समीप दीखने लगा है । हमें पीछे लौटना होगा, जीवन के ध्रुवतारे की ओर दृष्टि डालनी होगी । आस्तिकता और उपासना का जन-जीवन में कोई स्थान होना ही चाहिए । 'अखण्ड-ज्योति' का पहला कार्यक्रम यही है । हम में से प्रत्येक व्यक्ति आस्तिक एवं उपासक बने, गायत्री आन्दोलन के पीछे यही भावना सन्निहित है । भारतीय धर्म की सब से प्राचीन, सब से श्रेष्ठ, सबसे वैज्ञानिक, सबसे महत्त्वपूर्ण उपासना 'गायत्री' ही मानी गई है । ऋषियों और शास्त्रों ने जैसा कि इसे अत्यधिक आवश्यक एवं अनिवार्य माना है वैसा ही हम भी मानते हैं और प्रत्येक विचारशील को इसे अपनाने के लिए प्रेरणा देते हैं ।

सन्तुलित जीवन व्यवस्था

पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है कि आस्तिकता एवं उपासना की प्रवृत्ति निर्बाध गति से अग्रसर हो सके इसके लिए हमारे जीवन में शान्ति और सुव्यवस्था रहनी आवश्यक है । अशान्त और अव्यवस्थित परिस्थितियों में आत्मिक उन्नति तो दूर सामान्य शरीर यात्रा एवं जिन्दगी के दिन पूरे करने की प्रक्रिया भी कठिन हो जाती है । इसलिए

जीवन के तीनों प्रमुख आधारों को ठीक रखने के लिए भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है । इसी प्रयत्न का नाम 'युग निर्माण योजना' है । स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज का लक्ष्य जितना पूरा हो सकेगा उतनी ही जीवन व्यवस्था संतुलित होती जाएगी और उसी आधार पर आत्मिक प्रगति की संभावनाएँ बढ़ती जाएँगी । आत्म-कल्याण और युग-निर्माण दोनों बातें एक-दूसरे से इतनी अधिक सम्बद्ध हैं कि एक की उपेक्षा करके दूसरे की उपलब्धि हो ही नहीं सकती, इसलिए प्रगति की गाड़ी को गतिशील रखने के लिए उस के दोनों पहियों पर ध्यान रखा जाना आवश्यक समझा गया है । दोनों ही कार्यक्रमों को लेकर हम आगे बढ़े हैं ।

सर्वतोमुखी प्रगति

युग-निर्माण के तीन आधारों का महत्त्व भी ईश्वर का स्मरण, ध्यान, पूजन करने जैसा ही है । सच्ची उपासना से आत्मा में तुरन्त बल, आनन्द एवं प्रकाश का अनुभव होता है । उसी प्रकार स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज के लिए किया हुआ प्रयत्न भी हमारे व्यक्तिगत जीवन में सर्वतोमुखी प्रगति, शान्ति एवं महानता के अवसर प्रस्तुत करता है । सामूहिक रूप से-सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से-तो उसका लाभ अनिर्वचनीय है । राष्ट्रीय और सामाजिक प्रगति का विश्व-मानव के सर्वतोमुखी आनन्द का आधार भी इन बातों पर ही पूर्णतया निर्भर है, जहाँ इनके स्रोत सूखे वहाँ समाज दुर्बलता एवं दुर्दशा में डूबता जाता है । इस दिशा में बरती गई उपेक्षा ही वर्तमान कुसमय का कारण है, इस ओर जितना हमारा ध्यान जाएगा उतना ही प्रगति का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगेगा ।

अविवेक का अवरोध

जिस प्रकार आत्म-कल्याण और युग-निर्माण के दोनों कार्यक्रम परस्पर इतने सम्बद्ध हैं कि एक को छोड़कर दूसरे की उपलब्धि नहीं हो सकती उसी प्रकार युग-निर्माण के तीन आधार भी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं । शरीर को रोगी, मन को मलीन और समाज को कुसंस्कारी होने का एक ही कारण है-'अविवेक' । यों हम स्कूली शिक्षा ऊँचे दर्जे तक प्राप्त किये रहते हैं और अपने ढंग की चतुरता भी खूब होती है पर जीवन की मूलभूत समस्याओं को गहराई तक समझने में प्रायः असमर्थ ही रहते हैं । बाहरी बातों पर खूब बहस करते और सोचते-समझते हैं पर जिस आधार पर हमारा जीवनोद्देश्य निर्भर है उसकी ओर थोड़ा भी ध्यान नहीं देते । इसी का नाम है-'अविवेक' । विचार-शीलता व विवेकशीलता का यदि अभाव न हो और गुण-दोष की दृष्टि से अपनी व्यक्तिगत और सामूहिक समस्याओं पर सोचना-समझना आरम्भ करें तो प्रतीत होगा कि बुद्धिमत्ता का दावा करते हुए भी हम कितनी अधिक मूर्खता में ग्रसित हो रहे हैं । सीधी-सादी विचारधारा को अपनाकर मनुष्य अपनी सर्वतोमुखी सुख-शान्ति को सुरक्षित रख सकता था और इस पृथ्वी पर स्वर्ग का आनन्द प्राप्त कर सकता था । पर औंधी, टेढ़ी, अनुचित, अनुपयुक्त इच्छा, आकांक्षाएँ रखता ही है, उसके समीपवर्ती लोग भी चन्दन के वृक्ष के समीप रहने वालों की तरह सुवासित होते रहते हैं । अपने मन का, अपने दृष्टिकोण का परिवर्तन भी क्या हमारे लिए कठिन है ? दूसरों को सुधारना कठिन हो सकता है-पर अपने को क्यों नहीं सुधारा जा सकेगा ? विचारों की पूँजी का अभाव ही सारी मानसिक कठिनाइयों का कारण है । अविवेक का अन्तःकरण में प्रादुर्भाव होते ही कुविचार कहाँ टिकेंगे ? और कुविचारों के हटते ही अपना पशु जीवन, देव-जीवन में परिवर्तित क्यों न हो जाएगा ?

समाज-सुधार का आधार

व्यक्तियों के समूह का नाम ही तो समाज है । हम सब अपने आपको सुधारें तो समाज का सुधार हुआ ही रखा है । कुछ मूढ़ताएँ, अन्ध-परम्पराएँ, अनैतिकताएँ, संकीर्णताएँ हमारे सामूहिक जीवन में प्रवेश पा गई हैं । दुर्बल मन से सोचने पर वे बड़ी कठिन बड़ी दुष्कर, बड़ी गहरी जमी हुई दीखती हैं पर वस्तुतः वे कागज के बने रावण की तरह डरावनी दीखते हुए भी भीतर ही भीतर खोखली हैं । हर विचारशील उनसे घृणा करता है पर अपने को एकाकी अनुभव करके आस-पास घिरे लोगों की भावुकता से डरकर कुछ कर नहीं पाता । कठिनाई इतनी सी है । इसे कुछ ही थोड़े से विवेकशील लोग यदि संगठित होकर उठ खड़े हों और जमकर विरोध करने लगें तो उन कुरीतियों को मामूली से संघर्ष के बाद चकनाचूर कर सकते हैं, तोड़-मरोड़ कर फेंक सकते हैं । गोआ की जनता ने जिस-प्रकार भारतीय फौजों का स्वागत किया वैसा ही स्वागत इन कुरीतियों में सताई हुए जनता उनका करे जो इन अन्ध-परम्पराओं को तोड़-मरोड़ कर रख देने के लिए कटिबद्ध सैनिकों की तरह मार्च करते हुए आगे बढ़ेंगे ।

हत्यारा दहेज कागज के रावण की तरह बड़ा वीभत्स, नृशंस एवं डरावना लगता है । हर कोई भीतर ही भीतर उससे घृणा करता है पर पास जाने से डरता है । कुछ साहसी लोग उसमें पलीता लगाने को दौड़ पड़ें तो उसका जड़-मूल से उन्मूलन होने में देर न लगेगी । दास-प्रथा, देव-दासी प्रथा, वैश्या-नृत्य, बहु-विवाह, जन्मते ही कन्या-वध, भूत-पूजा, पशुबलि आदि अनेक सामाजिक कुरीतियाँ किसी समय बड़ी प्रबल लगती थीं, अब देखते-देखते उनका नाम निशान मिटता चला जा रहा है । आज जो कुरीतियाँ, अनैतिकताएँ एवं संकीर्णताएँ मजबूती से जड़ जमाये दीखती हैं, विवेकशीलों के संगठित प्रतिरोध के सामने देर तक न ठहर सकेंगी । बालू की दीवार की तरह वे एक ही धक्के में भरभरा कर गिर पड़ेंगी । विचारों की क्रान्ति का एक ही तूफान इस तिनकों के ढेर

को उड़ाकर बात की बात में छितरा देगा । जिस नये समाज की रचना आज स्वप्न-सी लगती है, विचारशीलता के जाग्रत होते ही यह मूर्तिमान होकर सामने खड़ी दीखेगी ।

विचारक्रान्ति का सुसम्बद्ध प्रयास

अखण्ड-ज्योति का अब तक का सारा जीवन ही धर्म और अध्यात्म की विचारधारा प्रवाहित करने में व्यतीत हुआ है । युग-निर्माण के लिए हमें पहले जन-मानस को बदलना होगा, कार्यों में परिवर्तन तो उसके बाद ही संभव होगा । जैसे-जैसे हमारी विचारधारा प्रबुद्ध होगी, विवेकशीलता जगेगी वैसे ही वैसे अनुपयुक्त को त्याग और उपयुक्त को ग्रहण करने की प्रवृत्ति सक्रिय होती जाएगी । अब आस्तिकता और धार्मिकता की, संयम और सेवा की, प्रेम और पवित्रता की, विवेकशीलता और दूरदर्शिता की भावनाएँ हमें जन-मानस में सजीव करनी हैं, आत्म-कल्याण और युग-निर्माण का लक्ष्य तभी तो पूरा होगा ।

आस्तिकता की अभिवृद्धि से विश्व-कल्याण की सम्भावना

यह संसार भगवान द्वारा विनिर्मित और उसी से ओत-प्रोत है । यहाँ जो कुछ श्रेष्ठता दिखाई पड़ती है वह सब भगवान की ही विभूति है । जीव ईश्वर का ही पुत्र-अंश है । उसमें जो कुछ तेज और ऐश्वर्य दिखाई पड़ता है वह ईश्वरीय अंशों की अधिकता के कारण ही उपलब्ध होता है । आत्मा की प्रगति उन्नति और विभूति की संभावना भगवान के सान्निध्य में ही संभव होती है ।

समस्त सद्गुणों का केन्द्र परमात्मा है । जिस प्रकार पृथ्वी पर ताप और प्रकाश सूर्य से ही आता है उसी प्रकार मनुष्य की आध्यात्मिक श्रेष्ठताएँ और विभूतियाँ परमात्मा से ही प्राप्त होती हैं । इस संसार में समस्त दु:ख, पापों के ही परिणाम हैं अथवा मनुष्य अपने किए पापों का दण्ड भुगतता है या फिर दूसरों के पापों की लपेट में आ जाता है । दोनों प्रकार के दु:खों का कारण पाप ही होते हैं । यदि पापों को मिटाया जा सके तो समस्त दु:ख दूर हो सकते हैं । यदि पापों को घटाया जा सके तो मानव जाति के दु:खों में निश्चय ही कमी हो सकती है । कुविचारों और कुकर्मों पर नियंत्रण धर्म-बुद्धि के विकसित होने से ही संभव होता है और यह धर्म-बुद्धि परमात्मा पर सच्चे मन से विश्वास रखने से उत्पन्न होती है । जो निष्पक्ष, न्यायकारी परमात्मा को घट-घटवासी और सर्वव्यापी समझेगा उसे सर्वत्र ईश्वर ही उपस्थित दिखाई पड़ेगा, ऐसी दशा में पाप करने का साहस ही उसे कैसे होगा ? पुलिस को सामने खड़ा देखकर तो दुस्साहसी भी अपनी हरकतें बन्द कर देता है । इसी प्रकार जो व्यक्ति परमात्मा को निष्ठापूर्वक कर्म फल देने वाला और सर्वव्यापी समझ लेगा वह आस्तिक व्यक्ति पाप करने की बात सोच भी कैसे सकेगा ?

ईश्वर का अविश्वास ही पापों की जड़ है, इस अविश्वास से प्रेरित होकर ही मनुष्य मर्यादाओं का उल्लंघन करके स्वार्थ और अहंकार की पूर्ति के लिए स्वेच्छाचारी बन जाता है । आत्म-नियंत्रण के लिए ईश्वर-विश्वास की अनिवार्य आवश्यकता मानी गई है । व्यक्तिगत सदाचार और सामूहिक कर्त्तव्य-परायणता के पालन के लिए ईश्वरीय विश्वास के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं हो सकता । इसलिए मनीषियों ने मनुष्य के दैनिक आवश्यक कर्त्तव्यों में ईश्वर उपासना को सबसे प्रमुख और अनिवार्य माना है । जो इसकी उपेक्षा करते हैं उनकी भर्त्सना की है और उन्हें कई प्रकार के दण्डों का भय भी बताया है ।

खेद है कि आज नास्तिकता की सत्यानाशी बाढ़ तेजी से बढ़ती चली जा रही है । भौतिकवादी विचारधाराओं ने यह प्रतिपादित किया है कि ईश्वर न तो आँखों से दिखाई पड़ता है और न प्रयोगशालाओं की जाँच द्वारा सिद्ध होता है इसलिए उसे मानने की आवश्यकता नहीं । अति उत्साही लोग इतनी बात से बहक जाते हैं, न तो वे कर्म आस्था पर विश्वास करते हैं, और न उपासना की कोई आवश्यकता अनुभव करते हैं ।

दूसरे प्रकार के नास्तिक इनसे भी गये-बीते हैं । वे अपने को आस्तिक कहते और किसी ईश्वर को मानते भी हैं पर उनका यह कल्पित ईश्वर वास्तविक ईश्वर से सर्वथा भिन्न होता है । वे समझते हैं कि ईश्वर तो केवल पूजा-स्तुति ही चाहता है, इतने से ही वह प्रसन्न होकर मनुष्य के पापों पर ध्यान नहीं देता । पूजा करने वालों के समस्त पाप किसी सामान्य धार्मिक कर्मकाण्ड के कर लेने से दूर हो जाते हैं । साथ ही वे ईश्वर से यह भी आशा रखते हैं कि जरा से पाठ, पूजन के बदले, बिना उनकी योग्यता, पुरुषार्थ और लगन की जाँच किए, वह मनमाना वरदान दे सकता है और उनकी समस्त कामनाओं की पूर्ति कर सकता है । यह लोग ऐसा भी सोचते हैं कि साधु, ब्राह्मण, परमात्मा के अधिक निकट हैं इसलिए यदि उन्हें दान-दक्षिणा देकर प्रसन्न कर लिया जाए तो अपनी तगड़ी सिफारिश परमात्मा के यहाँ पहुँच जाती है और फिर तुरन्त ही मनमाने वरदान पाने और पाप के दण्ड से बचने की सुविधा हो सकती है । हम देखते हैं कि आजकल नाममात्र की आस्तिकता इसी विडम्बना की धुरी पर घूम रही है ।

यह प्रच्छन्न नास्तिकता दिखाई तो ईश्वर विश्वास जैसी ही पड़ती है, पर इससे लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होती है । आस्तिकता का असली लाभ पाप से भय उत्पन्न करना है । इसके विपरीत जिस मान्यता के अनुसार दस-पाँच मिनट में पूरे हो सकने वाले कर्मकाण्डों द्वारा ही समस्त पापों का फल नष्ट हो सकने का आश्वासन दिया गया हो, उससे तो उलटे पाप के प्रति निर्भयता ही बढ़ेगी ।

जब पाप-फल से बच सकना इतना सरल मान लिया गया तो दुष्कर्मों द्वारा प्राप्त होने वाले आकर्षणों को छोड़ना कौन पसन्द करेगा ? ऐसी मान्यता से प्रभावित होकर मध्यकालीन राजाओं और सरदारों ने बर्बर अत्याचार और अनैतिक आचरण करने के साथ-साथ पूजा-पाठ के भी बड़े-बड़े आयोजन किए थे । उन्होंने मंदिर भी बनवाये और भगवान को प्रसन्न करने वाले उत्सव आदि भी किये । पंडितों और ब्राह्मणों को कथा-भजन करने के लिए वृत्तियाँ भी दीं । सम्भवत: ये यही समझते थे कि उनका पहाड़ के बराबर अनैतिकता का कार्य-क्रम इस प्रकार धन द्वारा रचाई पूजा-पाठ की धूमधाम के पीछे छिप जाएगा । पंडितों और पुजारियों ने अपनी आजीविका की दृष्टि से ऐसे आश्वासन भी गढ़कर रख दिए, जिससे कुमार्गगामी व्यक्ति थोड़ा-बहुत दान-पुण्य करते रहने को तत्पर रहें । दान-पुण्य की परिभाषा भी इन लोगों ने बड़े विचित्र ढंग से की कि केवल ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुये व्यक्ति को जो कुछ दिया जाएगा, वह अवश्य पुण्य माना जाएगा ।

विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की अज्ञानमूलक धारणा व्यक्ति और समाज के लिए हानिकारक परिणाम ही उपस्थित कर सकती है । पापों के दण्ड से बच निकलने का आश्वासन पाकर लोग चरित्रगठन की उपेक्षा करने लगे, पापों का भय जाता रहा । ऐसी अनेक कथा-कहानियाँ गढ़ी गईं जिनमें निकृष्ट से निकृष्ट कर्म जीवन भर करते रहने वाले व्यक्ति केवल एक बार अनजाने-धोखे से-'नारायण' का नाम लेने से मुक्त हो गये । इन कथाओं से सत्कर्मों की व्यर्थता सिद्ध होती है और प्रतीत होने लगता है कि जीवन-शोधन के लिए श्रम और त्याग करने की अपेक्षा थोड़ा-बहुत पूजा पाठ कर लेना ही अधिक सुविधाजनक है । ऐसी शिक्षा देने वाला अध्यात्म वस्तुत: अपने लक्ष्य से ही भ्रष्ट हो जाता है । आस्तिकता का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को सदाचारी और कर्त्तव्य परायण बनना है । यदि इस बात को भुलाकर लोग देवताओं को माँस, मदिरा या मिष्ठान्न की रिश्वत देकर मनमाने लाभ प्राप्त करने की बात सोचने लगें तो यह माना जाएगा कि उन्होंने ईश्वर को भी रिश्वत लेकर उल्टा-सीधा, काम करने वाला मान लिया है, फिर तप, त्याग, संयम, धर्म, कर्त्तव्य आदि के कष्टसाध्य मार्ग की उपयोगिता क्या रह जाएगी ? जब ईश्वर अपनी प्रतिमा के दर्शन करने वाले, स्तुति गाने वाले और भोग लगाने वाले पर ही प्रसन्न होने लगा तो फिर यही मार्ग हर किसी को पसन्द आने लगेगा । फिर कोई क्यों उस सद्धर्म के नाम पर कष्ट सहने को प्रस्तुत होगा जिसमें सर्वस्व त्याग और तिल-तिल कर जलने की अग्निपरीक्षा में होकर गुजरना पड़ता है ।

इन्हीं मान्यताओं का फल आज हम यह देख रहे हैं कि पूजा-अर्चना मे बहुत धन और समय खर्च करने वाले व्यक्ति भी चारित्रिक दृष्टि से बहुत गये-गुजरे देखे जाते हैं । मन्दिर, झाँकी, भजन-कीर्तन में बहुत उत्साह दिखाने वाले भी गुप्त-प्रकट रूप से बुरी तरह पाप पंक में डूबे रहते हैं । 'जो कुछ होता है ईश्वर की इच्छा से ही होता है'-ऐसा मानने वाले आलसी और अकर्मण्य बनकर अपनी हीन स्थिति का दोष ईश्वर को लगाते रहते हैं और प्रगति के लिए प्रतीक्षा करते रहते हैं कि जब कभी ईश्वर की इच्छा हो जाएगी तभी अनायास सब कुछ हो जाएगा । ऐसे लोग अनीति और अत्याचारों को भी ईश्वरेच्छा मानकर चुपचाप सहते रहते हैं । वे किसी दीन-दु:खी और निराश्रित की सेवा-सहायता करने से भी इसीलिए विमुख रहते हैं कि इससे ईश्वर की इच्छा का विरोध होगा । इन्हीं मान्यताओं के आधार पर एक हजार वर्ष तक हम विदेशी आक्रमणकारियों के बर्बर अत्याचार सिर झुकाये सहते रहे । सोमनाथ मंदिर की अपार सम्पत्ति लूटते देखकर हमें भगवान की प्रार्थना करने के सिवाय कर्तव्यपालन का कोई अन्य मार्ग न सूझा । आस्तिकता का असली स्वरूप भुला कर जो अविवेकपूर्ण धारणा हमने अपनाई, उस के कारण हम वस्तुत: ईश्वर से अधिकाधिक दूर होते गये । आस्तिकता के नाम पर हमने दिखावटी पूजा-पाठ का जो भाव अपनाया उससे हमने पाया कुछ नहीं, केवल खोया ही खोया ।

ऐसे विषम समय में तत्वदर्शी लोग भारी पीड़ा अनुभव कर रहे थे कि क्या इन काली घटाओं को चीरकर फिर कभी सच्ची आस्तिकता का सूर्य उदय होगा ? यह प्रार्थना ईश्वर ने सुनी और वह दिन फिर सामने आया जिसमें जन साधारण को आस्तिकता का सच्चा स्वरूप समझने का अवसर मिल सके । युग निर्माण योजना को आस्तिकता के पुनरुद्धार का आन्दोलन ही कहना चाहिए । कहते हैं कि किसी समय नारद जी ने भक्ति का घर-घर प्रचार करने का व्रत लिया था और वे अथक परिश्रम करके सारी पृथ्वी पर अनवरत भ्रमण करते हुए समस्त नर-नारियों को ईश्वर उपासक बनाने में जुट गये । युग-निर्माण-योजना के जन्मदाता ने भी आस्तिकता की प्रेरणा करोड़ों आत्माओं तक पहुँचाई है और २४ लाख से अधिक व्यक्ति गायत्री के नैष्ठिक उपासक बनाये हैं । अब प्रयत्न यही है कि घर-घर में आस्तिकता की आस्था फलती-फूलती नजर आवे । युग निर्माण योजना का प्रथम लक्ष्य आस्तिकता का प्रसार करना ही है । समस्त हिन्दू जाति को उसकी संस्कृति के उद्‌गम केन्द्र से परिचित करने और गायत्री के माध्यम से भावनात्मक एकता उत्पन्न करने के लिए जो प्रयत्न किया जा रहा है, उससे जातीय एकता का एक नवीन अरुणोदय होगा और हम चारों वेदों की जननी महाशक्ति गायत्री के साथ-साथ उसके २४ अक्षरों में सन्निहित अपनी महान् संस्कृति को भी समझ सकेंगे । जातीय उत्कर्ष की दृष्टि से निश्चय ही यह एक बहुत बड़ा काम होगा ।

युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत जिस आस्तिकता का प्रसार किया जा रहा है उसमें जप, तप, हवन, पूजन, भजन, ध्यान, कथा, कीर्तन, तीर्थ, पाठ, व्रत, अनुष्ठान आदि के लिए परिपूर्ण स्थान है पर साथ ही समस्त शक्ति लगा

कर हर आस्तिक के मन में यह संस्कार जमाये जा रहे हैं कि ईश्वर को निष्पक्ष, न्यायकारी और घट-घट वासी समझते हुए कुविचारों और दुष्कर्मों से डरें और उनसे बचने का प्रयत्न करें । प्रत्येक प्राणी में ईश्वर को समाया हुआ समझकर उसके साथ सज्जनता-पूर्ण सद्व्यवहार किया जाए । कर्त्तव्यपालन को ही ईश्वर की प्रसन्नता का सबसे बड़ा उपहार मानें और प्रभु की इस सुरम्य वाटिका–पृथ्वी में अधिकाधिक सुख-शान्ति विकसित करने के लिए एक ईमानदार माली की तरह सचेष्ट बने रहें । अपना अन्तःकरण इतना निर्मल और पवित्र बनाया जाए कि उसमें ईश्वर का प्रकाश स्वयमेव झिलमिलाने लगे । प्रार्थना केवल सद्बुद्धि, सद्गुण, सद्भावना, सहनशीलता, पुरुषार्थ, धैर्य, साहस और सहिष्णुता के लिए आवश्यक क्षमता प्राप्त करने की ही की जाए । परिस्थितियों को सुलझाने और अभावों की पूर्ति के लिए जो साधन हमें मिले हुए हैं उन्हें ही प्रयोग में लाया जाए और संघर्ष का जीवन हँसते-खेलते बिताते हुए मन को संतुलित रखा जाए । ये ही सब आस्तिकता के सच्चे लक्षण हैं । युग निर्माण योजना का प्रयत्न यह है कि इन लक्षणों से युक्त भक्ति और पूजा की भावना को जन-मानस में स्थान मिले और सच्ची आस्तिकता के अपनाने के लिए मानव मात्र का अन्तःकरण उत्साहित होने लगे ।

मनुष्य का कल्याण परमपिता परमात्मा की शरण में जाने से ही हो सकता है । असुरता के चंगुल से छुड़ाकर देवत्व की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति ही साधना कहलाती है । साधना से हमारा जीवन सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत भी बनता जाता है, पर यह तभी संभव होता है जब हम जड़-विज्ञान तथा स्वार्थपूर्ण दिखावटी आस्तिकता से बचकर सच्चे स्वरूप में ईश्वर की उपासना करेंगे । युग-निर्माण योजना मानव-मात्र के हृदय में सच्ची आस्तिकता उत्पन्न करके उनका हित साधन करने के लिए ही चलाई गई है ।

ज्ञान-यज्ञ का महान अभियान

यह सर्वविदित है कि इस संसार की सर्वोत्कृष्ट वस्तु 'ज्ञान' है । ज्ञान की आराधना से ही मनुष्य तुच्छ से महान बनता है, बन्धन से मुक्त होता है । इस ज्ञान के अभाव की जो अज्ञान स्थिति है उसमें डूबा रहने से ही मनुष्य पतन के, पाप के, अन्धकार के गर्त में डूबकर दुर्गति को प्राप्त होता है । इसलिए शास्त्रों ने और आप्त पुरुषों ने सदा एक स्वर से ज्ञान प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने के लिए हर व्यक्ति को आदेश दिया है जिसकी ज्ञान में दिलचस्पी नहीं, जो विवेक का महत्त्व नहीं समझता, जिसे मनन और चिन्तन में अभिरुचि नहीं, जो प्रस्तुत समस्याओं पर विचार करना नहीं चाहता वह एक प्रकार से पशु ही कहा जा सकता है, ऐसे नर-पशुओं की वृद्धि से धरती का भार बढ़ता है और नाना प्रकार के लोक-संकट उत्पन्न होते हैं ।

विचारों की प्रेरक शक्ति

मनुष्य को किसी भी दिशा में अग्रसर करने की प्रेरणा केवल विचार-शक्ति द्वारा ही मिल सकती है । पाप पूर्ण विचार जहाँ मनुष्य को पापी बनाते हैं वहाँ पुण्य के विचारों से वह धर्मात्मा, महात्मा एवं परमात्मा बन जाता है । इस हाड़-माँस की गीली मिट्टी जैसे शरीर का किसी ढाँचे में ढालना एवं पकाना एकमात्र विचार-शक्ति द्वारा ही सम्भव होता है । कुछ लोग अपने आप अपने विचारों का निर्माण करते हैं । कुछ लोग समीपवर्ती वातावरण से प्रभाव ग्रहण करके अपनी विचारधारा की दिशा बनाते हैं । जो भी हो, महत्त्व विचार-शक्ति का है । शारीरिक दृष्टि से भी मनुष्य लगभग एक से हैं पर उनके बीच जो जमीन-आसमान जैसा अन्तर दीख पड़ता है उसका कारण और कुछ नहीं केवल ज्ञान का स्तर एवं विचारों का प्रवाह ही है ।

ज्ञान की महत्ता बताते हुए कितनी ही जगह ऋषियों ने उसे ईश्वर के रूप में ही प्रतिपादित किया है । गीताकार का कथन है कि–"इस संसार में ज्ञान से बढ़कर श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं है ।" ज्ञान दान को ब्रह्मदान कहते हैं । प्राचीनकाल में ब्राह्मण और साधु ज्ञान दान का परम पुनीत सत्कर्म निरन्तर किया करते थे इसलिए उन्हें पूजनीय, श्रद्धेय एवं श्रेष्ठ माना जाता था । जीवन की सर्वोपरि श्रेष्ठ वस्तु का निरन्तर दान करने वालों को सम्माननीय एवं श्रेष्ठ माना भी क्यों न जाता, जन-समाज की मनोदशा का निर्माण उन्हीं के सत्प्रयत्नों पर ही निर्भर जो था । जब तक इस देश के साधु और ब्राह्मण अपना कर्त्तव्य पालन ठीक प्रकार करते रहे तब तक हम अपने गुण, कर्म और स्वभाव की श्रेष्ठता के कारण विश्व के नेता भी रहे और प्रचुर भौतिक सम्पदाओं के अधिपति भी । क्यों न हों, विवेक ही तो इस विश्व की सर्वोपरि शक्ति है । बुद्धिमान को ही बलवान कहा जाता है । बुद्धिहीन का बल तो एक क्षणभंगुर दिखावा मात्र है ।

भौतिक सहायता की स्वल्प सीमा

किसी दुःखी व्यक्ति को अन्न, जल, वस्त्र, औषधि, पैसा आदि उपकरणों से सहायता करके कुछ समय के लिए उसके कष्ट को कम किया जा सकता है । जब उस दान का प्रभाव समाप्त हो जाएगा तो फिर वह कष्ट पुनः ज्यों का त्यों हो जाएगा फिर इस प्रकार की सहायता धन सम्पन्न लोग ही कर सकते हैं, वे ही कुआँ, बावड़ी, प्याऊ, धर्मशाला, सदावर्त, औषधालय आदि खुलवा सकते हैं । जिनके पास धन नहीं है वे ऐसे कार्य इच्छा रहते हुए भी नहीं कर सकते । धन दान का सदा सदुपयोग ही नहीं होता । कई बार दुष्ट-दुरात्मा लोग आपत्तिग्रस्त एवं धर्मात्मा होने का ढोंग बनाकर दान ले जाते हैं और फिर उसे बुरे मार्ग में खर्च करके देने वाले को भी पाप का भागी बनते हैं । इसलिए दान एक प्रशंसनीय सत्कर्म होते हुए भी उसमें

सम्पन्नता और सदुपयोग की शर्त लगी हुई है। यह दो शर्तें पूरी न हो सकें तो धन-दान की सत्प्रवृत्ति भी निष्फल हो जाती है। यदि यह सफल भी हो तो उससे किसी के कष्ट का एक सीमित अवधि तक ही निवारण हो सकता है। सदा के लिए उन्मूलन नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि धन दान की उपेक्षा की जानी चाहिए। इन पंक्तियों का यह उद्देश्य नहीं। अपनी पुण्य कमाई में से एक नियत अंश हर आदमी को नियमित रूप से निकालते रहना चाहिए और उसका विवेकपूर्ण सत्कार्यों में उपयोग करने का ग्रहस्थ-धर्म तो सदा ही पालन करना चाहिए।

इन पंक्तियों का प्रयोजन यह है कि ज्ञान-दान की पुनीत प्रक्रिया को हम लोग इस संसार का सर्वश्रेष्ठ परमार्थ समझकर उसे अत्यधिक महत्त्व दें और इस बात का प्रयत्न करें कि विचार एवं विवेकशीलता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिले। हर आदमी ज्ञान की महत्ता एवं उपयोगिता को समझे। आज जिस प्रकार शारीरिक आलस बढ़ रहा है, लोग श्रम से जी चुराने लगे हैं उसी प्रकार वे जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर गहराई से विचार करना छोड़ कर केवल प्रचलित परम्पराओं के आधार पर दूसरों की देखा-देखी भेड़-चाल चलते रहते हैं। यही स्थिति आज के अनुपयुक्त वातावरण के लिए उत्तरदायी है।

मनोभूमि ढालने की अग्नि

जैसे लोहे को किसी अन्य आकृति में ढालना हो तो उसे गरम करके नरम बनाना पड़ता है, तब वह पिछली आकृति को छोड़कर किसी अन्य आकृति में ढलता है। वैसे ही मनुष्य का अन्तःकरण ज्ञान और विवेक की आग में ही नरम बनता है और तभी वह अपने पूर्व पक्ष को छोड़कर किसी अच्छे मार्ग पर चलने को तैयार होता है। पाप और बुराई को तो लोग दूसरों की देखा-देखी एवं उनसे प्राप्त होने वाले तात्कालिक लाभों से प्रभावित होकर ही अपना लेते हैं, पर कुकर्म का लोभ त्याग कर, सत्कर्म की ओर अग्रसर होना, हीन स्थिति से ऊँचे उठकर उच्च स्थिति के लिए प्रयत्नशील होना, बिना तीव्र भावना एवं बिना उत्कृष्ट प्रेरणा के सम्भव नहीं हो सकता और यह कार्य ज्ञान की अग्नि द्वारा ही सम्भव हो सकता है। मशीनें, कोयला, भाप, तेल, गैस, बिजली, अणु आदि आग्नेय शक्ति द्वारा गतिशील होती हैं। मनुष्य रूपी मशीन को यदि उत्कर्ष के श्रेष्ठ मार्ग पर चलाना हो तो उसे ज्ञान की-विवेक की शक्ति अनिवार्यतः चाहिए। इसके बिना हृदय की आँखें नहीं खुलती और न दूरवर्ती भलाई, बुराई सूझ पड़ती है। केवल ज्ञान में ही यह शक्ति सन्निहित है जो व्यक्ति के अन्तस्तल को पलटे और उसे अनुपयुक्त मार्ग से हटाकर उपयुक्त मार्ग पर प्रवृत्त करे।

विचारों की शक्ति, उपयोगिता, आवश्यकता को समझने और स्वीकार करने के लिए जन-साधारण को यदि तत्पर न किया जा सका तो युग-परिवर्तन का स्वप्न एक शेखचिल्ली के सम्पर्क में आकर आवश्यक प्रेरणा जो लोग ग्रहण न करेंगे, उन्हें दण्ड के अतिरिक्त और किसी प्रकार सुधारा न जा सकेगा। प्रजातन्त्र युग में छोटे दोषों के लिए आँखें फोड़ने, हाथ काटने जैसे नृशंस दण्ड दिये जाने भी सम्भव नहीं। यदि दिये भी जावें तो उनसे बचे रहना जिनके लिए संभव होगा, वे दण्डशक्ति रखने वाले लोग तो उन कुकृत्यों को कर ही सकेंगे। अधिक छिपकर पकड़ में न आने की अधिक चतुरता तो तब भी चल ही सकेगी। ऐसी दशा में अनीति का उन्मूलन तो नृशंस दंड व्यवस्था में भी न हो सकेगा। जिन देशों में आज भी अधिनायक वाद है और प्रतिपक्षियों को नृशंस दंड देने के क्रम चल रहे हैं, वहाँ भी दंड का उद्देश्य सफल कहाँ हो पा रहा है? दंड की एक सीमा तक उपयोगिता हो सकती है पर मानवी प्रकृति उससे नहीं बदली जा सकती, यह परिवर्तन तो हृदय-परिवर्तन के साथ ही हो सकता है और हृदय परिवर्तन का मार्ग ज्ञान का अवलम्बन ही हो सकता है। नारद ने वाल्मीकि और बुद्ध ने अंगुलिमाल जैसे भयंकर डाकू को ज्ञान देकर ही संत बनाया था।

धर्म सेवा का सर्वश्रेष्ठ माध्यम

हम ज्ञान का प्रकाश फैलाने का व्रत लें। धर्म-सेवा का अनादि काल से लेकर अद्यावधि यह एक ही सर्वोपरि माध्यम रहा है। सत्कर्म की प्रेरणा देने से बढ़कर और कोई पुण्य हो भी तो नहीं सकता। इसे गरीब, अमीर विद्वान, अविद्वान सभी अपनी सामर्थ्य के अनुसार कर सकते हैं। सबल भावना वाला व्यक्ति अपने समीपवर्ती क्षेत्र में अपनी भावनाएँ मान्यताएँ अवश्य फैला सकता है। यह ठीक है कि हर एक के पास निज के उपार्जित उत्कृष्ट विचार नहीं हो सकते और उसका निज का व्यक्तित्व भी इतना प्रभावशाली नहीं हो सकता कि उसकी दी हुई शिक्षा को लोग शिरोधार्य कर लें पर इतना तो हो ही सकता है कि संदेशवाहक के रूप में उत्कृष्ट विचारों को अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों तक पहुँचाया जा सके। भोजन बनाना कठिन हो सकता है, परोसने में क्या कठिनाई? घड़ी, मशीन बनाना कठिन हो सकता पर उसका उपयोग करने में-दूसरों को समय बता देने में क्या असुविधा पड़ेगी? ज्ञान प्रसार के व्रतधारी 'अखण्ड-ज्योति संस्थान' द्वारा युग निर्माण के लिए प्रस्तुत की जाने वाली प्रचण्ड एवं प्रखर विचारधारा को जन-साधारण तक पहुँचाने में एक संदेशवाहक का कार्य तो आसानी कर सकते हैं। थोड़ी-सी अभिरुचि एवं प्रवृत्ति इस ओर मुड़नी चाहिए। कुछ दिनों इसे अपने स्वभाव में सम्मिलित करने की तो कठिनाई रहेगी पर यह सब जैसे ही अभ्यास बना वैसे ही एक धर्म सेवा की, ज्ञान यज्ञ की, एक महान प्रक्रिया चल पड़ेगी और साधारण व्यक्ति भी युग निर्माण के लिए एक उपयोगी परमार्थ करने का श्रेय लाभ लेने लगेगा।

ज्ञान यज्ञ के लिए समय दान

एक घंटा रोज का समय हम इस कार्य के लिए नित्य लगाया करें कि युग निर्माण विचारधारा को सुनने-समझने की अभिरुचि साधारण लोगों में उत्पन्न की जा सके तो इतने मात्र से भी बहुत काम हो सकता है । हममें से हर एक का कुछ न कुछ परिचय एवं प्रभाव क्षेत्र होता है । उसमें जो शिक्षित हों, उन्हें अपना युग निर्माण साहित्य पढ़ने देने और फिर उनसे वापिस लेने के लिए उनके पास आना-जाना आरम्भ करना चाहिए । पुस्तकें बाँट देने से, या पुस्तकालय खोल देने से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । जब तक लोगों की अभिरुचि ही न जागेगी, तब तक मुफ्त में मिली हुई पुस्तक को भी लोग न पढ़ेंगे और पुस्तकालय खुल गये तो भी उसमें पढ़ने न आवेंगे । कार्य तो जन-सम्पर्क से ही होगा ।

विचार-परिवार का निर्माण

हमें अपने परिचय एवं प्रभाव क्षेत्र में से शिक्षित एवं सौम्य प्रकृति के लोगों की एक लिस्ट बनाकर उसे अपनी डायरी में नोट करना चाहिए और फिर ज्ञान दान के लिए दिये हुए घण्टे में उनके घर जाकर मिलना चाहिए । जो पुस्तक अगले दिन उन्हें पढ़ानी हो अन्य बातों के प्रसंग के साथ, उस पुस्तक के सम्बन्ध में चर्चा करनी चाहिए और उसकी उपयोगिता, श्रेष्ठता एवं महत्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा इस प्रकार करनी चाहिए कि उस व्यक्ति में उसे पढ़ने की अभिरुचि जाग्रत हो । यदि पहली वार्ता में वह अभिरुचि जाग्रत न हुई हो तो फिर किसी अन्य दिन उस सम्बन्ध में पुनः प्रशंसा करनी चाहिए । जैसे भूख लगने पर ही भोजन खाया जाना गुणकारक होता है वैसे ही अभिरुचि जगाकर दिया हुआ साहित्य ही मनोयोगपूर्वक पढ़ा जाता है और उसी का कुछ प्रभाव भी पड़ता है । जब तक अभिरुचि न जगे, जब तक वह उस पुस्तक को पढ़ने की माँग न करने लगे तब तक उसे पढ़ने नहीं देना चाहिए वरन् लगातार प्रयत्न करना चाहिए कि वह आपके द्वारा की हुई पुस्तक की प्रशंसा सुनकर उसे पढ़ने की आपसे माँग करें । माँग होने पर उसके पास स्वयं ही उसे पहुँचाने जाना चाहिए और वापिस लेने कब आवें, यह भी पूछ लेना चाहिए, ताकि वह उपेक्षा में डाल न रखे । इस प्रकार बार-बार आने-जाने का, मिलने-जुलने का सिलसिला परमार्थ बुद्धि से चला देने पर अपने मिशन के सम्बन्ध में विचार-विनिमय एवं वार्तालाप का अवसर भी मिल सकेगा और पुस्तक में प्रस्तुत विचारों का अपने व्यक्तिगत विचारों द्वारा समर्थन करने से पढ़े हुए विषय की पुष्टि भी होगी । इस प्रकार लगातार हमारे द्वारा प्रस्तुत विचारधारा और आपके द्वारा उत्पन्न की हुई अभिरुचि एवं प्रेरणा से उस पढ़ने वाले के मन पर प्रभाव अवश्य पड़ेगा । आज न सही कल उसमें परिवर्तन होगा ही । पूर्ण रूप से न सही किसी अंश में वह अपने से सहमत होगा ही और बहुत न सही थोड़े अंश में विचार बदलने से उसके कदम भी श्रेष्ठता की दिशा में तीव्र या मन्दगति से अवश्य बढ़ेंगे ।

शिक्षित ही नहीं अशिक्षित भी

शिक्षितों को यह साहित्य पढ़ाया जाना चाहिए किन्तु अशिक्षितों को, स्त्री-बच्चों को सुनाने के लिए भी इन पुस्तकों में बहुत कुछ है । बाहर के लोग सुनने न आवें तो सही हम अपने घर के स्त्री-बच्चों को इकट्ठा करके उन्हें अखण्ड-ज्योति में प्रस्तुत छोटी-छोटी कथा कहानियाँ एवं उनके समझने लायक आवश्यक बातें उनको अपनी भाषा में सुनाने -समझाने के लिए घरेलू सत्संग तो चला ही सकते हैं । लोगों से घर-घर मिलने जाने और व्यक्तिगत चर्चाएँ करने से भी सत्संग का उद्देश्य पूरा हो सकता है । अशिक्षितों को इकट्ठे करने पर उनसे पृथक-पृथक मिलकर अपनी विचारधारा से परिचित कराया जा सकता है । स्वाध्याय और सत्संग ज्ञान-यज्ञ के दो पहलू हैं, इनका आरम्भ सबसे पहले ऊपर बताई हुए पंक्तियों के अनुसार ही हमें आरम्भ कर देना चाहिए ताकि लोगों की सोई हुई जिज्ञासा एवं अभिरुचि का जागरण हो सके । यदि उस कुम्भकरणी निद्रा से मानवी चेतना को जगाया जा सका तो वह जागरण अभूतपूर्व हलचल उत्पन्न करने वाला होगा यह निश्चित है ।

महान अतीत को वापस लाने का पुण्य-प्रयत्न

भारतवर्ष की सबसे बड़ी विशेषता और महत्ता उसका अध्यात्मवादी दृष्टिकोण है । अतीत काल से अब तक हमारे देश का गौरव इसी आधार पर प्रकाशवान रहा है । एक समय था जब यहाँ के निवासी तैंतीस कोटि देवता के नाम से पुकारे जाते थे, ज्ञान और विज्ञान की दृष्टि से उन्हें जगद्गुरु की पदवी प्राप्त हुई थी । व्यवस्था, दूरदर्शिता और प्रतिभा का स्तर अत्यन्त ऊँचा होने के कारण चक्रवर्ती शासन का गुरुतर भार उन्हीं के कंधों पर डाला जाता था । धन, विद्या व चरित्र सभी दृष्टियों से यह देश नररत्नों की खान माना जाता था, इस सब का कारण उसकी आध्यात्मिक विशेषता ही थी ।

अध्यात्म-तत्वज्ञान को पारस माना गया है, क्योंकि उसका स्पर्श होते ही लोहे के समान तुच्छ श्रेणी के व्यक्तित्व भी सोने के समान बहुमूल्य और आकर्षक बन जाते हैं । अध्यात्म को कल्पवृक्ष कहा गया है क्योंकि इस दृष्टिकोण के प्राप्त होते ही मनुष्य आप्तकाम बन जाता है । अनावश्यक तृष्णाओं को वह मस्तिष्क में से कूड़े-करकट की तरह बुहारकर बाहर फेंक देता है और जो कामनाएँ आवश्यक होती हैं उन्हें तत्परता, पुरुषार्थ और लगन के साथ पूरा करने में जुट जाता है । इस प्रकार कार्य-संलग्न हुये व्यक्ति के लिए असफलता नाम की कोई वस्तु बाकी

नहीं रहती । आलस्य और प्रमाद ही असफलता के जनक हैं, इन दो शत्रुओं को परास्त कर देने के बाद मनुष्य को आप्तकाम होने में देर नहीं लगती । उसकी कोई कामना अधूरी नहीं रहती ।

अध्यात्म का आधार संयम है और संयमी मनुष्य के लिए शारीरिक अस्वास्थ्य का प्रश्न ही नहीं उठता । अध्यात्म का मूल मंत्र प्रेम है । जो दूसरों के साथ आत्मीयता, उदारता, सेवा, सहिष्णुता और मधुरता का व्यवहार करेगा उसके लिए दूसरों का सहयोग, सद्भाव एवं सौजन्य मिलेगा ही । सर्वत्र उसे स्नेही और सज्जन ही भरे हुए मिलेंगे । अध्यात्म, तत्वज्ञान आत्म-शोधन पर अवलम्बित हैं । जो अपने दोष और त्रुटियों को समझ लेगा और उन्हें सुधारने के लिये सचेष्ट रहेगा उस व्यक्ति के सामने न तो कोई समस्या रहेगी और न उलझन । जब मनुष्य अपने को दोष, दुर्गुण, कुविचार, कुसंस्कारों को रंगीन चश्मे की तरह आँख पर धारण किए रहता है तो सर्वत्र उसे नरक दिखाई पड़ता है पर जब वह अपने को सुधारने और बदलने के लिए प्रयत्नशील होता है तो बाहरी समस्याएँ और परिस्थितियाँ अपने आप ही सरल हो जाती हैं । इस प्रकार आध्यात्मिक विचारधारा मनुष्य को स्वर्गीय जीवन की आनन्दमय अनुभूति कराती रहती है और अन्ततः आत्मा-परमात्मा को प्राप्त करने का लक्ष्य भी उसी मार्ग पर चलते हुए प्राप्त हो जाता है ।

जीवन का प्रत्येक क्षेत्र जिसके प्रकाश से दिव्य हो उठता है, उस अध्यात्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए संसार के कोने-कोने से जिज्ञासु लोग यहाँ आते थे । नालंदा, तक्षशिला जैसे विश्व-विद्यालय अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-दीक्षा के महान केन्द्र बने हुए थे । यहाँ प्रत्येक लौकिक विषय का शिक्षण होता था, पर दीक्षा का आधार अध्यात्म ही रहता था उनमें शिक्षा प्राप्त करके निकलने वाले प्रत्येक छात्र का जीवन अध्यात्मवादी दृष्टिकोण में ढला रहता था । वे छात्र जहाँ कहीं भी जाते थे अपने उज्ज्वल चरित्र और सफल जीवन का उदाहरण प्रस्तुत करके अध्यात्म की विजय पताका फहराते थे । जब तक यह परम्परा यथावत् चलती रही तब तक भारत संसार का प्रत्येक क्षेत्र में नेतृत्व भी करता रहा और सुख-शान्ति की अजस्र धारा यहाँ निर्बाध गति से बहती रही ।

भारत की महान आध्यात्मिक सम्पदा आज भी शास्त्रों और ग्रन्थों में ज्यों की त्यों मौजूद है । वैसे हम आज भी अध्यात्मवादी कहलाते हैं पर असलियत कुछ और ही हो गई है । जिस प्रकार असली के स्थान पर हर चीज नकली चल पड़ी है, वही दशा अध्यात्म की भी हुई है । जो तत्वज्ञान मनुष्य की आन्तरिक दुर्बलताओं को हटाने और महानताओं को जाग्रत करने का प्रधान साधन था, वही अब लोगों को आलसी, कर्त्तव्यशून्य और दीन-दुर्बल बनाने का निमित्त बना हुआ है । स्वार्थी लोगों ने भोली जनता को अज्ञान में फँसाये रखने और ठगते रहने का जो कुचक्र चलाया आज उसी को अध्यात्म समझा जाता है । गुरु लोग उसी के आधार पर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं और भोले-भाले अविवेकी लोग उसी टंट-घंट को सब कुछ मानकर स्वर्ग और मुक्ति के सपने देखते रहते हैं ।

वर्तमान समय में प्रचलित आध्यात्मिक सिद्धान्त बड़े विचित्र हैं । उनके अनुसार "संसार मिथ्या है, इसलिए किसी से मोह-माया न रख कर केवल भजन करते रहना चाहिए ।" "जो भाग्य में लिखा है वही होगा, मनुष्य उसे बदल नहीं सकता । इसलिए ज्यादा हाथ-पैर पीटना व्यर्थ है ।" देवताओं की प्रसन्नता-अप्रसन्नता या सिद्ध महात्माओं के आशीर्वाद से उन्नति होती है, मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता । लौकिक समस्याओं पर विचार करना माया में पड़ना है, जो कुछ हो रहा है सब भगवान की इच्छा है, उसकी इच्छा में हम क्यों बाधक बनें । अपनी मुक्ति की बात ही हमें सोचनी चाहिए, दुनिया से हमें क्या मतलब !" ऐसी विचारधारा में फँसा हुआ व्यक्ति दिन पर दिन स्वार्थी और निराश बनता जाता है । कर्त्तव्यों के प्रति उपेक्षा दिखलाता रहता है । ऐसे व्यक्ति हर क्षेत्र में असफल होते हैं ।

देखा जाता है कि अध्यात्म की चर्चा करने वाले व्यक्तियों में से अधिकांश को बहुत कुछ पूजा-पाठ करने पर भी जीवन के हर क्षेत्र में असफलता मिलती है । कारण यही है कि ऐसे लोग अध्यात्म के सब से प्रधान अंग जीवन-विकास की उपेक्षा किया करते हैं और केवल जप या पाठ को ही सब कुछ मान लेते हैं । ऐसा एकांगी तत्वदर्शन किसी एक व्यक्ति को कुछ शांति या संतोष भले ही कर सके, पर समस्त समाज को वह किसी भी रूप में स्पर्श नहीं कर सकता और जब तक समाज का उत्थान न हो तब तक किसी एक व्यक्ति का स्थायी कल्याण हो सकना कैसे संभव हो सकता है ? जिसमें गुण, कर्म, स्वभाव के विकास का, जीवन की समस्याओं का ठीक प्रकार समाधान करने का विधान न पाया जाए वह तत्वज्ञान न उपयोगी सिद्ध हो सकता है और न प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है । प्राचीन काल में हमारी आध्यात्मिक विचारधारा मानव जीवन के हर पहलू को विकसित करने की क्षमता रखती थी, इसी से उसे अपनाने वाले भरपूर लाभान्वित हुए और जहाँ कहीं वे गये वहीं उनकी प्रशंसा और प्रतिष्ठा हुई ।

पूजा, उपासना का अध्यात्मवाद में प्रमुख स्थान है, पर इसके साथ ही यह भी साधना का अनिवार्य अंग माना जाता है कि मनुष्य अपने गुण, कर्म, स्वभाव को उत्कृष्ट और आदर्श बनावे । जीवन के हर क्षेत्र में अध्यात्मवाद का समावेश करके ऐसी जिन्दगी जिये जैसी कि मानव शरीरधारी को जीनी चाहिए । पूजा को औषधि और जीवन विकास की परम्पराओं को पथ्य, परिचर्या माना गया है । औषधि तभी लाभ करेगी जब परहेज भी ठीक रखा जाए । चिकित्सक के बतलाये सारे नियमों का उल्लंघन करते रहने पर भी यदि कोई आशा करे कि औषधि सेवन मात्र से बीमारी दूर हो जाए तो यह उसकी गलती ही मानी

एकांगी नहीं परिपूर्ण अध्यात्म

हमें अध्यात्म को एकांगी नहीं, सर्वाङ्गीण एवं परिपूर्ण बनाना होगा । 'अखण्ड-ज्योति' परिवार अध्यात्म आदर्शों पर चलने वाले लोगों का समूह है, हम लोग पूजा-उपासना को अपना एक प्रिय एवं आवश्यक कार्यक्रम मानते हैं । सही दिशा में चलने का यह प्राथमिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली कदम है । जो उपासना नहीं करता उसका मार्ग अन्धेरे से, कंटकों से भरा हुआ है । जिसका आधार सही है, अवलम्बन सच्चा है वह आज न सही कल, अब न सही फिर गन्तव्य लक्ष्य तक पहुँचेगा ही पर यहाँ एक ही बात ध्यान रखने की है कि लक्ष्य और दिशा सही हो जाने पर भी दोनों पैरों से चलने का प्रबन्ध करना पड़ेगा । लँगड़े व्यक्ति भी लकड़ी की टाँग लगाकर या हाथों का सहारा लेकर घिसटने की व्यवस्था बनाकर आगे बढ़ते हैं । यदि ऐसी कोई सहायक व्यवस्था न बनाई जाए तो केवल एक टाँग से सही रास्ता मिल जाने पर भी उस पर चल सकना और गन्तव्य स्थान तक पहुँच सकना संभव न होगा । अध्यात्म मार्ग में भी दो टाँगों की जरूरत है । एक टाँग है साधना, दूसरी है सेवा । भीतरी, अन्तः-करण की सफाई के साथ-साथ, बाहरी सामाजिक सफाई के लिए भी सक्रिय होना आवश्यक है । इसी प्रयत्नशीलता पर युग निर्माता का आज का सपना कल सार्थक एवं मूर्तिमान होकर सामने प्रस्तुत हो सकता है ।

मनुष्य अपनी स्वार्थपरता पर अंकुश लगाना और परमार्थ वृत्ति को बढ़ाना आरम्भ करे तभी यह संभव है कि सभ्य समाज की रचना हो सके । चूँकि विश्व-शान्ति का आधार सभ्य समाज की रचना ही है और वह मानसिक स्वच्छता के आधार पर अवलम्बित है इसलिए हमें सभ्य समाज और स्वच्छ मन के अनुकूल परिस्थितियाँ बनाने में जुटना होगा । शारीरिक अस्वस्थता का निवारण-स्वस्थ शरीर का लाभ भी तभी मिलेगा जब मनोभूमि में आत्म-संयम का समुचित स्थान हो । असंयमी लोगों का न शरीर स्वस्थ रहता है और न मन फिर उन्हीं लोगों का समूह-समाज भी सभ्य कैसे रह सकेगा ? इन सब बातों पर विचार करते हुए हमें अपनी आत्मिक प्रगति को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की दृष्टि से भी और विश्व-शान्ति की दृष्टि से भी अपने समीपवर्ती समाज की मनोभूमि उत्कृष्ट बनाने का कार्यक्रम हाथ में लेना होगा । विचारों से ही क्रिया उत्पन्न होती है । अवांछनीय क्रियाएँ रोकनी हैं तो उनकी जड़ खोदनी होगी । पाप या पुण्य की जड़ मन में रहती है । मन को पवित्र बनाने का धर्म अभियान जब तक संगठित एवं व्यवस्थित रूप में न चलाया जाएगा तब तक अन्य राजनैतिक एवं आर्थिक आधार पर चलने वाले आन्दोलन से कदापि कोई ठोस परिणाम निकल न सकेगा ।

तृष्णा और वासनाओं पर नियंत्रण

पारस्परिक सद्भावनाएँ जिस प्रकार बढ़ सकें, व्यक्ति अपनी तृष्णा और वासना पर जिस प्रकार नियंत्रण रख सके, दूसरों की सेवा-सहायता करते हुए जिस प्रकार वह सन्तोष लाभ कर सके, उसी आधार को बलवान करने से मनुष्य अधिक सभ्य, अधिक पवित्र, अधिक श्रेष्ठ एवं अधिक महान बन सकेगा । यह श्रेष्ठता ही देवत्व है । मनुष्य असुर भी है और देवता भी । दुर्बुद्धि और दुष्टता को अपनाकर वह असुर बन जाता है, सद्बुद्धि एवं सज्जनता को धारण कर देवता के रूप में परिलक्षित होता है । बढ़ी हुई असुरता के कारण आज चारों ओर अन्धकार एवं विपत्तियों की काली घटाएँ घुमड़ रही हैं इनको हटाया जाना तभी सम्भव है तब देवत्व का तूफानी पवन चलने और आध्यात्मिकता का प्रचण्ड सूर्य उदय होने लगे । हमारे सत्प्रयत्नों से यह सर्वथा सम्भव है । मनुष्य की आत्मिक-शक्ति की महत्ता अत्यधिक प्रबल है, साधारण लोगों का संघबल असाधारण लगने वाले, आश्चर्यजनक दीखने वाले कठिन कार्यों को पूरा कर दिया करता है, फिर अध्यात्म का आधार लेकर चलने वाले, सदुद्देश्य एवं विश्व-शान्ति के लिए आत्म-त्याग करने वाले लोगों का समूह यदि अपनी गहन श्रद्धा का सम्बल पकड़कर अग्रसर होगा तो क्या युग-निर्माण का सपना, सपना ही बना रहेगा, या वह योजना, योजना मात्र ही बनी रहेगी ? नहीं ऐसा हो नहीं सकता । युग, अपनी पुकार किन्हीं भी छोटे-बड़े लोगों को निमित्त बनाकर अपने आप पूरा कर लिया करता है । समय की आवश्यकताएँ किसी न किसी माध्यम से पूरी होकर रहती हैं । अशान्ति की विपन्न परिस्थितियों से संत्रस्त मानवता की आज एक ही पुकार है–मानवता का युग आये, यह पुकार अनसुनी नहीं रह सकती और न उपेक्षित । वह सुनी भी जाएगी और पूर्ण भी होगी फिर उस सफलता का श्रेय लाभ करने में हम भी सम्मिलित क्यों न हों ? अपनी आध्यात्मिक साधना को अधूरी, लंगड़ी एवं एकांगी रखने की अपेक्षा उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का प्रयत्न क्यों न करें ? युग निर्माण योजना के लिए अग्रसर होना इस उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक भी है और अनिवार्य भी ।

युग-निर्माण का आधार-तत्व

समाज रूपी जंजीर की मनुष्य एक कड़ी मात्र है । छड़ का एक सिरा आग में तपाया या बर्फ में ठंडा किया जाए तो उसका दूसरा सिरा भी गर्म या ठंडा हो जाता है । ऐसा नहीं हो सकता कि छड़ का जितना स्थान तपाया जाए उतना ही गर्म हो बाकी ज्यों का त्यों बना रहे । मनुष्य समाज भी एक छड़ की तरह है । यदि किसी समाज में दोष-दुर्गुण उत्पन्न होते हैं तो शान्ति प्रेमी लोग उसके कुप्रभाव से बच नहीं सकते और सद्प्रवृत्तियों से सारा समाज भरा रहता है तो एक व्यक्ति दुर्गुणी हो तो भी उसे समाज के दबाव से सुधरने को विवश होना पड़ता है । विश्व-शान्ति और युग-निर्माण के जिस महान लक्ष्य को लेकर हम अग्रसर होते हैं वह केवल

कुछ व्यक्तियों के सन्त बन जाने से संभव न होगा, वरन् जन-समूह में व्याप्त प्रवृतियों का ध्यान रखना होगा और दोष-दुर्गुणों को, द्वेष-दुर्भावों को हटाकर उनके स्थान पर सद्विचारों और सत्कर्मों की स्थापना करनी पड़ेगी ।

विचारों से कार्य प्रेरणा

कार्यों के मूल में विचार है । मस्तिष्क में जिस प्रकार के विचार घूमते हैं उसी प्रकार के कार्य होने लगते हैं । जिस वर्ग के लोग स्वार्थपरता, तृष्णा, वासना और अहंता के विचारों में डूबे रहते हैं वहाँ नाना प्रकार के क्लेश, कलह, दुष्कर्म एवं अपराध निरन्तर बढ़ते रहते हैं पर जहाँ परमार्थ, संयम, संतोष और नम्रता आदर्शवाद को प्रधानता दी जाती है वहाँ सर्वत्र सत्कर्म ही सत्कर्म होते दिखाई पड़ते हैं और उसके फलस्वरूप, सतयुगी सुख-शान्ति का वातावरण बन जाता है । जिस प्रकार स्वस्थ शरीर से स्वच्छ मन का सम्बन्ध है उसी प्रकार स्वच्छ मन के ऊपर सभ्य समाज की सम्भावना निर्भर है । यदि शरीर बीमार पड़ा रहेगा तो मन में निम्न श्रेणी के विचार ही आवेंगे । अस्वस्थ व्यक्ति देर तक उच्च भावनाएँ अपने मन में धारण किये नहीं रह सकता । उसी प्रकार अस्वच्छ मन वाले व्यक्तियों से भरा समाज कभी सभ्य कहलाने का अधिकारी नहीं बन सकता । मानव जाति एकता, प्रेम, प्रगति, शान्ति एवं समृद्धि की ओर अग्रसर हो, इसका एकमात्र उपाय यही है कि लोगों के मन आदर्शवाद, धर्म, कर्त्तव्यपरायणता, परोपकार एवं आस्तिकता की भावनाओं से ओत-प्रोत रहें । इस दिशा में यदि हमारे कदम उठते रहेंगे तो उन्नति के लिए जिन योग्यताओं एवं क्षमता की आवश्यकता है वे सब कुछ ही समय में अनायास प्राप्त हो जाएँगी । पर यदि दुर्गुणी लोग बहुत चतुर और साधन सम्पन्न बनें तो भी उस चतुरता और क्षमता के दुरुपयोग होने पर विपत्ति ही बढ़ेगी ।

आदर्शवाद की भावना

आदर्श समाज की रचना के लिए आदर्शवाद के सिद्धान्तों को जन-मानस में गहराई तक प्रवेश कराया जाना आवश्यक है । कोई नियम, निर्देश प्रतिबंध या कानून मनुष्य को सदाचारी बनने के लिए विवश नहीं कर सकते । वह अपनी चतुरता से हर प्रतिबन्ध का उल्लंघन करने की तरकीब निकाल सकता है पर यदि आत्मिक अंकुश लगा रहेगा तो बाह्य जीवन में अनेक कठिनाइयाँ होते हुए भी वह सत्य और धर्म पर स्थिर रह सकता है । उसे कोई प्रलोभन, भय या आपत्ति सत्पथ से डिगा नहीं सकती । यह आध्यात्मिक अंकुश ही हमारे उन सारे सपनों का आधार है जिनके अनुसार समाज को सभ्य बनाने और युग परिवर्तित होने की आशा की जाती है ।

श्रेय-पथ के पथिक

किसी समय भारत सभ्यता की दृष्टि से बहुत ऊँचा था । उस स्थान का एक ही कारण था कि हमारा सारा समाज आदर्शवाद पर परिपूर्ण निष्ठा धारण किए रहता था । श्रेय मार्ग पर, धर्म पथ पर, चलने की जब भी प्रवृति उत्पन्न हुई है तभी सतयुग के स्वर्गीय दृश्य उपस्थित हो गये हैं और जहाँ भी स्वार्थपरता और दुष्टता की है वहाँ क्लेश-कलह का, दुःख-दारिद्र का नारकीय वातावरण उत्पन्न हो गया है । हमारे पूर्व पुरुष इस तथ्य को जानते थे इसलिए वे सुख-साधनों को ढूँढ़ने के साथ-साथ इस बात के लिए भी सचेष्ट रहते थे कि हर व्यक्ति आदर्शवादी बने । आदर्शवादी व्यक्ति स्वयं ही आत्मशान्ति प्राप्त नहीं करता वरन् सारे समाज के लिए आनन्द और उल्लास की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देता है ।

रामायण का आदर्श

रामायण काल पर जब दृष्टिपात करते हैं तो राम, लक्ष्मण, भरत, कौशिल्या, सुमित्रा, सीता, उर्मिला, हनुमान, जटायु आदि के आदर्शवाद को ही उस स्वर्गीय आनन्द को उत्पन्न करते हुए पाते हैं, जिसके स्मरण मात्र से हम आज भी पुलकित और भाव-विभोर हो जाते हैं । यदि इन महापुरुषों ने ऊँचे आदर्शवाद का परिचय न दिया होता, हर एक ने अपने-अपने संकुचित स्वार्थ की दृष्टि से सोचा होता तो राजघरानों में होते रहने वाले षड्यन्त्रों से बढ़कर वहाँ और कोई विशेषता दृष्टिगोचर न होती । अपने माता-पिता की प्रसन्नता के लिए रामचन्द्र जी ने जिस प्रकार का उदार दृष्टिकोण रखा उससे आज तक बच्चों को मातृ-पितृ भक्ति की शिक्षा मिल रही है । लक्ष्मण और भरत का भ्रातृ प्रेम कौशिल्या और सुमित्रा का अपने बच्चों के सन्मार्ग पर कष्ट उठाने के लिए प्रोत्साहन, सीता का पतिव्रत, उर्मिला का अपने पति के आदर्शवादी बनने का संतोष, हनुमान का न्यायपक्ष के लिए अपना जीवन दान करना–जटायु जैसे दुर्बल पक्षी का अन्याय से संघर्ष करते हुए प्राण देना आदि कतिपय महानताएँ ऐसी हैं जिनके होने से ही रामायण, रामायण कहला सकने योग्य बनी है ।

अन्धे माता-पिता की काँवर को कन्धे पर रखकर उन्हें तीर्थयात्रा कराने वाले श्रवणकुमार, अपने पूर्वज पुरुषों को मुक्ति की आवश्यकता और प्यासी भूमि को तृप्त करने के लिए कठोर तप करने वाले भागीरथ, अपने पिता शान्तनु के विवाह का साधन बनाने के लिए स्वयं आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करने वाले भीष्म, पिता ययाति की प्रसन्नता के लिए अपना यौवन दान देने वाले पुरु का आदर्श चरित्र आज भी हमारे बच्चों में पितृभक्ति पैदा करने के लिए प्रेरणा स्रोत बने हुए हैं ।

पतिव्रत और पत्नीव्रत

पतिव्रत धर्म का अनुकरणीय उदाहरण उत्पन्न करने वाली भारतीय नारियाँ इस गये-गुजरे जमाने में भी धर्म से लड़खड़ाने वाले पैरों को धर्म मार्ग पर आरूढ़ रहने की शिक्षा देती रहती हैं । अन्धे पति के साथ विवाह होने धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी ने अपनी आँखों पर जीवन

के लिए पट्टी बाँध ली । पति की मर्यादा की रक्षा के लिए शैव्या ने अपने बच्चे तथा अपना बिकना स्वीकार किया और दासी का निकृष्ट जीवन शिरोधार्य कर लिया । सीता वन-वन मारी-मारी फिरीं । सुकन्या ने अस्थि-पिंजर मात्र च्यवन ऋषि के साथ हुए अपने विवाह को प्रसन्नतापूर्वक निबाहा । दमयन्ती ने अपने पति के लिए क्या-क्या कष्ट नहीं सहे । चित्तौड़ की रानियाँ अपने पतियों की प्रतिष्ठा रखने के लिए जीवित चिताओं में जल गईं । चूड़ावत की पत्नी हाड़ा रानी ने अपने पति को वासनाग्रस्त होकर रणक्षेत्र में जाने से इन्कार करने पर अपना सिर काट कर ही उसके सामने रख दिया, उसके यश पर आँच आने देना स्वीकार न किया ।

पतियों ने भी पत्नीव्रत को नारी के पतिव्रत से कम महत्त्व नहीं दिया । यज्ञ के समय पत्नी की आवश्यकता अनुभव होते हुए भी राम ने एक पत्नी के रहते दूसरी से विवाह करने को किसी भी प्रकार तैयार न हुए । उनने सोने की सीता बनकर काम चलाया । इन्द्रपुरी में अर्जुन के पहुँचने पर उर्वशी ने उसके सामने काम प्रस्ताव प्रकट किया तो अर्जुन ने यही उत्तर दिया कि मैं विवाहित हूँ, पत्नीव्रत नष्ट नहीं कर सकता, आप मुझे ही कुन्ती माता की तरह अपना पुत्र मानकर अपनी पुत्र प्राप्ति की कामना पूर्ण करें । छत्रपति शिवाजी के सामने जब एक सुन्दर यवन युवती पेश की गई तो उनने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए इतना ही कहा–काश ! मेरी माता भी इतनी ही सुन्दर होती तो मैं कुरूप क्यों जन्मता ? सन्त तुकाराम कहीं से मिले हुए सारे गन्ने रास्ते में ही बालकों को बाँटकर जब केवल एक गन्ना ही घर लेकर पहुँचते हैं तो उनकी कर्कशा पत्नी आगबबूला हो जाती है और वह गन्ना तुकाराम की पीठ पर दे मारती है, गन्ना वह बीच से टूट जाता है । तुकाराम क्रुद्ध नहीं होते, वे जानते हैं कि पति के अपमान की तरह पत्नी के लिए 'अन्ध, बधिर क्रोधी अति दीना' पति का अपमान न करना धर्म है, उसी प्रकार पति के लिए भी कर्कशा एवं दुर्गुणी पत्नी को निबाहना और क्षमा करते रहना कर्त्तव्य है । तुकाराम इस अपमान को क्षमा कर देते हैं, और हँसते हुए केवल इतना ही कहते हैं–देवि गन्ना एक था और खाने वाले हम दो । तुमने पीठ पर मारकर इसका ठीक बँटवारा कर दिया, लो एक तुम खाओ एक मैं खाता हूँ ।

गुरुजनों का प्रत्युपकार

गुरु-भक्ति का आदर्श उपस्थित करते हुए विश्वामित्र की प्रसन्नता के लिए राजा हरिश्चन्द्र अपना राज-पाट ही उन्हे नहीं दे देते, वरन् अपना शरीर और स्त्री-बच्चे बेच कर उनकी दक्षिणा भी चुकाते हैं । दलीप गुरु की गौ पर सिंह द्वारा आक्रमण होने पर अपना शरीर देकर भी गुरु धन की रक्षा करते हैं । मिट्टी की प्रतिमा बनाकर द्रोणाचार्य को गुरु बनाने वाले एकलव्य के सामने जब साक्षात् द्रोणाचार्य उपस्थित होते हैं और वे गुरु दक्षिणा में दाहिने हाथ का अँगूठा माँगते हैं तो एकलव्य खुशी-खुशी अंगूठा काट कर उनके सामने रख देते हैं । समर्थ गुरु रामदास को सिंहिनी के दूध की आवश्यकता पड़ने पर उनके शिष्य शिवाजी अपने जीवन को खतरे में डालकर चल देते हैं और गुरु की अभीष्ट वस्तु लाकर उनके लिए प्रस्तुत करते हैं । गुरु के खेत में पानी रोकने में असमर्थ हो जाने पर बालक आरुणि का स्वयं ही लेटकर पानी रोकना यह बताता है कि गुरु ऋण से उऋण होने के लिए शिष्यों में कितनी निष्ठा रहती थी और वे कृतज्ञता की भावनाओं से प्रेरित होकर प्रत्युपकार के लिए क्या-क्या करने को तैयार नहीं होते रहते थे ।

मित्रता का मूल्य

मित्रता का मूल्य चुकाने में सच्चे मित्रों को पीछे नहीं रहना चाहिए और समय पड़ने पर बड़ी से बड़ी बाजी लगा देनी चाहिए इसका उदाहरण हम कृष्ण-सुदामा और कृष्ण-अर्जुन के प्रसंग में भली प्रकार देख सकते हैं । युधिष्ठिर जब स्वर्ग जाने लगे हैं और उनके सेवक कुत्ते को वहाँ प्रवेश मिलता नहीं दीखा है तो उनने स्वयं भी जाने से इन्कार कर दिया । वे तभी देवलोक गये जब उनके प्रिय सेवक कुत्ते को भी साथ ले चलने की अनुमति मिल गयी । यह हुआ स्वामी का सेवक के प्रति कर्त्तव्य । स्वामी के प्रति सेवक का क्या कर्त्तव्य होता है–इसे संयमराय ने जाना था । पृथ्वीराज युद्ध के मैदान में घायल पड़े हैं गिद्ध उनका माँस नोंच-नोंच कर खा रहे हैं, आँखें निकालने ही वाले हैं कि पास में घायल पड़ा सेवक संयमराय होश में आते ही यह दृश्य देखकर व्यथित हो जाता है । स्वामी की रक्षा करने के लिए उठ सकने में असमर्थ होने पर वह दूसरा उपाय सोचता है । पास में पड़ी तलवार से अपना माँस काट-काट कर गिद्धों के सामने फेंकना शुरू करता है । गिद्ध पृथ्वीराज को छोड़कर इस फेंके माँस को खाने लग जाते हैं । इतने में रक्षक दल आ पहुँचता है और पृथ्वीराज की जान बच जाती है । उदयपुर का शासक बनवीर जब असली उत्तराधिकारी राजकुमार को अपने रास्ते से हटाने के लिए उसका कत्ल करने पहुँचता है तो पन्ना धाय उसके सामने अपना लड़का पेश कर देती है और अपने स्वामी बालक को बचा लेती है । सेवक और स्वामी के बीच में क्या सम्बन्ध होने चाहिए–इसका अनुकरणीय उदाहरण हमें इन घटनाओं में उपलब्ध होता है । मुहम्मद गौरी ने जब पृथ्वीराज को कैद कर लिया तो उनके सेवक चन्दवरदायी ने यही उचित समझा कि अपने स्वामी का मृत्यु के समय तक साथ दिया जाए । उसने समय आने पर अपने प्राणों की परवाह न करते हुए यह कर्तव्य किस प्रकार निवाहा इसे इतिहास के विद्यार्थी भली प्रकार जानते हैं ।

त्याग और बलिदान

आदर्शवाद की भावनाएँ यदि मन में रहें तो मनुष्य साधारण स्थिति में होने पर भी अपना अनुकरणीय आदर्श

संसार के सामने उपस्थित कर सकता है और शरीर न रहने पर भी अपने उज्ज्वल चरित्र के द्वारा जन समाज का चिरकाल तक मार्ग दर्शन करता रह सकता है। वाजिश्रवा ने अपना सर्वत्र धन-धान्य यहाँ तक कि पुत्र नचिकेता को भी राष्ट्र के आवश्यकता के लिए यमाचार्य को दान कर दिया था। हर्षवर्धन और अशोक ने अपना विशाल साम्राज्य तथा अपार धन का विपुल भंडार धर्मप्रसार के लिए संकल्प कर दिया था। भामाशाह ने अपनी सारी दौलत राणाप्रताप के चरणों पर अर्पित करके उन्हें स्वाधीनता संग्राम जारी रखने की प्रेरणा दी थी। सुभाषचन्द्र बोस को आजाद हिन्द फौज के संचालन के लिए रंगून के भारतीयों ने अपनी करोड़ों रुपयों की सम्पदा देकर गर्व और सन्तोष अनुभव किया था। सेठ जमुनालाल बजाज ने गाँधी जी को स्वतंत्रता संग्राम लड़ने के लिए अपना सर्वस्व उनके चरणों पर अर्पित कर दिया। शिवाजी, राणाप्रताप, बन्दा वैरागी, गुरु गोविन्दसिंह, हकीकतराय आदि वीरों ने धर्म की रक्षा के लिए क्या-क्या कष्ट नहीं उठाये। राजा जनक हल जोतकर अपने गुजारे के लिए अनाज उत्पन्न करते थे और राज्यकोष की एक पाई भी अपने काम में नहीं लगाते थे। अहिल्याबाई ने अपनी सारी आमदनी तीर्थों और देवालयों के निर्माण और जीर्णोद्धार में लगा रखी थी। कर्ण की दानवीरता प्रसिद्ध है वे जो कुछ प्राप्त करते थे वह सारे का सारा सत्कार्यों की सहायता के लिए उसी दिन दान कर देते थे। इतने बड़े साम्राज्य का मंत्री होते हुए भी चाणक्य ने अपने निजी जीवन को त्यागमय ही बनाये रखा। वे फूँस की कुटिया में लंगोटी लगाकर रहते थे और अपनी योग्यता का लाभ अपने आपको नहीं वरन् सारे समाज को देने में सन्तोष अनुभव करते थे।

महापुरुषों की परम्परा

धार्मिकता की अभिवृद्धि के लिए कितने ही सत्पुरुषों ने अपने जीवन अर्पण किये हैं। दधीचि ने अपनी हड्डियों तक देवत्व की रक्षा करने के लिए दान कर दीं। राजा शिवि ने शरणागत कबूतर की रक्षा के लिए उसके बराबर अपना माँस काट कर दे दिया। बुद्ध, महावीर, गाँधी, दयानन्द, शंकराचार्य, नानक, कबीर, तुकाराम, रामदास, विवेकानन्द आदि ने धर्म प्रवृत्तियों को बढ़ाने के लिए अपना सारा जीवन ही लगा दिया और वे अनेक कठिनाइयाँ सहते हुए भी जनसेवा के कार्य में संलग्न रहे। सत्प्रवृत्तियाँ जब भी किसी के मन में जाग पड़ती हैं तो वह पिछले बुरे जीवन का परित्याग करके उच्चकोटि का महापुरुष बन जाता है। तुलसीदास की मोह-वासना प्रसिद्ध है वे रात में नदी को मुर्दे पर बैठकर पार करके और पनाले पर लटकते हुए साँप को पकड़ कर पत्नी के पास पहुँचे थे। सूरदास के वेश्यागामी जीवन के बारे में प्रसिद्ध है जिससे क्षुब्ध होकर उनने अपनी आँखें फोड़ी थीं। अम्बपाली सारे यौवन काल में वेश्यावृत्ति करती रही। बाल्मीकि के जीवन का बहुत बड़ा भाग डाकू का कार्य करते हुए बीता। अजामिल कसाई था। अंगुलिमाल नित्य नर हत्या करके मनुष्यों की उँगलियों की माला पहनता था। इस प्रकार के घृणित जीवन बिताने वालों के मन में भी जब धर्म प्रवृत्ति जीवित हुई तो उनके जीवन का काया-कल्प हो गया और ये देवताओं की श्रेणी में गिने जाने लगे।

इस अग्निपरीक्षा को स्वीकारें

सभ्य समाज की रचना इस आदर्शवाद को हृदयगंम करने से ही संभव हो सकती है जिसे हमारे पूर्व पुरुषों ने बड़ी श्रद्धा भावना के साथ अपने जीवन का लक्ष्य बनाये रखा था। हो सकता है कि महानता के मार्ग पर चलते हुए किसी को कष्ट और कठिनाइयों की अग्निपरीक्षा में होकर गुजरना पड़े पर उसे आत्मिक-शान्ति और कर्त्तव्यपालन की प्रसन्नता हर घड़ी बनी रहती है। इस मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति को असुविधा हो सकती है पर समाज का विकास इसी त्याग और बलिदान के ऊपर निर्भर रहता है। चरित्रवान् व्यक्ति ही किसी समाज की सुख-सम्पत्ति होते हैं। हम अतीत काल में विश्व के सुदृढ़ आदर्शवाद के आधार पर ही रहे हैं। अतः जबकि हम अपनी उस पुरानी महानता और उज्ज्वल परम्परा को पुनः लौटाने चले हैं तो इस आदर्शवाद का ही अवलम्बन करना होगा। धैर्य और कर्त्तव्य को दृढ़तापूर्वक जीवन में धारण करना पड़ेगा।

स्वार्थ को नहीं, परमार्थ को साधा जाए

स्वार्थ और परमार्थ में बहुत थोड़ा-सा अन्तर है। स्वार्थ उसे कहते हैं जो शरीर को तो सुविधा पहुँचाता हो पर आत्मा की उपेक्षा करता हो। चूँकि हम आत्मा ही हैं शरीर तो हमारा वाहन या उपकरण मात्र है इसलिए वाहन या उपकरण को लाभ पहुँचे किन्तु स्वामी दुःख पावे तो ऐसा कार्यक्रम मूर्खतापूर्ण कहा जाएगा। इसके विपरीत परमार्थ में आत्मा के कल्याण का ध्यान प्रधान रूप से रखा जाता है, आत्मा के उत्कर्ष होने से शरीर को सब प्रकार सुखी एवं सन्तुष्ट रखने वाली आवश्यक परिस्थितियाँ अपने आप उपस्थित होती रहती हैं। केवल अनावश्यक विलासिता पर ही अंकुश लगता है फिर भी यदि कभी ऐसा अवसर आवे कि शरीर को कष्ट देकर आत्मा को लाभ देना पड़े तो उसमें संकोच न करना ही बुद्धिमानी है, यही परमार्थ है। परमार्थ का अर्थ है परम स्वार्थ।

जिस कार्य के द्वारा तुच्छ स्वार्थ की, शरीर तक सीमित रहने वाले स्वार्थ की पूर्ति होती है वही त्याज्य है। जो स्वार्थ अपनी आत्मा का, शरीर का, परिजनों का एवं सारे समाज का हित साधन करता है, वह तो प्रशंसनीय ही है। ऐसा परमार्थ सर्वत्र अभिनंदनीय माना जाता है।

मनुष्य की सर्वोत्तम दूरदर्शिता का चिन्ह भी है । इसी पथ पर चलते हुए इस सुर-दुर्लभ मानव-जीवन का लक्ष्य पूरा हो सकता है ।

परमार्थ की साधना

आत्म-कल्याण और युग-निर्माण का जो कार्यक्रम लेकर हम चले हैं वह सच्चे अर्थों में परमार्थ की साधना है क्योंकि उससे अपना तो लौकिक और पारलौकिक हित साधन होता ही है साथ ही आस-पास का वातावरण भी सुधारता है, दूसरों को भी लाभ मिलता है । युग-निर्माण कार्यक्रम की योजना सफल होने से दूसरों का लाभ है ही किन्तु साथ ही अपना दुहरा लाभ है । जिस सुधार कार्य को हम आरम्भ करेंगे वह सबसे पहले हमारे निकटवर्ती लोगों को प्रभावित करेगा क्योंकि यह प्रचार और प्रसार कहीं दूर देश में नहीं वरन् अपने घर-कुटुम्ब और पड़ौस से ही आरम्भ करना है । उनके विचार उत्कृष्ट बनाने से उनमें श्रेष्ठता और देवत्व की मात्रा बढ़ने से निश्चय ही हम पर उसका अत्यधिक प्रभाव पड़ेगा । वे असहयोगी एवं आक्रमणकारी न रहकर हमारे लिए प्रेम, सहयोग एवं सज्जनता से बरतने वाले बनेंगे । इससे अपनी आन्तरिक शान्ति तो बढ़ेगी ही, बाहरी सहयोग एवं स्नेह भाव के बढ़ने से संगठन जैसी शक्ति भी बढ़ेगी और सहयोगी रहने से आर्थिक, सामाजिक एवं अन्य अनेक प्रकार के लाभों में भी अभिवृद्धि होगी । इसके अतिरिक्त लोकसेवा, जनहित एवं व्यक्ति-निर्माण का जो पुण्य प्राप्त होगा वह भी साथ में जुड़ा हुआ है । यह दुहरा लाभ मिलता है ।

सुरक्षा की चहारदीवारी

प्राचीनकाल में राजा लोग अपनी राजधानी की सुरक्षा के लिए नगर से बाहर एक बड़ा परकोटा बनाते थे ताकि शत्रु का हमला उस परकोटे के बाहर रुका रहे और अपनी सुरक्षा में सहायता मिले । किसी जमाने में युग-निर्माण जैसे कार्यक्रम विशुद्ध पुण्य की दृष्टि से कोई भले ही करते रहे हों पर आज यह हमारा सर्वोपरि स्वार्थ है । समाज का ढाँचा अब इतना शृंखलाबद्ध एवं सघन हो गया है कि एक का प्रभाव दूसरे पर पड़े बिना नहीं रह सकता । हम व्यक्तिगत रूप से अपनी भौतिक-उन्नति कितनी ही कर लें पर बुरे स्वभाव के कुटुम्बियों, मित्रों और पड़ोसियों से घिरे रहने पर हमें निरन्तर चिन्तित रहना पड़े जो सद्गुण हमने अपने स्वभाव में बड़ी कठिनाई से सम्मिलित किए हैं उन्हें भी बुराई का वातावरण स्थिर न रहने देगा और उनकी दुष्टता की प्रतिक्रिया में हमारी अच्छाई भी डूबने लगेगी । इसलिए अब अपने आपकी भलाई, अपने आपको अच्छाई की संकुचित सीमा में सोचते रहने से काम न चलेगा । अब यह दायरा बढ़ाकर कुछ अधिक विस्तृत क्षेत्र में फैलाना पड़ेगा तभी अपनी शान्ति और सुरक्षा की समस्या हल होगी ।

सच्चा स्वार्थ इसी से सधेगा

युग-निर्माण कार्यक्रम सच्चे अर्थों में अत्यन्त दूरदर्शिता पूर्ण स्वार्थ-साधन है क्योंकि उसके द्वारा हम अपने आस-पास सज्जनों का निर्माण करते हैं, सज्जनों का स्नेह एवं सहयोग हमारे सुख में बढ़ोतरी ही करेगा । सेवा करने का आत्म-सन्तोष, यश, प्रतिष्ठा एवं परलोक के लिए पुण्य-संचय का विशेष लाभ इसके अतिरिक्त है । इस ओर बढ़ाये हुए कदम हमें युग-निर्माता, लोकसेवी, देशभक्त, समाज-सुधारक, धर्मात्मा, परोपकारी एवं महापुरुषों की श्रेणी में ले जाकर बिठा देते हैं । इतिहासकारों की कलम के नीचे हमारा नाम जमता है और जनता हमें अभिनंदनीय मानती है, यह लाभ इसके अतिरिक्त है । वस्तुतः यह अपनी और अपने बच्चों की स्वार्थ-साधना का श्रेष्ठ तरीका है । इस प्रयत्नों में कोई और न सुधरे, केवल हमारा परिवार ही सम्भ्रान्त बन जावे तो उसकी सज्जनता से हमारा आज का समय भी आनंद से कटेगा और बुढ़ापा भी उनके बीच रहते हुए शान्ति से बीतेगा । कुसंस्कारी परिजन नरक में रहने वाले यमदूतों से अधिक दुःख देते हैं । इसका अनुभव उन्हें भली-भाँति होगा । जिनके स्त्री, पति, पुत्र, पुत्री, भाई, भतीजे, दामाद, बहनोई कर्कश उद्दण्ड एवं कुमार्गगामी मिले हैं । उनकी गतिविधियों से जिसका जी दिन-रात जलता रहता है, वह बेचारा घायल से भी बुरा पड़ता है । घायल अपने कष्ट को कह तो सकता है, दूसरों को अपना जख्म दिखा तो सकता है, कराह तो सकता है पर उस बेचारे के लिए तो इस पर भी प्रतिबंध है । जी की जलन में भीतर ही भीतर सुलगते रहने की व्यथा कितनी कष्टकारक होती है इसे कोई भुक्त-भोगी ही जान सकता है ।

समय से पहले चेतें

इस व्यथा से छुटकारा दिलाने का कोई कारगर उपाय यदि मिल सके तो कोई इस प्रकार का परिजन-पीड़ित, पड़ोसियों और स्वजन-सम्बन्धियों का सताया हुआ मनुष्य, उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग और खर्च करने को तैयार हो सकता है । हमें सोचना चाहिए कि भयंकर बीमारी में फँस जाने पर प्रचुर धन खर्च करने की अपेक्षा, उस बीमारी को न होने देने या रोके रहने के लिए समय रहते कुछ थोड़ा खर्च कर लिया जाए तो क्या वह बुद्धिमानी न होगी शत्रु का हमला होने पर उसे लड़कर परास्त करने का तरीका महँगा और समय रहते शत्रु को निरस्त कर देने का तरीका सस्ता है । हैजा या इन्फ्लुएंजा फैलने के दिनों में क्या हम अपने घर में सब को सुरक्षा की सुई नहीं लगवा देते । सुरक्षा की सुई के रूप में ही हमें अपने निकटवर्ती क्षेत्र में, सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों का शिक्षण कार्य आरम्भ कर देना चाहिए । अपने बच्चों का भविष्य बनाने और उन्हें सुखी रखने के लिए यों हम बहुत कुछ सोचते और बहुत कुछ करते हैं । अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र, ऊँची शिक्षा, विवाह-शादी में विपुल खर्च,

चिकित्सा, मनोरंजन आदि की सुविधाएँ जुटाने में हर अभिभावक बहुत त्याग और बहुत खर्च करता है, इन बातों पर सोचता-विचारता भी बहुत रहता है । अपने प्यारे बच्चों और परिजनों के लिए ऐसा करना उचित भी है । पर इसी स्थान पर दाल में नमक डालना भूल जाने की तरह एक बहुत बड़ी भूल हम यह कर बैठते हैं कि उन्हें सुसंस्कारी बनाने के लिए कुछ नहीं करते । शिक्षा तो देते दिलाते रहते हैं पर दीक्षा की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता ।

कुसंस्कारी की गरिमा

हजार योग्यताएँ और लाख समृद्धियाँ तक एक ओर और सुसंस्कारों को एक ओर रखकर तोला जाए तो सुसंस्कारों का पलड़ा भारी बैठेगा । सुसंस्कारी व्यक्ति गरीब रहते हुए भी आनन्द एवं उल्लास का जीवन व्यतीत कर सकता है पर कुसंस्कारी व्यक्ति कुबेर की सम्पदा और इन्द्र से वैभव का स्वामी होते हुए भी संतप्त रहेगा और अपने सम्बन्धियों को संतप्त करेगा । इसलिए प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि अपने उत्तराधिकारियों को जमीन, घर, नकदी, शिक्षा आदि से विभूषित करने की बात ही न सोचें वरन् उन्हें सुसंस्कारी बनाने के लिए भी प्रयत्न करें । यह कार्य अध्यापकों पर नहीं छोड़ा जा सकता, यह तो हमारे स्वयं करने का है । युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत व्यक्ति-निर्माण के लिए हम जो कुछ करते हैं उससे इसी आवश्यकता की पूर्ति होती है । अपने परिजनों को दीक्षा देने का, उन्हें सुसंस्कारी, सद्‌विचार, सद्‌भाव, उदार दृष्टिकोण सच्चरित्रता, मानवता एवं दूरदर्शिता अपनाने के लिए प्रेरणा देने का जितना कारगर उपाय इस योजना में सन्निहित है, उतना अन्य प्रकार से संभव नहीं हो सकता । यदि हम इस ओर उपेक्षा करते हैं तो मानव जीवन को धन्य बनाने वाले एक श्रेष्ठ पुण्य-परमार्थ से ही वंचित नहीं होते वरन् अपने निकटवर्ती लोगों को कुमार्गगामी बनने से रोकने में उपेक्षा करने के अपराधी भी बनते हैं ।

संकीर्णता नहीं, दूरदर्शिता चाहिए

हम स्वार्थ में ही न लगे रहें परमार्थ की बात भी सोचें । परमार्थ किसी पर कोई अहसान या उपकार करना नहीं, वरन् अपने ही दूरवर्ती एवं चिरस्थायी स्वार्थ को बुद्धिमत्ता के साथ सम्पन्न करना है । जो परमार्थ साधता है वही सच्चा स्वार्थी है क्योंकि उसे आज ही नहीं, कल भी सुख प्राप्त होता है । उसकी आज की ही अभिलाषा पूर्ण नहीं होती वरन् चिरकाल तक अपने अभीष्ट की सिद्धि का लाभ उठाता रहता है । हम संकुचित स्वार्थ की सीमा से बाहर सिर उठाकर यदि दूर तक सोच सकें तो व्यक्ति-निर्माण की, युग-निर्माण की प्रस्तुत योजना रोटी कमाने के आवश्यक कार्यों की तरह ही उपयोगी एवं अपनाने योग्य प्रतीत होगी । यदि इसके लिए हम कुछ करने भी लगें तो प्रतीत होगा कि हम अपने जीवन के बहुमूल्य क्षणों का उपयोग एक नये कार्य में कर रहे हैं, जिससे हमारा, हमारे परिजनों का, सारे संसार का सब प्रकार भारी हित साधन संभव होता है, हो रहा है ।

हम और हमारी युग निर्माण योजना

युग-निर्माण योजना के महान् कार्यक्रम को अग्रसर करने के लिए अखण्ड-ज्योति परिवार को अब एक सुगठित संगठन का रूप दिया गया है । संघ के बिना वह शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती जिससे मानव-जाति की अन्तः चेतना तथा बाह्य वातावरण में घुसी हुई दुष्प्रवृत्तियों को हटाकर उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठापना संभव हो सके । भगवान बुद्ध ने तंत्रयुग की वाममार्गी दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन करने के लिए संघ-शक्ति का उद्‌भव किया था । 'धर्मं शरणं गच्छामि' 'बुद्धं शरणं गच्छामि' के साथ-साथ उन्होंने 'संघं शरणं गच्छामि' की भावना को भी प्रमुखता दी थी । बुद्ध धर्म में प्रवेश करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को 'संघं शरणं गच्छामि' की भावना को अनिवार्य रूप से हृदयंगम करना पड़ता था । संघ के प्रति निष्ठावान हुए बिना उनका कोई अनुचर नैष्ठिक कहलाने का अधिकारी न होता था ।

आज की विषम परिस्थितियाँ

आज यह आवश्यकता और भी अधिक प्रबल रूप से सामने आई हैं । व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में आज अगणित दुष्प्रवृत्तियों का प्रवेश हो गया है और फलस्वरूप सर्वत्र रोग, शोक, क्लेश, पाप, संताप, अनीति, अत्याचार का वातावरण दृष्टिगोचर हो रहा है । अशान्तिमय और अनिश्चित परिस्थितियों के कारण हर कोई खिन्न, उद्विग्न और निराश दीखता है । जीवन की प्रत्येक गुत्थी उलझी हुई प्रतीत होती है । इन परिस्थितियों को बदलने के लिए जहाँ उत्कृष्ट कोटि के विचारों का विस्तार होना आवश्यक है जहाँ यह भी आवश्यक है कि अनुपयुक्त परम्पराओं को हटाकर उनके स्थान पर आदर्शवादी उदाहरण प्रस्तुत किये जाएँ । श्रेष्ठता का संगठित और व्यवस्थित प्रयत्न किया जाएगा तभी वह व्यापक परिमाण में बढ़ और पनप सकेगी ।

सामाजिक कुरीतियों के कारण हिन्दू समाज जर्जर और जीर्ण-शीर्ण बना हुआ है, उसका पुनःनिर्माण करके, प्राचीनकाल जैसी आदर्श परम्पराओं को अपने सामाजिक जीवन में प्रविष्ट करना होगा । राजनैतिक क्षेत्र में इतनी बुराइयाँ घुस पड़ी हैं कि प्रगति के स्थान पर पतन के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं । वैयक्तिक जीवन में वासना, तृष्णा, स्वार्थपरता और अकर्मण्यता का साम्राज्य छाया हुआ है । संयमी और सदाचारी जीवन बिताना एक कल्पना एवं मखौल की वस्तु समझी जाती है । पारिवारिक जीवन में विश्वास, त्याग, निष्ठा, वफादारी और प्रेम निरन्तर घट रहे

हैं। एक घर में रहते हुए भी परिवार के लोग धर्मशाला में टिके हुए परदेशियों की भावना से दिन गुजारते हैं। आर्थिक क्षेत्र में सर्वत्र बेईमानी, मिलावट, रिश्वत, चालाकी, धोखाधड़ी की तूती बोलती है। आर्थिक पवित्रता, ईमानदारी को अब मूर्खता समझा जाता है। व्यसन और व्यभिचार तेजी से बढ़ रहे हैं। नशेबाजी, गुण्डागर्दी, अपराध, ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा, चुगली, फैशन, तड़क-भड़क, अश्लीलता, कामुकता की ये प्रवृत्तियाँ बराबर पनपती चली जा रही हैं जो वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को नरक बनाकर ही छोड़ती हैं। जो परिस्थितियाँ आज हैं उन्हें यदि रोका न गया तो मानव जाति को सामूहिक आत्महत्या करने के लिए सर्वनाश के गर्त में गिरने के लिए विवश होना पड़ेगा।

सर्वनाशी दावानल

विभीषिकाओं का यह दावानल जब चारों ओर गगन-चुम्बी लपटों के साथ उठता चला आ रहा हो तब विवेकशील प्रबुद्ध आत्माओं के लिए यह कठिन होगा कि वे आँखें बन्द करके यह सब देखते रहें और इस दावानल को बुझाने के लिए कुछ भी प्रयत्न न करें। इतने विशाल क्षेत्र में फैले हुए अनाचार के विरुद्ध मोर्चा लेना एक दो व्यक्तियों का काम नहीं है। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। इसके लिए विशाल परिमाण में संगठित प्रयत्नों की ही आवश्यकता होगी। युग-निर्माण योजना का आरम्भ करते हुए पहला कार्य अखण्ड-ज्योति परिवार की प्रबुद्ध एवं जाग्रत आत्माओं को संगठित रूप से सुगठित करना आवश्यक था। 'घर-बाँधकर बाँधने' वाली कहावत के अनुसार जो मार्ग-दर्शन हमें सारे मानव समाज को, सारे विश्व को कराना है उसकी एक प्रयोग-शाला अपना घर, अपना परिवार बनने जा रहा है। युग-परिवर्तन के लिए संघ-शक्ति अनिवार्य है। इसके बिना एक कदम भी प्रगति नहीं हो सकती। इसलिए हम सब को अब संगठित रूप से संघबद्ध हो जाना चाहिए। हम संघबद्ध हो भी रहे हैं।

हममें से प्रत्येक को यह भी प्रयत्न करना होगा कि हमारी विचार संतति बढ़े। सन्तान उत्पन्न करने से पितरों की सद्गति होती सुनी जाती है। आज की परिस्थितियों में अधिक बच्चे उत्पन्न करना भले ही आवश्यक न रहा हो, पर विचार-सन्तान का उत्पन्न करना निश्चय ही एक श्रेष्ठ परमार्थ हो सकता है। सद्विचारों और सत्कर्मों की अभिवृद्धि के उद्देश्य से बनाई गई युग-निर्माण योजना की वंश परम्परा हममें से हर एक को बढ़ानी चाहिए। जिस प्रकार अनेक स्वार्थ साधनों के लिए हम दूसरों को तरह-तरह से प्रभावित करते, बदलते और फुसलाते हैं उसी प्रकार इस परमार्थ साधन के क्षेत्र में उन सबको घसीट लाने का प्रयत्न करना चाहिए, जिनसे हमारा सम्पर्क है, जिन पर हमारा प्रभाव है।

प्रसार और प्रचार की आवश्यकता

ईसाई मिशन का जब प्रचार-भारत में हुआ था तो अँग्रेज कलक्टरों, कमिश्नरों की स्त्रियाँ, लड़कियाँ एक-एक पैसा मूल्य की लूका, युहन्ना, मरकुस, भत्ती पुस्तकें घर-घर बेचने जातीं और बिना रत्ती भर संकोच, झिझक भरे अपनी धर्म सेवा के लिए इस छोटे काम में अंगीकार करती थीं। उसी लगन का परिणाम है कि आज ईसाई धर्म में करोड़ों व्यक्ति दीक्षित हो गये। प्राचीनकाल में साधु- ब्राह्मण घर-घर धर्म शिक्षा देने के लिए जाया करते थे। अलख जगाने और धर्मफेरी लगाने की पुण्य परम्परा उच्चकोटि के धर्म कार्यों में गिनी गई है। हमें भी कुछ ऐसा ही प्रयत्न करना होगा। संकोच, झिझक, आलस, तौहीन जैसी छोटी कमजोरियों पर विजय प्राप्त करके कुछ समय ऐसा निकालना ही पड़ेगा कि अपनी 'अखण्ड-ज्योति' अपने समीपवर्ती दस-बीस व्यक्तियों को पढ़ाने-सुनाने के लिए दौड़-धूप की जाती रहे। युग-निर्माण के लिए आवश्यक लोक-शिक्षण और कार्यक्रम शान्तिकुंज द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, इस चेतना का क्षेत्र व्यापक बनाने के लिए हमें जी जान एक कर देना चाहिए। कोई मित्र पड़ोसी ऐसा न बचे जो इस विचारधारा से अपरिचित हो। संघबद्धता के लिए यह कदम उठाना नितान्त आवश्यक है।

युग-निर्माण के उपयुक्त प्रबुद्ध व्यक्तियों की आवश्यकता

अणु बम बनाने के लिए प्रधानतया 'यूरेनियम,' 'हैवी वाटर' प्लूटोनियम आदि की आवश्यकता होती है। यह पदार्थ जिनके का उस कार्य में बहुत उपयोग होता है। पास पर्याप्त मात्रा में होते हैं वे ही अणु-शक्ति उत्पन्न करने और उस प्रकार के आयुध बना सकने में सफल होते हैं। युग-निर्माण के लिए ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जो जन्मजात रूप से संस्कारवान हों। कुसंस्कार तो थोड़ी-सी बुरी संगति से उत्पन्न हो जाते हैं पर सुसंस्कार चिरकालीन साधना से ही विनिर्मित होते हैं। हिन्दू धर्म में प्रत्येक व्यक्ति के १६ सस्कार तो समारोहपूर्वक किये जाते हैं और नित्य नैमित्तिक उपासना, स्वाध्याय, व्रत, पर्व, अनुष्ठान, कथा, कीर्तन, सत्संग, देव दर्शन, हवन, तीर्थयात्रा, श्राद्ध आदि के द्वारा यह प्रयत्न निरन्तर होते हैं कि व्यक्ति को सुसंस्कारी बनाने की प्रक्रिया बन्द न होने पावे, उसका क्रम किसी न किसी प्रकार चलता ही रहे।

उपदेशों का महत्त्व तो बहुत है पर यह ध्यान रखना चाहिए कि वे सुसंस्कारी व्यक्तियों को ही प्रभावित करते हैं। चिकने घड़े पर पानी की बूँदें ठहरती नहीं, बेत की बेल विपुल वर्षा होने पर भी फलती-फूलती नहीं। आज कथा, वार्ता, प्रवचन, सत्संगों का आयोजन पूर्वकाल की उपेक्षा कहीं अधिक होता है पर सुनने वाले उनका लाभ

समय काटने या मनोरंजन करने जितना ही प्राप्त करते हैं । जो उपदेश दिए गये थे उन पर चलने की इच्छा उत्पन्न नहीं होती, हाँ, उन्हीं उपदेशों में कोई बात ऐसी आ जाए जो उनकी दुष्प्रवृत्तियों का परोक्ष रूप से भी समर्थन करती हो तो उसे याद रख लेते हैं और अपने दोषों के समर्थन में उन बातों को 'सनातन' कहकर उचित सिद्ध करने की चेष्टा करते रहते हैं ।

प्राचीनकाल में संस्कार और पात्रत्व पर बहुत ध्यान दिया जाता था और चुने हुए व्यक्तियों को ही प्रभावशाली श्रेष्ठ सत्कर्मों में लगाया जाता था । गुरुकुलों में पात्रत्व की परीक्षा के बाद ही छात्रों की भर्ती होती थी । धर्म प्रवचन का अधिकार किसी को तब मिलता था जब वह त्याग और तप की कसौटी पर अपने को सुसंस्कारी सिद्ध कर देता था । सुसंस्कार मनोभूमि की परिपक्वता का प्रतीक है, जो देर तक एक गतिविधि को अपनाये रहने के बाद ही परिपुष्ट होते हैं । युग-निर्माण के लिए संस्कारवान् मनोभूमि के व्यक्तित्वों की आवश्यकता पड़ेगी अन्यथा दुर्बल स्तर के व्यक्ति सहज ही निराश होते-फिसलते और गड़बड़ी उत्पन्न करते दिखाई देंगे । आज लोकसेवक कहलाने वाले व्यक्ति जो अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न करते और कलंक-कथाएँ प्रस्तुत करते देखे जाते हैं इसका कारण एक ही है कि उपयुक्त मनोभूमि बनने से पूर्व ही वे 'नेता' बन जाते हैं और फिर अपने पद का दुरुपयोग करते हैं ।

'वानप्रस्थ के बाद संन्यास लेकर लोकसेवा के लिए परिव्राजक व्रत धारण करने का पूर्व नियम इसीलिए था कि जीवन भर की सुसंस्कार साधना के उपरान्त व्यक्ति जब तृष्णा-वासना और पुत्रेषणा-वित्तेषणा, लोकेषणा से रहित हो जाए तो जन-नेतृत्व का कार्य अपने हाथ में ले । सन्यासी का अर्थ ही नेता है । वह स्थिति चिरसाधना से ही संभव होती है और उसी स्थिति में पहुँचे हुए व्यक्ति कुछ ठोस लोकहित कर पाते हैं । कपड़ा किसी ने रंगीन पहना है या सफेद प्रश्न यह नहीं, प्रश्न यह है कि मनोभूमि में वे विशेषताएँ उत्पन्न हो जाएँ जो लोकसेवा के लिए आवश्यक हैं । आज वैसे 'लोक-नेता' जनसेवक कम ही दिखाई पड़ते हैं । उनके अभाव में हम छुटपुट लोगों का वह उत्तरदायित्व उसी प्रकार वहन करना पड़ रहा है जैसे कि आग बुझाने की बड़ी 'फायर बिग्रेड' न होने पर पास- पड़ौस के लोग अपने घड़े-लोटों का जल फेंककर अग्नि काण्ड को शान्त करने की चेष्टा करते हैं ।

यह सामयिक बात हुई-आपद् धर्म हुआ । न होने से कुछ होना वाली कहावत के अनुसार तात्कालिक उपचार के रूप में साधारण लोग भी कुछ कर सकते हैं । हड्डी टूटने की दुर्घटना होने पर स्काउट, जिन्होंने 'फर्स्ट-एड' की शिक्षा प्राप्त की है साधारण पट्टी बाँध सकते हैं, पर उनका ठीक इलाज तो अस्पताल का प्रशिक्षित डाक्टर ही करता है । हम लोग 'फर्स्ट-एड' वाले स्काउट मात्र हैं । पर आगे जो कार्य सुविकसित होने वाला है उसके लिए प्रशिक्षित डाक्टर के जैसा युग-निर्माता चाहिए, उन्हें उत्पन्न करने का महत्व सर्वोपरि है । हमारी युग-निर्माण योजना का वर्तमान कार्यक्रम उसी दृष्टि से बना है । अधिकारी युग-पुरुषों के द्वारा समयानुसार उसके आगे-आगे के परिच्छेद विकसित होते चलेंगे । कोई बड़ा, व्यापक, प्रदर्शनात्मक एवं संघर्षात्मक आन्दोलन अभी इसीलिए आरम्भ नहीं कर रहे हैं कि उसके लिए आवश्यक तैयारी अभीष्ट है । चीन के हमले का सफल उत्तर देने के लिए भारत सरकार जिस प्रकार शस्त्र-सज्जा की तैयारी में लग गई थी ,असुरता के व्यापक आक्रमण को परास्त करने के लिए ऐसी ही प्रबुद्ध आत्माएँ तैयार करनी होंगी, जो नये युग का सूत्रपात करने की शक्ति और योग्यता से सब प्रकार परिपूर्ण है ।

प्रज्ञा परिवार के परिजन यों तो साधारण कामकाजों, मामूली स्थिति के लोग दीखते हैं पर हम जानते हैं कि उनमे से अधिकांश ऐसे हैं जो जन्म-जन्मान्तरों से सुसंस्कारों की एक बड़ी पूँजी अपने साथ लिए हुए चले आ रहे हैं और अब भी उसे निरन्तर बढ़ाते चल रहे हैं । पचास वर्षों की खोज और चेष्टा का परिणाम है कि लाखों लोगों को प्रयत्नपूर्वक स्नेह सूत्र में पिरोकर एक सुन्दर हार जैसा विनिर्मित किया गया है ।

यों अखबारों के कितने ही पाठक होते हैं, अपनी रुचि की पत्रिकाएँ कई लोग पढ़ते, मँगाते, बदलते और बन्द करते रहते हैं । अखबार की दृष्टि से 'अखण्ड-ज्योति' का स्तर बहुत ही सामान्य है, पर उसे तो जागृत और संस्कारी व्यक्तियों की एक शृंखला के रूप में आरम्भ किया गया था और अभी भी वह वैसी ही है । यही कारण है कि अपने पाठकों को हम सदा एक परिवार की दृष्टि से देखते और वैसी ही संज्ञा देते रहे हैं । कोई संस्था, संगठन न होते हुए भी हमारी यह भावना परिवार वह है जो संस्कारों और भावनाओं के प्रगाढ़ सम्बन्धों के कारण परस्पर अत्यन्त दृढ़तापूर्वक बँधा हुआ है । युग-निर्माण की प्रथम भूमिका का सम्पादन करने के लिये हमें अपने इस परिवार में आवश्यक जीवन दिखाई पड़ता है । इसी से आरम्भिक कार्यक्रम अपने घर में प्रारम्भ किया गया है ।

पीछे तो इसका विस्तार अपरिमित क्षेत्र में होना है । अगणित व्यक्ति, संगठन, देश और समूह इस योजना को अपने-अपने ढंग से कार्यान्वित करेंगे । जिस प्रकार अध्यात्मवाद, साम्यवाद, भौतिकवाद आदि अनेक 'वाद' कोई संस्था नहीं, वरन् विचारधारा एवं प्रेरणा होती है, व्यक्ति या संगठन इन्हें अपने-अपने ढंग से कार्यान्वित करते हैं, इसी प्रकार युग-निर्माण कार्यक्रम एक प्रकाश-प्रवाह एवं प्रोत्साहन उत्पन्न करने वाला एक मार्गदर्शक बनकर विकसित होगा । आज-'गायत्री परिवार' उसकी प्रथम भूमिका सम्पादित करने का प्रयत्न मात्र ही कर सकेगा । इतना कार्य कर सकने की क्षमता उसमें मौजूद है यह भली प्रकार सोच-समझकर, नाप-तौलकर ही कार्य आरम्भ किया गया है । 'लोकहँसाई' का हमें भी ध्यान है ।

'एक से दस, योजना के अन्तर्गत प्रत्येक परिजन को यह काम सौंप दिया गया है कि वह मछली पकड़ने के लिए काम में आने वाली आटे की गोली की तरह 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका को माध्यम बनाकर सुसंस्कारी लोगों की तलाश करे और जहाँ जितने व्यक्ति इस प्रकार के मिल जावें वहाँ उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए उनके घरों पर जाकर मिलने की 'धर्म-फेरी' प्रक्रिया और उन्हें इकट्ठा करके समय-समय पर विचार-गोष्ठी चलाने की प्रक्रियाओं द्वारा यह प्रयत्न करते रहें कि उनके सुसंस्कारों का अभिवर्द्धन और परिपाक नियमित रूप से होता रहे । केवल स्वाध्याय ही पर्याप्त नहीं, उसके साथ-साथ जीवित प्रेरणा जुड़ी रहे तो ही सोने-सुगन्धि का योग बनता है । 'अखण्ड-ज्योति' जिस विचारधारा को प्रस्तुत करती है उसकी सजीव प्रेरणा पाठकों को देना अपने प्रबुद्ध परिजनों का काम है । अपने को, अपने परिवार को और अपने प्रभाव क्षेत्र को आवश्यक प्रकाश देने की क्षमता हममें से प्रत्येक में मौजूद है, अब समय है कि उसका उचित उपयोग आरम्भ कर दिया जाए ।

दूसरा कार्यक्रम इससे भी महत्त्वपूर्ण है वह है-'नई प्रबुद्ध पीढ़ी का अवतरण' । इस सम्बन्ध में अगले पृष्ठों पर आवश्यक संकेत किया जा रहा है । युग बदलना सुनिश्चित है । १९६२ के अष्टग्रही योग से लेकर सन् २००० तक की अवधि महान परिवर्तनों की अवधि है । इसमें इतनी क्रान्ति-प्रतिक्रान्तियाँ होंगी कि मनुष्य को दुष्प्रवृत्तियों के दुष्परिणाम पर निश्चित विश्वास हो जाएगा, खिन्न होकर उसे सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने और सन्मार्ग पर चलने के लिए विवश होना पड़ेगा । आज के प्रवचन और लेख कारगर न होंगे । उन्हें तो लोग अनसुना ही करते रहेंगे । समय की प्रतारणा ही उन्हें विवश करेगी और कोई अन्य मार्ग न देखकर सबको यही सोचना और यही करना पड़ेगा कि धर्म एवं सदाचार का मार्ग ही श्रेयस्कर है । विवशता सब कुछ करा लेगी । आज तो हम लोग ढाँचे को प्रस्तुत कर रहे हैं जिस पर चलने के लिए तैयार योजना मिल जाए । मकान बनाने के पूर्व इंजीनियर उसका नक्शा बनाते हैं । योजना बनाने वाले कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं । तैयारी के बाद निर्माण भी आरम्भ हो जाता है । कार्लमार्क्स ने साम्यवाद की रूपरेखा प्रस्तुत की और लेनिन ने उसे कार्यान्वित किया । स्वामी विरजानन्द की योजना को दयानन्द ने, और रामकृष्ण परमहंस की योजना को विवेकानन्द ने, कार्यान्वित किया । आज युग-निर्माण की योजना कागजी भले ही दीखे इसे कार्यान्वित करने वाले समयानुसार सहज ही कार्यान्वित करने लगेंगे । उन कर्मठ युग पुरुषों के अवतरण का यही समय है ।

सूक्ष्मदर्शी, सिद्ध-पुरुषों के मतानुसार यह निश्चित है कि अगले दिनों अत्यन्त उच्चकोटि की दिव्य-आत्माएँ भारत-भूमि पर अवतरित होंगी । व्यास, वशिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, पाराशर, कपिल, कणाद, पातञ्जलि जैसे योगी, अर्जुन, भीम, हनुमान, अंगद, परशुराम, सहस्रार्जुन जैसे योद्धा, विश्वकर्मा जैसे कलाकार, नागार्जुन जैसे रसायनिक, चरक, सुश्रुत, धन्वन्तरि, अश्विनीकुमार जैसे चिकित्सक, चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ, रावण जैसे वैज्ञानिक, भीष्म, द्रोण जैसे महारथी भरत, लक्ष्मण, हरिश्चन्द्र, ध्रुव, प्रह्लाद, कर्ण, श्रवणकुमार, शिव, दधीचि जैसे महापुरुष, नारद जैसे प्रचारक, जनक, युधिष्ठिर, अशोक, विक्रमादित्य जैसे शासक, प्रताप, शिवाजी, लक्ष्मीबाई, गुरु गोविन्दसिंह, बन्दा-बैरागी, तिलक, सुभाष जैसे देशभक्त-बुद्ध, गान्धी, महावीर, शंकराचार्य जैसे अवतारी, सीता, सावित्री, अरुन्धती, अनुसूया, गौतमी जैसी नारियाँ फिर इस देश में जन्म लेंगी । वे आत्माएँ अपनी महान आत्मिक स्थिति के द्वारा युग-निर्माण के कार्यों को सफल बना कर रहेंगी । गान्धीजी के स्वराज्य आन्दोलन को पूर्ण करने के लिए कितनी ही उच्च-कोटि की आत्माएँ उनके समय में अवतरित हुई थीं । युग-निर्माण का प्रत्यक्ष कार्यक्रम १९७२ के बाद सब दिखाई देगा और १९९९ तक पूरा हो लेगा, उस कार्य के लिए जिन महान आत्माओं का प्रमुख हाथ रहने वाला है उनके जन्म का समय काल ठीक यही है ।

दशरथ और कौशिल्या, स्वायंभू मनु और शतरूपा-देवकी और वसुदेव, अर्जुन और द्रौपदी जैसे दम्पति ही इन उच्च स्तर की आत्माओं को जन्म देने में समर्थ हो सकते हैं । इसलिए यह भी प्रयत्न करना होगा कि आदर्श जीवन बिताने वाले, उच्च विचारधाराओं से परिपूर्ण नर-नारी उन आत्माओं को जन्म देने के लिए उपयुक्त स्थान प्रस्तुत करें । घटिया, तुच्छ, पतित, स्वार्थी और हीन मनोभूमि वाले असुर प्रकृति माता-पिता के शरीरों में उच्च आत्माएँ प्रवेश नहीं करतीं, उनके यहाँ उसी श्रेणी की दुष्टात्माएँ जन्म लेती हैं । किसी महापुरुष को अपने घर बुलाना होता है तो घर की सफाई और पहुँनाई का प्रबन्ध भी उसकी शान के उपयुक्त ही करना पड़ता है । महापुरुष जिनके घर में जन्मे वैसे पति-पत्नी का आदर्शवादी होना भी आवश्यक है । अर्जुन-द्रौपदी ने जिस प्रकार गर्भ में ही अभिमन्यु को चक्रव्यूह तोड़ने की शिक्षा दे दी थी, ऐसा ही प्रशिक्षण कर सकने की क्षमता जिन माता-पिता में हो वे ही महापुरुषों को जन्म दे सकते हैं । इस प्रकार का महान उत्पादन करने का उत्तरदायित्व उठाने के लिए कठिन तपश्चर्या करने वाले नर-नारी अपने परिवार में से निकलें ऐसी हमारी हार्दिक अभिलाषा है ।

अवतारी युग पुरुष न सही, मध्यम श्रेणी के महापुरुष भी उत्कृष्ट श्रेणी के पति-पत्नी ही उत्पन्न कर सकते हैं । भविष्य में ऐसे संस्कारवान व्यक्तियों की भारी संख्या में आवश्यकता पड़ेगी । राम के साथ प्राणपण में अनीति उन्मूलन करने वाले रीछ-वानरों की कितनी बड़ी सेना थीं ? वैसी ही नई सुसंस्कारी पीढ़ी को विनिर्मित करने का कार्य अब आरम्भ कर दिया जाना चाहिए । संस्कारवान् तेजस्वी बालक उत्पन्न करने का महाअभियान उनके

माता-पिता को सुसंस्कृत बनाने के कार्य से ही आरम्भ किया जा सकता है ।

आज की पीढ़ी कमजोर मिट्टी की बनी हुई है । माता-पिता ने पूर्व तैयारी का निश्चित लक्ष्य लेकर उसे पैदा नहीं किया है और न वैसी दीक्षा, वैसी संस्कृति का लाभ ही उसे मिला है । ऐसी दशा में यदि आज की पीढ़ी दुर्बल मनोभूमि की, आदर्शों का भार उठाने में असमर्थ दीखती है तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है । अगली पीढ़ी के लिए हमें ऐसी तैयारी करनी चाहिए जो जन्म के साथ ही उच्च संस्कार साथ लेकर आये । चिकनी मिट्टी के ही अच्छे खिलौने या बर्तन बन सकते हैं । बालू रेत लेकर कोई चतुर कुम्हार भी कुछ बना नहीं पाता, उसका श्रम निरर्थक ही चला जाता है । खराब लोहे से अच्छी मशीनें नहीं बन सकतीं, इसी प्रकार जन्मजात संस्कारों के बिना वह दृढ़ता नहीं आती जिसके आधार पर युग निर्माण जैसे महान कार्य सम्पन्न हो सकें ।

किन उपायों से सुसंतति उत्पन्न हो सकती है यह एक स्वतन्त्र विषय है इस पर हम आगे बहुत कुछ बताने समझाने वाले हैं पर आवश्यकता इस बात की है उसके लिए आत्म-नियंत्रण, आत्म-शिक्षण और आत्म-विकास के मार्ग पर चलना पति-पत्नी पहले से ही आरम्भ कर दें ताकि उनकी निज की मनोभूमि तो उपयुक्त प्रकार की बन जाय । बालकों का निर्माण, आत्म-निर्माण के साथ ही आरम्भ होता है, दुर्गुणी माता-पिता केवल बाहरी प्रशिक्षण के आधार पर सन्तान को उत्कृष्ट मनोभूमि का नहीं बना सकते । नई पीढ़ी की उत्कृष्टता, उसके पिता-माता की उत्कृष्टता पर निर्भर रहती है । इसलिए हममें से जो संतान का उत्तरदायित्व उठाने की स्थिति में हैं उन्हें अपनी धर्म-पत्नियों को अपने अनुरूप मनोभूमि का बनाने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण आरम्भ करना ही पड़ेगा ।

जो व्यक्ति पूर्व संस्कारों के कारण आज धर्मरुचि सम्पन्न दिखाई पड़ते हैं उन्हें खोजना, सम्बन्ध सूत्र में बाँधना और स्वध्याय-सत्संग के लाभ से लाभान्वित करना यह प्रथम कार्य है और साथ ही नई पीढ़ी को जन्म देने के लिए तपश्चर्या करने वाले साहसी व्यक्तियों को उपयुक्त तैयारी के लिए प्रेरणा देना दूसरा कार्यक्रम है । इन दोनों को ही उत्साहपूर्वक अपनाया जाना चाहिए ताकि जल्दी ही परिपक्व मनोभूमि वाले सुसंस्कारी युग-पुरुषों की एक बड़ी सेना सामने प्रस्तुत दिखाई देने लगे ।

नई प्रबुद्ध पीढ़ी का अवतरण

युग-निर्माण के लिए ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो जन्मजात रूप से आवश्यक आत्मबल लेकर आये हों । शिक्षा और उपदेशों से सुधार तो होता है पर यदि व्यक्ति जन्मजात रूप से हीन संस्कार अपने साथ लाया है तो उस पर सुधार, शिक्षा का बहुत थोड़ा असर होगा ।

प्रबुद्ध व्यक्तियों का निर्माण माता-पिता के सुसंस्कारों से होता है । अर्जुन और द्रौपदी के उच्च गुणों से तथा गर्भकाल में समुचित शिक्षण प्राप्त करने से अभिमन्यु ऐसे संस्कार लेकर जन्मा था कि सोलह वर्ष की आयु में ही चक्र-व्यूह बेधन जैसे कठिन कार्य के लिए कटिबद्ध हो सका । प्राचीनकाल में गर्भाधान को एक परम पवित्र संस्कार माना जाता था । उसकी तैयारी के लिए युवक-युवती चिरकालीन शिक्षा, साधना करके अपने को इस योग्य बनाते थे कि उनके संयुक्त प्रयत्न से सुसंस्कारी संतति का अवतरण हो सके । इसी आधार पर यह देश नररत्नों की खान था, इसी कारण यहाँ घर-घर में महापुरुष पैदा होते थे । खेद की बात है कि आज यह प्रक्रिया बन्द हो गई । अविचारी माता-पिता कुत्सित वासना से प्रेरित होकर इन्द्रिय तृप्ति के लिए मिलते हैं तो उसी लक्ष्य के अनुरूप निम्न स्तर की मनोभूमि लेकर संतान उत्पन्न होती है, जिसका सुधार शिक्षा, उपदेशों से भी उतना नहीं हो पाता जितना होना चाहिए । आज का जनमानस प्रायः इसी प्रकार का हीन संस्कारी उत्पादन है । युग-निर्माण के लिए इससे काम न चलेगा । वह उद्देश्य सुसंस्कारी, प्रबुद्ध नई पीढ़ी से संभव होगा ।

युग निर्माण योजना का प्रसार किशोर और किशोरियों में अधिकाधिक किया जाना चाहिए ताकि वे एक ही लक्ष्य आदर्श और सिद्धान्तों को हृदयंगम किये हुए बनें । आत्म-सुधार, आत्म-विकास और आत्म-कल्याण में लगे हुए किशोर-किशोरी कई वर्षों तक अपना जीवन साधनामय बनाकर जब विवाह बन्धन में बँधेंगे और प्रबुद्ध नई पीढ़ी के उत्पादन का ध्यान रखेंगे तो अर्जुन-द्रौपदी के सम्पर्क से उत्पन्न अभिमन्यु की तरह घर-घर में सुसंस्कारी महापुरुष जन्मेंगे । उनके जन्मजात सुसंस्कार थोड़े से शिक्षण से ही खराद किए हुए हीरे की तरह दमकने लगेंगे ।

युग निर्माण विचारधारा के युवक-युवतियों को विवाह सूत्र में बँधवाने की हमारी विशेष अभिरुचि है । यह युग निर्माण योजना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है । इसमें दहेज विरोधी आन्दोलन भी सन्निहित है । भाषणों, लेखों और प्रस्तावों की मार खाकर भी दहेज का असुर मरता नहीं है । रक्तबीज की तरह वह चोट खाकर और भी अधिक विकराल बनता चला जा रहा है । इसका अन्त ऐसे होगा कि युग निर्माण योजना के सदस्य बच्चे यह प्रतिज्ञा करेंगे कि वे विचारशील साथी से ही विवाह करेंगे । दहेज और विवाहोन्माद में होने वाले भारी अपव्यय को हटाकर सरल और बिना खर्च की विधि से विवाह करेंगे । यदि अभिभावक इस निश्चय को मान्यता न देंगे तो वे आजीवन कुमार या कुमारी ही रहकर पवित्र जीवन व्यतीत करेंगे ।

उपजातियाँ अच्छे वरों को अच्छी कन्याएँ और अच्छी कन्याओं को अच्छे वर मिलने में भारी बाधा उत्पन्न करती हैं । उप-जातियाँ बहुत थोड़े क्षेत्र में ढूँढ़-खोज का उचित अवसर नहीं मिल पाता इसलिए सनातन शास्त्र मर्यादा के अनुसार मुख्य जातियों को ही मान्यता मिले । उपजातियाँ

संस्कारवान श्रेष्ठ व्यक्तित्व सदा श्रेष्ठ माता-पिता और श्रेष्ठ पारिवारिक वातावरण में से ही विनिर्मित होते रहते हैं ।

अब युग की रचना के लिए ऐसे व्यक्तित्वों की ही आवश्यकता है जो वाचालता और प्रचार-प्रसार से दूर रह कर अपने जीवनों को प्रखर एवं तेजस्वी बनाकर अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करें और जिस तरह चन्दन का वृक्ष आस-पास के पेड़ों को सुगन्धित कर देता है, उसी प्रकार अपनी उत्कृष्टता से अपना समीपवर्ती वातावरण भी सुरभित कर सकें । अपने प्रकाश से अनेकों को प्रकाशवान कर सकें ।

धर्म को आचरण में लाने के लिए निस्सन्देह बड़े साहस और बड़े विवेक की आवश्यकता होती है । कठिनाइयों का मुकाबला करते हुए सदुद्देश्य की ओर धैर्य और निष्ठापूर्वक बढ़ते चलना मनस्वी लोगों का काम है । ओछे और कायर मनुष्य दस-पाँच कदम चलकर ही लड़खड़ा जाते है । किसी के द्वारा आवेश या उत्साह उत्पन्न किये जाने पर थोड़े समय श्रेष्ठता के मार्ग पर चलते हैं पर जैसे ही आलस्य, प्रलोभन या कठिनाई का छोटा-मोटा अवसर आया कि बालू की भीत की तरह औंधे मुँह गिर पड़ते हैं । आदर्शवाद पर चलने का मनोभाव देखते-देखते अस्त-व्यस्त हो जाता है । ऐसे ओछे लोग अपने को न तो विकसित कर सकते हैं और न शान्तिपूर्ण सज्जनता की जिन्दगी ही जी सकते हैं फिर इनसे युग-निर्माण के उपयुक्त उत्कृष्ट चरित्र उत्पन्न करने की आशा कैसे की जाए ? आदर्श व्यक्तित्वों के बिना दिव्य समाज की भव्य रचना का स्वप्न साकार कैसे होगा गाल बजाने वाले, पर उपदेश कुशल लोगों द्वारा यह कर्म सम्भव होता सो वह अब से बहुत पहले ही सम्पन्न हो चुका होता । जरूरत उन लोगों की है जो आध्यात्मिक आदर्शों की प्राप्ति को जीवन की सब से बड़ी सफलता अनुभव करें और अपनी आस्था की सच्चाई प्रमाणित करने के लिये बड़ी से बड़ी परीक्षा का उत्साहपूर्ण स्वागत करें ।

आदर्श व्यक्तित्व ही किसी देश या समाज की सच्ची समृद्धि माने जाते हैं । जमीन में गड़े धन की चौकसी करने वाले साँपों की तरह तिजोरी में जमा नोटों की रखवाली करने वाले कंजूस तो गली-कूँचों में भरे पड़े हैं । ऐसे लोगों से कोई प्रगति के एकमात्र उपकरण प्रतिभाशाली चरित्रवान व्यक्तित्व ही होते हैं । हमें युग-निर्माण के लिए ऐसी ही आत्माएँ चाहिए । इनके अभाव में अन्य सब सुविधा-साधन होते हुए भी अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में तनिक भी प्रगति न हो सकेगी ।

अखण्ड-ज्योति परिवार का प्रत्येक घर आदर्श व्यक्तित्व ढालने की टकसाल बने यही प्रयत्न हमे करना होगा । इसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इनमें ऐसा सौम्य वातावरण रहा करे जिसके सान्निध्य में रहने वाले बालक संस्कारवान बनते चले जाएँ और प्राचीन भारत की तरह हर घर में नर-रत्नों का उद्यान खिला हुआ दृष्टिगोचर हो सके । जन्मजात संकारों के अभाव में स्कूली शिक्षा व्यक्तित्व के निर्माण में बहुत ही कम सहायक हो सकती है । आज कितने ही आदर्श विद्यालय, छात्रालय एवं गुरुकुल अच्छी शिक्षा की व्यवस्था रख रहे हैं पर जन्मजात संस्कारों के अभाव में उनमें पढ़ने वाले बालक भी वैसे नहीं बन रहे हैं जैसे कि आशा की जाती थी । इसलिए पत्तों की सफाई का ध्यान रखने से पूर्व हमें जड़ को सींचना भी नहीं भूलना चाहिए । नई पीढ़ी जन्मजात इन संस्कारों को लेकर जन्म ले यह युग-निर्माण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू है । इसकी पूर्ति के लिए हमें सुव्यवस्थित योजना बनाकर काम करना होगा ।

वर्तमान पीढ़ी जिस रज-वीर्य में जन्मी है, जिस वातावरण में पली है, वह संस्कारवान न होने से हीन मानसिक दशा से बुरी तरह ग्रसित है । मानवीय स्वाभिमान कर्त्तव्य और दायित्व से वह अपरिचित जैसी ही दीखती है, विपन्नताओं का रोना तो रोती है पर उसे बदलने के लिए जिस साहस, त्याग और बलिदान की आवश्यकता है उससे दूर ही बनी रहती है । तृष्णा और वासना में इतना जकड़ रही है कि मानवोचित पुरुषार्थ के लिए अवकाश बच नहीं पाता । जिन आदर्शों के लिए हमारे पूर्व पुरुष प्राण तक देने में आनन्द मानते थे उन्हें आज उपहासास्पद बेवकूफी समझा जाता है । मनुष्य इतना स्वार्थी, धूर्त और संकीर्ण बना हुआ है कि धर्म और सदाचार केवल गाल बजाने तक सीमित रह गये हैं, व्यवहार में पशुता एवं पैशाचिकता का ही बोलबाला रहता है ।

यह परिस्थितियाँ बदलने के लिये, मानव अन्तःकरण को बदलने के लिए लोक-शिक्षण तो आवश्यक है ही पर साथ ही यह और भी आवश्यक है कि लोक-शिक्षण का आधार व्यक्तित्व जीवन एवं परिवार को आदर्शवादी साँचे में ढाला जाए । अध्यात्म, पूजा-पाठ की, कहने-सुनने की वस्तु न रहे वरन् उसे दैनिक जीवन में, नियमित व्यवहार में उतारने को एक अनिवार्य आवश्यकता माना जाए । ऐसे व्यक्तित्व और परिवार न केवल वर्तमान समाज को परिवर्तित करेंगे, वरन् नई पीढ़ी में आदर्शवादी नर-रत्नों को जन्म दे सकने में भी समर्थ होंगे । मनस्वी और तपस्वी मनुष्यों का समाज जितना बढ़ता जाएगा उतना ही इस धरती पर स्वर्ग का अवतरण होगा । उज्ज्वल व्यक्तियों से ही भव्य-समाज की भव्य-रचना सम्भव होगी ।



की उपेक्षा की जाए । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार ही वर्णों की चर्चा धर्म-ग्रन्थों में है । इन चार वर्णों के अन्तर्गत उपजातियों की परवा किए बिना यदि विवाह शादी होने लगे तो उसमें धर्म एवं शास्त्र की मर्यादाओं का तो रत्ती भर भी उल्लंघन नहीं होता पर सुविधा बहुत बढ़ जाती है । दहेज एवं विवाह की धूम-धाम का त्याग करने के साथ ही यदि उपजातियों का जंजाल हटा दिया जाएगा तो उचित जोड़े ढूँढ़ने की समस्या बहुत ही सरल हो जाएगी और ऐसे दाम्पत्य जीवनों का आविर्भाव होगा जो अपने परिवारों को स्वर्गीय सुख-शान्ति से ओत-प्रोत करते हुए संस्कारवान सुसंतति को जन्म देंगे, जिससे युग निर्माण का उद्देश्य पूर्ण हो सके । समाज सुधार और आत्म-कल्याण के दोनों ही उद्देश्य इस योजना से पूरे हो सकेंगे ।

ऐसे संस्कारवान बालकों की शिक्षा के लिए नालन्दा, तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों की आवश्यकता होगी जहाँ का प्रत्येक पाठ, प्रत्येक आचरण, प्रत्येक शिक्षण महामानव बनाने वाला हो । ऐसे विश्व-विद्यालय बनाने और चलाने के लिए संभवतः हम इस शरीर से जिन्दा न रहेंगे पर उसकी योजना तो स्वजनों के मस्तिष्क में छोड़ ही जानी होगी । युग निर्माण कार्य महान है उसके लिए महान योजनाएँ प्रस्तुत करनी होंगी । नई पीढ़ी का रचना कार्य प्रबुद्ध युवकों के धर्म विवाहों से आरम्भ होगा । इसे एक प्रचंड आन्दोलन का रूप हमें शीघ्र ही देना होगा ।

सुसंस्कृत व्यक्तियों की आवश्यकता

युग-निर्माण के उपयुक्त परिस्थितियाँ वे लोग उत्पन्न करेंगे जिनमें मूलतः उत्कृष्ट स्तर की शक्ति, क्षमता, प्रतिभा और आस्था विद्यमान हो । यह क्षमता भाषण सुनने या लिखने-पढ़ने से ही उत्पन्न नहीं होती वरन् उसके लिए जन्मजात संस्कारों की भी आवश्यकता रहती है । आज धर्म और अध्यात्म पर भी राजनैतिक विषयों की भाँति ही धुँआधार भाषण होते हैं । कीर्तन, कथा, रामायण, यज्ञ आदि के उत्सव समारोह आये दिन होते रहते हैं जिनमें धर्म विषयों पर विद्वतापूर्ण भाषण होते हैं । रामलीला जगह-जगह होती हैं उसमें भी भगवान राम के आदर्शों को अपनाने की प्रेरणा देना ही उद्देश्य रहता है । गंगा-स्नान के मेले, कुम्भ आदि पर्व चारों धामों, तीर्थ आदि में भी ऐसा ही वातावरण बनता है जिसमें यदि मनुष्य चाहे तो बहुत कुछ प्रेरणा प्राप्त कर सकता है । नाटक, सिनेमाओं में भी कई बार धर्म शिक्षा के दृश्य रहते हैं ।

पत्र-पत्रिकाओं में कर्त्तव्यबोधक लेख बहुत छपते रहते हैं । गीता, रामायण जैसी प्रधान धर्म पुस्तकों की प्रतियाँ लाखों की संख्या में हर साल छपती हैं और लोगों द्वारा खरीदी एवं पढ़ी जाती हैं । ऐसा साहित्य और भी जगह से छापा और फैलाया जाता है । इस प्रकार भाषण और लेखन द्वारा निरन्तर यह प्रयत्न किया जा रहा है कि लोग अच्छे बनें । इन बातों को लोग पढ़ते-सुनते न हों सो बात भी नहीं है पर देखा यह जाता है कि चिकने घड़े की तरह लोग उससे मनोरंजन मात्र कर लेते हैं, उसे जीवन में उतारने के लिए एक कदम भी बढ़ाने को तैयार नहीं होते और तो और, धर्म एवं आध्यात्मिकता के प्रवचन कर्ता और लेखक भी अपनी कथनी की अपेक्षा करनी से बहुत पिछड़े रहते हैं । कई बार तो उनका आचरण बिल्कुल उल्टा देखा जाता है ।

इन तथ्यों पर विचार करते हुए कारण जानने की गहराई में जब उतरा जाता है हर एक बात स्पष्ट होती है कि व्यक्ति में मूलतः वे तत्व भी होने चाहिए, जिनमें सद्ज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति और आदर्श को जीवन में उतारने की साहसपूर्ण सामर्थ्य भी विद्यमान हो । इसके बिना अच्छी शिक्षा का भी कुछ विशेष लाभ नहीं मिल सकता । धर्म की शिक्षा देने वालों की वक्तृता भले ही नीरस हो, उनका चरित्र सामान्य लोगों की अपेक्षा अधिक पवित्र अधिक प्यारा और अधिक प्रकाशवान होना चाहिए । आज धर्म शिक्षा देने वाले लेखक-वक्ता तो बहुत हैं पर उनके पास, कबीर, नानक, गुरु गोविन्द सिंह, रामदास, बुद्ध, महावीर, गाँधी जैसा व्यक्तित्व नहीं है । वाणी की शक्ति तो स्वल्प है, प्रभाव वस्तुतः चरित्र का पड़ता है । संस्कारवान सुनने वाले और चरित्रवान कहने वाले जब कभी मिल जाते हैं तब थोड़ा-सा प्रशिक्षण भी जादू का असर उत्पन्न करता है । इसके बिना अन्य मनोरंजन की तरह धर्म भी दिल बहलाव का एक विषय बनकर रह जाता है । धर्म जीवन में उतारने की वस्तु है, आचरण में लाने पर ही उसका कोई लाभ और प्रभाव अनुभव किया जा सकता है ।

यदि धर्म को व्यावहारिक रूप धारण करते हुए देखना हो तो ऐसे संस्कारवान् व्यक्तियों का निर्माण करना होगा जो हमारी तरह धर्म को सुन-समझकर ही सन्तुष्ट न हो जाएँ वरन् उसे कार्यान्वित करने के लिए साहसपूर्ण कदम उठा सकने की क्षमता भी रखते हों । तेजस्वी व्यक्तित्वों के निर्माण के लिए माता-पिता को तप करना होता है । प्राचीनकाल के इतिहास-पुराणों को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि महापुरुषों का जन्म देने वाले माता-पिताओं ने दीर्घ काल तक अनेक जन्मों तक तप किये थे । उस तप से शरीर और मनों को, रज-वीर्य को ऐसा सुसंस्कारी बनाया था कि उसमें तेजस्वी आत्माओं का प्रजनन संभव हो सके । उन बालकों का पालन-पोषण भी उपयुक्त वातावरण में हो सके ऐसी व्यवस्था करनी होती है तथा शिक्षा-दीक्षा के लिए भी ऐसा प्रबन्ध करना होता है कि जहाँ केवल साक्षरता ही नहीं वरन् चरित्र तथा व्यक्तित्व का भी विकास हो सके । सुसंस्कृत तथा श्रेष्ठ व्यक्तित्वो के निर्माण का यही मार्ग है । अपवाद रूप से कभी-कभी कीचड़ में कमल भी उत्पन्न होते हैं पर क्रम यही है कि

संस्कारवान श्रेष्ठ व्यक्तित्व सदा श्रेष्ठ माता-पिता और श्रेष्ठ पारिवारिक वातावरण में से ही विनिर्मित होते रहते हैं ।

अब युग की रचना के लिए ऐसे व्यक्तित्वों की ही आवश्यकता है जो वाचालता और प्रचार-प्रसार से दूर रह कर अपने जीवनों को प्रखर एवं तेजस्वी बनाकर अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करें और जिस तरह चन्दन का वृक्ष आस-पास के पेड़ों को सुगन्धित कर देता है, उसी प्रकार अपनी उत्कृष्टता से अपना समीपवर्ती वातावरण भी सुरभित कर सकें । अपने प्रकाश से अनेकों को प्रकाशवान कर सकें ।

धर्म को आचरण में लाने के लिए निस्सन्देह बड़े साहस और बड़े विवेक की आवश्यकता होती है । कठिनाइयों का मुकाबला करते हुए सदुद्देश्य की ओर धैर्य और निष्ठापूर्वक बढ़ते चलना मनस्वी लोगों का काम है । ओछे और कायर मनुष्य दस-पाँच कदम चलकर ही लड़खड़ा जाते हैं । किसी के द्वारा आवेश या उत्साह उत्पन्न किये जाने पर थोड़े समय श्रेष्ठता के मार्ग पर चलते हैं पर जैसे ही आलस्य, प्रलोभन या कठिनाई का छोटा-मोटा अवसर आया कि बालू की भीत की तरह औंधे मुँह गिर पड़ते हैं । आदर्शवाद पर चलने का मनोभाव देखते-देखते अस्त-व्यस्त हो जाता है । ऐसे ओछे लोग अपने को न तो विकसित कर सकते हैं और न शान्तिपूर्ण सज्जनता की जिन्दगी ही जी सकते हैं फिर इनसे युग-निर्माण के उपयुक्त उत्कृष्ट चरित्र उत्पन्न करने की आशा कैसे की जाए ? आदर्श व्यक्तित्वों के बिना दिव्य समाज की भव्य रचना का स्वप्न साकार कैसे होगा गाल बजाने वाले, पर उपदेश कुशल लोगों द्वारा यह कर्म सम्भव होता तो वह अब से बहुत पहले ही सम्पन्न हो चुका होता । जरूरत उन लोगों की है जो आध्यात्मिक आदर्शों की प्राप्ति को जीवन की सब से बड़ी सफलता अनुभव करें और अपनी आस्था की सच्चाई प्रमाणित करने के लिये बड़ी से बड़ी परीक्षा का उत्साहपूर्ण स्वागत करें ।

आदर्श व्यक्तित्व ही किसी देश या समाज की सच्ची समृद्धि माने जाते हैं । जमीन में गड़े धन की चौकसी करने वाले साँपों की तरह तिजोरी में जमा नोटों की रखवाली करने वाले कंजूस तो गली-कूँचों मे भरे पड़े हैं । ऐसे लोगों से कोई प्रगति के एकमात्र उपकरण प्रतिभाशाली चरित्रवान व्यक्तित्व ही होते हैं । हमें युग-निर्माण के लिए ऐसी ही आत्माएँ चाहिए । इनके अभाव में अन्य सब सुविधा-साधन होते हुए भी अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में तनिक भी प्रगति न हो सकेगी ।

अखण्ड-ज्योति परिवार का प्रत्येक घर आदर्श व्यक्तित्व ढालने की टकसाल बने यही प्रयत्न हमें करना होगा । इसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इनमें ऐसा सौम्य वातावरण रहा करे जिसके सान्निध्य में रहने वाले बालक संस्कारवान बनते चले जाएँ और प्राचीन भारत की तरह हर घर में नर-रत्नों का उद्यान खिला हुआ दृष्टिगोचर हो सके । जन्मजात संकारों के अभाव में स्कूली शिक्षा व्यक्तित्व के निर्माण में बहुत ही कम सहायक हो सकती है । आज कितने ही आदर्श विद्यालय, छात्रालय एवं गुरुकुल अच्छी शिक्षा की व्यवस्था रख रहे हैं पर जन्मजात संस्कारों के अभाव में उनमें पढ़ने वाले बालक भी वैसे नहीं बन रहे हैं जैसे कि आशा की जाती थी । इसलिए पत्तों की सफाई का ध्यान रखने से पूर्व हमें जड़ को सींचना भी नहीं भूलना चाहिए । नई पीढ़ी जन्मजात इन संस्कारों को लेकर जन्म ले यह युग-निर्माण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू है । इसकी पूर्ति के लिए हमें सुव्यवस्थित योजना बनाकर काम करना होगा ।

वर्तमान पीढ़ी जिस रज-वीर्य में जन्मी है, जिस वातावरण में पली है, वह संस्कारवान न होने से हीन मानसिक दशा से बुरी तरह ग्रसित है । मानवीय स्वाभिमान कर्त्तव्य और दायित्व से वह अपरिचित जैसी ही दीखती है, विपन्नताओं का रोना तो रोती है पर उसे बदलने के लिए जिस साहस, त्याग और बलिदान की आवश्यकता है उससे दूर ही बनी रहती है । तृष्णा और वासना में इतना जकड़ रही है कि मानवोचित पुरुषार्थ के लिए अवकाश बच नहीं पाता । जिन आदर्शों के लिए हमारे पूर्व पुरुष प्राण तक देने में आनन्द मानते थे उन्हें आज उपहासास्पद बेवकूफी समझा जाता है । मनुष्य इतना स्वार्थी, धूर्त और संकीर्ण बना हुआ है कि धर्म और सदाचार केवल गाल बजाने तक सीमित रह गये हैं, व्यवहार में पशुता एवं पैशाचिकता का ही बोलबाला रहता है ।

यह परिस्थितियाँ बदलने के लिये, मानव अन्तःकरण को बदलने के लिए लोक-शिक्षण तो आवश्यक है ही पर साथ ही यह और भी आवश्यक है कि लोक-शिक्षण का आधार व्यक्तित्व जीवन एवं परिवार को आदर्शवादी साँचे में ढाला जाए । अध्यात्म, पूजा-पाठ की, कहने-सुनने की वस्तु न रहे वरन् उसे दैनिक जीवन में, नियमित व्यवहार में उतारने को एक अनिवार्य आवश्यकता माना जाए । ऐसे व्यक्तित्व और परिवार न केवल वर्तमान समाज को परिवर्तित करेंगे, वरन् नई पीढ़ी में आदर्शवादी नर-रत्नों को जन्म दे सकने में भी समर्थ होंगे । मनस्वी और तपस्वी मनुष्यों का समाज जितना बढ़ता जाएगा उतना ही इस धरती पर स्वर्ग का अवतरण होगा । उज्ज्वल व्यक्तियों से ही भव्य-समाज की भव्य-रचना सम्भव होगी ।

* * *

नव-निर्माण की पृष्ठभूमि और आधार

नवसृजन के निमित्त समर्थ तंत्र की स्थापना

चेतना क्षेत्र की और प्रकृति क्षेत्र की वस्तुएँ तथा क्षमताएँ मिलकर ही व्यक्ति और ब्रह्माण्ड की गतिविधियों का सूत्र-संचालन कर रही हैं। बाजीगर की तरह ये ही कठपुतलियाँ नचाती और संसार में अनेकानेक कलाकारिताओं का, गतिविधियों का मनमोहक-दृश्य खड़ा करती रहती हैं। मनुष्य का शरीर प्रकृति पदार्थों से और प्राण चेतना तरंगों से विनिर्मित हुआ है इसलिए उसका इन सबसे प्रत्यक्ष और परोक्ष सम्बन्ध है, वह इनसे प्रभावित होता है साथ ही इन्हें प्रभावित भी करता है।

सामग्री सामने हो और निर्माण का शिल्प अभ्यास में आ गया हो तो उससे कितनी ही महत्वपूर्ण वस्तुएँ बन सकती हैं। सोना, अँगीठी और साँचे-ठप्पे हाथ में हों तो कुशल स्वर्णकार अनेक प्रकार के आभूषण गढ़ सकता है। कुम्हार के पास गुँथी हुई मिट्टी, चाक तथा अवा हो विभिन्न प्रकार के बर्तनों, खिलौनों के ढेर लगा सकता है। कपड़े, कैंची, मशीन, सुई, धागा पास में होने पर दर्जी तो विभिन्न डिजायनों के छोटे-बड़े कपड़े बना सकता है। यही बात दिव्य विभूतियों और शक्तियों के सम्बन्ध में भी है। नैष्ठिक साधक ने तपश्चर्या और योगाभ्यास द्वारा अपना व्यक्तित्व चुम्बकीय विलक्षणताओं से भर लिया हो तो आवश्यकतानुसार वह उत्पादन कर सकता है जिसे विलक्षण सिद्धि कहते हैं, यही युग साधना का मर्म है।

मनुष्य परमेश्वर तो नहीं, पर उसके हाथ में न केवल पदार्थ उत्पन्न करने की वरन् जीवन्त प्राणी उत्पन्न करने की भी सामर्थ्य है। पशुपालक अभीष्ट नस्ल के दुधारू तथा बोझ ढोने वाले जानवर पैदा करते रहते हैं। मुर्गी, मछली पैदा करने के लिए तो सरकार मुफ्त में बीज बाँटती है लोग विवाह होते ही सन्तानोत्पादन में लगते हैं और कुछ ही वर्षों में घर-आँगन बच्चों से भर देते हैं। शिल्पी, कलाकार, सैनिक, डाक्टर, इन्जीनियर आदि विशेष योग्यताओं के व्यक्ति ढालने के लिए कितने ही कारखाने चलते हैं।

यहाँ सूक्ष्म-जगत में, पुण्य करने वाले, सूक्ष्म प्रकृति के निष्णात पारंगतों के सम्बन्ध में चर्चा चल रही है कि उन्हें विशेषज्ञों द्वारा ढाला, बनाया जा सकता है या नहीं? उत्तर हाँ में ही देना पड़ेगा।

प्रकृति के अन्तराल में काम करने वाली विलक्षण शक्तियों के साथ मानवीय विद्युत और ब्रह्माण्डीय चेतना को गूँधकर ऐसी सत्ताएँ खड़ी की जा सकती है, जो सृजन कर्त्ता की इच्छा तथा आवश्यकता के अनुसार अपनी प्रचण्ड-क्षमता का परिचय दे सकें और ऐसे काम कर सकें जैसे कि निर्माता स्वयं भी नहीं कर सकता। लुहार मल्लयुद्ध में एक दो सामने वालों को ही चोट पहुँचा सकता है पर उसके कारखाने में ढाली गई बन्दूकें एक दिन में ही सैकड़ों योद्धाओं का सफाया कर सकती हैं। यों ऐसे ही विलक्षण सृजन की चर्चा तथा तैयारी हो रही है।

पौराणिक तथा ऐतिहासिक गाथाओं में ऐसे उत्पादनों का अनेकानेक स्थलों पर चर्चा-उल्लेख है। शिवजी का प्रमुख कार्यवाहक वीरभद्र था, किन्तु साथ में गण समुदाय की एक बड़ी सेना भी थी, यह उन्हीं का निजी सृजन था। दक्ष से कुपित होकर शिवजी ने अपनी जटा का एक बाल उखाड़कर देखते-देखते वीरभद्र व गण उत्पन्न कर दिए थे और उन्होंने संकेत मात्र से महाबली दक्ष का मान-मर्दन कर दिया था। नान्दी भी उनके व्यक्तित्व के साथ ही सदा-सर्वदा जुड़ा रहा।

रक्तबीज, आसुरी कर्तृत्व था, उसके रक्त की बूँद जहाँ भी गिरती थी, वहीं से एक नया असुर बनकर खड़ा हो जाता था। यह मध्यवर्ती उत्पादन समझा जा सकता है। उसके माता-पिता का कोई अता-पता नहीं।

विक्रमादित्य के साथ पाँच बेताल रहते थे और वे कठिन कार्य कर दिखाते थे जो विक्रमादित्य स्वयं भी नहीं कर पाते। वे पाँचों कब जन्मे, कब मरे ऐसे सामान्य प्राणियों जैसा उनका कोई इतिहास नहीं है; राजा विक्रम की जीवन यात्रा समाप्त होते ही वे सभी बेताल भी अन्तर्ध्यान हो गये।

यक्ष, सूक्ष्म-शरीरधारी मनुष्य ही होते हैं। महाभारत की यक्ष कथा प्रसिद्ध है। उसके सरोवर में पानी पीने से पाण्डव पत्थर हो गये थे। युधिष्ठिर ने उसका समाधान करके भाइयों को पुनर्जीवित कराया था। यह यक्ष उच्च भूमिका वाले प्रेत व पितर स्तर के ही होते हैं। अनाचारी विद्वान जब मरते हैं तो ब्रह्मराक्षस हो जाते हैं। सामान्य प्रेत परिवार की तुलना में उसकी क्षमता और चतुरता कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी होती है।

भवानी तन्त्र-विज्ञान की अधिष्ठात्री है, उसका सामना कर सकने में कोई दुर्दान्त दैत्य भी समर्थ नहीं हुआ। भवानी अकेली नहीं चलती थी, भैरव और योगिनियों का पूरा परिवार उनके साथ रहता था। यह भी शिवजी के गणों की तरह ही थे। भैरवों और योगिनियों का विस्तार और संकोचन भवानी अपनी आवश्यकतानुसार करती रहती है। उनकी उपस्थिति तथा पराक्रम का तो वर्णन मिलता है, पर यह कहीं उल्लेख नहीं है कि उनमें से कितने, कब, कहाँ उत्पन्न हुए और तिरोहित होते रहे। स्पष्ट है कि भवानी का निजी उत्पादन था आवश्यकतानुसार यह परिवार घटता-बढ़ता रहता था।

सामान्य भूतप्रेतों की चर्चा होती रहती है। वे किसी के बनाये नहीं बनते। अपने ही उद्वेगों के कारण बवण्डर की तरह उठते और मन शान्त होते ही दूसरी दिशा में मुड़ जाते हैं।

ऋषियों, सिद्धपुरुषों में भी यह सामर्थ्य देखी गई है कि वे अपने स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही शरीरों से काम करते रहते हैं। अदृश्य शरीरों का प्रकटीकरण तथा उपयोग वे किन्हीं विशेष आवश्यकताओं के समय ही करते हैं।

इन दिनों विश्वविभीषिकाओं के कितने ही विनाशकारी घटाटोप उठ रहे हैं वे अपना समाधान और निराकरण चाहते हैं। इसी प्रकार नव-सृजन के अगणित अंकुर उगे तो हैं पर सिंचाई के अभाव में वे कुम्हलाते, मुरझाते और सूखते चले जा रहे हैं। इस सन्दर्भ में भी उपेक्षा बरतने की गुंजाइश नहीं है। लंका-दहन और रामराज्य स्थापना जैसी समस्याएँ अति विकराल रूप में सामने हैं। उनके निमित्त सूक्ष्म शरीरधारी सत्ताओं का परिकर बन रहा है और मोर्चे सम्भालने के लिए कटिबद्ध हो रहा है तो यह उचित भी है और आवश्यक भी। यह परिकर कैसे, किस प्रकार अपनी सामर्थ्य का सुनियोजन करेगा यह गोपनीय पक्ष है वीरभद्र, रक्तबीज, बैताल, यक्ष, भैरवी इत्यादि के प्रसंग पौराणिक होने के कारण अथवा किम्बदन्तियों में शुमार किए जाने के कारण, सम्भव है बुद्धिजीवी वर्ग को स्वीकार्य न हो पर वास्तविकता तो वास्तविकता है । नवनिर्माण अभीष्ट है तो यह होगा उसी सूक्ष्म धरातल पर। ऋषि सत्ता का यह दायित्व सदा से ही रहा है वह परोक्ष वातावरण निर्मित करें, एक तन्त्र ऐसा खड़ा करें जो संव्याप्त समस्याओं , विभीषिकाओं से मानव जाति को त्राण दिला सके। इसी को अवतार प्रक्रिया के आश्वासन के रूप में भी समझा जा सकता है। पृष्ठभूमि में तो वही अदृश्य संचालन सत्ता सक्रिय रहती है, कठपुतली वह जिसे चाहे बना ले। युग-निर्माण के पीछे उसी समर्थ सत्ता को सक्रिय देखा व अनुभव किया जा सकता है।

युग की वह पुकार, जिसे पूरा होना ही है

'मानव प्राणी अपनी आत्मा के साथ जिन उच्च आकांक्षाओं, संभावनाओं, उद्देश्यों और आवश्यकताओं को लेकर इस पुण्य भूमि में अवतरित होता है उनकी पूर्ति के लायक परिस्थितियाँ यदि न मिलें तो जीवन जीने का वह लाभ मिल नहीं पाता जो उसका मूलभूत लक्ष्य माना गया है। ऐसी विपन्न परिस्थितियों में जब कभी भी विश्व मानव की अंतरात्मा फँस जाती है तो स्वभावतः उसमें अकुलाहट पैदा होती है। असंतोष की उग्रता जब सीमा से ऊपर बढ़ने लगती है तो उसकी प्रतिक्रिया भी उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। अनुपयुक्त स्थिति को बदलकर उपयुक्त परिस्थिति प्राप्त करने की समग्र आकांक्षा किसी न किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत करने वाले आंदोलन का रूप धारण करती है।

असंतुलन को दूर करके संतुलन उत्पन्न करने के लिए विश्व इतिहास के पृष्ठों पर समय-समय पर होने वाली क्रान्तियों का उल्लेख मिलता है। यह आवश्यक भी है और स्वाभाविक भी । संतुलन यदि निरन्तर बिगड़ता रहे तो उसका प्रतिफल केवल विनाश ही हो सकता है। किन्तु जिस सृष्टिकर्ता ने यह सुन्दर संसार बनाया है वह समय से पहले इसे नष्ट नहीं देख सकता और न यह चाहता है कि यह स्वर्गादपि गरीयसी धरती नारकीय दुर्गंध में सड़ते हुए जीवों की क्रीड़ा-भूमि बनकर रहे। इसलिए जब भी विषमता का असंतुलन बढ़ता है तभी उसकी प्रतिरोधी प्रतिक्रिया-क्रांति भी उठ खड़ी होती है। इसे ही युग परिवर्तन या अवतरण कहते हैं।

गीता में दिए गए अपने वचन के अनुसार जब भी धर्म की हानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब धर्म की संस्थापना और दुष्कृतों का विनाश करने के लिए भगवान अवतार धारण करते हैं। स्पष्ट है कि श्रेय भले ही किसी विशेष व्यक्ति को मिले पर वस्तुतः कोई प्रेरणा एवं प्रकाश ही अवतरित होता है, परिवर्तन के लिए प्रस्तुत हुई क्रान्ति अपना प्रचंड.वेग लेकर अवतरित होती है।

ईश्वर निराकार है इसलिए उसका अवतार भी प्रेरणाओं के रूप में ही सम्भव है। जनमानस की अकुलाहट में उसका प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है। अवतार का यही वास्तविक स्वरूप है । इस प्रेरणा प्रवाह में बहते हुए असंख्य जन-समूह में से कुछ विशेष व्यक्तियों को प्रमुखता मिले कुछ को वह न मिल पाए, यह बात दुनिया की दृष्टि से सम्बध रखती है। अवतार की वस्तुस्थिति का इससे कोई संबंध नहीं। युग की पुकार इतनी प्रबलता और प्रचंडता अपने भीतर धारण किये रहती हैं कि आँधी में उड़ते हुए पत्तों की तरह अगणित मानवों को उसमें बहुत कुछ करने के लिए विवश होना पड़ता है। राम अकेले ने अपने युग की असुरता को नहीं मिटा दिया था वरन् उसके लिए अगणित मनुष्यों तक ने ही नहीं असंख्य पशु-पक्षियों तक ने, रीछ वानर, गिलहरी जैसे छोटे-छोटों ने भी अपने प्राण हथेली पर रखकर बहुत कुछ कर दिखाया था। अन्य सब अवतारों के कथा प्रसंग भी इसी प्रकार के हैं। गाँधी युग की राजनैतिक क्रांति को भी हम देख चुके हैं, उसकी सफलता का श्रेय किन्हे मिला इसका कोई महत्व नहीं, वस्तुस्थिति यह है कि राजनैतिक दासता के विरुद्ध स्वाधीनता प्राप्त करने की जनभावनाएँ उग्र हो उठीं और उन्होंने सब कुछ उलट-पलट करके रख दिया।

बाह्य आडम्बरों को बढ़ाने की प्रतिक्रियाओं ने हमें भीतर-ही-भीतर खोखला बना दिया है। जिन विडम्बनाओं ने हमारी आंतरिक शांति का बुरी तरह अपहरण किया है, अब उन्हें बदल डालना ही उचित है। आंतरिक उल्लास और आत्मबल उत्पन्न करने वाली प्रणाली को अपनाने से

बाहरी प्रवंचनाएँ यदि कुछ घटानी पड़ती हैं तो उसमें चिंता की कोई बात नहीं है। शरीर का महत्व घटता हो और आत्मा का गौरव बढ़ता हो तो हमें आत्मा के पक्ष में ही अपना अभिमत प्रकट करना चाहिए।

शांति का स्रोत सज्जनता में है। नैतिकता एवं मानवता के उच्च आदर्शों को अपनाकर जीवन की गतिविधियाँ निर्धारित करने से ही मानव-प्राणी सुख-शान्ति से जीवनयापन करता हुआ अपने शास्वत लक्ष्य की पूर्ति कर सकने में समर्थ हो सकता है। इस तथ्य को हमें समझना और हदयंगम करना ही पड़ेगा। शांति का, समृद्धि का इससे अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। निजी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक उलझनों ने हमें बुरी तरह जकड़ रखा है, उसकी गाँठें एक-एक करके नहीं खुलेंगी, इन बंधनो को बाँधने वाली रस्सी को ही पूरी तरह काटना होगा। असुरता की नीति को अपनाकर हमने विपत्तियों को आमंत्रित किया है, मानवता के आदर्शों को अपनाकर हम उनसे छुटकारा भी प्राप्त कर सकते हैं।

जिस आनन्द और उल्लास की दिव्य अनुभूति के लिए यह मानव जीवन मिला है उसी के अनुरूप परिस्थितियाँ भी परमात्मा ने इस संसार में प्रस्तुत कर रखी हैं। इस सहज सुविधा के लाभ से हम अपने उलटे दृष्टिकोण के कारण ही वंचित हैं। जीवन-नीति बदलने से यहाँ की हर परिस्थिति बदल सकती है। उल्टे दृष्टिकोण ने ही यहाँ वातावरण उलटा कर रखा है। सीधी रीति-नीति अपना ली जाय तो सब कुछ सीधा हो सकता है। उलटे का सीधा करने का परिवर्तन सफल होने पर युग परिवर्तन के दृश्य आँखों के समाने प्रस्तुत होने में देर न लगेगी। पशुता का परित्याग कर मानवता को स्वीकार करने से यह संसार नरक न रहकर स्वर्ग बनेगा। चिंताओ, व्यथाओं और विक्षोभों की आग में जलने वाला मानव यदि अपनी जीवन-नीति में आवश्यक सुधार कर ले तो यहाँ सब कुछ स्वर्ग के समान ही आनंद और उल्लास से परिपूर्ण दिखाई पड़ेगा। ऐसे परिवर्तन प्रस्तुत करने के लिए ही युग-निर्माण योजना की प्रक्रिया प्रस्तुत हुई है, इसके पीछे विश्वमानव की अकुलाहट, समय की पुकार एवं ईश्वरीय प्रेरणा का आवश्यक प्रकाश सन्निहित होने के कारण सफलता तो निश्चित ही है। इसकी असफलता एवं असंभव होने की बात तो किसी को सोचनी भी नहीं चाहिए।

नव-निर्माण की पृष्ठभूमि और आधार

युग-निर्माण का अर्थ है- जनमानस का भावनात्मक परिष्कार। पेड़, पहाड़, नदी, समुद्र, आकाश, तारे सब नवयुग मे भी आज की तरह ही रहेंगे। लोगों की खाने-सोने की प्रक्रिया भी ऐसी ही रहेगी। आँखों से दीखने वाला परिवर्तन नगण्य-सा ही होगा, पर लोगों की विचारणा आकांक्षा, कार्य-पद्धति एवं नीति-रीति में आमूल-चूल परिवर्तन प्रस्तुत होगा। अगले दिनों आदमी उस तरह नहीं सोचेगा जिस तरह आज सोचता है। उन प्रयोजनों के लिए पुरुपार्थ न करेगा जिनके लिए आज करता है। इस अन्तरंग परिवर्तन का बहिरंग परिस्थितियों पर प्रभाव प्रत्यक्ष परिलक्षित होगा, एक-दूसरे के प्रति सेवा-सद्भावना का, उदारता आत्मीयता का, भाव रखेंगे तो सहयोग और स्नेह का विस्तार सर्वत्र सुख-शान्ति की अभिवृद्धि करता चला जायगा। दुर्भावनाओं ने इस धरती को नरक बनाया है, इस स्थिति को बदलना सद्भावनाओं की स्थापना से सद्भावनों की प्रतिष्ठापना से ही सम्भव होगा।

यह परिवर्तन प्रयोजन दो आधारों पर निर्भर है। एक धर्म-तन्त्र का सदुपयोग, दूसरा जाग्रत आत्माओं का नव-निर्माण के लिए प्रथक-प्रयास । इन्हीं दो प्रयोजनों को लेकर युग निर्माण आन्दोलन का ढाँचा खड़ा किया गया है

राजसत्ता और धर्म सत्ता में ही वह शक्ति है जिसके आधार पर व्यक्ति को, समाज को बदला जा सकता है। राजसत्ता में लोभ और भय प्रस्तुत कर सकने की क्षमता है। इस आधार पर लोगों को प्रभावित करना और उनके क्रिया कलापो को बदलना संभव होता है। धर्मसत्ता की शक्ति मानवीय अन्तःकरण में उन दिव्य प्रेरणाओं का संचार करती है जिससे व्यक्ति अपने आप ही अपने को, अपनी गतिविधियों को, बदलता है। बिना किसी बाहरी दबाव या प्रयास के मनुष्य अपने आप अपनी भावनाओं के आधार पर अपने को बदल ले यह क्षमता धर्म के अतिरिक्त और किसी तत्व में नहीं है।

धर्म की परिभाषा में अध्यात्म दर्शन, नीतिशास्त्र, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान के वे सभी तथ्य जुड़े हुए हैं जो व्यक्ति को उत्कृष्ट चिन्तन एवं आदर्श कर्तृत्व अपनाने के लिए विवश करते हैं। यही वह माध्यम है जिसके आधार पर व्यक्ति और समाज के स्तर में उच्चस्तरीय परिष्कार प्रस्तुत किया जा सकता है।

युग परिवर्तन के लिए लोक-शिक्षण आवश्यक है। इसके लिए लोक-मंगल का प्रयोजन पूरा कर सकने वाले अनेक रचनात्मक कार्य करने पड़ेंगे पर उनका संचालन जाग्रत आत्माओं द्वारा आदर्शवादी सद्भाव सम्पन्न लोगों द्वारा हो सकेगा। शिल्प, उद्योग जैसी भौतिक शिक्षाएं तो वाकचातुर्य द्वारा दी जा सकती हैं, मस्तिष्कीय प्रतिभा से उस संदर्भ में बहुत कुछ हो सकता है पर जहाँ तक किसी के दृष्टिकोण एव अन्तःकरण को बदलने का प्रश्न है वहाँ तक केवल उन्हीं की उपयोगिता रह जाती है जो स्वयं अपने आपको बदल एवं सुधार चुके हैं। आग से आग जलती है। रेत से चिनगारियाँ उत्पन्न नहीं की जा सकती हैं। भावनात्मक नव-निर्माण उन्हीं के द्वारा सम्भव है जो अपने आपको परिष्कृत बना चुके हैं। अस्तु, नवयुग की भूमिका सम्पादन कर सकना केवल जाग्रत, जीवित और कर्तव्यनिष्ठ लोगों द्वारा ही सम्भव होगा।

इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए पिछले कई वर्षों में अनवरत यह प्रयत्न किया जाता रहा है कि धर्म तत्व के जानकार ही नहीं, वरन् उसे अपने जीवनक्रम में उतार लेने वाली जाग्रत आत्माओं को ढूँढ़ा, पकड़ा और संघबद्ध किया जाय। यही इस महान मिशन का शुभारम्भ । १९५६ में गायत्री तपोभूमि, मथुरा में सहस्र कुण्डी गायत्री महायज्ञ किया गया। यह धर्मानुष्ठान अतीत में होने वाले उन वाजपेय यज्ञों की शृंखला का था जिनमें सुदूर क्षेत्रों के धर्मप्रेमी एकत्रित होकर तत्कालीन नैतिक एवं समाजिक परिस्थितियों पर विचार करते थे, उनके हल खोजते थे। प्रयत्नपूर्वक प्रायः ४ लाख भावनाशील धर्मप्रेमी इस अवसर पर एकत्रित हुए । जप-आहुतियों के धर्मानुष्ठान के साथ-साथ उस अवसर पर धर्मतन्त्र का वह ढाँचा खड़ा किया गया, जिससे सामयिक विपन्नता में आमूल-चूल परिवर्तन किया जा सके। साथ ही उसी अवसर पर ऐसे लोगों को संघबद्ध कर लिया गया जो अपने-अपने धर्मप्रेम से व्यक्ति और समाज को ऊँचा उठाने के प्रयासों को धर्म-धारणा का ही एक अंग मानते थे। युग निर्माण परिवार के गठन और उस की कार्यपद्धति का निर्धारण उसी अवसर पर हुआ ।

वह प्रक्रिया क्रमबद्ध रूप से आगे बढ़ी चलती आई। धर्मतन्त्र के माध्यम से नवनिर्माण की गतिविधियों का विस्तार करने का उद्देश्य सामने रखकर देश के कोने-कोने में वैसे ही वाजपेय यज्ञ-गायत्री यज्ञों के रूप में सम्पन्न किये गये। फलस्वरूप धर्मप्रवृत्तियों के रचनात्मक प्रयोजन के लिए अधिकाधिक गतिविधियाँ अग्रसर होती गईं और उस प्रकार के प्रयास को पसन्द करने वाले कार्यकर्ता बड़ी मात्रा में संघबद्ध होते गये। आज जो विशाल युगनिर्माण परिवार हजारों शाखाओं और लाखों सदस्यों के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है वह उसी क्रिया-कलाप का परिणाम है।

जो एक बार इस परिवार में सम्मिलित हुआ वह सदा के लिए उसके आत्मीयता के बन्धनों में बँध गया । मिशन का न केवल लक्ष्य ऊँचा था वरन् उसकी कार्य-पद्धति की उपयोगिता भी असंदिग्ध थी। भारतीय जनता की परम्परागत मनोभूमि को देखते हुए इससे अच्छा कार्यक्रम दूसरा बन ही नहीं सकता। इन तथ्यों के अतिरिक्त और भी आकर्षक बात यह है कि इस संगठन को संस्था प्रक्रिया के ढाँचे में नहीं वरन् परिवार के ढाँचे में ढाला गया है।

परिवार में सम्मिलित होने वालों को इस मिशन के संचालकों का व्यक्तिगत रूप से जो स्नेह, सद्भाव, सहयोग परामर्श प्राप्त होता रहा वह घनिष्टता और अन्ततः आन्दोलन की सक्रियता के रूप में विकसित होता रहा, यह विशेषता अन्य आन्दोलनों में यदा-कदा ही देखने को मिलती है।

बंकिम बाबू का प्रसिद्ध उपन्यास 'आनंद मठ' अँग्रेजी सरकार ने जब्त किया था। उसमें एक क्रान्तिकारी योजना थी। कुछ सन्तों ने मिलकर क्रांतिकारी आन्दोलन सँभाला। साधु के रूप में धर्म प्रचार भी किये थे, साथ ही देश में स्वतन्त्रता की आग भी भड़काते थे। अपने इस प्रयोजन के लिए उन्हें भारी त्याग भी करने पड़े और कष्ट भी सहने पड़े। किन्तु उन्होंने अपने उद्देश्य में भारी सफलता प्राप्त की।

आनन्द मठ की योजना का बीज यदि किसी को विकसित रूप में देखना हो तो उसे युग निर्माण योजना द्वारा धर्ममंच के माध्यम से नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रान्ति की दिशा में किये गये असाधारण कार्यों को देखना चाहिए और इस आन्दोलन का मूल्यांकन करना चाहिए। वस्तुतः भारतीय जनता के लिए यही माध्यम उपयुक्त है। शिक्षा का अभाव, छोटे देहातों में यातायात साधनों से रहित आबादी, पिछड़ेपन का वातावरण, इस स्थिति में राजनीति, अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र आदि के आधार पर यदि कुछ कहा-समझा जाय तो ८० प्रतिशत जनता इसे हृदयंगम नहीं कर सकेगी। इस देश का बौद्धिक आधार धार्मिकता से जुड़ा हुआ है, इस आधार पर कुशल मार्गदर्शक कुछ भी तथ्य इस पिछड़े वर्ग के मनों पर उतार सकते हैं। रामायण, भागवत, गीता, पुराण आदि का सहारा लेकर इस देश की अधिकांश जनता के मन में महत्वपूर्ण तथ्यों को जिस खूबी के साथ बिठाया जा सकता है उतना और किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता।

गाँधी जी इस मर्म को जानते थे, उनने भारतीय जनता की नाड़ी देखी थी। उन्होंने स्वतन्त्रता आन्दोलन को एक प्रकार से धार्मिक आन्दोलन जैसा रूप दिया था। वे स्वयं संत महात्मा के कलेवर में थे। राम राज्य, धर्म राज्य, गौरक्षा, कीर्तन, सत्य-अहिंसा जैसे धार्मिक तथ्यों को उन्होंने अपने आन्दोलन में जोड़ा था, यही कारण था कि भारतीय इतिहास में सबसे व्यापक और सफल गाँधी जी द्वारा संचालित सत्याग्रह आन्दोलन ही माना गया है। यदि उसमें धार्मिकता का पुट न रहा होता विशुद्ध राजनीति के आधार पर कदम बढ़ाये गये होते तो उसे इतनी सफलता मिलना सर्वथा संदिग्ध था।

भारत का असली स्वरूप हमारी आँखों के सामने रहना चाहिए। यहाँ लगभग ७७ प्रतिशत अशिक्षित हैं और ८० प्रतिशत लोग छोटे देहातों में रहते हैं। इस स्तर की जनता को उसकी परम्परागत मनोभूमि-धर्मरुचि के सहारे ही उतना प्रभावित किया जा सकता है जिसमें वे अपनी अवांछनीय गतिविधियों और अनुपयुक्त मान्यताओं को बदलने के लिए तैयार हो सकें।

यही सब तथ्य हैं जिनके आधार पर, व्यक्ति-निर्माण, परिवार-निर्माण और समाज-निर्माण की गतिविधियों को अग्रगामी बनाने के लिए नवयुग आन्दोलन की आधार-शिला रखी गयी है तथा धर्मतन्त्र के कलेवर का सहारा लिया गया है और उसे अग्रगामी बनाने के लिए ऐसे भावनाशील लोग ढूँढ़-ढूँढ़ कर निकाले गये हैं- संघबद्ध किये गये हैं जो विश्व मानव की सेवा को ईश्वर की

उपासना मानते हैं। लोकमंगल के प्रयास में धर्म-निष्ठा की सार्थकता जोड़ते हैं। यही है युग-निर्माण योजना, उसकी कार्यपद्धति और साधन-सामिग्री। जिसके आधार पर नवयुग के आगमन का, मनुष्य में देवत्व के उदय का, धरती पर स्वर्ग के अवतरण का स्वप्न देखा गया है। प्रसन्नता यह है कि विगत कई वर्षों के प्रयास ने इस स्वप्न को साकार बना कर सामने खड़ा कर दिया है।

नव-निर्माण की तैयारी

परिवर्तन का आधार मन है, मन की मलीनता और समाजगत बुराइयाँ एवं कुरीतियाँ इसलिए टिकी और बढ़ी हैं क्योंकि उनका पोषक वातावरण चारों ओर बना रहता है। मन एक दर्पण की तरह है उस पर जैसी छाया पड़ती है वैसा ही प्रतिबिम्ब दीखने लगता है। हमारे चारों ओर जिस प्रकार के विचार और कार्य फैले होते हैं उसी का प्रभाव ग्रहण करके अपनी प्रवृत्तियाँ भी उसी ओर मुड़ने लगती हैं। बुरा व्यक्ति दूसरे अनेक को अपनी बुराइयाँ सिखा लेता है। व्यभिचारी, नशेबाज, दुर्व्यसनी अपनी आदतों को कितने ही लोगों को सिखा देते हैं। कुविचारों को फैलाने के अगणित माध्यम आज मौजूद है। अश्लीलता, कामुकता, व्यभिचार, उच्छृंखलता को प्रोत्साहन देने वाली पुस्तकों, तस्वीरों, गीतों, पत्र-पत्रिकाओं, फिल्मों की आज भारी धूम है, उनका आकर्षक एवं व्यापक प्रचार जन-साधारण के भोले मस्तिष्कों को प्रभावित करके उन्हें अपने चंगुल में जकड़ लेता है और लोगों के मन बुराइयों की ओर झुक पड़ते हैं।

बुरे आदमी बुराई के सक्रिय सजीव प्रचारक होते हैं। वे अपने आचरणों द्वारा बुराइयों की शिक्षा लोगों को देते हैं। उनकी कथनी और करनी एक होती है। जहाँ भी ऐसा सामंजस्य होगा उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। हममें से कुछ लोग धर्म-प्रचार का कार्य करते हैं पर वह सब कहने भर की बातें होती हैं। इन प्रचारकों की कथनी और करनी में अन्तर रहता है। यह अन्तर जहाँ भी रहेगा वहाँ प्रभाव क्षणिक रहेगा । सच्चे धर्म प्रचारक जिनकी कथनी और करनी एक रही है अपने अगणित अनुयायी बनाने में समर्थ हुए हैं। बुद्ध, गाँधी, तिलक, कबीर, नानक आदि की कथनी और करनी एक थी, वे अपने आदर्शों के प्रति सच्चे थे, इसीलिए अगणित व्यक्ति उनका अनुकरण करने वाले, उनके आदर्शों पर बड़े से बड़ा त्याग करने वाले, प्रस्तुत हो गये थे। आज अच्छाइयों के सच्चे एवं आदर्श प्रचारक नहीं हैं। बुराइयों के आस्थावान प्रचारक मौजूद हैं, वे बुरे काम करते हैं, बुराइयाँ सिखाते हैं, पर ऐसे धर्म प्रचारक कहाँ हैं जो अपने आचरणों से दूसरों को शिक्षा और प्रेरणा प्रदान करें। जहाँ थोड़े बहुत सच्चे लोग हैं वहाँ प्रभाव भी पड़ रहा है। हजारों मील से आकर विदेशी ईसाई मिशनरी भारत में ईसाई धर्म का प्रचार पूरी आस्था और लगन के साथ कर रहे हैं फलस्वरूप गत वर्षों में ही लाखों की संख्या में लोगों ने हिन्दू धर्म का परित्याग कर ईसाई धर्म की दीक्षा ली है।

सदविचारों की उपयोगिता और आवश्यकता

हमारा शरीर आहार के आधार पर बनता और बिगड़ता है। इसी प्रकार मन का बनाव और बिगाड़ विचारों पर निर्भर रहता है। सद्विचारों के सम्पर्क में आये बिना कोई व्यक्ति उसी प्रकार मानसिक स्वच्छता प्राप्त नहीं कर सकता जिस प्रकार आहार की सुव्यवस्था किये बिना शरीर को बलवान बना सकना संभव नहीं होता। मन तभी स्वच्छ रह सकता है जब उसे सद्विचारों का सान्निध्य मिले। मानसिक स्वच्छता के लिए स्वाध्याय और सत्संग की आवश्यकता उसी प्रकर है जिस प्रकार बर्तन को माँजने के लिए मिट्टी और पानी की उपयोगिता होती है। सद्विचारों का प्रसार जब कम हो जाता है और कुविचारों का विस्तार बढ़ जाता है तब स्वभावतः जनमानस में मलीनता छा जाती है और पाप- तापों का, क्लेश-कलह का, रोग-शोक का वातावरण पनपता, दृष्टिगोचर होने लगता है। मनुष्य के भीतरी मन की बुराइयाँ उसके सामने विपत्ति बन कर आ खड़ी होती हैं कुएँ की प्रतिध्वनि की तरह हमें अपनी भावनाओं के अनुरूप ही दूसरों का प्रत्युत्तर मिलता है। जैसे हम स्वयं हैं वैसी ही दूसरे भी दीखते हैं। स्वभावतः वे वैसे नहीं तो कम से कम हमारे लिए तो वैसे बन ही जाते हैं। अपना क्रोधी स्वभाव हो और दूसरों से झगड़ते रहने की आदत पड़ जाय तो उसके फलस्वरूप दूसरे लोग जो भले ही स्वभावतः क्रोधी न हों हमारे आचरण से क्षुब्ध होकर कुछ देर के लिए तो क्रोधी बन ही जाते हैं। चोर, व्यभिचारी, बेईमान, असभ्य, अकर्मण्य मनुष्य के सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति कुछ देर तक तो घृणा और क्षोभ प्रकट करेंगे ही। मन का मलीन मनुष्य कुढ़न का अभिशाप भोगता है। अपनी सारी श्रेष्ठतायें खोकर निम्न स्तर का बन जाता है। मित्रों को शत्रु रूप में बदल लेता है, लोक-परलोक तो उसके बिगड़ते ही हैं। उतनी हानिकारक मन की मलीनता हमारे लिए सर्वथा त्याज्य है। वैयक्तिक और सामूहिक सारे संघर्ष इसी पर ठहरे हुए हैं। पापों की जड़ यही हैं इसे काट दिया जाय तो वे कँटीली झाड़ियाँ जो पग-पग पर दुःख देती हैं नष्ट हो सकती हैं।

सभ्य समाज की श्रेष्ठता

समाज में सभ्यता के, सहयोग के, स्वस्थ परम्पराओं के, न्याय और सदाचार के आधारों को पनपने का अवसर उत्पन्न करना युग-निर्माण योजना का तीसरा लक्ष्य है । फूट, अलगाव, असहयोग, अनुदारता, स्वार्थपरता, छीना, झपटी, संकीर्णता, शोषक, अपहरण की प्रवृत्तियाँ जब तक

मौजूद हैं तब तक सदाचार और नैतिकता का पालन कैसे संभव हो सकता है? व्यक्तिगत स्वार्थपरता और संकीर्णता जितनी छोटी होगी उतने ही संकट पैदा करेगी। सम्प्रदायिकता, जातीयता, प्रान्तीयता, भाषावाद आदि के नाम पर कितने संघर्ष और क्लेश पैदा होते हैं यह किसी से छिपा नहीं है। सामाजिक कुरीतियों की अन्धपरम्परा में कितना समय, श्रम और धन बर्बाद होता है उसे कौन नहीं जानता ? उच्छृंखलता, गुन्डागर्दी, अपराधी प्रवृत्ति के दुष्ट-दुराचारी लोग किस प्रकार शान्ति-प्रिय लोगों को सताते हैं। यह सर्वविदित है। इन बुराइयों से जो समाज जितना ग्रसित होगा। वह उतना ही दुःख पावेगा । इस दृष्टि से भी हमारी स्थिति दयनीय है। सभ्य, शिष्ट, संगठित, सदाचारी समाज अभी हमारा कहाँ बन पा रहा है?

यह परिस्थितियाँ इस रूप में ही नहीं रहने दी जा सकतीं। इनका सुधार और परिवर्तन होना ही चाहिए। हमें ऐसा वातावरण उत्पन्न करना होगा। जिसमें व्यक्तिगत रूप से जनमानस में स्वच्छता और सामूहिक रूप से लोक-मानस में सभ्यता का संचार हो। स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज की स्थापना के लिए यों अनेक कार्यक्रम हो सकते हैं और उनके विविध-विधि आयोजन समय-समय पर करने भी होंगे पर सबसे पहला कार्य है इन तथ्यों से जनसाधारण को परिचित कराना, उनकी उपयोगिता एवं आवश्यकता समझाना। बीज तभी उगता है जब जड़ जमने के उपयुक्त उसे जमीन प्राप्त हो। ऊसर जमीन में अच्छा बीज भी कहाँ उग पाता है? आज लोगों की मनोभूमि ऊसर बनी हुई है, न उसमें इच्छा है, न आकांक्षा, न उत्साह, ऐसे अर्द्ध मूर्छित मन वाली जनता के सामने कोई कार्यक्रम रखे जायें तो वह उन्हें कहाँ सुनेगा, कैसे अपनावेगा ?

पहले भूमि तैयार करनी पड़ेगी

युग-निर्माण की दिशा में हमें पहला कार्य एक ही करना होगा कि जन-मानस में स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज के निर्माण की आवश्यकता अनुभव करावें। लोगों को यह बतावें कि इन विभूतियों के बिना मानव जीवन निरर्थक जैसा है, ऐसे अविकसित जीवन में साँसों की गिनती पूरी करने में क्या सार है? यदि जीना है तो इंसान की तरह क्यों न जियें यदि मनुष्य का सुदुर्लभ शरीर पाया है तो इसे सार्थक क्यों न करें ? बीमार शरीर, मलीन मन, पतित समाज में रहना नरक के समान दुःखदायी हो रहा है। सो जब उसे बदल सकना संभव है तो उस संभावना को सार्थक क्यों न किया जाय इस प्रकार के प्रश्न जब जन-मानस के अन्तःकरण में उठने लगेंगे तो वह कुछ सोचने और कुछ करने के लिए भी तत्पर होगा। ऐसा जन-जागरण ही हमारा आज का प्रधान कार्य होना चाहिए।

योजना और कार्यक्रम

भूख और प्यास से पीड़ित रहने वाला प्राणी दिन-दिन दुर्बल होता जाता है और कुछ ही दिन में वह मरणासन्न स्थिति तक जा पहुँचता है। आत्मा को ज्ञान की भूख और दान की प्यास रहती है। यही उसका अन्न-जल है। इनके न मिलने से अन्तस्तल का दुर्बल और रुग्ण होना स्वाभाविक है। यही दुर्बलता और रुग्णता बाह्य-जीवन में अज्ञान, दारिद्र, रोग, कुसंस्कार, दुर्भाग्य, अनीति आदि रूप धारण करके हमारे लिए विविध-विधि पीड़ा एवं यातनाएँ प्रस्तुत करती रहती हैं। गाय को तिलतिल सताकर भूखा मारने वाला दुष्ट व्यक्ति, छुरी फेर कर जल्दी ही गला काट देने वाले कसाई से अधिक नृशंस माना जाता है। आत्म-हत्यारे अनेक प्रकार के होते हैं पर सब में बुरे वे हैं जो आत्मा को भूख और प्यास से तरसा-तरसा कर मारते हैं। गौ-हत्यारे 'कलंकी' कहलाते हैं, इन आत्म-हत्यारों को क्या कहा जाना चाहिए। वैसा शब्द ढूँढ़ने से ही मिलेगा।

आत्मा की भूख और प्यास

हमने अपनी आत्माओं को उसकी स्वाभाविक भूख 'ज्ञान' और स्वाभाविक प्यास 'दान' से वंचित रखा है उसी का परिणाम हमारे व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन में गतिरोध शीत-युद्ध एवं संकटकालीन स्थिति जैसी सामने उपस्थित है। जीवन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाने वाला सच्चा ज्ञान हमें कहाँ मिलता है? ज्ञान के नाम पर न जाने क्या-क्या अलाय-बलाय हम पढ़ा करते हैं। पर ऐसी वस्तुएँ ढूँढ़े तक नहीं जो हमारी आज की हीन स्थिति से एक कदम ऊँचा उठाने का व्यावहारिक मार्गदर्शन करें, प्रत्यक्ष प्रकाश प्रदान करे । न तो ऐसा साहित्य दिखाई पड़ता है और न ऐसा सत्संग। यदि कहीं हो भी तो उसमें अत्यधिक रोचक, भयानक, अभिव्यक्तियाँ न रहने से लोग उसे तलाश नहीं करते, पसंद नहीं करते। इसी प्रकार दान की समस्या है। दान के नाम पर हर रोज ही जेब कटाते रहते हैं पर जिसे मानव अन्तरात्मा की सत्प्रवृत्तियों में अभिवृद्धि हो या गिरे हुओं को, पीड़ितों को ऊपर उठने का सहारा मिले ऐसा विवेकपूर्ण दान कौन करता है? दान के नाम पर हम ठगाते तो बहुत हैं पर सत्परिणाम की कसौटी पर कसकर कुछ खर्चा करने वाले कोई बिरले ही होते हैं।

सद्विचार और सत्प्रवृत्तियाँ

युग का अवसान सद्विचारों और सत्प्रवृत्तियों के घट जाने से होता है, उसका निर्माण-कार्य इन दोनों की अभिवृद्धि से ही संभव है। बाह्य-जगत में कोई चीज तभी आती है जब वह मनोभूमि में गहराई तक जड़ जमा लेती है। हमारी मनोभूमि में दूषित प्रकार के विचार और विश्वास गहराई तक जम गये हैं, यदि इनका उन्मूलन हो

उपासना मानते हैं। लोकमंगल के प्रयास में धर्म-निष्ठा की सार्थकता जोड़ते हैं। यही है युग-निर्माण योजना, उसकी कार्यपद्धति और साधन-सामिग्री। जिसके आधार पर नययुग के आगमन का, मनुष्य में देवत्व के उदय का, धरती पर स्वर्ग के अवतरण का स्वप्न देखा गया है। प्रसन्नता यह है कि विगत कई वर्षों के प्रयास ने इस स्वप्न को साकार बना कर सामने खड़ा कर दिया है।

नव-निर्माण की तैयारी

परिवर्तन का आधार मन है, मन की मलीनता और समाजगत बुराइयाँ एवं कुरीतियाँ इसलिए टिकी और बढ़ी हैं क्योंकि उनका पोषक वातावरण चारों ओर बना रहता है। मन एक दर्पण की तरह है उस पर जैसी छाया पड़ती है वैसा ही प्रतिबिम्ब दीखने लगता है। हमारे चारों ओर जिस प्रकार के विचार और कार्य फैले होते हैं उसी का प्रभाव ग्रहण करके अपनी प्रवृत्तियाँ भी उसी ओर मुड़ने लगती हैं। बुरा व्यक्ति दूसरे अनेक को अपनी बुराइयाँ सिखा लेता है। व्यभिचारी, नशेबाज, दुर्व्यसनी अपनी आदतों को कितने ही लोगों को सिखा देते हैं। कुविचारों को फैलाने के अगणित माध्यम आज मौजूद हैं अश्लीलता, कामुकता, व्यभिचार, उच्छृंखलता को प्रोत्साहन देने वाली पुस्तकों, तस्वीरों, गीतों, पत्र-पत्रिकाओं, फिल्मों की आज भारी धूम है, उनका आकर्षक एवं व्यापक प्रचार जन-साधारण के भोले मस्तिष्कों को प्रभावित करके उन्हें अपने चंगुल में जकड़ लेता है-और लोगों के मन बुराइयो की ओर झुक पड़ते हैं।

बुरे आदमी बुराई के सक्रिय सजीव प्रचारक होते हैं। वे अपने आचरणों द्वारा बुराइयों की शिक्षा लोगों को देते हैं। उनकी कथनी और करनी एक होती है। जहाँ भी ऐसा सामंजस्य होगा उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। हममें से कुछ लोग धर्म-प्रचार का कार्य करते हैं पर वह सब कहने भर की बातें होती हैं। इन प्रचारकों की कथनी और करनी में अन्तर रहता है। यह अन्तर जहाँ भी रहेगा वहाँ प्रभाव क्षणिक रहेगा। सच्चे धर्म प्रचारक जिनकी कथनी और करनी एक रही है अपने अगणित अनुयायी बनाने में समर्थ हुए हैं। बुद्ध, गाँधी, तिलक, कबीर, नानक आदि की कथनी और करनी एक थी, वे अपने आदर्शों के प्रति सच्चे थे, इसीलिए अगणित व्यक्ति उनका अनुकरण करने वाले, उनके आदर्शों पर बड़े से बड़ा त्याग करने वाले, प्रस्तुत हो गये थे। आज अच्छाइयों के सच्चे एवं आदर्श प्रचारक नहीं हैं। बुराइयों के आस्थावान प्रचारक मौजूद हैं, वे बुरे काम करते हैं, बुराइयाँ सिखाते हैं, पर ऐसे धर्म प्रचारक कहाँ हैं जो अपने आचरणों से दूसरों को शिक्षा और प्रेरणा प्रदान करें। जहाँ थोड़े बहुत सच्चे लोग हैं वहाँ प्रभाव भी पड़ रहा है। हजारों मील से आकर विदेशी ईसाई मिशनरी भारत में ईसाई धर्म का प्रचार पूरी आस्था और लगन के साथ कर रहे हैं फलस्वरूप गत वर्षों में ही लाखों की

आग से आग जलेगी

'अखण्ड-ज्योति' आपके पास पहुँचती ही है। इन दिनों जो अंक उसके निकल रहे हैं तथा आगे निकलेंगे उनमें जीवन को निर्माण करने वाला तत्व बहुत कुछ है। उसे हृदय की स्याही में डुबोकर प्राणमय भाषा में, पूरे मनोयोग से लिखा जा रहा है। उसमें जीवन एवं प्रकाश की मात्रा मौजूद है। आगे जैसे-जैसे अपनी गतिविधियाँ तीव्र होंगी यह आग और भी अधिक तीव्र होगी। इन अंकों को अधिकाधिक लोगों को पढ़ाया जाना चाहिए। पत्रिका पहुँचे तो उसे उलट-पुलट कर एक कोने में न पटक दिया जाना चाहिए वरन् स्वयं कम से कम दो बार उसे पढ़ें और अपने प्रभाव-क्षेत्र के जिन-जिन शिक्षितों के नाम अपनी डायरी में नोट किये थे, उनके यहाँ जाकर इन अंकों एवं लेखों का महत्व समझाते हुए पढ़ने को दिया जाय, फिर एक बार लेने जाया जाय। अंक देने और लेने के निमित्त दो बार हर माह जिनसे मिला जाय उसे अंक में प्रस्तुत विचारों के ऊपर कुछ चर्चा भी की जाय। चर्चा और पठन दोनों बातों के मिलने से स्वाध्याय और सत्संग की दुहरी आवश्यकता पूरी होती है। यह दोनों ही लाभ घर बैठे पहुँचाने का धर्म-कार्य, किसी भी श्रेष्ठ कार्य से कम महत्वपूर्ण नहीं है। समय दान का यह छोटा-सा काम कुछ ही दिन बाद अपना जादू जैसा असर उपस्थित करेगा और जिनको सेवा दी जा रही है। उनके विचारों में भारी परिवर्तन आरम्भ होगा।

युग-निर्माण की विचारधारा पर अत्यन्त सस्ती, सुन्दर, एवं प्रभावपूर्ण पुस्तिकाओं की एक सीरीज प्रस्तुत की गयी है- हमारे भीम और हनुमान जैसे जंगी शरीरों को जिस असंयम ने बर्बाद कर दिया उनके विरुद्ध हमारे मन में रोष है, इस असंयम के शासन का उन्मूलन करने के लिए परशुराम जैसा कुठार तेज किया जा रहा है। हमारे हरिश्चन्द्र, भरत, कपिल, कणाद जैसे चरित्र एवं आदर्शों को जिन्होंने नष्ट करके चालाक, बेईमान, विलासी और स्वार्थ रत नरपशुओं में बदल दिया उन कुविचारों की असुरता पर प्रहार करने के लिए दधीच की हड्डियों का बज्र बनाया जा रहा है। हमारे प्रेम, स्नेह, ममता, आत्मीयता, उदारता और सहयोग से ओत-प्रोत देव समाज को जिस अन्ध तमिस्रा की लंका ने कैद कर लिया, पतित और पददलित किया उसका अन्त अब निकट है। उस लंका दहन के लिए हनुमान की पूँछ तेल भीगे कपड़ों से लपेटी ही जा रही है। यह दुर्बुद्धि जिसने हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के आदर्श एवं उत्कर्ष को गिराया है। उसके लिए हमारे मन में बड़ा क्षोभ है। यह क्षोभ जलती आग की तरह जब बाहर निकलेगा तो वे दुष्टताएँ जो हमारे मनःक्षेत्रों में आज जमी बैठी हैं और किलोल कर रही हैं, देर तक न ठहर सकेंगी। उन्हें अपना स्थान छोड़ना ही पड़ेगा।

एक दीपक से, दस दीपक जलें

छोटी, सस्ती, सुन्दर, सुसज्जित एवं आग भरी पुस्तिकाओं की एक लम्बी सीरीज लिखी व प्रकाशित की जा चुकी है। अखण्ड ज्योति के सदस्य लोग शिक्षक की तरह अपनी डायरी में नोट किये नाम वाले व्यक्तियों को भी यथासमय पढ़ाते रहेंगे और उन विषयों पर चर्चा करते रहेंगे तो यह लोकशिक्षण का एक-विशाल कार्यक्रम चल पड़ेगा। २० हजार हम लोकशिक्षक यदि हर साल १० व्यक्तियों को यह विचारधारा पहुँचाने लगें और फिर उन दस व्यक्तियों में से भी कुछ व्यक्ति इस कार्य प्रणाली को अपना लें तो चक्रवृद्धि ब्याज के सिद्धान्त से अगले पाँच वर्षों में ही देश के कोने-कोने में यह शिक्षण पद्धति कार्यान्वित हो सकती है। हमारा सारा ही राष्ट्र इस युग-निर्माण विश्वविद्यालय के अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

शिक्षित वर्ग तक युग-निर्माण की विचारधारा को पहुँचाने का एक प्रभावशाली उपाय ऊपर बताया गया है पर पूरी योजना इससे अत्यधिक विशाल है। यह तो उसका एक अंश मात्र है। हमारे देश में अशिक्षित समाज शिक्षितों से कहीं अधिक बड़ा है, उसके लिए पढ़कर सुनाने, समझाने, सत्संग एवं प्रवचन की शैली ही कारगर हो सकती है। अपने घर में ही कई स्त्री बच्चे ऐसे होते हैं जो पढ़े-लिखे नहीं होते पर सुन-समझ तो वे भी सकते हैं। कथा, कहानियों, संस्मरणों एवं घटनाओं का मनोरंजक प्रसंग बनाकर बड़ी से बड़ी शिक्षाएँ, उनको हृदयंगम कराई जा सकती हैं। यह सुनाने, समझाने का गुण भी हमें अपने में पैदा करना पड़ेगा। संकोच, झिझक, झेंप, शर्म, बड़प्पन की बीमारियों को इस मार्ग में बाधक नहीं होने देना चाहिए। सत्कर्म में बाधा डालने वाले दुष्ट-दुर्जनों की तरह यह दुर्गुण भी बड़े बंधन सरीखे हैं, उन्हें भी तोड़-फोड ही डालना चाहिए। नारद जी भगवान का संदेश पहुँचाने के लिए घर-घर भक्ति का प्रचार कर सकते हैं, शंकराचार्य पैदल द्वार-द्वार पर धर्म का अलख जगा सकते हैं, मीरा भक्ति की निर्झरिणी बहाने के लिए यहाँ-वहाँ नाचती फिर सकती है तो क्या हम उनसे भी बड़े हैं, जो लोकशिक्षण में झिझकें, शरमावें, अपमान अनुभव करें। यह कार्य बड़प्पन को घटाने वाले नहीं, बढ़ाने वाले हैं। सन्निपात के मरीज की गाली सुनकर भी विचारशील डाक्टर अपना इलाज छोड़ते नहीं। बेवकूफों का उपहास एवं तिरस्कार हमें अपने पथ से विचलित क्यों कर सकेगा? अशिक्षितों को भी सद्विचारों की शिक्षा दी जा सकती है। उन्हें इकट्ठे करने के लिए कोई न कोई आकर्षक तरीका ढूँढ़ निकालना हर बुद्धिमान आदमी के लिए संभव हो ही सकता है।

सके और इनके स्थान पर सद्विचारों एवं उच्च-आदर्शों की प्रतिष्ठापना की जा सके। तो युग-परिवर्तन का कार्य कुछ भी कठिन न रहेगा। भावना और विचारधाराएँ जब आदर्शवाद से परिपूर्ण होंगी तो फिर अपना प्रत्येक कार्य भी उत्कृष्ट होगा और जहाँ उत्तम कार्यकलाप पनपता है, श्रेष्ठ गतिविधियाँ बढ़ती हैं, वहाँ स्वर्ग का राज्य पृथ्वी पर उतर आता है। सुख-शान्ति के सभी साधन वहाँ स्वयमेव प्रस्तुत हो जाते हैं।

हमें यही करना है। ज्ञान-यज्ञ ही अब हमारा अभियान है। लोक-शिक्षण के लिए हम सब कटिबद्ध होंगे। 'अखण्ड ज्योति' का बड़ा परिवार है, हममें से प्रत्येक दीपक जलाने को तत्पर होगा तो इस अन्धेरी रात में दीपावली का पुण्य-पर्व झिलमिलाने लगेगा। जिन कुविचारों ने हमारे शरीरों को चौपट कर रखा है, हमारे मनों को मलीन बना रखा है, हमारे समाज को विसंगठित एवं पतनोन्मुख बना रखा है, उन्हें बुहारकर बाहर फेंक देने के लिए हमें स्वच्छता-सैनिकों की तरह अपनी झाड़ सँभालनी पड़ेगी। अपनी गन्दगी हमें आप बटोरनी पड़ेगी, अपने दाँत हमें आप माँजने पड़ेंगे, अपना कमरा हमें आप झाड़ना पड़ेगा किसी दूसरे का आसरा क्यों तकें? अँग्रेजों को हमारी फूट ने बुलाया था। हमारे संगठन ने उन्हें भगा दिया। दुर्भावनाएँ और दुष्प्रवृत्तियाँ हमारी लापरवाही से पनपती रही हैं। जब उनके उन्मूलन का व्रत धारण कर लिया जायगा और उसके लिए एक प्राण, एक मन होकर जुट जाया जायगा तो ये कब तक ठहरेंगी? कहाँ तक ठहरेंगी?

विचार धारा का व्यापक विस्तार

हमारी पहली योजना यह है कि 'अखण्ड-ज्योति' का प्रत्येक सदस्य अब एक धार्मिक पत्रिका का पाठक मात्र न रहेगा वरन् वह एक लोकशिक्षक के रूप में अपना उत्तरदायित्व अनुभव करेगा। युग-निर्माण के लिए आवश्यक प्रकाश 'अखण्ड-ज्योति' प्रस्तुत करेगी वह एक बिजलीघर रूप में रहेगी और हम में से प्रत्येक एक बल्ब के रूप में प्रकाशित होकर अपने क्षेत्र में प्रकाश फैलावेगा। अज्ञान ही मानव जाति का सबसे बड़ा शत्रु है, इसी अन्धकार में नाना प्रकार के पाप पनपते हैं। उल्लू चमगादड़, सर्प, बिच्छू, कांतर, कानखजूरे अन्धेरे में ही बैठे रहते हैं। छछूँदर अपने दर्जन भर बच्चे का अन्धेरे में ही प्रसव करती है। प्रकाश के सामने उनका ठहरना बन नहीं पड़ता। दुर्बुद्धि की छछूँदर का परिवार भी अज्ञान के वातावरण में ही पनपता है। ज्ञान की मशाल जलाने पर अन्धेरा मिटेगा और उसके पीछे पोषण पाने वाला जंजाल भी किनारा कर जायगा।

धन दान नहीं, समय दान

धन का दान करने वाले बहुत हैं। धन के बल पर नहर सड़क बन सकती हैं। लोकमानस को उत्कृष्ट नहीं बनाया जा सकता। यह कार्य सत्पुरुषों के भावभूर्ण दान से ही सम्भव होगा। युग-निर्माण के लिए धन की नहीं, समय की, श्रद्धा की, भावना की, उत्कृष्ट की आवश्यकता पड़ेगी। नोटों के बन्डल यहाँ कूड़े-करकट के समान सिद्ध होंगे। समय का दान ही सबसे बड़ा दान है, सच्चा दान है। धनवान लोग अश्रद्धा एवं अनिच्छा रहते हुए भी मान, प्रतिफल, दबाव या अन्य किसी कारण से उपेक्षापूर्वक भी कुछ पैसे दान खाते फेंक सकते हैं, पर समय-दान केवल वही कर सकेगा जिसकी उस कार्य में श्रद्धा होगी। इस श्रद्धायुक्त समय-दान में गरीब और अमीर समान रूप से भाग ले सकते हैं। युग-निर्माण के लिए इसी दान की आवश्यकता पड़ेगी और आशा की जाएगी कि अपने परिवार के लोगों में से कोई इस दिशा में कंजूसी न दिखावेगा।

क्षेत्र हम स्वयं तलाश करें

अखण्ड ज्योति परिवार एक शिक्षक संघ के रूप में परिणत होने जा रहा है। लोक-मानस को प्रबुद्ध करने के लिए हममें से प्रत्येक को कुछ करना पड़ेगा। अपना क्षेत्र हम स्वयं तलाश करें। अपने मित्रों, स्वजनों, सम्बन्धियों, परिचितों, परिजनों तथा स्त्री, बच्चों पर कटाक्ष नजर डालकर हम देखें उनमें से कौन-कौन हमसे सहानुभूति रखते हैं, किस-किस की हमारे प्रति आदरबुद्धि है, कौन हमारी बात को ध्यानपूर्वक सुन सकेंगे? आरम्भ में ऐसे लोगों की एक सूची अपनी डायरी में नोट कर लेनी चाहिए और यह निश्चय करना चाहिए कि इन्हें युग-निर्माण की विचारधारा से परिचित एवं प्रभावित करने का हम प्रयत्न करेंगे। यह कार्य साहित्य के माध्यम से होगा। अधिक परिचित समीपवर्ती लोगों की बात का कुछ कम प्रभाव होता है पर श्रेष्ठ लोगों के लिखे सत्साहित्य के बारे में ऐसी बात नहीं है। संदेशवाहक के रूप में सत्साहित्य पढ़ाने का काम ऐसा है जो उन लोगों को भी प्रभावित कर सकता है जो व्यक्तिगत रूप से हम से अधिक प्रभावित नहीं होते। चलते-फिरते पुस्तकालय के रूप में हम अपनी ऐसी अच्छी पुस्तकें जो युग-निर्माण के उद्देश्यों को प्राप्त करती हैं, अपने प्रभाव क्षेत्र में पढ़ाते रहने का कार्य अपने जिम्मे ले लें तो इस छोटी सेवा का भी बहुत भारी परिणाम उत्पन्न हो सकता है। विचारों की शक्ति इस संसार की सर्वोपरि शक्ति है। आग की भट्टी में गरम करके फौलाद को भी पिघलाया और ढाला जा सकता है। विचारों की भट्टी में तपाया और ढाला हुआ मनुष्य तुच्छ से महान, असुर से देव, स्वार्थी से परमार्थी और आत्मा से परमात्मा बन सकता है। विचारों की शक्ति का महत्व हम समझें और सद्विचारों के ढाँचे में लोगों के मस्तिष्कों को ढालने की क्रिया आरम्भ कर दें तो भले ही अपने गले में मालाएँ न पड़ें पर सच्चे अर्थों में हम लोक-शिक्षक, जन-मानस के परिवर्तनकारी एवं लोक-निर्माता सिद्ध हो सकते हैं।

आग से आग जलेगी

'अखण्ड-ज्योति' आपके पास पहुँचती ही है। इन दिनों जो अंक उसके निकल रहे हैं तथा आगे निकलेंगे उनमें जीवन को निर्माण करने वाला तत्व बहुत कुछ है। उसे हृदय की स्याही में डुबोकर प्राणमय भाषा में, पूरे मनोयोग से लिखा जा रहा है। उसमें जीवन एवं प्रकाश की मात्रा मौजूद है। आगे जैसे-जैसे अपनी गतिविधियाँ तीव्र होंगी यह आग और भी अधिक तीव्र होगी। इन अंकों को अधिकाधिक लोगों को पढ़ाया जाना चाहिए । पत्रिका पहुँचे तो उसे उलट-पुलट कर एक कोने में न पटक दिया जाना चाहिए वरन् स्वयं कम से कम दो बार उसे पढ़ें और अपने प्रभाव-क्षेत्र के जिन-जिन शिक्षितों के नाम अपनी डायरी में नोट किये थे, उनके यहाँ जाकर इन अंकों एवं लेखों का महत्व समझाते हुए पढ़ने को दिया जाय, फिर एक बार लेने जाया जाय। अंक देने और लेने के निमित्त दो बार हर माह जिनसे मिला जाय उसे अंक में प्रस्तुत विचारों के ऊपर कुछ चर्चा भी की जाय। चर्चा और पठन दोनों बातों के मिलने से स्वाध्याय और सत्संग की दुहरी आवश्यकता पूरी होती है। यह दोनों ही लाभ घर बैठे पहुँचाने का धर्म-कार्य, किसी भी श्रेष्ठ कार्य से कम महत्वपूर्ण नहीं है । समय दान का यह छोटा-सा काम कुछ ही दिन बाद अपना जादू जैसा असर उपस्थित करेगा और जिनको सेवा दी जा रही है। उनके विचारों में भारी परिवर्तन आरम्भ होगा।

युग-निर्माण की विचारधारा पर अत्यन्त सस्ती, सुन्दर, एवं प्रभावपूर्ण पुस्तिकाओं की एक सीरीज प्रस्तुत की गयी है- हमारे भीम और हनुमान जैसे जंगी शरीरों को जिस असंयम ने बर्बाद कर दिया उनके विरुद्ध हमारे मन में रोष है, इस असंयम के शासन का उन्मूलन करने के लिए परशुराम जैसा कुठार तेज किया जा रहा है। हमारे हरिश्चन्द्र, भरत, कपिल, कणाद जैसे चरित्र एवं आदर्श को जिन्होंने नष्ट करके चालाक, बेईमान, विलासी और स्वार्थ रत नरपशुओं में बदल दिया उन कुविचारों की असुरता पर प्रहार करने के लिए दधीच की हड्डियों का वज्र बनाया जा रहा है। हमारे प्रेम, स्नेह, ममता, आत्मीयता, उदारता और सहयोग से ओत-प्रोत देव समाज को जिस अन्ध तमिस्रा की लंका ने कैद कर लिया, पतित और पददलित किया उसका अन्त अब निकट है। उस लंका दहन के लिए हनुमान की पूँछ तेल भीगे कपड़ों से लपेटी ही जा रही है। यह दुर्बुद्धि जिसने हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के आदर्श एवं उत्कर्ष को गिराया है। उसके लिए हमारे मन में बड़ा क्षोभ है। यह क्षोभ जलती आग की तरह जब बाहर निकलेगा तो वे दुष्टताएँ जो हमारे मन:क्षेत्रों में आज जमी बैठी हैं और किलोल कर रही हैं, देर तक न ठहर सकेंगी। उन्हें अपना स्थान छोड़ना ही पड़ेगा।

एक दीपक से, दस दीपक जलें

छोटी, सस्ती, सुन्दर, सुसज्जित एवं आग भरी पुस्तिकाओं की एक लम्बी सीरीज लिखी व प्रकाशित की जा चुकी है। अखण्ड ज्योति के सदस्य लोग शिक्षक की तरह अपनी डायरी में नोट किये नाम वाले व्यक्तियों को भी यथासमय पढ़ाते रहेंगे और उन विषयों पर चर्चा करते रहेंगे तो यह लोकशिक्षण का एक-विशाल कार्यक्रम चल पड़ेगा। २० हजार हम लोकशिक्षक यदि हर साल १० व्यक्तियों को यह विचारधारा पहुँचाने लगें और फिर उन दस व्यक्तियों में से भी कुछ व्यक्ति इस कार्य प्रणाली को अपना लें तो चक्रवृद्धि ब्याज के सिद्धान्त से अगले पाँच वर्षों में ही देश के कोने-कोने में यह शिक्षण पद्धति कार्यान्वित हो सकती है। हमारा सारा ही राष्ट्र इस युग-निर्माण विश्वविद्यालय के अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

शिक्षित वर्ग तक युग-निर्माण की विचारधारा को पहुँचाने का एक प्रभावशाली उपाय ऊपर बताया गया है पर पूरी योजना इससे अत्यधिक विशाल है। यह तो उसका एक अंश मात्र है। हमारे देश में अशिक्षित समाज शिक्षितों से कहीं अधिक बड़ा है, उसके लिए पढ़कर सुनाने, समझाने, सत्संग एवं प्रवचन की शैली ही कारगर हो सकती है। अपने घर में ही कई स्त्री बच्चे ऐसे होते हैं जो पढ़े-लिखे नहीं होते पर सुन-समझ तो वे भी सकते हैं। कथा, कहानियों, संस्मरणों एवं घटनाओं का मनोरंजक प्रसंग बनाकर बड़ी से बड़ी शिक्षाएँ, उनको हृदयंगम कराई जा सकती हैं। यह सुनाने, समझाने का गुण भी हमें अपने में पैदा करना पड़ेगा। संकोच, झिझक, झेंप, शर्म, बड़प्पन की बीमारियों को इस मार्ग में बाधक नहीं होने देना चाहिए। सत्कर्म में बाधा डालने वाले दुष्ट-दुर्जनों की तरह यह दुर्गुण भी बड़े बंधन सरीखे हैं, उन्हें भी तोड़-फोड़ ही डालना चाहिए। नारद जी भगवान का संदेश पहुँचाने के लिए घर-घर भक्ति का प्रचार कर सकते हैं, शंकराचार्य पैदल द्वार-द्वार पर धर्म का अलख जगा सकते हैं, मीरा भक्ति की निर्झरिणी बहाने के लिए यहाँ-वहाँ नाचती फिर सकती है तो क्या हम उनसे भी बड़े हैं, जो लोकशिक्षण में झिझकें, शरमावें, अपमान अनुभव करें। यह कार्य बड़प्पन को घटाने वाले नहीं, बढ़ाने वाले हैं। सन्निपात के मरीज की गाली सुनकर भी विचारशील डाक्टर अपना इलाज छोड़ते नहीं। बेवकूफों का उपहास एवं तिरस्कार हमें अपने पथ से विचलित क्यों कर सकेगा? अशिक्षितों को भी सद्विचारों की शिक्षा दी जा सकती है। उन्हे इकट्ठे करने के लिए कोई न कोई आकर्षक तरीका ढूँढ़ निकालना हर बुद्धिमान आदमी के लिए संभव हो ही सकता है।

सत्संग और स्वाध्याय का समन्वय

शिक्षितों को साहित्य के सहारे और अशिक्षितों को सतसंग के सहारे प्रबुद्ध करने की प्रक्रिया को अपनाना लोक-शिक्षकों का आवश्यक कर्त्तव्य है। यह प्रक्रिया जितनी तीव्र एवं भावनापूर्ण होगी उतना ही लोक-मानस अधिक प्रभावित होगा। विचारों में आवश्यक परिवर्तन हो जाने पर, मनोभूमि के अनुकूल हो जाने पर, सत्सम्बन्धी प्रतिज्ञाओं, आन्दोलनों, विरोधों एवं प्रतिरोधों की प्रक्रियाएँ भी बन सकती हैं और उन्हें सफलतापूर्वक बढ़ाया भी जा सकता है। पर उसके लिए जन-मानस की प्रबुद्धता आवश्यक है। पहला स्तर यही है। प्रत्यक्ष रूप अगले स्तर पर आवेगा। पहले विचार पीछे कार्य की परम्परा सदा से रही है, वही अब भी रहेगी।

प्रवृत्तियों के अन्य आयोजन

दीवारों पर वाक्य लिखना, जहाँ-तहाँ ध्यान आकर्षित करने वाले पोस्टर लगाना आदि तरीके भी उपयोगी हो सकते हैं। ऐसे कामों को कोई व्यक्ति अकेला भी कर सकता है। ऊपर की पूरी योजना ऐसी है जिसे अकेला मनुष्य कार्यान्वित कर सकता, पत्रिका तथा पुस्तकें पढ़ाना, अशिक्षितों को इकट्ठे कथा, कहानियों द्वारा या पुस्तकें पढ़कर सुनाना, वाक्य लिखना या पोस्टर लगाना यह कार्य कोई भी अकेला आदमी कहीं भी करता रह सकता है। जब तक विचार-पुस्तिकाएँ नहीं छप जातीं । तब तक अपने पुस्तकालय की अन्य उपयोगी पुस्तकें पढ़ाते रहने का सिलसिला चलता रह सकता है। जहाँ कुछ लोग एक विचारधारा के हैं वे संगठित होकर इस कार्य-प्रणाली को चलाते रह सकते हैं। गायत्री-परिवार नाम जिन्हें पसन्द है वे उसी नाम से संगठन चलाते रहें, जिन्हें उपासना में अधिक रुचि नहीं, समाज सेवा के कार्यों तक ही जिनकी अभिरुचि है वे युग-निर्माण योजना के नाम से भी अपना संगठन रख सकते हैं। जहाँ प्रचारात्मक स्तर से आगे बढ़कर कुछ रचनात्मक कार्य करने या आन्दोलनात्मक प्रवृत्ति चलाने की स्थिति है वे वैसा भी कर सकते हैं। अपनी बुराइयों को छोड़ने और अच्छाइयों को अपनाने का बीस सूत्री कार्यक्रम पहले भी चलता था। जो लोग प्रभावित होते थे, वे उस प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्रों पर हस्ताक्षर करते थे। वह गतिविधियाँ भी इसी योजना से सम्बद्ध है पर प्रतिज्ञाओं से पहले उन विषयों पर पूरा विश्वास जमाने के लिए मनोभूमि में गहराई तक उन बातों के लाभ-हानि पर विश्वास जमाया जाना आवश्यक है। अन्यथा यह प्रतिज्ञाएँ भी दिखावटी रहती हैंऔर कुछ ही दिन में टूट जाती हैं। जड़ें मजबूत होने से ही ऊपर का आधार सुदृढ़ होता है। बिना समझे गायत्री उपासना करने वाले भी कुछ दिन बाद उसे छोड़ बैठते हैं, उसी प्रकार क्षणिक उत्साह में की हुई प्रतिज्ञाएँ भी टूट ही जाती हैं। जड़ की मजबूती के लिए विचार-मंथन का पूरा अवसर मिले तभी भावना में परिपक्वता आयेगी।

वसंत पंचमी से शुभारम्भ

वसन्त पंचमी अखण्ड-ज्योति परिवार द्वारा आरम्भ की जाने वाली प्रवृत्तियों का शुभ मुहूर्त है। इसी दिन अखंड दीपक स्थापित हुआ था, इसी दिन हमने अनुष्ठान आरंभ किये थे, इसी दिन मथुरा में आना हुआ था, इसी दिन १०८ कुण्ड वाले गायत्री यज्ञ का आरंभ किया गया था, इसी दिन गायत्री तपोभूमि प्रेस और अखंड ज्योति प्रेस खुले थे। सुसंस्कृत परिवार एवं सुसभ्य समाज के निर्माण से संबधित युग-निर्माण योजना का कार्यारंभ भी बसंत पंचमी के दिन माता सरस्वती की जयन्ती के दिन सुव्यवस्थित रूप से अग्रसर हुआ है। स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज के लाभों से मानव जाति को लाभान्वित करने के लिए हमें बहुत कुछ करना है। आइए हम सब मिल-जुलकर इस दिशा में सक्रिय कदम उठावें। सफलता तो सुनिश्चित ही है।

इस विष से सावधान रहिये

जब समुद्र मथा गया था तो उसमें से सबसे पहले विष, फिर वारुणी, उसके बाद अन्य रत्न निकले थे। युग निर्माण के लिए, मूर्छित समाज को जाग्रत करने के लिए भी गायत्री संस्था द्वारा वह अमृत निकालने के लिए समुद्र-मन्थन का कार्य हो रहा है, जिसे पीने से यहाँ के निवासी इस देवभूमि को अमरों, भूसुरों की निवास-स्थली प्रत्यक्ष रूप में दिखा सकें।

यह समुद्र-मन्थन ठीक प्रकार से चल रहा है या नहीं, इसकी प्रारम्भिक परीक्षा यही है कि इसमें कितना विष निकलता है, यह देखा जाय, जब सड़ी हुई कीचड़ की नाली साफ की जाती है तो उसमें से नाक फाड़ने वाली बदबू उड़ती है। दुर्बुद्धि की, दुर्भावनाओं की, स्वार्थपरता और पाखण्ड की कीचड़, बहुत दिनों में हमारे धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में पड़ी सड़ रही है, उसे साफ किया जा रहा है तो वे तत्व जिनके स्वार्थों को हानि पहुँचती है, स्वभावतः विरोध करेंगे। असुरता को नष्ट करने वाले जब कभी भी अभियान हुए हैं, उनके प्रतिरोध के लिए असुरों ने पूरी शक्ति से प्रत्याक्रमण किये हैं । त्रेता में इस प्रकार के अभियान में संलग्न ऋषियों को कच्चा चबा-चबा कर असुरों ने हड्डियों के पहाड़ लगा दिये थे, जिन्हें देखकर रामायण के अनुसार यह दृश्य उपस्थित हुए-

अस्थि समूह देखि रघुराया ।
पूछी मुनिहिं लागि अति दाया ॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाये।
सुनि [illegible]

निसिचर हीन करहुँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ-जाइ सुख दीन ।।

विश्वामित्र के इस प्रकार के अभियान के विरुद्ध मारीच, सुबाहु, ताड़का की पूरी सेना संघर्ष में रत हुई। यह आक्रमण इतने प्रचण्ड थे कि विश्वमित्र घबरा गए, अपने लक्ष्य की असफलता के दुष्परिणाम अनुभव करने लगे। अन्त में दशरथ जी के यहाँ जाकर उनके पराक्रमी पुत्रों को सहायता के लिए माँग कर लाये।

क्रिया की महत्ता प्रतिक्रिया से ही जानी जाती है। बुखार की गर्मी को थर्मामीटर से नापा जाता है। गायत्री-परिवार का समुद्र-मन्थन कितना शक्तिशाली एवं प्रभावपूर्ण है इसकी एक ही पहचान है कि विरोधी आसुरी तत्व इससे कितने क्षुब्ध हुए और उन्होंने इसे असफल बनाने का कितना प्रयत्न किया है। जहाँ तक सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं विरोध, निन्दा, आक्रमण के समाचार जगह-जगह से आ रहे हैं। यह बड़े सन्तोष के समाचार हैं, उन्हीं के आधार पर दो बातों का पता लग सकता है -(१) अपना कार्य कितनी उच्च स्थिति में है, यदि अपना कार्य नगण्य होगा तो उसका विरोध भी नगण्य ही होगा। यदि कार्य में कुछ गहराई है तो उसे असफल होने के लिए असुरता उतने ही तीव्र प्रयत्न करेगी। (२) अपने कार्यकर्ताओं की श्रद्धा कितनी सच्ची है। यदि ढीले मन के, अस्थिर विचारों के, अधूरे विश्वास के अपने परिजन हैं तो वे आसानी से बहक जाएँगे। मतिभ्रम में उलझकर इस अलभ्य अवसर से हाथ खींच लेंगे, कोई-कोई तो सहयोग छोड़कर विरोधी भी बन जाएँगे। किन्तु जो सच्चे होंगे वे आड़े वक्त में काम आने वाले सच्चे मित्रों की तरह अन्त तक मोर्चे पर डटे रहेंगे।

कार्य की महत्ता तथा साथियों की श्रद्धा की परीक्षा, विरोधी आक्रमणों के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार नहीं हो सकती। चूँकि सच्चाई में हजार हाथी के बराबर बल होता है और सत्य रूपी प्रह्लाद की रक्षा भगवान नृसिंह स्वयं करते हैं। नृसिंह-मनुष्यों में जो सिंहस्वरूप वीर पुरुष हैं वे धर्म वृक्ष को गिरने न देने के लिए अपना पूरा सहयोग देते हैं। राम और लक्ष्मण, विश्वामित्र रूपी प्रह्लाद के लिए नृसिंह ही थे। जब कभी भी अधर्म धर्म को नष्ट करने वाले कठोर आक्रमण करते है तब संरक्षक नृसिंह भी सामने आ ही जाते हैं और धर्म की नैया डूबते-डूबते बच जाती है।

गायत्री परिवार के कार्यक्रमों के पीछे इस महान यज्ञानुष्ठान के पीछे सत्य की दैवी शक्ति मौजूद है। इसलिए इसमें से किसी को भी विचलित होने की रत्ती भर भी जरूरत नहीं है। फिर भी प्रह्लाद की तरह कठिन परीक्षा देने को तैयार रहना ही होगा। सभी शाखाएँ तथा गायत्री उपासक अपने-अपने कार्यों में संलग्न रहते हुए इस बात का विशेष ध्यान रखेंगे कि उनके धर्म कार्यों को असफल बनाने के लिए आसुरी तत्वों ने क्या-क्या कार्य किये। चूँकि इस युग में तलवार से सिर काटने का असुरता का हथियार काम में नहीं आता, अब तो इसका प्रचार अस्त्र-मतिभ्रम पैदा करना, कोई बेसिर, पैर की बातें कहकर, कोई बेजड़ मूल के लांछन लगाकर लोगों के नव अंकुरित धर्मोत्साह को समाप्त कर देना ही है। असुरता का यह अस्त्र कहाँ कितनी तेज से घूम रहा है, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए, साथ ही यह भी देखना चाहिए कि उस आक्रमण से अपनी सेना के कितने साथी घायल हो गये, कितने पीठ दिखाकर भाग गये तथा कितनों ने उनका मुकाबला किया। नृसिंह का कार्य किन-किन वीर पुरुषों ने कितनी सीमा तक पूर्ण किया।

युग-निर्माण के लिए आध्यात्मिक अमृत निकालने के प्रयोजन से जो समुद्र मन्थन हो रहा है, उसकी शक्ति अब तक किस सीमा तक पहुँच चुकी इसकी जाँच इस समय करनी है। सभी परिजन अपने क्षेत्र के आसुरी आक्रमणों, उसके परिणामों तथा उनसे बचा लेने के प्रयत्नों की पूर्ण सूचना से केन्द्र को अवगत कराते रहेंगे ताकि वस्तुस्थिति का पता चलता रहे। संस्था की धर्म सेवाएँ जितनी द्रुतगामिता के साथ आगे बढ़ेंगी उतनी ही आसुरी प्रतिक्रियाएँ भी प्रबल होंगी। इन संघर्षों का भी एक बड़ा ही मनोरंजक एवं उत्साहवर्द्धक इतिहास बनेगा। युग निर्माण के प्रत्येक अवसर पर भारी संघर्ष हुए हैं। इस बार भी उनका होना अनिवार्य है। अन्तर केवल अस्त्रों का है। इस संघर्ष में विरोधी पक्ष तलवार के बजाय मतिभ्रम फैलाने वाले गोले दागेगा। आत्म-रक्षा के लिए हम में से हर एक को सतर्क रहना चाहिए। आज के धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र में इस संघर्षात्मक महाभारत का जो सूत्रपात हो रहा है उसमें अपना कार्य यथाभाग व्यवस्थित रहकर हर परिजन को पूरा करना है।

समुद्र-मन्थन का विष निकल रहा है। आगे जैसे-जैसे मन्थन तीव्र होगा विष और भी वेग के साथ उफनेगा। इससे साधारण श्रेणी के दुर्बल परिजनों को बचाया जाना चाहिए। साथ ही कुछ ऐसे नीलकंठ भी निकालने चाहिए जो विष को समेटने के लिए अपने आपको खतरों में डाल दें। नृसिंह और राम-लक्ष्मण न निकलें तो यह प्रह्लाद और विश्वमित्र का प्रतीक आन्दोलन संकटपूर्ण स्थिति को पहुँच सकता है। रचनात्मक कार्यक्रमों के साथ-साथ हमें बचाव के सुरक्षा मोर्चे का भी ध्यान रखना होगा । तभी इस चतुर्मुखी संघर्ष के चक्रव्यूह को पार करना सम्भव हो सकेगा।

दो पुण्य कर्त्तव्य–आत्मनिर्माण और परमार्थ साधना

युग निर्माण के-नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए कार्य करने का अपने परिवार ने जो शपथपूर्वक व्रत -

लिया है उसे क्रियान्वित करने के लिऐ जो कार्यक्रम बनाया
गया है उसकी रूपरेखा इस प्रकार है।

इस योजना को नींव के पत्थर की तरह संस्था के
व्रतधारी सदस्य प्रधान आधार बनेंगे, इन्हीं के ऊपर यह
सारी योजना निर्भर रहेगी। दैनिक जीवन में सांस्कृतिक
पुनरुत्थान के लिए, धर्मसेवा के लिए भी आजीविका
कमाने, भोजन करने की तरह एक प्रमुख आवश्यकता
जितना स्थान देते रहने की प्रतिज्ञा-करने वाले सज्जन
व्रतधारी माने जायेंगे। यों अखण्ड-ज्योति के सभी सदस्य
धर्मसेवी हैं, नियमित और अनियमित रूप से अब तक
बहुत कुछ करते रहे है पर अब समय आ गया है कि
उसे सुव्यवस्थित रूप दिया जाय और एक सुसंगठित सेना
के सैनिक जिस प्रकार कदम से कदम मिलाकर चलते
हैं, उसी प्रकार यह व्रतधारी धर्मसेवक भी सांस्कृतिक
पुनरुत्थान के लिए, नैतिक क्रांति के लिए, बौद्धिक क्रांति
के लिए योजनाबद्ध कूच करें। इसलिए जिनमें समुचित
उत्साह एवम् भावनाएं हैं, उन्हें व्रतधारी की प्रतिज्ञा
निभानी ही चाहिए । बसंत से नया वर्ष इस मिशन का
आरम्भ होता है। परिवार के सक्रिय कार्यकर्त्ताओं की
सेना की हलचलें भी ही शुभ मुहूर्त में आरम्भ हो जानी
चाहिए।

गायत्री परिवार की शाखाओं में अब तक न्यूनतम एक
माला जप की प्रतिज्ञा करने वाले साधारण सदस्य ही बने
हैं। अब उनमें से जिनमें जीवन्त हैं उन्हे व्रतधारी सक्रिय
सदस्य भी बनाया जाना चाहिए। शाखाओं के जो सक्रिय
सदस्य हैं, वे तो अनिवार्य रूप से व्रतधारी बनें। साधारण
सदस्यों में से प्रत्येक को इसके लिए समझाया जाय,
प्रोत्साहित किया जाय और दबाया जाय। निर्जीव सौ
सदस्यों की अपेक्षा सजीव, सक्रिय, लगन और निष्ठा वाले
दो सदस्य अधिक काम के सिद्ध होते हैं। अब अपना सारा
परिवार मथ डालना है और उसमें से क्रियाशील व्यक्तियो
का एक संगठन बना लेना है । यह कार्य बिना विलम्ब,
ढील और संकोच किये अब आरम्भ कर दिया जाना
चाहिये। जिनके पास अखण्ड-ज्योति पहुँचती है वे इन्ही
पंक्तियों को व्रतधारी बनने का आमंत्रण समझें साथ ही उन
स्वजनों तक यह संदेश पहुँचाने एवं उत्साहित करने का
जिम्मा लें जिन तक पत्रिका नहीं पहुँचती है। प्रारम्भिक
कार्य, व्रतधारी धर्म सेवकों का संगठन व्यवस्थित करना है।
इसके उपरांत प्रत्येक व्रतधारी के लिए युग निर्माण योजना के
अन्तर्गत तीन कार्यक्रम होंगे। (१) आत्म-निर्माण (२) धर्म
प्रचार (३) रचनात्मक कार्य । इन तीनों की रूप-रेखा यह
रहेगी।

(9) आत्म-निर्माण

गायत्री-उपासना प्रत्येक व्रतधारी का आवश्यक कर्तव्य
होगा। मन में आस्तिकता की भावनाएँ स्थिर रखने, आत्मा
की अमरता, पुनर्जन्म एवं कर्मफल के तत्वज्ञान पर विश्वास
करना ही नैतिक जीवन का प्रमुख दर्शन शास्त्र एवं
तत्वज्ञान है, यह आस्था आस्तिकता के आधार पर ही
संभव है। भारतीय समाज की उपासनात्मक एकता का
माध्यम वेदमाता गायत्री ही बन सकती है। कोई व्यक्ति
अपनी पूजा में अन्य कोई प्रकार, देवता या विधान
अपनाता है तो इसमें आपति नहीं पर गायत्री मन्त्र को कम
से कम १०८ बार एक माला जप करना हमारा नित्यकर्म
होना चाहिए। यदि किसी दिन भूल जाय तो उसकी पूर्ति
अगले दिन कर ली जाय। गायत्री ज़प एक निश्चित धर्म-
कर्तव्य प्रत्येक व्रतधारी का रहे।

एक डायरी या विवरण पुस्तिका प्रत्येक व्रतधारी अपने
पास रखेगा और उसमें तीन बातों का दैनिक लेखा-जोखा
रखेगा- (१) गुण, (२) कर्म, (३) स्वभाव।

गुण के अन्तर्गत योग्यता, क्षमता, शक्ति, सामर्थ्य,
कला, चतुरता, निपुणता आदि की गणना होती है।
सद्गुणों में स्वास्थ्य, शिक्षा आदि भौतिक शक्तियों को
बढ़ाने के आन्तरिक आध्यात्मिक गुण, सच्चाई, ईमानदारी,
आस्तिकता, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सेवा-
भावना, आत्मीयता, करुणा, मैत्री आदि गुण आते हैं, इन्हें
बढ़ाया जाना चाहिए।

कर्म के अन्तर्गत अपना शारीरिक, मानसिक
पारिवारिक, सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों के पालन को
गिना जाता है। (१) भगवान ने यह शरीर एक किराये के
मकान की तरह दिया है। इसे दीर्घजीवी और स्वस्थ रखने
के लिए जिस नियमबद्धता की आवश्यकता है उसका
पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय। आम तौर से आहार-विहार का
असंयम ही स्वास्थ्य नाश का कारण होता है, उससे बचा
जाय। (२) मानसिक कर्तव्यों में ज्ञान-यज्ञ के लिए
स्वाध्याय और सत्संग आवश्यक है। जीवन की गुत्थियों को
सुलझाने में देश, काल, पात्र का ध्यान रखते हुए जीवन
की गुत्थियों को, समस्याओं को सुलझाने में जो साहित्य
सहयोगी सिद्ध हो सके वही स्वाध्याय के योग्य है। सत्संग
भी वही जो जीवन के सर्वांगीण विकास में व्यावहारिक
मार्ग दर्शन करे । आजकल पौराणिक कथा ग्रन्थों का रोज
रोज पाठ करते रहना स्वाध्याय माना जाता है और आज
से लाखो वर्ष पूर्व की परिस्थितियों के अनुरूप वे बातें जो
अब असामाजिक हो गई हैं बताते रहने वाले औघड़
बाबाजियों की बातें 'सत्य बचन महाराज' कहते हुए सुनते
रहना सत्संग माना जाता है। स्वाध्याय और सत्संग की इस
प्रकार लकीर पीट लेने से नहीं, वरन् वैचारिकता एवं
विवेक के आधार पर जीवन-निर्माण के मूल आधारों को
समझने में सहायता करने वाले स्वाध्याय और सत्संग के
अवसर तलाश करना मानसिक विकास के, सत्कर्म के
अवसर तलाश करना हो सकता है। (३) पारिवारिक
जिम्मेदारी में केवल उदर पोषण की व्यवस्था ही नहीं है
वरन् प्रत्येक परिजन के चतुर्मुखी विकास में सहायता
करना, उसे आवश्यक स्नेह सुविधा एवं सलाह देना भी
आवश्यक है। व्रतधारी अपने

के कर्तव्य करने का प्रयत्न करेगा। समाज को अधिक सदाचारी, सद्गुणी, समृद्ध, सुशिक्षित एवं सुखी बनाने के लिए प्रयत्न करने, दूसरों के साथ नागरिकता, सज्जनता, शिष्टाचार एवं मानवता के आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करना हमारा सामाजिक सत्कर्म है। (४) धार्मिक कर्तव्यों में आत्म-निर्माण के आधारों को बढ़ाना आत्मा को अधिकाधिक पवित्र बनाते चलना तथा समाज सेवा के लिए, लोकहित के लिए, सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने के लिए अपने समय, शक्ति, भावना एवं धन का अनुदान देते रहना यह दो ही बातें आती हैं। ईश्वर उपासना का उद्देश्य इन दो लाभों के लिए ही नहीं। प्रभु की प्रसन्नता, उनकी प्रशंसा करते रहने से नहीं, इन आध्यात्मिक आधारों को पुष्ट करने से ही उपलब्ध हो सकना सम्भव है। इन चारों कर्तव्यों को ध्यान में रखकर जीने की गतिविधि निर्धारित करने से सत्कर्म का प्रयोजन पूरा होता है।

स्वभाव के अन्तर्गत-हँसमुख रहना, चित्त को प्रसन्न निश्चिन्त एवं आशापूर्ण रखना, दूसरों के साथ स्नेह मधुरता उदारता एवं शिष्टाचारपूर्ण व्यवहार करना, परिश्रम को प्यार करना एक क्षण भी बेकार न गँवाना, नित्य दिनचर्या बनाकर उसे क्रियान्वित करना, खर्च में किफायतशारी, शौकीनी, फैशनपरस्ती या यारवासी से घृणा करना, नशे से दूर रहना, नारी मात्र के प्रति माता-बहिन की दृष्टि रखना, घटोरपन का त्याग उत्तेजित न होकर शान्तचित्त से हर बात पर विचार रखना, सहिष्णुता और एकता का दृष्टिकोण रखना आदि बातें सम्मिलित की जाती हैं।

डायरी रखना-आत्मनिरीक्षण करना-अपने गुण, कर्म, स्वभाव का लेखा लेना, व्रतधारी के लिए आत्म-निर्माण की दृष्टि से आवश्यक माना गया है। कल जो भूलें हुई थीं, वे अगले दिन न होने पावें या कम हों, इस दिशा में डायरी बड़ी सहायक होती है। कल जो उपेक्षा या भूल हुई वह अगले दिन न हो, दिन-दिन गुण, कर्म, स्वभाव में सुधार होता चले यही लक्ष्य रखने चाहिए। प्रगति धीरे-धीरे हो तो भी सन्तोष किया जा सकता है पर वह होनी अवश्य चाहिए। चारों कर्तव्यों का कितना पालन हुआ? नहीं हुआ तो क्या कारण था ? प्रगति को तेज करने का तरीका क्या है? वर्तमान परिस्थितियों में क्या-क्या परिवर्तन संभव हैं? उन्हें करने में ढील क्यों है? आदि प्रश्नों के आधार पर रात को आज के कार्यों का ब्यौरा तथा कल का कार्यक्रम तैयार करना इस डायरी लेखन का मूल उद्देश्य है। यह हर व्रतधारी के लिए आवश्यक है।

(२) परमार्थ साधना-धर्मप्रसार

आत्म-निर्माण के अतिरिक्त व्रतधारी का दूसरा कार्य धर्मप्रचार है। यह बात भली प्रकार समझ लेने की है कि मनुष्य जीवन में जो कुछ चमक, क्रियाशीलता एवम् विशेषता दिखाई पड़ती है, वह उसकी भावना, मान्यता एवं आकांक्षा के आधार पर ही है। जो बात व्यक्ति के ऊपर लागू होती है वही समाज के बारे में भी है। जिस समाज के लोगों के विचार जिस स्तर के होते हैं उसके भले-बुरे कार्य भी उसी आधार पर होते रहते हैं। राजदंड या अन्य भौतिक उपायों से लोगों की आन्तरिक भावनाओं में परिवर्तन नहीं हो सकता। समाज सुधार के अन्य प्रयत्न भी रक्त विकार के रोगी की फुन्सियों पर मरहम लगाने के, चिकित्सा करने जैसे ही हैं। मानव प्राणी की भावनाओं और मान्यताओं में परिवर्तन करके ही उसे सज्जन एवं श्रेष्ठ पुरुष बनाया जा सकता है। इस प्रकार के व्यक्ति जिस समाज में बढ़ते हैं वहीं देव समाज बन जाता है और उसके द्वारा ही संसार में स्वर्गीय वातावरण का आविर्भाव होता है।

विचारों की शक्ति प्रचंड है। जिस समय जो विचार प्रबल हो जाते हैं उस समय उसी प्रकार का युग बनने लगता है। युग-निर्माण का हमारा संकल्प एक ही प्रकार से पूर्ण होगा कि हम जनता के विचार स्तर में परिवर्तन करें, उसकी भावनाओं एवम् मान्यताओं में सुधार करें। जिस प्रकार के कार्यों और प्रवृत्तियों का बाहुल्य हम संसार में देखना चाहते हैं उस प्रकार की मान्यताओं के भावना क्षेत्र में प्रविष्ट एवं प्रतिष्ठापित करने का कार्य हमें पूरी शक्ति से करना पड़ेगा। विचार बीज हैं और कार्य उसके फल। किसान की बीज बोने की प्रक्रिया ही कालान्तर में धान्य राशि के रूप में प्रकट होती है। संसार को फलता-फूलता सुखी और संतुष्ट देखना हो तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि जनता को धार्मिक विचार अधिकाधिक मात्रा में दिये जायें। यह विचार बोने की प्रक्रिया एक चतुर किसान की तरह ही होनी चाहिए। जो एक दिन बीज बोकर ही निश्चिन्त नहीं हो जाता वरन् अपने खेतों में रोज-रोज खाद, पानी, निराई, गुड़ाई, रखवाली आदि की क्रियाएँ करता ही रहता है।

प्रत्येक युग निर्माता की यह प्रतिज्ञा है कि वह संसार में धार्मिकता, नैतिकता एवं मानवता की स्थापना करेगा। इस प्रतिज्ञा की पूर्ति का प्रधान उपाय यही है कि अधिकाधिक क्षेत्र में सद्विचारों की खेती करे और सुख-शान्ति की फसल उपजावे।

जनसम्पर्क स्थापित करके लोगों को अच्छे मार्ग पर चलने की सलाह एवं प्रेरणा देना, धर्म प्रचार है। प्राचीन काल में धर्म फेरी एवं पैदल तीर्थ-यात्रा इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती थी। किसी के द्वार पर हम क्यों जावें? बिना पूछे कोई सलाह क्यों दें? किसी से अनुनय-विनय करके अपने बड़प्पन को हम क्यों कम करें? जैसे अहंकारपूर्ण प्रतिरोधी भाव लोगों के मन में उठते रहते हैं। कई बड़े दब्बू, डरपोक, संकोची एवं हीन भावनाओं से ग्रस्त होते हैं, वे दूसरों के सामने पड़ने में या किसी के सामने जबान खोलने में झिझकते हैं। यह दोनों ही दुर्बलता व्यर्थ की हैं इन्हें छोड़ना ही उचित है। किसी से जब हम कोई स्वार्थ साधन करने, अपने लिए सहायता माँगने नहीं जा रहे हैं तो इसमें सम्मान को आघात कहाँ आता है? कोई उपेक्षा या उपहास करे तो भी दुःखी होने

की कोई बात नहीं, बीस आदमियों से श्रेष्ठ बात करने पर यदि दो भी अभिरुचि लेने लगे तो इसमें हानि क्या हुई लाभ ही रहा।

किसी को धर्म मार्ग पर चला देने, सन्मार्ग पर प्रवृत्त कर देने से बढ़कर उसका उपकार और कुछ नहीं हो सकता। कुछ धन या वस्तु देकर किसी का कुछ देर के लिए ही भला हो सकता है, पर जीवन की दिशा मोड़ दी गई तो उसका सर्वतोमुखी कल्याण ही हो गया, उसका कुल तर गया। ऐसा पुण्य ही सच्चा पुण्य है। धर्म प्रचार को, ज्ञानदान को, संसार का सबसे बड़ा पुण्य माना गया है। युग-निर्माण के प्रत्येक व्रतधारी सदस्य के लिए इस पुण्य प्रक्रिया को जीवन भर अपनाये रहना एक परम पुनीत धर्म कर्तव्य की तरह आवश्यक है।

युग निर्माण योजना और उसका विश्लेषण

लोगों को अक्सर ऐसे पत्र मिलते रहते हैं जिसमें लिखा होता है कि इस पत्र में दिए गए निर्देश के अनुसार दस अन्य लोगों को पत्र लिखा जाय। प्रचार की यह प्राचीन पद्धति है। आज प्रचार के अनेक साधन उत्पन्न हो गए हैं फिर भी 'एक से दस' वाली प्राचीन पद्धति की उपयोगिता अब भी इसलिए बहुत अधिक है कि उसमें व्यक्तियों का व्यक्तित्व और प्रभाव भी प्रचार के साथ जुड़ा रहता है। उस बात को दस आदमियों तक फैलाने का प्रयत्न जो व्यक्ति करता है उसका मनोबल, मस्तिष्क साथ में जुड़ जाने से उसमें एक नवीन शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वह व्यक्ति लोगों को अपनी ओर से भी समझाता है और पूछी हुई शंकाओं का उत्तर भी देता है। परिचित व्यक्ति जब अपनी जान-पहचान वालों के पास कोई संदेश भेजता है तो उसे अधिक विश्वस्त भी माना जाता है। इसलिए चाहे वह पद्धति आज प्रचलित न हो पर उपयोगिता की दृष्टि से उसकी महत्ता आज ही नहीं सदैव अक्षुण्ण रहेगी।

'युग निर्माण योजना' में सत्प्रवृत्तियों के प्रसार के लिए उसी 'एक से दस' वाली चिर पुरातन और परीक्षित मनोवैज्ञानिक पद्धति को आधार बनाया गया है। जो संदेश सूत्र-संचालक द्वारा प्राप्त हो उसे हर सदस्य अपने प्रभाव क्षेत्र के दस व्यक्तियों को कहे, समझावे और उसी मार्ग पर चलने के लिए तैयार करने में अपने प्रभाव का उपयोग करे तो यह निस्संदेह एक महत्वपूर्ण एवं ठोस कार्य हो सकता है। सीमा विस्तार की दृष्टि से भी यह पद्धति इतनी तेजी से बढ़ने और फैलने वाली है कि कुछ ही समय में समस्त विश्व में उसका विस्तार हो सकना संभव जान पड़ता है।

स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज की नव रचना का जो आध्यात्मिक कार्यक्रम युग निर्माण योजना द्वारा प्रसारित और कार्यान्वित किया जा रहा है उसे विश्वव्यापी बनाया जाना आवश्यक है। हजार, दो हजार व्यक्तियों तक कोई अच्छी परम्परा सीमित रह जाय तो करोड़ों में फैली हुई बुराई की तुलना में उसका क्या महत्व है? इसलिए इतनी बड़ी योजना के लिए उसकी व्यापकता का ध्यान रखना ही पड़ेगा। यह संभावना एक से दस वाली पद्धति से जैसी सरलतापूर्वक सफल हो सकती है उतनी और किसी प्रकार नहीं हो सकती।

युग निर्माण परिवार के प्रारम्भिक ३० हजार सदस्य माँ गायत्री की प्रेरणा से आत्म-निर्माण और समाज-निर्माण की पुण्य-प्रक्रिया को कार्यान्वित करने के लिए कटिबद्ध हुए। इस योजना को उन्होंने दस-दस व्यक्तियों तक पहुँचाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार पहले ही प्रयास में हम ३० हजार से ३ लाख बने। दूसरे प्रयास में ३ लाख से दस गुने अर्थात् ३० लाख हो गए। तीसरे में यह संख्या दस गुनी होकर ३ करोड़ तक पहुँची। चौथी मंजिल पर पहुँचकर ३० करोड़ और पाँचवी मंजिल पर बीस गुने के क्रम से ६ अरब हो सकती है। इतनी ही जनसंख्या इस पृथ्वी पर रहती है। पाँच बार प्रयास करके, पाँच मंजिलें पार करके 'एक से दस' की योजना के अनुसार हम इस पुण्य-प्रक्रिया को देशव्यापी ही नहीं विश्वव्यापी भी बना सकते हैं।

माना कि इस संसार में आलसी, प्रमादी, नास्तिक, अपराधी प्रकृति के, अच्छे कामों में रोड़ा अटकाने वाले व्यक्ति भी कम नहीं हैं, जो सहयोग देना तो दूर, उल्टा उपहास करेंगे और जहाँ तक बन पड़ेगा बाधा डालेंगे। कुछ शिक्षा के अभाव से इसे समझ भी न सकेंगे और कुछ समझेंगे तो अहंकारवश उसका अनुसरण न करेंगे। इतना होते हुए भी यदि दसवाँ अंश ही सफलता मिल सके तो भी कम महत्व की बात नहीं है। पाप में आकर्षण तो बहुत होता है तो भी वह किसी तरह पुण्य की बराबरी नहीं कर सकता। डाकू, हत्यारे, पापी, ठग, व्यभिचारी, शराबी बहुत कोशिश करने पर अपने जैसे १०-२० व्यक्ति ही नए पैदा कर सकते हैं। पर गाँधी, बुद्ध, ईसा और महावीर जैसी आत्माएँ अपने असंख्यों अनुयायी बनाने में समर्थ हो गईं। निश्चय ही यदि सत्प्रवृत्तियाँ सच्चे व्यक्तियों द्वारा श्रेष्ठ साधनों से प्रसारित की जायें ते वे भी गतिशील होती हैं और उनका भारी प्रभाव जन-मानस पर पड़ता है। अधिक समय नहीं हुआ कि भारतीय स्वाधीनता संग्राम में लाखों व्यक्तियो ने देशभक्ति की उद्दात्त भावनाओं से प्रेरित होकर अपना तन-मन व धन मातृभूमि की बलिवेदी पर प्रसन्नतापूर्वक अर्पण कर दिया था। यदि कोई वैसा ही सारयुक्त और वस्तुतः उपयोगी आंदोलन पुनः सामने आवे तो जनता का पर्याप्त सहयोग फिर मिल सकता है। इसलिए निराश होने की जरा भी आवश्यकता नहीं कि बहुत से लोग इस कार्य की उपेक्षा या उपहास करेंगे। यदि थोड़े लोग भी साहस प्रदर्शित कर सकें तो लक्ष्य की पूर्ति आसानी से हो सकेगी। दुष्प्रवृत्तियों की तरह सत्प्रवृत्तियाँ भी छूत की तरह लोगों पर असर करती हैं और जो प्रयत्न हृदय से किये जाते हैं वे कभी निष्फल नहीं हो सकते।

हर व्यक्ति को अपने प्रभाव क्षेत्र में सेवा का स्वतन्त्र उत्तरदायित्व सौंपकर लोगों को संस्थावाद की उस बुराई से बचा लिया गया है जिसके कारण आए दिन राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, नामवरी व यश के लिए सिर फूटते हैं और धन-संग्रह करके हड़पने का अवसर मिलता है। राजनीत में या आर्थिक विषयों से संबंधित संस्थाओं में चुनाव पद्धति की आवश्यकता हो सकती है, पर आध्यात्मिक कार्यक्रमों में तो व्यक्ति की उत्कृष्टता ही सर्वोपरि रहती है। सुधारक को अकेला एक ओर खड़ा होना होता है और सारी दुनिया उसका विरोध करती है। उसे जमाने को पलटना पड़ता है और यह कार्य पग-पग पर विरोध और तिरस्कार सहते हुए भी करना होता है। यदि ऐसे कार्य जनमत द्वारा चुनाव के आधार पर चला करें, तो बहुमत जैसा कुछ है अथवा अधिकांश लोग जैसे हैं, वैसी ही रीति-नीति युग निर्माताओं को भी स्वीकार करनी पड़ेगी।

आर्य आदर्शों को जीवन में उतारने और उन्हें अपने परिचित लोगों में, अपने प्रभाव क्षेत्र में फैलाने का कार्य ऐसा है जिसे बिना किसी संगठन के भी चलाया जा सकता है। संसार के सभी धर्म इसी प्रकार चलाए गए हैं। पीछे तो हर अच्छी वस्तु में भी विकृति आ जाती है, पर अपने-अपने समय पर सभी धर्मों ने जनता की बड़ी सेवा की है और जन-जीवन को आवश्यक मोड़ दिए हैं। हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई, मुसलमान, पारसी, जैन आदि कोई भी धर्म संस्था बनाकर आगे नहीं बढ़ा है। श्रेष्ठ लोगों ने अपनी श्रेष्ठता को फैलाकर ही इन धर्मों का विस्तार किया था। युग निर्माण योजना भी मानव धर्म पर आधारित है और यह हरी दूब की भाँति स्वयं ही फैलेगी। एक दीपक से दूसरा दीपक जलने वाली पद्धति ही इसमें सफल होगी।

अनेक दोषों से इस योजना को बचाए रखने के लिए इसमें एक महत्वपूर्ण तथ्य का ध्यान रखा गया है। यह कार्यक्रम आँधी-तूफान के ढंग का नहीं है। आत्मोन्नति की पुण्य-प्रक्रिया शान्ति और सुव्यवस्था के आधार पर ही अग्रसर होती है। युग निर्माण योजना के मुख्य सिद्धान्तों को समझने के बाद उसके प्रचार का उत्तरदायित्व विचारशील प्रबुद्ध आत्माओं पर छोड़ दिया गया है। इसको जो जितने अंशों में कार्यान्वित कर सकेगा वह अपना और दूसरों का उतना ही हित साधन करेगा।

योजना में दिए गए छोटे-छोटे कार्यक्रमों को देखकर कोई सज्जन कदाचित् यह सोचने लगे कि इसमें खाने-पीने, पौधे उगाने, पाठशालाएँ चलाने जैसे साधारण कार्यक्रम हैं, इनसे युग परिवर्तन कैसे संभव होगा? आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त करना जैसा महान कार्य इसके द्वारा कैसे हो सकेगा? ऐसे संदेह करने वालों को महात्मा गाँधी के चर्खा और खादी आंदोलन का स्मरण करना चाहिए। बापू सदा यह कहते रहते थे कि "चर्खे से ही स्वराज्य मिल सकता है, खादी के बिना आजादी संभव नहीं।" लोग उनकी हँसी उड़ाते थे और कहते थे कि इतनी बड़ी और शक्तिशाली अँग्रेजी सल्तनत चर्खा चलाकर कैसे हटाई जा सकती है, इसके लिए तो मारधाड़, उखाड़-पछाड़ से भरी हुई कोई तूफानी योजना बननी चाहिए। गाँधी जी कहते थे- "मारधाड़ से हम हार जायेंगे, क्योंकि इसके साधन अँग्रेजों के पास अधिक हैं। हमको जन-मानस में आजादी, आत्म गौरव और स्वावलंबन के प्रति तड़पन पैदा करनी है। यह तड़पन जिस दिन उत्पन्न हो गई उसी दिन अँग्रेजों को भागना पड़ेगा।" उस तड़पन को उत्पन्न करने के लिए लिए गाँधी जी ने छोटे-छोटे प्रतीक स्वरूप कार्यक्रम सामने रखे थे। चर्खा को आत्म-निर्भरता, स्वावलंबन और देशभक्ति का प्रतीक बनाकर गाँधी जी ने राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित किया था। खादी से इन्हीं भावनाओं का उद्भव पहनने वाले के अंतःकरण में होता था। नमक सत्याग्रह छेड़कर उन्होंने विदेशी कानून के प्रति व्यापक अवज्ञा उत्पन्न की थी। यों नमक का प्रश्न कोई बहुत बड़ी बात न थी। उससे प्रतिवर्ष केवल दो-चार पैसा टैक्स प्रत्येक आदमी का बचाया जा सकता था। इतनी-सी बात अँग्रेज सरकार आसानी से मान सकती थी और गाँधी जी के कहने से नमक टैक्स छोड़ सकती थी। पर बात इतनी ही नहीं थी। उसके पीछे प्रचंड प्रेरणा देने वाले भावनात्मक तथ्य छिपे थे। नमक सत्याग्रह द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को तत्कालीन सरकार के कानूनों के प्रति बगावत करने की प्रेरणा दी गई थी। विशुद्ध रूप से वह एक मनोवैज्ञानिक आंदोलन था।

खादी की बात भी ऐसे ही थी। चर्खा के सम्बंध में देश के बड़े-बड़े आदमी कहते थे कि हमारा वक्त कीमती है, इस छोटे काम में हम उसे खर्च क्यों करें? इससे जितनी देर में दो-चार पैसे का उपार्जन होगा उतनी देर में हम सैकड़ों रुपये कमाकर स्वराज्य आंदोलन में दे सकते हैं। पर गाँधी जी ने ऐसे लोगों को समझाया कि प्रश्न पैसे का नहीं, भावना का है। भावना न जगे तो पैसा व्यर्थ है। बिना पैसे के भावनाशील व्यक्ति सब कुछ कर डालते हैं, पर भावना से शून्य पैसा धूल के समान है। उससे कोई महत्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए कार्य का असीम भार होते हुए भी गाँधी जी नियमित रूप से स्वयं चर्खा चलाते थे और अपने साथियों से भी चलवाते थे।— भावनाएँ किसी प्रतीक का आश्रय लेकर ही जग सकती हैं। कोरी कल्पना करते रहने से मनोरंजन भले ही हो जाय पर उससे स्वभाव और संस्कारों का निर्माण नहीं हो सकता। यही कारण है कि प्राचीनकाल में भी भावनाओं को जाग्रत करने के लिए भाँति-भाँति के कर्मकांडों की व्यवस्था की गई थी, चाहे वे तर्कशील व्यक्तियों को अनावश्यक ही क्यों न जान पड़ते हों। ईश्वर के प्रति भक्ति भावना और श्रद्धा जाग्रत करने के लिए प्रतिमा पूजन, आरती, नैवेद्य, धूप, चंदन आदि के उपचार करने आवश्यक होते हैं। इनकी सहायता से ही क्रमशः जन-मानस में भावना का उदय हो जाता है।

प्रकार की स्वस्थ मन:प्रक्रिया में संलग्न होने की जनसाधारण को प्रेरणा देती है।

सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में जो विकृतियाँ, विपन्नताएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे कहीं आकाश से नहीं टपकी हैं, वरन् हमारे अग्रणी, बुद्धिजीवी एवं प्रतिभासम्पन्न लोगों की भावनात्मक दुष्टता ने उन्हें उत्पन्न किया है। जन-मानस में छाये हुए अविवेक एवं अवसाद के कारण ही ये दुष्प्रवृत्तियाँ पनप और फल-फूल रही हैं, यदि मान्यताओं और विचारणाओं की दिशा बदल जाय तो संसार में फैली हुई अशांति के अगणित स्वरूप देखते-देखते समाप्त हो जायें।

हिन्दू जाति में विवाह-शादियों के नाम पर होने वाला देन-दहेज एवं अपव्यय उसकी आर्थिक और नैतिक नींव को बुरी तरह खोखली कर रहा है। केवल दृष्टिकोण का परिष्कार एवं मनोबल की कमी ही यह कारण है जिससे इस सत्यानाशी बुराई की हानियाँ जानते हुए भी उससे पिंड नहीं छुड़ाया जा सका है। जाति-पाँति के नाम पर अमुक वंश में पैदा होने के कारण एक मनुष्य दूसरे से ऊँचा या नीचा समझ जाय - यह मान्यता कितनी अविवेकपूर्ण, अन्यायमूलक है इसे कोई भी विचारशील, सहृदय व्यक्ति सहज ही स्वीकार कर लेगा, फिर भी हमारे समाज में यह मूढ़ता अपनी गहरी जड़ें जमाए बैठी है।

स्त्रियाँ भी पुरुष की तरह मनुष्य हैं। मूँछ न आने पर या एक दो अंगों में थोड़ा प्रकृतिप्रदत्त हेर-फेर होने के कारण उनके मानवीय स्तर एवं अधिकार में कोई अंतर नहीं आता। फिर भी एक अविवेक सामाजिक मान्यता बनकर हमारे मनों में छा गया है और स्त्री जाति को पिंजड़े में बंद पक्षी या रस्सी से बँधे हुए पशु की तरह घरों में कैद रखा जा रहा है। यह मोटे तथ्य हैं। उस पर थोड़ा-सा जोर देने से वस्तुस्थिति को हर कोई समझ सकता है। इतने पर भी दृष्टिदोष की बीमारी हमें यह सोचने, करने नहीं दे रही है। जिससे हम सशक्त समाज के रूप में विकसित हो सकें। इस दृष्टिदोष को सुधारे बिना हमारा सामाजिक कल्याण हो नहीं हो सकेगा। हम इस गई-गुजरी स्थिति से ऊँचे न उठ सकेंगे।

धर्म के नाम पर ८० लाख व्यक्ति आलस्य और प्रमाद का जीवन जी रहे हैं। मंदिर, मठ, तीर्थ एवं दान-पुण्य के नाम पर समय और धन का जितना व्यय होता है यदि उसका ठीक तरह उपयोग होने लगे तो हमारी सामाजिक, नैतिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्थिति इतनी गतिशील हो जाय कि प्राचीनकाल का गौरव पुनः प्राप्त करने में कुछ भी कठिनाई शेष न रह जा... हमारे धार्मिक नेता अलग-अलग संप्रदाय ... अपनी-अपनी अलग पूजा-प्रतिष्ठा का गोरखधंधा ... और एक ही मंच से सारे हिंदू समाज को संगठित समर्थ बनाने में लग जायें तो इसका इतना परिणाम सामने आए जिसे देखकर संसार आश्चर्यचकित ... जाय।

हमारे राजनेता ही अपना व्यक्तित्व-वर्चस्व कायम रखने के लिए भाषावाद, प्रांतवाद, जातिवाद की अलगाव प्रवृत्ति को बढ़ा रहे हैं। फूट और विघटन के बीज बो रहे हैं। अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति में संलग्न रहकर राजनेता ही सरकारी मशीन और जनता को अपने अनुकरण के लिए प्रोत्साहन देकर देश में विविध-विधि भ्रष्टाचार का सृजन कर रहे हैं। यदि इनका दृष्टिकोण सुधर जाय और वे राम, युधिष्ठर, जनक, अश्वघोष, अशोक, चाणक्य जैसे निस्पृह राजनेताओं का उदाहरण प्रस्तुत करने लगें तो राजनैतिक स्थिति का स्वरूप ही बदल जाय। गाँधी, पटेल, सुभाष, नेहरू, मालवीय, लाजपराय, तिलक जैसे राजनेता स्वाधीनता का वरदान दिला गए, उसी प्रकार के उच्च भावना सम्पन्न नेतृत्व यदि आज भी हमारे पास रहा होता तो राम-राज्य के वे सपने मूर्तरूप धारण कर रहे होते, जिन्हें गाँधीजी ने कोमल कल्पनाओं के साथ संजोया था। राजनैतिक गुत्थियाँ आज उठ खड़ी हुई हैं। वह छुटपुट आयोगों, उपायों एवं समझौतों से नहीं सुलझेगी। अग्रणी नेतृत्व को सद्‌भावना सम्पन्न बनाना ही एकमात्र उपाय है जिससे देश की वास्तविक एवं सुस्थिर प्रगति संभव हो सकती है।

यही बात अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू होती है। विश्वनेता, विश्वसंघ बनाकर सारी दुनिया को एक राज्य परिवार बना लें। देश-देश के बीच होने वाले आक्रमणों एवं संघर्षों की संभावना समाप्त कर दें, उचित वितरण कर दें, तो अकाल, भुखमरी, बीमारी, अशिक्षा जैसे कष्टों का संसार से अंत हो जाय। जितनी जनसंख्या सेना में भर्ती है, अस्त्र-शस्त्र तथा सेना-सामग्री बनाने में जितना धन खर्च होता है वह सब मानव-कल्याण के कामों में लगने लगे तो समस्त संसार में स्वर्गीय सुख-शांति की स्थापना में देर न लगे यह कार्य युद्धों में एक-दूसरे को जीतने से नहीं वरन् सार्वभौम विचार करने की शैली बदलने से संभव होगा। इन दिनों परमाणु अस्त्रों से तीसरे महायुद्ध की तैयारी हो रही है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की महत्वाकांक्षाएँ इसी दिशा में संलग्न हैं। तीसरा सर्वनाशी महायुद्ध अणु-आयुधों से हुआ तो वैज्ञानिक आइन्सटीन की यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य होकर रहेगी कि "चौथा युद्ध पत्थरों से लड़ा जायेगा।" तब चिरसंचित मानवी सभ्यता का एक प्रकार से लोप हो जायगा ... मनुष्य को अपना विकास आदिम यु... की जंगली ... आरंभ करना होगा।

इन त ... विचारशील ... विचार करने से किसी भी ... को ... पर पहुँचना होता है कि ... समस्त ... का एकमात्र ... जाना ही

कभी भी वास्तविक चिरस्थायी और सुदृढ़ विश्व शांति की आवश्यकता अनुभव की जायगी और उसके लिए दूरदर्शितापूर्ण हल ढूँढ़ा जायेगा तो वह हल एक ही होगा- 'मानव-प्राणी की हर पद्धति में उत्कृष्टता एवं *आदर्शवादिता के अनुरूप परिवर्तन प्रस्तुत करना।'*

हमें इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए पूर्व भूमिका का संपादन करना है। सद्भावना, उत्कृष्ट विचारणा, विवेकशीलता एवं सत्यनिष्ठा के लिए जन-मानस में उत्कंठा तथा श्रद्धा का सृजन करना होगा । यह आकांक्षा जितनी ही तीव्र होती जाएगी, उज्ज्वल भविष्य की संभावना उतनी ही निकट आती चली जायेगी।

युग निर्माण की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

युग-निर्माण की पृष्ठभूमि राजनैतिक एवं सामाजिक नहीं वरन् आध्यात्मिक है। इतना महत्वपूर्ण कार्य इसी स्तर पर उठाया या बढ़ाया जा सकता है। राजनैतिक एवं सामाजिक सुधार प्रयत्नों में वह श्रद्धा, भावना, तत्परता एवं गहराई नहीं हो सकती, जो आध्यात्मिक स्तर पर किए गये प्रयत्नों में सम्भव है। हम इसी स्तर से कार्य आरंभ कर रहे हैं। इसलिए हम सबको उपासना, तपश्चर्या एवं आध्यात्मिक भावनाओं से ओतप्रोत होना चाहिए तथा योजना के संपर्क में आने वाले दूसरे लोगों को भी इसी भावना से प्रभावित करना चाहिए। हमारे सुधार आंदोलन आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक साधन मात्र हैं। इसलिए साधन के साथ साध्य को भी ध्यान में रखना ही होगा। हमारे आठ आध्यात्मिक कार्यक्रम नीचे प्रस्तुत हैं-

१- गायत्री उपासना

संस्कृति का मूल उद्गम गायत्री महामंत्र है। उसमें जीवनोत्कर्ष की समस्त शिक्षाएँ बीज रूप में मौजूद हैं। उपासना का मूल उद्देश्य भावनाओं और प्रवृत्तियों का सन्मार्ग की ओर प्रेरणा प्राप्त करना ही तो होता है। यह आधार गायत्री में है और उसकी उपासना में वह शक्ति भी है कि अंतःकरण को इसी दिशा में मोड़े। इस दृष्टि से गायत्री सर्वांगपूर्ण एवं सार्वभौम मानवीय उपासना कही जा सकती है। उसके लिए हमें नित्य-नियमित रूप से कुछ समय निकालना चाहिए, चाहे वह समय पाँच मिनट का ही क्यों न हो। १०८ गायत्री जपने में प्रायः इतना ही समय लगता है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि अपने घर, परिवार, संबद्ध समाज और परिचित-क्षेत्र के सभी लोग गायत्री उपासना में संलग्न रहें। इसके अतिरिक्त उपासनाएँ जो करते हैं वे उन्हें भी करते हुए गायत्री जप कर सकते हैं।

२- यज्ञ की आवश्यकता

जिस प्रकार गायत्री सद्भावना की प्रतीक है उसी परकार यज्ञ सत्कर्मों का प्रतिनिधि है। अपनी प्रिय वस्तुओं *को लोकहित के लिए निरंतर अर्पित करते रहने की प्रेरणा* यज्ञीय प्रेरणा कहलाती है। हमारा जीवन ही एक यज्ञ बनना चाहिए। इस भावना को जीवित-जाग्रत रखने के लिए यज्ञ प्रक्रिया को दैनिक जीवन में उपासनात्मक स्थान दिया जाता है। हमें नित्य यज्ञ करना चाहिए। यदि विधिवत् यज्ञ करने में समय और धन खर्च होने की असुविधा हो तो चौके में बने भोजन के पाँच छोटे ग्रास गायत्री मंत्र बोलते हुए अग्निदेव पर होमे जा सकते हैं अथवा भोजन करते समय इसी प्रकार का अग्नि पूजन किया जा सकता है। घी का दीपक एवं अगरबत्ती जलाना भी यज्ञ का ही एक रूप है। इसमें से जिसे जैसी सुविधा हो वह यज्ञ क्रम बना ले, पर यह प्रथा गायत्री परिवार के हर घर में जीवित अवश्य ही रहना चाहिए।

३- हमारे दो पुण्य पर्व

गायत्री जयंती-ज्ञान पर्व (ज्येष्ठ सुदी १०) और गुरु पूर्णिमा-कर्म पर्व (आषाढ़ सुदी १५) यह दो भारतीय धर्म में महान आध्यात्मिक पर्व माने गए हैं। एक गायत्री माता का प्रतीक है दूसरे यज्ञ पिता का । इन पर्वों को हमें बाह्य और आंतरिक दोनों ही स्तरों पर उत्साहपूर्वक मनाना चाहिए। दोनों पर्वों पर हवन, दीप-दान, उपवास, भजन, कीर्तन-गोष्ठी, प्रवचन, प्रभात-फेरी, पूजा, दान, जप-तप जो भी बन पड़े सो व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से करना चाहिए। अपनी श्रद्धा को सजीव रखने के लिए, सत्कर्मों एवं सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्द्धन करने के लिए समय, श्रम, धन एवं भावनाओं को श्रद्धांजलि अर्पित करके ज्ञान-ऋण से उऋण होने का कुछ प्रयत्न करना ही चाहिए।

दोनों पर्वों के दिन दीप-दान करना चाहिए। गायत्री परिवार के हर सदस्य के घर दीपावली की तरह दीपक जलाए जाया करें। इन तीन दिनों में सवालक्ष या चौबीस हजार जिससे जितना बन पड़े एक अनुष्ठान भी करने का प्रयत्न करना चाहिए। ब्रह्मचर्य, भूमि शयन आदि अन्य जो तपश्चर्या बन पड़े वे भी इस अवधि में करनी चाहिए। लोक सेवा की दृष्टि से धर्म फेरी, पद यात्रा, कथा प्रवचन जैसे कोई सामूहिक कार्यक्रम भी रखे जा सकते हैं। इन दो पर्वों पर सामूहिक उत्सव भी मनाए जा सकते हैं। गायत्री जयंती के दिन ज्ञान की महत्ता और गुरु पूर्णिमा के दिन कर्म की महत्ता का विशेष रूप से प्रतिपादन किया जाय। दोनों के समन्वय से ही सर्वांगपूर्ण अध्यात्म बनता है।

प्रकार की स्वस्थ मनःप्रक्रिया में संलग्न होने की जनसाधारण को प्रेरणा देती है।

सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में जो विकृतियाँ, विपन्नताएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे कहीं आकाश से नहीं टपकी हैं, वरन् हमारे अग्रणी, बुद्धिजीवी एवं प्रतिभासम्पन्न लोगों की भावनात्मक दुष्टता ने उन्हें उत्पन्न किया है। जन-मानस में छाये हुए अविवेक एवं अवसाद के कारण ही वे दुष्प्रवृत्तियाँ पनप और फल-फूल रही हैं, यदि मान्यताओं और विचारणाओं की दिशा बदल जाय तो संसार में फैली हुई अशांति के अगणित स्वरूप देखते-देखते समाप्त हो जायें।

हिन्दू जाति में विवाह-शादियों के नाम पर होने वाला देन-दहेज एवं अपव्यय उसकी आर्थिक और नैतिक नींव को बुरी तरह खोखली कर रहा है। केवल दृष्टिकोण का परिष्कार एवं मनोबल की कमी ही वह कारण है जिससे इस सत्यानाशी बुराई की हानियाँ जानते हुए भी उससे पिंड नहीं छुड़ाया जा सका है। जाति-पाँति के नाम पर अमुक वंश में पैदा होने के कारण एक मनुष्य दूसरे से ऊँचा या नीचा समझ जाय - यह मान्यता कितनी अविवेकपूर्ण, अन्यायमूलक है इसे कोई भी विचारशील, सहृदय व्यक्ति सहज ही स्वीकार कर लेगा, फिर भी हमारे समाज में यह मूढ़ता अपनी गहरी जड़ें जमाए बैठी है।

स्त्रियाँ भी पुरुष की तरह मनुष्य हैं। मूँछ न आने पर या एक दो अंगों में थोड़ा प्रकृतिप्रदत्त हेर-फेर होने के कारण उनके मानवीय स्तर एवं अधिकार में कोई अंतर नहीं आता। फिर भी एक अविवेक सामाजिक मान्यता बनकर हमारे मनों में छा गया है और स्त्री जाति को पिंजड़े में बंद पक्षी या रस्सी से बँधे हुए पशु की तरह घरों में कैद रखा जा रहा है। यह मोटे तथ्य हैं। उस पर थोड़ा-सा जोर देने से वस्तुस्थिति को हर कोई समझ सकता है। इतने पर भी दृष्टिदोष की बीमारी हमें यह सोचने, करने नहीं दे रही है। जिससे हम सशक्त समाज के रूप में विकसित हो सकें। इस दृष्टिदोष को सुधारे बिना हमारा सामाजिक कल्याण हो नहीं हो सकेगा। हम इस गई-गुजरी स्थिति से ऊँचे न उठ सकेंगे।

धर्म के नाम पर ८० लाख व्यक्ति आलस्य और प्रमाद का जीवन जी रहे हैं। मंदिर, मठ, तीर्थ एवं दान-पुण्य के नाम पर समय और धन का जितना व्यय होता है यदि उसका ठीक तरह उपयोग होने लगे तो हमारी सामाजिक, नैतिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्थिति इतनी गतिशील हो जाय कि प्राचीनकाल का गौरव पुनः प्राप्त करने में कुछ भी कठिनाई शेष न रह जाय। हमारे धार्मिक नेता अलग-अलग संप्रदाय चलाकर अपनी-अपनी अलग पूजा-प्रतिष्ठा का गोरखधंधा छोड़ दें और एक ही मंच से सारे हिंदू समाज को संगठित एवं समर्थ बनाने में लग जायँ तो इसका इतना बड़ा परिणाम सामने आए जिसे देखकर संसार आश्चर्यचकित रह जाय।

हमारे राजनेता ही अपना व्यक्तित्व-वर्चस्व बनाए रखने के लिए भाषावाद, प्रांतवाद, जातिवाद की अलगाव प्रवृत्ति को बढ़ा रहे हैं। फूट और विघटन के बीज बो रहे हैं। अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति में संलग्न रहकर राजनेता ही सरकारी मशीन और जनता को अपने अनुकरण के लिए प्रोत्साहन देकर देश में विविध-विधि भ्रष्टाचार का सृजन कर रहे हैं। यदि इनका दृष्टिकोण सुधर जाय और वे राम, युधिष्ठिर, जनक, अश्वघोष, अशोक, चाणक्य जैसे निस्पृह राजनेताओं का उदाहरण प्रस्तुत करने लगें तो राजनैतिक स्थिति का स्वरूप ही बदल जाय। गाँधी, पटेल, सुभाष, नेहरू, मालवीय, लाजपराय, तिलक जैसे राजनेता स्वाधीनता का वरदान दिला गए, उसी प्रकार के उच्च भावना सम्पन्न नेतृत्व यदि आज भी हमारे पास रहा होता तो राम-राज्य के वे सपने मूर्तरूप धारण कर रहे होते, जिन्हें गाँधीजी ने कोमल कल्पनाओं के साथ संजोया था। राजनैतिक गुत्थियाँ आज उठ खड़ी हुई हैं। वह छुटपुट आयोगों, उपायों एवं समझौतों से नहीं सुलझेंगी। अग्रणी नेतृत्व को सद्भावना सम्पन्न बनाना ही एकमात्र उपाय है जिससे देश की वास्तविक एवं सुस्थिर प्रगति संभव हो सकती है।

यही बात अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू होती है। विश्वनेता, विश्वसंघ बनाकर सारी दुनिया को एक राज्य परिवार बना लें। देश-देश के बीच होने वाले आक्रमणों एवं संघर्षों की संभावना समाप्त कर दें, उचित वितरण कर दें, तो अकाल, भुखमरी, बीमारी, अशिक्षा जैसे कष्टों का संसार से अंत हो जाय। जितनी जनसंख्या सेना में भर्ती है, अस्त्र-शस्त्र तथा सेना-सामग्री बनाने में जितना धन खर्च होता है वह सब मानव-कल्याण के कामों में लगने लगे तो समस्त संसार में स्वर्गीय सुख-शांति की स्थापना में देर न लगे यह कार्य युद्धों में एक-दूसरे को जीतने से नहीं वरन् सार्वभौम विचार करने की शैली बदलने से संभव होगा। इन दिनों परमाणु अस्त्रों से तीसरे महायुद्ध की तैयारी हो रही है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की महत्वाकांक्षाएँ इसी दिशा में संलग्न हैं। तीसरा सर्वनाशी महायुद्ध अणु-आयुधों से हुआ तो वैज्ञानिक आइन्सटीन की यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य होकर रहेगी कि "चौथा युद्ध पत्थरों से लड़ा जायेगा।" तब चिरसंचित मानवी सभ्यता का एक प्रकार से लोप हो जायगा और मनुष्य को अपना विकास आदिम युग की जंगली अवस्था से फिर आरंभ करना होगा।

इन तथ्यों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से किसी भी विचारशील को एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना होता है कि मनुष्य की व्यक्तिगत एवं सामूहिक समस्त समस्याओं, कठिनाइयों, उलझनों, विपत्तियों का एकमात्र कारण उसका दृष्टिकोण, भावनास्तर विकृत हो जाना ही है इसे सुधारे बिना अन्य समस्त छुटपुट उपचार आयोजन कुछ क्षणिक प्रयोजन भले ही पूरा करें, वास्तविक एवं चिर समाधान उपस्थित नहीं कर सकते। आज या कल जब

कभी भी वास्तविक चिरस्थायी और सुदृढ़ विश्व शांति की आवश्यकता अनुभव की जायगी और उसके लिए दूरदर्शितापूर्ण हल ढूँढ़ा जायेगा तो वह हल एक ही होगा- 'मानव-प्राणी की हर पद्धति में उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता के अनुरूप परिवर्तन प्रस्तुत करना।'

हमें इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए पूर्व भूमिका का संपादन करना है। सद्भावना, उत्कृष्ट विचारणा, विवेकशीलता एवं सत्यनिष्ठा के लिए जन-मानस में उत्कंठा तथा श्रद्धा का सृजन करना होगा। यह आकांक्षा जितनी ही तीव्र होती जाएगी, उज्ज्वल भविष्य की संभावना उतनी ही निकट आती चली जायेगी।

युग निर्माण की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

युग-निर्माण की पृष्ठभूमि राजनैतिक एवं सामाजिक नहीं वरन् आध्यात्मिक है। इतना महत्वपूर्ण कार्य इसी स्तर पर उठाया या बढ़ाया जा सकता है। राजनैतिक एवं सामाजिक सुधार प्रयत्नों में वह श्रद्धा, भावना, तत्परता एवं गहराई नहीं हो सकती, जो आध्यात्मिक स्तर पर किए गये प्रत्यनों में सम्भव है। हम इसी स्तर से कार्य आरंभ कर रहे हैं। इसलिए हम सबको उपासना, तपश्चर्या एवं आध्यात्मिक भावनाओं से ओतप्रोत होना चाहिए तथा योजना के संपर्क में आने वाले दूसरे लोगों को भी इसी भावना से प्रभावित करना चाहिए। हमारे सुधार आंदोलन आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक साधन मात्र हैं। इसलिए साधन के साथ साध्य को भी ध्यान में रखना ही होगा। हमारे आठ आध्यात्मिक कार्यक्रम नीचे प्रस्तुत हैं-

१- गायत्री उपासना

संस्कृति का मूल उद्‌गम गायत्री महामंत्र है। उसमें जीवनोत्कर्ष की समस्त शिक्षाएँ बीज रूप में मौजूद हैं। उपासना का मूल उद्देश्य भावनाओं और प्रवृत्तियों का सन्मार्ग की ओर प्रेरणा प्राप्त करना ही तो होता है। यह आधार गायत्री में है और उसकी उपासना मे वह शक्ति भी है कि अंतःकरण को इसी दिशा में मोड़े। इस दृष्टि से गायत्री सर्वांगपूर्ण एवं सार्वभौम मानवीय उपासना कही जा सकती है। उसके लिए हमें नित्य-नियमित रूप से कुछ समय निकालना चाहिए, चाहे वह समय पाँच मिनट का ही क्यों न हो। १०८ गायत्री जपने में प्रायः इतना ही समय लगता है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि अपने घर, परिवार, संबद्ध समाज और परिचित-क्षेत्र के सभी लोग गायत्री उपासना में संलग्न रहें। इसके अतिरिक्त उपासनाएँ जो करते हैं वे उन्हें भी करते हुए गायत्री जप कर सकते हैं।

२- यज्ञ की आवश्यकता

जिस प्रकार गायत्री सद्भावना की प्रतीक है उसी परकार यज्ञ सत्कर्मों का प्रतिनिधि है। अपनी प्रिय वस्तुओं को लोकहित के लिए निरंतर अर्पित करते रहने की प्रेरणा यज्ञीय प्रेरणा कहलाती है। हमारा जीवन ही एक यज्ञ बनना चाहिए। इस भावना को जीवित-जाग्रत रखने के लिए यज्ञ प्रक्रिया को दैनिक जीवन में उपासनात्मक स्थान दिया जाता है। हमें नित्य यज्ञ करना चाहिए। यदि विधिवत् यज्ञ करने में समय और धन खर्च होने की असुविधा हो तो चौके में बने भोजन के पाँच छोटे ग्रास गायत्री मंत्र बोलते हुए अग्निदेव पर होमे जा सकते हैं अथवा भोजन करते समय इसी प्रकार का अग्नि पूजन किया जा सकता है। घी का दीपक एवं अगरबत्ती जलाना भी यज्ञ का ही एक रूप है। इसमें से जिसे जैसी सुविधा हो वह यज्ञ क्रम बना ले, पर यह प्रथा गायत्री परिवार के हर घर में जीवित अवश्य ही रहना चाहिए।

३- हमारे दो पुण्य पर्व

गायत्री जयंती-ज्ञान पर्व (ज्येष्ठ सुदी १०) और गुरु पूर्णिमा-कर्म पर्व (आषाढ़ सुदी १५) यह दो भारतीय धर्म में महान आध्यात्मिक पर्व माने गए हैं। एक गायत्री माता का प्रतीक है दूसरे यज्ञ पिता का। इन पर्वों को हमें बाह्य और आंतरिक दोनों ही स्तरों पर उत्साहपूर्वक मनाना चाहिए। दोनों पर्वों पर हवन, दीप-दान, उपवास, भजन, कीर्तन-गोष्ठी, प्रवचन, प्रभात-फेरी, पूजा, दान, जप-तप जो भी बन पड़े सो व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से करना चाहिए। अपनी श्रद्धा को सजीव रखने के लिए, सत्कर्मों एवं सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्द्धन करने के लिए समय, श्रम, धन एवं भावनाओं की श्रद्धांजलि अर्पित करके ज्ञान-ऋण से उऋण होने का कुछ प्रयत्न करना ही चाहिए।

दोनों पर्वों के दिन दीप-दान करना चाहिए। गायत्री परिवार के हर सदस्य के घर दीपावली की तरह दीपक जलाए जाया करें। इन तीन दिनों में सवालक्ष या चौबीस हजार जिससे जितना बन पड़े एक अनुष्ठान भी करने का प्रयत्न करना चाहिए। ब्रह्मचर्य, भूमि शयन आदि अन्य जो तपश्चर्या बन पड़े वे भी इस अवधि में करनी चाहिए। लोक सेवा की दृष्टि से धर्म फेरी, पद यात्रा, कथा प्रवचन जैसे कोई सामूहिक कार्यक्रम भी रखे जा सकते हैं। इन दो पर्वों पर सामूहिक उत्सव भी मनाए जा सकते हैं। गायत्री जयंती के दिन ज्ञान की महत्ता और गुरु पूर्णिमा के दिन कर्म की महत्ता का विशेष रूप से प्रतिपादन किया जाय। दोनों के समन्वय से ही सर्वांगपूर्ण अध्यात्म बनता है।

४- चांद्रायण व्रत तपश्चर्या

विशेष आत्मबल का संग्रह, पापों का प्रायश्चित एवं शरीर शोधन की दृष्टि से चांद्रायण व्रत का विशेष महत्व माना गया है। इस तपश्चर्या को पुनः प्रचलित करना चाहिए। प्रयत्न यह होना चाहिए कि व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से तपश्चर्या जगह-जगह होने लगे। इसे करने वाले को शारीरिक एवं मानसिक कायाकल्प होने जैसा लाभ मिलता है।

युग-निर्माण के कार्यकर्त्ताओं को एक चांद्रायण तपश्चर्या करके एक महत्वपूर्ण परीक्षा उत्तीर्ण कर लेनी चाहिए। इससे एक महान कार्य को संपादित कर सकने लायक उनकी आंतरिक क्षमता और प्रामाणिकता बढ़ेगी।

५-पंचकोशी विशिष्ट साधना

उच्च आध्यात्मिक स्तर को विकसित करने के लिए पंचकोशी गायत्री उपासना आवश्यक है। अन्नमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश, आनंदमय कोश को विकसित करके आत्मसाक्षात्कार की स्थिति तक पहुँचने के लिए इस साधना की बहुत उपयोगिता है। जिसने उसे आरम्भ किया है उसने आशाजनक प्रगति की है जो अभी तक उसे आरंभ नहीं कर सके हैं उन्हें उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

६ -आत्मचिंतन और सत्संकल्प

युग-निर्माण का सत्संकल्प हमें नित्य प्रातः उठते समय और रात को सोते समय पढ़ना चाहिए। उसके अनुसार जीवन ढालना चाहिए। सोते समय दिनभर के कामो का लेखा-जोखा लेना चाहिए और जो भूलें उस दिन हुई हों वे दूसरे दिन न होने पावें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। जीव को दिन-दिन शुद्ध करते रहा जाय।

७- अविच्छिन्न दान परम्परा

नित्य कुछ समय और कुछ धन परमार्थ कार्यों के लिए देते रहने का कार्यक्रम बनाना चाहिए । दान हमारे जीवन की एक अविच्छिन्न आध्यात्मिक परम्परा के रूप में चलता रहे। इस प्रकार अपनी आजीविका का एक अंश नियमित रूप से परमार्थ के लिए लगाया जाता रहे, इसके लिए कोई धर्मपेटी या धर्मघट में अन्न या पैसा डालते रहा जाय। यह धन केवल सद्भावना प्रसार के ज्ञान-यज्ञ में ही खर्च हो। युग निर्माण का आधार वही तो है।

इसी प्रकार धर्म प्रचार के लिए, जन संपर्क के लिए कुछ समय भी नित्य दिया जाय। नित्य न बन पड़े तो साप्ताहिक अवकाश के दिन अधिक समय दे करके दैनिक क्रम की पूर्ति की जाय। सद्भावनाओं के प्रसार और जागरण के लिए जनसंपर्क ही प्रधान उपाय है। इसमें झिझक या संकोच करने की, अपमान अनुभव करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं।

८-सत्याग्रही स्वयंसेवक सेना

सामाजिक कुरीतियों एवं नैतिक बुराइयों को मिटाने के लिए राग-द्वेष से रहित, संयमी, मधुर व्यवहार वाले और दृढ़ चरित्र व्यक्तियों की एक ऐसी सत्याग्रही सेना गठित की जानी है, जो दूसरों को बिना कष्ट पहुँचाये अपने ही त्याग-तप से बुराइयाँ छुड़ाने के लिए कष्ट सहने को तैयार हो। सत्याग्रह कहाँ, किस सीमा तक, किस प्रकार किया जाय यह एक बहुत ही दूरदर्शिता का प्रश्न है। इन सब बातों का ध्यान रखते हुए सत्याग्रही स्वयं सेवक सेना का गठन और उसके द्वारा बुराइयों के उन्मूलन की व्यवस्था भी करनी ही पड़ेगी। इसके लिए उपयुक्त व्यक्तियों को अपना नाम स्वयंसेवकों की श्रेणी में लिखाना चाहिए।

युग परिवर्तन की संभावनाएँ साकार होकर रहेंगी

युग निर्माण योजना का लक्ष्य व्यक्ति में देवत्व का उदय एवं धरती पर स्वर्ग का अवतरण करना है। व्यक्ति में दैवी और आसुरी दोनों ही तत्व मौजूद हैं। संसार में प्रकाश की तुलना में अंधकार, सफेदी की तुलना में कालिमा कम है। देवत्व की तुलना में असुरता भी कम है। पुण्य से पाप कम ही रहता है। मर्यादाओं के पालन से उल्लंघन कम ही होता है। दुष्ट-दुरात्मा व्यक्ति भी जीवन की मूलभूत मर्यादाओं का पालन करते हैं अन्यथा उनका शरीर-परिवार तक स्थिर न रह सके। दृष्टिकोण में, वातावरण में अवांछनीयता घुस पड़ने से ही असुरता पनप उठती है और निकृष्टता के दुःखद दृश्य सामने उपस्थित होते हैं पर वह स्थिति स्वाभाविक नहीं।

आत्मा मूलतः पापी नहीं है। उसमें ईश्वरीय सत्ता की प्रधानता है। यदि उसे समुचित सिंचन-पोषण, प्रोत्साहन मिलता रहे तो निस्संदेह मनुष्य की महानता अक्षुण्ण बनी रह सकती है और वह देवत्व से भरा-पूरा रह सकता है। असुरता अस्वाभाविक और अवांछनीय है, देवत्व स्वभाविक और वांछनीय। असुरता का अभिवर्द्धन जितना कठिन है, उतना देवत्व को बढ़ाना जटिल नहीं। केवल प्रवाह पलटने भर की बात है, ढर्रा भर बदलना है, स्वभाव, रुचि और अभ्यास में हेर-फेर करना है। इतनी सी प्रक्रिया जहाँ संपन्न हुई वहाँ मनुष्य में देवत्व के उदय का लक्ष्य सहज ही पूरा हो जायेगा। इसमें न तो कुछ अस्वाभाविक है, न कठिन, न असंभव, न आश्चर्यजनक; यह नितांत सहज प्रक्रिया है।

योजना का प्रयास धरती पर स्वर्ग के अवतरण का है। यह कोई भिन्न कार्य नहीं। मनुष्य में देवत्व के उदय की प्रतिक्रिया मात्र है। जब मनुष्य में उत्कृष्टता बढ़ेगी और उसकी भावनाओं मे स्नेह, सद्भाव, सहयोग, संयम,

उदारता, श्रमनिष्ठा, स्वच्छता, नम्रता, कर्तव्यनिष्ठा जैसे गुण बढ़ेंगे तब इस भावनात्मक आधार पर पारस्परिक सहयोग का स्वरूप पग-पग पर सुखद परिणाम उत्पन्न करेगा। इन दिनों विघटनात्मक दिशा में लगा हुआ चिंतन और कर्म जब विधेयात्मक कार्यों में लगेगा तो सामाजिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में प्रगति और सुख-शांति के तत्व तेजी से बढ़ते जायेंगे। तब शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक हर दिशा में आशाजनक उन्नति दिखाई पड़ेगी। विघटन में, अशुभ चिंतन में लगी हुई मानव शक्ति का जब वह अपव्यय रुक जायगा और वह सृजन की दिशा में नियोजित होगी तो खाई खोदना बंद करके दीवार उठाने में लग जाने की तरह दुहरी प्रगति होती चली जायेगी और मनुष्य में देवत्व के उदय के साथ-साथ धरती पर स्वर्ग का अवतरण भी प्रत्यक्ष होगा।

यह चिंतन सही नहीं है कि आर्थिक कारणों से सुख-दुःख बढ़ते हैं। यदि यह बात सही रही होती तो महीने में लाखों रुपया कमाने वाले डाकू सुख-शांति का जीवन जी रहे होते और विपुल साधन सम्पन्न लोगों ने अपने लिए, अपने परिवार के लिए, विश्व के लिए कुछ कहने लायक उपलब्धियाँ प्रस्तुत की होतीं पर सही बात यह है कि भौतिक साधनों के साथ यदि शुद्ध भावना न हो तो उलटे विपत्ति उत्पन्न करते हैं। विज्ञान और धन की वृद्धि ने संसार को जितना सुख पहुँचाया है, उससे अधिक विपत्ति उत्पन्न की है। आर्थिक प्रगति यदि रावण के बराबर भी हर आदमी कर ले तो भी इस संसार में रत्तीभर भी खुशहाली नहीं बढ़ेगी। उस बढ़ी हुई संपदा के साथ जुड़ी हुई दुर्बुद्धि साठ लाख यादवों की तरह परस्पर लड़-कटकर मर जाने का ही पथ प्रशस्त करेगी। अमरता और असुर शक्ति का वरदान पाकर भी सुंद और उपसुंद असुर सगे भाई होते हुए भी परस्पर पड़कर मिट गए थे। एकाकी अर्थ मनुष्य पर विपत्ति ही ढाता है। इसके विपरीत यदि एकाकी सद्भाव हो तो अर्थ सहज ही उत्पन्न हो जाता है अथवा स्वल्प अर्थ में भी सुख-शांति जुट जाती है।

अपनी इन्हीं मान्यताओं और क्रिया पद्धतियों को लेकर युग निर्माण योजना एक सुनियोजित और सुव्यवस्थित गति से आगे बढ़ती चली जा रही है। दूसरे संगठन या आंदोलन दो आधार लेकर चलते हैं- (१) आर्थिक साधन, (२) तथाकथित बड़े और प्रभावशाली व्यक्तियों का सम्बन्ध। बड़े कहलाने वाले संगठनों की चमक-दमक हलचल दीख पड़ती है, उनमें बड़े आदमियों का बुद्धि-कौशल व्यक्तित्व और धन छाया रहता है और उसी आधार पर वह आवरण खड़ा रहता है। जड़ बिल्कुल खोखली होती है। नीचे से एक ईंट निकली कि सारा ढाँचा लड़खड़ाकर गिर पड़ता है। कल के बड़े आंदोलन और बड़े संगठन आज विस्मृति के गर्त में गिरते दिखाई पड़ते हैं।

युग निर्माण योजना का मूल आधार जीवित भावना सम्पन्न और सुसंस्कारी व्यक्तियों का संग्रह है। इसे एक अद्भुत उपलब्धि ही कहना चाहिए कि एक-एक करके ढूँढ़ते हुए व्यक्तिगत ढूँढ़-खोज और परख करते हुए व्यक्तिगत संपर्क के आधार पर ऐसे भावनाशील और आदर्शवादी व्यक्तित्व ढूँढ़ निकाले गये। उन्हें एक सूत्र में माला की तरह गूँथा गया और एक ऐसी बहुमुखी कार्य पद्धति दी गई जिसके आधार पर वह संगठन प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक विविध प्रवृत्तियों के अपने क्षेत्र में, अपने ढंग से, अपनी योग्यतानुसार चलाता रह सके। कार्य करने से ही अभ्यास बढ़ता है, अनुभव होता है और उत्साह उमड़ता है और साहस चलता है। शतसूत्री योजनाओं में संलग्न युग निर्माण परिवार अब ऐसी स्थिति में विकसित हो गया है कि जिन आदर्शों को लेकर यह अभियान आरंभ हुआ था, उसकी संभावना को सफलता के रूप में देखा जा सके।

शाखा की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति प्रायः परिजन ही आपस में मिल-जुलकर पूरी कर लेते हैं। नित्य कुछ समय और कुछ पैसा नवनिर्माण के लिए देने का संकल्प, सर्वत्र हर शाखा-संगठन को हरा-भरा और फला-फूला बनाए हुए है। उसके लिए किसी धनी-दानी का दरवाजा नहीं खटखटाना पड़ता और न प्रभावशाली, प्रतिभावान तथाकथित बड़े आदमियों को ढूँढ़ना पड़ता है। धनी, विद्वान, राजनेता इस अभियान में प्राय नहीं के बराबर हैं। पर जो हैं वे मध्य वर्ग के होते हुए भी पिछले दिनों आदर्शों के प्रति निष्ठा परिपक्व करते चले आए हैं और अब भौतिक दृष्टि से छोटे से सामान्य दीखते हुए भी जैट विमानों की तरह अपने लक्ष्य की ओर तीर की तरह सनसनाते हुए बढ़ते चले जा रहे हैं।

कार्य भले ही कम हुआ हो, पर कार्यकर्त्ताओं ने अपने क्षेत्र में असाधारण श्रद्धा अर्जित की है, जन-शक्ति को साथ लेकर चलने में आश्चर्यजनक सफलता पाई है। पिछले दिनों की उपलब्धियों पर दृष्टिपात करने से दो तथ्य ऐसे हैं जिन्हें देखते हुए यह विश्वास किया जा सकता है। कि कुछ दिन पहले जिस आंदोलन को बहस, सनक, कल्पना की उड़ान, छोटे मुँह की बात, असंभव आदि कहकर उपहास उड़ाया जाता था वह अगले दिनों तक यथार्थता बनने जा रहा है। इसके दो कारण हैं- (१) परिवार का आदर्शवादी आस्थाओं के आधार पर गठन। (२) जनता की आकांक्षाओं के, युग की माँग के अनुरूप कार्य पद्धति का अपनाया जाना। गाँधी जी का आंदोलन इन दो कारणों से ही सफल हुआ था। एक तो उन दिनों एक से एक बढ़कर भावनाशील और निर्मल चरित्र व्यक्ति इसमें सम्मिलित हुए थे, दूसरे देश की जनता का बच्चा-बच्चा जिस स्वतंत्रता की आवश्यकता अनुभव करता था उसी की पूर्ति को लक्ष्य बनाकर काँग्रेस चल रही थी। ठीक यही इतिहास ज्यों का त्यों युग निर्माण

योजना दुहरा रही है और ठीक उसी आधार पर उसे जन सहयोग मिल रहा है तथा असंभव समझा जाने वाला लक्ष्य नितांत संभव होता दीख रहा है।

किसी कार्य की सबसे बड़ी सफलता, उसका पुष्ट होना तथा ठोस आधार बनना कहा जा सकता है। सारे देश में बिखरे हुए कार्यकर्त्ताओं में गहन आत्मीयता का भाव और लोकहित में अपना अधिक से अधिक योगदान देने की प्रबल लालसा एक ऐसा तथ्य है, जिसकी झलक मात्र पाकर लोगों का मन हर्षित-प्रफुल्लित हो उठता है। समाज के विभिन्न वर्गों में विभिन्न स्तरों पर शक्ति और समाज की स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार युग-निर्माण के नैष्ठिक परिजनों को निस्पृह भाव से कर्तव्यरत हर कोई हर जगह दे सकता है।

जनता की जो आकांक्षायें आज हैं, उसी के अनुरूप युगनिर्माण योजना मार्गदर्शन दे रही है, भावनाओं का परिवर्तन, सृजनात्मक कार्यों में पारस्परिक सहयोग का उत्साहपूर्वक नियोजन, अवांछनीयता से हर क्षेत्र में लड़ पड़ने का शौर्य-साहस यह तीनों ही प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो एक बार उभरी सो उभरीं। असुरता में ही पनपने की शक्ति हो सो बात नहीं है, देवत्व में भी आत्मविस्तार की क्षमता है। उसे यदि अवसर मिल सके तो उसका अभिवर्द्धन और भी अधिक द्रुतगति से होता है। एक व्यक्ति दूसरों को बनाए- यही है सच्चा और ठोस आधार।

पोला आधार वह है जिसमें लाउडस्पीकर चिल्लाते और अखबार लंबे-लंबे समाचार छापते हैं। मंच-पंडाल बनते, धुँआधार भाषण होते और पर्चे-पोस्टरों के गुब्बारे उड़ते हैं। किराए पर जुलूस की भीड़ जमा करने का भी अब एक व्यवस्थित धंधा चल पड़ा है। यह फुलझड़ियाँ बिल्कुल बचकानी हैं और आंदोलनों के नाम पर यही तमाशे हर ओर खड़े दिखाई पड़ते हैं। इस विडंबना के युग में युग निर्माण योजना अपना अलग आधार लेकर ही चल रही है। व्यक्ति द्वारा व्यक्ति को बनाया जाना, दीपक द्वारा दीपक को जलाया जाना, यही है अपना सिद्धान्त । चंदा माँगते फिरने से काम शुरू करना नहीं वरन् घर से खैरात शुरू करना, स्वयं समय और पैसा खर्च करके अपनी निष्ठा का परिचय देना और उसी से दूसरों में अनुकरण की आकांक्षा उत्पन्न करना यही है अपना वह क्रिया-कलाप जिसने लक्ष्य की ओर द्रुतगति से चलने में कीर्तिमान स्थापित किया है।

कार्यक्रमों की चर्चा अन्यत्र की गई है। यहाँ कार्य करने की शैली का प्रसंग है। युग निर्माण परिवार का हर सदस्य यह व्रत लेकर चलता है कि वह तब तक चैन न लेगा जब तक कि अपने ही जैसे निष्ठावान और कर्मठ दस नए व्यक्ति तैयार न कर लेगा। उसके लिए वह एक घंटा समय निकालकर अपने परिवार, पड़ोस, मित्र, संपर्क, परिचय, अपरिचय के क्षेत्र में मारा-मारा फिरता है, घर-घर जाता है, जन-जन का द्वार खटखटाता है। पढ़ों को के लिए देता है, बिना पढ़ों को सुनाता है । आज की परिस्थितियों के साथ योजना द्वारा प्रस्तुत समाधानों को समझाता है।

हर दिन १०-१५ लोगों से संपर्क करना, सिर खपाना उद्देश्य बनाया गया हो तो सफलता कहाँ न मिलेगी। सहानुभूति के साथ बात के सुनने वाले, समर्थन करने वाले, रुचि लेने वाले प्रायः सभी बनते हैं। क्योंकि प्रतिपादन सारगर्भित है। छोटे-मोटे आयोजनों की शृंखला संस्कारों और पर्वों के माध्यम से चलती ही रहती है। महीने में एक दो कार्यक्रम होते ही रहते हैं। उनमें उन सहानुभूति वाले व्यक्तियों को अनुरोधपूर्वक लाया जाता है। घनिष्टता बढ़ती है, उत्साह उमड़ता है और देखते-देखते नए अपरिचित लोग इन प्रवृत्तियों में इस तरह जुट जाते हैं मानो वे वर्षों पुराने पदाधिकारी या संस्थापक, संचालक ही इस मिशन के हों।

एक से दस; दस से सौ, सौ से हजार , हजार से दस हजार, दस हजार से लाख । दस की संख्या गुणित होती चली जाय तो पाँचवे चक्र में पहुँचते-पहुँचते एक से दस लाख बन सकते हैं, यह सिद्धांत गणित के आधार पर ही सही नहीं है, यथार्थता के आधार पर भी सही है। इसे देखना हो तो आज से कई वर्ष पूर्व एक व्यक्ति ने एक पंद्रह रुपये मासिक के किराए के घर में बैठकर इस अभियान का एकाकी आरंभ किया था और अब उस परिवार में २४ लाख सक्रिय सदस्यों , कर्मठ कार्यकर्ताओं और कर्मयोगी वानप्रस्थों की विशाल सृजन सेना खड़ी है, खड़ी ही नहीं बल्कि उलट-पुलट और उथल-पुथल के मोर्चों पर मोर्चे जीतती भी चली जा रही है।

परिवार के परिजनों ने जब यह शपथ ले रखी हो कि उस प्रकाश को अपने तक सीमत नहीं रखेगा, वरन् कम से कम इस को प्रकाशवान करेगा, दस कल्पवृक्ष लगाएगा, दस सृजन सेना के सैनिक भर्ती करेगा तो कोई कारण नहीं कि इस छोटे से संकल्प को पूरा न किया जा सके। जहाँ आज एक चिनगारी है, कल वहाँ तिनके जलते दीखते हैं। यह विकासोन्मुख क्रम यदि क्रमशः प्रचंड दावानल का रूप धारण करता चला जाय तो इसमें आश्चर्यजनक कुछ भी नहीं, यह नितांत स्वाभाविक और सरल प्रक्रिया है। घास की जड़ हो तो उसमें से दस पत्ते फूटने में कितनी देर लगती है। निराशा वहाँ हाथ लगेगी जहाँ आसमान से कागज के फूल गिराये जाएँगे और फिर उनसे पुष्प वाटिका बनी या नहीं यह इंतजार किया जायगा।

युग निर्माण योजना की सबसे बड़ी संपत्ति उस परिवार के परिजनों की निष्ठा है, जिसे कूटनीति एवं व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं के आधार पर नहीं, धर्म और अध्यात्म की निष्ठा के आधार पर बोया, उगाया और बढ़ाया गया है। किसी को पदाधिकारी बनने की इच्छा नहीं, फोटो छपाने के लिए एक भी तैयार नहीं, नेता बनने के लिए कोई उत्सुक नहीं, कुछ कमाने के लिए नहीं, कुछ गँवाने के लिए जो आए हों उनके बीच इस प्रकार कल छल छद्म लेकर कोई घुसने का भी प्रयत्न करे तो उस मोर का पर

गाने वाले कौवे को सहज ही पहचान लिया जाता है और चलता कर दिया जाता है । यही कारण है कि इस विकासोन्मुख हलचल में सम्मिलित होने के लिए कई व्यक्तिगत महत्वाकांक्षी आए पर वे अपनी दाल गलती न देखकर वापस लौट गए। यहाँ निस्पृह और भावनाशील, परमार्थ परायण, निष्ठा के धनी को ही सिर माथे पर रखा जाता है। धूर्तता को सिर पर पाँव रखकर उलटे लौटना पड़ता है। यह विशेषता इस संगठन में न होती तो महत्वकांक्षाओं ने अब तक इस अभियान को भी कब का निगलकर हजम कर लिया होता ।

अखबारों में अपने लिए कोई स्थान नहीं, उन बेचारों को राजनीतिक हथकंडे और सिनेमा के करतब छापने से ही फुरसत नहीं, धनियों को अपनी यश-लोलुपता तथा सीधे-पानी का कुछ जुगाड़ बनता नहीं दीखता, इस दृष्टि से मिशन को साधनहीन कहा जा सकता है पर निष्ठा से भरे-पूरे और विश्व मानव की सेवा के लिए कुछ बढ़-चढ़कर अनुदान प्रस्तुत करने के लिए व्याकुल अंतःकरण ही अपनी वह शक्ति है जिसके आधार पर देश के नहीं विश्व के कोने-कोने में, घर-घर और जन-जन के मन में इस प्रकाश की किरणें पहुँचने की आशा की जा रही है। एक से दस- एक से दस -एक से दस की रट लगाए हुए हम आज के थोड़े से व्यक्ति कल जन-मानस पर छा जायँगे। इसे किसी को आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। लगन संसार की सबसे बड़ी शक्ति है। आदर्शों को कार्यान्वित करने के लिए आतुर व्यक्ति भी यदि युग परिवर्तन के स्वप्न साकार नहीं कर सकते तो फिर और कौन उस भार को वहन करेगा?

इन आरंभिक दिनों में कुछ साधन मिल जाते तो कितना अच्छा होता। समाचार पत्रों ने अभियान का महत्व समझा होता और इन उदीयमान प्रवृत्तियों के प्रचार कार्य को अपनी कुछ पंक्तियों में स्थान दिया होता तो और भी अधिक सुविधा होती। कुछ साधन संपन्न ऐसे भी होते जो यश का बदला पाने की इच्छा के बिना पैसे से सहायता कर सके होते, कुछ कलाकार, साहित्यकार, गायक ऐसे मिले होते जो धन बटोरने की मृगतृष्णा में अपनी विभूतियाँ भी खो बैठने की अपेक्षा उन्हें नव-निर्माण के लिए समर्पित कर सके होते, कुछ प्रतिभाशाली लोग राजनीति की कुचालों में उलझे बार-बार लातें बटोरते फिरने की ललक छोड़कर अपने व्यक्तित्व को लोक-मंगल की इस युग पुकार को सुन सकने में लगा सके होते तो कितना अच्छा होता।

पर अभी उनका समय कहाँ आया है? फूल खिलने में देर है। अभी तो यहाँ बोने के दिन चल रहे हैं। भौंरे, मधुमक्खियाँ, तितलियाँ आयेंगी तो बहुत, कलाप्रेमी और सौंदर्यपारखी भी चक्कर काटेंगे, पर इन बुआई के दिनों में एक घड़ा पानी और एक थैला खाद लेकर कौन आ सकता है? इस दुनिया में सफलता मिलने पर जयमाला पहनाई जाती है। इसके लिए प्रयास कर रहे साधनहीन को तो व्यंग्य-उपहास और तिरस्कार का ही पात्र बनाया जाता है। यह आशा हमें भी करनी चाहिए।

साधन संपन्न का यह स्वभाव होता है कि वह हर विशेषता को, हर प्रतिभा को अपने इशारे पर चलाना चाहता है पर विश्व को नई दिशा देने वाले उनके पीछे चलने के लिए नहीं, उन्हीं की विकृति दिशा को सुधारने के लिए सन्नद्ध हैं। ऐसी स्थिति में उनमें खीज, असहयोग, उपहास तथा विरोध के भाव उठें, तो कोई आश्चर्य नहीं।

निराशा की कोई बात नहीं। अपना उपास्य जन-देवता है। उसकी शक्ति सबसे बड़ी है। जन-मानस का उभार शक्ति का स्रोत है। वह जिधर निकलता है उधर ही रास्ता बनता चला जाता है। नव-निर्माण की गंगा का अवतरण अपना रास्ता भी बना ही लेगा। मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण का प्रयास आज अपने शैशव में भी आशा और विश्वास की हरियाली लहलहा रही है। कल उस पर फूल और फल भी लदे हुए देखे जा सकेंगे। एक से दस बनने की जो शपथ इस मिशन के परिजनों ने ली है वह अपना रंग दिखाएगी। असंभव दीखने वाला कार्य संभव हो सकेगा।

युग-निर्माण अभियान और उसकी व्यापकता

सृष्टि का निर्माण, अभिवर्द्धन और परिष्कार करने में ईश्वर की तीन शक्तियाँ काम करती हैं जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु, और महेश के नाम से पुकारते, पहचानते हैं। सृष्टि-निर्माण ही क्यों संसार के हर काम की सफलता के स्तर में उपरोक्त तीन गतिविधियों का समावेश करना पड़ता है कृषि को ही लीजिये उसे कर सकने योग्य ज्ञान तथा साधनों का संचय, बीज बोना और पौधों को सींचना-सँभालना, पकी हुई फसल को काटना, मींडना- इन चरणों के संपन्न होने पर ही कृषि कार्य से लाभान्वित हो सकना संभव होता है। माली भी यही करता है। बीज बोने, खाद-पानी की व्यवस्था करके और खरपतवार तथा पौधों की अस्त-व्यस्त डालियों की काट-छाँट करके ही बगीचे को सुरम्य और सफल स्थिति तक पहुँचाता है। गर्भस्थ बालक का बीजारोपण, जन्मे बालक का भरण-पोषण, शिक्षण, विकास, वृद्धावस्था के जीर्ण-शीर्ण क्लेवर का मृत्यु के रूप में निराकरण एवं परिवर्तन प्राणियों की जीवन- प्रक्रिया भी इसी आधार पर चलती है। स्वयं सृष्टि इसी उत्पत्ति, प्रौढ़ता एवं प्रलय के क्रमानुसार चलती रहती है। सूर्य का अरुणोदय, प्रखर मध्यान्ह एवं संध्याकालीन अवसान हम नित्य ही देखते हैं।

अध्यात्म की भाषा में इसे ज्ञान, कर्म और भक्ति कहते हैं। योग की यही तीन धारा एवं तीन परिणति हैं। गंगा, यमुना व सरस्वती का संगम तीर्थराज कहलाता है और ज्ञान, कर्म तथा भक्ति समन्वय योग। ज्ञान का तात्पर्य

आत्मबोध, जीवनोद्देश्य तथा संजीवनी विद्या, ब्रह्म विद्या की आंतरिक निष्ठा। कर्म का अर्थ अपने शारीरिक, मानसिक क्रिया-कलापों में उत्कृष्टता, आदर्शवादिता एवं व्यवस्था का समावेश। भक्ति का अर्थ प्रेम, सेवा उदारता की प्रक्रिया चरितार्थ करने के लिए त्याग, बलिदान की, संयम तथा नियंत्रण की अपने में तथा दूसरों में प्रखर प्रतिष्ठापना। भक्ति का स्वरूप है समर्पण। अहंता, स्वार्थपरता एवं संकीर्णता का निराकरण करके दीपक स्वयं को जलाकर दूसरों को प्रकाश देता है। बीज अपने को गलाकर वृक्ष के रूप में परिणत होता है। यही तुच्छता को मिटाकर महत्ता मे परिणत होने की प्रक्रिया भक्ति कहलाती है। ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिविध समन्वयात्मक साधना ही आत्मिक पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचाती है। इस साधना क्रम में भी वही निर्माण, पोषण और विनाश की प्रक्रिया सन्निहित है जिसके लिए ईश्वर की ब्रह्मा, विष्णु व महेश शक्तियाँ निरंतर गतिशील रहती हैं।

युग निर्माण योजना भी वस्तुतः एक नया सृजन है। सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय जैसी विस्मयकारक तो नहीं पर लगभग है उसी स्तर की। जीर्ण-शीर्ण खंडहर जैसे मरणोन्मुख भूत का विनाश और उसके स्थान पर नवीन देव मंदिर का शिलान्यास और विशालकाय निर्माण तथा उस भवन में देव प्रतिमा की संस्थापना तथा अमृतत्व का मंगलमय प्रवाह। यही त्रिविधि प्रक्रिया अपनी युग निर्माण योजना की है। सृजन, पोषण और परिष्कार की त्रिविधि प्रक्रिया अपनाने से ही यह नव-निर्माण का प्रयोजन संभव हो सकेगा। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रिविध शक्तियाँ इसमें अविच्छिन्न रूप से नियोजित रहेंगी और ज्ञान, कर्म, भक्ति की त्रिवेणी समुचित रूप से प्रवाहित होती रहेगी।

पिछले दिनों संसार को तमसाच्छन्न स्थिति में होकर गुजरना पड़ा है। किसी समय अपनी महान संस्कृति का सूर्य मध्यान्ह की प्रखरता के साथ दशों दिशाओं को प्रकाशवान कर रहा था और यह देव भावनाओं से भरी-पूरी भारतभूमि स्वर्गादपि गरीयसी बनी हुई थी। समस्त ससार उससे प्रकाश ग्रहण करता था और लाभान्वित होता था। समय का ही फेर करना चाहिए कि वह वर्चस्व की प्रौढ़ता का प्रकाश ढलता चला गया और अंधकार भरी रात्रि ने अपनी काली चादर तान ली। महाभारत से लेकर अद्यावधि यही स्थिति बनी हुई है। व्यक्ति जितना अशांत, उद्विग्न, संतप्त, असंतुष्ट, अभावग्रस्त, भ्रांत, रुग्ण, पीड़ित और दीन-दुर्बल आज है उतना इससे पूर्व कभी नहीं रहा। सामाजिक जीवन में जितनी अव्यवस्था, अनिश्चितता, असुरक्षा, अनीति, उच्छृंखलता आज है उतनी इतिहास में पहले कभी नहीं पाई गयी। सामंतवादी और आक्रमणकारी लुटेरों का भी शासन यहाँ रहा है पर व्यक्ति का स्तर इतना नीचा नहीं हुआ और समाज व्यवस्था का, पारस्परिक सहयोग-सामंजस्य एवं सद्भाव का क्रम इतना कभी नहीं गड़बड़ाया। इस तमसाच्छन्न स्थिति ने हमें अंतःकलह और अंतर्द्वन्द्वों में इतना उलझा दिया कि हजार वर्ष की अति लम्बी और अति लज्जाजनक विदेशी नृशंस दासता का उत्पीड़न हमें सहना पड़ा।

स्थिति यह है कि व्यक्ति और समाज का यही ढर्रा कुछ समय और चलता रहा तो मनुष्य-मनुष्य न रहकर भेड़िया बन जाएगा और एक दूसरे के खून का प्यासा बनकर रहेगा। समाज में अपराधों की ऐसी बाढ़ आएगी कि सभ्यता के जो हरे-भरे पेड़-पौधे जहाँ-तहाँ दीख रहे हैं वे सभी उखड़ते और बहते नजर आएँगे। विज्ञान के विघातक आविष्कारों ने अणुबमों से लेकर मृत्यु-किरणें तक के अगणित शस्त्र तथा आयुध तैयार कर दिये हैं जो किसी देश क्षेत्र का ही नहीं समस्त विश्व और समस्त प्राणियों का विनाश पलभर में कर सकते हैं। क्रूर और सिरफिरे पागल मनुष्य के हाथ में उतनी अपरिमित शक्ति आ जाने से संभावना इस बात की और भी बढ़ गई है कि परस्पर रक्तपात करने से लेकर सामूहिक सर्वनाश की परिस्थितियाँ आशंका-संभावना तक सीमित न रहकर मूर्तिमान विभीषिका के रूप में सामने आ खड़ी हों और नारकीय दावानल के भयावह दृश्य अपनी इन्हीं आँखों से देखने का दुर्भाग्य सहन करना पड़े।

इन परिस्थितियों को यथावत् रहने देने और पतन की प्रक्रिया को इसी ढर्रे पर चलने देने का अर्थ यह होगा कि सर्वनाश की घड़ी को निकट से निकटतम आने देने का पथ प्रशस्त किया जाय। इन दिनों हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना ऐसे भयावह भविष्य को आमंत्रित करना है जिसके गहन गर्त में मानवता का परित्राण कभी भी संभव न हो सके। निस्संदेह इस आपत्तिकाल में बहुत कुछ करना और किया जाना चाहिए। मनुष्य के विवेक और पुरुषार्थ को युग की चुनौती यह है कि इस तमसाच्छन्न सर्वभक्षी सत्यानाशी परिस्थिति को बदलने के लिए प्रबल प्रयत्न किए जायें। आपत्तिकाल में सामान्य कामों को छोड़कर आपत्ति धर्म का ध्यान रखते हुये सारा मनोयोग प्रस्तुत विपन्नता को हटाने में लगा दिया जाता है। आज की स्थिति में ठीक वही किया जाना चाहिए। मानवीय चेतना को इस विभीषिका से त्राण पाने के लिए अपनी सारी शक्ति नियोजित कर देनी चाहिए, भले ही व्यक्तिगत रूप से इस प्रयत्न के कारण अभावों और असुविधाओं का ही सामना क्यों न करना पड़े।

हम समर्थ संघ-शक्ति उत्पन्न करें

संघ-शक्ति की सदा ही प्रमुखता रही है पर इस युग में तो उसका महत्त्व सर्वोपरि है। बुद्धि-बल, धन-बल, श्रम-बल– यह इन तीनों के चमत्कार इस संसार में बिखरे पड़े हैं। विभिन्न प्रकार की विभूतियाँ और समृद्धियाँ इन तीन

आधारों पर ही मनुष्य उपलब्ध करता है। इसलिए इनका महत्त्व विदित है। इन तीन बलों को उपार्जन करने के लिये विविध प्रयत्न भी करते हैं। सरस्वती के रूप में बुद्धि की, लक्ष्मी के रूप में धन की, श्रम के रूप में दुर्गा की पूजा-उपासना करते हैं पर उस संघ-शक्ति का महत्त्व भुला देते हैं। जो सर्वोपरि है। गायत्री महामंत्र समूहवाद का मन्त्र है। इसका तत्व-ज्ञान 'नः' शब्द में सन्निहित है। यह कहता है कि एकाकीपन में नहीं, संगठित एवं सम्मिलित प्रयत्नों में ही मानवीय कल्याण का श्रेय-साधन छिपा हुआ है।

एकाकीपन में जड़ता और नीरसता है। कोई परमहंस स्थिति को पहुँचा हुआ व्यक्ति ही उसमें आनंद ले सकता है, सो भी तब जब विश्वात्मा के साथ अपनी आत्मा को पिरोकर सूक्ष्म चेतना स्तर पर वसुधैव कुटुम्बकम का रस लेने लगे अन्यथा एकाकी जीवन बहुत ही विकृत एवम् कष्टसाध्य बन जाता है। जेल में कैदियों को सबसे बड़ी सजा काल कोठरी की दी जाती है। उसे एक अलग कोठरी में बन्द रहना पड़ता है। काम कुछ नहीं करना पड़ता। दिन-रात फुरसत रहती है। यह एकाकीपन कैदी को इतना अखरता कि उसे एक-एक दिन काटना पहाड़ की तरह कठिन हो जाता है। झुण्ड छोड़कर जो वन्य पशु अकेले रहने लगते हैं वे बड़े क्रूर प्रकृति के हो जाते हैं। अकारण पेड़-पौधों को तोड़ते हैं और जीवों पर आक्रमण करते हुए अपनी दुष्टता का प्रदर्शन करते रहते हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, मनुष्यता का निखार सामूहिक जीवन में ही सम्भव है।

सम्मिलित जीवन में एक उल्लास भरी शक्ति उत्पन्न होती है। उसी की उपलब्धि के लिए गृहस्थ लोग परिवार बसाते हैं। विरक्त लोग अखाड़े, आश्रम, मठ तथा सम्प्रदाय खड़े करते हैं। मेले-ठेलों में जाना हर दृष्टि से असुविधाजनक, कष्टकर एवम् खर्चीला ही पड़ता है, फिर भी लोग बड़े चाव के साथ जाने की तैयारी करते हैं, क्योंकि जन-संकुल वातावरण में एक ऐसा आनन्द रहता है जिससे सहज ही बहुत आनन्द मिलता है। विवाह बारातों में जाकर प्रसन्न होने का यही कारण है। जुलूसों और सम्मेलनों में सम्मिलित होने वाले लोग तद्‌विषयक प्रेरणा और प्रोत्साहन लेकर लौटते हैं। गाँवों को छोड़कर लोग शहरों की ओर इसीलिए भागते रहते हैं कि वहाँ के जन-संकुल वातावरण में अनेक असुविधाएँ रहने पर भी एक मानसिक सुख मिलता है।

सम्मिलन में केवल प्रसन्नता ही नहीं मिलती, उसमें शक्ति भी सन्निहित है। एकाकी व्यक्ति कितना ही समर्थ क्यों न हो कुछ बड़ा काम नहीं कर सकता, पर बहुत से आत्मसामर्थ्यवान् मिलकर भी बहुत बड़ा काम कर सकते हैं। टिड्डीदल फसलों और जंगलों को सफाचट कर देता है। चींटियों का एक छोटा दल हाथी की सूड़ में प्रवेश कर गजराज को मृत्यु के मुख में पहुँचा देता है। अभी-अभी कल परसों की बात है जनता ने हाथ उठाकर- वोट देकर, देखते-देखते काँग्रेस पार्टी को शासन के उस मंच पर जा बिठाला, जिसके लिये अँग्रेजों को दो सौ वर्ष छल-बल समेत भारी प्रयत्न करना पड़ा था। समूह की शक्ति असाधारण है। इसी से कलियुग में संघशक्ति को सर्वोपरि माना गया है। नव-निर्माण के लिये हमें इसी महाशक्ति को जाग्रत एवम् प्रयुक्त करना पड़ेगा। एकाकी प्रयत्नों से इतना बड़ा महाअभियान सम्पन्न नहीं हो सकता, चाहे उसका संचालक कितना ही समर्थ व्यक्ति क्यों न हो।

अवतारी महापुरुषों को भी जन-शक्ति का शस्त्र लेकर ही आगे बढ़ना पड़ा है। शिवजी सर्वसमर्थ हैं पर अपने प्रयोजनों की पूर्ति वे अपने वीरभद्र, नान्दी, भूत, बैतालों की गण-सेना द्वारा ही कराते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि जब असुरों से देवता हार गये तब वे प्रजापति के पास विजय का उपाय पूछने गये। प्रजापति ने देवताओं की थोड़ी-थोड़ी शक्ति इकट्ठी कर, उससे एक सम्मिलित शक्ति-पुंज उत्पन्न किया जो दुर्गा के नाम से प्रख्यात होकर मधुकैटभ, महिषासुर, शुम्भ-निशुम्भ जैसा महादानवों को ससैन्य संहार करने में समर्थ हुई। असुरता से संत्रस्त ऋषियों ने परित्राण का कोई और उपाय न देखकर अपना थोड़ा-थोड़ा रक्त इकट्ठा किया उसे भूमि में गाढ़ा। कालान्तर में वही रक्त घट परिपक्व अवस्था में राजा जनक को मिला और उसमें सन्निहित शक्ति को सीता के नाम से पुकारा गया। यह सीता शक्ति ही असुर साम्राज्य को विध्वंस करने की भूमिका बनी। संघ-शक्ति सर्वत्र ऐसे ही चमत्कार उत्पन्न करती है।

युग-निर्माण के लिए हमें सज्जनों की, धर्मनिष्ठ व्यक्तियों की-शक्ति का एकीकरण करना पड़ेगा। वे आज बिखरे हुए हैं इसी से दुर्बल पड़ रहे हैं, हार रहे हैं, असुरता संगठित है इसलिए वह मोर्चे पर जीत रही है। डाकुओं के छोटे-छोटे दल संगठित होने के कारण अपने क्षेत्रों में भारी आतंक उत्पन्न कर देते हैं और सरकार की भारी शक्ति खर्च कराके भी देर तक पकड़ में नहीं आते। तब क्या सज्जनों का संगठन सृजनात्मक प्रयोजनों की पूर्ति में सफल नहीं हो सकता? असुरता से देवत्व की शक्ति कहीं अधिक है पर वह हारती एक ही कारण से है कि संगठन की ओर उपेक्षा बरतती रहती है। देव प्रकृति के व्यक्ति यदि संगठित होकर सदुद्देश्य के लिए कदम बढ़ायें तो आश्चर्यजनक सफलता सुनिश्चित है। हमें यही करना होगा। हर देव प्रकृति के व्यक्ति को संगठन का महत्व समझना होगा, उन्हें संघबद्ध होने के लिए आग्रह और अनुरोधपूर्वक तैयार करना होगा। उनकी सम्मिलित शक्ति को नव-निर्माण के लिए प्रयुक्त करना होगा। इस दिशा में जितनी सफलता मिलती जायेगी, युग परिवर्तन का पथ उतना ही प्रशस्त होता चला जायगा, जब तक हमारी महान योजनाएँ, दिवास्वप्न की तरह कल्पनालोक में ही विचरण करती रहेंगी।

यों आगे चलकर संगठन तो समस्त विश्व के सभी धर्म प्रेमियों को करना होगा, पर इसका आरंभ अपने छोटे से, 'अखण्ड ज्योति परिवार' से कर रहे हैं। इस परिवार में अधिकांश व्यक्ति पूर्वजन्मों की संचित अध्यात्म सम्पदा वाले हैं। इन्हें प्रयत्नपूर्वक ढूँढ़-ढूँढ़ कर कई वर्षों के प्रयत्न परिश्रम से एक झण्डे के नीचे एकत्रित किया गया है। व्यक्तिगत रूप से भी यह आत्माएँ हमारे साथ अनेक जन्मों से जुड़ी हुई है। इनका संगठन अपेक्षाकृत सरल है। जब कभी थोड़ा प्रयत्न किया गया है ये आसानी से संगठित हो भी गई हैं। गायत्री परिवार के रूप में एक प्रयास किया गया था और २४ लाख के लगभग व्यक्तियों को कुछ ही समय में संगठित कर लिया गया था। उनमें से चार लाख व्यक्ति तो सहस्र कुण्डीय गायत्री यज्ञ में सुदूर प्रदेशों की लम्बी और कष्टसाध्य यात्रा करके मथुरा आये थे। गायत्री प्रचार के उद्देश्य से किया गया वह प्रयत्न अपने समय पर-अपने ढंग से बहुत सफल रहा। अब नव-निर्माण के लिये उससे कुछ ऊँचे स्तर के, अपेक्षाकृत अधिक निष्ठावान व्यक्तियों को संगठित करने की आवश्यकता अनुभव की गई तो यह संकल्प भी असफल न रहेगा।

गायत्री परिवार के संगठन में एक माला महामंत्र जप करने मात्र की सरल शर्त थी। सरल कार्य तो बालक भी कर लेते हैं। प्रौढ़ों का एकीकरण, वह भी उनका जो तप-त्याग और सेवा-साधना का व्रत लेकर आगे आयें कुछ कठिन है। इस प्रयोजन में इतने अधिक व्यक्ति इतनी जल्दी इकट्ठे नहीं हो सकते। फिर भी निराशा जैसी कोई बात नहीं, यह धरती वीरविहीन नहीं हुई है। ऊँचे स्तर के लोग भी यहीं हैं। उनकी मूर्छा भर जागनी है। अपने स्वरूप, कर्तव्य और उत्तरदायित्व को जिस दिन वे समझ सके उसी दिन दीन-दरिद्र की तरह रोता-बिलखता जीवन जीने की अपेक्षा वे प्रकाशवान् गतिविधियाँ अपनाने के लिए मुड़ पड़ेंगे और देखते-देखते युगपुरुषों की महान भूमिका सम्पादित करने लगेंगे। इसी महान् जागरण की प्रेरणा फूँकने के लिए हमारी भावी तपश्चर्या का कार्यक्रम बना है। किन्तु तब तक हाथ-पर-हाथ रख कर बैठे रहने की आवश्यकता नहीं है। सज्जनों की सम्मलित शक्ति को जागृत करने का प्रयत्न हमें आज से ही आरम्भ कर देना चाहिए। उसका कामचलाऊ स्वरूप तो हम ही खड़ा कर सकते हैं।

जहाँ-जहाँ अखण्ड-ज्योति पहुँचती है वहाँ वह तलाश किया जाना चाहिए कि पत्रिका के सदस्य कौन-कौन हैं। अधिक उत्साही व्यक्ति उनसे व्यक्तिगत रूप से मिलें और अनुरोध करें कि आगले वर्ष संघबद्ध होकर रहना है। किसी सुविधा के दिन सबको एकत्रित किया जाय और युग निर्माण शाखा के नाम से एक संगठन बना लिया जाय। किसी सदस्य का एक कमरा कार्यालय के लिए उपलब्ध कर लिया जाय। यह स्थान नगर के बीच में होना चाहिए। जहाँ पहुँचने में सबको सुविधा हो और बिना संकोच के सदस्यगण इकट्ठे होकर परस्पर हँसने-बोलने में किसी प्रकार का बन्धन एवं संकोच अनुभव न करें।

शाखा के लिए कई रजिस्टर बनाने चाहिए। प्र रजिस्टर में सदस्यों और सहायकों की नामावली र सदस्य वे माने जायें जो पैसा खर्च कर 'अखण्ड ज्योति को मँगाते हैं। सहायक वे माने जायें जो पैसा तो ख नहीं करते पर दूसरों से लेकर नियमित रूप से पढ़ ले हैं। पत्रिका पढ़ लेने की शर्त इसलिए रखी गई है कि प्रस्तुत विचारधारा का जिन्हें नियमित प्रशिक्षण मिल रहा होगा, उन्हीं से नियत प्रयोजन के लिए, नियत क्रिया-पद्धति से कुछ काम करने की आशा की जा सकती है। जिन्हें पढ़ने, सुनने, समझने का अवसर ही नहीं मिलता वे पूरी बात से परिचित ही न होंगे। युग-निर्माण शब्द के उल्टे सीधे अर्थ लगावेंगे और ऐसा ऊटपटांग काम करेंगे, ऐसी ऊलजलूल बात करेंगे जिनसे लक्ष्यपूर्ति में सहायता मिलना तो दूर उलटी बाधा उत्पन्न हो। नव-निर्माण की विचारधारा वर्तमान मान्यताओं में भारी उथल-पुथ उत्पन्न करती है। पुराने सड़े-गले ढर्रे को अपनाये बै रहने वाले व्यक्ति अभीष्ट बारीकियों को समझ नहीं पाते फलतः प्रगति के स्थान पर विकृति उत्पन्न करते हैं। हमें क्या सोचना चाहिए और क्या करना चाहिए इसका ठीक तरह प्रशिक्षण 'अखण्ड ज्योति' और 'युग निर्माण योजना' पत्रिकायें ही करती हैं। जो उन्हें पढ़ते तक नहीं उनसे मिशन को गतिशील बनाने की क्या आशा की जायगी। अनजान लोगों की भीड़ इकट्ठी करके बड़ा संगठन बना लेने का विडम्बना भरा मोह नहीं करना चाहिए। संख्या से नहीं उत्कृष्टता से काम चलेगा भले ही वह थोड़ी ही क्यों न हो।

प्रथम रजिस्टर में सदस्यों और सहायकों की नामावली नोट करनी चाहिए दूसरे में मीटिंगों की कार्यवाही दर्ज की जाती रहे। तीसरे में हिसाब रहे। चौथे में पुस्तकालय की पुस्तकें तथा संस्था की सम्पत्ति नोट रहे। पाँचवें में पुस्तक देने और वापिस लेने की जानकारी रहे। छठवें में सदस्यों और सहायकों की जन्मतिथियाँ नोट रहें और जन्मोत्सव मनाये जाने संबंधी-व्यवस्था दर्ज की जाय। यह छह रजिस्टर तो रहने ही चाहिए। आवश्यकतानुसार बढ़ाये भी जा सकते हैं।

शाखा के केन्द्र स्थान पर एक 'नव निर्माण पुस्तकालय' होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। अपना समस्त प्रकाशन उसमें रहे। व्यक्तिगत रूप में जो सदस्य अपने यहाँ 'ज्ञान-मन्दिर' बनाये हुए हैं और झोला पुस्तकालय चला रहे हैं सो तो चलने ही देने चाहिए। साथ ही एक केन्द्रीय पुस्तकालय अवश्य रखा जाना चाहिए ताकि जिन तक साहित्य नहीं पहुँच पा रहा है उन तक पहुँचाने की प्रवृति प्रचलित की जा सके। इसी प्रकार हर सदस्य और सहायक का जन्मोत्सव मनाने का प्रबन्ध भी किया जाय। इस सम्बन्ध में अब तक बहुत कुछ लिखा जाता रहा है। 'जन्मदिवसोत्सव कैसे मनायें ?' 'जन्म-

दिवसोत्सव पद्धति' की पुस्तकें पढ़कर उसकी रूपरेखा आसानी से समझी जा सकती है। छोटे बच्चों के जन्मोत्सव मनाना उनके माँ-बाप का काम है। शाखा का अपने सदस्यों और सहायकों को जन्मोत्सव मनाने पर ही ध्यान केन्द्रित रखना चाहिए। जन्मोत्सवों के माध्यम से इन सदस्यों को महत्वपूर्ण प्रेरणाएँ दी जा सकती हैं। अस्तु, पुस्तकालय और जन्मोत्सवों का कार्य जिस दिन शाखा स्थापित हो उसी दिन से हाथ में ले लेना चाहिए। अन्य कार्य सुविधानुसार पीछे भी किये जा सकते हैं। इसी तरह यज्ञानुष्ठान के अन्तर्गत हर सदस्य को एक माला गायत्री जप नव-निर्माण के लिए करने का अनुरोध किया गया है। उसे व्यापक बनाने का प्रयत्न शाखा संस्थापना के साथ-साथ ही आरम्भ कर देना चाहिए। इस जप-संकल्प में कोई भी सम्मिलित हो सकता है। इसमें सदस्य या सहायक का प्रतिबन्ध नहीं। हर सदस्य को अपने प्रभाव क्षेत्र में अधिक जप-भागीदार उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व इसी अवसर पर सम्भाल लेना चाहिए।

हर स्थानीय संगठन अपने आप में स्वतन्त्र है। उनके ऊपर क्षेत्रीय, प्रान्तीय आदि संगठन न बनेंगे। केन्द्र से जो प्रकाश मिलता है उसके अनुरूप दिशा निर्धारित करने में यह संगठन सहायता ले सकते हैं। किसी तरह का बन्धन उसके साथ भी नहीं हैं। युग निर्माण योजना एक विचार-पद्धति एवं कार्य पद्धति-मात्र है। उसे बन्धनात्मक झंझटों में जकड़ा नहीं गया है। स्थानीय संगठन ही इसके लिए पर्याप्त हैं। प्राचीनकाल में सभी धर्म, सम्प्रदाय एवम् आन्दोलन इसी आधार पर चलते और फलते-फूलते थे। अब जब से 'डेमोक्रेसी' की सरकारी पद्धति धर्म संगठनों और संस्थाओं में घुस पड़ी तब से जो पदलोलुपता का रोग सरकारों में, वही इन संगठनों में भी घुस पड़ा और धूर्त लोग अपने स्वार्थ साधने के लिए उस तन्त्र का दुरुपयोग करने लगे। हमें इस जंजाल से अपने संगठन-क्रम को सर्वथा बचाये रखना है। केवल छोटे स्थानीय संगठन ही पर्याप्त माने जायेंगे। उनका नैतिक एवम् बौद्धिक मार्ग-दर्शन मात्र केन्द्र करेगा।

हाँ, निर्धारित विचारधारा से प्रतिकूल आचरण अथवा प्रमाद करने पर प्रतिबन्ध रहेगा। ऐसे संगठनों को बिरादरी से 'बहिष्कृत' करने का दण्ड दिया जा सकेगा।

'अखण्ड ज्योति परिवार' के हर सदस्य को स्थानीय शाखा के रूप में संगठित हो जाना चाहिए। सूत के कच्चे धागे मिलकर एक ऐसे मजबूत रस्से का रूप धारण करते हैं जिससे मदोन्मत्त गजराज को बाँधा जा सके। बँधी हुई सींकों की बुहारी झाड़ने का काम ठीक तरह करती हैं। संघबद्ध सज्जनों का समाज ही युग बदलने जैसे महान् अभियान को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है।

हम एकाकी न रहें-अपना वंश बढ़ाते चलें

एक से अनेक बनने की इच्छा और आवश्यकता ने ही इस संसार का सृजन किया। ब्रह्म ने सोचा एकाकी जीवन नीरस और निरर्थक है, उसे विकसित और विस्तृत होना चाहिए। इच्छा-संकल्प के रूप में बदली और उसने क्रिया बनकर सृष्टि का मूर्तरूप धारण कर लिया।

ब्रह्म की इस वंश परम्परा को साथ लेकर ही जीव जन्मा है। एक ही आकांक्षा और ज्योति वह भी जलाये बैठा है- विकसित होना-विस्तार करना। यार-दोस्तों की मंडली, मेला-ठेला देखने की प्रवृत्ति, बस्तियों में रहने की इच्छा, परिवार बनाने की आकांक्षा, नेता बनने की उमंग आदि लगभग सभी क्रिया-कलापों के पीछे मूलभूत अन्तः प्रेरणा यही रहती है कि उसे एकाकी नहीं विस्तृत होकर रहना चाहिए। काम-कौतुक, प्रजनन, दम्पत्ति, साहचर्य, परिवार प्रेम के पीछे यही ब्रह्म परम्परा सन्निहित है जिसने इस सृष्टि का सृजन कराया। उससे छुटकारा किसी को नहीं। साधु-संत तक जमात, अखाड़ा, सम्प्रदाय, गुरुकुल, शिष्य-मंडल, गोत्र प्रचलन, सत्संग आदि की व्यवस्था यों परमार्थ वृत्ति से करते हैं पर मूल प्रेरणा उसके पीछे भी एक से अनेक होने की ही है।

वृक्ष-वनस्पतियों तक में यही परम्परा है। एक से अनेक होने की वृत्ति ने ही उन्हें फलने-फूलने का अवसर दिया है। बीज भूमि में बोया जाता है वह एक होता है। धरती माता उसे अपने गर्भ में दुलार देती है और उसे अपना अनुदान-वरदान प्रदान कर अग्रगामी होने का आशीर्वाद देती है। बीज अंकुर बनता है और देखते-देखते उस पर कई पत्ते आ जाते हैं। बीज कई रूपों में आ गया। पौधा बनकर अब उसका विकासक्रम आगे चलता है। डालियाँ फूटती हैं और संख्या बढ़ती हैं, पत्ते-फलों की भरमार दिखाई पड़ती है, हर फल में बहुत से बीज होते हैं। उनसे वृक्ष की वंश परम्परा आगे बढ़ती है। एक ही वृक्ष अपने जीवनकाल में अपने ही जैसे अगणित वृक्ष उत्पन्न करने में सचेष्ट रहता है। फूलने और फलने के पीछे यही तो प्रमुख प्रयोजन है। वनस्पति जगत में यही क्रिया-प्रक्रिया चल रही है। घास से लेकर वट-वृक्षों तक में अपने-अपने ढंग से यही क्रिया-कलाप चल रहे हैं।

जीव-जगत की बात पहले ही कही जा चुकी है। उनमें भूख के बाद दूसरी प्रबल-प्रेरणा काम-कौतुक की रहती है। प्रकृति ने विषयानन्द के आकर्षण से समस्त प्राणियों को इसीलिये बाँधा है कि वे विकास-विस्तार के लिए प्रयत्नशील रहें। माता के हृदय में वात्सल्य का सृजन

इसीलिए हुआ है। दाम्पत्य जीवन में एक-दूसरे के बंधन में बँधना इसलिए स्वीकार किया जाता है- उसमें उल्लास इसलिए रहता है कि अनेक झंझटों और उत्तरदायित्वों के बढ़ते हुए भी एक से दो और दो से अधिक बनने की आन्तरिक अभिलाषा की पूर्ति होती है।

यह भौतिक जीवन के स्थूल क्रिया-कलापों की बात हुई। अध्यात्म-जीवन की विकास-पद्धति में भी यही सिद्धान्त प्रमुख है। अपने आप को समाज का एक अंग मात्र मानना समाजवाद या साम्यवाद है। इसी को नागरिक निष्ठा, देशभक्ति, सामाजिकता के नाम से पुकारते हैं। दान-पुण्य की विविध क्रिया-प्रक्रिया में धर्म का अविच्छिन्न अंग है । अपना सुख-वैभव दूसरों को बाँटना-दूसरों के प्रति ममता की वृद्धि यही तो धार्मिकता है। विश्वात्मा को, परमात्मा को, आत्म-सर्मपण करना ही ईश्वर-भक्ति का दर्शन है । अपनी आत्मा को सबमें-सबकी आत्मा को आपने में समाया देखना, वसुधा को कुटुम्ब मानना विश्व-बन्धुत्व का दृष्टिकोण रखना यही तो अध्यात्म है । छोटे परिवार को ही अपना मानते रहने की संकीर्णता छोड़कर समस्त विश्व को अपना मानने, सब को समान रूप से स्नेह भाजन और सेवासाध्य मानकर आत्मीयता को बिखेरना इसी का नाम तो वानप्रस्थ-संन्यास है। यह उच्च स्तर का आत्म-विस्तार है।

हम किसी भी स्थिति में हों, किसी भी दिशा में चल रहे हों, आत्म-विस्तार की आवश्यकता हर हालत में अनुभव होगी। उस चेष्टा के बिना चैन पड़ेगा ही नहीं। तुच्छता का अर्थ है अपने मन की सीमा-संकीर्णता । महानता का अर्थ है आत्म-भाव का अधिकाधिक विस्तार। पाप का मूल है अहं की संकीर्णता। अपने लिए दूसरों का शोषण इसी प्रवृत्ति के अगणित रूप, अगणित पाप कर्मों के रूप में देखे जाते हैं। पुण्य का मूल 'अहं' का शोधन और अपना मन जितना सघन और विस्तृत होता जाता है, पुण्य-परमार्थ के, सेवा सहृदयता के उतने ही अधिक श्रेष्ठ कार्य बन पड़ते हैं। सीमा बंधन ही मन बंधन है । जो जितने संकुचित दायरे में बँधा हुआ है उसे उतना ही भवबंधन ग्रस्त कहा जाना चाहिए जिसने सीमाबंधन तोड़ दिया, सबको अपना और अपने को सबका मान लिया, वही जीवनमुक्त है। बंधन और मुक्ति की अध्यात्म क्षेत्र में बहुत चर्चा होती है। उसे इसी तथ्य पर आधारित समझना चाहिए । स्वार्थ के सीमाबंधन को ही नरक और परमार्थ की उदात्त अभिव्यंजना को स्वर्ग कहते हैं। प्रेम को भूलोक का अमृत कहा गया है। परिष्कृत आत्मीयता को विशाल क्षेत्र में बिखेर देने को ही प्रेम साधना कहा गया है। 'भक्ति' इसी तथ्य का नाम है। समष्टि आत्मा-विश्वात्मा-परमात्मा का दृश्य स्वरूप है निखिल विश्व ही तो है। उपासना के कर्मकाण्डों से आरम्भिक शिक्षण लेकर, समग्र साधना विश्वमानव के प्रति धर्म और कर्तव्य के प्रति अपना आत्म-समर्पण करते हुए ही की जाती है। यही आत्मोत्कर्ष की-आत्मकल्याण की सनातन विधि व्यवस्था है।

युग निर्माण योजना की कार्य-पद्धति, दर्शन-प्रणाली, ब्रह्म-परम्परा को सुव्यवस्थित रीति से अग्रगामी बनाने की है। सामाजिक क्षेत्र में सामूहिक दृष्टिकोण का विकास करने के लिए, उत्कृष्टता के क्षेत्र में अधिकतम व्यापक बनाने का ही लक्ष्य है। आत्मिक क्षेत्र में सबको अपना समझकर अपनी ही तरह सबको ऊँचा उठाने और सुखी बनाने की चेष्टा उसी ब्रह्म प्रयोजन की पूर्ति करती है। अपनी कार्यपद्धति लौकिक और आत्मिक दोनों ही दृष्टि से आत्मा की 'अंतःप्रेरणा की आंतरिक आकांक्षा को पूरा करने की है। उसे मानव-जीवन की सर्वांगीण विकास प्रक्रिया की समग्र साधना कहना चाहिए।

आवश्यकता है कि हम सब युग निर्माण योजना की कार्य-पद्धति में सन्निहित ब्रह्म-परम्परा को अग्रगामी बनाने की महत्ता को समझें और उसे जीवन की समग्र सार्थकता का आधार मानें। इसे सामान्य सामाजिक क्रिया-कलाप नहीं वरन् आज की परिस्थिति के साथ आत्मविकास का समुचित ताल-मेल बिठाने वाली युग-साधना समझना चाहिए। जितनी ही गंभीरता से विचार किया जायगा उतनी ही अधिक महत्ता और गरिमा युग निर्माण योजना की कार्य-पद्धति स्पष्ट होती चली जायगी। उसके फलितार्थ पर जितनी गहराई और दूरदृष्टि से विचार करेंगे उतनी ही वह शाश्वत और सामयिक दृष्टि से युग की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होती चली जायगी।

प्रत्येक बसंत के प्रेरणा पर्व पर हमें जीवन की गरिमा पर अधिक गहराई से चिन्तन करना चाहिए और उसे अग्रगामी बनाने के लिए अधिक गम्भीर होना चाहिए। एकाकी मन से अधिकाधिक विस्तृत होने की अन्तःप्रेरणा को इस क्षेत्र में भी विकसित करना चाहिए। हमारा सकल्प एक से दस के रूप में विकसित होने का होना चाहिए। प्रयत्न करें कि अपनी सदस्यता को कम से कम दस में विकसित करेंगे। अपने प्रकाश में न्यूनतम दस को प्रकाशित करके रहेंगे। अपने तने से दस डालियाँ तो फूटे हीं। अपने गुच्छे में दस फूल तो खिलें हीं। अपने जीवन वृक्ष पर दस फूल तो उगने ही चाहिए।

यह संकल्प शारीरिक सन्तान वृद्धि के रूप में नहीं आत्मिक अंश वृद्धि के रूप में होने चाहिए। जनसंख्या की अति हो जाने से धरती माता अब त्राहि-त्राहि करने लगी है और अधिक बच्चे पैदा करने के लिए समझदारी हर कंगूरे पर चढ़कर चिल्ला रही है। बच्चे

पैदा न किये जायें यह उचित है। इन दिनों तो आत्मिक वंश वृद्धि करने की ही आवश्यकता है। सर्वत्र आसुरी दृष्टिकोण का आधिपत्य है । सर्वत्र-अन्धकार की तमसाछन्न स्थिति सघन हो रही है। इस दीपावली की अमावस्या को दीपदान की आवश्यकता है। कम से कम हमें दस दीपक तो जलाने ही चाहिए। यह वंश वृद्धि इतनी पुण्य फलदायक होगी कि उससे स्वर्ग ले जाये वाले पिण्डदान की आवश्यकता भी सच्चे अर्थों में पूरी होती रहेगी।

अपना सम्पर्क अधिकाधिक लोगों से बढ़ाया जाय और यह संकल्प किया जाय कि इनमें कम से कम दस नवनिर्माण आदर्शों के प्रति निष्ठावान व्यक्ति उत्पन्न करके ही दम लेंगे। इसके लिए सौ से सम्पर्क साधना पड़ेगा, बहुत दिनों तक लगातार उन पर प्रभाव, संस्कार डालते रहना होगा, तब कहीं दस व्यक्ति ऐसे निकलेंगे जिन्हें हम अपनी ही तरह निष्ठावान, भावनात्मक स्तर पर अपने ही वंशधर कह सकें । कहना न होगा कि इस प्रयोजन के लिए युग निर्माण साहित्य को लगातार पढ़ाते रहना और समय-समय पर उस विचारधारा की इस कार्य-प्रणाली का महात्म्य समझाते रहना ही वह प्रयोग है, जिसके आधार पर इस सन्मार्ग की ओर किन्हीं को आगे बढ़ाया जा सकता है।

हर बसंत पर्व पर हममें से प्रत्येक को यह संकल्प करना चाहिए कि हम निरवंश नहीं रहेंगे। अपने आत्मिक वंश में कम से कम दस वंशधर अपने पीछे छोड़कर ही रहेंगे। अपने घर, परिवार, पड़ौस, परिचय क्षेत्र में जहाँ भी थोड़ी समझदारी, सज्जनता विकसित दीखे वहीं विचार-सम्पर्क आरम्भ कर देना चाहिए। बिना उतावली किए तुरन्त परिणाम की आशा-निराशा में बिना उलझे-शान्त चित्त और धैर्यपूर्वक अपना प्रयास जारी रखना चाहिए। अपनी पत्रिकाओं को आते ही स्वयं पढ़ लिया जाय और फिर उन्हें एक के बाद दूसरे को पढ़ाने का ऐसा सिलसिला बनाया जाय कि नई पत्रिका आने तक पुरानी एक दूसरे के हाथों में घूमती रहे। यह क्रम यदि लगातार बहुत दिनों तक चलाया जाता रहे तो निश्चिन्त रूप से उन व्यक्तियों को प्रभावित किया जा सकेगा। पत्रिकाओं के अतिरिक्त ट्रेक्ट एवं पुस्तकें भी उसी प्रकार पढ़ने देने और वापिस लेने की व्यवस्था चलती रह सकती है। यह प्रयत्न निरर्थक नहीं जा सकता। उनमें से कितनों में ही पूरा अधूरा प्रभाव दृष्टिगोचर होगा।

इस प्रकार हर वर्ष नया सम्पर्क और प्रचार क्षेत्र बनाया जाय। पूरे क्षेत्र को उन्हीं में से किसी अधिक प्रभावशाली व्यक्ति को सौंप दिया जाय और अपने लिए नया सम्पर्क क्षेत्र ढूँढ़ा जाय। इस प्रकार निरन्तर प्रयास करते रहा जाय और हर वर्ष बीस के साथ सम्पर्क बनाने पर दो निष्ठावान उत्पन्न कर लिए जायें तो पाँच वर्ष में दस नैष्ठिक युग-निर्माण सदस्य मिल सकते हैं। यदि इतना किया जाय तो समझना चाहिए कि एक बहुत ही महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त कर ली गयी।

आत्मविस्तार की वंश-वृद्धि की अन्तःप्रेरणा को तृप्त और सार्थक करने का यह सर्वोत्तम मार्ग है। बच्चे पैदा करने में अपने लिए भी बहुत झंझट है यदि वे कुमार्ग गामी हो गये तो कुपात्र सन्तान के पूर्वजों के नरक में जाने की आशंका भी रहेगी। आत्मिक वंशधर केवल सन्मार्ग- गामी ही रहेंगे, सद्भावना और सत्प्रयास ही बढ़ावेंगे। अस्तु, उनके सत्कर्म स्वसंचालित पिण्डदान का पुण्य प्रयोजन पूरा करते रहेंगे। वे लोग अपना कल्याण और समाज का जो हित साधन करेंगे उसे विश्वमानव के चरणों में प्रस्तुत किया गया एक महान उपहार ही माना जायगा। वृक्ष लगाने का- कुआँ तालाब बनाने का- पुण्य इसलिए तो माना गया है कि उनके द्वारा अगणित लोग लाभ उठाते हैं। नैष्ठिक युग निर्माण परिजन किसी आम्र वृक्ष के, कूप तड़ाग से कम नहीं वरन् अधिक ही श्रेयकर हैं। उनके निर्माण का पुण्यफल भी साधारण नहीं, असाधारण ही हो सकता है।

गया में अवस्थित बोधि वृक्ष के नीचे भगवान बुद्ध को आत्मज्ञान हुआ था, बुद्धत्व की प्राप्ति हुई थी, उस पवित्र वटवृक्ष की डालियाँ उन दिनों संसार के समस्त देशों में आरोपित की गयीं थीं। बुद्ध के पुत्र राहुल स्वयं उन डालियों को लेकर लंका आदि देशों में गये थे। लंका का बोधि-वृक्ष तो अब भारत के बोधि-वृक्ष से भी विस्तृत है। इसी प्रकार वह डालें वृक्षों के रूप में अन्य बौद्ध देशों में भी लहलहा रही हैं। भारत में भी कितनी ही जगह यह शाखाएँ आरोपित हुई और आज तक विद्यमान रहकर बुद्धत्व की प्राप्ति का सन्देश अपनी मूक भाषा में दे रही हैं।

युग-निर्माण के बोधि-वृक्ष की डालियाँ हमें अनेक अन्तःकरणों में आरोपित करनी चाहिए। कई जगह वे भूमि की, वायु एवं प्रकाश की अनुकूलता न होने से नहीं भी पल्लवित होंगी। कहीं लगकर भी सूख सकती हैं। इस क्षति का पूर्वानुमान लगाकर शाखाएँ इतनी जगह लगानी चाहिए कि उनमें से कम से कम दस तो आरोपित हो ही जायँ। विकसित और पल्लवित होकर फूलों-फलों से लदी हुई जग उपवन को शोभा बढ़ायें।

कितने ही लोग अनेक प्रकार के अपने यश-स्मृति के साधन बनाते हैं। मन्दिर, धर्मशाला, पाठशाला, अस्पताल आदि की इमारतें बनाने में यश और परमार्थ दोनों ही प्रयोजन रहते हैं। इस नवनिर्माण, आस्थाओं के आरोपण इन बोधि वृक्षों के संवर्द्धन से भी वह उद्देश्य और भी अच्छी तरह पूर्ण होते हैं। उन इमारतों में सत्कर्म ही हो यह आवश्यक नहीं। कालान्तर में, गलत व्यक्ति के हाथों पड़कर उनमें दुष्कर्म भी होते रह सकते हैं पर अपना आरोपण तो सदा सुन्दर सुगन्धित पुष्प और मधुर गुणकारी फल ही देता रहेगा। इस प्रयत्न के निरर्थक या अनर्थमूलक सिद्ध होने की कोई आशंका ही नहीं। यह देव स्थापना तो

सदा दिव्य प्रकाश के आलोक से ही विस्तृत क्षेत्र को ज्योतिर्मय ही करती रहेगी।

प्रत्येक वर्ष का बसन्त पर्व यह अनुरोध आग्रह करता हुआ जाता है कि अगले वर्ष फिर आऊँगा-तब बोधि-वृक्षों की स्थापना के लिए आत्मवंश के विस्तार के लिए अधिक और ठोस प्रयत्न हो सकना चाहिए। यदि सच्चे मन से चुनाव जीतने के लिए किए जाने वाले उत्कट प्रयत्नों के साथ इस कार्य के लिए कटिबद्ध हो चला जाय तो 'दस' का लक्ष्य एक वर्ष में भी पूरा हो सकता है।

एक से अनेक होने की आत्मविस्तार को, वंश वृद्धि की अन्तःप्रेरणा की तृप्ति की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण प्रयास है। यदि हम कर सके तो इससे आत्म-कल्याण और समाज-कल्याण के दोनों प्रयोजन पूरे हो सकते हैं।

पर ध्यान रखने की बात यह है कि अधिक उपलब्धि की आतुरता में संख्यापूरक वृत्ति न पकड़ी जाय। मात्र ग्राहक बनाकर , पत्रिका पढ़ाकर या ट्रैक्ट का स्वाध्याय कराकर ही सन्तोष न कर लिया जाय। उनमें नव-निर्माण की आस्था किस हद तक, किस गहराई से, किस मात्रा में स्थापित या जाग्रत हो रही है यह देखते चलना चाहिए। मूल उद्देश्य तो वह प्रखर आस्था जाग्रत करना है, यह ध्यान रखें। यह धैर्य और संतुलन का कार्य है। परिपूर्ण साधक वृत्ति से, ईश्वरीय प्रयोजन की सिद्धि के लिए एक उत्कृष्ट साधनों के रूप में इसे किया जाय। तभी अभीष्ट फल मिल सकेगा। बसन्त पर्व से प्राप्त स्फुरण-प्रेरणा-चेतना द्वारा इतना कर सकने की क्षमता ही हमें अपने अन्दर अनुभव होनी ही चाहिए।

चेतनता का गुण अपने जैसा ही निर्माण कर देना है। मनुष्य से मनुष्य, पशु से पशु, वृक्ष से वृक्ष, लता से लता पैदा होने की प्रक्रिया जिस प्रकार चलती है उसी प्रकार एक अंतःकरण की ज्योति जाग्रत होनी चाहिए। पर्व पर हमने पूज्य गुरुदेव के प्रकाश को ग्रहण किया हो तो उसी प्रकार की तड़प भी हमारे अन्दर दिखे। हमारे प्रयास, हमारे सत्संग से भी कुछ अन्तःकरण विकसित होना चाहिए ऐसा कर सकें तो आत्म-तृप्ति, जन कल्याण एवं कर्तव्य पालन के त्रिविध संतोष के भागीदार बन सकेंगे।

युग-निर्माण के लिए 'ज्ञान-यज्ञ'

पशु अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्णकर आनन्द की नींद सो सकता है, पेट की भूख मिट जाने से उसे तृप्ति मिल सकती है पर मनुष्य का इतने मात्र से काम नहीं चल सकता। पेट और शरीर ही नहीं, उसका अदृश्य अन्तःकरण भी इस पंच-भौतिक शरीर के समान ही सक्रिय रहता है और उसे भी भूख लगती है, उसमें भी अभिलाषा रहती है। यह भूख 'ज्ञान' की है । यह अभिलाषा 'दान' की है। ज्ञान के अभाव में मनुष्य अपने आपको अन्धकार में पड़ा हुआ और दान के अभाव में असत् की, स्वार्थ की असुरता में डूबा हुआ अनुभव करता रहता है।

आत्मा की अतृप्त आकांक्षा

मनुष्य के आत्मिक क्षेत्र में एक पुकार सदैव उठती रहती है– 'तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सदगमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय ।' अर्थात्– अन्धकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर। हे प्रभु हमें ले चलिए ताकि हम मृत्यु से बचकर अमृत को प्राप्त कर सकें। जिसका जीवन खाने-सोने में ही बीता वस्तुतः वह मर गया। जिसने परमार्थ कमाया उसी का मानव जन्म सफल हुआ और उसे ही जीवित एवं अमर कहा जा सकता है। ज्ञान और दान की आत्मिक भूख प्रत्येक मनुष्य को लगी रहती है। जिसकी यह क्षुधा तृप्त नहीं होती । उसकी अन्तरात्मा मुरझायी, अशान्त एवं मूर्छित जैसी बनी रहती है, उसकी सारी दिव्य विशेषताएँ अविकसित अर्द्ध-मृत स्थिति में पड़ी-पड़ी नष्ट होती रहती हैं। ऐसी स्थिति में जिन्हें रहना पड़ता है उन्हें पशु से भी गया-बीता माना गया है। पशु यह सन्तोष कर सकता है कि उसकी कोई आत्मिक आकांक्षा नहीं है पर मनुष्य में वह है, यही आकांक्षा उसकी एकमात्र विशेषता भी है, यदि वह भी पूर्ण न हो सकी तो क्षुधित और तृषित आत्मा असन्तुष्ट ही जीवन यात्रा पूरी करता है।

परमार्थ की पुण्य-प्रवृत्ति

प्रत्येक श्रेष्ठ व्यक्ति ने प्रत्येक बुद्धिमान और विचारशील मनुष्य ने-यह ध्यान रखा है कि भजन-पूजन, तीर्थ-उद्यापन, कथा-कीर्तन आत्मबल बढ़ाने के लिए आवश्यक विधान हैं पर उनका संबंध अपने तक ही सीमित है, उनका लाभ केवल उपयोगी, उचित एवं महत्वपूर्ण तो हैं। पर पुण्य-परमार्थ की श्रेणी में नहीं गिने जा सकते । परमार्थ वे हैं जिनसे संसार में सद्-विचारों और सद्भावों की वृद्धि होती है तथा पिछड़े हुओं को उठने का अवसर मिलता है। प्राचीनकाल में ब्राह्मण वर्ग इस परमार्थ में ही अपना सारा जीवन लगाता था। ज्ञान-प्रसार, लोक-शिक्षण, सत्प्रवृत्तियों का उन्नयन, सत्कर्मों की प्रेरणा एवं दुष्प्रवृत्तियों के शमन के लिए उनका निरन्तर प्रयत्न रहता था। गिरे हुओं को उठाने के लिए, पतितों और पीड़ितों को सहारा मिले ऐसी व्यवस्था बनाने के लिए उनके जीवन का अधिकांश समय व्यतीत होता था। उस महान कार्यक्रम को सच्चा और प्रभावशाली बनाने के लिए जिस आत्म-बल की आवश्यकता पड़ती है । वह उपासना द्वारा ही प्राप्त होता है, इसलिए ब्राह्मण वर्ग उपासना और तपश्चर्या में भी पूर्ण श्रद्धापूर्वक संलग्न रहता था। इन विशेषताओं के कारण ही उन्हें भू-सुर की उपाधि मिलती थी, उन्हें श्रेष्ठ माना जाता था, लोग उन्हें पूजते थे और उन को जीवन-निर्वाह की चिन्ताओं से मुक्त रखने के लिए आवश्यक

दान-दक्षिणा भी देते थे। जनता का यह मूल्यांकन सही भी था जो स्वयं अपना सारा जीवन परमार्थ में ही लगाये हुए हैं और दूसरों को परमार्थ की प्रेरणा देते हैं, ऐसे ही लोगों के द्वारा तो व्यक्ति और समाज की श्रेष्ठता कायम रह सकती है। इस मानवोचित श्रेष्ठता के लिए जिनका समय और श्रम, मन और धन लगता है वे उतने ही अंश में ब्राह्मण हैं, सत्पुरुषों की अधिकता से संसार में सुख-शान्ति बढ़ती है और उनके अभाव में ही सर्वत्र दुख-दारिद्र का संकट छाने लगता है।

धर्म का विकृत स्वरूप

आज हम अपने चारों ओर दृष्टि पसारकर देखते हैं तो लगता है कि मानवीय विशेषता एवं उत्कृष्टता का सर्वश्रेष्ठ आधार परमार्थ बुरी तरह उपेक्षित हो रहा है, परमार्थ के नाम पर पाखंड पुज रहा है जिस लक्ष्य के लिए-सद्भावना, सज्जनता एवं सहृदयता को बढ़ाने के लिए-परमार्थ प्रचलित हुआ था। वह उद्देश्य लोगों की आँखों से ओझल हो गया है और धूर्तता एवं प्रवंचना भरे जंजालों को परमार्थ समझकर उन पर शक्ति बर्बाद की जा रही हैं ऐसी दशा में हमारी ज्ञान और दान की भूख अतृप्त ही बनी रहेगी और इस अतृप्ति एवं अभाव के कारण व्यक्ति का चरित्र और समाज का उत्कर्ष कैसे उच्च-स्तर की ओर गतिमान हो सकेगा ? आज न तो वर्ग के रूप में ब्राह्मण दृष्टिगोचर होता है और न परमार्थ की ब्रह्म-प्रवृत्ति ही जीवित है। ऐसी दशा में हमारा वैयक्तिक और सामाजिक पतन ही निश्चित था और वह सामने प्रस्तुत भी है। अमुक वंश में जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण समझने का मिथ्या अहंकार करने वाले लोग बहुत हैं। संस्कृत भाषा में कुछ श्लोक मंत्र रट लेने और पूजा-कथा की प्रक्रिया के बदले धन बटोरने वाले पोथी पांडे भी पर्याप्त हैं पर जिनकी अन्तरात्मा में परमार्थ की प्रवृत्ति को जीवित रखने के लिए अपने आपको खाद बनाकर गला देने की तड़पन हो ऐसे ब्रह्म-वर्चस्व सम्पन्न तेजस्वी ब्रह्म-परायण व्यक्ति उँगलियों पर गिनने लायक संख्या में भी मुश्किल से मिलेंगे। यदि उनकी बहुतायत रही होती तो हमारा स्तर आज भी उतना ही ऊँचा रहा होता, जितना प्राचीनकाल में था।

परोपकार का महान प्रतिफल

उद्योग, विज्ञान, शिक्षा, चिकित्सा, शासन, शिल्प-कला आदि विविध क्षेत्रों में अनेक प्रकार की प्रगति दीखती है, उसके पीछे उन अन्वेषकों, विचारकों, आविष्कारकों, निर्माताओं का अथक परिश्रम ही मुख्य है। यदि उन्होंने परमार्थ-वृत्ति अपनाकर लोक-हित की दृष्टि से अपना जीवन न खपाया होता तो आज जो भौतिक प्रगति दीख रही है। कदापि संभव न हुई होती । वे मनीषी यदि अपने जीवन का लक्ष्य यदि हमारी ही तरह कमाना-खाना बनाये रहे होते तो वे अपने तीव्रबुद्धि-बल से अपने लिए अधिक सुख-साधन एकत्रित कर लेते, कुछ अधिक मौज-मजा करके मर जाते, पर न तो उनका यश अमर होता और न उनके द्वारा दूसरों को कोई लाभ ही मिला होता। ऐसी दशा में वे मरते समय आत्म-संतोष क्या लाभ करते ? उन्हें भी हमारी ही तरह कीड़े-मकोड़े की मौत मरते हुए पश्चाताप के आँसू बहाकर यहाँ से विदाई लेनी पड़ती। जिन महान मनीषियों ने परमार्थ-लक्ष्य अपनाकर विश्व मानव की महान सेवाएँ कीं, भूखे-नंगे तो वे भी नहीं रहते होंगे, बेशक उनको वासनाओं और तृष्णाओं पर संयम करके परमार्थ की कमाई की ओर ध्यान देना पड़ा होगा, उसका महत्व हृदयंगम करना पड़ा होगा, पर इससे क्या वे घाटे में रहे? नहीं उन्होंने भी बहुत पाया। सारी मानव जाति चिरकाल तक उनकी ऋणी रहेगी और अगणित अन्तःकरणों से निकले हुए आशीर्वाद उनकी आत्मा को अनन्त-काल तक स्वर्ग में असीम शान्ति प्रदान करते रहेंगे।

स्वार्थपरता की संकीर्णता

देश, धर्म, जाति और समाज के लिए अपने को गला देने वाले परमार्थी लोगों की इस देश में कभी कमी नहीं रही। वासना और तृष्णा की पूर्ति से मिलने वाली सुख-सुविधाओं को यहाँ अत्यन्त तुच्छ और घृणित एवं निकृष्ट कोटि की सफलता माना जाता रहा है। जो लोग इस स्तर में उलझे रहे उन्हें उपहासास्पद माना जाता रहा । यही कारण था कि भारत में घर-घर नर रत्न पैदा होते रहे, महापुरुष जन्मते रहे। असुरता का शमन करने के लिए हड्डियाँ देने वाले दधीचि, दान-शीलता पर आँच न आने देने वाले कर्ण और मोरध्वज, सत्य की रक्षा के लिए खुद बिक जाने वाले और अपने स्त्री-बच्चों को बेच देने वाले हरिश्चन्द्र, गौ के बदले अपने प्राण प्रस्तुत करने वाले दलीप, युग-निर्माताओं को आत्म-समर्पण कर देने वाले हनुमान यहाँ घर-घर पैदा होते रहते थे। भारत के शानदार इतिहास के पृष्ठ उन परमार्थी लोगों की गौरव-गाथाओं से भरे पड़े हैं जिन्होंने अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए जीने का लक्ष्य अपनाया। विदेशी शासकों के विरुद्ध जो पिछले एक हजार वर्षों तक स्वतंत्रता संग्राम लड़ा जाता रहा उसमें बलिदान होने वाले अगणित शहीदों की चिताएँ भले ही बुझ गई हों पर उनकी रोशनी अभी भी हमें रास्ता बताने के लिए जल रही हैं।

आज की महानतम आवश्यकता

युग-निर्माण का महान कार्य आज की प्रचण्ड आवश्यकता है। जिस खंडहर स्थिति में हमारे शरीर, मन

और समाज के भग्नावशेष पड़े हैं, उन्हें उसी दशा में पड़े रहने देने की उपेक्षा जिन्हें संतोष दे सकती है, उन्हें 'जीवित मृत' ही कहना पड़ेगा। आज बेशक ऐसे ही लोगों की संख्या अधिक है, जिन्होंने अपने काम से काम, अपने मतलब से मतलब-रखने की नीति पसंद है पर ऐसे लोगों का बीज नष्ट नहीं हुआ है जो परमार्थ की महत्ता समझते हैं और लोकहित के लिए, विश्व-मानव के उत्कर्ष के लिए यदि उन्हें कुछ प्रयत्न या त्याग करना पड़े तो उसके लिए भी इन्कार न करेंगे। युग-निर्माण जैसी युग की पुकार सर्वथा अनसुनी, नितान्त उपेक्षित पड़ी रहे और उसके लिए कोई अपनी प्रसन्नता, अभिरुचि प्रकट न करे और कोई उसमें कुछ हाथ न बटावे अभी इतने आत्मिक पतन का जमाना नहीं आया है। नष्ट-भ्रष्ट स्वास्थ्य की पीड़ा से तड़पते हुए रुग्ण मनुष्यों को नीरोग और दीर्घजीवी देखने के लिए क्या किसी की आँखें उत्सुक नहीं ? दुर्बुद्धि और दुराचार में डूबे हुए नर-पिशाच की तरह मानसिक अशान्ति की नारकीय ज्वाला में जलते हुए लोगों को सज्जनता, सद्भावना, स्नेह और सत्कर्मों में संलग्न रहकर शान्ति एवं सन्तोष के साथ मुसकराते हुए देखने के लिए क्या किसी का मन न हुलसेगा? द्वेष, असहयोग, अविवेक, अन्धविश्वास एवं उच्छृंखलता के वातावरण को हटाकर स्नेह, सहयोग, न्याय, विवेक, व्यवस्था एवं अनुशासन से सुसम्पन्न सभ्य-समाज की स्थापना किसे प्रिय न लगेगी ? यह तीनों ही बातें उत्तम, महत्वपूर्ण एवं आवश्यक हैं किन्तु इनका प्रस्तुत होना तभी संभव है जब इसके लिए हम प्रयत्न करें। स्वार्थ में सिर से पैर तक उलझा हुआ मनुष्य इस प्रकार के निस्वार्थ कामों में तभी रुचि ले सकता है जब उसमें परमार्थ भावना जगे। विश्वाश किया जाना चाहिए कि हमारे ऋषि रक्त में अभी परमार्थ भावना बिलकुल निस्वत्व नहीं हुई है, वह मूर्छित पड़ी है, उद्बोधन मिलने पर वह जग सकती है।

चुनौती को कौन स्वीकार करे?

यों इस देश में ८० लाख धर्म का व्यवसाय करके अपनी रोटी कमाने वाले पेशेवर धर्मसेवक मौजूद हैं जो दान-दक्षिणा के ऊपर अपना निर्वाह करते हैं और जिनसे स्वभावत: यह आशा की जानी चाहिए कि वे मनुष्य जाति के भौतिक एवं आत्मिक उत्कर्ष में कुछ योग दें पर उस ओर तो अन्धेरा ही दीखता है। उजाला हमें अपने हृदय का तेल जलाकर करना पड़ेगा। कार्य-व्यस्त गृहस्थ लोगों के द्वारा ही अब तक संसार की बड़ी प्रवृत्तियाँ चली हैं। युग-निर्माण के लिए भी बहुत कुछ कर सकते हैं। अखण्ड-ज्योति परिवार के लोगों से इस प्रकार की आशा की जा सकती है। उत्कृष्टता और भावना की दृष्टि से हम लोग संख्या में थोड़े होते हुए भी एक बड़ी शक्ति के रूप संगठित हैं। परमार्थ का लक्ष हमें प्रिय है। आत्मा में ईश्वरीय प्रकाश उत्पन्न करने के लिए हम लोग अपने को साधना और तपश्चर्या के द्वारा इस योग्य बना चुके हैं कि जो कुछ कहें उसे दूसरे सुनें, जो कुछ करें उसका दूसरे अनुकरण करें, कुछ प्रेरणा करें तो दूसरे उस पर चलना शुरू करें। हमारा लक्ष्य सत्य है, हमारे साधन शुद्ध हैं, हमारा कर्तृत्व भावनापूर्ण है तो क्यों हमारी बात सुनी न जायगी, क्यों हमारी प्रेरणा मानी न जायगी ?

ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न किया जाय

युग-निर्माण के लिए हमें ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न करना है। जिन दुर्बलताओं और बुराइयों ने जन-मानस पर आधिपत्य जमा रखा है उनकी बुराइयों और हानियों को यदि मनुष्य भली प्रकार समझले तो उन्हें छोड़ने के लिए अवश्य उत्सुक होगा। यदि प्रगति और शान्ति का सच्चा मार्ग उसे विश्वासपूर्वक उपलब्ध हो जाय तो अनैतिक, अपराधपूर्ण, खतरे से भरे हुए दुखदायी रास्ते पर वह क्यों चलेगा ? संसार में जितनी भी क्रान्तियाँ हुई हैं उनमें सर्वप्रथम विचार-विस्तार ही हुआ है। ज्ञान ही क्रिया का पूर्व रूप है। कोई कार्य तभी दृश्य रूप में आता है- जब वैसे विचार मन में गहराई तक अपनी जड़ जमा लेते हैं।

ज्ञान-यज्ञ का पुण्य आयोजन

हमें अपना व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन श्रेष्ठ, सुव्यवस्थित एवं प्रगतिशील बनाना है तो उसके लिए आवश्यक ज्ञान का व्यापक प्रसार करना होगा। सद्ज्ञान ही आत्मा की भूख है उस भूख को पूर्ण करने के लिए हमें अपनी परमार्थ वृत्ति को प्रबुद्ध करना पड़ेगा। ज्ञान-दान सबसे बड़ा है। इसे ब्रह्म-कर्म कहा गया है। आपत्ति से उबारने वाले साधनों में ज्ञान ही प्रधान है। व्यक्ति में सुधार और परिवर्तन इसी माध्यम से संभव हो सकता है। अखण्ड ज्योति परिवार के साथ अब हम युग-निर्माण के लिए ज्ञान यज्ञ आरम्भ करते हैं। विभिन्न प्रयोजनों की पूर्ति के लिए विभिन्न यज्ञों के आयोजन होते रहे हैं। गायत्री का अग्निहोत्र यज्ञ प्रथम अध्याय के रूप में कब का अपने नियत लक्ष तक जा पहुँचा । यज्ञ की महत्ता से अपरिचित जनता ने उसका महत्व समझा भी और उसे अपनाया भी । अब ऊँची कक्षा में उच्चस्तरीय साधना के साथ-साथ ज्ञान यज्ञ का महाअभियान आरम्भ किया जा चुका है। युग-निर्माण की पृष्ठभूमि यही है।

परिवर्तन का केन्द्रबिन्दु- सद्ज्ञान

परिस्थितियों में परिवर्तन के लिए मनुष्य के विचारों और कार्यों में परिवर्तन होना आवश्यक है। भीतरी स्थिति का स्वरूप ही बाहर दृष्टिगोचर होता है। नशा पी लेने से

जिस प्रकार शरीर की चेष्टाएँ और क्रियाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार संकीर्णता की निम्नगामी गतिविधियाँ अपना लेने पर मनुष्य कुविचारों और दुर्भावों को अपनाता है, फलस्वरूप जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में नाना प्रकार की कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ सामने आ खड़ी होती हैं। मनुष्यों का समूह ही समाज है। विभिन्न व्यक्तियों की दुष्प्रवृत्तियाँ मिलकर सामाजिक विभिन्नताओं का रूप धारण करती हैं और उसी से सर्वत्र अशान्ति, क्लेश एवं पतन के नारकीय दृश्य उपस्थित होते हैं।

दृष्टिकोण का परिवर्तन

देश, समाज और संसार में जो कुछ भी अशुभ हमें दृष्टिगोचर होता है उसका कारण लोगों के व्यक्तिगत दोष ही होते हैं। इन दोषों का उद्‌भव दूषित दृष्टिकोण के कारण होता है। भोग प्रधान आकांक्षाएँ रखने से मनुष्यों की अतृप्ति बढ़ती ही जाती है वे अधिक सुख-सामग्री चाहते हैं। श्रम से बचने और मौज-मजा करने की इच्छाएँ जब तीव्र हो उठती हैं तो उचित-अनुचित का विचार छोड़कर लोग कुमार्ग पर चलकर ऐसे कर्म करने लगते हैं जिनका परिणाम उनके स्वयं के लिए ही नहीं, सारे समाज के लिए घातक होता है। इस अदूरदर्शितापूर्ण प्रक्रिया को अपनाने से ही संसार में सर्वत्र दुःख-दैन्य का विस्तार हुआ है।

विश्वशान्ति के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करना केवल एक ही प्रकार संभव हो सकता है कि मनुष्य भोगप्रधान नीति का परित्याग कर त्याग प्रधान दृष्टिकोण अपनाये। वासना और तृष्णा की तुच्छता अनुभव करे और तप, संयम और आदर्श का उत्कृष्ट जीवन बिताने में गर्व एवं गौरव का आनंद माने। जब तक वासनाओं और तृष्णाओं के तुच्छ प्रलोभनों में मनुष्य रस लेता रहेगा और उन्हें ही जीवन का लक्ष्य मानता रहेगा तब तक उसके द्वारा उन गति-विधियों का अपना सकना संभव न होगा जिन पर स्वर्गीय वातावरण का विनिर्मित होना संभव होता है।

मानव जीवन का महत्व और लक्ष्य

युग-परिवर्तन के लिए विपन्न परिस्थितियों को आनंद- मंगल के वातावरण में परिवर्तित करने के लिए हम में से प्रत्येक को अपने वास्तविक स्वरूप और जीवन के उद्देश्य को समझना आवश्यक है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के पश्चात् लाखों वर्षों में मनुष्य शरीर एक बार प्राप्त होता है। यह सुर-दुर्लभ अलभ्य अवसर बार-बार कहाँ मिलता है ? यह असाधारण सौभाग्य इसलिए नहीं मिला है कि उसे साधारण जीव-जन्तुओं की भाँति खाने-सोने जैसे तुच्छ कार्यों में ही व्यतीत कर दिया जाय। यदि इस अलभ्य अवसर को शौक-मौज में ही गँवा दिया जाय तो यह अदूरर्शिता उस समय बहुत ही दुःख देती है जब इन अमूल्य क्षणों को समाप्त कर हमें पुनः चौरासी लाख के चक्र में असंख्य वर्षों तक नारकीय यातनाएँ सहने के लिए विवश होना पड़ता है।

यह मनुष्य देह इसलिए प्राप्त होती है कि आत्मा अपने गौरव और महानता की उपयुक्त गतिविधियाँ अपनाकर स्वयं आनन्द लाभ करे और दूसरों की सुख-शान्ति को बढ़ाये। वासना और तृष्णा के, लोभ और मोह के, काम और क्रोध के भव-बन्धनों को काट कर जीवन-मुक्ति के परमानन्द का रसास्वादन कर सके । यदि संतुलित और सुव्यवस्थित जीवनक्रम को अपनाते हुए मनुष्य अपनी गति-विधियों को संतुलित बना ले तो उस लक्ष्य की पूर्ति कुछ भी कठिन नहीं है। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए मनुष्य संत की स्थिति प्राप्त कर सकता है, गुजारे के लिए न्याय और श्रमपूर्ण आजीविका कमाते हुए परमार्थ का पुण्य लाभ हो सकता है। जीवन को ठीक प्रकार जीने की विद्या को यदि सीख लिया जाय तो उस राजमार्ग पर चलते हुए लोक और परलोक दोनों ही प्रकार की सफलताएँ और समृद्धियाँ सामने प्रस्तुत हो सकती हैं।

युग परिवर्तन की पृष्ठभूमि

युग-परिवर्तन के लिए मानवीय दृष्टिकोण में यह परिवर्तन होना आवश्यक है, जिसका उल्लेख उपरोक्त पंक्तियों में किया गया है। भोगपरक, भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाकर मनुष्य स्वार्थी, लोभी, आलसी, उतावला और असंतोषी बनता है। इन दोषों के कारण पाप और पतन भरे कुकर्म ही बन पड़ते हैं। इसलिए जीवन का दर्शन ऊँचा उठाया जाना आवश्यक है। पतित भावनाओं वाले व्यक्ति के लिए लांछन एवं आत्म-ग्लानि की व्यथा कष्टदायक नहीं होती, वह निर्लज्ज बना कुकर्म करता रहता है। लोक निन्दा और परलोक का भी उसे भय नहीं होता। ऐसे लोगों से उन श्रेष्ठ कार्यों की आशा नहीं की जा सकती जो विश्वशान्ति के लिए आवश्यक हैं। गंदी प्रकृति के मनुष्य गंदे मुहल्ले में, गंदे घरों में, दुर्गन्धपूर्ण जलवायु में, गंदे साधनों और गन्दी परिस्थितियों में प्रसन्नतापूर्वक रह लेते हैं पर जिसे स्वच्छता प्रिय है, वह गरीब होते हुए भी गंदगी स्वीकार न करेगा। इसी प्रकार जिनका दृष्टिकोण निकृष्ट है उन्हें न लोक-लज्जा की परवाह होती है और न आत्मग्लानि की । वे दुष्टतापूर्ण दुष्कर्म करते रहते हैं और इसी में अपना बड़प्पन मानते हैं। इस स्थिति को परिवर्तन करके कर्तव्य-धर्म, आत्मगौरव और पुण्य-परमार्थ की महत्ता को अनुभव करने की मनोभूमि बनाई जानी चाहिए। जब लोकमानस का स्तर भावनात्मक दृष्टि से ऊँचा उठेगा तो ही जीवन में श्रेष्ठता आवेगी और उसी के आधार पर विश्वशान्ति की मंगलमय परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी।

अन्तःभूमि के बाह्य परिणाम

सत्कर्म अनायास ही नहीं बन पड़ते। उनके पीछे एक प्रबल दार्शनिक पृष्ठभूमि का होना आवश्यक है। सस्ती

नामवरी लूटने के लिए या किसी आवेश में आकर, कभी-कभी घटिया स्तर के लोग भी कुछ बड़े काम कर बैठते हैं पर उसमें स्थिरता नहीं होती। यश कामना की पूर्ति भी हर घड़ी नहीं होती रह सकती। न आवेश ही स्थिर रखा जा सकता है। ऐसी दशा में निम्न मनोभूमि के लोग श्रेष्ठ कार्य भी निरन्तर नहीं कर सकते। यदि जीवन में दो-चार बार ऊपरी मन से कुछ अच्छे काम कर दिये जायें और भीतर-ही भीतर दुष्प्रवृत्तियाँ काम करती रहें तो जीवन में बुराइयाँ ही अधिक होती रहेंगी। सत्कर्मों का निरन्तर होते रहना और कठिनाई आने पर भी दृढ़ बने रहना तभी संभव है जब मनोभूमि को उत्कृष्ट स्तर पर विकसित एवं परिपक्व किया जाय। श्रेष्ठ कार्यों और श्रेष्ठ परिस्थितियों से परिपूर्ण वातावरण इन्हीं परिस्थितियों में बन सकता है।

घृणा, द्वेष, निराशा, चिन्ता, विक्षोभ, आवेश में आकर कई बार मनुष्य दुस्साहसपूर्ण कार्य कर डालते हैं। लोभ और मोह के वशीभूत मनुष्य भी कभी-कभी प्राणों की बाजी लगा डालते हैं, पर वे कार्य होते निकृष्ट-कोटि के एवं पापपूर्ण ही हैं। प्रतिशोध, हत्या, फौजदारी, आत्महत्या, घर छोड़कर भाग निकलना, अपना सब कुछ लुटा देना, जैसे उद्धत कार्य आवेशग्रस्त लोग करते देखे गये हैं पर उनका लक्ष्य दूसरों को परेशान करना ही होता है। द्वेषवश ही ऐसे कदम उठाये जा सकते हैं और उनका प्रतिफल अपने एवं दूसरों के लिए हानिकारक ही होता है।

संसार में शान्ति और श्रेष्ठता उत्पन्न करने के लिए त्यागपूर्ण, श्रेष्ठ आदर्श प्रस्तुत करने वाले, साहसपूर्ण बड़े काम करने की आवश्यकता रहती है, उनकी संभावना तभी बनती है जब व्यक्ति का उद्देश्य उच्चकोटि का और आदर्शवाद की प्रेरणाओं से ओत-प्रोत बन सकें।

उच्च भावनाओं का सतयुग

हरिश्चन्द्र, शिवि, दधीचि, मोरध्वज, भरत, हनुमान, कर्ण, श्रवणकुमार, शंकराचार्य, गुरु गोविन्दसिंह, लक्ष्मीबाई, एकलव्य, गाँधी, बुद्ध, शिवाजी, राणा प्रताप, सुभाष, भगतसिंह आदि जिन महापुरुषों के नाम उत्कृष्ट कार्यों के कारण इतिहास के पृष्ठों पर अमर हैं, उन्होंने अपनी मनोभूमि को आदर्शवादी विचारधारा से परिपक्व किया था, तभी वे इतने बड़े कदम उठा सके। ऋषि-मुनियों के, वानप्रस्थ और संन्यासियों के जीवन लोक-साधना में ही संलग्न होते थे पर यह सब हो तभी हो पाता था जब वे प्रयत्नपूर्वक अपना भावनास्तर उच्च आदर्शों के आधार पर ढालने के लिए आध्यात्मिक जीवन दर्शन को गहराई तक हृदयंगम कर लेते थे।

हम चाहते हैं कि संसार में सुख-शान्ति रहे। इसके लिए एक ही उपाय है कि लोग दुष्कर्मों को छोड़कर निरन्तर सत्कर्म करते रहने के अभ्यस्त बनें। यह कदम तभी उठ सकेगा जब जीवन-दर्शन बदले। निकृष्ट आदर्शों का परित्याग कर लोग उच्च आदर्शों के प्रति निष्ठावान बनें। विचारधाराओं को जनमानस में गहराई तक प्रवेश करा देने से ही यह संभव होगा। इसलिए युग-निर्माण का आधार एक ही, केवल एक ही है कि हम अपनी और अपने समीपवर्ती लोगों की भावनाओं का स्तर ऊँचा उठावें। आसुरी सम्पत्तियों से घृणा करें और दैवी सम्पदाएँ बढ़ाने के लिए उत्साहपूर्वक कटिबद्ध हों।

जीवन का दर्शन, उद्देश्य, लक्ष्य बदलने से ही दुष्टता का परिवर्तन श्रेष्ठता के रूप में हो सकेगा। इसलिए उच्च विचारधारा की जो न्यूनता सर्वत्र दिखाई पड़ती है उसकी पूर्ति के लिए प्रबंध करना होगा। दुर्भिक्ष पीड़ितों के प्राण अन्न की व्यवस्था होने से ही बचते हैं। सद्भावनाओं का दुर्भिक्ष पड़ने से आज सर्वत्र हाहाकारी दृश्य उपस्थित हो रहे हैं। इन्हें बदलना तभी संभव है जब उच्च विचारधाराओं की अभिवृद्धि के लिए आवश्यक वातावरण बनाया जाय। हमें यही तो करना है। इसी संजीवनी बूटी से मूर्छित समाज की मोह-निद्रा जगेगी।

सम्पत्ति ही नहीं सद्बुद्धि भी

सुख-सुविधा की साधन-सामिग्री बढ़ाकर संसार में सुख-शान्ति और प्रगति होने की बात सोची जा रही है और उसी के लिए सब कुछ किया जा रहा है पर साथ ही हमें यह भी सोच लेना चाहिए कि समृद्धि तभी उपयोगी हो सकती है जब उसके साथ-साथ भावनास्तर भी ऊँचा उठता चले, यदि भावनाएँ निकृष्ट स्तर की रहें तो बढ़ी हुई सम्पत्ति उलटी विपत्ति का रूप धारण करती है। दुर्बुद्धिग्रस्त मनुष्य अधिक धन पाकर उसका उपयोग अपने दोष-दुर्गुण बढ़ाने में ही करते हैं। जुआ, नशेबाजी, व्यसन, व्यभिचार, आडम्बर आदि की बढ़ोत्तरी खाते-पीते मूर्खों में ही होती है। गरीबों को इसकी सुविधा ही नहीं मिलती।

सम्पन्न लोगों का जीवन निर्धनों की अपेक्षा कलुषित होता है, उसके विपरीत प्राचीनकाल में ऋषियों ने अपने जीवन उदाहरण प्रस्तुत करके यह सिद्ध किया था कि गरीबी की जीवन व्यवस्था में भी उत्कृष्ट जीवन जीना संभव हो सकता है। यहाँ सम्पन्नता एवं समृद्धि का विरोध नहीं किया जा रहा है, हमारा प्रयोजन केवल इतना ही है भावना स्तर ऊँचा उठने के साथ-साथ समृद्धि बढ़ेगी तो उसका सदुपयोग होगा और तभी उससे व्यक्ति एवं समाज की सुख-शान्ति बढ़ेगी। भावना स्तर की उपेक्षा करके यदि सम्पत्ति पर ही जोर दिया जाता रहा तो दुर्गुणी लोग उस बढ़ोतरी का उपयोग विनाश के लिए ही करेंगे । बन्दर के हाथ में गई हुई तलवार किसी का क्या हित साधन कर सकेगी?

कुछ लोग इधर भी चलें

सन्मार्ग पर चलने वाली प्रेरणा देने वाली विधा एवं आदर्श के प्रति निष्ठा उत्पन्न करने वाला ज्ञान मानव जीवन की सच्ची सम्पत्ति है। इसी को बढ़ाने से शोक-सन्तापों से छुटकारा मिल सकना संभव होगा। भौतिक समृद्धियाँ बढ़ाने में बहुत लोग लगे हैं और उसकी दिशा में बहुत कुछ

किया भी जा रहा है। कुछ व्यक्ति मानव जीवन की सर्वोपरि सम्पत्ति सद्भावनाओं के उपजाने और बढ़ाने में भी लगने चाहिए। अन्न का दुर्भिक्ष पड़ जाने पर लोग पत्ते और छालें खाकर जीवित रह लेते हैं पर भावनाओं का दुर्भिक्ष पड़ने पर यहाँ नारकीय व्यथा-वेदनाओं के अतिरिक्त और कुछ शेष ही नहीं रह जाता। इस आहार के अभाव में मनुष्य का अन्तःकरण मूर्छित और मृतक बन जाता है। ऐसे लोगों की तुलना प्रेत, पिशाच, असुर, राक्षस एवं हिंस्र पशुओं से ही की जा सकती है। वे नृशंस और जघन्य कृत्य ही कर सकते हैं। भूखों मर जाने में उतनी हानि नहीं, जितनी नीरस और निष्ठुर, मूर्छित और मृतक अन्तःकरण बनने पर होती है।

मानव जाति को विनाश के गर्त में गिरने से बचाने के लिए एकमात्र उपाय यही रह जाता है कि सद्भावनाओं के बढ़ाने के लिए, सत्प्रवृत्तियों के विकसित करने के लिए ठोस और व्यापक आधार पर एक सुव्यवस्थित कार्यक्रम बनाया जाय और उसे पूरी शक्ति और तत्परता के साथ कार्यान्वित किया जाय। युग निर्माण योजना इसी प्रकार का प्रयत्न है।

प्रगति-पथ प्रशस्त कैसे हो?

लोक-मानस में सद्ज्ञान की प्रतिष्ठापना करने का कार्य हमें अपने व्यक्तिगत जीवन में सुधार एवं परिवर्तन करके ही सम्पन्न करना होगा। प्रवचन और लेख इस कार्य में सहायक हो तो सकते हैं पर केवल उन्हीं के आधार पर अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति संभव नहीं। दूसरों पर वास्तविक प्रभाव डालने के लिए हमें अपना अनुकरणीय आदर्श उनके सामने उपस्थित करना होगा। संसार में बुराइयाँ इसलिए बढ़ रही हैं कि बुरे आदमी अपने बुरे आचरणों द्वारा दूसरों को ठोस शिक्षण देते हैं। उन्हें देखकर यह अनुमान लगा लिया जाता है कि इस कार्य पर इनकी गहरी निष्ठा है। जुआरी जुआ खेलते हुए भारी हानि उठाने को तैयार रहते हैं। नशेबाज अपना स्वास्थ्य होम देते हैं। व्यभिचारी अपने धन और प्रतिष्ठा से हाथ धोते हैं, चोर-डाकू राजदंड का त्रास भोगते हैं। इसी प्रकार अन्य बुरे लोग भी भारी खतरे उठाकर भी अपने प्रिय विषय में संलग्न रहते हैं। यही निष्ठा दूसरों पर प्रभाव डालती है और देखा-देखी अन्य अनेक व्यक्ति उनका अनुकरण करने लगते हैं।

सद्विचारों के प्रचारक वैसे उदाहरण अपने जीवन में प्रस्तुत नहीं कर पाते। ये कहते तो बहुत कुछ हैं, पर ऐसा कुछ नहीं करते जिससे उनकी निष्ठा की सच्चाई प्रतीत हो। प्राचीनकाल में साधु-ब्राह्मण धर्मोपदेश करने से पूर्व अपना जीवन उसी प्रकार का बनाते थे, जिससे सम्पर्क में आने वालों को उनकी निष्ठा की गहराई का पता चल जाय और वे [illegible] को [illegible] त्या [illegible] तब उठाता है जब वैसे ही दूसरे उदाहरण भी सामने उपस्थित हों और उनसे आवश्यक प्रेरणा प्राप्त हो। गाँधी जी, बुद्ध, ईसा के उपदेशों ने संसार में बहुत काम किया है पर उनके प्रवचनों के के पीछे उनका उज्ज्वल चरित्र भी प्रकाशवान था।

हमें अपने आपका सुधार करने का कार्यक्रम आरम्भ करते हुए, लोकसेवा की महान प्रक्रिया का आरम्भ करना होगा, युग परिवर्तन का पहला कार्य है- अपना परिवर्तन। हम बदलेंगे तो हमारी दुनिया भी बदलेगी। शुभ कार्य अपने घर से आरम्भ होते हैं। समाज सुधारने के लिए, संसार को सुधारने के लिए हमें अपना व्यक्तिगत जीवन सुधारने के लिए अग्रसर होना होगा।

दृष्टिकोण के परिवर्तन से ही बाह्य परिस्थितियाँ बदलेंगी

हमारा बहिरंग जीवन दो आधार पर सुव्यवस्थित रहता है (१) उपलब्ध साधन-सामग्री (२) सम्बद्ध व्यक्तियों की श्रृंखला। इन दोनों के अनुकूल होने पर सुख अनुभव किया जाता है और प्रतिकूलता अथवा न्यूनता में दुःख। उपलब्ध जीवनोपयोगी साधन-सामग्री में धन और उसके द्वारा उपलब्ध हो सकने वाली वस्तुएँ आती हैं। भोजन, वस्त्र, मकान, वाहन, विनोद तथा सुविधा उपकरण इसी श्रेणी में गिने जा सकते हैं। सम्बद्ध व्यक्तियों की श्रृंखला में परिवार के सदस्य, पत्नी, संतति, भाई-बहिन, माता-पिता आदि वे लोग आते हैं जिन्हें कुटुम्बी कहते हैं। इसी श्रृंखला की कड़ी में स्वामी, सेवक, पड़ोसी, ग्राहक, साथी आदि भी गिने जा सकते हैं। साधनों की कमी नहीं और सम्बद्ध व्यक्ति सहयोगी बनकर काम कर रहे हों, तो बहिरंग जीवन को सुखी कहा जा सकता है।

अन्तरंग जीवन के भी दो पहिये हैं। (१) शरीर और (२) मन। यह दोनों स्वस्थ हों तो व्यक्तिगत रूप से मनुष्य सुखी रहेगा। रुग्ण शरीर और उलझा हुआ मस्तिष्क आधि-व्याधि से ग्रसित दुखदायी अनुभूतियाँ प्रस्तुत करता है। यह दोनों साथी ठीक प्रकार काम दे रहे हैं और सन्तुलित रीति-नीति अपनाकर आलस्य, प्रमाद की विसंगतियों से बच रहे हों तो मनुष्य अपने आप में प्रसन्नता अनुभव करता रहेगा।

बहिरंग जीवन के दो माध्यम हैं, साधन और परिवार, अंतरंग जीवन के दो माध्यम हैं शरीर और मन, इन चारों को मिलाकर जीवन रथ के चार पहिये बनते हैं और वे ठीक प्रकार से अपनी धुरी पर लुढ़क रहे हों तो कहा जा सकता है कि सुखपूर्वक जीवनयापन की क्रम व्यवस्था चल रही है।

इन चारों को सही और सन्तुलित रखने का उत्तरदायित्व हमारे दृष्टिकोण का है। उसे सारथी [illegible] सकते हैं। दृष्टिकोण में विकृति आने पर यह

व्यस्त और नष्ट-भ्रष्ट होने लगते हैं और मनुष्य दुःख-दारिद्रय के, शोक-सन्ताप के गर्त में जा गिरता है।

शरीर की संरचना प्रकृति ने इस प्रकार की है कि यदि उसे आहार-विहार के प्रकृति प्रदत्त निर्देशों पर चलने दिया जाय, असंयम और अव्यवस्था में न उलझा जाय तो सामान्यतया आजीवन स्वास्थ्य बनता रहेगा और रुग्णता एवं दुर्बलता का कष्ट न सहना पड़ेगा। मन यदि उच्छृंखल तृष्णा के लिए उद्विग्न न हो रहा हो और परिस्थितियों से निपटने की रीति-नीति समझता हो तो उस बुद्धिमत्ता, विवेकशीलता एवं दूरदर्शिता के आधार पर सन्तोष और सन्तुलन बनाये रह सकेगा। उद्विग्न प्रायः वही लोग पाये जाते हैं जिन्हें सोचना नहीं आता। सब कुछ हमारी इच्छानुकूल ही होता रहे, जो चाहते हैं वही मिलता रहे यह सम्भव नहीं। प्रतिकूलताएँ बनी ही रहेंगी उनके साथ किस प्रकार निपटा जाय यह एक कला है। परिस्थितियों को कैसे अनुकूल बनाया जाय, इसकी रीति-नीति जिसे मालूम है वह खीजता-झल्लाता नहीं वरन् संगति बिठाने में निरत होता है और कामचलाऊ हल निकाल लेता है। ऐसे मनुष्य ही मानसिक दृष्टि से सन्तुलित और प्रसन्नचित्त रहते देखे जाते हैं।

साधनों का बाहुल्य रहने से सुखी रहने की बात आम तौर से सोची जाती है किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है जो उपलब्ध है उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग कैसे हो सकता है इस तथ्य को यदि कोई ठीक तरह जानता हो तो स्वल्प साधनों में भी हँसी-खुशी की जिन्दगी जी जा सकती है। साधन सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो किन्तु उसका सही उपयोग न आता हो तो उनसे लाभ मिलना तो दूर उलटे समस्याएँ उत्पन्न होंगी। कितने ही धनाढ्य लोग, संग्रहीत सम्पदा का उपयोग नहीं जानते। फलतः उससे विग्रह और अनाचारजन्य संकटों की घटाएँ ही घुमड़ती रहती हैं। उन्हें सम्पन्नता-निर्धनता से भी महँगी पड़ती है उच्छृंखल अपव्यय अथवा कृपण संग्रह तरह-तरह के विक्षोभ उत्पन्न करता है और उस व्यक्ति की स्वाभाविक शान्ति का अपहरण कर लेता है।

कुटुम्ब में सब लोग एक प्रकृति के नहीं होते। जन्म-जन्मान्तरों से संग्रहीत उनके अपने स्वभाव-संस्कार होते हैं इसलिए अपनी रुचि के ढाँचे में सबको मिट्टी के खिलौने की तरह नहीं ढाला जा सकता, अस्तु, बुद्धिमान लोग उस व्यक्ति को स्वीकार करते हैं कि अधिकाधिक सामंजस्य बना रहे। स्नेह-सदभाव और सहयोग की सौम्य-शृंखला में वे परस्पर बँधे-जकड़े रहें। अवांछनीय दोष-दुर्गुणों के निराकरण और सत्प्रवृत्तियों के सम्वर्धन का उत्तरदायित्व चतुर लोग इस प्रकार निबाहते हैं कि साँप मरे न लाठी टूटे। सुधार की उग्रता इतनी न हो कि जिससे स्नेह-सद्भाव का धागा टूटने और दाने बिखरने की ही स्थिति बन जाय। उतनी उपेक्षा भी न बरती जाय कि हर कोई होकर मनमानी करने लगे और परिवार-संस्था का उद्देश्य ही नष्ट हो जाय। कुटुम्ब के छोटे समूह को स्नेहसिक्त, संतुलित, प्रगतिशील और सुसंस्कारी बनाने के लिए मध्यमार्गी किन्तु आदर्शवादी विधि-व्यवस्था अपनानी पड़ती है। जो इस सन्तुलन का अभ्यस्त है उसे परिवार सुख की कमी नहीं रहती। भले ही सम्बद्ध व्यक्ति उतने सुसंस्कारी एवं सुविकसित नहीं भी हों।

अन्तरंग जीवन का आधार शरीर और मन है। उनका स्वस्थ और संतुलित रहना आवश्यक है। इसी प्रकार बहिरंग जीवन के आधार साधन और सहचर हैं। उनका सदुपयोग और समन्वय किया जाना आवश्यक है। जिसने इतना सीख लिया समझना चाहिए कि उसने जीवन जीने की कला जान ली और सुख-शान्ति के ताले की चाबी खोज ली। वस्तुतः प्रचुर मात्रा में ही उसके लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए किन्तु यदि वे शरीर की सामान्य आवश्यकता पूरी कर सकने जितनी हैं तो भी सदुपयोग की विधा जानने वाला उस न्यूनता के बीच भी सुखी जीवन जी सकता है। इस तथ्य को आश्रमवासी, मितव्ययी और अभावग्रस्त समझी जाने वाली परिस्थिति में स्वेच्छा से रहने वाले ऋषि-मनीषियों ने सत्य सिद्ध करके दिखाया था कि कम वस्तुएँ मनुष्य की प्रगति एवं सुविधा में कोई विशेष व्यतिरेक उत्पन्न नहीं करतीं। सादा जीवन उच्च विचार का आदर्श न तो मिथ्या है और न अव्यावहारिक। जीवन की कला जो जानते हैं वे अधिक साधन उपलब्ध करने का प्रयत्न करते हैं पर साथ ही यह नहीं भूलते कि जो प्राप्त है उसका सदुपयोग करके भी सन्तोष के साथ जिया जा सकता है। उस स्थिति में भी प्रगति के पथ पर बढ़ा जा सकता है।

परिवार के सदस्यों को अधिक सम्पन्न बनाने और सुविधा, विलासिता को लादने में मोहग्रस्तता नहीं अपनाई जानी चाहिए, इस लाड़-चाव में वे कुसंस्कारी, व्यसनी और दुर्गुणी बनते हैं। अमीरों जैसे साधनों से घर-परिवार के लोगों को लाद देने और उन्हें बैठे-बैठे, खाने-उड़ाने के लिए धन-दौलत छोड़ मरने की बात सोचना प्रकारान्तर से परिजनों के स्वभाव को बिगाड़ना और उनके भविष्य को अन्धकारमय बनाना है। आरम्भ से ही अनुशासन, मितव्ययता, श्रमशीलता, शिष्टता और स्नेह-सहयोग को पारिवारिक जीवन में समावेश करने की सूक्ष्म दृष्टि रखी जाय और घर के हर सदस्य के साथ दैनिक सम्पर्क, परामर्श का क्रम रखा जाय तो ऐसा अवसर न आने पावेगा जिसमें पीछे पछताने और सिर धुनने की आवश्यकता पड़े। हमारा अनावश्यक मोह ही है जो परिवार के सदस्यो को दुर्गुणी बनाता है। लाड़-चाव की उमंग में अक्सर कर्तव्य की बात भुला दी जाती है। कुटुम्बियों को अमीरी का चस्का लगाना नहीं अपना उत्तरदायित्व जो उन्हें सुसंस्कारी बनाना मानते हैं और उसें अदूरदर्शितापूर्ण लाड़-दुलार को बाधक नहीं बनने देते, वे अन्ततः लाभ में रहते हैं। ऊपर से रुखाई और कड़ाई भले ही दिखाई पड़ती रहे पर अन्ततः यही रीति-नीति सर्वोत्तम स्नेह-साधना

है और न केवल अपने को वरन् परिवार के प्रत्येक सदस्य को उसका समुचित लाभ मिलता है।

स्पष्टत: बहिरंग जीवन के लिए साधनों और सहचरों का सदुपयोग संतुलन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। जो इस दिशा में उपेक्षा बरतेगा तो उसे बहिरंग जीवन में कभी सुख, चैन की साँस लेने का अवसर न मिलेगा। अभाव और विग्रह की शिकायत उसे सदा बनी ही रहेगी। ठीक इसी प्रकार जो शरीर को आलस और असंयम के गर्त में गिरने से रोकेगा नहीं, इन्द्रिय-निग्रह और नियमित दिनचर्या की आवश्यकता अनुभव न करेगा यह रुग्णता से बच नहीं सकेगा। दवा-दारू भी उसकी कुछ विशेष सहायता न कर सकेगी। असमय की वृद्धता एवं अकाल मृत्यु का त्रास उसे सहना ही पड़ेगा। मन की प्रसन्नता जिसने दूसरों के हाथ गिरवी रख छोड़ी है- जिसे कोई भी क्षुब्ध कर सकता है, उसका मन ज्वारभाटे की तरह अशान्त उद्विग्न ही रहेगा। जो अपने चिन्तन की परिस्थितियों के साथ-तालमेल बिठा सकने योग्य परिष्कृत न बन सके उसकी मनोव्यथा का अन्त हो ही नहीं सकता। समस्त परिस्थितियाँ सदैव अनुकूल ही बनी रहें यह सर्वथा असंभव है जिसने असम्भव को संतोष का आधार बना रखा हो, उसके मानसिक आकाश में हर्षोल्लास की बिजली कभी-कभी ही कौंध जाया करे तो बहुत है अन्यथा उसमें नीला-काला अन्धकार ही छाया रहेगा।

जीवन रक्षा एक बहुमूल्य वाहन है उसे कुशलतापूर्वक चलाया जा सके तो ही सुख-शान्ति भरे आनन्द, उल्लास का लाभ लिया जा सकता है। निश्चित रूप से मानव जीवन असाधारण रूप से महान है। उसके साथ अगणित विभूतियाँ जुड़ी हुई हैं पर उनका रसास्वादन कर सकना हर किसी के बस की बात नहीं। अनाड़ी ड्राइवर कीमती मोटर का भी चूरा करता है- सवारियों को मारता है और खुद मरता है। जिसे मानव जीवन के सदुपयोग संचालन की विधि-व्यवस्था ज्ञात नहीं उसका नर जन्म निरर्थक ही रहेगा उसे शोक-संताप के ही दिन गुजारने होंगे और निरन्तर दुर्भाग्य का रोना रोते रहना पड़ेगा।

जीवन जीने की कला मनुष्य कलेवर धारण करने वाले की सर्वोपरि, सर्व प्रधान और महानतम आवश्यकता है। उसे समझा और सीखा जाना ही चाहिए। यहाँ इस असमंजस में पड़ने की आवश्यकता नहीं है कि जीवन जैसी जटिल संरचना वाले सरंजाम के कल-पुर्जों को समझना और उनके बनाव-बिगाड़ को सुधारने-सम्भालने के लिए बहुत लम्बा-चौड़ा अध्ययन करना पड़ेगा और दीर्घकालीन प्रशिक्षण लेना पड़ेगा। सौभाग्यवश यह प्रक्रिया जितनी जटिल और कठिन दीखती है उतनी ही सरल भी है। इस विद्या को एक शब्द में कहा जाय तो दृष्टिकोण का परिष्कार कह सकते हैं। यदि यह मानकर चला जाय कि हमें विवेक से प्रेरणा लेनी है और कर्तव्य का अवलम्बन करना है तो इतने भर से काम चल जायगा । लोग क्या चाहते हैं- क्या करते हैं, क्या कहते हैं उस प्रवाह से यदि मुँह मोड़ लिया जाय और आदर्श क्या चाहता है, क्या कहता है- को आधार मानकर अपने चिन्तन में उत्कृष्टता और कर्तृत्व में आदर्शवादिता भर ली जाय तो उतने भर से काम चल जायगा और जीवन कला का रहस्यमय विज्ञान सहज ही करतलगत हो जायगा। तदनुसार शरीर, मन, साधन और परिवार का सुसंचालन कर सकने में निपुणता प्राप्त हो जायगी, तब सुख-युक्त परिस्थिति और शान्तिपूर्ण मन:स्थिति का रसास्वादन पग-पग पर उपलब्ध होने लगेगा।

जीवन की नीति-निर्धारण करने में आत्म बल की और परिष्कृत क्रिया-पद्धति अपनाने में मनोबल की आवश्यकता पड़ती है। संक्षेप में इसे आन्तरिक साहसिकता कह सकते हैं। आर्ष ग्रन्थों और आप्तपुरुषों की भाषा में इसी को 'आध्यात्मिकता' कहते हैं। स्वाध्याय सत्संग द्वारा उसी जीवन-दर्शन को समझने का प्रयत्न किया जाता है और उपासना-साधना द्वारा उसी प्रेरणा को हृदयंगम किया जाता है। आस्तिकता और धार्मिकता का समस्त कलेवर इसी प्रयोजन के निमित्त खड़ा किया गया है। ईश्वर की प्रसन्नता और अनुकम्पा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्यक्ति के भाव-संस्थान से है। उत्कृष्टता की भाव भूमिका में ही ईश्वर की दिव्य चेतना का अवतरण संभव हो सकता है। साधना उपक्रम का एकमात्र उद्देश्य अन्त:भूमिका परिस्कार ही है। आत्मा की पवित्रतम और उदारतम स्थिति का नाम ही परमात्मा है। लोभ, मोह के बन्धनों को काटकर आदर्श और कर्तव्य के अपनाने का नाम ही मुक्ति है। स्वर्ग न तो स्थान है और न परिस्थिति। वह विशुद्ध रूप से परिष्कृत दृष्टिकोण ही है जिसे अपनाने वाला देव संज्ञा में गिना जाने लगता है और अति मानवी आनन्द का रसास्वादन करता है। प्रशंसागान अथवा नामजप से ईश्वरीय अनुग्रह मिलने की कल्पना बाल-विनोद मात्र है उसका न कोई आधार है और न कारण। अमुक कर्मकाण्ड को देखकर अथवा अमुक उच्चारण को सुनकर ईश्वर प्रसन्न हो सकता है। ऐसे सोचना परमब्रह्म की सत्ता और महत्ता का उपहास करने जैसा ही है। उपासना का तथ्य यदि न समझा जाय तो इस दिशा में किये गये प्रयत्न काल-क्षेप मात्र बनकर रह जायेंगे। हमें हजार बार जानना चाहिए और लाख बार समझना चाहिए कि अध्यात्म का एकमात्र अर्थ परिष्कृत दृष्टिकोण का अवलम्बन ही है। उपासना का प्रयोजन आत्मा को परमात्मा के स्तर तक पहुँचाने वाली उत्कृष्ट प्रेरणा को अन्त:करण के गहन-तप स्तर में प्रतिष्ठापित करना ही है। अन्यथा ईश्वर की किसी निन्दा-, प्रशंसा से अथवा कर्मकाण्ड परक क्रिया प्रक्रिया से क्योंकर प्रभावित कर सकना सम्भव हो सकता है ?

दृष्टिकोण के परिष्कार को अन्तरंग और बहिरंग जीवन की सुख-शान्ति का प्रेरणा स्रोत कहा जा सकता है। उसी के आधार पर शरीर को संयमशील व्यवस्था में कस कर स्वस्थ रखा जा सकता है । परिस्थितियों में तालमेल बिठाकर मन को संतुलित बनाया जा सकता है।

अपव्यय रोककर उनका सदुपयोग हो सकता है और सहचरों के प्रति कर्तव्य-पालन का उत्तरदायित्व निबाहा जा सकता है और असंयम, उद्वेग, अपव्यय और व्यामोह इन चार नरक-द्वारों में प्रवेश करने से बचाया जा सकता है। जो इतना कर लेगा उसका सुख-संतोष हर घड़ी-हर स्थिति में -अक्षुण्ण बना रहेगा। साधनों और व्यक्तियों को गुलामी से लोभ और मोह की लौह-शृंखला से जिसने पराधीन रहना अस्वीकार कर दिया और समग्र आत्मनिर्भरता को ध्यानपूर्वक अपना लिया उस जीवन मुक्ति के लिए यहीं धरती स्वर्गादपि गरीयसी होगी। इसी काय-कलेवर में देवत्व का अवतरण परिलक्षित होगा।

दृष्टिकोण का परिष्कार सर्वप्रथम अपने अन्तःकरण में विकसित करना होता है। जब उसकी पौध उपज आती है तब शरीर, मन, साधन एवं परिवार में प्रयोग करना पड़ता है। धान की फसल इसी तरह उगती है। उसे पहले एक जगह सघन बोते हैं। पीछे उसे उखाड़कर जहाँ-तहाँ आरोपित करते हैं। उद्यान-नर्सरी भी पौध उगाने का व्यवसाय करती हैं। अपनी जमीनों में पेड़ लगाने वाले, नर्सरी से पौध खरीदकर ले जाते हैं। यही क्रम दृष्टिकोण के सम्बन्ध में भी चलता है।

अपना वास्तविक स्वरूप, मानव जीवन का *असाधारण महत्व-नर जन्म का चरम लक्ष्य, उसकी प्राप्ति* का राजमार्ग यदि भली-भाँति समझ में आ जाय तो कहना चाहिए कि परिष्कृत दृष्टिकोण का अंकुर उग आये और उनका स्थूल जीवन के चारों क्षेत्रों में आरोपण के फलस्वरूप उगने वाली फसल इतनी बहुमूल्य है कि उसे प्राप्त करने वाला हर दृष्टि से, हर दिशा में अपने आपको सुसम्पन्न सौभाग्यशाली अनुभव करता है।

(१) *मनुष्य ईश्वर का ज्येष्ठ राजकुमार है*, (२) उसे सुसम्पन्न मानव शरीर इसलिए मिला है कि ईश्वरीय उद्यान को अधिकाधिक सुरम्य बनाने में बढ़ा-चढ़ाकर योगदान प्रस्तुत करे। (३) शरीर और मन ढाल-तलवार की तरह-छैनी-हथौड़े की तरह वे मूल्यवान औजार उपलब्ध हैं जिनके सहारे अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रबल पुरुषार्थ कर सकना सम्भव हो सके। (४) परिवार की छोटी प्रयोगशाला लोक-मंगल के निर्धारित कर्तव्यपालन की क्षमता विकसित करने का अभ्यास करने के लिए मिली है। इन चार महासत्यों को यदि अन्तःकरण के गहनतम तलों में प्रतिष्ठापित किया जा सके तो मनुष्य को अपनी दिशा एक रीति-नीति का निर्धारण करने में कोई कठिनाई नहीं रहती । तब वह पुत्रेषणा, वित्तेषणा व लोकेषणा के साथ जुड़ी हुई वासना, कृपणता एवं अहमन्यता में फँसने से स्पष्ट इन्कार कर देता है। उसे न वस्तुओं का लोभ होता है और न व्यक्तियों का मोह सताता है। लक्ष्य की पूर्ति में समर्थ कर्तव्यनिष्ठा ही उसे सुहाती है और उसका निर्धारण करने में आदर्शवादी, दूरदर्शी विवेकशीलता ही मार्गदर्शन का प्रधान आधार है। ऐसे व्यक्ति अन्धी भेड़ों की नीति अपनाकर चलने वाले लोक-प्रवाह की धारा में कूड़े-करकट की तरह बहने से स्पष्ट इनकार कर देता है। उसकी अपनी मौलिकता उभरती और ऐसी दिशा अपनाने का प्रचण्ड साहस भरती है जो परम-लक्ष्य तक पहुँचा सकने में समर्थ हो। इसी सत्साहस की मौलिकता में एक विशेषता यह भी जुड़ी रहती है कि लोग क्या कहते हैं या चाहते हैं इसे देखने-सोचने की पूर्ण उपेक्षा करते हुए उस आधार को अपना सके जिसमें लोक-मंगल की, विवेक और सत्य के विजयी होने की सम्भावनाएँ सन्निहित हैं।

परिष्कृत दृष्टिकोण का यह आत्मवादी चिन्तन मनुष्य को स्वार्थी और संकीर्ण नहीं रहने देता। वह न तो इन्द्रियों का गुलाम बनता है और न मन का। उसे न लोभ सताता है मोह। न उसे आत्मश्लाघा व्याकुल करती है और न लोक प्रवाह के साथ बहने में रुचि होती है। कौन समर्थक है कौन विरोधी यह सोचने की भी उसे फुरसत नहीं होती। आत्मा की पुकार, विवेक की प्रेरणा, ईश्वरीय निर्देश की पूर्ति और परम-लक्ष्य की प्राप्ति यह चारों विभूतियाँ उसे अत्यधिक मूल्यवान प्रतीत होती हैं। इतनी मूल्यवान जिस पर भौतिक आकर्षणों को सहज ही निछावर करके फेंका जा सके ।

दृष्टिकोण के परिष्कार के साथ जुड़ा हुआ है कि *जीवन के साथ जुड़े हुए शरीर, मन, साधन एवं परिवार के* प्रति दूरदर्शिता पूर्ण रीति-नीति अपनाई जा सके। इसी कदम के साथ हमारी जीवन विद्या में प्रगति, समृद्धि प्रसन्नता का भरपूर समावेश होने की सम्भावनाएँ जुड़ी हुई हैं। विकृत दृष्टिकोण के कारण ही मनुष्य अवांछनीय गतिविधियाँ अपनाता है और फलस्वरूप विविध शोक-सन्तापों में, कष्ट क्लेशों में, डूबता-उतराता है । ओछा चिन्तन, निकृष्ट जनसमूह का अन्धानुकरण इसी का नाम माया बन्धन है। उसी मे फँसा हुआ प्राणी भव-बन्धनों में कसा जकड़ा-अगणित विपत्तियों से संत्रस्त रहता है। नरक इसी का नाम है। गर्हित और विकृत-चिन्तन अपनाकर हम स्वयं ही अपने जलने-गलने के लिए नरक का सृजन करते हैं और स्वयं स्वेच्छापूर्वक उसमें प्रवेश करते हैं।

सुख-शान्ति की स्वर्गीय परिस्थिति और आनन्द-उल्लास की देवोपम मनःस्थिति को प्राप्त करने के लिए हमें परिष्कृत दृष्टिकोण का अमृतपान करना होता है। तत्वदर्शी उसी को सोमपान कहते हैं। समस्त विपत्तियों की आकांक्षा इसी मार्ग पर चलने से पूर्ण होती है। श्रेय साधन का इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग है ही नहीं। दृष्टिकोण का परिष्कार किये बिना निविड़-नरक में से और किसी प्रकार छुटकारा हो ही नहीं सकता। समुन्नत और सुविकसित जीवन की महान उपलब्धि चिन्तन को उत्कृष्ट बनाने के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, धर्म और अध्यात्म का एकमात्र प्रयोजन मानवी -चेतना को इसी पुण्य पथ पर अग्रसर करता है। ईश्वर अनुग्रह का सर्वोपरि वरदान यही हो सकता है कि भक्ति के साथ अविच्छिन्न रूप में जुड़ी रहने वाली सद्भावनाएँ उमड़ें और

सत्प्रवृत्तियों के रूप में प्रत्यक्ष परिलक्षित हों। जहाँ इन उपलब्धियों का दर्शन होता हो समझना चाहिए वहाँ आस्तिकता और धार्मिकता की विडम्बना ही है- यथार्थता नहीं।

मानवी-गरिमा के अनुरूप भावात्मक उत्कृष्टता और क्रियात्मक आदर्शवादिता जब हम वस्तुतः अपनाते हैं तो उसकी प्रतिक्रिया स्वार्थ के विकास-परमार्थ में विकसित होने के रूप में परिलक्षित होती है। ओछा आदमी लोभ में निमग्न और मोह में ग्रसित देखा जाता है। उसे पेट और प्रजनन के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं। वासना और तृष्णा के अतिरिक्त और कुछ रुचिकर होता ही नहीं। शरीर और परिवार से आगे भी कुछ है क्या यह समझ में ही नहीं आता। ऐसा अनुदार, संकीर्ण, स्वार्थी और पाषाण हृदय मनुष्य, मानव-जीवन की गरिमा समझता ही कब है- जो उसके सदुपयोग की बात सोचे। जो सोचा ही नहीं गया है वह किया तो जा सकेगा ही कैसे ?

परिष्कृत दृष्टि जब विकसित होगी तो वह लोभ मोह और वासना-तृष्णा की क्षुद्रता से छलांग मारकर परमार्थ के क्षेत्र में प्रवेश करेगी। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की प्रतिध्वनि उसके हृदयाकाश के कण-कण में गूँजेगी और वसुधैव कुटुम्बकम् की मान्यता अपना सुख दूसरों को बाँट देने की- दूसरों का दुःख स्वयं बटा लेने की व्याकुलता उत्पन्न होगी। उसे सूझेगा कि समस्त विश्व उसका घर है और समस्त मनुष्य उसके अपने सहोदर। जीवन पेट और प्रजनन पर उत्सर्ग करने के लिए नहीं वरन् देश, धर्म, समाज, संस्कृति के प्रति- विश्व मानव के प्रति-लोकमंगल के प्रति भी उसके कुछ कर्तव्य उत्तरदायित्व हैं। इन्हें पूरा करने की आकुलता उत्कृष्ट अन्तःकरणों में पीड़ा और व्यथा के रूप में इस प्रकार प्रकट होती है कि उसका समाधान ढूँढ़ें बिना क्षणभर के लिए भी चैन नहीं पड़ता।

परिष्कृत दृष्टिकोण की प्रखरता का चिन्ह यह है कि समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड भगवान की साकार प्रतिमा दीख पड़े और उसे सुविकसित बनाने के लिए अपने मनोयोग युक्त श्रम बिन्दुओं की श्रद्धांजलि समर्पण करने की भक्ति भावना जागे। इस सेवा-साधना के दोनों रूप हो सकते हैं अभिवर्धन भी और उन्मूलन भी। कुशल माली अपने बगीचे को सुरम्य बनाने के लिए उसमें कुछ आरोपण करता है। कुछ उखाड़-पछाड़ कुछ काट-छाँट। आरोपण की तरह यह उन्मूलन भी एक महत्वपूर्ण विधा है। सहयोग का सहोदर ही संघर्ष है। आवश्यकतानुसार दीपक और जल-कलश की तरह उन दोनों ही शीत-ताप पुण्यों का प्रयोग करना पड़ता है। परिष्कृत दृष्टि से मानव जीवन की सार्थकता लोकमंगल के क्रिया-कलाप को व्यक्तिगत लाभ व्यवसाय की तरह ही परम रुचिकर मानने और उसमें उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होने में मानी जा सकती है। जिसे सभी अपने दीखे लगेंगे वह परिवार के चन्द लोगों को ही अपना मान बैठने और अन्य सबों को पराया समझने की भूल नहीं कर सकता है। सबके सुख-दुःख में अपनी साझीदारी, सबके विकास अभिवर्धन में अपनी प्रगति का अनुभव करना यही तो अध्यात्म दृष्टि है । साधना और उपासना का प्रतिफल आत्म-विस्तार के रूप में ही उपलब्ध होता है। संकीर्ण स्वार्थपरता के बन्धनों को तोड़ कर फेंक देने और विराट के साथ अपनी आत्मीयता जोड़ लेने का ही नाम मुक्ति है। स्वर्ग के दो पक्ष हैं उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व, जिसके अन्तःकरण में इन दोनों की प्रतिष्ठापना हो गई समझना चाहिए उसने मनुष्य शरीर में रहते हुए ही 'देवयोनि' प्राप्त करली।

देव मानव न केवल आत्म-कल्याण का लक्ष्य सम्पन्न करते हैं वरन् शरीर, मन, साधन एवं परिवार की दृष्टि से भी सुसन्तुलित रहते हैं। विकृतियाँ तो अपने ही दृष्टिकोण की होती हैं, जो रुग्णता, उद्विग्नता, दरिद्रता और गृह कलह के रूप में प्रगट होती हैं। जीवन की जड़ में यदि सुसंस्कृत चिन्तन का जल लगता रहे तो उसके सभी पत्र पल्लव हरे-भरे बने रहेंगे और उसे फला-फूला, सुरम्य, सुविकसित देखा जा सकेगा। इसी सर्वांगीण सुख-शान्ति को मानव जीवन की सार्थकता कहा जा सकता है। उसकी उपलब्धि पूर्णतया अपने हाथ में है। आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास को अपनी नीति-निष्ठा में परिणत कर लिया जाय तो हमारा जीवन-प्रवाह उस दिशा में सहज ही बह निकलेगा जिसमें अक्षय सुख-शान्ति के, आनन्द-उल्लास के अनुदान पग-पग पर भरे पड़े हैं।

शौर्य और साहस की सर्वोत्तम कसौटी यह है कि हम अपने दृष्टिकोण को न केवल परिष्कृत करें वरन् उसे व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित करने का पुरुषार्थ भी पराक्रम कर सकने में सफलता प्राप्त करें। पढ़ने, जानने सोचने और मानने की मस्तिष्कीय परिधि तक आदर्शों का सीमित रहना- उन्हें कार्यान्वित करने में असमंजस अनुभव करते रहना बहादुरी का चिन्ह नहीं है। आत्मबल और मनोबल की परख केवल एक ही कसौटी पर होती है कि आदर्शवादी मान्यता ने क्रियाशील होने की दिशा में कितनी प्रगति की। कुसंस्कारी ढर्रे को तोड़ फेंकने और उसके स्थान पर महामानवों के स्तर की विधि-व्यवस्था अपनाने में कितनी हिम्मत दिखाई। परिवर्तनकाल में जो हिचक होती है- निम्नगामी प्रवाह को ऊर्ध्वगामी बनने में जो दुस्साहस करना पड़ता है, उसके लायक अपने पास शक्ति भी नहीं। योद्धा दूसरों का सिर काटने वाले को नहीं कहते। सच्चे शूरवीर वे हैं जो अपनी प्रवृत्तियों को महामानवों के स्तर तक बदलने में अपने प्रचण्ड-पराक्रम का परिचय दे सकें। अपना दृष्टिकोण सुधार सकें। अपना कर्तृत्व उलट सके।

युग परिवर्तन की इस पुण्य वेला में जाग्रत आत्माओं के लिए यह खुली चुनौती है कि वे अपना दृष्टिकोण परिष्कृत करें, अपनी रीति-नीति बदलें। अनुकरणीय आदर्शवादिता के लिए दुस्साहस कर सकना न तो कठिन है न असम्भव। इसका उदाहरण हमें अपने आचरण द्वारा जनसाधारण के सामने प्रस्तुत करना होगा। देव-परम्परा का प्रवाह इसी आधार पर गतिशील होगा। परोपदेश की प्रवीणता प्राप्त करके वाक्-विलास भर हो सकता है- उससे कुछ बनता नहीं। दूसरों को गहरी प्रेरणा देने का एकमात्र उपाय यही है कि हम अपना आदर्श प्रस्तुत करके उनमें अनुगमन का साहस उत्पन्न करें। व्यक्तियों का परिवर्तन ही युग परिवर्तन है। नवयुग में भी लोगों की आकृति तो यही रहेगी केवल प्रकृति बदलेगी। आहार-विहार तो यही रहेगा केवल आचार-व्यवहार बदलेगा। व्यक्तियों का समूह ही तो विश्व है। विश्वशान्ति का भवन व्यक्तिगत शान्ति की ईंटों से ही चुना जा सकता है। इस परिवर्तन के लिए दूसरों को प्रेरणा दी जाय यह ठीक है पर उसके लिए मात्र वाचालता को ही पर्याप्त न माना जाय। आदर्शों को व्यवहार में किस प्रकार लाया जा सकता है? इस असम्भव समझे जाने वाले तथ्य को यदि हम स्वयं संभव करके दिखायें तो इससे लोक-शिक्षण की अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्राथमिक आवश्यकता को पूरा किया जा सकेगा। युग निर्माण योजना का प्रमुख आधार यही तो है।

दुष्प्रवृत्तियों के नाना पाश गले में बाँधकर सर्वनाश के पथ पर तोड़ी जा रही दुनिया को आत्मघात से बचाया जाना चाहिए। मानवी-सभ्यता का अस्तित्व मिटाने को आतुर सर्वभक्षी विभीषिकाओं का मुँह मोड़ा जाना चाहिए। यह महान कार्य, एक-दूसरे के ऊपर रहने से सम्भव न हो सकेगा। आरम्भ हमें स्वयं ही करना होगा और व्यक्ति को, विश्व को जैसा कुछ बनाना चाहते हैं उसका उदाहरण अपने आप में अभीष्ट परिवर्तन करके प्रस्तुत करना होगा। आज इसी साहसिकता की परीक्षा बेला है। उचित यही है कि अर्जुन की कायर भूमिका को पददलित करने के लिए गीता-ज्ञान का अमृत पियें और गाण्डीव पर सर-सन्धान करते हुए तुच्छ समझे जाने वाले आज के उपहासास्पद भारत को महाभारत बनाने के लिए जुट पड़ें और सृजन- संग्राम में अपनी भूमिका बढ़-चढ़ कर प्रस्तुत करें।

स्वार्थ, संकीर्णता, निकृष्ट दृष्टिकोण को त्यागने में हमें केवल अपने चारों ओर घिरे हुए नरक को ही खोना पड़ेगा और कुछ गँवाया जाना नहीं है। दृष्टिकोण को परिष्कृत बनाने और आदर्शवादी कर्तृत्व के लिए अड़ जाने में हमें शरीर, मन, साधन और परिवार में सर्वतोमुखी सुख-शान्ति ही मिलनी है। इतना ही नहीं इसी प्रयास में जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति और युग पुकार की उस महती आवश्यकता की पूर्ति भी होती है जिसके आधार पर हम नर-पशु से ऊँचे उठकर ऐतिहासिक भूमिका प्रस्तुत करने वाले महामानवों की पंक्ति में जा बैठते हैं।

हमें स्वयं भी विभूतिवान सिद्ध होना होगा

युग परिवर्तन के शब्द कहने और सुनने में सरल मालूम पड़ते हैं पर विश्व की अगणित धाराओं के उलटी दिशा में बहने वाले प्रचण्ड-प्रवाह को मोड़ने के लिए कितनी, किस स्तर की शक्ति चाहिए, इसका लेखा-जोखा तैयार करने पर विदित होता है कि बड़े काम के उपयुक्त ही बड़े साधन संजोने पड़ेंगे। यह सरंजाम जुटाना न तो सरल है और न उसका स्वरूप स्वप्न है। विश्व बड़ा है- उसकी समस्याएँ बड़ी हैं। इतने विशाल क्षेत्र की उलझनों को सुलझाने के लिए कितना कुछ करना पड़ेगा इस पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि पुराने खण्डहर को तोड़कर उसी की मिट्टी से नया भवन बनाने के लिए जो कुछ अभीष्ट हो वह सभी कुछ जुटाना पड़ेगा। इसे कम तैयारी से मानवी कल्पना को हतप्रभ कर देने वाले लक्ष्य की पूर्ति हो ही नहीं सकती।

भगवान कृष्ण को महाभारत रचाना था। पाण्डव निमित्त बनाये गये थे पर वे बेचारे करते क्या? अज्ञात वनवास की व्यथा भोगते-भोगते इतने साधनहीन हो गये थे कि कौरवों की दुर्धर्ष सत्ता को चुनौती दे सकने लायक सेना-शस्त्र, धन-साधन आदि कुछ भी उनके पास नहीं था। कृष्ण के बार-बार उकसाने पर भी पाण्डव लड़ने के लिए तैयार नहीं हो रहे थे। अर्जुन तो ऐन वक्त तक कतराता रहा। इसका कारण स्पष्टतः तुलनात्मक दृष्टि से साधनों की न्यूनता होगी। संतुलन स्थापित करने के लिए भगवान कृष्ण ने गीता का उपदेश ही नहीं दिया, रथ के घोड़े ही नहीं हाँके, वरन् और भी बहुत कुछ किया था। सर्वथा निर्धन और साधनहीन पाण्डवों का साथ देने, उनके पक्ष में लड़ने के लिए जो विशालकाय सेना खड़ी थी वह तमाशा देखने वाली भीड़ नहीं थी। उसे जुटाने, प्रशिक्षित एवं सुसज्जित करने से लेकर अर्थ व्यवस्था और युद्ध योजना बनाने तक का सारा कार्य परोक्ष रूप से कृष्ण को ही करना पड़ा था। युद्ध में पाण्डव ही विजयी हुए सही-राजगद्दी पर वे ही बैठे सही-पर साथ ही यह भी सही है कि कंस, जरासन्ध, कौरव और शिशुपाल जैसे दैत्यों के माध्यम से नग्न नृत्य करने वाली असुरता को नीचा दिखाने की अद्भुत योजना का सूत्र-संचालन पर्दे के पीछे रहकर मुरलीवादक ही कर रहा था।

अभी इन दिनों युग-परिवर्तन के प्रचण्ड अभियान का शुभारम्भ हुआ है। ज्ञान यज्ञ की हुताशन वेदी पर बौद्धिक, नैतिक एवं सामाजिक क्रान्ति की ज्वाला प्रज्ज्वलित करने वाली आज्याहुतियाँ दी जा रही हैं। जन्मेजय के नाग यज्ञ की तरह फुफकारते हुए विषधर तक्षकों को ब्रह्म तेजस्,

स्वाहाकार द्वारा घसीटा ही जायगा तो उस रोमांचकारी दृश्य को देखकर दर्शकों के होश उड़ने लगेंगे। वह दिन दूर नहीं जब आज की अरणि मन्थन से उत्पन्न स्फुलिंग शृंखला कुछ ही समय उपरान्त दावानल बनकर कोटि-कोटि जिह्वाएँ लपलपाती हुई वीभत्स जंजालों से भरे अरण्य को भस्मसात करती हुई दिखाई देंगी।

अभी भारत में-हिन्दू धर्म में-धर्ममन्च से, युग निर्माण परिवार में यह मानव जाति का भाग्य निर्माण करने वाला अभियान केन्द्रित दिखाई पड़ता है। पर अगले दिनों उसकी वर्तमान सीमाएँ अत्यन्त विस्तृत होकर असीम हो जायेंगी। तब किसी संस्था-संगठन का नियन्त्रण निर्देश नहीं चलेगा वरन् कोटि-कोटि घटकों से विभिन्न स्तर के ऐसे ज्योति-पुंज फूटते दिखाई पड़ेंगे, जिनकी अकूत शक्ति द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्य अनुपम और अद्‌भुत ही कहे समझे जा जायेंगे। महाकाल ही इस महान परिवर्तन का सूत्रधार है और वही समयानुसार अपनी आज की मंगलाचरण थिरकन को क्रमशः तीव्र से तीव्रतर, तीव्रतम करता चला जायगा। ताण्डव नृत्य से उत्पन्न गगनचुम्बी ज्वाज्वल्यमान आग्नेय लपटों द्वारा पुरातन को नूतन में परिवर्तित करने की भूमिका किस प्रकार, किस रूप में अगले दिनों सम्पन्न होने जा रही है आज उस सब को सोच सकना; कल्पना परिधि में ला सकना सामान्य बुद्धि के लिए प्रायः असंभव ही है। फिर भी जो भवतव्यता है वह होकर रहेगी। युग को बदलना ही है, आज की निविड़ निशा का कल के प्रभात कालीन अरुणोदय में परिवर्तन होकर ही रहेगा।

आवश्यक साधन जुटाने के लिए इस मिशन की विश्वयात्रा- प्रक्रिया का क्रम चलता रहा है। दूसरे सन्त-महन्त कथा-कीर्तन कहने-धन कमाने, शिष्य सम्प्रदाय बढ़ाने अनेक कलेवर आवरण ओढ़कर वायुयानों में उड़ते, पाश्चात्य देशों में विचरण करते देखे जाते हैं। इस योग और अध्यात्म के नाम पर चलने वाली विडम्बना को हम मात्र उपहासास्पद बालक्रीड़ा मानते हैं। इनसे न भारत का गौरव बढ़ता है और न साधुता की और-अध्यात्म की गरिमा रहती है। कलावन्त का कौशल चमत्कार ही उस अभिनय में पीछे झाँकता है। एक और भी कुचक्र इसी जाल-जंजाल में और भी आ मिला है। भारत पर गिद्ध दृष्टि रखने वाले देश इन साधु-सन्तों के चोर दरवाजे से घुस कर अपनी दुरभि-संधियों की जड़ें जमाने में लगे हैं। हिप्पियों के नाम पर जासूसों का टिड्डी दल उड़ रहा है और तरह-तरह के बहानों से पैसा उड़ता आ रहा है। यह किसी एक देश का कुकृत्य नहीं वरन् गरम-नरम, पोले-ढीले सभी स्तर के देश अपने खूनी पंजे जिन दरवाजों से घुसाते आ रहे हैं उनमें 'सन्तबाजी' भी एक है। ऐसे दुर्दिनों में प्रज्ञा-मिशन की विश्वयात्रा प्रक्रिया को भी इन्हीं घिनौने कुकर्मों में से एक होने की आशंका की जा सकती है पर तथ्य तो तथ्य ही रहेगा। काँच और हीरे का अन्तर सोने और पीतल का भेद छिपा कहाँ रहता है, छिपा कैसे रहेगा?

हम इन दिनों विभूतियों को प्रेरणा देने में लगे हैं और यह प्रयास आरम्भ भले ही छोटे क्षेत्र से हुआ हो पर अब अधिकाधिक व्यापक विस्तृत होता चला जा रहा है। युग-परिवर्तन की भूमिका लगभग महाभारत जैसी होगी। उसे लंकाकाण्ड स्तर का भी कहा जा सकता है। स्थूल बुद्धि इतिहासकार इन्हें भारतवर्ष के अमुक क्षेत्र में घटने वाला घटनाक्रम भले ही कहते रहें पर तत्वदर्शी जानते हैं कि अपने-अपने समय में इन प्रकरणों का युगान्तरकारी प्रभाव हुआ था। अब परिस्थितियाँ भिन्न हैं। अब विश्व का स्वरूप दूसरा है। समस्याओं का स्तर भी दूसरा है और फलस्वरूप परिवर्तन का उपक्रम भी दूसरा ही होगा, भावी युग-परिवर्तन प्रक्रिया का स्वरूप और माध्यम भूतकालीन घटनाक्रम से मेल नहीं खा सकेगा किन्तु उसका मूलभूत आधार वही रहेगा जो कल्प-कल्पान्तरों से युग-परिवर्तनकारी उपक्रमों के अवसर पर कार्यान्वित होता रहा है।

असुरता जिस स्तर की हो उसी के अनुरूप प्रतिरोध खड़ा करने के अतिरिक्त परिवर्तन की प्रक्रिया और किसी प्रकार सम्पन्न नहीं हो सकती। जन-मानस की कुत्साओं-कुण्ठाओं ने जिस प्रकार, जिस रास्ते मलिन व अवरुद्ध किया है उसी रास्ते को उलटकर सृजन का उपक्रम खड़ा करना पड़ेगा। इसलिए तोप-तलवारों से नहीं उन अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होना पड़ेगा जिससे मानवी अन्तःकरण में गहराई तक घुसे पड़े कषाय-कल्मषों का उन्मूलन किया जा सके। इस प्रक्रिया के लिए उपयुक्त व्यक्ति भी चाहिए और उपयुक्त साधन भी। विभूतियों का आह्वान यही है। जिसकी चर्चा युग निर्माण परिवार में इन दिनों कही-सुनी जा रही है। विभूतियों की खोज करने के लिए ही हम इन दिनों राजहंस की गति से उड़ते हुए मानसरोवरों को मझार रहे हैं। अभीष्ट मात्रा में मणि-मुक्तक हाथ लगने की हमें पूरी-पूरी आशा है और वह पूरी भी हो रही है।

युग निर्माण परिवार का गठन भी इसी क्रम से हुआ है। महाकाल की युगान्तरीय चेतना ने उन सुसंस्कारी आत्माओं को ढूँढ़ा है, जिनके पास आत्मबल की पूर्वसंचित सम्पदा समुचित मात्र में पहले से ही विद्यमान थी। गायत्री यज्ञों के बहाने— सत्साहित्य के आकर्षण से व्यक्तिगत सम्पर्क की पकड़ से मणि-मुक्तक की उस स्फटिक माला में उन्हें गूँथा है, जिसे युग निर्माण परिवार के नाम से कहा- पुकारा जाता है। युग निर्माताओं की इस सृजन सेना के अधिनायक उत्तरदायित्व का भार वहन कर सकने में समर्थ आत्माओं को साधना-सूत्रों में अभीष्ट अनुदान के लिए बुलाया जाता रहता है। यही प्रक्रिया विकसित होकर विश्वव्यापी बनने जा रही है। परिवर्तन न तो भारत तक सीमित रहेगा और न उसकी परिधि हिन्दू धर्म तक अवरुद्ध रहेगी। परिवर्तन विश्व का होना है। निर्माण समस्त जाति का होगा। धरती पर स्वर्ग का

अवतरण और मनुष्य में देवत्व का उदय, किसी देश, जाति, धर्म, वर्ग तक सीमित नहीं रह सकता उसे असीम ही बनना पड़ेगा। इन परिस्थितियों में युग-निर्माण प्रक्रिया का विश्वव्यापी होना एक वास्तविक तथ्य है।

हम तो अपने मार्गदर्शक के चरणों पर समर्पित अकिंचन पुष्प हैं। हमने सर्वतोभावेन अपने समग्र अस्तित्व को सूत्र-संचालक के हाथों में सौंपा है। सो हमें जब जो नाच नाचने के लिए कहा जाता है कठपुतली की तरह वैसी ही थिरकन हमारी हलचलों में देखी जा सकती है। वंशी की तरह हम बिल्कुल पोले हैं और अपने वादक के अधरों से सटे हैं, श्वास की जैसी धारा बहती है वैसी ही रागिनी अपने भीतर से विनिसृत होने लगती है।

युग परिवर्तन की घड़ियों में भगवान अपने विशेष पार्षदों को महत्वपूर्ण भूमिकाएँ सम्पादित करने के लिए भेजता है। युग-निर्माण परिवार के परिजन निश्चित रूप से उसी शृंखला की अविछिन्न कड़ी हैं। उस देव ने उन्हें अत्यन्त पैनी सूक्ष्म-दृष्टि से ढूँढ़ा और स्नेह सूत्र में पिरोया है। यह कारण नहीं है। यो सभी आत्मायें ईश्वर की सन्तान हैं, पर जिन्होंने अपने को तपाया निखारा है उन्हें ईश्वर का विशेष प्यार-अनुग्रह उपलब्ध रहता है। यह उपलब्धि भौतिक सुख-सुविधाओं के रूप में नहीं है यह लाभ की प्रवीणता और कर्मपरायणता के आधार पर कोई भी आस्तिक-नास्तिक प्राप्त कर सकता है। भगवान जिसे प्यार करते हैं उसे परमार्थ-प्रयोजनों की पूर्ति के लिए स्फुरणा एवं साहसिकता प्रदान करते हैं। सुरक्षित पुलिस एवं सेना आड़े वक्त पर विशेष प्रयोजनों की पूर्ति के लिए भेजी जाती है। युग निर्माण परिवार के सदस्य अपने को इसी स्तर का समझें और अनुभव करें कि युगान्तर के अति महत्वपूर्ण अवसर पर उन्हें हनुमान अंगद जैसी भूमिका सम्पादित करने को यह जन्म मिला है। इस देवसंघ में इसीलिये प्रवेश हुआ है। युग-परिवर्तन के क्रिया-कलाप में असाधारण आकर्षण और कुछ कर गुजरने के लिए सतत अन्तःस्फुरण का और कुछ कारण हो ही नहीं सकता। हमें तथ्य को समझना चाहिए। अपने स्वरूप और लक्ष्य को पहचानना चाहिए और आलस्य प्रमाद में बिना एक क्षण गँवाये अपने अवतरण का प्रयोजन पूरा करने के लिए अविलम्ब कटिबद्ध हो जाना चाहिए। इस से कम में युग-निर्माण परिवार के किसी सदस्य को शांति नहीं मिल सकती। अन्तरात्मा की अवज्ञा उपेक्षा करके जो लोभ-मोह के दलदल में घुसकर कुछ लाभ उपार्जन करना चाहेंगे तो भी अन्तर्द्वन्द्व उन्हें उस दिशा में कोई बड़ी सफलता मिलने न देगा। माया मिली न राम वाली द्विविधा में पड़े रहने की अपेक्षा यही उचित है दुनियादारी के जाल-जंजाल में घुसते चले जानेवाले अन्धानुयायियों में से अलग छिटक कर अपना पथ स्वयं निर्धारित किया जाय। अग्रगामी पंक्ति में आने वालों को ही श्रेय भाजन बनने का अवसर मिलता है महान प्रयोजनों के लिए भीड़ें तो पीछे भी आती रहती हैं और अनुगामियों से कम नहीं कुछ अधिक ही काम करती हैं परन्तु श्रेय-सौभाग्य का अवसर बीत गया होता है। मिशन के सूत्र संचालकों की इच्छा है कि युग निर्माण परिवार की आत्मबल सम्पन्न आत्मायें इन्हीं दिनों आगे आयें और अग्रिम पंक्ति में खड़े होने वाले युग-निर्माताओं की ऐतिहासिक भूमिकायें निबाहें। इन पंक्तियों का प्रत्येक अक्षर इसी संदर्भ से ओत-प्रोत समझा जाना चाहिए।

पिछले दिनों अभियान के प्रथम चरण में एक घण्टा समय और दस पैसा प्रतिदिन ज्ञान-यज्ञ के लिए समर्पित करते रहने और उस तेल-बाती का विनियोग करते हुए अपने क्षेत्र में नवजीवन का प्रकाश फैलाते रहने भर का कार्य सौंपा गया था। प्रसन्नता की बात है कि उस अनिवार्य कर्तव्य को प्रायः सभी परिजनों ने निभाया है। कोई बिरला ही हतभागी ऐसा रहा होगा जिसने इस तेजस्वी ब्रह्ममुहूर्त के अरुणोदय की अवज्ञा-उपेक्षा करते हुए आँख बन्द किये रहने, झपकी लेते रहने की हठ ठानी हो। इन अपवादों को छोड़कर गर्वोन्नत मस्तक से यह घोषणा की जा सकती है कि युग निर्माण परिवार के प्रायः सभी सदस्य अपना प्राथमिक कर्तव्य भली प्रकार पालन कर रहे हैं। झोला पुस्तकालय चलाने के लिए प्रत्येक परिजन, श्रम मनोयोग और धन नियमित रूप से लगा रहा है। भले ही उसकी न्यूनतम मात्रा अकिंचन नियत है पर प्रायः अधिकांश सदस्यों का अनुदान क्रमशः अधिकाधिक ही बढ़ता चला जा रहा है। यदि ऐसे न होता तो मिशन का जो गगनचुम्बी विस्तार इन दिनो परिलक्षित हो रहा है यह कैसे संभव हुआ होता ?

किन्तु प्रगति के साथ-साथ और भी सब कुछ बढ़ जाता है। छोटे बालक का भोजन, वस्त्र तथा अन्य खर्च स्वल्प होता है पर जैसे-जैसे बढ़ता है, आवश्यकता भी हर क्षेत्र में बढ़ जाती है। मिशन का बालकपन अब किशोर अवस्था में प्रवेश कर रहा है। यौवन का आभास उभर रहा है। ऐसी दशा में सब साधन -सामग्री का स्तर भी सहज ही बढ़ जाना चाहिए। चिड़िया अण्डे को छाती की गर्मी से पका लेती है, पर ये जब बच्चे बनकर घोंसले में कुलकुलाते हैं तो उनके लिए चिड़िया को दूर-दूर तक दौड़ कर चुगा-चारा इकट्ठा करना पड़ता है हमारा भी यही प्रयास होना चाहिए और मिशन की प्रौढ़ता जिन साधनों की अपेक्षा करती है उन्हें जुटाने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए।

इन परिस्थितियों में हमारा कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व भी पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ जाता है। ज्ञानयज्ञ के लिए स्वल्प सहयोग से बढ़कर अब माँग का दायरा कहीं अधिक विस्तृत हो गया है । अब यह विभूतियों की पुकार है । छोटा छप्पर हाथों-हाथ उठा लिया जाता है पर भारी बोझ तो क्रेन ही उठाती है। आज दिशाएँ क्रेनों की 'पुकार-गुहार लगा रही हैं। युग की माँग अब इससे कम में पूरी नहीं हो सकती । प्रतिभा, साहित्य, कला, सम्पत्ति, विज्ञान, सत्ता-अध्यात्म की सात विभूतियों की

चर्चा हो रही है इन्हें उभारना और जुटाना ही पड़ेगा। हम सब को अब इसी ओर ध्यान देना चाहिए।

पिछले पृष्ठों में इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि प्रतिभा की सर्वोपरि विभूति हम सबके पास प्रचुर परिमाण में मौजूद है। किसने इसे कम निखारा, किसने अधिक इस भेद में थोड़ी न्यूनाधिकता हो सकती है पर जिस प्रकार प्रत्येक परमाणु में अजस्र शक्ति भरी है और विस्फोट के अवसर पर उसकी प्रतिक्रिया स्पष्ट देखी जा सकती है उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में प्रतिभा मौजूद है। जाग्रत-आत्माओं में तो वह सहज ही अत्यधिक होती है। युग निर्माण परिवार के प्रत्येक सदस्य में उसकी समुचित मात्रा विद्यमान है। जो आदर्शवादिता और उत्कृष्टता की उठती हुई हिलोरों के रूप में सहज ही जानी-परखी जा सकती है, इसे अग्नि-प्रज्वलन की तरह तीव्र से तीव्रतर व तीव्रतम किया जाना चाहिए। जिस संकल्प और विश्वास के साथ लोभ-मोह की पूर्ति करने वाले साधनों में लगते हैं-काम और क्रोध के क्षणों में जैसी आतुरता होती है-मद और मत्सर के लिए जितना मनोयोग लगता है उतनी ही यदि ईश्वर के सामयिक निर्देशों को समझने, आत्मा को युग की पुकार का अनुसरण करने में लग पड़ा जाय तो सामान्य से सामान्य स्तर का व्यक्ति भी कुछ ही समय में महामानव स्तर का बन जायगा। उसकी प्रतिभा प्रभात कालीन ब्राह्म मुहूर्त्त में उदीयमान प्रातःकाल की तरह विकसित-परिष्कृत हो सकती है। हममें से कोई भी अपने को विभूतिवान-प्रतिभावान बना सकता है और नव-निर्माण के आवश्यक साधन की पूर्ति करने योग्य अपना व्यक्तित्व विनिर्मित कर सकता है। आस्था, निष्ठा सहित संकल्प और पुरुषार्थ जब श्रेय साधन की दिशा में अग्रसर होता है तो व्यक्ति को देवकल्प बनने में आत्मा को परमात्मा होने में देर नहीं लगती। हमें अपना साहस और संकल्प उभारना चाहिए। अन्धी भेड़ें किधर जिधर जा रही हैं-क्या चाह रही हैं यह देखने की अपेक्षा परमेश्वर के संकेत को युग-धर्म को शिरोधार्य करके ऐसे कदम बढ़ाने चाहिए जो अपने लिए- मस्त संसार के लिए श्रेय साधन प्रस्तुत कर सकें। यदि ऐसा कदम बढ़ा सकना अपने लिए संभव हो सके तो गुरुदेव की, महाकाल की-एक महत्वपूर्ण माँग पूरी कर सकने में हमारी भूमिका चिरस्मरणीय ऐतिहासिक हो सकती है। जहाँ तेजस्विता जीवंत हो वहाँ यह चुनौती स्वीकार की ही जाना चाहिए।

अन्यान्य प्रतिभाओं की खोज हो रही है, जहाँ वे हैं वहाँ उन्हें खटखटाया और जगाया जा रहा है। सच्चे योगी, तपस्वी और आत्मवादी जहाँ कहीं होंगे व्यक्तिगत स्वर्ग मुक्ति और सिद्धि का प्रलोभन छोड़कर आपत्ति धर्म का पालन करते हुए युग-परिवर्तन के धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में अर्जुन की तरह दृष्टिगोचर होंगे। सत्ताधारियों को कई अदृश्य शक्ति मोड़ने-मरोड़ने में लगेंगी, वे क्षेत्रगत और वर्गगत संकीर्णता से ऊँचे उठकर विशाल दृष्टि से सोचना शुरू करेंगे। सत्तापक्ष न सही विरोध पक्ष जनता के इसी आदर्श का पक्षधर, समर्थक बनायेगा। अगले दिनों लोग वर्ग स्वार्थ के लड़ने के लिए उत्पन्न नहीं किये जा सकेंगे। हर राजद्वारों को विशाल और व्यापक दृष्टि रखकर भावी योजनाओं का आधार खड़ा करना होगा।

साहित्यकार अगले दिनों लोकरंजन के लिए नहीं लिखेंगे। उन्हें माता सरस्वती से वेश्यावृत्ति कराने में ग्लानि अनुभव होगी और कलम का उपयोग जनमानस को पाप पङ्क में धकेलते हुए उनकी आत्मा रोयेगी। आत्मग्लानि से प्रताड़ित साहित्यकार अब दिनोंदिन लोकमंगल की दिशा में बढ़ेगा। कलाकार, कवि, गायक, वादक, चित्रकार, मूर्तिकार, अभिनेता की आजीविका अब पशुता को भड़काकर अबोध लोकमानस के साथ व्यभिचार करने की प्रवंचना नहीं रखेगी वरन् वे अपनी प्रतिभा को उसी दिशा में मोड़ेंगे जिधर मोड़ने के लिए मानवता उन्हें करुण क्रन्दन भरे स्वरों में पुकारती है। कला और साहित्य की भूमिका अगले दिनों नवनिर्माण की होगी। पिछले दिनों इस क्षेत्र में जिस प्रवंचना ने जड़ें जमाली थीं उनका अहं लोकधिकार की भर्त्सना में जल-जलकर विनष्ट ही हो जायगा।

विज्ञान दुधारी तलवार है, उसे पैशाचिकता के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है और समर्थ संरक्षण के लिए भी। अगले दिनों विज्ञान के सिद्धान्त अध्यात्म विरोधी न रहकर समर्थक सहयोगी होंगे। साथ ही नये आविष्कारों का उदय और पुरानों का परिमार्जन इस प्रकार होगा कि वैज्ञानिकों की श्रमसाधना मानव कल्याण के विविध पक्षों में अभिनव उपलब्धियों का प्रयोग कर सकें। आज संकीर्णतावादी राजसत्ताओं ने विज्ञान को-वैज्ञानिकों को अपने फौलादी पंजों में जकड़ रखा है और उससे करने न करने योग्य कार्य करा रहे हैं। कल ऐसा न हो सकेगा। विज्ञान को भी मुक्ति मिलेगी और वह युगान्तरकारी भूमिकाएँ सम्पन्न करेगा।

यही क्षेत्र भीतर ही भीतर पक और उभर रहे हैं। कुछ ही समय में हम देखेंगे कि इन विभूतियों ने कैसी अद्भुत करवट ली। प्रतिगामी तत्वों को कैसे नीचा दिखाया। आज जो अपनी छद्म-दुष्टता को छिपाये हुए दोनों हाथों से धन और यश लूटकर गर्वोन्नत हो रहे हैं। कल उन्हें बेतरह पछताते, पददलित होते देखा जा सकेगा। लोकोपकारी मानस इन अनाचारियों की बोटी-बोटी नोंच लेगा और उनकी घृणित दुरभि-संधियों को एक स्वर से धिक्कारा जायगा। आज के पदोन्नत कल धूल धूसरित होकर अपनी कुकर्मजन्य मूर्खता पर आँसू बहा रहे होंगे। उसी स्तर का परिवर्तन लाने के लिए गुरुदेव इन दिनों आकाश में उड़ रहे हैं। युग-निर्माण परिवार इन दिनों भारत में एक सुधारवादी धर्म संगठन के रूप में दीखता है। कल उसकी भूमिकाएँ सर्वतोमुखी, सर्वभौम, सर्वजनीन होंगे। अनेकता को एकता में परिणत करने वाले प्रयास कहाँ से, कहाँ किस तरह उभरते हैं? इनके मनमोहक और आश्चर्यचकित करने वाले दृश्य देखने के लि

प्रत्येक दूरदर्शी आँखों वाले को अब तैयार ही रहना चाहिए।

कैंसर के फोड़े की तरह विभूतियों का एक क्षेत्र ऐसा है जिसकी चिकित्सा अति कष्टसाध्य प्रतीत हो रही है। कारवेंकिल-रीढ़ की हड्डी का फोड़ा इतना विपाक होता है कि उसके चंगुल से कोई रोगी कदाचित् ही बचता है। विभूतियों में सम्पत्ति का एक रोग ऐसा है जिसके नशे ने आगे बढ़कर विष का रूप धारण कर लिया है। लगता है इस की मरम्मत नहीं हो सकेगी उसे मिट्टी में डालकर दुबारा गलाना और ढालना पड़ेगा। सम्पत्ति का लोभ, आकर्षण संग्रह और अपव्यय उस स्तर पर विभीषिका के उस बिन्दु पर जा पहुँचा है वैसा सुधार कठिन है जैसा कि विभूतियों के अन्य क्षेत्रों में सम्भव है। साहित्यकार, कलाकार, धर्म नेता, विज्ञानी-प्रतिभा यहाँ तक कि सत्ताधारी भी युग की आवश्यकता और दिशा का पूर्वाभास अनुभव कर रहे हैं और उन्हें विश्वास हो गया है कि समय के साथ चलने में ही भलाई है। वे नियति की प्रेरणा और भगवान की इच्छा को समझने लगे हैं तदनुसार उनमें सामयिक परिवर्तन सरलतापूर्वक हो सकेगा। इसकी स्पष्ट झलक-झाँकी अगले ही दिनों सबके समझ आ जायेगी।

किन्तु धनाधीशों के बारे में अभी यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे समय को न तो समझ ही पा रहे हैं और न उसके साथ बदलने को तैयार हैं। अधिकाधिक संग्रह, अधिकाधिक अपव्यय और अधिकाधिक अहंकार की पूर्ति में यह क्षेत्र उतने गहरे दलदल में फँस गया है कि वापस लौटना कठिन ही दीखता है। कोई धनी अपने को निर्धन बनाने के लिए तैयार नहीं। परमार्थ के नाम पर आत्मविज्ञापन के लिए बदले में परलोकगत विपुल सुख सुविधा खरीदने के लिए ही कोई कुछ पैसे-कौड़ी फेंक सकता है इससे आगे की आशा नहीं की जा सकती। आज न कोई भी भामाशाह, अशोक, मान्धाता, वाजिश्रवा, जनक, भरत, हरिश्चन्द्र उपार्जन क्षमता का लाभ इन्द्रिय लिप्सा की अहंता की तृप्ति से आगे अन्य किसी काम में करने के लिए तैयार नहीं। स्त्री-पुत्रों से आगे के क्षेत्र में उदारता बरतने और अनुदान देने के लिए किसी को साहस नहीं हो रहा है। उपार्जन की, न्याय की व औचित्य की मर्यादाएँ टूट चुकीं हैं। जिससे-जैसे बन पड़ रहा है वह उचित-अनुचित का भेदभाव किये बिना दोनों हाथों से कमाने में लगा है। कौशल के अभाव में कोई आगे रहता है कोई पिछड़ता है; यह घुड़-दौड़ में होता रहता है पर दिशा सभी घोड़ों की एक है। उनकी चेतना इतनी परिपक्व हो गई है कि उस पर उपदेशों की बूँदें चिकने घड़े पर पड़ने के बाद इधर-उधर ढुलक कर रह जाती हैं। प्रभाव कुछ नहीं होता।

लगता है विभूति का यह क्षेत्र दुबारा गलाने के लिए भट्टी में भेजना पड़ेगा। वहाँ उसमें नये साँचे में ढल सकने लायक नरमी पैदा हो सकेगी। गान्धी की ट्रस्टीशिप, विनोबा का भूदान, सम्पत्ति दान, ऋषियों का अपरिग्रह अब दर्शनशास्त्र का एक पाठ्यप्रकरण भर है। उसे व्यवहार में उतारने की कोई गुंजायश नहीं दीखती। फलतः उसके भाग्य में दुर्गति होती ही लिखी दीखती है। फ्रांस के लुई, रूस के जार-भारत के राजाधिराज, रूस के उमराव, चीन के अमीर महाकाल की एक लात से किस तरह चूर्ण-विचूर्ण हो गये, उसे कोई देख समझ सका तो मानवी निर्वाचन में प्रयुक्त होने वाले चंद पैसों को छोड़कर विपुल सम्पदा का उपयोग लोककल्याण के लिए, अभाव और अज्ञान को मिटाने के लिए किया गया होता मिलजुल कर बाँटा खाया गया होता, तो संसार में शान्ति और समृद्धि की कोई कमी न रहती। पर आज के लोभ-मोह के सर्वभक्षी नग्न नर्तन को देखते हुए ऐसी समझ का उत्पन्न हो सकना, धनी वर्ग में तो लगभग असंभव ही दीखता है। यों लंका में विभीषण भी हो सकते हैं पर उतने भर से क्या बनेगा? समय आर्थिक क्षेत्र में साम्यवाद को ही प्रतिष्ठापित करेगा।

यह प्रक्रिया कहाँ धीमी होती है, कहाँ झटके से उतरती है यह बात दूसरी है पर होना यही है। राजा महाराजाओं का स्वरूप अब अजायबघरों की शोभा बढ़ायेगा। इतिहास के पृष्ठों पर कौतूहलपूर्वक पढ़ा जायगा ठीक इसी प्रकार कुछ समय पश्चात् अमीर उमराव, धनाध्यक्ष और वैभवशाली वर्ग भी अपना अस्तित्व समाप्त कर लेगा, समय की आवश्यकता उपयोगिता से बाहर की चीजें कूड़े-करकट के ढेर में डाली जाती रही हैं। सम्पन्नता की भी अगले दिनों ऐसी दुर्गति ही होने जा रही है।

यह सब तो भविष्य का दिग्दर्शन हुआ। युग परिवर्तन के लिए आज जिन विभूतियों की आवश्यकता पड़ रही है, उनमें एक का नाम 'सम्पत्ति' भी है। विद्या की तरह उसका भी महत्व है। काँटे से काँटा निकाला जाता है, तलवार से तलवार का मुकाबला होता है। कौरव सेना के सामने पाण्डव सेना और रावण असुरता से वानर दल को जूझना पड़ा था। सम्पत्ति के मोर्चे पर भी हमें लड़ना-अड़ना पड़ेगा। बौद्धिक परिवर्तन के लिए ज्ञानयज्ञ और संघर्षात्मक प्रवृत्तियों का अभिवर्धन भी साधनों की अपेक्षा करता है। इसकी पूर्ति धनी वर्ग चाहता तो अति सरलता पूर्वक कर सकता था पर वह मरणासन्न रोगी की तरह है उसके सुधरने-बदलने की आशा लगभग छोड़ ही देनी चाहिए और प्रयोजन की पूर्ति के लिए हमें सीता जन्म के लिए किये गये ऋषि रक्त संचय की तरह ही आत्मोत्सर्ग की एक ओर कड़ी जोड़कर, एक और परीक्षा उत्तीर्ण करनी चाहिए।

त्रिविधि निर्माण के संकल्प उभरें

मानवी चेतना की सबसे प्रचण्ड अद्भुत शक्ति 'संकल्प' है। निरर्थक तो कल्पनाएँ और कामनाएँ जाती

हैं। संकल्प की सिद्धि में सन्देह करने की गुंजाइश नहीं है। विवेकपूर्वक किये सुनियोजित निश्चय जब प्रतिज्ञापूर्वक कार्यान्वित किये जाने की मनःस्थिति का रूप धारण करते हैं तो उन्हें संकल्प कहते हैं। सूर्य जब उदय होता है तो उसका प्रकाश कोई रोक नहीं सकता, प्रचण्ड संकल्प मनुष्य की सारी शक्ति को किसी लक्ष्य विशेष पर केन्द्रित कर देते हैं। ऐसी दशा में अवरोध मात्र आँख-मिचौनी खेलने आते हैं। प्रगति पथ को रोके रह सकने की क्षमता उनमें होती नहीं है। संकल्पवानों ने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उचित मूल्य चुकाया है और वे सफल होकर रहे हैं। इस तथ्य को इतिहास के प्रत्येक पन्ने पर स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ पाया जा सकता है। सत्संकल्पों की शक्ति ही नव-निर्माण की आधारभूत क्षमता का काम देगी। आध्यात्मिक शक्ति यही है। प्राण-ऊर्जा इसी को कहते हैं। दुष्ट, दुराग्रही तक अपनी दुरभि-सन्धियों को पूरा कर लेते हैं तो कोई कारण नहीं कि निष्ठावान व्यक्ति अपने सत्संकल्पों को पूरा करने में समर्थ न हो सकें। संकल्पों का चमत्कारी सत्परिणाम हमें इस वर्ष प्रत्यक्ष सिद्ध करना है और दिखाना है कि चेतना की इस अद्‌भुत क्षमता का सृजन प्रयोजनों में उपयोग हो सके तो उसके कितने बड़े सत्परिणाम सामने आ सकते हैं। सत्संकल्पों को उभारना इस वर्ष का अपना प्रधान कार्यक्रम है। उसके लिए तीन न्यूनतम कार्यक्रम निर्धारित किये गये हैं। जो आत्म-निर्माण, परिवार-निर्माण और समाज-निर्माण के तीनों ही क्षेत्रों को समान रूप से प्रभावित करते हैं।

(१) आत्म-निर्माण के लिए नियमित उपासना, प्रातः उठते ही उत्कृष्ट दिनचर्या का निर्धारण, रात्रि को सोते समय दिनभर के कार्यों का पर्यवेक्षण, जीवन के आदि और अन्त का तत्व चिन्तन, दैनिक गतिविधियों पर कड़ी दृष्टि रखना और उनमें अव्यवस्था और अवांछनीयता का समावेश न होने देना। यही छोटा सूत्र आत्म-निर्माण का आधारभूत सिद्धान्त है। इसका आरम्भ कितने ही छोटे रूप में क्यों न किया जाय, पर उस निर्धारण को कार्यान्वित अवश्य किया जाना चाहिए।

(२) परिवार निर्माण के लिए घरों में पूजा कक्ष की स्थापना, नमन-वन्दन का प्रचलन, चौके में अग्नि होत्र की चिन्ह-पूजा, सामूहिक आरती-प्रार्थना, कथा-कहानी के मोटे क्रिया-कृत्यों के सहारे अध्यात्म तत्वों का पारिवारिक जीवन में प्रवेश कराया जाना चाहिए। घरों में स्वाध्याय की परम्परा नियमित रूप से चलती रहे, इसके लिए घरेलू ज्ञान-मन्दिरों का, स्वाध्याय साहित्य का, पारिवारिक पुस्तकालय का संस्थापन होना चाहिए। पढ़ने और सुनाने का क्रम चलता ही रहे । घरों में श्रमशीलता, सहकारिता, सुव्यवस्था, शालीनता और मितव्ययता की प्रवृत्तियों को अपनपाने के लिए इन पारिवारिक पंचशीलों को मिलजुल कर कुछ न कुछ किया जाता रहे। हमारे परिवारों को व्यक्तित्वों के निर्माण की प्रयोगशाला की भूमिका निभानी चाहिए । इसके लिए कुछ न कुछ शुभारम्भ इन्हीं दिनों चल पड़ना चाहिए और उसे नियमित रूप से जारी रखे रहना चाहिए। हमारे घर-परिवारों को अब प्रज्ञा मन्दिर के रूप में विकसित होना चाहिए।

(३) समाज निर्माण का एक ही प्रमुख आधार है- 'जनमानस का परिष्कार।' ज्ञान-यज्ञ का, विचार-क्रान्ति का आधार इसी प्रयोजन के लिए खड़ा किया गया है। इस सत्प्रवृत्ति के सम्वर्धन में प्रत्येक जाग्रत आत्मा को बढ़-चढ़ कर योगदान अनुदान प्रस्तुत करना चाहिए। युग निर्माण परिवार की आरम्भिक शर्त एक घन्टा समय और दस पैसा नित्य इस पुण्य प्रयोजन के लिए देते रहना हो । ज्ञान घटों की स्थापना और झोला पुस्तकालयों का प्रचलन इसी उद्देश्य के लिए चलाया जाता है कि इस अनुदान की बूँद-बूँद से नवयुग की प्रेरणा जन-जन तक पहुँच सके। अब इस दिशा में हमारे अंशदान बढ़ने चाहिए। समय और साधनों की कितनी अधिक मात्रा इस पुण्य-प्रयोजन के लिए नियोजित की जा सकती है। यह देखना और सोचना चाहिए। औसत भारतीय स्तर का निर्वाह बना लेने और उतने भर से सन्तोष कर लेने पर हर जाग्रत आत्मा अब की अपेक्षा कहीं अधिक अंशदान युग देवता के चरणों पर प्रस्तुत कर सकती है। वानप्रस्थ परम्परा को पुनर्जीवित करने के लिए हमारी आकांक्षा जगनी चाहिए और उसी की पूर्व तैयारी के लिए आज की स्थिति में जितना सम्भव हो उतना अभ्यास आरम्भ कर देना चाहिए। युग-निर्माण की अनेकानेक प्रवृत्तियाँ इसी प्रयोजन के लिए हैं, उनमें से जिसमें जितना सहयोग बन पड़े उसके लिए अधिक समय और धन लगाने के लिए उदारता का नियोजन, अभिवर्धन करना चाहिए। आत्म-विकास की कसौटी यही है। आत्मिक प्रगति की परीक्षा लोक-मंगल के लिए उदारता के अनुपात पर अवलम्बित रहती है।

उपरोक्त तीन आध्यात्मिक कर्तव्यों की ओर हमारा ध्यान अधिकाधिक जाना चाहिए। वर्तमान परिस्थिति में जितना अधिक सुव्यवस्थित और सुनिश्चित रूप से कर सकना सम्भव हो उसके लिए संकल्प लेना चाहिए। मात्र सोचते रहने से कोई बात बनती नहीं। निकृष्टता तो संचित कुसंस्कारों के सहारे अनायास ही सिर पर आ चढ़ती है, पर उत्कृष्टता की दिशा में ऊँचा उठने के लिए तो संकल्प की शक्ति ही चाहिए। जो निश्चय किया जाय उसे मन में न रख कर अपने सम्पर्क क्षेत्र को अवगत करा दिया जाय- घोषित कर दिया जाय। इससे उसकी पूर्ति करना प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाता है। पूरा न करने पर उपहास होता है और सफलता पाने पर आत्म-गौरव का साथ मिलता है। इसलिए सत्संकल्पों का उद्‌घोष करने की परम्परा का हमें भी निर्वाह करना चाहिए।

यह युग संधि की बेला है। इस विषम बेला में आत्म-निर्माण, परिवार-निर्माण और समाज-निर्माण के लिए कुछ साहसिक कदम बढ़ाने के संकल्प किये जाने चाहिए। जो किये जायँ उसकी पूर्ति के लिए योजनाबद्ध कार्य-

पद्धति बनाई जानी चाहिए और उसके निर्बाह में तत्परता दिखाई जानी चाहिए। निश्चय चाहे छोटे हों या बड़े पर उन्हें पूरा करके ही रहेंगे, इसके लिए उत्साह, साहस और प्रयास के तीनों ही प्राणवान तत्वों का समुचित समावेश रहना चाहिए।

अन्न, जल और वायु का त्रिविध समन्वय सन्तुलित आहार की आवश्यकता पूरी करता है। आत्मिक प्रगति के लिए आत्म-निर्माण, परिवार-निर्माण और समाज-निर्माण की तीनों धाराओं का समावेश रहना चाहिए। इन तीनों में से एक भी तथ्य ऐसा नहीं है जिसे छोड़ा जा सके और अकेला कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे अकेले अखण्ड ज्योति परिजनों को अनिवार्य वैयक्तिक-पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्रों की आदर्शवादी नई प्रगति के लिए कुछ अधिक करने की योजना बनानी चाहिए और उसका निर्धारण इन्ही दिनों संकल्प रूप में अपने सम्पर्क क्षेत्र को विदित करा देना चाहिए।

हमारा आगामी कार्यक्रम

युग निर्माण योजना को व्यावहारिक रूप देने के लिए हम 'अखण्ड-ज्योति' परिवार को उसी प्रकार प्रयुक्त करेंगे जैसे एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में तन्मय हो जाता है या एक माली अपने बगीचे में अपने आपको खो देता है। बगीचा का हर खिलता हुआ फूल माली की अन्तरात्मा में प्रसन्नता की लहरें उद्वेलित करता है, हमारी प्रसन्नता का स्रोत भी अब 'अखण्ड-ज्योति' परिवार से सम्बद्ध स्वजनों के खिलते और निखरते जीवन के साथ सम्बद्ध रहेगा। दुनिया बहुत बड़ी है, व्यक्ति छोटा है। हर व्यक्ति के एक सीमित कार्यक्षेत्र चुनकर उसमें अपने आपको जुटा देना पड़ता है, तभी कोई सफलता दृष्टिगोचर हो सकती है। असीम विश्व की असीम आवश्यकताओं को सीमित मानव किस प्रकार पूरी कर सकता है? विश्व कल्याण की भावना रखते हुए भी उसका व्यावहारिक रूप तो किसी कार्यक्षेत्र में ही रह सकेगा। हमने अपना कार्यक्षेत्र में 'अखण्ड-ज्योति' परिवार के स्वजनों में घुल जाने का बना लिया है। यह क्षेत्र जितना-जितना बढ़ेगा उतना-उतनी ही हमारी सेवा प्रक्रिया भी विस्तृत होती जायगी।

शिक्षण कहाँ सफल होता है?

उपदेश किसी को भी दिया जा सकता है, पर कुछ करने के लिए उसी को दबाया जा सकता है जिस पर अपना कुछ जोर हो, जिस पर अपना कुछ जोर नहीं उससे यह आशा कैसे की जा सकती है कि यह हमारा कहना मानेंगे और हमारे प्रयत्न के अनुरूप अपने को ढालने के लिये तत्पर होंगे? माता अपने गर्भस्थ बालक को अपने शरीर का रक्त-प्रदान करती रहती है और उसी से बच्चे का शरीर बढ़ता है। यह प्रक्रिया 'अम्बिलकल कार्ड' नामक एक नाड़ी के माध्यम से चलती है। यह नाड़ी माता के उदर में से निकल बच्चे के उदर में प्रवेश करती है। इसी से होकर माता का रक्त बच्चे के शरीर में प्रवेश करता है। यदि कदाचित् यह नाल टूट जाय तो माता का रक्त बच्चे के शरीर में पहुँचना भी बन्द हो जायगा और फिर गर्भस्थ बालक का पोषण भी माता न कर सकेगी। हम भी अपनी अन्तरात्मा का रस कुछ व्यक्तियों को निरन्तर पिलाकर उनके आध्यात्मिक शरीर की वृद्धि और पुष्टि करना चाहते हैं, पर ऐसे लोग वे ही हो सकते हैं जो हमसे सच्चे मन से सम्बद्ध रहना पसन्द करें। 'अखण्ड-ज्योति' परिवार ऐसे ही लोगों का समूह है, जो हमारे विचारों का आदर ही नहीं करता, उनकी उपयोगिता भी समझता है और उसके प्रमाणस्वरूप प्रत्येक माह 'अखण्ड-ज्योति' खरीदने के लिए भी खर्च कर देता है। निश्चय ही हमारे लिए इसी उर्वरा भूमि में अपनी जोतने-बोने की, सींचने-सँभालने की प्रक्रिया आरंभ करनी है।

निर्माण की आकांक्षा

हमारा मन है कि 'अखण्ड-ज्योति' परिवार का प्रत्येक सदस्य शरीर से नीरोग रहे और हँसी-खुशी का दीर्घजीवन प्राप्त करें। हम अपने परिजनों की उन आदतों को छुड़ाना चाहेंगे जिनके कारण वे अपने स्वास्थ्य को बर्बाद करते हुए रोगों के चंगुल से फँसने की स्थिति तक आ पहुँचते हैं। दवा-दारू से तात्कालिक लाभ हो सकता है। सामायिक कष्टों की निवृत्ति के लिए इलाज की व्यवस्था की जाती है, उसका भी हम प्रबन्ध करने में लगे हुए हैं। प्राकृतिक-चिकित्सा की शिक्षण-व्यवस्था इसी दृष्टि से प्रारम्भ की गई है। दुर्लभ जड़ी-बूटियों का एक सर्वांगपूर्ण उद्योग भी शांतिकुंज एवं ब्रह्मवर्चस में इसी दृष्टि से लगाया गया है, जिनके आधार पर कठिन रोगों का सरलतापूर्वक इलाज हो सके। यह तो सामयिक बात हुई। स्थिर स्वास्थय की रक्षा तो स्वास्थ्य को बर्बाद करने वाली आदतें, बदलने से ही होगी। हम चाहेंगे कि 'अखण्ड-ज्योति' के पाठक केवल हमारे लेख पढ़कर ही सन्तुष्ट न हो जायँ, वरन् उन बातों पर अमल करें, अपने को सुधारें और गिरे हुए स्वास्थ्य को अच्छा बनाकर हमारे हर्ष और सन्तोष को बढ़ावें।

स्वभाव तथा भावना का परिष्कार

सोचने का तरीका गलत होने से जीवन में अगणित गुत्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। भावना, आकांक्षा, अभिरुचि और प्रवृत्ति के कुमार्गगामी हो जाने से असन्तोष, अभाव और सन्ताप का बाहुल्य हो जाता है। इसके कारण मनुष्य अपने को नारकीय अग्नि में, चिन्ता की चिता में झुलसता अनुभव करता है। हमारी अभिलाषा है कि प्रज्ञा परिवार का प्रत्येक सदस्य विचार करने की कला सीखे, जिन्दगी

जीने की विद्या की प्रवीणता प्राप्त करे और अपने दृष्टिकोण एवं कार्यक्रम में आवश्यक हेर-फेर करके आनन्द और उल्लास का, प्रकाश और विकास का जीवन जिये। हममें से हर एक का परिवार सीता, सावित्री जैसी नारियों से श्रवणकुमार जैसे बच्चों से, भरत जैसे भाइयों से कौशिल्या जैसी माताओं से दशरथ जैसे पिताओं से भरा पूरा हो। प्रेम और सद्भावना के वातावरण में अभावग्रस्त जीवन भी स्वर्ग जैसा लगा है। स्वभाव और दृष्टिकोण में थोड़ा अन्तर कर लिया जाय तो हमारे परिवार में सचमुच स्वर्गीय सुख-शान्ति विराजती दीख सकती है और उस वातावरण में पले हुए बालक नररत्न और महापुरुष ही बनकर निकल सकते हैं। ऐसे हीरे-मोतियों की खानें अपने परिवार के हर घर में देखने की हमारी आकांक्षा अत्यधिक प्रबल होती जाती है।

जीवन सेवाशून्य न रहे

हमारा मन है कि अपने परिजन कमाने-खाने की ही एक बात सोचते-सोचते और उसी के लिए मानव जीवन को बर्बाद करते हुए खाली हाथ दुनिया से न उठ जायें। उन्हें ऐसा कुछ करने का भी अवसर मिले जिसके लाभ से लाभान्वित होकर वे जीवनलीला समाप्त करते हुए गर्व अनुभव कर सकें और सन्तोष की साँस ले सकें। इसके लिए सेवा और परमार्थ के लिए अपना कुछ समय और श्रम लगाना ही चाहिए। लोगों ने एक-एक ईंट खिसका कर हमारे आदर्श, देश, जाति और समाज को बर्बाद किया है। यदि हम उसके निर्माण के लिए एक-एक ईंट प्रस्तुत करें तो हमारी संस्कृति का महल पुनः उतना ही ऊँचा उठ सकता है जितना प्राचीनकाल में था। सेवा की अग्नि में पके बिना कोई जीवन पवित्र और परिपक्व नहीं बन सकता। अन्तःप्रदेश में सद्गुणों की जड़ जमाने के लिए भी सेवा धर्म का अपनाना जरूरी है। कुछ न कुछ काम हम नित्य ऐसा किया करें जो समाज के सुखी, समृद्ध, शान्त, सन्तुष्ट और सुविकसित होने में सहायक सिद्ध हो सके, यह सेवा अपनी निज की, अपने परिवार की एवं अपने समीपवर्ती लोगों की सुविधा और परिस्थिति के अनुसार हो सकता है। हम लोग सेवा-कार्यों के लिए जीवन में थोड़ा-थोड़ा भी स्थान रखें तो उसके द्वारा युग-निर्माण की दिशा में आशाजनक और आश्चर्यजनक कार्य हो सकता है।

परिवार की, आत्मीयता की भावना जब बढ़ती है तो मनुष्य अपनों के लिए बहुत कुछ सोचता और करता है। हमारा मन इन दिनों अपने आत्मीयजनों को ऐसे बनाने के लिए मचल रहा है कि इस निर्माण को देखकर देखने वाले आश्चर्यचकित रह जायें और यह अनुभव करें कि युग-निर्माण योजना कोई शेखचिल्ली की कल्पना नहीं, वरन् एक अत्यन्त सरल और पूर्ण व्यावहारिक पद्धति है जिसे अपनाया और व्यापक बनाया जा सकना तो कठिन है और न असंभव। समझा यह जाता है। कि लोगों का स्वभाव जन्म से ही बना आता है उसे बदला और बनाया नहीं जाता। इस धारणा को भ्रान्त सिद्ध करने का हमारा विचार है। हम अपनों को बदलना चाहते हैं। अपनी प्रयोगशाला में हम बबूलों को चन्दन बनाने की तैयारी कर रहे हैं। विज्ञान के द्वारा भौतिक जगत में इतने आश्चर्यजनक परिवर्तन हो रहे हैं तो ज्ञान के द्वारा मनुष्य की अन्तःस्थिति में भी आशाजनक परिवर्तन की आशा की जा सकती है।

जीवनोपयोगी वास्तविक शिक्षा

प्राचीनकाल में ऋषियों के गुरुकुलों में निवास करने वाले छात्र वहाँ के वातावरण में लौह-पुरुष बनते और ढलते थे। ऐसे गुरुकुलों का चलाना अब सम्भव नहीं दीखता, क्योंकि हर माता-पिता अपने बच्चों को नौकरी कराने की बात सोचता है और इसके लिए नौकरी दिलाने वाले, सार्टीफिकेट दिलाने वाली पढ़ाई पढ़ाता है। वह शिक्षा भार पूरा करने पर छात्र में उतनी मानसिक शक्ति शेष नहीं रह जाती कि जीवन की विभिन्न दिशाओं को विकसित करने वाली विशाल शिक्षा का भी भार वहन कर सके। दोनों एक साथ चलाने पर किसी के भी सफल न होने का भय है और केवल वह जीवन विद्या, जिसे पढ़कर नौकरी का टिकट नहीं मिलता, आज की परिस्थितियों में कोई पढ़ने को तैयार होगा, इसमें भारी सन्देह है, इसलिए गुरुकुल की योजना तो नहीं बना रहे हैं पर ऐसी व्यवस्था अवश्य कर दी गयी है जिससे परिजन कम से कम दस दिन और अधिकतम एक माह आकर हमारे पास रहें और दोनों मिलकर एक सुविकसित सुख-शान्तिमय जीवन एवं परिवार बनाने का शिक्षण प्राप्त करें। इसके लिए परिवार के प्रत्येक सदस्य को शान्तिकुंज, हरिद्वार आने का आमंत्रण इस आशा के साथ दिया जाता है कि इस प्रशिक्षण से वे एक नई दिशा और नई प्रेरणा प्राप्त करके अपने मुरझाये जीवन में आशा की प्रभात किरणें उठती देखेंगे।

उपासना और अध्यात्म का मार्ग

अखण्ड ज्योति परिवार के दूरवर्ती, देशव्यापी सभी सदस्यगण तो यहाँ नहीं आ सकेंगे यह हम जानते हैं। इसलिये आगे से भी प्रयत्न करेंगे कि जहाँ अपने परिजन कुछ अधिक संख्या में हैं वहाँ गोष्ठियों का आयोजन किया जाय और जो विचार-विनिमय शिविरों में करने वाले हैं वह इन दिन-दिन की गोष्ठियों में भी पूरा कर लें। बड़े सभा-सम्मेलनों के ऐसे आयोजनों में जहाँ घटिया श्रेणी की भीड़ मनोरंजक बातें सुनने आया करती है, वहाँ जाने की अपेक्षा विचारशील लोगों की गोष्ठी में जिनमें भले ही

पच्चीस-पचास व्यक्ति जमा हुए हों। ठोस काम होने की संभावना रहती है और उन्हीं में आने-जाने की बात हमें अच्छी लगती है। भविष्य में विचार गोष्ठियाँ ही चला करेंगी और लोग उसके लिए कुछ समय निकाला करेंगे और परिजनों के घरों पर पहुँचने और जीवन विकास में कुछ सक्रिय मार्गदर्शन का सुख-सौभाग्य प्राप्त किया करेंगे। अपने विचार पुत्रों को देखकर हमारा भावुक अन्तःकरण उससे अधिक आह्लादित होता है, जितना किसी पिता का अपने बच्चे को गोदी में खिलाते समय होता है।

दस सूत्री रचनात्मक योजना

हमने अपना कार्य आरम्भ कर दिया है। अब आपका कर्तव्य है कि आप अपना कार्य आरम्भ कर दें। दोनों हाथों से ही ताली बजेगी। युग निर्माण योजना साझे की खेती है, सात पाँच का छप्पर है, सब मिलकर कटिबद्ध होंगे तो ही काम चलेगा। शरीर के सभी अंग अपने-अपने हिस्से का काम ठीक तरह करते हैं तो ही स्वास्थ्य ठीक रहता है। यदि थोड़े से कम महत्वपूर्ण लगने वाले अंग-प्रत्यंग भी अपना काम करना छोड़ दें तो सारे शरीर के लिए विपत्ति खड़ी हो जाती है। घड़ी के पुर्जों की तरह अखण्ड ज्योति परिवार के हर पुर्जे को अपने जिम्मे का काम निपटाने के लिए प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक तत्पर हो जाना चाहिए।

(१) उपासना की अनिवार्यता

प्रातःकालीन ईश्वर उपासना का कोई न कोई रूप हम में से प्रत्येक को नियत और निश्चित कर लेना चाहिए। जो लोग क्रमबद्ध गायत्री उपासना कर रहे हैं, उन्हें निष्ठा को, श्रद्धा-विश्वास को दिन-दिन बढ़ाते चलना चाहिए। लेकिन जिन्होंने अभी उपासना का कोई क्रम नहीं रखा है। उन्हें भी गायत्री उपासना आरम्भ कर देनी चाहिए। आध्यात्मिक विकास के लिए उपासना अनिवार्य है। हमारा पहला कदम यही होना चाहिए। इसके साथ ही 'युग निर्माण संकल्प' भी उपासना का एक अंग समझकर पढ़ा जाना चाहिए।

(२) आत्म-निरीक्षण और आत्म-चिन्तन

सोते समय आत्मचिन्तन करना जरूरी है। अपनी त्रुटियों और बुराइयों को रोज ही ढूँढ़ना चाहिए। रस्सी की थोड़ी-थोड़ी रगड़ रोज पड़ते रहने से पत्थर पर निशान बन जाता है तो सुधार का थोड़ा-थोड़ा प्रयत्न भी यदि चलता रहे, उस मार्ग पर धीरे-धीरे भी हम चलें तो कुछ ही दिनों में हमारा बहुत कुछ सुधार हुआ स्पष्ट दीखने लगेगा। निरन्तर चलते रहने वाला मंदगामी कछुआ भी जब लम्बी यात्राएँ पूरी कर सकता है तो अपनी खराबियों को सोचने सुधारने और निरन्तर चलने वाला क्रम हमें एक दिन पूर्ण पवित्रता के लक्ष तक क्यों नहीं पहुँचा देगा ?

(३) समय का सदुपयोग

अपने समय विभाजन की योजना एक दिन पूर्व बना लेनी चाहिए और चौबीस घण्टा पूरे होते ही यह निरीक्षण करना चाहिए कि निर्धारित योजना के अनुसार हमने कार्यक्रम चलाया या नहीं ? आकस्मिक कारणों से हेर-फेर करना पड़े तो बात दूसरी है पर आलस्य और प्रमाद पर कड़ा अंकुश रखना चाहिए और उसे निर्धारित कार्यक्रम को बिगाड़ने में सफल न होने देना चाहिए जिसकी दिनचर्या उद्देश्यपूर्ण दृष्टिकोण का समन्वय करते हुए ठीक बन गई और उसका पहिया भली प्रकार लुढ़कने लगे तो समझना चाहिए कि जीवन की सफलता का आधा लक्ष्य पूर्ण होने की आशा बँध गई। लोग आमतौर से निरुद्देश्य जीते हैं और अविवेकपूर्ण सोचते और बिना व्यवस्था के करते रहते हैं। फलस्वरूप उनकी भारी दौड़-धूप एवं परेशानी भी कोई कारगर परिणाम नहीं निकलने देती। सोचने का और करने का कोई व्यवस्थित तरीका किन्हीं सिद्धान्तों और आदर्शों के आधार पर हम बनावें तो बहुत कुछ बन सकता है, बहुत कुछ हो सकता है शरीर चलाने के लिए, रोटी कमाने के लिए और मानवीय धर्म-कर्तव्यों के लिए हमारा समय विभाजित रहना चाहिए और उस बनाये हुए कार्यक्रम पर मजबूती से चला जाना चाहिए।

(४) स्वाध्याय एक आवश्यक नित्यकर्म

स्वाध्याय का स्थान भजन के समान ही है। उसे साधना का एक सुनिश्चित अंग मानना चाहिए। भजन-पूजन की उपासना सरल है। घण्टा, आधा घण्टा पूजा-पाठ की विधि पूरी कर लेना कुछ कठिन नहीं है। ढर्रे पर पड़ा जाने पर वह भी दैनिक जीवन का एक अंग बन जाता है और उसकी पूर्ति में कुछ कठिनाई नहीं दीखती। जिसे साधना कहा जाता है वह कार्य कठिन है। उसमें जीवन के हर पहलू को सुधारने और सँभालने का लक्ष्य रहता है और आन्तरिक अव्यवस्था के हर मोर्चे पर डटकर लोहा लेना पड़ता है। उपासक बनना सरल है पर साधक बनना तो लोहे के चने चबाना है। साधना के अन्तर्गत उपासना का कार्य-क्रम आ जाता है पर साधना विहीन उपासना तो एकांगी, अधूरी और विडम्बना मात्र बन कर रह जाती है। 'अखण्ड-ज्योति' के पाठकों को साधक बनाया जा रहा है और उन्हें इसके लिए आवश्यक अस्त्र-शस्त्र औजार और साधना, विचार और सुझाव, प्रेरणा और प्रकाश केवल मात्र स्वाध्याय के भण्डार से ही उपलब्ध हो सकते हैं। जीवन-निर्माण के लिए प्रेरणाप्रद विचारों को अपनाते रहने से जिसे ज्ञान उत्पन्न न हो सके, उसका साधनापथ पर चल सकना असंभव जैसा ही है। इसलिए हममें से प्रत्येक को साधना का एक नियत क्रम स्थिर कर ही लेना चाहिए।

(५) शम और दम

आत्मबल प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार ध्यान, अनुष्ठान, स्वाध्याय आदि का पुरुषार्थ करना पड़ता है उसी प्रकार अपने गुण, कर्म और स्वभाव को सुव्यवस्थित बनाकर मनोभूमि को संतुलित करने में भारी प्रयत्न करना होता है। आध्यात्मिक पुरुषार्थ के रूप में उपासना और मानसिक पुरुषार्थ के रूप में भावना की गणना होती है। कुविचारों से सद्‌विचारों की काट होती है। घड़ी-घड़ी पर निराशा के, उत्तेजना के, आवेश के, वासना के, ईर्ष्या-द्वेष के, लोभ-मोह के, आलस्य और प्रमाद के विचार मन में उठते रहते हैं। इनसे लड़ने के लिए इनके प्रतिपक्षी विचारों की एक सुव्यवस्थित शृंखला पहले से ही बनी रखनी चाहिए। ठंडे लोहे से गरम लोहा काटा जाता है। मजबूत काँटे से पैर में चुभा हुआ काँटा निकलता है। कुविचारों का शमन सद्‌विचारों से होता है। जिस प्रकार अनेक रोगों से ग्रसित रोगी अपने दर्द, खाँसी, बुखार, दाद, फोड़ा आदि की अलग-अलग दवाएँ तैयार रखता है उसी प्रकार देखना चाहिए कि हमारे मन में किस-किस प्रकार के कुविचार रोज उठते हैं और उनकी काट करने के लिए कौन-कौन से विरोधी विचार उपयुक्त हो सकते हैं। उन्हें पहले ही से मनमें भली प्रकार जमाकर रखना चाहिये और मानसिक शत्रुओं का, कुविचारों का आक्रमण आरम्भ होते ही इन काट करने वाली भावनाओं का, दवाओं का प्रयोग आरम्भ कर देना चाहिये। शास्त्रों में इसे 'शम' के नाम से पुकारा गया है, इसी का स्थूल रूप 'दम' है। जो अनुचित काम करने की इच्छा हो रही है उसे बलपूर्वक, हठपूर्वक, आग्रहपूर्वक उसी प्रकार न करने के लिए अड़ जाना, जिस प्रकार शत्रु के सामने न झुकने के लिए तनकर खड़े हो जाते हैं, 'दम' कहलाता है। शम और दम की शक्ति हमें अपने भीतर निरन्तर बढ़ाते रहनी चाहिए।

(६) प्रगतिशील जीवन

जिस प्रकार आध्यात्मिक और मानसिक पुरुषार्थ आवश्यक है उसी प्रकार स्थूल जीवन को भी प्रगतिशील और समुन्नत बनाने के प्रयत्न करना भी आवश्यक माना जाना चाहिए। यों आमतौर से सभी लोगों का पूरा मन प्राय: इसी पुरुषार्थ में लगा रहता है पर उनकी भूल यह है कि वे केवल मात्र धन उपार्जन को, उसके संग्रह को अपने धनी होने के प्रदर्शन को ही उन्नति का मापदंड मान बैठते हैं। धन की, जीवन को सादगी से गुजारने की सीमा तक ही अनिवार्य आवश्यकता है। इसके बाद उसकी उपयोगिता तभी रह जाती है जब उसका कुछ महत्वपूर्ण उपयोग हो सके अन्यथा वह अधिक बढ़ा हुआ धन विपत्तियों का कारण ही बनता है। हमें धन तक ही सीमित न रहकर अपनी विभिन्न क्षमताएँ और प्रतिभाएँ बढ़ाने को भी समय लगाना चाहिए। व्यायाम, मालिश आदि के द्वारा स्वास्थ्य सुधारना, शिक्षा का स्तर बढ़ाना, संगीत, शिल्प, कला, कौशल सीखना आदि अनेक मार्ग ऐसे हो सकते हैं जिससे अपना व्यक्तित्व प्रभावपूर्ण बने। विपत्ति के समय में परदेश में, धन नष्ट हो जाने की स्थिति में, यह योग्यताएँ ही एक विशिष्ट सम्पत्ति के रूप में सहायक होती हैं। इसके अभाव से आपत्तिग्रस्त व्यक्ति को भारी दुर्दशा का सामना करना पड़ता है। धन, जायदाद तो मरने पर यहीं छूट जाता है पर योग्यताएँ संस्कार रूप में मन के साथ अगले जन्म के लिये भी साथ जाती हैं, इसलिए अपनी परिस्थिति के अनुसार हर व्यक्ति को अपनी भौतिक योग्यताएँ बढ़ाने के लिए भी दैनिक कार्यक्रम में कोई स्थान रखना चाहिए।

(७) परिवार-प्रशिक्षण

परिवार की बौद्धिक शिक्षा-दीक्षा के लिए कम से कम एक घंटा नियत रहे, जिससे कथा-कहानियों द्वारा किन्हीं घटनाओं या समाचारों की आलोचना द्वारा मनोरंजक ढंग से जीवन के आवश्यक अनुभव प्राप्त कराने वाला शिक्षण करना चाहिए। यह शिक्षण हलका-फुलका, मनोरंजन, गपशप और सबको प्रसन्नतादायक होना चाहिए। गंभीर मुद्रा में उत्तेजित होकर घर वालों पर व्यंग्य और कटाक्ष करते हुए यह शिक्षण कदाचित् न चल सकेगा। इसका पहले से ही ध्यान रखना चाहिए। घर के अशिक्षितों को साक्षर बनाने की प्रौढ़ पाठशाला चल सके तो यह अत्यन्त उपयोगी है। जिनकी स्त्रियाँ बिना पढ़ी हैं और पढ़ने की स्थिति में हैं, उन्हें अवश्य ही पढ़ाया जाना चाहिए। जो कम पढ़ी हैं उनकी अधिक शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। परिवार-निर्माण में और प्रगतिशील जीवन बनाने के लिए पुत्री का भी विचारशील और सुशिक्षित होना आवश्यक है। पारिवारिक शिक्षा-दीक्षा की कोई न कोई प्रक्रिया घर में किसी न किसी रूप में नियमित रूप से चलती रहनी चाहिए।

(८) सभ्यता का छोटा किन्तु महत्वपूर्ण प्रारंभ

दो सुधार हमारे पारिवारिक जीवन में अब चल ही पड़ने चाहिए। (अ) बड़ों का नित्य अभिवादन-चरण स्पर्श (आ) तू शब्द का पूर्ण निषेध। बहुत कम-परिवार ऐसे होंगे जिनमें बड़ों का अभिवादन करने की प्रक्रिया चलती होगी। चरण स्पर्श में तो बड़े-बड़े तर्क को झिझक लगती है। बाहर के संत-महात्माओं के पैर तो लोग छू लेते हैं पर घर में माता-पिता, बड़े भाई, भावज को नित्य अभिवादन करने और पैर छूने में संकोच करते हैं। पाप कर्म में झिझक तो समझ में आती है पर सत्कर्म में झिझकना और संकोच करना बहुत ही विचित्र लगता है। इस झूठी झिझक को हमें अपने घर से बिल्कुल उखाड़ फेंकना चाहिए और प्रातः उठते ही अभिवादन की पद्धति

प्रारंभ करनी चाहिए। यह सुधार हमें अपने से आरम्भ कर देना चाहिए। घर में जो बड़े हों उनके नित्य प्रातः उठते ही पैर छुआ करें। जो छोटे हैं उन्हें भी अपनी ओर से, नमस्कार के लिए जो शब्द अपने क्षेत्र में प्रचलित हो उसके द्वारा अभिवादन करना चाहिए। वैसे देशव्यापी अभिवादन एकता के लिए 'नमस्कार' या 'नमस्ते' शब्द अधिक उपयुक्त रहेंगे।

दूसरी बात नाम के अन्त में जी लगाकर आप या तुम के साथ बोलने की है। तू शब्द अनन्य आत्मीयता का बोधक तो है पर उसकी सामाजिक उपयोगिता नहीं है। साधारणतया इसमें अशिष्टता का पुट है। व्यक्ति को व्यक्ति का आदर करना चाहिए और यह आदर मन तथा व्यवहार में ही नहीं, वाणी से भी प्रकट होना चाहिए। छोटों को भी, स्त्री-बच्चों को भी हमें आप या तुम कहकर बोलना चाहिए और हो सके तो उनके नाम के आगे जी शब्द भी लगाना चाहिए। इससे उनकी वाणी मधुर हो जाती है और शिष्टाचार का, सभ्यता और संस्कृति का प्रचार होता है इसलिए इस प्रकार का प्रचलन करना ही चाहिए। आरम्भ में एक दो दिन मजाक बन सकती है, अपने को भी अटपटा लग सकता है और कुछ दिन नये अभ्यास के कारण आधा तीतर-बटेर भी हो सकता है पर यदि दृढ़ता से कुछ दिन इसका अभ्यास चलाते रहा जाय तो अभिवादन और शिष्ट संबोधन की दोनों ही प्रकियाएँ अपने परिवार में चल सकती हैं।

(९) स्वच्छता और व्यवस्था

सफाई और व्यवस्था को हमें अपनी आदत में सम्मिलित करना ही चाहिए। जिस प्रकार हम आत्मा का सम्मान करते हैं, ईश्वर का सम्मान करते हैं, दूसरों का सम्मान करना चाहते हैं उसी प्रकार हमें अपने साधनों, उपकरणों और वस्तुओं का भी आदर करना चाहिए। कपड़े, जूते, बिस्तर, पुस्तकें, कलम, दवात, बर्तन, खाद्य-पदार्थ आदि सभी वस्तुएँ साफ-सुथरी और यथा-स्थान सुसज्जित रूप से रखी रहनी चाहिए। कला और सौन्दर्य भी अध्यात्म के अत्यन्त आवश्यक गुण हैं जिसे सफाई से प्रेम नहीं, जहाँ-तहाँ गंदगी और अव्यवस्था वगैरह रहती है वह फूहड़ प्रकृति का आदमी अध्यात्मवादी होने का दावा नहीं कर सकता। गंदगी से हमें उसी प्रकार जानी दुश्मनी रखनी चाहिए जिस प्रकार साँप, बिच्छू, पाप और कुकर्म से घृणा करते हैं। गंदगी पैदा होती ही रहती है, उससे बचा नहीं जा सकता, पर उसे तुरन्त स्वयं साफ करना चाहिए। गंदगी से घृणा उसी की सार्थक है जो उसे हटाने की प्रक्रिया में उत्साह रखता है। जो गंदगी साफ करने से जी चुराता है वह सफाई पसंद नहीं, वरन् गंदगी को प्रेम करने वाला है। प्रेमी ही अपनी प्रिय वस्तु को हटाने में संकोच कर सकता है। जो चीज यथास्थान नहीं रखी गई है वह महत्वपूर्ण और कीमती होते हुए कूड़ा बन जाती है और कूड़ा भी अपने नियत स्थान पर रखा होने से सुरुचि का परिचायक होता है। हमें अपनी हर वस्तु का आदर करना चाहिए। मकान का, पलंग का, बिस्तर का, कपड़ों का, पुस्तकों का, बर्तनों का भी। इस आदर का एक ही चिन्ह है कि उन्हें यथास्थान रखा गया है या नहीं। साबुन और बुहारी से हमें सच्ची दोस्ती करनी चाहिए। कपड़े धुले हुए साफ रहें, स्नान में शरीर का मैल पूरी तरह छुड़ाया जाय, मंजन करने में चूक न की जाय। घर की नालियाँ साफ रहें, छतों पर मकड़ी के जाले कहीं भी दिखाई न पड़ें, हर चीज अपने स्थान पर सुसज्जित रूप से रखी और साफ-सुथरी हो तो अपनी झोपड़ी भी देव मंदिर से सुन्दर लग सकती है और अपने व्यक्तित्व, संस्कृति, सुरुचि, कलात्मक दृष्टिकोण और सुधरे हुए स्वभाव का प्रमाण मिल सकता है। यह सब हमें करना ही चाहिए।

(१०) विचार-परिवार की रचना एवं वृद्धि

सज्जनों की अभिवृद्धि और एकता, युग-निर्माण का दसवाँ कार्यक्रम है। अपनी ओर से अपने परिवार की भलाई सोचते रहना ही पर्याप्त नहीं, वरन् हमें यह भी प्रयत्न करना होगा कि सम्बन्धित लोगों में सज्जनता बढ़े, अपने विचारों के लोगों की संख्या बढ़ती चले और उनमें परस्पर एकता, घनिष्टता, सहकारिता एवं सभ्यसमाज की रचना करने के लिए मिलजुल कर कुछ करने की भावना भी पैदा हो। इस युग में संगठन ही सबसे बड़ा है। वोट के द्वारा अब राज पलट जाते हैं। एकाध विद्वान को लोग मखौल में उड़ा देते हैं और संगठित मूर्खों का दल हर प्रकार की मनमानी करने में सफल होता है। वैयक्तिक जीवन में एक संघ शक्ति से सुसज्जित हो के लिए भी और सभ्य समाज की रचना के लिए भी हमें अपने समीपवर्ती सज्जनों को संघबद्ध करना, उनके विचारो में प्रगतिशीलता उत्पन्न करना होगा। युग-निर्माण के लिए जो बड़ी-बड़ी बातें सोची गई हैं, उनकी पूर्ति करना ऐसे संगठन द्वारा ही सम्भव होगा। विचार-परिवार की रचना में हमें पूरे उत्साह के साथ अभिरुचि लेनी चाहिए।

यह कार्य हमें 'अखण्ड-ज्योति' के प्रेरणा सूत्र को माध्यम बनाकर करना होगा। जिस प्रकार एक धागे में अनेक मनके पिरोये रहते हैं और माला मजबूत बनी रहती है इसी प्रकार 'अखण्ड-ज्योति' की सदस्यता उसके पाठकों में मानसिक प्रौढ़ता और परिवार भावना पैदा करती रहेगी। जप साधना भी बड़ा कठिन कार्य है। निरन्तर प्रेरणा के बिना वह श्रद्धा भी आज की परिस्थितियों में देर तक नहीं टिक पाती। युग-निर्माण योजना के सदस्य, सहयोगी एवं अपने स्वजन केवल उन्हें ही गिनना आरम्भ किया है जो कम से कम हमारी बात सुनने में, हमारे विचारों को पढ़ने-समझने में तो दिलचस्पी लेते हों।

संगठन से ही समाज निर्माण संभव

सामाजिक बुराइयों, कुरीतियों, अनैतिकताओं में से अधिकांश ऐसी हैं जिनका उन्मूलन और उनके स्थान पर स्वस्थ परम्पराओं की स्थापना संगठित प्रयत्नों से ही सम्भव हो सकेगी। जुआ, चोरी, रिश्वतखोरी, मिलावट, बेईमानी, व्यसन, व्यभिचार, दहेज, मृत्युभोज, नशेबाजी, माँसाहार, पर्दा, बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, उच्छृंखलता, गुण्डागर्दी, फैशन, फिजूलखर्ची आदि अगणित बुराइयाँ ऐसी हैं जो अपने समाज में गहरी जड़ जमा चुकी हैं। इनका विरोध करने को एक व्यक्ति खड़ा होगा तो पिस जायगा, किन्तु यदि संगठित प्रतिरोध करने का और इनके स्थान पर आदर्श परम्पराओं के अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रचलन बढ़ेगा तो सभ्य समाज की स्थापना का स्वप्न सार्थक ही होकर रहेगा।

युग निर्माण योजना कागजी या कल्पनात्मक नहीं है। वह समय की पुकार, जनमानस की गुहार और दैव इच्छा की प्रत्यक्ष प्रक्रिया है। इसे साकार होना ही है। इसके आरम्भ करने का श्रेय 'अखण्ड-ज्योति' परिवार को मिल रहा है तो इस सौभाग्य के लिए हममें से प्रत्येक को प्रसन्न होना चाहिए और गर्व अनुभव करना चाहिए। उसको व्यावहारिक स्वरूप दिया जाना है, उसे प्रत्यक्ष कर दिखाया जाना है। इसके लिए बिना समय नष्ट किये हमें अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए। आलस्य और उपेक्षा करने वालों को पश्चाताप ही हाथ रह जायगा।

अपना परिवार बढ़ता ही चले

जिस प्रकार सिर, धड़ और पैरों के तीन भागों में हमारा शरीर बँटा हुआ है उसी प्रकार जीवन भी वैयक्तिक, परिवार और समाज इन तीन भागों में विभाजित है। हम व्यक्तिगत रूप से अच्छे हों, परिवार भी सभ्य हो पर चारों ओर रहने वाले वे लोग जिनसे निरन्तर अपना काम पड़ता है यदि असभ्य, असंस्कृत और अनैतिक प्रकृति के हों तो प्रगति का पथ ही नहीं रुका रहेगा वरन् पग-पग पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। जिस प्रकार जलवायु के अच्छे होने से घटिया आहार मिलने पर भी मनुष्य स्वस्थ रह सकता है, उसी प्रकार चारों ओर का वातावरण प्रसन्नता और प्रफुल्लता से भरा हो तो असुविधाओं से भरा हुआ अभावग्रस्त जीवन भी हँसी-खुशी से कट जाता है। सिर, धड़ और अधोभाग इन तीनों में से एक भाग भी यदि रुग्ण या अशक्त रहे तो सारा शरीर ही विपन्न स्थिति में पड़ा रहेगा, उसी प्रकार व्यक्तिगत और पारिवारिक विकास के साधन जुटा लेने पर भी यदि सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त बना हुआ है तो उसके कारण चिन्ता और परेशानी की स्थिति बनी ही रहेगी।

समीपवर्ती वातावरण को बदलें

हमें अपने आस-पास का वातावरण अच्छा बनाने का प्रयत्न करना ही चाहिए, इस ओर से उपेक्षा रखने और अपने मतलब से मतलब रखने की नीति अपनाने से लाभ नहीं घाटा ही रहता है। सारे समाज को बदल डालना अपने लिए सम्भव भले ही न हो पर इतना तो हर कोई कर सकता है कि सद्भावनाशील व्यक्तियों का एक संगठन बनाये। उत्तम प्रकृति के लोग यदि आपस में प्रेम-भाव, एकता, समीपता और सहयोग के आधार पर परस्पर सुसंबद्ध रहने लगें तो उनकी सम्मिलित शक्ति एक महत्वपूर्ण बात बन जाती है और उसके द्वारा चारों ओर फैले हुए अनैतिक वातावरण को उच्छृंखल होने से रोक रखने में भारी सहायता मिलती है। एक गुण्डा भी अकेला कुछ नहीं कर सकता वरन् आसानी से पिट जाता है। उसकी शक्ति तो तभी बढ़ती है जब संगठन का बल और प्रभाव उसके पीछे रहता है। गिरोहबन्द होने पर ही गुण्डे अपनी उद्दंडताओं का प्रदर्शन करते हैं। संगठन अपने आप में एक महान शक्ति है। गुण्डों के लिए वह उपयोगी सिद्ध हो सकती है तो सज्जनों के लिए यह काम की वस्तु क्यों सिद्ध न होगी ?

शक्ति का प्रदर्शन होने से भी विरोधियों के हौंसले परास्त हो जाते हैं। अनैतिक तत्व उच्छृंखल तो अवश्य होते हैं पर उनके पीछे नैतिक बल न रहने से दुर्बलता ही भरी रहती है, जिसका शमन थोड़े से ही शक्ति-प्रदर्शन से सरलतापूर्वक हो जाता है। चोर तभी सेंध लगाते हैं जब घर के लोग सोये पड़े हों, उल्लू, चमगादड़ तभी तक सक्रिय रहते हैं जब तक प्रकाश नहीं होता। अनैतिक तत्व भी वहीं पनपते हैं जहाँ उन्हें आलोचना या विरोध की आशंका नहीं होती। पुलिस चौकी के आस-पास आमतौर से चोरियाँ नहीं होतीं, क्योंकि चोर जानते हैं कि वहाँ प्रतिरोध का सामना करना पड़ सकता है, इसलिए जोखिम के इस स्थान को छोड़कर वहाँ मोर्चा लगाना चाहिए जहाँ कमजोरी ज्यादा हो। जिसके पीछे कोई नहीं होता आमतौर से उसे ही सताया जाता है। सज्जन लोग आमतौर से इसीलिए परेशान किये जाते हैं क्योंकि वे गुण्डों की तरह संगठित नहीं होते। यदि उनमें भी आवश्यक संगठन की व्यवस्था बन जाय तो उसकी क्षमता अनैतिक तत्वों की अपेक्षा सैकड़ों गुनी अधिक रहेगी और इस संगठन मात्र से बुराइयों के सुधार में भारी योगदान मिलने लगेगा।

संगठन की महान शक्ति

कहते हैं कि निर्जीव चीजें एक और एक दो होती हैं किन्तु जीवित मनुष्य यदि सच्चेपन से एक दूसरे को प्रेम करें और एकता की सुदृढ़ भावना में संबद्ध हों तो वे एक और एक मिलकर ग्यारह बन जाते हैं। उनकी शक्ति का परिमाण अनेक गुना अधिक बन जाता है। हमें इस प्रक्रिया

को अपनाना ही होगा इसके बिना और कोई मार्ग नहीं। सज्जनों का संगठन हुए बिना दुर्जनता का पलायन और किसी उपाय से नहीं हो सकता।

इतिहास साक्षी है कि अनैतिकता के प्रतिरोध के लिए नैतिक तत्वों को संगठित होना पड़ा है और उस संगठन के बलबूते पर ही दुष्टता को परास्त कर सकना संभव हुआ है। अवतारों और युग पुरुषों ने भी धर्म की स्थापना और अधर्म का नाश केवल अपने एकाकी बलबूते पर नहीं कर लिया है वरन् उन्हें भी संगठन की रचना करनी पड़ी है और उसी का सहारा लेकर यह लोक-शिक्षण करना पड़ा है कि सज्जनता की रक्षा केवल संगठित शक्ति द्वारा ही संभव होगी। भगवान राम को रीछ, बन्दरों की सेना इकट्ठी करनी पड़ी थी, भगवान कृष्ण के साथ गोप और पशुपालकों का एक बड़ा संगठन था। राणा प्रताप को सेना इकट्ठी करने के लिए भामाशाह ने आर्थिक साधन जुटाये थे। सुभाष बोस ने आजाद हिन्द फौज बनाई थी। महात्मा गाँधी ने स्वराज्य आन्दोलन के लिए कितना विशाल संगठन खड़ा किया था।

असुरों से संत्रस्त देवता जब अपनी करुण पुकार लेकर ब्रह्माजी के पास गये तब उन्होंने सब देवताओं की थोड़ी-थोड़ी शक्ति इकट्ठी करके दुर्गा देवी की रचना कर दी, तब उसके द्वारा असुरों का हनन हुआ । रावण के त्रास से संत्रस्त ऋषियों ने अपना थोड़ा-थोड़ा खून एक घड़े में जमा करके, जमीन में गाढ़ा था तब उसमें से सीता जन्मी और उन्हीं के निमित्त से असुर कुल का सर्वनाश हो सका। बुद्ध भगवान को एक बड़ा शिष्य मण्डल तात्कालिक पाप-वृत्तियों से लोहा लेने के लिए संगठित करना पड़ा था। विभिन्न मत-मतान्तरो और सम्प्रदायों और पंथों की रचनाएँ भी तात्कालिक किसी सुधार की आवश्यकता के कारण ही हुई थीं। सिक्ख पंथ मुसलमानों के अन्यायों से बचाव की दृष्टि से बना और बढ़ा था, सामाजिक कुरीतियों के समाधान के लिए आर्य समाज का आस्तित्व सामने आया। धर्म और सत्य के आदर्श सब सम्प्रदायों में एक ही हैं, कोई मौलिक मतभेद किसी में नहीं है फिर भी समय-समय पर अनेक संगठन बनते रहते हैं, इनका उद्देश्य तात्कालिक परिस्थितियाँ ही होती हैं। संगठन का सहारा लिए बिना समाज सुधार एवं युग-निर्माण जैसे महान कार्य तो और किसी प्रकार संभव ही नहीं हो सकते, इसलिए हम को भी अपने व्यक्तिगत जीवन को सुविकसित बनाने के लिए अपने साथ सज्जनों का एक संगठन रखना ही पडेगा। युग-निर्माण की जनमानस विकास योजना के लिए भी इस की अनिवार्य आवश्यकता है।

धर्म और सदाचार की शान्ति सेना

जिस प्रकार वेतन और शस्त्र की व्यवस्था हुए बिना सेना का संगठन नहीं हो सकता उसी प्रकार सज्जनों की युग-निर्माण सेना का संगठन भी पाठकों के प्रयत्न और अखण्ड ज्योति की विचारधारा का समन्वय हुए बिना संभव नहीं हो सकता। हममें से प्रत्येक को इस महत्वपूर्ण कार्य में संलग्न होकर युग-निर्माण के क्षेत्र का विस्तार करना चाहिए। अपना परिवार बढ़ाने का यही तरीका है। अपनी अखण्ड ज्योति पत्रिका हम उन सब लोगों तक पहुँचावें-उनके लेखों की प्रशंसा करके पढ़ने का आकर्षण पैदा करें और समय-समय पर प्रस्तुत प्रसंगों पर चर्चा करते हुए उनकी अरुचि का परिष्कार करते रहें। आप इतना प्रयत्न करेंगे और पत्रिका के छपे पन्नों में लिपटी हुई हमारी भावना भी कुछ काम करेगी तो दोनों के समन्वय का एक बड़ा सुखद रूप सामने आवेगा और लोगों को तेजी से बदलते हुए हम प्रत्यक्ष देख सकेंगे। किसी मित्र, कुटुम्बी या सम्बन्धी के साथ इससे बड़ा उपकार और कुछ नहीं हो सकता कि उसके अन्तःकरण में उच्चकोटि की भावना और विचारधारा भर दी जाय इसी आधार पर तो किसी का लोक-परलोक, सुख-शान्तिमय बन सकता है। ब्रह्मदान से, ज्ञान-दान से, बढ़कर इस पृथ्वी पर और कोई दान नहीं है यदि हम अपने क्षेत्र के कुछ लोगों को अखण्ड ज्योति का नियमित पाठक बनाने में सफल हो जाते हैं तो निश्चय ही यह प्रयत्न युग निर्माण की सेना के सैनिक भर्ती करने के समान ही महत्वपूर्ण है। जब इन सैनिकों का एक सुसज्जित संगठन बनकर तैयार होगा तब हम देखेंगे कि अनैतिकता की वे विभीषिकाएँ जो आज काली घटाओं की तरह हमारे सिर पर घुमड़ रही हैं सहज ही तिरोहित होने लगेंगी।

परिवार रचना की दो परम्पराएँ

परिवारों का गठन दो प्रकार का होता है एक रक्त-परिवार, दूसरा विचार-परिवार। माता-पिता के खून से बन कर जो परिवार बनता है वह घर, कुटुम्ब कहलाता है। भावनाओं और आकांक्षाओं की एकता वाले लोग भी एक कुटुम्बी ही बन जाते हैं। चोर, डाकू, जुआरी, नशेबाज जब एक स्वभाव और एक कार्यक्रम के कारण अत्यन्त घनिष्ट बन जाते है तो आध्यात्मिक-भावनाओं, प्रेरणाओ और योजनाओं से प्रभावित व्यक्ति आपस में घनिष्ट क्यों न होंगे ? रक्त के आधार पर बना हुआ संगठन वंश परिवार कहलाते हैं और भावनाओं के आधार पर बना संगठन ज्ञान-परिवार या गुरु-परिवार कहलाता है। प्राचीनकाल में गोत्रों की रचना दोनों ही प्रकार से हुई है, वंश परम्परा से भी और गुरु परम्परा से भी। कश्यप, भारद्वाज, गर्ग, वशिष्ठ आदि गोत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों ही वर्णों में मिलते हैं। इससे यह भ्रम होता है कि उन ऋषियों के वंशज चारों वर्णों में कैसे हुए? बात यह है कि यह गोत्र पुत्र परम्परा से ही नहीं, शिष्य परम्परा से भी चले हैं। इसी से सब वर्णों में ऋषियों के गोत्र मिलते हैं। हमें अपने वंश परिवार के विकास का

नहीं, गुरु परिवार के ज्ञान परिवार के, निर्माण का भी ध्यान रखना होगा और उसके विस्तार का भी।

निर्माण का महत्वपूर्ण साधन

अपना परिवार जब बढ़ेगा तो उससे हम में से हर एक को व्यक्तिगत जीवन के विकास में भारी सहायता मिलेगी। एक से विचारों के लोगों में स्वभावतः प्रेम-भाव पैदा होता है। एक-दूसरे को प्रेरणा और प्रोत्साहन देते हैं और लौकिक जीवन में भी एक-दूसरे की सहायता किसी न किसी प्रकार करते हैं। दूसरे लोग इस संघबद्धता से प्रभावित होते हैं। विरोधियों और दुरात्माओं को भय रहता है और सज्जन-सदाचारियों की हिम्मत बँधी रहती है। अनेक अरुचिकर प्रसंग तो सज्जनों के संगठन के भय से अपने आप ही टल जाते हैं। इस प्रकार हम में से प्रत्येक को अपने वैयक्तिक जीवन का सर्वांगपूर्ण विकास करने के लिए अपने समीपवर्ती क्षेत्र में से जितनों को भी अपने प्रभाव क्षेत्र में ला सकना सम्भव हो उसके लिए शिथिल मन से नहीं पूरे उत्साह से प्रयत्न करना चाहिए।

युग-परिवर्तन कार्यक्रम का आधार ही यह संगठन होगा। व्यापक अनैतिकता का अन्त सत्पुरुषों की संगठित शक्ति के बिना और किसी उपाय से सम्भव नहीं। जितना-जितना यह संगठन व्यापक और प्रबल होता जायगा उसी अनुपात से अपने कार्यक्रम बनते चलेंगे और एक-एक कदम उठाते हुए उस लक्ष्य की पूर्णता तक पहुँच सकेंगे जिसके ऊपर समस्त विश्व की समस्त मानव जाति की सुख-शान्ति निर्भर है।

प्रगति की दिशा में सही प्रयत्न

सभी क्षेत्रों में आज अनुभव किया जा रहा है कि एक ओर जितने प्रयत्न उन्नति के लिए किये जा रहे हैं उतना ही दूसरी ओर अवनति का द्वारा प्रशस्त हो रहा है। आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए उद्योग-धंधे बढ़ाये जा रहे हैं, कर्मचारियों का वेतन बढ़ाने की व्यवस्था की जा रही है, शिक्षा की प्रगति के लिए स्कूल-कालेजों की संख्या बढ़ रही है, चिकित्सा के लिए अस्पतालों और डाक्टरों की संख्या वृद्धि की जा रही है, अपराध रोकने के लिए कानून, पुलिस और अदालत पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है, यातायात की सुविधा बढ़ाने के लिए रेल, मोटर जहाज, स्कूटर, सड़क आदि के निर्माण का विशाल कार्यक्रम चल रहा है। मनोरंजन के लिए सिनेमा, सर्कस, नाटक, खेल-कूद आदि का विकास हो रहा है। इन्हें देखते हुये सहज ही यह अनुभव हो रहा है। कि प्रगति के इन भारी साधनों द्वारा मनुष्य जाति की सुख-सुविधाओं में अवश्य ही वृद्धि होगी।

लोक-शिक्षण के प्रयत्न भी स्वल्प नहीं हैं। सरकार अपनी योजनाओं और सफलताओं से जनता को परिचित कराने के लिए भारी व्यय करके प्रदर्शनियाँ लगाती है, सिनेमा दिखाती है, ग्रामसेवक, ब्लाक कर्मचारी , कल्याण विभाग के कार्यकर्त्ता भारी संख्या में काम कर रहे हैं। कृषि, स्वास्थ्य, सहयोग, शिक्षा आदि का प्रशिक्षण करने के लिए बड़े-बड़े विभाग बने हुऐ हैं और उनमें प्रचुर धन एवं जन-शक्ति का उपयोग होता है। रेडियो द्वारा देश भक्ति, सदाचार, स्वास्थ्य आदि के अनेक प्रकार के कार्यक्रम प्रसारित होते रहते हैं। राजनेता, मंत्री आदि के भाषणों की आये दिन धूम मची रहती है। राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र के कार्यकर्त्ता अपने-अपने ढंग से निरन्तर प्रवचन करते रहते हैं। उनके विशाल प्रयत्नों को देखते हुये यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जनता को अवश्य ही उच्च भावनाओं से ओत-प्रोत, कर्तव्य परायण, आदर्श प्रेमी और सुखी बन जाना चाहिए।

विकास और सुधार का, शिक्षा और समृद्धि का, चिकित्सा और सुविधाओं का जितना विशाल आयोजन आज हो रहा है उतना संसार के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। इसे देखते हुये जहाँ एक ओर आशा बँधती है वहाँ दूसरी ओर देखते हैं तो निराशा से चित्त क्षुब्ध होने लगता है। इतनी चेष्टा करने पर भी स्थिति हर दिशा में बिगड़ती ही जा रही है। शारीरिक दृष्टि से लोग अपने को अशक्त, दुर्बल और रोगी ही अनुभव करते हैं। ऐसे भाग्यशाली विरले ही मिलेंगे जो अपने को पूर्ण नीरोग होने का भरोसा कर सकें। श्रद्धा, विश्वास और आत्मीयता का गृहस्थ जीवन कोई विरले ही बिता पा रहे हैं। दाम्पत्य और पारिवारिक जीवन जहाँ भी देखिये वहाँ विषाक्त बना दिखाई देता है। आमदनी से खर्च सबका बढ़ा हुआ है। सभी अपने को गरीब, अभावग्रस्त अनुभव करते हैं। शिक्षितों को नौकरी न मिलने का, ठीक वेतन न मिलने की शिकायत रहती है। गुण्डागर्दी और अपराधों की तो बाढ़ ही आ गई है, जिससे हर व्यक्ति सदैव सशंकित बना रहता है। सरकारी क्षेत्रों में रिश्वतखोरी और लापरवाही बेहिसाब बढ़ गई है जिससे न्याय और अधिकारों का प्राप्त होना दिन दिन महँगा और कष्टसाध्य बनता चला जा रहा है। सार्वजनिक संस्थाओं के पोलखाते जब सामने आते हैं तब और भी अधिक निराशा होती है। जिनकी स्थापना लोगों को उच्च आदर्श सिखाने के लिए की गई हो, उनके संचालक और पदाधिकारी ही यदि आदर्शहीनता का परिचय देने लगें तो फिर कौन उनके उपदेशों को सुनेगा और कौन उन पर आचरण करेगा ?

धार्मिक अनुष्ठानों की आये दिन धूम रहती है। कथा, हवन, कीर्तन, सम्मेलन रोज ही कहीं न कहीं होते ही रहते हैं। इन्हें देखते हुए यही जान पड़ता है कि धर्म का विस्तार हो रहा है। साधु-सन्तों की संख्या लाखों तक पहुँच जाने से एक सामान्य मनुष्य यही समझता है कि उनके द्वारा जनता में ज्ञान-वृद्धि और धर्म की जाग्रति होती ही होगी पर जब वास्तविक परिणाम का पता लगाया जाता है तो आँखों के आगे अँधेरा छा

और यही प्रतीत होता है कि यहाँ तो मेंड़ ही खेत को खाये जा रही है।

प्रगति का बाह्य आवरण दिन-दिन बहुत बढ़ता चला जाता है, आडम्बर का घटाटोप बँध रहा है पर भीतर सब कुछ खोखला है। मनुष्य का चरित्र, दृष्टिकोण एवं आदर्श पतित होने पर सभी ऊपरी उपचार निरर्थक सिद्ध होते हैं। रक्त विकार से रुग्ण शरीर में जगह-जगह निकलते रहने छाले, फोड़ों पर मरहम लगा देने मात्र से कोई स्थाई हल नहीं निकल सकता। जड़ के सींचे बिना केवल पत्तों पर छिड़काव कर देने से पेड़ की हरियाली कब तक बनी रहेगी।

संसार में दिन-दिन बढ़ती जाने वाली उलझनों का एकमात्र कारण मनुष्य के आन्तरिक स्तर, चरित्र दृष्टिकोण एवं आदर्श का अधोगामी होना है। इस सुधार के बिना अन्य सारे प्रयत्न निरर्थक हैं। बढ़ा हुआ धन, बढ़े हुये साधन, बढ़ी हुई सुविधाएँ कुमार्गगामी व्यक्ति को और भी अधिक दुष्ट बनायेंगी। इन बढ़े हुये साधनों का उपयोग वह विलासिता, स्वार्थपरता, अहंकार की पूर्ति और दूसरों के उत्पीड़न में ही करेगा। असंयमी मनुष्य को कभी रोग-शोक से छुटकारा नहीं मिल सकता, भले ही उसे स्वास्थ्य सुधार के कैसे ही अच्छे अवसर क्यों न मिलते रहें।

कठिनाइयाँ, अभावों और विपत्तियों की जड़ मनुष्य के भीतर रहती है। जितना प्रयत्न संसार को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए किया जा रहा है यदि उसका सौवाँ भाग मनुष्यों के आन्तरिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए किया जाता तो आज स्थिति कुछ और ही होती। जब तक हम वास्तविक दशा को न समझेंगे तब तक असफलता और निराशा के अतिरिक्त और क्या हाथ लगने वाला है। जिन लोगों के कन्धों पर जनसेवा का भार है वे ही यदि अपने कर्तव्य की उपेक्षा करके जैसे बने वैसे स्वार्थ साधने की ठान लें तो फिर उनके दिखावटी प्रयत्नों से किसी शुभ परिणाम की आशा कैसे की जा सकती है।

बाहरी आडम्बरों के बढ़ने से किसी समस्या का हल न होगा। मानव-जीवन की दिन-दिन बढ़ने वाली समस्त आपत्तियों का समाधान करने का केवल एक ही मार्ग है कि मनुष्य के गुण, कर्म व स्वभाव का स्तर ऊँचा उठाया जाय और उसकी भावना, श्रद्धा तथा आकांक्षाओं को धर्म एवं सदाचार से नियंत्रित रखा जाय। जब मनुष्य अपने आत्म-गौरव, कर्तव्य और लक्ष्य को भली प्रकार अनुभव कर सकेगा तभी पशु-प्रवृति से ऊँचा उठकर मनुष्य के योग्य यशस्वी-पथ का पथिक बन सकता है।

रोग का ठीक निदान हो जाने पर चिकित्सा संबंधी आधी कठिनाई हल हो जाती है। पेट में कब्ज रहने पर अनेक रोग उठ खड़े होते हैं। स्वभाव में क्रोध की मात्रा बढ़ जाने से अनेक विरोधी तथा शत्रु पैदा हो जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य का दृष्टिकोण दूषित और चरित्र पतित हो जाने पर उसे प्रत्येक दिशा में आपत्तियाँ दिखाई देने लगती हैं। इसी प्रकार जिस राष्ट्र की जनता स्वार्थी, विलासी, कायर, आलसी और दुर्गुणी हो जाती है, वहाँ अगणित प्रकार के शोक-सन्ताप बढ़ने लगते हैं। बाहरी उपचारों से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। रोग के कारणों को हटाने से ही व्यथा दूर होती है। व्यक्तियों का आन्तरिक स्तर ऊँचा उठाने पर ही पतन का प्रत्येक दृश्य उन्नति में बदलने लगता है।

विश्वशान्ति की स्थिति उत्पन्न करने का कोई प्रयत्न तभी सफल होगा जब व्यक्तियों की भावनाओं को ऊँचा उठाने को सर्वोपरि महत्व की बात मानकर योजना बनाई जाय। युग निर्माण योजना एक ऐसा ही प्रयत्न है। जिसके संयोजकों ने समस्या की जड़ ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है और रोग के सही निदान के अनुरूप चिकित्सा आरम्भ की है। सही दिशा में उठाये हुये कदम ही सही परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं। यदि इन प्रयत्नों को प्रोत्साहन मिला तो विश्वासपूर्वक यह आशा की जा सकती है कि संसार व्यापी अशान्ति की समस्या का हल निकलेगा और मानव जाति का भविष्य पुन उज्वल बनेगा।

सेवा-धर्म की सन्तुलित योजनाएँ

गुणों का अभ्यास क्रियाओं के द्वारा किया जाता है। तैरना सीखने के लिए तालाब में उतरना पड़ता है। पहलवानी सीखने वाले अखाड़े का आश्रय लेते हैं। संगीत सीखने वाले बाजों की सहायता लेते हैं। ईश्वर-भक्ति की भावना बढ़ाने के लिए पूजा-उपासना में संलग्न होना पड़ता है। शिक्षार्थी को कॉपी, पुस्तक, कलम, दवात का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। वैज्ञानिकों को अपने अन्वेषण कार्य में अनेक प्रकार के यन्त्रों, रासायनिक द्रव्यों और प्रयोगशालाओं की जरूरत होती है। सद्‌गुणों का अभ्यास बढ़ाने के लिए सत्कर्मों में लगे रहने का कार्यक्रम बनाना पड़ता है। केवल चाहने या सोचने से सद्‌गुणों का अभ्यास नहीं हो सकता, उनमें गहरी आस्था उत्पन्न नहीं हो सकती । इसलिए जो सद्‌गुणों की उपयोगिता और महत्व को अनुभव करते हों उनको अपने भीतर जमा हुआ देखना चाहते हों, उनके लिए आवश्यक है कि अपने दैनिक जीवन में किसी न किसी रूप में सत्कार्यों का व्यवहार अवश्य करते रहें। जो विचार उपयोगी प्रतीत होते हैं उन्हें कार्यान्वित करने के लिए भी तत्पर रहें।

युग-निर्माण योजना एक आध्यात्मिक आन्दोलन है। मनुष्य यदि सच्चे अर्थों में मनुष्य बनना चाहता हो, आध्यात्मिकता को वचन मात्र की वस्तु न रखकर उसे अपने जीवन में उतारना चाहता हो, तो यह नितान्त आवश्यक है कि वह आध्यात्मिक गुणों को अपने स्वभाव का एक अंग बनाने का प्रयत्न करे। इस महान तत्वज्ञान

का प्रयोजन यही है कि पूजा, स्वाध्याय, ध्यान, भजन, कथा कीर्तन, व्रत, उपवास द्वारा अपने स्वभाव को ऐसा बनावे जिससे आध्यात्मिक आदर्शों के अनुकूल गतिविधियाँ स्वाभाविक रूप से अपनाने लगे। सत्कर्मों के पुण्यफल से ही तो सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है और सत्कर्म भी होने लगते हैं, जबकि मन में सद्गुणों का निवास हो जाय। इसलिए शास्त्रों में सद्विचारों और सद्गुणों को ही समस्त सुख-शान्ति का मूल बतलाया है और उनके निरन्तर अभ्यास तथा वृद्धि पर अत्यधिक जोर दिया है।

सत्कर्मों को अभ्यास में लाते हुए मनुष्य अपने सद्गुणों को बढ़ाये और सद्भावनाओं की दैवी सम्पत्ति को संचित करता हुआ जीवन-लक्ष्य की पूर्ति में सफल हो, यही उद्देश्य युग-निर्माण योजना में सन्निहित है। उसके कार्यक्रमों में इस बात का ध्यान रखा गया है कि मनुष्य अपने स्वार्थ और संकीर्णता को कम करता हुआ परमार्थ और सेवा धर्म को अपने लिए कल्याणकारी समझने लगे। हमारा पतन तभी से आरम्भ हुआ जब से व्यक्तिगत स्वार्थ का भाव बढ़ने लगा। जब हर व्यक्ति अपने मतलब की बात ही सुनना और करना चाहता है। तो स्वभावतः नीचे की ओर गिरने लगता है। उसके विचार और कार्य दिन-दिन अधिक घृणित और निकृष्ट होते जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों का समाज सदैव क्लेश और द्वेष की नारकीय भावनाओं में ग्रस्त रहता है और पीड़ा तथा कष्टों से कराहता रहता है। पिछले दिनों हमारा सबसे बड़ा दोष व्यक्तिवाद रहा है उसी के कारण हम एक हजार वर्ष तक दूसरों के गुलाम बने रहे हैं। अब भी वह हमारे राष्ट्र और समाज की प्रगति में एक बड़ा रोड़ा सिद्ध हो रहा है।

जब तक स्वार्थपरता का दायरा कम नहीं होता तब तक व्यक्ति कितना ही योग्य और कार्य-कुशल क्यों न हो वह समाज के लिए अभिशाप एवं संकट बनकर ही रहेगा। किसी समाज की उन्नति और सुख-शान्ति इसी बात पर निर्भर है कि उसके सदस्य-व्यक्तिगत लाभ को कम और समूहगत लाभ को अधिक महत्व दें। आध्यात्मिकता का लक्ष्य भी यही है पर इस लक्ष्य के अनुसार लोगों को व्यवहार न करते देखकर साम्यवादी सिद्धान्त के अनुयाइयों ने बलपूर्वक मनुष्य को परमार्थी और संयमी बनने के लिए विवश किया है। रास्ता एक ही है, चाहे उसे आध्यात्मिक मार्ग पर चलते हुए आत्म-सन्तोष, पुण्य एवं आन्तरिक लाभ उठाते हुए पूरा किया जाय अथवा डंडे के बल पर साम्यवादी व्यवस्था द्वारा रोते-कलपते स्वीकार किया जाय। करना यही पड़ेगा। मनुष्य को स्वार्थ की संकीर्णता से ऊँचा उठकर परमार्थ की श्रेष्ठता को ही स्वीकार करना होगा। इस परिवर्तन के बिना एक भी उलझन सुलझेगी नहीं। इसलिए हमको यही प्रयत्न करना चाहिए कि मनुष्य का अन्तःकरण तृष्णा, वासना की गन्दी कीचड़ से बाहर निकले और पुण्य-परमार्थ की मलय-मारुत का रसास्वादन करते हुए अपने को धन्य बनावे।

युग-निर्माण योजना का निर्माण इन्हीं तथ्यों को दृष्टिगोचर रखकर किया गया है। उसमें प्रयत्न यह किया गया है कि मनुष्य (१) उपासना (२) आत्मशोधन और (३) परमार्थ के त्रिविधि कार्यक्रम को अपनाता हुआ आत्मकल्याण का लक्ष्य भी पूरा करे और संसार की सुख-शान्ति बढ़ाने में योगदान देता हुआ यशस्वी बने। अपनी क्षमता और रुचि के अनुसार हम में से प्रत्येक को निश्चय कर लेना चाहिए और उसे पूर्ण करते हुये तथा अपने सद्गुणों को बढ़ाते हुए प्रगति-मार्ग पर बढ़ना चाहिए। लोक-कल्याण तो इस प्रकार होता ही रहेगा।

परिवार-निर्माण का कार्यक्रम अपनाकर यदि हम रोज अपने घरवालों को सभ्यता और सज्जनता की शिक्षा देंगे तो स्वभावतः हमें भी वैसा ही बनना पड़ेगा। बाहर वालों के आगे लम्बी-चौड़ी बातें हाँकी जा सकती हैं, पर घर वालों को तो अपनी सारी बातें मालूम होती हैं इसलिए उन्हें जो कुछ सिखाना हो उसे अपने जीवन में भी ढालना पड़ता है अन्यथा उपहास ही होगा। परिवार के लोग अपनी दैनिक विचार गोष्ठी से लाभ न भी उठावें या उन पर थोड़ा-सा ही प्रभाव पड़े पर हमको तो उनके सामने अपना वैसा सुधरा हुआ रूप रखना ही पड़ेगा, जो एक शिक्षक के उपयुक्त हो। ऐसी दशा में अपना सुधार तो होगा ही।

दीवारों पर शिक्षाप्रद वाक्य लिखने से जहाँ अपनी कृति पर संतोष होता है वहाँ वे विचार मन में गूँजते भी रहते हैं। उन विचारों के प्रति अपना आकर्षण और झुकाव बढ़ता है और फलस्वरूप एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव हमें वैसा ही बनने या ढलने के लिए विवश करने लगता है।

'एक से दस' योजना के अनुसार जिन दस व्यक्तियों तक युग-निर्माण योजना की उत्कृष्ट विचारधारा पहुँचाने का उत्तरदायित्व हम अपने ऊपर ले लेंगे, उनकी दृष्टि में अपना स्वरूप निश्चय ही एक परमार्थी और लोकसेवक का होगा। जो परामर्श बार-बार उन्हें देते रहेंगे उस पर स्वयं भी अमल करना होगा। इस प्रकार एक प्रकार की लोक-लाज के बंधन बँधेंगे और विवश होकर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए वैसा ही बनना पड़ेगा जैसा कि दूसरों से बार-बार कहते हैं। किसी से सम्बन्ध न रखने वाला कुछ भी कहता रह सकता है पर धर्म-प्रचारक का रूप, चाहे १० व्यक्तियों तक ही सीमित क्यों न हो, [illegible] बनेगा तो एक ऐसी लोक-लाज सम्मुख आ जाती है जो कुमार्ग पर जाने से बलपूर्वक रोके रखती है और [illegible] की अपेक्षा अपने को अधिक आदर्शवादी रहने [illegible] करती है। संजीवन-विद्या की शिक्षा दूसरों [illegible] साहस करने वाला व्यक्ति क्या उन आदर्शों से अपने आपको अछूता रख सकता है? मेंहदी [illegible] के हाथ जिस प्रकार अपने आप ही लाल [illegible] प्रकार सद्ज्ञान प्रचार का थोड़ा-सा भी [illegible] से उसका लाभ अपने को तो मिलेगा ही।

अपनी निश्चित आजीविका में से एक निश्चित अंश ज्ञान-दान के लिए लगाते रहने से उस पैसे से समीपवर्ती क्षेत्र में पाठशालाएँ, पुस्तकालय, नवयुग केन्द्र, प्रचार-सामग्री, वितरण, शिविर-सम्मेलन आदि की व्यवस्था में उसे लगाया जाय तो दूसरे लोग सच्चे अध्यात्म की-जीवन विद्या का प्रकाश प्राप्त कर सकेंगे और उसका पुण्यफल भी हमको प्राप्त होगा। विद्या के माध्यम से सेवा और सेवा कार्यों में दान का उपयोग नित्य होते रहने से यह स्वर्ण-सुयोग अपनी आत्मा को निरन्तर परोपकारी बनाये रखने में सहायक होगा। ऐसे कार्यों में धन और समय दोनों का सम्मिलित प्रयोग होता रहे, तो मनुष्य की परमार्थ भावनाएँ धीरे-धीरे अवश्य विकसित होंगी।

सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन में जो अविवेकी जनता से टक्कर लेनी पड़ती है उससे अपना आत्मबल और साहस बढ़ता है। अनीति और अविवेक का प्रतिकार करने में जो कष्ट उठाना पड़ता है- उपहास, तिरस्कार, विरोध, आक्रमण, प्रतिशोध सहना पड़ता है उससे सत्यनिष्ठ व्यक्ति का धैर्य, शौर्य, तेज-ओज और आत्मबल निरन्तर बढ़ता है।

दहेज, मृत्युभोज, पशु-बलि, बाल विवाह, अनमेल विवाह, कन्या-विक्रय, नशेबाजी, माँसाहार, भिक्षा-व्यवसाय, छूआछूत, पर्दा, जेवरों में धन की बरबादी, भूत-पलीत की पूजा, अन्न की जूठन छोड़ना, अश्लीलता, जुआ, सट्टा आदि अनेक सामाजिक कुरीतियाँ हमारे यहाँ प्रचलित हैं, उनको हटाकर स्वस्थ परम्पराएँ स्थापित करने में रूढ़िवादियों के साथ पग-पग पर टकराना पड़ सकता है। यह भी संभव है कि इस टकराव में अपने को क्षति उठानी पड़े। धर्म के लिए कष्ट उठाने का अवसर आने से मनुष्य के शौर्य और साहस की परीक्षा होती है और उसका चरित्र उज्ज्वल बनता है।

वृक्ष-वनस्पति, शाक-भाजी, फल-फूल, जड़ी-बूटी की हरियाली लगाने से नेत्रों की शीतलता और रोशनी बढ़ती है। ऑक्सीजन अधिक उत्पन्न होने से आरोग्य लाभ होता है, सात्विक खाद्य द्वारा सात्विक बुद्धि भी उत्पन्न होती है। सुगंध से मस्तिष्क को बल मिलता है। देश में अन्न की जो कमी पड़ रही है। उसकी आपूर्ति शाकों के उत्पादन से हो सकती है। जड़ी-बूटियों की कृषि होने लगे तो आयुर्वेद का खोया हुआ गौरव पुनः स्थापित होने लगे। आजकल जो सड़ी गली, नकली, जड़ी-बूटियाँ बाजार में मिलती हैं उनका प्रभाव भी वैसा ही नाममात्र को होता है। तुलसी का उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगे और घर-घर में उसकी पूजा करने का नियम हो जाय तो भी आरोग्य और सात्विकता की बहुत वृद्धि हो। जहाँ वृक्ष अधिक होते हैं वहाँ वर्षा भी अधिक होने का प्रतिपादन वैज्ञानिकों ने किया है। पशु-पालन के लिए भी हरियाली की वृद्धि आवश्यक है। भवन-निर्माण, जलावन, फर्नीचर आदि सभी कार्यों में लकड़ी चाहिए। पशु की भाँति वृक्ष भी हमारा बहुत उपकार करते हैं, इसलिए उनका उत्पादन और वृद्धि करने के लिए भी युग-निर्माण योजना में विशेष रूप से बल दिया गया है। इस कार्यक्रम को अपनाने की जिसकी स्थिति हो वे सचमुच पुण्य-प्राप्ति के साथ-साथ समाज की बड़ी सेवा भी कर सकते हैं। जिनके पास कृषि योग्य भूमि है उन्हें तो इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। गाँवों में शाक-भाजी की भारी कमी देखी जाती है उसका कारण हमारी उपेक्षा बुद्धि ही है। भारत भूमि को हरी-भरी, शस्य-श्यामला बनाने के लिए हमें इस पुण्य कार्य के लिए, अवश्य अपनी स्थिति के अनुसार प्रयत्न करना चाहिए।

गौ, भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए मेरुदण्ड के समान है। गोबर की खाद और बैल की शक्ति के बिना इस गरीब देश का काम ट्रेक्टरों और रासायनिक खाद से पूरा नहीं हो सकता। दूध के आवश्यक गुण गौ-दुग्ध में ही होते हैं। संसार भर में इसे ही उपयोगी माना गया है और हर जगह दूध के लिए गाय ही पाली जाती है। भैंस के दूध में घी भले ही ज्यादा हो पर गुण की दृष्टि से वह बहुत ही गया-बीता है। धर्म-कार्यों में भी गौ घृत का ही विधान है। हमारा दुर्भाग्य है कि गौ-वंश का स्तर भी गिरता जा रहा है और उसकी हत्या भी तीव्र गति से हो रही है। हमें गौ-पालन और गौ-संरक्षण के लिए ठोस कदम उठाने चाहिए, जिससे कृषि और दूध की समस्या का हल निकल सके। गाय में जो आध्यात्मिक सूक्ष्म विशेषताएँ हैं वे हमारे भावनास्तर एवं अन्तःकरण को सन्मार्ग पर प्रेरित करने में बड़ी सहायक होती हैं। भगवान कृष्ण ने गोपाल बनकर, गोवर्द्धन का कार्यक्रम ऊँचा उठाकर संसार का भारी उपकार किया था। इस उपकारी कार्यक्रम में हमें भी शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिए।

मनुष्य के सोलह संस्कार यदि ठीक प्रकार मनाये जा सकें तो उसके अन्तःकरण में श्रेष्ठता की ओर अग्रसर करने वाली छाप पड़ेगी। पर्व-त्यौहारों को मिल-जुलकर मनाया जा सके तो उससे सामाजिक जीवन को श्रेष्ठ बनाने की प्रेरणा मिलेगी। जन्मदिन मनाने से मनुष्य गौरव और सम्मान का अनुभव करता है और शेष जीवन का सदुपयोग करने की प्रेरणा मिलती है। इन समारोहों को धार्मिक कर्मकाण्ड के साथ किया जाय और साथ ही सद्-विचार, प्रेरणा, जीवन-विद्या, धर्म, नीति आदि को भी माध्यम बनाया जाय तो सर्वसाधारण में श्रेष्ठ भावनाओं की वृद्धि करने में काफी सहायता मिल सकती है।

मंदिर, मठों का सदुपयोग होने लगे तो ये सांस्कृतिक पुनरुत्थान, युग-परिवर्तन और समाज की नवरचना के महत्वपूर्ण केन्द्र बन सकते हैं। गायत्री मंत्र लेखन संग्रह करके ये युग-निर्माण-मन्दिर स्थापित किये जा सकते हैं। जहाँ अपनी विचारधारा के दस-पाँच व्यक्ति भी हों, वहाँ वे मिल-जुलकर 'युग-निर्माण मित्र-मण्डल' चला सकते हैं और उसके द्वारा उस क्षेत्र में प्रेरणा और प्रकाश प्रदान करने का बहुत काम हो सकता है। नवरात्रि में ९ दिन के शिक्षण शिविर चलाये जा सकते हैं। उनमें व्यावहारिक

जीवन को अध्यात्मवादी बनाने का प्रशिक्षण दिया जाया करे तो बौद्धिक एवं सामाजिक क्रान्ति के लिए पृष्ठभूमि तैयार हो सकती है।

साहित्यकार नवयुग के अनुरूप धर्म और व्यवहार का समन्वय सिखाने वाला साहित्य लिखें, प्रकाशक इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए छापने एवं बेचने की व्यवस्था करें, चित्रकार ऐसे ही सद्प्रेरणाप्रद चित्र बनावें, कवि और गायक अपनी कला द्वारा जन-साधारण में आदर्शवाद और कर्तव्यपरायणता की उमंगें उठावें। अभिनेता ऐसे श्रेष्ठ और मनोरंजक साधन प्रस्तुत करें जो जन-मानस को ऊँचा उठावें। इसी प्रकार व्यापारी अपना व्यापार ऐसी सच्चाई और जनहित की भावना से करें कि उससे जनता का स्तर ऊँचा हो सके। ऐसे प्रेस हर शहर में होने चाहिए जो युग-निर्माण कार्यक्रम के केन्द्र रहें और इसी विषय का साहित्य प्रकाशित करते रहें। सदियों की गुलामी के बाद जगी हुई भारतीय जनता की बौद्धिक भूख को बुझाने के लिए ज्ञान-उपकरणों की बड़ी मात्रा में आवश्यकता है। विज्ञजनों को इसकी पूर्ति के लिए तत्पर होना चाहिए।

अध्यापक और चिकित्सक इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं, उनके पास जो रोगी आते हैं उन्हें वे औषधि के साथ-साथ पथ्य-रूप में उपासना, आत्मशोधन और सेवा कार्य करते रहने की भी शिक्षा दे सकते हैं। यह उनके पूर्व कर्मों का निराकरण करने वाला एक प्रायश्चित होगा, जिससे आगामी जीवन सुखी बन सकेगा। अध्यापक अपने छात्रों को शिक्षा के साथ-साथ चारित्रिक और नैतिक शिक्षा भी दे सकते हैं। बच्चों के अभिभावकों से भी उनका कुछ न कुछ सम्पर्क और प्रभाव भी रहता है। इस परिचय के आधार पर वे अभिभावकों को भी यह प्रेरणा दे सकते हैं कि बच्चों को सुधारने की दृष्टि वे स्वयं भी अपनी प्रवृत्तियों में सुधार करें। बड़े अधिकारी अपने छोटे मातहतों को, पुरोहित अपने यजमानों को, दुकानदार अपने ग्राहकों को, मालिक मजदूरों को अपने परिचय और प्रभाव का उपयोग करके सुधारने का प्रयत्न करते रहें तो इससे बहुत लाभ हो सकता है। इससे उनके दोष घटेंगे और सद्गुणों का विकास होगा।

जैसे पीछे बतलाया जा चुका है युग-निर्माण योजना तीन भागों में विभक्त है-उपासना, आत्मशोधन और सेवा। इनमें से गायत्री उपासना की शिक्षा कई वर्षों से हम देते आ रहे हैं। उच्चस्तरीय शिक्षा भी पंचकोशी साधना के रूप में चल रही है। योजना में सर्वसाधारण के लिए सामान्य उपासनाक्रम बतलाया गया है। इसे कार्यक्रम का एक अनिवार्य अंग मानना चाहिए। विशेष उपासना की विधि गायत्री-महाविज्ञान में मौजूद है और उसकी शिक्षा भी अधिकार भेद से दी जा रही है। शेष आत्मशोधन और सेवा कार्यों से अधिकांश कार्यक्रम सम्बन्धित है। आत्म-कल्याण का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए इन तीनों को ही पूर्ण करना पड़ता है। सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप समाज की स्थिति सुधारने और व्यक्ति को अपना जीवन लक्ष्यपूर्ण करने के लिए एक सन्तुलित और समन्वयपूर्ण कार्यक्रम युग-निर्माण-योजना के रूप में जनता के सामने रखा गया है, जिसकी फलश्रुति निश्चय ही उज्ज्वल भविष्य के रूप में सबके सामने आयेगी।

अपना विशिष्ट कर्तव्य और उत्तरदायित्व

युग परिवर्तन के जिस महान् उद्देश्य को लेकर हम लोग विश्व के एक ऐतिहासिक अभियान में संलग्न हैं, उसकी सफलता हमारी निष्ठा, तत्परता और परमार्थ बुद्धि की गहराई पर निर्भर है। जितना ही अधिक हमारा मनोयोग, पुरुषार्थ और त्याग, बलिदान होगा, लक्ष्य उतना ही समीप आता चला जायगा।

भगवान ऐसे महान् उत्तरदायित्वों की पूर्ति कुछ विशिष्ट आत्माओं के कंधों पर डालता है। युग-निर्माण परिवार के सदस्य-गण एक ऐसी ही सुदृढ़ शृंखला की कड़ियाँ हैं, जिन्हें अपने पूर्व संचित उच्च संस्कारों के कारण यह गौरव प्राप्त हुआ है कि वे भगवान की इच्छापूर्ण करने वालों की अगली पंक्ति में खड़े होने का सौभाग्य और गर्व-गौरव प्राप्त कर सकें। इस उत्तरदायित्व का भार अपने कन्धों पर जब इच्छा, अनिच्छा से आ ही गया तो उचित यही है कि उसकी पूर्ति में तत्परतापूर्वक जुट जाय।

इस सन्दर्भ में हमें यह अनुभव करना ही होगा कि केवल शरीर- रक्षा, परिवार-पोषण और धन-उपार्जन जैसे कार्यों में ही अपना जीवन खपा देने वाले लोगों में ही अपनी गणना होती रहे, यह उचित न होगा। हमारे उत्तरदायित्वों और कर्तव्यों की शृंखला में एक विशेष कड़ी परमार्थ की भी जुड़ी रहनी चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जिनमें विचारणा की भावना और उत्कृष्टता के जितने अंश मौजूद हैं, उनके लिए उतना ही अधिक उत्तरदायित्व युग परिवर्तन है। उच्च स्तरीय आत्माओं के लिए आज की स्थिति में यही सबसे बड़ा परमार्थ है।

अन्न, जल, बल, दवा, पैसा आदि देकर चन्द लोगों को अकिंचन, सी सामयिक सहायता कर सकते हैं पर किसी का वास्तविक दुःख स्थायी रूप से तब तक नहीं मिटाया जा सकता, जब तक कि उनको आन्तरिक दोष-दुर्गुणों से छुटकारा न मिले। समस्त कठिनाइयाँ और असफलताएँ मनुष्य के अपने गुण, कर्म, स्वभाव में त्रुटियाँ रहने के कारण प्रस्तुत होती हैं मूल कारण का निवारण न हो तो बाह्य सहायता ऐसी ही है जैसी जलती भट्टी पर रखे हुए रक्त-वर्ण अंगारे पर पानी की थोड़ी-सी छिड़कना। बाहरी सहायता तनिक देर की सु

भी दे तो वह आजीवन तो नहीं चल सकती। समस्याएँ व्यक्ति को स्वयं ही हल करनी पड़ती हैं इसके लिए उसे अनेक दोष-दुर्गुणों को सुधार कर गतिविधियों का निर्धारण ऐसा करना पड़ता है, जिससे अभीष्ट साधन-सुविधाओं को वह स्वयं ही उत्पन्न एवं उपलब्ध कर सके। इस मार्ग पर चलने की प्रेरणा, स्फूर्ति, दिशा, सुविधा एवं रोशनी प्रदान करना यही सबसे बड़ा परमार्थ है। प्राचीनकाल के साधु-ब्राह्मण इसी परमार्थ में अपना सारा जीवनक्रम समर्पित करते थे। कार्य की गुरुता और उपयोगिता को देखते हुए उन्हें भूसुर की उपाधि ठीक ही दी जाती है। उनका देवताओं जैसा सम्मान ठीक ही किया जाता था।

अपने युग समय की विभीषिकाएँ, विषमताएँ, विपत्तियाँ और दुर्दशाएँ इसलिए उत्पन्न हुई हैं कि उस ब्रह्म धर्म का लोप हो गया, सन्मार्गगामिता का लोकशिक्षण कर सकने वाले लोगों ने अपने कर्तव्यों से आँखें मूँद ली। धर्म के नाम पर ऊटपटांग बकने वाले और कूड़ा-करकट बखेरने वाले तथाकथित प्रवचनकर्ता तो गली-कूँचों में पड़े हैं, बरसाती मेढकों की तरह उनकी कान फाड़ने वाली बकवास कहीं भी सुनी जा सकती है पर जीवन दर्शन का तात्त्विक स्वरूप समझा सकने वाले और जनमानस को कुमार्ग से मोड़कर सन्मार्ग पर ला सकने की क्षमता रखने वाले मनीषी ढूँढे नहीं मिलते । इस अभाव की पूर्ति करना आज के युग की सर्वोपरि आवश्यकता और सर्वोपरि सेवा है। अपने परिवार के हर प्रबुद्ध परिजन को इसी आवश्यकता की पूर्ति में लगाया गया है।

ज्ञानयज्ञ इस युग का सबसे बड़ा परमार्थ है। जनमानस की दिशा परिवर्तन करके ही वर्तमान विपत्तियों और उलझनों का हल निकाला जा सकता है। ज्ञान-यज्ञ का प्रयोजन लोक-मानस का भावनात्मक नव-निर्माण करना है विवेक जागरण का व्यापक आन्दोलन ही इन विपन्नताओं को सम्पन्नताओं में बदलने और समस्याओं का समाधान करने में समर्थ हो सकता है। इसलिए परिजनों को आग्रह और अनुरोधपूर्वक यह प्रेरणा दी जाती रही है कि वे अपने समय, श्रम, ज्ञान, प्रभाव एवं धन का एक अंश ज्ञान-यज्ञ के लिए नियमित रूप से लगाते रहें। हम में से हर एक का यह परम पुनीत कर्तव्य है। इसका पालन किया ही जाना चाहिए।

इस दिशा में बरती हुई उपेक्षा, युग की पुकार और भगवान् की आकांक्षा का अपमान, तिरस्कार करना है। आत्मा और परमात्मा की अवज्ञा करके ही इस परमार्थ मुँह मोड़ा जा सकता है। जिन्हें आध्यात्मिक कर्तव्यों और देश, धर्म, समाज,संस्कृति के प्रति उत्तरदायित्व का ज्ञान न हो, वे ही पेट पालने में सारा जीवन खपाये रह सकते हैं। उन्हीं के मुँह से फुरसत न मिलने जैसा भोंड़ा बहाना शोभा दे सकता है। जिस कार्य को आवश्यक समझा जाय उसके लिए फुरसत न मिले जैसी ओछी बात कही ही नहीं जा सकती। फुरसत उन्हीं कार्यों लिए नहीं मिलती जिन्हें बेकार या बेगार समझते हैं। जो काम जितना आवश्यक माना जाता है उसे उतनी ही प्राथमिकता मिलती है। परमार्थ प्रयोजनों को मन से प्राथमिकता मिले तो फुरसत न मिलने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता ।

युग-निर्माण-योजना ने ज्ञान-यज्ञ की जिस मशाल को जलाया है । उसे प्रज्वलित एवं प्रदीप्त ही रहना चाहिए। इस अन्धकार युग में यह प्रकाश ही आशा की आजीवन ज्योति है। व्यक्ति और समाज के उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना अपने इस अभियान की सफलता पर निर्भर है । इसलिए हममें से किसी को भी इस दिशा में अन्यमनस्क नहीं होना चाहिए। उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। कितने अनावश्यक और अनुपयोगी कार्यों में हमारा बहुत सा समय, मनोयोग एवं धन बर्बाद होता रहता है क्या यह उचित न होगा कि उसे रोककर, बचाकर उस शक्ति को ज्ञान-योग के लिए नियोजित किया जाय ? यदि ऐसा विवेक और साहस अपने में जगाया जा सके तो हममें से हर अयोग्य और निर्धन समझा जाने वाला व्यक्ति भी अनुभव करेगा कि उसके पास व्यक्ति और समाज को देने के लिए बहुत कुछ साधन मौजूद हैं।

मनुष्य यदि अपना स्वरूप समझे तो वह दरिद्री नहीं माना जा सका। परमात्मा का पुत्र अभावग्रस्त कैसे होगा ? धन न सही पसीना और भावना तो हर किसी के पास है। मस्तिष्क, हृदय और हाथ-पैर से रहित कोई नहीं। यह साधन इतने महान हैं कि बेचारा धन इनकी तुलना में तुच्छ है- भले ही उसकी तोल पर्वत के समान क्यों न हो। ज्ञान-यज्ञ के लिए धन की नहीं भावना की आवश्यकता है। इस दीपक में निष्ठा का घृत जलाया जाता है और यदि सच्चे मन से अपना घर टटोला जाय तो यह पूँजी हममें से हर एक के पास प्रचुर मात्रा में दिखाई देगी।

जन-जागरण के लिए, लोक-मंगल के लिए, नव-निर्माण के लिए हमें कुछ करना ही चाहिए। युग की आवश्यकता और पुकार की पूर्ति के लिए हमारा योगदान होना ही चाहिए। आवश्यक कार्यों की सूची में हमें परमार्थ को भी सम्मिलित रखना चाहिए। युग-निर्माण योजना द्वारा प्रादुर्भूत अपने ज्ञान-यज्ञ में हमें निष्ठा और तत्परता के साथ सम्मिलित रहना चाहिए।

ज्ञान-यज्ञ के लिए समय-दान

जिस प्रकार स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म प्राण की शक्ति अधिक मानी जाती है उसी प्रकार स्थूल यज्ञों की अपेक्षा सूक्ष्म यज्ञ की महत्ता असंख्य गुनी अधिक होती है। घृत, सामिग्री, समिधा आदि के द्वारा सम्पन्न होने वाले यज्ञ 'स्थूल' कहलाते हैं और ज्ञान-यज्ञ को सूक्ष्म कहा गया है। यों स्थूल यज्ञों की महिमा भी कम नहीं है, पर ज्ञान यज्ञ तो सर्वोपरि है। गीता में भगवान ने कहा है कि ज्ञान से बढ़कर इस संसार में पवित्र और कुछ नहीं है। निस्संदेह आत्मा को प्रकाश से परिपूर्ण बनाने के लिए

ज्ञान ही एकमात्र आधार होता है। अज्ञान को ही माया एवं भव बन्धन के नाम से पुकारते हैं और ज्ञान को मुक्ति का आधार माना गया है।

स्कूली पढ़ाई जिसमें गणित, भूगोल, इतिहास, साहित्य आदि की जानकारी कराई जाती है; शिक्षा कहलाती है, और जीवन का स्वरूप, उसका लक्ष, कर्तव्य एवं दृष्टिकोण निर्धारित करने संबंधी विवेचना को 'ज्ञान' कहते हैं। ज्ञान को ही अमृत कहते हैं। आत्मा का स्वरूप समझकर तदनुरूप गतिविधियाँ अपनाने से मनुष्य महापुरुष, ऋषि, दृष्टा और अवतार बन जाता है। आत्मोत्कर्ष की सीढ़ी ज्ञान ही तो है।

ज्ञान की आराधना इस विश्व का सबसे श्रेष्ठ सत्कर्म है। इसीलिए ब्रह्म-दान एवं ब्रह्म-भोज की महत्ता अत्यधिक मानी गई है। अन्न से शरीर की भूख बुझती है, ज्ञान से आत्मा की क्षुधा शान्त की जाती है, अन्न से शरीर पुष्ट होता है और ज्ञान से आत्मबल बढ़ता है। इसलिए अन्न, आदि के दानों की अपेक्षा ज्ञान-दान का पुण्य असंख्य गुना अधिक माना गया है। अन्न आदि के दान का प्रतिफल जीव को अन्य योनियों में भी मिल सकता है। अच्छा भोजन तो पशु-पक्षी भी कर लेते हैं, पर ज्ञान का प्रतिफल मनुष्य योनि में ही प्राप्त हो सकता है, इसलिए ज्ञान-दान करने वालों को अपने पुण्य का प्रतिफल इसी रूप में प्राप्त करने के लिए मनुष्य योनि में ही अगला जन्म लेने का अधिकार तो मिल ही जाता है।

अन्न, जल, धन आदि से शरीर की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। कुछ समय के लिए शारीरिक असुविधाएँ ही दूर होती हैं, इसलिए उनका पुण्य फल भी उतना ही सीमित माना गया है। ज्ञान-दान से आत्म-विकास होता है तथा संसार में प्रेम, पुण्य, शान्ति और समृद्धि की बढ़ोत्तरी होने की व्यवस्था बनती है। इतने महत्वपूर्ण कार्य का प्रतिफल भी उसी के अनुरूप होना चाहिए। इसीलिए सब दानों में ब्रह्म-दान को विशेष कहा गया है। सब पुण्यों में 'ब्रह्मभोज' की गरिमा अधिक है। सब दानियों में ब्रह्मदान की अधिक प्रशंसा होती है। ब्राह्मण लोग निर्धन होते हुए भी निरन्तर ब्रह्मदान में लगे रहने के कारण 'भूसुर'-पृथ्वी के देवता जैसी गौरवास्पद पदवी प्राप्त करते थे। इस ब्रह्म कर्म में रत रहने वाले ब्राह्मणों को भोजन कराने का भी पुण्य इसीलिए था कि उस अन्न से निर्वाह होने पर वे शरीर से अधिक ब्रह्म-कर्म कर सकते थे। ब्रह्म-का अर्थ 'ज्ञान' की है। 'ज्ञान' की उपासना 'ब्रह्म' की उपासना के रूप में ही की जाती है। आत्मा में ज्ञान का प्रकाश बन कर ही ब्रह्म का अवतरण होता है।

जिस प्रकार दैनिक जीवन में लौकिक और पारलौकिक दृष्टि से हम अनेक कार्य नियमित रूप से करते हैं उसी प्रकार ज्ञान-यज्ञ के लिए भी कुछ समय निर्धारित करना चाहिए। उत्कृष्ट जीवन के लिए प्रेरणा देने वाले सद्ज्ञान को स्वयं पढ़ना, समझना और मनन-चिन्तन करना आत्म-कल्याण की दृष्टि से आवश्यक है। सद्भावनाओं की शिक्षा दूसरों को देना परोपकार की सबसे पुनीत प्रक्रिया है। इन दोनों का समावेश ज्ञान यज्ञ में होता है। प्रेरणाप्रद सद्विचारों की सम्पत्ति अपने लिए जमा करना और उस श्रेय:साधन से दूसरों को लाभान्वित बनाना इतना श्रेष्ठ सत्कर्म है कि उसकी तुलना और किसी शुभ कार्य से नहीं हो सकती। ज्ञान यज्ञ की तुलना में अन्य सब यज्ञ तुच्छ ही माने जा सकते हैं।

ज्ञान-यज्ञ में समय-रूपी घृत की आहुतियाँ देनी पड़ती हैं। जिस प्रकार बिना घृत होमे अग्निहोत्र सम्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार समय-दान दिये बिना कोई ज्ञान-यज्ञ का होता भी नहीं हो सकता। अग्निहोत्र में कुछ न कुछ धन खर्च करना ही पड़ता है उसी प्रकार ज्ञान-यज्ञ में समय लगाये बिना काम नहीं चल सकता। फुरसत न मिलने का बहाना करके इस सत्कर्म के लाभ से वंचित ही रहना पड़ता है। स्वाध्याय के लिए, मनन चिन्तन के लिए कोई तो समय चाहिए ही। दूसरों को प्रेरणा देने के लिए उनके पास जाना, बैठना, चर्चा करना समय लगाने पर ही संभव होगा। इसलिए शरीर के लिए, कमाना-खाने की तरह ही आत्मा के लिए ज्ञान-यज्ञ में कुछ समय लगाना भी हमें आवश्यक ही नहीं अनिवार्य समझना चाहिए।

अन्य शुभ कार्य धन देने से भी हो सकते हैं। धर्मशाला, मंदिर, कुआँ, तालाब, सदावर्त, प्याऊ, कथा, पाठ आदि के आयोजन पैसा खर्च करने से बिना समय लगाये भी हो सकते हैं पर कुछ काम ऐसे हैं जिनके लिए स्वयं ही कष्ट उठाना पड़ता है। अपने मुँह से खाये बिना पेट नहीं भरेगा, स्वयं पढ़े बिना विद्या नहीं आवेगी, स्वास्थ्य सुधारने के लिए आप ही व्यायाम करना पड़ता है। यह कार्य दूसरों से नहीं कराये जा सकते। इसी प्रकार ज्ञानयज्ञ के लिए अपनी अभिरुचि, अपनी श्रद्धा, अपना श्रम, अपना समय लगाना आवश्यक है।

युग-निर्माण की– आत्म-निर्माण की पुण्य-प्रक्रिया का श्रीगणेश हमें आज से ही, अभी से ही प्रारम्भ करना चाहिए। इसका प्रथम चरण है ज्ञान-यज्ञ का आयोजन। भोजन की तरह ही सद्विचारों की धारणा को एक अनिवार्य आध्यात्मिक आवश्यकता समझा जाय और उसकी उपेक्षा किसी भी बहानेबाजी का सहारा लेकर न की जाय। यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि समय का उपयोग पेट के धंधे में करते रहने में ही नहीं है। भौतिक सम्पत्ति से सद्ज्ञान की दैवी-सम्पत्ति का महत्व तनिक भी कम नहीं है। पैसे की कमाई ही दौलत नहीं कहलाती । सच्ची दौलत तो आन्तरिक सद्वृत्तियों का बढ़ना ही है। नश्वर सम्पत्ति की तुलना में शाश्वत विभूतियों का मूल्यांकन कम नहीं किया जाना चाहिए।

अपने आपको सद्विचारों की दैवी-सम्पत्ति से समृद्ध बनाने के लिए अपने परिवार को सुसंस्कृत एवं सुविकसित बनाने के लिए, समाज में सभ्यता, सदाचार, विवेकशीलता जाग्रत करके स्नेह और सदाचार का

वातावरण उत्पन्न करने के लिए एक ही उपाय हो सकता है और वह है-'सद्भावनाओं की वृद्धि'। जिस प्रकार प्रयत्न करने से खेतों और कारखानों में पैदावार बढ़ाई जा सकती है, उसी प्रकार मनुष्यों के मस्तिष्कों और अन्तः-करणों में भी सद्विचारों और सद्भावों का उत्पादन विशाल परिमाण में किया जा सकता है। सच्ची लगन वाले मनुष्य निष्ठापूर्वक इस कार्य को अपने हाथ में लें तो आज की स्थिति बदल सकती है और स्वार्थपरता का शुष्क श्मशान परमार्थ की सुरम्य हरियाली से भरा उद्यान बन सकता है।

ज्ञान-यज्ञ का आयोजन इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होना चाहिए। सवश्रेष्ठ सत्कर्म के रूप में हममें से प्रत्येक को इसे एक अत्यन्त आवश्यक धर्म कर्तव्य के रूप में अपनाना चाहिए। 'अखण्ड-ज्योति' के प्रत्येक सदस्य को ज्ञान-यज्ञ का होता बनना चाहिए। कुछ नियत निर्धारित समय नियमित रूप से हमें इस कार्य के लिए निकालना ही चाहिए और उसका उपयोग अपने प्रभाव क्षेत्र में सद्भावनाएँ उत्पन्न करने के लिए करना चाहिए। युगारंभ का श्रीगणेश हमारे इसी शुभ-संकल्प के साथ होना चाहिऐ। प्रत्येक सत्कार्य के आरंभ में जिस प्रकार हवन-पूजन आवश्यक होता है, युग परिवर्तन का शुभारंभ करते हुए हम ज्ञान-यज्ञ का आयोजन करें और उसमें सक्रिय रूप में भाग लें तो ही काम चलेगा।

युग निर्माताओं की क्षमता इस प्रकार विकसित होगी

लोहे का टुकड़ा चाकू, तलवार या फरसे की भूमिका तब सम्पादित करता है, जब उस पर धार धरी जाती है, हीरे को यदि छीला, तराशा न जाये तो न उस पर चमक आयेगी, न मूल्य बढ़ेगा। मनुष्य की मूलभूत प्रतिभा एवं महत्ता को विकसित एवं प्रखर बनाने के लिए अभीष्ट प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। अन्य कार्यों में भले ही किसी हद तक काम चल जाय पर सेना के लिए तो इसकी अनिवार्य आवश्यकता रहती है । विचार-क्रान्ति, नैतिक-क्रान्ति एवं सामाजिक-क्रान्ति के त्रिविधि मोर्चों पर लड़ने वाली सृजन सेना का- युग वाहिनी का महत्व स्थल सेना, जल सेना और वायु सेना से किसी भी प्रकार कम नहीं। ध्वंस से सृजन में अधिक त्याग, मनोबल की, सूझ बूझ और श्रद्धा की आवश्यकता पड़ती है। ध्वंस से सृजन का महत्व अधिक है और वस्तुओं से भावना का मूल्य अधिक है। भावनात्मक नवनिर्माण में संलग्न सृजन सेना के कंधों पर दुहरा उत्तरदायित्व है। वह सशस्त्र सेना की तरह अवांछनीयता के दमन करने तक ही सीमित नहीं वरन् देवत्व को विकसित करने की भी उसकी जिम्मेदारी है।

ऐसी उपयोगी जन-शक्ति को संगठित करने की ही नहीं प्रशिक्षित करने की भी आवश्यकता है। अभियान के क्रमशः एक के बाद एक उठते हुये कदमों की एक नई श्रृंखला क्रमबद्ध प्रशिक्षण क्रम में अब और जुड़ गई है यों वह प्रक्रिया चलती किसी रूप में आरम्भ से ही रही है पर अब उसे सुव्यस्थित और सुनियोजित रूप दे दिया गया है। इस शुभारम्भ का श्रीगणेश १ जुलाई, १९७२ से ही हो गया था।

युग निर्माण अभियान के बाह्य कार्यक्षेत्र (१) सुधारात्मक (२) रचनात्मक (३) संघर्षात्मक शत-सूत्री क्रिया-कलापों में विभाजित हैं। उसके अन्तर्गत कार्यक्षेत्र से संबद्ध लोगों के व्यक्तित्व को निर्मल, संतुलित एवं सुविकसित करना भी है। समाज सेवा वह कर सकता है जो अपनी सेवा आप ही कर रहा हो। समाज को समुन्नत बनाने में वे ही समर्थ होते हैं जो अपने गुण, कर्म स्वभाव को स्वयं ही विकसित कर सकें हैं। इमारतें ईंट चूने से बन सकती हैं। उनके लिए लोहा, लकड़ी, श्रम आदि को पैसा खर्च करके खरीदा जा सकता है। किसी धनी व्यक्ति के लिए विशाल भवन बना लेना सरल है, पर समाज निर्माण का उत्तरदायित्व सँभालने वालों को वह कार्य आत्मनिर्माण से आरम्भ करना पड़ता है। अपने गुण कर्म, स्वभाव को परिष्कृत करना होता है। विचारों में आदर्शवादिता और क्रियाकलाप में उत्कृष्टता का समुचित समावेश करना होता है। तभी लोकसेवा का व्यक्तित्व आकर्षक एवं प्रामाणिक बनता है। इस तथ्य को समझते हुये यदि सार्वजनिक कार्यकर्ताओं ने लोकनिर्माण और आत्म-निर्माण के दोनों पहिये समान रूप से सही रखे होते तो प्रगति सही गति से हुई होती और लम्बी मंजिल पार कर ली गई होती।

प्रस्तुत तीन रूप की शिक्षा योजना का आवश्यक अंग वह प्रशिक्षण है जिसमें लोकसेवा के लिए अपने आपको सही उपकरण के रूप से कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है। अपनी प्रामाणिकता से कैसे आत्मसंतोष के साथ-साथ लोकश्रद्धा का भाजन बना सकता है। गुण, कर्म, स्वभाव के परिष्कृत करने के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक सभी पक्ष उस शिक्षा योजना में सम्मिलित किये गये हैं और आशा की गई है कि यदि शिक्षा को दीक्षा के रूप में ग्रहण किया गया तो शिक्षार्थी तपे सोने की तरह निखरा हुआ व्यक्तित्व लेकर विदा होगा और उन सफलताओं को प्राप्त करेगा, जिसकी आशा की गई है।

प्रचारात्मक क्षेत्र में वाणी का उपयोग प्रधान रूप से होता है। व्यक्तिगत परामर्श-गोष्ठियों में विचार-विनिमय तथा सभा-सम्मेलनों में प्रवचन, व्याख्यान करने की आवश्यकता पड़ती है। यह एक महत्वपूर्ण विद्या है। वाणी की शक्ति शस्त्रों से अधिक है जो उसका उपयोग ठीक से जानता है उसे सार्वजनिक क्षेत्र का बढ़िया तीरन्दाज या तोपची कह सकते हैं। शिक्षण में न केवल वक्तृत्व कला के सिद्धान्त ही समझाये जायेंगे वरन् उनका अभ्यास भी कराया जायगा।

इन दिनों विज्ञान की प्रगति ने वक्तृत्व कला को अन्य आकर्षक और प्रभावशाली उपकरणों के साथ जोड़कर उसे और भी सशक्त एवं व्यापक बना दिया है। हमें इन उपकरणों का उपयोग करने और साज-सँभाल रखने की भी जानकारी प्राप्त करनी होगी। लाउडस्पीकर समय की आवश्यकता है, बड़ी जनसंख्या को अपने विचार सुनाने के लिए इसके बिना काम नहीं चल सकता। किराये के लाउडस्पीकर कब तक और कहाँ तक लिए जायेंगे। हर शाखा को यह तो अपना ही रखना होगा और कार्यकर्ताओं को उसका उपयोग रख-रखाव तथा सुधारना सीखना होगा अन्यथा यह आये दिन खराब होते रहेंगे और काम में कठिनाई उत्पन्न होती रहेगी।

स्लाइड प्रोजेक्टर प्रकाश चित्र-यन्त्र हाथ में लटका कर ले जाया जाने वाला सिनेमा है। रंगीन चित्र दिखाते जायँ और लाउडस्पीकर से संदर्भ समझाते जायँ। छोटे रूप में उससे सिनेमा जैसा मनोरंजन भी होता है और अभीष्ट उद्देश्य का प्रशिक्षण भी। अकेला व्यक्ति इस माध्यम से पूरा प्रचारक बन सकता है। दिन में जनसम्पर्क, रात में सिनेमा। साइकिल पर सिनेमा और लाउडस्पीकर, फिट। सवारी भी और साधन भी। व्यक्ति घर से निकल पड़े तो हर रोज सैकड़ों, हजारों जनता में जीवन जाग्रति की आग फूँकता हुआ परिव्राजक बना रह सकता है। बिना बिजली वाले छोटे गाँवों में यह यन्त्र बैटरी से भी चल सकता है और सुदूर देहातों एवं अशिक्षित लोगों में भी इस माध्यम से नव जीवन संचार किया जा सकता है। इस यन्त्र का उपयोग, किस चित्र की व्याख्या किस रूप में करनी है तथा यन्त्र की साज-सँभाल कैसे रखनी है। यह सारी टैकनिक इस प्रशिक्षण में सम्मिलित रहेगी।

जन-साधारण को प्रेरक संगीत का आनन्द देने और भावनाएँ मोड़ने के लिए ग्रामोफोन रिकार्ड बनाने की अपनी योजना गतिशील है। गानों के रिकार्ड बने हुए हैं। आगे और भी बनेंगे। किसी ऊँचे मकान पर लाउडस्पीकर के चोंगे बाँध कर यदि प्रातःकाल के शान्त वातावरण में नित्य सुनाया जाया करे तो सारा गाँव मुहल्ला इस संगीत लहरी के भाव प्रवाह में बहाया जा सकता है। गोष्ठियाँ और सम्मेलन आयोजनों के आदि अन्त में भी यह रिकार्ड बजते रह सकते हैं। उन्हें बजाने का लाउडस्पीकर यन्त्र युक्त एक नये किस्म का ग्रामोफोन होता है और बैटरी से चलता है। उसे रिकार्ड प्लेयर कहते हैं। उसके उपयोग एवं रख-रखाव की जानकारी भी इसी शिक्षा में सम्मिलित है।

चौथा क्षेत्र है, टेप रिकार्डर। इसके माध्यम से मिशन के सूत्र-संचालकों के प्रवचन संदेश जन-जन तक पहुँचाने का प्रयोजन पूरा हो सकता है। प्रेरक संगीत भी इसमें भरे जा सकते हैं। इस प्रकार वक्ता और गायक की दोनों आवश्यकता बहुत हद तक यह यन्त्र पूरी कर देता है। लोगों को इकट्ठा करके इस यन्त्र को चालू कर दिया जाय तो एक सुनियोजित सभा-सम्मेलन का आनन्द एवं लाभ मिल सकता है। छोटी गोष्ठियाँ तो उसके माध्यम से हर दिन की जा सकती हैं और हर वर्ग के उपयुक्त अलग-अलग किस्म का शिक्षण इस माध्यम से चलता रह सकता है। बैटरी और बिजली दोनों से चल सकने के कारण यह बड़े-बड़े नगरों और छोटे देहात में समान रूप से काम दे सकता है। क्षेत्रीय भाषाओं में भी इसके माध्यम से लोक-जाग्रति की आवश्यकता पूरी करते रहा जा सकता है। इस यन्त्र का उपयोग भी इस तीन मास की शिक्षा में भली प्रकार बताया जायगा।

प्रचार अभियान में चल पुस्तकालयों के संचालन तथा युग-निर्माण विद्यालयों की योजना को प्रमुख स्थान दिया गया है। पर्वों के प्रेरक रीति से मनाने की प्रक्रिया को परम्परा का रूप देकर जन-जाग्रति का स्थायी आधार खड़ा किया जाना है। समय-समय पर गायत्री-यज्ञ और युग-निर्माण सम्मेलन होते ही रहते हैं। षोडस-संस्कारों के आधार पर परिवार शिक्षण की विद्या बहुत ही सफल रही है, इसे और भी व्यापक बनाया जाना है। साप्ताहिक आयोजनों के रूप में 'गीतासप्ताह' और 'रामायण सप्ताह' की अपनी प्रक्रिया जहाँ भी एक बार काम में आई है वहाँ लोग मन्त्र-मुग्ध रह गये हैं। धर्म, संस्कृति और युग-चेतना को एक साथ मिलाकर जनमानस को दिशा देने में यह 'गीता रामायण सप्ताह' इनकी व्यवस्था बनाने तथा कथा कहने की एक विशेष शैली है जो इन्हीं शिविरों में सीखने को मिलेगी। अपनी अभिनव सत्यनारायण कथा तो अब इतनी प्रचलित हो गई है कि उसे प्रायः हर जगह बार-बार बढ़ी-चढ़ी श्रद्धा के साथ सुना जाता है और इससे मौलिक प्रकाश ग्रहण किया जाता है शिविर और यज्ञोपवीत के प्रचलन में, मुण्डन और उपनयन-संस्कार सामूहिक रूप से कराये जाते हैं। इन माध्यमों से भारतीय धर्म के आदर्श तत्व-ज्ञान के समझने, हृदयंगम करने का अनुपम अवसर मिलता है। जन्म-दिन, विवाह-दिन वानप्रस्थ संस्कार, जैसे कितने ही धर्म आयोजन ऐसे हैं जो लोगों के धर्म श्रद्धा के अनुरूप भी पड़ते हैं। उन्हें आकर्षित भी करते हैं और साथ ही युगान्तरकारी चेतना भी उत्पन्न करते हैं। इन सारे आयोजनों का व्यावहारिक रूप जाने और सीखने का अवसर प्रस्तुत शिविरों में भली प्रकार मिलेगा।

रचनात्मक कार्यक्रमों में प्रौढ़-पाठशालाएँ, महिला-विद्यालय, व्यायामशालाएँ, फूल-शाक और फल-उत्पादन, स्वच्छता अभियान, गौ-संवर्धन, सहकारी आन्दोलन, प्रतियोगिताएँ, प्रदर्शिनियाँ मेलों को अभिनव स्वरूप प्रदान करना, पुस्तकालय, वाचनालयों की स्थापना, कुटीर उद्योग, जैसे ढेरों ऐसे काम हर जगह करने की गुंजाइश है जिसे भौतिक और आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त हो। मन्दिरों को प्रेरणा केन्द्र बनाकर उन पर लगे धन, श्रम और समय को सार्थक बनाया जा सकता है।

संघर्षात्मक, निषेधात्मक एवं ध्वंसात्मक कार्यक्रमों में हर स्तर के अनाचार का विरोध सम्मिलित है। सामाजिक कुरीतियाँ, बौद्धिक मूढ़-मान्यताएँ, धार्मिक ठग-विद्या,

आर्थिक भ्रष्टाचार, राजनैतिक, स्वार्थपरता, जन-साधारण की अनैतिकता, अकर्मण्यता जैसे अनेक क्षेत्र संघर्ष के लिए खाली पड़े हैं। इनके विरुद्ध समर्थ संघर्ष खड़ा करना है। पिंजड़े में बन्द, छोटे घरों में कैद घूँघटधारी महिलाएँ एक प्रकार से कैदी का जीवन जी रही हैं। इस बन्दी और पददलित स्थिति में वे अपनी सारी प्रतिभा खो बैठीं और अपंग, असहाय जैसा जीवन जी रही हैं। उनको मनुष्योचित् नागरिक अधिकार मिलें तो आधी जनसंख्या का उद्धार हो जाय। जाति-पाँति के नाम पर अपने समाज के टुकड़े-टुकड़े बिखरे पड़े हैं। जन्म-वंश के आधार पर मानी जाने वाली छुआछूत और ऊँच-नीच की मान्यता ने हमारे समाज को 'अत्याचारी' के रूप में कलंकित किया है। इन बुराइयों से पिण्ड छुड़ाने के लिए कठोर संघर्ष के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। मूढ़ता और दुष्टता को प्रतिरोध के बिना बदला नहीं जा सकेगा। असुरता शक्ति की भाषा को ही समझती है। उसे उलटने के लिए उतना ही समर्थ प्रतिपक्ष खड़ा करना पड़ता है। अगले दिनों ऐसा ही समर्थ-संघर्ष खड़ा करना पड़ेगा।

व्यक्ति में स्वार्थपरता, संकीर्णता, विलासिता, तृष्णा, अहंमन्यता, दुष्टता बेहिसाब पनप रही है। अपराध और अनाचार के रूप में वे हर जगह फूटी पड़ रही हैं। सभ्य लोग सभ्य ढंग से, असभ्य फूहड़पन के साथ एक राह पर ही चल रहे हैं। अधिक पाने और अधिक खाने के लिए आतुर मनुष्य ने सारी मर्यादाओं और आचार-संहिताओं को तोड़कर रख दिया, उद्दण्ड और उच्छृंखल बना मरघट के प्रेत-पिशाच की तरह ऐसे कुकर्म करने में वह निरत है जिनके लिए लज्जा को भी लज्जा आये। इन दुष्प्रवृत्तियों ने क्या राजनीति, क्या धर्म, क्या अर्थ, क्या श्रम, सभी क्षेत्रों को आच्छादित कर लिया है। जीवनोपयोगी वस्तुओं का बाहुल्य होते हुए भी घोर दारिद्र्य जैसी स्थिति बनी हुई है। स्नेह और सद्भाव के अभाव में इस धरती का चप्पा-चप्पा नारकीय आग में झुलस रहा है। इसे बदलने के लिए प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ेगी। उसे संचय किये बिना जीवित रहने का और कोई मार्ग नहीं।

नशेबाजी, माँसाहार, व्यभिचार, जुआ, चोरी जैसे दुर्व्यसन घट नहीं बढ़ रहे हैं। शिक्षा बढ़ रही है पर मूढ़ता जहाँ की तहाँ है। पढ़े-लिखे लोग भी दहेज के लिए जिद करें तो समझना चाहिए शिक्षा के नाम पर उन्हें कागज चरना ही सिखाया गया। भिक्षा-वृत्ति जिस बुरी तरह पनपी है उसे समाज एक प्रकार से स्वाभिमान ही खो बैठा। धर्म जैसी चरित्र निर्मात्री शक्ति आज केवल कुछ व्यवसाइयों के लिए भोले लोगों को फँसाने का जाल-जंजाल भर रह गई है। इन परिस्थितियों को मूक दर्शक की तरह देखते नहीं रहा जा सकता, इनके विरुद्ध जूझना ही एकमात्र उपाय है। अर्जुन की तरह हमें इस धर्म-युद्ध के लिए गाण्डीव उठाना ही पड़ेगा।

यह नहीं सोचना चाहिए कि इतना बड़ा संघर्ष, इतना विशाल रचनाक्रम एवं सुविस्तृत प्रचार तन्त्र खड़ा करने के लिए अपने पास शक्ति स्वल्प है फिर कैसे इतना बड़ा परिवर्तन संभव होगा। इस प्रश्न का उत्तर अपने थोड़े लोगों की स्थिति पर दृष्टि डालने से नहीं मिल सकता। हमें जन-दैत्य की शक्ति को देखना-समझना होगा। जनता में प्रचंड शक्ति भरी पड़ी है। उसके मुट्ठी भर सहयोग से इतना खर्चीला शासन तन्त्र चल रहा है। उसकी रत्ती भर श्रद्धा का लाभ लेकर ८० लाख साधु-सन्तों का भरण-पोषण हो रहा है तथा धर्म के निमित्त अरबों-खरबों रुपया सदैव खर्च हो रहा है। जनता की शक्ति समुद्र से गहरी है, हिमालय से ऊँची है, पवन जैसी व्यापक है और आकाश से अधिक विस्तृत है। उसके एक झोंके में सरकारें उखड़ती और जमती रहती हैं। यह शक्ति कुम्भकरण की तरह सो जाय तो उस पर भैंसे भी निर्द्वन्द्व घूमते रह सकते हैं पर यदि वह जाग पड़े तो सब कुछ उलट-पुलट सकता है। सहस्रबाहु संगठन का ही नाम है। महाकाली संघ शक्ति को ही कहते हैं। उसका तनिक-सा समर्थन उत्थान का गगनचुम्बी प्रासाद खड़ा कर सकता है और उसके कोप से पर्वत धूलि में मिल सकते हैं। इस जनशक्ति का, इस धरती को सबसे बड़ी सामर्थ्य का स्वरूप हमें जानना होगा और उपयोग करना सीखना होगा। इतना किया जा सके तो वह सब कुछ सम्भव हो सकता है जिसे साधारणतः असम्भव समझा जाता है।

अगले दिनों युग-परिवर्तन के लिए हमें इतना ध्वंस, इतना सृजन करना पड़ेगा जिसकी कल्पना ही आज तो भारी पड़ेगी। समय के साथ-साथ परतें खुलती चली जायेंगी और असम्भव के गर्भ में से सम्भव उत्पन्न होता चला जायगा। जनता को जगाया जाना- उसे मोड़ा जाना यही सबसे बड़ा काम है। इंजन गरम हो गया और चल पड़ा तो समझना चाहिए वह हवा से बातें करेगा और दूना वजन खींचता हुआ लक्ष्य पर जाकर ही रुकेगा। हमें इंजन गरम करना है, उसे गति देनी है, उसके बाद यह सम्पन्न होते हुए मजे में देखा जा सकता है जिसे अनजानों की भाषा में चमत्कार कहा जा सकता है।

शांतिकुंज, हरिद्वार में सृजन सेना को प्रशिक्षित करने की योजना में उपरोक्त सभी तथ्यों का, सिद्धान्तों का, क्रिया-कलापों का समावेश है। जिस स्तर के शिक्षार्थी होंगे, जिन्हें जिस क्षेत्र में काम करना होगा उसके अनुरूप शिक्षा पद्धति में हेर-फेर भी होता रहेगा, पर शृंखला यहाँ चलेगी। प्रचारात्मक ज्ञान-यज्ञ परक क्रिया- कलापों द्वारा जन-जागरण-रचनात्मक गतिविधियों द्वारा सृजन की साधना तथा संघर्षात्मक अभियान द्वारा अनाचार को पददलित करने के अनेक मार्ग और प्रकार हो सकते हैं। समय के अनुसार उस पद्धति में हेर-फेर की गुंजायश रह सकती है। इसलिए किसी सीमित पाठ्यक्रम में उसे अवरुद्ध नहीं किया गया है। सिद्धान्त शाश्वत और अपरिवर्तित है । लक्ष्य स्पष्ट है- मनुष्य में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण। इसे व्यावहारिक रूप से कब, कहाँ, कैसे कौन लाये यह सब परिस्थितियों पर

निर्भर है इसलिए उपरोक्त शिक्षा-क्रम में इसके लिए गुंजायश रखी गई है।

आध्यात्मिक क्रान्ति और उसकी पुण्य-प्रक्रिया

भारतवर्ष में समय-समय पर क्रान्तियाँ हुई हैं और उनके फलस्वरूप महापुरुषों ने इस देश को अधर्म के गर्त में गिरने से बचाया है। आध्यात्मिक उत्थान के साथ-साथ नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक उत्थान ही हुआ। इन क्रान्तियों से बहुत बड़ा लोकहित होता रहा है पर यह सम्भव तभी हुआ जब उस परिवर्तन का आधार वैदिक परम्पराएँ रहीं। उन परम्पराओं की पुनर्जाग्रति ने भारत ही नहीं समस्त संसार को प्रकाशवान बनाया।

आज मानव-समाज जिन अभावों और संकटों की स्थिति में घिरा हुआ है उससे छुटकारा पाने के लिए वह प्रयत्नशील है। समय भी गतिशील है। संसार के सभी राष्ट्र अपने-अपने ढंग से उन्नति कर रहे हैं। हम पिछड़ते हैं। दौड़ इतनी तेजी से चल रही है कि जो पिछड़ गया उसे बहुत पश्चाताप करना पड़ेगा। इसलिए समय रहते जागने और प्रगतिपथ पर अग्रसर होने की आकांक्षा हम भारतीयों के मन में भी उठना स्वाभाविक है। ऐसी सामूहिक आकांक्षाएँ ही क्रान्तियाँ बनकर प्रकट होती हैं। कोई साधारण व्यक्ति भी पहले कदम उठाये तो जनता उसके पीछे चल पड़ने में संकोच नहीं करती।

हमारी वर्तमान शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति निस्सन्देह असंतोषजनक है और उसमें परिवर्तन की आवश्यकता स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रही है। इस परिवर्तन के लिए अनेक प्रयास चल रहे हैं पर देखना यह है कि उनमें साध्य के साथ साधनों की भी पवित्रता रहती है या नहीं । हमारा प्राचीन वैदिक परम्पराओं को फलने-फूलने का अवसर रहता है या नहीं? यदि राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक-परिवर्तन किसी उपाय से हो गये, पर साथ ही हमारी वे परम्पराएँ चली गईं जिन पर कि मानव जाति का भविष्य निर्भर है तो फिर यह सुधार भी अन्ततः बिगाड़ के समान ही दुखदायी होगा। आदर्श भ्रष्ट होकर हम कुछ उपार्जन या सुधार भी कर सके तो पथ से भटके हुये लोग देर तक उसका लाभ उठा सकेंगे? दूसरे कारणों को लेकर परस्पर टकरावेंगे और जो कुछ कमाया था उसे गँवाने में देर न लगेगी।

इसलिए ध्यान में रखने की बात यह है कि उत्थान के लिए हम जो भी प्रयत्न करें उनमें वैदिक परम्पराओं का ही आधार रहे। नीति, धर्म और सदाचार के आधार पर ही सच्ची प्रगति संभव हो सकती है। जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा को उचित स्थान देकर ही मनुष्य चिरस्थायी उन्नति कर सका है। सात्विकता का अवलम्बन कर प्रगति के पथ पर चलते हुए सफलता प्राप्त करने में भले ही कुछ विलम्ब हो, पर विद्वेष, घृणा और हिंसा पर आधारित नाशकारी तूफान द्वारा कुछ प्राप्त कर लेने की अपेक्षा वह मन्द प्रगति अधिक कल्याणकारी सिद्ध होगी।

'अखण्ड ज्योति परिवार' की युग निर्माण योजना द्वारा वैदिक परम्पराओं के अनुरूप भारतीय समाज का स्तर ऊँचा उठाने का जो प्रयास हो रहा है उससे हमारे बाह्य जीवन की समस्याएँ तथा उलझन तो सुलझेंगी ही, साथ ही सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा उठाने में भी उससे भारी सहायता मिलेगी। सबसे बड़ा और सबसे महत्वपूर्ण लाभ यही है। व्यक्ति का चरित्र ऊँचा उठे, आदर्शों के प्रति उसका अन्तःकरण निष्ठावान बने, धर्म और कर्तव्य को प्रधान मानकर चले तो फिर ये समस्याएँ जो पहाड़-सी विशाल और घटाओं-सी भयंकर दीखती हैं बात की बात में सरल हो सकती हैं।

बाह्य जीवन की समस्त कठिनाइयाँ आन्तरिक स्थिति की छाया ही होती हैं। पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख के रूप में देखा जाता है। इसलिए यदि व्यक्तिगत या सामूहिक जीवन से दुःख-दारिद्र को हटाना हो तो उसका एक ही उपाय हो सकता है कि धर्म-बुद्धि के जागरण और धर्म प्रवृत्तियों के प्रोत्साहन के लिए हम सब तत्परतापूर्वक कटिबद्ध होकर काम करें।

अवसाद की स्थिति से ऊँचे उठकर हमें सच्ची चिरस्थायी प्रगति के लिए कार्य करना चाहिए। यह कार्यपद्धति, धर्म, नीति और सदाचार की वैदिक परम्पराओं के अनुरूप ही होनी चाहिए। प्राचीनकाल में समय-समय पर ऐसी क्रांतियाँ होती रहीं हैं और उन्होंने जन-जीवन की अनेक गुत्थियों को सुलझाते हुए धर्ममय सुख-शान्ति का वातावरण उत्पन्न किया था। युग-निर्माण योजना आदर्शवाद, धार्मिकता को लाने का एक दिव्य प्रयत्न है। इससे बाह्य जीवन की अपेक्षा भी आन्तरिक स्तर का उत्कर्ष अधिक होगा। विश्व-शान्ति के लिए ऐसी ही उन्नति और प्रगति अपेक्षित है। युग निर्माण योजना एक आध्यात्मिक क्रान्ति है और वह सफल होकर रहेगी।

आध्यात्मिक स्तर पर उपासनात्मक अभियान द्वारा नव-निर्माण

अच्छी दुनिया बनाने के लिए कई क्षेत्रों में कई प्रकार के प्रयत्न किये जा रहे हैं। राजनैतिक क्षेत्र में विश्व संघ का संगठन खड़ा किया गया है, उसका उद्देश्य अच्छी दुनिया की रचना है। अपने स्तर पर वह संगठन भी काम कर रहा है। विज्ञान का कोई, विश्वव्यापी संगठन तो नहीं है पर जो स्थानीय संगठन है अथवा जो वैज्ञानिक शोध कार्यों में लगे हुए हैं उनका दावा भी यही है कि वे अपने

वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा दुनिया को अधिक सुखी बना सकेंगे। आर्थिक क्षेत्र भी यही दावा करते हैं। छोटे-बड़े उद्योगों की स्थापना के पीछे यही उद्देश्य बताया जाता है। सामाजिक स्तर पर सर्वोदय, सत्य समाज आदि संगठनों का यही प्रयत्न है कि उनकी रीति-नीति अपना लेने पर दुनिया में सुख-शान्ति स्थापित होगी। विश्व-शान्ति स्थापित होगी। विश्व-शान्ति के नाम पर और भी कितने ही प्रयत्न अपने-अपने ढंग के चल रहे हैं। रूस समर्थित 'शांति परिषद' और अमेरिका समर्थित 'शान्ति सेना' अपना उद्देश्य यही बताते हैं। धार्मिक क्षेत्र में ऐसे कई प्रयत्न हुए । बहाई धर्म और ब्रह्माकुमारी से लेकर अनेक तथाकथित अवतारों तक, अनेक व्यक्तियों और संस्थाओं का प्रयत्न इसी दिशा में हैं।

इस प्रकार विभिन्न स्तरों पर चल रहे प्रयत्नों के होते हुए भी आशाजनक परिणाम सामने न आने का एक ही कारण है कि जिस आध्यात्मिक स्तर पर यह प्रयत्न किये जाने चाहिए थे उसे नहीं अपनाया गया। मनुष्य वस्तुतः आत्मा है। आत्मा में परिवर्तन उत्पन्न होने से ही उसकी विचारधारा एवं कार्यपद्धति में वास्तविक हेर-फेर हो सकता है अन्यथा बाह्य परिस्थितियाँ एवं मान्यताएँ यदि बदल दी जायँ तो आत्मिक स्तर गिरा रहने पर मनुष्य बदलेगा नहीं, वह गुप्त प्रकट धूर्तताएँ बरतकर विकृतियाँ ही उत्पन्न करता रहेगा। उदाहरण के लिए, विभिन्न राजनैतिक दलों के राज-नेता हमारे सामने हैं। उनका लक्ष्य कार्यक्रम, घोषणापत्र, दृष्टिकोण भी कुछ उत्तम है। उनमें से किसी भी दल की घोषित विचारणा व कार्यपद्धति ठीक तरह कार्यान्वित हो तो समाज में सुख-शांति समृद्धि की संभावना मूर्तिमान हो सकती है पर देखा यह जाता है कि बेचारे अनुयायी तो दूर, दलों के मूर्धन्य राज-नेता भी अपने व्यक्तिगत जीवन में उस नीति को कार्यान्वित नहीं करते । कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं। फलत न तो उनकी आत्मा इतनी प्रबल होती है कि वह वातावरण को वस्तुतः प्रभावित कर सके और न उनके अनुयायी ही इतने निष्ठावान होते हैं कि नेताओं के चरित्र की उपेक्षा कर उनके प्रवचनों से ही प्रभाव ग्रहण करलें। फलस्वरूप 'पर उपदेश कुशल' बनने की विडम्बना चलती रहती है लकीर पिटती रहती है। हथकण्डों के आधार पर लोग अपनी गाड़ी खींचते रहते हैं। वास्तविक काम कुछ हो नहीं पाता। राजनैतिक दलों के राजनेताओं की तरह, अन्यान्य क्षेत्रों में भी यही दुर्दशा है। भौतिक स्तर पर किये गये प्रयत्न क्षणिक लाभ ही देते हैं। वास्तविकता का स्तर तो आत्मा है। जब तक आत्मिक स्तर पर परिवर्तन के प्रयत्न न किये जायेंगे तब तक ठोस परिणाम सामने न आवेगा। हमारा प्रयत्न मूल को सींचने का है, हम मनुष्य का परिवर्तन उसकी आत्मा से आरम्भ करने का प्रयास कर रहे हैं ताकि उसका बाह्य जीवन भी उत्कृष्ट बने और उस उत्कृष्टता का सामूहिक परिपाक देव-समाज के रूप में- सतयुग के रूप में सामने आये।

अपनी 'युग निर्माण योजना' एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। उपासनात्मक स्तर पर स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर और भक्तियोग का सर्वांगपूर्ण कार्यक्रम इसमें प्रस्तुत किया गया है। अपने सामूहिक प्रयत्न भी इसी आधार पर हैं। उपासना के साथ अध्यात्म तत्व ज्ञान का शुभारम्भ होता है। अतः हमें भक्तियोग के अन्तर्गत उस ओर भी पूरा-पूरा ध्यान देना है। विचार परिवर्तन आंदोलन के मूल में आध्यात्मिक तत्व ज्ञान को अविच्छन्न रूप से जोड़ रखा गया है। अतएव हमें उपासना को अनिवार्य और व्यापक बनाते हुये अपने कदम आगे बढ़ाने हैं।

'युग निर्माण योजना' का भावी स्वरूप विश्वव्यापी होगा। उसे हर देश के, हर धर्म के, हर समाज के लोग समान रूप से स्वीकार व शिरोधार्य करेंगे पर अभी उसका आरम्भ 'अखण्ड-ज्योति-परिवार' के परिजनों से किया गया है। जो कार्यक्रम इस प्रथम चरण में बनाये गये हैं वे यह सोचकर बनाये गये हैं कि उन्हें हमारे परिजन तुरन्त कार्यान्वित करेंगे और फिर उनके पुरुषार्थ से यह प्रक्रिया आगे के क्षेत्रों में बढ़ती फैलती चली जायगी। इसलिए प्रारम्भिक विचार और कार्य इस स्तर के हों, जिन्हें अखण्ड ज्योति परिवार के सदस्य सरलतापूर्वक अविलम्ब कार्यान्वित कर सकें। भारतीय धर्म में छुटपुट शुभ कार्य भी प्रार्थना, उपासना के साथ आरम्भ किये जाते हैं तो 'युग निर्माण' जैसे महानतम कार्य के मूल में उपासना का आधार न रहे यह कैसे हो सकता है? गायत्री-मन्त्र भारतीय धर्म और संस्कृति का मूल है इसमें यह शिक्षा भी है और वह शक्ति भी है जिसके आधार पर व्यक्ति और समाज का स्तर उत्कृष्ट अपनाया जा सके। अनादि काल से हमारे पूर्वज इस अवलम्बन को अपनाकर अपनी आंतरिक और लौकिक महानता अक्षुण्ण बनाये रहने में समर्थ हुए। अब हमें उनका स्तर पुनः प्राप्त करने के प्रयास में उनकी उपासना पद्धति को अपनाना चाहिए। कहना न होगा कि भारतीय धर्म की अनादि उपासना केवल 'गायत्री' है। वही हमारा गुरु-मन्त्र है। वही हमारे तत्व ज्ञान का सार और धर्म एवं संस्कृति का आधार है। गायत्री उपासना में वह अलौकिक दिव्य-शक्ति विद्यमान है कि यदि ठीक तरह उसका प्रयोग किया जा सके तो विश्वव्यापी वातावरण बदला जा सकता है और विश्व-शान्ति का शिलान्यास ठोस आधार पर किया जा सकता है।

पिछले दिनों में लगातार अपने यही प्रयास चल रहे हैं। नवयुग की उदीयमान वेला में गायत्री महाशक्ति का उदय ब्रह्म-मुहूर्त की ऊषा की तरह हो रहा है। लोग इस आदि शक्ति को-ब्रह्म शक्ति को एक प्रकार से भूल ही चुके थे। कई वर्षों के प्रबल प्रयत्नों के साथ उसे जनमानस में उतारने का जो विश्वव्यापी अभियान उत्पन्न किया गया, उसके फलस्वरूप, इस देश में ही नहीं- लगभग संसार के सभी देशों में करोड़ों व्यक्ति निष्ठापूर्वक गायत्री उपासना में संलग्न हो सके। गायत्री तपोभूमि, शांतिकुंज, ब्रह्मवर्चस

आदि की-स्थापना, गायत्री परिवारों का संगठन, अलभ्य गायत्री साहित्य का निर्माण, गायत्री यज्ञों की देशव्यापी शृंखला, शक्तिपीठों का निर्माण आदि प्रयत्नों के आधार पर इस दिशा में जितना कार्य हुआ है, उसका मूल्यांकन आज नहीं हो सकता, उसे तो भावी इतिहासकार ही करेंगे। अभी तो हमें इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि युग-निर्माण के शुभारम्भ के लिए उपासनात्मक प्रक्रिया की अनिवार्य आवश्यकता थी उसका प्रचलन एक संतोषजनक सीमा तक हो चुका। अब इसका विशेष प्रयोग उज्ज्वल भविष्य के लिए करना है, जिसका आरम्भ १९६८ के बसंत पर्व से किया जा चुका है।

गायत्री व्यक्तिगत उपासना भी है पर उसे सामूहिक प्रयत्नों में भी सर्वोपरि सफलता के साथ प्रयुक्त किया जा सकता है। इस महामन्त्र का 'नः' शब्द यही इंगित करता है कि गायत्री व्यक्ति को ही नहीं, समाज को भी-समूह को भी पलट देने में, सुधार देने में- समर्थ है। यह क्षमता और किसी मन्त्र में नहीं इसलिए उसे गुरु-मन्त्र के साथ-साथ राष्ट्र-मन्त्र भी कहा गया है। युग-निर्माण प्रक्रिया में इसका उपयोग अनिवार्य रूप से आवश्यक है यही सोच कर गत वर्षों से इस संदर्भ में अथक प्रयत्न करके उसे लोकमानस में एक सुपरिचित तथ्य बना दिया गया। अब नवनिर्माण कार्यक्रम में उसका विशेष प्रयोग किया जा रहा है। छोटे-बड़े दीप यज्ञों एवं गायत्री महायज्ञों के होते रहने से १००० कुण्डों का एक वैसा ही महायज्ञ सम्पन्न होता रहेगा जैसा १९५८ में मथुरा में किया गया था। ऐसे यज्ञों की तुलना-अश्वमेध यज्ञ से की जाती है। त्रेता में भी दस अश्वमेध यज्ञ आसुरी वातावरण की निवृत्ति के लिये गंगा तट पर काशी में किये गये थे, जिनकी स्मृति और साक्षी दशाश्वमेध घाट'अभी भी बना हुआ है। अब पुनः उस पुण्य-प्रयोजन की पुनरावृत्ति हो रही है। १९६८ से लेकर इक्कीसवीं सदी के आगमन तक यह क्रम चलेगा। हर वर्ष एक सहस्र-कुण्डी यज्ञ-अश्वमेध-सम्पन्न होगा। इसके लिए समस्त शाखाओं से पूछा गया है कि क्या इस प्रकार का संकल्प उठाने में समर्थ हैं? बात केवल साहस-भर की है। सफलता तो अज्ञात शक्ति दिलायेगी। व्यक्ति बेचारा क्या कर सकता है। संकल्प, पुरुषार्थ और साहस की परख हो रही है। जहाँ आत्मबल होगा वहाँ और सब कुछ ठीक हो जायेगा। कहना न होगा कि व्यक्तिगत पृथक्-पृथक् प्रयासों की अपेक्षा-सामूहिक सम्मिलित प्रयत्नों का परिणाम अत्यधिक मात्रा में होता है। अलग-अलग मनके कुछ महत्व नहीं रखते पर एक सूत्र में पिरोई हुई माला में बँधकर वे गौरवान्वित होते हैं। अलग-अलग रह कर सींकें यह काम नहीं कर सकतीं जो एक बुहारी में बँधने पर करती हैं। अलग-अलग बूँदों के क्या महत्व, पर मिल जाने पर वे एक विशाल जलाशय के रूप में परिलक्षित होती हैं। सम्मिलन से जो सामूहिक शक्ति उत्पन्न होती है उसका उतना ही बड़ा लाभ हर इकाई को मिलता है। जिन बूँदों से मिलकर समुद्र बना है, इकट्ठी हो जाने के बाद उनमें से हर बूँद परिपूर्ण समुद्र का गौरव लाभ करती है। कुटुम्ब के हर सदस्य को परिवार की सम्मिलित शक्ति का पूरा-पूरा लाभ मिलता है। इसी प्रकार लाखों, करोड़ों, भागीदारों का एक आध्यात्मिक सम्मिलित कुटुम्ब बनेगा और उसकी सम्मिलित शक्ति का लाभ हर सदस्य उठा सकेगा। उससे उसका आत्मबल भी बढ़ेगा और समूहगत-नवनिर्माण प्रक्रिया को भी सफलता मिलेगी। यह सामूहिक धर्मानुष्ठान इतना प्रखर-इतना प्रबल और इतना समर्थ होगा कि इसके फलस्वरूप अन्तरिक्ष में युग बदल देने वाली अदृश्य शक्ति पर्याप्त मात्रा में आविर्भूत होगी और विश्वमंगल के लिए आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न करेगी।

संकल्प-शक्ति और भावना का धनी युग-निर्माण परिवार

नवसृजन का कार्यक्षेत्र विश्व है। देश, जाति, लिंग आदि के भी भेदों से ऊँचे उठकर समस्त विश्व को एकता एवं आत्मीयता के सूत्र में बाँधना है। उन समस्त अवरोधों को पार करना है। जो स्नेह-सहयोग एवं शालीनता के मार्ग में अड़चन उत्पन्न करते हैं। समस्त उत्पादनों पर ध्यान दिया जाना है जो सामाजिक आवश्यकताओं एवं उनकी समस्याओं का समाधान कर सकें। इस दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि समस्या छोटी नहीं है। विशेषतः उनके लिए तो अग्नि परीक्षा के सदृश है, जिन्हें इस भारी उत्तरदायित्व को वहन करना है।

इस सार्वभौम अभियान को कितने भूखण्डों में आलोक वितरण करना है इसकी जानकारी इस रूप में और करनी चाहिए कि संयुक्त राष्ट्र संघ के १९८१ में १४७ सदस्य थे। इनके अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे देश थे जो औपनिवेशिक दबाव के अन्तर्गत रहने, सीमा साधन छोटे हों जैसे कारणों से अभी सदस्य नहीं बन सके, अगले दिनों इनकी संख्या बढ़ेगी ही।

इन देशों में रहने वाले मनुष्य समुदाय की संख्या नवीनतम उपलब्ध जानकारियों के अनुसार ४१० करोड़ हैं जिस गति से यह बढ़ रही है, उससे अनुमान है कि आगामी बीस वर्षों में यह साढ़े ६ अरब के लगभग हो जायेगी। इस सम्भावना को प्रमाणिक मानने के लिए पिछले उत्पादन पर ध्यान देना होगा। १८५० में विश्व की जनसंख्या एक अरब थी। १९३० में यह दो अरब हो गई। १९६० में यह तीन अरब हो गई अब बीस वर्षों में ही यह चार अरब से ऊपर जा पहुँची है। यह चक्रवृद्धि गुणनफल है। दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह क्रम में सन्तानोत्पादन बढ़ता है। इस आधार पर अब से बीस वर्ष बाद यह संख्या ७ अरब से भी अधिक हो जाने की सम्भावना है। १८५० से १९८० तक १३० वर्षों में संख्या चार गुनी हुई। इसी क्रम से २००० तक इस

संख्या के ७ अरब तक जा पहुँचने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है।

युग निर्माण योजना अभी तो अपने शैशव काल में है। उसे किशोर बनने में दस वर्ष लगेंगे। प्रौढ़ता तक पहुँचते-पहुँचते २००० में उसे ७ अरब मनुष्यों की मनःस्थिति और परिस्थिति में कायाकल्प जैसा परिवर्तन लाने का उत्तरदायित्व सँभालना होगा। एकरूपता और समस्वरता के रहते एक प्रकार का कार्यक्रम बन सकता है किन्तु विभाजन जितना अधिक होगा और उन टुकड़ों के जितने स्तर होंगे, उनकी समस्याओं और परिस्थितियों में भिन्नता रहेगी और उन घटकों का सुधार परिवर्तन उसी अनुपात से कठिन होता चला जायेगा।

शरीर रचना एवं भौतिक प्रकृति के अनुसार संसार में तीन ही प्रमुख जातियाँ हैं-काकेशियन, निग्राइड एवं मंगोलियन। किन्तु इनमें से प्रत्येक की कई-कई उपजातियाँ हैं। काकेशियनों में १२, निग्राइडों में ९ एवं मंगोलियनों में १५ वर्ग हैं। भारतीय काकेशियन वर्ग में आते हैं। इन भारतीयों में छोटी-बड़ी जातियों की संख्या दो हजार के लगभग है यदि इन्हें सवर्णों और असवर्णों में विभक्त किया जा सके तो एक बहुत बड़ा वर्ग 'पिछड़ा वर्ग' कहलाने वाला है। उनमें परिगणित जातियों की जनसंख्या ६ करोड़ ४५ लाख तथा कबीलों की संख्या २ करोड़ ९२ लाख है। ये दोनों वर्ग मिलकर कुछ समय पहले १९७८ मध्य तक साढ़े नौ करोड़ थे। अब उनकी संख्या कहीं अधिक होगी। भारत की कुल जनसंख्या ६७ करोड़ २० लाख (१९८० दिस. तक है यह अमरीका, रूस और जापान की सम्मिलित जनसंख्या के बराबर है। भारत तक ही नवसृजन की गतिविधियाँ सीमित रही होतीं तो भी एक बात थी। अब जब 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का लक्ष्य पूरा करना है तो जनसमुदाय के एक भी क्षेत्र और एक भी वर्ग को आलोक अनुदान से वंचित नहीं रखा जा सकता है।

विभाजन जातियों और देशों के रूप में ही नहीं, धर्म सम्प्रदायों के रूप में भी हो रहा है। इन मान्यताओं और परम्पराओं ने अपने बाड़े इस प्रकार तैयार कर रखे हैं कि एक का अभ्यस्त दूसरे वर्ग वाले को छोटा ही नहीं शत्रु, पतित और काफिर भी मानता है। इन विग्रहों के रहते एक स्तर का दर्शन कैसे गले उतारा जाय, यह करने वाले को ही विदित हो सकता है कि इन विभेदों से प्रगति की गतिशीलता में कितनी कठिनाई उत्पन्न होती है। धर्म सम्प्रदायों की, उनके अधिष्ठाता देवताओं की प्रकृति तथा पूजाओं में कितना अन्तर है? इस पर दृष्टिपात करने से यह सोचने में भारी असमंजस होता है कि इस असहयोग को सहयोग में किस प्रकार परिणत किया जाय ?

प्रमुख धर्मों में हिन्दू, बौद्ध, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, यहूदी, कन्फ्यूशियस तथा ताओ-इन आठ के नाम आते हैं। अफ्रीका, अमरीका तथा संसार में अन्यान्य पाये जाने वाले आदिवासियों के धर्म इनके अतिरिक्त हैं। इन सभी के अनुयायी कट्टरता की दृष्टि से किसी से पीछे नहीं। सभी की एक रट है- "जो उनका सो सच्चा, जो दूसरों का सो झूठा"। ऐसी दशा में समन्वय एकीकरण तो दूर, गुण-दोषों पर विचार-विनिमय करने तक का रास्ता बन्द हो जाता है।

विभेदों का अन्त नहीं-संस्कृतियों की तरह शासन पद्धतियाँ भी अनेक हैं और अपने-अपने क्षेत्रों में जड़ जमाये बैठी हैं। उनके अनुयायी अपनी सीमाओं और परम्पराओं को ही महत्व देते हैं और उसी को मूर्धन्य मानते हैं। भाषाओं की भिन्नता इनसे भी जटिल है। एक क्षेत्र का निवासी कुछ ही दूर जाने पर भाषा भेद के कारण गूँगा-बहरा हो जाता है। न अपनी बात समझा पाता है, न दूसरों की बात समझ सकता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में मान्यता प्राप्त पाँच भाषायें हैं- अँग्रेजी, फ्रेंच, स्पेनिश, चीनी और रूसी। भारतीय संविधान में १५ भाषाओं को स्वीकृति दी गई है। विश्व की अन्य प्रमुख भाषाएँ हैं- जर्मन, डेनिश, स्वीडिश, नार्स, आसिलेण्डिक, इटालियन, पुर्तगाली, गैलिक, वेल्श, आयरिश, बल्गेरियान, पोलिश, चेक, हिन्दी, फिनिश, पर्शियन, उर्दू, हिब्रू, अरेबियन, बर्बर, सोमाली, टिब्बेटन, बर्मीज, सियामिज, टर्कीश, उजबेक, स्वाहिली, जापानी, कोरियन, मन्चू इत्यादि। अभी तक ज्ञात भाषाएँ ३००० के लगभग हैं। विश्व की जनसंख्या से इनमें से १३ भाषाओं के माध्यम से बात की जा सकती है । इनमें चीनी भाषा बोलने वाले सर्वाधिक (एक अरब ११ करोड़) हैं। चीनी भाषा के बाद क्रम से बोली जाने वाली अन्य प्रचलित भाषायें है- अँग्रेजी, हिन्दी, रशियन, स्पेनिश, जापानी, जर्मन, फ्रेंच , इटेलियन, मलायी, बंगला, अरबी, पुर्तगाली। केवल भारत में ही कुल १८१ भाषाएँ एवं ५४४ प्रकार की बोलियाँ प्रचलित है।

सीमित कार्यक्षेत्र में ही लोग काम करते है इतने पर भी वे उसे सँभाल नहीं पाते। काय-कलेवर की छोटे से परिवार की जरा-जरा-सी समस्याओं का समाधान तो बन नहीं पड़ता और उतनी ही उलझनों में ही अधिकांश व्यक्ति उद्विग्न, विक्षिप्त जैसे बने रहते हैं। जिस दुनिया में युग-सृजन विस्तार करना है उसका आयतन फैलाव कम आश्चर्यजनक नहीं है। अपनी पृथ्वी का व्यास १२७१३ किलोमीटर एवं परिधि ४०२३४ किलोमीटर है। धरातल का क्षेत्रफल १९ करोड़ ७० लाख वर्गमील (अथवा ५०००) करोड़ हैक्टेयर) एवं मोटाई ७०.८ किलोमीटर। भार ५०९७६x १०.२१ मेट्रिक टन। आयु ४० करोड़ वर्ष। यों भूतल का ७१ प्रतिशत भाग पानी से भरा है और २९ प्रतिशत भूमि ही थल कहलाती है। फिर भी इस भूभाग का बहुत कुछ अनगढ़पन दूर करना शेष है। इसका दसवाँ भाग ही कृषि योग्य है । शेष ऊबड़-खाबड़ को अभी निवास एवं उत्पादन के योग्य बनाने का काम करना शेष है। भारत में २० प्रतिशत व्यक्ति शहरों में और ८० प्रतिशत गाँवों में रहते हैं। उपजाऊ जमीन की कमी के कारण प्रति वर्ग किलोमीटर जमीन पर १२ व्यक्तियों को गुजारा करना पड़ता है।

इस क्षेत्र की अगणित भौतिक और असंख्य आत्मिक समस्याएँ हैं। भूतल के निवासियों में से अधिकांश के पास अन्न-वस्त्र और निवास जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने जैसे साधन नहीं हैं न शिक्षा का प्रबन्ध है न चिकित्सा का। सुरक्षा और स्वालम्बन की दृष्टि से भी यह जनसमुदाय अपने को अभावग्रस्त और अनिश्चित स्थिति से घिरा पाता है। थोड़े से लोग ऐसे हैं जो वैभव के संचय और अपव्यय में लगे हैं। कुछ ऐसे हैं जिनका व्यवसाय ही ध्वंस, अनाचार, अपराध है। इन लोगों द्वारा उत्पन्न की गई विकृतियाँ और विपत्तियाँ भी कम कष्टकर नहीं हैं। अभावों की तरह उस अनाचार से भी त्रास का अनुपात बढ़ता है।

युग निर्माण के लिए लोक-चिन्तन में उत्कृष्टता के तत्वों को बढ़ाना होगा और साधनों को स्वेच्छापूर्वक सृजन प्रयोजनों में लगाने के लिए जन-जन को सहमत करना होगा। सरकारें सुरक्षा व्यवस्था, अर्थ सन्तुलन एवं समाज कल्याण के थोड़े से प्रयोजन एक सीमित मात्रा में ही पूरे कर सकती हैं। स्वच्छ शासन न हो तो उतना भी न बन पड़ेगा। सर्वतोमुखी सृजन तो लोक-शक्ति ही कर सकेगी। हर व्यक्ति न्यूनतम एक घण्टा समय और एक घण्टे का उत्पादन नवसृजन के लिए देने के लिए दबाव से नहीं अन्तःप्रेरणा से सहमत हो तभी विनाश की रोकथाम और सृजन की संभावना का प्रयोजन पूरा हो सकता है।

कार्य कैसे हो? आरम्भ कौन करे? सृजेताओं और साधनों की आवश्यकता पूरी कैसे हो? इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने के लिए एक दूसरे का मुँह तकने से काम नहीं चलेगा। जिनमें देवत्व की इतनी मात्रा विद्यमान हो, कि सत्प्रयोजनों में अपना चिन्तन ही नहीं समय और साधनों को भी नियोजित कर सकें वे संख्या और योग्यता की दृष्टि से हल्के होते हुए भी इस भारी उत्तरदायित्व को अपने कन्धों पर वहन कर सकते हैं। मनुष्य मूलतः असमर्थ नहीं है। ईश्वर का राजकुमार होने के नाते उसे जो जन्मजात क्षमताएँ प्राप्त हैं बात उनके सदुपयोगभर की है। वह बन पड़े तो वह सब कुछ सरलतापूर्वक हो सकता है। जिसकी आज माँग और आवश्यकता है।

युग निर्माण अभियान के परिजनों की संख्या भी कम नहीं है और उनकी विचारणा एवं विचारों की दिशाधारा भी सृजन-प्रयोजनों की ओर ही प्रवाहित हो रही है। महाकाल के युग निमन्त्रण को जिन्होंने अपनी अन्तःचेतना में आत्मसात कर लिया हो उन्हें लोकमंगल के लिए किया गया पुरुषार्थ और भी अधिक प्रिय लगता है। ऐसे देश परिवार में यदि थोड़े से लोग हों तो भी बहुत कुछ कर सकते हैं। फिर २४ लाख के लगभग देव-परिजनों का पुरुषार्थ तो आशाजनक ही नहीं आश्चर्यजनक भी सिद्ध हो सकता है और यह परिणति प्रस्तुत कर सकता है जिसे चमत्कारी कहा जा सके।

राष्ट्र संघ के मान्यता प्राप्त देशों में ३१ ऐसे हैं, जिनकी समूची आबादी युग निर्माण परिवार के परिजनों से कहीं कम है। इतने पर भी वे अपनी शासन व समाज व्यवस्था भली प्रकार चला लेते हैं। फिर कोई कारण नहीं कि अपना देव परिवार अपने देश की अपने विश्व-साम्राज्य की मस्याओं के समाधान में समुचित योगदान न दे सके।

युग निर्माण परिवार के सदस्यों से कम संख्या वाले कुछ देश हैं- अलसल्वाडोर २३ लाख २४ हजार, अल्बानिया-१६ लाख [illegible] हजार, आइसलैण्ड १ लाख ७६ हजार, आयरलैण्ड-२ लाख १० हजार, ऐ डोरा ६५ हजार, ग्रीवलैण्ड २५ हजार, जोर्डन १ लाख ८६ हजार, टोगो १ लाख ६० हजार, निकारगुआ १५ लाख ५० हजार, न्यूजीलैण्ड २३ लाख २५ हजार, पैराग्वे १६ लाख ४० हजार, मंगोलिया १० लाख २५ हजार, माल्टा ३ लाख २४ हजार, मोनाको २२ हजार ५ सौ, लीबिया १५ लाख ६० हजार, लेबनान २१ लाख ५१ हजार, साइप्रस ५ लाख ८० हजार।

संख्या बल का भी अपना महत्व है किन्तु सबसे बड़ी बात है मनोबल और आदर्शवादी शौर्य-साहस। यही है वह पूँजी-शक्ति और योग्यता जिसके बल पर नवसृजन के अत्यन्त विशाल और बहुमुखी कार्य के शुभारम्भ का साहस जुटाया गया है। साहस, प्रेरणा और तत्परता प्रदान करने वाली अदृश्य शक्ति श्रेय और सफलता भी प्रदान करेगी; इस पर विश्वास करने का आधार भी है और औचित्य भी।

युग निर्माण-परिकल्पना नहीं— सुनिश्चित संभावना

परिजनों ने युग अवतरण के रूप में युग निर्माण योजना को, युगांतरीय चेतना को समझा और अपनाया है। ऐसे लोगों की मान्यता को क्रमशः बल ही मिलता आया है। प्रमाण-परिणामों ने उनके विश्वास की पुष्टि की है। इन थोड़े से दिनों में सीमित साधनों से जितना कुछ कर सकना संभव हुआ है, उसका पर्यवेक्षण करने पर सभी गणितीय आधार गलत सिद्ध हो जाते हैं। सभी जानते हैं कि ऊँचे अनुभव, निष्णातों का सहयोग और समुचित साधनों का त्रिविधि, सुयोग मिलने पर ही कोई बड़ी योजना चलती और सफल होती है, पर जहाँ इन तीनों का अभाव हो वहाँ भी चमत्कारी परिणतियाँ सामने हों तो फिर उसी दैवी संयोजन का स्मरण करना पड़ेगा जिसके रहते- 'मूक होय वाचाल, पंगु चढ़हिं गिरवर गहन' की उक्ति चरितार्थ होती है। इतने स्वल्प समय में, इतने स्वल्प साधनों से प्रज्ञा अभियान हर क्षेत्र में, हर घड़ी प्रकट होने वाली उपलब्धियों का संभव हो सकना सामान्य कार्य-कारण सिद्धान्त के अनुसार सही नहीं बैठेगा। छोटे-मोटे प्रयासों की बिखरी हुई परिणतियों का लेखा-जोखा ले सकना तो संभव नहीं पर बड़े प्रयासों से मिली बड़ी सफलता जो सर्वविदित है, उनका स्मरण तो सहज ही किया जा सकता है।

चौबीस लाख प्रज्ञा परिजनों के समुदाय में एक लाख वरिष्ठ प्रज्ञापुत्रों की सृजन शृंखला प्रयत्नों के आधार पर बन सकी, इसका एक ही उदाहरण है-वर्षा होते ही सूखी धरती पर एकाध सप्ताह के भीतर ही हरीतिमा की मखमली चादर बिछ जाती है और उद्भिजों का समुदाय इतनी तेजी से प्रकट होता है मानो वे आकाश से बूँदों के साथ ही बरस पड़े हों।

प्रज्ञा अवतरण के लिए प्रथम आवश्यकता युग साहित्य की है। इसके लिए बड़ा सृजन और बड़ा प्रकटीकरण तंत्र चाहिए। यह कहाँ से जुटा, इसका उत्तर सामान्य बुद्धि के पास नहीं है। व्यास और गणेश ने मिलकर अठारह पुराण रचे थे पर उससे अनेक गुना समूचा आर्ष साहित्य जन-जन के सम्मुख प्रस्तुत कर देने में एक की लेखनी समर्थ हो गयी। इससे मानवी क्षमता की संगति कैसे बैठे ? ईसाई मिशनों में अरबों-खरबों की पूँजी और लाखों-करोड़ों की जनशक्ति मिलकर जितनी उपलब्धियाँ अर्जित कर सकीं, उसकी चुनौती मिट्टी के तेल वाली लैम्प के बीच बैठकर रात-रात भर लिखने वाली नगण्य -सी समझी जाने वाली लेखनी कैसे कर सकी, इसे कौन किसको समझाए और किस तरह इस अनबूझ पहेली को सुलझाए ?

धर्म-तंत्र को पुनः जीवित करने के लिए २४०० प्रज्ञापीठों का निर्माण दो वर्ष के अंतर्गत हो जाना कितना कठिन रहा होगा। उसका उत्तर इस दिशा में योजना बनाने वाले बिहारों; संघारामों का ढाँचा खड़ा करने वाले बुद्ध-अशोकों से, चारों धाम खड़े करने वाले मांधाता-शंकराचार्य और निर्माण जीर्णोद्धार का ताना-बाना बुनने वाली अहिल्याबाई जैसों से ही प्राप्त किया जा सकता है।

जन-जाग्रति के लिए जनसंपर्क, जनसंपर्क के लिए, जनसमर्थन, जनसमर्थन से जन सहयोग उपलब्ध करने से ही यह संभव है कि जनमानस का परिष्कार और सत्प्रवृत्तियों संवर्द्धन करते हुए मनुष्य में देवत्व का उदय एवं धरती पर स्वर्ग अवतरण का समग्र विश्व कल्याण का प्रयोजन पूरा किया जा सके। इस निमित्त कभी धर्म नेतृत्व में धर्म प्रेमियों की मंडलियाँ गाँव-गाँव पहुँचतीं और कथा-कीर्तन के आधार पर जन-जन की धर्म धारणा जीवन्त रखतीं थीं। घर-घर अलख जगाने का उपक्रम भी इसी आधार पर गतिशील रहता था। उस जरा-जीर्ण मृत परम्परा को अब नए सिरे से पुनर्जीवित किया गया है।

उसी परंपरा के अंतर्गत इन दिनों प्रज्ञा अभियान की सहस्रों पदयात्रा टोलियाँ जीपों, मोटरसाइकिलों, साइकिलों पर आवश्यक साधन-उपकरण लादकर गाँव-गाँव पहुँचने लगी है। युग कीर्तन और प्रज्ञा पुराण प्रवचनों द्वारा जन-मानस को झकझोरती और समय के अनुरूप बदलने के लिए संपर्क क्षेत्र को वह अवगत -अनुप्राणित कर रही हैं। हर दिन लाखों व्यक्ति इस आधार पर अभिनव आलोक से दिशा प्राप्त करते और युग परिवर्तन के परिवर्तन प्रवाह में सम्मिलित होते हैं।

इतनी बड़ी भूमिकाएँ पिछले दिनों किस प्रकार संपन्न हुई ? इसका उत्तर श्रम, कौशल और साधनों की मात्रा के आधार पर लगाने से किसी भी प्रकार नहीं मिल सकता।

मिशन की अगणित गतिविधियों के निमित्त पग-पग पर अर्थ साधनों की आवश्यकता पड़ी है। इसका हल बीस-बीस पैसे जमा करने वाले ज्ञान-घट और एक-एक मुट्ठी अनाज संग्रह करने वाले धर्मघट हो सकते हैं, इस बात पर कौन विश्वास करेगा ? जब सहयोग की व्यवस्था और गंभीरता रहने पर बूँद-बूँद सहयोग से घड़ा भर सकता है यह यह बात लोकोक्ति के रूप में ही सुनी गई है। किसी ने अब तक इसका प्रयोग नहीं किया। ऐसे संग्रह की कल्पना तो कई करते रहे हैं पर किसी ने उसे व्यवहार में उतारा हो और इस स्तर तक सफल बनाया हो, यह अब तक कहीं भी देखने में नहीं आया। लोग श्रीमंतों के सम्मुख पल्ला पसारते रहते हैं। सरकारी सहायता के लिए ताने-बाने बुनते रहते है, पर जनशक्ति के सहारे इतना सुदृढ़ ढाँचा खड़ा कर दिखाना यह सिद्ध करता है कि जनसहयोग की शक्ति ही प्रत्यक्ष दुर्गा है। उस सिंहवाहिनी की अनुकंपा अर्जित कर लेने पर महिषासुरों, मधुकैटभों, सुंद-उपसुंदों के द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले संकटों का निराकरण होने में देर नहीं लगती। वह जिस पर अनुग्रह करती है उसे निहाल कर देती है। जनसहयोग एवं शक्ति की गरिमा पौराणिक काल में समुद्र सेतु बाँधने और गोवर्धन उठाने वालों ने देखी थी। पिछले दिनों उसे बुद्ध, गाँधी ने प्रत्यक्ष कर दिखाया था। वर्तमान में उसका अभिनव प्रयोग प्रज्ञा अभियान के रूप में किया गया है। वह पूर्व परीक्षाओं की तुलना में किसी प्रकार पीछे नहीं रहा है। यही है वह दैवी चमत्कार जिसे युगांतरीय चेतना भी कहा जा सकता है। इसी को प्रतीक चिह्न बनाकर 'लाल मशाल' की कल्पना और निर्धारणा की गई है।

युग समस्याओं के समाधान में मूर्धन्यों को आगे आना चाहिए। क्योंकि यह विनाश-उत्पादन उन्हीं के द्वारा हुआ है। अस्तु, प्रायश्चित भी उन्हीं को करना चाहिए था और खोदी हुई खाई को पाटने में अपनी भलमनसाहत का परिचय देना चाहिए था कि वैसा कुछ करते दीखता नहीं। समर्थ यदि चाहते तो जिस शक्ति को विनाश के लिए नियोजित करते रहे हैं उसे पलटकर सृजन के लिए भी लगा सकते थे और प्रस्तुत कठिनाइयों का हल करने में भी बहुत हद तक सफल हो सकते थे। पर लगता है उन्होंने अपने द्वार ही नहीं कान भी बंद कर लिए हैं और अपनी उपेक्षा एवं असमर्थता को एक प्रकार से स्पष्ट ही कर दिया है।

नवजागरण का द्वार-द्वार पर अलख जगाते हुए जन-जन से कहा जाता है- मानवी गरिमा को, मानवी निर्धारणों को छोटी सभी अदालतों ने हरा दिया है। उसे

न्याय और आश्वासन दिला सकने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी है। अब जनता की अदालत ही सुप्रीम कोर्ट की तरह शेष बच रही। वही चाहे तो मानवी अस्तित्व और विश्व के संरक्षण में अपनी भूमिका निभा सकती है। दोहन अनेक वर्गों द्वारा हो रहा है, ऐसी दशा में दीन-दुर्बल रहते हुये भी वह क्या करे, कैसे करे? देखने में यह दयनीयता भी वास्तविकता जैसी लगती है, पर वस्तुत है वह कृपणता ही, चिंतन की, विकृति ही।

सिंहनी के छह थनों से छह बच्चे एक साथ दूध पीते देखे गए हैं। ऐसी दशा में लगता है कि वह बेचारी निचुड़ गई है। अब किसी पराक्रम के योग्य नहीं रहीं, फिर भी देखा जाता है कि वह छेड़खानी करने वालों पर टूट पड़ने की स्थिति में भी बची रहती है। बच्चों को दूध पिलाने से वह इतनी असमर्थ नहीं हो जाती कि आखेट न कर सके। जनशक्ति को सिंहनी कहा जा सकता है कि वह शासन को, धर्मतंत्र को, श्रीमंतो को, साहित्य, मनीषियों को, कलाकारों को ही नहीं, दस्यु-तस्करों तक की उदरपूर्ति करती है। कुरीतियाँ, अवांछनीयताएँ, दुर्व्यसनों, कुप्रचलनों के जोंक, कनखजूरे उसे अलग से चूसते रहते हैं। इस पर भी यह नहीं समझा जाना चाहिए कि उसकी सामर्थ्य चुक गई । जो बचा है, वह ही इतना है कि इतने भर से भी दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण और सत्प्रवृत्तियों का परिपोषण संभव हो सके। विभीषिकाओं के उन्मूलन और उज्ज्वल भविष्य के निर्धारण में अब उसी का दरवाजा खटखटाने का, उसी देहरी पर धरना देने का प्रज्ञा अभियान ने निश्चय किया है और घोषित किया है कि युग परिवर्तन की महायोजना को पूरी करने के लिए जो कुछ आवश्यक है उसे इसी कल्पवृक्ष की आराधना करके उपलब्ध किया जायगा।

जिन्हें विभीषिकाओं का उन्मूलन और उज्ज्वल भविष्य का नवसृजन अभी भी कठिन लगता है, वे प्रभात काल के अरुणोदय का दृश्य देखें और समझें कि नियंता की एक स्फुरणा किस प्रकार संव्याप्त अंधकार को निगल जाने, सर्वत्र आलोक का उल्लास और पराक्रम का वातावरण बना देने का चमत्कार प्रस्तुत कर सकती हैं। युग परिवर्तन की परिकल्पना नहीं, सुनिश्चित संभावना समझा जाना चाहिए।

इस प्रगतिशील युग में हम धर्म को माध्यम क्यों बनाते हैं?

धर्म का माध्यम क्यों?

भारत धर्मप्राण देश कहा जाता है पर पिछले दिनों धर्म शब्द की जितनी बदनामी हुई है-शायद ही किसी अन्य की हुई हो। फिर भी युगनिर्माण योजना ने अपने मूल आधारों में धर्मभावना को मान्यता क्यों दी है। यह प्रश्न कार्यकर्त्ताओं के सामने बहुधा आ जाता है।

यह ठीक है कि धर्म के कथित ठेकेदारों ने धर्म के नाम पर गर्हित मान्यताएँ चलाकर देश को और धर्म को बड़ी भारी हानि की है। किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि उस हानि की पूर्ति भी सामान्य ढंग से संभव नहीं। किसी मार्ग में कोई मस्त या जंगली हाथी कोई बड़ी चट्टान गिरा दे तो उसे हटाने के लिए प्रशिक्षित हाथी ही काम दे सकता है। क्रेन द्वारा छोड़ी गयी भारी वस्तु क्रेन द्वारा ही हटायी जा सकती है। इन्जन गलत लाइन पर डिब्बों को ठेले तो फिर शंटिंग द्वारा इन्जन ही उसे हटाता है।

धर्म की शक्ति असामान्य है। आज की गयी-गुजरी स्थिति में भी धर्म के नाम पर जो भावनात्मक तथा साधनात्मक जन-समर्थन प्राप्त है वह अपना सानी नहीं रखता। युग निर्माण साहित्य में अनेक स्थानों पर इसके पर्याप्त ठोस आँकड़े दिये जा रहे हैं- दिए जाते रहे हैं। धर्म की गति भावना की गहराइयों तक है। उसके विकारों का प्रभाव भी गहरा है। अस्तु, उसे साफ करने के लिए भी गहरा ही जाना होगा। धर्म भावना के शोधन के लिए उसी तरह के प्रयास करने आवश्यक समझ कर यह मार्ग चुना गया है और सच पूछा जाये तो बदनाम धर्म नहीं धर्मजीवी हुआ है । धर्म के नाम पर जो अनर्गल बातें थोपने का प्रयास किया, बदनामी उसकी ही कही जायेगी। धर्म की बदनामी वह तब तक ही लगती है जब तक धर्म खुले रूप से सबके सामने नहीं लाया गया। उसे सही रूप मे सामने लाते ही पाँसा पलट जाता है। बदनामी का पात्र तो वह है जिसने धर्म जैसी कल्याणकारी विभूति को छिपाकर उसके स्थान पर अकल्याणकारी गतिविधियाँ चलाने का प्रयास किया। जो निर्दोष है-उसे निर्दोष साबित करना एक नैतिक कर्तव्य है। बल्कि उपयोगी तत्व के प्रति भ्रांति का निवारण एक महान समाज सेवा भी है। क्योंकि उसे वह कल्याणकारी तत्त्व पुन: जनकल्याण के लिए प्रयुक्त किया जाने लगेगा और अगणित व्यक्ति उससे लाभान्वित होंगे।

क्या उक्त बात कोरा सैद्धान्तिक प्रलाप है

यह जो बात कही गयी है-उसे सैद्धान्तिक रूप से मान लिया जाय तो भी क्या वह व्यवहार्य है ? यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से सामने आ खड़ा होता है। इसका उत्तर युग निर्माण योजना ने धर्म भावना के शोधन और जागरण द्वारा अनोखी उपलब्धियाँ प्राप्त करके दिया भी है-और देती रहेगी भी।

जिसने धार्मिक अन्ध-मान्यताओं के कारण उपासना-साधना जैसे आत्मबल बढ़ाने वाले कृत्यों पर

प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे- लोगों को आत्मकल्याण के पथ पर चलने से रोका जाने लगा था- उन्हीं भावनाओं के शोधन द्वारा वह मोर्चा यज्ञ और गायत्री जैसे जटिल विधि निषेध वाले साधनाक्रमों को सर्वसुलभ बनाया जा चुका है।

छुआछूत की भावना को बढ़ावा देने में धर्मावलम्बियों का प्रधान हाथ रहा, धर्म-भावना के शोधन द्वारा सामूहिक धर्मानुष्ठानों के आयोजनों में उस हीन भावना के कहीं दर्शन भी नहीं होते। यज्ञ कुण्ड से लेकर भोजन शाला तक में कोई अपने बगल में बैठने वाले की जाति पूछने की बात तक नहीं सोचता। यही नहीं यदि पहले से पता है कि अमुक व्यक्ति कथित अवर्ण वर्ग का है तो उसे कार्यकर्तागण अपने निकट आग्रहपूर्वक बिठा लेते हैं ताकि कोई सिर-फिरा कुछ कहने का साहस भी न करे।

भगवान के नाम पर माँगने ही माँगने का जो क्रम चलाया जा रहा था उसे हीन कहकर पीछे ढकेला जा चुका है। भगवान के प्रति आस्था रखने वाले व्यक्ति आज लाखों की संख्या में अपनी विभूतियों का उपयोग लोक-मंगल के लिए करने में ही गौरव समझते हैं, उस ओर विश्वास पूर्वक कदम बढ़ा रहे हैं। भगवद्भक्ति के नाते रईसों जैसी सुविधाएँ और शान-शौकत इकट्ठी करने की जगह अपनी स्वेच्छा से तपस्वी जीवन जीने की एक होड़-सी लग चुकी है यह सब धार्मिक भावना के शोधन, अभिवर्धन के ही सुपरिणाम हैं।

युग निर्माण योजना से सम्बद्ध कार्यकर्ताओं में एक परिवार भावना का बोध इसी धार्मिक चेतना के जागरण से हुआ है। आसाम के पूर्वी अंचल से ठेठ कच्छ तक भाषाओं और अन्य मान्यताओं की भिन्नता के बावजूद कार्यकर्ता एक दूसरे को अपने सगे भाई की तरह अनुभव करते हैं। अपने भिन्न-भिन्न व्यक्तिगत तथा पारिवारिक स्तर तथा कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए भी एक ही शरीर के अंगों की तरह एकता का गौरव बनाये हुए हैं। इस प्रकार की सूक्ष्म या स्थूल उपलब्धियों की एक लम्बी शृंखला है जो हर व्यक्ति भली प्रकार देख समझ सकता है।

पर अभी तो ढेरों समस्याएँ शेष हैं

प्रश्न उठाया जा सकता है कि अभी तो ढेरों समस्याएँ बाकी पड़ी हैं जिन्हें छुआ भी नहीं जा सकता।

यह बात सर्वथा सत्य है पर यहाँ यह देखना है कि जिस पद्धति को युग निर्माण योजना ने पकड़ा है वह कितनी प्रभावशाली सिद्ध हुई। यदि प्रयोग ठीक है जैसा कि माना जा रहा है। तो समस्या का समाधान पाया जा सकता है। युग निर्माण योजना का भी तो यही कहना है कि इतना तो प्रयोग मात्र हुआ। यह विधि सफल सिद्ध हुई हो तो उस पर अधिक संख्या में लोगों को चल पड़ना चाहिए। ताकि लक्ष्य की प्राप्ति की जा सके। प्रयोग छोटे स्तर पर किये जाते हैं। उसमें वैज्ञानिक का बहुत समय और श्रम लगता है पर प्रयोग सफल होते ही उन्हीं निश्चित सिद्धान्तों पर अमल करने वाली फैक्ट्रियाँ लग जाती हैं और तीव्र उत्पादन प्रारम्भ हो जाता है। सामाजिक स्तर पर विभूतिवानों को अब युग निर्माण योजना द्वारा सिद्ध प्रयोग के आधार पर तीव्र उत्पादन जैसी प्रक्रिया चालू करने की आवश्यकता है।

प्रगाढ़ स्नेह-सौजन्य का आह्वान

यों परिवर्तन सौ होते हैं, पर व्यक्तियों का परिवर्तन सब से कठिन कार्य है। मकान, कारखाने, सड़क, पुल आदि को पुराने ढंग से बदलकर यदि नई डिजायन का बनाना हो तो वह कार्य भी कठिन होता है और व्यक्ति का मन जो अनेक आदतों, संस्कारों, प्रवृत्तियों, वासनाओं, विश्वासों और मान्यताओं का समूह है, बदला जाना तो और भी कठिन है। इस कठिनाई को समझते हुए भी इसे करना तो पड़ेगा ही। जिस दुनिया में आज हम रह रहे हैं, वह निश्चित रूप से इस स्थिति में पहुँच गई है कि अब उसे बदलना ही जाना चाहिए। युग परिवर्तन की अनिवार्य आवश्यकता है, इसकी उपेक्षा करने पर सामूहिक सर्वनाश का ही विकल्प सामने रह जायगा।

युग-निर्माण की विचारधाराएँ अपने-अपने देश समाज, व्यक्ति के अनुरूप अपने-अपने क्षेत्रों में समस्त विश्व में फैलनी है। अपनी परिस्थिति, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों के लोग-अपने-अपने ढंग से उसे कार्यान्वित करेंगे। इसका आरम्भ मात्र 'गायत्री परिवार' द्वारा हो रहा है। यह आरम्भ कितना ही छोटा क्यों न हो उसका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। अपने इस छोटे क्षेत्र में ही यह प्रयोग आरम्भ कर रहे है, ताकि इसका अनुकरण बड़े विशाल क्षेत्र में हो सके।

प्रज्ञा-परिजनों, गायत्री परिवार के सदस्यों को हम उसी दृष्टि से देखते हैं जैसे कि कोई वयोवृद्ध व्यक्ति अपने निज के कुटुम्ब परिवार को देखता है। जिस प्रकार हममें से हर एक को अपना-अपना परिवार सुविकसित करना है उसी प्रकार हम भी 'गायत्री परिवार' के सदस्यों को अपना निजी कुटुम्ब मानकर उसे ऐसे सुविकसित एवं सुसंस्कृत बनाना चाहते हैं जिसे देखकर दूसरों को भी उसी ढाँचे में ढलने की प्रेरणा मिले। पर हमारे यह प्रयत्न सफल तभी हो सकते हैं। जब प्रत्येक परिजन हमें भी वैसा ही आत्मीयता की दृष्टि से देखे और जो कहा या लिखा जा रहा है उसे भावनापूर्वक समझे। उपेक्षित बूढ़े लोग जिस प्रकार अपनी बेकार बक-झक करते रहते हैं और घर के लोग उनकी बातों पर ध्यान नहीं देते यदि यही स्थिति अपनी भी रही तो वह स्वप्न साकार न हो सकेगे,

हमारी आकांक्षा इसी प्रकार पूर्ण हो सकती है, युगनिर्माण की प्रयोग-प्रक्रिया इसी तरह कार्यान्वित हो

सकती है कि परिवार के सभी स्वजन 'अखण्ड-ज्योति' को अपनी सत्परामर्शदात्री युग प्रेरणा अनुभव करते हुए उसे ध्यानपूर्वक समझें। हम सम्पादक, साहित्यकार या आचार्य जी बनकर नहीं रहना चाहते। हमारा स्थान अपने परिवार में वही होना चाहिए जो उसी घर से रक्त-सम्बन्धित अभिभावकों का होता है। इतनी आत्मीयता भी यदि हम लोगों के बीच न बन सकी तो उपेक्षित परदेशी की स्थिति में परिजनों के गुण-कर्म-स्वभाव में ही परिवर्तन लाना हमारे लिए कैसे संभव हो सकेगा।

स्वजनों के प्रगाढ़ सौजन्य की ही हमें आशा है। इसी आशा के बल पर इतना बड़ा संकल्प किया गया। अब तक जितना मिला है उससे ज्यादा आगे मिलना चाहिए। क्योंकि अब तक जितने कदम उठाये गये हैं यह अगला कदम उन सबसे अधिक बड़ा है और कठिन भी। इसके लिए परिजनों का प्रगाढ़ सौजन्य न मिला तो हमारे पैर लड़खड़ाने लगेंगे। इसका ध्यान रखना प्रत्येक परिजन का कर्तव्य है। इस कर्तव्य की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।



युग निर्माण योजना की रूपरेखा और कार्यपद्धति

परिवर्तन होकर रहेगा

वर्तमान विकृतियों, कुत्साओं और कुण्ठाओं का दम घोटने वाला सिलसिला देर तक चलने वाला नहीं है । युग परिवर्तन एक सुनिश्चित संभावना है । आज मनुष्य में जो स्वार्थपरता, संकीर्णता, विलासता और अहम्मन्यता की अति हो चली है उसे देर तक चलने दिया जाय तो आदमी-आदमी को खाने लगेगा । समाज में जिन दुष्प्रवृत्तियों और दुष्ट परम्पराओं ने जड़ जमा ली है उनका सिलसिला आगे भी चला तो इस विश्व को अणु बमों की आग में जल-जलकर आत्म-हत्या करने के लिए विवश होना पड़ेगा । ईश्वर ने अपनी सर्वोत्तम कला की प्रतीक इस धरती को इसलिए नहीं बनाया है कि उसका ऐसा दुखद अन्त हो और अपने राजकुमार ज्येष्ठ पुत्र मनुष्य को अगणित विभूतियों से इसलिए नहीं सँजोया है कि उसे सामूहिक आत्म-हत्या करने की चरम मूर्खता का परिचय देना पड़े । इन दिनों स्थिति बिगड़ जरूर गई है पर बिगड़ी स्थिति को सुधारने के लिए समय-समय पर अवतरित होती रहने वाली अवतरण सत्ता का क्रम भी टूटा नहीं है । इतिहास में अनेक बार लगभग ऐसी ही विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं जैसी कि आज हैं । उनके हल भी निकले हैं । भगवान ने अपनी विशेष प्रतिनिधि शक्ति देवदूतों के रूप में भेजी हैं और उन्होंने समय के अनुरूप समाधान प्रस्तुत करके इस विश्व को विषम परिस्थितियों से उबारा है । उस परम्परा की आगे भी पुनरावृत्ति होकर रहेगी । अगले दिन ऐसी ही संभावना लेकर युग परिवर्तन का पुण्य प्रकाश अवतरित होने जा रहा है । उसे हम ईश्वर की सन्तुलित व्यवस्था या अवतरण प्रक्रिया कहें तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी ।

वर्तमान परिस्थितियों में परिवर्तन किस क्रम से होगा और उसका स्वरूप क्या बनेगा, इसका पूर्वाभास इन पृष्ठों में प्रस्तुत किया जा रहा है । कहना न होगा कि आज की विचार-पद्धति ही समस्त उलझनों और विपत्तियों का एक मात्र कारण है । प्रस्तुत विचार शैली, मान्यताएँ, अभिरुचियाँ, आकांक्षाएँ एवं आस्थाएँ ऐसी हैं जिनने मनुष्य को उसके उच्च आसन से गिराकर पतन के गहरे गर्त में धकेल दिया है और नारकीय अन्तर्द्वन्द्वों की आग में जलने के लिये विवश कर दिया है । इस स्थिति का आमूल-चूल परिवर्तन किया जाना है । आज जिस ढर्रे से सोचने के हम आदी-अभ्यस्त हो गये हैं उसे पूर्णतः बदलना होगा और एक ऐसी विचारशैली अपनाने के लिए आदमी को विवश करना पड़ेगा जो न्याय, विवेक और औचित्य पर आधारित हो । समय के साथ परम्पराएँ बदलनी पड़ती हैं । किसी समय की परिस्थितियों में कोई विचार एवं आचार उपयुक्त समझे गये हों-आवश्यक नहीं कि वे आज भी इतने ही उपयोगी हों । आदर्श सनातन है । उत्कृष्टता अनादि है । पर व्यवस्था तो परिस्थिति के अनुरूप बदलनी ही चाहिए । आज का सोचने का ढंग इस तरह का बन गया है जिसके अतिरिक्त अन्याय और औचित्य की मात्रा इतनी बढ़ गई है कि उसमें भारी हेर-फेर करने की आवश्यकता अनिवार्य हो गई है । युग निर्माण योजना 'ज्ञान-यज्ञ' अभियान के माध्यम से यही सब कर रही है । आशा की जानी चाहिए कि अगले कुछ ही वर्षों में मनुष्य अपने मन-मस्तिष्क में भरे कूड़े-कचरे को बुहार कर फेंक देगा और उसके स्थान पर औचित्य भरी मान्यता को सजाने में जुट पड़ेगा ।

विचारों के परिवर्तन का प्रभाव आचार बदलने के रूप में सामने आना अवश्यम्भावी है । विचार यदि गहराई तक अन्तःकरण में प्रवेश पा सकें और उन्हें आस्थाओं के रूप में प्रतिष्ठापित किया जा सके तो उस आन्तरिक परिवर्तन का प्रभाव निश्चित रूप से आचरण पर पड़ेगा । जैसा सोचा जाता है, वैसा किया भी जाता है । आदर्शवादी आस्थाओं को उत्कृष्ट आचरण में प्रस्तुत परिलक्षित होना ही चाहिए सो अगले दिनों जैसे-जैसे निकृष्ट विचारणा का स्थान उत्कृष्ट विचार-पद्धति ग्रहण करेगी वैसे-वैसे ही मनुष्य के वैयक्तिक आचरण बदलेंगे और सामाजिक परम्पराओं में भारी हेर-फेर होगा । इस प्रकार के परिवर्तन को किस तरह लाया जा सके और आज की उलझी समस्याओं को अगले दिनों किस तरह हल किया जायगा ? इसकी मोटी रूपरेखा इन पृष्ठों में प्रस्तुत की गई है । समस्त समस्याओं का उल्लेख और उनके समाधान तो आज प्रस्तुत नहीं किये जा सकते पर दिशा जरूर दी जा सकती है । सो दी भी गई है । परिवर्तन के दिनों अगणित नये प्रश्न और नये कारण उठ खड़े होते हैं और उन्हें ध्यान में रखते हुए तात्कालिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए कुछ ऐसा करना पड़ता है जो आरम्भ मे सोचे हुए ढर्रे से भिन्न चला जाता है । कार्लमार्क्स ने तथा उनके समकालीन दार्शनिकों ने जिस तरह के साम्यवाद की कल्पना की थी । व्यवहार ने उसमें बहुत हेर-फेर करने की आवश्यकता अनुभव की है और विभिन्न दिशा में उसका प्रयोग विभिन्न सुधार परिवर्तनों के साथ किया जा सकता है । युग परिवर्तन की जो मोटी रूपरेखा इन पृष्ठों में प्रस्तुत की गई है, हो सकता है उसमें समयानुसार हेर-फेर करना आवश्यक हो जाय किन्तु मूल कल्पना, मान्यता और दिशा जो सोची गई है वह ऐसी है कि जिसे सिद्धान्तों और आदर्शों की दृष्टि से

बदला न जा सकेगा । प्रस्तुत आदर्श वे ही हैं जो अनादि काल से मानवीय सुख-शान्ति का आधार रहे हैं जिनका पग-पग पर प्रयोग-परीक्षण होता रहा है—जो हर कसौटी पर खरे सिद्ध हुए हैं और अनन्त काल तक उनकी उत्कृष्टता, उपयोगिता अक्षुण्ण सिद्ध होती रहेगी ।

व्यक्ति के विचार और आचरण में आगामी समय में लगभग आमूलचूल परिवर्तन होने जा रहा है । वर्तमान ढर्रे में औचित्य की मात्रा नगण्य है । उसमें अवांछनीयता ही पड़ी है, इसे बदले बिना सुख-शान्ति के दर्शन दुर्लभ ही रहेंगे । उसी प्रकार समाज का वर्तमान ढाँचा जिन आधारों पर खड़ा हुआ है उन्हें भी इतना अधिक बदलना पड़ेगा जिसे आकाश-पाताल की तरह भिन्न कहा जा सके । इन दिनों की रीति-रिवाजें, प्रथा-परम्पराएँ, कानून और गतिविधियाँ अगले दिनों नये सिरे से ही गढ़नी-बदलनी पड़ेंगी तभी विश्व की स्थिरता और उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना दृष्टिगोचर होगी ।

हम ऐसे समाज में रहना चाहते हैं जहाँ सब लोग एक-दूसरे को प्यार करें, सद्भाव रखें और परस्पर उदारता एवं सहायता का मधुर व्यवहार किया करें । हर व्यक्ति परिश्रमी और सन्तोषी हो । ईमानदारी और सच्चाई की नीति अपनाते हुए सादगी का जीवन उच्च आदर्शों के साथ बितायें । कोई किसी का न अनहित, चाहे न द्वेष करे और न अनधिकार चेष्टा करके किसी के स्वत्वों का अपहरण किया जाय ।

सुख और दुःख को मिल-बाँटकर भोगें, अपना ही नहीं दूसरों का सुख-दुःख भी सब लोग अपना ही मानें । जितनी इच्छा अपनी उन्नति एवं सुविधा की रहती है उतनी ही दूसरों की भी रहे । नर-नारियों के बीच पवित्र भावनाओं की गंगा जैसी निर्मल धारा बहती रहे । दाम्पत्ति-जीवन की मर्यादाओं से बाहर कोई किसी को विकार की दृष्टि से न देखे । तृष्णा और वासना को, ख्याति और पदवी को तुच्छता की दृष्टि से देखा जाय । कर्त्तव्य पालन के आत्मसन्तोष में परिपूर्ण तृप्ति अनुभव हो । अपराध कहीं देखने-सुनने को भी न मिलें । कोई किसी का अहित न चाहे, कोई किसी को दुःखी न करे । संयम और व्यवस्था का जीवन बिताते हुए लोग नीरोग रहें और दीर्घकाल तक सुख-पूर्वक जिएँ ।

जब मनुष्य इस प्रकार की जीवन-नीति अपना लेंगे तो रोग-शोक, भय, क्लेश, अभाव, युद्ध, दुर्भिक्ष, प्रकृति-प्रकोप जैसे उत्पात भी कहीं देखने को न मिलेंगे । ऐसा समय ही सतयुग कहलाता है । जो विपत्तियाँ आज चारों ओर से उमड़ती-घुमड़ती रहती हैं, जो समस्यायें सारे संसार को चिन्तित किये रहती हैं वे दैवी नहीं मनुष्य कृत हैं । वह यदि अपने को सँभाले, सुधारे तो परिस्थितियाँ सुधरने में देर ही कितनी लगे ? प्राचीनकाल में जब नीति और धर्म को जन-मानस में समुचित स्थान प्राप्त था तो इस धरती पर ही स्वर्ग बिखरा पड़ा रहता था । आज के जैसी आकृति वाले मनुष्य ही तब उच्च प्रकृति के कारण देव बने हुए विचरण करते थे । ऐसा स्वर्णिम युग यदि पूर्व काल में रह चुका है तो प्रयत्न करने पर अब वैसा ही फिर क्यों नहीं हो सकता ?

मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है । प्रयत्न करने पर वह यह सोच और समझ सकता है कि उसका वास्तविक कल्याण किस में है । कुविचारों और कुकर्मों को अपनाकर सुख प्राप्त करने की उसकी आकांक्षा पूर्ण नहीं हुई । इतिहास भी उसकी व्यर्थता सिद्ध करता है और प्रत्यक्ष अनुभवों से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि 'पाप करने और सुख पाने' की नीति गलत है । उससे किसी अच्छे परिणाम की आशा नहीं की जा सकती । सादगी और सच्चाई का जीवन चाहे देखने में साधारण ही क्यों न प्रतीत हो, चमक-दमक के आकर्षणों से रहित ही क्यों न हो, अन्ततः श्रेयस्कर ही सिद्ध होता है । सन्तोष और आनन्द उसी में मिल सकता है ।

मनुष्य जाति समय-समय पर विभिन्न प्रयोग करती रही है, अतीत में समय-समय पर उसने अनुभवों से लाभ उठाया और भूलों को सुधारा है । यदि समुचित प्रयत्न किये जायें तो वे सीधी चाल पर चलने के लिये फिर भी उद्यत हो सकती है । शान्ति का आकांक्षी मनुष्य, उसके उचित मूल्य को चुकाने के लिए रजामंद हो भी सकता है । यह कोई असम्भव बात नहीं है कि भौतिकवाद के दुष्परिणामों को भली प्रकार देख लेने के बाद विश्व मानव की अन्तरात्मा पुनः अध्यात्मवाद की ओर मुड़ पड़े । इस प्रकार का तनिक-सा परिवर्तन हो सके, दृष्टिकोण में जरा-सा अन्तर आ जाय, जितनी चेष्टा कुमार्ग पर चलने की रहती है उससे आधी भी सन्मार्ग की ओर होने लगे, तो युग-परिवर्तन का स्वप्न साकार होने में देर कितनी लगेगी ?

पाप-कर्मों की योजना, तैयारी एवं सफलता अत्यधिक चतुरता पर निर्भर रहती है । कम प्रयत्न, कम साहस, कम प्रतिभा,कम बुद्धिमत्ता से पाप कर्म कर सकना संभव नहीं हो सकता । यदि कोई वैसा दुस्साहस करेगा तो उसकी कलई जल्दी ही खुल जायेगी । पाप करना और उसे छिपा लेना, दंड से बचे रहना साधारण चतुरता का काम नहीं है । जो लोग इतना कर सकते हैं वे इससे आधी भी चतुरता सत्कर्मों में लगा दें तो जीवनमुक्त नहीं तो महापुरुष अवश्य ही बन सकते हैं ।

सच्चाई का मार्ग सीधा और सरल है । कम बुद्धिमान आदमी भी ईमानदारी का आचरण कर सकता है । सन्मार्ग पर चलने लगना वस्तुतः कुछ विशेष कठिन नहीं है । थोड़ी-सी सादगी अपना ली जाय, जरा-सी मेहनत और बढ़ा दी जाय, मन की लोलुपता को जरा-सा रोक लिया जाय तो ईश्वर का पुत्र-मनुष्य जो आत्मा बनकर इस धरती पर अवतीर्ण हुआ है यहाँ से परमात्मा बनकर वापिस जाने की शानदार सफलता प्राप्त कर सकता है । जीवन का पूरा-पूरा लाभ ले सकता है ।

प्रयत्न से सब कुछ हो सकता है । प्रयत्न से युग भी बदला जा सकता है । प्रगति के पथ पर हर दिशा में

से कदम बढ़ाते चलने वाले मनुष्य के लिए यह बात क्यों कठिन होनी चाहिए कि यह विवेक-संगत दृष्टिकोण के साथ अपनी जीवन-नीति निर्धारित करे और यदि पिछले दिनों कुछ भूल होती रही है तो उसे साहसपूर्वक सुधार ले, इस प्रकार का मोड़ अब आने ही वाला है। विश्व-मानव की अन्तरात्मा अब आकुलतापूर्वक यह चाहने लगी है कि समय बदले, परिस्थितियाँ उलटें और शोक-सन्ताप उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों पर अंकुश लगे। अन्तरिक्ष से, दसों-दिशाओं से यही प्रतिध्वनि उठती है और ईश्वरीय आश्वासन मिल रहा है कि यह परिवर्तन निकट भविष्य में होकर रहेगा।

नाव में लगे रहने वाले पतवार कितने ही तुच्छ प्रतीत क्यों न हों नौका की दिशा बदल देने का श्रेय उन्हीं को मिलता है। रेल की लाइन बदलने वाले, मोटर को घुमाने वाले, जहाजों की दिशा फेरने वाले पुर्जे छोटे-छोटे होते हैं पर इन शक्तिशाली यंत्रों का संचालन इन्हीं के आधार पर संभव होता है। घोड़े के मुँह में रहने वाली लगाम, ऊँट की नकेल, बैल की नाथ, हाथी का अंकुश, सरकस के शेर का हंटर जरा-जरा से ही तो होते हैं पर उन्हीं से यह शक्तिशाली पशु नियंत्रण में रखे और उपयोग में लाए जाते हैं। समाज भी एक प्रबल पशु एवं शक्तिशाली यंत्र वाहन के समान है। इस पर नियंत्रण करने के लिए ऐसे जननायकों की आवश्यकता होती है जो पतवार बनकर जन-प्रवृत्ति को नौका की तरह सही दिशा में मोड़ सकें। ऐसे मनस्वी व्यक्तियों ने जब कभी सच्चे मन और प्रबल पुरुषार्थ के साथ प्रयत्न किया है तो उन्हें सफलता ही मिली है।

बुद्ध, ईसा, गान्धी, दयानन्द, कार्लमार्क्स जैसी आत्माएँ, जनमानस की दिशा को समय-समय पर प्रचंड मोड़ देने में सफल हुई हैं। युग की आवश्यकता को पूरा करने के लिए ऐसे व्यक्ति भी उत्पन्न होते हैं जो प्रवाह की दिशा को उलट दें। प्राचीनकाल में ऋषियों और तपस्वियों के शरीर ऐसी ही चट्टानों का काम करते थे जिनसे टकराकर नदियों की प्रचंड धाराएँ अपनी दिशा बदलने को विवश होती थीं। महापुरुषों के शरीर और मस्तिष्क साधारण मनुष्य जैसे ही होते हैं पर उनमें आदर्श के लिए कुछ त्याग करने की दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है।

अधिक पका हुआ पत्थर का कोयला ही 'हीरा' कहलाता है। आदर्शों के लिए निष्ठा रखने वाले और उस निष्ठा की रक्षा के लिए कुछ कर गुजरने का साहस रखने वाले मनुष्य ही महापुरुष होते हैं। कोयले के अन्य टुकड़ों की अपेक्षा हीरा अधिक चमकता है। साधारण मनुष्यों की स्थिति में रहने वाला महापुरुष अपनी निष्ठा और दृढ़ता के कारण ही इतिहास के आकाश में उज्ज्वल नक्षत्र की तरह प्रकाशवान होता है।

ऐसे निष्ठावान् व्यक्ति जो आदर्शवाद को केवल पसन्द ही न करें वरन् उसे व्यवहार में लाने के लिए कटिबद्ध हों और उस मार्ग में चलते हुए यदि असुविधाओं से भरा हुआ जीवन व्यतीत करना पड़े तो उसके लिए भी तत्पर रहें, महापुरुष कहलाते हैं। उन्हें ही इस धरती के धर्मस्तंभ कहते हैं। विख्यात होना न होना अवसर की बात है। नींव में रखे हुए पत्थरों को कोई नहीं जानता, किन्तु शिखर के कँगूरे सबको दीखते हैं पर श्रेय इन कँगूरों को नहीं नींव के पत्थरों को ही रहता है। कँगूरे टूटते-फूटते और हटते, बदलते रहते हैं पर नींव के पत्थर अडिग हैं। जब तक भवन रहता है तब तक ही नहीं वरन् उसके नष्ट हो जाने के बाद भी वे जहाँ के तहाँ बने रहते हैं। इसी प्रवृत्ति के बने हुए लौह-स्तम्भों को युग-पुरुष कहते हैं। उन्हीं के द्वारा युगों का निर्माण एवं परिवर्तन व्यवस्था सम्पन्न होती है।

विश्व-शान्ति का विशाल भवन खड़ा करने के लिए ऐसे ही लौह-स्तम्भों की आवश्यकता है जो बातें बनाने में, यश लूटने में दक्ष न हों वरन् त्याग और बलिदान का दबाव सहने के लिए भी तैयार रहें। ताजमहल विश्व की सबसे सुन्दर और सुदृढ़ इमारतों में एक है। उसकी नींव में लाखों मन लोहा और सीसा गलाया गया है ताकि उसकी मजबूती और स्थिरता में कमी न आवे। उसके हर पत्थर को परखकर लिया गया है–जिसे लगाया गया है उसे उचित रूप से घिसा और चमकाया गया है। नक्काशी करते समय जो पत्थर छैनी और हथौड़ों की चोटें शान्ति पूर्वक सहते रहे हैं वे ही उस सुन्दर इमारत में सुसज्जित रूप से प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहे हैं। कारीगर की चोटें जो नहीं सह सके; टूट गये, उनको कूड़े-कचरे में ही स्थान मिल सका।

युग निर्माण आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विश्व-व्यापी विपन्नताओं का समाधान और किसी प्रकार संभव नहीं, रास्ता एक ही है–केवल एक। जब तक मानव मन में भरी हुई दुष्प्रवृत्तियों को हटाकर उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठापना न होगी तब तक संसार की एक भी उलझन न सुलझेगी।

प्रवृत्तियों के परिवर्तन की दिशा में हर मनुष्य चाहे वह कितना ही अयोग्य एवं तुच्छ क्यों न हो, कुछ-न-कुछ कर सकता है। ऐसा कर्तृत्व जन-मानस में उत्पन्न किया जाना चाहिए। प्रश्न केवल यह है कि इसे करे कौन? नींव का पत्थर, नाव का पतवार, रेल की पटरी, मोटर का पेट्रोल देखने में तुच्छ भले ही लगें पर अनिवार्य आवश्यकता तो उन्हीं की रहती है। यह आवश्यकता पूर्ण न हो तो इन शक्तिशाली यंत्रों की गतिविधियाँ रुकी ही पड़ी रहेंगी। आज प्रगति का अभियान इसीलिए रुका पड़ा है कि उसे अग्रगामी बनाने वाले लौह-पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होते। सस्ती वाहवाही लूटने वाले लुटेरे हर जगह मौजूद हैं, नाम बड़ाई के भूखे भिखारी जनसेवा के सदावर्त से अपनी भूख बुझाने के लिए इधर-उधर मारे-मारे फिरते रहते हैं पर बीज की तरह गलकर विशाल वृक्ष के रूप में परिणत जो हो सकें ऐसा साहस किन्हीं विरलों में होता है।

युग निर्माण की नींव खोदी जा चुकी है और उस विशाल भवन के निर्माण की योजना भी बन चुकी है।

अब केवल नींव में रखे जाने वाले पत्थरों की तलाश है । भारत भूमि की विशेषता और ऋषि रक्त की महत्ता पर जब ध्यान देते हैं तो यह विश्वास सहज ही हो जाता है कि कर्त्तव्य की पुकार सुनने और उसे पूरा करने वाले तत्व यहाँ सदा से रहे हैं और अब भी उनका बीज नाश नहीं हुआ है ।

यह सब कैसे, किसके द्वारा, किस तरह होगा इसकी एक रूपरेखा युग निर्माण योजना ने प्रस्तुत की है । प्रस्तुत कर्त्ता का दावा है कि अगले दिनों इसी पटरी पर प्रगति की रेलगाड़ी द्रुतगति से दौड़ेगी । दूसरे विकल्प सोचे भले जायँ पर वे सफलता के लक्ष्य तक पहुँच न सकेंगे । समय बतायेगा कि इन पंक्तियों में प्रस्तुत भविष्य की रूपरेखा उतनी सही, सार्थक और सफल होकर रही और उसने विश्व मानव के परित्राण में कितना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । योजना के पीछे ईश्वरीय इच्छा या प्रेरणा की झाँकी जो देखते हैं उन्हें भविष्य सही सोचने वाला ही प्रमाणित करेगा ।

हमारी असंख्य समस्याओं का एकमात्र हल विचार-क्रान्ति

हमारे सोचने का ढंग यदि सही रहा होता तो व्यक्ति और समाज के सामने उपस्थित अगणित समस्याओं और व्यथा-वेदनाओं में से एक का भी अस्तित्व दृष्टिगोचर न होता और हम सब ईश्वर के राजपुत्रों की तरह हर्ष और उल्लास का, सुख और शांति का जीवन जी रहे होते । सुर-दुर्लभ इस मानव जीवन को नारकीय जीवन की प्रताड़ना भुगतने के लिए विवश करने वाला एक ही अनात्म तत्व है–बुद्धि विपर्यय । हम सब मरघट के प्रेत-पिशाचों की तरह इसी विभ्रम की आग में बुरी तरह जलते-तड़पते जिन्दगी के दिन पूरे कर रहे हैं, यदि इस दुर्भाग्य से बच सकना सम्भव रहा होता तो आज मानव समाज का–समस्त संसार का स्वरूप ही कुछ और होता । तब इस धरती पर निछावर होने के लिए स्वर्ग नीचे उतरता और उसकी परिक्रमा-अभ्यर्थना करता ।

जबकि वन्य प्रदेशों में स्वच्छन्द निवास करने वाले अभावग्रस्त और कष्टसाध्य जीवन जीने पर भी पशु-पक्षियों में से एक भी बीमार नहीं पड़ता तो मनुष्यों के ऊपर ही क्यों विपत्ति टूटी, जो पूर्ण स्वस्थ कहा जाने वाला कोई नहीं दीखता । चल फिर लेने वाले को बीमार न कहें यह दूसरी बात है पर बारीकी से निरीक्षण-परीक्षण करने पर प्रतीत होगा कि न्यूनाधिक मात्रा में शत-प्रतिशत लोग शारीरिक और मानसिक रोगों से ग्रस्त रुग्ण जीवन जी रहे हैं भले ही अभ्यास के कारण वह अखरता न हो ।

ऐसा क्यों हुआ ? उत्तर एक ही है–मनुष्य ने अपनी आहार-विहार की आदतों को अवांछनीय, अप्राकृतिक ढाँचे में ढाला और अस्वस्थता को निमन्त्रण देकर बुलाया, कीमत देकर खरीदा । यदि कोई तीव्र चिन्तन प्रणाली हमें उपरोक्त तथ्य स्वीकार करा सके और आहार-विहार के संयम पर आरूढ़ होने के लिये विवश कर सके तो निस्सन्देह हम सब प्रकृति पुत्रों की तरह स्वच्छन्द, उल्लसित, सुदृढ़ और नीरोग जीवन जीने लगेंगे । तब औषधियों की, अस्पतालों की, डाक्टरों की तनिक भी आवश्यकता न रहेगी किन्तु रवैया यही रहा, वर्तमान अभक्ष आहार ही किया जाता रहा और अस्त-व्यस्त दिनचर्या असंयम एवं कृत्रिमता में रस लेने का क्रम चलता रहा तो बीमारियाँ और भी बढ़ेंगी, स्वास्थ्य-संकट और भी सघन होगा । अपनी सारी आमदनी चिकित्सा पर खर्च कर देने के उपरान्त भी कोई चैन की साँस न ले सकेगा । उसे अस्वस्थता पटक-पटककर मारेगी और अपने उलटे रवैया का दंड पग-पग पर भुगतने के लिये विवश होना पड़ेगा । हम प्रकृति के कानून तोड़ने के लिए तो स्वतन्त्र हैं पर उसकी प्रतिक्रिया से–दण्ड व्यवस्था से बच सकना अपने वश की बात नहीं ।

यदि रोगों से छुटकारा पाना हो तो आज या आज से हजार वर्ष बाद मनुष्य को इसी मान्यता को अपनाना पड़ेगा कि प्राकृतिक आहार-विहार अपनाने के अतिरिक्त नीरोग रहने एवं दीर्घजीवन का और कोई मार्ग नहीं जिस दिन हम प्रचलित असंयम को–सभ्यता समझने की मान्यता को बदल देंगे अपने सोचने का ढंग सुधार लेंगे उसी दिन मानव जीवन पर लगा हुआ अस्वस्थता का ग्रहण उतर जायगा । इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य सुधार के अन्य उपाय-भले ही देखने में कितने ही आकर्षक लगते हों–मात्र मन बहलाने वाली विडम्बना बनकर रहेंगे ।

वह महामानव जो लोगों को आहार-विहार का वर्तमान रवैया छोड़ने और नैसर्गिक जीवन जीने की प्रेरणा दे सके निस्सन्देह दूसरा धन्वन्तरि कहलावेगा । उसका विवेक अनुदान अमृत-कलश छिड़ककर समस्त विश्व को मृत से जीवित बनाने का उपाय करेगा । अस्पताल बनने से किसी को सस्ती वाहवाही और अहंकार की तुष्टि मिल सकती है, पर रहेंगे सब कोल्हू के बैल के घेरे में ही दवा लेकर दस-बीस दिन अच्छे रहने के बाद असंयमी जीवन उन्हें फिर बीमार पड़ने के लिये विवश करेगा । रोज दवा-रोज बीमारी का मनोरंजक खेल है तो अच्छा । मनोरंजन की दृष्टि से अस्पताल खोलना भी बुरा नहीं पर बारीकी से देखा जाय तो उसमें हित किसी का कुछ होने वाला नहीं । प्रकृति बीमार का 'झटका' कर सकती थी । अस्पताल ने उसे हलाल करने का ढंग बना दिया, सिख लोग जानवर को एक ही बार में 'झटका' करके माँस निकालते हैं । जबकि मुसलमान लोग गले पर धीरे-धीरे छुरी चलाकर जिबह करते हैं । घुट-घुट कर देर में मरने का रास्ता भर अस्पतालों और औषधियों से खुल सकता है । आरोग्य और दीर्घजीवन उसके बलबूते की बात नहीं, वह तो संयमी और प्रकृति अनुकूल गतिविधियाँ अपनाने पर ही

सम्भव है । यह तथ्य समझने-समझाने की प्रक्रिया यदि किसी योजना के अन्तर्गत पूरी की जा सकती है तो समझना चाहिए कि संसार के समस्त अस्पतालों औपधि निर्माण शालाओं, मेडीकल कॉलेज, शोध संस्थान, डाक्टरों से मिलकर जितनी लोक-सेवा हो रही है उसकी अपेक्षा इस विचार परिवर्तन-प्रक्रिया से लाख गुनी अधिक सार्थक सेवा हो सकती है ।

गरीबी का कष्ट संसार में बहुत है । तीन-चौथाई लोग अपने को अर्थ संकट में फँसा हुआ अनुभव करते हैं । इसका कारण राजनीतिक क्षेत्र के नेताओं की अदूरदर्शिता तो है ही साथ ही व्यक्ति की कठोर श्रम से बचने की–आरामतलबी की, ठाठ-बाट बनाने की, सामाजिक कुरीतियों से चिपके रहने की आदत भी इस संकट के लिए कम जिम्मेदार नहीं है । यदि लोग पसीना बहाकर कड़ी मेहनत करने की आदत डाल लें तो अपनी यह जमीन दस गुना अधिक उत्पादन दे सकती है । शिल्प, व्यवसाय, कारखाने सोना उगल सकते हैं । जापान और इजराइल जैसे छोटे देशों के उदाहरण सामने हैं । वहाँ के नागरिकों ने–श्रमशीलता को अपनी आराध्या देवी बनाया और निरालस्य को देवता, कमर कसकर परिश्रम से लिपट गये तो स्वर्ग के देवताओं ने सम्पत्तियाँ, विभूतियाँ और सफलताएँ ढन भर बरसाईं । अपने घर में अच्छी खेती होते हुए भी लड़के तनिक-सी पढ़ाई पढ़ लेने के बाद शहरों में क्लर्की ढूँढ़ने और नरक जैसी गलियों के गन्दे मकानों में सड़ने के लिए लालायित फिरते हैं । यह श्रम की अप्रतिष्ठा और आरामतलबी की आदत का मोटा नमूना है । जब तक यह मनोभूमि बनी रहेगी अपने देश का उत्पादन न बढ़ेगा । गाँवों से शिक्षित लड़के, पानी में डूबने के लिये तालाब की ओर दौड़ने वाले पागल सियारों की तरह–शहरों की ओर भागते रहेंगे तब तक ८० फीसदी गाँवों में बसा हुआ भारत आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में प्रगति कर ही नहीं सकता ।

सामाजिक कुरीतियाँ हमारी हड्डियों को चबाती हैं और नस-नस पर चिपकी हुई जोंकों की तरह हमें दरिद्रता की यन्त्रणा सहते रहने के लिए विवश करती हैं । प्रचलित विवाह प्रथा को ही लीजिए । किसी भी परिवार में आये दिन खड़े रहने वाले विवाह इतना पैसा माँगते हैं कि उनकी पूर्ति साधारण कमाई से नहीं हो सकती । हर किसी को बेईमानी से धन कमाने की बात सोचनी पड़ती है । सोचनी ही नहीं करनी भी पड़ती है । अपने समाज में आधे से अधिक लोग बेईमानी से पैसा कमाने के आदी हैं यह उनकी विवशता भी है । इतना पैसा विवाह-शादियों में होली फूँकने के लिये आखिर आये कहाँ से ? आये कैसे ? बेईमानी ही एकमात्र रास्ता रह जाता है यों अपना समाज दिन-दिन उसी पाप-पंक में डूबता चला जाता है । जो पैसा घर-परिवार की उन्नति में, शिक्षा-व्यवसाय संवर्धन आदि में खर्च किया जा सकता था और परिवारों को रूस, अमेरिका, जापान आदि देशों के सुसम्पन्न स्तर पर लाया जा सकता था–वह यदि रूढ़ियों और कुरीतियों में इसी तरह बर्बाद होता रहे तो अभी अपने देश को अर्थ-संकट में हजार वर्ष तक और सड़ना पड़ेगा ।

उत्पादन के नये आधार ढूँढ़ना अर्थशास्त्रियों के मस्तिष्कों की कलाबाजी और जिन्हें कुछ करना ही ठहरा उनकी ऑफिसानी की तरकीबें देखने-सुनने में बहुत अच्छी लगती हैं और साधारण मस्तिष्क इसी भ्रम में मोहित हो जाता है कि शायद अगले ही दिनों अपने यहाँ समृद्धि आने वाली है । उत्पादन, व्यवसाय एवं कला-कौशल की भारी योजनाएँ बनते और चलते देखते हुए स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कितने वर्ष ऐसी ही मृगतृष्णा में चले गये । अभी और हजार वर्ष तक ऐसे ही कमी पूरी होने वाली प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है । यदि लोगों को घोर परिश्रमी, मितव्ययी, सादगीप्रिय और रूढ़ियों को कुचल डालने के लिए प्रेरणा न दी गई और वर्तमान मनोवृत्तियाँ कायम रहीं तो देश से न तो बेईमानी जायेगी और न गरीबी । बेईमानी का धन व्यसनों में नष्ट होगा, कुरीतियाँ हमें दरिद्र बनायेंगी । आराम तलबी में उत्पादन गिरेगा और फिर सम्पदा कोई आसमान से थोड़े ही टूटने वाली है । कोल्हू के बैल की तरह हम तथाकथित योजनाओं के चक्कर में घूमते तो मजे में रहेंगे पर बढ़ना एक इन्च भी आगे न हो सकेगा ।

यदि कोई ऐसा पथ-प्रदर्शक संसार में आये या ऐसा विचार-प्रवाह फैले जो कामचोरी-आरामतलबी बनावट-फिजूल खर्ची और कुरीतियों की बेवकूफी से लोगों को विरत कर सके तो अपना देश पाँच साल में फिर उसी स्थिति में पहुँच सकता है जिसकी चर्चा सुनकर कोलम्बस के मुँह में पानी भर आया था और इस 'सोने की चिड़िया' भारत को तलाश करने के लिए उसने लम्बी जहाजी यात्रा की थी ।

अर्थ-दरिद्रता हमारी मानसिक-दरिद्रता की प्रतिक्रिया, प्रतिच्छाया मात्र है । जब तक विचार-पद्धति न सुधरेगी–अर्थ संकट दूर होने की आशा दुराशा मात्र ही बनी रहेगी । कुबेर का खजाना लेकर घर-घर में स्वर्ण भण्डार जमा कर जाने वाले किसी देवदूत की अपेक्षा यह आन्दोलन अधिक गरिमाशील कहा जायेगा जो लोगों की वर्तमान सदोष विचार-प्रणाली मे आमूल-चूल परिवर्तन करके रख दे । चाहे व्यक्तिगत समृद्धि की बात हो चाहे समूहगत सम्पन्नता का विषय हो उपाय एक ही है. लोगों का वर्तमान दृष्टिकोण बदला जाय । भले ही यह प्रक्रिया आज न सही हजार वर्ष बाद सम्पन्न की जाय पर अर्थ संकट के निवारण के लिये भी उतने ही दिन प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ।

मन को प्रफुल्लित करने के लिए इस सृष्टि में इतना विस्तृत आधार मौजूद है कि हर घड़ी हर्षोल्लास भरी अनुभूति का आस्वादन करते हुए प्रमुदित-पुलकित रहा जा सके । आसमान के तारे, धरती पर फैली हुई हरियाली, नदी, पर्वत, ऋतुओं के परिवर्तन, सुन्दर खिलौने जैसे पशु-पक्षी लोगों की उदारता और सेवा-बुद्धि के आधार पर

विकसित हो सका अब तक का अपना जीवन, गुलदस्ते जैसे परिवार, सत्पुरुषों के साथ कभी भी सत्संग प्रदान कर सकने वाली स्वाध्याय सुविधा, विज्ञान द्वारा विनिर्मित अगणित सुविधा-साधन आदि असंख्य धाराएँ इस संसार को ऐसी हैं जो प्रचुर-परिमाण में हमारे चारों ओर विद्यमान बनी रहती है और हर घड़ी प्रमुदित होने का अवसर प्रदान करती हैं। भगवान ने मानव जीवन के इर्द-गिर्द बिखरा वातावरण ऐसा सुरुचिपूर्ण बनाया है कि कोई सही मस्तिष्क वाला व्यक्ति जन्म से लेकर मरणपर्यन्त हर घड़ी हर्षोल्लास से भरी हुई बिता सकता है।

पर दुर्भाग्य को क्या कहा जाय जिसने हमारी विचार प्रणाली में विष घोल दिया और हम हर बात को उलटे ढंग से सोचने लगे। फल जो होना था वही हुआ। रंगीन चश्मा पहनने वाले को हर चीज रंगीन दीखती है। दुर्बुद्धि ग्रस्त मस्तिष्क अपने चारों ओर विद्रूप विडम्बना को अट्टहास करती देखता और डरता है। चिन्ता, भय, शोक, संशय, निराशा, उद्वेग के इतने ज्वालामुखी हमारे मस्तिष्क में फूटते रहते हैं कि आत्म-हत्या करने को जी चाहता है। दुःख के कारण उसे वास्तविक दीखते हैं जबकि वे बिल्कुल अवास्तविक और काल्पनिक हैं। कहावत है कि–'वहम की दवा लुकमान के पास नहीं।' सचमुच इस संशय एवं भ्रान्तिग्रस्त मस्तिष्कों को कल्प-वृक्ष के नीचे बिठाकर सारी मनोकामनाएँ पूर्ण कर दी जायें तो भी चैन मिलने वाला नहीं है। उलटी विचारणा कल्प-वृक्ष के नीचे भी दुर्बुद्धि ही सोचेगी और वहाँ भी उसे विपत्ति ही घेर लेगी।

उलटी बुद्धि का एक छोटा-सा नमूना देखा जाय। कई लोगों के सन्तान या लड़का नहीं होता। वस्तुतः यह लोग बहुत ही सुखी और सौभाग्यशाली हैं। कन्याओं के विवाह के बाद ढलती आयु निश्चिंत, निर्द्वन्द्व और शान्तिमय बिताते हुये अपना समय और धन परमार्थ प्रयोजन में लगाकर लोक-परलोक उज्ज्वल बना सकते हैं। जिनके कोई सन्तान नहीं है वे अतिशय सौभाग्यवान हैं। बढ़ती हुई आबादी में और बढ़ोतरी करना–अन्न के लिये पराश्रित नागरिकों के लिये एक विशुद्ध पातक है। इन दिनों जो जितनी सन्तान बढ़ा रहा है वह देश को उतना ही संकट में डाल रहा है। इस पाप से जिन्हें अनायास ही छुट्टी मिल गई वे सचमुच सौभाग्यवान हैं। बच्चों के पालन-पोषण से लेकर उन्हें स्वावलम्बी बनाने तक की प्रक्रिया कितनी महँगी और कष्टसाध्य है इसे सब जानते हैं। जितना श्रम, मनोयोग एवं खर्च लड़के के लिये करना पड़ता है उतना ही यदि भगवान के लिये किया जाय तो निस्सन्देह इसी जन्म मे भगवान मिल सकता है। वही अनुदान यदि परमार्थ प्रयोग के लिए लगाया जाय तो उतने से ही असंख्य लोगों को प्रेरणा देने वाली एक संस्था चल सकती है। आजकल के लड़के बड़े होने पर अभिभावकों को केवल त्रास ही देते हैं। अपने हाथों की कमाई भी किसी अच्छे काम के लिये खर्च करनी हो तो लड़के उसे रोकते हैं, वे चाहते हैं हराम का सारा माल हमें ही मिले, यहाँ तक कि अपनी बहिनों को देता देखें तो कुढ़ते और विरोध करते हैं। कोई यह चाहता हो कि लड़के का बाप बनकर बुढ़ापे का आधार मिल जायेगा तो और भी दुराशा मात्र है। कुत्ता पराये घर रहकर जिसका कुछ प्रयोजन पूरा करता है उसी के यहाँ रोटी पा लेता है। बेटे के ऊपर कुत्ता तक निर्भर नहीं तो मनुष्य के लिये यह सोचना कि बेटे बिना बुढ़ापा न कटेगा नितान्त मूर्खता है।

अपने देश में बेटा न होने पर अति दुःखी लोग हर जगह पाये जाते हैं। इनमें से कितने ही दूसरा विवाह करते-कितने ही खानदान का लड़का गोद लेते देखे जाते हैं। उनका सोचना कितना संकीर्ण है कि घृणा आती है। अपने श्रम, समय और धन का लाभ किसी अपना कहे जाने वाले लड़के को ही मिले। ऐसा सोचने वाले देश, धर्म, समाज, संस्कृति, ईश्वर आदि को सर्वथा भूले हुए होते हैं अन्यथा वे अपनी समृद्धि उनके लिए देकर यशस्वी और आत्म-शान्ति का कदम बढ़ा सकते थे पर इन अभागे लोगों को क्या कहा जाय जो संकीर्णता की कीचड़ में सिर से पैर तक डूबे हैं और बेटा न होने की रट लगाये रहते हैं। इन अभाव में वे इतने दुःखी रहते हैं मानो विपत्ति के सारे पहाड़ उन्हीं पर टूट पड़े हों।

ऊपर एक उदाहरण बताया गया है जिसमें सुख-सौभाग्य से भरा-पूरा मनुष्य भी एक कल्पित अभाव को गढ़कर उस कारण कितना उद्विग्न होता है। ऐसी ही भ्रान्तियाँ पग-पग पर भरी पड़ी हैं। शरीर से भी अधिक लोगों के मन बीमार हैं और बीमारियों से मिलने वाले शारीरिक कष्टों से भी बहुत अधिक दुःख उन्हें मनोविकारों द्वारा उत्पन्न भ्रान्ति-धारणाओं और मान्यताओं के कारण उठाना पड़ता है। यदि कोई ऋषि या अवतार लोगों को सही रीति से विचार कर सकने की पद्धति सिखा सकने में सफल हो जाय तो ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, प्रतिशोध, चिन्ता, भय, निराशा, शोक, उद्वेग, संशय आदि के कारण चिता पर जलती लाशों की तरह अन्तर्व्यथाओं की आग में जलते हुए इन अगणित प्रेत-पिशाचों को मुक्ति दिलाने वाला पुण्य कमा सकता है। भगीरथ ने गंगा लाकर नरक में जलते अपने ६० हजार पूर्वजों को मुक्ति दिलाई थी यदि सद्विचारणा की गंगा कोई ला सके और उसके शीतल जल से हर मस्तिष्क को सींचा जा सके तो उनमें से प्रत्येक में फल-फूलों से लदी एक सुरम्य-वाटिका विकसित की जा सकती है।

समाज में अगणित अपराध बढ़ रहे हैं। ठगी, बेईमानी, चोरी, गुण्डागर्दी का ऐसा बोलवाला है कि सामान्य नागरिक को अपनी सुरक्षा भारी पड़ रही है। इसका निवारण अति कठोर दण्ड और फौजी शासन जैसे निर्मम नियन्त्रण से तो संभव है पर प्रजातन्त्र जैसी प्रणाली में कानूनी कलाबाजी देखने वाली पुलिस, कचहरी, जेल से कुछ रोकथाम होने वाली नहीं है। पेशेवर अपराधियों के लिये यह सब सिर्फ मजाक की चीजें हैं। वे उनकी

गतिविधियों पर अंकुश लगा सकने में कहाँ समर्थ होती हैं अपराधों को देखकर अपराध बढ़ते हैं । हमारा नागरिक जीवन इस बढ़ती हुई अनियन्त्रित अपराध वृत्ति के कारण असुरक्षित और अनिश्चित होता जाता है । यह विभीषिका वर्तमान अर्थ को सम्मान और महत्त्व प्रदान करने वाली विचार पद्धति को बदलकर ही रोकी जा सकती है ।

"मनुष्य का गौरव, कर्त्तव्य एवं आदर्शवादी परम्परा अपनाने में है । अपनी और दूसरों की समग्र-प्रगति सदाचरण और सहयोग पर निर्भर है । पाप कर्मों के कठोर दण्ड से यहाँ बचा भी लिया जाय तो परलोक में नारकीय त्रास अवश्य सहने पड़ेंगे । पापी पर ईश्वर का कोप बरसता है । ऐसी मान्यताएँ यदि जन-मानस में गहराई तक प्रवेश कर सकें तो अपराधों का आमूल-चूल उन्मूलन वैसा ही हो सकता है जैसा सतयुग में, रामराज में बताया जाता है । बेईमानी की गतिविधियाँ बहुत कठिन हैं और लाभ भी अनिश्चित हैं । इसकी तुलना में ईमानदारी का रास्ता सरल भी है और सुनिश्चित लाभ प्रदान करने वाला भी । यह तथ्य यदि तर्क, प्रमाण, उदाहरण सहित लोगों को समझाया जा सकता है तो अपना हित समझने में समर्थ मनुष्य अनैतिक एवं अपराधी गतिविधियों का परित्याग कर सज्जनता की राह पर चल सकता है । इस प्रकार प्रेम, सद्व्यवहार और सहयोग से भरा-पूरा समाज स्वर्गीय सुख-शान्ति का आधार बन सकता है । अपराध नियन्त्रण के लिये भले ही राजकीय दण्ड व्यवस्था रहे पर उसका मूलोच्छेदन कर्त्तव्य-भावना, आत्म-गौरव एवं ईश्वरीय न्याय की यथार्थता समझ लेने पर ही सम्भव है । वह व्यक्ति या आन्दोलन संसार की समस्त अदालतों, जेलों, वकीलों, न्यायाधीशों, जेलरों, जल्लादों की मिली-जुली शक्ति से भी लाख गुना अधिक उपयोगी सिद्ध होगा जो लोगों को अनैतिकता के विधान की प्रतिक्रिया और नैतिकता की स्वर्गीय सम्भावनाओं का चित्र ठीक तरह खींच सके और उसे जन-मानस में ठीक तरह प्रतिष्ठापित कर सके ।

हमारे घर, परिवार एक छोटे राज्य शासन के छोटे समाज के प्रतिरूप होते हैं । इस प्रयोगशाला में सज्जनता, सद्भावना, सहकारिता, उदारता एवं व्यवस्था की शिक्षा आरम्भ की जाती है । परिवारों का समूह ही राष्ट्र है, राष्ट्रों का समूह विश्व । परिवारों के सौमनस्य का अगला जमाना सारे संसार को सुधारने और सुखी बनाने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है । आज हमारे परिवार एक बिल में रहने वाले कई चूहों की तरह, एक सराय की तरह रह गये हैं जिनमें परस्पर विश्वास, सहयोग, त्याग और मोह प्रदान करने की आवश्यकता पूरी होती नहीं दीखती । घर के हर सदस्य को अपने सीमित स्वार्थ की फिक्र रहती है पूरे परिवार पर उसकी गतिविधियों का क्या प्रभाव पड़ेगा, इसकी ओर से बहुधा आँखें बन्द ही रखी जाती हैं । यही कारण है कि घरों को छोटे स्वर्ग का नमूना अब नहीं बना पाता और हर सदस्य अवसर मिलते ही उस जेलखाने से निकल भागने की सोचता है । परिवार-संस्था का इस प्रकार नष्ट होना वस्तुतः समाज, राष्ट्र एवं विश्व के विघटन का कारण बनता जा रहा है । इस चिन्ताजनक स्थिति का समाधान कैसे हो इसका निर्णय एक ही हो सकता है कि घर का हर सदस्य भोजन, वस्त्र की तरह आरम्भ से ही उत्कृष्ट विचारधारा का आहार आरम्भ से ही पाता रहे और इसकी व्यवस्था हर घर में अनिवार्य रूप से बनी रहे । रोटी, कपड़े, दवा, सवारी, फीस आदि की व्यवस्था से परिजनों के शरीर भर की साज-सँभाल रह सकती है । मन को विकसित रखने वाली विचारणा की साधन-सामग्री या परिस्थिति घर में न हो तो भूखी आत्मा वाले ये लोग ऊँची बात सोच ही न सकें और नीचे दृष्टिकोण रखने वाले कभी किसी के सच्चे मित्र नहीं हो सकते । इस तथ्य को भुलाया जाता रहा । परिवारों में ऊँचा सोचने की सुविधा देने वाली कोई प्रक्रिया चली नहीं फलस्वरूप हमारे विकृत परिवार एक समस्या की तरह सिरदर्द बने हुए हैं और समाज की कमजोरी बढ़ा रहे हैं ।

यदि कोई देवदूत या आन्दोलन गृह संचालकों को यह मन्त्र सिखा जाय कि वे घर के हर सदस्य को ऊँचा दृष्टिकोण विकसित कर सकने के स्वाध्याय-साधन घर में जमा करें और घरेलू विचार-गोष्ठियों, कथा-कहानियों, शंका-समाधानों द्वारा उत्कृष्टता का बीजारोपण करने की व्यवस्था जुटाये रहें तो इसका प्रतिफल एक सुविकसित परिवार के रूप में होगा तो यह प्रक्रिया हर परिवार को सोने-चाँदी से लाद देने से बढ़कर है । घर में स्वच्छता की, शिष्टाचार की, सहयोग की–सादगी की परिस्थितियाँ बनाये रखने के लिये जो सचेष्ट रहेंगे वे ही समुचित परिवार का लाभ और आनन्द उठा सकने में समर्थ होंगे ।

शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक समस्याएँ व्यक्तिगत जीवन को किस तरह प्रभावित करती हैं । विचार-विकृतियाँ किस प्रकार अच्छे-भले, जीवन-क्रम को नारकीय बना देती हैं–काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर, अहंकार आदि दुर्बुद्धियों से ग्रसित मनुष्य किस प्रकार अकारण अपने ऊपर बरसने के लिये विपत्तियों की घटाएँ आमन्त्रित करता है इसे कोई भी विचारशील समझ सकता है । यदि मनुष्य अपनी विचार-पद्धति पर नियन्त्रण कर ले तो उसकी शक्ति, प्रगति, समृद्धि हर प्रकार उसकी मुट्ठी में और सुरक्षित रहेगी । युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत चल रहे विचार-क्रान्ति आन्दोलन, ज्ञान यज्ञ का यही प्रयोजन है । व्यक्ति और समाज की सर्वांगीण सुख-शान्ति अपने इसी अभियान की सफलता पर निर्भर है यदि इस तथ्य को ठीक तरह समझ लिया जाय तो हर कोई यही अनुभव करेगा कि मूल को सींचने की तरह विश्व-शान्ति का एक ही मार्ग और एक ही उपाय है और उस उपाय को कार्यान्वित करने में एक ही अपना संगठन लगा हुआ है । भले ही लोग आज उसकी उपयोगिता और महत्ता न समझें पर अगले दिनों जब मानव जाति के उत्थान-पतन

का सूक्ष्म विवेचन किया जायगा तब समीक्षकों और अन्वेषकों को एक स्वर में यही स्वीकार करना पड़ेगा कि विकृतियों और उलझनों के इस युग में समस्त विपत्तियों की जननी विकृत विचारधारा की अभिवृद्धि ही थी और उसे पलटने के लिए केवल मात्र एक ही प्रयोग द्वारा सुव्यवस्थित रूप से कार्य हुआ और उस प्रयोग का नाम था–युग निर्माण योजना द्वारा संचालित ज्ञान-यज्ञ ।

युग निर्माण योजना की मूल मान्यताएँ

व्यक्ति और समाज की विकृतियों से निपटने के दो मार्ग हैं एक दमन-चक्र को अति कठोर बनाकर ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देना, जिसमें किसी को गड़बड़ करने का अवसर ही न मिले । दूसरा यह है कि मनुष्यों की आस्थाएँ ऊँची उठाकर, प्रथाओं को परिष्कृत बनाकर सुख-शान्ति और स्नेह-सद्भाव का वातावरण बनाया जाय ।

अधिनायकवाद और साम्यवाद की मान्यता यह है कि मनुष्य की दुष्टता को रोकने का एकमात्र उपाय प्रतिबन्ध है । व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित कर दी जाय, उसके हाथ उतने साधन हीन रहने दिये जायँ जिनसे अवांछनीय, असामाजिक कार्य करने की हिम्मत की जाती है । यह प्रयोग साम्यवादी देशों में हो रहा है । वहाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता एक प्रकार से समाप्त कर दी गई है और उसे यंत्रवत् बना दिया गया है । सरकार जो चाहती है वहाँ वही सुनने, पढ़ने, देखने, समझने का अवसर मिलता है । मस्तिष्क एक विशेष ढाँचे में ढाले जाते हैं और ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित की जाती हैं जिनमें शासन की निर्दिष्ट दिशा के अतिरिक्त और कुछ समझने-सोचने की गुंजाइश ही न रहे । कई तरह की चीजें सामने हों तो उनमें से किसी को चुनने, पसन्द करने का सवाल आता है पर जब एक ही चीज सामने है तो दूसरी की कल्पना कैसे की जाय ? लेखनी, वाणी, शिक्षा, मनोरंजन, प्रचार, कानून आदि सभी साधनों से व्यक्ति को–समाज को शासन जैसा ढालना चाहता है, उसे वैसा ही ढलने के लिए विवश होना पड़ता है ।

सम्पत्ति के ऊपर सरकार का स्वामित्व है और व्यक्ति को उसके निर्वाह भर के साधन दिये जाते हैं । जब फालतू समय तथा धन पास न होगा तो गड़बड़ होगी भी कैसे ? कोई स्वभाववश असामाजिक कार्य करे तो उसे मौत के घाट उतार देने या ऐसे ही कठोर दण्ड बुरी तरह दिया जाता है और सर्वसाधारण को उन दण्डों से अतिशय भयभीत कर दिया जाता है ताकि कोई दूसरा वैसी हिम्मत न कर सके । अधिनायकवाद में सुधार का यही तरीका है । दण्ड, दमन, प्रतिबन्ध और नियन्त्रण के अन्तर्गत सारी वैयक्तिक और सामाजिक गतिविधियाँ सीमाबद्ध कर देने की नीति पर यह प्रक्रिया आधारित है ।

दूसरी पद्धति प्रजातंत्र की है, जिसमें वैयक्तिक स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखा गया है और यह मानकर चला गया है कि उपयुक्त बौद्धिक साधन उत्पन्न करके व्यक्ति को श्रेष्ठता की ओर अग्रसर किया जा सकता है एवं उसके स्वेच्छा-सत्प्रयत्नों से समाज के लिए नितान्त उपयोगी सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाया जा सकता है । अधिनायकतावादी दिशा में समस्त सम्पदा पर सरकार का अधिकार रहने से उसके पास साधन बहुत रहते हैं इसलिए यह बड़ी से बड़ी योजनाएँ चला सकती है, चलानी भी चाहिए । जब साधन किसी के पास है ही नहीं तो कोई कुछ कर भी कैसे सकेगा । धर्म-अध्यात्म और संस्कृति की उपयोगिता प्रजातन्त्र में स्वीकार की जाती है और व्यक्ति को इन आस्थाओं के अनुरूप विचार और कार्य करने की स्वतन्त्रता रहती है । इस प्रणाली में दण्ड की कठोरता न रहने से अपराधों के बढ़ने और अपराधियों के बचने की गुञ्जाइश अधिक रहने का दोष तो है पर गुण यह है कि व्यक्ति की चेतना को कई तरह से चिन्तन करने का अवसर मिलता है और कभी कोई अति महत्त्वपूर्ण सूझ-बूझ सामने आ जाने की गुञ्जाइश रहती है । साम्यवाद, ईश्वर, धर्म, दर्शन, अध्यात्म, संस्कृति आदि की उपयोगिता से इन्कार करता है और इससे प्रजा को विरत करता है, जबकि प्रजातन्त्र में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है । इन आस्थाओं की छाया में व्यक्ति की उच्च सम्वेदनाएँ विकसित होने की काफी गुञ्जाइश रहती है और उनके आधार पर व्यक्ति की महानता के पथ पर बहुत आगे बढ़ने की सम्भावना रहती है ।

हम यह मानकर चलते हैं कि प्रजातन्त्र में जो दोष हैं उन्हें हटाकर उसी प्रक्रिया को जन-जीवन में चलने दिया जाय तो व्यक्ति की मौलिकता और महानता को विकसित हो सकने की संभावना अक्षुण्ण बनी रह सकेगी । इसलिए हमें ऐसी प्रजातन्त्र प्रणाली को अपनाना चाहिए जिसके साथ धर्म, अध्यात्म और संस्कृति के उच्च आदर्शों को जीवित रखने का अवसर बना रहे ।

इस प्रकार की मान्यता रखने में जनता के ऊपर भारी उत्तरदायित्व आता है और उसे जन-स्तर पर व्यक्ति और समाज को सँभालने का प्रयत्न करना होता है । प्रजातंत्र में जन तथा धन की स्वतन्त्रता के कारण व्यक्ति के पास जो धन और समय की शक्ति बच रहती है, उसे लोक-मंगल में अधिकाधिक लगाये जाने की प्रवृत्ति चल पड़े तभी विकास और व्यवस्था की आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं । सरकार के ऊपर सब कुछ करने की आशा प्रजातन्त्र में नहीं की जा सकती है । अधिनायकवादी सरकारें दमन और प्रतिबन्ध के आधार पर व्यक्ति की क्षमता सीमित कर देती हैं फलस्वरूप, कोई न तो कुछ घृणित काम कर सकता है न श्रेष्ठ । उसे मशीन की तरह जीवित भर रहकर सन्तोष करना पड़ता है पर प्रजातन्त्र में सृजन के साथ विनाश की और उत्कृष्टता के साथ निकृष्टता की संभावना भी विद्यमान रहती है । श्रेष्ठता का अभिवर्धन, और

निष्कृष्टता का उन्मूलन प्रजातन्त्री शिथिल कानूनों में नहीं हो पाता, इसके लिये जन-स्तर पर प्रयत्न करने होते हैं। प्राचीनकाल में साधु, ब्राह्मण, मनीषी और तत्वदर्शी, महाभागों का एक बड़ा वर्ग निरन्तर इसी कार्य में संलग्न रहता था। जनता को इस तरह की प्रवृत्तियाँ बढ़ाने और उन्हें सहयोग देने के लिये प्रोत्साहित करता था, जिसके आधार पर व्यक्ति और समाज की उत्कृष्टता घटने न पाती वरन् निरन्तर बढ़ती ही रहती थी।

प्रजातन्त्री शासन की सुविधाओं का लाभ उठाने की इच्छुक जनता को लोक-मंगल के लिये बहुत कुछ करना होता है। प्रजा का जन-कल्याण की प्रवृत्तियों में जितना अधिक अनुदान, सहयोग होगा उतनी ही विकास और व्यवस्था की सम्भावनाएँ बढ़ेंगी। प्रजा यदि अपने सार्वजनिक कर्त्तव्यों के प्रति उपेक्षा किये बैठी रही और सोचती रही कि सब कुछ सरकार कर लेगी तो फिर प्रगति की सम्भावनाएँ समाप्त ही समझनी चाहिए।

नये निर्माण के लिए सरकारों को भी बहुत कुछ करना चाहिए। उसे त्रुटियाँ सुधारने के लिये विवश किया जाना चाहिए पर इससे भी अधिक ध्यान इस बात पर दिया जाना चाहिए कि प्रजातन्त्र अपने सार्वजनिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, नैतिक-कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए अधिकाधिक उत्साह प्रदर्शित करें। हर प्रजातन्त्री-प्रजाजनों की मनोभूमि यह होनी चाहिए कि साम्यवादी देशों में व्यक्ति को किस प्रकार औसत दर्जे का जीवन जीना पड़ता है और अधिक योग्यता का लाभ राष्ट्र को प्रतिबन्धित रूप में छोड़ना पड़ता है। वैसा ही वह स्वेच्छा पूर्वक करे। हम देश की स्थिति को समझें और औसत दर्जे का मनुष्य जितने में काम चलाता है, उतने में ही सन्तोष करें और यदि अपनी योग्यता अधिक उपार्जन को समर्थ है तो उसे स्वेच्छापूर्वक उदारता, देश-भक्ति, पुण्य-परमार्थ की भावना से लोक-मंगल के लिए वापस कर दें। लोग अपने व्यक्तिगत वैभव की आकांक्षा छोड़ें और जन-कल्याण के लिये किये गये प्रयत्नों में अपनी गरिमा समझें।

आज अपनी प्रजातन्त्री व्यवस्था साम्यवादी देशों की तुलना में प्रगति की दृष्टि से बहुत पीछे पड़ रही है, इसका प्रधान कारण एक ही है साम्यवादी देशों के व्यक्ति को अपनी योग्यताभर का पूरा उपार्जन करना पड़ता है पर अपने लिये न्यूनतम निर्वाह से ही संतुष्ट हो जाता है। यदि यही मनोभूमि प्रजातन्त्री प्रजा की ही हो तो लोगों को अपने गुजारे के लिए औसत भारतीय के खर्च पर संतुष्ट होकर अपनी विद्या, बुद्धि, सम्पत्ति, प्रतिभा का लाभ समाज को वापस करने की उत्कण्ठा उत्पन्न हो और उसके द्वारा अनेक विकासमान रचनात्मक कार्यक्रमों का पारमार्थिक प्रयोजनों का प्रवाह गतिमान हो सकता है। साम्यवादी देशों के लोगों को जो त्याग बलात् विवशता की स्थिति में करना पड़ता है, वही यदि प्रजातन्त्री प्रजा स्वेच्छापूर्वक करे तो उसे आनन्द, उत्साह, गर्व, गौरव और संतोष का अनुभव भी होता रहता है और विवशता के स्थान पर स्वेच्छा की स्थापना हो जाने से भावनात्मक प्रगति का वह लाभ मिल सकता है जो साम्यवादी प्रजा को प्रायः नहीं मिल पाता। लोक-मंगल की श्रेष्ठ परम्पराएँ यदि चलती रहें तो एक-दूसरे से उस तरह की अनुकरणीय प्रेरणा लेकर पुण्य-परमार्थ के सत्कर्मों में रुचि लेकर अधिक उल्लसित और संतुष्ट रह सकते हैं। आत्मबल बढ़ाने के लिए यह उदार सेवा-साधना कितनी अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है इसे अनुभव करके ही जाना जा सकता है।

हमें नव-निर्माण के लिए इसी मनोभूमि की निष्ठा तथा दृष्टि को विकसित करने की चेष्टा करनी चाहिए। नव-निर्माण की अपनी योजना इसी पृष्ठभूमि पर बनाई जा रही है। हम मानकर चलते हैं कि शासन तथा व्यवस्था की दृष्टि से प्रजातन्त्री शासन पद्धति अन्य सब पद्धतियों से अच्छी है। हम यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य केवल भौतिक साधनों की सुव्यवस्था से ही सन्तुष्ट नहीं रह सकता, उसे आत्मिक प्रगति की भी आवश्यकता है। इसके लिए धर्म, संस्कृति और अध्यात्म को जीवित रहना चाहिए। हम नहीं चाहते कि शासन इन तत्वों को नष्ट करके मनुष्य को मात्र मशीन बना दे। हम यह मानकर चलते हैं कि हर मनुष्य के भीतर पशुता की तरह देवत्व भी विद्यमान है और उसे विश्वास है कि मनुष्य की सर्वोपरि शक्ति 'विचारणा' है उसे यदि उत्कृष्टता की दिशा में मोड़ा जा सके तो धरती पर स्वर्ग अवतरण और मनुष्य में देवत्व के उदय की सम्भावनाएँ मूर्तिमान हो सकती हैं। जन-सहयोग के द्वारा एकत्रित अनुदानों को हम पहाड़ों से ऊँचा और समुद्र से विशाल मानते हैं और यह विश्वास करते हैं कि यदि इस स्वेच्छा-सहयोग को लोक-मंगल के लिए मोड़ा जा सके तो नव-निर्माण के लिये जितने साधनों की आवश्यकता है उससे अधिक ही मिल सकते हैं। हम जानते हैं कि विश्व का नैतिक पुनरुत्थान करने की सर्वतोमुखी क्षमता से सम्पन्न भारत जैसे महान परम्पराओं वाले देश के लिए प्रजातन्त्र प्रणाली ही उपयुक्त हो सकती है, बशर्ते कि इस पद्धति को पश्चिम की नकलची न रहने देकर अपने देश की परिस्थिति के अनुरूप ढाल लिया जाय।

अपनी इन मान्यताओं के आधार पर हम युग-निर्माण की विशाल योजना बनाते है। साम्यवादी सिद्धान्तों के अनुरूप समस्याओं के समाधान सरल हैं। उस पद्धति के अन्तर्गत व्यक्ति स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रह जाता वह मशीन का एक पुर्जा मात्र रह जाता है। सरकार जैसा कुछ चाहती है उसी तरह उसे सोचने, करने और रहने के लिए मजबूर होना पड़ता है। समाज की स्थिति व्यक्तियों के कारण नहीं वरन् सरकार की मर्जी से चलती है ऐसी दशा में समस्याएँ उत्पन्न ही नहीं होतीं-होती हैं तो कठोर दमन दण्ड के आतंक से वह देखते-देखते हल हो जाती हैं। प्रजातन्त्र में ऐसा नहीं होता। व्यक्ति समाज को प्रभावित

करता है और समाज व्यक्ति को । सरकार का इस संदर्भ में बहुत ही कम प्रभाव रहता है ऐसी दशा में व्यक्ति और समाज के सुधार की जिम्मेदारी जितनी सरकार पर रहती है उससे हजारों गुनी अधिक जनता पर आती है । जन प्रयत्न ही प्रजातन्त्री प्रगति की रीढ़ रहते हैं । व्यक्ति और समाज की अगणित समस्याओं के हल भी जनस्तर पर ही करने होते हैं । इसलिए अपनी योजना में जन-जागरण, लोक-मानस निर्माण की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और यह प्रयत्न किया गया है कि लोक-चेतना को प्रखर, प्रबुद्ध और प्रगल्भ बनाया जाय, लोक-शक्ति को प्रबल किया जाय और जन-सहयोग से ऐसी अगणित प्रवृत्तियों का उद्भव किया जाये जो व्यक्ति और समाज को उच्च से उच्चतम स्थिति की ओर अग्रसर करते चले जायें ।

भारत की ऐसी अगणित विशेषताएँ एवं परिस्थितियाँ हैं जो दूसरे देशों से उतना स्पष्ट तालमेल नहीं खातीं । जिससे अन्य देशों में हुए प्रयोगों की नकल करके यहाँ की नव-निर्माण योजना बनाई जा सके । इतनी अधिक भाषाओं में, धर्म-सम्प्रदायों में, प्रथा-परम्पराओं में ग्रस्त देश दूसरा न मिलेगा । कुरीतियों का भी वह धनी है । एक हजार वर्ष की गुलामी ने यहाँ की विचारणाएँ-मान्यताएँ एवं प्रथा-परम्पराएँ ऐसी बना दी हैं जो प्रगति के हर प्रयत्न में रोड़ा सिद्ध होती हैं । दूसरे देशों की मुख्य समस्याएँ आर्थिक थीं-जो उत्पादन उद्योग बढ़ाने से सहज ही हल हो गईं । यहाँ की समस्याएँ मूलतः सामाजिक हैं । हम गरीब इसलिये नहीं कि यहाँ उत्पादन, उद्योग, श्रम या प्रकृति सम्पदा की कमी है । यहाँ की गरीबी सामाजिक कुरीतियों की प्रतिक्रिया मात्र है । उदाहरण के लिए विवाह-शादियों के रस्म-रिवाज को ही लेवें कितने खर्चीले हैं । यह पैसा यदि उस परिवार के स्वास्थ्य, शिक्षण अथवा व्यवसाय में खर्च हुआ होता तो वही लोग बहुत अच्छा शानदार जीवन जी सकने की स्थिति में होते पर आज तो वे सारी जमा पूँजी स्वाहा कर, कर्जदार बने, दाने-दाने को मुहताज बने फिर रहे हैं, यह सब विवाह-शादियों का अभिशाप है । ऐसी अनेक कुरीतियाँ हमारे सामाजिक जीवन में जोंक बनकर चिपटी हुई हैं, उनके रहते हमें गरीबी के अभिशाप से कभी भी मुक्ति नहीं मिल सकती । इन्हीं कुरीतियों का पेट पूरा करने के लिये हमें बेईमानी के रास्ते अपनाने पड़ते हैं । पाँच बच्चों का बाप किसी प्रकार उनका पालन, शिक्षण ही कर सकता है उनके ब्याह के लिए इतनी बड़ी पूँजी किस प्रकार कहाँ से पाये ? उनके सामने बेईमानी के अतिरिक्त दूसरा चारा नहीं । इन कुरीतियों के रहते अपने देश में ईमानदारी पनपने की कोई सम्भावना नहीं है ।

इसी प्रकार स्त्रियों के प्रति लगे पर्दा-प्रथा जैसे प्रतिबन्धों ने आधी जनशक्ति को, आधे शरीर को लकवा मार जाने जैसी अपंग स्थिति में लाकर पटक दिया है । वे पराधीन होकर जीती हैं, अपना भार आप उठा सकने में असमर्थ हैं । इस प्रकार आधा राष्ट्र अपंग ही बना पड़ा है । छुआछूत ने एक तिहाई जनसंख्या को दूसरे दर्ज़े का नागरिक बनाकर रख दिया है, जो उचित सामजिक सम्मान एवं उपयुक्त आजीविका साधनों से वंचित ही बने रहते हैं जिस देश की इतनी बड़ी जन-शक्ति इस प्रकार दुर्दशाग्रस्त पड़ी हो उसे केवल आर्थिक प्रगति की बात सोचते रहने से ऊँचा नहीं उठाया जा सकता ।

हम ऐसा नहीं सोचते कि आर्थिक सुविधा-साधन बढ़ने पर अपना देश समृद्ध और सुविकसित बन जायगा । आर्थिक बढ़ोत्तरी के लिये किये गये प्रयत्नों का स्वागत किया जाना चाहिए पर यह न भूल जाना चाहिए कि अपनी वर्तमान विचार-पद्धति, सामाजिक स्थिति और नैतिक पृष्ठभूमि में सुधार न किया गया तो समृद्धि बढ़ने पर भी कुछ लाभ न होगा वरन् वह सम्पन्नता दुष्ट-दुर्बुद्धि की सहेली बनकर और भी अधिक विकराल परिस्थितियाँ उत्पन्न करेगी । यह हम आँखों के आगे स्पष्ट देख रहे हैं । पिछले दिनों जहाँ-जहाँ, जितनी-जितनी सम्पन्नता बढ़ी है । वहाँ उतने ही वेग से व्यसन, अपराध, अनाचार और विग्रह बढ़े हैं । मुकदमों की, अपराधों की संख्या वृद्धि और आर्थिक उन्नति का तालमेल बिठाकर निष्कर्ष निकाला जाय तो यही परिणाम निकलेगा कि सम्पन्नता के बढ़ने से मनुष्य की प्रगति में रत्ती भर भी वृद्धि नहीं हुई । अनाज भाव इस महँगाई की अवधि में प्रायः १८ गुना बढ़ा है । जबकि दूसरी चीजों की महँगाई आठ गुनी से अधिक नहीं हुई । इस दृष्टि से महँगाई का सबसे बड़ा लाभ किसान को मिला है । इस पर भी उसका जीवन स्तर नगण्य ही ऊँचा उठा है । दूरदर्शिता न बढ़ने से वह पैसा कुरीतियों, मुकदमेबाजी तथा दूसरी व्यर्थ बातों में चला जाता है । यह स्थिति जब तक बनी हुई है तब तक केवल आर्थिक प्रगति की बात सोचते रहने से कुछ काम न चलेगा ।

हम विचार-क्रान्ति, सामाजिक-क्रान्ति और नैतिक-क्रान्ति को राजनैतिक-क्रान्ति की ऐसी सहेली मानते हैं जिसके बिना अपूर्णता ही बनी रहेगी । स्वराज्य तब तक अधूरा है जब तक हम बौद्धिक और सामाजिक मूढ़ता के नागपाश से छुटकारा नहीं पा लेते । इसलिए अपनी योजनाओं में आर्थिक प्रगति को गौण और भावनात्मक प्रगति, सामाजिक-स्वच्छता और नैतिक-उत्कृष्टता की अभिवृद्धि को अति आवश्यक तुरन्त ध्यान दिये जाने योग्य कार्य माना गया है । इसका तात्पर्य आर्थिक उन्नति की उपेक्षा नहीं-केवल इतना भर है कि उस एक पक्ष को दूसरे सब मिलकर सँभालें किन्तु उनकी ओर किसी का ध्यान नहीं है उस उपरोक्त त्रिविध-क्रान्ति के कार्यक्रम को हम लोग सँभालें और आगे बढ़ायें ।

युग-निर्माण योजना को उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर विनिर्मित किया गया है । यदि उसे समुचित सहयोग मिल सका तो निस्सन्देह वर्तमान जटिल परिस्थितियों को अगले दिनों सुख-शान्ति, समृद्धि और प्रगति से भरा-पूरा बनाया जा सकता है ।

व्यक्ति-निर्माण के लिए यह करना होगा

हमारे आज के विचारों में जो विकृति आ गई है, उसको सुधारने और चिन्तन की दिशा परिष्कृत करने के लिए हमें नये सिरे से विचार करना होगा और अनौचित्य का स्थान औचित्य को देना होगा। चिन्तन में अन्धकार का सबसे बड़ा अभिशाप हमारी विचार-पद्धति में निकृष्टता घुस पड़ने के रूप में ही मिला है। उसी ने अवसर और अध:पतन की परिस्थितियाँ उत्पन्न की हैं। जब तक उसे समझा और सुधारा न जायगा, वर्तमान दुर्दशा से छुटकारा न मिल सकेगा।

व्यक्तिगत जीवन में आत्म-बोध के सम्बन्ध में हमारी मान्यता यह होनी चाहिए कि हम सच्चिदानन्द परमेश्वर के अंश हैं। उसने अपने सहायक के रूप में-सृष्टि की सुन्दरता, शोभा, सुव्यवस्था स्थिर रखने के लिये हमें पैदा किया है। बोलने, सोचने, लिखने, पढ़ने आदि की विशेषताएँ दी हैं तथा शिक्षा, चिकित्सा, वाहन, वस्त्र, उत्पादन, परिवार, मनोरंजन आदि के विविध साधन दिये हैं वे एक प्रकार की अमानत जैसी विभूतियाँ हैं और ये इसलिये दी गई हैं कि उनका न्यूनतम अंश जीवन-निर्वाह के लिये रखने के उपरान्त शेष का उपयोग लोक-मंगल के लिए-विश्व कल्याण के लिए-नियोजित किये रहें। जो कुछ हमें मिला है वह केवल उपयोग के लिए ही नहीं है, यदि ऐसा होता तो परमेश्वर जो प्राणिमात्र की रचता है-केवल मनुष्य को ही इतनी सुविधाएँ देने के कारण पक्षपाती कहलाता। विभूतियाँ सिर्फ परमार्थ के लिये मिली हैं। यदि हम इन्हें लोभ, मोह के वशीभूत होकर वासना, तृष्णा की पूर्ति तक सीमित रखते हैं तो यह 'अमानत में खयानत' जैसा अपराध हुआ, इसका दण्ड हमें नारकीय दण्डों के रूप में भुगतना पड़ेगा।

जीवन का लक्ष्य, स्वरूप, उद्देश्य यदि ठीक तरह समझ में आ जाय, उसे पूरा करने में इस अनुपम स्वर्ण अवसर की सफलता समझ ली जाय तो मनुष्य अध्यात्म आस्था के आधार पर अपनी गतिविधियाँ और विचारणाएँ उत्कृष्ट प्रयोजनों की दिशा में नियोजित किये रह सकता है।

आज का मनुष्य अपने को शरीर मात्र मानता है, शरीर सुखों में ही जीवन की सफलता देखता है। वाहवाही की लालसा, बड़प्पन का प्रदर्शन, धनी बनने की लिप्सा उसके प्रिय विषय बन गये हैं। पेट और प्रजनन के लिए सारा समय और मनोयोग लगता है। भौतिक उपलब्धियों में ही सफलता दीखती है। परमार्थ में उतनी ही रुचि रहती है जितनी से तुरन्त वाहवाही मिल जाय। इस स्तर का व्यक्ति पशुओं जैसा शिश्नोदर प्रवृत्त जीवन ही जी सकता है। जीवन का स्वरूप ही जिसे मालूम न हो वह उसका सदुपयोग कर सकने की बात कहाँ सोच सकेगा?

हमारी मान्यता होनी चाहिए कि ईश्वर सर्वव्यापी, न्यायकारी और सत्प्रवृत्तियों को पसन्द करने वाला है। उसकी सृष्टि में पूर्ण न्याय और व्यवस्था है। दुष्कर्म करने वाला कुमार्गगामी व्यक्ति उसके दण्ड से बच नहीं सकता। अनीति का पथ जो भी अपनायेगा उसके कोप का भाजन बनेगा। उसे सद्भावसम्पन्न और सत्कर्म परायण व्यक्ति ही प्रिय हैं। ईश्वर का विशेष प्यार और अनुग्रह केवल सज्जनों के लिये सुरक्षित है। पूजा-आराधना का प्रयोजन ईश्वर को उसके द्वारा दिये हुए मानव जीवन के प्रयोजन को मानवीय कर्त्तव्य पथ को ध्यान में रखने और अपने ईश्वरीय दण्ड को ध्यान में रखते हुए सन्मार्गगामिता अपनाने वाली मनोभूमि निर्माण के लिए है। जिस पूजा के द्वारा अन्तःकरण में पवित्रता, उदारता एवं सेवावृत्ति का विकास होता हो उसी को सार्थक समझा जाना चाहिए।

आज लोग ईश्वर को मानवीय दुर्बलताओं से भी अधिक घटिया स्तर का एक मनुष्य मात्र मान बैठे हैं। जो थोड़ी प्रशंसा, भोग-प्रसाद, चन्दन, पुष्प आदि से सुभाया-फुसलाया जा सकता है तथा पात्रता न होने पर भी मनचाहे वरदान के लिये इसी पूजा-पत्री के आधार पर रजामंद किया जा सकता है। लोगों की यह भी मान्यता है कि उसकी प्रतिमाओं के दर्शन करने-लीलाएँ सुनने या नदी तीर्थ नहाने से पाप कट जाते हैं और बुरे कर्मों का दण्ड नहीं भुगतना पड़ता। इस ईश्वर सम्बन्धी भ्रान्त-धारणा ने लोगों को पराक्रम-पुरुषार्थ के कष्ट-साध्य मार्ग की उपेक्षा कर कुछ तन्त्र-मन्त्रों द्वारा मनोकामनाएँ पूरी करने की तरकीबें सोचीं और अकर्मण्य बनते चले गये। इसी प्रकार पाप का फल सस्ते कर्म-काण्डों के कारण छूट जाने की बात सूझ पड़ने से लोग पाप करने से निर्भय होते चले गये। आज का ईश्वरवाद अकर्मण्यता और अनैतिकता बढ़ाने में सहायक हो रहा है।

ईश्वर एक नियम, व्यवस्था, विधा एवं सर्वजनीन चेतना है। उत्कृष्ट भावनाओं के रूप में उसे हर कोई अपने अन्तःकरण में विद्यमान देख सकता है और उन उच्च सम्वेदनाओं को अन्तरात्मा में बढ़ाकर ईश्वर की समीपता का आनन्द अनुभव कर सकता है पर लोगों ने उसे खुशामदी और रिश्वतखोरी जैसी हेय स्थिति का ऐसा व्यक्ति कल्पित कर लिया है जो भक्त नामधारी का हर बात में पक्षपात करने को तैयार रहता है तथ्य यह है कि ईश्वर एक है, उपासना से-ध्यान की सुविधा की दृष्टि से भक्तों ने उसके नाम-रूप ही अलग प्रकार से कल्पित किये हैं। अनेक देवता वस्तुतः एक ईश्वर के ही लोगों द्वारा कल्पित किये गये चित्र-विचित्र नाम-रूप हैं। वस्तुतः इस सृष्टि में अनेक देवताओं के अलग अस्तित्व नहीं हैं यदि इस सृष्टि के संचालक अनेक ईश्वर-अनेक देवता होते तो उनमें भी परस्पर लड़ाई होती रहती और संसार का नियन्त्रण गड़बड़ा जाता। लोगों का अज्ञान ही है जिसने परस्पर विरोधी अगणित देवी-देवता रचकर खड़े कर दिये हैं और उनमें से कइयों को तो ऐसे नीचे स्तर पर गिराया है कि

पशुबलि जैसे घृणित कर्म से प्रसन्न होते हैं और उस कुकर्मी भक्त की अनैतिक मनोकामनाएँ पूरी करने में नहीं लजाते ।

धार्मिक कर्म-काण्डों मान्यताओं एवं विधि-व्यवस्थाओं का तात्पर्य केवल इतना है कि मनुष्य सदाचारी, कर्त्तव्य परायण एवं उदार सेवाभावी सज्जन प्रकृति का बन सके । पर आज तो मनुष्य-मनुष्य के बीच खड़ी की गई दीवार के रूप में ही देखा जा सकता है । विभिन्न धर्मानुयायी अनुभव करते हैं कि उन्हीं का मत सही है, केवल वे ही धार्मिक हैं और उन्हीं का धर्म मुक्ति या शान्ति दे सकता है, 'अपना सही दूसरों का गलत' वाले पक्षपात ने नीर-क्षीर विवेक की बुद्धि समाप्त कर दी और पक्षपात का भूत सवार हो गया । परिणाम यह हुआ कि लोग अन्य धर्मावलम्बियों को पापी समझकर उन्हें मारने-मिटाने में पुण्य समझने लगे । इस प्रकार धर्म के आधार पर जहाँ प्रेम, एकता और सेवा भावनाएँ बढ़नी चाहिए थी वहाँ घृणा, द्वेष, उत्पीड़न और अनाचार की बढ़ोत्तरी हुई । हमें ईश्वर और धर्म के इस विकृत स्वरूप को बदलना होगा और तत्सम्बन्धी मान्यताओं को प्राचीनकाल की तरह पुनः उसी स्तर का बनाना पड़ेगा जिसमें मानवीय सद्भावना, एकता, सहयोग एवं उदारता बढ़ाने में तत्वज्ञान का ठीक तरह उपयोग हो सके ।

आत्मा की महानता का ज्ञान हमें होना चाहिए । अपने स्तर का गौरव अक्षुण्ण रखने की गरिमा सजीव रहनी चाहिए । हम कोई ऐसा कार्य न करें जिससे आत्मा का गौरव घटता हो, लज्जित होना पड़े, आत्मा धिक्कारे और लोग हमें ओछे स्तर का समझें । आत्म-प्रतिष्ठा इसमें है कि हम उच्च आदर्श लेकर शानदार जीवन जियें, भले ही गरीबी या कठिनाई से घिरे दिन गुजारने पड़ें । प्रलोभनों के लिए पतन के गर्त में गिरना मनुष्यता को कलंकित करना है । आदमी की इज्जत इसमें है कि वह हर कीमत पर अपनी महानता, ऊँचाई और आदर्शवादिता की रक्षा करता रहे । विरोध, दबाव या अभाव भी जिसे कर्त्तव्य पथ से विचलित न कर सकें, सच्चे अर्थों में मनुष्य है । मनुष्यता का गौरव बड़ी से बड़ी हानि उठाकर भी जो अक्षुण्ण रख सके उसी को सच्चे अर्थों में नर-रत्न कहा जाना चाहिए ।

यह मान्यताएँ हमारे आस्था केन्द्र को प्रकाश प्रदान करने के लिए सजीव बनी रहनी चाहिए । प्रलोभनों के दि ऐसा मार्ग नहीं अपनाया जाना चाहिए जिसके लिए आत्मा धिक्कारे, सज्जनों की पंक्ति में खड़े होते समय लज्जित होना पड़े और ईश्वर के दरबार में पापों की भर्त्सना सहनी पड़े । यह उचित-अनुचित का भेद करने वाली नीर-क्षीर विश्लेषिणी विवेक-बुद्धि जिसकी जाग्रत है वस्तुतः उसी को बुद्धिमान कहना चाहिए । जो औचित्य की उपेक्षा इसलिये करती है कि अनुचित मार्ग पर चलने से जल्दी और अधिक लाभ कमाया जा सकता है—उसे मस्तिष्क पिशाचिनी ही कहना चाहिए । उसे बुद्धि की संज्ञा देना असंगत है । बुद्धिमान वह नहीं जिसने अनीति अपनाई और मनुष्य जन्म जैसे सौभाग्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला उसे धूर्त भर कहा जा सकता है । धूर्तता को बुद्धिमत्ता की संज्ञा नहीं दी जा सकती है ।

मनुष्य वह है जिसमें मानवता को सम्मानित करने वाले गुण, कर्म, स्वभाव का बाहुल्य है । ईमानदारी और सच्चाई जिसकी नीति है—जो छल-कपट से दूर रहकर सीधा, सरल और स्वच्छ जीवन जीता है, जिसे अपने पसीने की कमाई पर्याप्त और सन्तोषप्रद लगती है—जिसमें धैर्य, साहस, सन्तुलन, शौर्य और विवेक की समुचित मात्रा मौजूद है उसी को खरा व्यक्तित्व कहना चाहिए । जिसे न डरने की आदत है न डराने की । जो हँसने का अभ्यासी है और रोते को हँसाने की कला जानता है उसे मनुष्य कह सकते हैं । जिसका अन्तःकरण उदारता, सरलता, करुणा, ममता और सज्जनता से लबालब भरा रहता है, उसी में मानव-जन्म के साथ-साथ मानव-हृदय भी पाया समझा जाना चाहिए ।

स्वच्छता, नियमितता, व्यवस्था, स्फूर्ति, उत्साह, श्रमशीलता जैसे सद्गुण व्यक्ति की प्रतिभा को निखारते हैं । सादगी, मितव्ययता, सज्जनता, नम्रता, शिष्टाचार और भलमनसाहत जिसके स्वभाव मे सम्मिलित हो जाय समझना चाहिए कि मनुष्य की गरिमा को सार्थक बनाने की चेष्टा हो रही है । इसके विपरीत अगणित दोष-दुर्गुणों से भरे घृणित व्यक्तियों का जहाँ बाहुल्य होगा वहाँ प्रत्यक्ष नरक देखा जा सकेगा । जिनसे व्यक्ति का गौरव गिरता हो, ओछापन प्रकट होता हो और कुसंस्कारी गतिविधियाँ दीख पड़ती हों—ऐसी बुरी आदतें मनुष्यता के नाम पर कलंक ही लगा सकती हैं जिस विचारधारा और रीत-नीति के कारण व्यक्तित्वों का स्तर निम्नकोटि का बनता हो उनका विरोध और उन्मूलन ही किया जाना उचित है ।

मनुष्यता की सार्थकता इस बात में है कि उसे हर दृष्टि से हर क्षेत्र में प्रामाणिक माना जाय । जो कहे वह सच निकले, जो वायदा करे उसे निबाहे, भीतर और बाहर की वचन और कर्म की स्थिति में अन्तर जहाँ नहीं दीख पड़े समझना चाहिए वहाँ मनुष्यता जीवित है, हमें ऐसे ही व्यक्तित्वों का निर्माण करना चाहिए ।

धन की जरूरत जीवन-निर्वाह के लिए है— इस दृष्टि से उसे कमाया तो जाय पर उसके लिए इतना न ललचाया जाय कि सारा समय उसी के लिए खर्च हो जाय, जीवन-लक्ष्य पूरा करने के लिये अवकाश ही न मिले । लालच ऐसा भी न हो कि नीति-अनीति का, उचित-अनुचित का भेद छोड़कर किसी भी तरीके से पैसा इकट्ठा किया जाने लगे । कुटुम्ब कम बढ़ाया जाय । जिन आश्रितों का उत्तरदायित्व कन्धों पर है उन्हें अपनी सामर्थ्य के अनुसार सुविकसित, सुसंस्कृत एवं स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न तो किया जाय पर यह न सोचा जाय कि इनके लिए सात पुश्त तक बैठकर खाने के साधन छोड़कर मरा जाय । अपने

और परिवार के उचित निर्वाह के उपरान्त बचा हुआ धन निश्चित रूप से समाज की सम्पत्ति है । उस पर पिछड़े हुए दुःखी और अज्ञानग्रस्त लोगों का हक है । समर्थ व्यक्ति असमर्थों का ध्यान रखना भूल जायें तो अमीर और गरीब की खाई कभी भर ही न पायेगी । मानवीय अन्तःकरण में रहने वाली करुणा, ममता और उदारता का तकाजा यही है कि उचित आवश्यकता पूरी करने के बाद अपनी सम्पदा एवं प्रतिभा का बड़े से बड़ा अंश उन लोगों के लिये लगाया जाय जो परिस्थितियों के प्रवाह में पिछड़ गये या भटक गये हैं । हम स्वयं ही ऊँचे उठें, सुखी रहें, सफल बनें इतना ही पर्याप्त नहीं—हमें अपने साथ-साथ दूसरों को साथ उठाने और बढ़ाने की बात नहीं भूलनी चाहिए ।

आलस्य, प्रमाद, व्यसन एवं अस्त-व्यस्त गतिविधियों में समय और शक्तियाँ खर्च करने के बजाय हमें अपने समय, श्रम और मनोयोग का उपयोग अपनी शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों के अभिवर्द्धन में नियोजित करना चाहिए । आमतौर से लोग पैसा कमाने, भोग-भोगने, शौक-मौज, गपबाजी, क्लेश-कलह आदि कार्यों में ही व्यस्त रहते हैं न शरीर को, नीरोग, दीर्घजीवी बनाने की बात सोचते हैं, न शिक्षा, विद्या, स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिन्तन आदि के साधन जुटाते हैं, न प्रतिभा बढ़ाते हैं, न सद्गुणों का विकास करते हैं और न आत्म-बल बढ़ाने वाले परमार्थ प्रयोजनों में रुचि लेते हैं । यह नितान्त आवश्यक उपलब्धियाँ प्रायः उपेक्षित ही बनी रहती हैं और लोग केवल पैसा भर पाकर सन्तुष्ट रहते हैं वे नहीं जानते कि व्यक्तित्व के समग्र विकास बिना मानव जीवन वस्तुतः अधूरा अपूर्ण और अविकसित ही माना जाता है । जीवन जीने की कला हमें सीखनी चाहिए और भौतिक सम्पदाओं की तुलना में गुण, कर्म, स्वभाव पर अवलम्बित विभूतियों को प्रमुखता देनी चाहिए । महामानव बनने के लिए सद्गुणों की—सद्‌भावनाओं की विभूति सम्पदा चाहिए । मात्र धन-दौलत ही किसी के बड़प्पन का आधार नहीं बन सकती ।

इन्द्रियों का असंयम, लोभ का अतिक्रमण, अहंकार का आवेश, निष्ठुर और उद्धत अविवेक का आचरण मिल-जुलकर मनुष्य का स्वरूप असुर एवं पिशाच जैसा बना देते हैं । मोह, ममता में डूबा हुआ व्यक्ति दूसरों की हानि एवं पीड़ा को भूल जाता है और अपने लिए, अपनों के लिए बुरे से बुरा कर्म करने में नहीं झिझकता ऐसी मनोभूमि में रहने आकृति में मानव दीखने वाला व्यक्ति वस्तुतः दानव ही कहा जायगा ।

जिन विचारणाओं, आदतों, मान्यताओं, परिस्थितियों अथवा परम्पराओं के कारण मनुष्यता को कलंकित करने वाले दोष-दुर्गुण बढ़ते हों उन सबका उन्मूलन किया जाना चाहिए । जो कारण इन दुष्प्रवृत्तियों को बढ़ाते हैं उनका निराकरण किया जाना चाहिए । ऐसी विचारधारा से मानवीय चेतना को प्रभावित किया जाना चाहिए जो व्यक्ति में देवत्व का अभिवर्धन कर सके । हमारे चिन्तन की दिशा इसी ओर बढ़े । बारीकी से यह ढूँढ़ा जाय कि किन कारणों से मनुष्य को निकृष्ट विचार अपनाने और कुमार्ग पर चलने की प्रेरणा मिल रही है, उन सब की एक-एक करके जड़ें उखाड़ने में हम जुट पड़ें और उन रिक्तता की पूर्ति उन सत्प्रवृत्तियों से करने लगें जो नर को नारायण बनाने की ओर अग्रसर करती है ।

प्रगतिशील समाज का आधार और स्वरूप

व्यक्ति-निर्माण के लिए हमें गुण, कर्म, स्वभाव में घुसी हुई अवांछनीय दुष्प्रवृत्तियों को हटाना होगा । जीवन और उसके उद्देश्य को समझना होगा तथा किस आधार पर किसलिए, किस प्रकार जिया जाय इस दर्शन-दृष्टि को परिष्कृत करना होगा । आज पशु और पिशाचों जैसी जीवन-दृष्टि बनती चली जा रही है, चिन्तन की प्रणाली ऐसी विकृत बन चली है कि अशुद्ध और अवांछनीय तत्व ही ग्राह्य दीखते हैं । महानता का अमृत पीने की रुचि नहीं रही, निकृष्टता का विष उल्लासपूर्वक पिया जा रहा है । घिनौने जीवनक्रम में सरसता लगती है ।

आदर्शवादिता के आधार पर अनुकरणीय जीवन जीने के लिए किसी में उमंग नहीं दीखती । सोचने और प्रेरणा देने वाला अन्तःकरण मानो माया-मूर्छा में ग्रस्त होकर एक प्रकार से दिग्‌भ्रान्त ही बन गया हो, ऐसी है आज के व्यक्ति की स्थिति । इसे बदले बिना कोई रास्ता नहीं । घटिया व्यक्ति घटिया परिस्थितियाँ पैदा करेंगे और उसके परिणाम दुःखदायी ही उत्पन्न होंगे । विश्व के सामने प्रस्तुत अगणित समस्याएँ वस्तुतः एक ही विष बीज से उत्पन्न वल्लरियाँ हैं । मानवीय आदर्शों की मात्रा चिन्तन और कर्तृत्व में से जितनी घटती चली जायगी, वातावरण उतना ही विपाक्त होता जायगा और विपत्तियों का अन्धकार उतना ही सघन होता जायगा । आज यही हो रहा है सो परिणाम भी सामने है ।

संसार को सुखी बनाने के लिए उपार्जन, चिकित्सा, शिक्षा, वाहन, शिल्प, कला, विज्ञान, विनोद आदि के साधनों को बढ़ाया जाना चाहिए पर यह नहीं भूलना चाहिए कि कुबेर जैसी सम्पदा और इन्द्र जैसी सुविधा भी यदि हर व्यक्ति के पीछे जुटा दी जाय तो भी भावनात्मक स्तर ऊँचा उठे बिना चैन से रहना और शान्ति से रहने देना सम्भव न हो सकेगा । चिन्तन में असुरता और कर्तृत्व में दुष्टता के अंश यदि बने ही रहे तो हर व्यक्तित्व अपने और दूसरों के लिए केवल संकट ही उत्पन्न करता रहेगा । इसलिए हमें मूल बात पर ध्यान देना चाहिए । जन-मानस के भावनात्मक परिष्कार को प्राथमिकता देनी चाहिए । यह एक ही उपाय है जिसके आधार पर विश्व-शान्ति की आवश्यकता पूरा कर सकना वस्तुतः सम्भव एवं सुलभ हो

सकता है । युग-निर्माण योजना ने सर्व-साधारण का ध्यान इसी ओर खींचा है और ऐसे प्रयोगात्मक प्रयत्न शुरू किये हैं जिन्हें यदि बड़े साधनों से बड़े परिमाण में आरम्भ किया जा सके तो निर्माण की सही दिशा मिल सकती है और आज की नारकीय परिस्थितियों को कल सुख-शान्ति भरे वातावरण में परिवर्तित किया जा सकता है ।

व्यक्ति का चिन्तन और कर्तृत्व किस आधार पर बदला जाय इसकी संक्षिप्त चर्चा भी की जा चुकी है, दशा यही है । जब विस्तार में जाना होगा और काम को हाथ में लेना होगा तब इसमें हेर-फेर भी किया जा सकता है आज तो हमें इतना भर जानना है कि मनुष्यता के साथ घुल गये-पशुओं को और असुरता के अंशों को बहिष्कृत करना और मानवीय चेतना में देवत्व का अधिकाधिक समावेश करना विश्व-निर्माण का प्रथम चरण होगा । आज या आज से हजार वर्ष बाद जब भी हमें सही दिशा मिलेगी श्रीगणेश यहीं से करना पड़ेगा । चिन्तन को प्रभावित करने वाले समस्त स्रोतों को हमें अपने अधिकार में करना चाहिए अथवा अलग से उन आधारों को उच्च स्तरीय प्रेरणा देने की सामर्थ्य बनाकर खड़ा करना होगा ताकि उनकी तुलना में इन दिनों लोक-चेतना को कुमार्गगामिता की ओर खींचने वाले माध्यम पिछड़ने और परास्त होने की स्थिति में चले जायें ।

व्यक्ति की तरह समाज का निर्धारण-निर्माण भी नये सिरे से करना होगा । पिछले अज्ञानान्धकार युग ने हमें अगणित ऐसी विकृत प्रथा-परम्पराएँ दी हैं जिनके कारण व्यक्तियों को कुमार्गगामी और पतनोन्मुख होने के लिये विवश होना पड़ रहा है । यह ठीक है कि प्रखर व्यक्तित्व समाज को बदल सकते हैं पर यह उससे भी अधिक ठीक है कि समाज के प्रचलित ढर्रे के अनुरूप जनसमूह ढलता चला जाता है । जो हो रहा है उसे देखते-देखते मनुष्य उसका अभ्यस्त हो जाता है और फिर उसे वही ढर्रा उचित एवं प्रिय लगने लगता है । तब उसका विरोध करते भी नहीं बनता । मनुष्य की प्रगति कुछ ऐसी ही है आज अनेक अवांछनीय प्रथा-परम्पराएँ हमारे समाज में प्रचलित हैं पर उनकी बुराई न तो सूझती है और न हटाने की जरूरत लगती है ।

न्याय, औचित्य एवं विवेक द्वारा हमें समाज-शरीर में प्रविष्ट उन तत्वों पर दृष्टि डालनी होगी जो उसे निरन्तर विषैला और खोखला करते चले जा रहे हैं । खोजने पर यह तत्व आसानी से सामने आ जाते हैं । मनुष्य-मनुष्य के बीच उपस्थित की गई नीच-ऊँच की मान्यता ऐसी सामाजिक बुराई है जिसके पीछे कोई तर्क, न्याय या औचित्य नहीं है । घोड़ा, गधा, बैल, हिरन आदि की तरह मनुष्य भी एक जाति है । देश, काल, प्रकृति, जल, वायु के कारण रंग और आकृतियों में थोड़ा अन्तर आता है पर इससे उसकी जाति में अन्तर नहीं आता । भाषण, प्रकृति आदि के आधार पर सुविधा के लिए जाति भेद करने भी हों तो भी उनमें नीच-ऊँच ठहराये जाने का कोई कारण नहीं । दुष्ट-दुश्चरित्रों को नीच और श्रेष्ठ सज्जनों का ऊँचा कहा जाय यहाँ तक तो बात समझ में आती है पर देश विशेष में पैदा होने के कारण किसी को नीच, किसी को ऊँचा माना जाय यह मान्यता सर्वथा अन्यायमूलक है । इससे नीच समझे जाने वाले वर्गों का स्वाभिमान गिरता और प्रगति के स्वाभाविक अधिकारों से उन्हें वंचित रहना पड़ता है । कुछ लोग अकारण अपने को उच्च मानने का अहंकार करते हैं ।

अपने देश में यह जन्म-जाति के साथ जुड़ी हुई ऊँच-नीच की मान्यता अविवेक के अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी है । एक जाति के अन्तर्गत भी उपजातियों के भेद से लोग परस्पर ऊँच-नीच का भेद करते हैं । अछूत कहे जाने वाले लोग भी अपनी जनजातियों में ऊँच-नीच का अन्तर मानते हैं । इस मान्यता ने सारे समाज को विसंगठित कर दिया । नारंगी बाहर से एक दीखती है भीतर से उसमें फाँकों में से फाँकें निकलती चली जाती हैं, इसी प्रकार एक भारतीय समाज कहने भर को एक है वस्तुतः यह जाति भेद ऊँच-नीच अन्तर के कारण हजारों, लाखों टुकड़ों में बँटा हुआ विशृंखलित समाज है । ऐसे लोग कभी संगठित नहीं हो सकते जहाँ संगठन न होगा वहाँ न समर्थता दिखाई देगी, न प्रगति की व्यवस्था बनेगी ।

इस सामाजिक अन्याय का फल है कि नीच समझे जाने वाले लोग तेजी से हिन्दू धर्म छोड़ते चले जा रहे हैं और खुशी-खुशी विधर्मी बन रहे हैं । यही स्थिति रही तो छोटी कही जाने वाली तिरस्कृत जाति के लोग विधर्मी बन जायेंगे और अगले दिनों देश में ही सवर्ण हिन्दू अल्पमत में होकर रहेंगे अथवा पाकिस्तान, नागालैण्ड जैसे टुकड़े कटते चले जायेंगे । समय रहते हमें जन्म-जाति के आधार पर प्रतिपादित की जाने वाली नीच-ऊँच की मान्यता के दुष्परिणामों को समझना चाहिए और उसके उन्मूलन का प्रबल प्रयत्न करना चाहिए ।

स्वच्छता, समय की पाबन्दी, व्यवस्था, सतर्कता, व्यक्तिगत गुण हैं । इन्हें सामाजिक मान्यता मिलनी चाहिए । हर सामाजिक प्रक्रिया में इन प्रवृत्तियों को प्रमुखता मिलनी चाहिए ताकि व्यक्तियों को अपनी रीति-नीति तदनुरूप ढालने के लिये विवश होना पड़े । दफ्तरों से लेकर विश्राम गृहों तक हर जगह समय पर काम हो, समय चुकने वाले अपने प्रमाद का समुचित दण्ड पायें ताकि वे बार-बार वैसी भूल न करें । गन्दगी और अव्यवस्था चाहे वह घरों में हो या सार्वजनिक स्थानों पर, व्यक्ति की दृष्टि में खटके और हर देखने वाला उसे हटाने का प्रयत्न करे । भीड़ लगाने के स्थान पर हर काम में लाइन लग कर काम करने का अपना स्वभाव बन जाय । जिसने जिस समय जिस काम को करने का वायदा किया है यह सामर्थ्य भर उस वचन की पाबन्दी का ध्यान रखे ताकि किसी का समय बर्बाद न होने पावे । समय की बर्बादी को धन बर्बाद करने जैसा ही अनुचित माना जाय । प्रगतिशील वर्गों जैसे यह सद्गुण अपनी सामाजिकता के भी अंग बनने चाहिए ।

एक-दूसरे के प्रति शिष्ट, मधुर और सम्मानजनक व्यवहार करें । नम्रता और सज्जनता से भरा उत्तर दें । सहानुभूति, सद्भावना, शालीनता और उदारता का वैसा पुट हर किसी के व्यवहार में इतना जुड़ा रहे कि उसे सभ्य एवं सज्जनोचित कहा जा सके । अधिक पारिश्रमिक या लाभ भले ही लिया जाय पर तौल-माप में कमी करने, मिलावट, असली कहकर नकली देने जैसी मनुष्यता को कलंकित करने वाली धूर्तताएँ न बरती जायें । हर वस्तु के मूल्य निर्धारित रहें जिसमें घटा-बढ़ी, का मोल-भाव करने की गुंजाइश न रहे । ऐसे चोरों-चाण्डालों को घृणित समझा जाय और ऐसे आचरण वाले अस्पर्श जैसे तिरस्कृत किये जाने लगें । व्यक्ति अपनी प्रतिभा और योग्यता के आधार पर कमाये, आगे बढ़े तभी उसे सामाजिक सम्मान मिले । अवांछनीय तरीके अपनाकर लाभ उठाने वाले न केवल कानून से दण्डित किये जायें वरन् समाज में भी उन्हें हर जगह घृणा, तिरस्कार और असहयोग का ही सामना करना पड़े । ऐसी सामाजिक रीति-नीति, प्रथा-परम्परा हमें विकसित करनी चाहिए ।

धन का मान घटाया जाय और मनुष्य का मूल्यांकन उसके उच्च-चरित्र एवं लोक-मंगल के लिये प्रस्तुत किये त्याग, बलिदान के आधार पर किया जाये । किसी को सम्मान इसी आधार पर मिले । कोई व्यक्ति कितना ही धनी क्यों न हो इस कारण सम्मान प्राप्त न कर सके कि वह दौलत का अधिपति है । उचित तो यह है कि ऐसे लोगों का मूल्य और सम्मान लोक-सेवियों की तुलना में बहुत घटाकर रखा जाय । धन के कारण सम्मान मिलने से लोग अधिक अमीर बनने और किसी भी उपाय से पैसा कमाने को प्रेरित होते हैं । यदि धन का सम्मान गिर जाय, संग्रह को कंजूसी और स्वार्थपरता का प्रतीक मानकर तिरस्कृत किया जाय तो फिर लोग धन के पीछे पागल फिरने की अपेक्षा-सामाजिक सम्मान प्राप्त करने के लिए सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त होने लगेंगे ।

सादगी को सराहा जाय और उद्धत वेशभूषा एवं भड़कीली शृंगार-सज्जा एवं चित्र-विचित्र बनावट को ओछेपन का प्रतीक माना जाय और जो बचकानी शृंगारिकता, भौंड़ी फैशन, अर्द्धनग्न हिप्पी साज-सज्जा पनपी है उसे तिरस्कृत किया जाना चाहिए । इससे खर्चीली एवं भौंड़ी कुरुचि को प्रश्रय न मिलेगा । शालीनता और सादगी ही सराही जाय तो निस्सन्देह शालीनता का गिरता हुआ स्तर फिर उठने लगेगा ।

केवल सत्प्रवृत्तियाँ सराही जायें, उन्हीं की चर्चा की जाये और उन्हें ही सम्मानित किया जाय । घृणित कार्य करने वाले, उद्धत और दुष्ट किसी की सहानुभूति प्राप्त न कर सकें । उनकी कोई सहायता न करे । बुराइयों का समर्थन और सहयोग परोक्ष रूप से करना भी एक सामाजिक अपराध माना जाय और ऐसे लोग भी अनैतिक अपराधियों की श्रेणी में गिने जाने लगें । समाज में सज्जनता की मान्यता इतनी प्रखर हो तो दुष्टता की आतंकवादी रीति-नीति अपनाने का कोई साहस ही न कर सके । धन का अनावश्यक एकत्रीकरण अनेक दुष्प्रवृत्तियों का जनक है । व्यसन, व्यभिचार, उद्धत आचरण, फिजूलखर्ची, हरामखोरी जैसी प्रवृत्तियाँ जहाँ पनपेंगी वहाँ उनका बुरा प्रभाव हजारों पर पड़ेगा । दूसरे लोग वैसी अय्याशी के लिये लालायित होंगे और अनुचित तरीकों से धन कमाना चाहेंगे । ईर्ष्या, द्वेष और अपराधी प्रवृत्ति को अमीरी ही जन्म देती है । इसलिये जो अधिक कमा सकते हैं उन्हें संग्रही नहीं बनना चाहिए उस उपार्जन को लोक-मंगल के लिये वापस करके अपनी गरिमा सिद्ध करनी चाहिए । सामाजिक कानून और दबाव इस आधार पर विकसित रहें कि धन का संग्रह और दुरुपयोग कर सकना किसी के लिये सम्भव न रहे । आर्थिक विषमता समाज की जड़ें खोखली करती है इसलिए अमीर और गरीब का अन्तर मिटाने वाली सामाजिक परिस्थितियाँ ही हमें उत्पन्न करनी चाहिए । इसके लिये दान और परमार्थ का हर सामर्थ्यवान् को अधिकाधिक सम्मान करने के लिये विवश किया जाय ।

सहकारिता के आधार पर परस्पर सहयोग से चलने वाले उद्योग धन्धे, व्यवसाय एवं सार्वजनिक कार्यों को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए । संगठन, सामूहिकता, एकता, कौटुम्बिकता और मिल-जुलकर रहने की अभिरुचि जितनी अधिक विकसित होगी, समाज की समर्थता, सभ्यता उसी क्रम में बढ़ती जायगी । आज इन स्वस्थ परम्पराओं का भारी अभाव है हमें समाज का नया निर्माण करने के लिये प्रचलित अवांछनीय प्रथाओं के विरुद्ध विरोध, संघर्ष का झंडा खड़ा करना पड़ेगा और स्वस्थ परम्पराओं को प्रतिष्ठापित करने का भगीरथी प्रयत्न करना पड़ेगा तभी हम अपने समाज को देवोपम और सुख-शान्ति का केन्द्र-बिन्दु बना सकने में समर्थ हो सकेंगे ।

प्रतिभाएँ नव-निर्माण के लिए आगे आएँ

पिछले हजार वर्षों से जिस अज्ञानान्धकार युग में हमें रहना पड़ा है उसके फलस्वरूप हमारे चिन्तन की दिशा में विकृतियों की मात्रा इतनी बढ़ गई है कि प्रगति के लिए किये गये सभी प्रयत्न उलटे पड़ते हैं । सुधार और प्रगति की योजनायें चारित्रिक दुर्बलता से टकराकर निष्फल हो जाते हैं । कारण की तह तक हमें जाना होगा और भावनात्मक नव-निर्माण के लिये एक ऐसा प्रचण्ड अभियान चलाना होगा जो जन-मानस को चरित्र-निष्ठा, आदर्शवादिता, मानवीय-सद्भावना, प्रचण्ड-कर्मठता और औचित्य को अपनाने की साहसिकता से ओत-प्रोत कर दे । इस अभियान आन्दोलन को जितनी सफलता मिलती जायेगी उसी क्रम से प्रगति का पथ प्रशस्त होता चला जायेगा ।

हमें जनमानस में प्रबल प्रचार द्वारा यह बात बिठा देनी चाहिए कि मानव जीवन का श्रेष्ठतम सदुपयोग लोक मानस के परिष्कार में अधिकाधिक प्रबल पुरुषार्थ–त्याग बलिदान करना ही हो सकता है । कई व्यक्ति ईश्वर-भक्ति और साधना-उपासना में जीवन की सार्थकता सोचते हैं । उन्हें जानना चाहिए कि विश्व-मानव में व्यापक रूप से समाई हुई आत्मा का नाम ही परमात्मा है । जप, तप, व ध्यान का प्रयोजन अन्तःकरण को इतना निर्मल बनाता है कि दूसरों के दुःख में अपना दुःख और दूसरों के सुख में अपना सुख जुड़ा हुआ परिलक्षित होने लगे । ऐसा करुण, पवित्रता, उदारता और ममता से भरा हृदय ही ईश्वर के निवास का परमप्रिय स्थान हो सकता है । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना अन्तरंग में जमाकर स्वार्थ का परमार्थ के लिये उत्सर्ग कर देना यही पूर्णता–आत्म साक्षात्कार और ईश्वर प्राप्ति की स्थिति है । ईश्वर खुशामदी, लालच या रिश्वतखोर आदमी का नाम नहीं । यह उदात्त भावनाओं का एक उत्कृष्ट प्रवाह मात्र है । जिसके अन्तःकरण में भी वह बहने लगे समझना चाहिए कि उसे ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य प्राप्त हो गया, इस उपलब्धि के लिये साधक को अपनी गतिविधियाँ लोक मंगल में नियोजित करनी चाहिए इस सन्दर्भ में सबसे श्रेष्ठ सत्कर्म की साधना जनमानस को परिष्कृत करने के प्रयत्नों द्वारा ही हो सकती है ।

कई व्यक्ति सोचते हैं कि धन की वृद्धि होने से लोगों के कष्ट दूर हो जायेंगे । इसलिये वे आर्थिक उन्नति के साधन खड़े करने में दत्त-चित्त रहते हैं । इस प्रकार के प्रयत्न अनावश्यक हैं यह नहीं कहा जा रहा पर इस तथ्य को जान ही लेना चाहिए कि दुर्बुद्धि के साथ बढ़ी हुई सम्पदा साँप को दूध पिलाने की तरह व्यसन, व्यभिचार, अपव्यय, विलास, अहंकार, दर्प, कलह आदि बढ़ाने का ही निमित्त बनती हैं, ऐसी सम्पदा ठहरती भी नहीं । बारूद की तरह जलकर देखते-देखते स्वाहा हो जाती है, सम्पदा तभी उपयोगी है जब उसके साथ सद्बुद्धि और सद्भावना भी बढ़े । धन का सदुपयोग तो ऐसी ही स्थिति में सम्भव है । सद्गुणी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से आवश्यक उपार्जन आसानी से कर लेता है और यदि साधन थोड़े हों तो भी मितव्ययतापूर्वक काम चलाकर आनन्द और सन्तोष के साथ दिन गुजार लेता है । इसलिये धन-सम्पत्ति बढ़ाने की योजनाएँ बनाने में भी पहले सत्प्रवृत्तियाँ बढाने की बात सोचनी चाहिए । कई व्यक्ति राजनीति को सर्वोपरि मानते हैं और सोचते हैं कि शासन-सत्ता अपने हाथ में आ जाय अथवा जो लोग शासन कर रहे हैं वे अपने अनुकूल बन जायँ तो व्यक्ति और समाज का उत्कर्ष हो सकता है । ऐसे लोगों को जानना चाहिए कि जब तक चरित्र निष्ठा की नींव मजबूत न होगी तब तक जो भी व्यक्ति सत्ता सँभालेंगे वे आदर्शहीन ओछी मनोभूमि के कारण कोई ठोस काम न कर सकेंगे । बाहर से सिद्धान्तों की लम्बी-चौड़ी बातें करते रहेंगे पर भीतर ही भीतर उस तरह के ताने-बाने बुनेंगे जिससे उनको स्वार्थ-साधना सम्भव हो सके । गुटबाजी और गिरोहबन्दी खूब चलती है । उसका प्रभाव सरकारी मशीन पर पड़े बिना नहीं रहता और भ्रष्टाचार आकाश-पाताल को छूने लगता है । प्रश्न दल या वाद का नहीं उद्देश्य का है । उद्देश्य ऊँचा हो तो कोई भी दल–कोई भी वाद समाज को ऊँचा उठा सकता है और यदि नीयत साफ न हो तो ऊँचे से ऊँचे वाद को आज भी लोग नीच से नीच कर्म करते देख सकते हैं । वोटर से लेकर अफसरों तक और नेताओं से लेकर नीति-निर्धारकों तक जब तक आदर्शवादिता पर ईमान न लावेंगे तब तक किसी न किसी बहाने संकट ही उत्पन्न किये जाते रहेंगे । एक समस्या सुलझने न पावेगी कि दूसरी खड़ी हो जायेगी । आज देश के सामने जितनी समस्याएँ हैं उनमें से तीन चौथाई शासकों की आपा-धापी के कारण उत्पन्न हुई हैं । यदि आस्थाएँ उत्कृष्ट न बनाई जा सकीं तो किसी भी पार्टी का–किसी भी दल का–किसी भी वाद का शासन हो जाये स्थिति बद से बदतर होती चली जायगी । भावनाएँ ऊँची हों तो बदनाम शासन-तन्त्र तक आदर्श हो सकता है । रामराज्य में उत्कृष्ट शासन ही था जिसकी गरिमा गाते हुए हम थकते नहीं हैं । दूसरी ओर आज के पाकिस्तानी प्रजातन्त्र और साम्यवादी चीन की करतूतें हम आँखों सामने देख रहे हैं ।

अमुक धर्म वाले लोगों का शासन हो जाने से संसार में सुख-शान्ति हो सकती है यह सोचना भी व्यर्थ है । योरोप में इस शताब्दी के दोनों महायुद्ध ईसाई धर्मावलम्बियों के बीच ही हुए हैं । भारत में आल्हा-ऊदल की सामन्ती लड़ाइयाँ हिन्दू-हिन्दू के बीच थीं । देवता और असुर दोनों हिन्दू धर्मानुयायी थे । इतिहास बताता है कि किसी भी धर्म का लेबिल मानवीय श्रेष्ठता की गारण्टी नहीं हो सकता । आन्तरिक महानता जीवित हो तो धर्म-सम्प्रदाय का भेद मानवीय प्रेम, सहयोग और शान्ति प्राप्ति के मार्ग में तनिक भी बाधक नहीं हो सकता ।

इन तथ्यों पर गहराई से विचार करने के बाद यह भ्रम आसानी से दूर हो सकता है कि आर्थिक उन्नति, राज सत्ता, सम्प्रदाय अभिवर्धन आदि माध्यमों से प्रस्तुत विषमताओं तथा विभीषिका को दूर किया जा सकता है । हमारा चिन्तन जितना गहरा होगा उतना ही स्पष्ट निष्कर्ष सामने आयेगा कि विचार व भावनाओं का परिष्कार ही वह अमोघ उपाय है जिसके द्वारा समस्त विभीषिकाओं का चिरस्थायी समाधान निकल सकता है । व्यक्तिगत जीवन की सफलता के लिए आस्तिकता, धार्मिकता एवं साधना का प्रतिपादन किया जाता है उसकी सार्थकता एवं सफलता हमारी उत्कृष्ट मनोभूमि पर ही आधारित है । घृणित विचारधारा और कार्य-पद्धति अपनाये हुए मनुष्य कितने ही धर्मानुष्ठान करता रहे उसे आत्मिक प्रगति की दिशा में एक कदम भी आगे बढ़ाने का अवसर न मिल सकेगा ।

यह चिन्तन हर विवेकवान व्यक्ति को इस निष्कर्ष पर पहुँचा सकता है कि उसे परमार्थ प्रयोजन के लिए भावनात्मक नवनिर्माण के आन्दोलन में एकनिष्ठ भाव से

लग जाना चाहिए । आत्म-कल्याण और विश्व-मंगल के लिए इससे बढ़कर और कोई उपयुक्त मार्ग हो ही नहीं सकता । जिनकी मनोभूमि पशु परिधि की है, जो पेट और प्रजनन के अतिरिक्त तीसरी बात सोच-समझ ही नहीं सकते उनसे कुछ कहना ही नहीं, इसी प्रकार जिनकी क्षमता अति स्वल्प और परिवार अति विस्तृत है उनको भी निर्वाह से आगे की बात सोच सकना कठिन है । ऐसे लोग भलेमानस की तरह स्वयं जी लें इतना ही पर्याप्त है । उनसे अधिक आशा कैसे की जाय, पर सभी लोग ऐसे नहीं होते, बहुत लोग ऐसे हैं जिनके मन में देश, धर्म, समाज, संस्कृति, लोक, परलोक, जीवन, लक्ष्य, धर्म, कर्त्तव्य, आत्मा-परमात्मा जैसे स्तर के विचार उठते हैं और आदर्शवादिता की भावनाएँ हिलोर लेती हैं । ऐसे लोगों से अनुरोध है कि वे निर्वाह की समस्या को औसत भारतीय जैसी सादगी के साथ सुलझाने में संतुष्ट हो जायें । अमीरी, बड़प्पन, शेखी, अहंता और अय्याशी की कल्पनाओं के घोड़े से नीचे उतर आवें । शरीर-यात्रा की व्यवस्था जुटाने तक ही सीमित रहें और बेची हुई क्षमता, योग्यता, प्रतिभा एवं सम्पदा को लोक-मंगल के लिए नियोजित करने की बात सोचें ।

महामानवों का–दूरदर्शियों का–बुद्धिमानों का यही रास्ता है । इस स्तर की गतिविधियाँ अपनाकर ही कोई व्यक्ति मानव जीवन को सार्थक बना सकता है । आत्म-सन्तोष और आत्म-कल्याण पा सकता है और ईश्वर ने अमानत रूप जो प्रतिभा दी है, उसे परमार्थ-प्रयोजन में नियोजित कर असंख्य आत्माओं को कल्याण पथ पर अग्रसर कर सकता है । संसार में व्याप्त कष्टों और संकटों का निवारण करना भी ऐसे ही आदर्शवाद अपनाने वाले लोगों के द्वारा सम्भव होता है ।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि अगले दिन आर्थिक समता लेकर आ रहे हैं । संसार में धर्म, समाज आदि का स्वरूप जो भी रहे पर आर्थिक समता निश्चित रूप से आकर रहेगी । आने वाले समय में संसार में एक भी व्यक्ति अमीर न रह जायेगा । पैसा बँट जायगा, पूँजी पर समाज का नियन्त्रण होगा और लोग केवल अपने निर्वाह मात्र के अर्थ साधन उपलब्ध कर सकेंगे । राजे-रईस जिस तरह समाप्त हो गये हमने आँखों देख लिया अब यह भी इन्हीं से देखने को तैयार रहना चाहिए कि कोई व्यक्ति अमीरी न रख सकेगा, बेटे-पोतों के लिये दौलत छोड़ मरना किसी के लिए भी सम्भव न होगा । अन्य दार्शनिक बातों में भले ही साम्यवाद स्वीकार न किया जाय पर आर्थिक क्षेत्र में सारी दुनिया साम्यवादी सिद्धान्तों के ढाँचे में ढल जायगी ।

ऐसी सम्भावनाओं के रहते अपना बहुमूल्य समय दौलत जमा करने में बर्बाद करना परले सिरे की मूर्खता ही सिद्ध हो सकती है । नीति-अनीति से कमाया जाय और वह फिर बेरहमी से छिन जाय तो रोने-कलपने के अतिरिक्त उस विडम्बना से और क्या हाथ लगने वाला है ।

उचित यही है कि हर विवेकवान दूरदर्शी व्यक्ति निर्वाह के स्वल्प साधनों की व्यवस्था बनाकर उतने भर से सन्तुष्ट रहे और समय से लेकर प्रतिभा तक–आकांक्षाओं से लेकर सम्पदा तक जो कुछ भी साधन-सामिग्री प्राप्त है, उसका अधिकाधिक अंश लोक-मंगल के लिये देकर जनमानस के परिष्कार के लिए–पूरी श्रद्धा और तत्परता के साथ जुट जाये ।

आज लोभ और स्वार्थ की–अहंता और ममता की हवा बह रही है पर यह हवा मात्र है । कुछ अग्रगामी लोग आगे आयें तो दूसरी तरफ की हवा भी चला सकते हैं । बुद्ध के अनुयायियों ने उत्सर्ग की हवा बहाई तो लाखों युवक-युवती यौवन और वैभव का सुख छोड़ परमार्थ प्रयोजन के लिए भिक्षु-भिक्षुणी का कष्टसाध्य जीवन जीने के लिए तत्पर हो गये । गान्धी की आँधी चली तो आवश्यक कामों और रंगीन सपनों को पैरों तले कुचलते हुए लाखों मनस्वी जेल यातनाएँ और फाँसी-गोली खाने के लिये चल पड़े । हवा स्वार्थ की भी हो सकती है परमार्थ की भी । स्वार्थ के कोल्हू में जिस बुरी तरह पिलाई-पिसाई होती है, परमार्थ की रीति-नीति उससे कुछ सरल-सस्ती ही पड़ती है । लोग समझते भर हैं कि संकीर्ण स्वार्थ सिद्धि में लगे हुए सुखी हैं, वस्तुतः परमार्थ के लिए उतना श्रम किया जाय और कष्ट सहा जाय तो व्यक्ति सौगुना अधिक सन्तोष और गर्व-गौरव प्राप्त कर सकता है । सोचने का ढर्रा भर ही है, जो मनुष्य की गतिविधियों को जकड़े बैठा रहता है यदि उस ढर्रे में आदर्शवादिता का थोड़ा-सा पुट जुड़ जाय तो मनुष्य बाल्मीकि डाकू से सन्त बाल्मीकि बनने की प्रक्रिया मिनटों में चरितार्थ करके रख दे । हमें ऐसा ही वातावरण पैदा करना चाहिए कि विवेकशील लोग संकीर्ण स्वार्थपरता की जंजीरें तोड़कर लोक-मंगल के परमार्थ-प्रयोजन अपनाते हुए दिखाई देने लगें ।

नव-निर्माण के लिये विवेकशील प्रतिभाओं की बड़ी संख्या में आवश्यकता पड़ेगी । इस अभाव की पूर्ति हमें साहसिक आदर्शवादिता की प्रेरणा को प्रखर बनाकर करना चाहिए । अपने परिवार के हर व्यक्ति को एक घण्टा समय और बीस पैसा ज्ञान यज्ञ के लिये नियमित रूप से देने की प्रेरणा देकर हम लोकमानस में इसी सत्प्रवृत्ति के बीज बो रहे हैं । जब यह अंकुरित होंगे–फलेंगे-फूलेंगे तो एक से एक बढ़कर प्रखर व्यक्तित्व युग की चुनौती स्वीकार करने के लिये उत्सर्ग के पथ पर अग्रसर होते दिखाई पड़ेंगे । ढलती आयु के लोगों को बड़े बच्चे स्वावलम्बी बनाने और छोटे बच्चे उनके जिम्मे छोड़कर वानप्रस्थ की धर्म परम्परा अंगीकार करनी चाहिए । सादा जीवन जियें और थोड़ी देखभाल घर की करें और शेष समय समाज सेवा के लिए लगायें यही वानप्रस्थ परम्परा है यदि यह फिर सजीव हो उठे तो समाज को लाखों अनुभवी और परिपक्व बुद्धि के प्रभावशाली कार्यकर्त्ता अवैतनिक रूप से मिल सकते हैं और नवनिर्माण की आवश्यकता पूर्ति में भारी सहायता मिल सकती है ।

जिनके पास इतनी संचित सम्पत्ति है कि उसके ब्याज भाड़े से काम चल सकता हो उन्हें अधिक उपार्जन का लालच छोड़कर परमार्थ-प्रयोजन में ही लगना चाहिए। पेन्शनर प्रोवीडेण्ट फण्ड प्राप्तकर्ता–मकान और जमीन के मालिक इन साधनों को अपने निर्वाह में खर्च कर डालें, यह न सोचें कि जो जमा पूँजी है उसे बेटे, पोतों या सम्बन्धी, रिश्तेदारों को देकर जायेंगे और मरते दम तक अपनी हड्डी घिसते रहेंगे। यह लालच और मोह किसी व्यक्ति की मनोभूमि की क्षुद्रता ही सिद्ध करेगा भले ही वह पाठ-पूजा की लकीर पीटकर अपने बारे में ऊँची बातें सोचने लगे हों। हमें अध्यात्म की विडम्बना से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए वरन् व्यावहारिक जीवन में आध्यात्मिक आचरण का प्रयोग करना चाहिए। यह लालच और ममता को घटाने और परमार्थ-प्रयोजनों में तत्पर होने से ही सम्भव हो सकता है।

जिन परिवारों में कई भाई कमाते हैं वे एक भाई का खर्च मिल-बाँट कर अपने जिम्मे ले लें और उसे लोक मंगल के लिए काम करने दें। नौकरी करने वाली महिलाएँ स्वयं घर खर्च चलायें और अपने पतियों को समाज सेवा का काम करने दें। जिन्हें अपनी वासना पर नियन्त्रण हो और बिना विवाह के काम चला सकते हों वे लोकसेवा के लिए अपना जीवन दान करके उस झंझट से बच सकते हैं। विवाह अनिवार्य नहीं है। जो नर-नारी उसके बिना रह सकते हों वे अपने जीवन को अधिक उपयोगी काम के लिये खर्च करने का साहस कर सकें तो उसे प्रशंसनीय ही कहा जायगा। ऐसे भी दम्पत्ति हो सकते हैं जो बच्चे पैदा न करें और दोनों मिलकर लोक मंगल के महान् प्रयोजन में कन्धे से कन्धा मिलाकर जुटे रहें। जिनकी आमदनी पर्याप्त है वे लोकसेवी कार्यकर्ताओं का निर्वाह खर्च अपने जिम्मे लेकर उन्हें सेवा करने की सुविधा दे सकते हैं। छुट्टी का दिन तथा नित्य के समय में से थोड़ा समय देकर कार्यव्यस्त लोग भी परमार्थ प्रयोजनों के लिये कुछ समय दान नियमित रूप से करते रह सकते हैं।

आज के व्यक्ति का सारा समय उचित आवश्यकताओं की पूर्ति में ही नहीं लगता, उसे तो कम समय में भी पूरा किया जा सकता है। आधे से अधिक समय तृष्णा और ममता की–अहंकार और विलासिता की–गपबाजी और आलस्य, प्रमाद की पूर्ति में लगता है। यदि विवेक जाग पड़े–परमार्थ प्रयोजनों की महत्ता समझ ली जाय तो समय को उस बरबादी से बचाया जा सकता है, जो आमतौर से हर व्यक्ति करता रहता है। आठ घण्टे–रोटी कमाने के लिए, दस घण्टे शयन, विश्राम के लिए लगाये जायँ, तो कुल १८ घण्टे ही हुए। २४ घण्टे में से ६ घण्टे तब भी बचते हैं। यदि समय की उपयोगिता, महत्ता और उसकी लोक-मंगल की गरिमा को समझा जाय तो उसका एक अंश परमार्थ-प्रयोजनों के लिए लगाया जा सकना सहज ही सम्भव हो सकता है।

मनुष्य शक्ति का पुञ्ज है। उसकी भावना, प्रतिभा, योग्यता और चेष्टा जिस दिशा में लगेगी उसी में सफलता मूर्तिमान हो जायगी। नवनिर्माण के लिए प्रतिभाशाली, भावनाशील, लोकसेवी सज्जनों का समय और सहयोग मिल सके तो निस्सन्देह यह कठिन दीखने वाला कार्य सरल और सफल बन सकता है।

धर्म-तन्त्र की शक्ति नवनिर्माण में नियोजित की जाय

व्यक्ति और समाज की भावना को व्यवस्थित और परिष्कृत रखने के लिये निस्सन्देह तद्विषयक प्रभाव श्रद्धा के अतिरिक्त विशाल जन-शक्ति और प्रचुर धन-शक्ति की आवश्यकता रहती है। शरीर को नीरोग रखने के लिये जिस प्रकार आहार-विहार की सुव्यवस्था जुटाना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है उसी प्रकार मनोबल एवं दृष्टिकोण ऊँचा बनाये रखने के लिए स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिन्तन आदि का प्रबन्ध रखना भी सर्वसाधारण के नित्यकर्म में सम्मिलित रहना चाहिए। स्वास्थ्य रक्षा के लिए सार्वजनिक प्रयत्नों में चिकित्सा विभाग की, शोध, अस्पताल, औषधि निर्माण–मेडीकल कॉलेज आदि कितने ही साधनों की जरूरत पड़ती है उसी तरह लोकमानस को नीरोग बनाये रखने के लिये धर्म और अध्यात्म का विशालकाय ढाँचा खड़ा किया गया है।

तत्वदर्शी ऋषि जानते थे कि भीतरी और बाहरी असुरता जनसाधारण को पशु-प्रवृत्तियों की ओर घसीट ले जा सकती है। उस सम्भावना से बचाव करने और देवत्व को सबल बनाये रखने के लिए एक समर्थ-शक्ति को खड़ा किया जाना चाहिए। सारा धर्म कलेवर इसी प्रयोजन के लिए विनिर्मित हुआ है। आस्तिकता, ईश्वर-उपासना के प्रति जनमानस में श्रद्धा उत्पन्न करने का मूल प्रयोजन यह है कि लोग नियामक शक्ति की न्यायशीलता और सर्व व्यापकता को ध्यान में रखें। राजदण्ड से बच जाने पर भी लोग यह स्मरण रखे रहें कि ईश्वर के दरबार में एक दिन जाना है और वहाँ चतुरता काम न करेगी। दुष्प्रवृत्तियों से ईश्वर की अप्रसन्नता और सत्प्रवृत्तियों से उसकी प्रसन्नता अनुभव करने वाला व्यक्ति पाप से बचना चाहेगा और पुण्य की ओर झुकेगा। स्वर्ग-नरक, कर्मफल का प्रतिपादन करने के लिए धर्मशास्त्रों का विशाल कलेवर सृजा गया है। कथा पुराण सुनने को महत्त्व इसलिये दिया गया है कि उनके माध्यम से लोग औचित्य को अपनाने और अनौचित्य से बचने की प्रेरणा प्राप्त करें।

धर्मग्रन्थों, धर्मानुष्ठानों और उपासनात्मक कर्मकाण्डों के पीछे यही मर्म छिपा पड़ा है कि उन प्रक्रियाओं के साथ जुड़ी हुई सदाचरण प्रेरणा और सद्भावनाओं को गहराई तक हृदयंगम किये रहें। विविध विधि साधनाएँ उपासनाएँ मनुष्य की आन्तरिक पवित्रता और भावनात्मक उत्कृष्टता

बढ़ाने के लिये हैं । यह बढ़ोतरी ही मनुष्य को महामानव बनाती है और स्वयं सुखी रहने तथा दूसरों को सुखी बनाने की सामर्थ्य प्रदान करती है । व्यक्ति और समाज की शान्ति, समृद्धि एवं प्रगति इन धर्म प्रेरणाओं पर निर्भर रीति-नीति के साथ जुड़ी रहती है इसलिये मनीषियों ने हर व्यक्ति को धार्मिक जीवन जीने और आस्तिकता पर श्रद्धा जमाये रहने पर बहुत बल दिया था ।

इस धर्म कलेवर को गतिशील रखने के लिए साधु और ब्राह्मणों का एक बहुत बड़ा वर्ग खड़ा किया । कार्य की उपयोगिता अनुभव करते हुए लाखों व्यक्ति अपना जीवन इस पुनीत-प्रक्रिया के लिए उत्सर्ग करने लगे । योग्यता वृद्धि के लिए स्वाध्याय, आत्मिक पवित्रता के लिए साधना यह नित्यकर्म वे आत्मबल बढ़ाने और अपनी समर्थता अक्षुण्ण रखने के लिए करते थे, शेष सारा समय लोक-मंगल के लिए-जन मानस का स्तर ऊँचा उठाये रखने के लिए लगाया करते थे । साधु-ब्राह्मणों का यह सेवा कार्य समाज में भरपूर सराहा गया । उन्हें उचित सम्मान दिया गया और उसके निर्वाह आदि के लिए दान-दक्षिणा की श्रद्धासिक्त सहायता प्रस्तुत की गई । इस प्रकार धर्म कलेवर द्वारा साधु, ब्राह्मणों का पोषण और उनके द्वारा धर्म प्रक्रिया की अभिवृद्धि । इस प्रकार के उभय सहयोग से जनमानस की उत्कृष्टता बढ़ने में निरन्तर बहुत सहायता मिलती रही । भारत का प्राचीन इतिहास जिस गौरव-गरिमा से भरा पड़ा है उसके पीछे जन साधारण का उज्ज्वल चरित्र एवं उदात्त दृष्टिकोण ही प्रधान कारण था । कहना न होगा कि इस प्रकार के प्रखर व्यक्तित्वों का निर्माण धर्मनिष्ठा द्वारा ही सम्भव हो सका और उसे समर्थ बनाने में साधु-ब्राह्मणों का सत्प्रयत्न अविछिन्न रूप से सन्निहित था ।

धर्मतन्त्र को सुव्यवस्थित रूप से संचालित रखने के लिए जिन सुविधा-साधनों की जरूरत पड़ती थी उन्हें तीर्थों, मठों, मन्दिरों, आश्रमों के तत्वाधान में एकत्रित किया गया, उन पुण्य संस्थानों में वे साधन जमा करते थे जिनके द्वारा धर्मतन्त्र को व्यापक और व्यवस्थित रूप में सुसंचालित रखा जा सके । लाखों धर्म प्रचारक, अध्यापक, उपाध्याय, चिकित्सक, लोकसेवी इन्हीं संस्थानों मे निवास निर्वाह करते थे । ये धर्म प्रचारक देशभर में भ्रमण भी करते थे, शिक्षा संस्थाएँ चलाते थे और विशेष स्थानों में तीर्थ व्यवस्था के आधार पर जनता को आमन्त्रित करके मानवीय आदर्शों के लिए अग्रगामी साहस भरने की प्रेरणा भरते थे ।

चिरकाल तक यह क्रम सुव्यवस्थित रूप से चलता रहा और धर्मतन्त्र की महत्ता एवं उपयोगिता को लोग सच्चे मन से स्वीकार करते रहे । उसकी समर्थता बढ़ाने के लिए लोगों ने बड़े-बड़े त्याग भी किये, मन्दिर मठों में लगी हुई अरबों-खरबों की सम्पत्ति उसी गहन लोकश्रद्धा का प्रतीक है, जिसे धर्मतन्त्र की उपयोगिता ने जनसाधारण के मन में गहराई तक बिठाया था । धर्ममंच से लोक-श्रद्धा के अनुरूप ही प्रत्युत्तर दिये गये । राजतन्त्र द्वारा जो सेवा, सहायता जनता की, की जा सकती थी, धर्मतन्त्र ने उससे असंख्य गुनी करके दिखाई । फलतः राजा को जो सम्मान मिलता था साधु को उससे अधिक मिला । शासकों ने अपनी गतिविधियों पर पुरोहितों का नियन्त्रण स्वीकार किया । धर्मतन्त्र के अनुशासन में राजतन्त्र आ जाने से प्रजा की सुविधा और सुख-शांति की वृद्धि में चार-चाँद लग गये । यह है हमारे गौरवमय अतीत का संक्षिप्त निष्कर्ष ।

आज स्थिति में विचित्र परिवर्तन आ गया है । धर्म संस्थान जहाँ के तहाँ खड़े हैं, उनकी सम्पत्ति, आजीविका ज्यों की त्यों है । धार्मिक जनता उनका सिंचन-पोषण पहले की तरह ही कर रही है पर इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि धर्म संस्थानों ने अपने कर्त्तव्य का एक प्रकार से परित्याग ही कर दिया । अब वहाँ कोई लोक-मंगल की अभीष्ट प्रवृत्ति चलती दिखाई न पड़ेगी, मन्दिरों में स्थापित प्रतिमा, उसकी सेवा-पूजा, भोग-प्रसाद, पूजा-कर्मियों का निर्वाह, यदा-कदा छुटपुट उत्सव आयोजन, इतने भर तक धर्म संस्थानों की गतिविधियाँ सीमाबद्ध हो गई । साधु-ब्राह्मणों का एक बड़ा वर्ग केवल दान-दक्षिणा बटोरने भर में सीमित सन्तुष्ट हो गया । उनके द्वारा लोक-मंगल की जो प्रवृत्तियाँ चलाई जाती थीं, उनका अब कहीं पता भी नहीं चलता ।

प्राचीनकाल में साधु-ब्राह्मणों ने लोकसेवा के द्वारा अपना वर्चस्व बढ़ाया था, पर अब उस कष्टसाध्य प्रक्रिया को अपनाने लायक न तो योग्यता है, न श्रद्धा स्थिर कहाँ रह सकती थी, उसके बिना निर्वाह कैसे चलता । इतना बन नहीं पड़ा कि यदि सेवा की क्षमता नहीं तो मुफ्त का दान क्यों लें । मुफ्त की आमदनी से मोह भी ज्यादा होता है सो उस वर्ग ने अनेक प्रपंच-पाखण्ड रचकर खड़े कर दिये जिनके बहाने उनकी उपयोगिता समझी जाती रहे और न दान-दक्षिणा का स्रोत खुला रहे आज धर्म के नाम पर ठगने-ठगाने वाले लोगों की भीड़ ही धर्मध्वजा के नीचे एकत्रित मिलेगी । विवेकपूर्वक उच्च आदर्शों के निमित्त जिन्होंने धर्म और अध्यात्म को अपनाया हो ऐसे विचारशील लोग अब इस क्षेत्र में कम ही मिलेंगे ।

यह स्थिति निस्सन्देह दयनीय और दुर्भाग्यपूर्ण है । जो धर्ममंच चिरकाल तक मानव जाति की महानतम सेवा कर सकने में समर्थ रहा वह अब भ्रम-जंजाल फैलाने और भिक्षा-वृत्ति पनपाने मात्र का साधन बनकर रह जाय यह कितने कष्ट की बात है । हमें इस स्थिति मे आमूल-चूल परिवर्तन करना चाहिए और प्राचीनकाल जैसी स्थिति पुनः लानी चाहिए । लोकसेवा का महत्त्व समझने वालों को यह अनुभव करना चाहिए कि भावनात्मक उत्कर्ष ही मानव जाति की-विश्व-वसुधा की सबसे बड़ी, सबसे आवश्यक सेवा-साधना है । उस मंच के माध्यम से जन-कल्याण का कार्य जितनी अच्छी तरह किया जा सकता है उतना और किसी मंच या माध्यम से नहीं ।

राजनीति भौतिक प्रयोजनों में सफल हो सकती है पर जब भावनात्मक परिष्कार की आवश्यकता पड़ेगी तब

श्रद्धा, सच्चाई, दर्शन, धर्म और अध्यात्म जैसे तत्वों का ही सहारा लेना पड़ेगा। यह कार्य धर्म-मंच द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। विवेकशील दूरदर्शी लोगों को इसी क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए। भारतीय जनता की वर्तमान मनोभूमि को देखते हुए नवनिर्माण के लिए यही माध्यम सर्वोपरि सिद्ध हो सकता है। देहातों में फैला हुआ अशिक्षित भारत अभी भी राजनीति, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि को ठीक तरह समझ नहीं सकता। पराधर्म का सहारा लेकर यदि उन्हीं बातों को कहा जाय तो जटिल विषयों को भी इसे समझाया जा सकता है। अपने देश की जनता की मनोभूमि में धर्म सम्बन्धी जो जानकारी और आस्था विद्यमान है उसे आज के अनुरूप दिशा में मोड़ सकना युग-मनीषियों के लिए कुछ कठिन नहीं होना चाहिए। महात्मा गाँधी अपने देश की जनता की नब्ज पहचानते थे, स्वराज्य आन्दोलन के साथ धार्मिकता के मन्तव्यों को जोड़कर कोई दूसरा उसी स्तर का अभियान खड़ा किया जाना हो तो उसकी पृष्ठभूमि धार्मिकता के साथ जुड़ी होनी चाहिए। नवनिर्माण के प्रयत्नशील लोक सेवियों के धर्म माध्यम से अपने कार्यक्रमों को अग्रसर करना चाहिए और जनता की धर्मश्रद्धा को सही दिशा देनी चाहिए। अभी भी अपना धर्मतन्त्र बहुत समर्थ है। अरबों रुपये की इमारतें खरबों रुपयों की स्थिर सम्पत्ति धर्म-संस्थाओं के पास मौजूद है। हर वर्ष करोड़ों रुपये की दान-दक्षिणा तथा चढ़ोत्तरी उन्हें मिलती है। ८० लाख धर्मजीवी इसी माध्यम से आजीविका पाते हैं। करोड़ों घण्टों का समय नित्य ही धर्मकृत्यों में लगता है। इस विशाल शक्ति भाण्डागार के द्वारा जो सृजनात्मक कार्य हो सकते हैं उनका भी अनुमान लगाया जा सकता है। ईसाई मिशनरियों के पास न इतनी धनशक्ति है न जनशक्ति। वे अपने उपलब्ध साधनों का सही प्रयोग भर कर लेते हैं फलस्वरूप पिछली दो शताब्दियों में संसार की एक तिहाई जनता को अपने सम्प्रदाय में ला सकने में वे सफल हो गये हैं। हम भारतीय धर्मतन्त्र का यदि सही उपयोग कर सकें तो प्रस्तुत राजतन्त्र की क्षमता में भी वे शक्ति साधन पा सकते हैं। ८० लाख धर्मजीवियों की जनशक्ति और ९६०० करोड़ वार्षिक की आमदनी, जनशक्ति और धनशक्ति की दृष्टि से धर्मतन्त्र की तुलना में राजतन्त्र को पीछे ही छोड़ देती है।

जनता अभी भी धर्म के नाम पर प्रचुर धन व्यय करती है। सोमवती अमावस्याओं पर हर साल ४-५ बार धार्मिक जनता गंगा स्नान करने जाती है। हर बार में संख्या ५० लाख से कम नहीं होती। ४ पर्वों पर वर्ष में २ लाख व्यक्ति स्नान को गये। हर व्यक्ति के पीछे समय, किराया भोजन खर्च, दान-दक्षिणा का औसत १०) भी मान लिया जाय तो २० करोड़ से अधिक रुपया केवल गंगा स्नान पर खर्च होता है। यदि इस श्रद्धा को सही दिशा दी जा सके और गंगा में पड़ने वाले मल-मूत्र को खेती में ले जाने के लिए यह एक वर्ष का पैसा लग सके तो गंगाजल की पवित्रता अक्षुण्ण बन सकती है और उस खाद से करोड़ों रुपयों की उपज बढ़ सकती है। धर्मश्रद्धा के नाम पर हर भारतीय बहुत समय, श्रम, धन खर्च करता है। इसे धर्म प्रयोजन के लिए लगाया जा सकना सम्भव हो सके तो नव निर्माण की सारी आवश्यकताएँ उतने भर से पूरी की जा सकती हैं।

धार्मिक कर्मकाण्डों, उत्सव आयोजनों, श्राद्ध-तर्पण, ब्रह्म-भोज, तीर्थयात्रा, दान-दक्षिणा, भोग-प्रसाद आदि में करोड़ों रुपया प्रतिदिन खर्च करती है और वह राशि सरकार द्वारा वसूल किये जाने वाले राजस्व की अपेक्षा अधिक ही बैठती है कम नहीं। यदि इस धर्म-श्रद्धा को-वास्तविक धर्म प्रयोजनों में लगाया जा सकना सम्भव किया जा सके तो इसके फलस्वरूप मनुष्य को सच्चे अर्थों में धर्मात्मा और देश को सच्चे अर्थों में धर्म देश बनाया जा सकना कुछ भी कठिन न रह जायगा।

बेशक आज उस क्षेत्र में अवांछनीय व्यक्ति घुसे बैठे हैं वे जनता की धर्म-श्रद्धा का शोषण व्यक्तिगत स्वार्थ-साधनों के लिए कर रहे हैं और भोली जनता को अपने चंगुल में जकड़ने रहने के लिये भ्रम-जंजालों में फँसाये हुए हैं। यह स्थिति बड़बड़ाने या क्षुब्ध होने से नहीं बदलेगी। आवश्यकता दिशा देने और साधनों का सदुपयोग करने की है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब लोकसेवी प्रतिभाशाली व्यक्ति धर्म-क्षेत्र में प्रवेश करें और अवांछनीय तत्वों को इस पुनीत वेदी से हटाकर उसे जन-कल्याण के पुण्य-प्रयोजनों में नियोजित कर दें। धर्ममंच को नवनिर्माण के लिए यदि हम प्रयुक्त कर सके तो निस्सन्देह साधनों की कमी का समाधान सहज ही किया जा सकता है।

विश्व-राष्ट्र, विश्व-धर्म, विश्व-भाषा की एकात्म भूमिका

'अनेकता से एकता की ओर' यही अध्यात्म विकास का क्रम है। जब हम बँटते, विभक्त होते और टूटते हैं तो दुर्बल बनते हैं, जब जुड़ते, समीप आते, घनिष्ट बनते और एक होते हैं तब शक्तिवान बनते हैं और आनन्द, उल्लास अनुभव करते हैं। यह सिद्धान्त सर्वत्र लागू होता है। मानवीय प्रगति पर भी।

जब हम एकता के सूत्र में बँधे थे तब सब प्रकार सशक्त थे। न सुविधाओं की कमी थी, न साधनों की, न संकट सताते थे, न विग्रह। पर जब टूटने, बँटने की प्रवृत्ति पनपी तो गँवाने, खाने और त्रस्त रहने की परिस्थितियाँ ही दुःखद दुर्भाग्य के रूप में सामने आती चली गईं। किसी जमाने में एक ही पिता के पुत्र एक ही धरती की सन्तान बनकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्शों को अपनाये सारी मानव जाति प्रेम, एकता और आत्मीयता की, स्नेह-सहयोग की भावनाओं के साथ सुख-शान्तिपूर्वक विद्यमान थी पर जब भेदभाव रखने अलग-अलग रहने और भिन्नता प्रथकता की संकीर्णता को अपनाया तो हम टुकड़े-टुकड़े होकर दयनीय दुर्दशा में जा गिरे।

यह सारी धरती एक देश है । सारी मनुष्य जाति का एक वंश है । प्रकृति के प्रदत्त साधनों पर सभी का समान अधिकार है । सबको एक समान धर्म कर्त्तव्यों का पालन करने की ईश्वरीय आज्ञा है । प्रेम और सहयोग के आधार पर ही हमें आगे बढ़ने और सुखी रहने की आशा कर सकते हैं । इन सीधे-सादे सिद्धान्तों पर यदि हम विश्वास करने लगें और उदारता, आत्मीयता एवं एकता के सुदृढ़ बन्धनों में परस्पर बँधे रहें तो यहाँ सर्वत्र सुख-शान्ति ही दृष्टिगोचर हो, क्लेश-कलह का कहीं पता भी न चले । भेदभाव, फूट, प्रथकता और अलगाव का असुर दृष्टिकोण ही है जिसने इस मंगलमय भू-लोक में नारकीय परिस्थितियों को चारों ओर बिखेरकर रख दिया है ।

नव-निर्माण के लिए हमें अनेकता से एकता की ओर बढ़ना होगा । अनेक सम्प्रदायों को मिलाकर एक विश्व धर्म बनाना पड़ेगा । उसके नियम, विधान और प्रतिबन्ध ऐसे हों जो नैतिक एवं उदात्त आदर्शों के आधार पर विनिर्मित किये गये हों और जो नर-नारी, रंग-वंश आदि का भेदभाव न करके सब पर समान रूप से लागू होते हों । जब एक ही ईश्वर सबका पिता है और सभी मनुष्य उसके समान रूप से प्रिय पुत्र हैं तो इसकी व्यवस्था और रीति-नीति भी सबके लिये एक होनी चाहिए । प्राचीन काल में था भी ऐसा ही । सब लोग छोटे-छोटे वर्गों में बँटने लगे, अपने वर्ग के लिए अधिक सुविधाएँ चाहने लगे तो भेदभाव के कानून बनने लगे । पुरुष को वर्चस्व, नारीत्व को दासत्व, सवर्ण लोगों को सुविधाएँ, असवर्णों पर प्रतिबन्ध जैसे भेदभाव ईश्वरीय नहीं हो सकते । यह भेद वर्ग स्वार्थ की दृष्टि से अपने पक्ष के लिए लाभ और विपक्ष के लिए रोक प्रस्तुत करने की दृष्टि से बनाये गये ।

ईश्वर अमुक सम्प्रदाय वालों से प्रसन्न रहता है और अमुक मत वालों से अप्रसन्न होता है इस मान्यता में कोई तथ्य नहीं । कुकर्मों से अप्रसन्नता-सत्कर्मों से प्रसन्नता वाली बात समझ में आती है । न्याय, नीति, कर्म, भावना के आधार पर ईश्वर की अनुकम्पा, रुष्टता निर्भर रहे तभी वह न्यायकारी और समदर्शी कहा जायगा । यदि किसी सम्प्रदाय विशेष के लोगों को उनके गुण, कर्म, स्वभाव को बिना देखे अन्धा-धुन्ध अपना प्रिय पात्र बना ले और दूसरे सम्प्रदाय के सज्जनों से भी रुष्ट रहें, तो फिर उसे निष्पक्ष कैसे कहा जायगा ? वस्तुतः वर्ण-सम्प्रदाय मनुष्यों ने अपनी सुविधा के अनुसार बनाये हैं । वे पुराने हो जाते और समय की आवश्यकता पूरी नहीं करते तो बदलते भी रहते हैं । शाश्वत तो धर्म कर्तव्य है । सम्प्रदाय तो सामयिक एवं क्षेत्रीय विधि-व्यवस्था मात्र है । इनके जितने विभेद बढ़ेंगे उतनी ही परस्पर प्रेम में बाधक दीवारें खड़ी होती चली जायेंगी ।

हमें प्राचीनकाल की तरह एक ही सार्वभौम धर्म को स्वीकार करना होगा जो भेदभावों की सारी दीवारें तोड़कर एकता, सद्भावना और आत्मीयता का प्रतिपादन करता हो । धर्म-कर्त्तव्य वे माने जायँ जो हमारे नैतिक और सामाजिक जीवन में उत्कृष्टता उत्पन्न कर सकें । प्रथा परम्पराएँ सर्वत्र एक हों । रहन-सहन के तरीके देश, काल पात्र के भेद से थोड़े भिन्न भी रह सकते हैं पर जीवन की दिशा और सामाजिक स्थिति सर्वत्र एक सी बनी रहे उसका प्रतिपादन करना ही मानव-संस्कृति का प्रयोजन होना चाहिए । जब तक एक धर्म निखरकर स्पष्ट न हो जाय तब तक प्रचलित धर्म-सम्प्रदायों का परस्पर सभी लोग आदर करें । कोई किसी पर कटु आक्षेप न करे, उनमें से नीति-नियम उतने ही अपनाये जायँ जो आज की परिस्थितियों में उचित, आवश्यक एवं उपयोगी सिद्ध होते हों । शेष ऐसी प्रथा-परम्पराओं पर जोर न दिया जाय जो इन दिनों उपयोगी नहीं रही । इस प्रकार नीर-क्षीर-विवेक की नीति अपनाकर केवल उपयुक्त अंशों को ही सब धर्मों में से लेकर एक कामचलाऊ समन्वयवादी नीति अपनाये रह सकते हैं । यह तब तक के लिये जब तक कि समस्त मूर्धन्य, तत्वदर्शी, मनीषी मिल-जुलकर एक धर्म का ढाँचा खड़ा नहीं कर लेते । अन्ततः प्रगतिशील मनुष्य जाति के लिये समस्त विश्व में एक ही धर्म होगा और उसे हर व्यक्ति समान रूप से स्वीकार, अंगीकार करेगा ।

एक धर्म की तरह आज तक समस्त राष्ट्रों का एक ही सम्मिलित महा राष्ट्र होगा । सारे विश्व का शासन एक ही सरकार चलायेगी । आज के राष्ट्रों की भी सीमाएँ बदल जायेंगी । भौगोलिक आधार पर-प्रथक् प्रान्तों की तरह शासन, सुविधा की दृष्टि से अलग-अलग प्रान्त बनाये जा सकते हैं पर उनका केन्द्रीय शासन एक जगह ही रहेगा । सारे संसार में न्याय, व्यवस्था, राज्य-कर आदि की प्रणाली एक ही तरह की रहेगी । एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जिस तरह एक देश के निवासी बिना किसी प्रतिबन्ध के आते-जाते हैं उसी तरह आवागमन की सर्वत्र छूट रहेगी । जो जहाँ बसना चाहेगा बस सकेगा । जनसंख्या के सघन और विरल होने की सुविधा-असुविधा का ध्यान रखते हुए बसने पर कुछ प्रतिबन्ध हों तो हों पर कोई व्यक्ति अमुक देश का निवासी है इसलिए उसे दूसरे देश में न जाने दिया जायगा ऐसा प्रतिबन्ध न रहेगा । वस्तुओं का आवागमन या प्रत्यावर्तन बिना प्रतिबन्ध के होता रहेगा । सिर्फ उत्पादन कर लगेगा । किसी स्थान का उत्पादन दूसरे स्थान पर बेचने में कोई बन्धन न रहेगा । इस प्रकार अभाव या अधिकता के कारण जो सुविधा-असुविधा होगी वह सारी मनुष्य जाति को समान रूप से होगी । आजकल प्रगति सम्पदा का एक देश लाभ उठाता है और अन्य देश उसके अभाव में दुःख पाते हैं । यह कृत्रिम विषमता हट जाने से सारे विश्व में एक-सी सुविधा-असुविधा रहेगी, समस्त विश्व उपलब्ध साधनों का समान रूप से उपभोग करेगा ।

सेना समस्त विश्व की एक रहेगी और उच्च न्यायालय भी एक होगा । यों अलग देश और वर्गों का अस्तित्व ही न रहेगा, इसलिए क्षेत्रीय या वर्गीय समस्याएँ ही उत्पन्न न होंगी । एक ही धर्म, एक ही समाज, एक ही देश जब

समस्त मनुष्य जाति का होगा तो फिर परस्पर लड़ने-झगड़ने, आक्रमण और विवाद का कोई कारण ही न रहेगा पर यदि कहीं कोई विवाद उठ खड़ा हो या कहीं बगावत फूट पड़े तो उसका नियन्त्रण विश्व-सरकार की सेना ही करेगी। इस प्रकार के बड़े विवादों का निपटारा भी विश्व अदालत में ही होगा। स्थानीय अपराधों और गड़बड़ी का नियन्त्रण प्रान्तीय पुलिस कर लिया करेगी। सम्प्रदाय, धर्म, वर्ण, वर्ग आदि के न रहने में ८० प्रतिशत सामूहिक उपद्रव तो वैसे ही समाप्त हो जायेंगे, व्यक्तिगत अपराधों के लड़-झगड़ के विग्रह ही जब-तब हो सकते हैं, उनके लिए स्थानीय पुलिस पर्याप्त है। विश्व सेना तो किसी क्षेत्र में कोई उपद्रव खड़ा हो जाने या आकस्मिक विपत्ति खड़ी हो जाने के लिए ही रहेगी। वस्तुतः वह सेना युद्धों में प्रयुक्त न होगी। युद्ध तो होंगे ही नहीं। राष्ट्रवाद की स्वार्थपरता युद्ध भड़काती है। जब समस्त विश्व एक परिवार हो तो फिर युद्ध कौन किस से करेगा? उस समय सेना का काम किसी विशेष क्षेत्र में भूकम्प, बाढ़, महामारी जैसी आपत्ति आ जाने पर उसकी सेवा-सहायता करना ही रहेगा।

समस्त विश्व की एक भाषा होगी। विश्वभर के समस्त व्यक्ति एक ही भाषा बोलेगे; एक ही लिपि में लिखेंगे। इस प्रकार विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक के व्यक्ति परस्पर एक दूसरे से बड़ी आसानी के साथ वार्तालाप या पत्र व्यवहार कर सकेंगे। ज्ञान सम्पादन का मार्ग सर्वसुलभ हो जायगा, किसी भी जगह छपी पुस्तक समस्त विश्व में सुविधापूर्वक उपलब्ध हो जायगी और बड़ी संख्या में छपने से सस्ती भी पड़ेगी। महत्त्वपूर्ण ज्ञान, भाषा की सीमा-संकीर्णता के कारण आज जो सीमित रह जाता है तब वह विश्व में सर्वत्र तत्काल उपलब्ध होने लगेगा। विश्व यात्रा कर सकना विश्वभर में अपनी बात पहुँचा सकना, बिना किसी कठिनाई के तब सर्वसुलभ हो जायगा। हम भारतीय अपनी क्षेत्रीय और प्रान्तीय भाषाओं को महत्त्व न देकर यदि हिन्दी भाषा और हिन्दी लिपि अपनाने के लिए देने लगें तो आगे चलकर यही प्रवृत्ति विश्व भाषा के निर्माण में सहायक सिद्ध हो सकती है।

शिक्षा का पाठ्यक्रम एक रहेगा। उपयोगी तथ्य सर्वत्र उपलब्ध रहेंगे। तब इतिहास शासन का, देशों का नाम समस्त विश्व के उत्कर्ष-अपकर्ष करने वाली प्रवृत्तियों तथा परिस्थितियों के विश्लेषण का पढ़ाया जाया करेगा। संसार भर के महामानवों के सत्कर्म विश्व में सर्वत्र जाने जा सकेंगे। आज नृशंस शासकों की नृशंसताओं को इतिहास के नाम पर स्कूलों में पढ़ाया जाता है। इस निरर्थक कूड़े-कचरे को विस्मृति के गर्त में फेंक दिया जायगा। आज के ऐतिहासिक कहे जाने वाले व्यक्तियों में से तब सौवाँ हिस्सा ही महत्त्वपूर्ण बचेगा। इतिहास विश्व की विभिन्न प्रवृत्तियों और प्रगतियों के पीछे जुड़े हुए पुरुषार्थों का पढ़ाया जाय तो उससे पढ़ने वाले को समाज-विज्ञान और नेतृत्व-विज्ञान की अच्छी खासी जानकारी मिल जायगी। भाषा, गणित, भूगोल आदि के उतने अंश पढ़ाये जायेंगे जो सामान्य ज्ञान की दृष्टि से सर्वोपयोगी हैं। जिन्हें किन्हीं विषयों का विशेषज्ञ बनना है उनकी शिक्षा, व्यवस्था अलग रहेगी। सर्वजनीन माध्यमिक शिक्षा जो अनिवार्य रहेगी ऐसी होगी, जिसमें जीवन जीने की कला तथा समाज और व्यक्ति का तालमेल ठीक बनाये रखने की जानकारी भली प्रकार मिल जाय। स्वास्थ्य, मानसिक-सन्तुलन, विवाह, परिवार, शिशु-पालन, अर्थ-व्यवस्था, पारस्परिक-व्यवहार, सहयोग, कानून-शासन, उपार्जन कला आदि के सभी विषय शिक्षा में अनिवार्य रूप से जुड़े रहेंगे, जो सामान्य जीवन जीने के लिए आवश्यक समझे जाते हैं। सर्वत्र एकसी प्रणाली और पाठ्य-पुस्तकें रहने से शिक्षकों, शिक्षार्थियों, पुस्तक व्यवसायियों को आज की तरह उद्विग्न न फिरना पड़ेगा।

जब तक एक विश्व भाषा का समान विकास नहीं हो जाता तब तक सम्पर्क भाषा के रूप में विश्व भाषा रहे और आरम्भिक शिक्षा क्षेत्रीय भाषाओं में चलती रहे, पर यह एक अवधि के लिए ही हो। उस अवधि में क्षेत्रीय भाषाओं से मुक्ति पाकर सब लोग विश्व भाषा के अभ्यस्त बन लें। क्षेत्रीय भाषाओं में जो उत्कृष्ट ज्ञान साहित्य है उसे धीरे-धीरे विश्व भाषा में अनुवादित कर लिया जाय। इस प्रकार साहित्य के नाम पर व्यर्थ ही कागज काले करने वाले निरर्थक जंजाल में मनुष्य का समय और धन बर्बाद न होगा। काम की चीज, क्या नई क्या पुरानी सभी उस विश्व भाषा में मिल जायगी।

संसार की एक भाषा हो जाने से प्रेस व्यवसाय को बड़ी सुविधा रहेगी। एक ही तरह के टाइप, मशीनें सर्वत्र काम देने लगें। टाइपराइटर अनेक भाषाओं के, अनेक तरह के बनते हैं। उनकी सीमित बिक्री होने से महँगे भी पड़ते हैं। यदि एक ही लिपि को विश्व मान्यता प्राप्त हो तो टाइपराइटर बड़ी संख्या में बनने के कारण बहुत सस्ते बनने लगेंगे और उनका उपयोग करने से लिखने-पढ़ने की प्रणाली बहुत सुविधाजनक बन जाय।

विश्व-भाषा, विश्व-धर्म और विश्व-शासन इन तीनों का समन्वय विश्व-मानव की एकता को सम्भव बना सकता है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श केवल कल्पना न रहकर मूर्तिमान हो सकता है। इसके लिये अभी से हमें जनमानस तैयार करना चाहिए। अपने पक्ष की विशेषता प्रतिपादित करते रहने और अपनी मान्यताओं को सर्वश्रेष्ठ बनाने का आग्रह छोड़ना यह इस दिशा की प्रथम तैयारी का प्रथम चरण है। 'जो हमारा सो सही' का दुराग्रह आज सर्वत्र व्याप्त है। इसी आधार पर लोग अपने सम्प्रदाय, मत, देश, भाषा आदि की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं और अपनी ही नीति परम्परा के लिये आग्रह करते हैं। पक्षपात से पक्षपात बढ़ता है और दुराग्रह से दुराग्रह का जन्म होता है। आज सभी सम्प्रदायों वाले दूसरों से यह आशा करते हैं कि अपना मत छोड़कर उनका मत स्वीकार कर लें। ऐसे आग्रह से केवल कटुता और घृणा बढ़ती है। होना यह

चाहिए कि 'हमारा सो अच्छा के स्थान पर अच्छा सो हमारा' की नीति' अपनाई जाय और जहाँ जो अच्छाई दिखाई दे उसे स्वीकार किया जाय।

पक्षपात रहित मस्तिष्क ही विश्व-राज्य, विश्व-धर्म, विश्व-संस्कृति और विश्व-भाषा की बात व्यावहारिक बना सकते हैं। आग्रह छोड़कर यदि उपयोगिता और विवेकशीलता को ही कसौटी रखा जाय तो जो सर्वोत्तम हो उसे स्वीकार करने से किसी को भी झिझक न होगी और एकात्म भाव की दिशा में बढ़ सकने और उसका ठोस ढाँचा खड़ा करने का समय जल्दी ही आ जायगा।

भेदभाव, पक्षपात और अलगाव की प्रवृत्तियों ने जनजीवन को अगणित कठिनाइयों और उलझनों से भर दिया है। विश्व-युद्ध की और पारस्परिक विग्रह की जटिलताएँ खड़ी कर दी हैं, कृत्रिम अभाव और कृत्रिम संकट उत्पन्न कर दिये हैं। यदि एकता की दिशा में हम बढ़ चलें तो जीवनयापन का स्वरूप हर्षोल्लासमय और संसार का वातावरण सुख-शान्तिमय बन सकता है। नव-निर्माण के लिए हमें सार्वभौमिकता की भूमिका अभी से विनिर्मित करनी होगी।

मनुष्य और पशु कुटुम्बी बनकर रहें

प्राणि-जगत में अकेला मनुष्य ही नहीं है, उसके दूसरे छोटे-बड़े भाई भी इसी दुनिया में रहने के लिए परमेश्वर ने सृजे हैं। मनुष्य अपनी ही सुविधा के लिये सृष्टि की सारी सुविधाओं को हथिया ले और दूसरों के हिस्से में कुछ न छोड़े यह अनुचित है। न्याय का तकाजा यह है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ से अपने लिए आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध करे और दूसरे प्राणियों को भी अपना साथी-सहयोगी समझकर ऐसी व्यवस्था बनाये जिससे अपनी और अन्य प्राणियों की जीवनचर्या में अन्याय, अत्याचार की आवश्यकता ही न पड़े।

हमारी ही तरह पशु-पक्षियों को भी ईश्वरप्रदत्त जीवन प्यारा है, उन्हें भी शान्तिपूर्वक जीवित रहने का अधिकार रहना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन को प्यार करे और उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करे यह उचित है पर इसके लिए इस सीमा का ऐसा अतिक्रमण नहीं होना चाहिए जिससे दूसरों को पीड़ा-वेदना का, अन्याय और अत्याचार का शिकार बनना पड़े। इस सन्दर्भ में उन पशुओं की समस्या अधिक विचारणीय है जो मनुष्य के आधीन उसके सहयोगी-सहचर बनकर रह रहे हैं। इनकी सुविधाओं का ऐसा ही ध्यान रखा जाना चाहिए जैसा कि अपने घर-कुटुम्ब वालों का रखा जाता है। वे अपनी बात कह नहीं सकते, शिकायत कर नहीं सकते इसलिए उन पर अत्याचार की छूट मिल गई, नहीं मान ली जानी चाहिए। पालतू पशुओं के साथ न्यायोचित व्यवहार करने का हर मनुष्य को पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

पालतू जानवर कितना श्रम कर सकते हैं, उन्हें कितना विश्राम और अवकाश मिलना चाहिए? इसका ध्यान न रखा जाय और जितना श्रम वे नहीं कर सकते, जितना बोझ वे नहीं ढो सकते उसके लिए विवश किया जाय तो यह क्रूरता और दुष्टता ही कहलायेगी। कौन पशु कितनी आसानी से कर सकता है? इसका अनुमान उसकी उदासी और थकान के प्रत्यक्ष चिन्ह देखकर आसानी से लगाया जा सकता है। अपना स्वास्थ्य गँवाये बिना और अड़चन अनुभव किये बिना जितना श्रम आसानी से जो कर सके उससे उतना ही श्रम लिया जाना चाहिए, उसकी सुविधा, आहार-विहार का भी वैसा ही प्रबन्ध करना चाहिए जैसा एक जीवधारी को सुविधाजनक जीवन जीने के लिये अभीष्ट है। अत्याचार चाहे पशुओं पर किया जाय, चाहे मनुष्यों पर समान रूप से निन्दनीय है।

लोग बैल, घोड़े, गधे, ऊँट आदि पर इतना बोझ लादते हैं, इतनी देर काम लेते हैं जिससे उनकी थकान, उदासी और पीड़ा स्पष्ट झलकती है। कई बार तो उनके कन्धे, पीठ आदि में घाव हो जाते हैं। थके पशु से अधिक काम लेने के लिए बुरी तरह पीटा जाता है उसके क्रूरतापूर्ण चिन्ह भी मनुष्यता पर लगी कलंक कालिमा की तरह अपनी कथा आप कहते रहते हैं। इस प्रकार का उत्पीड़न बन्द किया जाना चाहिए। युग-निर्माण की विधि-व्यवस्था में केवल मनुष्य को ही अन्याय से मुक्ति दिलाना शामिल नहीं है। पशुओं को भी अत्याचार से मुक्ति मिलने की बात उसमें सम्मिलित है।

माँस खाना-अपराधों की गणना में सबसे नृशंस स्तर का अपराध मानना चाहिए। चोरी, ठगी, उठाईगीरी, लूट आदि धन सम्बन्धी अपराध किसी को आर्थिक असुविधा उत्पन्न कर सकते हैं, जिसकी पूर्ति अपने पुरुषार्थ, संयम या दूसरों की सहायता से हो सकती है। अपमान, मानहानि, मारपीट, व्यभिचार जैसे अपराधों से किसी को इतनी असुविधा नहीं होती कि जीवित रहना कठिन हो जाय। उन छोटे अपराधों को मनुष्य के साथ किया जाय तो जेल आदि की सजा मिले पर पशुओं का प्राण ले लिया जाय तब भी अनुचित न समझा जाय यह कहाँ का न्याय है? मनुष्य की हत्या कर डालने वाला फाँसी का दण्ड प्राप्त करता है पर पशुओं की हत्या करने वाला कोई दण्ड न पाये इसे न्यायशीलता कैसे कहा जायगा। अपने वर्ग के लिये लाभ कमाने के लिये दूसरे वर्गों पर अत्याचार करने की पद्धति से ही तो नृशंसता का इतिहास लिखा गया है। जिसने अपने या अपने वर्ग के लाभ के लिए दूसरों की कठिनाइयों को ध्यान में नहीं रखा उन्हें हम अत्याचारी कहते हैं। यदि मनुष्यकृत कानून अपने वर्ग की सुविधा के लिए पशुओं की हत्या तक कर डालने को अनुचित नहीं ठहराता तो उसे समग्र-न्याय नहीं कहा जायगा।

पालतू पशु-पक्षी जो एक प्रकार से शरणागत हैं और अपने पालक के साथ स्नेह-दुलार भरे सहयोगी जीवनयापन की आशा करते हैं । उनके हाथ-पैर बाँधकर बिना संघर्ष का अवसर दिये यों ही काट-मार डालना, ऐसी नृशंसता है जिसे करने वाला मनुष्यता के उच्च आदर्श का दम्भ नहीं कर सकता । हिंसक पशु भी बचाव का अवसर पाने वाले शिकार पर हमला करके कुछ तो छूट का अवसर देते हैं जिससे यह चाहे तो अपने पुरुषार्थ से प्राण रक्षा कर सके । कसाई की मारने-काटने की प्रणाली नितान्त क्रूरता से भरी हुई है, उसे विश्वासघात के साथ जुड़ा हुआ अनर्थ कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी ।

माँस खाने के लिए ऐसा क्रूर कर्म किया जाय, इसमें कुछ भी तुक नहीं । माँस मनुष्य की प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध है । उसकी शरीर रचना विशुद्ध शाकाहारियों की है । न उसके नाखून हिंसक जीवों जैसे हैं न दाँत । न वह कच्चे माँस को पचा सकता है और न उसकी जीभ रक्त माँस में रुचि लेती है । मिर्च-मसालों की सहायता से उबाल पकाकर उसे खाने योग्य कोई भले ही बना ले । अपने स्वाभाविक रूप में न माँस मनुष्य को रुचता है, न पचता है । प्रकृति के विपरीत आहार यदि जबरदस्ती किया भी जाय तो उससे कभी किसी का कुछ लाभ नहीं हो सकता । यह शारीरिक और मानसिक विकृतियाँ ही पैदा करेगा । माँस का प्रोटीन मनुष्य के लिए सबसे घटिया किस्म का प्रोटीन है । इससे अच्छे जीवन तत्व तो फल, मेवा, शाक, घी, दूध, दाल, अन्न आदि में मौजूद हैं, जो सस्ते भी हैं सात्विक भी और पौष्टिक भी । यह भ्रम नितान्त अज्ञानमूलक है कि माँस खाने से मनुष्य बलवान बनता है । यह बुढ़िया मान्यता आज से कई वर्ष पूर्व के बाल-बुद्धि शरीरशास्त्रियों की है । आज की नवीनतम शोधें यह प्रतिपादन बड़े साहसपूर्वक कर रही हैं कि माँस मनुष्य के लिये नितान्त हानिकारक पदार्थ है । शरीर के लिए ही नहीं मानसिक स्थिति को अवांछनीय बनाने का भी उसमें भारी दोष है । अगले दिनों जैसे-जैसे शरीर-शास्त्र की-आरोग्य-शास्त्र की शोध अधिक गहराई से और बारीकी से होने लगेगी तो यह निष्कर्ष पूरी तरह सामने आ जावेगा कि माँस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है ।

माँस उपार्जन के लिए जो शक्ति लगानी पड़ती है उससे बहुत कम में अधिक पौष्टिक और अधिक अच्छा खाद्य उगाया जा सकता है । माँस महँगा है, उससे कहीं सस्ते कहीं अधिक स्वादिष्ट, कहीं अधिक पौष्टिक दूसरे पदार्थ मौजूद हैं और वे आसानी से पाये और बढ़ाये जा सकते हैं फिर माँस की ऐसी क्या जरूरत रह जाती है जिसके लिए मनुष्य को जीव-हत्या जैसे नृशंस क्रूर-कर्म में प्रवृत्त होना पड़े ? अण्डा और माँस का प्रचलन आज फैशन के नाम पर ही बढ़ रहा है वस्तुतः उपयोगिता की दृष्टि से यह पदार्थ दो कौड़ी मूल्य के हैं यदि माँसाहार बन्द कर दिया जाय तो न तो स्वास्थ्य को कोई क्षति पहुँचने वाली है और न खाद्य पदार्थों में कमी आयेगी । माँस से कम श्रम-साधनों से पौष्टिक खाद्य कहीं अधिक मात्रा में उगाया जाना नितान्त सरल है । माँस न खाने से खाद्य की कमी पड़ने वाली कल्पना नितान्त भ्रामक और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से सर्वथा विपरीत है ।

स्वाद, खाद्य पदार्थ, पौष्टिकता आदि माँस के पक्ष में दी जाने वाली सभी दलीलें मनुष्यता की उपेक्षा कर नृशंसता अपनाने की बुराई के सामने अति नगण्य और अति तुच्छ हैं । इतनी बड़ी नैतिक हानि उठाकर यदि माँस खाये बिना जीवित न रहा जा सके तो अच्छा यही है कि हम कम दिन जियें या न जियें । दूसरों के जीवन मूल्य पर तो अपनी जीवन-रक्षा भी स्वीकार नहीं की जानी चाहिए फिर माँसाहार के पक्ष में तो पौष्टिकता-स्वादिष्टता जैसी थोथी दलीलें हैं जिनके सही होने में पूरा-पूरा सन्देह व्यक्त किया जा सकता है ।

इन दिनों एक विकट प्रश्न जरूर सामने है कि जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है और उसकी खुराक जुटाने के लिये जंगल, चारागाह साफ किये जा रहे हैं । इससे कम लाभदायक पशुओं का निर्वाह कठिन हो जायगा और जब दूध के लिए उनका प्रजनन ही चलता रहेगा तो पशुओं की बढ़ी हुई आबादी का निर्वाह किस तरह होगा ? यह प्रश्न इसलिए भी जटिल होता जाता है कि पशुओं का श्रम मशीनों से लेने की प्रथा बढ़ रही है । हल की जगह ट्रैक्टर ले रहा है, सिंचाई के लिए बैलों की जरूरत पम्प पूरी करने लगे हैं । माल ढोने में बैलगाड़ियों का स्थान मोटर, ठेले, ट्रकों ने ले लिया है, ऐसी दशा में दूसरी कठिनाई यह खड़ी हो रही है कि जब दुधारू पशुओं के बच्चे होंगे और वे काम में न आ सकेंगे तो फिर उनका क्या होगा । माँसाहारियों का सुझाव तो यह है कि उन फालतू पशुओं को काटकर माँस, चमड़ा, हड्डी आदि का लाभ उठा लिया जाय, पर हम शाकाहारियों को दूसरे ढंग से सोचना पड़ेगा ।

निस्सन्देह अगले दिनों पशुओं की संख्या घटानी पड़ेगी मनुष्य बढ़ेगा तो पशु घटेंगे । जब मनुष्यों की वृद्धि के लिए ही धरती पर जगह नहीं, तो पशुओं की अनियन्त्रित अभिवृद्धि को ज्यों की त्यों नहीं रखा जा सकता । नियन्त्रण की बात तो इस सन्दर्भ में भी सोचनी पड़ेगी । वह इस प्रकार हो सकती है कि एक सर्वोपयोगी पशु को संरक्षण देकर दूसरों को समयानुसार अपनी मौत मरने के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए । उनका प्रजनन बन्द कर दिया जाय । उपयोग रोक दिया जाय, जो जीवित हैं उनके निर्वाह का खर्च थोड़े दिन उठा लिया जाय तो वे नस्लें अपने आप कुछ समय में समाप्त हो जायेंगी । भैंस, बकरी, भेड़ आदि का दूध न तो उतना उपयोगी है न पौष्टिक । उनके बच्चे भी किसी महत्त्वपूर्ण काम में नहीं आते । इसलिए इन नस्लों का अभिवर्द्धन माँसाहार की पृष्ठभूमि ही तैयार करेगा ।

गाय संसार का सर्वोत्तम पशु है । उसके दूध में जिन तत्वों की प्रधानता है उसे देखते हुए माता के बाद दूसरे

नम्बर का उसी दूध को स्थान दिया जा सकता है । रक्त-मांस, हड्डी आदि बढ़ने की ही नहीं–साहस, पौरुष, स्फूर्ति, उत्साह जैसे सद्गुणों की मात्रा स्वभाव में बढ़ाने की भी उसकी विशेषता है । गौ-दुग्ध बुद्धिवर्द्धक, सतोगुणी प्रवृत्ति और दीर्घजीवन प्रदान कर सकने की शक्ति से भरा है । चंद पिछड़े देशों में ही भैंस, बकरी का दूध प्रयुक्त होता है बाकी सारे संसार में दूध की आवश्यकता एकमात्र गौ दुग्ध से ही पूरी की जाती है । यह प्रधानता उसमें पाये जाने वाले जीवन-तत्वों की उत्कृष्टता के आधार पर मिली है । गाय के बछड़े ही भारत जैसे निर्धन, पिछड़े और छोटी देहातों में रहने वाली, छोटी-छोटी, ऊँची-नीची जमीन पर बनी जोत के लिये उपयुक्त हो सकते हैं । इसलिए साधन सम्पन्न थोड़े से लोगों को बड़े कामों में प्रयुक्त करने के लिए मशीनरी उपकरणों से सुविधा मिलेगी बाकी भार वहन, कृषि आदि के लिए बैल ही काम में आते रहेंगे । इस देश में गौ दुग्ध और बैलों की उपयोगिता की दृष्टि से इतनी आवश्यकता चिरकाल तक बनी रहेगी कि गाय की नस्ल बिना कसाई की छुरी के नीचे जाये अपना जीवनयापन कर सके । बुढ़ापे में भी इसका गोबर खाद का काम दे सकता है और मरने के बाद चमड़े, हड्डी आदि की इतनी कीमत उठ सकती है जितनी से कि उसे बुढ़ापे में बिना काम लिए खिलाने का खर्च चल जाय ।

भारतवर्ष में गाय को धार्मिक मान्यता अकारण नहीं दी गई है । गौ दुग्ध की पौष्टिकता तथा मनस्विता, बछड़ों का कृषि तथा वाहन उपयोग, गोबर में अन्य पशुओं की तुलना में अधिक स्वच्छता एवं उत्पादन शक्ति जैसी प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही वह प्राथमिकता दी गई है । जनसंख्या वृद्धि के कारण अगले दिनों जबकि अन्य पशुओं की संख्या घटाना आवश्यक हो जायगा तब भी गौ अपनी उपयोगिता बनाये रहेगी और गौ वंश को संरक्षण मिलता रहेगा ।

इसे आश्चर्य ही कहना चाहिए कि जहाँ संसारभर के अन्य देशों में गौ वंश की वृद्धि के लिए पूरा ध्यान दिया जा रहा है । औसत गाय ३० पौण्ड दूध देती है और युवा गाय को काटने की बात कोई सोच भी नहीं सकता । वहाँ अपने देश में उसकी दशा दयनीय हो रही है । नस्ल बिगड़ती जा रही है, दूध जरा-सा देती है, उन्हें पालना अलाभदायक हो गया है इसलिए लोग गाय की अपेक्षा भैंस पालते हैं, इस उपेक्षा से बछड़े कमजोर मिलते हैं और अच्छे बैलों की कीमत बहुत बढ़ गई है । गौ को प्राथमिकता देनी हो तो उसे इतनी लाभदायक बनाना होगा कि उसकी उपयोगिता ही उसका सहज संरक्षण कर सके ।

इस दिशा में पहला काम जनता द्वारा यह किया जाना चाहिए कि हर व्यक्ति केवल गौ दुग्ध का ही उपयोग करे । घी की जहाँ आवश्यकता है वहाँ गौ-घृत का ही प्रयोग हो । लोगों को गौ दुग्ध और दूसरे पशुओं के दूध में शक्ल एक सी होते हुए भी गुणों में जो जमीन-आसमान जैसा अन्तर है उसे समझाया जाय, इसके लिए बड़े पैमाने पर प्रचार की जरूरत है ताकि जनता वस्तुस्थिति समझकर गौ दुग्ध की उपयोगिता समझ सके । गौ पालने के लिए वैयक्तिक और सामूहिक प्रयत्न किये जायें और ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे हर जगह गौ दुग्ध, गौ घृत आसानी से मिल सके । इस उद्योग में यदि सम्पन्न और समझदार लोग भाग लें तो गायों की नस्ल सुधारने, उनका पालन-पोषण वैज्ञानिक दृष्टि से करने की व्यवस्था बन सकती है । अधिक दूध देने तथा अच्छे बछड़े देने के कारण गाय की उपयोगिता जितनी ही बढ़ती जायेगी माँस या चमड़े के लिए आज जो उसका विनाश हो रहा है वह उस विकसित स्थिति में आर्थिक दृष्टि से भी सम्भव न रहेगा । न कोई उसे काटने का दुस्साहस करेंगे और न कानून बनाने के लिए आन्दोलन करना पड़ेगा । उपयोगिता ही सुरक्षा तथा प्राथमिकता की सबसे बड़ी गारण्टी है । हमें गाय को इतना समर्थ और उपयोगी बना देना चाहिए ताकि अगले दिनों संरक्षण प्राप्त पशु के चुनाव में उसको प्राथमिकता मिल सके ।

धार्मिक दृष्टि से गौ भक्ति को महत्त्व देने वाले, माँसाहार की हिंसात्मक दुष्प्रवृत्ति को रोकने के उत्सुक, पौष्टिक आहार ढूँढ़ने वाले, कृषि व्यवस्था की एक बड़ी आवश्यकता पूरी करने के इच्छुक एवं मनुष्य तथा पशुओं की बढ़ती संख्या से उत्पन्न विग्रह का अहिंसक सुझाव ढूँढ़ने वाले सभी को गौ संरक्षण की बात आवश्यक प्रतीत होगी । बढ़ती हुई जनसंख्या अन्ततः पशुओं की संख्या सीमित ही रखने को विवश करेगी । ऐसी दशा में दूध का उत्पादन घटता जायगा, वह बच्चों भर के लिए कठिनाई से उपलब्ध हो सकेगा इसलिए घी बनाने की प्रथा बन्द करनी चाहिए और उससे पकवान, मिठाई बनाने पर तो अभी से प्रतिबन्ध लगाना चाहिए ताकि उस दुर्लभ खाद्य को जायके-चटोरेपन के लिये बरबाद करने की अपेक्षा स्वास्थ्य संरक्षण के लिये आवश्यक जीवन-तत्व उपलब्ध करने के लिए सुरक्षित रखा जा सके ।

माँसाहार के शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, नैतिक दुष्परिणामों से जन-साधारण को परिचित कराया जाना चाहिए । लोग यदि यह अनुभव करने लगें कि पशुओं के साथ बरती जाने वाली क्रूरता मानवीय प्रकृति में सम्मिलित होकर परस्पर अनीति बरतने का द्वार खोलती है और उस बढ़ती हुई असुरता से व्यक्तित्वों की शालीनता और समाजगत स्नेह-सहकारिता को भारी आघात लगता है तो निस्सन्देह माँसाहार को हर दृष्टि से अनुपयुक्त माना जायेगा । मिथ्या भ्रान्तियों ने माँसाहार को बढ़ाया है, निष्ठुरता ने पशुओं के साथ दुर्व्यवहार बढ़ाया है । इन दोनों ही दुष्प्रवृत्तियों पर कुठाराघात करके हमें वे परिस्थितियाँ पैदा करनी चाहिए जिनमें मनुष्य और पशुओं का शिक्षित और अशिक्षित भाइयों की तरह साथ-साथ प्रेमपूर्वक सहयोग भावना के साथ रह सकना सम्भव हो सके ।

साम्प्रदायिक अनेकता से धार्मिक एकता की ओर

धर्मतन्त्र भी राजतन्त्र की तरह एक समर्थ शक्ति है । भौतिक जगत के व्यवस्थाक्रम के सँभालने में जब राजतन्त्र की क्षमता दिन-दिन बढ़ती जाती है । धर्मतन्त्र में व्यक्ति के दृष्टिकोण और समाज के भाव प्रवाह को ऊँचा बनाये रखने की पूरी सामर्थ्य है, भौतिक साधनों से आन्तरिक स्तर और मनोबल की शक्ति असंख्य गुनी अधिक है । आत्मबल की समुचित मात्रा होने पर साधनहीन व्यक्ति भी ऋषि-मुनियों जैसा महान व्यक्तित्व बनाये रह सकता है किन्तु पर्याप्त साधनसम्पन्न व्यक्ति यदि आन्तरिक दृष्टि से गया-गुजरा हो तो न केवल अपने लिए वरन् दूसरों के लिए भी शोक-संताप का कारण बना रहेगा । हेय व्यक्ति की सम्पदा उसके लिये उलटी विपत्ति ही बढ़ाती है ।

धर्मतन्त्र का समर्थ और परिष्कृत रहना विश्व-शान्ति और मानवीय प्रगति के लिए आवश्यक है । उसके प्रभाव क्षेत्र में आदर्शवादिता और उत्कृष्टता के साथ-साथ सुख-शान्ति की स्थिर सम्भावना भी बनी रह सकती है । अस्तु, हमें धर्म को उपयोगी, समर्थ और व्यापक बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए ।

आज सभी क्षेत्रों में विकृतियाँ भर जाने की तरह धर्म तन्त्र भी अवांछनीयताओं और मूढ़ताओं से घिर गया है अन्यथा धर्म मान्यताओं और परम्पराओं को अपनाकर लोग उच्चस्तरीय देवोपम जीवन जी रहे होते ।

धर्मक्षेत्रों में घुसी विकृतियाँ उसकी उपयोगिता को नष्ट कर भ्रान्तियों, भ्रष्टताओं, संकीर्णताओं, द्वेष-दुर्भावों को बढ़ाने की विपत्तियाँ उत्पन्न कर रही हैं । धर्म का ऐसा स्वरूप अनुपयोगी ही सिद्ध होगा जो मनुष्य को ऊँचा उठाने की अपेक्षा नीचा गिराने लगे । आज उसका ढाँचा कुछ ऐसा ही बन गया है फलस्वरूप सर्वसाधारण के मन में उसके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होती चली जाती है । यह स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण है कि मानव जाति की प्रगति और सुख-शान्ति के लिए अतीव महत्त्वपूर्ण धर्मतन्त्र इस प्रकार अपनी उपयोगिता खो बैठे और लोग उससे लाभ उठाने की अपेक्षा दूर रहने की बात सोचें ।

यों धर्म एक है । मानवीय कर्त्तव्यों और आदर्शों को ही धर्म कहते हैं । सद्भावनाएँ और सत्प्रवृत्तियाँ धर्म की ही दो उपलब्धियाँ हैं । समस्त विश्व के समस्त मानव प्राणियों का धर्म एक है, पर देश, काल पात्र के भेद से उन धर्म सिद्धान्तों को कहाँ, कब, किस हद तक, कैसे कार्यान्वित किया जाय इसमें परिस्थिति के अनुसार भेद करना पड़ता है । इससे उसके बाह्य स्वरूप में भेद दिखाई पड़ता है और उस भिन्नता के आधार पर अलग सम्प्रदाय बन जाते हैं । धर्म सिद्धान्तों की परिस्थिति भेद से प्रयुक्त करने में जो भेद-भाव करना पड़ा उसी ने सम्प्रदायों को जन्म दिया । इतने होते हुए भी उसके मूल सिद्धान्त सार्वभौम एवं सर्वजनीन ही बने रहेंगे ।

पिछले दिनों अन्धकार युग के प्रभाव ने अपना रंग धर्मक्षेत्र पर भी कम नहीं डाला है और उसे कम भ्रष्ट नहीं किया है । स्थिति ऐसी आ गई है कि अब या तो उसे सुधारना पड़ेगा या समाप्त करना पड़ेगा । यथास्थिति नहीं चल सकती । वर्तमान स्वरूप बनाये रहने पर तो वह अपनी मौत मरेगा । नैतिक, सामाजिक और बौद्धिक क्रांति के सारे आधार धर्मतन्त्र को परिष्कृत करने से बन जाते हैं । श्रेष्ठ मनुष्य और उत्कृष्ट समाज बनाने की सारी सम्भावनाएँ धर्मतत्व की मूल मान्यताओं के साथ भली प्रकार जुड़ी हुई हैं । इसलिए हमें धर्मक्षेत्र की विकृतियों को दूर करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए और उसे अपने मूल स्वरूप में विकसित कर इस योग्य बनाना चाहिए कि व्यक्ति और समाज को परिष्कृत बनाने की युग आवश्यकता को वह भली प्रकार पूरा करने सकने में समर्थ हो सके ।

हमने युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दू सम्प्रदाय के क्षेत्र में फैली हुई धर्म विकृतियों के संशोधन का और धर्मतत्व का परिष्कृत रूप प्रस्तुत करने का जो प्रयत्न किया है । इस आधार पर नवयुग के सृजन में हमें बड़ी सहायता मिलती दिखाई दे रही है । अपनी गतिविधियों का प्रभाव यों सर्वत्र पड़ रहा है पर उससे हिन्दू धर्म को प्रगतिशील बनाने में अधिक सहायता मिली है, यह एक तथ्य है ।

हमारी भावना एक सीमित क्षेत्र या वर्ग तक अपनी गतिविधियाँ सीमित करने की कभी नहीं रही । हम हर बात को सार्वभौम और सर्वजनीन दृष्टि से देखते, सोचते हैं । किसी धर्म या सम्प्रदाय से हम बँधे नहीं हैं । विश्व मानव में देवत्व का उदय करने का अपना कार्यक्रम सार्वभौम है । फिर हमारी गतिविधियाँ हिन्दू समाज को ही प्रधानता क्यों दे रही हैं ? हम मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि धर्मों के क्षेत्र में क्यों प्रवेश नहीं करते और उनके सुधार का आन्दोलन क्यों नहीं चलाते ? यह एक प्रश्न सहज ही किया जा सकता है !

इसका कारण यह है कि हमारा प्रभाव-परिचय, ज्ञान तथा सम्पर्क हिन्दू समाज से है । हमारा जन्म हिन्दू समाज में होने से वैसा होना स्वाभाविक भी है। जहाँ जिसका प्रभाव परिचय होता है वह उसी क्षेत्र में ठीक तरह काम कर सकता है । सुधार के लिये कटु आलोचनाएँ लोग अपनों की ही सुन सकते हैं । विराने समझे जाने वाले वर्ग सम्प्रदाय या देश के लोग दूसरे को सुधारने-समझाने का काम करें तो उससे लोग अपना अपमान समझते हैं और उनकी बात सुनने को तैयार नहीं होते । इन जन समाज की मनोवैज्ञानिक कमजोरी को देखते हुए यही ठीक पड़ता है कि अपने-अपने वर्ग, क्षेत्र और सम्प्रदाय का सुधार करने के लिए उसी वर्ग के कार्यकर्त्ता आगे आयें । सुधार के आदर्श और सिद्धान्त एक रहें । दिशा एक ही निर्धारित हो

पर काम करने का क्षेत्र-कार्यकर्त्ता लोग अपनी सुविधा और सम्पर्क को बाँट लें ।

बात कुछ अटपटी है । सही बात किसी के द्वारा भी अन्य वर्ग के द्वारा भी कही जाए, स्वीकार किया जाना चाहिए और गलत बात चाहे अपने लोग कहें तो भी न मानी जाए पर अब कुछ मानसिक स्थिति ही उलटी हो गई है । कोई वैश्य, ब्राह्मण समाज को बुरा-भला कहे तो ब्राह्मण चिढ़ जायेंगे पर यदि ब्राह्मण ही अपने समाज के दोषों को अधिक कड़ुए शब्दों में कहे तो उस वर्ग के लोग कुपित न होंगे । हम भारतीय अपने देश की दुर्दशा पर अपने लोगों को जी भरकर कोसते रहते हैं पर कोई विदेशी वैसा कहे तो बहुत बुरा लगता है ।

इन औंधे-तिरछे तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अपने काम करने की शैली बहुत सोच-विचार कर बनानी चाहिए और जन मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर कदम उठाने चाहिए । यही किया भी गया है । चूँकि हम हिन्दू हैं, भारतवासी हैं, इसलिए अपने धर्म और क्षेत्र की स्थिति को सामने रखकर सुधार की आवश्यकताओं को तलाश करते हैं और तदनुरूप कार्यशैली निर्धारित करते हैं । धर्म के सिद्धान्तों से इस देश तथा धर्म में कहाँ-कहाँ विकृतियाँ आई हैं और उनमें क्या-क्या सुधार करके धर्मतत्व के मूल आदर्शों को जनमानस में प्रतिष्ठापित किया जा सकता है इस निष्कर्ष पर ही अपनी गतिविधियाँ विनिर्मित हो रही हैं ।

यही क्रिया-कलाप हर धर्म, उपदेश, हर क्षेत्र और संस्कृति में अपनाया जाना चाहिए और उस कार्य को उसी वर्ग के लोग अपने हाथ में और अपने क्षेत्र में जिन विकृतियों का उभार देखें उनका विरोध करने का कार्यक्रम बनायें । किन आदर्शों की किस वर्ग में किस हद तक उपेक्षा, अवहेलना हो रही है उसे देखकर समझकर उस वर्ग के लोग अपने आन्दोलन और कार्यक्रम का निर्धारण करें और उसके लिए वैसे ही प्रबल प्रयत्न करें जैसे हम हिन्दू धर्म की, भारतीय समाज की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर कर रहे हैं ।

हिन्दुओं में दहेज, मृत्युभोज, नीच-ऊँच जैसी सामाजिक विकृतियाँ भारी अहित कर रही हैं । मुसलमान समाज में इनमें से कोई कुप्रथा नहीं है, इसलिए उस वर्ग के लिए इस प्रकार के आन्दोलन व्यर्थ हैं । उस वर्ग में पुरुषों को चार पत्नी रख सकने की छूट, पर्दा प्रथा में अधिक कड़े प्रतिबन्ध, माँसाहार का निषेध न होना जैसी बुराइयों के विरुद्ध आन्दोलन होने चाहिए । ईसाई, पारसियों में दूसरी तरह की सामाजिक बुराइयाँ और अवांछनीयताएँ हो सकती हैं पर उन्हें उसी वर्ग के लोगों द्वारा अधिक अच्छी तरह समझा और सुधारा जा सकता है ।

अपनी योजना यह है कि हर देश में से देशभक्त निकलें जो अपने राष्ट्र को धार्मिक और आध्यात्मिक आदर्श पर चलने के लिये प्रेरित करें और इस मार्ग में पड़ने वाले अवरोधकों को हटाने के लिए प्रबल प्रय करें । युग-निर्माण योजना हर धर्म, हर सम्प्रदाय में ऐ कार्यकर्त्ता, मार्गदर्शक, लोकसेवी, जननेता खड़े कर रहे है जो अपने धर्म-सम्प्रदाय के ग्रन्थों, सन्तों, आदर्शों, परम्पराओं का सहारा लोक-सृजन और सुधार का समान ढाँचा खड़ा करें और उस धर्म के अनेक लोगों को साथ लेकर वैसा ही उसी स्तर का-आन्दोलन चलायें जैसा कि हिन्दू धर्म का आधार लेकर इस क्षेत्र, वर्ग की जनता को आगे बढ़ाने के लिए हमने चलाया है । समस्त जन समाज को एक ही आदर्श, सिद्धान्त, दृष्टिकोण एवं रीति-नीति का अनुयायी बनाने का लक्ष्य रहेगा तो अन्ततः यह सभी आन्दोलन विभिन्न नदियों द्वारा एक ही समुद्र की जल राशि बढ़ाने की तरह एक ही लक्ष्य के पूरक सिद्ध होंगे ।

हम अनेकता को हटाकर एकता उत्पन्न करने जा रहे हैं । मनुष्य मात्र का एक धर्म हो, एक संस्कृति, एक अध्यात्म, एक लक्ष्य, एक दिशा और एक मनःस्तर हो । धर्म ऐसी एकता का प्रतिपादन करता है, उसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सर्वात्म भाव की ही प्रेरणा है । मनुष्य व्यक्तिगत संकीर्णता ने धर्म को भी अपने स्तर के अनुरू संकीर्ण बनाया है । अब जबकि तात्त्विक धर्मनिष्ठा को पुन सजीव किया जा रहा है तो वह भिन्नता के बीच एकता का आदर्श स्थापित करने में सहायक ही होगी । आरम्भ इसी प्रकार का उपयुक्त है कि एक आदर्श और एक लक्ष्य को लेकर विभिन्नधर्म-सम्प्रदायोंके लोग अपने वर्ग क्षेत्र की विकृतियों को सुधारने और दुर्बलताओं को हटाने में लग जायें । युग-निर्माण योजना हिन्दू धर्म तक सीमित नहीं है । उसमें हमारे जैसे अनेक व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्रों में प्रचण्ड अभियान आरम्भ करने के लिए तत्पर हो चुके हैं ।

नारी का वर्चस्व–विश्व का उत्कर्ष

नर और नारी यों दोनों ही भगवान की दायीं-बायीं आँख, दायीं बायीं भुजा के समान हैं । उनका स्तर, मूल्य, उपयोग, कर्त्तव्य, अधिकार पूर्णतः समान हैं । फिर भी उनमें भावनात्मक दृष्टि से कुछ भौतिक विशेषताएँ हैं । नर की प्रकृति में परिश्रम, उपार्जन, संघर्ष, कठोरता जैसे गुणों की विशेषता है वह बुद्धि और कर्म प्रधान है । नारी में कला, लज्जा, शालीनता, स्नेह, ममता जैसे सद्गुण हैं वह भाव और सृजन प्रधान है । यह दोनों ही गुण अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं । उनका समन्वय ही एक पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करता है ।

सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नर और नारी की इन विशेषताओं का उपयोग किया जाता है । पिछले दिनों के विकासक्रम में कृषि, उत्पादन, पशु-पालन, शिल्प, वस्तु, उद्योग जैसे उपार्जन प्रधान कार्यों की

जीवनयापन सम्बन्धी सुविधाएँ बढ़ाने के लिए आवश्यकता पड़ी सो पुरुष के वर्चस्व को उसमें प्रयुक्त किया गया, उन दिनों बर्बरता की मात्रा अधिक थी । पशुता से मनुष्यता की सेना की प्रगति धीरे-धीरे हो रही थी सो समाज में आसुरी आक्रमणकारी तत्वों का बाहुल्य रहता था । उनसे संघर्ष और युद्ध किये बिना आत्म-रक्षा का कोई उपाय न था । देवासुर संग्राम की कथा, गाथाएँ, इतिहास, पुराणों के पन्ने-पन्ने पर पाई जाती हैं वे उस समय की परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराती हैं । बस्तियाँ कम और जंगल अधिक थे सो उनमें रहने वाले हिंस्र पशु भी कम कष्ट नहीं देते थे । इनसे भी लड़ना पड़ता था । युद्ध कौशल में पुरुष की प्रकृति ही उपयुक्त थी सो उसे आगे रहना पड़ा । जो आगे रहता है, नेतृत्व भी उसी के हाथ में आ जाता है । जो वर्ग पीछे रहते हैं उन्हें अनुगमन करना पड़ता है । परिस्थितियों ने नर-नारी के समान स्तर को छोटा-बड़ा कर दिया, पुरुष को प्रभुता मिली–नारी उसकी अनुचरी बन गई । जहाँ प्रेम सद्भाव की स्थिति थी वहाँ यह उस आधार पर हुआ और जहाँ दबाव और विवशता की स्थिति थी वहाँ दमन पूर्वक यही किया गया । दोनों ही परिस्थितियों में पुरुष आगे रहा और नारी पीछे । क्रमशः यह स्थिति सह्य और स्वाभाविक बनती चली गई । यहाँ तक कि धर्म और परम्पराओं में भी उसी स्थिति का समर्थन किया गया और उसे उचित ठहराया गया । पिछले हजारों वर्ष का इतिहास इसी क्रम व्यवस्था का दिग्दर्शन कराता है ।

नारी की गर्भ धारण विशेषता ने उसे शारीरिक दृष्टि से अपेक्षाकृत असुविधाजनक स्थिति में डाल दिया । गर्भ धारण करने के दिनों में प्रसव के समय–शिशुपालन की स्थिति में उस पर ही शारीरिक दबाव पड़ता है । इस क्षति की पूर्ति के लिये जिन सुविधा-साधनों की आवश्यकता है वे आसानी से पूरे न हो सकने के कारण उसका स्वास्थ्य गिरता चला जाता है । उपार्जन और श्रम की सामर्थ्य में घट जाती है । रोग भी उसे घेरते हैं और अकाल मृत्यु का दबाव भी उसी पर अधिक पड़ता है । इस मजबूरी और दुर्बलता ने नारी को पीछे रखा । उसे पुरुष की सहायता अपेक्षित हुई और इस सहायता के बदले उसे नर का वर्चस्व, नेतृत्व और नियन्त्रण स्वीकार करना पड़ा । विवशता का लाभ आमतौर से उठाया जाता है । पुरुष ने भी इस सम्बन्ध में कुछ कमी न रखी । नर द्वारा नारी के उत्पीड़न की एक दर्दभरी कथा से लम्बा इतिहास भरा पड़ा है । इसके पीछे नारी विवशता का नर द्वारा अवांछनीय लाभ उठाने का तथ्य ही अपनी निर्लज्जता का पग-पग पर प्रदर्शन करता है । स्थिति का सही विश्लेषण यही है ।

यहाँ हमारा प्रयोजन इतिहास का विश्लेषण या नर-नारी के बीच अवांछनीय स्थिति की चर्चा करना नहीं वरन् उद्देश्य यह है कि नव-निर्माण में नारी की महत्ता और विशेषता का उपयोग कैसे किया जाय ? पुरुषार्थ परक सृजन बहुत हो चुका । आगे भी उसके होते रहने की गति तीव्र से तीव्रतम होती चली जाती है । बुद्धि को तेज करने और उसके उपयोग करने की तरकीबें एक से एक बढ़िया निकाली और बढ़ाई जा रही हैं । प्रारम्भिक शिक्षा देने वाले स्कूलों के लिये पैसा कम है पर कालेज तथा तकनीकी शिक्षा देने वाले संस्थानों को काफी पैसा मिल रहा है और उनके द्वारा युद्ध से लेकर यान्त्रिकी, भौतिकी, कानून, शिल्प आदि अगणित विषयों की बहुत सी बातें सिखाई जा रही हैं । बुद्धिमानों की नित नई, सेवा-शृंखला बढ़ती चली जा रही है, उपयोग की लालसा दिन-दिन उग्र होती जाती है, उसकी पूर्ति के लिए लोग दिन-रात घोर पुरुषार्थ कर रहे हैं । नर की दो ही प्रवृत्तियाँ प्रधान हैं, श्रम और तरकीबें भिड़ाने की चतुरता । जिस हद तक जन-जीवन के लिए यह तत्व आवश्यक हैं उससे वे कम नहीं वरन् अधिक ही मौजूद हैं । भविष्य की सम्भावना को देखते हुए उसमें कुछ बढ़ोत्तरी ही हो सकती है–कमी नहीं ।

शान्ति और सुव्यवस्था में जो इन दिनों गतिरोध उत्पन्न हो गया है, उनके दूर करने में न श्रम से काम चलता दीखता है न चतुरता से । भावनात्मक अधःपतन की समस्या न पुरुषार्थ की कमी से पैदा हुई है और न चतुरता में घाटा पड़ने से । भौतिक पदार्थों के अभाव से ही यह संकट उत्पन्न नहीं हुआ । उपरोक्त कमियाँ सिर्फ भौतिक साधनों की न्यूनता रख सकती हैं । भावनात्मक संकट उनके कारण उत्पन्न नहीं हो सकता । गरीब लोगों ने सदा अमीरों की तुलना में अधिक ऊँचे आदर्श प्रस्तुत किये हैं । साधु और ब्राह्मणों का एक विशाल वर्ग प्राचीनकाल में भौतिक दृष्टि से अभावग्रस्त जीवनयापन ही करता था पर उसका आन्तरिक स्तर हर कसौटी पर प्रखर और समुन्नत ही सिद्ध होता था । इतिहास के पन्ने बताते हैं कि समर्थ और सम्पन्न लोगों ने ही इस दुनिया में कहर ढाये हैं । मनुष्यता को कलंकित करने वाला जो कुछ भी विश्व इतिहास में उपलब्ध है उसके कर्त्ता-धर्त्ता अधिक बुद्धिमान, अधिक समर्थ और अधिक साधनसम्पन्न लोग ही रहे हैं ।

आज के भावनात्मक संकट को दूर करने के लिए न सम्पदा की जरूरत है, न श्रम की, न कुटिल चतुरता की । इन दिनों सबसे बड़ा सृजनात्मक तत्व सहृदयता, ममता, सेवा और करुणा से ओत-प्रोत कोमल भावनाओं का पुञ्ज ही हो सकता है । यह खनिज हमें नारी अन्तःकरण के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ मिल सकते हैं । सेवा, करुणा और दूसरों को सुखी बनाने में ही प्रायः उसका सारा जीवन बीतता है । बचपन में भाई-बहिनों के लिए वही बहुत कुछ करती है, युवावस्था आते ही अपना सार-तत्व पति के चरणों में समर्पण कर देती है । प्रसव के मृत्यु तुल्य कष्ट को भावी बालक के लिए की जा सकने वाली सेवा-साधना की मधुर कल्पना लिए खुशी-खुशी सह लेती है । बालकों को अपना लाल रक्त, श्वेत दूध के रूप में बदल कर पिला सकने और उस अनुदान के प्रति किसी अहसान का भाव तक मन में न लाना केवल नारी के लिए ही

सम्भव है । क्षमा, ममता, आत्मीयता, सेवा के अगणित निर्झर हर नारी के जीवन पर्वत से फूटते और बहते दिखाई दे सकते हैं । कोई उसकी कोमल भावनाओं को छू सके तो सहज ही बड़े से बड़ा त्याग, बलिदान करते देख सकता है । नारी का शोषण, उत्पीड़न, प्रताड़ना से कम किन्तु कष्ट प्रवाह में बहाकर उसका सब कुछ छीन लेने की दुरभि–सन्धि द्वारा ही अधिक होता देखा जा सकता है ।

भावनात्मक दृष्टि से–आन्तरिक उदारता और उत्कृष्टता की दृष्टि से नारी का स्तर नर की तुलना में बहुत ऊँचा स्वभावत: है । यह विशेषता भरा अनुदान उसे प्रकृति–प्रदत्त उपहार के रूप में मिला है । नर का उद्धत व्यक्तित्व नारी की कोमल सरसता की उपलब्धि बिना अधूरा और अपूर्ण ही रह जाता है । सती दहन के बाद पत्नी वियोग से शंकर भगवान का विक्षिप्त हो उठना और उस मृत शरीर को कन्धे पर रखकर ताण्डव नृत्य करने लग जाना यह बताता है कि नारी के सहयोग का अभाव ऊँचे से ऊँचे व्यक्तित्व को कितना बेचैन, विचलित कर सकता है । यह अकारण नहीं पति, पुत्र को ही नहीं–साथिन–सहचारियों को ही नहीं–समस्त विश्व को कोमल भावनाओं से परिप्लावित करती है और एक प्रकार से भौतिकता की शुष्क रिक्तता को अपने ममता भरे अध्यात्म से सरल–सुषमा के रूप में बदलती है । भौतिक–सृष्टि में जो सरसता दीखती है वह जल का चमत्कार है । चेतन जगत में जो मधुरिमा, तृप्ति, सद्भावना दीख पड़ती है उसका मूल उदात्त नारी का अस्तित्व ही है । उसके अभाव के बाद नर जो कुछ रह जाता है उसकी तुलना मरघट में रहने वाले भूत–बैतालों से ही की जा सकती है ।

नव–सृजन का जो स्वरूप होगा उससे प्रसुप्त रूप करुणा और ममता को जगाने की बात को ही प्राथमिकता मिलेगी । इन दिनों मनुष्य कंगाल केवल भावनात्मक दृष्टि से ही हुआ है । पिछले दिनों सम्पन्नता तेजी से बढ़ी है, गिरावट तो केवल सद्भावनाओं में ही आई है और समस्त संकट इसी अभाव ने उत्पन्न किया है । हमें अपने चारों ओर शोक–संताप की, क्लेश–कलह की, भ्रष्टाचार–अनाचार की, शोषण–उत्पीड़न की, अज्ञान–अभाव की जो सर्वग्राही सघन घटाएँ छाई दीखती हैं उनका एकमात्र कारण सद्भावनाओं की घटोत्तरी होते जाना ही है । यदि सज्जनता, सहायता और स्नेह–सहकारिता के उच्च आदर्श हमारे मनों में भर जायें तो दुनिया में जितनी कुछ साधन–सामग्री उपलब्ध हैं, उतने को मिल–बाँटकर उपयोग करने के आधार पर सर्वत्र शान्ति और सुव्यवस्था रह सकती है और हर कोई सुख–शांति का जीवन जी सकता है ।

इस अभाव पूर्ति के लिए नारी को आगे लाना पड़ेगा । उसी के हाथ में विश्व का नेतृत्व सौंपना पड़ेगा । जिसके पास जो विशेषता है वही उसे दे सकने में समर्थ हो सकता है । पुरुष के पास जो कर्कशता थी, उससे उसने गृह–युद्ध से लेकर विश्वयुद्ध तक की विभीषिकाएँ विनिर्मित कर दीं और उन्हीं को सुलझाने में हमारी लगभग आधी शक्ति खर्च हो जाती है । अवांछनीयता, अन्याय और अनौचित्य से लड़ने से हमारा जो शक्ति भाग खर्च होता है उसे सृजन में लगाया जा सकना सम्भव हो गया होता तो आज इस दुनिया की दशा कुछ दूसरी ही होती तथा सतयुग के दृश्य सर्वत्र बिखरे दिखाई पड़ते । नर के नेतृत्व के नजारे चिरकाल से देखते चले आ रहे हैं । उसकी प्रतिभा ने भौतिक दृष्टि से कुछ उपलब्धियाँ दी हैं उनसे इनकार नहीं किया जा सकता । नारी के नेतृत्व को अवसर नहीं मिला यदि मिला होता तो भौतिक उपलब्धियों में सम्भव है कुछ न्यूनता रह जाती, पर भावनात्मक अभाव कहीं दिखाई न पड़ता । नारी ने अपने नेतृत्व में जो काम सँभाला होता उसमें घर के सँभालने, सँजोने और स्नेहसिक्त करने की भावना रही होती–करुणा और ममता सर्वत्र छलकती होती और जो भी ढाँचा खड़ा किया जाता उसमें स्नेह, सद्भाव, सृजन और सम्मिलन के अतिरिक्त दूसरी कोई प्रवृत्ति अग्रसर न हुई होती । पूतना, ताड़का और सूर्पणखाएँ तो उनमें भी होती हैं और रक्त का खप्पर भरकर पीने वाली मातंगी तो उनमें भी देखने को मिल जाती हैं, पर वे अपवाद हैं । स्वाभाविक रूप से नारी का अर्थ दया, करुणा, उदारता, ममता, सेवा, रचना जैसी सत्प्रवृत्तियाँ ही हो सकती हैं । उसे नेतृत्व का अवसर मिला होता तो संसार में एक भी युद्ध और महायुद्ध न हो सका होता, धरती पर नृशंसताओं, वीभत्स घटनाओं से भरा एक भी इतिहास का पन्ना देखने को न मिलता । नारी का स्वाभाविक ढाँचा सहृदयता से परिप्लावित है । वह यदि विश्व की व्यवस्था करने का अवसर पा सकी होती तो निस्सन्देह सर्वत्र आत्मीयता और ममता ही देखने को मिलती । सर्वत्र सृजन ही सृजन हो रहा होता । सर्वत्र सद्भाव और सहयोग ही बिखरा पड़ा होता, नर ने अपने पुरुषार्थ और चातुर्य को कुटिलता में मिलाकर निस्सन्देह अपनी गरिमा को खो दिया है । समय आ गया है कि उसे पदच्युत किया जाय और नारी को वह अवसर दिया जाय जिससे वह भावशून्यता के कारण उत्पन्न हुई वर्तमान विभीषिका को हल करने की अपनी योग्यता सिद्ध कर सके ।

युग निर्माण के लिए नारी को आगे आना और ऊपर उठना होगा । उसके पैरों में बँधी बेड़ियाँ–हाथों में जकड़ी हथकड़ियाँ–गले की जंजीरें कटनी चाहिए । अति अन्याय पूर्ण प्रतिबन्धों ने उसकी प्रतिभा को सहस्राब्दियों से पैरों तले कुचला है, अब उस दुष्टता का अन्त होना चाहिए और सामान्य मानव प्राणी के सभी स्वाभाविक अधिकार उसे मिलने चाहिए जिनका अपहरण निर्लज्जतापूर्वक कर लिया गया है । यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि नारी–मनुष्यता से बहिष्कृत नहीं हाँ–उसे मनुष्य की तरह जीने का हक है और जो हक नर का है उससे कम किसी भी क्षेत्र में नारी का नहीं होना चाहिए । यदि पतन के गर्त में गिरने की नर को स्वाधीनता है तो वैसी ही नारी को देने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए । नागरिक

अधिकारों की समानता और स्वाभाविकता का उपयोग नर की तरह नारी को भी करने का अवसर मिलना चाहिए। ईमानदारी और न्याय का तकाजा यही है। नर अपनी सुविधा के लिए नारी के प्रति बेईमानी और अनीति भरे प्रतिबन्ध लगाये यह अवांछनीय और असह्य घोषित किया जाना चाहिये। मर्यादाओं और प्रतिबन्धों की एक दूरदर्शितापूर्ण आचार-संहिता बनानी चाहिए और उसे पालन करने के लिये नर और नारी को समान रूप से बाध्य होना चाहिए। उसके उल्लंघन का दण्ड दोनों के लिए ही एक समान निर्धारित किया जाना चाहिए। पक्षपातपूर्ण नियम प्रतिबन्धों के समर्थन के लिए जो भी तर्क और प्रमाण प्रस्तुत किये जायें उन्हें अप्रामाणिक और कुतर्क मात्र ठहराया जाना चाहिए। न्याय की, विवेक की, औचित्य की, समानता की माँग देर तक अब न दबाई जा सकेगी इसलिए अब सामान्य न्यायोचित स्थिति ही पैदा की जानी चाहिए। इसके बिना नारी को अपनी महत्ता और विशेषता को प्रमाणित करने का अवसर कैसे मिलेगा?

नवयुग में नारी को विलास सामग्री-रमणी-बन्दी, दासी, अपंग, असहाय, पराश्रित और पददलित स्थिति में पड़ी कराहती हुई नहीं देख सकते। हमारा स्वप्न है कि नारी अगले दिनों अपना स्वाभाविक स्थान प्राप्त करेगी, इतना ही नहीं वर्तमान भाव संकट को दूर करने के लिए नेतृत्व की बागडोर उसके हाथ में सौंपी जायगी। नर उपार्जन करेगा और जहाँ प्रतिरोधक अवसर आयेंगे वहाँ उसका संघर्षात्मक उपयोग किया जायगा। भौतिक-सृजन वह करे यह क्षेत्र उसके लिए उपयुक्त भी है और पर्याप्त भी, नारी के हाथ में वे सारे सूत्र सौंप दिये जाने चाहिए जो भाव क्षेत्र से सम्बन्ध रखते और प्रभावित करते हैं। शिक्षा पर पूरा अधिकार उसी का होना चाहिए। शिक्षा-पद्धति के निर्धारण से लेकर प्रशिक्षण तक का सारा उत्तरदायित्व वह ऐसी अच्छी तरह सम्भाल सकती है कि सज्जनता, सहृदयता, सद्भावना और सहकारिता की सत्प्रवृत्तियों से हर शिक्षार्थी ओत-प्रोत दिखाई देने लगें। कला में आज उसकी मजबूरी से लाभ उठाकर उसे कुत्सित स्तर पर प्रस्तुत किया जाता है। कल जब कला क्षेत्र का नेतृत्व उसके हाथ सौंपा जायेगा तो शालीनता, उत्कृष्टता, आदर्शवादिता, मानवता और सद्भावनाओं के अतिरिक्त उस महान मंच की अभिव्यक्तियाँ नीचे आ ही नहीं सकतीं। तब कला केवल मानव अन्तरात्मा का स्पर्श करके उसे पशुता से देवत्व की ओर ही अग्रसर करने में संलग्न दिखाई देगी।

साहित्य का सृजन महिलाएँ करें, कवित्व उनके अन्तःकरण से फूटे, संगीत उनकी आत्मा गाये, चित्र उनके सपनों के रंगों जायँ तो फिर इस धरती पर श्रेष्ठता और सहृदयता के अतिरिक्त यहाँ और कुछ भी दीख न पड़ेगा। शासन उसके हाथ में सौंपा जाय तो पीड़ितों, शोषितों, पिछड़े हुए, परवशों और असहायों को अपने दुखों से निवृत्ति का एक स्वर्गीय स्वप्न साकार होता दीखेगा। जो आतंक, शोषण, भ्रष्टता, अहंकार, कुटिलता और छलना को राजनीति का अंग मानते हैं और इसी आधार पर शासन-सत्ता का उपभोग करते हैं उन्हें अपना विचार और आचार बदलना होगा। माता अपने असंख्य पुत्रों को इस प्रकार अनर्गल आतंक के कोल्हू में नहीं पिलने देगी। दुष्टता को स्वेच्छा या विवशता से पलायन करना होगा तब राजनीति को धर्मनीति का पोषक और पूरक बनकर रहना पड़ेगा।

समाज की नई व्यवस्था बनाने में नारी का मस्तिष्क और कौशल काम करेगा तो प्रथा-परम्पराओं में एक अभिनव बसन्त का आगमन दीखेगा। तब पुत्री का जन्म दुर्भाग्यपूर्ण न माना जायेगा-तब कन्या का विवाह करने के लिए किसी को पैसा जुटाने और दहेज देने की चिन्ता न करनी पड़ेगी, तब करोड़ों की संख्या में आज की बन्दी और अपंग बनी बैठी महिलाएँ-पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर काम कर रही होंगी और अपने उत्पादन से संसार की शोभा, सुसज्जा, व्यवस्था और शान्ति का एक नया ही आविर्भाव कर रही होंगी। न्याय जब उनके हाथ में आयेगा तो अन्याय का बोलबाला कैसे होगा। चिकित्सा वे करेंगी तब हर रोगी को अपने ऊपर ममता बरसती देखकर दुःख को भूल जाने का अवसर क्यों न मिलेगा? तब अस्पताल के रोगी अपने को स्नेहसिक्त स्वर्ग में पाप-तापों से मुक्ति पाने का लाभ क्यों न ले रहे होंगे? जब अध्यात्म और धर्म का नेतृत्व नारी के हाथ में होगा तो प्रपंचियों को अपने जाल-जंजाल समेटते ही बनेंगे।

नये युग के लिये हमें नई नारी का सृजन करना होगा, जो विश्व के भावनात्मक क्षेत्र को अपने मजबूत हाथों में सँभाल सके और अपनी स्वाभाविक महत्ता का लाभ समस्त संसार को देकर नारकीय दावानल में जलने वाले कोटि-कोटि नर-पशुओं को नर-नारायण के रूप में परिणत करना सम्भव करके दिखा सकें। नारी के उत्कर्ष- वर्चस्व को बढ़ाकर उसे नेतृत्व का उत्तरदायित्व जैसे-जैसे सौंपा जायेगा वैसे-वैसे विश्व शान्ति की घड़ी निकट आती जायेगी।

जनसंख्या की वृद्धि–एक भयावह अभिशाप

धरती एक सीमित मात्रा में प्राणियों का भार वहन कर सकती है, उसकी उत्पादन क्षमता और परिधि सीमित है। उसे चाहे जितना नहीं बढ़ाया जा सकता, पर मनुष्य की उत्पादन शक्ति पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। सामान्यतया लड़कियाँ १७-१८ वर्ष की आयु में प्रजनन आरम्भ कर देती हैं और वह क्रम प्रायः ४५ वर्ष की आयु तक चलता रहता है। लगभग २० वर्ष की युवावस्था ऐसी रहती है जिसमें बच्चे पैदा किये जाते रह सकते हैं। ३ वर्ष पीछे एक बच्चे का क्रम माना जाय तो इस अवधि में दस बच्चे हो सकते हैं। इनमें से यदि आधे ही जीवित रहें तो एक जोड़ा पाँच का उत्पादनक्रम आसानी से चला सकता है।

यह उत्पादन प्रक्रिया यदि यथावत् जारी रहे तो २५ वर्ष में बदलने वाली प्रत्येक पीढ़ी नये बच्चे पैदा करने में लग सकती है और ५×५×५×५=६२५ वर्ष की चार पीढ़ियों में एक जोड़े एक चक्रवृद्धि गति से ६२५ बच्चे हो गये । चूँकि यह औसत नर-नारी के एक जोड़े पर दो व्यक्तियों पर फैलाया गया है इसलिए आधा करने पर हर व्यक्ति की प्रजनन औसत १०० वर्ष में ३१२ हो सकती है । इसमें से रोग, अकाल मृत्यु, बन्ध्यत्व आदि के माध्यम से होने वाली मृत्यु से कितनी ही बड़ी कटौती की जाय, जनसंख्या निश्चित रूप से बढ़ती ही रहेगी । उस बढ़ोत्तरी के हिसाब से खाद्य-पदार्थों का उत्पादन असम्भव है । जंगल तोड़कर या बेकार जमीन को काम में लाकर, रासायनिक खाद सिंचाई व्यवस्था, यन्त्र उपयोग बढ़ाकर कृषि उत्पादन कितना ही क्यों न बढ़ाया जाय । जनसंख्या वृद्धि के हिसाब से वह पीछे ही रहेगा और खाद्य की कमी पड़ने लगेगी ।

अपने देश में जन्म दर तेजी से बढ़ रही है । पिछले सौ वर्षों में आबादी प्रायः तीन गुनी हो गई । यह तो तब हुआ है जब पिछले दिनों दुर्भिक्ष, भूकम्प, महामारी, उपद्रव, दंगे, युद्ध, घटनाएँ करोड़ों मनुष्यों को अपने पेट में आकस्मिक रूप से भर ले गये । सामान्य स्थिति रही होती तो जनसंख्या और भी अधिक बढ़ सकती थी ।

जंगल तोड़कर या अनुत्पादक जमीनों को उत्पादन योग्य बनाकर जो खेती बढ़ाई गई वह बहुत स्वल्प है । उससे जो अधिक उत्पादन हुआ वह बढ़ती हुई जनसंख्या की तुलना में नगण्य ही कहा जा सकता है । अन्न की कमी बढ़ती ही जाती है ।

चीजों की जरूरत बढ़ती है और उत्पादन कम होता है तो उसके दाम महँगे होते चले जाते हैं । इस अर्थ सिद्धान्त के अनुसार अन्न की महँगाई बढ़ती चली जा रही है और एक से दूसरी का सम्बन्ध जुड़ा रहने से ही हर चीज की महँगाई बढ़ती है । चीजों की कीमतें पिछले ३०-३५ वर्षों से प्रायः १० गुनी हो गई हैं । इसके अन्य कारण भी हो सकते हैं पर एक बड़ा कारण यह भी है कि जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ी, उस अनुपात से खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ सकना सम्भव न हो सका । आगे यह प्रक्रिया इसी ढंग से जारी रहे तो खाद्य वस्तुएँ कम पड़ती जायेंगी । उनके दाम और बढ़ेंगे तथा उस कमी के कारण स्वल्प साधन वालों को बेमौत मरना पड़ेगा ।

खाद्य सम्बन्धी एक ही समस्या जनसंख्या वृद्धि से उत्पन्न नहीं होती वरन् अनेक आवश्यकताएँ सामने आती हैं । निवास के लिये मकानों की जरूरत पड़ती है । इनमें पूँजी लगती है, स्थान घिरता है । जो पूँजी उद्योग, व्यवसाय बढ़ाने में लग सकती थी, जो जमीन खाद्य उगा सकती थी वह नये मकान बनाने में घिरती चली जाती है । आबादी के हिसाब से मकान न बढ़े तो लोगों के निवास की कठिनाई बढ़ती है और किराया महँगा होता चला जाता है । बड़े नगरों में आज एक गृहस्थ के लिये कठिनाई के साथ गुजारा कर सकने के लिए ५०० रु० से कम में मकान नहीं मिलता । दो तीन हजार कमाने वाले को अपनी आमदनी का एक बड़ा अंश किराये में देना पड़ता है और बचे हुए में निर्वाह कठिन पड़ता है । देहात में किराये की बात तो नहीं है पर वहाँ भी गाँव दिन-दिन अधिक घिचपिच होते जाते हैं । हवा और रोशनी घिचपिच में स्वभावतः कम पड़ेगी । सफाई की एक तो अपनी आदत ही कम है सरकारी साधनों में साधन और उत्साह दोनों ही कम रहने से सघन निवास स्वभावतः अधिक अस्वच्छ रहने लगता है । यह अस्वच्छता स्वभावतः अस्वस्थता बढ़ायेगी । बीमारी बढ़ेंगी, लोग कमजोर और अनुत्पादक बनते चले जायेंगे । जनसंख्या बढ़ने से खाद्य की तरह निवास की समस्या भी जटिल होती चली जायगी ।

यातायात की समस्या बढ़ती है । लोगों को इधर-उधर जाना ही पड़ता है । सवारियाँ कम पड़ेंगी, उनमें भीड़ बढ़ेगी, किराया बढ़ेगा, साथ ही असुविधा भी । आज रेलों में, बसों में कहीं आप जायँ, धकापेल भीड़ मिलेगी और बीमार, कमजोरों के लिए, बाल-वृद्धों के लिये, यह यातायात भारी असुविधाजनक सिद्ध होगा । वस्त्र आदि की माँग बढ़ने से मिल फैक्टरियाँ बढ़ेंगी, रेल, मोटर चलेंगी उनका धुँआ वायु-मण्डल को निरन्तर दूषित करेगा । फैक्टरियों का गन्दा पानी नदियों में ही डाला जाता है, बड़े नगरों का मलमूत्र भी नदियों में पड़ता है । इस अस्वच्छता की मात्रा बढ़ते जाने से पानी की गन्दगी भी बढ़ती चली जायगी । अमेरिका आदि बड़े देशों के व्यापारिक नगरों में यह वायु और जल की अशुद्धि इतनी बढ़ गई है कि उसे एक भयानक स्वास्थ्य संकट के रूप में देखा जा रहा है और इस कारण उत्पन्न हो रही विपत्ति से कैसे बचा जा सकता है इस पर भारी मन्त्रणाएँ हो रही हैं और अति गम्भीरता के साथ हल सोचे जा रहे हैं । यह समस्या हर जगह आयेगी । बढ़ती हुई आबादी से गन्दगी की मात्रा बढ़ेगी और उससे प्रत्यक्ष अस्वच्छता ही नहीं आकाश और जल में भी मलीनता के अंश बढ़ने से कठिनाइयों में एक नया दौर जुड़ता चला जायगा ।

स्कूल, अस्पताल, पुलिस, जेल, कचहरी, डाक, फैक्टरी आदि का बढ़ना, बढ़ती आबादी के साथ नितान्त स्वाभाविक है । इनसे कुछ लोगों को आजीविका मिलती है यह ठीक है पर उनसे बढ़ने वाले खर्च जितने बढ़ते हैं उस अनुपात से रोजगार नहीं बढ़ता । इनके लिये टैक्स बढ़ते हैं, वेतन अधिक देना पड़ता है अन्ततः वह लौट-पलट वस्तुओं की महँगाई के रूप में सामने आ खड़ी होती है । उद्योग बढ़ने के लिये पूँजी भी चाहिए और निकासी के लिए क्षेत्र भी । वह कम है तो उद्योग भी बड़े पैमाने पर नहीं बढ़ सकते फलस्वरूप काम की कमी रहती है, बेकारी बढ़ती चली जाती है । कहना न होगा कि बेकारी में अनैतिकता बढ़ती है और अपराध पनपते हैं । अपराधों की बढ़ती संख्या के बारे में सरकारी रिपोर्ट पढ़ी जायें तो वे आबादी के अनुपात में कुछ अधिक बढ़ती चली जा

रही हैं । ऐसे अनैतिक आचरण जो कानूनी पकड़ में नहीं आते, उनकी ओर दृष्टिपात किया जाय तो उससे जनसंख्या के साथ बढ़ती हुई बेकारी के दुष्परिणाम बहुत ही स्पष्ट हो जाते हैं । यह क्रम बढ़ता रहा तो परस्पर स्नेह, सहयोग के स्थान पर छल, कपट, असहयोग, आक्रमण आदि की आशंकाएँ ही बढ़ती चलेंगी और हर व्यक्ति अपने को असुरक्षित अनुभव करेगा ।

धरती में मनुष्य के भार वहन की शक्ति सीमित मात्रा में ही है । वह अपनी सीमा के अनुरूप ही जनसंख्या को पोषण दे सकती है इसलिए बुद्धिमत्ता का तकाजा यही है कि मानवीय विवेक इस बात को स्वीकार करले कि जनसंख्या बढ़ाने की बात पर यदि नियन्त्रण न किया गया तो हर स्तर की विपत्तियाँ बढ़ेंगी । जननी का स्वास्थ्य चौपट होगा और पिता की आर्थिक कमर टूटेगी । अब बच्चों का पालन सरल नहीं रहा । उनके लिए अन्न, वस्त्र ही काफी नहीं होता । शिक्षा, चिकित्सा, शादी और आजीविका के साधन जुटाने के कर्त्तव्य पालन करना पिता के लिए इतना महँगा पड़ता है कि मरते दम तक उसको अर्थ चिन्ता उद्विग्न किये रहती है । माताओं के शरीर में पौष्टिक आहार के अभाव में उतने जीवन तत्व नहीं रहते कि बार-बार बच्चे पैदा करने पर भी अपने स्वास्थ्य को ठीक रख सकें । एक दो बच्चा पैदा होने के बाद ही लड़कियों का यौवन प्रायः सदा के लिये चला जाता है और तीन-चार बच्चों के बाद तो उन्हें कभी अच्छा न होने वाले–अनेक रोगों से घिरी हुई–जिन्दगी के दिन रो-झींक कर काटने वाली बुढ़िया की तरह मौत के दिन पूरे करने पड़ते हैं । अस्वस्थ शरीर को लेकर कई बच्चों को जनने और पालने का कष्ट कितना होता है उसे भुक्तभोगी ही जान सकता है । मोह, ममता ही किसी प्रकार उन्हें जीवित रखती है अन्यथा दूसरों के लिये उतना करना पड़े तो जीना दूभर बन जाय । प्रसव कष्ट से मरने वाली स्त्रियों की संख्या इतनी अधिक है कि लगता है यह विपत्ति प्राण संकट लेकर ही आती है जो बच जाय उसे मौत से लड़कर जान बचा लेने वाली सौभाग्यशालिनी ही कहना चाहिए । अब वे स्वास्थ्य नहीं रहे जिनमें प्रसव-प्रजनन हँसी खेल था । आज की गई बीती तन्दुरुस्ती में तो महिलाएँ यह जोखिम अपनी जान हथेली पर रखकर ही उठा सकती हैं ।

हर समझदार व्यक्ति को सोचना चाहिए कि जिन बच्चों की हम उचित शिक्षा, सुविधा, चिकित्सा, शादी, आजीविका आदि की जिम्मेदारियाँ ठीक तरह नहीं उठा सकते उन्हें पैदा ही क्यों करें ? उपयुक्त क्षमता न होने पर भी प्रजनन का दुस्साहस करना अपने साथ, अपनी सन्तान के साथ, समस्त समाज के साथ अन्याय करना है । उपयुक्त साधन जिन बालकों को न मिल सकेंगे वे शारीरिक, मानसिक दृष्टि से दुर्बल रहेंगे और समाज के लिए भारभूत एवं अभिशाप ही सिद्ध होंगे ।

इन सब तथ्यों पर यदि कोई गम्भीरता से विचार कर सके तो उसे यही प्रतीत होगा कि आज की परिस्थितियों में बच्चे पैदा करने का दुस्साहस करना हर प्रकार की विपत्ति को आमन्त्रित करना है । यदि इसके बिना काम न चले तो न्यूनतम एक दो की संख्या से ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए । वस्तुतः जरूरत तो उसकी भी नहीं है । ऐसे अविवेकी लोग अपने समाज में भरे पड़े हैं जिन्हें आगा-पीछा, उचित-अनुचित कुछ नहीं सूझता और पशु-पक्षियों की तरह अन्धाधुन्ध अण्डे-बच्चे पैदा करते चले जाते हैं । वे भूल जाते हैं कि पशु-पक्षियों के अभिभावकों पर कोई खास जिम्मेदारी नहीं आती, बच्चे प्रकृति के प्रकोप और शिकारियों की भूख बुझाने का साधन होने से जन्मने की तरह मरते भी रहते हैं । ये किसी के लिए कोई संकट उत्पन्न नहीं करते । मनुष्य को अनेक जिम्मेदारियाँ निभानी पड़ती हैं इसलिए उसे हर काम समझ-सोचकर ही करना चाहिए । जिन्हें इस प्रकार की सोचने-समझने की जरूरत नहीं पड़ती, प्रकृति प्रेरणा से प्रजनन में लगे रहते हैं, उनके लिए किन शब्दों का प्रयोग किया जाय यह समझ में नहीं आता । जो हो,ऐसे लोग ही अपने समाज में अधिक हैं जो अनियन्त्रित प्रजनन में लगे हुए हैं । समझदार लोग इन्हें ही अपने बच्चे मान लें और स्वयं बच्चे पैदा न करके इन अभावग्रस्त व उद्विग्न बालकों का भरण-पोषण करने लगें तो आनन्द भी अधिक पा सकेंगे और कर्त्तव्य निष्ठा की दृष्टि से भी अग्रणी रहेंगे ।

'प्रजातन्त्र में जिस वर्ग की आबादी अधिक होगी उसी का शासन होगा इसलिए हमें शासक बनने के लिए सन्तान बढ़ानी चाहिए ।' इस तर्क को नितान्त खोखला ही कहा जा सकता है । शासन सशक्त करते हैं भले ही वे थोड़े हों । दुर्बल और अयोग्य बहुसंख्यकों को थोड़े सशक्तों के पैरों तले कैसे कुचला जाता है इसका उदाहरण बाहर नहीं ढूँढ़ना है । हमें अपने हजार वर्ष के पहले इतिहास को देख लेना चाहिए कि थोड़े से मुसलमान व अँग्रेज इतने बड़े देश पर कैसा नृशंस शासन, किस निर्भयता के साथ करते रहे । फिर अयोग्यों के बहुमत से चुनाव जीतने वाली आज की प्रजातन्त्र पद्धति में भी अगले दिनों भारी हेर-फेर होता जा रहा है, जिसमें इस तरह की आकांक्षाएँ सर्वथा निर्मूल सिद्ध होंगी ।

आज की परिस्थितियाँ हर समझदार व्यक्ति से अनुरोध करती हैं कि वह बच्चे पैदा न करें । करे तो उनकी संख्या न्यूनतम रखें । विवाह दो साथियों के पारस्परिक सहयोग के लिये किया जाना चाहिए । बच्चे पैदा करने के लिए नहीं । बिना प्रजनन के विवाहों को अधिक सफल और सराहनीय माना जाना चाहिए । बड़ी और परिपक्व आयु में ही विवाह किये जायें । विवाह के बाद जब तक प्रजनन टाला जा सकता हो, टाला जाय । अपनी शारीरिक, आर्थिक तथा मानसिक परिस्थितियों पर विचार कर जितना उत्तरदायित्व उठा सकने की क्षमता हो उससे कम ही बोझ उठाया जाय । ३०–३५ वर्ष की आयु में बच्चों की उत्पत्ति बिल्कुल बन्द कर दी जाय ताकि पचास वर्ष की आयु होने तक घर-परिवार की जिम्मेदारियों से निवृत्त

होकर वानप्रस्थ परम्परा अपनाने और लोकमंगल के लिए आवश्यक कर्त्तव्य पालन का अवसर मिल जाय । यह तथ्य है कि ढलती आयु में पैदा हुई सन्तान स्वयं दुःख पाती है और पैदा करने वालों को चिन्ता, विक्षोभ का कारण बनाती है । जिनकी सन्तान अपने आप ही नहीं हो रहीं जिन्हें आज की परिस्थितियों में ईश्वर का परम प्रिय कृपापात्र माना जाना चाहिए । अभागे वे हैं जो जीवन में कुछ महत्त्वपूर्ण काम करने की अपेक्षा सारा समय पेट और प्रजनन की पशु-प्रवृत्ति पर निछावर करके-पाप की गठरी सिर पर लादे असफल जीवन जीकर, कीट-पतंगों की तरह मौत का ग्रास बनकर संसार से रोते-कलपते विदा हो गये । ऐसा प्रजनन जो जीवन का सारा आनन्द नष्ट करके समाज सेवा की सम्भावना समाप्त कर दे किस काम का, समाज को अच्छे बच्चे देने का जिनका मन होवे यह कार्य अपने बच्चों से ही करें यह क्या जरूरी है । असंख्य दुर्भाग्यग्रस्त बालक इस प्रकार की सहायता के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं, यदि अपने में लोक सद्भावना, वात्सल्य या दूसरी उच्चभावनाएँ वस्तुतः विद्यमान हों तो उन्हें असंख्य असहाय बालकों के लिए खुशी-खुशी त्याग किया जा सकता है ।

नव-निर्माण के लिए हमें युग धर्म के रूप में प्रजनन को अनुत्साहित करने की बात पूरी तरह ध्यान में रखनी चाहिए अन्यथा बढ़ती हुई आबादी का प्रवाह, निर्माण की व्यवस्था बनना तो दूर, जो है उसे भी स्थिर रखना असम्भव कर देगा ।

हमारी अर्थ मान्यता उदारता के साथ जुड़ जाय

जल, वायु, प्रकाश, भूमि, नदी, समुद्र, धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि की तरह सम्पदा भी सार्वजनिक सम्पत्ति है,क्योंकि उसके उत्पादन का श्रेय भर किसी को भले ही मिल जाय, किन्तु उसका उत्पन्न होना अगणित ज्ञात-अज्ञात व्यक्तियों के प्रत्यक्ष-परोक्ष में ही सम्भव होता है । यों मनुष्य की सारी प्रगति ही पारस्परिक सहयोग और अनुदान प्रदान करने की सत्प्रवृत्ति द्वारा सम्भव हुई है । पर सम्पत्ति उपार्जन में तो निश्चित रूप से असंख्य जीवित और मृत व्यक्तियों का सहयोग जुड़ा होता है ।

छोटा-सा कृषि कार्य ही लें । देखने में अमुक किसान ने अपने अमुक खेत में इतना अनाज पैदा कर लिया । पर बारीकी से देखने पर पता चलता है कि उस उत्पादन के पीछे अगणित लोगों का बौद्धिक और शारीरिक श्रम जुड़ा हुआ है । मनुष्य सम्वेदनशील होते हुए भी जो कुछ जानता, सीखता है उसमें दूसरों का सहयोग ही अपेक्षित रहता है । किसान जिसने खेत में अनाज कमाया, परोक्ष रूप में असंख्य लोगों के सहयोग से ही लाभान्वित होकर उस उपार्जन का लाभ प्राप्त कर सकने में समर्थ हुआ है।

चिरकाल पूर्व किसी को समझ-बूझ से जमीन में बीज बोकर अन्न उगाने की बात समझ में आई होगी । तत्सम्बन्धी प्रयोग करके खाद, पानी, जुताई, निराई, गुड़ाई, सिंचाई कटाई, मिड़ाई, रखवाली आदि की विधि व्यवस्थाओं का विकास करने में बीसियों पीढ़ियों के अध्यवसाय ने एक व्यवस्थित कृषि शास्त्र का स्वरूप दिया होगा । धीरे-धीरे उसमें सुधार-शोध कार्यों की शृंखला जुड़ती रही होगी । हल, पटेला, कुआँ खोदना, घिर्री, जाठ खड़ी करना, चरस, रस्से आदि के प्रयोग से सिंचाई की व्यवस्था बनाना । पशुपालन की विधि निकालना, उसके श्रम का कृषि में उपयोग करना जैसे अनेक आविष्कार करने पड़े होंगे । इसमें न जाने कितने लोगों का चिन्तन, श्रम, प्रयोग, अनुभव जुड़कर एक कृषि पद्धति का ढाँचा खड़ा हुआ होगा । आज जिन कृषि उपकरणों का प्रयोग होता है उनमें से प्रत्येक की आज की स्थिति भी अनेक लोगों के सहयोग पर सम्भव है । हल में लगने वाली लोहे की फाल को ही लें । उसके बनाने में लुहार का ही श्रम नहीं लगा, वाहनों का, लोहा शोधन करने वाली फैक्टरी का, उस फैक्टरी को बनाने वाले कारीगर, इन्जीनियर का- उन इन्जीनियरों को पढ़ाने वाले-अध्यापकों का, उन अध्यापकों को सुयोग्य बनाने वाली किताबों का-उन किताबों को बनाने, छापने के लए प्रेस तथा कागज वालों का-उन लोगों को सक्रिय बनाने के लिए निर्वाह के साधन जुटाने वालों का सहयोग जुड़ा हुआ है । इस प्रकार प्रकारान्तर से लाखों-करोड़ों व्यक्तियों का श्रम-सहयोग उस छोटी-सी हल की फाल को बनाने में लग जाता है तब कहीं वह एक उपकरण बनकर तैयार होता है । कृषि कर्त्ता को अपने निर्वाह तथा उद्योग को चलाने के लिए असंख्य वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है । उन्हें जुटाने के लिये असंख्य के श्रम-सहयोग की आवश्यकता पड़ती है । वह न मिले तो अपना एक भी काम न चल सके और उपार्जन तो दूर जीवित रह सकना भी कठिन हो जाय ।

हमें यह तथ्य ध्यान में रखना ही चाहिए कि मानवीय स्थिरता और व्यवस्था तभी सम्भव हो सकती है जब सारे समाज का प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग हमें मिले, जुकाम की छोटी-सी दवा खरीदना यों अपना निजी और पैसे खर्च करके किया हुआ काम मालूम पड़ता है पर बारीकी से देखने पर उस छोटी-सी दवा के निर्माण, शोध, स्थानान्तरण आदि में जो सहयोग मिला है उसमें करोड़ों व्यक्ति जुड़े दिखाई देंगे । एकाकी रहने वाला व्यक्ति इन दिनों जीवित तक नहीं रह सकता । गुफाओं में रहने वाले साधु भी आसन, कम्बल, लोटा, चिमटा, कुल्हाड़ी, माला, माचिस आदि जिन साधनों के सहारे गुजर करते हैं । वे भी असंख्य लोगों के श्रम, सहयोग से विनिर्मित होते हैं । बिना दूसरों के सहारे यों एक भी काम हमारा नहीं चलता पर धन उपार्जन तो निश्चित रूप से मजदूर कारीगरों से लेकर, परिवहन वाले और ग्राहक, व्यापारी, उपभोक्ताओं तक अनेक के सहयोग से ही यह प्रक्रिया चल पाती है ।

फिर धरती तो मनुष्य की अपनी बनाई नहीं है । मूलत: वह ईश्वर की है और उसे सभी पुत्रों के उपयोग के लिए उसने बनाया है । वर्षा, धूप, मौसम या हमारे दूसरे उत्पादन में सहायता करने वाली प्राकृतिक सुविधाएँ भी ईश्वर प्रदत्त हैं उनके न मिलने पर कोई किसान क्या फसल उगा सकेगा ? इन बातों पर विचार करते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि जो हमने कमाया है वह पूर्णतया अपना नहीं है, उस उपलब्धि के पीछे अगणित ईश्वरीय और मानवीय सहयोग व अनुदान जुड़े हुए हैं । अस्तु, यह मानकर ही चलना चाहिए कि उपार्जन का लाभ जो हम उठाते हैं वस्तुत: यह मात्र अपने ही पुरुषार्थ का फल नहीं है । उसमें अनेक का साझा है और उसे साझे की चीज मानना चाहिए । साझे की चीजों का *उपयोग-उपभोग एकाकी नहीं करना चाहिए* वरन् दूसरों को भी उसका उचित लाभ मिले । इस मनोवृत्ति के साथ कमाया और जमा किया धन ही वस्तुत: उचित और प्रशंसनीय कहा जा सकता है ।

प्रकृति प्राय: उतनी ही वस्तुएँ उत्पन्न करती है, जिससे सब लोग मिल-जुलकर आसानी से जीवन-निर्वाह कर सकें । इसका मिल-बाँटकर उपयोग करना चाहिए । जो अधिक कमा सकता है उसकी सूझ-बूझ और मेहनत को सराहा जाय इतने भर लाभ से उसे सन्तुष्ट हो जाना चाहिए । उसे यह प्रयत्न नहीं करना चाहिए कि जो हमने कमाया है उसका उपभोग स्वयं ही करेंगे । ऐसी संकीर्णता मनुष्य को धनी और संग्रही बनाती है । जहाँ जितना ज्यादा पैसा बढ़ेगा आमतौर से वहाँ उतना ही अधिक अहंकार अपव्यय, विलास, व्यसन आदि अवांछनीय प्रवृत्तियों के बढ़ने की संभावना रहेगी । इससे उस धनी व्यक्ति का आत्मिक अध:पतन होगा और अनावश्यक धन जमा होने के कारण जो उद्धत आचरण आरम्भ हुए हैं उनका दुष्प्रभाव दूर-दूर तक होगा । धनी की विलासी और शानदार व्यवस्था देखकर दूसरे अनेक को वैसा ही बनने की इच्छा उत्पन्न होती है और जल्दी धनी बनने के लिए लोग उचित-अनुचित का अन्तर छोड़कर किसी भी तरह धनी बनने की तैयारी करते हैं । इससे आर्थिक भ्रष्टाचार बढ़ता है । अपराध करने की घटनाएँ बढ़ती हैं और वैसी प्रवृत्तियाँ तीव्र होती हैं । यदि सब लोग समान अर्थ स्तर का सामान्य जीवनक्रम निबाहें तो परस्पर ईर्ष्या, द्वेष की, अपराध शोषण की—लालच लिप्सा की गुन्जाइश ही न रहेगी । इसलिए धन स्वयं की—उसके एकाधिकार की—स्वच्छन्द उपयोग की वर्तमान छूट पर नियन्त्रण किया जाना चाहिए । लोग कमा तो सकें पर उसका उपभोग नियन्त्रित रहे । अतिरिक्त उपार्जन दान या टैक्स के रूप में समाज को वापिस करना ही उचित माना जाय ।

धन की असमानता समाज में अनेक विकृतियाँ पैदा करती और अगणित उलझनें खड़ी करती हैं । यदि उसका वितरण समान हो तो सभी को औसत दर्जे का जीवन जी सकने की सुविधा मिल जाय । ऊँची दीवार उठाने के लिए जो ईंटें बनानी पड़ती हैं उनके कारण कहीं-कहीं उतना ही गहरा गड्ढा बन जाता है । अमीरी कहीं भी इकट्ठी हो उसके लिए किसी न किसी जगह उतनी ही गरीबी की मजबूरी बन गई होगी । ब्याज-भाड़े-वस्तुओं के विनिमय का हाथ-फेर करने की, जुआ लाटरी की—उत्तराधिकार की सुविधाएँ पाकर आलसी और अकर्मण्य व्यक्ति भी अमीरी की सुविधाएँ भोग सकते हैं जबकि निरन्तर कठोर श्रम करने वाला, ईमानदारी का जीवन जीने वाला व्यक्ति भरपेट रोटी भी नहीं पा सकता । यह अर्थ प्रणाली का धन सम्बन्धी सामाजिक रीति-नीति का दोष है । इसे सुधारा जाना चाहिए । यदि अमीरी बढ़ाने पर रोक न लगी तो गरीबी को मिटाया जा सकना सम्भव न हो सकेगा ।

प्राचीनकाल में अमीरों पर कानूनी प्रतिबन्ध न था पर *लोग यह नैतिक कर्त्तव्य मानते थे कि औसत दर्जे की* आवश्यकता पूरी करने के बाद जो बचे उसे दान के रूप में समाज को वापिस करते रहें । स्नान, मल-विसर्जन आदि की तरह उन दिनों दान एक आवश्यक प्रक्रिया थी जिसे अधिक उपार्जन करने वाला हर व्यक्ति जल्दी-जल्दी ही पूरा करता था । ऐसी स्वेच्छा उदारता यदि बनी रहे तो प्रतिबन्धों की जरूरत न पड़े और व्यक्तिगत रूप से उदारता का परिचय देने का आनन्द भी मिलता रहे । पर यदि व्यक्ति लालची, संग्रही और अपव्ययी बनकर धन का उद्धत उपयोग करने पर उतारू हो तो समाज का कर्त्तव्य है कि कानूनी या सामाजिक अनुबन्ध लगाकर उसकी इस प्रवृत्ति को रोके ।

इस प्रतिबन्ध प्रणाली को साम्यवादी अर्थ व्यवस्था कहते हैं । उसके अन्तर्गत सारी सम्पत्ति राष्ट्र की हो जाती है । सारे उपार्जन कार्य सरकार के नियन्त्रण में रहते हैं । व्यक्ति एक कर्मचारी के रूप में काम करता है और औसत व्यक्ति के स्तर जैसे निर्वाह-साधन शासन के द्वारा उपलब्ध करता है । शिक्षा, चिकित्सा, वृद्धता, आकस्मिक विपत्ति जैसे उत्तरदायित्वों को भी सरकार सँभालती है और मनुष्य काम करने तथा निर्वाह पाने की परिधि तक सीमित हो जाता है । आजकल आधी से अधिक दुनिया में यही अर्थ पद्धति चल रही है । चीन, रूस, यूगोस्लाविया, रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, अल्बानिया, तिब्बत, उत्तरी कैलिफोर्निया, जर्मनी, क्यूबा आदि देशों में इसी आधार पर अर्थ व्यवसाय को नियन्त्रित किया जाता है । इन देशों की आबादी संसार की आबादी की दृष्टि से आधी से अधिक है । इन देशों ने गरीबी और अमीरी दोनों की ही जड़ खोदकर फेंक दी हैं वहाँ हर नागरिक को औसत दर्जे का जीवन जीने की सुविधा उपलब्ध है । अब वहाँ भाग्यवाद का कोई आधार शेष नहीं रहा । गरीबी पूर्व जन्मों का पाप-भोग और अमीरी पुण्य-फल है, ऐसा कहने, मानने या देखने की वहाँ कोई गुंजाइश नहीं रही और पता चल गया कि भाग्यवाद की बात, अमीरों की स्वच्छन्दता और गरीबों की बेवसी को आपस में टकराने न देने के लिए खड़ी की गई थी । गरीब और पीड़ित अपने

भाग्य को कोसते चुपचाप सब कुछ सहते रहे इतना भर ही भाग्यवाद के दार्शनिक जाल–जंजाल का प्रयोजन था, अब तथ्य पर अधिकाधिक लोग यकीन करते चले जाते हैं ।

यों ही हमें अगले दिनों अमीरी को प्रतिबन्धित करना होगा ताकि गरीबी का कष्ट भोगने के लिए कोटि–कोटि जनता को विवश न होना पड़े । इसके लिए साम्यवादी तरीका सब कुछ कानून की नोंक से साफ रहता है । इससे मनुष्य की विवशता भर रह जायगी उसे उदारता प्रदर्शित करने के आत्म–लाभ से वंचित होना पड़ेगा और अनुकरणीय परम्पराओं के प्रेरणास्पद उदाहरणों की एक प्रकार से समाप्ति ही हो जायेगी । आत्मिक दृष्टि से मनुष्य जाति को यह एक बहुत बड़ी हानि होगी । युग–निर्माण योजना दोनों का समन्वय सोचती है । अमीरी के दुष्परिणामों को हम जानते हैं इसलिए उसके साथ हमारी रत्तीभर भी सहानुभूति नहीं है । यह मिटनी ही चाहिए । पर उसे मिटाने में व्यक्ति को यह अवसर देना चाहिए कि वह स्वेच्छा उदारता की प्रवृत्ति को अधिकाधिक मात्रा में प्रदर्शित कर सकने की सुविधा प्राप्त करता रहे ।

उचित साधनों से न्यायोचित जीविका कमाने का अधिकार बना रहना चाहिए । इससे लोगों में अपनी प्रतिभा, योग्यता, कुशलता और कर्मठता बढ़ाने की प्रवृत्ति बनी रहेगी । अधिक समर्थ और अधिक सफलता सिद्ध करने की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा यदि जीवित रहे तो उससे जन–साधारण को एक प्रकाश ही मिलेगा । जोश और उत्साह की मनोभूमि बनी रहेगी, जो साम्यवादी प्रतिबन्धों की विवशता से जीवित नहीं रह सकती । आदमी योग्यता बढ़ाने और अधिक कमाने में जितना गौरव समझे उससे भी अधिक गौरव इस बात में समझना चाहिए कि औसत भारतीय की स्थिति में अधिक से अधिक खर्च न करने का कितना अधिक नियन्त्रण, संयम अपने ऊपर रखा और जो बचाया, कमाया गया था उसे देश का पिछड़ापन दूर करने के लिये खुले दिल से दे डाला गया । बेटे–पोतों के जोड़ने जमा करने और दौलत उड़ाने की दुष्प्रवृत्ति को यदि हटा दिया जाय और लोग अपनी कमाई में सबका साझा अनुभव करते हुए उसे उदारतापूर्वक लोकमंगल के लिए दान करने लगें तो यह व्यवस्था साम्यवाद, अर्थ प्रतिबन्धों की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर सिद्ध होगी और उससे व्यक्तियों को महामानव बनने की–प्रतिभाशाली और उदार बनने की गुंजाइश बनी रहेगी ।

हमें अभी एक प्रयोग करना चाहिए कि अर्थ तन्त्र के बारे में भारतीय धर्म परम्परा के अनुरूप आदमी का जीवन जीते हुए सौ हाथों से कमाने और हजारों हाथों से दान करने की पुण्य-परम्परा को वापिस लाया जा सकता है यही हमारा विश्वास है कि आदर्शवादिता और उत्कृष्टता की प्रखर विचारधारा से जनमानस को ओत–प्रोत करने का अपना अभियान जोर पकड़ जाय तो लोकवृत्ति को मोड़ सकना और लालची न बनकर उदार रहने की मान्यता स्थिर कर सकना संभव हो सकता है । लोगों को यह समझाया जा सकता है कि केवल ईमानदारी से परिश्रम का पैसा कमायें–औसत भारतीय जैसा सादगी, शालीनता और सज्जनता का निर्वाह करें, अपव्यय की उद्धारता न बरतें और अधिक उपार्जन की अपनी क्षमता का उदार लाभ सत्प्रवृत्तियाँ पनपाने के लिए समाज को वापिस कर दें । इस आदर्श को अपनाने वालों के साहसिक कदमों की सार्वजनिक चर्चा की जाय और प्रोत्साहित किया जाय । धनी होने के नाते किसी को सम्मान दिया जाय । अमीरों के बारे में यह मान्यता बनाई जाय कि निष्ठुर हुए बिना समाज की आवश्यकताओं की ओर से आँख बन्द किये बिना कोई व्यक्ति अमीर नहीं बन सकता । कंजूसी और संकीर्णता ही अमीरों के पीछे अट्टहास करती है । ऐसे व्यक्ति किसी सम्मान के अधिकारी न माने जायँ । उन्हें अपराधियों में नहीं तो, अनुपयुक्त वर्ग में अवश्य गिना जाय और सार्वजनिक दृष्टिकोण उनके प्रति तिरस्कार का नहीं तो उपेक्षा का जरूर रहे । ऐसा लोकमानस अमीरों को लोकमंगल की दिशा दे सकने में समर्थ हो सकता है ।

जो बेटे कमाने लगे हैं वे बाप-दादे की छोड़ी हराम की कमाई को लेना अपने लिए अपमानजनक समझें और प्राचीनकाल के श्राद्ध-दर्शन के अनुसार किसी परमार्थ कार्य के लिये उसे श्रद्धापूर्वक समर्पित कर दें । उत्तराधिकार का प्रलोभन आज के परिवारों को जैसा विपाक्त करता चला जा रहा है उसमें इस प्रकार के परित्याग से एक नया मोड़ मिलेगा ।

लोग न मानें, अपनी जिद पर अड़े रहें, अमीरी का लोभ छूट न सके तो अन्तिम उपाय प्रतिबन्ध ही रहेगा । सरकार के हाथों अर्थ नियन्त्रण चले जाने और व्यक्ति को निर्वाह मात्र पाने की साम्यवादी व्यवस्था आँधी–तूफान की तरह बढ़ती आ रही है । लोग न सुधरें तो प्रगति, वर्चस्व, आदर्श, परमार्थ आदि के माध्यम से जो उल्लास, आनन्द मिल सकता है उसे खो बैठेंगे । अमीरी देर तक जिन्दा न रहेगी । राजा, जमींदार, ताल्लुकेदारों की तरह कुछ समय में धनी अमीर वर्ग का भी खात्मा होने जा रहा है । ऐय्याशी की–जमाखोरी की–शान शौकत की हविस अन्तिम श्वासे गिन रही है । उन मृत परम्पराओं को छाती से लगाने की मूर्खता किसी को भी नहीं करनी चाहिए । अनावश्यक पूँजी जहाँ भी जेवर, जायदाद में, बैंक या जमीन मे दबी पड़ी हो उसे उभरकर ऊपर आना चाहिए और नव निर्माण के लिए समर्पित होना चाहिए । एक ओर जहाँ इस प्रकार की उदारता को प्रोत्साहन दिया जाय-कार्यान्वित किया जाय दूसरी ओर वहाँ सरकारी प्रतिबन्धों को कड़ा करने और सम्पन्नता के प्रति लोकतिरस्कार के भाव भी जमाने चाहिए । इस त्रिविधि प्रक्रिया द्वारा यह सम्भव है कि धन का आदर्शवादी परम्परा के अभिवर्द्धन से पूर्व काल जैसा प्रयोग होने लगे । यह प्रयोग असफल होने पर अर्थतन्त्र के क्षेत्र में सारी दुनिया में साम्यवाद छा जायगा फिर चाहे वह धार्मिकता

आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश कर सकने में भले सफल न हो सके। लोभी और स्वार्थी मनुष्य ही वस्तुतः साम्यवाद के आह्वानकर्ता हैं। यदि अर्थ पराधीनता का साम्यवाद भारत में आया तो उसकी पूरी जिम्मेदारी आज के धनी वर्ग पर ही होगी और समय न रहने पर भी नासमझी दिखाते रहने की हठ के लिए उसे ही दोषी ठहराया जायगा।

अर्थ व्यवस्था इस तरह सँभलेगी

जीवन-निर्वाह के आर्थिक साधन जुटाने की समस्या अब दिन-दिन जटिल होती जा रही है। बेरोजगारी और महँगाई का कुचक्र इतनी तेजी से घूमने लगा है कि साधारण नागरिकों के लिए अपने परिवार का निर्वाह कर सकना कठिन हो रहा है।

कोई जमाना था कि आबादी कम और जमीन बहुत थी। लम्बे-चौड़े वन प्रदेश पड़े थे। पशुपालन का सस्ता धन्धा करके कोई भी व्यक्ति निर्वाह के साधन जुटा लेता था। पशुओं के लिए जंगलों में घास और वनस्पतियाँ इतनी थीं कि उनके लिए अलग से कुछ सोचना, करना न पड़ता था। पशु चराने में कोई बहुत बारीकी भी नहीं थी। इसी प्रकार दूसरा उद्योग कृषि इस देश का था। उर्वर भूमि के विशाल खण्ड सर्वत्र खाली पड़े थे। जो जितनी अधिक कृषि कर ले उसे उतना ही पुरुषार्थी माना जाता था। जमीन की न कमी थी न रोकथाम। जहाँ जिसे पसन्द वहीं खेती जमा ली। पैदावार का एक छोटा अंश शासन व्यवस्था के लिये पहुँचा दिया। बाकी जो बचा वह परिवार के निर्वाह के लिये पर्याप्त सिद्ध होता था। वस्त्र, बर्तन, औजार, वाहन, शिक्षा, पठन, चिकित्सा आदि के उपकरण जुटाने में भी कितने ही व्यक्तियों को काम मिलता था। काम-धन्धे इतने थे कि किसी को बेकारी की बात सोचने की आवश्यकता ही न थी।

समय बदला और अपने साथ अगणित समस्यायें लेकर आया। जनसंख्या बढ़ी और उद्योगों पर सम्पन्न लोगों ने विशालकाय यन्त्रों तथा कारखानों द्वारा कब्जा कर लिया। बढ़ती हुई प्रजा की भूख शान्त करने के लिए जंगल कटे और खेत बढ़े। हर व्यक्ति के हिस्से में उसका अनुपात घटता गया। पीढ़ी-दर-पीढ़ी बँटवारा होते-होते छोटी-छोटी जोतें अलाभकर हो गईं। थोड़ी जमीन में भी समय तो उतना ही लगा, उत्पादन इतना न हो सका जो उस परिवार का खर्च चलाता। गरीबी बढ़ी। साधनों के अभाव में खेती को आवश्यक खाद, पानी, जुताई के साधन न मिल सके और वह क्रमशः अपनी उर्वरा शक्ति खोती चली गई। दूसरे देशों की तुलना में अपने देश का औसत उत्पादन बहुत ही कम है। प्रजा का पेट भरने के लिए अन्न पर्याप्त न पड़ा तो बाहर से उधार, नकद, दान, सहायता जैसे भी मिला, लिया गया।

जंगल न रहे तो पशु-पालन सस्ता कैसे? घर बाँध कर महँगा चारा खिलाना साधारण लोगों के लिए कठिन हो गया। केवल कृषक ही अपनी फसल के साथ उगे चारे भूसे के आधार पर पशु-पालन कर सके, जो बच्चों के दूध और खेती के लिये बछड़े भर के लिए भी कम पड़ा। सर्वसाधारण के लिये पशु-पालन सम्भव न रहा। इसलिए प्रजा की अर्थ व्यवस्था स्थिर रखने का वह व्यापक आधार भी एक प्रकार से समाप्त ही हो गया। माँस, चमड़ा भर के लिए कुछ लोग इस व्यवसाय को करते जरूर रहे पर मानवीय करुणा गँवा बैठने की कीमत पर, वह लोभ अन्ततः हानिकारक ही सिद्ध हुआ। माँसाहारी और माँसोत्पादक अपनी निष्ठुरता का–अपने व्यवहार क्षेत्र में प्रयोग किये बिना कैसे रह सकते थे। दुष्टता, दुर्बुद्धि और दुष्कर्म अप्रत्यक्ष रूप से इतनी उलझनें पैदा करते हैं जो आगे चलकर आर्थिक दृष्टि से भी बहुत हानिकारक सिद्ध होती हैं। माँस उत्पादन और उपभोग किसी देश की स्थिर अर्थ प्रगति में कभी रत्ती भर भी सहायक नहीं हो सकता, सो अपने यहाँ भी नहीं हो रहा है। पशु-पालन का दूरगामी लाभ भी तभी होता जब पालतू पशु भी मानव परिवार के सदस्य बनकर स्नेह सहयोग के आधार पर जीवनयापन कर सके होते।

कृषि और पशु-पालन के अतिरिक्त जीवनोपयोगी उत्पादन के लिए प्रयुक्त होने वाले उपकरणों का जो निर्माण था, उसे उद्योग धन्धे, शिल्प, कला आदि का क्षेत्र कह सकते हैं। वस्त्र, औजार, बर्तन, शिक्षा, चिकित्सा वाहन, परिवहन, विनोद, सुसज्जा, शासन आदि अनेक आवश्यकताओं के लिए अगणित वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। इनके उत्पादन का उद्योग और वितरण को व्यापार कहा जा सकता है। इस माध्यम से लोग अपनी रोटी कमाते हैं। अगणित व्यक्ति अपनी श्रम, साधना-कौशल और पूँजी के समन्वय से जो उत्पादन करते थे, उससे लोगों की जरूरतें भी पूरी होती थीं और गुजारे का साधन भी जुटता था। 'गृह-उद्योग' एक तीसरा माध्यम था जो कृषि और पशु-पालन के बाद प्रजाजनों की आजीविका की समस्या हल करता था।

विज्ञान ने दैत्याकार यन्त्र बनाये और पूँजी-पतियों ने उनके द्वारा विशालकाय कारखाने खड़े किये। इन कारखानों में लगे सैकड़ों कर्मचारियों के द्वारा इतना अधिक और इतना सस्ता काम हो सका कि उसकी प्रतिस्पर्धा में गृहउद्योगों की कमर टूट गई। बड़े कारखाने, बड़ी पूँजी, बड़ी मशीन और बड़ी सुविधा के कारण जितनी सुन्दर और सस्ती चीजें बना सकते हैं, उतनी साधनहीन शिल्पकार कैसे बना पायें? कारखानों से प्रतिस्पर्धा गृह-उद्योग कर नहीं सकते थे, कर भी नहीं सके। जहाँ कारखानेदारों की अमीरी बढ़ी वहाँ साधनहीन बेकारों और गरीबों की संख्या द्रुतगति से बढ़ती गई।

शिक्षा जहाँ छात्रों की प्रतिभा विकसित करके उन्हें बौद्धिक और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बना सकती थी

वहाँ उसकी भी दिशा उलटी हो गई । हर विद्यार्थी ने नौकरी चाही और वैसी ही योग्यता जुटाई । शिक्षा का विकास-विस्तार जैसे-जैसे हुआ वैसे-वैसे नौकरी के इच्छुक नवयुवकों की भीड़ी बढ़ती गई । इन्हें इतनों को नौकर कौन रखे ? किस काम के लिए रखे ? सरकारी नौकरियों की भी एक सीमा है, असीम नौकर तो वह भी नहीं खपा सकती । बेकार शिक्षितों का विशाल समुदाय अपने उपयुक्त काम न पाकर रुष्ट, असन्तुष्ट और क्रुद्ध बना निरुद्देश्य विचरण करने लगा । ऐसे लोगों का विशाल वर्ग देश के लिये समस्याएँ ही उत्पन्न कर सकता था सो कर भी रहा है ।

श्रमिक वर्ग-उत्पादनकर्त्ताओं को अपना श्रम बेचकर अथवा दर्जी, नाई, धोबी, मोची, हलवाई, सुनार, लुहार, भंगी, बढ़ई जैसे दैनिक आवश्यकता के साधन जुटाने वाला वर्ग अपने जो अर्थ साधन जुटाता था, उन पर अभी विशेष आँच नहीं आई है, पर समाज में उस वर्ग को तिरस्कृत किया गया । श्रम अधिक और आजीविका स्वल्प होने के कारण उस ओर से रुचि घटती गई । फलस्वरूप वे कार्य चलते रहे हैं पर उत्साह के अभाव में वह क्षेत्र भी दिन-दिन अस्त-व्यस्त होता चला जाता है ।

सर्वसाधारण के उपयुक्त अर्थ साधन न मिलने से बेकारी और गरीबी बढ़ती है और उस बढ़ोत्तरी का निश्चित परिणाम अनैतिकता एवं अपराधों की वृद्धि के रूप में तत्काल देखा जा सकता है । जो कानून की पकड़ में न आये और दण्ड से बच जाय वह अनैतिकता और जो अधिक वेग-संवेग के साथ आँधी उठ खड़ी हो वह अपराध प्रवाह कहा जायगा । एक को मन्द दूसरे को तीव्र विष कहा जा सकता है । दोनों से न्यूनाधिक मात्रा में व्यक्ति का अधःपतन और समाज का विनाश ही होता है । अस्तु, आवश्यक है व्यक्ति को निर्वाह के समुचित साधन मिलें और किसी को भी बेकारी, बेरोजगारी का शिकार न बनना पड़े ।

अपने देश की स्थिति को देखते हुए हमें अर्थ व्यवस्था सुधारने के लिये कारगर कदम उठाने पड़ेंगे । सबसे प्रथम कृषि और पशु-पालन की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए । अभी भी पुराने जमींदारों की तरह अनेक व्यक्ति किराये पर या बटाई पर जमीन उठाते हैं । जिन्हें स्वयं कृषि करने का अवकाश नहीं उनके हाथ से भूमि ले ली जानी चाहिए और उन्हें दी जानी चाहिए जो उसके साथ अपनत्व मिलाकर उत्साहपूर्वक उत्पादन कर सकें । किराये पर ली हुई जमीन को खाद, जुताई, मेंड़, सिंचाई आदि के प्रबन्ध परायेपन की भावना के कारण नहीं किये जा सकते । इसी प्रकार छोटी जोतें भी अलाभदायक होती हैं । जितने में एक परिवार की गुजर न हो सके, उससे कम की कृषि सदा अलाभदायक रहेगी और उत्पादन कम देगी । अपंग विधवाएँ या ऐसे ही लोगों को जमीन किराये पर उठाने की छूट मिलनी चाहिए । इस प्रकार के भूमि सुधार किये बिना काम न चलेगा । सिंचाई का प्रबन्ध विशेष आयोग के जिम्मे छोड़ा जाय । किसान कुँए आदि के नाम पर तकावी दूसरे काम में खर्च कर डालते हैं । सरकारी ठेकेदार दूने-चौगुने पैसे वसूल करते हैं । इस कार्य के लिए अर्द्ध सरकारी एक ऐसा तन्त्र खड़ा किया जाय, जिसे हिसाब का ब्यौरा जन-साधारण के सामने भी प्रस्तुत करना पड़े और फिजूलखर्ची रोकने के लिए किसी को भी सुझाव देने का अवसर रहे । कुँए, बाँध, छोटे तालाब आदि से ही इस देश की सिंचाई समस्या हल होगी । बड़े बाँधों में लगाया हुआ धन जितना उपयोगी सिद्ध होता है उसकी तुलना में ऐसे छोटे प्रयोग कहीं अधिक सस्ते और फलप्रद हो सकते हैं ।

तम्बाकू जैसी हानिकारक चीजों के लिए कम से कम कृषि बरबाद न होने दी जाय, व्यसन करने वालों को महँगी चीजें मिलें तभी वे निरुत्साहित होंगे । हानिकारक उत्पादन में लगे हुए व्यक्ति देखने में कुछ आजीविका प्राप्त करने लगते हैं पर वस्तुतः उस विघातक श्रम में इतनी हानि होती है जितनी उन श्रमिकों के बेकार रहने पर भी न होती । नशेबाजी से सम्बन्धित समस्त उत्पादन और उद्योग बन्द करके उस पूँजी, मेहनत और जनशक्ति को उन कार्यों में लगाया जाना चाहिए जिनकी अभी भारी आवश्यकता है ।

अब यह सोचना व्यर्थ है कि भारत निर्यात करके विदेशी मुद्रा कमा सकेगा । इस क्षेत्र में अमेरिका, जर्मनी, जापान आदि बहुत आगे हैं । उनकी प्रतिस्पर्धा कर सकने योग्य ज्ञान, अनुभव और धन जुटाने में हम बहुत दिन तक पिछड़े रहेंगे । इसलिए निर्यात के मोह-जंजाल में फँसकर हमें बड़े कारखाने में बड़ा उत्पादन न करने की बात सोचना छोड़ देना चाहिए । निर्यात से जितना लाभ होता है उससे हजार गुनी हानि यह हो जाती है कि बड़े कारखानों की प्रतिस्पर्धा में न ठहरने के कारण छोटे उद्योग मर जाते हैं और लाखों-करोड़ों की रोटी छिन जाती है । कुछ सौ कारखानेदार अमीर बनते चले जायँ और उसके बदले असंख्य को बेकारी-गरीबी की आग में जलना पड़े तो यह कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है । भारत की वर्तमान परिस्थिति का तकाजा यही है कि यहाँ हर चीज छोटे उद्योगों के रूप में विकसित की जाय ताकि उनका फैलाव छोटी देहातों में भी हो सके । बिजली अगले दिनों अधिक उत्पन्न होगी और सस्ती पड़ेगी । मनुष्य के श्रम को बचाने में बिजली की सहायता ली जानी चाहिए । जापान में जिस तरह घर-घर विद्युत संचालित गृह-उद्योग चलते हैं वैसे ही इस देश में भी चलाये जायँ । इस उत्पादन में पूँजी चुकाने और विक्रय करने के लिये एक अलग तन्त्र रखा जाये । उत्पादन कच्चा माल लेकर पक्का बना देने भर का बोझ उठाये, पूँजी, प्रतिस्पर्धा, मण्डी आदि की चिन्ता से उन्हें मुक्त रखा जाय । तभी गृह-उद्योगों को सफलता मिल सकेगी ।

जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता जाय और खपत कम होती जाये तो श्रम के घण्टे कम कर दिये जायें । काम ८ घण्टे

की जगह सात, छै या पाँच घण्टे हुआ करे। उससे सबको काम मिलता रहेगा और बेकारी नहीं फैलेगी। देश की आवश्यकता देश में ही पूरी होती रहे इस दृष्टि से हमें अर्थ योजनाएँ बनानी चाहिए। जिस तरह सेना को सुन्दर छावनियों में बिखराकर रखा जाता है ताकि शत्रु के आक्रमण के अचानक शिकार न हो जायें। इसी प्रकार बड़े बाँध, बड़े कारखाने कभी भी विशेष संकट के समय बर्बाद हो सकते हैं, उन्हें भी हमें विकेन्द्रित ही रखना चाहिए।

सहकारी आन्दोलन को बल दिया जाय। ताकि लोग आपस में मिल-जुलकर रहना, काम करना और सोचना सीखें। उत्पादन ही नहीं विक्रय भी सहकारी समितियों के माध्यम से किया जाय। व्यक्ति के हाथ यों धन्धे रहने से वह व्यक्तिगत लाभ के लिए अवांछनीय तरीके अपना सकता है पर जब बहुतों का सम्मिलित स्वार्थ जुड़ा होगा तो कीमतों में दंद-फंद, मिलावट, कम तोल, नाप आदि की आशंका न रहेगी। बेईमान कर्मचारी ही कुछ गड़बड़ कर सकते हैं सो उनकी नियुक्ति से लेकर जाँच-पड़ताल और अनुचित कार्य करने पर कड़ी सजा जमानत की जब्ती आदि के ऐसे नियम बनाये जायें जिससे उन्हें बेईमानी, कामचोरी या बहानेबाजी का दुस्साहस करने की गुंजाइश न रहे। व्यक्ति के हाथ से निकलकर यदि उत्पादन और विक्रय सहकारी संगठनों के हाथ चला जाय तो जमाखोरी, कृत्रिम, महँगाई जैसी अनेक कठिनाइयों से बचा जा सकता है। लोगों को उचित मूल्यों पर सही चीजें मिलेंगी और मोल-भाव करने के लिए दुकान-दुकान पर धक्के खाने की जरूरत न रहेगी। समय बचेगा और सही चीज उचित दाम पर मिल जायगी, इससे सर्वसाधारण को बहुत राहत मिलेगी। व्यक्ति व्यवसाय करने वाले भी घाटे में न रहेंगे वे अपनी पूँजी सहकारी समितियों में जमाकर ब्याज, मुनाफा आदि कमा सकते हैं और अपना श्रम उसमें लगाकर उचित वेतन ले सकते हैं। इस प्रकार के प्रतिस्पर्धा और महँगी सस्ती के ज्वार भाटे से बचकर शान्तिमय आजीविका कमा सकेंगे। इस तरह कुछ कम मिल जाय तो भी उन्हें बुरा न लगेगा।

विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन रोका और महँगा किया जाय। जीवनोपयोगी अनेक वस्तुएँ जो आज या तो मिलती नहीं अथवा बहुत महँगी मिलती हैं उनका उत्पादन बढ़ाया जाना चाहिए ताकि व्यक्ति को जीवन विकास में अधिक सुविधा मिल सके। व्यायाम, खेलकूद, संगीत, साहित्य, धुलाई, सिलाई आदि घरेलू काम-काज के यन्त्र, छोटे ट्रैक्टर, मोटर पम्प, घड़ी, कागज, मशीनें आदि पचासों चीज ऐसी हैं जिनका उत्पादन कई गुना हो जाने पर भी खपता रहेगा इस प्रकार के उद्योगों के लिए पूँजी एवं सुव्यवस्था सुलभ की जानी चाहिए। एक वस्त्र व्यवसाय ही यदि बड़े कारखानों से छीनकर छोटे गृह-उद्योगों को सौंप दिया जाय तो आज की सारी बेकारी दूर हो सकती है और खुशहाली का एक दृश्य सारे देश में दीखने लग सकता है। उद्योगों का विकेन्द्रीकरण और उनके लिये पूँजी तथा मंडी जुटाने वाला तन्त्र खड़ा करना यदि सम्भव हो सके तो निस्सन्देह देश की अर्थ व्यवस्था में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत हो सकता है। कृषि और पशु-पालन को तो हर हालत में प्रधानता देनी ही पड़ेगी।

टैक्स वसूल करने का जो तरीका आज है उसमें देश का सामान्य नागरिक फिट नहीं बैठता। इसमें रिश्वतखोरी की भारी गुंजायश है। बही-खाता ठीक से न जानने वाला या थोड़ी-सी लापरवाही करने वाला इतना बड़ा दण्ड भुगत सकता है कि उसे अपनी आजीविका के स्रोत ही समाप्त करने पड़ें। अपने देश में अप्रत्यक्ष टैक्स होने चाहिए। उत्पादन पर जितना औचित्य हो टैक्स लगा दिया जाय। स्टाक रखने की सीमा निर्धारित कर दी जायँ। सम्पत्ति खरीद-फरोख्त पर टैक्स बढ़ाये जाय, पर सभी तरीके ऐसे हों जिनमें बहीखातों का अधिक जंजाल न बढ़े। आज की स्थिति में तो दो बहीखाते रखने की कला और अफसरों को खुश रखने की चतुरता में प्रवीण व्यक्ति ही कुछ धन्धा-पानी कर सकते हैं। इतने जाल-जंजाल न जानने वाले को तो कोई धन्धा करने का साहस नहीं होता। इस कठिनाई का हल नये सिरे से सोचा जाना चाहिए। एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को माल ले जाने पर प्रतिबन्ध लगाने की बात तो ऐसी ही है मानो हर प्रान्त अलग देश हो इस प्रवृति में अन्तर्प्रान्तीय तस्कर व्यापार पनपता है और प्रान्तीयता का विष बढ़ता है। ऐसे प्रतिबंध हटने ही चाहिए।

देश की अर्थव्यवस्था को नष्ट करने में सामाजिक कुरीतियाँ बहुत बड़ा कारण हैं। जो कमाया जाता है उसका लगभग आधा भाग विवाह-शादी, अलन-चलन, रस्म रिवाज, मृतक भोजन आदि में बर्बाद हो जाता है। उनकी पूर्ति के लिए कितनों को ही कर्ज लेना पड़ता है और उसकी ब्याज चुकाते-चुकाते हैरान हो जाते हैं। शिक्षा, चिकित्सा जैसी आवश्यकता में कटौती करके जहाँ कुरीतियों का पेट भरना पड़े वहाँ गरीबी और बेईमानी का बढ़ना, पनपना स्वाभाविक है। इन मूर्खतापूर्ण अन्ध विश्वासों और रूढ़ियों को नियन्त्रित किया ही जाना चाहिए। भले ही वह कठोर कानून द्वारा हो अथवा सामाजिक आन्दोलनों की प्रखरता द्वारा। हर हालत में खर्चीली कुरीतियों से पिण्ड छुड़ाया ही जाना चाहिए अन्यथा प्रचलित अगणित प्रबल कुरीतियों के कारण चलनी में दूध दुहने' की तरह हमारी गरीबी और बेकारी को चिरकाल तक यथावत् बनाये रहेंगे।

इसी प्रकार वैयक्तिक अपव्यय पर भी नियन्त्रण होना चाहिए ताकि विलासिता और फिजूलखर्ची से बचा धन व्यक्ति के निर्माण तथा उत्पादन कार्यों में लगाया जा सके। सीमित डिजायनों के कपड़े, सीमित किस्म की सिलाई, सीमित प्रकार के शृंगार साधन, बर्तन, फर्नीचर गाड़ियों में एक ही तरह की क्लास जैसी ... ...

उपलब्धियाँ रहने से सर्वसाधारण को एक से स्तर पर रहने की आदत पड़ती है –पैसा बचता है और ईर्ष्या की गुंजाइश नहीं रहती । फिजूल खर्ची जो आज अमीरी और बड़प्पन का चिन्ह मान लिया गया है । लोग महँगे होटलों में ठहरना, महँगे नाच घरों में जाना, मँहगी पोशाक और सजधज जमाने और महँगी पार्टियाँ करने में अपनी शान समझते हैं । इससे कितनी ही चारित्रिक और सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं । इसलिए सादगी को प्रोत्साहन देना और सजधज को निरुत्साहित किया जाना हर दृष्टिकोण से आवश्यक है ।

बचे हुए समय में लोक-मंगल के सार्वजनिक कार्यों के लिये श्रमदान करने की प्रथा को जितना अधिक प्रोत्साहन और व्यावहारिक रूप मिल सके उतना ही अच्छा है । जो कार्य करोड़ों रुपये की व्यवस्था से भी पूरे हो सकने कठिन हैं वे हँसी-खुशी के वातावरण में थोड़ी-थोड़ी मेहनत करके बड़ी आसानी से किये जा सकते हैं । इससे स्वावलम्बन, कर्त्तव्य परायणता, देशभक्ति, पुण्य-परमार्थ की प्रवृत्ति पनपती है और आगे चलकर थोड़ी सुविकसित होने पर व्यक्तित्व को महान बनाने और समाज के उज्ज्वल भविष्य की रचना में बड़ी कारगर सिद्ध हो सकती है ।

प्रजातन्त्र की सफलता के लिए हम यह करें

प्रजातन्त्र की सफलता का आधार मतदाता की देश-भक्ति और दूरदर्शिता पर निर्भर रहता है । यह तत्व जन-मानस में जितने अधिक विकसित होंगे उसी अनुपात से वे शासन तन्त्र सँभालने के लिए अधिक उपयुक्त व्यक्ति चुनने में सफल हो सकेंगे । श्रेष्ठ व्यक्तित्व ही किसी महत्त्वपूर्ण काम को ठीक तरह सँभालने में समर्थ हो सकते हैं । अधिक सही, अधिक योग्य और अधिक सुयोग्य हाथ मे शासन तन्त्र रहे तो प्रजाजन उस सरकार के अन्तर्गत सुख-शान्ति और प्रगति का लाभ प्राप्त करेंगे । इसके विपरीत यदि अवांछनीय तत्वों ने शासन पर कब्जा कर लिया तो वे उसका उपयोग व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए–अपने गुट के लिए करेंगे और उस दुरुपयोग के कारण जो अवांछनीय शृंखला बढ़ेगी उसकी चपेट में सरकारी कर्मचारी भी आवेंगे । उनका स्तर भी गिरेगा और इस गिरावट का अन्तिम दुष्परिणाम जनता को ही भोगना पड़ेगा । इसलिए जहाँ भी प्रजातन्त्री शासन हो वहाँ सबसे प्रथम आवश्यकता इस बात की पड़ती है कि वहाँ का वोटर इतना सुयोग्य बन जाय कि अपने वोट का राष्ट्र के भविष्य को बनाने-बिगाड़ने की चाबी के रूप में–राष्ट्रीय पवित्र धरोहर के रूप में केवल उचित आधार पर ही उपयोग करे ।

दुर्भाग्यवश अपने देश में ऐसा न हो सका । यहाँ निरक्षरता का साम्राज्य है । केवल २३ प्रतिशत पढ़े-लिखे लोग हैं । इनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो अपने जीवन निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है उतना ही लिखना-पढ़ना याद रखते हैं । विचारशीलता बढ़ाने या व्यक्ति, समाज की समस्याएँ सोचने-सुलझाने वाला साहित्य पढ़ने की न उन्हें रुचि होती है न वैसी सामिग्री मिलती है । हिसाब-किताब, चिट्ठी, नौकरी, धन्धा भर के लिये लोग पढ़ने-लिखने की आवश्यकता समझते हैं । इसके बाद पढ़ना हुआ तो घटिया मनोरंजन करने वाली पुस्तकें या पत्रिकाएँ जो आसानी से मिल जाती हैं पढ़ लीं । इससे आगे की दिशा निर्धारण करने वाला साहित्य तो इन पढ़े-लिखों में से तीन-चौथाई को नहीं मिलता फिर अशिक्षितों को उसकी सुविधा कैसे मिले ? जनता की विचार-शक्ति बढ़ाने के लिए शिक्षा की–विशेषतः प्रौढ़-शिक्षा की–भारी आवश्यकता थी । सरकारी या गैर सरकारी स्तर पर यदि इस आवश्यकता को प्राथमिकता दी गई होती तो निस्सन्देह अपने देश की शिक्षा स्थिति बहुत सँभल गई होती । हर जगह प्रेरणाप्रद पुस्तकालय रहे होते और उनका संचालन लोक-रुचि जगाने और मोड़ने वाले लोक-सेवी कर रहे होते तो इन २२ वर्षों में अपनी जनता की मनोभूमि बहुत ऊँची उठ गई होती और वोट की महत्ता एवं उसकी उपयोगिता और प्रयोग करते समय दूरदर्शिता से काम ले सकने की योग्यता उसमें विकसित हो गई होती । ऐसी दशा में हमारे चुने हुए प्रतिनिधि एक से एक ऊँचे स्तर के शासन तन्त्र को सँभालते और उनके पुण्य-प्रयत्नों द्वारा देश में सुराज्य के मंगलमय दृश्य देखने को मिल रहे होते ।

आज चुनाव जीतना एक विशेष कला के अन्तर्गत आता है । नासमझ लोगों को बहकाने के लिए जो हथकंडे काम में लाये जा सकते हैं उन्हें ही चुनाव जीतने के लिए आमतौर से प्रयुक्त किया जाता है । जाति-बिरादरी वाली संकीर्णता की बात पिछले आर्य समाजी और कांग्रेसी आन्दोलनों ने काफी हलकी कर दी थी पर जब से चुनाव हथकंडे सामने आये हैं इस विष को फैलाकर आसमान पर चढ़ा दिया गया है । सच्चाई यह है कि अब चुनाव बिरादरीवाद के विद्वेष को भड़काकर लड़े और जीते जाते हैं । बाहर से कोई सिद्धान्तवाद की लम्बी चौड़ी बातें भले ही करता फिरे, चुनाव जीतने के बाबत जातिवाद को भीतर ही भीतर खूब भड़काया जाता है । बहुसंख्यक वाली जाति से उसका उम्मीदवार अपनों को वोट देने की बात कहता है और दूसरी बिरादरी को वोट न जाय इसलिए उनकी ओर से अपने लोगों को कटुवचन कहने या चुनौती देने की मनगढ़न्त अफवाएँ फैलाता है । इसी विषाक्त वातावरण में चुनाव लड़े जाते हैं और बिरादरीवाद को उत्तेजित और संगठित कर लेने वाले बाजी मार ले जाते हैं । राजनैतिक दल अपने उम्मीदवार खड़े करते समय इस बिरादरी स्थिति को ही ध्यान में रखकर आमतौर से उम्मीदवार खड़े करते हैं । इस प्रवृत्ति को भड़काकर योग्यता और उत्तमता की दृष्टि ही नष्ट कर दी गई । अपनी बिरादरी वाले को जीतने के उन्माद का लाभ केवल

हथकंडे बाज और तिकड़मी लोग ही उठा पाते हैं और जीत जाने पर अपना उल्लू सीधा करने की तरकीबें भिड़ाने में लग जाते हैं।

चुनाव के दिनों सिद्धान्तों की बात तो सिर्फ ऊपर-ऊपर से कही-सुनी जाती है। वस्तुतः वोटरों को अपने पक्ष में करने के लिए उस क्षेत्र के प्रभावशाली लोगों पर डोरे डाले जाते हैं और उन्हें तरह-तरह के हाथोंहाथ या आश्वासनों के प्रलोभन देकर अपनी गिरोहबंदी में शामिल किया जाता है। वे अपने प्रभाव-परिचय का उपयोग भोले-भाले लोगों से वोट प्राप्त करने में करते हैं और सहज ही वे बहकाये हुए किसी के पीछे चलकर किसी को भी वोट दे आते हैं और कोई भी जीत जाता है। वोट के दिनों वोटरों को सवारी, भोजन, चाय-पानी, नकदी, खुशामद आदि के रूप में कई तरह के छोटे-बड़े प्रलोभन दिये जाते हैं सब नहीं तो उनके अगुआ इन सुविधाओं को थोड़े समय के लिए ही सही-प्राप्त करके अपना मान बढ़ा समझ लेते हैं।

वोटर में न तो स्वयं की इतनी चेतना विकसित हुई होती है कि राष्ट्र के भाग्य-भविष्य का निर्माण कर सकने वाले सुयोग्य व्यक्ति को ही वोट देकर अपना कर्त्तव्य पालन करें और न उनकी इस प्रकार की योग्यता विकसित करने के लिए कोई संगठित प्रयत्न किये जाते हैं। तत्काल भड़काने वाली कुछ स्थानीय या सामयिक चर्चाएँ ही वोटरों का विचार बनाती मोड़ती हैं। इन हथकंडों के साथ गिरोहबन्दी जोड़-तोड़ कर दौड़-धूप करना हर किसी का काम नहीं है। उसमें खर्च भी बहुत पड़ता है, उसे कोई लोक-सेवक निस्पृह व्यक्ति कैसे जुटा पाये। जीतते वो लोग हैं जो चुनाव में अन्धाधुन्ध पैसा इस ख्याल से खर्च करते हैं कि जीतने पर ब्याज समेत वसूल कर लेंगे। जिन्होंने यह सोचकर पैसा और समय खर्च किया है वे जीतने पर यदि कुछ लाभ कमाना चाहें तो इसमें बेजा भी क्या है यह निश्चित है कि जिनके सहयोग से अनुचित स्वार्थ सिद्ध किया गया है उनको भी वैसा ही लाभ उठाने की छूट मिलेगी, इस प्रकार ऊपर से नीचे तक भ्रष्टाचार की शृंखला का सिलसिला बँध जायगा। जनता उस चक्की के पाटों के बीच पिसती, कराहती रहेगी।

सभी वोटर ऐसे होते हैं या सभी चुनाव जीतने वाले ओछे तरीके ही अपनाते हैं यह नहीं कहा जा रहा, सज्जनता का बीज नाश कभी नहीं होता इसलिए अपने चुनावों में भी बहुत जगह, बहुत लोग सही तरीके अपनाते और जीतते देखे जाते हैं पर वे अपवाद ही हैं। अधिकतर ऐसी ही भेड़ियाधसान चल रही है जैसी कि ऊपर चर्चा की गई है। उसका प्रधान कारण भारतीय जनता को प्रबुद्धि और प्रगल्भ बनाने की दिशा में बरती गई उपेक्षा ही है। जब तक इस आवश्यकता को पूरा न किया जायगा—जनमानस को राजनैतिक उत्तरदायित्व सँभालने के प्रथम प्रजातंत्री कर्त्तव्य मतदान का महत्त्व और दूरगामी परिणाम विदित न होगा तब तक स्थिति के सुधरने की आशा नहीं की जा सकती। प्रजातन्त्र स्विटजरलैण्ड जैसे प्रबुद्ध नागरिकों के देश में ही सही तरह सफल हो सकता है। जनता का स्तर यदि घटिया है तो घटिया लोग ही चुने जायेंगे और इनके द्वारा चलाया हुआ शासन, स्वराज्य कहला सकता है पर उसके द्वारा सुराज्य की आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती।

इस कठिनाई को हल करने का स्थिर उपाय तो यही है कि जनता को साक्षर, शिक्षित, प्रबुद्ध एवं दूरदर्शी बनाने के लिए युग-निर्माण योजना द्वारा संचालित जन-मानस परिष्कार अभियान को अधिकाधिक समर्थ और सफल बनाने में पूरा जोर लगाया जाय। जनता जितनी दूरदर्शी, देशभक्त, कर्त्तव्यनिष्ठ और नागरिक कर्त्तव्यों को ठीक तरह पालन कर सकने में समर्थ बनती जायगी उतना ही वोट का सदुपयोग होगा और सही व्यक्ति, सही ढंग से शासन तन्त्र चलाने के लिए नियुक्त किये जा सकेंगे। जब तक जन-मानस का स्तर गिरा हुआ रहेगा जब तक उसके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि भी उसी स्तर के रहेंगे। दल-बदल, पदलोलुपता, भाई-भतीजावाद, पक्षपात, स्वार्थ-साधन, भ्रष्टाचार की अनेक शिकायत हमें अपने शासन-संचालकों से रहती हैं। इसका मूल दोष जनता की अपरिपक्व मनः-स्थिति को ही दिया जा सकता है। जब तक उसमें सुधार, परिष्कार न होगा, शासन तन्त्र अनुपयुक्त व्यक्तियों के हाथों में ही बना रहेगा। जैसा दूध होगा मलाई भी उसी स्वाद की बनेगी। जनता का स्तर ही चुनाव में विजयी होकर आता है। यह सिद्धान्त विश्व-व्यापी है। भारतवर्ष का ही नहीं, जहाँ भी प्रजातन्त्र है वहाँ यही सिद्धान्त लागू होंगे। अस्तु, दोष न वोटर का है न चुनाव जीतने वालों का। पिछड़ेपन की परिस्थिति ही ऐसी है जिसमें जनता से अधिक ऊँचे स्तर का शासन मिल सकना सम्भव ही नहीं हो सकता।

इस स्थिति में आपत्तिकालीन स्थिति की तरह एक सामयिक उपाय दूसरा भी है कि वोट देने का तरीका प्रत्यक्ष न रखकर अप्रत्यक्ष कर दिया जाय। इसमें वोटरों को बरगलाने का खतरा कम और विवेक से काम लेने का अवसर अधिक है। आरम्भ ग्राम पंचायतों से किया जाय। वहाँ भी वोट डालने का तरीका ऐसा हो जिसमें दूसरे किसी को पता भी न चलने पाये कि किसे वोट दिया गया। चुनाव दो तिहाई पर सफल माना जाय। आजकल आधे वोट मिलने पर चुनाव जीतने का जो कायदा है, उसे बढ़ाकर दो तिहाई कर दिया जाय। इससे लोकप्रिय ही चुने जा सकेंगे। प्रयत्न सर्वसम्मत चुनाव का किया जाय। यह भी हो सकता है कि एक बार प्राथमिक परीक्षण दूसरी बार अन्तिम चुनाव। प्राथमिक परीक्षण में कितने ही लोग खड़े हो सकते हैं। उस चुनाव में लोकप्रियता का पता चल जायगा। इनमें जिनके सबसे अधिक वोट हों ऐसे दो प्रतिद्वन्द्वी ही अन्तिम चुनाव में खड़े रहें और उनमें से जिसे दो-तिहाई वोट मिलें उसी को सफल घोषित किया जाय। अच्छा तरीका यह है कि दोनों में से विवेकशीलता, चरित्र और सेवा की दृष्टि से जिसका पिछला स्तर ऊँचा रहा हो

उस एक को ही सर्वसम्मति से चुना जाय । इससे चुनाव के कारण जो कटुता उत्पन्न होती है उससे बचा जा सकेगा ।

ग्राम पंचायत चुनाव में चुने हुए लोग क्षेत्र पंचायत का-क्षेत्र पंचायत वाले जिला पंचायत का-जिला पंचायत वाले प्रान्त पंचायत का-और प्रान्त पंचायत वाले देश पंचायत का चुनाव कर लिया करें । इससे यह लाभ होगा कि अधिक ऊँची पंचायत के लिए अधिक उत्तरदायी और अधिक योग्य वोटर रहेंगे और उनसे अधिक विवेकशीलता और जिम्मेदारी की आशा की जा सकती है । यह तरीका आज के सीधे चुनाव के तरीके की अपेक्षा भारत जैसे पिछड़े देश के लिए अधिक उपयुक्त रहेगा ।

राष्ट्रपति का चुनाव ग्राम पंचायत के प्रतिनिधि करें ताकि किसी एक पार्टी के वोटों पर निर्भर यह न रहे । बहुमत पार्टी का चुना राष्ट्रपति उसी का पक्षपात करे यह आशंका बनी रहेगी । जबकि संविधान की रक्षा के लिये पूर्ण निष्पक्ष राष्ट्रपति की आवश्यकता है । अपने यहाँ अमेरिका के ढंग से चुना राष्ट्रपति होना चाहिए और उसके अधिकार भी सार्थक-होने चाहिए । मात्र बहुमत पार्टी का समर्थक या प्रवक्ता राष्ट्रपति रहे तो शासन में निरंकुशता बढ़ेगी ।

चुनाव में खड़े होने के लिए हर वोटर की कुछ योग्यता निर्धारित होनी चाहिए जिसमें शिक्षा, चरित्र और सेवा इन तीनों को आधार बनाया जाय । जैसे-जैसे चुनाव का स्तर ऊँचा होता जाय यह प्रतिबन्ध अधिक कड़े होते जायँ । धनिक एवं व्यवसायी वर्ग को क्रमशः चुने जाने में प्रतिबंधित किया जाता रहे क्योंकि वे अपने निहित स्वार्थों के लिये सत्ता का दुरुपयोग कर सकने में अधिक आगे तक बढ़ सकते हैं । सत्ता में जाने के बाद किसने अपने या अपने परिवार के लिए कितना धन कमाया और उसमें कुछ अनुचित कार्य तो नहीं था ? इस बात की अधिक कड़ी निगरानी रखे जाने की व्यवस्था हो । इस प्रकार के प्रतिबन्धों से चुने प्रतिनिधियों का स्तर अधिक ऊँचा रखा जा सकेगा । दल-बदल करना हो तो स्तीफा देकर नया चुनाव ही लड़ा जाना चाहिए ।

किसी जमाने में राजतन्त्र का प्रभाव प्रजा की सुरक्षा तक सीमित था । बाहर के आक्रमणकारियों से युद्ध और भीतर के चोर, डाकू, दुष्ट, दुराचारियों को दण्ड, प्रायः इतना ही कर्तव्य राजा लोग निबाहते थे । इन्हीं प्रयोजनों के लिए शस्त्र व सेना जुटाते रहते थे । उस सुरक्षात्मक शासन व्यवस्था का व्यय भार प्रजाजन टैक्सों के रूप में अदा करते थे । जन मानस को सुव्यवस्थित और लोकप्रवृत्तियों को परिष्कृत करने का काम धर्मतन्त्र सँभालता था, शिक्षा, चिकित्सा, लोक-मंगल के व्यक्तित्व और सामूहिक कार्यों का संचालन, सन्त-मनीषियों द्वारा सम्पन्न होता था । उनका व्यय भार जनता श्रद्धासिक्त दान-दक्षिणा के रूप में पूरा करती थी । राजकोष में जो पैसा बच जाता था, वह उन्हीं धर्म पुरोहितों को दे दिया जाता था, वे समय और आवश्यकता के अनुरूप जिन कार्यों में उचित समझते थे, उस दान धन का उपयोग करते थे । उस पर कोई नियन्त्रण प्रतिबन्ध इसलिए नहीं था कि दान के श्रद्धासिक्त धन का श्रेष्ठतम उपयोग क्या किया जाय, किस तरह किया जाय, इसका सर्वोत्तम निर्णय वे धर्म पुरोहित स्वयं ही कर सकने में समर्थ थे ।

समय की गति ने धर्म-तन्त्र को दुर्बल कर दिया और निकम्मा भी । राजतन्त्र की परिधि बढ़ती गई । अब शासन केवल सीमा-सुरक्षा और अपराधियों को दण्ड देने तक सीमित नहीं रहा, उनका क्षेत्र बढ़ते-बढ़ते जीवन के हर क्षेत्र और समाज के हर कार्य के साथ जुड़ता चला आ रहा है । शिक्षा का पूरी तरह निर्धारण और प्रबन्ध सरकार करती है । चिकित्सा, परिवहन, यातायात, डाक-तार, बैंक, बीमा, व्यवसाय, उत्पादन आदि पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सरकारी नियन्त्रण ही स्थापित है । करनीति सरकार के हाथ में चली जाने से अब किसी भी व्यवसाय का बढ़ना, घटना पूर्णतया सरकार की इच्छा पर निर्भर है । अन्न, वस्त्र तक के लिए हमें सरकारी इच्छा का अनुसरण करना पड़ता है । *धीरे-धीरे यह नियन्त्रण* अधिक व्यापक होता चला जा रहा है और व्यक्ति तथा समाज की सभी गतिविधियों पर शासन की नीति का प्रभाव बढ़ता चला जा रहा है । वह दिन दूर नहीं, जब समस्त सम्पत्ति और सुविधा-साधनों पर सरकारी नियन्त्रण ही दिखाई देगा और व्यक्ति को यन्त्र-मशीन की तरह शासन की इच्छा पर गतिविधियाँ निर्धारित करनी पड़ेंगी । साम्यवाद ऐसी ही स्थिति का प्रतिपादन करता है । प्रजातन्त्र हो या कोई और शासन तन्त्र, अब सम्मान इसी ओर है ।

ऐसी दशा में सरकार का अधिक परिष्कृत होना आवश्यक है अन्यथा उसमें घुसी हुई विकृतियाँ सारी प्रजा की गतिविधियाँ विकृत कर देंगी । राजनीति से कोई सीधा सम्बन्ध रखें या न रखें पर उसे इतना ध्यान तो रखना ही होगा कि शासन का स्तर और स्वरूप भ्रष्ट न होने पावे-इससे कम सतर्कता रखे बिना आज का नागरिक-कर्तव्य पूरा नहीं होता । इस सन्दर्भ में हमें वोट का अधिकार बहुत ही सावधानी से बरतना चाहिए और हर समीपवर्ती को इस राष्ट्रीय अमानत का श्रेष्ठतम उपयोग पूरी समझदारी और दूरदर्शिता के साथ करने के लिए सजग करना चाहिए । चुनाव के समय बरती गई उपेक्षा, अन्यमनस्कता जन समाज के भाग्य-भविष्य के साथ खिलवाड़ ही कही जायेगी । हमें चरित्रवान, आदर्शवादी, लोकसेवी और परिष्कृत दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों को ही वोट देना चाहिए । भ्रष्ट लोग-चुनाव के समय जनसाधारण को प्रलोभन-बहकावे एवं भ्रान्तियों से उलझाकर वोट ले जाते हैं और चुने जाने पर अपने स्वार्थों के लिए शासन

तन्त्र का दुरुपयोग करके ऐसी भ्रष्ट परम्पराएँ और रीति-नीतियाँ चला देते हैं जिनका भारी दुष्परिणाम देश को भोगना पड़ता है ।

शासन के बढ़ते हुए क्षेत्र एवं प्रभाव को रोका नहीं जा सकता । आवश्यकता प्रजाजनों को इतना प्रशिक्षित रहने की है कि वे अपने वोट का मूल्य समझ सकें और बिना किसी प्रलोभन, बहकावे के उसका राष्ट्र हित में सर्वोत्तम उपयोग कर सकें । यह सतर्कता न बरती जा सकी, वहाँ प्रजातन्त्र अभिशाप ही बनकर रह जायेगा । भ्रष्ट और धूर्तों के हाथ शासन सौंप देने पर अगणित दुष्प्रवृत्तियाँ पनपेंगी और प्रजा को अनेक जाल-जंजालों में फँसकर तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़ेंगे । अस्तु, जिन्हें राजनीति से सीधा सम्बन्ध न हो उन्हें वोट और उसके सदुपयोग के सम्बन्ध में तो अधिकतम जागरूक रहना ही चाहिए ।

इन दिनों राष्ट्रीयकरण की चर्चा जोरों पर है । बैंक, बीमा, भूमि, परिवहन आदि कई बातों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है और कई के होने की तैयारी है । इस सन्दर्भ में सबसे अधिक आवश्यक राष्ट्रीयकरण उन साधनों का करने की जरूरत है, जो लोकमानस को प्रभावित करते हैं । साहित्य, सिनेमा, चित्र आदि के अधिकार उन लोगों के हाथ से छीन लिये जाने चाहिए जो उनको भ्रष्ट करने में लगे हुए हैं । इन शक्तियों को केवल उन व्यक्तियों के नियंत्रण में दिया जाये जो उन्हें केवल लोक-मंगल के लिए ही प्रयुक्त करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हों । प्रस्तावों द्वारा, प्रदर्शनों द्वारा, हस्ताक्षर आन्दोलनों द्वारा, पत्र-पत्रिकाओं द्वारा, सरकार को यह बताया जाना चाहिए कि जनता लोकमानस को विकृत किये जाने वाले प्रयत्नों से क्षुब्ध है । चुनावों के समय हर उम्मीदवार से प्रतिज्ञा करानी चाहिए कि वह चुने जाने पर इस बौद्धिक भ्रष्टाचार को रोकने के लिए शक्तिभर प्रयत्न करेगा ।

अपराधों को रोकने के लिए अभी और कई कानूनों की जरूरत है । हम देखते हैं ८० प्रतिशत अपराधी कानूनी पकड़ से बच निकलने में सफल हो जाते हैं । पुलिस, अदालत, कानून और दण्ड की सारी प्रक्रिया ऐसी हो, जो अपराधी को कानूनी पकड़ से न बचने दे और उसे ऐसा पाठ पढ़ाये जो भविष्य में वैसा करने का साहस ही न कर सके । दूसरे लोग भी वैसा करने के लिए आतंकित हों हमारी न्याय व्यवस्था बरतने, ढील छोड़ने या गुंजायश रखने से अपराधी तत्वों के हौंसले बढ़ते चले जायेंगे और सदाचरण की उपेक्षा बढ़ जायेगी । सरकार चाहे तो दुष्प्रवृत्तियों के प्रति अधिक कठोर रुख अपनाकर अपराधों का विस्तार रोक सकती है । सज्जनता को सम्मानित और पुरुष्कृत करके भी सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जा सकता है । राजसत्ता जितने अंशों में लोकमानस को स्पर्श और प्रभावित करती हो उतने अंशों में उसे सुधारात्मक रुख अपनाने के लिए अधिकाधिक प्रेरित, प्रभावित और विवश किया जाना चाहिए ।

रचनात्मक कार्यों के लिए जनउत्साह जगाया जाय

उच्च आदर्शों की चर्चा करते भर रहने से कुछ काम चलने वाला नहीं है । पढ़ना, सुनना, मनन-चिन्तन करना इसलिए आवश्यक होता है कि उनसे मनोभूमि प्रभावित होकर सत्कर्म करने की प्रेरणा उत्पन्न हो और क्रिया रूप में कुछ ऐसा करते बन पड़े जो अन्तःकरण में संस्कार बनकर उभरे । विचारों की सार्थकता तभी है जब उनके द्वारा कर्म करने का साहस हो सके अन्यथा आदर्शवादिता की लम्बी-चौड़ी बातें करते रहना-कथा पुराणों का पढ़ना-और लच्छेदार प्रवचनों को सुनते रहना-मात्र मनोविनोद एवं समयक्षेप ही होकर रह जायगा । हमारी विचारणा इतनी प्रखर होनी चाहिए जो कार्यरूप में परिणत एवं प्रस्फुटित हो सके ।

व्यक्तिगत जीवन में उत्कृष्टता-धार्मिकता- आध्यात्मिकता एवं आदर्शवादिता का अभिवर्द्धन करने के लिए ऐसे कर्मों को जीवनक्रम में महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए जो हमारे सद्गुणों को सक्रिय बनायें और भावनात्मक स्तर को ऊँचा उठायें । ऐसे सत्कर्मों की सामाजिक जीवन में भी बड़ी आवश्यकता है क्योंकि श्रेष्ठ कर्मों की परम्परा चल पड़े तो उसका अनुकरण करने की अनेक की सहज इच्छा होगी । जिस प्रकार बुरे कर्म होते देखकर लोगों को वैसा ही करने की इच्छा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार श्रेष्ठ कर्म भी अनेक दर्शकों में वैसा ही उत्साह उत्पन्न करते हैं । समाज, राष्ट्र और विश्व की प्रगति एवं सुख-शान्ति सत्कर्मों पर अवलम्बित है इसलिए लोक-मंगल की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि शुभ कर्मों की परम्परा को अधिकाधिक गतिशील बनाया जाय ।

लोक-मंगल के लिए किए गए रचनात्मक पुण्य प्रयोजन की श्रृंखला में जितनी तीव्रता उत्पन्न होगी उतना ही नव-निर्माण का-धरती पर स्वर्ग अवतरित करने का स्वप्न निकट आता जायगा । इसलिए हम सबका प्रयत्न यह होना चाहिए कि हर व्यक्ति के जीवनक्रम में लोक-मंगल के लिये प्रयत्न, पुरुषार्थ, त्याग और बलिदान करने की मात्रा दिन-दिन बढ़ती चली जाय । इसके लिए हमें योजनाबद्ध रीति से रचनात्मक कार्यक्रमों का अधिकाधिक विस्तार करना चाहिए जिससे जन-साधारण में सृजन के लिए आवश्यक उत्साह उत्पन्न कर सकना सम्भव हो सके । अपनी शतसूत्री योजना इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर बनाई गई है । इनमें से शिक्षा और कला के माध्यम से लोकमानस में परिवर्तन लाने की चर्चा पिछले पृष्ठों पर की जा चुकी है । इसके अतिरिक्त स्थानीय परिस्थितियों को देखते हुए जहाँ जैसा सम्भव ही वहाँ उस प्रकार के रचनात्मक कार्यों के लिये जन-उत्साह जगाया जाना चाहिए और सामूहिक रूप से ऐसे रचनात्मक कार्यों का ढाँचा खड़ा किया जाना चाहिए, जिससे

की परमार्थ भावनाएँ जग सकें और समाज में स्वस्थ परम्पराएँ उभर सकें । यों तो (१) ज्ञान-यज्ञ का विस्तार, (२) सदस्यों का संगठन, (३) अभिनव शिक्षा योजना (४) कला भारती, (५) सत्साहित्य का प्रकाशन, (६) गायत्री यज्ञों में मिले युग सम्मेलन जैसे कार्यक्रमों में ही हम सब को व्यस्त रहना पड़ता है पर अगले ही दिनों इन रचनात्मक और संघर्षात्मक कार्यक्रमों को भी हाथ में लेना पड़ेगा सो उनकी रूपरेखा भी ध्यान में रखी जानी चाहिए ।

समाज का पिछड़ापन दूर करने के लिए हममें से हर व्यक्ति को अपनी योग्यता, क्षमता और परिस्थिति के अनुरूप कुछ न कुछ प्रयत्न करने चाहिए । देश सभी का है, उसके उत्थान-पतन में सभी को लाभ-हानि हैं । हर नागरिक पर देशभक्ति की पवित्र जिम्मेदारियाँ हैं और उन्हें अपना निजी काम छोड़कर भी पूरा किया जाना चाहिए । सरकार के भरोसे सब बात छोड़ बैठने से काम न चलेगा । हम सभी को अपने इस परम पवित्र कर्त्तव्य का ध्यान रखना चाहिए कि अपने देश का पिछड़ापन दूर करने के लिए हम कुछ न कुछ रचनात्मक कार्य करने के लिए अपने समय, श्रम एवं धन का एक अंश लगाया करें । विभिन्न परिस्थितियों और योग्यताओं के व्यक्ति विभिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्य अपने ढंग से कर सकते हैं । उनकी विस्तृत चर्चा 'शतसूत्री योजना' में प्रस्तुत की गई है, उनमें से ही कुछ की चर्चा नीचे की पंक्तियों में की जा रही है ।

अपने देश में शिक्षा २० प्रतिशत है, ८० फीसदी बिना पढ़े हैं । प्रगति के लिए शिक्षा अति आवश्यक है । इसलिए निरक्षरता को दूर भगाया जाना चाहिए । सरकारी स्कूल, कॉलेजों में आधे चौथाई अल्पवयस्क बालकों के पढ़ाने का ही इन्तजाम है, शेष बालकों तथा वर्तमान प्रौढ़ों और महिलाओं की साक्षरता भी आवश्यक है । इन्हीं तीस वर्षों में संसार के भविष्य का निर्माण होना है, इसलिए वर्तमान निरक्षरों की उपेक्षा इस आशा पर नहीं की जा सकती कि स्कूलों में पढ़ने वाले लड़के बड़े होकर सब कार्य सँभाल लेंगे । प्रौढ़ शिक्षा की जनस्तर पर व्यापक व्यवस्था बनानी पड़ेगी । इसके लिए शिक्षित लोग विद्या-ऋण चुकाने के लिए जगह-जगह प्रौढ़-पाठशालाएँ, रात्रि-पाठशालाएँ खोलें, जिनमें दिनभर व्यस्त रहने वाले लोग अवकाश के समय शिक्षा प्राप्त कर सकें । महिलाओं के लिए दिन के तीसरी पहर की पाठशालाएँ चलें । किसान मजदूरों के बच्चे जो दिन भर काम में लगे रहते हैं, रात्रि-पाठशालाओं में ही पढ़ सकते हैं । सेवा-भावी शिक्षित व्यक्ति ऐसी पाठशालाएँ आसानी से चला सकते हैं ।

बेकारी दूर करने के लिए कुटीर उद्योगों का शिक्षण, प्रचलन और उत्पन्न माल को खपाने वाले यन्त्र खड़े किये जाना चाहिए । जापान ने कुटीर उद्योगों को बिजली से चलाने की व्यवस्था बनाकर बड़े कारखानों से अधिक सस्ता उत्पादन किया है और हर नागरिक को काम दिया है । हमें भी इस प्रकार के प्रयत्न करने चाहिए कि उद्योगशालाएँ एवं संगठित उत्पादन विक्रय व्यवस्था बनानी चाहिए ताकि शिक्षितों और अशिक्षितों की बेकारी दूर हो और आर्थिक स्थिति सुधरे ।

अन्न, शाक, फल, दूध एवं पुष्प अपने देश में पहले सभी कम उत्पन्न होते हैं । पौष्टिक खाद्य मिलने की समस्या जटिल होते जाने से दिन-दिन दुर्बलता, अस्वस्थता बढ़ रही है । इसके लिए घरों में शाक-वाटिका लगाने, फूल उगाने का आम रिवाज चलाया जाय । फूलों के बदले शाक लगाये जायें, कृषि में अधिक श्रम, साधन लगाकर अधिक अन्न उत्पादन पर ध्यान दिया जाये, खाली जगहों पर जलाऊ लकड़ी के वृक्ष लगाये जायें और गोबर जैसे बहुमूल्य खाद को ईंधन बनने से बचाया जाय । किसानों को शाक उत्पादन के लाभ तथा उपाय बताये जायें । जूठन न छोड़ने, बड़ी दावतें न करने तथा सप्ताह में एक समय आहार न करने की परिपाटी चलाकर भी खाद्य-समस्या सुलझाई जा सकती है और विदेशों से अन्न मँगाने की लज्जा से बचा जा सकता है ।

स्वास्थ्य संरक्षण एवं मनोबल बढ़ाने के लिए गाँव-गाँव में व्यायामशालाएँ खुलनी चाहिए । कसरत, ड्रिल, खेलकूद के साथ-साथ लाठी, तलवार, बन्दूक आदि चलाना सिखाने की भी व्यवस्था उनमें रहे । स्वास्थ्य गोष्ठियाँ तथा प्राकृतिक जीवन एवं प्राकृतिक चिकित्सा का प्रबन्ध भी इन स्वास्थ्य केन्द्रों में रहा करे । खेलकूद प्रतियोगिताएँ तथा अच्छे स्वास्थ्य वालों को पुरस्कार देने के सार्वजनिक आयोजनों की योजनाएँ बनाई जायें ।

लोकशिक्षण के लिए सभा, सम्मेलन, विचार-विनिमय, कथा-प्रवचन आदि की व्यवस्थाएँ समय-समय पर होती रहें । वाद-विवाद प्रतियोगिताएँ, कविता-सम्मेलन, संगीत-सम्मेलन आदि के द्वारा विचारोत्तेजक साधन जुटाये जायें । भारतीय समाज के पर्व और त्यौहार इस दृष्टि से बहुत ही उपयोगी तथा प्रेरणाप्रद हैं । सोलह संस्कारों के माध्यम से परिवारों का शिक्षण हो सकता है । अपनी सत्यनारायण कथा इस दृष्टि से बहुत सारगर्भित है । विवाह दिन और जन्म दिन मनाने के लिए रिवाज चल पड़े, तो जीवनोद्देश्य की पूर्ति तथा पारिवारिक जीवन की सफलता के लिए लोगों को निरन्तर स्वच्छ मार्गदर्शन मिलता रहे । उपरोक्त प्रकार या अन्य प्रकार के जन-सम्मेलनों के आयोजनों की इन दिनों भारी आवश्यकता है, जो विचार-क्रान्ति की आवश्यकता पूर्ण कर सकने में समर्थ हों । गायत्री यज्ञों के साथ जुड़े हुए युग-निर्माण सम्मेलन उसी शृंखला में जोड़े जा सकते हैं । सत्कर्म करने वाले आदर्शवादियों का सार्वजनिक अभिनन्दन तथा महापुरुषों की जयन्तियाँ मनाने की बात भी उसी क्षेत्र में आती है ।

सेवादलों का संगठन कई उद्देश्यों से आवश्यक है । बढ़ती हुई गुण्डागर्दी से निबटने और सुरक्षा की भावना उत्पन्न करने के लिए साहसी युवकों का संगठित दल बहुत काम कर सकता है । गन्दगी की अपनी आदत ने गाँव

नगरों को बुरी तरह अस्वस्थ बना रखा है । यह सेवा दल लोगों को साथ लेकर सफाई अभियान चलायें । स्वच्छता के महत्त्व समझायें और गन्दगी फैलाने वालों को रोकें । सामूहिक श्रमदान संगठित करके ग्राम, नगरों में रास्ते एवं तालाब साफ रखने, कुएँ, स्कूल आदि बनाने का बहुत काम बिना कुछ खर्च के ही हो सकता है । सहकारी भण्डारों द्वारा उपयोग की वस्तुएँ सस्ती और सही मिल सकती हैं । इस तरह की सत्प्रवृत्तियों का संचालन करने के लिए सेवाभावी सज्जनों के संगठित प्रयासों की सर्वत्र बड़ी आवश्यकता है, इनकी पूर्ति की जाय । स्वच्छता अभियान, सुरक्षा दल, सहकारी समितियाँ, सेवा समितियाँ आदि कितने ही सहयोगात्मक कार्य हर जगह चल सकते हैं ।

पुस्तकालयों, वाचनालयों की इस देश में भारी आवश्यकता है । इन्हें सच्चे देव मन्दिर या ज्ञान मन्दिर कहना चाहिए । कूड़े-कबाड़े की तरह आज छपता-बिकता तो बहुत साहित्य है पर व्यक्ति तथा समाज निर्माण करने वाला साहित्य ढूँढ़े नहीं मिलता न उसके पढ़ने की लोगों में रुचि ही है जबकि इसी साहित्य के प्रचार एवं अवगाहन पर समाज का भविष्य निर्भर है । गरीब देश के लोग अभी बौद्धिक भूख बुझा सकने योग्य साहित्य खरीद भी नहीं सकते । यह भारी आवश्यकताएँ ऐसे पुस्तकालय पूरी कर सकते हैं जिनमें केवल प्रेरणाप्रद चुनी हुई पुस्तकें ही रहने का नियम हो, घर-घर पुस्तकें पहुँचाने तथा वापस लाने का प्रबन्ध हो, जहाँ अशिक्षितों को सुनाने की भी व्यवस्था हो । ऐसे पुस्तकालयों की शृंखला गली-गली, गाँव-गाँव फैलाई जाने की आवश्यकता है ।

ऊपर केवल थोड़े से रचनात्मक कार्यक्रमों की चर्चा की गई है । ऐसे १०८ कार्यक्रम अपनी शत-सूत्री योजना के अन्तर्गत आते हैं । उनमें से जहाँ जैसी सुविधा हो, वहाँ उस स्तर के कार्यक्रम आरम्भ किये जाने चाहिए, ताकि लोगों को उन सत्प्रवृत्तियों का महत्त्व समझने और अपनाने का अवसर मिले । ध्वंस सरल है, निर्माण कठिन । स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना सरल था । अब केवल आलोचना, निन्दा से कुछ काम न चलेगा । देश की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए हमारा ध्यान रचनात्मक कार्यक्रमों की ओर जाना चाहिए और उन्हें पूरे उत्साह, साहस तथा त्याग-बलिदान की भावना से चलाया जाना चाहिए ।

ज्ञान-यज्ञ इस युग का महानतम अभियान

मनुष्य की मूल शक्ति विचारणा है । उसी के आधार पर इतनी प्रगति कर सकना उसके लिए सम्भव हुआ है । विचारों की उत्कृष्टता और निकृष्टता ही उसे ऊँचा उठाती एवं नीचा गिराती है । समस्याएँ विचारों की विकृति से उत्पन्न होती हैं और उनका समाधान दृष्टिकोण बदलने से निकलता है । हम जो कुछ भले-बुरे काम होते देखते हैं उन्हें विचार-पद्धति की प्रतिक्रिया मात्र कहा जा सकता है । हम रोज ही देखते हैं कि एक प्रकार के विचार एक को देवता बनाते हैं और दूसरे प्रकार के विचार दूसरे को दानव की पंक्ति में लाकर खड़ा कर देते हैं । सचमुच जो जैसा सोचता है, वह वैसा ही बनकर रहता है । सोचने की दिशा में ही क्रिया बनती है और उसी की परिणति परिस्थितियों के रूप में सामने आती है । परिस्थितियों का अपने आप में कोई स्वतन्त्र आधार नहीं है । ये हमारे कर्तृत्व का परिणाम मात्र हैं । इसी प्रकार कर्तृत्व भी अपने आप नहीं बन जाता है, विचारों की प्रेरणा ही हमारी कार्य पद्धति के लिये पूरी तरह उत्तरदायी होती है । इस तथ्य को समझ लेने पर ही आज की मानवीय समस्याओं का कारण और निवारण ठीक तरह समझा जा सकता है ।

खेद है कि अब तक इस प्रकार का चिन्तन नहीं के बराबर हुआ है जो हुआ है उसको महत्त्व नहीं दिया गया । हमारे मूर्धन्य व्यक्ति इतनाभर सोचते रहे हैं कि शासनतन्त्र के माध्यम से सुविधा-साधन बढ़ा देने से मनुष्य सुखी रहने लगेगा और अपनी उलझनें सुलझा लेगा । पर देखते हैं कि वह मान्यताएँ गलत सिद्ध होती चली जा रही हैं । शासन तन्त्र को सुधारने के लिये जितने हाथ-पैर पीटे जाते हैं उतनी ही उससे विकृतियाँ उत्पन्न होती चल रही हैं । अर्थ-तन्त्र से निःसन्देह कई प्रकार की सुविधाएँ उत्पन्न की हैं पर परिणाम उलटा ही हो रहा है । बढ़े हुए धन का दुरुपयोग बढ़ रहा है और उससे अपराधों, रोगों की एवं विद्वेषभरी घटनाएँ तीव्र होती चल रही हैं । विलासिता की बढ़ती हुई आकांक्षा के सामने बढ़ी हुई आजीविका निरन्तर छोटी पड़ती चली जा रही है और व्यक्ति अपने आपको अधिक दरिद्र, अधिक अभावग्रस्त, अधिक दुःखी अनुभव कर रहा है । विज्ञान, शिक्षा, चिकित्सा, शिल्प, कला, परिवहन, यातायात, उद्योग, मनोरंजन, अस्त्र-शस्त्र सभी साधन बढ़ रहे हैं, पर इसके फलस्वरूप व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक स्वस्थता में रत्ती भर भी योगदान नहीं मिला है वरन् विकृति ही बढ़ी है । इसी प्रकार कानून का ढाँचा बढ़ाने-सुरक्षा व्यवस्था बनाने-आदि के लिए जो प्रयत्न किये जा रहे हैं वे भी समाजगत सद्भावना, संगठन, सुव्यवस्था, समर्थता एवं प्रगति में सहायक सिद्ध नहीं हो रहे हैं । बाहर से कलेवर लम्बे-चौड़े खड़े किये गये देखते हैं पर भीतर पोल ही पोल मिलती है । तथाकथित प्रगति की जड़ें बिलकुल खोखली हैं, किसी भी धक्के में वह लड़खड़ा सकती हैं ।

स्थायी प्रगति और सुदृढ़ समर्थता के लिए चरित्र बल होना चाहिए और वह उत्कृष्ट विचारणा की भूमि पर ही उग सकता है । ऐसी कृति न किये जाने के लिए अपना नेतृत्व और चिन्तन समान रूप से दोषी है । दोनों ने ही तथ्य की उपेक्षा की और ऐसे ही लुभावने क्रिया-कलाप, एवं ढाँचे खड़े करके वह प्रवंचना सँजो ली । दौड़-धूप बहुत हुई पर बालू में से तेल निकालने की तरह कुछ हाथ न लगा । तथ्यों का तकाजा था कि मानव समाज के

सम्मुख उपस्थित सर्वतोमुखी, सर्वभक्षी संकट को देखा, समझा जाय और विनाश की दिशा में तेजी से बढ़ते हुए कदमों को रोकने के लिए कुछ ठोस प्रयास किया जाय ।

समय की पुकार और युग की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए युग निर्माण योजना अपने ढंग की अनोखी नीति-नीति कार्य पद्धति लेकर सामने आई और प्रसन्नता की बात है कि उसका हर क्षेत्र में स्वागत हुआ है । योजना के ज्ञान-यज्ञ अभियान ने एक चमत्कार ही प्रस्तुत किया है । व्यक्ति और समाज की समस्याओं का मूल कारण समझाने की दिशा में जो प्रयत्न हुए हैं, जो समाधान प्रस्तुत किये गये हैं उन्हें आरम्भ में ही उपहासास्पद बताया गया है, अब जबकि गहराई से विचार किया गया है और तथ्यों को ठीक तरह समझा गया है तो वास्तविकता सामने आ गई है । लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि विचार-पद्धति में विकृति आने से ही अधःपतन के अगणित आधार उत्पन्न हुए हैं । अभाव, दारिद्र, शोक-संताप, विग्रह, विद्वेष की विभीषिकाएँ विकटतम होती चली जा रही हैं । कारण को ढूँढ़ने और निवारण करने के लिए जब ध्यान ही नहीं दिया गया-प्रयत्न ही नहीं किया गया तो सुख-शान्ति और प्रगति-समृद्धि के स्वप्न सार्थक कैसे होते ?

आज व्यक्ति को अनेक व्यथा-वेदनाओं में डूबा हुआ और समाज की अनेक समस्याओं में उलझा हुआ पाते हैं । सर्वत्र अशान्ति, आशंका और असन्तोष का जो वातावरण देखते हैं, उनके पीछे एक ही कारण है-मानवीय दुर्बुद्धि का बढ़ जाना और उसका दुष्प्रवृत्तियों की ओर मुड़ जाना । यदि यह प्रवाह रोका जा सके, लोगों को उच्च आदर्शवादिता की रीति-नीति समझाने के लिए तैयार किया जा सके, तो परिस्थितियाँ बिल्कुल उलट सकती हैं । जो क्षमता आज विघटनात्मक-अनीतिमूलक क्रिया-कलापों में लगी है, वे यदि उलटकर सृजनात्मक और सद्भाव संवर्द्धन में लग जायें तो देखते-देखते जादू की तरह सारी परिस्थितियों का काया-कल्प हो सकता है । वर्तमान नारकीय वातावरण देखते-देखते स्वर्गीय सुषमा में बदल सकता है ।

धन-सम्पदा और साधन-सुविधाएँ बढ़ाकर मानवीय सुख-शान्ति बढ़ाने के प्रयत्नों में दूसरे लगे हुए हैं वह सराहनीय है पर हमें सोचना यह है कि दुर्बुद्धि का वर्तमान क्रम यदि इसी तरह चलता रहा तो कुबेर की तरह सम्पत्ति और इन्द्र की तरह साधन बढ़ जाने पर भी दुर्बुद्धि के रहते विपत्तियाँ ही बढ़ेंगी । सद्बुद्धि ही अभावग्रस्त जीवन को भी सुख-शान्ति से भरपूर रख सकती है । इसलिए इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर दूसरों का ध्यान नहीं है, उसे अपने हाथ में लेना चाहिए और दुर्बुद्धि के उन्मूलन एवं सद्बुद्धि के संस्थापन में प्राणपण से जुट जाना चाहिए । यह प्रयास आँखों से दिखाई न पड़ने के कारण सस्ती वाह-वाही भले ही न दिला सके, पर अपनी उपयोगिता के कारण उसका महत्व इतना बड़ा है कि उसके ऊपर पुण्य परमार्थ कहे जाने वाले समस्त कार्यों को निछावर किया जा सकता है ।

युग-निर्माण योजना का 'ज्ञान-यज्ञ अभियान' इतिहास में उपलब्ध अब तक के सबसे महान्, सृजनात्मक कार्यों में से एक ही है । इसकी कार्य-पद्धति यह है कि घर-घर, जन-जन से संपर्क स्थापित कर व्यक्ति और समाज के सामने प्रस्तुत अगणित समस्याओं का स्वस्थ और सही समाधान समझाया जाय । हजार वर्ष की गुलामी के बाद भारतीय जनता की विचार-पद्धति में बड़ी विकृति आई है और उसमें से अधिकांश मान्यताएँ निरर्थक ही नहीं अनर्थ मूलक भी बन गई हैं पर लोग उन्हें परम्परा मान के छाती से चिपकाये बैठे हैं और तरह-तरह के कष्ट सहते हैं । ज्ञान-यज्ञ का प्रयोजन व्यक्ति की विवेकशीलता का जाग्रत करता है जो उचित-अनुचित का भेद समझ सके और जो अवांछनीय है उसे हटाने तथा औचित्य को स्वीकार करने का साहस जगा सके ।

औचित्य, न्याय और विवेक से सम्पुटित एक प्रगतिशील विचारधारा का सृजन युग-निर्माण योजना द्वारा किया गया है । अत्यन्त प्रखर प्रकाश से परिपूर्ण व्यक्ति और समाज की हर समस्या का महत्त्वपूर्ण हल प्रस्तुत करने वाला अत्यन्त सस्ता साहित्य प्रचुर मात्रा में प्रकाशित किया जाता है । ज्ञान-यज्ञ का एक भाग यह सृजन है जिसे केन्द्र द्वारा देश की हर भाषा में प्रचुर परिमाण में लिखा और छापा जा रहा है । दूसरा भाग उसका प्रसार है । भावनात्मक नव-निर्माण का महत्त्व समझने वाले हर विचारशील व्यक्ति को इसके लिए आमंत्रित किया गया है । प्रसन्नता की बात है कि ऐसे परमार्थ-प्रेमियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जा रही है और वे अपने समय तथा साधनों का एक अंश नियमित रूप से लगाने लगे हैं कि घर-घर जाकर जन-जन से सम्पर्क स्थापित करें और उनकी मनोभूमि तथा आवश्यकता को देखते हुए नव-निर्माण का वह सृजनात्मक साहित्य पढ़ने को दें जो छोटे-छोटे ट्रैक्टों, विज्ञप्तियों एवं अखण्ड-ज्योति, युग-निर्माण पत्रिकाओं के रूप में उपलब्ध हैं । जो पढ़े नहीं हैं, उन्हें सुनाने का कार्य करना होता है । चूँकि देश मे ८० प्रतिशत लोग अशिक्षित हैं, इसलिए सुनाना भी इस देश में पढ़ाने से भी अधिक आवश्यक है ।

ज्ञान-यज्ञ के होता उद्गाता वे लोग हैं जिन्होंने जन-मानस में विचार परिष्कार के सर्वोपरि परमार्थ का महत्व समझ लिया है और उसके लिए कुछ अनुदान, नियमित रूप से देते रहने का व्रत धारण कर लिया है । ऐसा अनुदान न्यूनतम एक घण्टा समय और दस पैसा नित्य का होना चाहिए । बीस पैसा देने में नियमितता बनी रहे और उसे एक दैनिक अनिवार्य नित्यकर्म की तरह स्मरण रखा जा सके इसके लिए ज्ञान-यज्ञ के धर्मघट (गुल्लकें) पैसे जमा करने के लिए बना दी गई हैं । इन्हें पूजा की वेदी पर स्थापित करना होता है और दस पैसे नित्य उसमें डालने पड़ते हैं । ताला-कुञ्जी उसमें रहने से महीने पर या जब आवश्यक

पड़े तभी उसे खोला जा सकता है । इन पैसे से वह सारा साहित्य मँगाया जाता रहता है, जो विचार- क्रान्ति, नैतिक-क्रान्ति और समाज-क्रान्ति के लिए युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत मथुरा से निरन्तर प्रस्तुत किया जाता रहता है । इस प्रकार एक घरेलू पुस्तकालय बनता चला जाता है जिसे हर घर को सच्ची सम्पत्ति कहना चाहिए ।

एक घण्टा समय का अनुदान इसलिए है कि बीस पैसा रोज देकर जो साहित्य उपलब्ध किया गया है उसे अपने घर के परिवार के हर सदस्य को नित्य थोड़ा-थोड़ा कर पढ़ाया, सुनाया जाया करे तथा पड़ौसी, मित्र, परिचित, सम्बन्धी जो भी अपने प्रभाव तथा परिचय क्षेत्र में आते हैं, उन्हें इस साहित्य से परिचित कराने, महत्त्व-माहात्म्य समझाने, रुचि उत्पन्न करने और पढ़ाने के लिए बार-बार सम्पर्क स्थापित किया जाता रहे । जिनमें थोड़ी सी-भी विचारशीलता है उनके साथ किया हुआ परिश्रम सफल भी होता है । जो लोग यह पढ़ने-सुनने में रुचि लेने लगते हैं उनमें से अधिकांश को इस प्रखर विचारधारा से प्रभावित होना पड़ता है और वे उस प्रकाश को जीवन में उतारने तथा अपने सम्पर्क क्षेत्र में फैलाने का साहस भी करते हैं । उस प्रकार भावनात्मक नव-निर्माण की विचार-क्रान्ति की यह पुण्य-प्रक्रिया दिन-दिन आगे बढ़ती चली जाती है ।

एक घण्टा समय और बीस पैसा नित्य ज्ञान-यज्ञ के लिए नियमित रूप से देने का व्रत लेने वाले भावनाशील लोगों को युग-निर्माण योजना का सदस्य माना जाता है और उन्हीं का संगठन इस प्रकार अभियान के अतिरिक्त शतसूत्री रचनात्मक एवं संघर्षात्मक कार्यक्रमों को हाथ में लेकर भावनात्मक नव-निर्माण के पुण्य-प्रयोजन को आगे बढ़ाता है । हर सदस्य को कम से कम दस व्यक्तियों तक इस विचारधारा के प्रसार का प्रयत्न करना पड़ता है । इसलिए कि दस हजार कर्मठ सदस्य एक लाख को निरन्तर प्रभावित, प्रोत्साहित करते रह सकते हैं । यह प्रक्रिया चक्रवृद्धि ब्याज के क्रम से बढ़ती हुई चार-पाँच छलाँगों में भारत को ही नहीं सारे विश्व को अपने प्रभाव क्षेत्र में ले सकती है, ले भी रही है ।

झोला पुस्तकालय ज्ञान-यज्ञ का महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम है । जहाँ-कहीं भी जाया जाय, एक झोले में युग-निर्माण के ट्रैक्ट, पत्रिकाएँ और विज्ञप्तियाँ लेकर जाया जाय, और जहाँ उपयुक्त अवसर जान पड़े वहीं अपने मिशन की चर्चा छेड़ दी जाय । जितना परिचय साहित्य के माध्यम से कराया जा सकता हो कराया जाय । लोगों के घरों पर जाकर पुस्तकें देना और फिर जाकर वापस लाना ऐसा क्रम है, जिससे किसी को भी प्रभावित और आकर्षित किया जा सकता है । झोला पुस्तकालय अपने नगर में सारे शिक्षित समाज को इस विचारधारा से परिचित और प्रभावित कर सकता है । इतना ही नहीं वह रेल मोटर के सफर, प्रवास या जहाँ भी जाया जाय साथ रह सकता है, और इन चिनगारियों को कहीं भी बिखेरता रह सकता है । ये अवसर पाकर कहीं भी अनीति एवं अविवेक का उन्मूलन करने में प्रचण्ड दावानल की भूमिका सम्पादित कर सकती हैं । जहाँ सम्भव हो चल पुस्तकालय धकेल गाड़ी के रूप में चलाया जा सकता है । उनके द्वारा लोगों को पढ़ाने की यह चीजें दी जाती रहें और जिन्हें पसन्द आयें उन्हें बेची भी जा सकती हैं । इस तरह उस कार्य में लगे व्यक्ति को थोड़ी आजीविका भी मिल सकती है और वह इस अति उपयोगी कार्य में लगा रह सकता है । सेवाभावी लोग अवैतनिक रूप में भी यह चल पुस्तकालय चलाने में अपना योगदान दे सकते हैं ।

ज्ञान-यज्ञ देखने-सुनने में छोटी बात लगती है, पर उसकी सम्भावनाएँ उतनी विशाल हैं कि यदि ठीक तरह इस अभियान को चलाया जा सका तो विश्वास है कि लोक-मानस में विवेकशीलता और सत्प्रवृत्तियों की गहरी स्थापना सम्भव हो सकेगी और नये युग के अवतरण का स्वप्न साकार किया जा सकेगा ।

युग-निर्माण योजना ने ज्ञान-यज्ञ अभियान के अन्तर्गत जन-मानस को झकझोर कर रख दिया है । उसने विचार करने के नये आधार और समस्याओं के नये समाधान प्रस्तुत किये हैं, जिनमें सोचने की क्षमता थी उन्होंने समझा है कि वास्तविकता यही है और यदि अपकर्ष का अन्त और उत्कर्ष का आरम्भ होना है तो इसी प्रकार होगा जैसा कि सुझाया जा रहा है । 'जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले' वाली उक्ति अपने आन्दोलन के सम्बन्ध में अक्षरशः लागू होती है । कुछ वर्ष पूर्व जहाँ हमारे प्रयत्नों का मूल्य समझने वालों की संख्या सैकड़ों हजारों तक सीमित थी वहाँ इन्हीं दिनों लाख तक पहुँची है और करोड़ों तक पहुँचने जा रही है । मात्र विचारों की प्रशंसा ही नहीं हुई उसका समर्थन भी जोरों से हुआ है और समर्थन भी नपुंसक नहीं रहा वरन् उसमें सक्रियता इतनी मात्रा में उत्पन्न हो गई कि कार्यकर्त्ताओं और सहयोगियों की एक बड़ी शृंखला कार्यक्षेत्र में उतरती चली आ रही है । अब अपना ज्ञान-यज्ञ मात्र प्रचार तन्त्र नहीं रहा वरन् एक समर्थ आन्दोलन के रूप में अपनी जड़ जमा ली है और लगता है कि जिन दिनों सर्वत्र ध्वंस की प्रक्रिया चल रही है उन्हीं दिनों सृजन के रचनात्मक आधार लेकर उस नव-निर्माण का क्रम भी अनुगामी होता चला आ रहा है । आश्चर्य नहीं वह अगले दिनों इतना प्रबल हो जाय कि ध्वंस की उद्दण्डता सृजन की सार्थकता के आगे ठहर न सके । यह भी सम्भव है कि लोग ध्वंस की अनुपयोगिता जाने और सृजन के लिए पूरी शक्ति के साथ जुट पड़ें । ऐसी सम्भावनाएँ दिन-दिन अधिक उज्ज्वल और प्रखर होती चली आ रही हैं यह देखकर किसे सन्तोष न होगा ।

समय की पुकार है कि इन प्रयासों में और अधिक तीव्रता लाई जाय । युग की माँग है कि जिन्हें मनुष्यता से प्यार हो वे नव-निर्माण के प्रयत्नों का ईश्वर की पूजा से अधिक महत्त्व मानें । धर्म, दर्शन और अध्यात्म की चुनौती है कि जिनमें इस उत्कृष्टता की प्रकाश-किरणें सचमुच

विद्यमान हों वे युग परिवर्तन के लिए धरती पर देवत्व का अवतरण सम्भव करने के लिए अन्यमनस्क होकर चिन्ह पूजा करते हुए नहीं भगीरथ प्रयत्नों में जुटे हुए दिखाई पड़ें। साहस, कर्त्तव्य और पुरुषार्थ की कसौटी आज इस रूप में सामने आई है कि हम बढ़-चढ़कर ऐसे त्याग, बलिदान का परिचय दें जिससे मानवीय आदर्शों का पुनरुत्थान सम्भव हो सके।

ज्ञान-यज्ञ और उसकी महान सम्भावनाएँ

ज्ञान के अन्तर्गत 'एक से दस' का विकासक्रम चलाने के जो प्रबल प्रयत्न हो रहे हैं, वे कुछ ही समय में अपना आश्चर्यजनक स्वरूप प्रकट करने लगेंगे। एक घण्टा समय देने की जो प्रतिज्ञा युग-निर्माण योजना के सदस्य करते हैं उसका उपयोग इसी प्रकार करते हैं कि यह महान् आलोक अपने तक ही सीमित न रहकर सुदूर क्षेत्रों तक फैले। योजना के अन्तर्गत जो पुस्तकें तथा ट्रैक्टमालाएँ छापी गई हैं उन्हें स्वयं पढ़ने, अपने परिवार को पढ़ाने तथा पड़ोसी, परिचितों तक पहुँचाने में लगने वाला यह समय इतना परिणाम तो प्रस्तुत कर ही देता है कि अपनी ही भाँति कम से कम दस अन्य व्यक्ति भी लाभ उठा सकें और वे भी उसी तरह प्रभावित हो सकें। यों लगनशील व्यक्ति अपनी कसक, संवेदना और प्रेरणा सैकड़ों-हजारों तक पहुँचा सकता है पर न्यूनतम इतना तो हर सदस्य कर लेता है कि उसके साहित्य द्वारा न्यूनतम दस व्यक्ति तो लाभान्वित हो ही सकें।

निस्सन्देह यह प्रखर विचारधारा जिन्हें नियमित रूप से पढ़ने-सुनने को मिलेगी वे इससे प्रभावित हुए बिना न रह सकेंगे। इसमें बहुत जीवन-बहुत प्राण-बहुत तथ्य बहुत प्रकाश और बहुत प्रेरणा भरी पड़ी है। जिस मनःस्थिति में यह सब लिखा जाता है वह उतना घटिया नहीं है कि पढ़ने या सुनने वाला उपेक्षापूर्वक ऐसे ही इसे टाल दे और कोई प्रभाव ग्रहण न करे। अब तक का निष्कर्ष यही है कि युग-निर्माण में जिसे रस आया वह उसी रंग से रंग गया। भावनापूर्वक जन-सम्पर्क बनाने और बार-बार इस साहित्य को देने तथा वापस लेने का प्रभाव आसान जान पड़ता है। इस व्यक्तिगत सौजन्य को भी लोग भुला नहीं सकते। साहित्य की प्रखरता और प्रचारक की सज्जनता दोनों मिलकर इतना प्रभाव डालते हैं कि पढ़ने वाला आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता। अन्यमनस्क से जाना और बेगार की तरह किसी पर किताब फेंककर चले आने की बात दूसरी है, उसकी उपेक्षा भी हो सकती है, पर सच्ची लगन और गहरी आस्था को निष्फल जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। एक घण्टा समय ज्ञान यज्ञ के लिए नियमित रूप से लगाये जाने का परिणाम इतना तो होता ही है कि वर्ष में दस व्यक्ति ऐसे तैयार हो जायँ जो उस साहित्य और कार्य-पद्धति में अपने ही समान रस लेने लगें। एक बीज जब सैकड़ों, हजारों दाने उत्पन्न सकता है तो कोई कारण नहीं कि एक लगनशील व्य अपने समान दस नये व्यक्ति पैदा न कर सके।

एक वेश्या अपने जीवन में सैकड़ों, हजारों दुराचा तैयार कर देती है। एक शराब का दुकानदार सैकड़ों नये नशेबाज उत्पन्न कर लेता है। जुआरियों के संपर्क में कितने नये लोग जुआरी बन जाते हैं। बुरी बातें जब इतनी फैल सकती हैं तो अच्छी बातें फैलने में क्यों असफलता मिलेगी? प्रश्न केवल लगन का है। जिस रंग में व्यक्ति स्वयं रँगा होता है उसमें दूसरों को भी रंग लेता है। हाँ स्वयं ही रँगा हुआ न हो ऐसे ही चिन्ह-पूजा जैसी बनावट बनाता हो तो बात दूसरी है। अच्छाई में बुराई की अपेक्षा हजार गुनी शक्ति अधिक होती है इसलिए अच्छाई को बुराई की अपेक्षा सफलता भी हजार गुनी अधिक मिलनी चाहिए। मिलती भी है। न मिलती तो बुद्ध, गाँधी, महावीर, नानक, विवेकानन्द, तिलक, मालवीय, दयानन्द आदि को अपने ही जैसे असंख्य साथी अनुयायी कहाँ से मिल गये? आज से पचास वर्ष पूर्व जब चाय का नाम भी लोग नहीं जानते थे, प्रचार करने वालों ने घर-घर जाकर मुफ्त में चाय पिलाई और एक-एक पैसे के पैकिट बेचे। उसी पुरुषार्थ भी प्रचार का फल है कि आज निपट देहाती भी गली-कूचों में चाय की दुकान मिलेगी और हर व्यक्ति को चाय की जरूरत लगेगी। इसी स्तर पर यदि विचार-क्रान्ति की चिनगारियाँ बिखेरी जायँ तो कोई कारण नहीं कि उसकी ज्वाला दसों-दिशाओं में फूटती दिखाई न पड़े।

अब तक के हुए प्रयत्नों का बारीकी के साथ सिंहावलोकन करने पर हम सब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'एक के दस' रूप में विकसित होने वाली अपने परिजनों की आस्था में बहुत दम है और वह सफलता बहुत ही आसानी से मिलती रह सकती है। एक लगनशील व्यक्ति दस नये व्यक्ति तैयार न कर दे, इसका कोई कारण नहीं। जिसने भी इस प्रकार का संकल्प किया है उसे शत-प्रतिशत सफलता मिलकर रही है। यदि ऐसा न होता तो कुछ वर्ष पूर्व अपना छोटा-सा परिवार जो सैकड़ों हजारों की संख्या में सीमाबद्ध था आज लाखों की परिधि कैसे लाँघने लगता और हम नव-निर्माण के-धरती पर स्वर्ग अवतरित होने के-मनुष्य में देवत्व उदय होने के-सपनों का साकार होना कैसे देख पाते?

एक से दस वाला क्रम चार-पाँच छलाँगों में समस्त संसार को अपने प्रभाव-प्रकाश से आच्छादित कर सकता है। यह न तो कल्पना है और न असम्भव अत्युक्ति। इसके पीछे ठोस तर्क तथा तथ्य काम करता है। हममें से प्रत्येक सदस्य ने प्रतिज्ञा की कि हर दस नये व्यक्ति अपने रंग में रँगकर रहेगा और उन्हें सदस्य बनाकर छोड़ेगा, तो उसका सच्चा संकल्प निश्चित रूप से सफल होकर रहेगा और इसमें एक वर्ष से अधिक का समय भी नहीं लगेगा। यह कोई असम्भव कल्पना नहीं वरन् नितान्त सरल, स्वाभाविक और सम्भव है। लगनशील व्यक्तियों ने संसार

में न जाने क्या किया है । फिर इतनी तनिक-सी सफलता प्राप्त कर लेना किसके लिए क्यों कठिन पड़ेगा । यह क्रम चल भी रहा है इसलिए उसके न चलने में कोई विशेष कठिनाई भी दिखाई नहीं पड़ती ।

मान लीजिये अभी हम लोग केवल एक लाख सदस्य हैं । 'एक से दस' का क्रम अपनाकर दूसरे वर्ष सहज ही १० लाख हो सकते हैं । तीसरे वर्ष १० लाख व १० गुने होकर एक करोड़ हो जायेंगे । चौथे वर्ष उनकी १० गुनी संख्या १०० करोड़–एक अरब होगी । संसार में कुल मिलाकर ६ अरब के करीब आबादी इन दिनों है । उनमें से वयस्क और समर्थ ३ अरब ही हैं । छोटे बच्चे, वृद्ध, रोगी, असमर्थ और अशिक्षित मिलाकर ३ अरब हो जाते हैं । उन तक अपनी विचारधारा अभी न पहुँच सकेगी । जिन समर्थों तक हमें अपनी बात पहुँचानी है उनकी संख्या २–३ अरब के लगभग ही हो सकती है । इतने लोगों तक यह एक से दस वाला क्रम यदि नियमित रूप से चल पड़े तो चार-पाँच छलाँगों में–चार-पाँच वर्षों में–समस्त संसार के समर्थ लोगों तक प्रकाश पहुँचाया जा सकता है ।

कहने-सुनने में ही यह बात अचम्भे जैसी लगती है वस्तुतः यह न तो कठिन है और न अस्वाभाविक केवल कर्मठता और लगन की जरूरत है । यदि यह तत्व विद्यमान रहे तो हम लोग 'एक से दस' के क्रम पर अधिक बल देते हुए इस विचारधारा को व्यक्ति से व्यक्ति तक पहुँचाने की रीति-नीति अपनाकर देश-व्यापी ही नहीं विश्व-व्यापी क्षेत्र में इन विचारों का आरोपण कर सकते हैं और उनकी लहलहाती हरी-भरी फसल फलती-फूलती देख सकते हैं । ईसाइयों ने कुछ ही वर्षों में एक डेढ़ करोड़ से बढ़कर अपना विस्तार सौ गुना कर लिया और वे एक डेढ़ अरब तक जा पहुँचे तो अपने लिए भी वैसी सम्भावना विद्यमान है । युग-निर्माण की विचारधारा इतनी प्रबल प्रखर और आज की परिस्थितियों के लिए इतनी उपयुक्त है, कि प्रजातन्त्र और संस्कृति को जीवित रखते हुये समस्याओं के सुलझाव प्रस्तुत करने की दृष्टि से उसे अनुपम और अद्वितीय ही कहा जा सकता है ।

प्रजातन्त्र के प्रतिपादनकर्त्ता–रूसो–साम्यवाद के आविष्कर्ता–कार्लमार्क्स के बाद सर्वोदय के उद्‌गाता गाँधी के बाद युग-निर्माण की विचारधारा और कार्यपद्धति ही है जो हर कसौटी पर हर स्तर पर, कसी जा सकती है और आज की परिस्थितियों में उसे सर्वोत्तम कहा जा सकता है । ऐसी प्रखर विचारधारा तथा योजना को सुनने-समझने और अपनाने में यदि आज का बुद्धिजीवी समाज रस लेने लगे तो उसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है । आश्चर्य इतना भर ही है कि अपने समय के व्यक्तियों और प्रवृत्तियों को लोग उपहास, उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं । पर पीछे जब उन्हें सर्वत्र सराहा, अपनाया जाता है तब चेतते हैं । यदि यह जन दुर्बलता न होती तो अपने समय की हर अच्छी बात को लोग सहज ही अपनाते और सराहते पर उस दुर्भाग्य को क्या कहा जाय जो किसी बात का महत्त्व तभी स्वीकार करने देती है जब वह अपनी विशेषताओं के कारण सफलता के समीप जा पहुँचती है ।

हम एक से दस का क्रम निष्ठापूर्वक चलाते रहें और उसमें एक घण्टा रोज का समय नियमित रूप से लगाते रहें तो इसकी प्रतिक्रिया इतनी बड़ी होगी कि हम स्वयं आश्चर्यचकित रह जायँ और सारे विश्व को स्तम्भित रह जाना पड़े । इस छोटी बात का महत्त्व हमें गहराई से समझना चाहिए और उस पर पूरा बल देना चाहिए । स्वयं भी इस प्रयत्न में रहें और अपना सहयोग देकर ऐसी ही प्रक्रिया अपनाने के लिये बाध्य करें । इस प्रकार के प्रयास आज की स्थिति में मानवता की महानतम सेवा के रूप में ही स्मरण किये जाते रहेंगे ।

बीस पैसा रोज निकालने वाले क्रम से इतना साहित्य मँगाया जाता रह सकता है जिसमें अपनी ही नहीं–समीपवर्ती–सम्बन्धित दस अन्य व्यक्तियों की भी भूख बुझाई जाती रह सके । अखण्ड-ज्योति और युग-निर्माण पत्रिकाएँ, ट्रैक्ट माला, विज्ञप्तियाँ आदि इस बीस पैसे से ही इतनी बड़ी मात्रा में आते रह सकते हैं कि एक महीने तक बौद्धिक खुराक का समुचित साधन जुटाया जाता रहे । कहना न होगा कि प्राचीनतम से लेकर अर्वाचीन काल तक के सभी मनीषियों और शास्त्रों के प्रतिपादन का निष्कर्ष प्रस्तुत करने में युग निर्माण योजना के सस्ते साहित्य की तुलना में और कोई सफल नहीं हुआ । इतनी सस्ती, इतनी सुलझी हुई और इतनी प्रखर विचारधारा जो आज की परिस्थितियों में फिट बैठती हो और बुद्धिवाद की कसौटी पर सोलहों आना सही बैठती हो अन्यत्र मिलना कठिन है । छोटा और सस्ता होने से ही उसका महत्त्व कम नहीं हो जाता । यह प्रतिपादन इतना अनूठा है कि आज लोग भले ही उसका महत्त्व न समझें कभी इसे भूरि-भूरि सराहा जायगा और कहा जायगा कि नवयुग के सृजन में इस साहित्य की भूमिका ऐसी रही, जिसे अनुपम के अतिरिक्त और कुछ कहा ही नहीं जा सकेगा ।

बीस पैसा प्रतिदिन निकालकर हम अपने घर में एक बहुमूल्य सम्पदा ही इकट्ठी करते हैं । इसे किसी भी बहुमूल्य सम्पत्ति से बढ़कर माना जाना चाहिए । जमीन, जायदाद, सोना, चाँदी, नकदी, कारोबार आदि को ही लोग सम्पदा मान बैठे हैं । असली सम्पदा तो ज्ञान की पूँजी है जो अच्छे पुस्तकालयों के रूप में ही संग्रहीत की जा सकती है । इसके प्रकाश और प्रभाव में अपने को, अपने परिवार को और स्वजन-सम्बन्धियों को चिरकाल तक ऐसा प्रकाश मिलता रह सकता है जो नारकीय परिस्थितियों को बदलकर स्वर्गोपम सुख-शान्ति तक पहुँचा सकने में पूर्णतया समर्थ है । घरेलू पुस्तकालय ऐसी ही स्थापना है जो हर विचारशील व्यक्ति के घर में एक अनिवार्य आवश्यकता की तरह रहना चाहिए । इसमें कंजूसी किसी को भी नहीं करनी चाहिए । रोटी कपड़े में कटौती करनी पड़े तो भी इस ज्ञान सम्पदा का–आत्मिक

आहार का संग्रह किया जाना चाहिए । बीस पैसा रोज जमा करना किसी बाहर के व्यक्ति को दान देने के लिए नहीं है वरन् अपने घर में ऐसे ज्ञान मन्दिर पुस्तकालय की स्थापना के लिए है जो परिवार की अति महत्त्वपूर्ण सम्पदा कही जा सकती है । सदस्यता की दो शर्त बीस पैसा और एक घण्टा समय देना देखने में नगण्य सी बातें मालूम पड़ती हैं पर उनके परिणाम बहुत ही दूरगामी होंगे । बीस पैसे रोज विचार-क्रान्ति का गोला बारूद खरीदते रहना कुछ महँगा सौदा नहीं है । एक घण्टा समय देकर हम 'एक से दस' वाला क्रम चला सकते हैं और सारे विश्व को अगले कुछ ही वर्षों में इस विचार-धारा से प्रभावित कर सकने में समर्थ हो सकते हैं ।

झोला पुस्तकालयों का क्रम बहुत दिनों से चल रहा है । बीस पैसे और एक घण्टे का समय सभी सदस्य प्रायः इसी प्रयोजन में लगाते हैं पर परिवार के तथा सम्बन्ध सम्पर्क के लोगों को यह साहित्य पढ़ने देने, वापस लेने एवं अशिक्षितों को सुनाने का जो क्रम चलता है उसे झोला पुस्तकालय संज्ञा दी जाती है । वास्तव में बड़े पुस्तकालय खोलने की अपेक्षा यह छोटी व्यवस्था अति महत्त्वपूर्ण है । बड़े पुस्तकालयों में लोग अपनी कुरुचि तृप्त करने वाले उपन्यास ही माँगते, पढ़ते है । रजिस्टर देखने से ऐसे ही पाठकों की संख्या पुस्तकालयों में मिलेगी । सुरुचिपूर्ण साहित्य वहाँ सड़ता रहता है । आवश्यकता सुरुचि जगाने और सृजनात्मक साहित्य में दिलचस्पी लेने की है । अभी अपने देश में यह प्रवृत्ति एक प्रकार से मरी हुई ही पड़ी है उसे पुनर्जीवन देना है । इसके लिए व्यक्तिगत सम्पर्क ही एकमात्र रास्ता रह जाता है । बहुत प्रयत्न करने पर ही लोग इधर रुचि लेना आरम्भ करेंगे । पहला काम तो हमें रुचि जागरण का ही करना है । पढ़ने की बात तो पीछे चलेगी । इस प्रयोजन में झोला पुस्तकालय बहुत ही सफल हो रहे हैं । यह छोटा दीखने वाला कार्य विवेक की कसौटी पर इतना बड़ा सिद्ध होता है कि अन्य बड़े-बड़े प्रदर्शनात्मक एवं आडम्बरात्मक कर्मकाण्डों को इस पर न्यौछावर किया जा सकता है । ज्ञानयज्ञ की सफलता में झोला पुस्तकालय से बढ़कर अच्छी भूमिका और किसी माध्यम से सम्पादित नहीं की जा सकती ।

नव-निर्माण के लिए समग्र शिक्षा नितान्त आवश्यक

मनुष्य का व्यक्तित्व ढालने और समाज की दिशा निर्धारण करने में सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम शिक्षा है । निरक्षर व्यक्ति के ज्ञान चक्षु एक प्रकार से बन्द ही रहते हैं । जितने सीमा तक उसे देखने-सुनने का अवसर मिलता है, उतनी ही उसकी ज्ञानवृद्धि परिधि सीमित रहती है । जीवन और विश्व अब इतना जटिल हो गया है कि उसकी गुत्थियों को सुलझाने के लिए बहुत जानने और समझने की आवश्यकता रहती है । यह प्रयोजन शिक्षा के बिना सम्भव नहीं हो सकता इसलिए व्यक्तित्व मस्तिष्क और दृष्टिकोण परिष्कृत करने के लिए शिक्षा की महती आवश्यकता सदा बनी रहेगी । परिस्थितियों की जटिलता जितनी बढ़ी उसी क्रम में शिक्षा की आवश्यकता और उपयोगिता बहुत बढ़ गई है ।

अपना देश दुर्भाग्यवश शिक्षा की दृष्टि से बहुत पिछड़ा है । अभी लगभग २३ प्रतिशत व्यक्ति साक्षर हो पाये हैं । निरक्षर तीन गुने से भी अधिक हैं । बौद्धिक दृष्टि से समर्थ हुए बिना न अपने आप में सफल, समर्थ कहा जा सकता है और न राष्ट्र का गौरव बढ़ा सकने योग्य क्षमता सँजो पाता है । इस कमी को पूरा करने के लिए प्रबल प्रयत्न किये जाने चाहिए और क्यूबा जैसे उन प्रगतिशील देशों का अनुकरण करना चाहिए जिन्होंने अपने यहाँ निरक्षरता के साथ युद्ध स्तर पर लड़ाई-लड़ी और पाँच वर्ष के भीतर उसे मारकर भगा दिया । यह सब दूरदर्शी सरकार और प्रखर लोकमत के संयुक्त प्रयत्नों से ही सम्भव हो सकता है ।

अपनी सरकार इन दिनों जिस जाल-जंजाल में फँस गई है उसके लिए उसी उलझन को सुलझाना कठिन पड़ रहा है । कोई बड़ी सूझ-बूझ प्रदर्शित करने या साहसिक कदम उठाने की उससे आशा करना व्यर्थ है । वह बनी रहे, चलती रहे, इतना भी बहुत है । हमें बड़े कदम जन स्तर पर उठाने पड़ेंगे अन्यथा समय तेजी से निकलता जायगा और प्रगति की दौड़ में हम पिछड़ते चले जायेंगे । निरक्षरता, निवारण के लिए हम में से प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को 'ज्ञान ऋण' चुकाने के लिये कुछ न कुछ करने की कसम खानी चाहिए और जितना कुछ बन पड़े अधिक से अधिक बड़ा अनुदान लेकर भारत माता के चरणों में उपस्थित होना चाहिए ।

बच्चे स्कूलों में पढ़ते हैं । यह स्कूल भी इतने अपर्याप्त हैं कि उनमें सभी विद्याध्ययन के अभिलाषी बालकों के लिये जगह नहीं । देहातों में मीलों तक स्कूल नहीं होते । छोटे बच्चे दूर चलकर प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने कैसे पहुँचें ? हाईस्कूल, कॉलेजों का बुरा हाल है । तीसरी श्रेणी में उत्तीर्ण छात्र जो आधे से अधिक होते हैं कोई विद्यालय में भरती करने को तैयार नहीं होता । उसे अपना परीक्षाफल श्रेष्ठ रहने और पुरस्कार प्राप्त करने की अभिलाषा रहती है । बच्चों के भविष्य की नहीं । ऐसी दिशा में किसी कारणवश जिसका डिवीजन बिगड़ गया उस सुयोग्य बालक को भी मन-मसोस कर आगे पढ़ने से वंचित रहना पड़ता है । जो पढ़ जाते हैं वे नौकरी कर सकने भर की योग्यता प्राप्त करके निकलते हैं । आजीविका के लिए नौकरी ढूँढ़ते हैं सो मिलती नहीं । बेकार शिक्षितों की संख्या आकाश छूने लगी है और जोशीले नये खून की वह बेरोजगारी बेचैन समाज में भयंकर विकृतियाँ लेकर उग्र हो रही हैं । इसके दुष्परिणाम हम आये दिनों आँख के आगे देखते हैं ।

सरकार सूझ-बूझ के साथ शिक्षा-प्रणाली की दिशा निर्धारित करती तो कितना अच्छा होता । जापान की शिक्षा में शिल्प, उद्योग और कला-कौशल अविच्छिन्न रूप में जुड़ा हुआ है । वहाँ के छात्र या तो अपना कुटीर उद्योग चलाते हैं या पड़ौस की फैक्टरी में सम्मानपूर्ण आजीविका प्राप्त करते हैं । उन्हें नौकरी के लिये जूती चटकाने, दरवाजे-दरवाजे पर ठोकरें खाते नहीं फिरना पड़ता । यूगोस्लाविया में कृषि, नार्वे में पशु-पालन जैसे उद्योगों को प्रधानता देकर अपने नव-युवकों के लिए आजीविका का पथ प्रशस्त किया है । अपने देश में भी कुछ ऐसा ही हो सकता था हो सकता है ।

राष्ट्रों के निर्माण-लोकमानस का निर्धारण शिक्षा के माध्यम से होता है । जर्मनी ने दो बड़े युद्ध आरम्भ किये । वहाँ की जनता को उस प्रकार का आक्रामक बनाने का श्रेय वहाँ की शिक्षा को है । विलियम कैसर ने शिक्षा में ऐसे तत्व मिलाये थे कि वहाँ का लोक-मानस विश्व विजय का स्वप्न देखने लगा । वह भावना इतनी प्रबल हुई कि प्रथम विश्वयुद्ध उन्हीं लोगों ने आरम्भ कर दिया । दूसरा महायुद्ध भी जर्मनों ने ही शुरू किया । हिटलर ने सारे शिक्षा तन्त्र को इस प्रकार सँजोया कि लोग प्रथम युद्ध की पराजय को भूलकर सौ गुने उत्साह से दूसरे युद्ध की तैयारी करने लगे । दोनों महायुद्ध ऐतिहासिक महायुद्ध हैं । लगभग सारा विश्व यदि जर्मनी के प्रतिरोध में खड़ा न हुआ होता तो उसकी विश्वविजय वाली अभिलाषा न जाने कितनी आगे बढ़ गई होती और न जाने कितनी सफल हो गई होती । परिस्थितियों का पाँसा पलटा और जर्मनी दूसरी बार भी हारा यह दूसरी बात है । यहाँ प्रसंग शिक्षा के प्रभाव का चल रहा था । शिक्षा में यदि प्राण घुला हो तो उसके माध्यम से विनाशों से लेकर विकास तक का-असुरता से लेकर देवत्व तक का-सृजन किया जा सकता है । मनुष्य की शक्ति अनन्त है और उसे उभारना तथा दिशा देने का काम शिक्षा के माध्यम से ही तो सम्पन्न होता है । यही कारण है कि हम सदा से शिक्षक की-गुरु की महिमा अति श्रद्धापूर्वक स्मरण करते आ रहे हैं ।

जर्मनी का तो एक उदाहरण मात्र दिया गया है । बारीकी से देखा जाय तो संसार के सभी प्रगतिशील देशों में छोटी स्थिति से बढ़कर ऊपर उठने तक के प्रत्येक कदम की सफलता शिक्षा प्रणाली में आवश्यक परिवर्तन करके ही सम्पन्न की है । अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली, जापान, रूस, चीन आदि में जो चमत्कार भीतर ही भीतर हुए उनकी सम्पन्नता का श्रेय वहाँ की शिक्षा-पद्धति निर्धारणकर्त्ताओं को ही दिया जा सकता है । काश हमारे देश में भी ऐसी ही सूझ-बूझ रही होती तो विगत २३ वर्षों में अपने-अपने साधनों के कारण उससे कहीं आगे होते जहाँ तक कि हमसे भी ३ वर्ष बाद साम्यवादी शासन हाथ में लेकर आज चीन निवासी पहुँच गये हैं ।

हमें हर काम के लिए सरकार का मुँह नहीं ताकते रहना चाहिए । बहुत से कार्य ऐसे हैं जो जनस्तर पर बड़ी सफलता से किये जा सकते हैं । धर्म को ही लीजिये । मन्दिरों, तीर्थों और धार्मिक कर्मकाण्डों में जनता का हर वर्ष ३०० अरब रुपया लगता है और लगभग १ करोड़ व्यक्तियों का श्रम उसमें नियोजित है । ५६ लाख सन्त महात्मा जनगणना के आधार पर गिने गये हैं । आधा चौथाई या एक दो घण्टे उस प्रयोजन में लगे रहने वाले के समय का लेखा-जोखा लिया जाय तो वह भी मिलाकर इतना ही बैठेगा और यह स्पष्ट दिखाई देगा कि १ करोड़ व्यक्तियों का समय उसमें निरन्तर लगता है । इन धर्म संस्थानों में जो स्थायी सम्पत्ति लगी है उसका मूल्य कूता जाय तो सरकारी इमारतों से कम नहीं अधिक बैठेगा । यह सब जनस्तर पर बिना सरकार की एक पाई सहायता के सम्भव होता है । जनता जिसे पसन्द करती है उसके लिए विपुल धन, जनसाधनों का जुटाया जा सकना कुछ भी कठिन नहीं है ।

शिक्षा की समस्या को हम जनस्तर पर लें । जनता को उसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता उसी प्रकार समझावें जैसी कि धार्मिकता की समझाई गई है तो कोई कारण नहीं कि इस पुण्य-प्रयोजन के लिये जनसहयोग न मिल सके । यह हो सकता है और होना चाहिए । जन स्तर पर बड़े-बड़े काम हो सकते हैं वह आत्म-बोध, आत्म-विश्वास पनप सके इस दृष्टि से भी निरक्षरता-निवारण जैसे आन्दोलनों को चलाया और सफल बनाया जाना चाहिए ।

युग-निर्माण योजना ने अपने रचनात्मक कार्यक्रमों में शिक्षा प्रसार को प्रथम स्थान दिया है । सोचा यह गया है कि दो तिहाई से अधिक अशिक्षितों की संख्या उनकी है जो प्रौढ़ हैं-काम में लगे हैं-व्यस्त हैं । स्कूलों में तो बच्चे पढ़ रहे हैं इन वयस्कों के पढ़ने का कोई प्रबन्ध नहीं । इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । अगले वर्ष मनुष्य जाति के भाग्य का फैसला करने वाले निर्णायक वर्ष हैं । उनमें प्रधान भूमिका उन्हीं की होगी जो इन दिनों प्रौढ़ हैं । स्कूलों में जो बच्चे इन दिनों पढ़ रहे हैं वे जब तक वयस्क होकर अपने हाथ में उत्तरदायित्व सँभालेंगे तब तक दुनिया इधर से उधर हो चुकी होगी । नई पीढ़ी सुयोग्य बनकर जब काम सँभालेगी तब तक के लिए इन्तजार करने की अब कतई गुंजाइश नहीं । महत्त्वपूर्ण निर्णय तो उन्हें करने होंगे जो आज वयस्क हैं और इन्हीं दिनों महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकते हैं । "इतने बड़े हो गये, अब तक न पढ़े तो आगे क्या पढ़ सकेंगे ।" यह निरर्थक संकोच छोड़कर हमें आज से ही सारे राष्ट्र को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने में लग पड़ना चाहिए । बौद्धिक क्षमता-भावनात्मक उत्कृष्टता बढ़ने से ही व्यक्ति समर्थ बनेगा और समर्थ व्यक्तियों का सुगठित राष्ट्र ही शक्तिशाली एवं प्रगतिशील कहला सकने का अधिकारी बन पायेगा ।

हमें गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले, गाँव-गाँव प्रौढ़ पाठशालाओं की अति व्यापक शृंखला बिखेर चाहिए । पुरुषों के लिए रात्रि पाठशालाएँ और

के लिये तीसरे पहर की अपरान्हशालाएँ ठीक रह सकती हैं । इनमें प्रधानता वयस्क नर-नारियों की हो । बालक भी आना चाहें तो वे भी आवें । यों जन-स्तर पर पाँच वर्ष से कम आयु के शिशु-संस्कार मन्दिरों की भी आवश्यकता है पर उन्हें अधिक सुयोग्य व्यक्ति ही चला सकते हैं । जहाँ जैसा प्रबन्ध हो सके वहाँ वैसा किया जाय अन्यथा पुरुषों की रात्रि पाठशालाओं और महिलाओं की अपरान्ह शालाओं का ही क्रम चल ही पड़ना चाहिए ।

अध्यापक के लिए रिटायर्ड लोग आगे आवें तो उनकी ढलती आयु सार्थक हो जाय । अपने धर्म में, ढलती आयु जनता की सम्पत्ति मानी गई है और उसे लोकसेवा में नियोजित कर, वानप्रस्थ स्तर का जीवनयापन करने के लिए जोर दिया गया है, यह लुप्त प्राय धर्म परम्परा पुनः-जीवित-जाग्रत करने की आवश्यकता है । पारिवारिक उत्तरदायित्वों से छुटकारा प्राप्त सेवा-निवृत्त-जिनके पास गुजारे के लिए आजीविका के साधन मौजूद हैं-ऐसे लोग इस प्रकार से विद्या दान में अपना पूरा समय दे सकते हैं । यही उनके अवशेष जीवन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग है । अन्य सेवा-भावी व्यक्ति भी रोजी-रोटी कमाने में आठ घण्टे का समय देने के उपरान्त शेष समय का कुछ भाग इस पुण्य प्रयोजन में लगा सकते हैं । आमतौर से दिन में ही नौकरी, दुकान, कृषि आदि करनी पड़ती है । रात्रि का समय प्रायः सभी के पास खाली रहता है । इस समय को रात्रि पाठशाला के लिए कोई भावनाशील देशभक्त व्यक्ति बड़ी आसानी से लगा सकता है । शिक्षित कुमारियाँ, विधवाएँ, अध्यापिकाएँ तथा खाते-पीते घरों की वे महिलाएँ जिन्हें घरेलू काम कम रहते हैं, तीसरे पहर की महिला पाठशालाएँ चला सकती हैं । यदि देश-भक्ति और लोक-मंगल की भावनाएँ तनिक भी उभार लेने लगें तो बड़ी आसानी से लाखों सुशिक्षितों की सेवा सेना इस निरक्षरता विरोधी संघर्ष में अगणित मोर्चे सँभाल सकती है । युग-निर्माण की इस पुण्य घड़ी में शिक्षित वर्ग ने भी यदि अपना कुछ कर्तव्य न समझा और इतने सामान्य से काम के लिए थोड़ा-सा समय दान देने से भी इनकार कर दिया तो समझना चाहिए हमारा दुर्भाग्य जो हजार वर्ष से पीछे पड़ा हुआ था, उसका अन्त अभी नहीं हुआ । क्षुद्रता, संकीर्णता और स्वार्थपरता के पाप पंक में आकंठ व्यक्ति जो लोक-मंगल के लिए तनिक भी त्याग न कर सके एक प्रकार से मनुष्यता को कलंकित ही करता है और वह समाज को विविध-विधि पीड़ा-प्रताड़ना में ही धकेलता है । पिछले दिनों हमारे व्यक्तित्व इसी ओछे स्तर के बने रहे, फलस्वरूप राजनैतिक परतन्त्रता, उत्पीड़न, फूट, विग्रह, अभाव, दारिद्रय, शोषण एवं पद-दलन की विभीषिकाएँ सहते रहे । अब वह स्तर बदला जाना चाहिए । शिक्षितों में लोक-मंगल के लिए सक्रिय उत्साह उत्पन्न होना चाहिए । उस उत्साह का सर्वोत्तम प्रकार जन-जागरण के लिए शिक्षा प्रसार में ही प्रयुक्त हो सकता है ।

निरक्षरों को साक्षर बनाने के लिए किसी विशेष पाठ्यक्रम या पाठ्य पुस्तकों की जरूरत नहीं है । इस स्तर की पुस्तकें हर जगह मिलती हैं । पट्टी, खड़िया, स्लेट, पेन्सिल, कापी, अक्षर-ज्ञान, गिनती, पहाड़े किन्हीं भी प्रारम्भिक पुस्तकों से आरम्भ कराये जा सकते हैं । इस प्रयोजन के लिए गीता प्रेस ,गोरखपुर ने आरम्भिक साक्षरता की ३-४ बालपोथी बहुत अच्छी छापी हैं । इसके कुछ आगे बढ़ने पर आर्य समाजी विचारों की धर्म शिक्षा नामक प्रश्नोत्तर पुस्तक कई भागों में बिकती है । आरम्भिक पुस्तकों की कमी नहीं । जहाँ जो उपलब्ध हो सके उसके आधार पर निरक्षरों को इतना ज्ञान कराया जाना चाहिए कि वे पढ़ने-लिखने में भली-भाँति समर्थ हो सकें और हिसाब, भूगोल, इतिहास, नागरिक शास्त्र एवं सामान्य ज्ञान की साधारण जानकारी प्राप्त कर सकें । यह शिक्षण छह महीने का पर्याप्त हो सकता है । प्रौढ़ आयु के लोग छह महीने में इतना पढ़-लिख सकते हैं कि उन्हें निरक्षरों की पंक्ति से हटाकर साक्षरों की श्रेणी में बिठाया जा सके । अपनी प्रत्येक शाखा में इस प्रकार साक्षरता प्रसार के प्रयत्न आरम्भ किये जाने चाहिए और अपने घर, परिवार, पड़ोस तथा परिचय क्षेत्र में कोई निरक्षर न रहने देने की मुहिम सँभालने में जुट जाना चाहिए । इस प्रयत्न से हम अगले तीन चार वर्ष में ही आज की समस्त प्रौढ़ जनता को साक्षर बनाने में सफल और समर्थ हो सकते हैं ।

जो काम सरकार करोड़ों, अरबों रुपया खर्च करके नहीं कर सकती, उसे हम लोक-सेवा में विश्वास करने वाले व्यक्ति थोड़ा-थोड़ा समय दान देकर देखते-देखते सम्पन्न कर सकते हैं और अपना निरक्षर देश जादू की तरह शिक्षा के आलोक से आलोकित हो सकता है ।

साक्षरता प्रसार के अतिरिक्त शिक्षा का मूल प्रयोजन आदर्श और उद्देश्य पूरा करने की बात आती है । मात्र साक्षरता ही पर्याप्त नहीं । हमें यह भी करना ही चाहिए कि अशिक्षितों से लेकर शिक्षितों तक को व्यक्ति, परिवार और समाज के सम्मुख प्रस्तुत वर्तमान समस्याओं की जानकारी करायें और उनके समाधान प्रस्तुत करें । पिछली हजार वर्ष की राजनैतिक गुलामी ने हमें इतने अधिक बौद्धिक अभिशाप दिये हैं कि एक प्रकार से अपना विचार तन्त्र लगभग उलटा और विकृत ही हो चला है । अज्ञानान्धकार में भटकते हुए हमने स्वच्छ विचार-पद्धति को लगभग गँवा ही दिया है । सोचने का अपना जो आज का ढंग है वह ऐसा अनुपयुक्त है कि यदि उसे ज्यों का त्यों बनाये रखा गया तो उज्ज्वल भविष्य की किरण कभी भी प्रकट न हो सकेगी । इस तथ्य को भुलाया नहीं जाना चाहिए कि व्यक्ति और समाज का उत्थान-पतन पूर्णतः उसकी चित्त प्रणाली पर निर्भर रहता है । आस्थाएँ, मान्यताएँ, अभिरुचियाँ एवं विचारणाएँ ही अपने स्तर के अनुरूप भली या बुरी परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं और उन्हीं के जाल-जंजाल में उलझते-सुलझते हम दुःखी-सुखी दिखाई पड़ते हैं । अपकर्ष से उत्कर्ष की ओर चलना हो तो सबसे प्रथम कार्य यही करना पड़ता है कि अपनी चिन्तन-पद्धति में जहाँ भी विकृतियाँ आ गई हों, उन्हें

समझें और सुधारें । इस परिवर्तन के बिना पतन को उत्थान में परिणत कर सकना किसी भी प्रकार सम्भव न हो सकेगा ।

प्रखर प्रेरणा भरे साहित्य का सृजन और प्रसार आवश्यक

मनुष्य का मन कोरे कागज की तरह है, उस पर जो कुछ छाप या लिख दिया जाता है वैसा ही दीखने लगता है । जो कुछ हम पढ़ते-सुनते और सोचते हैं उसी का प्रभाव ग्रहण करते हैं और उसी ढाँचे में ढलते चले जाते हैं । यों प्रभाव तो आस-पास के वातावरण का भी पड़ता है पर उसे प्रखर विचारधारा उपलब्ध हो जाय तो काटकर भी रख सकती है । वातावरण का प्रभाव अस्थायी होता है । चिन्तन-मनन का स्थायी । असंख्य उदाहरण ऐसे सर्वत्र मिल सकते हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य की चिर-अभ्यस्तता, रुचि, आदत और मान्यता को किसी प्रखर विचारणा ने उलट-पुलटकर रख दिया और उसकी दिशा में आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिया । प्रेरक विचारधारा में सामर्थ्य बहुत है । यदि उसका प्रवाह तीव्र हो तो विशाल जनसमूह को देखते-देखते किसी दिशा से हटाकर किसी दिशा में गतिशील किया जा सकता है ।

बुद्ध की विचारधारा ने लाखों युवक-युवतियों को घर छोड़कर लोकमंगल के लिए सर्वस्व त्याग करके भिक्षु-भिक्षुणी बनने जैसे कष्टसाध्य मार्ग को अपनाने में तत्पर कर दिया । गाँधीजी की प्रेरणा से लाखों व्यक्ति स्वतन्त्रता संग्राम में कूदे और धन और प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए उत्साहपूर्वक आगे आये । दार्शनिक रूसों के प्रजातन्त्र प्रतिपादन से संसार की अधिकांश प्रजा ने प्रेरणा ली और प्रजातन्त्र शासन-पद्धति को मान्यता मिली । कार्ल्स मार्क्स की साम्यवादी विचारधारा के प्रभाव में आज आधी से अधिक दुनिया आ गई, अतीत से भी ऐसे ही होता रहा है । समर्थ व्यक्तित्वों द्वारा प्रखर विचारणाओं का प्रतिपादन यदि कभी ठीक ढंग से किया गया तो उसका परिणाम आश्चर्यजनक निकला । शंकराचार्य ने एकाकी खड़े होकर उस समय की मूढ़-मान्यताओं में पलीता लगाया और जनता को अपने प्रतिपादन की छाया में खींच बुलाया ।

क्या सामूहिक, क्या व्यक्तिगत सभी क्षेत्रों में प्रखर विचारणा जादू का काम करती है । बाल्मीकि, अंगुलिमाल, अजामिल, सदन कसाई, अम्बपाली आदि अगणित जीवन के काया-कल्प की प्राचीन और आधुनिक कथाएँ ही पग-पग पर सुनने को मिल सकती हैं । यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि यदि कोई सारगर्भित विचारधारा, हृदयग्राही, बुद्धिसंगत और तथ्य, तर्क के साथ प्रतिपादित की जाय-उस प्रतिपादन के पीछे समर्थ व्यक्तित्व और सक्रिय अनुभव जुड़ा हुआ हो-तो उसका प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता । जब ओछे, उथले, निकृष्ट और भ्रान्त विचार-प्रचार के माध्यम से लोगों को आकर्षित एवं प्रभावित कर लेते हैं तो कोई कारण नहीं कि तथ्यपूर्ण आदर्शवादी एवं उत्कृष्ट विचारों की अच्छी प्रतिक्रिया उत्पन्न न हो ।

इन दिनों पशु-प्रवृत्तियों को भड़काने वाले कुमार्गगामी और भ्रम-जंजालों में भटकने वाले साहित्य की बाढ़ आई हुई है । लालची लेखकों, प्रकाशकों, विक्रेताओं की इस दुरभिसंधि से जनता का भाव संस्थान दिन-दिन विकृत और दूषित होता चला जा रहा है, परिणाम सामने है । व्यक्ति का चारित्रिक अध:पतन समाज में अगणित समस्याएँ उत्पन्न कर रहा है और शोक-संताप के अगणित कारण उत्पन्न होते चले जा रहे हैं । इस विभीषिका का सामना करने के लिये हमें जहाँ इस अवांछनीय साहित्य सृजन को रोकना है वहाँ उसके प्रतिद्वन्द्वी ऐसे साहित्य का सृजन भी करना है जो अब तक की फैली हुई भ्रान्तियों का निराकरण कर सके, उसके दुष्परिणामों से सर्व-साधारण को सचेत कर सके और साथ ही यह भी बता सके कि सच्चाई क्या है ?

बिगाड़ने की अपेक्षा बनाने में अधिक श्रम और साधनों की जरूरत पड़ती है । मकान गिराना है तो सौ रुपये में गिर जायगा पर बनाने के लिए हजारों चाहिए । बिगाड़ने वालों ने गन्दी चीजें देखकर बुद्धि स्तर को विकृत करने में जितने श्रम, साधनों से सफलता पाई हो हमें उसका दुष्प्रभाव मिटाने का ही नहीं, स्वरूप प्रेरणा देने का सृजन कार्य भी करना है । ऐसी दशा में अपनी प्रयत्नशीलता का स्तर भी कई गुना बढ़ा-चढ़ा होना चाहिए ।

साहित्य जो भावनात्मक प्रेरणा की दृष्टि से सर्वोपरि महत्त्व रखता है, आज दयनीय स्थिति में पड़ा है । जीवन को स्वरूप, मर्म, उद्देश्य, उपयोग समझाने के लिए हर स्तर के साहित्य की जरूरत है । निबन्ध, कथा, उपन्यास, दर्शन, समीक्षा, विवेचना, कविता सभी वर्गों का ऐसा साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होना चाहिए जिसे आसानी से-सस्ते मूल्य में सर्वत्र प्राप्त किया जा सके । इसी प्रकार व्यक्ति और समाज की अगणित समस्याओं पर प्रकाश डालने वाला-उनके कारण और समाधान प्रस्तुत करने वाला ऐसा साहित्य चाहिए जो आज की परिस्थितियों पर सही विश्लेषण करते हुए बुद्धिसंगत और हृदयग्राही शैली में आज के बुद्धिवादी पाठक को ठीक तरह समझा सकने में समर्थ हो ।

गत २०० वर्षों में विज्ञान, उद्योग, शिक्षा, अन्वेषण आदि सभी विषयों में भारी प्रगति हुई है और उसके कारण मनुष्य के सामने नये-नये कारणों से नई-नई समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं । इनके समाधान आज की परिस्थितियों का अध्येता मनीषी ही कर सकता है । प्राचीनकाल के समाधान आज की परिस्थितियों में कूड़ा हो गये । सदा होता भी यही रहा है, परिस्थितियाँ बदलने पर समस्याओं का स्वरूप बदल जाता है फलस्वरूप समाधान बदलना भी

के लिये तीसरे पहर की अपरान्हशालाएँ ठीक रह सकती हैं । इनमें प्रधानता वयस्क नर-नारियों की हो । बालक भी आना चाहें तो वे भी आवें । यों जन-स्तर पर पाँच वर्ष से कम आयु के शिशु-संस्कार मन्दिरों की भी आवश्यकता है पर उन्हें अधिक सुयोग्य व्यक्ति ही चला सकते हैं । जहाँ जैसा प्रबन्ध हो सके वहाँ वैसा किया जाय अन्यथा पुरुषों की रात्रि पाठशालाओं और महिलाओं की अपरान्ह शालाओं का ही क्रम चल ही पड़ना चाहिए ।

अध्यापक के लिए रिटायर्ड लोग आगे आवें तो उनकी ढलती आयु सार्थक हो जाय । अपने धर्म में, ढलती आयु जनता की सम्पत्ति मानी गई है और उसे लोकसेवा में नियोजित कर, वानप्रस्थ स्तर का जीवनयापन करने के लिए जोर दिया गया है, यह लुप्त प्राय धर्म परम्परा पुनः-जीवित-जाग्रत करने की आवश्यकता है । पारिवारिक उत्तरदायित्वों से छुटकारा प्राप्त सेवा-निवृत्त-जिनके पास गुजारे के लिए आजीविका के साधन मौजूद हैं-ऐसे लोग इस प्रकार से विद्या दान में अपना पूरा समय दे सकते हैं । यही उनके अवशेष जीवन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग है । अन्य सेवा-भावी व्यक्ति भी रोजी-रोटी कमाने में आठ घण्टे का समय देने के उपरान्त शेष समय का कुछ भाग इस पुण्य प्रयोजन में लगा सकते हैं । आमतौर से दिन में ही नौकरी, दुकान, कृषि आदि करनी पड़ती है । रात्रि का समय प्रायः सभी के पास खाली रहता है । इस समय को रात्रि पाठशाला के लिए कोई भावनाशील देशभक्त व्यक्ति बड़ी आसानी से लगा सकता है । शिक्षित कुमारियाँ, विधवाएँ, अध्यापिकाएँ तथा खाते-पीते घरों की वे महिलाएँ जिन्हें घरेलू काम कम रहते हैं, तीसरे पहर की महिला पाठशालाएँ चला सकती हैं । यदि देश-भक्ति और लोक-मंगल की भावनाएँ तनिक भी उभार लेने लगें तो बड़ी आसानी से लाखों सुशिक्षितों की सेवा सेना इस निरक्षरता विरोधी संघर्ष में अगणित मोर्चे सँभाल सकती है । युग-निर्माण की इस पुण्य घड़ी में शिक्षित वर्ग ने भी यदि अपना कुछ कर्त्तव्य न समझा और इतने सामान्य से काम के लिए थोड़ा-सा समय दान देने से भी इनकार कर दिया तो समझना चाहिए हमारा दुर्भाग्य जो हजार वर्ष से पीछे पड़ा हुआ था, उसका अन्त अभी नहीं हुआ । क्षुद्रता, संकीर्णता और स्वार्थपरता के पाप पंक में आकंठ व्यक्ति जो लोक-मंगल के लिए तनिक भी त्याग न कर सके एक प्रकार से मनुष्यता को कलंकित ही करता है और वह समाज को विविध-विधि पीड़ा-प्रताड़ना में ही धकेलता है । पिछले दिनों हमारे व्यक्तित्व इसी ओछे स्तर के बने रहे, फलस्वरूप राजनैतिक परतन्त्रता, उत्पीड़न, फूट, विग्रह, अभाव, दारिद्रय, शोषण एवं पद-दलन की विभीषिकाएँ सहते रहे । अब यह स्तर बदला जाना चाहिए । शिक्षितों में लोक-मंगल के लिए सक्रिय उत्साह उत्पन्न होना चाहिए । उस उत्साह का सर्वोत्तम प्रकार जन-जागरण के लिए शिक्षा प्रसार में ही प्रयुक्त हो सकता है ।

निरक्षरों को साक्षर बनाने के लिए किसी विशेष पाठ्यक्रम या पाठ्य पुस्तकों की जरूरत नहीं है । इस स्तर

की पुस्तकें हर जगह मिलती हैं । पट्
पेन्सिल, कापी, अक्षर-ज्ञान, गिनती,
प्रारम्भिक पुस्तकों से आरम्भ कराये ज
प्रयोजन के लिए गीता प्रेस ,गोरखपुर ने
की ३-४ बालपोथी बहुत अच्छी छापी
आगे बढ़ने पर आर्य समाजी विचारों की
प्रश्नोत्तर पुस्तक कई भागों में बिकती
पुस्तकों की कमी नहीं । जहाँ जो उपल
आधार पर निरक्षरों को इतना ज्ञान क
कि वे पढ़ने-लिखने में भली-भाँति स
हिसाब, भूगोल, इतिहास, नागरिक शास्त्र
की साधारण जानकारी प्राप्त कर सकें ।
महीने का पर्याप्त हो सकता है । प्रौढ़
महीने में इतना पढ़-लिख सकते हैं कि
पंक्ति से हटाकर साक्षरों की श्रेणी में
अपनी प्रत्येक शाखा में इस प्रकार साक्षर
आरम्भ किये जाने चाहिए और अपने
तथा परिचय क्षेत्र में कोई निरक्षर न रह
सँभालने में जुट जाना चाहिए । इस प्र
तीन चार वर्ष में ही आज की समस्त
साक्षर बनाने में सफल और समर्थ हो सक

जो काम सरकार करोड़ों, अरबों
नहीं कर सकती, उसे हम लोक-सेवा
वाले व्यक्ति थोड़ा-थोड़ा समय दान
सम्पन्न कर सकते हैं और अपना नि
तरह शिक्षा के आलोक से आलोकित

साक्षरता प्रसार के अतिरिक्त शि
आदर्श और उद्देश्य पूरा करने की
साक्षरता ही पर्याप्त नहीं । हमें यह
कि अशिक्षितों से लेकर शिक्षितों त
और समाज के सम्मुख प्रस्तुत
जानकारी करायें और उनके समाध
हजार वर्ष की राजनैतिक गुला
बौद्धिक अभिशाप दिये हैं कि ए
तन्त्र लगभग उलटा और वि
अज्ञानान्धकार में भटकते हुए
को लगभग गँवा ही दिया है ।
का ढंग है वह ऐसा अनुपयुक्त
बनाये रखा गया तो उज्ज्वल
प्रकट न हो सकेगी । इस
चाहिए कि व्यक्ति और स
उसकी चिन्त प्रणाली पर
मान्यताएँ, अभिरुचियाँ ए
अनुरूप भली या बुरी
उन्हीं के जाल-जंजाल
सूझी दिखाई पड़ते हैं ।
हो तो सबसे प्रथम कार्य
चिन्तन-पद्धति में जहाँ

क्रान्ति की त्रिवेणी विनिर्मित करने के लिए हमें ज्ञान गंगा के अवतरण का भगीरथी प्रयत्न करना ही चाहिए । इन प्रयत्नों में युग साहित्य के सृजन को प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए ।

हम इस दिशा में एक छोटी शुरूआत कर चुके हैं । युग-निर्माण योजना द्वारा छोटी-छोटी पुस्तकें, विज्ञप्तियाँ, छोटे ट्रैक्ट, पत्रिकाएँ छपने का ढर्रा आरम्भ किया गया है । स्वल्प साधनों से इसका प्रकाशन भी चलाया है और अन्य भाषाओं में भी हाथ-पैर फैलाये हैं । यह शुभारम्भ एवं मार्ग-दर्शन मात्र है । अपने परिवार के सदस्यों द्वारा झोला पुस्तकालय के रूप में इस साहित्य के प्रचार का भी क्रम चलाया गया है । यह एक मार्ग-दर्शक ढाँचा मात्र है । बात को केवल कहने की अपेक्षा उसे व्यावहारिक रूप-चाहे वह प्रयोग छोटा ही क्यों न हो-करके दिखाना अधिक स्पष्ट कल्पना दे सकता है । इस दृष्टि से युग निर्माण प्रकाशन एवं प्रचार संस्थान का कलेवर खड़ा किया है और उसका प्रकाश जन-मानस तक पहुँचाने का प्रयत्न इस दृष्टि से किया है कि लोग प्रत्यक्ष देखें कि इतने स्वल्प साधनों से-छोटे परिमाण में किये जा सकने वाले प्रयत्न भी यदि सारगर्भित हों तो कितने ही कारगर सिद्ध हो सकते हैं ।

इस प्रक्रिया को अधिक व्यापक बनाया जाना चाहिए । समस्त विश्व में बिखरी हुई मानव जाति की अनेक संस्कृतियाँ, मान्यताएँ, भावनाएँ, परम्पराएँ, भाषाएँ एवं समस्याएँ हैं । उनको स्पर्श करते हुए आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता धर्म एवं संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर विभिन्न ढंग से अनेक माध्यमों से प्रकाश डाला जाता है । इसके लिए बहुत कुछ बहुत ढंगों का-बहुत माध्यमों से लिखा और छापा जाना चाहिए । चूँकि विश्व का भावनात्मक निर्माण-ईसाई धर्म और कम्युनिस्ट दोनों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसलिए उसका स्वरूप समझाया जाना भी उतना ही आवश्यक है इसके लिए विशालकाय सृजन तन्त्र खड़ा किया जा सकता है और किया जाना चाहिए । यदि साधन जुटाये जा सकें तो यह अच्छी शुरूआत जो युग-निर्माण योजना द्वारा आरम्भ की गई है बहुत आगे बढ़ सकती है और ईसाई एवं कम्युनिस्ट प्रचार को बहुत पीछे छोड़कर अपनी वास्तविकता के कारण विश्व मस्तिष्क पर जादू की तरह आच्छादित हो सकती है । जरूरत साधनों की है । यदि लोग उसकी उपयोगिता और आवश्यकता सच्चे मन से समझ सकें तो आज जिन साधनों का जुटना कठिन लगता है कल ही वह अति सरलतापूर्वक इकट्ठे हो सकते हैं ।

इस प्रकार का बौद्धिक अनुदान मानव जाति की महानतम सेवा सिद्ध हो सकता है । पेट के लिए खाद्य-पदार्थ के उत्पादन की ओर सबका ध्यान है, उसकी स्वच्छता और पौष्टिकता को भी महत्त्व दिया जाता है पर आत्मा की भूख बुद्धि की क्षुधा-भावना की खुराक की आवश्यकता पूरी कर सकने वाले साहित्य का कितना अकाल पड़ रहा है उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता । केन्टीन, होटल, मिठाईघर गली, मुहल्ले में खुलते जा रहे है, अन्न, शक्कर, दूध, शाक, फल आदि के उत्पादन का भी बहुत जोर है पर कोई यह नहीं सोचता कि मनुष्य में *आत्मा भी है-बुद्धि भी है और उसे भी स्वच्छ तथा* पौष्टिक आहार की जरूरत है । इस अभाव की पूर्ति की ही जानी चाहिए । जिस विषाक्त बौद्धिक भोजन ने जन-मानस को पतित स्तर पर ले जाकर पटक दिया है उसे हटाने के लिए केवल विरोध ही पर्याप्त न होगा वरन् उसकी तुलना में सृजनात्मक उपयुक्त वस्तु सामने रखनी होगी । इसके बिना जनता को अवांछनीय साहित्य को पढ़ने और उसके दुष्प्रभाव से प्रभावित होने को रोका नहीं जा सकेगा ।

हमें सृजन को ध्यान में रखकर सोचना चाहिए और इस सृजन में ऐसे प्रखर सत्साहित्य के निर्माण को अग्रिम पंक्ति में रखना चाहिए जो लोक-मानस का भावनात्मक काया-कल्प कर सकने में समर्थ सिद्ध हो सके ।

कला की शक्ति लोकमंगल में लग जाय

शिक्षा की भाँति ही कला का प्रभाव मानव मन पर पड़ता है । उसमें भावनाएँ-सम्वेदनाएँ उभारने-प्रवृत्तियों को ढालने तथा चिन्तन को मोड़ने एवं अभिरुचि को दिशा देने की अद्भुत क्षमता भरी पड़ी है । संगीत, गायन, अभिनय, चित्र, साहित्य, कविता आदि के माध्यम से कला विकसित होती है । इसमें मनोरंजन, सौन्दर्य-प्रवाह उल्लास न जाने क्या-क्या तत्व भरे पड़े हैं जो मानव मन को सम्मोहित कर बदलने, पलटने में अत्यधिक समर्थ सिद्ध होते हैं । कलाकारों ने राष्ट्रों और संस्कृतियों को उठाया और गिराया है । कला अमृत भी है और विष भी, वह अपने जमाने के व्यक्ति और समाज को पतन के गर्त में भी डुबो सकती है और उत्थान के शिखर पर भी पहुँचा सकती है । शिक्षा से भी कला में अधिक सामर्थ्य है । शिक्षा का प्रभाव वर्षों में दीख पड़ता है, पर कला अपना जादू तत्काल दिखाती है और व्यक्ति को बदलने में लोहा पिघलाकर पानी बहा देने वाली भट्टी की तरह मनुष्य की मनोवृत्तियों में भारी रूपान्तर प्रस्तुत करती है ।

रचनात्मक कार्यों में दूसरा मोर्चा कला का है । कला की जितनी दुर्गति इन दिनों हुई है, इतिहास साक्षी है कि पृथ्वी की स्थापना से लेकर आज तक वैसी कभी नहीं हुई । साहित्य के आधार पर किसी समय के समाज संस्कृति तथा मनोभूमि का मूल्यांकन किया जाता है आज विचित्र परिस्थिति में पड़ा हुआ है । प्रेस जो छापता है, बुकसेलर जो बेचता है, पाठक जो पढ़ता है इसका विवरण इस प्रकार है –

अनिवार्य हो जाता हैं । भगवान समय-समय पर ऐसे सुधारक, विचारक, पथ-प्रदर्शक और समर्थ-व्यक्तित्व भेजते भी हैं जो अपने समय की आवश्यकता को अपने ढंग से समाधान का पथ प्रशस्त कर सकें । साहित्य क्षेत्र में आज के अन्धकार को चीर सकने वाली प्रकाश किरणों की नितान्त आवश्यकता अनुभव की जा रही है सो उसकी पूर्ति भी होकर रहेगी ।

हमें ऐसे साहित्य के सृजन, प्रकाशन, मुद्रण, विक्रय एवं प्रसार की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे उनका विस्तार हो सके और सर्वसाधारण को सुविधापूर्वक उसे प्राप्त कर सकना उपलब्ध हो सके । इस सन्दर्भ में ईसाई मिशन की कार्य-पद्धति बहुत ही उपयुक्त और अनुकरणीय है । ईसाई धर्म का जन्म हुए लगभग दो हजार वर्ष हुए हैं । इतने दिनों में उनकी संख्या एक अरब हो गई । अर्थात् ३ अरब जनसंख्या वाले विश्व में एक तिहाई जनता ईसाई धर्म में दीक्षित हो चुकी । वे लोग यह योजना लेकर चलते हैं कि आगामी दो शताब्दियों में सारे संसार को ईसाई धर्म के अन्तर्गत दीक्षित किया जा सकेगा । इस प्रकार विस्तार का कारण यह नहीं है कि उनका धर्म, दर्शन या अध्यात्म दूसरों से ऊँचा है वरन् यह है कि उसके कार्यकर्त्ताओं ने ईसाई धर्म की महत्ता, उपयोगिता को सर्वसाधारण तक हृदयग्राही और बुद्धिगम्य ढंग से समझाने की अधिक चेष्टा की है ।

ईसाई मिशन अपने धर्म के विभिन्न पहलू जन-साधारण को समझाने के लिए इतना सुलभ, समर्थ, सुन्दर, सस्ता साहित्य छापते है कि उसे पढ़ने वाला प्रभावित हुए बिना नहीं रहता । यह साहित्य पुस्तकालयो में रख देने या किताबों की दुकान खोल देने से काम नहीं चल सकता था । उथले लोग केवल अपने स्तर का साहित्य खरीदते हैं । विचारोत्तेजक साहित्य पढ़ने में किसी विरले को ही रुचि होती है । इसलिए ऐसा साहित्य सदा व्यक्तिगत आग्रह अनुरोध के आधार पर लोगों तक पहुँचाने और गले उतारने का प्रयत्न करना पड़ता है । ईसाई धर्म के कार्यकर्ता यही करते हैं । वे घर-घर जाकर, हाट-बाजार में खड़े होकर लोगो को उस साहित्य को पढने की प्रेरणा करते और वेचते सर्वत्र देखे जा सकते हैं । ऐसा साहित्य लिखने और छापने भर से काम नहीं चल सकता । उसे पढ़ने, खरीदने के लिए व्यक्तिगत आग्रह, अनुरोध का दबाव डालना आरम्भिक स्थिति में अनिवार्य ही होता है । मिशनरी यही करते रहे हैं । उन्होंने घर-घर जाकर यह साहित्य पहुँचाने में रत्तीभर भी झिझक नहीं की है । वरन् इसे धर्म सेवा का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष माना है । कीमती गिरजाघर बनाने और उन्हें खर्चीले आडम्बरों के साथ चलाने में पैसा खर्च करने की तुलना में पिछले दिनों यही उत्तम समझा गया है कि गिरजे का संदेश घर-घर आत्म धर्मावलम्बियों तक पहुँचाया जाय । सो उस धर्म के लोगों ने प्रचुर धन बाइबिल सोसाइटी को दिया है फलस्वरूप संसारभर की छोटी-बड़ी लगभग ६०० भाषाओं में बाइबिल के अति सस्ते संस्करण छपे हैं और अन्य छोटा बड़ा साहित्य इतना छपा है, इतना बिका बँटा है कि उसकी कल्पना भर से आश्चर्य होता है । ईसाई मिशन प्राय: ३०० अरब रुपया प्रतिवर्ष प्रकाशन प्रचार कार्य में खर्च कर देते हैं ।

कम्युनिस्ट साहित्य के बारे में भी यही बात कही जा सकती है । साम्यवादी विचारधारा का परिचय और उसे समझाने वाला साहित्य आँधी तूफान की तरह छपता है । आज की स्थिति और मनोभूमि को समझते हुए उनके साथ तालमेल बिठाने वाला-उदय और बुद्धिवादी साहित्य प्रस्तुत करने में अनेक लेखक और प्रकाशक प्राण-पन से जुटे हुए हैं । इस मान्यता पर विश्वास करने वाले इस साहित्य के प्रसार में अपनी मिशन को सफलता सन्निहित देखते हैं, सो उसके लिए बड़ी लगन और तत्परता के साथ उसे आग्रहपूर्वक बेचते और पढ़ाते हैं । ईसाइयों का तरीका कम्युनिस्टों ने भी अपनाया है और प्रचार के बल पर वे भी थोड़े समय में आधी से अधिक विश्व-जनता को अपने प्रभाव में एक शताब्दी के अन्दर ही ले आये हैं । चीन, रूस, हंगरी, पोलैण्ड, चेकोस्लोविया, रूमानिया, यूगोस्लाविया, अलजीरिया आदि साम्यवादी देशों की आबादी डेढ़ अरब अर्थात् दुनिया की आधी है । इसके अतिरिक्त अन्य देशों में भी बड़ी संख्या में कम्युनिस्ट मौजूद हैं और बढ रहे हैं । इस अभिवृद्धि का कारण उस विचारणा की महत्ता ही नहीं-उस पार्टी के सदस्यों की प्रचार क्षमता भी है । साम्यवादी प्रकाशन ईसाई प्रकाशन की तुलना में पीछे नहीं है । कम्युनिस्ट देश इस प्रकार का प्रकाशन न केवल अपनी प्रजा की विचारणा परिपक्व करने के लिए छापते हैं वरन् समस्त विश्व में-विभिन्न देशों की मनोदशा के अनुरूप भाव और भाषा में अनुवादित करके उसका निर्माण करते हैं ।

हर समझदार आदमी जानता है कि प्रचार के बल पर मामूली चीजों को भी बहुमूल्य सिद्ध किया जा सकता है, प्रचार के बिना मूल्यवान वस्तुएँ भी अवज्ञा के कूड़ेदान में पड़ी रहती हैं और प्रचार के द्वारा जरा-सी दवा अमृत-धारा और सुधा-सिन्धु बन जाती है । सच्ची, अच्छी और महत्त्वपूर्ण वस्तुओं को भी प्रचार की आवश्यकता है । लोक-मानस को आदर्शवादिता और उत्कृष्टता की दिशा में प्रोत्साहित करने के लिए-आज की मनोदशा और स्थित को ध्यान में रखते हुए प्रखर प्रेरणाओं से भरे साहित्य का सृजन अनिवार्य रूप से आवश्यक है । सृजन के साथ-साथ प्रकाशन, विक्रय और प्रचार का विशालकाय तन्त्र खड़ा किया जाना भी आवश्यक है । विश्व का भावनात्मक नव-निर्माण इस तथ्य की उपेक्षा करके सम्भव नहीं हो सकता । जनता को सच्चाई का जब तक पता ही न चले, लोग प्रकाश की किरणें देख ही न पायें तब तक उनके लिए पुराने अभ्यस्त ढर्रे से विरत होना कठिन है । नैतिक क्रान्ति, विचार-क्रान्ति और सामाजिक-

क्रान्ति की त्रिवेणी विनिर्मित करने के लिए हमें ज्ञान गंगा के अवतरण का भगीरथी प्रयत्न करना ही चाहिए । इन प्रयत्नों में युग साहित्य के सृजन को प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए ।

हम इस दिशा में एक छोटी शुरूआत कर चुके हैं । युग-निर्माण योजना द्वारा छोटी-छोटी पुस्तकें, विज्ञप्तियाँ, छोटे ट्रैक्ट, पत्रिकाएँ छपने का ढर्रा आरम्भ किया गया है । स्वल्प साधनों से इसका प्रकाशन भी चलाया है और अन्य भाषाओं में भी हाथ-पैर फैलाये हैं । यह शुभारम्भ एवं मार्ग-दर्शन मात्र है । अपने परिवार के सदस्यों द्वारा झोला पुस्तकालय के रूप में इस साहित्य के प्रचार का भी क्रम चलाया गया है । यह एक मार्ग-दर्शक ढाँचा मात्र है । बात को केवल कहने की अपेक्षा उसे व्यावहारिक रूप-चाहे वह प्रयोग छोटा ही क्यों न हो-करके दिखाना अधिक स्पष्ट कल्पना दे सकता है । इस दृष्टि से युग निर्माण प्रकाशन एवं प्रचार संस्थान का कलेवर खड़ा किया है और उसका प्रकाश जन-मानस तक पहुँचाने का प्रयत्न इस दृष्टि से किया है कि लोग प्रत्यक्ष देखें कि इतने स्वल्प साधनों से-छोटे परिमाण में किये जा सकने वाले प्रयत्न भी यदि सारगर्भित हों तो कितने ही कारगर सिद्ध हो सकते हैं ।

इस प्रक्रिया को अधिक व्यापक बनाया जाना चाहिए । समस्त विश्व में बिखरी हुई मानव जाति की अनेक संस्कृतियाँ, मान्यताएँ, भावनाएँ, परम्पराएँ, भाषाएँ एवं समस्याएँ हैं । उनको स्पर्श करते हुए आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता धर्म एवं संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर विभिन्न ढंग से अनेक माध्यमों से प्रकाश डाला जाता है । इसके लिए बहुत कुछ बहुत ढंगों का-बहुत माध्यमों से लिखा और छापा जाना चाहिए । चूँकि विश्व का भावनात्मक निर्माण-ईसाई धर्म और कम्युनिस्ट दोनों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है । इसलिए उसका स्वरूप समझाया जाना भी उतना ही आवश्यक है इसके लिए विशालकाय सृजन तन्त्र खड़ा किया जा सकता है और किया जाना चाहिए । यदि साधन जुटाये जा सकें तो यह अच्छी शुरूआत जो युग-निर्माण योजना द्वारा आरम्भ की गई है बहुत आगे बढ़ सकती है और ईसाई एवं कम्युनिस्ट प्रचार को बहुत पीछे छोड़कर अपनी वास्तविकता के कारण विश्व मस्तिष्क पर जादू की तरह आच्छादित हो सकती है । जरूरत साधनों की है । यदि लोग उसकी उपयोगिता और आवश्यकता सच्चे मन से समझ सकें तो आज जिन साधनों का जुटना कठिन लगता है कल ही वह अति सरलतापूर्वक इकट्ठे हो सकते हैं ।

इस प्रकार का बौद्धिक अनुदान मानव जाति की महानतम सेवा सिद्ध हो सकता है । पेट के लिए खाद्य-पदार्थ के उत्पादन की ओर सबका ध्यान है, उसकी स्वच्छता और पौष्टिकता को भी महत्त्व दिया जाता है पर आत्मा की भूख बुद्धि की क्षुधा-भावना की खुराक की आवश्यकता पूरी कर सकने वाले साहित्य का कितना अकाल पड़ रहा है उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता । केन्टीन, होटल, मिठाईघर गली, मुहल्ले में खुलते जा रहे हैं, अन्न, शक्कर, दूध, शाक, फल आदि के उत्पादन का भी बहुत जोर है पर कोई यह नहीं सोचता कि मनुष्य में आत्मा भी है-बुद्धि भी है और उसे भी स्वच्छ तथा पौष्टिक आहार की जरूरत है । इस अभाव की पूर्ति की ही जानी चाहिए । जिस विषाक्त बौद्धिक भोजन ने जन-मानस को पतित स्तर पर ले जाकर पटक दिया है उसे हटाने के लिए केवल विरोध ही पर्याप्त न होगा वरन् उसकी तुलना में सृजनात्मक उपयुक्त वस्तु सामने रखनी होगी । इसके बिना जनता को अवांछनीय साहित्य को पढ़ने और उसके दुष्प्रभाव से प्रभावित होने को रोका नहीं जा सकेगा ।

हमें सृजन को ध्यान में रखकर सोचना चाहिए और इस सृजन में ऐसे प्रखर सत्साहित्य के निर्माण को अग्रिम पंक्ति में रखना चाहिए जो लोक-मानस का भावनात्मक काया-कल्प कर सकने में समर्थ सिद्ध हो सके ।

कला की शक्ति लोकमंगल में लग जाय

शिक्षा की भाँति ही कला का प्रभाव मानव मन पर पड़ता है । उसमें भावनाएँ-सम्वेदनाएँ उभारने-प्रवृत्तियों को ढालने तथा चिन्तन को मोड़ने एवं अभिरुचि को दिशा देने की अद्‌भुत क्षमता भरी पड़ी है । संगीत, गायन, अभिनय, चित्र, साहित्य, कविता आदि के माध्यम से कला विकसित होती है । इसमें मनोरंजन, सौन्दर्य-प्रवाह उल्लास न जाने क्या-क्या तत्व भरे पड़े हैं जो मानव मन को सम्मोहित कर बदलने, पलटने में अत्यधिक समर्थ सिद्ध होते हैं । कलाकारों ने राष्ट्रों और संस्कृतियों को उठाया और गिराया है । कला अमृत भी है और विष भी, वह अपने जमाने के व्यक्ति और समाज को पतन के गर्त में भी डुबो सकती है और उत्थान के शिखर पर भी पहुँचा सकती है । शिक्षा से भी कला में अधिक सामर्थ्य है । शिक्षा का प्रभाव वर्षों में दीख पड़ता है, पर कला अपना जादू तत्काल दिखाती है और व्यक्ति को बदलने में लोहा पिघलाकर पानी बहा देने वाली भट्टी की तरह मनुष्य की मनोवृत्तियों में भारी रूपान्तर प्रस्तुत करती है ।

रचनात्मक कार्यों में दूसरा मोर्चा कला का है । कला की जितनी दुर्गति इन दिनों हुई है, इतिहास साक्षी है कि पृथ्वी की स्थापना से लेकर आज तक वैसी कभी नहीं हुई । साहित्य के आधार पर किसी समय के समाज संस्कृति तथा मनोभूमि का मूल्यांकन किया जाता है आज विचित्र परिस्थिति में पड़ा हुआ है । प्रेस जो छापता है, बुकसेलर जो बेचता है, पाठक जो पढ़ता है इसका विवरण इस प्रकार है –

कामुकता भड़काने वाले उपन्यास-मनोरंजन	४८ प्रतिशत
अन्ध विश्वास तथा-साम्प्रदायिक प्रतिपादन	८ प्रतिशत
राजनीति	९ प्रतिशत
समाज	३ प्रतिशत
अध्यात्म धर्म दर्शन	३ प्रतिशत
जीवन-निर्माण	२ प्रतिशत
स्कूली शिक्षा	१ प्रतिशत
	२६ प्रतिशत

यह आँकड़े बताते हैं कि हमारे साहित्यकार-कवि, प्रकाशक, मुद्रक, पुस्तक-विक्रेता मिल-जुलकर क्या वस्तु समाज को दे रहे हैं । साहित्य बौद्धिक अन्न है । उसे पचाकर ही जनमानस का सृजन होता है । शिक्षितों की सार्वजनिक मनोभूमि का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि उसमें क्या बोया और क्या उगाया जा रहा है । फल भी बीज के अनुरूप ही हो सकते हैं ।

प्रेरक साहित्य जनमानस को हिलाकर रख सकता है । सुधारात्मक और सृजनात्मक साहित्य ने युगान्तकारी सामाजिक काया-कल्प प्रस्तुत किये हैं । अति प्राचीनकाल में शस्त्रों से क्रान्तियाँ होती थीं, आज साहित्य की शक्ति से युग बदलते हैं । रूसो के प्रतिपादित प्रजातन्त्र सिद्धान्त और कार्लमार्क्स के प्रतिपादित साम्यवाद सिद्धान्त ने आज संसार की ८३ प्रतिशत प्रजा के मस्तिष्कों पर अपना शासन जमाया हुआ है और भी अधिक खुलासा करना हो तो यों कहा जा सकता है कि यह रूसो और मार्क्स ही असली मानी में विश्व की शासन व्यवस्था चला रहे हैं । साहित्य की शक्ति अपार है । उसे प्रयुक्त करके साम्यवाद के प्रयोक्ताओं ने लगभग आधी दुनिया को उसी ढाँचे में ढाल दिया, जिसमें कि वे चाहते हैं । हम इस साहित्य की महाशक्ति को फूहड़ कामुकता भड़काने-भौंड़े मनोरंजन में उलझाने और बुद्धिभ्रम फैलाने में प्रयुक्त कर रहे हैं । स्कूली साहित्य को जानकारी मात्र मान लें तो सृजनात्मक और प्रेरक साहित्य केवल ६ प्रतिशत रह जाता है । जिसे मूल पूँजी की तुलना में बैंक ब्याज की बराबर ही माना जाना चाहिए । बौद्धिक खुराक इतनी कम हो तो जनमानस मे प्रेरणात्मक उमंगें उठने की कैसे आशा की जाय ?

कवित्व, संगीत, वाद्य, अभिनय का एक वर्ग है । कला के यह जादू भरे चारो पाये हमें न जाने कहाँ उड़ाये लिए जा रहे हैं । पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले, पुस्तकों में छपने वाली और वैयक्तिक तथा सामूहिक रूप में गाई जाने वाली कविता का स्तर और भी दयनीय है । कामुकता, कामुकता, कामुकता--शृंगार, शृंगार, शृंगार हर दिशा में कविता यही सब गुंजार रही है । दिल के मरीज, आँखों के घायल, बुलबुल, परवाने, मजनूँ, दीवाने यही वह धुरी है, जिसके आस-पास आज की कविता चक्कर काट रही है । बेचारे प्रेम की आत्मा कोस रही है कि मेरे नाम पर फर्जी नामधारियों में वासना की उच्छृंखलता एवं विकृत वासनाओं को जिस चतुराई से लाकर प्रतिष्ठित क[र] दिया और प्रेम का तत्त्व ज्ञान लगता है इस दुनिया में से उ[ठ] ही जायगा । जब उसे समझने, समझाने की कहीं ज़रूरत ही न समझी जायगी तो यह बेचारा इस बहरी दुनिया में जीकर करेगा भी क्या ?

सिनेमा इस युग में एक नये जादू की तरह आया है । उसने कोमल भावना वाले उदीयमान नवयुवकों को अपने सम्मोहन पाश में कसकर जकड़ा है । यह सस्ता मनोरंजन जन-साधारण को अच्छा लगा है और एक प्रकार से स्वी... उसका स्वागत हुआ है । संगीत सम्मेलन, कवि सम्मेलन, अभिनय, नृत्य, नाटक आदि के क्षेत्र सिकुड़ने-सिकुड़ते मरणासन्न होते जा रहे हैं, सबकी आत्मा धीरे-धीरे सिनेमा में समाती चली जा रही है । विज्ञान का यह जादू मन-मानस पर सीधा प्रभाव डाल रहा है और उसकी गहरी छाप पड़ रही है । कला की चर्चा करनी हो तो अब सिनेमा को प्रमुख स्थान देना पड़ेगा ।

यह सिनेमा यदि आदर्शवादिता, उत्कृष्टता, सद्... निर्माण, समस्याओं के हल एवं विश्वशान्ति की अ[ोर] उन्मुख रहा होता तो स्वस्थ मनोरंजन के साथ लोक-मंग[ल] की आशाजनक सम्भावनाएँ प्रस्तुत कर सकता था । प[र] 'मरे को मारे शाह मदार' वाला दुर्भाग्य यहाँ भी आ विराजा । हजार वर्ष की पराधीन, पिछड़ी और पथभ्र[ष्ट] कौम को स्वस्थ मार्गदर्शन देने की अपेक्षा सिनेमा उलटी दिशा में ही घसीटने लग पड़ा । अपने फिल्मों में जो कथानक, अभिनय, गायन, नृत्य होते हैं उनमें प्रेरक-प्रसं[ग] तो यदा-कदा ही दिखाई देंगे । अधिकतर कामुकता, अश्लीलता, उग्रता, उच्छृंखलता एवं पशु-प्रवृत्ति को भड़काने वाले प्रसंग ही मिलेंगे । इन्हें रुचिपूर्वक देखने वाली जनता किधर चल रही है, इसे सहज ही परखा जा सकता है । सर्वसाधारण में विशेषतया नव-युवक, नव-युवतियों में जो चर्चा न करने योग्य दुष्प्रवृत्तियाँ आँधी-तूफान की तरह पनप रही हैं और जिनकी प्रतिक्रिया अगले दिनों प्रचुर मात्रा में घटित होने वाली हैं, अवांछनीय घटनाओं के रूप में सामने आ रही हैं । उसे हमारा एक दुर्भाग्य ही कहना चाहिए ।

रेडियो दिन भर सिनेमा के गीत गाता है, हम सब उन्हीं को गुनगुनाते, लाउडस्पीकरों से यही सब सुनाई पड़ता है । सिनेमा संगीत ही वस्तुतः आज का युग गायन है । अब ठुमरी, कजली, भैरवी, कव्वाली तो गुजरे जमाने की चीजें हो गईं । कवि सम्मेलन, कविता पुस्तकें तो एक कोने में पड़ी यदा-कदा देखने में आने वाली चीजें हैं । पत्र-पत्रिकाओं ने भी अब नया ढंग इस झंझट से पीछा छुड़ाने का आरम्भ कर दिया है । कुछ दिन पहले तक तुकान्त कविताएँ छपती थीं जो गाई-बजाई, गुन-गुनाई जा सकती थीं । पर अब अतुकांत कविताओं का फैशन चल पड़ा है जिन्हें न लिखने वाला समझता है और न पढ़ने वाला । गायन के प्रयोजन से तो उनका पल्ला छूट ही जाता

है। नाटक मर चले, नृत्य अभिनय वारांगनाओं के पल्ले बँध गये। कला का महत्वपूर्ण क्षेत्र गायन, संगीत, वाद्य, अभिनय के साथ जुड़ा हुआ था और उसके द्वारा स्वस्थ मनोरंजन के साथ लोक-रुचि को परिष्कृत करने में भारी योगदान मिलता था, पर अब तो लगता है गंगा उलटी बहेगी और सूरज उलटा घूमेगा। कला जैसी मानव अन्तःकरण की अभिव्यंजना जब इस प्रकार अधःपतित होती चली जायगी तो मानवीय आदर्शों का प्रवाह भी पतनोन्मुख होने से क्यों रुकेगा ?

कला के चित्र-पक्ष की भी यह दुर्दशा है। औघड़ देवी-देवताओं के अतिरिक्त ९० प्रतिशत चित्र अर्द्धनग्न, फूहड़, भाव-भंगिमा भरे कामुक और अश्लील चित्र, रमणी और रूपसी के रूप में नारी को चित्रित करने वाले ही मिलेंगे। वेश्याएँ जैसे हाव-भाव लम्पटों को फुसलाने के लिये बनाती हैं, लगभग उसी स्तर की तस्वीरों से बाजार पटा पड़ा है। कला और सुसज्जा के नाम पर यदि एकमात्र आधार यह कुत्सा ही रह गई हो तो बात दूसरी है अन्यथा सौन्दर्य के अगणित आधार, चित्रकला की मार्मिकता विकसित करने के लिए अभी जीवित हैं। सब ओर से मन हटाकर केवल नारी के शील पर आँच लाने वाले और उसके प्रति कुदृष्टि भड़काने वाले चित्रों का चित्रण, प्रकाशन, मुद्रण और विक्रय की दुरभिसन्धि से क्या कुछ बनने वाला है। लोगों के भीतर बैठे हुए असुर की तृप्ति करके इस प्रकाशन से पैसे बटोरने के साथ यह भी सोचना चाहिए कि इस कला की दुर्गति का परिणाम हमारी संस्कृति और नैतिकता को कितना महँगा पड़ेगा।

सुरुचि और शालीनता का तकाजा है कि नारी की पवित्रता और उत्कृष्टता को बनाये रखा जाय। उसे माता, भगिनी और बेटी के रूप में ही चित्रित किया जाय। रमणी और कामिनी का भी उसका रूप हो सकता है, पर उसकी सीमा दाम्पत्य-जीवन की मर्यादाओं तक ही सीमित रहनी चाहिए। उसका सार्वजनिक प्रदर्शन तो वेश्या ही कर सकती है। हमारे लिए यह अनुचित होगा कि हम अपनी माता, भगिनी और पुत्री का ऐसा चित्रण करें जो कुत्सायें, भड़काएँ और कुमति उत्पन्न करे। कला के लिए अगणित क्षेत्र खुले पड़े हैं। उनमें से अनेक तो ऐसे हैं, जो पशु को मनुष्य और मनुष्य को देवता बना सकने में समर्थ हो सकते हैं। क्यों न चित्रकला इस कुत्सा को छोड़कर ९९ प्रतिशत विश्व में फैले पड़े सुरुचिपूर्ण सौन्दर्य को चित्रित करके अपने स्तर को ऊँचा रखे।

हम जानते हैं कि लोगों की डाढ़ में वह चस्का लग गया है, जो जन-मानस की दुर्बलता से लाभ उठाकर अपनी तिजोरियाँ जल्दी-जल्दी भर ली जायें, लोगों का, समाज का अहित होता है तो हो, इसी प्रकार लोक-रुचि के निकृष्ट तत्व अपनी कुत्सा की तृप्ति जहाँ देखते हैं, वहीं गन्दगी पर भिनकने वाली मक्खी की तरह टूट पड़ते हैं और यह नहीं देखते कि हम पैसा और समय खर्च करके राजी-खुशी उस विष को खरीद रहे हैं जो उनके लिये नैतिक, पारिवारिक, मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य को नष्ट कर देगा। पर इस अज्ञान-अन्धकार की जोड़ी पर कुड़मुड़ाते रहने से काम क्या चलने वाला है। हमें बुरी वस्तु की तुलना में अच्छी वस्तु रखकर लोगों की विवेक बुद्धि को यह अवसर देना चाहिए कि वे दो में से एक को चुन सकें। जब एक ही प्रवाह है एक ही हवा है, तो उसमें भले-बुरे सभी बहेंगे। बुरे के मुकाबले में अच्छे की प्रतिद्वन्द्विता का ही मार्ग शेष रह जाता है और सरकार में कुछ दम होता तो कलम के एक झटके में यह सारी खुराफातें बन्द हो सकती थीं। बैंक की तरह कला का भी राष्ट्रीयकरण किया जा सकता था और शिक्षा तथा कला को लोक-निर्माण की दिशा में प्रयुक्त किया जा सकता था। पर अभी ऐसी आशा करना व्यर्थ है। हमें जन-स्तर पर ही शिक्षा की भाँति कला का भी निखरा रूप जन-साधारण के सामने रखना होगा। सरकारी स्तर पर न सही-जनता के विवेक का स्तर अभी शेष है। हमें उसी को जगाना और प्रयुक्त करना है।

'कला कुत्सा के लिए नहीं' का नारा लेकर हम आगे बढ़ेंगे और सुरुचिपूर्ण कला को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करेंगे। ऐसा सुगठित साहित्य-तन्त्र खड़ा किया जाना चाहिए जो व्यक्ति और समाज की मूलभूत समस्याओं के समाधान की सामिग्री हर दृष्टि से प्रस्तुत करे। निबन्ध, कविता, कथा, विवेचना, परिहास आदि विभिन्न स्तरों की विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों की आवश्यकता पूरा करने वाला साहित्यकारों एवं कवियों का सहयोग भी मिल सकता है। अपने नाम को कलंकित करके एक रुपया कमाने की अपेक्षा अपना सम्मान पीछे के लिए छोड़ जाने वाले आठ आने लेकर भी शायद वे काम चला लें। ऐसा साहित्य प्रकाशित करने के लिए पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी। ऐसी वस्तुएँ पढ़ने के लिए लोकरुचि जाग्रत करनी पड़ेगी तथा वे सर्वत्र उपलब्ध हो सकें-ऐसा प्रबन्ध करना होगा। कुरुचि ने ऐसे साहित्य के प्रति सर्वत्र उपेक्षा एवं अवज्ञा के भाव उत्पन्न कर दिये हैं, इसलिए न तो वैसी चीजें लेखक लिखते हैं, न प्रकाशक छापते हैं और न विक्रेता बेचते हैं, क्योंकि बिक्री कम होने से उन्हें पूरा लाभ नहीं मिलता। हमें साहित्यकारों को ही इधर आमन्त्रित नहीं करना होगा वरन् प्रकाशन और विक्रय के लिये भी एक स्वतन्त्र संगठन खड़ा करना होगा। लोक-मानस को आदर्शवादिता की ओर मोड़ने के लिये यह व्यवस्था जुटानी नितान्त आवश्यक है, भले ही वह कितनी की कष्ट-साध्य एवं जटिल क्यों न हो।

युग-निर्माण योजना के केन्द्र गायत्री तपोभूमि, मथुरा से यह प्रवृत्ति छोटे रूप में आरम्भ हुई और व्यक्ति, परिवार

और समाज के नव-निर्माण के लिए-स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज की अभिनव रचना के लिये सस्ती ट्रैक्ट माला की सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित की गयी हैं । बीस पैसा रोज निकालने वाले इन्हें माँगते हैं और अपने सम्पर्क-क्षेत्र में इन्हें पढ़ाते हैं । पुस्तक विक्रेता इन्हें पसन्द नहीं करते, क्योंकि बिक्री भी कम और लाभ भी कम हो तो कोई दुकानदार क्यों इस झंझट में पड़े । अपनी विक्रय-व्यवस्था घरेलू ज्ञान-मन्दिरों के माध्यम से है । हाथ से धकेली जाने वाली छोटी गाड़ियों में गतिशील रहने वाले 'चल पुस्तकालयों' की योजना भी इस साहित्य के लिए अभिरुचि तथा क्षेत्र उत्पन्न कर रही है । प्रयोग छोटा है, क्योंकि अपने साधन छोटे हैं । पर तरीका यही है । नव-निर्माण के लिए उपयुक्त साहित्य का सृजन और प्रसारण इन्हीं तरीकों से होगा ।

अभी इस दिशा में बहुत काम करना बाकी है । अनेक विषयों के माध्यम से लोक-रुचि को आदर्शवादिता की ओर मोड़ने के लिए अनेक पत्र-पत्रिकाओं की जरूरत है । अनेक भाषाओं में अनेक विषयों की उत्कृष्टता का समावेश करने वाला साहित्य छपना चाहिए और विक्रय का व्यापक तन्त्र खड़ा किया जाना चाहिए । पूँजी के अभाव में राष्ट्र की यह महती आवश्यकता आज तो एक प्रकार से रुकी ही पड़ी है, पर आशा की जा सकती है कि भविष्य में प्रकाश की किरणें भी कहीं से उदय होंगी और इस कुरुचिपूर्ण साहित्य की प्रतिद्वन्द्विता हम समग्र नव-निर्माण के अति महत्त्वपूर्ण साहित्य का सृजन करके जन-मानस का कायाकल्प कर सकने में समर्थ होंगे । ऐसे ही प्रयत्न और लोग कर सकते हैं । अपना तो मार्गदर्शक प्रयोग है ।

कविता, गायन, संगीत, वाद्य और अभिनय के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकता है । अब समय बदल रहा है, कितनी उच्चस्तरीय फिल्में कुरुचिपूर्ण और बदनाम फिल्मों से भी अधिक सफल सिद्ध हो रही हैं । इससे आभास मिलता है कि कुरुचि के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया होने वाली है और अगले दिनों सुरुचिपूर्ण कला को उचित स्थान और सम्मान मिलने वाला है ।

हम सहयोग-समितियों के माध्यम से अथवा किन्हीं साधन-सम्पन्न व्यक्तियों को नव-निर्माण की आवश्यकता पूर्ण कर सकने वाली फिल्में बनाने के लिए प्रोत्साहन देकर युग की आवश्यकता पूरी कर सकने वाली फिल्में बनाने वाला एक तन्त्र खड़ा कर सके तो निश्चय ही उससे आशा-जनक परिणाम निकलेगा । आर्थिक दृष्टि से इस प्रकार के उद्योगों में कोई घाटा होने वाला नहीं है । लोगों का भय अगले दिनों सर्वथा निर्मूल सिद्ध होगा कि आदर्शवाद को सुनने-देखने वाला कोई नहीं । वस्तुतः कुत्सा भरी कला के विरुद्ध अब घृणा इतनी गहरी हो चली है कि यदि कोई उत्कृष्ट कला, उत्कृष्ट निर्देशन में प्रस्तुत की जाय तो उस पर जनता टूट पड़ेगी । आवश्यकता केवल साहस और पूँजी एकत्रित करने की है । घिनौना समझा जाने वाला आज का सिनेमा कल भावनात्मक नव-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सकता है ।

आजकल फिल्मों की लागत महँगे नट-नटियों के द्वारा निर्माण कार्य में अन्धाधुन्ध साज-सज्जा करने के कारण बहुत महँगी पड़ती है । कुशलता के साथ यदि उन्हें बनाया जाय तो वे चौथाई लागत में बन सकती हैं । मठाधीश कलाकारों को छोड़कर सेवाभावी और आदर्शवादी नट पात्रों की माँग की जाय तो इस क्षेत्र में स्वयंसेवक की तरह अपने को खपा देने वाली कितनी ही ऐसी प्रतिभाएँ सामने आ सकती हैं, जिनके करतब दर्शकों को चकित करके रख दें ।

लाउडस्पीकरों पर बजने वाले रिकॉर्ड राष्ट्र की एक महती आवश्यकता पूर्ण करेंगे । ग्रामोफोन तो अस्त हो गया, पर लाउडस्पीकरों के लिये आज भी उनकी जरूरत है । रेडियो स्टेशनों से भी रिकार्ड बजाये जाते हैं पर अभी जो रिकार्ड उपलब्ध हैं, उनमें दस-पाँच ही ऐसे मिलेंगे जो जन-जागरण का प्रयोजन पूरा करते हों । शेष तो उसी लकीर को पीटते हैं, जिस पर कला का हर घोड़ा दौड़ लगा रहा है । एक ऐसा तन्त्र खड़ा किया जा सकता है, जो प्रेरणाप्रद और दिशा-दर्शक रिकार्ड बनाये और उन्हें बाजार में लाये । सहयोग समितियों अथवा व्यक्तिगत उद्योग के रूप में, कैसे भी यह कार्य किया जाय, पूँजी पूर्ण सुरक्षित रहेगी और लोक-मंगल का प्रयोजन भी पूरा होगा ।

फिल्म और रिकार्डों का निर्माण युग परिवर्तन का प्रयोजन पूरा करने में एक सीमा तक बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है । यदि व्यवहार-कुशल लोगों का ध्यान इस ओर चला जाय तो आर्थिक लाभ भी मिलेगा और समाज की महती सेवा भी होगी । घाटे की तो कोई सम्भावना है ही नहीं । धनी व्यक्तियों को यदि इधर बढ़ाने का साहस न हो तो लिमिटेड कम्पनी या सहयोग समिति का कोई कुशाग्र व्यक्ति गठन कर सकता है और उस आधार पर भी यह गाड़ी आगे बढ़ सकती है ।

यही बात चित्रों के सम्बन्ध में है । महापुरुषों के, धार्मिक-मार्मिक घटनाओं के, सौजन्यतापूर्ण अभिव्यक्ति के चित्रों की इतनी तो खपत हो ही सकती है कि कुरुचिपूर्ण तस्वीर बनाने-बेचने वालों की तुलना में एक उद्योग जीवित रह सके । विभिन्न स्तर की आवश्यकताएँ पूर्ण करने वाले आदर्श विकल्प प्रस्तुत करके भी चित्रों द्वारा की जाने वाली सुसज्जा को स्थानापन्न प्रतिद्वन्द्वी आधार प्रस्तुत किया जा सकता है । युग-निर्माण योजना ने ऐसा कुछ हल्का-सा आयोजन आरम्भ भी किया है ।

शहरी क्षेत्र तो सिनेमा ने जकड़ लिया, फिर भी जीवित अभिनय की सम्भावना अभी सर्वथा मृत नहीं हुई है । सजीव पात्रों के व्यक्तित्व, कण्ठ तथा सान्निध्य में जो आकर्षण है वह सदा बना रहेगा, यदि सजीव अभिनय को आज की परिस्थिति एवं सुसज्जा के साथ पुनः सक्रिय किया जा सके तो उसका भी स्वागत होगा । मथुरा क्षेत्र में लगभग १०० रास-मण्डलियाँ हैं और उनमें १०-१५ से कम

की कोई टोली नहीं होती । लगभग हजार डेढ़ हजार व्यक्ति केवल रासलीला को सौ वर्ष पुराने ढंग-ढर्रे पर अपने अभिनयक्रम को चलाते हुए आजीविका कमा रहे हैं । उसकी माँग सदा देश के विभिन्न प्रान्तों में बनी रहती है । यही ठीक है कि उनके पीछे कृष्ण भगवान की लीला देखने की एक धार्मिक प्रवृत्ति भी जुड़ी रहती है पर यह भी स्पष्ट है कि संगीत, वाद्य, अभिनय का आकर्षण भी कम नहीं है । एकाकी कृष्ण-लीला को ही आकर्षण मानें और संगीत-अभिनय रहित उसे बना दें तो उसका आकर्षण कदाचित् ही स्थिर रह सके ।

कला का नाटक और अभिनय वाला पहलू काफी आकर्षक है । इसे सुयोग्य और सधे हुए हाथ अपने ढंग से सजाएँ, सँभालें और बदलें तो ८० फीसदी देहातों में बसे हुए भारत को जहाँ एक स्वस्थ मनोरंजन मिल सकता है, वहाँ लोक-मानस की दिशाएँ बदलने का क्रान्तिकारी उद्देश्य भी पूरा हो सकता है । पूरे नाटक, एकांकी नाटक, नृत्य-नाटिका, कवि-दरबार, छाया-अभिनय आदि अनेक एक से अधिक आधार ढूँढे जा सकते हैं और उन्हें टेपरिकार्डर में भरी हुई दूसरों की अधिक सुन्दर स्वर-लहरियों तथा वाद्य-विशेषता के साथ जोड़कर और भी अधिक आकर्षक बनाया जा सकता है ।

इस प्रकार संगीत, वाद्य और अभिनय की त्रिवेणी मिलाकर जन-भावनाओं को लहराने और ऊँचा उठाने का प्रकाश दिया जा सकता है । इस सरंजाम के साथ मनुष्य को वर्तमान अवांछनीयता के दुष्परिणामों से परिचित कराने और उनके विरुद्ध संघर्ष करने के लिए सहज ही उत्तेजित किया जा सकता है ।

आवश्यकता एक ऐसे कला-केन्द्र की है, जो संगीत, वाद्य और अभिनय की त्रिवेणी को तीर्थराज बनाकर व्यक्ति और समाज के पाप-तापों को धोने के लिए अथक काम कर सके । समुचित प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति ही इस क्षेत्र में प्रवेश कर आशाजनक परिणाम उत्पन्न कर सकेंगे । इसलिए सबसे पहले आवश्यकता उपयुक्त छात्रों को प्रशिक्षित करने की है और यह काम कोई साधन-सम्पन्न विद्यालय ही कर सकता है ।

इस संदर्भ में हम चाहते हैं कि अपने परिवार की कला-प्रवृत्ति एक केन्द्र पर इकट्ठी हो । जिनके कण्ठ-स्वर मीठे हैं, उन्हें अपनी उस प्रतिभा को राष्ट्रमाता के लिए अर्पित करना चाहिए । जिनको वाद्य बजाने में प्रवीणता है, उन्हें अपनी क्षमता लोक-मंगल के लिए भेंट चढ़ानी चाहिए । नृत्य, अभिनय के उपयुक्त लचक और कोमलता जिनमें है, वे भी उस विशेषता से विश्व-मानव को लाभान्वित करने का संकल्प करें । ऐसी विभूतियाँ शांतिकुंज, हरिद्वार में इकट्ठी हो सकती हैं और उनके प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया जा सकता है । विभिन्न स्तर के प्रदर्शनों के लिए मण्डलियाँ गठित की जा सकती हैं और उन्हें समय-समय पर देश भर में चलते रहने वाले युग-निर्माण सम्मेलनों के साथ जोड़ा जा सकता है । अलग से भी उसकी माँग हो सकती है । इस प्रकार कलाकारों का एक बहुत बड़ा संघ खड़ा हो सकता है, जो बौद्ध-संघों की तरह कला के माध्यम से जन-जागरण का महान् प्रयोजन पूरा करने में जुटा रहे । यह उपलब्धि मनोरंजन मात्र नहीं है । यदि उसे भावनात्मक बनाया जा सके तो क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत किया जा सकता है ।

लोक-रंजन और लोक-मंगल का अनुपम संगम

नव-निर्माण की दिशा में हमारे जो महत्त्वपूर्ण कदम इन दिनों उठ रहे हैं, उन्हें देखते हुए लगता है सृजन का देवता अब अपना प्रयोजन पूरा करने पर ही तुल गया है और उसे पूरा करके ही रहेगा ।

कितने दिनों का स्वप्न था कि कला के माध्यम से जन-मानस को गुदगुदाने उसे भाव-विभोर करने और उस जागरण को सृजन की ओर मोड़ने का प्रयत्न किया जाना चाहिए । यह कल्पना अब स्वप्न न रहकर साकार बनने जा रही है यह कितने हर्ष और सन्तोष की बात है ।

शांति-कुंज के गायत्री नगर में कला भारती का कक्ष बन रहा है । योजना यह है कि लोक-रंजन और लोक-मंगल को समन्वित कर दिया जाय । कला भारती यही करेगी । इस योजना के अन्तर्गत कई कार्य हाथ में लिये जा रहे हैं ।

(१) छाया चित्रों के माध्यम से लोक-शिक्षण । इसके लिए स्लाइड प्रोजेक्टर-सिनेमा प्रोजेक्टर तथा वीडियो नामक तीन प्रकार के विद्युत संचालित यन्त्र काम में लाये जाएँगे जो सिनेमा जैसे छाया चित्र पर्दे पर प्रक्षेपित करेंगे । चित्रों का तात्पर्य लाउडस्पीकर से वक्ता समझाता चलेगा । चूँकि अभी अपने साधन बोलती तस्वीरें बनाने के नहीं हैं इसलिए उसकी अलग से व्यवस्था बनानी पड़ रही है पीछे यदि साधन बढ़े तो टेप रिकार्डर के माध्यम से अथवा फिल्मों में आवाज भरकर भी यह आवश्यकता पूरी की जा सकती है ।

चूँकि मनोरंजन मनुष्य जीवन की एक महती आवश्यकता है । उसके लिए लोग बहुत पैसा खर्च करते हैं यदि बिना पैसे के वैसे साधन सुलभ हों तो शिक्षित, अशिक्षित सभी वर्ग की जनता उसका लाभ लेने के लिए सहज ही एकत्रित हो सकती है । अपना देश ८० प्रतिशत देहातों में बिखरा पड़ा है । शहरों की आबादी २० प्रतिशत है । बोलता सिनेमा जैसे कीमती और खर्चीले मनोरंजन शहरों में सम्पन्न लोगों द्वारा ही खड़े किये जाते हैं । देहातों में उनका कोई प्रवेश नहीं पर वहाँ की जनता भी कुछ तो रासलीला, रामलीला, गरबा, भाँगड़ा जैसे आयोजनों द्वारा वहाँ यदा-कदा मनोरंजन होता तो रहता है, पर उसमें न तो कोई क्रम रहता है और न व्यवस्था । व्यवस्था इसलिए नहीं कि वैसे कोई नियमित कलाकार तो उधर होते नहीं, ऐसे ही

शौकिया लोगों ने जो कुछ सीख लिया है, उसे परस्पर दिखा कर हलका सा मनोरंजन कर लेते हैं । सिनेमा की मांग आवश्यकता यहाँ भी है । चलते-फिरते कैम्प सिनेमा अक्सर इस आवश्यकता को पूरा करते भी रहते हैं अब अपनी योजना में से व्यवस्थित स्वरूप दिया जा रहा है ।

उपरोक्त प्रकाशन चित्र जिनका वर्णन ऊपर किया गया है । देहातों के लिए यह प्रयोजन पूरा करते हैं । काँच या स्लाइड पर अपनी मनमर्जी के चित्र बनाये जा सकते हैं इन्हें यह स्लाइड प्रोजेक्टर लगभग ७ फुट ऊँचे और ५ फुट चौड़े आकार के पर्दे पर दिखा देगा । यह चित्र सादे भी हो सकते हैं और रंगीन भी । इनका परिचय और प्रयोजन लाउडस्पीकर द्वारा अपना वक्ता अलग से बताता चला जाएगा । पाँच मिनट एक चित्र का परिचय कराया जाय तो दो घण्टे में २४ चित्र दिखाये जा सकते हैं और अति महत्त्वपूर्ण २४ विषयों पर प्रकाश डाला जा सकता है । यह शिक्षण इतना सधा हुआ, सारगर्भित और हृदयग्राही होगा कि जनता इससे बहुत कुछ सीख-समझ कर जाएगी । बिना खर्च का सिनेमा देखने कौन नहीं पहुँचेगा । मार्मिक प्रवचनों में किसे रुचि न होगी । उपस्थिति की कमी रहने वाली नहीं है ।

सामान्य सभा, सम्मेलनों के आयोजनों का खर्चीला ढाँचा खड़ा करके प्रयत्न करने पर भी थोड़ी-सी जनता आती है, पर इस प्रयत्न के द्वारा कम खर्च में अधिक से अधिक जनता को इकट्ठा करने का प्रयोजन पूरा किया जा सकता है सबसे बड़ी सुविधा यह है कि यह सारा काम एक व्यक्ति ही कर सकता है । अपना प्रचारक दिन में जहाँ जाय वहाँ स्वयं अपने स्थानीय स्वयं-सेवकों की मदद से गाँव भर में मुनादी करा सकता है । लोगों को अवगत करा सकता है कि अमुक स्थान पर-अमुक समय-उपरोक्त छाया चित्र प्रदर्शन होगा । स्थान की समुचित व्यवस्था स्थानीय लोगों की सहायता से की जा सकती है । वही अपना आदमी जो दिन में मुनादी करने और स्थान सम्बन्धी व्यवस्था में जुटा रहा रात को स्वयं ही चित्र दिखाने की मशीनों का संचालन और स्वयं ही लाउडस्पीकर पर प्रवचन करने का काम साथ-साथ करता रह सकता है । यह सारा काम अकेले आदमी का हुआ । बहुत हुआ तो एक सहायक साथ रखा जा सकता है, अथवा किसी स्थानीय व्यक्ति का सहयोग लिया जा सकता है । इस प्रकार बिना किसी पूर्व तैयारी, खर्चीली व्यवस्था या दौड़-धूप के एक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन एक दिन में ही पूरा हो गया और एक ही वक्ता ने हँसी-खुशी के वातावरण में-वह बातें सिखा दीं जो उपदेश वक्ता भी नहीं कर सकते थे । यह माध्यम एक ओर तो अति सस्ता है दूसरी ओर अति प्रभावशाली है । दोनों संगतियाँ मिल जाने से इस प्रयोग को देहाती क्षेत्र के लिए एक वरदान ही कहा जा सकता है । मनोरंजन का साधन जुटाने की दृष्टि से भी और लोक-शिक्षण की दृष्टि से भी ।

यह तन्त्र जो उपरोक्त प्रयोजन में प्रयुक्त होंगे । सस्ते और चलाने में सरल हैं । बिजली और बैटरी दोनों से चल सकते हैं । जहाँ बिजली नहीं पहुँची है वहाँ बैटरी से काम चलाया जा सकता है । अपने लक्ष्य और प्रयोजन के उपयुक्त स्लाइड अपने द्वारा ही बनेंगे । 'स्लाइड प्रोजेक्टर' यह काम बहुत खूबी के साथ कर सकता है । ऐपीडिस्कोप यन्त्र की विशेषता यह है कि उसमें स्लाइड बनाने की जरूरत नहीं है । छपे हुए चित्र या पुस्तक आदि के पन्ने ही ज्यों के त्यों पर्दे पर आ सकते हैं । यह मशीनें बहुत भारी भी नहीं हैं और महँगी भी नहीं । मोटा अनुमान इस व्यवस्था में दो हजार रुपया लगने का है ।

जिस प्रकार शाखाओं ने चल पुस्तकालयों के लिये ढकेल गाड़ियों की व्यवस्था करने में ५-५ हजार रुपये की पूँजी जुटाई है उसी प्रकार उपरोक्त प्रयोजन के लिए इतने उपयोगी कार्य के लिए पैसा जुटा लेना कुछ बहुत कठिन बात नहीं है । ऐसी व्यवस्था बन जाने पर शाखाएँ अपने कार्यक्षेत्र में दूर-दूर तक की देहातों को लेकर निरन्तर प्रचार का साधन जुटा सकती हैं और उस प्रदेश में विचार-क्रान्ति की एक महान भूमिका प्रस्तुत कर सकती हैं । इस कार्य के लिए सेवाभावी अवैतनिक वानप्रस्थी कार्यकर्त्ता न मिलें तो वेतन पर भी रखे जा सकते हैं । बिजली, सफर तथा कार्यकर्त्ता का वेतन मिलाकर भी प्रतिदिन का खर्च बहुत थोड़ा आवेगा और उसे जहाँ प्रदर्शन हों वहाँ की शाखा पारस्परिक सहयोग से बहुत ही सरलतापूर्वक जुटा सकती है । इस प्रकार यह प्रचार कार्य बहुत ही आकर्षक, मनोरंजक तथा हृदयग्राही लोक-शिक्षण के साथ निरन्तर चलता रह सकता है । एक कार्यकर्त्ता यदि साल के ३६५ दिनों में से केवल २५० दिन ही काम करे और २५० ही प्रदर्शन करे और यदि कम से कम एक हजार व्यक्ति ही इसे देखने-सुनने हर दिन आते रहें तो २५०× १०००= ढाई लाख व्यक्तियों का प्रशिक्षण नियमित रूप से चलता रह सकता है । ऐसी १००० शाखाएँ भी यदि कटिबद्ध हो जायें तो अपना संदेश हर वर्ष २५ करोड़ जनता तक निरन्तर पहुँचता रह सकता है । सो भी उस जनता तक-जिसके पास पहुँचने के लिए किसी ने प्रयत्न नहीं किया और जो सच्चे अर्थों में ८० फीसदी भारत है । वोट की चाभी भी इसी जनता के पास है । यह पलट जाय तो देश की प्रत्येक परिस्थिति मे देखते-देखते क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हो सकता है ।

(२) कला भारती का दूसरा कार्य है । संगीत शिक्षण । कहना न होगा कि संगीत में संवेदनाओं को भड़काने लोक-मानस को तरंगित करने, कोमल भावनाओं को छूने, और सोचने की शैली बदलने का आधार प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता है । पिछले दिनों संगीत, वाद्य, गायन, अभिनय का प्रयोग केवल कामुकता भड़काने में किया गया है । जो कुछ भी गाया जाता है वह कुत्सा के नरक में जन-मानस को धकेल देने के लिए गाया गया है । ९५ प्रतिशत यही रही है कला की सीमा । आप कहीं संगीत सुनने जायें, नृत्य देखिये नारी के प्रति

पैशाचिक वितृष्णा उभारने वाले उपरोक्त प्रयोजन के अतिरिक्त और कुछ भी देखने-सुनने को न मिलेगा। इस विभीषिका ने लोक-मानस का जितना पतन इस शताब्दी में किया है उसे एक दुर्घटना भरा अभिशाप ही कह सकते हैं। माता सरस्वती को इस वेश्यालय में से निकाल कर उसकी पुनीत स्थापना करनी है तो हमें कला को नई दिशा देनी होगी।

अपना प्रयत्न इसी दिशा में है। तेजी से हम सृजनात्मक साहित्य जन-जन की जीभ में गुनगुनाते और कान में गूँजते हुए देखने का वातावरण विनिर्मित करना चाहते हैं इसलिए कला-भारती के अन्तर्गत संगीत-शिक्षा को इस ढंग से रखा जा रहा है कि वह अति सरलता पूर्वक अति स्वल्पकाल में अति विस्तृत क्षेत्र पकड़ सके। अत्यन्त मधुर १० ध्वनियों का चयन कर लिया गया है। चूँकि हमें भावपरक संगीत का आमूल-चूल नवीन सृजन करना है, इसलिए अपनी सीमित ध्वनियाँ स्वयं ही निर्धारित कर रहे हैं। राग-रागनियाँ हजारों हैं उन्हें सीखने के लिये दस-बीस जन्म चाहिए। हम इस जंजाल में नहीं पड़ना चाहते। अपना प्रयोजन लोक-शिक्षण है। कला की गहराई में उतरने का काम दूसरों के जिम्मे छोड़ देंगे। आपत्ति धर्म की तरह अपने को तो सरल संगीत जो स्वल्पकाल में अति व्यापक हो सकता हो इतना ही ध्यान में रखना है। सो इसके लिए १० ध्वनियाँ पर्याप्त समझी गई हैं, आवश्यकता हुई तो उसमें कुछ घटा-बढ़ा भी सकते हैं। अपना संगीत विद्यालय उपरोक्त ध्वनियाँ ही बजायेगा, सिखायेगा।

१० ध्वनियों की तरह १० बाजे भी सीमित कर दिये गये हैं। जो सस्ते, सर्वसुलभ और सीखने में सरल हैं, उन्हें ही मान्यता दी गई है। १० ध्वनियों का गायन १० बाजों का बजाना, नृत्य की १० थिरकन इस प्रकार तीस पाठ्य क्रम रखे गये हैं और उन्हें सिखाने की अवधि ३ से ६ महीना निर्धारित कर दी गई है। जिनमें गायन, वादन व नृत्य तीनों को इतनी शिक्षा दे दी जायगी कि निकले हुए छात्र अपने क्षेत्र में संदीप्त सम्भावनाओं को-कविता सम्मेलनों को तथा दूसरे सांस्कृतिक कार्यक्रमों को चला सकने की योग्यता प्राप्त कर लें और आवश्यकता पड़ने पर यहाँ का जैसा संगीत विद्यालय स्वयं भी अपने क्षेत्र में चलाकर वैसे कलाकार स्वयं तैयार करने में लग सकें।

(३) नाट्य-मंच-हमारी तीसरी योजना है। पौराणिक, ऐतिहासिक कथानकों को आधार मानकर ऐसे ड्रामे तैयार कराये जा रहे हैं, जिनके घटनाक्रम में व्यक्ति-निर्माण और समाज-निर्माण के सारे सूत्र जुड़े हुए हों पात्रों के मुख से जो सम्वाद कहलवाये जायेंगे उनमें विचार-क्रान्ति के सारे संकेतों को जोड़कर रखा जायगा। यह नाटक पूरे के पूरे संगीतमय होंगे। संगीत अपनी निर्धारित ध्वनियों के अन्तर्गत गाये जायेंगे। लगभग दो घण्टे में सम्पन्न हो सकने वाले यह नाटक देशभर में दिखाये जायेंगे। पहले उनका प्रचलन अपनी हजारों शाखाओं में उनके वार्षिकोत्सवों के समय पर ४-४ दिन के लिए हर साल होते रहने की परम्परा पड़ेगी। पीछे इन्हें अन्यत्र भी लोगों की माँग के अनुसार दिखाये जाने की व्यवस्था चलेगी। इस प्रकार लोकरंजन का एक केन्द्र जिसके साथ लोक-शिक्षण की स्वस्थ प्रक्रिया जुड़ी हुई होगी-सारे देश को प्रभावित करेगा। यह नाटक मण्डलियाँ देहातों में अपना पूरा कार्य विस्तार करेंगी और शहर, कस्बों में भी उनकी सर्वथा उपेक्षा न होगी। रासलीला, रामलीला, नौटंकी आदि के माध्यम अभी भी जीवित हैं और वे पुराने ढर्रे के टूटे-फूटे ढर्रे पर अपनी गाड़ी चला रहे हैं तो अपना यह प्रयत्न देश-व्यापी क्यों न होगा?

इस नाट्य-मंच को अधिक सस्ता और सरल बनाने के लिए एक विशेष पद्धति का प्रयोग किया जायगा। सारा नाटक टेप रिकार्ड रहेगा। अभिनय नृत्य केवल मूक रहेंगे पात्र केवल शारीरिक हलचल करते और होठ चलाते रहेंगे। आवाज पूर्ण प्रस्तुत टेप रिकार्डर बोलेगा। दर्शक यही अनुभव करेंगे कि पात्र बोल रहे हैं। इस प्रकार पात्रों का गला मीठा होना आवश्यक न रहेगा और संगीत मंडली में कम से कम ५-७ व्यक्तियों की जरूरत पड़ती है वह न रहेगी। १ यन्त्र संचालक ५-६ अभिनयकर्त्ता कुल ६-७ व्यक्तियों की मण्डली बड़ी सरलता से अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करती रहेगी। यह सस्ता तो पड़ेगा ही साथ ही अधिक आकर्षक इसलिए होगा कि इनमें मधुर कण्ठ और अधिक से अधिक आकर्षक वाद्य-यन्त्र उच्च कलाकारों द्वारा नियोजित करके टेप कराये जायेंगे और उस बहुमूल्य एकत्रीकरण का लाभ सर्वसाधारण को सहज ही मिलता रहेगा। कला भारती कक्ष में इस प्रकार की नाट्य-व्यवस्था के शिक्षण का प्रबन्ध किया गया है ताकि यहाँ से निकले छात्र सम्पूर्ण भारत की प्रचलित १५ भाषाओं में यही कार्यक्रम चलाकर जन-जन तक नव-जागरण का सन्देश पहुँचा सकने में समर्थ हो सकें।

(४) चित्रकला के माध्यम से चित्र प्रदर्शनियों की व्यवस्था सँजोई जायगी। जगह-जगह मेले, समारोह या अन्य जन-समूह के एकत्रीकरण के अवसर पर ऐसी प्रदर्शनियों की व्यवस्था की जायगी जिनमें दर्शक मनोरंजन के साथ-साथ नवीन प्रेरणा और प्रकाश भी उपलब्ध करते रहें, चित्रकला के साथ-साथ प्रदर्शनियाँ लगाने और चलाने की व्यवस्था भली प्रकार सिखा दी जायगी।

साहित्य की भाँति ही संगीत अभिनय भी लोक-शिक्षण का अति उपयोगी माध्यम है। भगवती वीणपाणि सरस्वती के चित्रों में एक हाथ में पुस्तक, दूसरे में वीणा है। यह दोनों ही माध्यम समान रूप से उपयोगी हैं, आज तो उनकी नितान्त आवश्यकता है युग-निर्माण योजना अपने प्रबल-प्रयासों से भगवती सरस्वती को धरती पर पुनः अवतरित कर मंगलमयी ज्ञान-गंगा प्रवाहित करने में कटिबद्ध है। अपने भगीरथी-प्रयत्न इसी दिशा में आगे बढ़ते चल रहे हैं।

इन उद्योगों में पूँजी लग सके तो सृजन की संभावना बढ़ेगी

अगणित उलझनों और समस्याओं से भरी इस सड़ी-गली दुनिया का काया-कल्प करने के लिए प्रादुर्भूत नव-निर्माण आन्दोलन समय की सबसे बड़ी आवश्यकता पूर्ण करने जा रहा है । इसकी सफलता के लिए किया गया योगदान विश्व-मानव की सर्वोपरि सेवा-साधना में गिना जायगा, इसलिए जन-शक्ति, धन-शक्ति, धर्म-शक्ति, राज-शक्ति, प्रतिभा, उत्कण्ठा और श्रम-शक्ति का अधिकाधिक उपयोग किया जाना चाहिए । हममें से प्रत्येक को यह सोचना चाहिए कि किन साधनों को किस प्रकार इस महान अभियान में नियोजित किया जा सकता है ? जो उपाय सूझ पड़ें वे कार्यान्वित किये जाने चाहिए । व्यक्ति की तृष्णा और विलासिता के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले साधन यदि लोक-मंगल के लिए लग सकें तो उन साधनों की सार्थकता ही मानी जायगी । व्यक्ति विलास और अहंकार, मोह और लोभ के पाप भर से बचेगा और सदुद्देश्य का साधन मिल जाने से जन-कल्याण का पथ-प्रशस्त होगा ।

जिसका जितना समय, श्रम, धन, मनोयोग, ज्ञान, पुरुषार्थ विश्व-मानव की सेवा में लग गया उतना ही व्यक्ति और उसके साधन सराहनीय गिने जा सकेंगे । समय की पुकार है कि विवेकवान लोग कम से कम में अपनी गुजर करें और जो कुछ उनके पास है उसका बड़ा हिस्सा लोकहित के लिये समर्पण कर दें । इस त्याग, बलिदान के आधार पर ही विश्व-कल्याण की आधारशिला रखी जायेगी । यदि हम बातून और कंजूस ही बने रहे—लोभ और मोह की परिधि से आगे कदम न बढ़ा सके तो इन नारकीय परिस्थितियों से छुटकारा न पाया जा सकेगा जिनमें आजकल हम जल-भुन रहे हैं ।

महाकाल ने जन-शक्ति और धन-शक्ति का आह्वान किया है । समय ने त्याग, बलिदान की माँग की है । इसका अनुकूल उत्तर दिया जाना चाहिए । हम जन-शक्ति पर्याप्त मात्रा में जुटाएँ और धन की कमी न रहने दें । अपनी रोटी में विश्व-मानव को भी हिस्सेदार बनाया जाना चाहिए और अपनी आवश्यकताओं में कमी करके भी लोक-मानस को परिष्कृत करने वाले साधनों की आवश्यकता पूरी करनी चाहिए । जो पूँजी दान के रूप में न दी जा सके उसे उधार कर्जे के रूप में प्राप्त किया जाना चाहिए । व्यक्ति के पास पैसा सड़ता रहे या विकार अहंकार पैदा करता रहे, उससे अच्छा यह है कि वह धरोहर के रूप में-ब्याज या लाभ पाने की सुविधा के साथ सृजनात्मक कार्यों के लिए दे दिया जाय । यह उधार या कर्ज भी महत्त्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध कर सकता है ।

लिमिटेड कम्पनियाँ, आजकल बड़े-बड़े व्यापार कर रही हैं । टाटा, बिड़ला, मफतलाल, सिंहानिया, डालमिया आदि के उद्योग संस्थान लिमिटेड कम्पनियों के आधार पर शेयरों से साझीदारों की पूँजी प्राप्त करके ही चल रहे हैं । शेयर होल्डर लाभ, बोनस, ब्याज आदि प्राप्त करते हैं और उस पूँजी से ऐसे उद्योग चल निकलते हैं जिनसे लाखों को रोजी-रोटी मिलती है और जनता की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं । यह शैली उन उद्योगों के लिए अपनाई जा सकती है जो लोक-मानस को प्रभावित कर सकते हों । यदि प्रभावशाली अर्थशास्त्री, उद्योगपति इस प्रकार का कार्य हाथ में लें तो भागीदार पूँजी सुरक्षित रखने, बढ़ाने के साथ-साथ समाज की महती सेवा कर सकते हैं और नव-निर्माण कार्य में महत्त्वपूर्ण हाथ बँटा सकते हैं ।

साहित्य, शिक्षा, कला द्वारा लोक-मानस प्रभावित किया जाता है । यह सभी साधन आज उन पूँजीपतियों के हाथ में हैं जो अनुचित मार्ग से भी अपनी आमदनी बढ़ाने में संलग्न हैं । यदि इन सभी माध्यमों को आदर्शवादी दृष्टिकोण के लिए प्रयुक्त करने के लिए पूँजी मिल जाय तो उसका परिणाम आश्चर्यजनक हो सकता है । अच्छी चीज मुकाबले में न होने पर एकमात्र बुरी चीज ही सामने रह जाती है, फिर उसी का सर्वाधिकार रहता है । उसी की तूती बोलती है, उसे ही झक मार कर जनता अपनाती है पर यदि मुकाबले की अच्छी चीज उपलब्ध हो तो कोई कारण नहीं कि सुरुचि को प्रोत्साहन न मिले । दुनिया में केवल ओछे और निकृष्ट स्तर के लोग ही नहीं रहते, सुरुचि भी जीवित है । यदि सुरुचिपूर्ण साहित्य, शिक्षा, कला का अस्तित्व मौजूद रहे तो कोई कारण नहीं कि उसे अपनाया न जाय । जिस प्रकार दुष्ट साधनों ने जन-मानस विकृत किया है उसी प्रकार यदि सत्साधन प्रस्तुत किये जा सकें तो जन-रुचि अवश्य ही परिष्कृत होगी और फलस्वरूप सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ती, पनपती दृष्टिगोचर होंगी ।

ऐसे साहित्य की भारी आवश्यकता है जो उपन्यास, कथा, नाटक, कविता, विवेचना, बाल पुस्तकें, जीवनी, महिला-साहित्य, स्वास्थ्य, मनोरंजन, राजनीति, धर्म, सदाचार, समाजदर्शन, अध्यात्म आदि विभिन्न विषयों को लेकर प्रेरणाप्रद प्रकाशन प्रस्तुत कर सके । हिन्दुस्तान में १५ मान्यता प्राप्त भाषाएँ हैं । हर भाषा में ऐसे साहित्य की जरूरत है । यदि उसे सस्ता, सुन्दर और उत्कृष्ट स्तर का बनाया जा सके तो हर भाषा में उसे अपनाया और खरीदा जायगा । स्कूली किताबों को छोड़कर अन्य लोकरुचि के विषयों की पुस्तकें प्रायः १० अरब की बिकती हैं । उनमें ४० अरब की पूँजी लगी है । हम उसका सौवाँ हिस्सा भी यदि सत्साहित्य के प्रकाशन में लगा सकें तो उससे दुर्बुद्धि उत्पन्न करने वाली पुस्तकों का विष घटेगा और व्यक्ति एवं समाज को आदर्शवादिता की ओर बढ़ने की सम्भावना स्पष्ट होकर सामने आवेगी । यह उद्योग ऐसा है जिसमें करोड़ों रुपया लगाया जा सकता है और वह पूर्णतया सुरक्षित रहकर अपने जमा करने वालों को लाभ, यश और पुण्य तीनों ही प्रचुर मात्रा में दे सकता है ।

शिक्षा गैर सरकारी चल सके इसकी बहुत गुंजायश है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग महिला विद्यापीठ, राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, आर्यकुमार परिषद जैसी संस्थाएँ बहुत समय से बिना सरकारी सहायता के अपना प्रचार एवं परीक्षा कार्य जारी रख सकी हैं और अपने प्रभाव से लाखों को प्रभावित करने में समर्थ हो सकी हैं। ऐसी शिक्षा और परीक्षा समितियाँ सार्वजनिक संगठन के रूप में चल सकती हैं अथवा बाइबिल सोसाइटी की तरह एक छोटा संघ भी उन्हें चला सकता है। कोचिंग स्कूल, रात्रि पाठशालाएँ, बाल-मन्दिर फीस लेकर चलाये जा सकते हैं। व्यस्त व्यक्ति जो स्कूल नहीं जा सकते और अवकाश के समय प्राईवेट रूप से पढ़ना चाहते हैं ऐसे स्कूलों से पूरा लाभ उठा सकते हैं। फीस से उनका खर्च चल सकता है। टाइप, शॉर्टहैण्ड, रेडियो, टेलीग्राफी आदि सिखाने वाली इन्स्टीटयूट हर जगह व्यक्तिगत प्रयत्नों से चल रहे हैं और अपने संचालकों की आजीविका चला रहे हैं।

गृह-उद्योग, कुटीर शिल्प तथा विभिन्न स्तर की शिक्षा का माध्यम लेकर हर जगह छोटे-बड़े स्कूल खोले जा सकते हैं। इनमें आजीविका उपार्जन वाली शिक्षा भी रहे और जीवन-निर्माण तथा समाज-निर्माण के प्रशिक्षण भी जुड़े रहें। यह गैर सरकारी शिक्षा पद्धति देश में विकसित होने की पूरी-पूरी गुञ्जाइश है। सरकारी स्कूलों में जगह कम पड़ रही है, दाखिला कठिन हो रहा है फिर पढ़ाई के नाम पर लकीर भर पिटती है। छात्र ट्यूशन लगाने पर ही पास होते हैं। इससे पढ़ने वाले प्रसन्न नहीं। यदि प्राइवेट स्कूल ठीक तरह पढ़ाने की व्यवस्था बना लें तो छात्रों की कमी न रहेगी। यह शिक्षा-व्यवस्था यदि कोई संगठित शिक्षा-संस्था हाथ में ले लें तो लगभग उतने ही छात्र मिल सकते हैं, जितने सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं। व्यक्तिगत प्रयत्नों से जब हर जगह ऐसे स्कूल चल रहे हैं तो कोई कारण नहीं कि सुव्यवस्थित योजना के अन्तर्गत देशभर में एक स्तर पर चलाये गये यह शिक्षा-संस्थान सफल न हों।

परीक्षाएँ सरकारी भी, यह छात्र दे सकते हैं और गैर सरकारी-बिना मान्यता प्राप्त परीक्षाओं का प्रचलन भी हो सकता है। सरकारी नौकरी तो प्रमाण-पत्र प्राप्त लोगों को भी नहीं मिलती फिर योग्यता ही सबसे बड़ा प्रमाण पत्र है। पास शुदा इन्जीनियर से अनुभवी मिस्त्री यदि ठीक तरह तैयार किया गया हो तो अधिक सफल हो सकता है। अनुभवी कारीगर गैर सरकारी स्कूलों में अधिक अच्छी तरह ढल सकते हैं। ये साथ में जीवन-निर्माण और समाज-निर्माण का शिक्षण जुड़ा रहने-छात्रावास व्यवस्था अनिवार्य रहने से इनमें ऐसे छात्र निकलेगे जो केवल आजीविका ही नहीं कमावें वरन् राष्ट्र का सफल नेतृत्व भी कर सकें।

इस प्रकार का शिक्षा-तन्त्र खड़ा कर उसकी शाखा-प्रशाखाएँ स्थापित करने के लिए शिक्षा तंत्र व्यावसायिक आधार पर भी खड़ा किया जा सकता है। छात्रावासों की लागत बोर्डिंग फीस से निकल सकती है। होस्टल अपने आप में स्वावलम्बी होंगे, पाठ्य-पुस्तकें कुछ लाभ ही देंगी, शिक्षा की फीस से अध्यापकों का खर्च चलेगा, उद्योग और शिल्प सिखाने का खर्च वहाँ विनिर्मित वस्तुएँ तथा की हुई मरम्मतें निकाल लेंगी। इस प्रकार यह शिक्षा क्रम एक प्रकार से स्वावलम्बी होगा। उसे दान-दक्षिणा के ऊपर निर्भर रहने की अपेक्षा व्यावसायिक स्तर पर भी चलाया जा सकता है। लिमिटेड कम्पनियों के ढंग के संस्थान शिक्षा योजना को देश-व्यापी एवं स्वावलम्बी बना सकते हैं। इसमें लगी हुई पूँजी डूबने की कोई आशंका नहीं है।

लाउडस्पीकर के माध्यम से बजने वाले ग्रामोफोन के रिकार्ड अभी भी हर उत्सव-आयोजन में, दुकानों पर बजते रहते हैं। उनमें प्रेरणास्पद संगीत भरे हों तो उनका बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ सकता है। इनका निर्माण बड़ी योजना के साथ किया जाय तो भी जन-मानस को प्रभावित करने का एक नया मार्ग मिल सकता है इसमें तब पूँजी ही कहाँ डूबने वाली है।

चित्र-प्रकाशन आज की एक महती आवश्यकता है। दिवाली जैसे त्यौहारों पर हर कोई घर सजाने के लिए चित्र खरीदता है। व्यापारियों का काम कलेण्डर छपाये बिना नहीं चलता। सुरुचिपूर्ण प्रेरणाप्रद चित्र ढूँढ़े नहीं मिलते। इस अभाव की पूर्ति के लिए कितने ही समर्थ चित्र प्रकाशन संस्थान चल सकते हैं।

इसके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे उद्योग ढूँढ़े जा सकते हैं जो सीधे लोक-मानस को प्रभावित करते हों। बच्चों की आँख से दिखने वाली छोटी सिनेमा तस्वीरें, बच्चों को दिखाये जाने वाले चित्रों के फोक्स-बॉक्स आदि कितनी ही चीजों से प्रेरणा भरी जा सकती है। प्रदर्शनियों के रूप में दिखाये जाने वाले बड़े साइज के रंगीन चित्र नकशे आदि भी इन प्रयोजनों के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

हर विषय की पत्र-पत्रिकाएँ यों साहित्य के अन्तर्गत ही आती हैं पर यदि उन्हें अलग से गिना जाय तो उसे भी एक अलग उद्योग के रूप में विकसित किया जा सकता है और हर विषय के पत्रों को हाथ में लेकर जन-मानस को दिशा देने से अति महत्त्वपूर्ण सफलता पाई जा सकती है। इस उद्योग के अन्तर्गत छपाई के प्रेस की स्थापना आदि उनके लिए टाइप ढालने तथा मशीनें बनाने की प्रक्रिया भी जोड़ी जा सकती है।

ऊपर जिन उद्योगों की चर्चा की गई है वे सभी ऐसे हैं जो व्यक्तिगत प्रयत्नों से सफलतापूर्वक चलाये जा रहे हैं और अच्छी आजीविका दे रहे हैं। इनमें से एक भी ऐसा नहीं है जिसके बारे में न चलने की आशंका की जा सके। यह सभी लाभदायक भी हैं और चलने वाले भी। हमें इनके सम्बन्ध में विचार इसलिए करना पड़ रहा है कि यह सभी उद्योग जन-मानस को प्रभावित करने की क्षमता

से भरे हुए हैं । इन दिनों जिन लोगों के हाथों में है वे उनका उपयोग इस प्रकार कर रहे हैं जिससे लोक-मानस का अधःपतन ही होता है । इस गिरावट को उठाने के लिए यही उचित है कि इन साधनों को उत्तरदायी लोक-सेवी हाथों में लाया जाय और वे उनका इस तरह उपयोग करें जिससे लोक-मंगल की सम्भावनाएँ उज्ज्वल होती चली जायँ ।

पूँजी लोगों के पास है । उद्योगों की भी तलाश की ही जाती है । फिर क्यों न उन उद्योगों को हाथ में लिया जाय जिनसे 'गोरस बेचन हरि मिलन' की कहावत पूरी होती हो । आजीविका उपार्जन के साथ-साथ जन-कल्याण का साधन बनता हो तो इसे स्वर्ण-सुयोग ही कहा जाना चाहिए । इन उद्योगों को बड़े या छोटे पैमाने पर पूँजी के अनुमान से आरम्भ किया जा सकता है और उससे हजारों, लाखों व्यक्तियों के लिये रोजी-रोटी का साधन जुटाते हुए उस श्रम को उपयोगी दिशा में नियोजित किया जा सकता है ।

आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे अनुभवी लोग आगे आयें जिनमें उद्योगों को चलाने की क्षमता है । आवश्यकता ऐसे लोगों की है जिनके पास पैसा है, उसे काम में लगाना चाहते हैं, सुरक्षित रखना चाहते हैं और साथ-साथ उचित लाभांश पाकर सन्तुष्ट हो सकते हैं और साथ ही ऐसा कार्य करना चाहते हैं जो दूसरों को ऊँचा उठाने का—आगे बढ़ाने का प्रयोजन सिद्ध करे । ऐसे विचारशील लोगों को उपरोक्त उद्योगों में पूँजी लगाना स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध होगा । नव-निर्माण अभियान में तो उससे स्पष्टतः बड़ी सहायता मिलेगी ।

सक्रिय सदस्यों की सुगठित सृजन सेना

देवता यद्यपि दिव्य-गुणों से ओत-प्रोत थे पर वे सदा हारते इसलिए रहे कि उन्होंने संघ-शक्ति की उपेक्षा की । मिल-जुलकर काम करना नहीं सीखा और आक्रमण की विपत्ति जब तक सिर पर नहीं आ गई तब तक पूर्ण सजग होकर बढ़ती हुई असुरता का उन्मूलन करने के लिए अग्रसर नहीं हुए । देव-गुणों की, सात्विकता और सज्जनता की अधिक मात्रा होना जीवधारी का सराहनीय सौभाग्य है पर इतने से ही काम नहीं चल जाता, उस सौभाग्य की रक्षा कर सकने योग्य सजगता, समर्थता और हिम्मत भी होनी चाहिए । इसके अभाव में देवत्व भी गरिमा रहित हतप्रभ सिद्ध होता है । इस अभाव के कारण देवता बार-बार असुरों से हारते और सताये जाते हैं ।

असुरता के साथ जुड़े हुए तमोगुण को निन्दनीय ही कहा जायगा । दुष्टता का पतन निश्चित है । पाप का अन्त दुःखद ही होता है । सृष्टि-व्यवस्था के अनुसार असुरता को हारना ही चाहिए, पर इतिहास बताता है कि हर देवासुर संग्राम के आरम्भ में असुर जीतते और देव हारते रहे हैं । इस विपर्यय का एक ही कारण है कि असुरों ने संघबद्धता का महत्त्व समझा, वे संगठित रहे, मिल-जुलकर काम किया और वे अपनी सामर्थ्य बढ़ाने के लिए कठोर परिश्रम करने से चूके नहीं । हिम्मत को उन्होंने अपना सहचर बनाया और जो करना था वह बिना आलस्य-प्रमाद किये, यथासमय कर गुजरे ।

असुरों को जिताने का श्रेय उनकी दुष्टता या पाप-वृत्ति को नहीं मिल सकता । उसने तो अन्ततः उन्हें विनाश के गर्त में ही गिराया और निन्दा के नरक में जलाया । विजय चाहे आरम्भिक या क्षणिक ही क्यों न रही हो पर वह उन्हें इसलिए मिली कि उन्होंने संगठन, साहस और पराक्रम को अपना सहचर बनाया और अवसर चूकने का आलस्य, प्रमाद नहीं किया । इतने अंशों में जो सजग समर्थता उनमें थी उसी को देवत्व की एक नन्हीं किरण कहा जा सकता है, उतने ही अंशों में वे विजेता भी होते रहे हैं ।

देवों की पराजय का दोष उनके देवत्व अथवा सद्गुणों को नहीं दिया जाना चाहिए । उन विशेषताओं के कारण तो वे स्वर्ग लोक के अधिपति, लोकपूजित, यशस्वी और अजर-अमर बन सके हैं । इन्हीं विभूतियों के कारण वे अन्ततः विजयी बने और अपनी सत्ता पुनः प्राप्त कर सकने में सफल होते रहे हैं । पराजय का दोष तो उन थोड़े अंशों में पाई जाने वाली उस असावधानी और अदूरदर्शिता को ही दिया जायगा, जिसके कारण उन्होंने पारस्परिक संगठन, सहयोग को सुदृढ़ बनाने और अवांछनीयता से आरम्भ में ही निपटने की आवश्यकता ही भुला दी, जब तक उन्होंने अपनी यह भूल सुधारी नहीं, तब तक उन्हें पराजय, उत्पीड़न और अपयश ही मिलता रहा ।

पौराणिक गाथा के अनुसार एक बार अति संत्रस्त और परास्त हतप्रभ देवता प्रजापति के पास अपनी व्यथा गाथा सुनाने और सहायता प्राप्त करने गये तो उन्हें संगठन और साहस का ही मन्त्र पढ़ाया गया । प्रजापति ने देवताओं को इकट्ठा कर उनकी शक्तियाँ इकट्ठी कीं और उस संघ एकत्रीकरण से देवी दुर्गा को विनिर्मित किया । उस संघ शक्ति दुर्गा ने असुरों को पछाड़ा और देवताओं को बताया कि वे अपनी सुरक्षा के लिए संघ शक्ति की आराधना को देवत्व का अनिवार्य अंग मानकर चला करें ।

आज देवत्व हारता और असुरत्व जीतता दीखता है । इसका एकमात्र कारण यह है कि सात्विकता और सज्जनता को पर्याप्त मान लिया गया और बढ़ते हुए असुरत्व से आरम्भ में ही जूझने के लिए आवश्यक सतर्कता और संगठन की उपेक्षा की जाती रही है । यह भूल जब तक सुधारी न जायगी देवत्व को पग-पग पर अपमानित होना पड़ेगा और पराजय का आये दिन मुँह देखना पड़ेगा । इस अवांछनीय स्थिति से उबरने का एक ही उपाय है कि सज्जनता अकेली न रहे वरन् उसके साथ संगठन, सतर्कता और समर्थता को भी जोड़े रखा जाय ।

यह युग संगठन का है। 'संघ शक्ति कलियुगे' के सूत्र में वर्तमान काल की सर्वोपरि शक्ति का रहस्योद्घाटन किया गया है। बुद्धि-बल, शस्त्र-बल, धन-बल का अपना महत्त्व है पर उनका लाभ विशेषतः व्यक्तिगत मर्यादाओं तक ही सीमित रहता है। जहाँ तक जन-समाज का सम्बन्ध है उसमें जन-शक्ति ही प्रधान मानी गई है। भगवान् राम ने लंका विजय में रीछ, वानरों का सहयोग लेकर और भगवान कृष्ण ने गोवर्धन धारण में ग्वालवालों की सहायता पाकर सर्वसाधारण के सामने इसी तथ्य का उद्‌घाटन किया था कि लोक-मंगल के विशाल जन-समूह को प्रभावित करने वाले बड़े काम जन सहयोग के आधार पर ही सम्पन्न हो सकते हैं। हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि वोट देने की छोटी-सी प्रक्रिया राज पलट देने और सिंहासन हिला देने में किस प्रकार सफल और समर्थ हो सकती है।

सरकारें और कुछ नहीं जनता की स्थापित और संचालित एक संस्था मात्र हैं। ऐसी अनेक संस्थाएँ जनता ही चलाती हैं। धर्म-तन्त्र को ही लीजिये खरबों रुपये की पूँजी से खड़ी हुई-हर साल अरबों खर्च करने वाली यह संस्था जनता के ही सहयोग, समर्थन और अनुदान से चल रही है। ५६ लाख संत-बाबाजियों की विशाल जन-शक्ति का निर्वाह जन-शक्ति के आधार पर ही होता है। अर्थतन्त्र को गतिशील रखने वाले कल-कारखाने, विविध-विधि यन्त्र वाहन, मनोरंजन आदि का अस्तित्व जनता के सहयोग, समर्थन पर ही टिका हुआ है। यदि लोक-रुचि उनमें से किसी भी कार्य से हट जाय तो उनके समाप्त होने में तनिक भी देर न लगे। लोक-रुचि में तनिक भी बदलाव आते ही अनेक क्रिया-कलाप ठप्प हो जाते हैं और अनेक प्रवृत्तियाँ नये कलेवर में देखते-देखते खड़ी होती और आकाश चूमने लगती हैं। मनुष्यत्व के ज्ञाता जानते हैं कि जनता का महादैत्य कितना विशाल-कितना सबल और कितना समर्थ है। उसकी अकूत क्षमता का कोई लेखा-जोखा नहीं लिया जा सकता।

युग-परिवर्तन एवं नव-निर्माण की हमारी सारी कल्पना, सारी योजना-जनसहयोग पर अवलम्बित है। ज्ञान-यज्ञ के माध्यम से जन-जागरण का अपना प्रथम प्रभाव इसी दृष्टि से है। जन-मानस तक विचार-क्रान्ति का प्रकाश पहुँचाकर हम सर्व-साधारण को 'सही जानने' और 'सही सोचने' में समर्थ बनना चाहते हैं। इतना बन पड़ा तो अगला कदम 'सही करना' नितान्त सरल हो जायगा। विचारणा और क्रिया-कलाप में से अवांछनीयता निकल जाय-विवेक एवं औचित्य को ही प्रश्रय मिलने लग जाय तो फिर स्वर्गीय सुख-शान्ति को आनन्द-उल्लास भरी परिस्थितियाँ उत्पन्न होने में कुछ भी देर न लगेगी। अविवेक के स्थान पर विवेक की और अनौचित्य के स्थान पर औचित्य की स्थापना ही वह आधार है जिससे युग-निर्माण का असम्भव दीखने वाला प्रयोजन सहज ही संभव हो सकता है।

जिन लोगों ने ज्ञान-यज्ञ के प्रकाश में विवेक और औचित्य का महत्त्व स्वीकार कर लिया है, उन्हें युग परिवर्तन की अग्रिम पंक्ति के सृजन सैनिकों की तरह सहज ही खड़ा किया जा सकता है। इस दृष्टि से युग-निर्माण योजना परिवार के परिजनों को इस प्रकार के संगठन के लिए सबसे उपयुक्त समझा जा सकता है। जिन्हें लम्बी अवधि से अखण्ड-ज्योति, युग-निर्माण पत्रिकाएँ तथा हमारा साहित्य निरन्तर पढ़ने को मिलता रहा है जो इस विचारणा में रुचि लेते रहे हैं, उनमें प्रगतिशीलता के तत्व असाधारण मात्रा से संचित होने की कल्पना कोई भी कर सकता है। बिखराव से शक्ति बर्बाद होती रहती है पर यदि उसे संगठित कर दिया जाय तो उसकी क्षमता आश्चर्यचकित कर देने वाले रूप में सामने आ सकती है और उस शक्ति को वर्तमान काल की कुत्साओं तथा कुण्ठाओं से भरे दम घुटने जैसे वातावरण को सन्तोष की साँस ले सकने वाली परिस्थितियों में बदला जा सकता है।

अब हम यही करने जा रहे हैं। जिन्होंने हमारी विचारधारा में रस लेना और समर्थन देना आरम्भ किया था, वे ही धीरे-धीरे हमारे इर्द-गिर्द इकट्ठे होते चले गये। कुछ हमारी तपश्चर्या-साधना से अपने कष्टों को हलका करने और सुविधाओं को बढ़ाने की दृष्टि से भी आये और आकर्षित हुए थे। उन्हें हमने अपनी सेवा-परिधि में सम्मिलित रखा पर परिवार में सम्मिलित नहीं किया। अध्यात्म में उपभोग के लिए गुंजायश कम और अनुदान की माँग अधिक है। जो लेना बहुत चाहते हैं देने से कतराते हैं वे आध्यात्मिकता की कसौटी पर खोटे सिक्के माने जायेंगे। उदारता, मानवता और आध्यात्मिकता मनुष्य को लोक-मंगल के लिए बढ़-चढ़कर अनुदान देने और अपने कषाय-कल्मषों को धोने की ही प्रेरणा दे सकती है। आदर्शवादिता और उत्कृष्टता की ओर ही सद्‌विवेक प्रेरित करता है सो जो लोग अपने विचारों से प्रभावित होकर समीप आये उन्होंने लोक-मंगल के लिए कुछ अनुदान देने के लिए उत्साह ही प्रकट किया। भागे वे लोग जो लूट-खसोट की प्रवंचना में उलझे रहने के अभ्यस्त थे और देवता, भगवान, गुरु, सन्त, जो भी पकड़ में आ जाय उसी से उल्लू सीधा करने के ताने-बाने बुनते थे। अब जब से हमने लोक-मंगल के लिए अपने स्वर ऊँचे करने शुरू किये हैं तब से उपयुक्त व्यक्ति ही साथ रह गये हैं। जो थोड़े-बहुत जंजाली शेष थे वे अब परीक्षा की घड़ी सामने आ जाने पर इधर-उधर मुँह छिपाने और धीरे-धीरे खिसकने लगे हैं। परिवार में संख्या इन दिनों कुछ घटी हो यह हो सकता है, पर निश्चित रूप से उसका स्तर बढ़ गया है। एक वाक्य में यों कहा जा सकता है कि विदाई के इन अन्तिम दिनों में हमारे साथ केवल वे लोग रह गये हैं जिन्हें 'ज्ञानपुत्र' कहा जा सकता है और जिनसे नव-निर्माण के पुण्य-प्रयोजन में कुछ सहयोग मिलने की आशा की जा सकती है।

अपने परिवार के सामने एक और कसौटी इन दिनों रखकर उनकी सक्रियता को जाँचा गया । प्रसन्नता की बात है कि इस पर भी अधिकांश खरे ही सिद्ध हुए । विचारों में रुचि लेना, उनका समर्थन करना और यथा सम्भव अपनाना तो देर से चल रहा था । अब जरूरत इस बात की पड़ी कि यह देखा जाय कि उन विचारों को कार्य रूप में परिणित करने का साहस कितने लोग करते हैं । इसकी परख एक घण्टा समय और बीस पैसा नित्य देने की कसौटी पर की गई और जो उस पर खरे उतरे उनके बारे में यह मान्यता बना ली गई है कि हमारे ८० वर्ष के समुद्र मंथन कर नवनीत इतना भर है । समुद्र मन्थन का घोर परिश्रम करके देवताओं ने १४ रत्न प्राप्त किये थे । हम भी एक प्रकार से विशाल जन-समूह में अपने विभिन्न क्रिया-कलापों द्वारा एक प्रकार का समुद्र मंथन ही करते रहे हैं । उसका निष्कर्ष देखने के लिए लोगों की उदारता और साहसिकता ही जानी जा सकती थी, सो उपरोक्त कसौटी आवश्यक हो गई । इससे हमें वस्तुस्थिति समझने में बहुत सरलता हुई ।

इस सक्रिय परिवार को हमें संगठित बनाना आवश्यक था, क्योंकि संगठन बिना शक्ति उत्पन्न नहीं होती । बिखरे धागे टूटते-फूटते भर रहेंगे । उनका मजबूत रस्सा तभी बनेगा जब इकट्ठे होने की व्यवस्था बन जाय । संघ शक्ति के महत्त्व को समझते हुए यह निश्चय किया गया कि अपने परिजनों को संघबद्ध करके एक शक्तिशाली ऐसी 'यूनिट' के रूप में परिणत किया जाय जिसे युग परिवर्तन के महान अभियान की आधारशिला के रूप में प्रस्तुत किया जा सके सो ही इन दिनों किया जा रहा है ।

समय और पैसे नित्य देने वाली बात चल तो बहुत दिन से रही थी पर अब उसे बिल्कुल नियमित, व्यवस्थित क्रमबद्ध कर दिया गया है । पैसे जमा करने वाले ज्ञान-यज्ञ के धर्मघट बना दिये गये हैं । बच्चे पैसे जमा करने के लिए जैसे रंग-बिरंगे डिब्बे-गुल्लकें-इस्तेमाल करते हैं यह लगभग उसी तरह के हैं । अपने पूजा स्थान पर इन्हें रख लिया जाय और नित्य बीस पैसे डालने वाली बात को नित्य कर्म मान लिया जाय तो नियमितता और निरन्तता ठीक तरह चलती रह सकती है । यह ज्ञान घाट इस दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त सिद्ध हुए हैं । अधिकांश परिजनों ने उन्हें मँगा लिया है जिन्होंने नहीं मँगाये हैं वे सम्भवतः जरूर मँगा लेंगे । इस बीस पैसे से जो युग-निर्माण साहित्य आता रहेगा उसे स्वयं पढ़ने, अपने परिवार को पढ़ाने, सम्बन्धित लोगों तक पहुँचाने में एक घण्टा रोज लगाने के लिए कहा गया है । एक व्यक्ति कम से कम दस को यह विचारधारा पहुँचावे, पढ़ावे या सुनाये । दोनों ही क्रम नियमित रूप से चल पड़ें तो ज्ञान-यज्ञ की प्रौढ़ता आँकी जा सकती है । प्रसन्नता की बात है कि अब यह प्रक्रिया अधिक व्यवस्थित रूप से चल पड़ी ।

सक्रिय परिजनों को संगठित करना आवश्यक था सो उन्हें शाखाओं के रूप में परिणत कर रहे हैं । जहाँ जिन्होंने ज्ञान घट रखे हैं उन्हें सक्रिय सदस्य घोषित किया है । अन्य लोग सहायक, सहयोगी कहे जायेंगे । संगठन के प्रधान अंग सक्रिय सदस्य ही रहेंगे और शाखा में सहायकों और सहयोगियों की भी सूची रहेगी और उन्हें अधिक प्रोत्साहित देकर निरन्तर समय और पैसा लगाने वाले सक्रिय वर्ग में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहत किया जाता रहेगा । सक्रिय सदस्यों की शाखा का पदाधिकारी एक ही रहेगा —कार्यवाहक । इसे व्यवस्थापक या भार वाहक भी कह सकते हैं । जो अधिक सक्रिय, उत्साही, निराभिमानी, समय देने वाला और मधुर स्वभाव का हो, उसी को उस पद पर नियुक्त किया जायगा , यह नियुक्ति शांतिकुंज हरिद्वार केन्द्र से होगी वह केन्द्र का प्रतिनिधि माना जायगा । पर उसकी नियुक्ति सक्रिय सदस्यों के परामर्श से ही की जायगी । बस, एक ही पदाधिकारी पर्याप्त है । बहुत से सभापति, उपसभापति, मन्त्री, उपमन्त्री, कोषाध्यक्ष, निरीक्षक नियुक्त करके व्यर्थ ही झूठी वाहवाही के लिये ललचाना और फिर परस्पर नित फुटबॉल करना हमें बिलकुल पसन्द नहीं । इसी चुनाव बाजी ने इन दिनों सभी उपयोगी संस्थाओं को गृह-कलह का अखाड़ा बना दिया है और मित्रों को शत्रु बना देने का द्वार खोल दिया है । हमें इस जंजाल में पड़ने की जरूरत नहीं है । किसी कारणवश कार्यवाहक बदलना पड़ा तो उसे सदस्यों के परामर्श के अनुसार बदल देंगे । एक वर्ष पीछे सदस्यगण उस नियुक्ति की पुष्टि करते रहेंगे । यदि किसी कारणवश परिवर्तन करना पड़ा तो किया जायगा अन्यथा अच्छा यही है कि कार्यवाहक बहुत समय तक एक ही बना रहे ।

इन दिनों प्रयत्न यह चल रहा है कि (१) जहाँ-जहाँ ज्ञान घट अभी स्थापित नहीं हुए हैं वहाँ जल्दी से जल्दी स्थापित हो जायँ । किसी आते-जाते के हाथों अथवा डाक से उन्हें मँगाकर चालू कर दिया जाय । (२) जहाँ बहुत थोड़े ज्ञान घट गये हैं वहाँ शेष सक्रिय सदस्यों से मिलकर उनकी आवश्यकतानुसार और मँगा लिये जायँ और स्थापना करके सदस्यों की बड़ी से बड़ी टीम पूरी कर ली जाय । (३) जिन्होंने ज्ञान घट रखे हैं वे इकट्ठे होकर एक 'कार्यवाहक' की सिफारिश भेजें ताकि उनकी नियुक्ति यहाँ से कर दी जाय और शाखा कार्य नियमित रूप से चलने लगे ।

यह कार्यवाहक ही हर महीने डिब्बों की जमा राशि इकट्ठी करके और उसी से रेल द्वारा इकट्ठा साहित्य मँगाकर इन सब सज्जनों के पास पहुँचाया करेंगे । इसके अतिरिक्त समय-समय पर शाखा सदस्यों की गोष्ठियाँ बुलाने और रचनात्मक कार्यों के लिए व्यवस्था जुटाने में वे ही अग्रगामी रहा करेंगे । उत्साही कार्यवाहक सचमुच बहुत काम कर सकते हैं । अभिनय शिक्षा पद्धति की रात्रि पाठशाला तथा दूसरी तरह के आयोजन उत्साही लोग मिल-जुलकर सहज ही खड़े कर सकते हैं और चलाते रह सकते हैं ।

पत्रिकाओं और विज्ञप्तियों का मूल्य लागत से कम है इसलिए उन पर कुछ कमीशन दिया जा सकना सम्भव नहीं । पुस्तकों में जो राई-रत्ती गुंजाइश है वह शाखाओं के खर्च के लिए अनुदान के रूप में दी जाती रहेगी । पुस्तकों पर २५ प्रतिशत कमीशन शाखाओं को मिला करेगा । रेल या डाक से भेजने का खर्च उनके जिम्मे पड़ेगा । इस प्रकार कमीशन में से खर्च काटकर जो बचेगा वह शाखा के लिए आवश्यक उपकरण जमा करने में लगाया जाना चाहिए । सामान्य खर्च के लिए सदस्यगण परस्पर मिल-जुलकर ही कुछ इकट्ठा करते रहा करें । अगले दिनों कला भारती योजना के अन्तर्गत कितने ही उपकरण तैयार कराये जा रहे हैं । चित्र-प्रदर्शनियों की स्थापना के लिए बड़े-बड़े साइज के चित्र बनाये जा रहे हैं । छाया चित्र दिखाने के स्लाइड और प्रोजेक्टर बनेंगे । लाउडस्पीकर हर जगह चाहिए । नवयुग के संदेशवाहक ग्रामोफोन रिकार्डों पर गाने तैयार कराये जा रहे हैं । इसके अतिरिक्त भी ऐसी कितनी ही संगीत वाद्य आदि वस्तुएँ हैं जो शाखा के लिए बड़े उपयोग की हैं । धकेल गाड़ियों से चल पुस्तकालय हर शाखा को अपने क्षेत्र में चलाना चाहिये । ऐसी वस्तुएँ तपोभूमि में बन सकें या मिल सकें उसका प्रबन्ध किया जा रहा है । इस प्रकार के प्रयोजनों के मद्दे यह कमीशन वाला पैसा भी काम आ सकता है वैसे यह थोड़ा ही होगा जरूरत तो इसके लिए बहुत अधिक ही पड़ेगी । फिर भी न कुछ से कुछ अच्छी वाली कहावत के अनुसार इससे भी शाखा के किन्हीं न किन्हीं कार्यों में कुछ न कुछ मदद ही मिल सकती है

शाखाओं के संगठन कार्य और उनके कार्यवाहकों की नियुक्तियाँ इन दिनों बहुत तत्परता के साथ की जा रही है । जिन्हें इस संगठन की उपयोगिता पर विश्वास है उन संगठनकर्त्ताओं से विशेष अनुरोध किया जा रहा है कि अपने क्षेत्रों में निकल पड़ें और ज्ञानघटों की स्थापना कार्यवाहकों की नियुक्ति के कार्य सम्पन्न कराते हुए उन क्षेत्रों की संगठन व्यवस्था पूरी करा दें । आशा की जा रही है कि शीघ्र ही यह कार्य भी पूरा हो जायगा और युग-निर्माण परिवार के सक्रिय सदस्यों की यह सृजन सेना कर्तव्य से आशा और उल्लास भरा एक नया वातावरण विनिर्मित कर सकेगी ।

लोक-निर्माताओं की सेवासेना और उसका निर्वाह

राजतन्त्र चलाने में लाखों सरकारी कर्मचारी लगते हैं । अर्थतन्त्र चलाने में मिल, उद्योग, कारखाने, दफ्तर आदि में लाखों व्यक्ति खपते हैं । धर्मतन्त्र का जैसा भी कुछ उल्टा-सीधा ढाँचा खड़ा है, ८० लाख धर्मजीवी नियुक्त हैं । स्वास्थ्य सेवा में-शिक्षा तंत्र में भी लाखों व्यक्तियों का श्रम लगा हुआ है । साहित्य प्रेस प्रकाशन में भी कम व्यक्ति लगे नहीं हैं । कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति जन-शक्ति की अपेक्षा रखती है । लंका विजय में भगवान राम को रीछ-वानरों की, गोवर्धन धारण में भगवान कृष्ण को भी ग्वाल बालों की जन-शक्ति जुटानी पड़ी थी । बुद्ध और गान्धी के द्वारा इस देश में जो बड़े आन्दोलन चलाये गये थे, दोनों में ही विशाल जनसंख्या को प्रयुक्त किया गया था ।

मानव जाति का भाग्य निर्माता, विश्व का कायाकल्प युग परिवर्तन, जनमानस का परिष्कार, जैसे महान प्रयोजनों को लेकर चलने वाला युग निर्माण अभियान संसार का अनुपम और अद्वितीय अभियान है । इसका आरम्भ ही छोटे व्यक्ति द्वारा छोटे-छोटे स्थान में-छोटा कार्यक्रम लेकर हुआ है पर यह नहीं सोचना चाहिए कि यह आगे भी छोटा ही बना रहेगा । बीज को छोटा देखकर यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि उससे उत्पन्न होने वाला वृक्ष भी इतना ही छोटा रह जायगा । अपना आन्दोलन अगले दिनों अति विशालता और विस्तार के साथ विकसित होगा । युगचेतना इसकी उपयोगिता अनुभव करेगी । मानव अंतराल में रहने वाली महत्ता आवश्यकता अनुभव करेगी और परिस्थितियाँ झकझोरेंगी कि विनाश को विकास में परिवर्तन कर सकने वाला यह आन्दोलन सक्रिय और समर्थ बनाया जाय । समय आ रहा है, जब उसे समर्थन मिलेगा और सहयोग भी । आज उपेक्षा दिखाई जाती है, उपहास किया जाता है, उससे किसी को निराश नहीं होना चाहिए । आरम्भ हर महान आन्दोलन का इन्हीं परिवर्तनों में होता रहा है । वास्तविकता और उपयोगिता को अन्ततः समर्थन ही मिलता है और सच्चाई के साथ, सच्चे आधार पर, सही व्यक्तियों द्वारा किये गये काम सदा सफलता प्राप्त करते हैं । इस आन्दोलन का भविष्य निश्चित रूप से उज्ज्वल है ।

इतने विशाल और महान कार्यक्रम के लिए जनशक्ति की नितांत आवश्यकता है । वह जितनी अधिक और उत्कृष्ट होगी, प्रगति की सम्भावना उतनी ही बढ़ेगी । पिछले पृष्ठों पर यही चर्चा की गई है कि किस तरह लोभ, मोह, आलस्य, प्रमाद के संकीर्ण बंधनों में बँधे हुए प्रभावशाली लोगों को जाल-जंजाल में से छुड़ाकर नव निर्माण की दिशा में अग्रसर किया जाय । जन-जागरण के सन्देश का स्वर हमें तीव्र करना होगा और अन्तरात्मा में प्रसुप्त परमार्थ को सजग करना होगा-दिशाएँ मोड़नी होंगी-विश्वास किया जाना चाहिए कि यज्ञ का प्रारम्भ अभियान एक सिहरन लेकर चला आ रहा है और वह विवेकशील लोगों को पेट-प्रजनन के कोल्हू में पिसते रहने की अपेक्षा लोक-मंगल के लिए अधिक अनुदान देने की प्रेरणा ग्रहण करने और जनशक्ति का प्रवाह इस महान आन्दोलन की जड़ें सींचने के लिए उपलब्ध हो सकेगा । वानप्रस्थी परम्परा को नव-जीवन दिया जायगा और पेट भरने की व्यवस्था जुटाकर परमार्थ-प्रयोजन के लिये भावनापूर्वक अग्रसर होंगे ।

अभी काम कम दीखता है, क्योंकि साधन अति स्वल्प हैं, न हाथ धन-शक्ति है, न जन-शक्ति । साधन जुटाने के लिए अपने कुटुम्बियों पर ही बरस पड़े हैं और उन्हें एक घण्टा समय, बीस पैसा छोटा अनुदान अनिवार्य रूप से देने के लिए विवश कर रहे हैं । अभी इतनी भर उपलब्धि के माध्यम से आन्दोलन चल रहा है । लेकिन यह दशा सदा न रहेगी । वस्तुत: स्थिति निखरती चली जायेगी और यह विश्व मानव का—अन्तरात्मा का आग्रह दीखने लगेगा और अन्तरात्मा का आवेग, आवेश इतना तीव्र होगा कि किसी भी भावनाशील व्यक्ति को उसे रोक सकना असम्भव हो जायेगा । उत्साह से उत्साह बढ़ेगा त्याग को देखकर त्याग की उमंगें उमड़ेंगी और देखते-देखते एक विशाल जन-शक्ति इस आन्दोलन को अग्रसर करने में जुट पड़ी, दृष्टिगोचर होने लगेगी तब कार्यक्रमों की संख्या वृद्धि और विशालता देखते ही बनेगी । दिन-दिन बढ़ती हुई जन-शक्ति भी कम ही पड़ती दीखेगी, क्योंकि कार्य की विशालता और सीमा इतनी बड़ी है कि उसमें एक करोड़ कार्यकर्त्ता भी कम ही पड़ेंगे ।

शत-सूत्री कार्यक्रम की रूपरेखा हम बहुत पहले ही प्रस्तुत कर चुके हैं । मनुष्य जाति के सामने अगणित समस्याएँ मौजूद हैं और वे सभी अपना हल माँगती हैं । हर व्यक्ति की क्षमता, अभिरुचि और परिस्थिति में थोड़ी भिन्नता रहती है, उसकी सेवा-वृत्ति को प्रयुक्त करने के लिए अनेक कार्यक्रमों की जरूरत है । हर योग्यता और हर स्थिति के व्यक्ति को नवसृजन में योगदान करने का अवसर मिल सके, इसके लिए स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कार्यक्रमों को हाथ में लेना पड़ेगा । इन्हीं लक्ष्यों को ध्यान में रखकर शत-सूत्री योजना प्रस्तुत की गई थी । उसे स्थानीय लोगों द्वारा हर जगह कार्यान्वित किया जा सकता है ।

इन दिनों कुछ विशेष कार्यक्रम हाथ में लिए गये हैं । ज्ञान यज्ञ के लिए एक घण्टा और बीस पैसा लगाने वाली बात अब परिवार की सदस्यता की अनिवार्य शर्त बना दी गई है । इस आधार पर एक से दस तक इस विचारधारा के विस्तार करने का जनसम्पर्क कार्यक्रम तेजी की ओर भावनापूर्वक चल रहा है । यह उत्साह इसी क्रम से चलता रहा तो विश्वास है कि अगले ही दिनों हमारा कार्यक्षेत्र और प्रभावक्षेत्र देखते-देखते कई गुना अधिक बढ़ जायेगा और आज की सीमित प्रवृत्तियाँ कल असीम बनती दिखाई पड़ेंगी । सदस्यों का संगठन शाखा-संचालनों की नियुक्ति इन्हीं दिनों पूरी हो जायेगी और एक सुव्यवस्थित संघशक्ति का स्पष्ट स्वरूप सामने आ जायेगा ।

अगले दिनों हर जगह रात्रि पाठशालाओं और अपराह्न पाठशालाओं की स्थापना की जायेगी और इस विचार-पद्धति का क्रमबद्ध शिक्षण चलने लगेगा । कला भारती का आन्दोलन नई उमंगों के साथ आगे आने को आतुर है । यह अण्डा अब फूटने वाला ही है, जो बच्चा निकलेगा, उसकी शोभा-सुषमा देखकर लोग चकित रह जायेंगे । रचनात्मक और संघर्षात्मक कार्यक्रमों की रूप-रेखा सामने है । जन-मानस की चेतना उलट देने वाला साहित्य अति विशाल परिमाण में प्रस्तुत और प्रचारित किया जाना है । इन प्रवृत्तियों को गति देने के लिए हजारों लोकसेवियों की सेना देशव्यापी भ्रमण करेगी और विदेशों तक धावा बोलेगी । नैतिक और सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध हम संघर्ष खड़ा करेंगे । शुरू में प्रचार आन्दोलन भले ही रहे अन्तत: दुष्टताओं को अपना रास्ता बदलने के लिए विवश और बाधित होना ही पड़ेगा । जिनको दाढ़ में खून लग गया है, वे निहित स्वार्थ, अननुय-विनय की भाषा समझने वाले नहीं हैं । लक्ष्मण ने परशुराम जी को और समुद्र को जिस तरह प्रबोधा था, हमें भी संव्याप्त अवांछनीयता को इसी तरह ललकारना पड़ेगा और हरकतें छोड़ने के लिए विवश करना पड़ेगा । हमें निश्चित रूप से संघर्ष खड़ा करने पड़ेगा । उसका स्वरूप अभी निश्चित नहीं करते, क्योंकि वह अति व्यापक होगा और इंच-इंच भूमि पर भाई-भाई के बीच महाभारत की तरह लड़ा जायेगा । अनीति और अविवेक के असुरों की अति विशाल सेना के साथ लड़ा गया यह अन्तिम युद्ध ही संसार में युद्धों की अन्तिम समाप्ति करेगा । इसे अन्तिम विश्वयुद्ध कहा जा सकेगा । इसमें अवांछनीयता की ताड़का और अनौचित्य का रावण अपनी मौत मरेगा । सतयुग का राम राज्य इसके बाद ही अवतरित होगा तभी हम धरती पर स्वर्ग और मनुष्य में देवत्व का उदय देखेंगे ।

यह सारा कार्य विस्तार, विशाल जन-शक्ति की अपेक्षा करता है । सो उपलब्ध की जानी चाहिए । ज्ञान यज्ञ का अभियान जितना तीव्र होता जायेगा, प्रतिभाएँ संकीर्णता, के बन्धनों को तोड़कर लोक-मंगल के लिए कर्त्तव्य पालन के लिये आगे आयेंगी और एक विशाल जन-शक्ति इस अभियान में संलग्न दिखाई पड़ने लगेगी । इस जन-शक्ति में कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं, जो अपनी संचित पूँजी से अथवा कमाऊ बच्चे, भाई आदि के सहयोग से गुजर चला लें । पर सभी ऐसे नहीं हो सकते । आंशिक समय-दान भी अपनी आजीविका उपार्जन के साथ दिया जा सकता है । ऐसे स्वावलम्बी लोकसेवी भी बहुत कुछ कर सकते हैं, पर उतने से काम न चलेगा । पूरा समय देने वाले लोग ही पूरा उत्तरदायित्व सँभाल पाते हैं और परिभ्रमण जैसे उत्तरदायित्वों को सँभाल सकते हैं । इसलिए एक बड़ा वर्ग ऐसा भी चाहिए जो पूरा समय देकर इन प्रकार के कार्यों में अपना जीवन खपाने और भावना तथा क्रिया से पूरी तरह अभियान में तन्मय हो जाये ।

ऐसे लोगों की निर्वाह व्यवस्था जुटाने का काम भी हाथ में लेना होगा । शरीर से काम लेना हो तो वह अन्न, वस्त्र तो माँगेगा ही । जो अपना पूरा समय निर्माण के लिए देगा उसके निर्वाह की व्यवस्था समाज को जुटानी ही होगी । अगले दिनों एक विशाल जन-शक्ति अन्ने आंदोलन में आने वाली है, उसके लिए निर्वाह का प्रश्न हल करने की और साधन जुटाने की अभी से आवश्यकता

पड़ेगी । शुरूआत तो हो भी गई है, कितने ही भावनाशील व्यक्ति अपना जीवन दान देने को आतुर हैं । कितनों को गायत्री नगर में बुला भी लिया गया है, आगे और भी आने वाले हैं तथा बुलाये जाने वाले हैं । इनमें से थोड़ेउसे लोगों की निर्वाह व्यवस्था तो किसी न किसी माध्यम से चल रही है, पर आगे तो कुछ अधिक बड़ी और व्यवस्थित बात ही सोचनी पड़ेगी ।

प्राचीनकाल में लोक-सेवियों का निर्वाह साधन भिक्षा-वृत्ति से जुटता था । उन दिनों एक पवित्र कर्म था । केवल लोक-सेवी हो उसे अपनाते थे, इसलिए सर्वत्र श्रद्धापूर्वक भिक्षा दी जाती थी । आज अवांछनीय भिक्षुओं की इतनी बड़ी सेना समाज की गर्दन पर चढ़ बैठी है कि उसकी प्रतिक्रिया भिक्षुओं के प्रति घृणा के रूप में सामने है । जनता की आर्थिक स्थिति भी वैसी नहीं । फिर भिक्षुकों की गति-विधियों ने उसे वृत्ति को अपमानजनक बना दिया है । ऐसी दशा में लोक-सेवियों की सेना स्वयं भिक्षा माँगे यह तो हो नहीं सकेगा । काम तो जनसहयोग से ही चलेगा पर उसका स्वरूप दूसरा ही हमें सोचना चाहिए ।

एक तरीका यह है कि लोकमंगल में विश्वास रखने वाले लोग अपनी आजीविका में कम से कम एक दिन की कमाई अपने उन भाइयों के लिए दिया करें, जो सारी सुविधाएँ छोड़कर अपना सारा समय लोक-मंगल के लिए दे देने का दुस्साहस कर रहे हैं । एक-एक दिन की आमदनी तीस व्यक्ति दें तो उतने भर से एक कार्य-कर्त्ता का निर्वाह जुट सकता है । ऐसी उदारता ३० हजार व्यक्ति दिखाने लगे, तो उससे १००० व्यक्तियों की एक पूरा समय देने वाली कार्यकर्त्ता सेना बन सकती है । जो पूरा समय दे सकने की स्थिति में नहीं हैं वे महीने में एक दिन अपनी ओर से किसी दूसरे को कार्य करने की सुविधा जुटाकर आंशिक रूप से अपने प्रतिनिधि से काम कराने का लाभ समाज को दे सकते हैं । बात कठिन कुछ भी नहीं है । मन की संकीर्णता थोड़ी हल्की करने भर की बात है । तीस दिन की आमदनी से गुजारा करने वाला, २९ दिन के आमदनी से भी काम चला सकता है । एक दिन वाली कमी को किसी भी किफायत से सहन किया जा सकता है । प्रश्न उदारता भर का है । प्रश्न नवनिर्माण के प्रयत्नों की महत्ता समझने भर का है । यह समझ में आ जाये तो इतना छोटा त्याग कर सकना किसी के लिए भी कठिन न पड़ेगा । पर यदि पत्थर जैसे मन में त्याग और सेवा की बात घुसे ही नहीं—स्वार्थपरता और तृष्णा-ममता पहले से ही फाटक बन्द करके बैठ जायें तब भी बीस पैसा रोज देने वाली शर्त भी पहाड़ जैसी भारी और समुद्र जैसी दुस्तर प्रतीत होगी । तंगी पैसे की नहीं होती—तंग दिल हुआ करता है, जो ओछी तबियत के हैं उनसे दो पैसा भी परमार्थ के लिए छोड़ना कठिन पड़ेगा । मूर्खतापूर्ण बातों में तो लोग दौलत उड़ाते ही रहते हैं । सदुद्देश्य के लिए तो विवेकशील अन्तःकरणों में उदारता जागती है ।

हमें आशा और चेष्टा करनी चाहिए कि युग-निर्माण परिवार के लोग अगले दिनों ज्ञानयज्ञ के लिए बीस पैसा रोज निकालना ही पर्याप्त न समझें वरन् एक कदम आगे बढ़कर कम से कम एक दिन की आमदनी देने लगें । जो इससे अधिक देने की स्थिति में हैं जिनमें उदारता का अंश अधिक है, वे अधिक साहस करें । ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ५००) मासिक वेतन पाते थे । उसमें से अपने परिवार का खर्च ५०) में चलाते थे और ४५०) मासिक नियमित रूप से असमर्थ छात्रों की शिक्षा-सुविधा जुटाने में खर्च करते थे । ऐसी उदारता ऐतिहासिक नहीं रह जानी चाहिए । मनुष्य में देवत्व का उदय या स्वप्न देखना या उपदेश करना ही पर्याप्त न होगा, उस आदर्श को हमें अपने जीवन में उतारना चाहिए । आगे बढ़कर अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति ही तो सच्चे स्वार्थों में लोक-शिक्षा का प्रयोजन पूरा करते हैं । वाणी से नहीं अपने आचरण से ही हम लोगों को उदात्त गतिविधियाँ अपनाने के लिए प्रेरित और प्रभावित कर सकते हैं । यह परम्परा यदि हम लोग आरम्भ कर सके तो उसके दूरगामी परिणाम होंगे और कार्यकर्त्ताओं की एक बड़ी सेना खड़ी कर सकना सम्भव हो जायेगा । इतना हो सका तो युग-निर्माण योजना एक मूर्तिमान वास्तविकता के रूप में अगले ही दिनों सामने खड़ी दिखाई देगी ।

इसके अतिरिक्त साधनसम्पन्न लोगों को अधिक उदारता का परिचय देना चाहिए । सम्पन्नता का उत्सर्ग करने का इससे अच्छा समय नहीं आ सकता और इस अभियान से बढ़कर अनुदान देने के लिए और कोई श्रेष्ठ माध्यम नहीं मिल सकता । यह एक तथ्य है कि अगले दिनों व्यक्तिगत धन सम्पदाएँ न रहेंगी, सम्पत्ति समाज की होगी व्यक्ति श्रमिक मात्र रह जायेगा । औलाद को दौलत छोड़ मरने की तृष्णा समय से पहले ही छोड़ दी जाय तो अच्छा है । अब उत्तराधिकार से मिली हराम की कमाई के ऊपर कोई बेटा गुलछर्रे न उड़ा सकेगा । हर किसी को अपनी श्रम उपार्जित आजीविका पर निर्भर रहना होगा । यह न तो स्वप्न है और न अनिश्चित सम्भावना । यह एक सच्चाई है, जो अगले ही दिनों हर किसी की आँखों के आगे खड़ी दिखाई देगी, सो बुद्धिमत्ता इसी में है कि जिनके पास सम्पदा है उसे लोक-मंगल के लिए वे उदारतापूर्वक दे दें इससे वे आत्म सन्तोष और प्रशंसनीय और परमार्थ का दूसरा लाभ प्राप्त कर सकेंगे । यदि इसकी हिम्मत न पड़ी तो दौलत तो न उनके पास रहने वाली है, न उनके बेटे पर केवल पश्चाताप, रुदन और मलाल ही हाथ रह जायेगा ।

यह वास्तविकता जो समझ सकते हों और जिनके पास गुजर से अधिक पैसा हो, उनके लिए बुद्धिमानी का एक ही रास्ता है कि उसे अपने हाथों परमार्थ के लिए दे दें । परमार्थ का प्रश्न सामने हो तो धर्मशाला, कुआँ, बावरी, मन्दिर आदि के द्वारा अपने नाम का पत्थर लगवाने की—यश खरीदने वाली दुकानदारी नहीं करनी चाहिए । मानवीय अन्तःकरण को परिष्कृत करने से

बढ़कर उत्कृष्ट स्तर का पुण्य-परमार्थ इस संसार में दूसरा नहीं हो सकता तो यदि देने की बात सोचनी हो तो इस पुण्य-प्रवृत्ति को नवनिर्माण आन्दोलन की जड़ें मजबूत करने में लगाने की बात ही सोचनी चाहिए । ऐसे अनुदान-सम्पत्ति दान यदि मिल सकें तो सृजन के लिए जीवन उत्सर्ग करने वालों के अन्न, वस्त्र का प्रबन्ध सहज ही हो सकता है और पूरा समय दे सकने वाले कार्यकर्त्ताओं की एक बड़ी सेना उपलब्ध हो सकती है ।

भामाशाह बुद्धिमान थे । राणा प्रताप के हार जाने पर मुसलमान हमला करते और यह दौलत कष्टपूर्वक छिन जाती । उन्होंने समय रहते बात सोच ली । संग्रहीत धन राणा प्रताप को दे दिया । उस धन से सेना बनाई गई । भामाशाह को यश मिला और आजीवन राणा प्रताप का सहयोग भी । आज उन सबको भामाशाह की तरह सोचना चाहिए, जिनके पास संग्रहीत सम्पदा है । कंजूसी उन्हें अगले दिनों बुरी तरह रुलायेगी । समझदार के लिए इतना इशारा ही पर्याप्त माना जाना चाहिए ।

कितने ही व्यक्ति ऐसे हैं, जिनके बेटे भी नहीं है । किसी से वे बेटा गोद लेकर अपनी दौलत उसे देना चाहते हैं और वंश चलाने का सपना देखते हैं । कितने हो देना किसी को नहीं चाहते । मरने के बाद मुकदमेबाजी, फौजदारी का रास्ता खुला छोड़ जाना चाहते हैं । कितनों के ही उत्तराधिकारी मरने के इन्तजार में अधीर होकर गरदनें दबोचने की तैयारी कर रहे हैं । कदमों पर फुसलाने वाले खुशामद भरे जाल फेंके जा रहे हैं । इन तरीकों से दौलत लुटाने वाले यदि परमार्थ के लिए उसे खर्च कर सकने का साहस इकट्ठा कर सकें होते तो कितना अच्छा होता । बेटे को दौलत छोड़ मरने की बात तो निस्सन्देह दौलत के पहाड़ जो लोगों ने व्यर्थ ही दबा रखे हैं—लोक मंगल के लिए उपलब्ध हो सकते हैं और उसकी एक-एक पाई श्रेष्ठतम परमार्थ में प्रयुक्त हो सकती है ।

नव-निर्माण की सेवा-सेना के लिए ऐसे आजीविका साधन भी जुटाये जा सकते हैं, जिनसे उनकी स्वावलम्बन पूर्वक गुजर होती रहे और वे निश्चिन्ततापूर्वक समाज सेवा का कार्य करते रह सकें । कृषि की बड़ी जोतें कहीं से मिल जायें तो स्त्री, बच्चों के मिले-जुले श्रम से गुजारे का प्रबन्ध हो सकता है और पुरुष निश्चिन्त होकर सेवा कार्य करते रह सकते हैं । दयाल बाग, आगरा की तरह उद्योग बस्तियाँ भी बन सकती हैं और उपार्जन का प्रबन्ध हो सकता है । साम्यवाद के प्रवर्तक कार्लमार्क्स की पत्नी पुराने कोटों में से काटकर नये छोटे कपड़े सींती थीं और उन्हें बेचकर घर चलाती थीं । पति सेवा कार्य में लगे रहते थे । उद्योग-धन्धों का ऐसा क्रम भी चलाया जा सकता है, जिसमें लगे हुए स्त्री, बच्चे रोटी कमायें और पुरुषों को समाज सेवा का अवसर मिल जाये । कृषि, उद्योग आदि के आधार पर ऐसे सेवा ग्राम बसाये जा सकते हैं, जिनमें हमारा पारिवारिक और सामाजिक जीवन कैसा हो इसका नमूना खड़ा किया जा सकता है । इस प्रकार की व्यवस्था साधन चाहती है । साधन अमीरों के पास हैं, सरकार के पास हैं, मन्दिर-मठों के पास हैं, निहित स्वार्थ के पास हैं । अपने कार्यक्रम उनकी हाँ में हाँ मिलाने वाले, उनके स्वार्थों का समर्थन करने वाला कहाँ है ? ऐसी दशा में हमें साधन कौन उपलब्ध करा सकेगा ?

आज तो केवल हम उन्हीं को झखझोर सकते हैं जिनमें भावनात्मक नव-निर्माण की महत्ता समझने की शक्ति है । ऐसे लोगों को अधिक त्याग, अधिकाधिक त्याग करने के लिए हम युग चेतना के प्रतिनिधि रूप में अनुरोध, उद्बोधन कर रहे हैं जो इसे सुन सकेंगे, स्वीकार कर सकेंगे केवल ये ही अपनी दूरदर्शिता पर सन्तोष और गर्व-गौरव कर सकेंगे । अनसुनी करने वालों के हाथ पश्चाताप के अतिरिक्त और कुछ न रहेगा ।

भावी महाभारत जो नवनिर्माण हेतु लड़ा जायेगा

भगवान का निज अवतरण अधर्म के संहार और धर्म की स्थापना के लिए होता है । कच्छ-मच्छ से लेकर भावी निष्कलंक अवतार की सारी गाथा, इसी केन्द्र पर केन्द्रित है । देवताओं को असुरों के साथ असंख्य बार युद्ध करने पड़े हैं । सारा पौराणिक साहित्य इन्हीं चर्चाओं से भरा है । शक्ति के अवतार का एक ही प्रयोजन था-दुष्टता का उन्मूलन । शुंभ-निशुंभः मधुकैटभ, महिषासुर आदि का वध करने के लिए देवी दुर्गा प्रकटीं । उनका वाहन सिंह है, उसे भी असुरता के उदर विदारण में योग देना पड़ता है । अलंकारिक रूप से इस कथा-गाथा का रहस्य यह है-कि शक्ति का प्राकट्य जब कभी हो तो तब उसका विनियोग अनौचित्य का दमन-शमन करने के लिए ही होना चाहिए । शक्ति का वाहन जो कोई सिंह होना चाहता है, उसे भी अपनी आराध्या भगवती की तरह उसी विदारण क्रिया में लगना चाहिए । यहाँ पशुओं अलंकार है कि देवी पशुओं को खाती है । यहाँ पशुओं से मतलब भैंसे, बकरे जैसे निरीह प्राणियों से नहीं वरन् पशुता से है, जो मनुष्य को असुर कर्म करने के लिये प्रेरित करती है ।

अवतारों ने स्वयं ही संघर्ष नहीं किये हैं, वरन् अपने अनुयायियों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा दी है । भगवान राम ने अपने समस्त प्रियपात्रों को उसी प्रयोजन में लगाया । अपने परम प्रिय भक्त हनुमान से लंका-काण्ड में बड़ी से बड़ी भूमिका सम्पन्न कराई । लक्ष्मण से लेकर सुग्रीव, अंगद, नल-नील, जटायु, रीछ-वानरों से लेकर गिलहरी तक को संघर्ष में निरत रहना पड़ा । श्रीकृष्ण भगवान के जीवन का अधिकतर समय युद्ध में गया । बालकपन से ही अनेक दुर्दान्त असुर मारे और अन्त तक अपनी लीलाओं से पांचजन्य का ही युद्ध घोषण करते रहे । महाभारत का अविस्मरणीय महासमर उनकी सबसे

बड़ी देन थी । यदि वह महान आयोजन न किया गया होता तो विश्वव्यापी असुरता के उन्मूलन की, दुशासन के निराकरण की व्यवस्था बन ही न पाती । अर्जुन उनका परम मित्र था । उसे वे संसार का सबसे बड़ा श्रेय, अनीति के उन्मूलन में प्रचंड पराक्रम प्रदर्शित कर सकने का दिलाना चाहते थे । अर्जुन इसे देखने में क्रूर-कर्म लगने वाले उपक्रम से बचना चाहता था वह भजन-पूजन जैसे सस्ते तरीके से जीवनादेश्य की पूर्ति चाहता था । भगवान ने अपना समस्त बुद्धि-कौशल खर्च करके उसे अभीष्ट प्रयोजन में लगाया था । उसे युद्ध का नेतृत्व कराके ही छोड़ा, इस कार्य में उसे पूरा सहयोग दिया । यहाँ तक कि उसके रथ के घोड़े स्वयं चलाये । भगवान राम और कृष्ण इन दो अवतारों को प्रधान माना जाता है । दोनों की प्रमुख लीलाएँ युद्ध नियोजन की हैं ।

भगवान परशुराम ने २१ बार पृथ्वी भर के दुर्बुद्धि ग्रस्तों सिरों का काटा । यहाँ सिर काटने से मतलब विचार बदलने से है । भगवान बुद्ध का संघर्ष अहिंसक था पर उन्होंने अपने युग में अपने ढंग से हिंसा के विरुद्ध पूर्व अवतारों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण लड़ाई लड़ी । शंकर-दिग्विजय में भी अविवेक के परास्त करने की ही पृष्ठभूमि है । राजा मान्धाता की सेनाओं ने 'शास्त्रादपि शरादपि' प्रयोजन पूरा करके शंकर-दिग्विजय को सर्वांग-पूर्ण बनाया । राजा परीक्षित के पुत्र का नागयज्ञ भी उन्मूलन की आवश्यकता का ही प्रतिपादन करता है । धर्मयुद्ध से बचा नहीं जा सकता, बचा नहीं जाना चाहिए । विशेषतया जबकि अनीति ने अपना सिर आसमान तक उठा रखा हो ।

गीता महान अध्यात्म धर्म-ग्रन्थ है । उसने साधना को एक विशुद्ध समर के रूप में प्रस्तुत किया है । गीता का महापात्र अर्जुन है । उसे अनेक कारण, तर्क और आधार बताते हुए भगवान ने निश्चित निर्देश दिया 'तस्मात् युद्धाय युजस्व' अर्थात् इसलिए तू युद्ध ही कर । हार जाने पर स्वर्ग और जीत जाने पर यश दोनों हाथों में लड्डू इस जुए मे मिलने की बात उन्होंने कहीं और अन्ततः अनिच्छा रहते हुए भी अर्जुन को लड़ने के लिए ही तत्पर होना पड़ा । यह एक अर्जुन की बात नहीं–अध्यात्म धर्म पर चलने वाले हर साहसी साधक के लिए यही मार्ग है । समर्थ गुरु रामदास ने अपने परमप्रिय शिष्य शिवाजी को आजीवन लड़ते रहने के लिए भगवती से तलवार प्रदान कराई । गुरु गोविन्द सिंह के शिष्यों ने कृपाण को अपनी जीवन-सहचरी बनाया और एक हाथ में माला, एक हाथ में भाला लेकर सिर का सौदा करने का व्रत ठाना । गाँधी ने अपने शिष्यों को सत्याग्रह संग्राम में जोत दिया और इस संदर्भ में जिसने जितना पराक्रम दिखाया उसे ही अपना सच्चा अनुयायी माना । उसका यह शिष्य बिनोवा वृद्धावस्था में भी अवांछनीयता के विरुद्ध बगावत का झण्डा उठाये इस जीर्ण-शीर्ण शरीर को वृद्धावस्था में भी अश्वमेध के घोड़े की तरह दशों दिशाओं मे परिभ्रमण कराया था ।

श्रुति कहती है–'नायमात्मा बल हीनेन लभ्यः' आत्मा बल हीनों को प्राप्त नहीं होता । दुर्बल लोग न लोक में कुछ पाते हैं न परलोक में । इसलिए सर्वव्यापी दुर्बलता का निराकरण करना ही साधना का एकमेव प्रयोजन है । आचरण की दुर्बलता को दूर करने के लिए यम, नियम, शरीर की दुर्बलता हटाने के लिए आसन, प्राणायाम । मन की दुर्बलता मिटाने के लिए प्रत्याहार धारणा । ध्यान तथा आत्मा की दुर्बलता निवारण के लिए समाधि का अभ्यास किया जाता है । पहलवान जानते हैं कि शरीर को परिपुष्ट करने के लिए अखाड़े में जाकर अपने आपसे कितना लड़ना पड़ता है । विद्वान् जानते हैं कि पुस्तकों के साथ मन को लगाने के लिए उन्हें कितनी लम्बी अवधि तक एक विकट संघर्ष में जूझना पड़ा है । योग-साधना एक प्रत्यक्ष समर है–जिसमें अपनी इन्द्रियों से, गतिविधियों से पग-पग पर कट-कटकर लड़ना होता है । जो लड़ने से कतराते हैं और गुरु, ईश्वर, देवता या भाग्य के उपहार स्वरूप लम्बे-चौड़े मनोरथ पूरे करने के रंगीन स्वप्न देखते रहते हैं उन्हें अन्ततः सर्वथा खाली हाथ ही रहना पड़ता है ।

अध्यात्म का मानवीय प्रगति का प्रथम सोपान है–साहस । साहस भी वह जो उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता के लिए प्रयुक्त किया जा सके । जो दुष्कर्मों के लिए अनीति के लिए–आतंक के लिए प्रयुक्त किया जाता है उसे तो दुस्साहस मात्र कहना चाहिए । सत्साहस वह है जो अनौचित्य एवं अविवेक के सामने सिर झुकाने से इन्कार कर दे और बड़ी से बड़ी हानि होने का खतरा उठाकर भी सन्मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ बना रहे । आत्मिक एवं भौतिक प्रगति सदा साहस का वरण करती रही है । दुनिया वाले लोग तलवार चलाने वालों को शूरमा कहते हैं और जो जितनों के सिर काट सके उसे उतना ही बड़ा वीर बताते हैं । अपनी दृष्टि में यह कोई वीरता का चिन्ह नहीं, यह कार्य तो मछियारे और कसाई भी निपुणता के साथ बड़ी मात्रा में करते रहते हैं । शौर्य का चिन्ह है–अनौचित्य को अंगीकार करने से स्पष्ट इन्कार कर सकने की हिम्मत और साहस का चिन्ह है । आत्मा की पुकार का अनुसरण करते हुए वह कदम उठाना जो व्यक्ति और समाज का स्तर ऊँचा बनाने की दृष्टि से वाँछनीय है । आमतौर से इस प्रकार की हिम्मत को प्रोत्साहन नहीं मिलता । जमाना जिस रास्ते पर चल रहा है वैसी ही मूर्खता और धूर्तता अपनाये रहने के लिये सभी तथाकथित 'शुभ-चिन्तक' और 'परिजन' सलाह देते हैं । पूर्व संचित कुसंस्कार और वातावरण के प्रभाव द्वारा भी उत्कृष्टता की दिशा में चलने का मार्ग पग-पग पर अवरुद्ध किया जाता है । जो इन अवरोधों को कुचलता हुआ विवेकशीलता, दूरदर्शिता और वांछनीयता का पल्ला पकड़े रह सके उन्हें ही सच्चे अर्थो में साहसी और शूरमा कहा जायगा । आत्मिक प्रगति प्रचण्ड मनोबल की अपेक्षा करती है और ऐसे साहस का विकास चाहती है जो सत्य को धारण कर सकने में फौलाद जैसा मजबूत सिद्ध हो सके ।

व्यक्तिगत जीवन को असंयम, आलस्य, आवेश, लालच, अविवेक जैसे दुष्ट-दुर्गुण घुन की तरह चुपके-चुपके खोखला करते रहते हैं । इनके द्वारा पहुँचाई जाती रहने वाली क्षति का पता भी चल नहीं पाता कि जीवनोद्देश्य को पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट होने का अवसर आ पहुँचता है और अनन्त काल तक पश्चाताप करते रहने के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता । इन आन्तरिक दुर्गुणों से पग-पग पर लड़ना और उन्हें येन-केन प्रकारेण परास्त किया जाना आवश्यक है । सहज ही इनसे पिण्ड नहीं छूटता । निरन्तर आत्म-निरीक्षण, आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण एवं आत्म-विकास की साधना में निरत रहने पर भी आत्म-कल्याण का पथ प्रशस्त होता है । जीवन-साधना निस्सन्देह एक महाभारत है, जिसमें प्रत्येक श्रेयार्थी को अर्जुन की भूमिका सम्पादित करने के लिए गीता-ज्ञान को व्यावहारिक जीवन में समाविष्ट करना होता है । जो इस लड़ाई से डरा-भागा उसे बाह्य जीवन में भर्त्सना और आंतरिक जीवन में आत्म-प्रताड़ना की पीड़ा सहनी पड़ती है । आत्म-कल्याण के लिए आत्म-निर्माण आवश्यक है और आत्म-निर्माण आन्तरिक कषाय-कल्मषों से घोर संघर्ष करने पर ही संभव है । जीवन एक संग्राम है जिसमें शूरवीर योद्धा ही सफलता की विजय लक्ष्मी वरण करते हैं ।

श्रेयार्थी के मार्ग में अन्तर्द्वन्द्वों से आगे बढ़कर तथा कथित परिजन और हित-चिन्तक बाधा पहुँचाते हैं । हमारे कुटुम्बी, सम्बन्धी और मित्र रक्त सम्बन्ध और भौतिक-शृंखला के कारण एकत्रित होते हैं । आमतौर से उनमें से दूरदर्शी और भावनासम्पन्न नहीं हो होते हैं । उनकी दृष्टि में अधिक उपार्जन और अधिक सुखोपभोग, यही दो जीवन के लक्ष्य होते हैं । अतएव उनकी इच्छा यही रहती है कि हम अधिक कमायें, खायें और समय का जो भाग उपार्जन से बचता है, उसे उन लोगों की खुशी तथा सुविधा के लिए खर्च करते रहें । जब तक उनकी इस इच्छा की पूर्णतया तृप्ति होती रहती है तब तक वे कुछ नहीं कहते पर जब कभी परमार्थ के लिए राई-रत्ती समय या धन खर्च होने लगता है तो वे आग-बबूला हो उठते हैं । वे सोचते हैं कि अभीष्ट आमदनी तथा उनके इच्छानुवर्ती होने से सारा विघ्न इस राई-रत्ती परमार्थ से ही उत्पन्न होता है । यों कोई परमार्थ के लिए कुछ न करे तो भी उनकी आकांक्षाएँ कहाँ पूरी होती हैं पर तब वे उसका भाग्य दोष को देकर चुप हो जाते हैं जब हम परमार्थ के लिए कुछ करना चाहते हैं तो उनकी अतृप्ति का सारा रोष इसी में दिखाई पड़ता है और वे इसी केन्द्र बिन्दु पर अपना रोष प्रकट करते हैं । आमतौर से परमार्थ की तनिक रीति-नीति अपनाने लगने पर हमारे तथाकथित कुटुम्बी, प्रेमी, निज सम्बन्धी, पूर्णतया विरुद्ध हो जाते हैं और अपना रोष, असहयोग, प्रतिरोध व्यक्त करके यह चेष्टा करते हैं कि हमारी परमार्थ-प्रवृत्तियाँ पूर्ण बन्द कर दी जायँ ।

संयमी, परमार्थी एवं श्रेयार्थी गतिविधियों से भरा हुआ जीवन ही आध्यात्मिक जीवन है । स्वर्ग, मुक्ति, शान्ति और विभूतियों की उपलब्धि प्राप्त करने के लिए वासना और तृष्णा के दायरे से कुछ तो बाहर निकलना ही पड़ता है । कुछ समय, मन, श्रम, धन तो आत्म-कल्याण के लिए लगाना ही पड़ता है । पारिवारिक जिम्मेदारियों को पूरी तरह निभाया जाना चाहिए । आश्रितों का भरण-पोषण और उनके विकास का प्रयोजन पूरा करने के लिए सामर्थ्य भर प्रयत्न किया जाना चाहिए पर इसका अर्थ यह तो नहीं है कि चन्द व्यक्तियों की तृष्णा और मोह-ममता भर पूरी करने के लिए जीवनोद्देश्य को पैरों तले रौंदकर रख दिया जाय । प्रेमीजनों की इच्छाएँ तथा आवश्यकताएँ पूरी की जानी चाहिए पर इसका अर्थ यह तो नहीं है कि मानव जीवन जैसे अमूल्य अवसर को इसीलिए उत्सर्ग कर दिया जाय । कुटुम्बियों की प्रगति एवं सुव्यवस्था को ध्यान में रखा जाना चाहिए पर उतनी ही सीमा में सीमाबद्ध देश, धर्म, समाज और संस्कृति के प्रति-आत्मा और परमात्मा के प्रति जो परम पावन कर्त्तव्य है उन्हें भुला नहीं दिया जाय ।

इस अनावश्यक मोह-ममता से संघर्ष आवश्यक है । परिवार की प्रगति के लिए व्यक्ति अपने कर्तव्य की पूर्ति करे यह उचित है पर ऐसा नहीं होना चाहिए कि परिवार अजगर बनकर व्यक्ति की समस्त श्रेष्ठ संभावनाएँ निगल कर बैठ जाय । आज की स्थिति ऐसी ही है जिसे बदला जाना चाहिए । इस परिवर्तन से यदि सम्बद्ध परिजन रुष्ट होते हैं तो उसकी उपेक्षा ही की जानी चाहिए । भरत ने माता की, प्रहलाद ने पिता की; विभीषण ने भाई की, बलि ने गुरु की अवज्ञा की थी और उसे अनुचित नहीं माना गया । बड़ों का आदर करना चाहिए, छोटों को स्नेह, पर यदि वे अनुचित आग्रह करें तो उनकी पूर्ति के लिए विवश नहीं होना चाहिए । आज अगणित प्रतिभाएँ और विपुल सम्पदाएँ इसी माया, मोह एवं संकोच की वेदी पर बलि दी जा रही हैं, सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन में सबसे बड़ी बाधा इन रूढ़िवादी परिवारी लोगों ही की है । विचारवान व्यक्ति जानते हैं कि विवाहों में होली की तरह धन फूँके जाने की कुरीति अनावश्यक ही नहीं अनैतिक भी है । वे अपना तथा अपने स्वजनों का विवाह करना भी सुधरे ढंग में चाहते हैं, पर तथाकथित बड़े- बूढ़ों की नाराजी का ध्यान रखकर चुप हो जाते हैं और ऐसी कुरीतियाँ जिन्हें एक क्षण के लिए भी सहन नहीं किया जाना चाहिए, चिरजीवी बनी बैठी रहती हैं । अवज्ञा का संकोच यदि इसी प्रकार बना रहा तो कुरीतियों का कोढ़ कभी भी दूर होने वाला नहीं है इस मोर्चे पर लड़ना ही पड़ेगा, लड़ना ही चाहिए । औचित्य के लिए यदि घर परिवार के लोगों को नाराज करना पड़ता है तो इसे धर्म-युद्ध का एक अंग ही माना जाय । गीता का तत्व-ज्ञान पग-पग पर ऐसे ही संघर्ष का समर्थन करता है ।

कोमल और सौम्य तत्वों को इशारे से समझाकर विवेक एवं तर्क द्वारा औचित्य सुझाकर सन्मार्गगामी बनाया जा

सकता है पर कठोर और दुष्ट तत्वों को बदलने के लिए लोहे को आग में तपाकर पिटाई करने वाली लुहार की नीति ही अपनानी पड़ती है। दुर्योधन को समझाने-बुझाने में जब श्रीकृष्णजी सफल न हो सके, तब उसे अर्जुन के बाणों द्वारा रास्ते पर लाने का प्रबन्ध करना पड़ा। हिंसक पशु नम्रता और औचित्य की भाषा नहीं समझते। उन्हें तो शस्त्र ही काबू में ला सकते हैं। भगवान को बार-बार धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेना पड़ता है, साथ ही वे असुरता के उन्मूलन का रुद्र कृत्य भी करते हैं।

सामूहिक जीवन में समय-समय पर अनेक अनाचार उत्पन्न होते रहते हैं और उन्हें रोकने के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी स्तर पर प्रबल प्रयत्न करने पड़ते हैं। पुलिस, जेल, अदालत, कानून, सेना आदि के माध्यम से सरकारी दण्ड-संहिता अनाचार को रोकने का यथासम्भव प्रयत्न करती है। जन-स्तर पर भी अवांछनीय और असामाजिक तत्वों का प्रतिरोध आवश्यक होता है। यदि यह रोकथाम न हो, उद्दण्डता और दुष्टता का प्रतिरोध न किया जाय तो वह देखते-देखते आकाश-पाताल तक चढ़ दौड़े और अपने सर्वभक्षी मुख में शालीनता और शान्ति को देखते-देखते निगल जायें।

इन दिनों नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र में अवांछनीय तत्वों का इतना अधिक बाहुल्य हो गया है कि शान्ति और सुव्यवस्था के लिए एक प्रकार से संकट ही उत्पन्न हो गया है। छल, असत्य, बनावट और विश्वासघात का ऐसा प्रचलन हो गया है कि किसी व्यक्ति पर सहज ही विश्वास करना खतरे से खाली नहीं रहा। विचारों की दृष्टि से मनुष्य बहुत ही संकीर्ण, स्वार्थी, ओछा और कमीना होता चला जाता है। पेट और प्रजनन के अतिरिक्त कोई लक्ष्य नहीं। आदर्शवादिता और उत्कृष्टता अब कहने-सुनने भर की बात रह गई है। व्यवहार में कोई विरला ही उसे काम में लाता हो। सामाजिक कुरीतियों का तो कहना ही क्या ? विवाहोन्माद, मृत्यु-भोज, ऊँच-नीच, नारी-तिरस्कार, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि न जाने कितने प्रकार की कुरीतियाँ अपने समाज में घुसी बैठी हैं। यदि उन्हें ज्यों का त्यों ही बना रहने दिया गया तो हम संसार के सभ्य देशों में पिछड़े हुए और उपहासास्पद ही न माने जायेंगे वरन् अपनी दुर्बलता के शिकार होकर अपना अस्तित्व ही खो बैठेंगे।

अगले दिनों इस बात की आवश्यकता पड़ेगी कि व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में संव्याप्त अगणित दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध व्यापक परिणाम में संघर्ष आरम्भ किया जाय। इसलिए हर नागरिक को अनाचार के विरुद्ध आरम्भ किये गये धर्म-युद्ध में भाग लेने के लिए आह्वान करना होगा। किसी समय तलवार चलाने वाले और सिर काटने में अग्रणी लोगों को योद्धा कहा जाता था, अब मापदण्ड बदल गया। चारों और संव्याप्त आतंक और अनाचार के विरुद्ध संघर्ष में जो जितना साहस दिखा सके और चोट खा सके उसे उतना ही बड़ा बहादुर माना जायगा। उस बहादुरी के ऊपर ही शोषण-विहीन समाज की स्थापना सम्भव हो सकेगी। दुर्बुद्धि से, कुत्सा और कुण्ठा से लड़ सकने में जो लोग समर्थ होंगे उन्हीं का पुरुषार्थ पीड़ित मानवता को त्राण दे सकने को यश संचित कर सकेगा।

भारतीय समाज को बेईमान और गरीब बनने के लिए विवश करने वाले सत्यानाशी असुर से पूरी शक्ति से जूझना पड़ेगा। अभी प्रचार, विरोध, प्रतिज्ञा-पत्र आदि के हलके कदम उठाये गये हैं, आगे चलकर असहयोग, सत्याग्रह और घिराव जैसे बड़े कदम उठाकर वह इस कुप्रथा को गर्हित और वर्जित मनाने के लिए, घृणित और दुष्ट समझे जाने के लिए विवश करेंगे। अगले दिनों ऐसा प्रबल लोकमत तैयार करेंगे, जिसमें विवाहों के नाम पर प्रचलित उद्धतपन को जीवित रह सकना असम्भव हो जाय। पूर्ण सादगी और स्वल्प खर्च के विवाहों का प्रचलन होने तक अपना संघर्ष चलता रहेगा।

मृतक भोज के नाम पर, घृणित दावतें खाने की निष्ठुरता, पशु-बलि की नृशंसता, ऊँच-नीच के नाम पर मानवीय अधिकारों का अपहरण, नारी को पद-दलित और उत्पीड़ित करने की क्रूरता, हमारे समाज पर लगे हुए ऐसे कलंक हैं जिनका समर्थन कोई भी विवेकशील और सहृदय व्यक्ति कर ही नहीं सकता। मूढ़-परम्परा ने इन कुरीतियों को धार्मिकता के साथ जोड़ दिया है, इस स्थिति को कब तक सहन किया जाता रहेगा ? इस मूढ़ता के विरुद्ध इस मोर्चे से आगे बढ़कर हमें कई और ऐसे सक्रिय कदम उठाने पड़ेंगे, जिन्हें भले ही अशांति उत्पन्न करने वाले कहा जाय परन्तु रुकेंगे तभी जब मानवता के मूलभूत आधारों के लोग स्वीकार करने को तत्पर हो जायें, हम लोगों से कहें कि घृणा फैलाने वाले और झगड़ालू कहलाने का खतरा मोल लेकर भी वे अनीति से हर मोर्चे पर जूझने के लिए कमर कस लें–भले ही इस संदर्भ में उन्हें भी खतरा क्यों न उठाना पड़े।

वैयक्तिक दोष-दुर्गुणों से लड़ने और जीवन को स्वच्छ पवित्र निर्मल बनाने के लिए अगर कुसंस्कारों से लड़ना पड़ता है, तो यह लड़ाई लड़ी जानी चाहिए। परिवार में कुछ सदस्यों को दास-दासी की तरह और कुछ को राजा-रानी की तरह रहने की यदि परम्परा का पालन माना जाता है तो उसे बदलकर ऐसी परिपाटी स्थापित करनी पड़ेगी जिनमें सबको न्यायानुकूल अधिकार लाभ तथा श्रम, सहयोग करने की व्यवस्था रहे। आर्थिक क्षेत्र में बेईमानी से प्रश्रय न मिले। व्यक्तिगत व्यवहार में छल करने और धोखेबाजी की गुंजायश न रहे। ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए प्रबल लोकमत तैयार करना पड़ेगा और अवांछनीय तत्वों के उग्र प्रतिरोध को इतना सक्रिय बनाना पड़ेगा कि अपराध, उद्दण्डता और गुण्डागर्दी करने की हिम्मत करना किसी के लिए सम्भव न रहे। हराम की कमाई खाने वाले, भ्रष्टाचारी, बेईमान लोगों के विरुद्ध इतनी तीव्र प्रतिक्रिया उठानी होगी, जिसके कारण उन्हें सड़क पर चलना और मुँह दिखाना

कठिन हो जाय । जिधर से वे निकलें उधर से ही धिक्कार की आवाजें इन्हें सुननी पड़ें । समाज में उनका उठना-बैठना बन्द हो जाय और नाई, धोबी, स्वच्छकार, दर्जी कोई उनके साथ किसी प्रकार का सहयोग करने के लिए तैयार न हो ।

सार्वजनिक संस्थाओं में, स्वार्थपरता और नेतागिरी लूटने के लिए जिन दुरात्माओं ने अड्डा जमा लिया है उन्हें दूध में से मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दिया जाय । धर्म और अध्यात्म का लबादा ओढ़कर जो रँगे सियार अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं, उनकी असलियत चौराहे पर नंगी खड़ी कर दी जाय । ताकि लोग उन्हें भरपूर धिक्कारें । भोले लोगों को उनके हाथों लुटने से बचाना एक ऊँची और श्रेष्ठ सेवा होती है । ५६ लाख भिखमंगे नाना प्रकार के ढोंग बनाकर जिस तरह ठगी और हरामखोरी करने में जुटे हुए हैं, आखिर कैसे कब तक सहन किया जाता रहेगा । स्वच्छ शासन प्रदान करने के लिए राजनैतिक नेता और विधायकों, शासकों और अफसरों को सोचने के लिये बाध्य किया जायगा कि वे निजी लाभ के लिए नहीं, लोक-मंगल के लिए ही शासन-तन्त्र का उपयोग करें ।

इस प्रकार संघर्ष की बहुमुखी प्रचण्ड-प्रक्रिया अगले दिनों युग-निर्माण योजना आरम्भ करेगी । उसके साधन जैसे-जैसे विकसित होते जायेंगे, संघ शक्ति जितनी मात्रा मे उसके हाथ लगेगी, उसी अनुपात से वह शान्त, अहिंसक, सज्जनोचित, सांस्कृतिक कार्य के अथक सम्पादन में जुटेगी और पग-पग पर अनौचित्य के, अन्याय के साथ लड़ा जाने वाला यह धर्म-युद्ध तभी समाप्त होगा जब मानवता के आदर्शों की विजय पताका सारे विश्व में फहराने लगेगी ।

अगले दिनों एक ऐसा महायुद्ध होने जा रहा है जिसकी तुलना में इतिहास में वर्णित अब तक के सारे युद्ध फीके पड़ जायेंगे । इस युद्ध में बन्दूकों और बमों का प्रयोग हो भी सकता है और नहीं भी । इस भावी महाभारत में आग्नेयास्त्रों का प्रयोग अनिवार्य नहीं । क्योंकि उसे जिस धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में लड़ा जाना है वह अति व्यापक मानवीय चिन्तन की रणस्थली के रूप में ही सामने आता है । शस्त्रों से शस्त्र, हिंसा से हिंसा और घृणा से घृणा ही उत्पन्न हो सकती है । इसलिए सैनिकों द्वारा लड़े जाने वाले हथियारों की अपेक्षा अगले महायुद्ध में उन अति नवीन किन्तु अति प्राचीन शस्त्रों का प्रयोग होना है जो आँखों से न दीखने वाले किन्तु जन-जन के मन-मन पर आच्छादित तमिस्रा को पद-दलित कर सकने में समर्थ हो सके ।

हम कितने दिन से कहते चले आ रहे हैं कि नये युग का निर्माण एकता, समता, शुचिता और ममता की आदर्शवादी आस्थाओं के आधार पर ही होगा और विभेद की वर्तमान सारी चहारदीवारियाँ टूटकर चकनाचूर हो जायेंगी । इस मार्ग में व्यक्ति का संकुचित एवं स्वार्थवादी दृष्टिकोण ही प्रधान बाधा है । इस युग का यही असुर है । इसके साथ पग-पग पर इञ्च-इञ्च भूमि के लिये लड़ा जायगा और घमासान युद्ध के ऐसे तथ्य दिखाई देंगे, जिनकी किन्हीं ऐतिहासिक या प्रागैतिहासिक संघर्षों के साथ तुलना न की जा सकेगी । मनुष्य जितना बुद्धिमान है उससे ज्यादा मूर्ख है । वह अवांछनीयता का अनौचित्य तो स्वीकार कर लेता है पर अपनी आदतों में समाई हुई अवांछनीय मूढ़ता को छोड़ने का जब अवसर आता है तो मौखिक रूप से जिस बात का विरोध कर रहा था, व्यवहार में उसी का समर्थन करने लगता है । अनीति की निन्दा करने में अग्रसर लोग अग्रणी पाये जाते हैं पर जब उनके द्वारा बरती जा रही अनीति को छोड़ने के लिए कहा जाता है तो इसके लिए टस से मस नहीं होते । यही मूर्खता है जो संघर्ष की दुःखद प्रक्रिया को अनिवार्य बनाती है । युग-परिवर्तन के साथ ऐसे ही भावी महाभारत की सम्भावना अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है ।



युग निर्माण सत्संकल्प की दिशाधारा

युग परिवर्तन की आधारशिला सत्संकल्प

युग-निर्माण, जिसे लेकर गायत्री-परिवार अपनी निष्ठा और तत्परतापूर्वक अग्रसर हो रहा है, उसका बीज सतसंकल्प है । उसी आधार पर हमारी सारी विचारणा, योजना, गतिविधियाँ एवं कार्यक्रम संचालित होंगे, इसे अपना घोषणा-पत्र भी कहा जा सकता है । हम में से प्रत्येक को एक दैनिक धार्मिक कृत्य की तरह इसे नित्य प्रातःकाल पढ़ना चाहिए और सामूहिक शुभ अवसरों पर एक व्यक्ति उच्चारण करे और शेष लोगों को उसे दुहराने की शैली से पढ़ा एवं दुहराया जाना चाहिए ।

संकल्प की शक्ति अपार है । यह विशाल-ब्रह्माण्ड परमात्मा के एक छोटे संकल्प का ही प्रतिफल है । परमात्मा में इच्छा उठी '**एकोऽहं बहुस्याम**' मैं अकेला हूँ-बहुत हो जाऊँ, उस संकल्प के फलस्वरूप तीन गुण, पंचतत्व उपजे और सारा संसार बनकर तैयार हो गया । मनुष्य के संकल्प द्वारा इस ऊबड़-खाबड़ दुनिया को ऐसा सुव्यवस्थित रूप मिला है । यदि ऐसी आकांक्षा न जगी होती, आवश्यकता अनुभव न होती तो कदाचित् मानव प्राणी भी अन्य-वन्य पशुओं की भाँति अपनी मौत के दिन पूरे कर रहा होता ।

इच्छा जब बुद्धि द्वारा परिष्कृत होकर दृढ़ निश्चय का रूप धारण कर लेती है तब वह संकल्प कहलाती है । मन का केन्द्रीकरण जब किसी संकल्प पर हो जाता है तो उसकी पूर्ति में विशेष कठिनाई नहीं रहती । मन की सामर्थ्य अपार है, जब भावनापूर्वक मनोबल किसी दिशा में संलग्न हो जाता है तो सफलता के उपकरण अनायास ही जुटते चले जाते हैं । बुरे संकल्पों की पूर्ति के लिए भी जब साधन बन जाते हैं तो सत्संकल्पो के बारे में तो कहना ही क्या है । धर्म और संस्कृति का जो विशाल भवन मानव जाति के सिर पर छत्रछाया की तरह मौजूद है उसका कारण ऋषियों का संकल्प ही है । संकल्प इस विश्व की सबसे प्रचंड-शक्ति है । विज्ञान की शोध द्वारा अगणित प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करके वशवर्ती बना लेने का श्रेय मानव की संकल्प शक्ति को ही है । शिक्षा, चिकित्सा, शिल्प, उद्योग, साहित्य, कला, संगीत आदि विविध दिशाओं में जो प्रगति हुई आज दिखाई पड़ती है उसके मूल में मानव का संकल्प ही सन्निहित है, इसे प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष कह सकते हैं । आकांक्षा को मूर्त रूप के लिए जब मनुष्य किसी दिशा विशेष में अग्रसर होने के लिए दृढ़ निश्चय कर लेता है तो उसकी सफलता में सन्देह नहीं रह जाता ।

आज प्रत्येक विचारशील व्यक्ति यह अनुभव करता है कि मानवीय चेतना में वह दुर्गुण पर्याप्त मात्रा में बढ़ चले हैं, जिनके कारण अशान्ति और अव्यवस्था छाई रहती है । इस स्थिति में परिवर्तन की आवश्यकता अनिवार्य रूप से प्रतीत होती है पर यह कार्य केवल आकांक्षा मात्र से पूर्ण न हो सकेगा इसके लिए एक सुनिश्चित दिशा निर्धारित करनी होगी और उसके लिए सक्रिय रूप से संगठित कदम बढ़ाने होंगे । इसके बिना हमारी चाहना एक कल्प मात्र बनी रहेगी । युग-निर्माण संकल्प उसी दिशा में एक सुनिश्चित कदम है । इस घोषणापत्र की सभी भावनाएँ धर्म और शास्त्र की आदर्श परम्परा के अनुरूप एक व्यवस्थित ढंग से सरल भाषा में संक्षिप्त शब्दों में रख दिया गया है । इस घोषणा-पत्र को हम ठीक प्रकार समझें, उस पर मनन और चिन्तन करें तथा यह निश्चय करें कि हमें अपना जीवन इसी ढाँचे में ढालना है । दूसरों को उपदेश करने की अपेक्षा इस संकल्प पत्र में आत्म-निर्माण पर सारा ध्यान केन्द्रित किया गया है । दूसरों को कुछ करने के लिये कहने का सबसे प्रभावशाली तरीका एक ही है कि हम वैसा करने लगें । अपना निर्माण ही युग-निर्माण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कदम हो सकता है । बूँद-बूँद जल के मिलने से ही समुद्र बना है । एक-एक अच्छा मनुष्य मिलकर ही अच्छा समाज बनेगा । व्यक्ति-निर्माण का व्यापक स्वरूप ही युग-निर्माण के रूप में परिलक्षित होगा ।

प्रस्तुत युग-निर्माण की भावनाओं का स्पष्टीकरण और विवेचन पाठक अगले पृष्ठों में पढ़ेंगे । इन भावनाओं की गहराई में अपने अन्तःकरणों में जब हम जाने लगेंगे तो उसका सामूहिक स्वरूप एक युग आकांक्षा के रूप में प्रस्तुत होगा और उसकी पूर्ति के लिए अनेक देवता, अनेक महामानव, नर-तन में नारायण रूप धारण करके प्रगट हो पड़ेंगे । युग-परिवर्तन के लिए जिस अवतार की आवश्यकता है वह पहले आकांक्षा रूप में ही अवतरित होगा । इसी अवतार का सूक्ष्म-स्वरूप यह युग-निर्माण सत्-संकल्प है, इसके महत्त्व का मूल्यांकन हमें गम्भीरता पूर्वक ही करना चाहिए । युग निर्माण सत्संकल्प का प्रारूप निम्न प्रकार है-

हमारा युग-निर्माण सत्संकल्प

१-हम आस्तिकता और कर्त्तव्यपरायणता को मानव जीवन का धर्म-कर्त्तव्य मानेंगे ।

२-शरीर को भगवान का मन्दिर समझकर आत्म-संयम और नियमितता द्वारा आरोग्य की रक्षा करेंगे ।

३-मन को जीवन का केन्द्र-बिन्दु मानकर उसे सदा स्वच्छ रखेंगे ।

४–कुविचारों और दुर्भावनाओं से इसे बचाये रखने के लिए स्वाध्याय एवं सत्संग की व्यवस्था रखे रहेंगे ।

५–अपने आपको समाज का एक अभिन्न अंग मानेंगे और सबके हित में अपना हित समझेंगे ।

६–व्यक्तिगत स्वार्थ एवं सुख को सामूहिक स्वार्थ एवं सामूहिक हित से अधिक महत्त्व न देंगे ।

७–नागरिकता, नैतिकता, मानवता, सच्चरित्रता, शिष्टता, उदारता, आत्मीयता, समता, सहिष्णुता, श्रमशीलता जैसे सद्गुणों को सच्ची सम्पत्ति समझकर इन्हें व्यक्तिगत जीवन में निरन्तर बढ़ाते रहेंगे ।

८–साधना, स्वाध्याय, संयम एवं सेवा कार्यों में आलस्य और प्रमाद न होने देंगे ।

९–चारों ओर मधुरता, स्वच्छता, सादगी एवं सज्जनता का वातावरण उत्पन्न करेंगे ।

१०–परम्परा की तुलना में विवेक को महत्त्व देंगे ।

११–अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा नीति पर चलते हुए असफलता को शिरोधार्य करेंगे ।

१२–मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी उसकी सफलताओं, योग्यताओं एवं विभूतियों को नहीं उसके सद्विचारों और सत्कर्मों को मानेंगे ।

१३–हमारा जीवन स्वार्थ के लिए नहीं, परमार्थ के लिए होगा ।

१४–संसार में सत्प्रवृत्तियों के पुण्य-प्रसार के लिए अपने समय, प्रभाव, ज्ञान, पुरुषार्थ एवं धन का एक अंश नियमित रूप से लगाते रहेंगे ।

१५–दूसरों के साथ वह व्यवहार न करेंगे जो हमें अपने लिए पसन्द नहीं ।

१६–ईमानदारी और परिश्रम की कमाई ही ग्रहण करेंगे ।

१७–पत्नीव्रत-धर्म और पतिव्रत-धर्म का परिपूर्ण निष्ठा के साथ पालन करेंगे ।

१८–मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है ।

१९–इस विश्वास के आधार पर हमारी मान्यता है कि हम उत्कृष्ट बनेंगे और दूसरों को श्रेष्ठ बनायेंगे तो युग अवश्य बदलेगा ।

२०–हमारा युग-निर्माण संकल्प अवश्य पूर्ण होगा ।

१–हम आस्तिकता और कर्त्तव्यपरायणता को मानव-जीवन का धर्म कर्त्तव्य मानेंगे — युग-निर्माण सत्संकल्प के पहले वाक्य में आस्तिकता एवं कर्त्तव्यपरायणता को अंगीकार करने की बात कही गयी है । उसे मानव जीवन के 'धर्म-कर्त्तव्य' के रूप में स्वीकार करने एवं अपनाने की घोषणा की गयी है । धर्म-कर्त्तव्य यहाँ किन्हीं सम्प्रदायगत सीमित अर्थों में प्रयुक्त नहीं किया गया है । भारतीय संस्कृति में धर्म बड़ा व्यापक अर्थ रखता है । वह नियम जिन्हें धारण करने से व्यक्ति एवं समाज का सर्वांगीण हित साधन होता है, उसे धर्म कहा गया है । 'धारणात् धर्म इत्याहु'.... आदि से यही भाव निकलता है । अन्य परिभाषा में धर्म को लौकिक अभ्युदय एवं आत्मिक-उत्कर्ष का आधार कहा गया है । यतोऽभ्युदयः निश्रेयः सिद्धि सः धर्म वाक्य का यही निष्कर्ष है ।

अस्तु 'धर्म-कर्त्तव्य' सामान्य कर्त्तव्यों से ऊपर वह कर्त्तव्य है जिसको जीवन में अपनाकर व्यक्ति से लेकर समाज तक और लौकिक से लेकर आत्मिक उत्कर्ष के मार्ग प्रशस्त होते हैं । इसीलिए धर्म-कर्त्तव्यों को कष्ट सहकर भी, विपरीत परिस्थितियों में भी अपनाए रखने का आग्रह शास्त्रों एवं विचारकों द्वारा किया जाता रहा है । नवयुग के अवतरण के लिए आस्तिकता एवं कर्त्तव्य परायणता को पूरी निष्ठा एवं दृढ़तापूर्वक अपनाये रखने का मर्म यहाँ उभारा गया है । क्योंकि उसके अभाव में कोई उपयुक्त एवं स्थायी समाधान निकालना सम्भव नहीं है । ईश्वर में आस्था रखे बिना हमारी दुष्प्रवृत्तियाँ बिना नकेल के ऊँट की तरह, बिना लगाम के घोड़े की तरह, बिना नाथ के बैल की तरह, बिना अंकुश के हाथी की तरह, उच्छृंखलता, अनीति और उद्दण्डता की ओर द्रुतगति से दौड़ने लगती हैं । पानी को ऊँचा चढ़ाने के लिए अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं पर नीचे की ओर तो वह बिना किसी प्रयास के ही बहने लगता है । मन की गति भी पानी के समान है, उसे सन्मार्ग पर चलाना हो तो अत्यधिक श्रमसाध्य साधन प्रयोग करने पड़ते हैं, पर कुमार्ग की ओर तो वह सहज ही सरपट दौड़ने लगता है । आस्तिकता मन को कुमार्ग पर दौड़ने से रोकने के लिए सबसे बड़ा अंकुश सिद्ध होती है ।

पाप को छिपा लेने और राजदण्ड से बचे रहने की अगणित तरकीबें मनुष्य ने ढूँढ़ निकाली हैं । यों अदालत, पुलिस, जेल, कचहरी सब कुछ व्यवस्था अपराधों के लिए मौजूद है, पर उनसे बचे रहकर अनीति बरतते रहने की जितनी कुशलता मनुष्य को प्राप्त है, उसकी तुलना में राजदण्ड के सारे साधन तुच्छ मालूम पड़ते हैं । रिश्वत को ही लीजिए, वह एक बड़ा अपराध माना गया है और उसके लेने एवं देने वाले के लिए कई वर्ष की जेल का विधान है। इतने पर भी अदालतों तक में, पुलिस तक में, जेल तक में रिश्वत कितने प्रचण्ड रूप में मौजूद है उसे हर कोई जानता है । अपराधों को रोकने वाले जब अपराध करने से नहीं रुकते तो जन-साधारण से तो आशा ही क्या की जाय ? डर दिखाते रहने के लिए मर्यादा माध्यम के रूप में यह सब जगह मौजूद है, उसे मौजूद रहना भी चाहिए, पर समस्या का हल इनके द्वारा होने वाला नहीं ।

जब तक मनुष्य अपने कर्त्तव्य-धर्म को कठोरतापूर्वक पालन करने के लिए स्वयं ही श्रद्धा और विश्वासपूर्वक कटिबद्ध न होगा तब तक उसे बलात् सन्मार्गगामी बनाया जा सकना कठिन है । अधिनायकवाद के नृशंस आतंक द्वारा कुछ हद तक पापों की रोक-थाम सम्भव है । चोर के हाथ काट देने और व्यभिचारी का सिर उड़ा देने जैसे

आतंकपूर्ण दण्ड लोगों को डरा तो देते हैं, पर जिनके हाथ में ऐसी दण्ड व्यवस्था रहती है वे ही आतंकित जनता से प्रतिरोध के बारे में निश्चिन्त होकर स्वयं ही अनीति करने लगते हैं । तानाशाही का इतिहास यही बताता है कि आतंकित जनता भीरु और कायर बनती है, उसकी आत्मिक स्थिति बहुत दुर्बल होती जाती है जिससे उसके स्वभाव में छोटे-बड़े अनेक दोष-दुर्गुण प्रविष्ट हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप मनुष्य का व्यक्तित्व दिन-दिन, दीन-हीन बनता चला जाता है । आतंकित लोगों में से महापुरुषों एवं नररत्नों का उत्पन्न होना भी सम्भव नहीं रहता । फिर यह आतंकपूर्ण स्थिति समाप्त होते ही वह दबी हुई अपराधी मनोवृत्ति जब अनेक गुनी भयंकर वेग से विकसित होती है तब उसका रोका जा सकना अतीव कठिन हो जाता है ।

सदाचार के ऊपर हमारी व्यक्तिगत और सामूहिक सुख-शांति निर्भर रहती है । यह सदाचार तभी निभता है जब उसका उद्‌गम भीतर से प्रस्फुटित होता हो, बाहरी दबाव कोई क्षणिक परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं पर स्थायी हल तो अन्तःप्रेरणा पर ही निर्भर होगा । कर्त्तव्य पालन को मानव-जीवन का आदर्श-लक्ष्य एवं धर्म मानकर दुर्बुद्धि पर आत्मा के विवेक का नियंत्रण बना रहे । इस नियंत्रण के वैज्ञानिक स्वरूप को ही आस्तिकता कहते हैं ।

ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता । हर वस्तु का कोई निर्माता होता है तो इतने विशाल, इतने व्यवस्थित विश्व का कोई निर्माता न हो ऐसा नहीं हो सकता । वह निर्माता धर्म, विवेक और आदर्श से रहित नहीं है । वह हमें जहाँ अगणित प्रकार की सुख-सुविधाएँ देता है वहाँ हमारे कार्यों के भले-बुरे परिणामों की भी व्यवस्था करता है । घट-घट वासी सर्वान्तर्यामी भगवान अपने असंख्य नेत्रों से हमारे गुप्त प्रकट कार्यों और विचारों को भली प्रकार जानते हैं । उनकी प्रसन्नता, अप्रसन्नता, सत्प्रवृत्तियों और दुष्प्रवृत्तियों पर निर्भर है । दुःख और सुख मिलने का आधार भी यही है । कोई कुकर्मी, पाप-दण्ड से बच नहीं सकता, कोई सुकर्मी सुख-शान्ति का अधिकारी न बने ऐसा भी नहीं हो सकता । निष्पक्ष न्यायाधीश की भाँति परमात्मा हमारे हर भले-बुरे कर्मों का प्रतिफल उत्पन्न करता है, जिसे यह विश्वास होगा, उसकी असुरता घटेगी और देवत्व विकसित होगा, वह दुष्ट-दुर्जन नहीं बन सकता । उसके लिए सज्जनता और कर्त्तव्यशीलता का ही एकमात्र मार्ग अपनाने के लिए रह जाता है ।

सच्ची आस्तिकता के प्रभाव से जीवन में सहृदयता, करुणा, स्नेह, ममत्व, नम्रता, निर्भयता, दृढ़ता, सत्साहस जैसे उन गुणों का भी विकास होता है, जिनके आधार पर मनुष्य नर श्रेष्ठ बन सकता है । सन्मार्ग पर बढ़ते हुए भी कई बार मार्ग की कठिनाइयों, प्रतिरोधों को देखकर सामान्य व्यक्ति का मनोबल टूटने लगता है, पैर लड़खड़ाने लगते हैं । आस्तिक व्यक्ति को यह भरोसा रहता है कि सत्कर्म में सहायता करने वाली एक सर्व-समर्थ सत्ता हमारे समर्थन में है । इसी आधार पर नगण्य-सी शक्ति-सामर्थ्य वाले व्यक्तियों द्वारा ऐतिहासिक महत्व के महान कार्य सम्पादित किये जा सके हैं ।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए आस्तिकता की आवश्यकता को युग-निर्माण संकल्प में पहला स्थान दिया गया है । उपासना से हमारा आत्मबल बढ़ता है और कर्त्तव्य पालन की वह प्रेरणा अनायास ही उत्पन्न होती है जिसके आधार पर जीवन-लक्ष्य की पूर्ति और विश्व-शान्ति के दोनों उद्देश्य पूर्ण होते हैं ।

आस्तिकता का महत्त्व भर स्वीकार कर लेना पर्याप्त नहीं है, वह वृत्ति अपने अन्दर अधिकाधिक पुष्ट और प्रखर बने तभी उसका समुचित लाभ उठाया जा सकता है । ईश्वर चिन्तन, पूजा-उपासना आदि का क्रम विवेकपूर्वक बनाने में आस्तिकता की अभिवृद्धि होती रह सकती है । व्यक्तिगत सुख-शान्ति से लेकर सामाजिक प्रगति की ओर अधिक सफलतापूर्वक ही सही किन्तु नियमित एवं सुव्यवस्थित उपासना, ईश्वर-चिन्तन को प्रोत्साहन देना, उस क्रम को तत्परता एवं मनोयोगपूर्वक चलाते रहना इसी दृष्टि से बहुत लाभप्रद हो सकता है ।

आस्तिकता का प्रतिफल निश्चित रूप से कर्त्तव्य-पालन है जो आस्तिक कर्त्तव्य पालन की उपेक्षा करता है और उसे कुछ पूजा-पत्री करके मुफ्त में ही ईश्वर से धन वैभव प्राप्त कर लेने या दुष्कर्मों के फल से छुटकारा पाने की बात सोचता है, उसे भोला बहका हुआ, नासमझ या जरूरत से ज्यादा चालाक कह सकते हैं । आस्तिकता की सबसे पहली प्रतिक्रिया अपने कर्त्तव्य को ईश्वर का आदेश मानकर उस पर चट्टान की तरह अटल बने रहने की प्रेरणा के रूप में परिलक्षित होती है । मनुष्य की कर्त्तव्य परायणता का स्तर देखकर उसकी आस्तिकता के स्तर का भी अनुमान निश्चित रूप से लगाया जा सकता है ।

संसार में कहीं भी असफलता एवं दुर्गति के कारणों की खोज करने पर एक तथ्य सुनिश्चित रूप से मिलेगा–वह यह कि कहीं न कहीं, किसी न किसी के द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की उपेक्षा के कारण ही ऐसा हुआ है । इसी प्रकार कर्त्तव्यों के ठीक-ठीक निर्धारण एवं पालन से ही प्रगति की संभावना साकार हो उठेगी । व्यक्तिगत रूप से कर्त्तव्य पालन की प्रवृत्ति जिसमें जितनी अधिक बढ़ेगी, वह व्यक्ति उतना ही अधिक लोकप्रिय एवं सफल बनता चला जायगा । ऐसे व्यक्तियों को हर जगह स्नेह, सम्मान एवं सहयोग प्राप्त होता रहता है । फलस्वरूप सीमित साधनों तथा स्वल्प सामर्थ्य से भी ये आश्चर्यजनक प्रगति करते देखे जाते हैं ।

आत्मिक स्तर पर तो कर्त्तव्यपरायणता का लाभ अनुपम है । यह उक्ति सौ फीसदी सही है कि "ईश्वर का प्यार सदाचारी और कर्त्तव्य परायण के लिए सुरक्षित रहता है ।" कर्त्तव्यपरायण व्यक्तियों को जो उच्चस्तरीय आत्म-

संतोष प्राप्त होता है उसकी समता अन्यत्र कठिन है । अपने ईमान और भगवान के सामने कर्त्तव्य परायण व्यक्ति की प्रतिष्ठा अद्वितीय होती है । फलतः उसके अन्दर से दिव्य संतोष का ऐसा स्रोत झरता रहता है जिसके आगे सारी उपलब्धियाँ धूमिल पड़ जाती हैं ।

कर्त्तव्य परायणता का क्षेत्र भी बहुत व्यापक है । मनुष्य जीवन के साथ विभिन्न प्रकार के कर्तव्यों की लम्बी शृंखला जुड़ी है । शरीर के प्रति, मन के प्रति, आत्मा के प्रति, परिवार के प्रति, समाज के प्रति, राष्ट्र के प्रति अनेकानेक कर्त्तव्यों के पालन का उत्तरदायित्व मनुष्य पर आता रहता है । उन सब को समझना, अपनाना तथा उनका निर्वाह करना—कर्त्तव्यपरायणता के अन्तर्गत आता है ।

कर्तव्य परायणता की वृत्ति भी सतत-साधना से परिष्कृत और विकसित की जा सकती है । अर्थ परायण व्यक्ति धन के लिए और स्वार्थ परायण व्यक्ति स्वार्थ-सिद्धि के लिए जीवन में बड़ी से बड़ी बाजी लगा देता है । कर्त्तव्य परायणता के साधक को कर्त्तव्य-सिद्धि के लिए कम से कम इस स्तर का साहस तो पैदा करना चाहिए । इस साधना में जो कर्त्तव्य हमें सौंपा जाय, जिसे हम स्वीकार कर लें, उसे अपनी आत्म-प्रतिष्ठा का प्रश्न मान कर चलना होता है । सफलता-असफलता, हानि-लाभ, प्रशंसा-आलोचना आदि का लेखा-जोखा करने से पूर्व यह देखना होता है कि निर्धारित कर्त्तव्य पालन में अपनी ओर से कितनी तत्परता बरती जा सकी, कितना मनोयोग जुटाया जा सका ?

मनुष्य जागने के समय से लेकर सोने के समय तक कर्त्तव्य-साधना में लगा रहता है । अस्तु, कर्त्तव्यपरायणता का लेखा-जोखा नित्य लिया जाना चाहिए । प्रातः नींद खुलते ही यह विचार करना चाहिए कि एक दिन के कर्त्तव्यों का निर्धारण प्रातःकाल ही करके उठना चाहिए । इससे काम का समय संकल्प-विकल्प में निरर्थक नष्ट नहीं होता । भले ही थोड़े से कर्त्तव्यों का निर्धारण किया जाय, किन्तु उनको पूरा करने में प्राण-पण से जुट जाया जाय । रात्रि में शयन से पूर्व स्वयं से जवाब-तलब किया जाय कि जो कर्त्तव्य प्रातः निर्धारित किये गये थे उन्हें कितने अंशों में पूरा किया जा सका ? जहाँ भूल हुई हो, स्तर घटा हो, उसके लिए पश्चाताप, प्रायश्चित की भी व्यवस्था बनायी जाय । जो कर्त्तव्य पूरे किए जा सकें उनके लिए प्रसन्नता अनुभव करें । कर्त्तव्य पालन की शक्ति देने के लिए भगवान को हार्दिक धन्यवाद दिया जाय तथा अगले दिन जीवन के अगले चरण में मिलने वाले कर्त्तव्यों को अधिक तत्परता, अधिक प्रामाणिकता से पूरा कर सकने को क्षमता के लिए प्रार्थना करते हुए शयन किया जाय । यह क्रम आस्तिक बुद्धि एवं कर्त्तव्य परायणता दोनों के विकास के लिए बड़ा हितकारी सिद्ध होता है ।

आत्म-गौरव की अनुभूति कर्त्तव्य परायणता के आधार पर ही की जानी चाहिए । आत्म-गौरव का बोध जब कर्त्तव्य परायणता से जुड़ जाता है तो उसका बड़प्प
और स्थायित्व दोनों ही सुनिश्चित हो जाते हैं । इसी प्रका
व्यवहार क्षेत्र में भी कर्त्तव्य परायणता के आधार पर हो
लोगों को सम्मान, समर्थन एवं सहयोग दिया जाने लगे तो
समाज में उसकी वृद्धि सुनिश्चित है । व्यक्तिगत जीवन में
एवं सामाजिक स्तर पर भी कर्त्तव्य परायणता के विका
के ऐसे प्रयास किए जाने चाहिए ।

(२) शरीर को भगवान का मन्दिर समझकर आत्म-संयम और नियमितता द्वारा आरोग्य की रक्षा करेंगे—

रक्षा करेंगे—आस्तिकता और कर्त्तव्य परायणता की
सद्वृत्ति का प्रभाव पहले अपने सबसे समीपवर्ती स्वज
पर पड़ना चाहिए । हमारा सबसे निकटवर्ती सम्बन्धी
हमारा शरीर है । उसके साथ सद्व्यवहार करना, उसे
स्वस्थ और सुरक्षित रखना अत्यावश्यक है । शरीर को
नश्वर कहकर उसकी उपेक्षा करना अथवा उसे
सजाने-सँवारने में सारी शक्ति खर्च कर देना, दोनों ही
अकल्याणकारी हैं हमें सन्तुलन का मार्ग अपना
चाहिए ।

शरीर को ईश्वर के पवित्र निवास के रूप में मान्य
देना उचित है । यह तथ्य ध्यान में बना रहे तो शरीर
प्रति निरर्थक मोहग्रस्तता से बचकर, उसके प्रति कर्त
का संतुलित निर्वाह सम्भव है । मन्दिर को सजाने-सँव
में भगवान को भुला देना निरी मूर्खता है । किन्तु देवा
को गन्दा, तिरस्कृत, भ्रष्ट, जीर्ण-शीर्ण रखना भी पाप
जाता है । शरीर रूपी मन्दिर को मनमानी बुरी आदतों
कारण रुग्ण बनाना प्रकृति की दृष्टि में बड़ा अपराध
उसके फलस्वरूप पीड़ा, बेचैनी, अल्पायु, आर्थिक-
तिरस्कार जैसे दण्ड भोगने पड़ते हैं ।

रुग्णता—बीमारी कहीं बाहर से नहीं आती । विका
तो बाहर से भी प्रविष्ट हो सकते हैं तथा शरीर के अन्द
भी पैदा होते हैं । किन्तु शरीर-संस्थान में उन्हें बाह
निकाल फेंकने की अद्‌भुत क्षमता विद्यमान है । मनुष्य
अपने इन्द्रिय असंयम द्वारा जीवनी-शक्ति को बुरी तरह न
कर देता है । आहार-विहार के असंयम से शरीर के
पाचन-तन्त्र, रक्त-संचार, मस्तिष्क, स्नायु-संस्थान आदि
पर भारी आघात पड़ता है । बार-बार के आघात से
दुर्बल एवं रोगग्रस्त होने लग जाते हैं । निर्बल संस्था
अन्दर के विकारों को स्वाभाविक ढंग से बाहर नहीं
निकाल पाते, फलस्वरूप वे शरीर में एकत्रित होने लगते
तथा अस्वाभाविक ढंग से बाहर निकलने लगते हैं । य
स्थिति बीमारी कहलाती है ।

शरीर को नीरोगी बनाकर रखना कठिन नहीं है
आहार, श्रम एवं विश्राम का संतुलन बिठाकर हर व्य
आरोग्य एवं दीर्घजीवन पा सकता है । दूसरे नियम भी
नहीं जिनकी जानकारी जन-साधारण को न हो सके
उन्हें थोड़े से प्रयास से जाना जा सकता है । आल
रहित, श्रमयुक्त व्यवस्थित दिनचर्या का निर्धारण क

नहीं है। स्वाद को नहीं–स्वास्थ्य को लक्ष्य करके उपयुक्त भोजन की व्यवस्था हर स्थिति में बनायी जानी संभव है। सुपाच्य आहार समुचित मात्रा में लेना जरा भी कठिन नहीं है। शरीर को उचित विश्राम देकर हर बार तरोताजा बना लेने के लिए कहीं से कुछ लेने नहीं जाना पड़ता। यह सब हमारी असंयम एवं असंतुलन की वृत्ति के कारण ही नहीं सध पाता और हम इस सुर-दुर्लभ देह को पाकर भी नर्क जैसी हीन और यातनाग्रस्त स्थिति में पड़े रहते हैं।

शारीरिक आरोग्य के मुख्य आधार आत्म-संयम एवं नियमितता ही हैं, इनकी उपेक्षा करके मात्र औषधियों के सहारे आरोग्य लाभ का प्रयास मृगमरीचिका के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर औषधियों का सहारा लाठी की तरह लिया तो जा सकता है, किन्तु चलना तो पैरों से ही पड़ता है। शारीरिक अरोग्य एवं सशक्तता जिस जीवनी-शक्ति के ऊपर आधारित है उसे बनाये रखना इन्हीं माध्यमों से सम्भव है।

शरीर को प्रभु-मन्दिर की तरह ही महत्त्व दें। बचकाने, छिछोरे, बनाव-शृंगार से उसे दूर रखें। उसे स्वच्छ, स्वस्थ एवं सक्षम बनाना अपना पुण्य कर्त्तव्य मानें। उपवास द्वारा स्वाद एवं अति आहार की दुष्प्रवृत्तियों पर अधिकार पाने का प्रयास करें। मौन एवं ब्रह्मचर्य साधना द्वारा जीवनी शक्ति-क्षीण न होने दें, उसे अन्तर्मुखी बनाने का अभ्यास करें। श्रमशीलता को दिनचर्या में स्थान मिले। जीवन के महत्त्वपूर्ण क्रमों को नियमितता के शिकंजे में ऐसा कस दिया जाय कि कहीं विशृंखलता न आने पावे। थोड़ी-सी तत्परता बरतकर यह सब साधा जाना सम्भव है। ऐसा करके इस शरीर से वे लाभ पाये जा सकते हैं जिनकी संभावना शास्त्रकारों से लेकर वैज्ञानिकों तक ने स्वीकार की है।

(३) व (४)—मन को जीवन का केन्द्र-बिन्दु मानकर उसे सदा स्वच्छ रखेंगे। कुविचारों और दुर्भावनाओं से इसे बचाये रखने के लिए स्वाध्याय एवं सत्संग की व्यवस्था रखे रहेंगे— शरीर की तरह मन के सम्बन्धों में भी लोग प्रायः भूल करते हैं। शरीर को संतुष्ट करने या सँजाने-सँवारने को महत्त्व देकर लोग उसे स्वस्थ, नीरोगी एवं सशक्त बनाने की बात भूल जाते हैं। मन के बारे में भी ऐसा ही होता है। लोग मन को महत्त्व देकर 'मनमानी' करने में लग जाते हैं–मनोबल बढ़ाने और मन को स्वच्छ एवं सुसंस्कृत बनाने की बात पर ध्यान नहीं जाता। इस भूल के कारण जीवन में कदम-कदम पर विडम्बनाओं में फँसना पड़ता है। तन्दुरुस्ती के साथ मन की दुरुस्ती का भी ध्यान रखना अनिवार्य है। स्वस्थ शरीर में मन विकृत हो तो उद्दण्डता, अहंकार प्रदर्शन, परपीड़ा जैसे निकृष्ट कार्य होने लगते हैं, गुण्डे-बदमाशों से लेकर राक्षसों तक के पतन के पीछे यही एक तथ्य कार्य करता है। अपराध जगत में जो कुछ हो रहा है, उसे अस्वच्छ मन का उपद्रव कहा जा सकता है।

मन को जीवन का केन्द्र-बिन्दु कहना असंगत नहीं है। मनुष्य की क्रियाओं, आचरणों का प्रारम्भ मन से ही होता है। मन तरह-तरह के संकल्प, कल्पनाएँ करता है जिस ओर उसका रुझान हो जाता है उसी ओर मनुष्य की सारी गतिविधियाँ चल पड़ती हैं। जैसी कल्पना हो उसी के अनुरूप प्रयास-पुरुषार्थ एवं उसी के अनुसार फल सामने आने लगते हैं। इसीलिए शास्त्रकारों ने मन की महत्ता कदम-कदम पर बतलाई है। गीताकार ने मन को ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का मूलकारण कहा है–

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो'

यह कोई अतिशयोक्ति नहीं। एक व्यक्ति अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए किसी के प्राण तक लेने में भी नहीं झिझकता–तो दूसरी ओर राजा शिवि की तरह परहित में स्वयं अपने अंग काट-काट कर देना स्वीकार कर लेता है। एक व्यक्ति परपीड़ा के लिए बड़े से बड़ा खतरा उठाना स्वीकार कर लेता है तो दूसरा परोपकार के लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने में जरा भी नहीं हिचकिचाता। यह सब भले-बुरे प्रसंग मन के ही चमत्कार कहे जा सकते हैं।

मन जिधर रस लेने लगे, उसमें लौकिक लाभ या हानि का बहुत महत्त्व नहीं रह जाता। प्रिय लगने वाले प्रसंग के लिए सब कुछ खो देने और बड़े से बड़े कष्ट सहने को भी मनुष्य सहज ही तैयार हो जाता है। मन यदि अच्छी दिशा में मुड़ जाय, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास में रुचि लेने लगे तो जीवन में एक चमत्कार ही प्रस्तुत हो सकता है। सामान्य श्रेणी का, नगण्य स्थिति का मनुष्य भी महापुरुषों की श्रेणी में आसानी से पहुँच सकता है। सारी कठिनाई मन को अनुपयुक्त दिशा से उपयुक्त दिशा में मोड़ने की ही है। इस समस्या के हल होने पर मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य बनता हुआ देवत्व के लक्ष्य तक सुविधापूर्वक पहुँच सकता है।

शरीर के प्रति कर्त्तव्य पालन करने की तरह मन के प्रति भी हमें अपने उत्तरदायित्वों को पूर्ण करना चाहिए। कुविचारों और दुर्भावनाओं से मन गन्दा, मलिन और पतित होता है, अपनी सभी विशेषता और श्रेष्ठताओं को खो देता है। इस स्थिति से सतर्क रहने और बचने की आवश्यकता को अनुभव करना हमारा पवित्र कर्त्तव्य है। मन को सही दिशा देते रहने के लिए स्वाध्याय की वैसी ही आवश्यकता है जैसे शरीर को भोजन देने की। आत्म-निर्माण करने वाली जीवन की समस्याओं को सही ढंग से सुलझाने वाली उत्कृष्ट विचारधारा की पुस्तकें पूरे ध्यान, मनन और चिन्तन के साथ पढ़ते रहना ही स्वाध्याय है। यदि सुलझे हुए विचारों के, जीवन-विद्या के ज्ञाता कोई सम्भ्रान्त सज्जन उपलब्ध हो सकते हों तो उनका सत्संग भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है। यों धर्म और अध्यात्म के नाम पर आलस्य, कर्त्तव्य, त्याग, निराशा, भाग्यवाद, परावलम्बन आदि

भ्रान्तियों को बढ़ाने वाले प्रवचनकर्ता गली-कूचों में मक्खी-मच्छरों की तरह सत्संग की दुकानें लगाये बैठे हैं, उनमें जाने की अपेक्षा न जाना अधिक उत्तम है । इसी प्रकार स्वाध्याय के नाम पर जीवन-निर्माण की ज्वलन्त समस्याओं को सुलझाने में कोई सहायता न देने वाली, किन्हीं देवी-देवताओं के गुणनुवाद करने वाली पुस्तकों का पाठ करते रहने से कोई वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।

मानव-जीवन की महत्ता को हम समझें, इस स्वर्ण अवसर के सदुपयोग की बात सोच, अपनी गुत्थियों में से अधिकांश की जिम्मेदारी अपनी समझें और उन्हें सुलझाने के लिए अपने गुण, कर्म व स्वभाव में आवश्यक हेर-फेर करने के लिए सदा कटिबद्ध रहें । इस प्रकार की उपलब्धि आत्म निर्माण की प्रेरणा देने वाले सत्साहित्य से प्रबुद्ध मस्तिष्क के सत्पुरुषों की संगति से एवं आत्म-निरीक्षण एवं आत्म-चिन्तन से किसी भी व्यक्ति को सहज ही हो सकती है ।

मन का स्वभाव बालक जैसा होता है, उमंग से भरकर वह कुछ न कुछ करना-बोलना चाहता है । यदि दिशा न दी जाय तो उसकी क्रियाशीलता तोड़-फोड़ एवं गाली-गलौज के रूप में भी सामने आ सकती है । बालक को उसकी क्रियाशीलता के अनुसार कार्य मिलता रहे तो वह स्वयं भी संतोष पाता है तथा दूसरों को भी सुख देता है । मन के लिए उसकी कल्पना-शक्ति के अनुसार सद्विचारों एवं सद्भावनाओं का क्षेत्र खोल दिया जाय तो वह सन्तुष्ट भी रहता है तथा हितकारी भी सिद्ध होता है । स्नेह, कृतज्ञता, सौहार्द्र, सहयोग, करुणा, उदारता जैसे भावों को उभारते रहा जाय—नीति निष्ठा, सक्रियता, श्रम, ईमानदारी, सेवा, सहायता आदि के विचारों को बार-बार दुहराया जाय तो मन में कुविचारों और दुर्भावनाओं को जगह ही न मिलेगी ।

परिस्थिति एवं वातावरण के प्रभाव से बहुत बार मन पर उनका असर होने लगता है । उस स्थिति में कुविचारों के विपरीत, सशक्त सद्विचारों से उन्हें काटना चाहिए । जैसे स्वार्थपरता, धोखेबाजी, कामचोरी के विचार आयें तो—श्रमशीलता तथा प्रामाणिकता से लोगों की अद्भुत प्रगति के तथ्यपूर्ण चिन्तन से उन्हें हटाया जा सकता है । यदि किसी के विपरीत आचरण से क्रोध आये या द्वेष उभरे तो उसकी मजबूरी समझकर उसके प्रति करुणा, आत्मीयभाव से उसे धोया जा सकता है । यह विद्या सत्साहित्य के स्वाध्याय, सत्पुरुषों की संगति एवं ईमानदारी से किये गये आत्म-चिन्तन से ही पायी जा सकती है ।

लोहा, लोहे से कटता है । गरम लोहे को ठंडे लोहे की छैनी काटती है । चुभे हुए काँटे को निकालने के लिए काँटे का ही प्रयोग करना पड़ता है । विष को विष मारता है । हथियार से हथियार का मुकाबला किया जाता है । किसी गिलास में भरी हुई हवा को हटाना हो तो उसमें पानी भर देना चाहिए । पानी का प्रवेश होने से हवा अपने आप निकल जायेगी । बिल्ली पाल लेने से चूहे घर में कहाँ ठहरते हैं ? कुविचारों को मार भगाने का एक तरीका है कि उनके स्थान पर सद्विचारों की स्थापना की जाय । मन में जब सद्विचार भरे रहेंगे तो उस भीड़ से भरी धर्मशाला को देखकर अपने आप लौट जाने वाले मुसाफिर की तरह कुविचार भी कोई दूसरा रास्ता टटोल लेंगे । स्वाध्याय और सत्संग में जितना अधिक समय लगाया जाता है उतनी ही कुविचारों से सुरक्षा बन पड़ती है । रोटी और पानी जिस प्रकार शरीर की सुरक्षा और परिपुष्टि के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मिक स्थिरता और प्रगति के लिए सद्विचारों, सद्भावों की प्रचुर मात्रा हमें उपलब्ध होनी ही चाहिए । इस आवश्यकता की पूर्ति स्वाध्याय और सत्संग से, मनन और चिन्तन से पूरी होती है । युग-निर्माण के लिए—आत्म-निर्माण के लिए यह प्रधान साधन है । संकल्प की, मन की शुद्धि के लिए इसे ही राम-बाण दवा माना गया है ।

(५) अपने आपको समाज का एक अभिन्न अंग मानेंगे और सबके हित में अपना हित समझेंगे—सामाजिक न्याय का सिद्धान्त ऐसा अकाट्य तथ्य है कि इसकी एक क्षण के लिए भी उपेक्षा नहीं की जा सकती । एक वर्ग के साथ अन्याय होगा तो दूसरा वर्ग कभी भी शान्तिपूर्ण जीवनयापन न कर सकेगा । लोहे की छड़ को एक सिरे पर गरम किया जाय तो उसकी गर्मी धीरे-धीरे दूसरे सिरे तक भी पहुँच जायेगी । सारी मनुष्य जाति एक लोहे की छड़ की तरह है । उसको किसी भी स्थान पर गरम-ठण्डा किया जाय तो दूसरे भागों पर उसका प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ेगा । सामाजिक न्याय सबको समान रूप से मिले, प्रत्येक मनुष्य मानवोचित अधिकारों का उपयोग दूसरों की भाँति ही कर सके, ऐसी स्थिति पैदा किये बिना हमारा समाज शोषण-मुक्त नहीं हो सकता । आर्थिक समता की बात समाजवादी विचारधारा के द्वारा राजनैतिक स्तर पर बड़े जोरों से कही जा रही है । साम्यवादी देश उग्र रूप से और समाजवादी देश मन्थर गति से इसी माँग पर अग्रसर हो रहे हैं । अध्यात्मवाद की शिक्षा सनातन काल से यही रही है । यहाँ परिग्रह को सदा से पाप माना जाता रहा है । सामान्य जनता के स्तर पर बहुत अधिक सुख-साधन प्राप्त करना या धन-सम्पत्ति जमा करना यहाँ सदा से पाप कहा गया है और यही निर्देश किया गया है कि सौ हाथों से कमाओ भले ही, पर उसे हजार हाथों से दान अवश्य कर दो अर्थात् अगणित बुराइयों को जन्म देने वाली संग्रह-वृत्ति को पनपने न दो ।

कोई व्यक्ति अपने पास सामान्य लोगों की अपेक्षा अत्यधिक धन तभी संग्रह कर सकता है जब उस में कंजूसी, खुदगर्जी, अनुदारता और निष्ठुरता की भावना आवश्यकता से अधिक मात्रा में भरी हुई हो । जबकि दूसरे लोग भारी कठिनाइयों के बीच अत्यन्त कुत्सित और अभावग्रस्त जीवनयापन कर रहे हैं, उनके बच्चे शिक्षा

और चिकित्सा तक से वंचित हो रहे हों, तब उनकी आवश्यकताओं की ओर से जो आँखें बन्द किये रहेगा, किसी को कुछ भी न देना चाहेगा, देगा तो राई-रत्ती को देकर पहाड़-सा यश लूटने का ही अवसर मिलेगा तो ही कुछ देगा, ऐसा व्यक्ति ही धनी बन सकता है । सामाजिक न्याय का तकाजा यह है कि हर व्यक्ति उत्पादन तो भरपूर करे पर उस उपार्जन के लाभ में दूसरों को भी सम्मिलित रखे । सब लोग मिल-जुलकर खायें-जियें और जीने दें । दुःख और सुख सब लोग मिल-बाँट कर भोगें । यह दोनों ही भार यदि एक के कन्धे पर आ पड़ते हैं तो वह दब कर चकनाचूर हो जाता है पर यदि सब लोग इन्हें आपस में मिल कर बाँट लेते हैं तो किसी पर भार नहीं पड़ता, सबका चित हलका रहता है और समाज में विषमता का विष भी उत्पन्न नहीं हो पाता ।

जिस प्रकार आर्थिक समता का सिद्धान्त सनातन और शाश्वत है उसी प्रकार सामाजिक समता का-मानवीय अधिकारों की समता का आदर्श भी अपरिहार्य है । इसको चुनौती नहीं दे सकते । किसी जाति, वंश या कुल में जन्म लेने के कारण किसी मनुष्य के अधिकार कम नहीं हो सकते और न ऊँचे माने जा सकते हैं । छोटे या बड़े होने की, नीच या ऊँच होने की कसौटी गुण, कर्म, स्वभाव ही हो सकते हैं । अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण किसी का न्यूनाधिक मान हो सकता है पर इसलिए कोई कदापि बड़ा या छोटा नहीं माना जा सकता कि उसने अमुक कुल में जन्म लिया है । इस प्रकार की अविवेकपूर्ण मान्यताएँ जहाँ भी चल रही हैं वहाँ कुछ लोगों का अहंकार और कुछ लोगों का दैन्य भाव ही कारण हो सकता है-। अब उगती हुई दुनिया इस प्रकार के कूड़े-कबाड़ जैसे विचारों को तेजी से हटाते चली जा रही है ।

स्त्रियों के बारे में पुरुषों ने जो ऐसी मान्यता बना रखी है कि शरीर में भिन्नता रहने मात्र से नर और नारी में से किसी को हीनता या महत्ता मानी जाय वह ठीक नहीं । मानवीय अधिकारों की मूलभूत आस्था पर इसका प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए । हमें हर मानव-प्राणी के मौलिक अधिकारों को स्वीकार करना ही चाहिए । हर व्यक्ति समान नागरिक अधिकार लेकर जन्मा है, इस तथ्य को स्वीकार किया ही जाना चाहिए । जब तक उनके सामाजिक अधिकारों को स्वीकार न किया जायेगा, उन्हें कैदखाने का पशु मात्र बनाकर रखा जायेगा तब तक हमारी आधी जनता गुलाम की गुलाम बनी रहेगी ।

यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि हम समाज के अभिन्न अंग हैं । जिस प्रकार एक शरीर से सम्बन्धित सभी अवयवों का स्वार्थ परस्पर सम्बद्ध है, उसी प्रकार सारी मानव जाति एक ही नाव में बैठी हुई है । घड़ी का एक पुर्जा खराब हो जाने पर सारी मशीन बन्द हो जाती है । शरीर का एक अंग पीड़ित होने पर उसका प्रभाव अन्य अवयवों पर पड़ता है । उसी प्रकार हम सब एक ही सूत्र में पिरोये हुए मनकों की तरह परस्पर सम्बद्ध हैं । प्रत्येक कड़ी के ठीक तरह कसे रहने से ही जंजीर की मजबूती है । उनका बिखरना शुरू हो जाय तो जंजीर नाम की कोई चीज न रहेगी । तिनके प्रथक-प्रथक दिशा में अपना स्वार्थ लेकर चल पड़ें तो रस्सी कैसे बनी रह सकेगी, सींकें यदि आत्म-समर्पण न करें तो बुहारी कैसे बनेगी, पानी की बूँदें अपना-अपना स्वार्थ अलग सोचें तो इतना विशाल समुद्र कैसे बन सकेगा ? जाति और राष्ट्र, का अस्तित्व इसी के लिए है कि विशाल जनता उसमें आत्मसात हुई होती है । प्रथकता की भावना रखने वाले, भिन्न स्वार्थों, भिन्न आदर्शों और भिन्न मान्यताओं वाले लोग कहीं बहुत बड़ी संख्या में अधिक इकट्ठे हो जायें तो वे एक राष्ट्र एक समाज, एक जाति नहीं बन सकते । एकता के आदर्शों में बंटे हुए और उस आदर्श के लिए सब कुछ निछावर कर देने की भावना वाले व्यक्तियों का समूह ही समाज या राष्ट्र है । शक्ति का स्रोत इसी एकानुभूति में है । यह शक्ति बनाए रखने के लिए हर व्यक्ति स्वयं को विराट पुरुष का एक अंग, राष्ट्रीय मशीन का एक प्रामाणिक पुर्जा मानकर चले, सबके संयुक्त हित पर आस्था रखे, यह आवश्यक है । हमारी सर्वांगीण प्रगति का आधार यही भावना बन सकती है ।

(६) व्यक्तिगत-स्वार्थ एवं सुख को सामूहिक-स्वार्थ एवं सामूहिक हित से अधिक महत्त्व न देंगे—सबके हित में अपना हित सन्निहित होने की बात जब कही जाती है तो लोग यह भी तर्क देते हैं कि अपने व्यक्तिगत हित में भी सबका हित साधना चाहिए । यदि यह सच है तो हम अपने हित की बात ही क्यों न सोचें ?

यहाँ हमें सुख और हित का अन्तर समझना होगा । सुख केवल हमारी मान्यता और अभ्यास के अनुसार अनुभव होता है, जबकि हित शाश्वत सिद्धान्तों से जुड़ा होता है । हम देर तक सोते रहने में, कुछ भी खाते रहने में सुख का अनुभव तो कर सकते हैं, किन्तु हित तो जल्दी उठने, परिश्रमी एवं संयमी बनने से ही सधेगा । अस्तु व्यक्तिगत सुख को गौण तथा सार्वजनिक हित को प्रधान मानने का निर्देश सत्-संकल्प में रखा गया है ।

व्यक्तिगत स्वार्थ को सार्वजनिक स्वार्थ का अंग कह कर उससे चिपके रहने वालों के लिए भी इसमें दिशा-बोध है । यदि हम सबके स्वार्थ के एक अंश को दृष्टि से अपने स्वार्थ को साधना चाहते हैं तो उसे एक सीमा तक ही रहना होगा । अपने स्वार्थ की पूर्ति की बात भी उसी सीमा तक सोची जा सकती है जहाँ तक सार्वजनिक स्वार्थों को उससे चोट न पहुँचे ।

व्यक्तिगत स्वार्थ को सामूहिक स्वार्थ के लिए उत्सर्ग कर देने का नाम ही पुण्य, परमार्थ है, इसी को देशभक्ति, त्याग, बलिदान, महानता आदि नामों से पुकारते हैं । इसी नीति को अपनाकर मनुष्य महापुरुष बनता है, लोकहित की भूमिका सम्पादन करता है; अपने आदर्श से अनेक प्रेरणाएँ देता है और अपने देश समाज का मुख उज्ज्वल करता है । मुक्ति और स्वर्ग का रास्ता भी यही है । भगवान

को प्राप्त करने की मंजिल भी यही है। आत्मा की शान्ति और सद्‌गति भी उसी पर निर्भर है। इसके विपरीत दूसरा रास्ता वह है जिसमें व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए सारे समाज का अहित करने के लिए मनुष्य कटिबद्ध हो जाता है, दूसरे चाहे जितनी आपत्ति में फँस जायँ, चाहे जितनी हानि और पीड़ा उठावें पर अपने लिए किसी की कुछ परवाह न की जाय। अपराधी मनोवृत्ति इसी को कहते हैं। नरक का रास्ता यही है। देश-द्रोह व समाज-द्रोह, धर्म-द्रोह इसी को कहते हैं। आत्म-हनन का, आत्म-पतन का मार्ग यही है। इसी पर चलते हुए व्यक्ति नारकीय यंत्रणा से भरे हुए और सर्वनाश के गर्त में गिरता है।

इसलिए अपनी सद्‌गति एवं समाज की प्रगति का मार्ग समझकर, व्यक्तिगत सुख-स्वार्थ की अंधी दौड़ बन्द करके व्यापक हितों की साधना प्रारम्भ करनी चाहिए। अपनी श्रेयानुभूति को क्रमशः सुखों, स्वार्थों से हटाकर व्यापक हितों की ओर मोड़ना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है।

(७) नागरिकता, नैतिकता, मानवता, सच्चरित्रता, शिष्टता, उदारता, आत्मीयता, समता, सहिष्णुता, श्रमशीलता जैसे सद्‌गुणों को सच्ची सम्पत्ति समझकर इन्हें व्यक्तिगत जीवन में निरन्तर बढ़ाते रहेंगे—संसार एक दर्पण के समान है। हम जैसे भी कुछ सुन्दर, कुरूप हैं वैसी ही छाया दर्पण में खड़ी दिखाई पड़ती है। सज्जनों के साथ यह दुनिया सज्जनता का बर्ताव करती है। सन्तों का सम्मान होता है, परोपकारियों के चरणों में लाखों मस्तक झुकते हैं। स्वार्थियों से घृणा की जाती है, कटुभाषियों का तिरस्कार होता है, कुकर्मियों की प्रताड़ना की जाती है। क्रोधी और आवेशग्रस्तों को भर्त्सनापूर्ण व्यवहार उपलब्ध होता है। अविश्वासी लोग अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु देखते हैं, गन्दे-गलीजों को बीमारी और काहिल-आलसियों को दरिद्रता घेरे रहती है।

अपने स्वभाव में नम्रता, मधुरता, सदाशयता और भलमनसाहत की समुचित मात्रा समाविष्ट कर लें तो प्रत्युत्तर में हर दिशा से स्नेह, सहयोग और सम्मान उपलब्ध होने के साथ-साथ समृद्धि एवं प्रगति के अवरुद्ध द्वार भी खुल जाते हैं। मुक्ति और स्वर्ग जैसी आध्यात्मिक सफलताएँ, ऋद्धियाँ एवं विभूतियाँ भी आत्म-सुधार पर ही निर्भर रहती हैं। यह एक प्रत्यक्ष तथ्य है कि साधना रूपी औषधि तभी काम करती है जब आत्म-सुधार रूपी पथ्य का समुचित ध्यान रखा जाय। दुर्गुणों और दुर्भाव से भरे दुष्ट मानसिकता वाले व्यक्ति न इस लोक में सफलता पाते हैं, न परलोक में उनकी सद्‌गति होती है।

आत्म-निर्माण के व्यापक आन्दोलन का नाम युग-निर्माण है। एक-एक सींक मिलकर झाड़ू बनती है, एक-एक सिपाही इकट्ठे होने से सेना बनती है, इसी प्रकार सुधरे हुये एक-एक व्यक्ति जब बड़ी संख्या में बढ़ने लगेंगे तब युग बदल जायगा। युग-निर्माण से तात्पर्य है व्यक्ति-निर्माण और व्यक्ति निर्माण का अर्थ है गुण, कर्म व स्वभाव की दृष्टि से मानवीय विशेषताओं से परिपूर्ण व्यक्तित्व का विकास। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि हर व्यक्ति अपनी निजी त्रुटियों एवं दुर्बलताओं पर अधिकाधिक ध्यान दे और उन्हें सुधारने के लिए प्राणपण से प्रयत्न करे।

आमतौर से धन-दौलत को, जेवर-जायदाद को सम्पत्ति समझा जाता है। इन्हीं के उपार्जन के लिए हर किसी का मन ललचाता रहता है। अपनी-अपनी परिस्थिति, योग्यता और चतुरता के आधार पर लोग इन्हें कमाते भी हैं और जो सुख-सुविधा इनके द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं उसका उपभोग करते हैं। जन-प्रवृत्ति को इस धारणा पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से यह प्रयत्न अधूरा, एकांगी एवं दोषपूर्ण ही सिद्ध होता है। धन-सम्पत्ति भी उसी के लिए सुखदायक हो सकती है जिसके पास सद्‌गुणों की आध्यात्मिक सम्पत्ति होगी। यदि उसका अभाव रहा तो धन-दौलत पाकर लोगों के दिमाग ही खराब होते हैं। वे अहंकारी, उद्दण्ड, शेखीखोर, व्यसनी, लालची और कुकर्मी बनते हैं। निरन्तर असन्तोष में डूबे रहते हैं और ईर्ष्या-द्वेष की जंजीरों से बुरी तरह जकड़ जाते हैं। सद्‌गुणी व्यक्ति उपलब्ध सम्पदा के सदुपयोग से जहाँ अपना और अपने परिवार का जीवनक्रम सुविकसित बनाते हैं, वे समाज के लाभदायक पुण्य-परमार्थों का भी आयोजन करते हैं। इस दृष्टि से धन-सम्पत्ति की उपयोगिता तभी रह पाती है जब उसके साथ सद्‌गुणों की सम्पत्ति उपार्जित की जा सकती है, पर दुर्गुणी के यहाँ उत्तराधिकार आदि प्रारब्धजन्य किसी कारणवश प्राप्त हुई सम्पदा भी न केवल कुछ ही दिन में स्वाहा हो जाती है वरन् अनेक प्रकार की विपत्तियाँ भी उत्पन्न करके रख देती है। इसलिए धन-दौलत को झूठी और सद्‌गुणों को सच्ची सम्पदा कहा गया है। झूठी सम्पत्ति कमाने से नहीं, सच्ची सम्पत्ति के संग्रह में ही मनुष्य की बुद्धिमत्ता परखी जाती है।

नागरिक कर्त्तव्यों का ध्यान रखना, भौतिकता, मानवता, सच्चरित्रता, शिष्टता, उदारता, आत्मीयता, दूसरों के सुख-दुःख में अपने जैसी सुख-दुःख की अनुभूति दूसरों की भावनाओं का आदर करते हुए सहिष्णुता, समन्वय और समझौता करके चलने की उदारता, मीठा बोलना को शिष्टाचार बरतना और हर कार्य में मुस्तैदी तथा सज्जनता का परिचय देना आदि कितने ही ऐसे सद्‌गुण हैं जिनको अधिकाधिक मात्रा में निरन्तर बढ़ाते चलने का प्रयत्न हमें करते रहना चाहिए। यह सम्पत्ति जिसने जितनी मात्रा में एकत्रित कर ली, वस्तुतः वही सच्चे अर्थों में उतने धन का धनी माना जायेगा। पैसा अस्थिर है, लक्ष्मी को चंचल कहा गया है। परिस्थितियों के दो थपेड़ों में जीवन भर की कमाई देखते-देखते नष्ट हो सकती है। बीमारी, मुकदमा, चोरी, विवाह-शादी, घाटा, आपत्ति आदि के एक-दो थपेड़ों में ही धनवानों को निर्धन होते हम रोज ही देखते हैं पर सद्‌गुणों की सम्पत्ति ऐसी है जो हर विपत्ति के बाद

और भी अधिक प्रखर बनती है। हर अग्नि-संस्कार के बाद सोना अधिक प्रखर बनता है। विपत्तियों और कठिनाइयों में भी सद्गुणों का जो परिचय दिया जाता है वह इतिहास की एक अमर गाथा बनकर रह जाता है। कर्ण का युद्धस्थल में घायल पड़े होने पर भी अपना दाँत तोड़कर उसमें लगा सोना दान करने का यश तब तक अजर-अमर रहेगा, जब तक धरती-आकाश कायम है। हरिश्चन्द्र, शिवि, दधीचि, मोरध्वज, शैव्या और सीता आदि ने अपने सद्गुणों की परीक्षा दी थी पर इससे उनकी यह आध्यात्मिक सम्पदा विजय-पताका के रूप में सदा फहराते रहने के लिए अजर-अमर हो गई। मानव जीवन की यही सच्ची सम्पत्ति है और उसे ही निरन्तर बढ़ाते चलने का प्रयत्न करना चाहिए। छाया की भाँति धन-दौलत की लौकिक सम्पत्ति तो अनायास ही सच्ची सम्पदा के सद्गुणों के पीछे-पीछे चला करती है।

उपरोक्त गुणों के आधार पर ही आदर्श समाज की रचना सम्भव होगी। इनका अभाव ही समाज में तनाव, अव्यवस्था तथा दुःख-दारिद्रय का कारण बनता है। अस्तु, निजी एवं सार्वजनिक-दोनों ही प्रकार के हितों के लिए सद्गुणों की सच्ची-सम्पत्ति बढ़ाते रहने का प्रयास हर स्तर पर किया जाना चाहिए।

(८) साधना, स्वाध्याय, संयम एवं सेवा कार्यों में आलस्य, प्रमाद न होने देंगे—शास्त्रों में आत्म-निर्माण के चार साधन बताये गये हैं। (१) साधना, (२) स्वाध्याय, (३) संयम और(४) सेवा। इन चारों की वही उपयोगिता है जो शरीर में हाथ पैरों की है। इनके बिना आत्म-कल्याण की दिशा में एक कदम भी आगे बढ़ सकना संभव नहीं हो सकता।

साधना-ईश्वर उपासना को दैनिक जीवन में से बिल्कुल हटा देना किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं। मन न लगने पर किसी न किसी प्रकार आदत में इसे सम्मिलित करने के लिए साधना का कुछ न कुछ अभ्यास नित्य ही करते रहना चाहिए। आत्म-शक्ति जब कभी जिस किसी को प्राप्त हुई है तब उसमें आस्तिकता और उपासना का कोई न कोई अंश जरूर रहा है। भले ही हम बिस्तर से उठते और सोते समय पन्द्रह-पन्द्रह मिनट तक ही सर्वव्यापक, निष्पक्ष, न्यायकारी, विचार और कार्यों के अनुरूप प्रसन्न एवं अप्रसन्न होने वाले परमात्मा का ध्यान और स्मरण किया करें, पर किसी न किसी रूप में दैनिक उपासना तो किया करें। इसमें फुरसत का प्रश्न नहीं, अभिरुचि का प्रश्न है। थोड़ी अभिरुचि इधर बढ़ते ही इस मार्ग में आनन्द आने लगता है और फुरसत भी मिलने लगती है।

ईश्वर उपासना का अर्थ यथावत् कुछ पूजा-अर्चना की लकीर पीटना या भगवान से अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए प्रार्थना करना नहीं है। उपासना का अर्थ है पास बैठना। अग्नि के पास बैठने से गर्मी, बर्फ के समीप से शीतलता आती है, तो उपासना से देवत्व-ईश्वरत्व की वृद्धि होनी चाहिए। अपनी आकांक्षाओं से लेकर आचरण तक में दिव्यता का समावेश करना ही उपासना का उद्देश्य है। ऐसा होने से मनुष्य उस महत् सत्ता से जुड़कर असीम शक्ति सम्पन्न हो जाता है। लौकिक एवं पारलौकिक विभूतियाँ उसके चरण चूमने लगती हैं।

उपासनात्मक कर्मकाण्ड के साथ भावनाओं का समन्वय करने से उपासना बनती है। उपासना चाहे थोड़ी हो पर उसमें इष्ट के साथ घुल-मिल जाने-एकाकार हो जाने जैसी तड़पन होनी चाहिए। माँ-बेटे, गाय-बछड़े, दीप-पतंग जैसी आतुरता से की गई उपासना चमत्कार उत्पन्न कर सकती है।

उपासना एक पक्ष है, उसके साथ-साथ अपने जीवन आचार-विचारों को भी ईश्वर परायण के ढंग का प्रयास जोड़ने से समग्र-साधना बनती है। अपने हर कार्य व्यवहार को, अपने इष्ट को, ईश्वर को प्रतिष्ठा का प्रश्न मानकर चलने से जीवन में पवित्रता एवं व्यवस्था बढ़ती चली जाती है। बाल्मीकि जैसों के उतरे-पुतरे कर्मकांड भी चमत्कार पैदा कर गये, इसका श्रेय भी इसी प्रखर साधनात्मक प्रवृत्ति को दिया जा सकता है। अस्तु व्यक्तिगत जीवन में इसी स्तर की साधना को स्थान दिया जाना चाहिए।

(२) **स्वाध्याय**—मैले कपड़े को साफ करने के लिए जो उपयोगिता साबुन की है वही मन पर चढ़े हुए मैलों को शुद्ध करने के लिए स्वाध्याय की है। मनुष्य के पास सर्वोत्तम विशेषता उसकी बुद्धि की ही है और इन विचारों का सही एवं सुसंस्कृत बनना स्वाध्याय पर निर्भर है। श्रेष्ठ पुरुषों की कमी, उनके पास समय का अभाव और अपने लिए भी समुचित फुरसत की कमी रहने के कारण प्रायः उपयुक्त सत्संग की व्यवस्था बन सकना कठिन है, ऐसी दशा में जीवन-निर्माण के श्रेष्ठ साहित्य का अध्ययन ही सत्संग की आवश्यकता को पूरी करता है। जिस प्रकार भोजन त्याग कर शरीर को जीवित रख सकना कठिन है, इसी प्रकार स्वाध्याय की उपेक्षा करके उसका परित्याग करके कोई व्यक्ति न तो अपने आत्मिक स्तर को ऊँचा उठा सकता और न स्थिर रख सकता है। बिना पढ़े लोगों के लिए भी उचित है कि वे श्रेष्ठ-साहित्य का श्रवण किया करें। दुर्भिक्ष काल में जिस प्रकार साधन सम्पन्न लोग भूखों मरते हुओं को अन्न को व्यवस्था जुटाते हुए पुण्य लाभ प्राप्त करते हैं उसी प्रकार स्वाध्यायशील सज्जनों का कर्त्तव्य है कि जीवन-निर्माण साहित्य अपने घर के तथा बाहर के अशिक्षितों को पढ़कर सुनाया करें और उनके आत्मिक जीवन को अपने पसीने से सींच कर हरा-भरा रखने का पुण्य प्राप्त किया करें।

स्वाध्याय, पुस्तक पढ़कर भी किया जा सकता है तथा सुनकर भी किन्तु कुछ भी पढ़ना या सुनना स्वाध्याय नहीं कहा जा सकता। जीवन को दिशा दे सकने योग्य प्रेरणा

पढ़कर या सुनकर प्राप्त करने तथा उसे मनन-चिन्तन द्वारा आत्मसात् करने से स्वाध्याय का लाभ मिलता है । नित्य ऐसे प्रेरक विचारों एवं प्रसंगों को पढ़ने-सुनने का सुनिश्चित क्रम बनाया जाना चाहिए ।

(३) संयम–संयम को शक्ति का स्रोत कहा गया है । मनुष्य को बहुत कुछ मिला है तथा उससे भी अधिक मिल सकता है । संयम के अभाव में व्यक्ति निरर्थक अपनी शक्तियों, विभूतियों को गँवाता रहता है तथा अधिक कुछ पाने की पात्रता भी नहीं प्राप्त कर पाता । शक्तियों एवं विभूतियों को निरर्थक, हानिकारक एवं कम महत्त्व के प्रसंगों से हटाकर उन्हें सार्थक, हितकारी एवं अधिक उपयोगी विषयों में ठीक प्रकार नियोजित करना ही संयम कहलाता है ।

संयम का क्षेत्र बड़ा व्यापक है । इन्द्रिय-निग्रह से लेकर, आत्म-व्यवहार, संयम, विचारों एवं भावनाओं के नियंत्रण तक को उसके अन्तर्गत लिया जाता है । साधक को इसी व्यापक दृष्टि से संयम को समझना एवं अपनाना चाहिए ।

इन्द्रियों का संयम तो आवश्यक है । चटोरेपन और कामवासना पर तो कड़ा नियंत्रण होना ही चाहिए । साथ ही स्वभाव और विचारों का संयम भी आवश्यक है । विचारों को अनुपयुक्त दिशा में जाने से रोकने के लिए उनके विरोधी विचार करने की आदत डालनी चाहिए । बुद्धि का झुकाव उन्हीं की ओर जाता है और यह नितान्त आवश्यक है कि कुविचारों के ठीक विरोधी सद्विचारों वाला पहलू भी हम बुद्धिरूपी अदालत के सामने निरन्तर प्रस्तुत करते रहें । हर बात के दो पहलू हैं, दोनों पर विचार कर लेने से बौद्धिक-संयम का लाभ प्राप्त होता है, फिर हम आवेश, उत्तेजना या भावुकता में कोई एकपक्षीय निर्णय कर बैठने के खतरे में नहीं पड़ते । स्वभाव का संयम आवेश और उत्तेजना से सम्बद्ध है । छोटी-छोटी बातों पर कई व्यक्ति, बहुत अधिक उत्तेजित हो उठते हैं । क्रोध, आवेश, द्वेष, मैत्री, उदारता, भावुकता आदि की दुर्गति कर देते हैं । उस आवेश से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों के सम्बन्ध में विचार नहीं करते और समय निकल जाने पर पछताते रहते हैं । स्वभाव का छिछोरापन छुड़ाकर उसे संजीदा और गम्भीर बनाना मानसिक संयम की प्रमुख प्रक्रिया है । जब हमारा संयम इन्द्रिय-निग्रह तक ही नहीं, विचार और स्वभाव के नियन्त्रण क्षेत्र में भी कारगर होता है तब ही संयमशीलता की सफलता मानी जाती है ।

संयम के अपने अनुरूप सुनिश्चित चरण निर्धारित करने चाहिए । ब्रह्मचर्य की अवधि निर्धारित करना, स्वादेन्द्रिय को नियन्त्रित करने के लिए उपवास, अस्वादव्रत जैसे नियम बनाना, वाणी के लिए मितभाषण एवं मौन का अभ्यास, समय एवं धन का बजट बनाकर चलना, विचार एवं भावनाओं के स्तर पर पैनी दृष्टि रखकर उनके अनुपात को सही बनाकर रखने की तत्परता बरतना, अपनी आवश्यकताओं को औसत भारतीय स्तर की सीमा तक खींच लाना आदि समय के व्यावहारिक स्वरूप हैं, जिन्हें हर व्यक्ति अपने-अपने ढंग से अनुसरण कर लाभान्वित हो सकता ।

(४) सेवा–मनुष्य का आत्मिक विकास कितना हुआ है, इसका प्रमाण उसकी सेवावृत्ति से लगाया जा सकता है । सेवा वह अग्नि है जिसमें तपे बिना कोई अन्तः करण की शुद्धता, निर्मलता एवं आध्यात्मिकता की कसौटी पर खरा उतर सकने योग्य नहीं बन सकता । संन्यास लेने से पूर्व जीवन का एक चौथाई भाग वानप्रस्थ में रहकर समाज सेवा करने के लिए नियत किया हुआ है । जो लोग सेवा धर्म की अत्यन्त आवश्यक प्रक्रिया से कतराते हैं और केवल भजन करके आत्मिक-प्रगति की आशा करते हैं वे वैसे ही बालक हैं जो प्रथम कक्षा से छलाँग मारकर अन्तिम कक्षा उत्तीर्ण करना चाहते हैं और बीच की सभी कक्षाओं को छोड़ देना चाहते हैं । सद्विचारों का क्रियात्मक रूप सेवा है । आत्म-शुद्धि का प्रत्यक्ष चिन्ह सेवा एवं परमार्थ में रुचि होना ही है ।

सेवा का आत्म-सन्तोष से सीधा सम्बन्ध है । परोपकार की दृष्टि से निस्वार्थ-भावना से हम जो कुछ करते हैं उसकी प्रतिक्रिया आत्म-सन्तोष के रूप में तुरन्त ही परिलक्षित होने लगती है । आत्म-सन्तोष को ही शास्त्रों में सोम रस कहा गया है, उसे ही पीकर ऋषि-मुनि देवत्व प्राप्त किया करते थे । सत्कार्यों द्वारा आत्म-सन्तोष की कुछ बूँदें जिन्हें उपलब्ध होती रहती हैं वे अपने को कृतकृत्य माने बिना नहीं रह सकते । सामाजिक दृष्टि से भी सेवा एक अत्यन्त उपयोगी प्रक्रिया है उससे पिछड़े हुए लोगों को ऊपर उठने और दीन-दुखियों को राहत प्राप्त करने का अवसर मिलता है । दुःख और सुख को बाँट लेना आध्यात्मिक साम्यवाद है । सुखी लोग अपने सुख का एक अंश दुखियों को बाँट दें तो उनके ऊपर लदा हुआ सुविधाओं का अनावश्यक भार घट सकता है और मोटे पेट वाले रोगी की वादी छूट जाने से जैसी प्रसन्नता होती है वैसी ही उन्हें भी मिल सकती है । इसी प्रकार दुःखियों का दुःख थोड़ा-थोड़ा वे लोग बाँट लें तो उन बेचारों का दुःख भी हलका हो सकता है ।

एक के पास नमक दूसरे के पास शक्कर हो और दोनों अपने-अपने से ही काम चलावे तो दोनों के भोजन अस्वादिष्ट रहेंगे पर यदि वे दोनों आपस में बाँट ले तो नमकीन और मीठे स्वाद का व्यंजन दोनों को ही मिल सकता है । धन के बँटवारे की माँग भौतिक साम्यवाद के क्षेत्रों से उठ सकती है । आध्यात्मिक साम्यवाद की माँग दुःख और सुख के बँटवारे की है । इसी का सक्रिय रूप सेवा-धर्म है । सेवा सदाचार का अंग है, अध्यात्म का प्रमुख सोपान और समाज की प्रगति का इसे आधार स्तम्भ कह सकते हैं । सहयोग और सामूहिकता की सत्प्रवृत्तियाँ सेवा-बुद्धि की उदारता होने पर ही पनप सकती हैं और उनके पनपने पर ही कोई राष्ट्र सुसम्पन्न एवं समुन्नत हो सकता है ।

साधना, स्वाध्याय, संयम, एवं सेवा-कार्यों में आलस्य, प्रमाद न होने देने की बात पर जोर दिया गया है । आलस्य, प्रमाद जीवन की किसी भी धारा को कुंठित कर देते हैं, अतः इनसे जितना बचा जाय उतना ही अच्छा है । किन्तु जीवन विकास के इन मूल आधारों की सीमा में उनका आना सर्वाधिक हानिकारक सिद्ध होता है । अस्तु, अपने ही अन्दर बसने वाले महाशत्रुओं को इन नियमों पर आघात करने का अवसर नहीं देना चाहिए ।

इनमें व्यतिक्रम न आने पावे इसके लिए नियमों में कठोरता बरतनी चाहिए । उपासना बिना भोजन न करना, स्वाध्याय किए बिना सोना नहीं, संयम एवं सेवा का नियम टूटने पर उसे दण्डस्वरूप कुछ बढ़ाकर लागू करना, ऐसे सूत्र हैं जिनके आधार पर आलस्य-प्रमाद को उस दिशा में हावी होने से बखूबी रोका जा सकता है ।

(९) चारों ओर मधुरता, स्वच्छता, सादगी एवं सज्जनता का वातावरण उत्पन्न करेंगे—सामान्य स्थिति में व्यक्ति वातावरण से प्रभावित होता है, पर अन्तरंग श्रेष्ठता का विकास होने पर वह वातावरण को प्रभावित करने लगता है । ऊपर जिन गुणों का उल्लेख किया गया है वे सभ्य समाज की रचना के लिए आवश्यक हैं जिस व्यक्ति में वह विकसित होते हैं उसके व्यक्तित्व में जादू जैसा प्रभाव आ जाता है । हर व्यक्ति उसके सान्निध्य में रहना पसन्द करता है तथा उसे स्नेह, सम्मान एवं सहयोग देना चाहता है ।

मधुरता, वाणी एवं व्यवहार दोनों में होती है । स्वच्छता शरीर, स्थान आदि के साथ अन्तरंग की भी होती है । सादगी का सीधा सम्बन्ध उच्च विचारणाओं, श्रेष्ठ उद्देश्यों से है । सज्जनता भीतरी सदाशयता से नियन्त्रित होती है । अस्तु, व्यक्तित्व के विकास के लिए भी ये सभी अनिवार्य हैं ।

चारों ओर मधुरता, स्वच्छता एवं सज्जनता का वातावरण उत्पन्न करना मनुष्यता का आवश्यक गुण है । चन्दन का वृक्ष अपने आस-पास के पेड़-पौधों को भी अपने समान सुगन्धित बना लेता है, दीपक स्वयं प्रकाशित होता है और अपने प्रकाश से समीपवर्ती क्षेत्र को आलोकित कर देता है । बर्फ के आस-पास की हवा ठंडी हो जाती है और अग्नि के समीप ऊष्णता का अनुभव किया जा सकता है । किसी मनुष्य में मानवोचित गुण हैं या नहीं, इसकी परीक्षा यह है कि वह अपने सम्पर्क की वस्तुओं को देह, वस्त्र, घर व औजार आदि उपकरणों को स्वच्छ रखता है या नहीं । गन्दा, गलीज, मैला, कुचैला, फूहड़, अव्यवस्थित व्यक्ति एक प्रकार का पशु ही माना जायगा । मन और स्वभाव में स्वच्छता होगी तो उसके आस-पास भी सफाई का वातावरण दृष्टिगोचर होगा ।

भीतर की सज्जनता बाहर नम्रता और मधुरता बनकर मुखरित होती है । कठोर वाणी केवल कठोर हृदय व्यक्ति ही बोल सकता है । जिसके व्यवहार में अहंकार, उद्दण्डता कटाक्ष, व्यंग्य, निंदा, तिरस्कार, उपहास जैसे भाव टपकते हैं वह व्यक्ति वस्तुतः दुष्ट है । यदि हम किसी को कुछ दे नहीं सकते तो कम से कम मनुष्योचित नम्र और मधुर वाणी का उत्तर तो दे ही सकते हैं । मीठी और कड़ुई वाणी के कारण ही कोयल को प्रशंसा और कौए को कोप का भाजन बनना पड़ता है । हम यदि स्वच्छता, मधुरता और सज्जनता का शिष्ट व्यवहार करना भी नहीं जानते तो क्यों कर मनुष्य कहलाने के अधिकारी बन सकते हैं ? जिसके आस-पास का वातावरण गन्दगी, द्वेष, असन्तोष और क्षोभ से भरा हुआ है उसे मनुष्योचित सद्गुणों से रहित ही माना जायगा । हमारा कर्त्तव्य है कि हम चन्दन वृक्ष की तरह बनें और अपनी सुगन्धि से सारे समीपवर्ती क्षेत्र को सुवासित बनावें ।

(१०) परम्पराओं की तुलना में विवेक को महत्त्व देंगे—उचित अनुचित का, लाभ-हानि का निष्कर्ष निकालने और किधर चलना, किधर नहीं चलना इसका निर्णय करने के लिये उपयुक्त बुद्धि भगवान ने मनुष्य को दी है । उसी के आधार पर उसकी गतिविधियाँ चलती भी हैं, पर देखा यह जाता है कि दैनिक जीवन की साधारण बातों में भी जो विवेक ठीक काम करता है वही महत्त्वपूर्ण समस्या सामने आने पर कुंठित हो जाता है । परम्पराओं की तुलना में तो किसी विरले का ही विवेक जाग्रत रहता है, अन्यथा आन्तरिक विरोध रहते हुए भी लोग पानी में बहते हुए तिनके की तरह अनिश्चित दिशा में बहने लगते हैं । भेड़ों का झुंड जिधर भी चल पड़े उसी ओर सब भेड़ें बढ़ती जाती हैं । एक भेड़ कुएँ में गिर पड़े तो पीछे की ओर की सब उसी कुएँ में गिरती हुई अपने प्राण गँवाने लगती हैं । देखा-देखी की नकल बनाने की प्रवृत्ति बन्दर में पाई जाती है । वह दूसरों को जैसा करते देखता है वैसा ही खुद भी करने लगता है । इस अन्धानुकरण की आदत को जब मनुष्य में भी, इतनी मान लेने के लिए मन करता है जिसके अनुसार उसने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि आदमी बन्दर की औलाद है ।

समाज में प्रचलित कितनी ही प्रथाएँ ऐसी हैं जिनमें लाभ रत्ती भर भी नहीं हानि अनेक प्रकार से है, पर एक की देखा-देखी दूसरा उसे करने लगता है । बीड़ी और चाय का प्रचार दिन-दिन बढ़ रहा है । छोटे-छोटे बच्चे बड़े शौक से इन्हें पीते हैं । सोचा यह जाता है कि यह चीजें बड़प्पन अथवा सभ्यता की निशानी है । इन्हें पीना एक फैशन की पूर्ति करना है और अपने को अमीर, धनवान साबित करना है । ऐसी ही कुछ भ्रान्तियों से प्रेरित होकर शौक, मजे, फैशन जैसी दिखावे की भावना से एक की देखा-देखी दूसरा इन नशीली वस्तुओं को अपनाता है और अन्त में एक बुरी कुटेव के रूप में वह लत ऐसी बुरी तरह लग जाती है कि छुड़ाये नहीं छूटती ।

चाय, बीड़ी, भाँग, गाँजा, शराब, अफीम आदि सभी नशीली चीजें भयंकर दुर्व्यसन हैं, इनके द्वारा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य नष्ट होता है और आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ता है । हर नशेबाज स्वभाव की दृष्टि से दिन-दिन घटिया आदमी बनता जाता है । क्रोध, आवेश, चिन्ता, निराशा, आलस, निर्दयता, अविश्वास आदि कितने ही मानसिक दुर्गुण उपज पड़ते हैं, समझाने पर या स्वयं विचार करने पर हर नशेबाज इस लत की बुराई को स्वीकार करता है पर विवेक की प्रखरता और साहस की सजीवता न होने से कुछ नहीं पाता । एक अन्ध परम्परा में भेड़ की तरह चलता चला जाता है क्या यही मनुष्य की बुद्धिमत्ता है ?

सामाजिक कुरीतियों से हिन्दू समाज इतना जर्जर हो रहा है कि इन विकृतियों के कारण जीवनयापन कर सकना भी मध्यम वर्ग के लोगों के लिए कठिन होता चला जा रहा है । बच्चों का विवाह एक नरभक्षी पिशाच की तरह हर अभिभावक के सिर पर नंगी तलवार लिए नाचता रहता है । विवाह के दिन जीवनभर की गाढ़ी कमाई के पैसों को होली की तरह फूँक देने के लिए हर किसी को विवश होना पड़ता है । हत्यारा दहेज छुरी लेकर हमारी बच्चियों का खून पी जाने के लिए निर्भय होकर विचरण करता रहता है । मृत्युभोज, औसर-मोसर, नेगचार, मुण्डन, दस्टौन, जनेऊ और भी न जाने क्या-क्या ऊट-पटाँग काम करने के लिए लोग विवश होते रहते हैं और जो कुछ कमाते हैं उसका अधिकांश भाग इन्हीं फिजूलखर्चियों में स्वाहा करते रहते हैं । जेवर बनवाने में रुपये में से आठ आने हाथ रहते हैं, जान-जोखिम, ईर्ष्या, अहंकार, सुरक्षा की चिन्ता, ब्याज की हानि आदि अनेक आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, फिर भी परम्परा जो है । सब लोग जैसा करते हैं, वैसा ही हम क्यों न करें ? विवेक का परम्पराओं की तुलना में परास्त हो जाना वैसा ही आश्चर्यजनक है जैसा कि बकरे का शेर की गरदन मरोड़ देना । आश्चर्य की बात तो अवश्य है पर हो यही रहा है ।

युग-निर्माण के सत्संकल्प में विवेक को विजयी बनाने का शंखनाद है । हम हर बात को उचित-अनुचित की कसौटी पर कसना सीखें । जो उचित हो वही करें, जो ग्राह्य हो वही ग्रहण करें, जो करने लायक हो उसी को करें । लोग क्या कहते हैं, क्या कहेंगे, इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें सोचना होगा कि लोग दो तरह के हैं ? एक विचारशील दूसरे अविचारी । विवेकशील पाँच व्यक्तियों की सम्मति अविचारी पाँच लाख व्यक्तियों के समान वजन रखती है । विवेकशीलों की संख्या सदा ही कम रही है । वन में सिंह थोड़े और सियार बहुत रहते हैं । एक सिंह की दहाड़, हजारों सियारों की हुआ-हुआ से अधिक महत्त्व रखती है । विचारशील वर्ग के थोड़े से व्यक्ति, विवेकसम्मत कदम बढ़ाने का दृढ़ निश्चय कर लें तो व्याप्त विकृतियाँ उसी प्रकार छिन्न-भिन्न हो जावेंगी जैसे प्रचण्ड सूर्य के उदय होते ही कुहरा । मनुष्य की शक्तियों, क्षमताओं को वांछित दिशा में लगाने के लिए यह करना ही होगा ।

(११) अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा नीति पर चलते हुए असफलता को शिरोधार्य करेंगे—लोगों की दृष्टि में सफलता का ही मूल्य है । जो सफल हो गया उसी की प्रशंसा की जाती है । देखने वाले यह नहीं देखते कि सफलता नीतिपूर्वक प्राप्त की गई है या अनीतिपूर्वक । झूठे, बेईमान, दगाबाज, चोर, लुटेरे भी बहुत धन कमा सकते हैं । किसी चालाकी से कोई बड़ा पद या गौरव भी प्राप्त कर सकते हैं । आज लोग तो केवल उस कमाई और विभूति मात्र को ही देखकर उसकी प्रशंसा करने लगते हैं और समर्थन भी । पर सोचना चाहिए कि क्या यह तरीका उचित है सफलता की अपेक्षा नीति श्रेष्ठ है । यदि नीति पर चलते हुए परिस्थितिवश असफलता मिली है तो यह भी कम गौरव की बात नहीं है । नीति का स्थायी महत्त्व है, सफलता का अस्थाई । सफलता न मिलने से भौतिक जीवन के उत्कर्ष में थोड़ी असुविधा रह सकती है पर नीति त्याग देने पर तो लोक, परलोक, आत्म-सन्तोष, चरित्र, धर्म, कर्त्तव्य और लोकहित सभी कुछ नष्ट हो जाता है । ईसामसीह ने क्रूस पर चढ़कर पराजय स्वीकार की पर नीति का परित्याग नहीं किया । शिवाजी, राणा प्रताप, बन्दा बैरागी, गुरु गोविन्द सिंह, लक्ष्मीबाई, सुभाष बोस आदि को पराजय का ही मुँह देखना पड़ा, पर उनकी वह पराजय भी विजय से अधिक महत्त्वपूर्ण थी । धर्म और सदाचार पर दृढ़ रहने वाले असफलता में नहीं कर्त्तव्य पालन में प्रसन्नता अनुभव करते हैं और इसी दृढ़ता को स्थिर रख सकने को एक बड़ी भारी सफलता मानते हैं । अनीति और सफलता में से यदि एक को चुनना पड़े तो असफलता को ही पसन्द करना चाहिए, अनीति को नहीं । जल्दी सफलता प्राप्त करने के लोभ में अनीति के मार्ग पर चल पड़ना ऐसी बड़ी भूल है जिसके लिए सदा पश्चाताप ही करना पड़ता है ।

वास्तव में नीति मार्ग छोड़कर किसी मानवोचित सदुद्देश्य की पूर्ति की नहीं जा सकती । मनुष्यता खोकर पाई सफलता कम से कम मनुष्य कहलाने में गौरव अनुभव करने वाले के लिए प्रसन्नता की बात नहीं है । यदि कोई व्यक्ति ऊपर से नीचे जल्दी पहुँचने की उतावली में सीधा कूदकर हाथ-पैर तोड़ ले तो कोई उसे जल्दी पहुँचने में सफल हुआ नहीं कहना चाहेगा । इससे तो थोड़ी देर में पहुँचना अच्छा । मानवोचित नैतिक स्तर गँवाकर किसी एक विषय में सफलता की लालसा उपरोक्त प्रसंग जैसी विडम्बना ही है । हर विचारशील को इससे सावधान रहकर, नीति मार्ग को अपनाये रहकर मनुष्यता के अनुरूप वास्तविक सफलता अर्जित करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

(१२) मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी, उसकी सफलताओं, योग्यताओं एवं विभूतियों को नहीं, उनके सद्विचारों और सत्कर्मों को मानेंगे—मनुष्य की श्रेष्ठता की कसौटी यह होनी चाहिए कि उसके द्वारा मानवीय उच्च मूल्यों का निर्वाह कितना हो सका, उनको कितना प्रोत्साहन दे सका । योग्यताएँ विभूतियाँ तो साधन मात्र हैं । लाठी एवं चाकू स्वयं न तो प्रशंसनीय हैं, न निन्दनीय । उनका प्रयोग पीड़ा पहुँचाने के लिए हुआ या प्राण रक्षा के लिए ? इसी आधार पर उनकी भर्त्सना या प्रशंसा की जा सकती है । मनुष्य की विभूतियाँ एवं योग्यताएँ भी ऐसे ही साधन हैं । उनका उपयोग कहाँ होता है इसका पता उसके विचारों एवं कार्यों से लगता है । वे यदि सद् हैं तो यह साधन भी सद् हैं पर यदि वे असद् हैं, तो वह साधन भी असद् ही कहे जायेंगे । मनुष्यता का गौरव एवं सम्मान इन जड़-साधनों से नहीं उसके प्राणरूप सद्विचारों एवं सद्प्रवृत्तियों से जोड़ा जाना चाहिए । उसी आधार पर सम्मान देने, प्राप्त करने को परम्परा बनायी जानी चाहिए ।

जिस वस्तु में प्रतिष्ठा बढ़ती है, प्रशंसा होती है, उसी काम को करने के लिए, उसी मार्ग पर चलने के लिए लोगों को प्रोत्साहन मिलता है । हम प्रशंसा और निन्दा करने में, सम्मान और तिरस्कार करने में थोड़ी सावधानी बरतें, तो लोगों को कुमार्ग पर न चलने और सत्पथ अपनाने में बहुत हद तक प्रेरणा दे सकते हैं । आमतौर से उनकी प्रशंसा की जाती है, जिन्होंने विशेष सफलता, योग्यता, सम्पदा एवं विभूति एकत्रित कर ली है । चमत्कार को नमस्कार किया जाता है । यह तरीका गलत है । विभूतियों को लोग केवल अपनी सुख-सुविधा के लिए ही एकत्रित नहीं करते वरन् प्रतिष्ठा प्राप्त करना भी उद्देश्य होता है । जबकि धन-वैभव वालों को ही समाज मे प्रतिष्ठा मिलती है तो मान का भूखा मनुष्य किसी भी कीमत पर उसे प्राप्त करने के लिए आतुर हो उठता है । अनीति और अपराधों की बढ़ोत्तरी का एक प्रमुख कारण यह है कि अन्धी जनता पर सफलता की प्रशंसा करती है और हर असफलता को तिरस्कार की दृष्टि से देखती है । धन के प्रति, धनी के प्रति, आदर बुद्धि तभी रहनी चाहिए जब वह नीति और सदाचारपूर्वक कमाया गया हो, यदि अधर्म और अनीति से उपार्जित धन द्वारा धनी बने हुए व्यक्ति के प्रति हम आदर बुद्धि रखते हैं तो इससे उस प्रकार के अपराध करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन ही मिलता है और इस दृष्टि से अपराध वृद्धि में हम स्वयं भी भागीदार बनते हैं ।

दूसरों को सन्मार्ग पर चलाने का, कुमार्ग की ओर प्रोत्साहित करने का एक बहुत बड़ा साधन हमारे पास मौजूद है, वह है आदर और अनादर । जिस प्रकार वोट देना एक छोटी घटना मात्र है पर उसका परिणाम दूरगामी होता है उसी प्रकार आदर के एकटीकरण का भी दूरगामी परिणाम संभव है । थोड़े से वोट चुनाव सन्तुलन को इधर से उधर कर सकते हैं और उस चुने हुए व्यक्ति का व्यक्तित्व किसी महत्त्वपूर्ण स्थान पर पहुँचकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में अप्रत्याशित भूमिका सम्पन्न कर सकता है । थोड़े से वोट व्यापक क्षेत्र में अपना प्रभाव दिखा सकते हैं और अनहोनी सम्भावनाएँ साकार बना सकते हैं उसी प्रकार हमारी आदर बुद्धि यदि विवेकपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करे तो कितने ही कुमार्ग पर बढ़ते हुए कदम रुक सकते हैं और कितने ही सन्मार्ग की ओर चलते हुए झिझकने वाले पथिक प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर उस दिशा में तत्परतापूर्वक अग्रसर हो सकते हैं ।

जिन लोगों ने बाधाओं को सहते हुए भी अपने जीवन में कुछ आदर्श उपस्थित किये हैं, उनका सार्वजनिक सम्मान होना चाहिए, उनकी प्रशंसा मुक्त-कण्ठ से की जानी चाहिए और जो लोग निन्दनीय मार्गों द्वारा उन्नति कर रहे हैं, उनकी प्रशंसा एवं सहायता किसी भी रूप में नहीं करनी चाहिए । अवांछनीय कार्यों में सम्मिलित होना भी एक प्रकार से उन्हें प्रोत्साहन देना ही है क्योंकि श्रेष्ठ-पुरुषों की उपस्थिति मात्र से लोग कार्य में उनका समर्थन मान लेते हैं और फिर स्वयं भी उनका सहयोग करने लगते हैं । इस प्रकार अनुचित कार्यों में हमारा प्रत्यक्ष और परोक्ष समर्थन अन्ततः उन्हें बढ़ाने वाला ही सिद्ध होता है ।

हमें मनुष्य का मूल्यांकन उसकी सफलताओं एवं विभूतियों से नहीं वरन् उस नीति और गतिविधि के आधार पर करना चाहिए, जिसके आधार पर वह सफलता प्राप्त की गई । बेईमानी से करोड़पति बना व्यक्ति भी हमारी दृष्टि में तिरस्कृत होना चाहिए और वह असफल और गरीब व्यक्ति जिसने विपन्न परिस्थितियों में भी जीवन के उच्च आदर्शों की रक्षा की उसे प्रशंसा, प्रतिष्ठा, सम्मान और सहयोग सभी कुछ प्रदान किया जाना चाहिए । यह याद रखने की बात है कि जब तक जनता का, निन्दा- प्रशंसा का, आदर-तिरस्कार का मापदण्ड न बदलेगा तब तक अपराधी मूँछों पर ताव देकर अपनी सफलता पर गर्व करते हुए दिन-दिन अधिक उच्छृंखल होते चलेंगे और सदाचार के कारण सीमित सफलता या असफलता प्राप्त करने वाले खिन्न और निराश रहकर सत्पथ से विचलित होने लगेंगे । युग-निर्माण संकल्प में यह प्रबल प्रेरणा प्रस्तुत की गई है कि हम मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी उसकी सफलताओं एवं विभूतियों को नहीं सज्जनता और आदर्शवादिता को ही रखें ।

(१३) हमारा जीवन स्वार्थ के लिए नहीं परमार्थ के लिए होगा—भगवान ने मनुष्य को इतनी सारी सुविधाएँ, विशेषताएँ, इसलिए नहीं दी हैं कि वह उनसे स्वयं ही मौज-मजा करे और अपनी काम-वासनाओं की आग को भड़काने और उसे बुझाने के गोरखधन्धे में लगा रहे । यदि मौज-मजा करने के लिए ही ईश्वर ने मनुष्य को इतनी सुविधाएँ दी होतीं और अन्य प्राणियों को अकारण इससे वंचित रखा होता तो निश्चय

ही वह पक्षपाती ठहरता । अन्य जीवों के साथ अनुदारता और मनुष्य के साथ उदारता बरतने का अन्याय भला वह परमात्मा क्यों करेगा, जो निष्पक्ष, जगत पिता, समदर्शी और न्यायकारी के नाम से प्रसिद्ध है ।

अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य को जो कुछ बुद्धि, प्रतिभा, योग्यता, भावना, वाणी, विद्या, चतुरता, सम्पत्ति, कला, सौन्दर्य, विज्ञान, सत्ता आदि विभूतियों का वरदान मिला है, वह एक प्रकार की सार्वजनिक अमानत है । राज्यकोष की चाबी खजांची के पास रहती है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह खजाना उसके व्यक्तिगत उपयोग के लिए है । फौज को गोला, बारूद और सेना को आज्ञा देने का अधिकार सेनाध्यक्ष के हाथ में रहता है पर इसका अर्थ यह नहीं कि इन सब चीजों का उपयोग वह अपने लाभ के लिए करने लगे । सिक्का ढालने वाले, नोट छापने वाले, कर्मचारी अपने निज के लिए यह ढलाई या छपाई करने लगें तो क्या उचित कहा जायगा ? सरकारी काम-काज चलाने के लिए बड़े-बड़े अफसर, अधिकारी नियुक्त रहते हैं । उनको शक्ति व सत्ता प्रदान की जाती है, उसका उपयोग उन्हें राजकाज के लिए करना पड़ता है, अपने निज के लिए तो वे सिर्फ उतना ही खर्च कर सकते हैं, जितना उन्हें वेतन मिलता है । मनुष्य भी परमात्मा का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण एक प्रकार से युवराज, मन्त्री, खजांची, सेनाध्यक्ष, अफसर जैसे पद पर नियुक्त हुआ है, उसे अन्य प्राणियों की तुलना में जो कुछ अधिक मिला है यह सब ईश्वरीय प्रयोजन को पूर्ण करने के लिए है ।

जीवनोपयोगी अनिवार्य सुविधाएँ उपार्जित करने के बाद मनुष्य को अपनी शेष शक्ति और प्रतिभा का उपयोग जन-कल्याण के लिए, लोकहित के लिए, सद्भावनाओं की अभिवृद्धि के लिए करना चाहिए । यही उसका कर्तव्य और नौकरी है, जो इसे पूरी नहीं करता वह एक प्रकार का अपराधी माना जायगा और कर्तव्यपालन की उपेक्षा करने का दण्ड प्राप्त करेगा । राज कर्मचारियों पर कोई निजी कारोबार न करने का प्रतिबन्ध रहता है । कारण है कि सरकार जानती है कि जीवन-निर्वाह के लिए दिये जाने वाले वेतन पर संतुष्ट न रहकर यदि कर्मचारी अधिक उपार्जन के लालच में पड़ा रहेगा तो सरकारी काम की उपेक्षा करेगा । इसलिए उसे सचेत कर दिया है कि नियत घण्टे तो सरकारी ड्यूटी में लगावे ही, साथ ही बचे हुए घण्टे अपनी योग्यता, शक्ति और प्रसन्नता बढ़ाने में लगावे ताकि ड्यूटी के काम पूरे करने में कोई विघ्न उत्पन्न न हो । इस प्रतिबन्ध का उल्लंघन करके निजी सुख-साधनों को जुटाने और निजी मौज-मजा करने में यदि कोई कर्मचारी लगा रहने लगे और सरकारी कार्य को तिलांजलि दे दे तो उसे राजा का कोपभाजन बनना पड़ेगा और अपराध का दण्ड भी मिलेगा ।

युग-निर्माण संकल्प में इस अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है कि मनुष्य का जीवन स्वार्थ के लिए नहीं, परमार्थ के लिए है । शास्त्रों में अपनी कमाई को आप ही खा जाने वाले को चोर कहा गया है ।

जो मिला है उसे बाँट कर खाना चाहिए । मनुष्य को जो कुछ अन्य प्राणियों के अतिरिक्त मिला हुआ है वह उसका अपना निज का उपार्जन नहीं, वरन् सृष्टि के आदि से लेकर अब तक के श्रेष्ठ-सत्पुरुषों के श्रम और त्याग का फल है । यदि ऐसा न हुआ होता तो मनुष्य भी एक दुर्बल वन्य पशु की तरह, रीछ-बन्दरों की तरह अपने दिन काट रहा होता । इस त्याग और उपकार की पुण्य-प्रक्रिया का नाम ही धर्म, संस्कृति एवं मानवता है । उसी के आधार पर, प्रगति पथ पर इतना आगे बढ़ जाना संभव हुआ । यदि इस पुण्य-प्रक्रिया को तोड़ दिया जाय, मनुष्य केवल अपने मतलब की ही बात सोचने और उसी में लगे रहने की नीति अपनाने लगे, तो निश्चय ही मानवीय संस्कृति नष्ट हो जायगी और ईश्वरीय आदेश के उल्लंघन के फलस्वरूप जो विकृति उत्पन्न होगी उससे समस्त विश्व को भारी त्रास सहन करना पड़ेगा । परमार्थ को । आधारशिला के रूप में जो परमार्थ मानव जाति की अन्तरात्मा बना चला आ रहा है उसे नष्ट-भ्रष्ट कर डालना, स्वार्थी बनकर जीना निश्चय ही सबसे बड़ी मूर्खता है । इस मूर्खता को अपनाकर हम सर्वतोमुखी आपत्तियों को ही निमंत्रण देते हैं और उलझनों के दलदल में आज की तरह ही दिन-दिन गहरे धँसते चले जाते हैं ।

(१४) संसार में सत्-प्रवृत्तियों के पुण्य-प्रसार के लिए, अपने समय, प्रभाव, ज्ञान, पुरुषार्थ एवं धन का एक अंश नियमित रूप से लगाते रहेंगे—परमार्थ परायण जीवन जीना है तो उसके नाम पर कुछ भी करने लगना उचित नहीं । परमार्थ के नाम पर अपनी शक्ति ऐसे कार्यों में लगानी चाहिए जिनमें उसकी सर्वाधिक सार्थकता हो । स्वयं अपने अन्दर से लेकर बाहर समाज में सद्प्रवृत्तियाँ पैदा करना, बढ़ाना इस दृष्टि से सबसे अधिक उपयुक्त है । संसार में जितना कुछ सत्कार्य बन पड़ रहा है उन सब के मूल में सत्प्रवृत्तियाँ ही काम करती हैं । लहलहाती हुई खेती तभी हो सकती है, जब बीज का अस्तित्व मौजूद हो । बीज के बिना पौधा कहाँ से उगेगा ? भले या बुरे कार्य अनायास ही नहीं उग पड़ते, उनके मूल में सद्विचारों और कुविचारों की जड़ जमी होती है । समय पाकर बीज जिस प्रकार अंकुरित होता और फलता-फूलता है उसी प्रकार सत्प्रवृत्तियाँ भी अगणित प्रकार के पुण्य-परमार्थों के रूप मे विकसित एवं परिलक्षित होती हैं । जिस शुष्क हृदय में सद्भावनाओं के लिए-सद्विचारों के लिए कोई स्थान नहीं मिला उसके द्वारा जीवन में कोई श्रेष्ठ कार्य बन पडे यह लगभग असम्भव ही मानना चाहिए । जिन लोगों ने कोई सत्कर्म किये हैं, आदर्श का अनुकरण किया है उनमें से प्रत्येक को उससे पूर्व अपनी पाशविक वृत्तियों पर नियन्त्रण कर सकने योग्य सद्विचारों का लाभ किसी न किसी प्रकार

मिल चुका होता है । कुकर्मी और दुर्बुद्धि मनुष्यों के इस घृणित स्थिति में पड़े रहने की जिम्मेदारी उनकी उस भूल पर है जिसके कारण वे सद्विचारों की आवश्यकता और उपयोगिता को समझने से वंचित रहे, जीवन के इस सर्वोपरि लाभ की उपेक्षा करते रहे, उसे व्यर्थ मानकर उससे बचते और कतराते रहे । मूलतः मनुष्य एक प्रकार का काला कुरूप लोहा मात्र है । सद्विचारों का पारस छूकर ही वह सोना बनता है । एक नगण्य तुच्छ प्राणी को मानवता का महान गौरव दिला सकने की क्षमता केवल मात्र सद्विचारों में है । जिसे यह सौभाग्य नहीं मिल सका वह बेचारा क्यों कर अपने जीवन-लक्ष्य को समझ सकेगा और क्यों कर उसके लिए कुछ प्रयत्न-पुरुषार्थ कर सकेगा ?

इस संसार में अनेक परमार्थ और उपकार के कार्य हैं, वे सब आवरण मात्र हैं उनकी आत्मा में, सद्भावनाएँ सन्निहित हैं । सद्भावना रहित सत्कर्म भी केवल ढोंग मात्र बनकर रह जाते हैं । अनेक संस्थाएँ आज परमार्थ का आडम्बर करके सिंह की खाल ओढ़ फिरने वाले शृंगाल का उपहासास्पद उदाहरण प्रस्तुत कर रही हैं । उनसे लाभ किसी का कुछ नहीं होता, विडम्बना बढ़ती है और पुरुषार्थ को भी लोग आशंका एवं सन्देह की दृष्टि से देखने लगते हैं । प्राण रहित शरीर कितने ही सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए क्यों न हो, उसे कोई पसन्द न करेगा, न उससे किसी का कोई भला होगा । इसी प्रकार सद्भावना रहित जो कुछ भी लोकहित, जनसेवा के प्रयास किये जायेंगे, वे भलाई नहीं, बुराई ही उत्पन्न करेंगे ।

बुराइयाँ आज संसार में इसलिए बढ़ और फल-फूल रही हैं कि उनका अपने आचरण द्वारा प्रचार करने वाले पक्के प्रचारक, पूरी तरह मन, कर्म, वचन और बुराई करने और फैलाने वाले लोग बहुसंख्या में मौजूद हैं । अच्छाइयों के प्रचारक आज निष्ठावान नहीं, बातूनी लोग ही दिखाई पड़ते हैं, फलस्वरूप बुराइयों की तरह अच्छाइयों का प्रसार नहीं हो पाता और वे पोथी के बैंगनों की तरह केवल कहने-सुनने भर की बातें रह जाती हैं । कथा-वार्ताओं को लोग व्यवहार की नहीं कहने-सुनने की बात मानते हैं और इतने मात्र से ही पुण्य लाभ की संभावना मान लेते हैं ।

सत्प्रवृत्तियों को मनुष्य के हृदय में उतार देने से बढ़कर और कोई महत्त्वपूर्ण कार्य इस संसार में नहीं हो सकता । वस्तुओं की सहायता भी आवश्यकता के समय उपयोगी सिद्ध हो सकती है पर उसका स्थाई महत्त्व नहीं है । आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य लोग ऐसी सेवा कर भी नहीं सकते । हर आदमी स्थाई रूप से अपनी समस्या, अपने पुरुषार्थ और विवेक से ही हल कर सकता है दूसरों की सहायता पर जीवित रहना न तो किसी मनुष्य के गौरव के अनुकूल है और न उससे स्थाई हल ही निकलता है । जितनी भी कठिनाइयाँ व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन में दिखाई पड़ती हैं उनका एकमात्र कारण कुबुद्धि है । यदि मनुष्य अपनी आदतों को सुधार ले, स्वभाव को बना ले और विचारों तथा कार्यों का ठीक तारतम्य बिठा ले तो बाहर से उत्पन्न होती दीखने वाली सभी कठिनाइयाँ बात की बात में हल हो सकती हैं, व्यक्ति और समाज का कल्याण इसी में है कि सत्प्रवृत्तियों को अधिकाधिक पनपने का अवसर मिले । इसी प्रयास में प्राचीनकाल में कुछ लोग अपने को उत्सर्ग करते थे, उन्हें बड़ा माना जाता था और ब्राह्मण के सम्मानसूचक पद पर प्रतिष्ठित किया जाता था । चूँकि सत्प्रवृत्तियो को पनपाना संसार का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है इसलिए उसमें लगे हुए व्यक्तियों को सम्मान भी मिलना चाहिए । दानों में सर्वोत्तम दान ब्रह्मदान कहा जाता है । ब्रह्मदान का अर्थ है ज्ञान-दान । ज्ञान का अर्थ है वह भावना और निष्ठा जो मनुष्य के नैतिक स्तर को सुस्थिर बनाये रहती है । युग निर्माण संकल्प में जिन सत्प्रवृत्तियों के पुण्य-प्रसार की प्रेरणा की गई है वह यही ब्रह्मदान है । इस अमृत जल से सींचा जाने पर मुरझाता हुआ युग-मानस पुनः हरा-भरा पुष्प-पल्लवों से परिपूर्ण बन सकता है । इसी महान कार्य को परमार्थ कहा जा सकता है जिसको पूरा करने के लिए परमात्मा ने मनुष्य को विशेष क्षमता, सत्ता और महत्ता प्रदान की है ।

समय, प्रभाव, ज्ञान, पुरुषार्थ और धन की पाँचों विभूतियों का अधिकाधिक भाग हमें पुरुषार्थ के लिए लगाना चाहिए । व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकता पूर्ति में दिव्य-विभूतियों को पूरी तरह नष्ट न कर देना चाहिए, वरन् न्यूनाधिक मात्रा में कुछ न कुछ इनका अंश परमार्थ के लिए सत्प्रवृत्तियों के विकास के लिए सुरक्षित रख लेना चाहिए । दैनिक जीवन में जिस प्रकार अन्य अनेक आवश्यक कार्य नियत रहते हैं और उन्हें किसी न किसी प्रकार पूरा करते हैं उसी प्रकार इस परमार्थ कार्य को भी एक नितान्त और लोक-परलोक के लिए श्रेयस्कर महत्त्वपूर्ण कार्य मानना चाहिए । जिस कार्य को हम महत्त्वपूर्ण मान लेंगे उसके लिए समय, प्रभाव, ज्ञान, पुरुषार्थ एवं धन का एक नियमित अंश निरन्तर लगाते रहना भारस्वरूप प्रतीत न होगा वरन् उस मार्ग में किया हुआ प्रयत्न जीवन को धन्य बनाने वाला सर्वोत्तम सार्थक कार्य प्रतीत होने लगेगा ।

सद्-प्रवृत्तियों के सम्वर्द्धन के लिए युग-निर्माण अभियान के अन्तर्गत अनेक कार्यक्रम सुझाये गये हैं । झोला पुस्तकालय जैसे कार्यक्रम हर एक के लिए सुलभ हैं । जिसके पास जो विभूति हो वह उसे उसके लिए नियोजित करते रहने का क्रम बना लें । समय और श्रम-पुरुषार्थ तो हर व्यक्ति लगा ही सकता है । उसका सुनिश्चित अंश लगाने का नियम बना लेना चाहिए । प्रभावशाली व्यक्ति उसका समर्थन खुले रूप में करें, लोगों पर उसके लिए दबाव डालें तो काफी प्रगति हो सकती है । ज्ञानवान अपनी सूझ-बूझ एवं मार्गदर्शन से लेकर प्रेरणा देने तक का कार्य कर सकते हैं । धनवान उनके लिए आवश्यक साधन जुटाये रह सकते हैं । न्यूनतम एक घण्टा समय एवं एक दिन की आय

सद्प्रवृत्तियों के सम्बोधन के लिए लगाने का क्रम हर व्यक्ति बना ले तो इतना बड़ा कार्य हो सकता है कि इतिहास में उसे स्वर्णाक्षरों में लिखा जाय।

(१५) दूसरों के साथ वह व्यवहार नहीं करेंगे जो हमें अपने लिए पसन्द नहीं—हम चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारे साथ सज्जनता का उदार और मधुर व्यवहार करें जो हमारी प्रगति में सहायक हो और ऐसा कार्य न करें जिससे प्रसन्नता और सुविधा में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न हो। ठीक ऐसी ही आशा दूसरे लोग भी हम से करते हैं। जब हम ऐसा सोचते हैं कि अपने स्वार्थ की पूर्ति में कोई आँच न आने दी जाय और दूसरों से अनुचित लाभ उठा लें, तो वैसी ही आकांक्षा दूसरे भी हम से क्यों न करेंगे। लेने और देने के दो बाँट रखने में ही सारी गड़बड़ी पैदा होती है। यदि यही ठीक है कि हम किसी के सहायक न बनें, किसी के काम न आवें, किसी से उदारता, नम्रता और क्षमा की नीति न बरतें तो इसके लिए भी तैयार रहना चाहिए कि दूसरे लोग हमारे साथ वैसी ही धृष्टता बरतेंगे तो हम अपने मन में कुछ बुरा न मानेंगे।

जब हम रेल में चढ़ते हैं और दूसरे लोग पैर फैलाये बिस्तर जमाये बैठे होते हैं, तो हमें खड़ा रहना पड़ता है। उन लोगों से पैर समेट लेने और हमें भी बैठ जाने देने के लिए कहते हैं तो वे लड़ने लगते हैं। झंझट से बचने के लिए हम खड़े-खड़े अपनी यात्रा पूरी करते हैं और मन ही मन उस जगह पैरे बैठे लोगों की स्वार्थपरता और अनुदारता को कोसते हैं पर जब हमें जगह मिल जाती है। तो हम भी वैसा ही व्यवहार करते हैं। उसी तरह पैर फैला लेते हैं और नये यात्रियों के प्रति ठीक वैसे ही निठुर बन जाते हैं क्या यह दुहरा दृष्टिकोण उचित है? हमारी कन्या विवाह योग्य हो जाती है तो हम चाहते हैं कि लड़के वाले बिना दहेज के सज्जनोचित व्यवहार करते हुए विवाह सम्बन्ध स्वीकार करें, दहेज माँगने वालों को बहुत कोसते हैं पर जब अपना लड़का विवाह योग्य हो जाता है तो हम भी ठीक वैसी ही अनुदारता दिखाते हैं जैसी अपनी लड़की के विवाह अवसर पर दूसरों ने दिखाई थी। कोई हमारी चोरी, बेईमानी कर लेता है, ठग लेता है तो बुरा लगता है, पर प्रकारान्तर से वैसी ही नीति अपने कारोबार में हम भी बरतते हैं और तब उस चतुरता पर प्रसन्न होते और गर्व अनुभव करते हैं। यह दुमुँही नीति बरती जाती रही तो मानव-समाज में सुख-शान्ति कैसे कायम रह सकेगी?

कोई व्यक्ति अपनी जरूरत के वक्त कुछ उधार हमसे ले जाता है तो हम यही आशा करते है कि आड़े वक्त की इस सहायता को सामने वाला व्यक्ति कृतज्ञतापूर्वक याद रखेगा और जल्दी से जल्दी इस उधार को लौटा देगा। यदि वह वापिस देते वक्त आँखें बदलता है तो हमें कितना बुरा लगता है। यदि इसी बात को ध्यान में रखा जाय और किसी के उधार को लौटाने की अपनी आकांक्षा के अनुरूप ही ध्यान रखा जाय तो कितना अच्छा हो। हम किसी का उधार आवश्यकता से अधिक एक क्षण भी क्यों रोक रखें। हम दूसरों से यह आशा करते हैं कि वे जब भी कुछ कहें या उत्तर दें, नम्र, शिष्ट, मधुर और प्रेम भरी बातों से सहानुभूतिपूर्ण रुख के साथ बोलें। कोई कटुता, रुखाई, निष्ठुरता, उपेक्षा और अशिष्टता के साथ जबाव देता है तो अपने को बहुत दुःख होता है। यदि यह बात मन में समा जाय तो फिर हमारी वाणी में सदा शिष्टता और मधुरता ही क्यों न घुली रहेगी? अपने कष्ट के समय हमें दूसरों की सहायता विशेष रूप से अपेक्षित होती है इस बात को ध्यान में रखा जाय तो जब दूसरे लोग कष्ट में पड़े हों, उन्हें हमारी सहायता की अपेक्षा हो तब क्या यही उचित है कि हम निठुरता धारण कर लें? अपने बच्चों से हम यह आशा करते हैं कि बुढ़ापे में हमारी सेवा करेंगे, हमारे किये उपकारों का प्रतिफल कृतज्ञतापूर्वक चुकावेंगे। पर अपने बूढ़े माँ-बाप के प्रति हमारा व्यवहार बहुत ही उपेक्षापूर्ण रहता है। इस दुहरी नीति का क्या कभी कोई सत्परिणाम निकल सकता है।

हम चाहते हैं कि हमारी बहू-बेटियों को दूसरे लोग इज्जत करें, उन्हें अपनी बहिन-बेटी की निगाह से देखें फिर यह क्यों कर उचित होगा कि हम दूसरों की बहिन-बेटियों को दुष्टता भरी दृष्टि से देखे? अपने दुःख के समान ही दूसरों को जो समझेगा वह माँस कैसे खा सकेगा? दूसरों पर अन्याय और अत्याचार कैसे कर सकेगा? किसी की बेईमानी करने, किसी को तिरस्कृत, लांछित और जलील करने की बात कैसे सोचेगा? अपनी छोटी-मोटी भूलों के बारे में हम यही आशा करते हैं कि लोग उन पर बहुत ध्यान न देंगे, 'क्षमा करो और भूल जाओ' की नीति अपनावेंगे तो फिर हमें भी उतनी ही उदारता मन में क्यों नहीं रखनी चाहिए और कभी किसी से कोई दुर्व्यवहार अपने साथ बन पड़ा है तो उसे क्यों न भुला देना चाहिए।

अपने साथ हम दूसरों से जिस सज्जनतापूर्ण व्यवहार की आशा करते हैं उसी प्रकार की नीति हमें दूसरों के साथ अपनानी चाहिए। हो सकता है कि कुछ दुष्ट लोग हमारी सज्जनता के बदले में उसके अनुसार व्यवहार न करें। उदारता का लाभ उठाने वाले और स्वयं निठुरता धारण किये रहने वाले नर-पशुओं की इस दुनिया में कमी नहीं है। उदार और उपकारी पर ही घात चलाने वाले हर जगह भरे हैं। उनकी दुर्गति का अपने को शिकार न बनना पड़े, इसकी सावधानी तो रखनी चाहिए पर अपने कर्त्तव्य और सौजन्य को इसलिए नहीं छोड़ देना चाहिए कि उसके लिए सत्पात्र नहीं मिलते। बादल हर जगह वर्षा करते हैं, सूर्य और चन्द्रमा हर जगह अपना प्रकाश फैलाते हैं, पृथ्वी हर किसी का भार और मल-मूत्र उठाती है, फिर हमें भी वैसी ही महानता और उदारता का परिचय क्यों नहीं देना चाहिए?

उदार-प्रकृति के लोग कई बार चालाक लोगों द्वारा ठगे जाते हैं और उससे उन्हें घाटा ही रहता है, पर उनकी सज्जनता से प्रभावित होकर दूसरे लोग जितनी उनकी सहायता करते हैं उस लाभ के बदले में ठगे जाने का घाटा कम ही रहता है । सब मिलाकर ये लाभ में ही रहते हैं । इसी प्रकार स्वार्थी लोग किसी के काम नहीं आने से अपना कुछ हर्ज या हानि होने का अवसर नहीं आने देते, पर उनकी कोई सहायता नहीं करता तो वे उस लाभ से वंचित भी रहते हैं । ऐसी दशा में वह अनुदार चालाक व्यक्ति, उस उदार और भोले व्यक्ति की अपेक्षा घाटे में ही रहता है । दुहरे बाँट रखने वाले बेईमान दुकानदारों को कभी फलते-फूलते नहीं देखा गया । स्वयं खुदगर्जी और अशिष्टता बरतने वाले लोग जब दूसरों से सज्जनता और सहायता की आशा करते हैं तो ठीक दुहरे बाँट वाले बेईमान दुकानदार का अनुकरण करते हैं । ऐसा व्यवहार कभी किसी के लिए उन्नति और प्रसन्नता का कारण नहीं बन सकता ।

(१६) ईमानदारी और परिश्रम की कमाई ही ग्रहण करेंगे — युग-निर्माण सत्संकल्प में यह बलपूर्वक कहा गया है कि हम दूसरों से वैसा ही मधुर व्यवहार करें जैसा अपने लिए दूसरों से चाहते हैं । इस व्यवहार में ईमानदारी का स्थान सर्वोपरि है । चापलूस, ठग और खुशामदी लोग भी मीठी वाणी तो खूब बोल सकते हैं पर उनकी नीयत खराब होने से स्वार्थ-सिद्धि का प्रयोजन छिपा रहने से, मधुरता निन्दनीय ही बनकर रह जाती है । मधुरता की महत्ता तभी है जब उसके साथ ईमानदारी भी जुड़ी हुई हो । ईमानदारी और सद्भावना को सोना कहा जा सकता है, तो मधुरता, शिष्टता को सुगन्ध । सोने का मूल्य अधिक है सुगन्ध का कम । लोहे पर सुगन्ध लगा दी जाय तो उसकी उतनी प्रशंसा नहीं हो सकती । बेईमान, मधुरभाषी हों तो और भी अधिक खतरनाक होते हैं उन्हें पहचानना कठिन पड़ता है, इसलिए बहुधा उनसे अधिक धोखा खाया जाता है ।

ईमानदारी की कमाई औषधि रूप है जो थोड़ी खाई जाने पर भी बहुत गुण करती है । फिजूलखर्ची को छोड़कर यदि मितव्ययिता के साथ काम चलाया जाय तो कम आमदनी वाले लोग भी आनन्दपूर्वक हँसी-खुशी का जीवन व्यतीत कर सकते हैं । आमदनी बढ़ाने का प्रयत्न करना उचित है, जिससे जीवन विकास के लिए उचित साधन-सामग्री जुटाई जा सके और किन्हीं दूसरों का भी भला किया जा सके । धन बुरा नहीं, आवश्यक वस्तु है, अपनी क्षमता, योग्यता और श्रमशीलता के द्वारा कमाया जाता है और साथ ही उसे उपयोगी कार्यों में लगाया जाना भी आवश्यक है । धन निन्दनीय तभी होता है जब उसे अनीतिपूर्वक, कुमार्ग से कमाया जाय, व्यसनों और अपव्यय में बर्बाद किया जाय अथवा जोड़-जोड़कर जमा किया जाय ।

कई व्यक्ति लालच के मारे अधिक कमाने की लालसा में अनीति का रास्ता पकड़ लेते हैं और अवांछनीय रीति से, दूसरों को सताकर, बिना परिश्रम के, लोगों की मजबूरियों से अनुचित लाभ उठाकर बहुत धन कमाने लगते हैं । कई तो जुआ, सट्टा, चोरी, मुनाफाखोरी, रिश्वत, धोखेबाजी, कमतौल, कम नाप, मिलावट आदि के अनैतिक तरीकों को ही अपनी बुद्धिमानी का चिन्ह और जल्दी धनी बनने का तरीका मान बैठते हैं । ऐसे लोग दूसरों के भोलेपन और अज्ञान का अनुचित लाभ उठाकर कई बार जल्दी धनी भी बन जाते हैं पर वह धन देर तक ठहरता नहीं । उसकी बर्बादी ऐसी बुरी तरह होती है कि हृदय में पश्चाताप और सिर पर पाप की पोटली के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं रहता । किसी कुकर्मी को इस संसार में फलते-फूलते नहीं देखा गया । कुमार्ग से कमाया हुआ धन कुछ देर के लिए मन को प्रसन्नता दे सकता है पर अन्त में यह रुलाता हुआ ही विदा होता है । बिना परिश्रम किये मुफ्त में मिला हुआ धन भी बुराइयों को ही जन्म देता है । पैतृक उत्तराधिकार के रूप से जिन्हें बहुत सा धन अनायास ही मिल गया है वे अपने शील सदाचार को कदाचित् ही कभी स्थिर रख पाते हैं । उसमें अनायास ढेरों दुर्गुण उपज पड़ते हैं और वे ही अन्ततः उनके पतन का कारण बनते हैं ।

पोटेशियम सायनाइड विष खाने से तुरन्त मृत्यु हो जाती है और कुचला एवं संखिया खाने से प्राण निकलने में कुछ देर लगती है । बेईमानी की कमाई और मुफ्त में मिली दौलत में इतना ही अन्तर होता है जितना सायनाइड और कुचला या संखियां में दोनों ही हैं अखाद्य । और दोनों ही हानिकर भी । इसलिए हर आदमी को ध्यान रखना चाहिए कि वह ईमानदारी से कमाये और परिश्रम पूर्व उपार्जन करे । इस प्रकार यदि थोड़ा भी कमाया जा सके तो उसी से काम चला लेना चाहिए । जितनी अक्ल गलत तरीके में कमाने में खर्च की जाती है उतनी ही यदि खर्च घटाने, व्यवस्थित जीवन बनाने और श्रमशीलता एवं योग्यता बढ़ाने में खर्च की जाय तो निश्चय ही अपनी आर्थिक समस्या को हर कोई बड़ी आसानी से हल कर सकता है । ईमानदारी की कमाई से जो आत्म-सन्तोष रहता है उससे स्वास्थ्य की सुरक्षा, ईश्वरीय प्रकोप से निश्चिन्तता, हर दिशा में फलने-फूलने की सम्भावना बनी रहती है और हर भले आदमी की दृष्टि में अपना महत्त्व एवं गौरव बढ़ा-चढ़ा रहने से हर घड़ी आन्तरिक प्रफुल्लता बनी रहती है । आत्म-कल्याण और पारलौकिक सद्गति का भी यही मार्ग है । इस सन्मार्ग को अपनाना ही बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का चिन्ह माना जाता है ।

(१७) पत्नी व्रत धर्म और पतिव्रत धर्म का परिपूर्ण निष्ठा के साथ पालन करेंगे— नर का नारी के प्रति तथा नारी का नर के प्रति पवित्र दृष्टिकोण होना आत्मोन्नति एवं सामाजिक प्रगति, सुख-शान्ति के लिए

आवश्यक है । ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने वाले, अविवाहित नर-नारियों के लिए व्यवहार एवं चिन्तन में एक-दूसरे के प्रति पवित्रता का समावेश अनिवार्य है ही, किन्तु अन्यों को भी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । अपवित्र पाशविक दृष्टि रखकर कोई भी वर्ग, दूसरे वर्ग की श्रेष्ठता का न तो मूल्यांकन कर सकता है और न उनका लाभ उठा सकता है । इस हानि से बचने की अत्यधिक उपयोगी प्रेरणा इस वाक्य में दी गई है ।

'नारी इस संसार की सर्वोत्कृष्ट पवित्रता है ।' जननी के रूप में वह अगाध वात्सल्य लेकर इस धरती पर अवतीर्ण होती है । नारी के रूप में त्याग और बलिदान की, प्रेम और आत्मदान की सजीव प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित होती है । बहिन के रूप में स्नेह, उदारता और ममता की देवी जैसी परिलक्षित होती है । पुत्री के रूप में वह कोमलता, मृदुलता, निश्छलता की प्रतिकृति के रूप में इस नीरस संसार को सरस बनाती रहती है । परमात्मा ने नारी में सत्य, शिव और सुन्दर का अनन्त भण्डार भरा है । उसके नेत्रों में एक अलौकिक ज्योति रहती है, जिसकी कुछ किरणें पड़ने मात्र से निष्ठुर हृदयों की भी मुरझाई हुई कली खिल सकती है । दुर्बल, अपंग मानव को शक्तिमान और सत्ता सम्पन्न बनाने का सबसे बड़ा श्रेय यदि किसी को हो सकता है तो वह नारी का ही है । वह मूर्तिमान प्रेरणा, भावना और स्फूर्ति के रूप में अचेतन को चेतन बनाती है । उसके सान्निध्य में अकिंचन व्यक्ति का भाग्य मुखरित हो उठता है । वह अपने को कृत-कृत्य हुआ अनुभव करता है ।

नारी की महत्ता अग्नि के समान है । अग्नि हमारे जीवन का स्रोत है, उसके अभाव में हम निर्जीव और निष्प्राण बनकर ही रह सकते हैं । उसकी उपयोगिता की जितनी महिमा गाई जाय उतनी ही कम है, पर इस अग्नि का दूसरा पहलू भी है, वह स्पर्श करते ही काली नागिन की तरह लपलपाती हुई उठती है और छूते ही छटपटा देने वाली–भारी पीड़ा देने वाली परिस्थिति उत्पन्न कर देती है । नारी में जहाँ अनन्त गुण हैं वहाँ एक दोष ऐसा भी है जिसके स्पर्श करते ही असीम वेदना से छटपटाना पड़ता है । वह रूप है–नारी का रमणी रूप । रमण की आकांक्षा से जब भी उसे देखा, सोचा और छुआ जायेगा तभी वह काली नागिन की तरह अपने विष भरे दंत चुभो देगी । बिच्छू की बनावट कैसी अच्छी है, सुनहरे रंग का यह सुन्दर जीव कितना मनोहर लगता है पर उसके डंक को छूते ही विपत्ति खड़ी हो जाती है । मधुमक्खी कितनी उपकारी है । भौंरा कितना मधुर गूँजता है, कातर कैसे रंग-बिरंगे पैरों से चलती है, बर्र और ततैया अपने छत्तों में बैठे हुए कैसे सुन्दर गुलदस्ते से सजे दीखते हैं, पर इनमें से किसी का भी स्पर्श हमारे लिए विपत्ति का कारण बन जाता है । नारी के कामिनी और रमणी के रूप में जो एक विष की छोटी-सी पोटली छिपी हुई है उस सुनहरी कटार से हमें बचना ही चाहिए ।

अपने से बड़ी आयु की नारी को माता के रूप में, समान आयु वाली को बहिन के रूप में, छोटी को पुत्री के रूप में देखकर, उन्हीं भावनाओं का अधिकाधिक अभिवर्द्धन करके हम उतने ही आह्लादित और प्रमुदित हो सकते हैं जैसे माता सरस्वती, माता लक्ष्मी, माता दुर्गा के चरणों में बैठकर उनके अनन्त-वात्सल्य का अनुभव करते हैं । हम गायत्री उपासक भगवान की सर्वश्रेष्ठ सजीव रचना को नारी रूप में ही मानते हैं । नारी में भगवान की अनन्त करुणा, पवित्रता और सदाशयता का दर्शन करना हमारी भक्तिभावना का दार्शनिक आधार है । उपासना में ही नहीं, व्यावहारिक जीवन में भी हमारा दृष्टिकोण यही रहना चाहिए । नारी मात्र को हम पवित्र दृष्टि से देखें, वासना की दृष्टि से न सोचें, न उसे देखें, न उसे छुएँ ।

दाम्पत्य जीवन में सन्तानोत्पादन का विशेष प्रयोजन या अवसर आवश्यक हो तो पति-पत्नी कुछ क्षण के लिए वासना का एक हल्का धूप-छाँह अनुभव कर सकते हैं । शास्त्रों में तो इतनी भी छूट नहीं है, उन्होंने तो गर्भाधान संस्कार को भी यज्ञोपवीत या मुण्डन-संस्कार की भाँति एक पवित्र धर्मकृत्य माना है और इसी दृष्टि से उस क्रिया को सम्पन्न करने की आज्ञा दी है पर मानवीय दुर्बलता को देखते हुए दाम्पत्य जीवन में एक सीमित मर्यादा के अन्तर्गत वासना को छूट मिल सकती है । इसके अतिरिक्त दाम्पत्य जीवन भी ऐसा ही पवित्र होना चाहिए जैसा कि दो सहोदर भाइयों का या दो सगी बहिनों का होता है । विवाह का उद्देश्य दो शरीरों को एक आत्मा बनाकर जीवन की गाड़ी का भार दो कन्धों पर ढोते चलना है, दुष्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना नहीं । यह तो सिनेमा का, गन्दे चित्रों का, अश्लील साहित्य का और दुर्बुद्धि का प्रमाद है जो हमने नारी की परम पुनीत प्रतिमा को ऐसे अश्लील, गन्दे और गर्हित रूप में गिरा रखा है । नारी को वासना के उद्देश्य से सोचना या देखना, उसकी महानता का वैसा ही तिरस्कार करना है जैसे किसी देव मन्दिर की प्रतिमा को चुराकर, पत्थर को अपनी किसी आवश्यकता को पूर्ण करने की उद्देश्य से-देखना । यह दृष्टि जितनी निन्दनीय और घृणित है उतनी ही हानिकर और विग्रह उत्पन्न करने वाली भी है । हमें उस स्थिति को अपने भीतर से और सारे समाज से हटाना होगा और नारी को उस स्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित करना होगा जिसकी एक दृष्टि मात्र से मानव प्राणी धन्य होता रहा है ।

उपरोक्त पंक्तियों में नारी का जैसा चित्रण नर की दृष्टि से किया गया है, ठीक वैसा ही चित्रण कुछ शब्दों के हेर-फेर के साथ नारी की दृष्टि से नर के सम्बन्ध में किया जा सकता है । जननेन्द्रिय की बनावट में राई-रत्ती अन्तर होते हुए भी मनुष्य की दृष्टि से दोनों ही लगभग समान क्षमता, बुद्धि, भावना एवं स्थिति के बने हुए हैं । यह ठीक है कि दोनों में अपनी-अपनी विशेषताएँ और अपनी-अपनी न्यूनताएँ हैं, उनकी पूर्ति के लिए दोनों एक-दूसरे का आश्रय लेते हैं । पर आश्रय पति-पत्नी के रूप में केवल काम प्रयोजन के रूप में

हो, ऐसा किसी भी प्रकार आवश्यक नहीं। नारी के प्रति नर और नर के प्रति नारी पवित्र, पुनीत, कर्त्तव्य और स्नेह का सात्विक एवं स्वर्गीय सम्बन्ध रखते हुए भी माता, पुत्री या बहिन के रूप में सखा, सहोदर, स्वजन और आत्मीय के रूप में श्रेष्ठ सम्बन्ध रख सकते हैं, वैसा ही रखना भी चाहिए। पवित्रता में जो अजस्र बल है वह वासना के नारकीय कीचड़ में कभी भी दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। वासना और प्रेम दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे से उतने ही भिन्न हैं, जितनी स्वर्ग से नरक में भिन्नता है। व्यभिचार में द्वेष, ईर्ष्या, आधिपत्य, संकीर्णता, कामुकता, रूप-सौन्दर्य, शृंगार, कलह, निराशा, कुढ़न, पतन, ह्रास, निन्दा आदि अगणित यंत्रणाएँ भरी पड़ी हैं पर प्रेम इन सबसे सर्वथा मुक्त है। पवित्रता में त्याग, उदारता, शुभकामना, सहृदयता और शान्ति के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।

युग निर्माण संकल्प में, आत्मवत् सर्वभूतेषु की, परद्रव्येषु लोष्ठवत्, पर दारेषु मातृवत् की पवित्र भावनायें भरी पड़ी हैं, इन्हीं के आधार पर नवयुग का सृजन हो सकता है। इन्हीं का अवलम्बन लेकर इस दुनिया को स्वर्ग के रूप में परिणत करने का स्वप्न साकार हो सकता है।

(१८) मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है।

(१९) इस विश्वास के आधार पर हमारी मान्यता है कि हम उत्कृष्ट बनेंगे और दूसरों को श्रेष्ठ बनायेंगे, तो युग अवश्य बदलेगा।

(२०) हमारा युग निर्माण संकल्प अवश्य पूर्ण होगा–परिस्थितियों का हमारे जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। आस-पास का जैसा वातावरण होता है वैसा बनने और करने के लिए मनोभूमि का रुझान होता है और साधारण स्थिति के लोग उन परिस्थितियों के ढाँचे में ढल जाते हैं। घटनाएँ हमें प्रभावित करती हैं, व्यक्ति का प्रभाव अपने ऊपर पड़ता है। इतना होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि सबसे अधिक प्रभाव अपने विश्वासों का ही अपने ऊपर पड़ता है। परिस्थितियाँ किसी को तभी प्रभावित कर सकती हैं जब मनुष्य उनके आगे सिर झुका दे। यदि उनके दबाव को अस्वीकार कर दिया जाय तो फिर कोई परिस्थिति किसी मनुष्य को अपने दबाव में देर तक नहीं रख सकती। विश्वासों की तुलना में परिस्थितियों का प्रभाव निश्चय ही नगण्य है।

कहते हैं कि भाग्य की रचना ब्रह्माजी करते हैं, सुना जाता है कि कर्म-रेखाएँ जन्म से पहले ही माथे में लिख दी जाती हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि तकदीर के आगे तदवीर की नहीं चलती। यह किम्वदंतियाँ एक सीमा तक ही सच हो सकती हैं। जन्म से अन्धा, अपंग उत्पन्न हुए या अशक्त, अविकसित लोग ऐसी बात कहें, तो उस पर भरोसा किया जा सकता है। अप्रत्याशित दुर्घटना के शिकार कई बार हम हो जाते हैं और ऐसी विपत्ति सामने आ खड़ी होती है जिससे बच सकना या रोका जा सकना अपने वश में नहीं होता। अग्निकाण्ड, भूकम्प, युद्ध, महामारी, अकाल-मृत्यु, दुर्भिक्ष, रेल, मोटर आदि का पलट जाना, चोरी, डकैती आदि के कई अवसर ऐसे आ जाते हैं कि मनुष्य उनकी संभावना को न तो समझ पाता है और न रोकने में समर्थ हो पाता है। ऐसी कुछ घटनाओं के बारे में भाग्य या होतव्यता की बात मानकर सन्तोष किया जाता है। पीड़ित मनुष्य के आन्तरिक विक्षोभ को शान्त करने के लिए भाग्यवाद का सिद्धान्त एक वैसा ही उत्तम उपचार है जैसे घायल की तड़पन दूर करने के लिए डॉक्टर लोग नींद की गोली खिला देते हैं, मर्फिया का इन्जेक्शन लगा देते हैं या कोकिन आदि की फुरहरी लगाकर पीड़ित स्थान को सुन्न कर देते हैं। वह विशेष परिस्थितियों के विशेष उपचार हैं। यदा-कदा ही ऐसी बात होती है इसलिये इन्हें अपवाद ही कहा जायगा।

पुरुषार्थ एक नियम है और भाग्य उसका अपवाद। अपवादों का भी अस्तित्व तो मानना पड़ता है पर उनके आधार पर कोई नीति नहीं अपनाई जा सकती, कोई कार्यक्रम नहीं बनाया जा सकता। कभी-कभी स्त्रियों के पेट से मनुष्याकृति से भिन्न प्रकार के बच्चे जन्मते देखे गये हैं, कभी-कभी कोई पेड़ कुसमय में ही फल-फूल देने लगता है, कभी-कभी ग्रीष्म ऋतु में ओले बरस जाते हैं, यह अपवाद हैं। इन्हें कौतुक या कौतूहल की दृष्टि से देखा जा सकता है, पर इनको नियम नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार भाग्य की गणना अपवादों में तो हो सकती है पर यह नहीं माना जा सकता कि मानव जीवन की सारी गतिविधियाँ ही पूर्व निश्चित भाग्य विधान के अनुसार होती हैं। यदि ऐसा होता तो पुरुषार्थ और प्रयत्न की कोई आवश्यकता ही न रह जाती। जिसके भाग्य में जैसा होता है वैसा यदि अमिट ही है तो फिर पुरुषार्थ करने से भी अधिक क्या मिलता और पुरुषार्थ न करने पर भी भाग्य में लिखी सफलता अनायास ही क्यों न मिल जाती?

हर व्यक्ति अपने-अपने अभीष्ट उद्देश्यों के लिए पुरुषार्थ करने में संलग्न रहता है इससे प्रकट है, कि आत्मा का सुनिश्चित विश्वास पुरुषार्थ के ऊपर है और वह उसी की प्रेरणा निरन्तर प्रस्तुत करती रहती है। हमें जानना चाहिए कि ब्रह्माजी किसी का भाग्य नहीं लिखते, हर मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। जिस प्रकार कल का जमाया हुआ दूध आज दही बन जाता है, उसी प्रकार कल का पुरुषार्थ आज भाग्य बनकर प्रस्तुत होता है। आज के कर्मों का फल आज ही नहीं मिल जाता। उसका परिपाक होने में, परिणाम होने में, परिणाम निकलने में कुछ देर लगती है। यह देरी ही भाग्य कही जा सकती है। परमात्मा समदर्शी और न्यायकारी है, उसे अपने सब पुत्र समान रूप से प्रिय हैं फिर वह किसी का भाग्य अच्छा किसी का बुरा लिखने का अन्याय और पक्षपात क्यों करेगा? उसने अपने हर बालक को भले या बुरे कर्म करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की है पर साथ ही यह भी बता दिया है कि उनके

आवश्यक है । ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने वाले, अविवाहित नर-नारियों के लिए व्यवहार एवं चिन्तन में एक-दूसरे के प्रति पवित्रता का समावेश अनिवार्य है ही, किन्तु अन्यों को भी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । अपवित्र पाशविक दृष्टि रखकर कोई भी वर्ग, दूसरे वर्ग की श्रेष्ठता का न तो मूल्यांकन कर सकता है और न उनका लाभ उठा सकता है । इस हानि से बचने की अत्यधिक उपयोगी प्रेरणा इस वाक्य में दी गई है ।

'नारी इस संसार की सर्वोत्कृष्ट पवित्रता है ।' जननी के रूप में वह अगाध वात्सल्य लेकर इस धरती पर अवतीर्ण होती है । नारी के रूप में त्याग और बलिदान की, प्रेम और आत्मदान की सजीव प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित होती है । बहिन के रूप में स्नेह, उदारता और ममता की देवी जैसी परिलक्षित होती है । पुत्री के रूप में यह कोमलता, मृदुलता, निश्छलता की प्रतिकृति के रूप में इस नीरस संसार को सरस बनाती रहती है । परमात्मा ने नारी में सत्य, शिव और सुन्दर का अनन्त भण्डार भरा है । उसके नेत्रों में एक अलौकिक ज्योति रहती है, जिसकी कुछ किरणें पड़ने मात्र से निष्ठुर हृदयों की भी मुरझाई हुई कली खिल सकती है । दुर्बल, अपंग मानव को शक्तिमान और सत्ता सम्पन्न बनाने का सबसे बड़ा श्रेय यदि किसी को हो सकता है तो वह नारी का ही है । वह मूर्तिमान प्रेरणा, भावना और स्फूर्ति के रूप में अचेतन को चेतन बनाती है । उसके सान्निध्य में अकिंचन व्यक्ति का भाग्य मुखरित हो उठता है । वह अपने को कृत-कृत्य हुआ अनुभव करता है ।

नारी की महत्ता अग्नि के समान है । अग्नि हमारे जीवन का स्रोत है, उसके अभाव में हम निर्जीव और निष्प्राण बनकर ही रह सकते हैं । उसकी उपयोगिता की जितनी महिमा गाई जाय उतनी ही कम है, पर इस अग्नि का दूसरा पहलू भी है, वह स्पर्श करते ही काली नागिन की तरह लपलपाती हुई उठती है और छूते ही छटपटा देने वाली-भारी पीड़ा देने वाली परिस्थिति उत्पन्न कर देती है । नारी में जहाँ अनन्त गुण हैं वहाँ एक दोष ऐसा भी है जिसके स्पर्श करते ही असीम वेदना से छटपटाना पड़ता है । वह रूप है-नारी का रमणी रूप । रमण की आकांक्षा से जब भी उसे देखा, सोचा और छुआ जायेगा तभी वह काली नागिन की तरह अपने विष भरे दंत चुभो देगी । बिच्छू की बनावट कैसी अच्छी है, सुनहरे रंग का यह सुन्दर जीव कितना मनोहर लगता है पर उसके डंक को छूते ही विपत्ति खड़ी हो जाती है । मधुमक्खी कितनी उपकारी है । भौंरा कितना मधुर गूँजता है, कातर कैसे रंग-बिरंगे पैरों से चलती है, बर्र और ततैया अपने छत्तों में बैठे हुए कैसे सुन्दर गुलदस्ते से सजे दीखते हैं, पर इनमें से किसी का भी स्पर्श हमारे लिए विपत्ति का कारण बन जाता है । नारी के कामिनी और रमणी के रूप में जो एक विष की छोटी-सी पोटली छिपी हुई है उस सुनहरी कटार से हमें बचना ही चाहिए ।

अपने से बड़ी आयु की नारी को माता के रूप में, समान आयु वाली को बहिन के रूप में, छोटी को पुत्री के रूप में देखकर, उन्हीं भावनाओं का अधिकाधिक अभिवर्द्धन करके हम उतने ही आह्लादित और प्रमुदित हो सकते हैं जैसे माता सरस्वती, माता लक्ष्मी, माता दुर्गा के चरणों में बैठकर उनके अनन्त-वात्सल्य का अनुभव करते हैं । हम गायत्री उपासक भगवान की सर्वश्रेष्ठ सजीव रचना को नारी रूप में ही मानते हैं । नारी में भगवान की अनन्त करुणा, पवित्रता और सदाशयता का दर्शन करना हमारी भक्तिभावना का दार्शनिक आधार है । उपासना में ही नहीं, व्यावहारिक जीवन में भी हमारा दृष्टिकोण यही रहना चाहिए । नारी मात्र को हम पवित्र दृष्टि से देखें, वासना की दृष्टि से न सोचें, न उसे देखें, न उसे छुएँ ।

दाम्पत्य जीवन में सन्तानोत्पादन का विशेष प्रयोजन या अवसर आवश्यक हो तो पति-पत्नी कुछ क्षण के लिए वासना का एक हल्का धूप-छाँह अनुभव कर सकते हैं । शास्त्रों में तो इतनी भी छूट नहीं है, उन्होंने तो गर्भाधान संस्कार को भी यज्ञोपवीत या मुण्डन-संस्कार की भाँति एक पवित्र धर्मकृत्य माना है और इसी दृष्टि से उस क्रिया को सम्पन्न करने की आज्ञा दी है पर मानवीय दुर्बलता को देखते हुए दाम्पत्य जीवन में एक सीमित मर्यादा के अन्तर्गत वासना को छूट मिल सकती है । इसके अतिरिक्त दाम्पत्य जीवन भी ऐसा ही पवित्र होना चाहिए जैसा कि दो सहोदर भाइयों का या दो सगी बहिनों का होता है । विवाह का उद्देश्य दो शरीरों को एक आत्मा बनाकर जीवन की गाड़ी का भार दो कन्धों पर ढोते चलना है, दुष्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना नहीं । यह तो सिनेमा का, गन्दे चित्रों का, अश्लील साहित्य का और दुर्बुद्धि का प्रमाद है जो हमने नारी की परम पुनीत प्रतिमा को ऐसे अश्लील, गन्दे और गर्हित रूप में गिरा रखा है । नारी को वासना के उद्देश्य से सोचना या देखना, उसकी महानता का वैसा ही तिरस्कार करना है जैसे किसी देव मन्दिर की प्रतिमा को चुराकर, पत्थर को अपनी किसी आवश्यकता को पूर्ण करने के उद्देश्य से-देखना । यह दृष्टि जितनी निन्दनीय और घृणित है उतनी ही हानिकर और विग्रह उत्पन्न करने वाली भी है । हमें उस स्थिति को अपने भीतर से और सारे समाज से हटाना होगा और नारी को उस स्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित करना होगा जिसकी एक दृष्टि मात्र से मानव प्राणी धन्य होता रहा है ।

उपरोक्त पंक्तियों में नारी का जैसा चित्रण नर की दृष्टि से किया गया है, ठीक वैसा ही चित्रण कुछ शब्दों के हेर-फेर के साथ नारी की दृष्टि से नर के सम्बन्ध में किया जा सकता है । जननेन्द्रिय की बनावट में राई-रत्ती अन्तर होते हुए भी मनुष्य की दृष्टि से दोनों ही लगभग समान क्षमता, बुद्धि, भावना एवं स्थिति के बने हुए हैं । यह ठीक है कि दोनों में अपनी-अपनी विशेषताएँ और अपनी-अपनी न्यूनताएँ हैं, उनकी पूर्ति के लिए दोनों एक-दूसरे का आश्रय लेते हैं । यह आश्रय पति-पत्नी के रूप में केवल काम प्रयोजन के हेतु में

हो, ऐसा किसी भी प्रकार आवश्यक नहीं । नारी के प्रति नर और नर के प्रति नारी पवित्र, पुनीत, कर्त्तव्य और स्नेह का सात्विक एवं स्वर्गीय सम्बन्ध रखते हुए भी माता, पुत्री या बहिन के रूप में सखा, सहोदर, स्वजन और आत्मीय के रूप में श्रेष्ठ सम्बन्ध रख सकते हैं, वैसा ही रखना भी चाहिए । पवित्रता में जो अगस्त्य बल है वह वासना के नारकीय कीचड़ में कभी भी दृष्टिगोचर नहीं हो सकता । वासना और प्रेम दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे से उतने ही भिन्न हैं, जितनी स्वर्ग से नरक में भिन्नता है । व्यभिचार में द्वेष, ईर्ष्या, आधिपत्य, संकीर्णता, कामुकता, रूप-सौन्दर्य, शृंगार, कलह, निराशा, कुढ़न, पतन, ह्रास, निन्दा आदि अगणित यंत्रणाएँ भरी पड़ी हैं पर प्रेम इन सबसे सर्वथा मुक्त है । पवित्रता में त्याग, उदारता, शुभकामना, सहृदयता और शान्ति के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता ।

युग निर्माण संकल्प में, आत्मवत् सर्वभूतेषु की, परद्रव्येषु लोष्ठवत्, पर दारेषु मातृवत् की पवित्र भावनायें भरी पड़ी हैं, इन्हीं के आधार पर नवयुग का सृजन हो सकता है । इन्हीं का अवलम्बन लेकर इस दुनिया को स्वर्ग के रूप में परिणत करने का स्वप्न साकार हो सकता है ।

(१८) मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है ।

(१९) इस विश्वास के आधार पर हमारी मान्यता है कि हम उत्कृष्ट बनेंगे और दूसरों को श्रेष्ठ बनायेंगे, तो युग अवश्य बदलेगा ।

(२०) हमारा युग निर्माण संकल्प अवश्य पूर्ण होगा–परिस्थितियों का हमारे जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है । आस-पास का जैसा वातावरण होता है वैसा बनने और करने के लिए मनोभूमि का रुझान होता है और साधारण स्थिति के लोग उन परिस्थितियों के ढाँचे में ढल जाते हैं । घटनाएँ हमें प्रभावित करती हैं, व्यक्ति का प्रभाव अपने ऊपर पड़ता है । इतना होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि सबसे अधिक प्रभाव अपने विश्वासों का ही अपने ऊपर पड़ता है । परिस्थितियाँ किसी को तभी प्रभावित कर सकती हैं जब मनुष्य उनके आगे सिर झुका दे । यदि उनके दबाव को अस्वीकार कर दिया जाय तो फिर कोई परिस्थिति किसी मनुष्य को अपने दबाव में देर तक नहीं रख सकती । विश्वासों की तुलना में परिस्थितियों का प्रभाव निश्चय ही नगण्य है ।

कहते हैं कि भाग्य की रचना ब्रह्माजी करते हैं, सुना जाता है कि कर्म-रेखाएँ जन्म से पहले ही माथे में लिख दी जाती हैं । ऐसा भी कहा जाता है कि तकदीर के आगे तदबीर की नहीं चलती । यह किम्वदंतियाँ एक सीमा तक ही सच हो सकती हैं । जन्म से अन्धा, अपंग उत्पन्न हुए या अशक्त, अविकसित लोग ऐसी बात कहें, तो उस पर भरोसा किया जा सकता है । अप्रत्याशित दुर्घटना के शिकार कई बार हम हो जाते हैं और ऐसी विपत्ति सामने आ खड़ी होती है जिससे बच सकना या रोका जा सकना अपने वश में नहीं होता । अग्निकाण्ड, भूकम्प, युद्ध, महामारी, अकाल-मृत्यु, दुर्भिक्ष, रेल, मोटर आदि का पलट जाना, चोरी, डकैती आदि के कई अवसर ऐसे आ जाते हैं कि मनुष्य उनकी संभावना को न तो समझ पाता है और न रोकने में समर्थ हो पाता है । ऐसी कुछ घटनाओं के बारे में भाग्य या होतव्यता की बात मानकर सन्तोष किया जाता है । पीड़ित मनुष्य के आन्तरिक विक्षोभ को शान्त करने के लिए भाग्यवाद का सिद्धान्त एक वैसा ही उत्तम उपचार है जैसे घायल को तड़पन दूर करने के लिए डॉक्टर लोग नींद की गोली खिला देते हैं, मर्फिया का इन्जेक्शन लगा देते हैं या कोकिन आदि की फुरहरी लगाकर पीड़ित स्थान को सुन्न कर देते हैं । यह विशेष परिस्थितियों के विशेष उपचार हैं । यदा-कदा ही ऐसी बात होती है इसलिये इन्हें अपवाद ही कहा जायगा ।

पुरुषार्थ एक नियम है और भाग्य उसका अपवाद । अपवादों का भी अस्तित्व तो मानना पड़ता है पर उनके आधार पर कोई नीति नहीं अपनाई जा सकती, कोई कार्यक्रम नहीं बनाया जा सकता । कभी-कभी स्त्रियों के पेट से मनुष्याकृति से भिन्न प्रकार के बच्चे जन्मते देखे गये हैं, कभी-कभी कोई पेड़ कुसमय में ही फल-फूल देने लगता है, कभी-कभी ग्रीष्म ऋतु में ओले बरस जाते हैं, यह अपवाद हैं । इन्हें कौतुक या कौतूहल की दृष्टि से देखा जा सकता है, पर इनको नियम नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार भाग्य की गणना अपवादों में तो हो सकती है पर यह नहीं माना जा सकता कि मानव जीवन की सारी गतिविधियाँ ही पूर्व निश्चित भाग्य विधान के अनुसार होती हैं । यदि ऐसा होता तो पुरुषार्थ और प्रयत्न की कोई आवश्यकता ही न रह जाती । जिसके भाग्य में जैसा होता है वैसा यदि अमिट ही है तो फिर पुरुषार्थ करने से भी अधिक क्या मिलता और पुरुषार्थ न करने पर भी भाग्य में लिखी सफलता अनायास ही क्यों न मिल जाती ?

हर व्यक्ति अपने-अपने अभीष्ट उद्देश्यों के लिए पुरुषार्थ करने में संलग्न रहता है इससे प्रकट है, कि आत्मा का सुनिश्चित विश्वास पुरुषार्थ के ऊपर है और वह उसी की प्रेरणा निरन्तर प्रस्तुत करती रहती है । हमें जानना चाहिए कि ब्रह्माजी किसी का भाग्य नहीं लिखते, हर मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है । जिस प्रकार कल का जमाया हुआ दूध आज दही बन जाता है, उसी प्रकार कल का पुरुषार्थ आज भाग्य बनकर प्रस्तुत होता है । आज के कर्मों का फल आज ही नहीं मिल जाता । उसका परिपाक होने में, परिणाम होने में, परिणाम निकलने में कुछ देर लगती है । यह देरी ही भाग्य कही जा सकती है । परमात्मा समदर्शी और न्यायकारी है , उसे अपने सब पुत्र समान रूप से प्रिय हैं फिर वह किसी का भाग्य अच्छा किसी का बुरा लिखने का अन्याय और पक्षपात क्यों करेगा ? उसने अपने हर बालक को भले या बुरे कर्म करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की है पर साथ ही यह भी बता दिया है कि उनके

भले या बुरे परिणाम भी अवश्य प्राप्त होंगे । इस कर्म को ही यदि भाग्य कहें तो अत्युक्ति न होगी ।

हमारे जीवन में अगणित समस्याएँ उलझी हुई गुत्थियों के रूप में विकराल वेष धारण किये सामने खड़ी हैं । इस कटु सत्य को मानना ही चाहिए उनके उत्पादक हम स्वयं हैं और यदि इस तथ्य को स्वीकार करके अपनी आदतों, विचारधाराओं, मान्यताओं और गतिविधियों को सुधारने के लिए तैयार हों तो इन उलझनों को हम स्वयं ही सुलझा सकते हैं । बेचारे ग्रह–नक्षत्रों पर दोष थोपना बेकार है । लाखों-करोड़ों मील दूर दिन-रात चक्कर काटते हुए अपनी मौत के दिन पूरे करने वाले ग्रह–नक्षत्र भला हमें क्या सुख-सुविधा प्रदान करेंगे ? उनको छोड़कर और सच्चे ग्रहों का पूजन आरम्भ करें जिनकी थोड़ी-सी कृपा कोर से ही हमारा सारा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, सारी आकांक्षाएँ देखते-देखते पूर्ण हो सकती हैं ।

नव-दुर्गाओं की नव-रात्रियों में हम हर साल पूजा करते हैं कि वे अनेक ऋद्धि-सिद्धियाँ प्रदान करती हैं । सुख-सुविधाओं की उपलब्धि के लिए उनकी कृपा और सहायता पाने के लिए विविध साधन पूजन किये जाते हैं । जिस प्रकार देवलोकवासिनी नव दुर्गाएँ हैं उसी प्रकार भू-लोक में निवास करने वाली, हमारे अत्यन्त समीप-शरीर और मस्तिष्क में ही रहने वाली–नौ प्रत्यक्ष देवियाँ भी हैं और उनकी साधना का प्रत्यक्ष परिणाम भी मिलता है । देवलोकवासिनी देवियों के प्रसन्न होने और न होने की बात तो संदिग्ध हो सकती है पर शरीर-लोक में रहने वाली नौ देवियों की साधना का श्रम कभी भी व्यर्थ नहीं जा सकता । यदि थोड़ा भी प्रयत्न इनकी साधना के लिए किया जाय तो उसका भी समुचित लाभ मिल जाता है । हमारे मनःक्षेत्र में विचरण करने वाली इन नौ देवियों के नाम हैं:–

(१) आकांक्षा (२) विचारणा (३) भावना (४) श्रद्धा (५) प्रवृत्ति (६) निष्ठा (७) क्षमता (८) क्रिया व (९) मर्यादा । इनका संतुलित विकास करके मनुष्य अष्ट-सिद्धियों और नव-निद्धियों का स्वामी बन सकता है । संसार के प्रत्येक प्रगतिशील मनुष्य को जान या अनजान में इनकी साधना करनी ही पड़ी है और इन्हीं के अनुग्रह से उन्हें उन्नति के उच्च शिखर पर चढ़ने का अवसर मिला है ।

अपने को उत्कृष्ट बनाने का प्रयत्न किया जाय तो हमारे सम्पर्क में आने वाले दूसरे लोग भी श्रेष्ठ बन सकते हैं । आदर्श सदा कुछ ऊँचा रहता है और उसकी प्रतिकृति कुछ नीची रह जाती है । आदर्श का प्रतिष्ठापन करने वालों को सामान्य जनता के स्तर से सदा ऊँचा रहना पड़ा है । संसार को हम जितना अच्छा बनाना और देखना चाहते हैं उसकी अपेक्षा कहीं ऊँचा बनने का आदर्श उपस्थित करना पड़ेगा । उत्कृष्टता ही श्रेष्ठता उत्पन्न कर सकती है । परिपक्व शरीर की माता ही स्वस्थ बच्चे का प्रसव करती है । आदर्श पिता ही बनें तो सुसन्तति का सौभाग्य प्राप्त कर सकेंगे । यदि आदर्श पति हों तो ही पतिव्रता पत्नी की सेवा प्राप्त कर सकेंगे । शरीर की अपेक्षा छाया कुछ कुरूप ही रह जाती है । चेहरे की अपेक्षा फोटो में कुछ न्यूनता ही रहती है । हम अपने आपको जिस स्तर तक विकसित कर सके होंगे, हमारे समीपवर्ती लोग उससे प्रभावित होकर कुछ ऊपर तो उठेंगे, तो भी उसकी अपेक्षा कुछ नीचे रह जावेंगे । इसलिए हम दूसरों से जितनी सज्जनता और श्रेष्ठता की आशा करते हों, उसकी तुलना में अपने को कुछ अधिक ही ऊँचा प्रमाणित करना होगा । हमें हर चन्द यह याद रखे रहना होगा कि उत्कृष्टता के बिना श्रेष्ठता उत्पन्न नहीं हो सकती ।

लेखों और भाषणों का युग अब बीत गया । गाल बजाकर, लम्बी-चौड़ी डींग हाँककर या बड़े-बड़े कागज काले करके संसार के सुधार की आशा करना व्यर्थ है । इन साधनों से थोड़ी मदद मिल सकती है पर उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता । युग-निर्माण जैसे महान् कार्य के लिए तो यह साधन सर्वथा अपर्याप्त और अपूर्ण है । इसका प्रधान साधन वही हो सकता है कि हम अपना मानसिक स्तर ऊँचा उठाएँ, चरित्रात्मक दृष्टि से अपेक्षाकृत उत्कृष्ट बनें । अपने आचरण से ही दूसरों को प्रभावशाली शिक्षा दी जा सकती है । गणित, भूगोल, इतिहास आदि की शिक्षा में कहने-सुनने की प्रक्रिया से काम चल सकता है पर व्यक्ति निर्माण के लिए तो निखरे हुए व्यक्तित्वों की ही आवश्यकता पड़ेगी । उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सबसे पहले हमें स्वयं ही आगे आना पडेगा । हमारी उत्कृष्टता के संदर्भ में संसार की श्रेष्ठता अपने आप बढ़ने लगेगी । हम बदलेंगे तो युग भी जरूर बदलेगा और हमारा युग-निर्माण संकल्प भी अवश्य पूर्ण होगा ।

आज ऋषि-मुनि नहीं रहे जो अपने आदर्श-चरित्र द्वारा लोक-शिक्षण करके जन-साधारण के स्तर को ऊँचा उठाते थे । आज वे ब्राह्मण भी नहीं रहे जो अपने अगाध ज्ञान, वन्दनीय त्याग और प्रबल-पुरुषार्थ से जन-मानस की पतनोन्मुख पशु-प्रवृत्तियों को मोड़कर देवत्व की दिशा में पलट डालने का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर उठाते थे । वृक्षों के अभाव में एरंड का पेड़ ही वृक्ष कहलाता है । इस विचारधारा से जुड़े हुए विशाल परिवार–देव परिवार के परिजन अपने छोटे-छोटे व्यक्तित्वों को ही आदर्शवाद की दिशा में अग्रसर करें तो भी कुछ न कुछ प्रयोजन सिद्ध होगा, कम से कम एक अवरुद्ध द्वार तो खुलेगा ही । यदि हम मार्ग बनाने में अपनी छोटी-छोटी हस्तियों को जला दे तो कल आने वाले युग प्रवर्तकों की मंजिल आसान हो जायेगी । युग-निर्माण सत्संकल्प का शंखनाद करते हुए छोटे-छोटे लोग आगे बढ़ चलेंगे तो प्रसुप्त पड़ी हुई युगनिर्मात्री शक्तियों के जागरण की आवश्यकता अवश्य अनुभव होगी । राष्ट्र की प्रबुद्धता और चेतना को यदि चारित्रिक संस्थान के लिए हम जाग्रत कर सकें तो आज न सही कल, हमारा युग-निर्माण संकल्प पूर्ण होगा, पूर्ण होकर रहेगा ।

युग परिवर्तन की सुनिश्चितता पर विश्वास करना हवाई महल नहीं बल्कि तथ्यों पर आधारित एक सत्य है। परिस्थितियाँ कितनी ही विकट हों, जब सदाशयता सम्पन्न संकल्पशील व्यक्ति एकजुट होकर कार्य करते हैं तो स्थिति बदले बिना नहीं रहती। असुरता के आतंक से मुक्ति का पौराणिक आख्यान हो या जिनके शासन में सूर्य नहीं डूबता था उनके चंगुल से मुक्त होने का स्वतन्त्रता अभियान, नगण्य शक्ति से ही सही पर संकल्पशील व्यक्तियों का समुदाय उसके लिए युग-शक्ति के अवतरण का माध्यम बन ही जाता है। युग-निर्माण अभियान से परिचित व्यक्ति यह भली प्रकार समझने लगे हैं कि यह ईश्वर प्रेरित-प्रक्रिया है। इस संकल्प को अपनाने वाला ईश्वरीय संकल्प का भागीदार कहला सकता है। अस्तु, उसकी सफलता पर पूरी आस्था रखकर उसको जीवन में चरितार्थ करने कराने के लिए पूरी शक्ति झोंक देना सबसे बड़ी समझदारी सिद्ध होगी।

परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप में हमारा युग-निर्माण सत्संकल्प इस प्रकार है–

(१) हम ईश्वर को सर्वव्यापी, न्यायकारी मानकर उसके अनुशासन को अपने जीवन में उतारेंगे।

(२) शरीर को भगवान का मंदिर समझकर आत्म-संयम और नियमितता द्वारा आरोग्य की रक्षा करेंगे।

(३) मन को कुविचारों और दुर्भावनाओं से बचाए रखने के लिए स्वाध्याय एवं सत्संग की व्यवस्था रखे रहेंगे।

(४) इंद्रिय संयम, अर्थ-संयम, समय-संयम और विचार संयम का सतत् अभ्यास करेंगे।

(५) अपने आपको समाज का एक अभिन्न अंग मानेंगे और सबके हित में अपना हित समझेंगे।

(६) मर्यादाओं को पालेंगे, वर्जनाओं से बचेंगे, नागरिक कर्त्तव्यों का पालन करेंगे और समाज-निष्ठ बने रहेंगे।

(७) समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी को जीवन का एक अविच्छिन्न अंग मानेंगे।

(८) चारों ओर मधुरता, स्वच्छता, सादगी एवं सज्जनता का वातावरण उत्पन्न करेंगे।

(९) अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा नीति पर चलते हुए असफलता को शिरोधार्य करेंगे।

(१०) मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी उसकी सफलताओं, योग्यताओं एवं विभूतियों को नहीं, उसके सद्विचारों और सत्कर्मों को मानेंगे।

(११) दूसरों के साथ वह व्यवहार न करेंगे, जो हमें अपने लिए पसंद नहीं।

(१२) नर-नारी परस्पर पवित्र दृष्टि रखेंगे।

(१३) संसार में सत्प्रवृत्तियों के पुण्य-प्रसार के लिए अपने समय, प्रभाव, ज्ञान, पुरुषार्थ एवं धन का एक अंश नियमित रूप से लगाते रहेंगे।

(१४) परम्पराओं की तुलना में विवेक को महत्त्व देंगे।

(१५) सज्जनों को संगठित करने, अनीति से लोहा लेने और नवसृजन की गतिविधियों में पूरी रुचि लेंगे।

(१६) राष्ट्रीय एकता एवं समता के प्रति निष्ठावान रहेंगे। जाति, लिंग, भाषा, सम्प्रदाय आदि के कारण परस्पर कोई भेदभाव न बरतेंगे।

(१७) मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है–इस विश्वास के आधार हमारी मान्यता है कि हम उत्कृष्ट बनेंगे और दूसरों को श्रेष्ठ बनायेंगे, तो युग अवश्य बदलेगा।

(१८) 'हम बदलेंगे–युग बदलेगा,' हम सुधरेंगे–युग सुधरेगा' इस तथ्य पर हमारा पूर्ण विश्वास है।

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि यदि उपरोक्त संकल्पों को योजनाबद्ध तरीके से व्यापक रूप दिया जा सका तो हमारा युग-निर्माण का संकल्प अवश्य पूरा होकर रहेगा और यह कार्य उन वैज्ञानिकों से कई गुना अधिक उत्तम होगा जो निरन्तर अपनी बुद्धि को संहार में ही लगाये रहते हैं। हमारी युग निर्माण योजना इन दिनों रचनात्मक प्रयासों में निरत है। प्रामाणिक व्यक्तियों द्वारा, उचित साधनों द्वारा–दूरदर्शी कार्य-पद्धति के साथ सदुद्देश्य लेकर जो भी कार्य आरम्भ हुए हैं सदा सफल होते रहते हैं। विश्वास किया जाना चाहिए कि उपयोगी तथ्यों को ध्यान में रखकर चल रही युग-निर्माण योजना मानव में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण का स्वप्न साकार करके रहेगी।

* * *

युग निर्माण योजना के आदर्श और सिद्धान्त

युग निर्माण की शिक्षण प्रक्रिया

अपना देश हजार वर्ष की गुलामी से अभी-अभी छूटा है । इस लम्बी अवधि में उसे दयनीय उत्पीड़न में से गुजरना पड़ा है । यह दुर्दिन उसे अपनी हजार वर्ष से आरम्भ हुई बौद्धिक भ्रान्तियों, अनैतिक आकांक्षाओं और सामाजिक ढाँचे की अस्त-व्यस्तताओं के कारण सहना पड़ा अन्यथा इतने बड़े, इतने बहादुर, इतने साधन-सम्पन्न देश को मुट्ठी भर आक्रमणकारियों का इतने लम्बे समय तक उत्पीड़न न सहना पड़ता ।

सौभाग्य से राजनैतिक स्वतन्त्रता मिल गई । इससे अपने भाग्य को बनाने-बिगाड़ने का अधिकार हमें मिल गया । उपलब्धि तो यह भी बड़ी है, पर काम इतने से चलने वाला नहीं है । जिन कारणों से हमें वे दुर्दिन देखने पड़े, वे अभी भी ज्यों के त्यों मौजूद हैं । इन्हें हटाने के लिए प्रबल प्रयत्न करने की आवश्यकता है अन्यथा फिर कोई संकट बाहर या भीतर से खड़ा हो जायेगा और अपनी नई स्वाधीनता खतरे में पड़ जायेगी । व्यक्ति और समाज को दुर्बल करने वाली विकृतियों की ओर ध्यान देना ही पड़ेगा और जो अवांछनीय, अनुपयुक्त है, उसमें बहुत कुछ ऐसा है जिसको बदले बिना काम नहीं चल सकता । साथ ही उन तत्वों का अपनी रीति-नीति में समावेश करना पड़ेगा, जो प्रगति, शान्ति और समृद्धि के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं । इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए 'युग-निर्माण योजना' एक प्रकाश एवं प्रयत्न के रूप में प्रस्तुत हुई है ।

बहुत दिनों से अति प्रबल प्रयत्न करके देश के विचारशील, चरित्रवान और मानवीय भविष्य के निर्माण में अभिरुचि रखने वाले कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों की एक शृंखला बनाई गई है और लम्बे समय से उनके साथ सम्बन्ध, सम्पर्क साधकर इस योग्य बनाया गया है, जिससे वे भावनात्मक नव-निर्माण के विशालकाय अभियान में अपना समुचित योगदान दे सकें । इस समूह के द्वारा व्यक्ति निर्माण, परिवार-निर्माण, समाज-निर्माण के जो छुट-पुट प्रयत्न देर-सबेर होते चले आ रहे थे अब उन्हें संगठित और व्यवस्थित करके 'युग-निर्माण योजना' के अन्तर्गत एक नियोजित और क्रमबद्ध दिशा में काम करने के लिए अभिमुख किया गया है ।

भारतीय समाज की वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही योजना को वर्तमान स्वरूप दिया गया है । चूँकि कार्यकर्त्ताओं में से अधिकांश उसी समाज के हैं, इसलिए उनका प्रभाव और कार्यक्षेत्र बहुत करके उसी सीमा तक सीमित है । हिन्दू समाज की वर्तमान स्थिति और अभिरुचि को ध्यान में रखकर ही कार्यशैली का वह ढाँचा खड़ा किया गया है, जो सामने प्रस्तुत है । पर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि यह नई पद्धति उतने सीमित क्षेत्र तक ही सीमित रहेगी । अपने प्रबल प्रयत्न चल रहे हैं कि दूसरे समाज, देश, भाषा एवं संस्कृति के अनुरूप ऐसी ही योजनाएँ बनें । उनमें इस क्षेत्र की मनोदशा को देखकर जल्दी से जल्दी कार्यारम्भ किया जाए । आज की साधन-संकीर्णता में एक सार्वभौम आन्दोलन सिद्धान्ततः तो ठीक है पर व्यवहार में संभव नहीं । इसलिए अपने प्रयत्न यह हैं कि दिशा, योजना, लक्षण तो एक रहें पर क्षेत्रीय, वर्गीय भिन्नताओं के अनुरूप उसे अनेक भागों में, अनेक स्वरूपों में, अनेक कार्यक्रमों में विभाजित करके, विश्वव्यापी जन-समाज को एक धर्म, एक देश, एक जाति, एक आचार, एक भाषा के एकात्म लक्ष्य तक घसीट लाया जाएँ । सार्वभौम एकता एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श पुस्तकों तक सीमित रहने से आगे बढ़ाकर व्यवहार में उतारा जाए और उसी एकता के आधार पर बाह्य शरीर और आन्तरिक जीवन की सुख-शान्ति को उपलब्ध किया जाए । जिस प्रकार प्रस्तुत योजना हिन्दू-समाज, हिन्दू-दर्शन को लेकर निर्मित की गई है, ऐसी ही योजना हर वर्ग, हर देश, हर धर्म, हर समाज की स्थिति को ध्यान में रखकर जल्दी ही प्रस्तुत की जा रही है । उन्हें-उन्हीं वर्ग के व्यक्ति कार्यान्वित करने का मोर्चा सँभालेंगे ।

प्रस्तुत योजना का संचालन केन्द्र 'शांतिकुंज,' हरिद्वार है । साहित्य प्रकाशन वृन्दावन रोड पर अवस्थित मथुरा नगर के 'गायत्री तपोभूमि' नामक आश्रम से होता है । विचार क्रांति की दिशा में साहित्य निर्माण का अनुपम कार्य इसी केन्द्र से हुआ है । भारतीय समाज के प्रायः समस्त धर्म, ग्रन्थ-वेदों से लेकर पुराणों तक इसलिए अनुवादित और प्रकाशित किए गए हैं कि भारतीय संस्कृति प्रतिगामी नहीं, वरन् उसका प्रत्येक संदेश प्रगतिशील है । जो अन्ध परम्पराएँ और रूढ़ियाँ प्रचलित हैं वे अपने धर्म का अंग नहीं वरन् मध्यकालीन अंधकारमय युग की विकृतियाँ मात्र हैं । वर्तमान प्रतिगामिता का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं । यह सिद्ध करने में इस आर्य साहित्य के प्रकाशन ने हर आस्थावान को सोचने की एक नई दिशा दी है और आस्थाओं के पुनर्विचार का एक महत्त्वपूर्ण अवसर मिला है । इस पुरातन को फिर नवीन के रूप

जोड़ देने से संभवत: यह साहित्य-सृजन एक अद्‌भुत भूमिका प्रस्तुत करेगा।

साहित्य निर्माण का अपना वर्तमान क्रिया-कलाप छोटा होते हुए भी अति महत्त्वपूर्ण है। विज्ञान के आधार पर अध्यात्म के तथ्यों और सत्यों को प्रतिपादित करने वाली 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका ने नास्तिकों को आस्तिक और अविश्वासियों को विश्वासी बनाने में अद्‌भुत सफलता पाई है। बुद्धिजीवियों में आस्था उत्पन्न करने वाली अति उच्चकोटि की प्रामाणिक पाठ्य सामग्री प्रस्तुत करने वाली संभवत: यह संसार भर की एकमात्र पत्रिका है, जिसे पढ़कर लोग आश्चर्य करते हैं कि विज्ञान और अध्यात्म जैसे परस्पर विरोधी दीखने वाले तत्वों को एक दूसरे का समर्थक, पूरक सिद्ध करने का यह अद्‌भुत प्रयास कौन करता है–कैसे करता है ? इस असम्भव मानी जाने वाली बात को संभव बनाने का प्रयास 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका के रूप में जो भी देखता है, बहुत प्रसन्न और आशान्वित होता है।

'युग-निर्माण-योजना' ने व्यवहार में अध्यात्म को मिलाकर जीवन जीने की कला को एक सांगोपांग आचार पद्धति के रूप में उपस्थिति किया है। इसे संजीवनी विद्या भी कहते हैं। इस आचार और विचार के साम्याश्रित शास्त्र के सम्बन्ध में लगभग तीन हजार पुस्तकें छापी गयी हैं। इसी साहित्य में लगभग १०० जीवन चरित्र इस दृष्टि से छापे गए हैं कि उनसे पाठक को आत्मनिर्माण और समाज निर्माण की दिशा में सरलतापूर्वक प्रेरणा, प्रकाश और दिशा मिल सके। कविताओं और कहानियों की भी एक शृंखला इसी सीरीज में प्रकाशित की गई है।

नैतिक क्रांति, विचार क्रांति और समाज क्रांति की प्रेरणा को व्यापक रूप देने के लिए वितरण योग्य विज्ञप्तियाँ प्रकाशित करने की नई योजना बहुत ही लोकप्रिय सिद्ध हुई है। इनके अब तक हजारों संस्करण छप चुके हैं और लाखों की संख्या में हिन्दी भाषी जनता तक पहुँचाई गई हैं।

'युग-निर्माण-योजना' के सदस्यों के लिए बीस पैसा और दो घंटा नित्य ज्ञान यज्ञ के लिए लगाना पड़ता है। बीस पैसा रोज से वे अपने घर में 'ज्ञान मन्दिर पुस्तकालय' स्थापित करते हैं। इतने में उन्हें संस्था की 'अखण्ड-ज्योति' और 'युग निर्माण-योजना' पत्रिकाएँ तथा निरन्तर निकलने वाले ट्रैक्ट तथा वितरण की जाने वाली विज्ञप्तियाँ मिलती रहती हैं और उस घरेलू पुस्तकालय का विस्तार बराबर होता रहता है। इस साहित्य का स्वयं स्वाध्याय करने, अपने परिवार के सभी लोगों को पढ़ाना या सुनाना तथा अपने पड़ौस और परिचय क्षेत्र में उसे पढ़ने को देने तथा वापस लाने में दो घंटा रोज का समय लग जाता है। कितने ही सदस्य अपने साथ इस साहित्य को एक सुसज्जित झोले में लेकर निकलते हैं और जहाँ कहीं उनकी पहुँच होती है वहाँ तक उस युग परिवर्तनकारी साहित्य को पहुँचाते हैं। यह झोला पुस्तकालय हजारों की संख्या में चलते हैं और लाखों लोगों को नियमित रूप से भावनात्मक नव-निर्माण का प्रशिक्षण देते हैं।

'अखण्ड-ज्योति' एवं 'युग-निर्माण योजना' पत्रिका के माध्यम से इस विशाल परिवार द्वारा जो रचनात्मक कार्य हो रहे हैं, होने जा रहे हैं, हो चुके हैं, उनके स्वरूप एवं निष्कर्षों का ऐसा चित्रण किया जाता है कि इस सृजनात्मक अभियान में लगे हुए व्यक्तियों को प्रस्तुत मार्ग में आने वाली कठिनाइयों के समाधान एवं प्रयत्नों के परिणामों को पहले से ही ध्यान में रख सकना और उसके आधार पर अपने प्रयत्नों को अधिक सतर्कता और व्यवस्था के साथ उठा सकना सम्भव हो सके। आन्दोलन से सम्बन्धित सभी कार्यकर्त्ता एवं सहयोगी इस पत्रिका से बहुत प्रकाश और मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं तथा प्रवृत्तियों को अग्रगामी बनाने में बड़ी सहायता मिलती है। सृजनात्मक कार्यों में संलग्न व्यक्तियों के जीवन वृत्तान्तों का छापना और जनसाधारण को इस अनुगमन की प्रेरणा देना पत्रिका की अपनी अनोखी विशेषता है।

व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करके नव-निर्माण की विचारधारा को व्यापक बनाने के लिए सहस्रों व्यक्ति झोला पुस्तकालय चलाते हैं। उसका भी व्यवस्थित, संगठित एवं विकसित रूप 'चल-पुस्तकालयों' के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रयोजन के लिए विशेष रूप से बनाई गई ठेला गाड़ियों को प्रस्तुत साहित्य से भरकर संभ्रान्त कार्यकर्त्ता स्वयं निकालते हैं और गली-गली, घर-घर पढ़ाने तथा वापस लेने का क्रम चलाते हुए स्वयं बेचने का भी प्रबन्ध रखते हैं। प्रतिभाशाली समाजसेवियों द्वारा महत्ता समझाये जाने पर लोग बहुत कुछ खरीदते भी हैं और चाव से पढ़ते भी हैं। इस प्रकार यह चल पुस्तकालयों की ठेलागाड़ियाँ सफलतापूर्वक अपना प्रयोजन पूरा करती हैं।

योजना अति विस्तृत थी। देश के करोड़ों लोगों तक यह नवजागरण का संदेश पहुँचाया जाना था। छोटे आयोजन से काम चलने वाला न था। उनमें समय और शक्ति बहुत खर्च होती है, परिणाम कम निकलता है। अधिक प्रभावी सम्मेलन तो वे ही हो सकते हैं, जिनकी विशालता बढ़ी-चढ़ी हो। इस प्रक्रिया को समझाने के लिए 'युग निर्माण योजना' के देश भर में बिखरे पड़े कार्यकर्त्ताओं और सहयोगियों को आमंत्रित किया गया। दिसम्बर १९५८ में यह प्रथम सम्मेलन मथुरा में सहस्र कुण्डी गायत्री महायज्ञ के नाम से हुआ था। आगन्तुकों की संख्या ४ लाख थी। मथुरा से वृन्दावन तक का ७ मील का स्थान खचाखच भरा हुआ था। इतनी बड़ी उपस्थिति मथुरा के इतिहास में कभी नहीं हुई थी। सुदूर प्रदेशों में ऐसे अद्‌भुत आयोजन का समाचार मिला तो उसे देखने के लिए लोग बसों में दौड़े। सैकड़ों 'स्पेशल बसें' चल पड़ीं। रेलवे ने मथुरा के टिकट देना ही बन्द कर दिया।

उतने बड़े आयोजन की व्यय-व्यवस्था हमारे जैसे साधन हीन व्यक्ति के लिए जुटा सकना कठिन था। पर चूँकि आने वाले सभी इस परिवार के सदस्य और

युग निर्माण योजना के आदर्श और सिद्धान्त

युग निर्माण की शिक्षण प्रक्रिया

अपना देश हजार वर्ष की गुलामी से अभी-अभी छूटा है । इस लम्बी अवधि में उसे दयनीय उत्पीड़न में से गुजरना पड़ा है । यह दुर्दिन उसे अपनी हजार वर्ष से आरम्भ हुई बौद्धिक भ्रान्तियों, अनैतिक आकांक्षाओं और सामाजिक ढाँचे की अस्त-व्यस्तताओं के कारण सहना पड़ा अन्यथा इतने बड़े, इतने बहादुर, इतने साधन-सम्पन्न देश को मुट्ठी भर आक्रमणकारियों का इतने लम्बे समय तक उत्पीड़न न सहना पड़ता ।

सौभाग्य से राजनैतिक स्वतन्त्रता मिल गई । इससे अपने भाग्य को बनाने-बिगाड़ने का अधिकार हमें मिल गया । उपलब्धि तो यह भी बड़ी है, पर काम इतने से चलने वाला नहीं है । जिन कारणों से हमें वे दुर्दिन देखने पड़े, वे अभी भी ज्यों के त्यों मौजूद हैं । इन्हें हटाने के लिए प्रबल प्रयत्न करने की आवश्यकता है अन्यथा फिर कोई संकट बाहर या भीतर से खड़ा हो जायेगा और अपनी नई स्वाधीनता खतरे में पड़ जायेगी । व्यक्ति और समाज को दुर्बल करने वाली विकृतियों की ओर ध्यान देना ही पड़ेगा और जो अवांछनीय, अनुपयुक्त है, उसमें बहुत कुछ ऐसा है जिसको बदले बिना काम नहीं चल सकता । साथ ही उन तत्वों का अपनी रीति-नीति में समावेश करना पड़ेगा, जो प्रगति, शान्ति और समृद्धि के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं । इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए '*युग-निर्माण योजना*' एक प्रकाश एवं प्रयत्न के रूप में प्रस्तुत हुई है ।

बहुत दिनों से अति प्रबल प्रयत्न करके देश के विचारशील, चरित्रवान और मानवीय भविष्य के निर्माण में अभिरुचि रखने वाले कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों की एक शृंखला बनाई गई है और लम्बे समय से उनके साथ सम्बन्ध, सम्पर्क साधकर इस योग्य बनाया गया है, जिससे वे भावनात्मक नव-निर्माण के विशालकाय अभियान में अपना समुचित योगदान दे सकें । इस समूह के द्वारा व्यक्ति निर्माण, परिवार-निर्माण, समाज-निर्माण के जो छुट-पुट प्रयत्न देर-सबेर होते चले आ रहे थे अब उन्हे संगठित और व्यवस्थित करके 'युग-निर्माण योजना' के अन्तर्गत एक नियोजित और क्रमबद्ध दिशा में काम करने के लिए अभिमुख किया गया है ।

भारतीय समाज की वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही योजना को वर्तमान स्वरूप दिया गया है । चूँकि कार्यकर्त्ताओं में से अधिकांश उसी समाज के हैं, इसलिए उनका प्रभाव और कार्यक्षेत्र बहुत करके उसी सीमा तक सीमित है । हिन्दू समाज की वर्तमान स्थिति और अभिरुचि को ध्यान में रखकर ही कार्यशैली का वह ढाँचा खड़ा किया गया है, जो सामने प्रस्तुत है । पर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि यह नई पद्धति उतने सीमित क्षेत्र तक ही सीमित रहेगी । अपने प्रबल प्रयत्न चल रहे हैं कि दूसरे समाज, देश, भाषा एवं संस्कृति के अनुरूप ऐसी ही योजनाएँ बनें । उनमें इस क्षेत्र की मनोदशा को देखकर जल्दी से जल्दी कार्यारम्भ किया जाए । आज की साधन-संकीर्णता में एक सार्वभौम आन्दोलन सिद्धान्ततः तो ठीक है पर व्यवहार में संभव नहीं । इसलिए अपने प्रयत्न यह हैं कि दिशा, योजना, लक्षण तो एक रहें पर क्षेत्रीय, वर्गीय भिन्नताओं के अनुरूप उसे अनेक भागों में, अनेक स्वरूपों में, अनेक कार्यक्रमों में विभाजित करके, विश्वव्यापी जन-समाज को एक धर्म, एक देश, एक जाति, एक आचार, एक भाषा के एकात्म लक्ष्य तक घसीट लाया जाएँ । सार्वभौम एकता एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श पुस्तकों तक सीमित रहने से आगे बढ़ाकर व्यवहार में उतारा जाए और उसी एकता के आधार पर बाह्य शरीर और आन्तरिक जीवन की सुख-शान्ति को उपलब्ध किया जाए । जिस प्रकार प्रस्तुत योजना हिन्दू-समाज, हिन्दू-दर्शन को लेकर निर्मित की गई है, ऐसी ही योजना हर वर्ग, हर देश, हर धर्म, हर समाज की स्थिति को ध्यान में रखकर जल्दी ही प्रस्तुत की जा रही है । उन्हें-उन्हीं वर्ग के व्यक्ति कार्यान्वित करने का मोर्चा सँभालेंगे ।

प्रस्तुत योजना का संचालन केन्द्र '*शांतिकुंज*,' हरिद्वार है । साहित्य प्रकाशन वृन्दावन रोड पर अवस्थित मथुरा नगर के '*गायत्री तपोभूमि*' नामक आश्रम से होता है । विचार क्रांति की दिशा में साहित्य निर्माण का अनुपम कार्य इसी केन्द्र से हुआ है । भारतीय समाज के प्रायः समस्त धर्म, ग्रन्थ-वेदों से लेकर पुराणों तक इसलिए अनुवादित और प्रकाशित किए गए हैं कि भारतीय संस्कृति प्रतिगामी नहीं, वरन् उसका प्रत्येक संदेश प्रगतिशील है । जो अन्ध परम्पराएँ और रूढ़ियाँ प्रचलित हैं वे अपने धर्म का अंग नहीं वरन् मध्यकालीन अंधकारमय युग की विकृतियाँ मात्र हैं । वर्तमान प्रतिगामिता का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं । यह सिद्ध करने में इस आर्य साहित्य के प्रकाशन ने हर आस्थावान को सोचने की एक नई दिशा दी है और आस्थाओं के पुनर्विचार का एक महत्त्वपूर्ण अवसर मिला है । इस पुरातन को फिर नवीन के साथ

जोड़ देने से संभवतः यह साहित्य-सृजन एक अद्भुत भूमिका प्रस्तुत करेगा ।

साहित्य निर्माण का अपना वर्तमान क्रिया-कलाप छोटा होते हुए भी अति महत्त्वपूर्ण है । विज्ञान के आधार पर अध्यात्म के तथ्यों और सत्यों को प्रतिपादित करने वाली 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका ने नास्तिकों को आस्तिक और अविश्वासियों को विश्वासी बनाने में अद्भुत सफलता पाई है । बुद्धिजीवियों में आस्था उत्पन्न करने वाली अति उच्चकोटि की प्रामाणिक पाठ्य सामग्री प्रस्तुत करने वाली संभवतः यह संसार भर की एकमात्र पत्रिका है, जिसे पढ़कर लोग आश्चर्य करते हैं कि विज्ञान और अध्यात्म जैसे परस्पर विरोधी दीखने वाले तत्वों को एक दूसरे का समर्थक, पूरक सिद्ध करने का यह अद्भुत प्रयास कौन करता है-कैसे करता है ? इस असम्भव मानी जाने वाली बात को संभव बनाने का प्रयास 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका के रूप में जो भी देखता है, बहुत प्रसन्न और आशान्वित होता है ।

'युग-निर्माण-योजना' ने व्यवहार में अध्यात्म को मिलाकर जीवन जीने की कला को एक सांगोपांग आचार पद्धति के रूप में उपस्थिति किया है । इसे संजीवनी विद्या भी कहते हैं । इस आचार और विचार के साम्याश्रित शास्त्र के सम्बन्ध में लगभग तीन हजार पुस्तकें छापी गयी हैं । इसी साहित्य में लगभग १०० जीवन चरित्र इस दृष्टि से छापे गए हैं कि उनसे पाठक को आत्मनिर्माण और समाज निर्माण की दिशा में सरलतापूर्वक प्रेरणा, प्रकाश और दिशा मिल सके । कविताओं और कहानियों की भी एक शृंखला इसी सीरीज में प्रकाशित की गई है ।

नैतिक क्रांति, विचार क्रांति और समाज क्रांति को प्रेरणा को व्यापक रूप देने के लिए वितरण योग्य विज्ञप्तियाँ प्रकाशित करने की नई योजना बहुत ही लोकप्रिय सिद्ध हुई है । इनके अब तक हजारों संस्करण छप चुके हैं और लाखों की संख्या में हिन्दी भाषी जनता तक पहुँचाई गई हैं ।

'युग-निर्माण-योजना' के सदस्यों के लिए बीस पैसा और दो घंटा नित्य ज्ञान यज्ञ के लिए लगाना पड़ता है । बीस पैसा रोज से वे अपने घर में 'ज्ञान मन्दिर पुस्तकालय' स्थापित करते हैं । इतने में उन्हें संस्था की 'अखण्ड-ज्योति' और 'युग निर्माण-योजना' पत्रिकाएँ तथा निरन्तर निकलने वाले ट्रैक्ट तथा वितरण की जाने वाली विज्ञप्तियाँ मिलती रहती हैं और उस घरेलू पुस्तकालय का विस्तार बराबर होता रहता है । इस साहित्य का स्वयं स्वाध्याय करने, अपने परिवार के सभी लोगों को पढ़ाना या सुनाना तथा अपने पड़ौस और परिचय क्षेत्र में उसे पढ़ने को देने तथा वापस लाने में दो घंटा रोज का समय लग जाता है । कितने ही सदस्य अपने साथ इस साहित्य को एक सुसज्जित झोले में लेकर निकलते हैं और जहाँ कहीं उनकी पहुँच होती है वहाँ तक उस युग परिवर्तनकारी साहित्य को पहुँचाते हैं । यह झोला पुस्तकालय हजारों की संख्या में चलते हैं और लाखों लोगों को नियमित रूप से भावनात्मक नव-निर्माण का प्रशिक्षण देते हैं ।

'अखण्ड-ज्योति' एवं 'युग-निर्माण योजना' पत्रिका के माध्यम से इस विशाल परिवार द्वारा जो रचनात्मक कार्य हो रहे हैं, होने जा रहे हैं, हो चुके हैं, उनके स्वरूप एवं निष्कर्षों का ऐसा चित्रण किया जाता है कि इस सृजनात्मक अभियान में लगे हुए व्यक्तियों को प्रस्तुत मार्ग में आने वाली कठिनाइयों के समाधान एवं प्रयत्नों के परिणामों को पहले से ही ध्यान में रख सकना और उसके आधार पर अपने प्रयत्नों को अधिक सतर्कता और व्यवस्था के साथ उठा सकना सम्भव हो सके । आन्दोलन से सम्बन्धित सभी कार्यकर्त्ता एवं सहयोगी इस पत्रिका से बहुत प्रकाश और मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं तथा प्रवृत्तियों को अग्रगामी बनाने में बड़ी सहायता मिलती है । सृजनात्मक कार्यों में संलग्न व्यक्तियों के जीवन वृतान्तों का छापना और जनसाधारण को इस अनुगमन की प्रेरणा देना पत्रिका की अपनी अनोखी विशेषता है ।

व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करके नव-निर्माण की विचारधारा को व्यापक बनाने के लिए सहस्रों व्यक्ति झोला पुस्तकालय चलाते हैं । उसका भी व्यवस्थित, संगठित एवं विकसित रूप 'चल-पुस्तकालयों' के रूप में देखा जा सकता है । इस प्रयोजन के लिए विशेष रूप से बनाई गई ठेला गाड़ियों को प्रस्तुत साहित्य से भरकर संभ्रान्त कार्यकर्त्ता स्वयं निकालते हैं और गली-गली, घर-घर पढ़ाने तथा वापस लेने का क्रम चलाते हुए स्वयं बेचने का भी प्रबन्ध रखते हैं । प्रतिभाशाली समाजसेवियों द्वारा महत्ता समझाये जाने पर लोग बहुत कुछ खरीदते भी हैं और चाव से पढ़ते भी हैं । इस प्रकार यह चल पुस्तकालयों की ठेलागाड़ियाँ सफलतापूर्वक अपना प्रयोजन पूरा करती हैं ।

योजना अति विस्तृत थी । देश के करोड़ों लोगों तक यह नवजागरण का संदेश पहुँचाया जाना था । छोटे आयोजन से काम चलने वाला न था । उनमें समय और शक्ति बहुत खर्च होती है, परिणाम कम निकलता है । अधिक प्रभावी सम्मेलन तो वे ही हो सकते हैं, जिनकी विशालता बड़ी-चढ़ी हो । इस प्रक्रिया को समझाने के लिए 'युग निर्माण योजना' के देश भर में बिखरे पड़े कार्यकर्त्ताओं और सहयोगियों को आमंत्रित किया गया । दिसम्बर १९५८ में यह प्रथम सम्मेलन मथुरा में सहस्र कुण्डी गायत्री महायज्ञ के नाम से हुआ था । आगन्तुकों की संख्या ४ लाख थी । मथुरा से वृन्दावन तक का ७ मील का स्थान खचाखच भरा हुआ था । इतनी बड़ी उपस्थिति मथुरा के इतिहास में कभी नहीं हुई थी । सुदूर प्रदेशों में ऐसे अद्भुत आयोजन का समाचार मिला तो उसे देखने के लिए लोग बसों में दौड़े । सैकड़ों 'स्पेशल बसें' चल पड़ीं । रेलवे ने मथुरा के टिकट देना ही बन्द कर दिया ।

उतने बड़े आयोजन की व्यय-व्यवस्था हमारे जैसे साधन हीन व्यक्ति के लिए जुटा सकना कठिन था । पर चूँकि आने वाले सभी इस परिवार के सदस्य और

कार्यकर्ता थे, उन्हें वस्तुस्थिति मालूम थी, सो आटा-दाल साथ लेकर आये । सभी ने मिल-जुलकर पकाया-खाया और सफाई-व्यवस्था आदि में स्वयं सेवक बनकर काम किया । लाखों व्यक्तियों का भोजन और दस हजार स्वयं सेवकों को देखकर दर्शक आश्चर्य चकित रहते थे, पर जिन्हें जनता-जनार्दन के राई-राई सहयोग से कितने विशाल कार्य हो सकते हैं, यह तथ्य विदित था, उनने जन भावना को उभारने और संगठन शक्ति का चमत्कार ही इस आयोजन को माना । निःसन्देह इस युग का यह अनुपम और अद्वितीय आयोजन था । ठहरने, भोजन करने और आयोजनों में भाग लेने वाले ४ लाख थे, पर उनमें से एक लाख तो ऐसे थे जिन्हें कर्मठ कार्यकर्त्ता कहा जा सकता है और शेष को भाव भरे सहयोगी ।

इस विशाल जनसमूह ने यज्ञ-आहुतियों का धर्मानुष्ठान भर किया हो, उत्सव की व्यवस्था भर सम्हाली हो प्रवचन मात्र सुने हों, सो बात नहीं है । उसने नवनिर्माण को अग्रगामी बनाने के लिए गम्भीर विचार-विनिमय भी किया और निश्चय किया कि इस विचारधारा को जन-साधारण तक पहुँचाने के लिए प्रचार-अभियान तेज किया जाए । विवेकशीलता एवं आदर्शवादिता के प्रतीक गायत्री यज्ञों के साथ जुड़े '*युग निर्माण सम्मेलन*' देशभर में किये जाएँ । तदनुसार वह प्रक्रिया लगातार चल रही है । और हर वर्ष सैकड़ों आयोजन उपरोक्त स्तर के होते चले आ रहे हैं । भारत के प्रायः सभी क्षेत्रों में ऐसे आयोजन बड़ी सफलता के साथ हुए हैं और उनसे करोड़ों जनता ने इस आन्दोलन के स्वरूप को समझा है । यह प्रक्रिया निरन्तर बढ़ती ही जा रही है ।

संगठन प्रचार और साहित्य, इन दिनों कार्यक्रमों को लेकर हम लोग बिना प्रचार व प्रसार के ठोस रचनात्मक पद्धति से एक निर्धारित दिशा में निरन्तर बढ़ रहे हैं और अब इस स्थिति में हैं कि कुछ और भी अधिक प्रभावशाली कदम उठा सकें ।

व्यापक क्षेत्र में आन्दोलन को अग्रगामी बनाने में 'युग निर्माण योजना' का साहित्य इतना सहायक सिद्ध हुआ है कि अब उसे अन्य भाषाओं में छपाने की माँग का उपेक्षित किया जाना सम्भव नहीं रहा । स्वल्प साधन होते हुए भी किसी प्रकार प्रेस बढ़ाया गया है और हिन्दी के अतिरिक्त अब गुजराती, मराठी, उड़िया, अँग्रेजी, बंगला, पंजाबी, तमिल, तेलगू, मलयालम आदि में यह प्रकाशन आरम्भ कर दिया गया है । साथ ही अन्यान्य भाषाओं में प्रकाशित करने के लिए साधन जुटाये जा रहे हैं यदि ऐसा हो सका तो अब की अपेक्षा आन्दोलन की प्रगति एक हो वर्ष में दस गुनी दृष्टिगोचर होने लगेगी ।

व्यक्ति और समाज को नव-निर्माण के लिए जिस विचारणा, भावना एवं प्रवृत्ति की आवश्यकता है उसका क्रमबद्ध शिक्षण करने के लिए इन दिनों एक विशेष शिक्षा योजना बनी है और उसे तेजी से देशव्यापी बनाया जा रहा है । जर्मनी, इटली, रूस, चीन, जापान, क्यूबा, यूगोस्लाविया आदि देशों ने कुछ ही वर्षों में अपनी जनता की मनोदशा में तथा परिस्थितियों में कायाकल्प किया । उसका आधार शिक्षा पद्धति ही था जिसके आधार पर वहाँ के छात्रों एवं नागरिकों को एक विशेष पद्धति से सोचने की प्रेरणा मिली और वे व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलांजलि देकर राष्ट्र-रचना में अति उत्साहपूर्वक जुट गये । ऐसे परिवर्तन शिक्षा-पद्धति को प्रखर बनाये बिना सम्भव नहीं होते । अपने देश को स्वतन्त्र हुए ४९ वर्ष हो गये, पर इस सन्दर्भ में सरकार ने कोई उद्देश्यपूर्ण कदम नहीं उठाये । यों पढ़ाई-लिखाई का ढर्रा तो ज्यों-त्यों चल ही रहा है और उससे नौकरी ढूँढ़ने में व्याकुल फिरने वाले बेकारों की संख्या मात्र ही बढ़ रही है । जो हो, अब हमें अपनी शक्ति आलोचना की अपेक्षा, उस प्रयत्न में लगानी चाहिए जिससे उपरोक्त प्रयोजन की किसी हद तक पूर्ति हो सके ।

व्यक्ति के निर्माण और समाज के उत्थान में शिक्षा का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योगदान होता है । प्राचीनकाल की भारतीय गरिमा ऋषियों द्वारा संचालित गुरुकुल पद्धति के कारण ही ऊँची उठ सकी थी । पिछले दिनों भी जिन देशों ने अपना भला-बुरा निर्माण किया है उसमें शिक्षा को ही प्रधान साधन बनाया है । जर्मनी, इटली का नाजीवाद, रूस और चीन का साम्यवाद, जापान का उद्योगवाद, *यूगोस्लाविया, स्विटजरलैण्ड, क्यूबा आदि ने अपना विशेष* निर्माण इसी शताब्दी में किया है । यह सब वहाँ की शिक्षा प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने से ही संभव हुआ । व्यक्ति का बौद्धिक और चारित्रिक निर्माण बहुत करके उपलब्ध शिक्षा-प्रणाली पर निर्भर रहता है । व्यक्तियों का समूह ही समाज है जैसे व्यक्ति होंगे वैसा ही समाज बनेगा । किसी देश का उत्थान या पतन इस बात पर निर्भर रहता है कि उसके नागरिक किस स्तर के हैं और यह स्तर बहुत करके वहाँ की शिक्षा-पद्धति पर निर्भर रहता है ।

अपने देश की शिक्षा पद्धति कुछ अजीब है । यहाँ नौकरी भर कर सकने में समर्थ बाबू लोग ढाले जाते हैं । हर साल निकलने वाले इन लाखों छात्रों को नौकरी कहाँ मिले । वे बेकार घूमते हैं और लम्बी-चौड़ी जो महत्त्वाकांक्षायें सँजोकर रखी गई थीं, उनकी पूर्ति न होने पर संतुलन खो बैठते हैं और तरह-तरह के उपद्रव करते हैं । अपना शिक्षित वर्ग, अशिक्षितों की अपेक्षा देश के लिए अधिक सिर दर्द बनता जा रहा है । इसमें बहुत बड़ा दोष शिक्षा पद्धति का है, जिसमें चरित्र गठन, भावनात्मक उत्कर्ष, विवेक का तीखापन तथा आर्थिक स्वावलम्बन की दृष्टि से केवल खोखलापन ही दीखता है ।

सरकार का काम है कि वह राष्ट्र की आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार शिक्षा-पद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन करे । पर इन दिनों जो स्थिति है उसे देखते हुए निकट भविष्य में ऐसी आशा कम ही की जा सकती है । फिर क्या हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा जाये ? और जो कुछ चल रहा है उसे ही चलते रहने दिया जाये ? ऐसा उचित न होगा । हमें जनता के स्तर पर जन-सहयोग से ऐसी शिक्षा प्रणाली विकसित करनी चाहिए जो उपयुक्त

प्रयोजन को पूरा करने में कुछ महत्त्वपूर्ण योगदान कर सके। युग निर्माण योजना ने यही कदम उठाया है।

गायत्री तपोभूमि मथुरा में अवस्थित युग निर्माण योजना के अन्तर्गत पिछले कई वर्ष से एक युग निर्माण विद्यालय चल रहा है। इसका प्रधान विषय जीवन जीने की कला, चरित्र गठन, मनोबल, विवेक-जागरण, समाज निर्माण जैसे तथ्यों का साँगोपांग शिक्षण और अभ्यास कराना है। साथ ही गृह उद्योगों का एक शिक्षण भी जुड़ा रखा गया है, जिसमें कोई सुशिक्षित व्यक्ति अपने निर्वाह के उपयुक्त समुचित आजीविका उपार्जन कर सके। मजदूरों को कड़ा परिश्रम करके थोड़े पैसे कमाकर भी काम चलाने की आदत रहती है, पर जिनका रहन-सहन सभ्य समाज के उपयुक्त बन गया, उन प्रशिक्षितों से न तो उनका-सा कठिन शारीरिक श्रम हो पाता है और न कम पैसों में गुजर होती है। बेकारी का हल सार्वजनिक रीति से जापान ने निकाला है। वहाँ घर-घर में कुटीर-उद्योगों की विद्युत-संचालित छोटी मशीनें लगी हैं। अब बिजली बहुत सस्ती है, उसकी उपलब्धि सुलभ हो चली है। उसका उपयोग करके शारीरिक श्रम बचाया जा सकता है और उत्पादन भी अधिक होता है।

युग निर्माण विद्यालय में ऐसे ही उद्योगों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। बिजली की विभिन्न मशीनों की मरम्मत, रेडियो, ट्रांजिस्टरों का निर्माण, सुगन्धित तेल बनाना। प्रेस व्यवसाय के अन्तर्गत कम्पोज, छपाई, बाइन्डिग, रबड़ की मुहरें,व्यवस्था आदि प्रशिक्षणों का क्रम बहुत दिन से चल रहा था। यह शिक्षितों को स्वावलम्बन देने की दिशा में एक अति महत्वपूर्ण कदम है। इसके अतिरिक्त मुख्य विषय वही है, जिसके आधार पर जीवन जीने की कला, व्यक्तित्व का विकास, प्रतिभा, दूरदर्शिता, विवेकशीलता, चरित्र गठन, मनोबल, देशभक्ति, लोक- मंगल के लिए उमंग आदि सद्गुणों को सुविकसित किया जा सकता है।

विचार यह किया गया है कि व्यक्ति निर्माण तथा समाज निर्माण के लिए आज की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए एक प्रशिक्षण व्यवस्था की जाय जो प्रस्तुत समस्याओं का समाधान कर सकने में समर्थ हो। आज का व्यक्तित्व अगणित कुत्साओं और कुण्ठाओं से घिरा हुआ हेय से हेयतर स्थिति तक गिरता चला जा रहा है। लोगों की शिक्षा और सम्पदा बढ़ रही है पर वे व्यक्तित्व की दृष्टि से उलटे अध:पतित होते चले जा रहे हैं। समाज में सहयोग नहीं शोषण पनप रहा है। दिन-दिन अनैतिकता, अवांछनीयता, उच्छृंखलता, अदूरदर्शिता एवं असामाजिकता की विघटनकारी प्रवृतियाँ बढ़ती जा रही हैं और भीतर ही भीतर अपनी संघ शक्ति खोखली होती चली जा रही है। न इस सामाजिक स्थिति में व्यक्ति को उत्साह मिल रहा है और न व्यक्ति मिल-जुलकर समाज का स्तर उठा रहे हैं। विनाश और विघटन बढ़ रहा है और भविष्य का क्षितिज अंधकार से घिरता चला जाता है। इसको रोकने के लिए ऐसी तीव्र विचार-पद्धति का विकास आवश्यक है जो जन-मानस को झकझोर कर रख दे और विनाश की ओर बढ़ते कदमों को रोक कर उन्हें निर्माण की दशा में अग्रसर करे।

ऐसा शिक्षण, शिक्षण-संस्थाओं में भी चलना चाहिए। सरकार को ऐसे कदम उठाने चाहिए पर वर्तमान स्थिति में सरकार जिस दल-दल में फँसी है, उससे उबरना ही उसे कठिन पड़ रहा है। ऐसे मौलिक सूझ-बूझ के साहस भरे कदम उठाने की फिलहाल तो उससे आशा नहीं करनी चाहिए। यह कार्य जन-स्तर पर आरम्भ किया जाए तो भी उसमें कुछ प्रगति हो सकती है। आरम्भ यदि सही दिशा में किया जाए और उसका स्वरूप छोटा हो तो भी अपनी उपयोगिता के कारण उसके आगे बढ़ने की बहुत सम्भावना रहेगी। युग निर्माण योजना ने ऐसा ही साहस किया है।

सबसे पहला काम इस शिक्षा की उपयोगिता, आवश्यकता जन-साधारण को समझाने की है। विकृत विचारधारा के फलस्वरूप उत्पन्न हुई विभीषिकाओं का चित्रण यदि उनके सामने स्पष्ट किया जा सके और यह बताया जा सके कि विचार पद्धति के परिष्कार द्वारा उत्पन्न होने वाली सत्प्रवृत्तियों का लाभ व्यक्ति और समाज को कितनी सुख-शान्ति प्रदान कर सकता है—तो लोग निश्चित रूप से इस प्रशिक्षण का लाभ प्राप्त करना स्वीकार करेंगे। कठिनाई केवल एक ही है कि अपने देश में लोग सम्पदा का महत्व समझ पाये हैं और सुविधाओं तथा उपभोगों को ही सुख-साधन मानते हैं, अतः उन्हें ही महत्त्व देते हैं और प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। अभी अपने देशवासियों को यह विदित नहीं हो सका कि मनुष्य की मूल-शक्ति उसकी विचारणा ही है। वही हमारी भौतिक एवं आत्मिक, वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक सुख-शान्ति एवं प्रगति का आधार है। यह तथ्य समझ में आया होता तो निश्चय ही विचार निर्माण की दिशा में कहीं कुछ प्रयत्न हो रहे होते। यह क्षेत्र सूना पड़ा होने से यही प्रतीत होता है कि हम सब मानवीय समर्थता और प्रगति के मूल आधार से अपरिचित हैं। कुछ इस प्रकार का कार्य हो भी रहा है तो वह इतना उलटा और अवांछनीय है कि उससे लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक है। लेखनी और वाणी की शक्ति आज जिन विचारों का सृजन करने में लगी है उन्हें, रचनात्मक नहीं ध्वंसात्मक ही कह सकते हैं। आवश्यकता सृजनात्मक परिष्कृत विचारों की थी उस क्षेत्र में सन्नाटा पड़ा है।

अपना प्रशिक्षण यहीं से आरम्भ होगा। जन सम्पर्क के लिए घर-घर जाकर मिलने से लेकर गोष्ठी, सम्मेलन, भाषण, प्रचार आदि के जो भी तरीके काम में लाये जाने सम्भव हों उन्हें अपनाकर लोगों को परिष्कृत विचारधारा का महत्त्व और लाभ समझाना पड़ेगा। यह बतलाना पड़ेगा कि अपनी पाठशालाएँ इसी प्रयोजन को पूरा कर शिक्षार्थी की तथा समस्त समाज की कितनी बड़ी सेवा कर सकती हैं। यह सब जितनी अच्छी तरह, जितने व्यापक

क्षेत्र में, जितनी गहराई तक समझाया जा सकेगा, उतने ही अधिक शिक्षार्थी मिलने लगेंगे ।

अपने प्रशिक्षण में शिक्षित-अशिक्षित दोनों का समान महत्त्व है । क्योंकि विवेकशीलता एवं दूरदर्शिता के क्षेत्र में दोनों ही समान रूप से पिछड़े हुए हैं । अशिक्षितों का पिछड़ापन किसी कोण में है और शिक्षितों का किसी कोण में यह हो सकता है, पर सब मिलाकर दोनों का पिछड़ापन लगभग समान वजन का बैठेगा । इसलिए अपने विद्यालयों में दोनों का ही प्रवेश समान रूप से हो सकता है । नर-नारी का भी अन्तर नहीं किया जाना चाहिए । १३-१४ वर्ष से अधिक आयु के बालक जो विचार-विद्या में व्यक्ति और समाज का सन्दर्भ समझ सकने में समर्थ हो गये हैं, प्रसन्नतापूर्वक इस शिक्षा में सम्मिलित हो सकते हैं । शिक्षित पाठ्य-पुस्तकें पढ़कर अपनी जानकारी अधिक सरलतापूर्वक बढ़ा सकते हैं, जबकि अशिक्षितों को इसे सुनकर समझना पड़ेगा । इतनी कठिनाई के अतिरिक्त और कोई विशेष अन्तर पड़ने वाला नहीं है । जिसकी समझ ही काम न करे, उसकी बात दूसरी है, अन्यथा यह शिक्षण हर वयस्क के लिए ग्राह्य एवं उपयोगी हो सकता है ।

अपनी अभिनव शिक्षा-योजना इसी प्रयोजन के लिए अग्रसर हो रही है । युग निर्माण शाखाओं में से प्रत्येक को एक रात्रि पाठशाला चलानी पड़ रही है जिसमें सुकरात और अरस्तु की प्रश्नोत्तर पद्धति से व्यक्तिगत जीवन के उत्कर्ष तथा समाज के नव-निर्माण सम्बन्धी समस्त विचारणीय प्रश्नों का स्वरूप और समाधान समझाया जाता है । पूरे समय के विद्यालय ऐसे खोले जा रहे हैं जिनमें आधा समय व्यक्ति और समाज निर्माण सम्बन्धी विभिन्न पक्षों को हृदयंगम कराने में लगाया जायेगा और आधे समय में वे शिल्प उद्योग सिखाये जायेंगे जिन्हें सुशिक्षित लोग भी बिना झिझक के अपना सकें और सभ्य परिवार का खर्च चला सकने योग्य आजीविका कमा सकें । जापान ने विद्युत संचालित छोटी-छोटी मशीनें हर घर में लगाकर उनके उपयोग की शिक्षा देकर अपने देश को समृद्ध बनाया । वहाँ एक भी वयस्क नर-नारी बेकार नहीं पाया जाता । बचे हुए समय में सभी कुछ न कुछ कमाते हैं और उपार्जन से सुख-सुविधाओं का जीवन जीते हैं । अपने देश में भी सुशिक्षितों की बढ़ती हुई बेकारी का यही हल हो सकता है । युग निर्माण विद्यालय, इसी प्रयोजन के लिए खोला गया है और आशा की गई है कि उस प्रशिक्षण को पाकर ऐसे स्वावलम्बी लोकसेवक तैयार होंगे जो न केवल अपनी समस्याएँ हल करें वरन् अपने क्षेत्र में ऐसे ही विद्यालय चलाकर राष्ट्र की भौतिक एवं आर्थिक प्रगति का पथ प्रशस्त करने में महत्त्वपूर्ण योगदान करें ।

इस विद्यालय से निकले छात्रों ने जिस जीवट के साथ नव-निर्माण का कार्य हाथ में लिया है उसे देखते हुए लगता है तपोभूमि में चल रहा यह प्रशिक्षण राष्ट्र के भविष्य निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादित करेगा । निकट भविष्य में इसी विद्यालय के अन्तर्गत एक ऐसा विभाग बनने जा रहा है जो उपर्युक्त प्रशिक्षण के लिए अध्यापन कार्य करने को उत्सुक व्यक्तियों को कुछ समय की विशेष शिक्षण-पद्धति से ट्रेनिंग देकर इस योग्य बना देगा कि वे अपने क्षेत्रों में रात्रि पाठशालाओं के रूप में पूरे विद्यालय चलाने के रूप में अभिनव शिक्षा पद्धति अपनाकर समाज को नई दिशा देने में समर्थ हो सकें ।

ज्ञान यज्ञ और अभिनव शिक्षा योजना के अतिरिक्त तीन चरण हमारी कार्यपद्धति में और जुड़े हुए हैं, जिन्हें अब अधिक व्यवस्थित रूप में आगे बढ़ाया जायेगा । कला के माध्यम से हम स्वस्थ मनोरंजन के साथ जन-जागरण का प्रयोजन कैसे पूरा करेंगे ? इसका एक चरण तो यह है कि चलती-फिरती प्रदर्शिनियों की एक बड़ी योजना बनाकर जगह-जगह लोगों को, व्यक्ति और समाज की उलझी हुई समस्याओं के समाधान सुझाये जायेंगे । चित्रावलियों की सीरिज प्रकाशित हो रही है, कुछ खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं, जो हाथों-हाथ दिखाये, सुनाये, समझाये जा सकते हैं, सम्मेलनों के साथ तथा अलग से चित्र प्रदर्शनियाँ कुशल प्रदर्शकों द्वारा प्रतिभाशाली ढंग से समझाये जाने के कारण आशाजनक प्रभाव दर्शकों के मन पर छोड़ेंगे । प्रकाश चित्र दिखाने की एक अलग योजना है । बिजली से या बैटरी से चल सकने लायक इस प्रयोजन के लिए यन्त्र खरीदे और बनवाये जा रहे हैं । तस्वीरों को सिनेमा की तरह बड़े पर्दे पर प्रकाश चित्र के रूप में प्रस्तुत करने वाली स्लाइडें भी अपने प्रयोजन के प्रकाश चित्र दिखा सकती हैं । एक कार्यकर्ता इन यन्त्रों की सहायता से गाँव-गाँव घूमकर वर्ष भर में लोगों को प्रेरणा दे सकता है । शाखाओं के द्वारा एक हजार कार्यकर्त्ता यदि पूरे समय के लिए या यथावसर काम करने के लिए जुटाये जा सकें तो इतना बड़ा परिणाम होगा जिसकी कल्पना करना भी कठिन है । नौकरी के लिए बेगार भुगतने वाले कर्मचारियों की बात दूसरी है, पर दर्द मन्द लोग जिस कार्य को हाथ में लेते हैं उसमें तन्मय ही दिखाई पड़ते हैं और तन-बदन की सुधि भूलकर कमर कस लेते हैं । जहाँ ऐसा उत्साह उमड़ रहा है वहाँ बात-चीत से भी भारी हलचल पैदा की जा सकती है । फिर जहाँ इस प्रकार के चित्र साधन पास हों तो सोना और सुगन्ध वाली बात बनेगी । फिल्म हम बना नहीं सकते, सिनेमा को उखाड़ नहीं सकते, पर इतना तो कर ही सकते हैं कि चित्र आकर्षण की जन-पिपासा को स्वस्थ मनोरंजन के साथ रचनात्मक दिशा में मोड़ सकें ।

जन-जागरण के लिए कला का प्रयोग करने की शृंखला में क्रान्तिकारी नाटकों की भी एक दिशा है । अभी रामलीला, रासलीला, धनुषयज्ञ आदि आयोजन पुराने ढर्रे पर ही जीवित हैं । यदि इन्हें आधुनिक ज्ञान, कला और सुसज्जा के साथ जोड़ा जाये तो लोक-आकर्षण घटता ही जाता है, जहाँ उपयोगिता गिरेगी वहाँ उपेक्षा बढ़ेगी । कोई और सस्ता मनोरंजन होने से जो कुछ सामने आता है उसे ही देखने लोग चले जाते हैं पर जब कला और आदर्श का सम्मिश्रण एक उपयोगी दिशा देगा तो कोई कारण नहीं कि

उसे मान्यता न मिले । विचार यह है कि संगीत, वाद्य, अभिनय, नृत्य, नाटक का परिष्कृत कला-मंच खड़ा किया जाये । उसके अनेक मण्डल, अनेक भाषाओं में तैयार करके विभिन्न प्रदेशों में भेजे जायें और विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार की जाये । इस प्रयोजन के लिए शांतिकुंज, हरिद्वार में एक कला विभाग अलग से बन रहा है, जहाँ उपरोक्त सभी प्रशिक्षणों की व्यवस्था रहेगी और उसमें शिक्षार्थी आकर इस सेवा-साधना के लिए आवश्यक शिक्षा प्राप्त करके प्रयोजन को पूरा करेगा । कुछ मण्डलियाँ यहाँ भी रहेंगी और बनेंगी । शेष जगह-जगह बनें और चलें- अपने क्षेत्रों में ऐसी सुविधा उत्पन्न की जायेगी । इस विशाल देश की ९० करोड़ जनता को प्रशिक्षित करने के लिए ऐसे हजारों कला-मण्डल काम करने लगें तो भी कम है । यह शुरूआत इस मंच का अति व्यापक विस्तार करने और प्रशिक्षण की सुविधा जुटाने की दृष्टि से ही की गयी है ।

इस सन्दर्भ में वीडियो, टेप के उत्पादन की योजना भी हाथ में ली गई है, जिन्हें उत्सव आयोजनों के विशेष अवसर पर भीड़-भाड़ के सार्वजनिक स्थानों पर नित्य उपयुक्त समय पर दिखाया-सुनाया जा सकता है, प्रातःकाल के शान्त वातावरण में किसी ऊँचे स्थान पर चोंगे लगा दिये जायें तो सारे नगर को नवयुग का सन्देश सुनने को मिल सकता है । रेडियो स्टेशन स्वीकार कर लें तो वे भी इन वीडियो रिकॉर्डों को बजाकर जनता की बड़ी सेवा कर सकते हैं । रिकॉर्डों का यह उत्पादन आरम्भ भी कर दिया गया है और योजना है कि अगले दिनों एक से एक अधिक प्रेरणा भरे गायन सुमधुर कण्ठों से गाये जाकर हजारों रिकार्डों द्वारा जाग्रति का सन्देश सुनाये जाने का कार्यक्रम पूरा करने लग जायें ।

हमारे साधन अत्यन्त स्वल्प हैं पर हिम्मत, जन-सहयोग और ईश्वर का भरोसा रखकर सदुद्देश्य से जो कदम उठ रहे हैं वे किसी न किसी प्रकार पूरे होंगे ही साधन कहीं से जुटेंगे ही यह विश्वास रखा गया है । आश्चर्य है कि यह विश्वास किसी प्रकार कार्यान्वित और सफल होता ही चला जा रहा है । यह परिणाम इस बात की पुष्टि करता है कि सूर्य और चन्द्रमा का सहयोग न होने पर भी अमावस की रात को दीपावली पर्व में बदल दिया गया था । इसी प्रकार हम छोटे व्यक्तित्व, बड़े लोगों के उपहास पात्र बनकर भी कुछ कहने लायक काम कर सकेंगे ।

रचनात्मक कार्यों को देश के हर नागरिक को जुटा देने की अपनी शतसूत्री योजना बहुत ही लोकप्रिय होती चली जा रही है । रात्रि-पाठशालाएँ, प्रौढ़-पाठशालायें, कोचिंग स्कूल, उद्योगशालाएँ, सहकारी समितियाँ, सेवा समितियाँ, सुरक्षा-दल, पुस्तकालय, व्यायामशालाएँ, खेल-कूद प्रतियोगिताएँ, सत्कर्मों का अभिनन्दन पर्व और त्यौहारों के उत्सव, फूल और वृक्षों की अभिवृद्धि, स्वच्छता, गौ-संरक्षण, श्रमदान, कीर्तन, विचारगोष्ठियाँ, क्लब आदि अनेक रचनात्मक प्रवृत्तियों से देश के हर नागरिक को किसी न किसी प्रकार अपनी स्थिति और क्षमता के अनुरूप राष्ट्र निर्माण के कार्यों में लगने की प्रेरणा दी जा रही है । जब हर व्यक्ति इस प्रकार के लोक-मंगल के कामों में भाग लेना आवश्यक कर्त्तव्य समझेगा तभी नव-निर्माण के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी । इस दृष्टि से यह रचनात्मक कार्य आन्दोलन दूरगामी परिणाम ही उत्पन्न करेगा ।

पाँचवाँ कार्यक्रम संघर्षात्मक है । समझाने से भले आदमी मान जाते हैं, पर दुष्टता और मूर्खता को बदलने के लिए संघर्ष की जरूरत पड़ती है । असहयोग, विरोध, प्रदर्शन, सत्याग्रह, घेराव, कानूनी कार्यवाही आदि माध्यमों से अनैतिकता, अनाचार, भ्रष्टाचार, अपराध, धूर्तता, दुष्टता, बेईमानी, शोषण, अन्धविश्वास आदि अनेक स्तर की, अनेक रूपों की, जो बुराइयाँ विभिन्न क्षेत्रों में बिखरी पड़ी हैं उन्हें चुपचाप सहते रहने और मन ही मन कुढ़ते रहने भर से कुछ काम न चलेगा । प्रतिरोध के लिए सशक्त संघर्ष की जरूरत पड़ेगी, सो उसके लिए जितनी अपनी सामर्थ्य बढ़ती जायेगी उतने ही तेज कदम उठने लगेंगे । सैनिकों द्वारा लड़े जाने वाले-गोला बारूद वाले युद्ध को हम रोकना चाहते हैं पर इस प्रकार के विश्वव्यापी युद्ध के पक्ष में हैं-जो जन-जन द्वारा पग-पग पर अज्ञान और अनाचार के, कुत्साओं के-कुण्ठाओं के विरुद्ध अतीव शौर्य और साहस के साथ लड़ा जाये । हमारा विश्वास है कि यही संसार का अन्तिम युद्ध होगा और इसके बाद लोग युद्ध की निरर्थकता और शान्ति की सार्थकता को समझकर अपनी गतिविधियों में मानवीय सद्‌गुणों का आवश्यक समावेश कर लेंगे । तब 'जिओ और जीने दो' और 'सादा जीवन उच्च विचार' जैसे उच्च आदर्शों के अनुरूप नई दुनिया का नवनिर्माण सम्भव हो सकेगा और चिरस्थाई विश्व शान्ति स्थापित हो सकेगी ।

प्रस्तुत प्रशिक्षण बारीकी से देखने पर किसी भी योग-साधना और परमार्थ-प्रयोजन से कम वजन के नहीं बैठेंगे । इस प्रकार की सेवा-साधना को यदि ईश्वर-भक्ति का सर्वोत्तम प्रकार कहा जाये तो उसमे तनिक भी अत्युक्ति नहीं होगी । भावनात्मक दृष्टि से परिष्कृत व्यक्ति ही देवता कहा जाता है । अन्तःकरण में उच्च भावनाओं का हिलोरें लेने लगना, ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रकाश समझा जाना चाहिए । भीतर यदि आदर्शवादिता, उत्कृष्टता उमड़ती है तो उसे ईश्वर की अनुकम्पा का मूर्तिमान वरदान अथवा परमात्मा का साक्षात्कार ही माना जाना चाहिए । मनुष्य में भगवान का अवतरण करने के लिए नारद ऋषि ने प्रयत्न किये थे-पतितपावनी गंगा का अवतरण करने के लिए भागीरथ ने तप-साधना की थी । यह पुराने युग की बात है । आज अज्ञानान्धकार में भटकती पग-पग पर ठोकर खाती मानव जाति का उद्धार करने के लिए ज्ञान-गंगा लाने का जो कोई भी प्रयत्न करेगा वह नारद, भगीरथ न सही, उसके पद चिन्हों पर चलने वाला अवश्य कहा जायेगा । इस दृष्टि से यह नव-निर्माण की रात्रि पाठशालाएँ देखने भर में ही छोटी हैं, वस्तुत ये बारूद की फैक्टरी हैं, जो अपने

आग्नेय साधनों से भारी विस्फोट करके जो कुछ सामने है, उसका नक्शा ही बदल सकती हैं।

प्रथम छह महीने में सीखी हुई शिक्षा को अग्रगामी बनाने के लिए नई रात्रि पाठशाला चलाने का अथवा अन्य अगणित रचनात्मक कार्य प्रारम्भ करने एवं गतिशील रखने का प्रयोजन कैसे पूरा किया जाये–यह सारा शिक्षण अगली छमाही में–शिक्षा के उत्तरार्द्ध में सम्पन्न होगा। उसमें भी इसी प्रकार दूसरी पुस्तक दो खण्डों में होगी और उसे भी १०० दिनों में पूरा करने और शेष दिनों को उसकी परिपुष्टि में लगाने का क्रम चलेगा और पूर्वार्द्ध की भाँति ही तैयारी, स्वाध्याय, प्रश्नोत्तर, व्यावहारिक शिक्षण आदि में बाकी समय लगाने पर उसमें भी पूरे छह महीने लग जायेंगे। दोनों को मिलाकर एक वर्ष का पाठ्य-क्रम पूरा करके यह शिक्षण अपने छात्रों को इस योग्य बना देगा कि वे अपने व्यक्तित्व को सुविकसित, परिवार को सुसंस्कृत एवं समाज को सुसम्पन्न बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादित कर सकें।

शिक्षक छात्रों को नियत समय पर आने का आह्वान करेंगे और ठीक समय पर उसे बन्द कर देंगे। इससे समय का मूल्य समझने और उसका सदुपयोग करने की सीख मिलेगी। स्थान की स्वच्छता पर बहुत ध्यान रखा जाये–उपकरणों की, सामान की सफाई पर भी। पाठशाला किसी सार्वजनिक स्थान, मन्दिर, धर्मशाला आदि में चलाई जा सकती है अथवा किसी सज्जन का घर, कमरा दो घण्टे के लिए ऐसे उपयोग के लिए माँगा जा सकता है। स्थान सबकी सुविधा का तथा हवादार, अच्छे वातावरण का हो, इसका ध्यान रखा जाये। वैसे पेड़ों के नीचे अथवा खुले आकाश के नीचे भी वे आसानी से चल सकती हैं।

शिक्षण आरम्भ करते हुए सद्बुद्धि की देवी गायत्री का सामूहिक पाठ करना अच्छा रहेगा और यज्ञ का प्रतिनिधित्व करने के लिए धूपबत्ती जला लेनी चाहिए। भारतीय धर्म, संस्कृति का इतना प्रतीक अपने विद्यालयों के आरम्भ में रखा जा सके तो यह उत्तम परम्परा रहेगी।

अध्यापक स्वयं एक अध्याय–एक पाठ पढ़कर सुनायें। छात्र उसे ध्यानपूर्वक सुनें। शिक्षित छात्र उस पाठ को पहले से अपनी पाठ्य-पुस्तक में पढ़कर आ सकते हैं। अशिक्षितों को सुविधा हो तो वे भी पहले ही किसी से उस पाठ को सुन सकते हैं अन्यथा उस समय भी ध्यानपूर्वक सुनने से समझना हो सकता है।

विषय को ठीक तरह समझा गया या नहीं, इसके लिए प्रश्नोत्तर की प्रणाली बहुत ही उत्तम है। इससे यह पता चला जाता है कि किसकी समझ में कितनी गहराई तक बात उतर गई।

किसी ने गलत समझा होगा तो भी प्रश्नोत्तर से स्थिति स्पष्ट हो जायेगी। अध्यापक प्रश्न करें–छात्र उत्तर दें। एक ही प्रश्न को सबसे भी पूछा जा सकता है और उनके उत्तर सुने जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त उसी पाठ के सम्बन्ध में अन्य अनेक प्रश्न उठाये जा सकते हैं। यह सब अध्यापक की सूझ-बूझ और छात्रों की मनोदशा पर निर्भर है।

यह शिक्षण-पद्धति सुकरात, अरस्तु और अफलातून ने अपने-अपने समय में बहुत ही उत्साहपूर्वक चलाई थी और प्रायः सभी शिक्षण संस्थाओं ने उसका स्वागत किया था। उपनिषदों और पुराण पढ़ने से प्रतीत होता है कि भारत में सदा से शिक्षण की प्रश्नोत्तर पद्धति को पूरा-पूरा महत्त्व दिया जाता था। लम्बी-चौड़ी पुस्तकों में व्यक्त किया गया, गधे के बोझ की तरह अनावश्यक ज्ञान छात्रों के मस्तिष्क में भरने से वे उसे पचा नहीं पाते। परीक्षा में पास हो सकने जितने नम्बरों का जहाँ-तहाँ से कुछ पढ़कर प्रायः सभी छात्र अपनी गाड़ी धकेलते और अपनी चतुराई का परिचय देते पाये जाते हैं। किसी तरह पास भर हो जाते हैं पर उनके पल्ले न कुछ के बराबर पड़ता है। इससे अच्छा यही है कि किसी महत्त्वपूर्ण प्रसंग को संक्षिप्त में पढ़ा जाये किन्तु उसका विस्तृत मनन, चिन्तन, विचार-विश्लेषण करके तथ्य को भली प्रकार हृदयंगम किया जाये। अपनी शिक्षण पद्धति इसी शैली पर निर्धारित है। पाठ दो-दो पृष्ठ के छोटे-छोटे दिये गये हैं पर वे सभी बहुत महत्त्वपूर्ण तथा सारगर्भित हैं। प्रश्नोत्तर के आधार पर इन्हें बहुत मथा और बढ़ाया जा सकता है और उसे तब तक चर्चा का विषय रखा जा सकता है जब तक कि प्रसंग ठीक तरह समझ में न आ जाये।

इस संदर्भ में अध्यापक छोटे-छोटे कथा-प्रसंग, संस्मरण, चुटकले, इतिहास, उपाख्यान भी सुनाते रहें तो शिक्षण मनोरंजक भी हो जायेगा और ठीक तरह गले भी उतर जायगा। इस प्रयोजन के लिए अध्यापकों का मार्गदर्शन करने और शिक्षण-विधि सिखाने के लिए जो पुस्तक अलग से छापी गयी है, उसमें प्रायः हर पाठ से सम्बन्धित कई नए कथा प्रसंगों का उल्लेख कर दिया गया है। प्रश्नोत्तरों की भाँति कथा प्रसंगों द्वारा तथ्य समझाने की शैली भी बड़ी प्रभावशाली है। हितोपदेश, पंचतंत्र जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इसी प्रयोजन के लिए लिखे गये हैं। ईसप की नीति कथाएँ उसी प्रकार की हैं। शेख सादी ने गुलिस्ताँ-बोस्ताँ में यही प्रयास किया है। अपने १८ पुराण और १८ उपपुराणों में, संस्कृत साहित्य के प्रायः तीन चौथाई ग्रन्थों में लोकशिक्षण उपाख्यान शैली को ही आश्रय दिया गया है। इस शैली की सहायता लेकर हम अपनी शिक्षण पद्धति को बाल-वृद्ध, नर-नारी, शिक्षित-अशिक्षित सभी के लिए उपयोगी बना सकते हैं। समाचार, घटनाएँ, उदाहरण आदि भी विषय की प्रामाणिकता के लिए कहे जा सकते हैं। प्रश्नोत्तर में कुछ समस्याएँ घटनाओं के साथ उपस्थित करके छात्रों से उनके हल पूछे जा सकते हैं। जैसे अनमेल, वृद्ध विवाह अमुक परिस्थिति में हो रहा हो तो किसे क्या करके उसका प्रतिरोध करना ठीक रहेगा आदि। अध्यापक की सूझ-बूझ, दूरदर्शिता, मौलिकता पर ही बहुत कुछ छोड़ा गया है प्रश्न लिखकर थोड़ा सा अंगुलि निर्देशमात्र किया गया है। इस अभिनव शिक्षा प्रणाली में १०० सूत्र-सिद्धान्तों को सम्मिलित किया गया है जो व्यक्ति-निर्माण, परिवार-निर्माण एवं समाज-

निर्माण से सम्बन्धित हैं। यह शिक्षण अपने छात्रों को इस योग्य बना देगा कि वे अपने व्यक्तित्व को सुविकसित, परिवार को सुसंस्कृत एवं समाज को सुसम्पन्न बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादित कर सकें।

युग निर्माण योजना के ये आदर्श एवं सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं। इन्हें ही प्रशिक्षण प्रक्रिया में सम्मिलित किया गया है। इनकी संख्या सौ है।

१. आस्तिकता एवं उपासना का प्रयोजन-प्रतिफल
२. देववाद और पूजा-अर्चा का रहस्य
३. जीवन लक्ष्य समझें और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें
४. स्वर्ग और मुक्ति का आनन्द इसी जीवन में सम्भव
५. कर्मफल आज नहीं तो कल भोगना ही पड़ेगा
६. दुष्कर्मों के दण्ड से प्रायश्चित ही छुड़ा सकेगा
७. हम कामना ग्रस्त न हों, प्रगतिशील बनें
८. भाग्यवाद हमें नपुंसक और निर्जीव बनाता है
९. बौद्धिक परावलम्बन का जुआ उतार फेकें
१०. ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग की महान साधना
११. आध्यात्मिक जीवन के पाँच कदम
१२. हर दिन को एक नया जन्म समझें और उसका सदुपयोग करें
१३. स्वाध्याय दैनिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता
१४. अपना महान महत्त्व समझें और अपने को सुधारें
१५. कर्त्तव्य परायण मानव जीवन की आधारशिला
१६. असत्य व्यवहार सद्भावना और सामाजिकता पर कुठाराघात
१७. बेईमानी का नहीं, ईमानदारी का मार्ग अपनायें
१८. हँसती और हँसाती जिन्दगी ही सार्थक है
१९. अपना ही नहीं कुछ समाज का भी हित साधन करें
२०. सज्जनता और मधुर व्यवहार मनुष्यता की पहली शर्त
२१. साहस जुटायें, औचित्य अपनायें
२२. आलस्य त्यागें सुसम्पन्न बनें
२३. समय का सदुपयोग सफलता के लिए अमोघ वरदान
२४. अवरोध हमें अधीर न बनाने पावें
२५. आवेशग्रस्त न हों शान्ति और विवेक से काम लें
२६. विचार शक्ति का महत्त्व समझें और सदुपयोग करें
२७. आरोग्य रक्षा के लिए सन्तुलन आवश्यक है
२८. स्वास्थ्य रक्षा के लिए प्रकृति का अनुसरण आवश्यक
२९. आहार और विहार में असंयम न बरतें
३०. संयम बरतें सुखी रहें
३१. हम अस्वच्छ न रहें, घृणित न बनें
३२. ढलती आयु का सदुपयोग करें
३३. अनीति से सतर्क रहें, अन्याय को रोकें
३४. जो अनुचित है उससे सहमत न हों
३५. औचित्य की सराहना और अनौचित्य की भर्त्सना की जाय
३६. सुव्यवस्था ही परिवारों को सुविकसित रख सकेगी
३७. दाम्पत्य जीवन-एक आध्यात्मिक योग साधना
३८. पतिव्रत ही नहीं, पत्नीव्रत भी निभाया जाये
३९. संयुक्त परिवार प्रणाली एक श्रेयस्कर परम्परा
४०. सन्तान कितनी और क्यों पैदा करें
४१. सुसंस्कृत संतान के लिए पूर्व तैयारी आवश्यक
४२. बालकों को जन्म ही न दें-उनका निर्माण भी करें
४३. संतान को स्वावलम्बी भर बनाना ही पर्याप्त है
४४. पर्दा प्रथा नारी के साथ बरती जाने वाली एक नृशंस अनीति
४५. अपव्यय एक पाई का भी न करें
४६. धन का उपार्जन ही नहीं, सदुपयोग भी ध्यान में रहे
४७. अपव्यय और फैशनपरस्ती एक ओछापन
४८. जेवरों का भौंड़ा फैशन हर दृष्टि से हानिकारक
४९. माँस मनुष्यता को त्याग कर ही खाया जा सकता है
५०. तम्बाकू का दुर्व्यसन छोड़ा ही जाना चाहिए
५१. देशभक्त नव निर्माण के कार्य में जुट जायें
५२. नागरिक कर्त्तव्य पालें और समाज में स्वस्थ परम्परा डालें
५३. व्यक्तिगत स्वार्थ भी सामाजिक सुव्यवस्था पर निर्भर है
५४. प्रौढ़ों को साक्षर बनाया जाना युग की अनुपेक्षणीय माँग
५५. व्यायाम एवं स्वास्थ्य शिक्षा समाज की एक महती आवश्यकता
५६. अध्यापक अपने महान पद, गौरव और उत्तरदायित्व को निबाहें
५७. छात्र अपने भविष्य का निर्माण आप करें
५८. नवयुवक सज्जनता और शालीनता सीखें
५९. उदार सहकारिता से हमारी उलझनें सुलझेंगी
६०. प्रगति के लिए श्रम-सम्मान एवं गृह उद्योगों की आवश्यकता
६१. अन्न संकट की चुनौती का सामना कैसे करें
६२. शाक हमारी खाद्य समस्या का हल करेंगे
६३. वृक्षारोपण और संवर्धन-एक अति आवश्यक कार्य
६४. तुलसी हमारे हर घर में शोभायमान रहे
६५. गौ संरक्षण हमारी एक महती आवश्यकता
६६. अधिकार गौण और कर्त्तव्य प्रधान माना जाये
६७. वोटरों की सतर्कता पर प्रजातन्त्र का भविष्य निर्भर है
६८. प्रबुद्ध नारी-महिला जागरण की कमान सँभालें
६९. नारी उत्कर्ष के लिए कुछ विशेष प्रयत्न किये जायें
७०. ऊँच-नीच की मान्यता अन्यायमूलक है
७१. अश्लीलता की बाढ़ हमें पतित बना रही है
७२. भिक्षावृत्ति का व्यवसाय न रहने दें
७३. मृतक भोज भी अविवेकपूर्ण न हों
७४. भूत-पलीत और उद्भिज देवी, देवताओं का जंजाल
७५. पशुबलि भारतीय धर्म पर एक कलंक

७६. प्राणियों के प्रति निर्मम और निष्ठुर न बनें
७७. विवाहों के आदर्श ऊँचे रखे जायें
७८. बाल विवाह एक अति घातक कुप्रथा
७९. खर्चीली शादियाँ हमें बेईमान और दरिद्र बनाती हैं
८०. बेटे वाले व्यर्थ ही घाटा और बदनामी न उठायें
८१. उच्च शिक्षित कन्या की विवाह समस्या और उसके नये हल
८२. विधुर और विधवायें समान न्याय के अधिकारी
८३. मनस्वी शूरवीर विवाहोन्माद के असुर से जूझें
८४. बिना खर्च के विवाहों का प्रचण्ड आन्दोलन चल पड़े
८५. आततायी उद्दण्डता का डटकर मुकाबला किया जाये
८६. धर्मतन्त्र को प्रगतिशील बनने दिया जाये
८७. साधु-ब्राह्मण समाज अपना कर्त्तव्य और दायित्व समझें
८८. मन्दिर, आस्तिकता और सत्प्रवृत्तियाँ जगाने में लगें
८९. त्यौहार और संस्कार प्रेरणाप्रद पद्धति से मनाये जायें
९०. जन्म दिवस और विवाह दिवस मनाये जायें
९१. गायत्री और यज्ञ भारतीय धर्म संस्कृति के माता-पिता
९२. गायत्री यज्ञ आन्दोलन एक महान रचनात्मक अभियान
९३. शिखा भारतीय संस्कृति की धर्मध्वजा
९४. यज्ञोपवीत धारण-नीति और कर्त्तव्य अपनाने का व्रतबन्ध
९५. ज्ञानयज्ञ का प्रकाश घर-घर पहुँचाया जाये
९६. ज्ञानयज्ञ नवनिर्माण का महानतम अभियान
९७. व्यक्ति और समाज का समग्र निर्माण कर सकने वाली शिक्षा पद्धति
९८. कला लोकरंजन ही नहीं भावनाओं का परिष्कार भी करें
९९. रचनात्मक कार्यक्रमों से ही देश समर्थ बनेगा
१०० अनीति, असुरता के विरुद्ध प्रबल संघर्ष किया जायेगा

आस्तिकता एवं उपासना का प्रयोजन–प्रतिफल

इस सृष्टि का अधिपति भगवान है । उसने हर वस्तु को बनाकर उसकी सीमा मर्यादाएँ बना दी हैं । सृष्टि का हर पदार्थ एवं प्राणी अपनी नियत मर्यादाओं में रहकर ईश्वरीय प्रयोजन को पूरा करता रहता है । एक मनुष्य ही है जो अपनी बुद्धि और प्रकृति का दुरुपयोग करता है, कुमार्गगामिता अपनाकर अपने तथा दूसरों के लिए संकट उत्पन्न करता है । इस पथ-भ्रष्टता से बचने के लिए 'धर्म' की रचना आवश्यक हुई । ऋषियों ने बड़ी दूरदर्शिता के साथ धर्म का कलेवर खड़ा किया ताकि उस पुण्य चेतना द्वारा मनुष्य को दुर्बुद्धि एवं दुष्प्रवृत्तियों से बचाया जा सके । धर्म का सारा ढाँचा, सारी प्रथा, परम्पराएँ, मान्यताएँ, आस्थाएँ केवल इसी प्रयोजन के लिए हैं कि मनुष्य अपनी नियत निर्धारित मर्यादाओं के भीतर रहकर जीवन-यापन करे ।

धर्म का प्रथम आधार है–आस्तिकता, ईश्वर विश्वास । परमात्मा को सर्वव्यापकता, समदर्शिता और न्यायशीलता पर आस्था रखना, आस्तिकता की पृष्ठभूमि है । यह मान्यता मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश रख सकने में पूर्णतया समर्थ होती है । सर्वव्यापी ईश्वर की दृष्टि में हमारा गुप्त-प्रकट कोई आचरण अथवा भाव छिप नहीं सकता । समाज की, पुलिस की आँखों में धूल झोंकी जा सकती है, पर घट-घटवासी परमेश्वर से तो कुछ छिपाया नहीं जा सकता । परमदर्शी परमेश्वर न्यायकारी भी है, उसकी न्याय व्यवस्था हर किसी के लिए समान है । निष्पक्ष न्यायाधीश लोक-मर्यादाओं की रक्षा के लिए हर अपराधी को बिना राग-द्वेष के उचित दण्ड देता है । ईश्वर मर्यादाओं को हमारा हर पाप, अपराध विदित होता है और वह आज या कल हमारे पापों का दण्ड भी देकर रहेगा । अदालत और पुलिस से बच सकते हैं, परमेश्वर से नहीं । यह मान्यता हमें पापों से बचाती है । हमारी अधिकांश दुष्प्रवृत्तियाँ इसलिए चलती रहती हैं कि राज-दण्ड या समाज-दण्ड से चतुरता के आधार पर बच जाते हैं । ऐसी चतुरता सर्वव्यापी और न्यायकारी ईश्वर के सामने नहीं चल सकती । इस तथ्य पर जो भी विश्वास करेगा, वह पाप से डरेगा और मर्यादाओं में रहने के लिए–सज्जनोचित, सभ्य जीवन जीने के लिए विवश होगा ।

आस्तिकता धर्म का इसलिए प्रथम आवश्यक एवं अनिवार्य अंग माना गया है कि उससे हमारा सदाचरण अक्षुण्ण बना रह सकता है । सत्कर्मों का या दुष्कर्मों का दण्ड आज नहीं तो कल मिलेगा ही, यह मान्यता वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में नीति और कर्त्तव्य का पालन करते रहने की प्रेरणा देती है । सत्कर्म करने वाले को यदि प्रशंसा, मान्यता या सफलता नहीं मिली है तो ईश्वर भविष्य में देगा ही, यह आस्था उसे निराश नहीं होने देती और असफलताएँ मिलने पर भी वह सदाचरण के पथ पर आरूढ़ बना रहता है । इसी प्रकार कुकर्मी निर्भय नहीं हो पाता । उसे राज-दण्ड से बच जाने पर भी यह भय बना रहता है कि यहाँ नहीं तो वहाँ नरक की असह्य यन्त्रणाएँ सहने के लिए विवश होना पड़ेगा । ईश्वर के दरबार में किसी के साथ रियायत नहीं बरती जाती । वह समदर्शी है । सभी उसके अपने और सभी बिराने हैं । जो आचरण की कसौटी पर खरा सो उसे परम प्रिय– जो उस कसौटी पर खोटा सो घोर शत्रु । समदर्शी ऐसे ही होते हैं । वे खुशामद या रिश्वत से विचलित नहीं होते । उन्हें कोई प्रिय-अप्रिय, नीति और अनीति के कारण ही होते हैं । यह मान्यताएँ यदि ठीक तरह जनमानस में प्रवेश कर सकें तो निश्चय ही व्यक्ति दुराचरण से विरत रहेगा और नीति एवं सदाचरण का ही अवलम्बन ग्रहण करेगा । आस्तिकता की सबसे बड़ी देन यही है इसलिए उसे धर्म का प्रधान अंग माना गया है । व्यक्ति की उन्नति एवं समाज की

शांति, सज्जनता एवं मर्यादा पालन पर निर्भर है, यह दोनों ही प्रेरणाएँ आस्तिकता में सन्निहित हैं ।

आज हर दिशा में विकृतियों की भरमार है । आस्तिकता भी विकृत हो गई है । लोग मान बैठे हैं कि थोड़ी-सी चापलूसी करने या भेंट-पूजा की छोटी-मोटी रिश्वत देकर ईश्वर को अपना पक्षपाती बनाया जा सकता है और फिर तो अयोग्य होते हुए भी बड़ी-बड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं तथा पापों के दण्ड से बचने की छूट पाई जा सकती है । अनेक तरह के कर्मकाण्ड का प्रचलन उपरोक्त दो कल्पनाओं के आधार पर ही चल पड़ा है यदि यह कल्पना सही हों तो फिर ईश्वर का मूलस्वरूप ही विकृत हो जायेगा, फिर उसे पक्षपाती, रिश्वतखोर, खुशामद पसन्द, अव्यवस्था और अन्धेर फैलाने वाला कहा जायेगा । ऐसी आस्तिकता विघातक सिद्ध होगी तथा हो भी रही है । लोग प्रसाद या बकरी, मुर्गी भगवान पर चढ़ाते हैं, स्तुति गान इसलिए करते हैं कि इनसे प्रसन्न होकर हमें अनेक तरह के वरदान मिल जायें । भले ही उन्हें प्राप्त करने के अयोग्य हों अथवा कर्मफल के कारण उन सफलताओं से वंचित रहने की स्थिति हो, तो भी अपनी पूजा-पत्री उन अवरोधों को हटाकर हर प्रकार की मनोवांछनाएँ तुर्त-फुर्त पूरी करने की व्यवस्था बना दे । आज की विकृत आस्तिकता इसी रूप में फैली पड़ी है । लोग इसी आधार पर पूजा-पाठ का आडम्बर चलाते हैं । यदि अभीष्ट मनोरथ सफल नहीं होता या देर लगती दीखती है तो झल्लाकर पूजा-उपकरणों को ही फेंक देते हैं और हजारों गालियाँ सुनाते हैं । बाल-बुद्धि से प्रेरित इस आस्तिकता का न कोई आधार है, न कोई आदर्श ।

आस्तिकता की आस्था को परिपक्व करने के लिए उपासना का आश्रय लिया जाता है । पूजा, ध्यान, जप, देव-दर्शन, भगवत गुण-गान, तत्व-चर्चा, आत्म-चिन्तन, कीर्तन एवं अनेक कर्मकाण्डों द्वारा इसका प्रयत्न किया जाता है कि ईश्वर को भूले रहने की चूक से बचा जा सके । भगवान की स्मृति मस्तिष्क में बनी रहे तो इस बात पर भी विचार उठना ही चाहिए कि आत्मा का परमात्मा से क्या सम्बन्ध है, उसने हमें किस काम के लिए संसार में भेजा है जीवन का उद्देश्य क्या है, शान्ति और प्रगति के लिए ईश्वरीय आज्ञाओं का पालन और मर्यादापरक अनुशासन हमारे लिए क्यों अनिवार्य है ? ईश्वर को भूले रहने पर इनमें से एक भी प्रश्न मन में नहीं उठता और मनुष्य वासना, तृष्णा के जंजाल में फँसा हुआ व्यर्थ अथवा अनर्थ से भरे हुए कर्मों से निरत रहता हुआ बहुमूल्य मनुष्य जीवन बर्बाद कर देता है । यह एक बहुत बड़ी क्षति है । इसलिए नास्तिकता को, ईश्वरीय सत्ता अमान्य करने को एक पाप बताया गया है ।

उपासना का अर्थ है–समीप बैठना, हर आस्तिक को थोड़ा समय उपासना के लिए लगाना चाहिए । उन क्षणों में अनुभव करना चाहिए कि जो कुछ शरीर, मन, धन, वर्चस्व, वैभव हमारे पास है वह सब ईश्वर का है । उसका न्यूनतम अंश निर्वाह के लिए लेकर शेष सभी भगवान के लिए अर्पित करना है । भक्ति का अर्थ है प्रेम–प्रेम का अर्थ है सेवा या अनुदान । सच्चा भक्त ईश्वर प्रदत्त उपहारों में से न्यूनतम ही अपने लिए लेता है और शेष उसी के चरणों में अर्पित कर देता है । आत्मा अर्थात् एक परम आत्मा, अर्थात् शाश्वत आत्मा की समग्र सत्ता-इसी को विश्वात्मा भी कहते हैं । विश्वात्मा के प्रति आत्म-समर्पण का नाम उपासना है । इसकी प्रतिक्रिया यह होनी चाहिऐ कि हम केवल अपने लिए नहीं समस्त विश्व के लिए प्राणी मात्र के हित के लिए–समाज की सुख-सुविधाएँ बढ़ाने के लिए जियें और विचारणा तथा कार्य पद्धति ऐसी रखें जिससे परम आत्मा को–विश्व की समस्त आत्माओं को प्रसन्नता एवं संतुष्टि प्राप्त हो ।

उपासना करते समय हम भगवान से प्रकाश, अमृत और सत् की याचना करते हैं, यह तीनों ही शब्द सद्ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । ईश्वर हमें ऐसी प्रेरणा, शक्ति एवं उमंग प्रदान करे, जिनसे प्रेरित होकर हम महामानवों जैसे विचार एवं कर्म अपनाकर मनुष्य-जीवन की सार्थकता सिद्ध कर सकें । भगवान की निकटता अनुभव करने के लिए की गई उपासना हमें दैवी गुणों से विभूषित होने की प्रेरणा देती है । ईश्वर उदारता, करुणा, सदाशयता, पवित्रता, न्यायनिष्ठा आदि विशेषताओं का सागर है । उसकी समीपता हममें वैसी ही विभूतियाँ उत्पन्न करें, यही कामना और मान्यता उपासना के समय की जा सकती है । अपने साथ ईश्वर है, यह मानकर कोई भी व्यक्ति हर घड़ी निर्भय रह सकता है ।

हमें आस्तिक होना चाहिए और प्रतिदिन थोड़ा समय निकालकर नियमित रूप से उपासना करनी चाहिए, ताकि ईश्वर और उसके निर्देशों का भली-भाँति हृदयगंम किये रह सकें । फलस्वरूप व्यक्तिगत सदाचरण एवं सामाजिक कर्तव्य पालन की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती रहे और सर्वत्र श्री, समृद्धि, प्रगति एवं शान्ति की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती रहें ।

प्रश्न–

१. ऋषि-मुनियों द्वारा धर्म की रचना क्यों की गई ? २. धर्म का प्रथम आधार क्या है ? इसकी पृष्ठभूमि बतायें ? ३. ईश्वर के सामने हमारी चतुरता क्यों नहीं चल सकती ? ४. आस्तिकता को ही धर्म का प्रथम आधार क्यों माना गया है ? ५. आज के युग में आस्तिकता किस तरह विकृत हो गयी है ? ६. भगवान की उपासना व्यक्ति किस कारण करते हैं ? ७. आस्तिकता की आस्तिकता को परिपक्व करने के लिये किन-किन बातों का आश्रय लिया जाता है ? ८. उपासना का क्या अर्थ होता है, उस समय हमें मन में क्या अनुभव करना चाहिए ? ९. उपासना करते समय हम भगवान से क्या प्रार्थना करें ? १०. सर्वत्र श्री, समृद्धि, प्रगति एवं शान्ति की परिस्थितियाँ उत्पन्न करते रहने के लिए हमें क्या करते रहना चाहिए ?

देववाद और पूजा-अर्चा का रहस्य

भारतीय संस्कृति एक ही ब्रह्म मानती है । वस्तुतः भगवान एक ही है । नाम उसके अनेक हैं । रूपों की कल्पना अलग-अलग मतानुसार अलग-अलग प्रकार की गई है पर इससे ब्रह्म की एकता में कोई अन्तर नहीं आता है । अनेक देवता अनेक सत्ताएँ नहीं हैं वरन् एक ही परमात्मा की शक्तियाँ भर हैं । अगर अनेक देवताओं के स्वतन्त्र अस्तित्व होते तो वे आपस में लड़ मरते और उनके अनुयायी परस्पर कभी एक न रह सकते । जिन लोगों ने भ्रमवश एक ब्रह्म को अनेक ब्रह्मों के रूप में समझा उन्हीं ने देवताओं के स्वतन्त्र अस्तित्व माने हैं । और अनेक मत-सम्प्रदाय तथा पंथों को जन्म दिया है । इससे संस्कृति को भारी क्षति पहुँची है और अपना समाज अनेक सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों के रूप में बिखर कर दुर्बल हो गया, हमें वस्तुस्थिति समझनी चाहिए और "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" के श्रुति वचन को ध्यान में रखते हुए बहुदेववाद के भ्रमजंजाल से ऊपर सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, न्यायकारी परब्रह्म परमेश्वर को एक सत्ता के रूप में जानना, मानना चाहिए ।

अनेक देवताओं की अलंकारिक कल्पना परोक्ष रूप में सद्गुणों और सत्प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठापना के लिए है । उनके स्वरूप, वाहन, आयुध आदि के पीछे पहले की तरह अनेक रहस्य और अर्थ छिपे पड़े हैं । जिन्हें चर्चा का विषय बनाकर हम उस उस देवता के भक्त, अनुयायी बनकर वैसा ही आचरण करने की प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं । हर देवता इसी प्रकार की प्रेरणा, शिक्षा एवं अभिव्यंजना का रहस्यवाद अपने भीतर छिपाये हुए हैं ।

शंकरजी को लीजिए । उनके सिर में से निकलती गंगा पवित्रता से परिपूर्ण गंगा का प्रतिनिधित्व करती है । मस्तक पर चन्द्रमा शान्ति, शीतलता और प्रकाश का प्रतीक है । हमारा मस्तिष्क ज्ञान गंगा की तरंगें प्रवाहित करे, सन्तुलित शान्त, शीतल और प्रकाश पूर्ण रहे तो समझना चाहिए कि शंकर जी की भक्ति, एक दिव्य अनुकरण के रूप में हमारे में उत्पन्न हो चली । विष संसार में बिखरा पड़ा है । अपने को भी उस विष से सम्पर्क रहेगा ही । उसे उगलें तो कटुता और विद्वेष बढ़ेगा । पेट में पीते हैं तो आत्मघात होता है । इसलिए उचित यही है कि इसे गले में ही अधर टाँगे रखा जाये । अपने को घृणा की आग में न जलायें और न क्रोध से दूसरों को संतप्त करें । शंकरजी इसी तत्वज्ञान के प्रतीक हैं । विष उनके कण्ठ में स्थापित है । समुद्र मन्थन से निकले विष से संसार को बचाने के लिए उनने विष को अपने कण्ठ में धारण किया और नीलकण्ठ कहलाये, विश्व शान्ति के लिए हमें ऐसा ही दुस्साहस कर सकने की हिम्मत बँधे तो समझना चाहिए कि शंकरजी की भक्ति का उदय अपने अन्तःकरण में हो रहा है ।

सर्प शंकर जी के सहचर हैं उसके गले से लिपटे रहते हैं । दुष्ट और दुर्गुणी व्यक्तियों को प्रेम, सहानुभूति, करुणा और समीपता से ही सुधारा जा सकता है । यह निष्कर्ष शिवजी की सर्प समीपता से निकाला जा सकता है । उनके साथी-सहचर, भूत-प्रेत "तनु छीन कोउ अतिपीन, पावन कोऊ अपावन तनु धरे" जैसे थे । पिछड़े हुए, उलझे हुए, टूटे हुए, निराश और गिरे हुए लोगों को उपेक्षा की गर्त में नहीं फेंका जाना चाहिए । शिवजी अपनी बारात में इन्हीं चित्र-विचित्र नन्दीगणों को लेकर गये थे । पिछड़ेपन को दूर करने के लिए हमारी गतिविधियाँ भी ऐसी ही होनी चाहिए । मरघट में निवास, शरीर पर भस्म लेपन, गले में मुण्डमाल यह बताती है कि मृत्यु को भुलाया न जाये । जीवन की नश्वरता को ध्यान में रखा जाये और मरणोत्तर जीवन में अपनी क्षुद्रताएँ कितना संकट खड़ा कर सकती हैं उसे बार-बार विचारता रहा जाये । मृत्यु की तैयारी में जीवन का सदुपयोग यही तत्व ज्ञान है । जिसके आधार पर व्यक्ति धार्मिकता और आध्यात्मिकता को सच्चे मन से अपना सकता है । शंकर जी का अनुगमन करने वाला भक्त मरघट में निवास भले ही न करे, भस्म लेपन भले ही न करे पर जीवन की तरह मृत्यु को भी स्वागत योग्य बनाने की तैयारी जरूर करता होगा ।

शंकर जी सिंह चर्म पहनते हैं और उनका वाहन वृषभ है । सिंह के समान निर्भीक, साहसी और शूरवीर ही अपने कलेवर को भगवान का परम प्रिय आवरण बना सकने में सफल होते हैं । वृषभ के समान परिश्रमी, संतुलित और उत्तरदायित्वों का भार कंधे पर प्रसन्नतापूर्वक वहन करने वाले लोग ही भगवान के वाहन पार्षद निकटवर्ती हो सकते हैं । सद्गुणों के साथ परमेश्वर का अनुग्रह प्रेम, प्रकाश और सान्निध्य जुड़ा हुआ है यह तथ्य उसके शरीर पर धारण किये हुए व्याघ्रचर्म और वाहन वृषभ के अलंकार से टपकता है । यों रामायण के मंगलाचरण में तुलसीदास जी ने "भवानी शंकरौवंदे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ" की अभिव्यक्ति में भवानी को श्रद्धा और शंकर को विश्वास के रूप में प्रतिपादित किया है ।

इसी प्रकार अन्यान्य देवताओं के पीछे आलंकारिक रहस्यवाद छिपा पड़ा है । ब्रह्माजी ने परास्त देवताओं को इकट्ठे कर उनकी थोड़ी-थोड़ी शक्ति इकट्ठी करके उससे दुर्गा का सृजन किया और उसके द्वारा असुरों का पराभव और देवताओं का उत्कर्ष संभव हुआ—इस पौराणिक उपाख्यान में सज्जनों को अपनी संघशक्ति विकसित करने और उसके द्वारा अगणित आपत्तियों से छुटकारा पाने का निर्देश है । रामभक्ति के लिए ईश्वरीय आदर्शों और कर्त्तव्यों के लिए सर्वतोभावेन समर्पण करने वाले हनुमान वानर जैसी क्षुद्र स्थिति के होते हुए भी भगवान के परमप्रिय बने । यह रहस्य उन्हें कान खोलकर सुनना और आँख खोलकर देखना चाहिए जो थोड़ा-सा नाम जप, पूजा-प्रसाद या स्तुति-प्रशंसा की लकीर पीटकर ईश्वरीय अनुग्रह जैसे महान अनुदान की कल्पना-जल्पना करते रहते हैं ।

देव पूजा में प्रयुक्त होने वाले पदार्थ और कर्मकाण्डों के पीछे भी धर्म और अध्यात्म के पथ पर चलने वाले साधकों को बहुत ही महत्त्वपूर्ण शिक्षण प्रस्तुत मिलेगा । भगवान के चरणों पर पुष्प ही चढ़ते हैं और उनके गले में पुष्प माला ही पहनाई जाती है । पुष्प अर्थात् सुगन्धित, हँसता, खिलता, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् पर आधारित आत्मिक सौन्दर्य सम्पन्न व्यक्ति । उस स्तर का व्यक्ति जो अपने पेट का मोह छोड़कर अपनी गरदन नुचवाता हुआ सुई-धागों से पेट छिदवाता हुआ त्याग-बलिदान के मार्ग पर अग्रसर होता है तो वह ईश्वर के चरणों में स्थान पाने तथा छाती से लगने में समर्थ होता है । पूजा में प्रयुक्त होने वाले पुष्प यही शिक्षा उपासक को देते हैं ।

चन्दन अर्थात् समीपवर्ती झाड़ियों को अपने समान सुगन्धित बनाने वाली क्षमता से सम्पन्न, जो घिसे जाने और जलाये जाने पर भी रोष-विद्वेष पास न भटकने दे वरन् सुगन्ध ही फैलाता रहे, पूजा का अधिकारी हो सकता है और अर्चना को सार्थक बना सकता है । भगवान को केवल मीठे का ही भोग लगता है । मीठी वाणी, मीठा व्यवहार, मीठा आचरण, शिष्ट, विनम्र और मधुर व्यक्तित्व यह वह सर्वतोमुखी मिठास है । जिसे देवता पसंद करते और प्रभावित होते हैं । दीपक अर्थात् स्नेह से भरा हुआ स्वयं तिल-तिल जलकर दूसरों को प्रकाश देने वाला । देवमन्दिर की शोभा दीपक से है, पूजा का वह एक महत्त्वपूर्ण अंग है । दीपक की प्रवृत्ति जिसके भी जीवन-क्रम में समाविष्ट हो गई समझना चाहिए कि वह पूजा का साक्षात प्रतीक प्रतिनिधि बन गया ।

ऊपर की पंक्तियों में संक्षिप्त रूप से एक ब्रह्म के अनेक अलंकारों को रूपकों की तरह देवी-देवताओं के रूप में प्रस्तुत करने का क्या प्रयोजन था ? उसकी एक हलकी झाँकी कराई गई है । असंख्य देवी-देवताओं की ऐसी ही व्याख्या की जा सकती है । हमें उस गहराई तक प्रवेश करना चाहिए और उस तथ्य, संकेत एवं निर्देश को समझना चाहिए जिसके आधार पर कि देवी-देवताओं की कल्पना की गई थी । सरस्वती अर्थात् ज्ञान, लक्ष्मी अर्थात् धन । काली अर्थात् बल । जीवन की प्रगति में ज्ञान, धन और बल का सम्पादन और सदुपयोग करने का प्रशिक्षण अलंकारिक रूप में उपरोक्त तीन देवियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसी प्रकार अन्य देवताओं के पीछे भी समुन्नत जीवन की शिक्षा का तत्वज्ञान रहस्यवाद ढंग और अलंकारिक रूप से समझाया गया है । पूजा के उपकरण चन्दन, रोली, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य आदि के माध्यम से भी ईश्वर-भक्ति के लिए हमें अपना भावनात्मक परिष्कार कैसे करना चाहिए यही सब सिखाया गया है ।

देवताओं से तरह-तरह की मनौती माँगने और उन्हें खुशामद या रिश्वत के बाल प्रलोभनों से प्रसन्न करने के छछोरेपन को हम जितनी जल्दी छोड़ दें उतना ही उत्तम है । देवता न इतने मूर्ख या ओछे हो सकते हैं और न उन्हें सस्ते प्रलोभनों से बहलाया, फुसलाया जा सकता है । भावनात्मक प्रगति के आधार पर ही ईश्वर की देव-शक्तियाँ हमारे अनुकूल बनतीं और अनुग्रह करती हैं, इस तथ्य को जितनी जल्दी समझ लिया जाये उतना ही उत्तम है ।

प्रश्न—

१. विभिन्न देवता क्या हैं ? उनकी अलंकारिक कल्पना क्यों की गयी है ? २. एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' से क्या समझते हो ? ३. देववाद का अर्थ न समझने से क्या हानियाँ हुई ? ४. शंकर जी की गंगा, चन्द्रमा, विष, सर्प, मुण्डमाला, सिंह, चर्म, वृषभ का अर्थ समझाइये ? ५. दुर्गा की उत्पत्ति कैसे हुई ? ६. पूजा में प्रयुक्त होने वाले पुष्प क्या शिक्षा देते हैं ? ७. चन्दन एवं प्रसाद का क्या महत्त्व है ? ८. सिद्ध कीजिये कि पूजा उपासना का प्रयोजन भावनात्मक परिष्कार है ? ९. उपासक या भक्त निष्काम क्यों होना चाहिए ? १०. किस आधार पर मनुष्य देव शक्तियों के अनुकूल बनता है और कैसे ?

जीवन-लक्ष्य समझें और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें

मनुष्य जीवन ईश्वर का एक अनुपम उपहार है । जो सुविधाएँ किसी जीव-जन्तु को नहीं मिलीं वे मनुष्य को मिली हैं । हँसना, बोलना, लिखना, पढ़ना, सोचना, परिवार, चिकित्सा, उद्योग, निवास, वाहन, मनोरंजन आदि के जितने जैसे सुविधा साधन मनुष्य को मिले हैं वैसे क्या और किसी प्राणी को उपलब्ध हैं ?

यों ईश्वर को सभी जीव समान रूप से प्रिय हैं । वह सभी का पिता है, इसलिए सभी के प्रति उसे सकरुण और पक्षपात रहित होना ही चाहिए । जो सुविधा अन्य किसी को नहीं मिलीं वे मनुष्य को मिली हैं तो उसमें पक्षपात की गन्ध आती है और लगता है कि दूसरों की तुलना में उसे कुछ अधिक अतिरिक्त दिया गया । ऐसा क्यों हुआ ? इस सुव्यवस्था, प्रगति, समृद्धि एवं सुन्दरता की अभिवृद्धि के लिए मनुष्य को अपने सहायक सहचर के लिए रचा है और अपनी सारी विशेषताएँ, विभूतियाँ और सत्ताएँ इसमें भर दी हैं । ताकि वह इन पुण्य-प्रयोजनों का ठीक तरह निर्वाह कर सकने में पूरी तरह समर्थ रहे । अतिरिक्त सुविधाएँ अमानत के रूप में मनुष्य को दी गई हैं, वह उसके लोभ, विलास और अहंकार की पूर्ति के लिये नहीं वरन् इसलिए हैं कि लोक-मंगल के लिए वह अधिक योगदान दे सके ।

जिस प्रकार सृष्टि के अन्य प्राणी शरीर यात्रा की सामान्य सुविधा-सामिग्री पाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं, मनुष्य को भी वैसा ही करना चाहिए । विलासिता, उपयोगी, संचय या अहंकार की पूर्ति से यदि उपलब्ध क्षमताएँ समाप्त कर ली जाती हैं और जीवनोद्देश्य की पूर्ति की ओर से आँखें मींच ली जाती हैं तो यही कहा जायेगा कि हम ईश्वर के महान प्रयोजन को भूल गये और लाखों योनियों में भ्रमण करने के बाद-चिरकाल पश्चात् जो एक अलभ्य अवसर मिला है उसे ऐसे ही गँवा दिया, तो यह बुद्धिमान

समझे जाते हुए भी हमारी अबुद्धिमत्ता और अदूरदर्शिता
ही सिद्ध होगी ।

हमें लाभ-हानि का अन्तर भली प्रकार मालूम है ।
अपने समस्त क्रियाकलापों का निर्धारण इसी आधार पर
करते हैं, फिर न जाने क्या आश्चर्य की बात है कि हमें
मनुष्य जीवन जैसे अमूल्य अवसर का लाभ उठाने की
बात नहीं सूझती और इसे ऐसे ही व्यर्थ की बाल-क्रीड़ाओं
में गँवा देते हैं । गँवाते ही नहीं वरन् दुरुपयोग कर
विविध-विधि पाप कमाते हैं, जिससे भविष्य में इनका
दण्ड अनेक जन्मों तक भुगतने के लिए विवश होना पड़ता
है । इससे तो वे जीव-जन्तु अच्छे जो किसी प्रकार निर्वाह
करके जैसे आये थे वैसे ही अपनी बेदाग चादर लेकर चले
जाते हैं । अगले जन्मों के लिए पाप की गठरी और
नारकीय यन्त्रणा का भारी बोझ लेकर तो विदा नहीं होते ।
मनुष्य पिछले जन्मों के कष्टों को याद कर रोता हुआ ही
आता है और भविष्य को अन्धकारमय, यातनापूर्ण देखकर
रोता हुआ ही विदा होता है । क्या इसी को बुद्धिमत्ता
कहें-जिस पर मनुष्य इतराता और इठलाता फिरता है ?

बाहर की बहुत बातें जानकर हम ज्ञानवान कहलायें
यह ठीक है । पर यह भी कम आवश्यक नहीं कि हम
जीवनोद्देश्य जैसे महत्त्वपूर्ण तथ्य का उपयोग करना सीखें
और अपने स्वरूप, कर्तव्य के बारे में भी जानें-समझें, उन
पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें । हमें यह सोचना चाहिए
कि हम कौन हैं ? क्या हैं ? किसलिए हैं और अपने
अस्तित्व की सार्थकता किस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं ?
यह आत्म-बोध यदि न हो सका तो मनुष्य शरीर होते हुए
भी नर-पशु और नर पिशाच जैसा घृणित जीवन जीना
पड़ेगा । लक्ष्य भूलने वाला किधर भटक सकता है ।
आमतौर से हम सब भटक ही तो जाते हैं, अपने को
शरीर मान बैठते हैं और शरीर की सुविधा, प्रसन्नता,
तृष्णा, वासना और अहंकार की पूर्ति जैसे क्षुद्र प्रयोजनों के
लिए ही सारी विचारणा और गतिविधियाँ केन्द्रित किये
रहते हैं । कामना आकाश पाताल की करते हैं । तृष्णाएँ
पहाड़ जितनी समेटे रहते हैं ।

लालसाओं और आकांक्षाओं की ललक में उलझे रहते
है, मस्तिष्क की सारी चिन्तन क्षमता उसी जंजाल में समाप्त
हो जाती है । आत्मकल्याण अथवा जीवनलक्ष्य के बारे में
सोचने की फुरसत ही नहीं रहती । इसी जंजाल में सारा
समय निकल जाता है । सारी कार्य-क्षमता उसी में उलझी
रहती है । न सोचने की फुरसत मिलती है न कुछ करने
की । व्यस्तता इतनी अधिक रहती है कि आत्मकल्याण की
दिशा में न कुछ सोचते बनता है न करते । यह कैसी दुर्भाग्य
पूर्ण स्थिति है कि जिस आत्मा को परमात्मा ने अपने
प्राणप्रिय पुत्र की तरह असीम अरमानों के साथ अपने उद्यान
को सुरभित बनाने के लिए भेजा था, वह सृष्टा के निर्देश
और अपने वातावरण के उद्देश्य को सर्वथा उपेक्षित कर
निर्बुद्धि प्राणियों की तरह पेट और प्रजनन के लिए ही
महान अस्तित्व को समाप्त कर दे ।

सम्भव हो तो हममें से प्रत्येक विवेकवान को अपनी
इस स्थिति पर विचार करना चाहिए और सम्भव हो तो
यह साहस जुटाना चाहिए जिससे जीवन को निरन्तर
पश्चाताप का केन्द्रबिन्दु बनाने से बचाकर स्रष्टा की
आकांक्षा पूर्ति के लिए नियोजित किया जा सके । यदि ऐसी
स्फुरणा अन्तःकरण में जाग उठे-प्रबल हो उठे । तो
समझना चाहिए कि अन्तरात्मा में ईश्वर का प्रकाश
चमकने लगा और भगवान का अनुग्रह परिलक्षित होने
लगा । जब कभी किसी में कार्मिक मूर्छना जागती है तो
भीतर से ऐसी हूक, टीस, व्याकुलता और तड़पन उठती है
कि एक क्षण भी बर्बाद किये बिना हमें ईश्वरीय प्रयोजन
के लिए समर्पित जीवन जीना चाहिए । निर्वाह के स्वल्प
साधनों से काम चलाना चाहिए और अपनी सारी क्षमतायें
एवं विभूतियाँ जीवन-लक्ष्य की पूर्ति में नियोजित कर देनी
चाहिए । इस प्रकार के ज्ञान का उदय ही आत्म-बोध,
आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर-दर्शन कहा जाता है ।

हममें से अधिकांश लोग अति भ्रमपूर्ण विडम्बनाओं में
उलझे पड़े हैं । ईश्वर के लिए जप, स्तवन, पूजन-अर्चन,
कथा-कीर्तन जैसे कर्मकाण्डों की लकीर पीटकर झूठा
आत्म-सन्तोष कर बैठते हैं कि ईश्वर की प्रसन्नता अथवा
जीवनोद्देश्य की प्राप्ति के लिए उतना खेल-मेल कर लेना
पर्याप्त है । हमें विवेक की आँखें खोलकर यह देखना
चाहिए कि प्रशंसा करने, गिड़गिड़ाने, नाक रगड़ने या
रिश्वत देने से हम किसी बुद्धिमान संसारी का भी प्यार
अनुग्रह प्राप्त नहीं कर सकते तो ईश्वर को इस प्रकार है
बहकाने से कैसे सन्तुष्ट किया जा सकेगा ? पूजा-उपास...
का मतलब ईश्वर को, ईश्वरीय आयोजन एवं निर्देश को
स्मृति पटल पर मजबूती से जमा लेना तथा अपने में
अधिकाधिक निर्मलता विवेकशीलता उत्पन्न करना भर
है, यह अपना नित्य कर्म है जिससे आत्म-शोधन और
आत्मजागरण का प्रयोजन भर पूरा होता है । ईश्वर इतने
भर से सन्तुष्ट नहीं हो सकता । उसकी प्रसन्नता के दो बिन्दु
हैं । (१) उसकी विचारणा, मनोभूमि, गुण, कर्म, स्वभाव
की शृंखला एवं गतिविधियों में अधिकाधिक पवित्रता,
उदारता, उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता का समावेश
(२) लोकमंगल के लिए समर्पित किए गए बढ़-चढ़ कर
अनुदान । अपनी स्थिति के अनुरूप हर कोई विश्वमानव
की, जनता जनार्दन की, भावनात्मक स्थिति को ऊँचा
उठाने में कुछ न कुछ योगदान दे ही सकता है । इस
प्रयोजन के लिए समय, श्रम, बुद्धि, धन आदि का जितना
अनुदान दिया गया हो समझना चाहिए कि उतने अंशों में
हमने भगवान की इच्छापूर्ति के लिए साहस किया और
उतनी ही मात्रा में हमें ईश्वरीय प्यार, अनुग्रह और
आशीर्वाद पाने का हक मिल गया । भगवान का प्रकाश
अन्तःकरण में प्रवेश करने देने के लिए हमें अपनी
स्वार्थपरता, संकीर्णता, लोभवृत्ति की खिड़कियाँ खोलनी
पड़ती हैं । सज्जनता को जीवनक्रम में समाविष्ट किये
बिना, अपनी रीति-नीति में मानवता के उच्च दृष्टिकोण को

समाविष्ट किये बिना किसी जीवन की सार्थकता नहीं हो सकती और ईश्वर की दी हुई सम्पदाओं में से न्यूनतम भाग निर्वाह के लिए रखकर शेष को लोकमंगल के रूप में प्रभु को लौटाये बिना किसी को जीवन लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती । हमें ऐसा आत्मबोध जगाना चाहिए जो आत्मशान्ति और ईश्वर प्राप्ति के उपरोक्त मार्ग पर धकेल सकने में समर्थ हो सके ।

प्रश्न–

१. मनुष्य अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ क्यों है ? उसे अधिक सुविधाएँ क्यों दी गयी हैं ? २. मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य क्या है ? ३. आत्म-बोध किसे कहते हैं ? ४. यह कब समझा जाना चाहिए कि ईश्वर का प्रकाश चमकने लगा है ? ५. समर्पित जीवन से क्या समझते हो ? ६. ईश्वर दर्शन किसे कहते हैं ? वह किन्हें होता है ? ७. अधिकांश लोग किस प्रकार के कर्मकाण्डों से आत्मसंतोष किये बैठे हैं ? क्या उनसे कुछ लाभ है ? ८. पूजा-उपासना का सच्चा मतलब क्या है ? ९. ईश्वर की प्रसन्नता के कौन-कौन से केन्द्र बिन्दु हैं ? १०. भगवान की इच्छा पूर्ति का साहस कैसे किया जाता है ?

स्वर्ग और मुक्ति का आनन्द इसी जीवन में संभव

स्वर्ग और मुक्ति अध्यात्म-जगत के दो बड़े पुण्य-फल माने जाते हैं । इन्हें प्राप्त करने के लिए लोग बहुत से धर्म-कर्म करते रहते हैं । यह दोनों क्या हैं उनका स्वरूप क्या है, इस विषय में लोगों की कल्पनाएँ तथा मान्यताएँ सही नहीं हैं । कल्पना की जाती है कि स्वर्ग पृथ्वी जैसा लोक है । वहाँ खाने, सोने, मनोरंजन, आराम तथा विषय भोग की प्रचुर सुविधाएँ रहती हैं । वहाँ पहुँचने पर मनुष्य उन सुविधाओं का लाभ उठाता हुआ आराम और आनन्द के दिन काटता है । इसी प्रकार मुक्ति के बारे में सोचा जाता है कि भगवान के लोक में पहुँचकर जीव झंझटों से छुटकारा पा जाता है । उन्हीं के जैसा बनकर रहता है और उन्हीं में लीन हो जाता है । इसी को सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य मुक्ति कहते हैं ।

उपरोक्त मान्यताएँ सही नहीं हैं क्योंकि ग्रह-नक्षत्रों में अभी तक किसी ऐसे पिण्ड का पता नहीं चला जिसमें मनुष्य स्तर के जीवधारी प्राणियों के निवास की बात सोची जा सके । फिर हर ग्रह-नक्षत्र के जीवों की स्थिति, सुविधा, आवश्यकता, प्रकृति तथा बनावट अपने ही ग्रह में रह सकने योग्य बनी होती है । ऐसी दशा में स्वर्ग लोक की बात कुछ ठीक से गले उतरती नहीं । फिर जिन-सुविधाओं का वर्णन किया जाता है उनका उपयोग इस स्थूल शरीर से ही किया जाता है । मरने के बाद स्थूल शरीर रह जाता है, जिससे भावनात्मक अनुभूतियाँ तो हो सकती हैं, पर इन्द्रियाँ न होने से इन्द्रिय सुख कैसे मिलेंगे ? वहाँ पर जीव खाने-पीने जैसे सुविधा-साधनों का लाभ कैसे उठा सकेगा ? इसी प्रकार यदि सब झंझटों से छुटकारा पाना, सब लाभों से वंचित हो जाना ही मुक्ति हो तो सामाजिक प्रकृति के समूह में रहने वाले मनुष्य के लिए वह और भी अधिक कष्टकारक होगी । अकेली जेलकोठरी में कुछ दिन रहने वाले कैदी शारीरिक दृष्टि से ढीले और मानसिक दृष्टि से उद्विग्न होकर निकलते हैं । अकेले के लिए समय काटना मुश्किल पड़ता है । मुक्त होने पर यदि किसी लोक में अकेला ही रहना पड़े तो उस सुनसान में क्या सुख मिलेगा ? भगवान तो बहुत कार्यव्यस्त हैं, उनके पास बैठे भी रहे तो क्या लाभ ? यदि उनमें घुल जायें तो भगवान का वजन भले ही राई-रत्ती बढ़ जाये, अपना तो अस्तित्व ही समाप्त हुआ । ऐसा आत्म-नाश ही यदि मुक्ति कहलाता है तो उसे कोई क्यों चाहेगा ? इससे किसी को क्या मिलेगा ?

स्वर्ग-मुक्ति की उपरोक्त मान्यताएँ पौराणिक काल की अलंकारिक मान्यताएँ हैं । वस्तुतः स्वर्ग आत्मसंतोष को कहते हैं, क्योंकि संसार में वही सबसे अधिक शान्तिदायक स्थिति है । जीवन का अस्तित्व सूक्ष्म है, इसलिए पदार्थों का सुख तो शरीर भर को मिलेगा, सूक्ष्म सत्ता को तो भावनात्मक तृप्ति ही प्रसन्न कर सकती है । धन-दौलत, ऐश-आराम तो भावनाओं का ही होता है और उस स्तर की अनुभूति तभी मिल सकती है जब व्यक्ति का दृष्टिकोण परिष्कृत और क्रिया-कलाप आदर्शवादी मान्यताओं के अनुरूप बन सके । आत्मा का संतोष इसी स्थिति में होता है, क्योंकि वह ईश्वर का अविनाशी अंश होने के कारण सदुद्देश्य के लिए ही धरती पर आई है और मछली जिस प्रकार पानी में ही चैन की साँस ले सकती है उसी प्रकार का चैन ईश्वरीय स्तर की उच्च भूमिका में अवस्थित होने पर ही मिल सकता है । यह भूमिका उच्च विचारणा और श्रेष्ठ आचार-पद्धति पर निर्भर है । जिनकी विचारणा और क्रिया-कलाप भौतिक स्वार्थपरता पर अवलम्बित है, उन्हें सम्पदा, सुविधा या ख्याति कितनी भी क्यों न मिल जाये, कभी आन्तरिक शान्ति न मिलेगी । आत्म-शान्ति का संतोष केवल उनके हिस्से में आया है, जिन्होंने अपने विचार-क्षेत्र को उच्च उत्कृष्ट मान्यताओं के अनुरूप सोचने और चाहने के लिए अभ्यस्त कर लिया और उन पर इतना प्रगाढ़ निश्चय जमा लिया है कि शरीर उस धारा-धारणा के विपरीत एक कदम भी न उठावे । जिसे अपने विचारों और कार्यों की उत्कृष्टता का सन्तोष जितनी अधिक मात्रा में मिल रहा हो, समझना चाहिए कि वह उतने ही ऊँचे स्वर्गलोक में निवास कर रहा है ।

नरक भी कोई लोक नहीं है । नरक के जो वर्णन किये जाते हैं, वे शरीरधारी के लिए सम्भव हैं । मरने के बाद जब जीव हवा जैसी सूक्ष्म वस्तु रह गया तो उसे कोल्हू में पेला जाना, कोड़ों से मारा जाना किस प्रकार सम्भव होगा ? वस्तुतः नरक भोगने के लिए हमें किसी लोक विशेष में जाने या दूसरों द्वारा उत्पीड़न सहने की आवश्यकता नहीं है । यह प्रयोजन तो अपनी दुर्बुद्धि और

दुष्प्रवृत्ति हर घड़ी पूरा करती रह सकती है । कुसंस्कारी और दुर्गुणी मनुष्य अपने ओछी विचार पद्धति की आग में स्वयं ही हर घड़ी जलते रह सकते हैं । चिन्ता, भय, क्रोध, असंतोष, ईर्ष्या, द्वेष, शोषण, प्रतिशोध, उत्पीड़न की प्रवृत्ति बन जाने पर अन्तःकरण हर घड़ी इतना विक्षुब्ध और दुःखी रहता है कि जीवन नीरस ही नहीं भार भी प्रतीत होने लगता है । आत्मताड़ना से पीड़ित व्यक्ति नशेबाजी की शरण में जाकर गम-गलत करने, बैरागी बन दौड़ने या आत्म-हत्या जैसे कुकृत्य करते देखे गये हैं । यह नरक की ही अनुभूतियाँ हैं । दुष्ट व्यक्ति जिनके ऊपर सब ओर से घृणा बरसती है, एक प्रकार से नरक के कीड़े ही गिने जा सकते हैं । दुष्कर्म करते समय आत्मा काँपती है और आत्म-धिक्कार की ग्लानि निरन्तर पश्चाताप की आग में जलाती है । इसे नरक ही कहा जायेगा । कुकर्म तो थोड़ी देर में पूरा कर लिया जाता है, पर उसे करके जो पतन हुआ तथा भविष्य में ईश्वर-दण्ड की जो संभावना बनी, उसे स्मरण करके आदमी भीतर ही भीतर बुरी तरह जलता रहता है । वस्तुतः यही नरक है जो किसी भी कुमार्गगामी को खाता, खोखला करता और पश्चाताप में झुलसाता रहता है ।

शारीरिक दुःख इस संसार में भी कम नहीं हैं । उनके लिए किसी और लोक में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती । कष्टसाध्य रोगियों को व्यथा से निरन्तर चिल्लाते हुए कहीं भी देखा जा सकता है । अंधे, कोढ़ी, अपंग, असहाय लोगों को क्या कुछ कम कष्ट सहने पड़ते हैं ? प्रियजनों की मृत्यु, असफलता, अपमान, धनहानि, आक्रमण, उत्पीड़न जैसे प्रसंगों पर भी क्या कुछ कम दुःख होता है ? शारीरिक और मानसिक कष्ट इस संसार में भी कम नहीं हैं । कर्मफल के अनुरूप यदि कुछ त्रास मिलते हों तो वे यहाँ भी भरे पड़े हैं । इसलिए नरक की कल्पना को अन्य लोक से जोड़ना उचित नहीं । दुष्कर्म करने पर उसके फलस्वरूप मिलने वाले सामाजिक और ईश्वरीय दण्ड को मिलाकर पूरा नारकीय अनुभव किसी भी कुपथगामी को यहीं, इसी लोक में मिल सकता है ।

मुक्ति का अर्थ होगा बन्धनों से छूटना । विचार करना है कि कौन से बन्धन हैं जिनसे हम बँधे हैं और शरीर को रस्सों से तो किसी ने जकड़ नहीं रखा है । निवास भी कैदखाने में नहीं करते । कहीं भी स्वेच्छा से आ-जा सकते हैं । यदि संसार को भव-बन्धन कहा जाये तो यह भी उचित न होगा क्योंकि यह विश्व भगवान का विराट रूप है । जहाँ कण-कण में भगवान व्याप्त हों, वहाँ बंधन कैसा ? जिस भाग पर जन्म लेने के लिए देवता तरसते हों, जहाँ अवतारों, ऋषियों और धर्मात्माओं का निरन्तर प्रवाह बहता हो, जहाँ गंगा-यमुना जैसी नदियाँ, हिमालय जैसे पर्वत और प्राकृतिक सुषमा का स्वर्ग बिखरा पड़ा हो, वहाँ जन्म लेना और जीवित रहना एक सौभाग्य ही है । उसे भव-बन्धन कैसे कहा जाये ? जहाँ प्रेमी परिजनों के अनुदान निरन्तर बरसते हमें कृतज्ञता में डुबो देते हैं वहाँ बन्धन कैसा, जिससे छुटकारा पाने को मुक्ति की कल्पना में विचरण किया जाये ? जन्म-मरण तो एक-सी परिस्थिति की नीरसता से नवीनता के उल्लास में परिणित होने का मनोरंजन मात्र है । उसमें अवांछनीय, अनुचित, अशोभनीय या आनन्दरहित क्या है, जिससे छूट भागने की बात सोची जाये ?

मुक्ति वस्तुतः अपने दोष-दुर्गुणों से, स्वार्थ-संकीर्णता से, क्रोध-अहंकार से, लोभ-मोह से, पाप-अविवेक से प्राप्त करनी चाहिए । यही वह शत्रु हैं जो पग-पग पर दुःख देते हैं । आत्मग्लानि और आत्म-प्रताड़ना की आग में जलाने वाले अपने कषाय और कल्मष ही हैं, जो सन्मार्ग पर चलने से रोकने में जंजीरों का काम करते हैं । समय, साधन, सुविधा और सामर्थ्य होते हुए भी हम परमार्थ प्रयोजनों के लिए कुछ सोच और कर नहीं पाते, यह अंतरंग की दुर्बलता ही सबसे बड़ा बन्धन है । उसे तोड़ कर फेंका जा सकता हो और उच्च विचारणा के अनुरूप आदर्शवादी, परमार्थ-परायण जीवन जिया जा सकता हो, तो समझना चाहिए कि मुक्ति मिल गई । स्वर्ग और मुक्ति अपने दृष्टिकोण को परिष्कृत करके हम इसी जीवन में प्राप्त कर सकते हैं, इसके लिए मृत्यु काल तक की प्रतीक्षा करने की क्या आवश्यकता है ।

प्रश्न—

(१) स्वर्ग क्या है उसका वास्तविक अर्थ, बताओ । (२) मुक्ति क्या है ? यह कितने प्रकार की होती है ? (३) क्या स्वर्ग एवं नरक की मान्यताएँ सही हैं ?(४) सूक्ष्म व स्थूल शरीर मे क्या भेद है । (५) क्या मुक्ति आत्मनाश का ही दूसरा नाम नहीं है ? (६) चिरस्थाई आनन्द किसे कहते हैं ? वह कैसे मिलता है (७) आत्मा का अवतरण धरती पर किस कारण हुआ है ? (८) आत्म-शान्ति एवं संतोष किन्हें मिलता है ? (९) नरक क्या है, क्या वह इसी लोक में नहीं है ? (१०) भव बंधन की मान्यता कहाँ तक सही है ? (११) जन्म-मरण क्या है ? (१२) सबसे बड़ी दुर्बलता कौन सी है ?

कर्म-फल आज नहीं तो कल भोगना ही पड़ेगा

यदि कर्म का फल तुरन्त नहीं मिलता तो इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उसके भले-बुरे परिणाम से हम सदा के लिए बचे गये । कर्म-फल एक ऐसा अमिट तथ्य है जो आज नहीं तो कल भुगतना ही पड़ेगा । कभी-कभी इन परिणामों में देर इसलिये होती है कि ईश्वर मानवीय बुद्धि की परीक्षा करना चाहता है कि व्यक्ति अपने कर्तव्य-धर्म समझ सकने और निष्ठापूर्वक पालन करने लायक विवेक बुद्धि संचित कर सका या नहीं । जो दण्ड भय से डरे बिना दुष्कर्मों से बचना मनुष्यता का गौरव समझता है और सदा सत्कर्मों तक ही सीमित रहता है, समझना चाहिए कि उसने सज्जनता की परीक्षा पास कर ली--और पशुता से देवत्व की ओर बढ़ने का शुभारम्भ कर दिया ।

दण्डभय से तो विवेक रहित पशु को भी अवांछनीय मार्ग पर चलने से रोका जा सकता है। मानवीय अन्तःकरण की विकसित चेतना तभी अनुभव की जा सकेगी जब वह कुमार्ग पर चलने से रोके और सन्मार्ग के लिए प्रेरणा प्रदान करे। लाठी के बल पर भेड़ों को इस या उस रास्ते पर चलाने में गड़रिया सफल रहता है। सभी जानवर इसी प्रकार दण्ड भय दिखाकर अमुक प्रकार से जोते जाते हैं। यदि हर काम का तुरन्त दण्ड मिलता और ईश्वर बलपूर्वक अमुक मार्ग पर चलने के लिए विवश करता तो फिर मनुष्य भी पशुओं की श्रेणी में आता, उसकी स्वतन्त्र आत्म-चेतना विकसित हुई या नहीं इसका पता ही नहीं चलता।

भगवान ने मनुष्य को भले या बुरे कर्म करने की स्वतन्त्रता इसीलिए प्रदान की है कि वह अपने विवेक को विकसित करके भले-बुरे का अन्तर करना सीखे और दुष्परिणामों के शोक-संतापों से बचने एवं सत्परिणामों का आनन्द लेने के लिए स्वतः अपना पथ निर्माण कर सकने में समर्थ हो। उन्नति को अपनाने वाला विवेक और कर्त्तव्य परायणता यह दो ही कसौटी मनुष्यता का आत्मिक स्तर विकसित होने की हैं। इस आत्मविकास पर ही जीवनोद्देश्य की पूर्ति और नर जन्म की सफलता अवलम्बित है। ईश्वर चाहता है कि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र चेतना का विकास करे और विकास के क्रम से आगे बढ़ता हुआ पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करने की सफलता प्राप्त करे।

यदि ईश्वर को यह प्रतीत होता कि बुद्धिमान बनाया गया मनुष्य पशुओं जितना मूर्ख ही बना रहेगा तो शायद उसने दण्ड के बल पर चलाने की व्यवस्था उसके लिए भी सोची होती। तब झूठ बोलते ही जीभ में छाले पड़ने, चोरी करते ही हाथ में फोड़ा उठ पड़ने, बेईमानी करते ही बुखार आ जाने, कुदृष्टि डालते ही आँख दुखने लगने, कुविचार आते ही सिर दर्द होने जैसे दण्ड मिलने की तुर्त-फुर्त व्यवस्था बनी होती तो किसी के लिए भी दुष्कर्म करना सम्भव ही न होता। लोग जब उसमें लाभ की अपेक्षा प्रत्यक्ष हानि देखते तो दुष्कर्म करने की हिम्मत न करते। ऐसी स्थिति में मनुष्य की स्वतन्त्र चेतना, विवेक बुद्धि और आन्तरिक महानता के विकसित होने का अवसर ही नहीं आता और आत्मविकास के बिना पूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त कर सकने की दिशा में प्रगति ही न होती। अतएव परमेश्वर के लिए यह उचित ही था कि मनुष्य को अपना सबसे बड़ा बुद्धिमान और सबसे जिम्मेदार बेटा समझकर उसे कर्म करने की स्वतन्त्रता प्रदान करे और यह देखे कि वह मनुष्यता का उत्तरदायित्व सम्भाल सकने में समर्थ है या नहीं ? परीक्षा के बिना वास्तविकता का पता भी कैसे चलता और उसे अपनी इस सर्वश्रेष्ठ रचना मनुष्य में कितने श्रम की सार्थकता हुई यह कैसे अनुभव होता।

यों समाज में भी कर्मफल मिलने की व्यवस्था है और सरकार द्वारा भी उसके लिए साधन जुटाये गये हैं। पुलिस, जेल, कचहरी, कानून, नियन्त्रण, निरीक्षण द्वारा ऐसे प्रबन्ध किये गये हैं कि अनाचार करने वालों को रोका और दंडित किया जा सके। यद्यपि इस व्यवस्था में कई खामियाँ हैं और चतुर अपराधी तो सरकार की पकड़ में ही नहीं आते। कुछ आते हैं तो कानूनी बारीकियों की आड़ में तथा सम्बन्धित अफसरों को प्रभावित कर दण्ड से बच निकलने का रास्ता खोज लेते हैं, तो भी आखिर एक व्यवस्था तो है ही और यदि कठोर शासन हो तो अधिकांश अपराधों, दुष्कर्मों को सहज ही रोका भी जा सकता है और अपराधियों को इतना दण्डित किया जा सकता है कि उसे तो क्या दूसरे देखने वालों को भी वैसा साहस न हो। जो हो आखिर एक सरकारी व्यवस्था तो है ही, जो हजारों-लाखों कुमार्गगामियों को तिरस्कृत करने और दण्डित करने में लगी रहती है और किसी हद तक रोकथाम भी करती है।

समाज में कुकर्मियों का तिरस्कार और अविश्वास होता है, लोग उनका सहयोग-समर्थन नहीं करते और सम्पर्क बनाने से बचते हैं। मनुष्य की उन्नति पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। जिसे दूसरों का जितना गहरा प्यार और सच्चा सहयोग मिला वह उतना ही उन्नतिशील बन सका है। यह लाभ कुमार्गगामियों को नहीं मिल सकता। उनसे सभी डरते हैं और सोचते हैं कि सम्पर्क बढ़ाने पर वह हमारे ही ऊपर घात चला सकता है। झंझट मोल लेने की कायरता से डरकर कोई प्रत्यक्ष विरोध कर संघर्ष न करे, चुप भले ही बैठा रहे पर अनैतिक व्यक्ति को सच्चे मन से प्यार कोई नहीं कर सकता। व्यभिचारी भी अपने घर में दूसरे व्यभिचारी का और चोर भी अपने घर में दूसरे चोर का प्रवेश नहीं होने देता। क्योंकि वह उसे अविश्वस्त मानता है। भीतर ही भीतर घृणा करता है और चाहता है कि वह साँप-बिच्छू की तरह अलग ही बना रहे। दुष्कर्म छिपते नहीं, कुकर्म और दुष्प्रवृत्ति आखिर खुलकर ही रहती है। यह एक तथ्य है कि अनाचारी केवल घृणा के पात्र ही हो सकते हैं, उन्हें न तो सम्मान मिल सकता है और न सहयोग। इसके बिना तो विकास सम्भव है और न आनन्द की गुंजाइश है। कुकर्मी थोड़े-से साधन भर इकट्ठे कर सकते हैं और उनसे यत्किंचित शरीर एवं इन्द्रिय का क्षणिक सुख भोग सकते हैं पर सामाजिक प्राणी होने के नाते जिस श्रद्धा, सम्मान, प्यार और सहयोग की उसे भारी भूख और आवश्यकता रहती है उसे सदा अप्राप्य ही रहेगी। सामाजिक असहयोग और तिरस्कार एक ऐसा दण्ड है जो अप्रत्यक्ष होते हुए भी मनुष्य को घर में रहने वाले भूत-पिशाच की तरह उद्विग्न और संत्रस्त रखता है। यह स्थिति जेल का दण्ड भोगने वाले कैदी से कम कष्टकारक नहीं है।

कुमार्गगामी आत्म-प्रताड़ना के दण्ड से बच नहीं सकता। यदि आत्मा को सर्वथा कुचल-मसल न दिया हो, उसमें थोड़ी-सी चेतना बाकी रहने दी गई तो कुकर्म के लिए आत्मग्लानि और धिक्कार की आवाज भीतर से निरन्तर उठती रहेगी। दूसरों से पाप को छिपाया भी जा सकता है पर आत्मा से वस्तुस्थिति कहाँ छिपती है, वह अनीति अपनाकर बरती गई नीचता के लिए निरन्तर

धिक्कारती रहेगी और पश्चाताप की आग में बुरी तरह जलाती रहेगी। पापी मनुष्य एक क्षण के लिए भी शान्ति अनुभव नहीं कर सकता। भीतर की प्रताड़ना, बाहरी दण्डों से अधिक हानिकारक होती है। उसके कारण व्यक्ति निरन्तर दुर्बल, उद्विग्न, एकाकी, नीरस और विक्षिप्त बनता चला जाता है। व्यक्तित्व को हेय, पतित और अस्त-व्यस्त बनाने में आत्मग्लानि ही सबसे बड़ा अवरोध सिद्ध होती है।

फिर ईश्वरीय विधान भी निःस्वत्व नहीं हुआ है। आज नहीं तो कल उसकी व्यवस्था के अनुसार कर्मफल मिलकर ही रहेगा। देर हो सकती है अन्धेर नहीं। सरकार और समाज से पाप को छिपा लेने पर भी आत्मा और परमात्मा से उसे छिपाया नहीं जा सकता। इस जन्म या अगले जन्म में हर बुरे-भले कर्म का प्रतिफल निश्चित रूप से भोगना पड़ता है, आज का लिया कर्ज कल चुकाना पड़ेगा, इससे यह नहीं सोचा जा सकता कि कर्ज के नाम पर लिया हुआ पैसा मुफ्त में मिल गया। पाप का दण्ड आज नहीं भुगतना पड़ेगा तो किसी को यह नहीं समझ बैठना चाहिए कि उससे सदा के लिए छुट्टी हो गई। ईश्वरीय कठोर व्यवस्था उचित न्याय और उचित कर्म-फल के आधार पर ही बनी हुई है सो तुरन्त न सही कुछदेर बाद अपने कर्मों का फल भोगने के लिए हर किसी को तैयार रहना चाहिए।

मनुष्यता की कसौटी सन्मार्गगामिता है। विवेक की परख कुमार्ग से बचने में है। मानवीय गरिमा का तकाजा है कि हम न्याय, औचित्य और कर्त्तव्य को अपनायें। न तो अशुभ सोचें और न अनुचित कदम उठायें। इसी में बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता सन्निहित है।

प्रश्न—

(१) सज्जनता की परीक्षा कैसे की जाती है? (२) कर्म फल के परिणाम में विलम्ब क्यों होता है? (३) मानवीय अन्तःकरण की विकसित चेतना का अनुभव कैसे किया जाता है? (४) मनुष्य का आत्मिक स्तर विकसित होने की कौन-सी दो कसौटियाँ हैं? (५) दुष्कर्म करने से हानि अपार है लाभ कुछ भी नहीं सिद्ध करें। (६) कानून में ऐसी कौन-सी कमी है कि सही अपराधी पकड़ में नहीं आते? (७) उन्नतशील बनने का रहस्य क्या है? (८) अनैतिक व्यक्ति को लोग प्यार क्यों नहीं करते? (९) सामाजिक तिरस्कार एवं असहयोग भी प्रभावशाली हैं सिद्ध कीजिये। (१०) पापी मनुष्य एक क्षण के लिए भी शान्ति का अनुभव क्यों नहीं करता है? (११) मानवीय गरिमा का तकाजा क्या है?

दुष्कर्मों के दण्ड से प्रायश्चित्त ही छुड़ा सकेगा

जान-बूझकर या अनजाने में कुबुद्धि-वश मनुष्य कई प्रकार के अनुचित कार्य करता रहता है। ये बुरे कर्म उसकी आत्मिक प्रगति, व्यक्तित्व के विकास तथा भौतिक सफलताओं में भारी अवरोध सिद्ध होते हैं। आत्मा पर -कल्मषों का जितना आवरण चढ़ता जाता है। उतना ही अन्तःकरण भारी और कलुषित होता चला जाता है। इस रुग्ण स्थिति में कोई क्या आत्म-संतोष अनुभव करेगा और किसे उत्कृष्टता की ओर बढ़ने के लिए साहस होगा। आन्तरिक दुर्बलता सबसे बड़ी दुर्बलता है, वह मनुष्य को ऐसा अपंग और निःस्वत्व बनाकर छोड़ती है कि कोई महत्त्वपूर्ण काम कर सकना उसके लिए संभव ही नहीं रहता।

शारीरिक और मानसिक अस्वस्थता के अनेक कारण हैं। बीमारी होने की अनेक वजह हो सकती हैं और मानसिक उद्विग्नता के भी अनेक आधार हो सकते हैं पर सब से बड़ा कारण है वह आत्म-प्रताड़ना, जो अनैतिक एवं अवांछनीय कार्य करने के कारण निरन्तर अन्तरंग में उठती रहती हैं। जिसने अनैतिक एवं असामाजिक कार्य किये हैं-जीवन की शुद्ध चादर पर तरह-तरह के दाग-धब्बे लगाये हैं, उसके लिए चैन से बैठ सकना कठिन है। आत्मधिक्कार कुछ कह सुनकर ही चुप नहीं हो जाती वरन् अनेक रास्तों से फूटकर दबी हुई आग की तरह निकलती है। खाया हुआ पारा शरीर से फूट-फूट कर निकलता है, वह किसी को भी पचता नहीं। इसी प्रकार पाप कर्म भी आत्मधिक्कार या आत्मग्लानि के रूप में भीतर ही भीतर कचोटते ही हैं, इसके अतिरिक्त वे अनेक कष्टकर प्रताड़नाओं के रूप में फूटकर बाहर भी आते हैं।

शारीरिक रोगों के बारे में नवीनतम शोध यह है कि कष्ट साध्य, असाध्य और किसी भी चिकित्सा से काबू में न आने वाले शारीरिक रोग अनाचार अपनाने के कारण उत्पन्न होते हैं। आहार-विहार के व्यतिक्रम से जो बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं वे साधारण उपचार से स्वल्पकाल में ही अच्छी हो जाती हैं किन्तु मस्तिष्क के गहन अन्तराल में छिपी हुई आत्मधिक्कार की प्रताड़ना नाड़ियों, कोषों, स्वस्थ जीवन कणों में इतनी गहराई तक प्रवेश कर जाती हैं कि दवाओं का उन तक प्रभाव नहीं पहुँचता और वह उद्वेग ऐसे शरीर कष्टों के रूप में बिखरता रहता है। शास्त्रों में कष्टसाध्य रोग संचित पापों के परिणाम ही माने हैं, यह तथ्य आज का शरीर शास्त्र और मनोविज्ञान अक्षरशः सिद्ध कर रहे हैं।

दुष्कर्मों के और कुविचारों के जो कुसंस्कार मन पर जमते हैं वे एक प्रकार से विषैली पर्तों के रूप में चेतन मस्तिष्क और अचेतन चित्त पर जमते रहते हैं। ये मन की चंचलता, उद्विग्नता, अस्थिरता, आवेग, विक्षोभ के रूप में फूटते हैं और व्यक्ति को अर्द्ध-पागल जैसा बना देते हैं वह किसी काम को एकाग्रचित्त होकर कर नहीं पाता और हर घड़ी उधेड़-बुन में लगा रहता है। फलस्वरूप पग-पग पर असफलता मिलती और ठोकर लगती है। असंतुलित व्यवहार से सम्बन्धित व्यक्ति रुष्ट और असन्तुष्ट होकर असहयोगी एवं विरोधी बन जाते हैं। स्वजनों से कलह करने का अभ्यस्त व्यक्ति प्रेत-पिशाच की तरह हर घड़ी विक्षुब्ध बना रहता है। मस्तिष्क न कुछ ठीक तरह सोच पाता है, न कोई सही रास्ता मिलता है। भटकता और

भ्रमता हुआ मन जीवन को ऐसी कँटीली झाड़ियों में उलझा देता है, जहाँ केवल शोक-संताप ही दृष्टिगोचर होता है । शरीर से रुग्ण और मन से विक्षुब्ध व्यक्ति जीवित रहते नरक भोगता है । भीतर ही भीतर उसे इतने घाव रहते हैं कि जिनके कारण सिर्फ कराहते और तड़फते हुए ही उसे देखा जा सकता है । उन पाप कर्मों से निवृत्ति कैसे मिले ? जिससे चित्त हलका हो और उन अन्तर्व्यथाओं से पीछा छूटे जो यमदूतों की तरह व्यक्ति को दुःखी और असफल बनाने के लिए पीछे लगी हुई हों । इस प्रश्न का भारतीय संस्कृति में सनातन उत्तर एक ही रहा है–प्रायश्चित । अपने यहाँ हर पाप के प्रायश्चित हैं । उन्हें करके ही अवांछनीय आचरणों की मलिनता धोई जा सकती है । रास्ते में गड्ढा खोदा हो तो उसका प्रायश्चित यही है कि उसे पाटने के लिए उतना ही प्रयत्न किया जाये जितना कि खोदने के लिए किया गया था । किसी को हानि पहुँचाई हो तो उसका प्रायश्चित यही है कि उस हानि की भरपाई कर दी जाये । अपने दोष को स्वीकार करना उसके लिए दुःख मानना, लज्जित होना और आगे के लिए, इस तरह की भूलों की पुनरावृत्ति न करना यह मनोभूमि तो प्रायश्चित कर्त्ता की होनी ही चाहिए अन्यथा फिर उसका कुछ प्रयोजन ही नहीं रह जाता । एक ओर प्रायश्चित की बात सोची जाये और दूसरी ओर उसी दुष्कर्म को दुहराते रहा जाये तो यह विडम्बना एक प्रकार की मखौल ही मानी जायेगी ।

ईश्वर से क्षमा माँगना उचित है । इससे आत्मशोधन को बल मिलता है । तीर्थयात्रा, देव-दर्शन, व्रत उपवास करने से चित्त हलका होता है और उस भूल को आगे न दुहराने की प्रेरणा मिलती है पर इतने से ही पूर्व कृत्यों का फल भोगने या खाई पाटने जैसी तो कोई बात बनती नहीं । ऋण से उऋण वही हो सकता है जो लिए हुए धन को वापिस कर दे । समाज को हमने दुष्कर्मों से जितनी क्षति पहुँचाई है उसकी पूर्ति तभी होगी जब हम उतने ही वजन के सत्कर्म करके समाज को लाभ पहुँचायें । इस प्रकार हानि और लाभ का बैलेन्स जब बराबर हो जायेगा तभी यह कहा जायेगा कि पाप का प्रायश्चित हो गया और आत्मग्लानि एवं आत्मप्रताड़ना से छुटकारा पाने की स्थिति बन गई ।

यह ठीक है कि जिस व्यक्ति के साथ अनाचार बरता अब उसे घटना को बिना हुई नहीं बनाया जा सकता । सम्भव है व्यक्ति अन्यत्र चला गया हो । ऐसी दशा में उसी आहत व्यक्ति की उसी रूप में क्षति पूर्ति करना सम्भव नहीं । किन्तु दूसरा मार्ग खुला है । हर व्यक्ति समाज का अंग है । व्यक्ति को पहुँचाई गई क्षति वस्तुतः प्रकारान्तर से समाज की ही क्षति है । इसे दूसरी प्रकार से समाज सेवा के लिए श्रम, समय एवं धन आदि देकर पूरा कर सकते हैं । चोरी, बेईमानी, रिश्वत, कमतोल, मिलावट, धोखेबाजी आदि से जो धन कमाया हो उसे लोकमंगल के लिए विद्यादान, पिछड़ापन दूर करने, असहायों की सहायता आदि के आयोजनों में खर्च करके प्रायश्चित की विधि पूरी की जा सकती है । पिता के मरने पर उसकी आत्म-शान्ति के लिए श्राद्ध के नाम पर किये गये पुण्य परमार्थ दूसरों को ही लाभ देते हैं । स्वर्गीय पिता जी तो उसे लेने नहीं आते । फिर भी श्राद्ध का प्रयोजन पूरा हो जाता है क्योंकि स्वर्गीय आत्मा भी समाज की एक अंग थी और उसी समाज के कल्याण के लिए जो किया गया उस श्राद्ध से पिता की सेवा-सहायता करने जैसा ही पुण्य मिल गया । यही नीति-नियम प्रायश्चित विधान पर लागू होता है ।

यदि हमने बेईमानी से धन कमाया हो तो सारा अथवा जितना अधिक संभव हो लोक-मंगल के लिए लौटा दें । यदि व्यभिचार करके किसी का शील डिगाया हो तो समाज में शील-संवर्द्धन और सदाचार संस्थापन के लिए समय या दूसरे प्रकार का अनुदान देकर उस सामाजिक क्षति की पूर्ति करें । उत्पीड़न का प्रायश्चित पीड़ितों की सुख-सुविधा बढ़ाने में होना चाहिए । पूर्वजों तथा दूसरों से जो सेवा-सहायता एवं स्नेह का लाभ उठाया है उससे उऋण होने के लिए पिछड़ी मनोभूमि तथा परिस्थितियों के लोगों को ऊँचा उठाने में योगदान दिया जाना चाहिए । जीवन में सेवा-सहायता का समावेश पुण्य-परमार्थ संचित करने की दृष्टि से तो आवश्यक है और पिछले पापों का प्रायश्चित करके आत्म-प्रताड़ना के फलस्वरूप मिल रहे कष्टों की निवृत्ति की दृष्टि से भी ।

सस्ते मूल्य के कर्मकांड करके पापों के फल से छुटकारा पा सकना सर्वथा असम्भव है । स्वाध्याय, सत्संग, कथा, कीर्तन, तीर्थ, व्रत आदि से चित्त में शुद्धता की वृद्धि होना और भविष्य में पाप वृत्तियों पर अंकुश लगाने की बात समझ में आती है । धर्म कृत्यों से पाप नाश के जो माहात्म्य शास्त्रों में बताये गये हैं उनका तात्पर्य इतना ही है कि मनोभूमि का शोधन होने से भविष्य में बन सकने वाले पापों की सम्भावना का नाश हो जाये । पिछले पाप तो प्रायश्चित किये हुए पापों की तुलना में वैसे ही भारी पुण्य कर्मों के द्वारा सम्भव है । ईश्वरीय कठोर न्याय व्यवस्था में ऐसा ही विधान है कि पाप परिणामों की आग में जल मरने से जिन्हें बचना हो वे समाज की उत्कृष्टता बढ़ाने की सेवा-साधना में संलग्न हों और लदे हुए भार से छुटकारा प्राप्त कर शान्ति एवं पवित्रता की स्थिति उपलब्ध कर लें ।

प्रश्न—

(१) कौन-सी वस्तु मनुष्य को महत्त्वपूर्ण काम नहीं करने देती ? (२) पाप और आन्तरिक दुर्बलताएँ किस तरह पतित करती हैं ? (३) कष्टसाध्य रोगों का कारण क्या है ? (४) दुष्कर्म और कुविचार किस प्रकार प्रभाव डालते हैं ? (५) पाप से छुटकारा कैसे मिल सकता है ? (६) आत्मा को बल किस प्रकार मिलता है ? (७) प्रायश्चित के नाम पर फैली विकृतियाँ बताओ ? (८) आत्म-शोधन का शुद्ध स्वरूप क्या है ? (९) क्या सस्ते कर्मकांड प्रायश्चित की आवश्यकता पूरी करते हैं ? (१०) आत्म-विकास की ईश्वरीय व्यवस्था की जानकारी दें ?

हम कामनाग्रस्त न हों-प्रगतिशील बनें

प्रगति की आकांक्षा और लालसाओं की पूर्ति का सामान्य स्वरूप एक-सा दीखता है, पर बारीकी से देखने पर इनमें जमीन-आसमान का अन्तर मिलेगा । प्रगति उस आवश्यकता का नाम है जो व्यक्तित्व को उभारती, प्रतिभा को निखारती तथा योग्यताओं को बढ़ाती है । इसका अर्थ है उन क्षमताओं का विकास जो शरीर, मन, कर्तृत्व एवं स्वभाव को स्वस्थ, स्वच्छ एवं सुविकसित बना सके । यही वास्तविक प्रगति है । इसी के आधार पर मनुष्य जो भी सांसारिक सम्पदाएँ चाहे प्राप्त कर सकता है । धन उपार्जन करने की क्षमता, हाथ में लिए हुए काम में सफलता, कुशाग्र सूझ-बूझ, आकर्षक व्यक्तित्व, पदोन्नति, सम्बन्धित लोगों का स्नेह-सहयोग आदि न जाने कितनी सिद्धियाँ इसी विशेषता के आधार पर मिलती हैं । निखरा हुआ व्यक्तित्व ही साहसिक कदम उठा सकने की हिम्मत और चमत्कारी उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकने में समर्थ होता है । अपनी इसी प्रसुप्त विशेषता को जाग्रत एवं प्रखर बना सकना प्रगति का मूल तथ्य है । जिसके हाथ यह पारस लग गया उसे दीन, दुर्बल जीवन नहीं जीना पड़ता वरन् एक से एक बढ़ी-चढ़ी सफलताओं और सम्पदाओं के प्राप्त करने का अवसर निरन्तर मिलता रहता है ।

बाहर से जो सम्पदाएँ या सफलताएँ दीखती हैं वे स्थिर व लाभदायक तभी हो सकती हैं जब उनके पीछे सुविकसित व्यक्तित्व की श्रम-साधना सन्निहित हो । यदि यों ही उत्तराधिकार में भाग्यवश, अनायास या अनैतिक तरीके से कोई सफलता या सम्पदा मिल गई तो वह देर तक टिकेगी नहीं, उसे सँभालना और रोकना कठिन हो जायेगा । किसी प्रकार वह बनी भी रही तो इतनी सम्भावनाएँ और उलझनें उत्पन्न करेंगी जिससे यही सोचना पड़ेगा कि इससे तो निर्धन या असफल रहना अच्छा था । व्यक्तित्व का निखार ही वस्तुत अनेक तरह की भौतिक और आत्मिक सम्पदाएँ उत्पन्न करने में समर्थ रहता है । और उसी के आधार पर उनका सदुपयोग बन पड़ता है । उसी स्थिति में उस वैभव का कुछ उपयोग और लाभ भी है अन्यथा अनुपयुक्त व्यक्तित्व अनायास प्राप्त सम्पदा से अपना और दूसरों का अहित करते और शोक, सन्ताप फैलाते दीखेंगे । प्रगति शब्द का ठीक अर्थ और स्वरूप समझना हो तो यही कहा जायेगा कि परिष्कृत शरीर और मन के आधार पर सुविकसित व्यक्तित्व का निर्माण कर सकने में सफलता प्राप्त कर लेना ही सच्ची प्रगति है ।

आकांक्षाएँ एक नशेबाजी जैसी मानसिक स्थिति ही समझी जानी चाहिए । वे असीम होती हैं । परिस्थिति, योग्यता और साधनों का ध्यान न रखकर अक्सर लोग आकाश-पाताल प्राप्त करने की अनियंत्रित कामनाएँ मन में बैठे रहते हैं और उन्हें जल्द जिस-तिस मार्ग से पूरा करने के लिए व्याकुल रहते हैं । यह ललक पूरी तो हो नहीं सकती, व्यक्ति को बुरी तरह उद्विग्न रखती है । कामना की पूर्ति के लिए योजनाबद्ध तैयारी करनी पड़ती है और निरन्तर श्रम-साधना धैर्य और संतुलित मन से तब तक चलानी पड़ती है जब तक कि उस उपलब्धि के लिए उपयुक्त साधन और अवसर न मिल जायें । उनमें देर हो सकती है और अनेक विघ्न आ सकते हैं । कामना ग्रस्त इस सम्बन्ध में अति अधीर होता है और छलाँग मारकर जो चाहता है उसे तुर्त-फुर्त प्राप्त करने का उतावला-बावला बना रहता है । ऐसे व्यक्ति असफल तो रहते ही हैं, उतावली में ऐसे कार्य और भी करते हैं, जिन्हें अवांछनीय और मूर्खतापूर्ण कहना पड़े और जिनका परिणाम अन्ततः विभीषिका जैसी विपत्ति के रूप में सामने आवे । इसी स्थिति से तालमेल न बिठा कर चलने वाली ललक को आकांक्षा या कामना कहते हैं । यह प्रगतिशीलता का नहीं छिछोरापन का चिन्ह है ।

प्रगतिशीलता और कामनाग्रस्त का आरम्भिक उत्साह एक जैसा लगता है, पर वस्तुतः दोनों की दो दिशाएँ और परिणाम भी एक दूसरे से विपरीत ही होते हैं । वे भौतिक लिप्साएँ जो क्षमता बढ़ाने का इन्तजार न करके तुर्त-फुर्त मनोकामना पूर्ण करने के लिए लालायित रहती हैं, आध्यात्मिक भाषा में ऐषणाएँ कही जाती हैं । ऐषणाओं में प्रधान तीन हैं-(१) वित्तेषणा (२) पुत्रेषणा (३) लोकेषणा । उन्हें सरल भाषा में अमीरी, विषय-वासना और वाहवाही कहा जा सकता है । उचित और न्यायानुकूल मार्ग से उचित मात्रा में इनकी आवश्यकता भी है पर जब इनकी ललक एक नशेबाज की उन्मत्तता जैसी स्थिति पैदा कर देती है और जिस-तिस मार्ग से उनकी असीम उपलब्धि के लिए मनुष्य व्याकुल-पागल हो सकता है । सीधे रास्ते से हर काम उचित समय, उचित श्रम और उचित पात्रत्व द्वारा ही सीमित मात्रा में पूरा होता है पर अधीरता में इन साधनों को बढ़ाने एवं अपनाने की स्थिति नहीं रहती । उतावली में, अवास्तविक कल्पना लोक में मनुष्य विचरण करने लगता है । बच्चों जैसी उपहासास्पद योजनाएँ बनाता है और बुरी तरह ठगा जाता है तथा ठोकर खाता है । अनुचित, अनैतिक मार्ग अपनाने में भी उसे झिझक नहीं होती । ऐषणाओं के पीछे बावला मनुष्य पाता कम और खोता ज्यादा है, इसलिए तत्वदर्शियों ने उन्हें खतरनाक और अवांछनीय कहा है ।

तुर्त-फुर्त अमीर बनने की लिप्सा में लोग जुआ, चोरी, बेईमानी, विश्वासघात, शोषण और छल आदि से बुरे से बुरे अपराध करते देखे जाते हैं । काम-वासना की भट्टी में जिनका मन उबल रहा है वे बहिन, भानजी, बेटी, पोती किसी को नहीं देखते । स्वास्थ्य, यश, ईमान गँवाते हैं और हर जगह भेड़िये की तरह खूनी नजर से निहारते हैं । इनसे मिलता क्या है-केवल गँवाना ही गँवाना है पर वासना का गुलाम यह सब देखता कहाँ है ? पहाड़ भर चाहता है, पर तिल पर भी पा नहीं सकता, केवल जलन, अशान्ति और

खीज ही पल्ले पड़ती है । इसी प्रकार सस्ती वाहवाही के लोभी विविध प्रकार के ढोंग रचते, नेतागिरी के लिए मरते, अपना चेहरा लोगों को दिखाने के लिए अकुलाते देखे जा सकते हैं । सजधज, शृंगार, फैशन, ठाठबाट बनाकर लोग दूसरों पर अपने बड़प्पन या आकर्षण का रौब जमाते हैं । इस प्रवंचना में समय और पैसे की पूरी बर्बादी होती है । बड़ी-बड़ी दावतें, विवाह-शादी की धूमधाम आदि में इसी सस्ती वाहवाही के भूखे लोग धन की होली फूँकते देखे जा सकते हैं । लोग हमें धर्मात्मा समझें इसके लिए कितने ही लोग तीर्थयात्रा करते, बन्दरों को चने, कछुओं को आटा खिलाते देखे जा सकते हैं । दान करने की इच्छा ख्याति का स्वार्थ लेकर होती है । नाम का पत्थर जड़वाने, पत्थर लगवाने के लोभ में कई व्यक्ति निरर्थक कामों में पैसा खर्च करते देखे जाते हैं । जबकि कितने ही अति उपयोगी कामों की ओर इसलिए लोग आँख उठाकर भी नहीं देखते क्योंकि उनमें उनकी दानशीलता का ढिंढोरा पिटने वाला नहीं होता । फिल्म में अपनी तस्वीर खिंचवाने और आवाज सुनवाने के लिए सम्भ्रान्त परिवारों के सुशिक्षित लड़के-लड़कियाँ अपने शील और भविष्य को बर्बाद करते हुये आये दिन दिखाई देती हैं । यह सब लोकेषणा पिशाचिनी का माया जाल ही समझना चाहिए, जिससे प्रतिभाओं को आदर्शवाद की ओर बढ़ने से रोककर निरर्थक की मृगतृष्णा में लुभाया और उन्हें छिछोरी बालबुद्धि में उलझा कर बर्बाद कर लिया ।

धन, वासना और वाहवाही की तीव्र आकांक्षा उठना और इसकी बेचैनी से व्याकुल रहना, ऐसा लगता है कि मानो यह प्रगतिशीलता और पुरुषार्थ-परायणता का चिन्ह है पर वस्तुतः बात ऐसी है नहीं । यह नशेबाजी जैसा एक उन्माद भर है, जो ललक को तुर्त-फुर्त पूरा करने के लिए घसीटता चला जाता है । भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं की अनियंत्रित आकांक्षा, लालसा, कामना जितनी ही तीव्र होगी उतना ही अधीर, अविवेकी, अशान्त, अनैतिक एवं उन्मत्त सरीखा व्याकुल होता चला जायेगा । इस मनःस्थिति में उसने कुछ प्राप्त कर भी लिया हो तो वह इतना महँगा पड़ता है, जितना अभावग्रस्त रहना भी नहीं अखरता ।

हमें प्रगतिशील होना चाहिए, कामनाग्रस्त नहीं । प्रतिभा के बढ़ाने को धैर्य और परिश्रमपूर्वक संतुलित मस्तिष्क से की गई साधना हमारे व्यक्तित्व को निखारती है और उसी आन्तरिक उत्कर्ष के आधार पर वह समर्थता प्राप्त होती है जिसके आधार पर किसी भी उपयुक्त दिशा में भरपूर और चिरस्थायी उन्नति कर सकना सुलभ हो जाये । हमें गाँठ बाँध कर रखना चाहिए कि सद्गुणों की सम्पत्ति वह आधार है । जिसके द्वारा सांसारिक सफलताएँ कभी भी, कितनी ही बड़ी मात्रा में मिल सकती हैं । आनन्द वासना में नहीं हँसती-हँसाती मनोवृत्ति में है जो पग-पग पर उल्लास के अवसर उत्पन्न कर सकती है । वाहवाही के ओछे प्रदर्शनों से नहीं महामानवों के पद चिन्हों पर चल सकने का साहस एकत्रित करने से वह सच्ची और चिरस्थायी श्रद्धा मिलती है जिसका अल्प अनुकरण, अनुगमन करने वाले भी यशस्वी बन सकें ।

भाग्यवाद हमें नपुसंक और निर्जीव बनाता है

एक ही औषधि हर मर्ज पर हर व्यक्ति के लिए काम नहीं आ सकती । इसी प्रकार परिस्थितियों के अनुरूप अनेक सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है । विद्यार्थियों और वानप्रस्थों के लिए ब्रह्मचर्य धर्म है किन्तु विवाहितों के सन्तानोत्पादन के लिए काम-सेवन भी धर्म बन जाता है । साधुओं का सम्मान एवं दुष्टों का प्रताड़न परस्पर विरोधी सिद्धान्त विपरीत परिस्थितियों में प्रयुक्त होते हैं । भाग्यवाद का सिद्धान्त भी एक ऐसा ही प्रयोग है जो केवल तब काम में लाया जाता है, जब मनुष्य के पुरुषार्थ करने पर भी अभीष्ट सफलता न मिले । असफलता में निराशा और खीज उत्पन्न होती है और अपनी भूल तथा दूसरों के असहयोग के अनेक प्रसंग ध्यान में आते हैं । ऐसी दशा में असफलता की हानि के साथ लोग भावी सतर्कता के लिए शिक्षा तो नहीं लेते, उल्टे अपने या दूसरों के ऊपर झल्लाते, उद्विग्न होते देखे जाते हैं, इन परिस्थितियों में भाग्यवाद की चर्चा करके चित को हल्का किया जा सकता है । उस समय के लिए यह उपयुक्त औषधि है ।

पर यह दवा यदि कुसमय में काम में लाई जाये तो पुरुषार्थ के उत्साह को ठण्डा कर सकती है और व्यक्ति को अकर्मण्य बना सकती है । अपने देश में ऐसा ही कुछ बहुत दिनों से होता चला आ रहा है और हम अपने कर्तव्यों के प्रति निर्जीव, नपुंसक, अन्यमनस्क और निराशाग्रस्त होते चले जा रहे हैं । "जो भाग्य में लिखा है, सो होगा-होतव्यता टलेगी नहीं-जितना मिलना है, उतना ही मिलेगा- कर्म-रेखा मिटती थोड़े ही है-जब अच्छे दिन आयेंगे, तभी सफलता मिलेगी"-जैसी मान्यताएँ यदि मजबूती से मन में जड़ जमा लें तो किसी भी मनुष्य को अकर्मण्य और निराशावादी बना देगी । वह यही सोचता रहेगा कि जब अच्छा समय आयेगा तब वह सब कुछ अपने आप ठीक हो जायेगा यदि अपने भाग्य में नहीं है, तो मेहनत करने पर भी क्यों मिलेगा ? ऐसे भाग्यवादी व्यक्ति न अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करते हैं और न पूरे उत्साह से किसी काम में लगते हैं, फलस्वरूप उन्हें कोई महत्त्वपूर्ण सफलता भी नहीं मिलती । आशा की ज्योति जलती ही न हो तो प्रगति पथ पर प्रकाश कैसे उत्पन्न होगा ?

यह विचारधारा भारतीय दर्शन के सर्वथा विपरीत है । अपने यहाँ सदा पुरुषार्थ, कर्म, प्रयत्न और संघर्ष को मानव-जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रतिपादित किया जाता है । अपना सारा अध्यात्म इतिहास और दर्शन इसी प्रतिपादन से भरा पड़ा है । फिर यह भाग्यवाद विकृत विचारधारा कहाँ से चल पड़ी ? इसकी खोज करने पर स्पष्ट हो जाता है कि सामन्तवादी शोषकों

ने अपनी अत्याचारों से पीड़ित जनता को किसी प्रकार शान्त-संतुष्ट करने के लिए यह मनोवैज्ञानिक नशे की गोली विनिर्मित की। उनके इशारे पर साधु-पण्डित भी इसी तरह के किस्से-कहानी गढ़कर पीड़ितों के रोष-प्रतिरोष को शान्त व शमन करने में लगे रहे।

नृशंस विदेशी शासन के द्वारा उत्पीड़ित जनता बहुत क्षुब्ध और आवेश ग्रस्त थी। आये दिन कत्लेआम, मन्दिरों को गिराया जाना, सयानी लड़कियों को जबरदस्ती ले जाना, बलात् धर्म परिवर्तन करना जैसी घटनाएँ किसका खून न खौला देंगी? कौन प्रतिरोध के लिए तैयार न होगा? पर आश्चर्य इस बात का है कि मुट्ठी भर अत्याचारियों के विरुद्ध समुद्र जितनी विस्तृत और परम तेजस्वी भारतीय जनता प्रतिरोध की दृष्टि से कुछ भी न कर सकी और वे दुष्ट उत्पीड़न लम्बी अवधि तक यथावत् चलते रहे। इस नपुंसकता के पीछे हमारी भाग्यवादी दार्शनिक भ्रष्टता का ही प्रमुख हाथ रहा, जिसने क्षोभ, रोष, प्रतिरोध एवं संघर्ष की शौर्य प्रकृति को चकनाचूर करके फेंक दिया।

कत्लेआम हुए और हमें कहा गया-जिनको जिस प्रकार, जिस दिन, जिसके हाथों मरना है, वह उसी तरह मरेंगे। उस विधान को कोई मेट नहीं सकता। उनका प्रारब्ध ऐसा ही था, जिसके कारण उन्हें मरना पड़ा। मारने वाले तो निमित्त मात्र थे, उन पर रोष करने से क्या लाभ? लड़कियों को घरों से उठा कर ले गये तो कहा गया, जिस लड़की का अन्न जहाँ बदा है, जिसके साथ इसका जूरी-संयोग लिखा-बदा है, जहाँ दुःख-सुख इसे भोगना है वहीं तो यह रहेगी। इस विधि-विधान के प्रतिकूल रोष करने से क्या बनेगा? मुट्ठी भर विदेशी, रोमांचकारी, लूट-खसोट और नृशंस उत्पीड़न करते रहे और हमें कहा गया-भगवान की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता, फिर यह अप्रिय लगने वाली घटनाएँ भी उन्हीं की इच्छा से हो रही हैं। उनका पुण्य-फल रहा होगा और हमारा पाप उदय हो रहा होगा। इसी से भगवान का यह विधान चल रहा है, इसे सहन कर लेना और चुप बैठे रहना ही उचित है।

इन धारणाओं ने हमें नपुंसक बना दिया और एक हजार वर्षों तक हम मुट्ठी भर विदेशी शासकों के पैरों तले बेतरह कुचले जाते रहे। इतना ही नहीं हमारा व्यक्तिगत पौरुष, उल्लास, उत्साह एवं पराक्रम भी खो गया। जब ग्रह-दशा, भाग्य-चक्र, हस्त-रेखा ही अनुकूल न हों तब प्रयत्न करने का झंझट ही क्यों उठाया जाये? जब समय बदलेगा तब भाग्य-लक्ष्मी का उदय होने से घर बैठे सम्मान बरस पड़ेगा-इस मान्यता के रहते कष्टसाध्य पराक्रम करने का महत्त्व ही क्या रहा? ऐसी दशा में कोई कुछ सुधारात्मक बड़ा काम किस आधार पर आरम्भ करे? किसी बड़े परिवर्तन के लिए कोई किसलिए साहस इकट्ठा करे?

शोषक और दुष्ट-दुराचारी अपने द्वारा उत्पीड़ित शोषित लोगों को इसी आधार पर ठण्डा करते रहे कि तुम्हारे भाग्य में कुछ ऐसा ही लिखा था, जिसके कारण दुःख-दारिद्र सहन करने पड़ रहे हैं। हम तो निमित मात्र हैं। असली कारण तो तुम्हारा भाग्य है। गायें कटती रहें तो हम बधिकों को किस मुख से कह सकते हैं कि तुम्हारा कृत्य अनुचित है? भाग्य और भगवान की इच्छा ही जब एकमात्र कारण है, तब उस कुकृत्य को रोकने की, विरोध करने की बात सोचना ही बेकार है। हर पाप और अपराध करने वाला अपने पक्ष में यही दलील देकर अपने को निर्दोष सिद्ध कर सकता है, फिर उस बेचारों को क्यों कोई रोके? संसार के दीन-दुःखी, पीड़ित, अपंग जब भगवान की इच्छा से ही इस स्थिति में पड़े हैं, विधि का विधान भोग रहे हैं तो उनकी सेवा, सहायता करना व्यर्थ है। इससे तो भगवान और विधाता दोनों ही नाराज होंगे कि हमारे विधान में क्यों हस्तक्षेप किया? ऐसी दशा में दीन-दुःखियों की सेवा, सहायता करना भी एक अपराध बन जाता है।

किसी समाज का दर्शन-दृष्टिकोण भ्रष्ट हो जाये तो उसमें सर्वांगीण भ्रष्टता आती है। भाग्यवाद हमारी दार्शनिक भ्रष्टता है, जिसने हमारी कर्तव्यनिष्ठा को बुरी तरह कुचल-मसल कर फेंक दिया और हम किसी समय के विश्व मूर्धन्य आज दुःख-दरिद्र की हीन परिस्थितियों में पड़े बिलख रहे हैं। बड़े से बड़े झटके खाकर भी जर्मनी और जापान पुनः अपनी पूर्व स्थिति में पर पहुँच गये, पर इतने वर्ष बीत जाने पर भी हमारी राजनीतिक स्वाधीनता हमें प्रगति पथ पर अग्रसर न कर सकी। इसका एक बहुत बड़ा कारण हमारी दार्शनिक पराधीनता है। बौद्धिक दृष्टि से हम अभी भी गुलाम हैं। अँग्रेज, मुसलमान भले ही चले गये हों पर हमारे मस्तिष्क को भाग्य, देवता, ग्रह-नक्षत्र, विधि-विधान, ईश्वर-इच्छा, समय का फेर आदि मूढ़ मान्यताओं की जंजीर उसी तरह से जकड़े हुए है।

भाग्यवाद के सिद्धान्त का यदि कुछ उपयोग है तो केवल इतना कि जब मनुष्य असफल या हताश हो जाये तो थोड़ी देर के लिए अशान्ति को हल्का करने के लिए उसका वैसा ही प्रयोग कर लिया जाये जैसा कि तेज बुखार के सिर दर्द में 'एस्प्रो' की गोली खाकर थोड़ी देर के लिए राहत मिल जाती है। इसके अतिरिक्त यदि कर्त्तव्य क्षेत्र में उसका उपयोग किया जाने लगा तो उससे केवल अनर्थ ही उत्पन्न होगा। लोग अपना कर्त्तव्य और पुरुषार्थ खो बैठेंगे। आशा और उत्साह, साहस और शौर्य सब कुछ कुण्ठित हो जायेगा। न अनीति के विरुद्ध संघर्ष कर सकना सम्भव रहेगा और न सेवा तथा सुधार के लिए किसी के मन में उत्कण्ठा जगेगी। इस मान्यता के रहते हम युग-युगान्तरों तक दयनीय परिस्थितियों में ही निर्जीव और निःचेष्ट बने पड़े रहेंगे। इसलिए आवश्यक है कि इस बौद्धिक दासता के भ्रष्ट सिद्धान्त को ठोकर मारें, जिसे शोषकों ने हमारे रोष की प्रतिक्रिया से बचने के लिए गढ़ा और फैलाया है। कल का दूध कस का कर्म ही आज भाग्य बन सकता है। कल का दूध आज दही कहला सकता है। इसलिए यदि भाग्य कुछ है भी तो केवल हमारी कर्मठता की प्रतिक्रिया, प्रतिध्वनि मात्र

है । इसलिए हमें भाग्य की ओर न देखकर कर्मनिष्ठा को ही प्रधानता देनी चाहिए ।

प्रश्न–

(१) भाग्यवाद और पुरुषार्थ में जिस प्रकार अन्तर है, उसी तरह किन्हीं और दो भिन्न उदाहरणों को बतावें ? (२) पुरुषार्थ के असफल होने पर क्या हानि है तथा तब भाग्यवाद से क्या लाभ है ? (३) भाग्यवाद किस प्रकार व्यक्ति को अकर्मण्य बना देता है ? (४) भाग्यवाद का प्रचारक कौन था तथा उसका कारण क्या था ?(५) विदेशी शासक भारतीय जनता पर किस प्रकार शासन किया करते थे ? (६) भाग्यवाद से हमें विदेशी शासकों के राज्य से क्या हानियाँ उठानी पड़ीं ? (७) यह आप कैसे कह सकते हैं कि भाग्यवाद ने हमें नपुंसक बना दिया है ? (८) विदेशी शासकों के जाने के बाद इतने वर्ष बीत जाने पर भी हम उन्नति क्यों नहीं कर सके ? (९) भाग्यवाद उपयोगी भी है, कब कैसे ? (१०) कर्म भाग्य कब बनता है ।

बौद्धिक परावलम्बन का जुआ उतार फेंकें

ग्रह-नक्षत्र आसमान में रहते हैं । वे पंचभौतिक अणु-परमाणुओं से बने पिण्ड मात्र हैं । जैसा कि चन्द्रमा पर पदार्पण करके तथा मंगल, शुक्र आदि की वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करके पता लगा लिया गया है । उनमें न देवता रहते हैं न प्राणी । यदि रहते भी हों और कुछ प्रभाव भी डालते हों तो वह समस्त पृथ्वी या उसके किसी भाग पर ही हो सकता है । यह किसी प्रकार सम्भव नहीं कि ये निर्जीव पिण्ड अलग-अलग व्यक्तियों पर अलग-अलग प्रकार के प्रभाव डालें । भारतीय ज्योतिष शास्त्र खगोल विद्या का महत्त्वपूर्ण अंग है । उसमें नक्षत्रों की गतिविधियों का बहुत बड़ा ज्ञान समाविष्ट है । यह विद्या अति महत्त्वपूर्ण है पर पिछले दो हजार वर्षों से तो उस विज्ञान में फलित ज्योतिष की एक नई शाखा रचकर भ्रम और अज्ञान फैलाने का एक घृणित साधन बना लिया गया है । गणित ज्योतिष ऋषियों की देन है उसमें वैज्ञानिक तथ्यों का समावेश है पर फलित ज्योतिष तो यों ही अटकल-पच्चू है, लोगों को अशुभ ग्रह दशा के भय से डराना और डरे हुए लोगों से ग्रह देवता की पूजा-पत्री के नाम पर कुछ ऐंठ लेना यही इस नई गढ़न्त का एकमात्र आधार है । पिछले दिनों व्यवसायी लोगों ने भोली जनता की धर्म श्रद्धा का अनुचित शोषण करने के लिए यह जाल-जंजाल रचकर खड़ा कर दिया है और असंख्य व्यक्ति उन मान्यताओं के शिकार होकर अकारण दुःखी रहते और अपना भारी अहित करते रहते हैं ।

विवाह-शादियों में जन्मपत्र मिलाने की प्रथा से असंख्य सुयोग्य जोड़े मिलने से वंचित रह जाते हैं । लड़की-लड़के सुयोग्य हैं, सम्बन्धी भी रजामंद हैं पर पण्डितजी ने पन्ना देखकर बता दिया कि विधि वर्ग नहीं मिलता । बस सारा आधार नष्ट हो गया । मन नहीं भर रहा है, विवाह जोड़ना कुछ जम नहीं रहा है, पण्डितजी ने बता दिया विधि वर्ग बहुत अच्छा मिलता है-बस स्वीकृति मिल गई । परिणामों की शोध की जाये तो पता लगेगा कि विधि वर्ग की संगति मिलाकर जो विवाह किये गये थे उनमें से कितने सफल रहे । परिणाम उलटा ही मिलेगा, क्योंकि विधि-वर्ग की सनक में जो लोग अन्य बातों की उपयोगिता, अनुपयोगिता की परवाह नहीं करते, उन्हें स्पष्टतः घाटे में रहना चाहिए और रहते भी हैं ।

लड़की मंगली है । लड़का मंगली है । बस इतने भर से उनके विवाह-शादी असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य हो जाते हैं । सुयोग्य साथी पाने के अधिकारी थे, इस मूढ़-मान्यता के शिकार हो गये कि उनकी कुण्डली में मंगल बैठा है । उन्हें सुयोग्य साथी के चुनाव में वंचित रहना पड़ा । कोई मंगली जोड़ा बैठे तब काम चले । ढूँढ़-खोज में निराश अभिभावक जहाँ भी मंगली की तुक बैठती है, वहीं विवाह की बला काट देते हैं, ये बच्चे आजन्म रोते-विलखते रहते हैं ।

देखना यह है कि क्या इस बात में कुछ सच्चाई भी हो सकती है कि करोड़ों मील दूर रहने वाले ग्रह-नक्षत्र पृथ्वी निवासी किसी व्यक्ति विशेष को प्रभावित ही नहीं करें वरन् उनकी विवाह-शादी जैसी आवश्यकताओं में हस्तक्षेप करें । विवेक कहता है-यह सर्वथा असम्भव है । एक तो ग्रह-नक्षत्रों में कोई जीवन ही संदिग्ध है । विज्ञान उन्हें निर्जीव पिंडमात्र सिद्ध कर रहा है । यदि ये सजीव भी हों, तो हर व्यक्ति के प्रति उनकी बार-बार बदलने वाली रीति-नीति का कोई कारण या आधार समझ में नहीं आता । हिन्दू-समाज का एक बहुत छोटा वर्ग फलित-ज्योतिष पर विश्वास करता है । इस देश के निवासियों में से भी अधिकांश की मान्यता अलग तरह की है । अन्य देशों की तो बात ही क्या कहनी । वहाँ इस तरह की कोई मान्यता नहीं । तब क्या उन्हें ग्रह-नक्षत्रों का कोपभाजन ही बनना पड़ता होगा ?

पिछले दो हजार वर्षों से हम बौद्धिक गुलामी के बेतरह शिकार हुए हैं । स्वतन्त्र चिन्तन और विवेकशीलता को हम छोड़ बैठे । फलस्वरूप इस जीवन के हर क्षेत्र में परावलम्बी होते चले गये । एक हजार वर्षों की राजनैतिक पराधीनता इस बौद्धिक गुलामी की ही प्रतिक्रिया थी । जो मानसिक दृष्टि से परावलम्बी हो जाता है, उसे व्यावहारिक जीवन में भी किसी का गुलाम बनकर ही जीना पड़ता है । विदेशियों और विधर्मियों के पैरों तले हम एक हजार वर्ष तक इसीलिए दबे पड़े रहे कि स्वतन्त्र चिन्तन और विवेकपूर्वक दिशा निर्धारण की प्रवृत्ति खो बैठे । जो कुछ होना है, जो कुछ होगा देवताओं की, भाग्य की, नक्षत्रों की कृपा से होगा । हमारी स्वतन्त्र चेतना तो निरर्थक है । इस प्रकार की मान्यता हमारी सबसे बड़ी दुर्बलता है । इस दुर्बलता का फूहड़ उदाहरण फलित ज्योतिष के रूप में देखा जा सकता है । जन्मपत्रों में ही हमारा सब कुछ भूत-भविष्य लिखा है । यह मान्यता हमारे पुरुषार्थ को निरर्थक

सिद्ध करती है । जो होना है सो जन्म कुण्डली में ही लिखा है । हमें इसी के अंगुलि निर्देशों पर घूमना है । यह मान्यता स्वतन्त्र चिन्तन और पुरुषार्थपूर्ण कर्त्तव्य के सारे द्वार बन्द कर देती है । मनुष्य बौद्धिक दृष्टि से पराधीन और भाग्यवादी बनकर किसी अज्ञात के संकोच और सहयोग, असहयोग से बँधी हुई पतंग की तरह अपने को मानने लगता है । जीवन के प्रगति पथ पर यह स्थिति सबसे बड़ी बाधा और विपत्ति है । इसने हमारे विवेक और कर्त्तव्य को जितनी क्षति पहुँचाई, उतनी शायद ही किसी और भ्रान्ति ने पहुँचाई हो । हमारा भविष्य निर्धारित और विश्वस्त है, इस मूढ़ मान्यता पर जो विश्वास करेगा वह न तो पराक्रमी हो सकता है और न अपनी प्रतिभा को सजग करने के लिए आवश्यक उत्साह ही उत्पन्न कर सकता है । फलित ज्योतिष एक प्रकार से हमें भाग्यवादी, परावलम्बी और नपुंसक बनाकर रख देती है । यह हमारे आध्यात्मिक जीवन को एक महती विपत्ति ही कही जा सकती है । जिन्होंने इस जंजाल का सृजन किया उन्होंने मानव-समाज का कितना अहित कर डाला, वे बेचारे शायद ही यह अनुमान लगा सके हों ।

जन्म-पत्री बनवाने और किसी को दिखाने का अर्थ है अपने ऊपर बैठे-ठाले एक चिन्ता, भय एवं अशान्ति का आवरण तान लेना । नौ ग्रहों में से कभी कोई प्रतिकूल न हो ऐसा हो ही नहीं सकता । ज्योतिषी इसी बात को बताकर डरा देगा और प्रयत्न करेगा कि उसे पूजा-पाठ के, ग्रह-शान्ति के नाम पर कुछ ऐंठने को मिले । डरा हुआ व्यक्ति देता भी है और ज्योतिषी की गहरी छनती रहती है पर अपने ऊपर जो आशंका और भ्रांति सवार हो गई वह हर घड़ी खून सुखाती रहेगी और मानसिक शान्ति को नष्ट करती रहेगी । ग्रहों को शान्त या अशान्त कर सकना ज्योतिषी के हाथ में होता तो वह गर्मी के दिनों में सूर्य को जरूर शान्त कर देता ताकि पृथ्वी पर सुहावना मौसम बना रहे । चन्द्र आकर्षण को जरूर शान्त कर देता ताकि समुद्र में ज्वार-भाटे न उठते और जहाज एवं नावों का आवागमन निरापद हो जाता । जो इतना भर नहीं कर पाते उनसे कैसे आशा करें कि ग्रहों की गतिविधियाँ उनकी मुट्ठी में हैं ।

शकुन, मुहूर्त हमारी गतिविधियों को पग-पग पर रोकते हैं । अभी कोई काम आवश्यक करना है, मुहूर्त नहीं निकला तो उसे रोकना ही पड़ेगा । सोमनाथ मन्दिर पर महमूद गजनबी ने आक्रमण किया तो उसका प्रतिकार करने का मुहूर्त ही नहीं निकला फलस्वरूप बिना लड़े ही उस विशाल सम्पत्ति पर आक्रमणकारियों का अधिकार हो गया । ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ आये दिन घटित होती रहती हैं और हर क्षण मूल्यवान है इस तथ्य को भूलकर हम किसी अच्छे मुहूर्त की राह जोहते रहते हैं । बिल्ली का रास्ता काट जाना, कुत्ते का कान फड़फड़ा देना, पनघट की ओर जाता खाली घड़ा, किसी जुकाम पीड़ित की छींक हमारे उत्साह को नष्ट करने के लिए पर्याप्त है । अपशकुन हो गया तो दिल धड़कने लगा । हिम्मत आधी रह गई । ऐसी दशा में यदि घबराये हुए व्यक्ति को असफलता का मुँह देखना पड़े तो आश्चर्य ही क्या है ?

कोई नई वस्तु, पशु या व्यक्ति घर में आया तो देखते हैं कि यह शुभ है या अशुभ । संयोगवश कोई हानिकर प्रसंग आ गया तो दोष बेचारे उस नवागन्तुक का है । नई बहू घर में आई उसी दिन संयोगवश भैंस मर गई । सारा दोष नई बहू का, यह अभागिन है । इसी प्रकार किसी अयोग्य का संयोग शुभ सिद्ध होने का बन जाये, तो फिर तो पौ बारह हैं । लाखों विधवाएँ, अपराधिनी की तरह इसीलिए मुँह छिपाये फिरती हैं कि उनका पति मर गया और मृत्यु का कारण उनका अशुभ भाग्य ठहराया गया ।

अशुभ भविष्यवाणियों के आधार पर लोग अपने उज्ज्वल भविष्य की आशा छोड़ बैठते हैं । हाथों की रेखाओं की, चेहरे पर किसी अंग की, बनावट देखकर जिन्हें भाग्यहीन घोषित कर दिया है, उन बेचारों की मनोभूमि एक प्रकार से कुचल दी गई । उन्हें प्रगति पथ पर अग्रसर होने का उत्साह अब कहाँ से मिल सकेगा ? भ्रांतियों के जंजाल से हम निकलें और इस बौद्धिक परावलम्बन की बेड़ियाँ तोड़ फेंकें यही हमारे लिए उचित एवं उपयुक्त है ।

प्रश्न—

(१) ज्योतिष कितने प्रकार का होता है । उसमें कौन- सा श्रेष्ठ है ? (२) फलित ज्योतिष की हानियों पर प्रकाश डालिए ? (३) विवाह के पूर्व कुण्डली मिलाने से लाभ है या हानि ? (४) ग्रह दशा से डरा कर जनता को गुमराह करना कहाँ तक उचित है ? (५) दो हजार वर्ष की गुलामी का भयंकर दुष्परिणाम क्या हुआ ? (६) सिद्ध कीजिए "भाग्यवाद निरर्थक है ।" (७) उन्नति या प्रगति का आधार स्वतंत्र चेतना है या भाग्य ? (८) स्वतन्त्र चिन्तन एवं पुरुषार्थ पूर्ण कर्त्तव्य ही सुख के सारे द्वार खोलता है ? सिद्ध कीजिए (९) सिद्ध कीजिए कि शकुन, मुहूर्त, कुण्डली, राशिफल, मनुष्य को भयभीत व कमजोर बनाते हैं ? (१०) असफलता का मूल कारण क्या है ?

ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्ति-योग की महान साधना

आत्मा और परमात्मा को जोड़ देने वाली प्रक्रिया का नाम योग है । योगाभ्यास, योगसाधना करके श्रेयार्थी पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं । योगाभ्यास के दो मार्ग हैं, एक भौतिक दूसरा आत्मिक । भौतिक वे हैं जिनमें शरीर की क्रियायें करनी पड़ती हैं, आत्मिक वे जिनमें मन और चेतना को परिष्कृत किया जाता है । शरीर भौतिक पदार्थों से बना है और उसमें भौतिक शक्तियाँ भरी पड़ी हैं । अन्तःकरण चेतना तत्व से बना है । इसलिए वह सूक्ष्म और दिव्य-शक्तियों का निवास है । शरीर द्वारा किये गये योगाभ्यास से भौतिक उत्कर्ष का लाभ मिलता और मानसिक साधनाओं द्वारा और आत्मबल बढ़ने और

आत्मतत्वों के विकास का मार्ग खुलता है । शरीर क्षेत्र की अपेक्षा आत्मिक क्षेत्र की समर्थता और सम्भावना एवं सामर्थ्य अधिक है, इसलिए तत्वज्ञानी सर्वसाधारण के लिए मानसिक साधनाओं का निर्देश विशेष रूप से देते रहे हैं और विशिष्ट व्यक्तियों को शरीरगत अभ्यासों की बात कहते रहते हैं ।

शरीरगत अभ्यास में आसन, प्राणायाम, नेति, धोति वस्ति, बज्रोली कपालभाति, मुद्रा, बंध, व्रत, यात्रा, स्नान, कीर्तन जैसे साधन बताये जाते हैं । यह सब कार्य शरीर को करने पड़ते हैं । इसलिए उनके परिणाम भी प्रायः भौतिक स्तर के होते हैं । मानसिक साधनाओं में ध्यान धारण-ध्यान प्रत्याहार, समाधि जैसे प्रसंग आते हैं । शरीरगत योग ८४ प्रकार के विख्यात हैं । क्रियाएँ भी ऐसी करनी पड़ती हैं जो कष्टसाध्य होती हैं और भूल होने पर उल्टी हानिकारक हो सकती हैं । मानसिक साधनाओं में ऐसी कठिनाई नहीं है । इसलिए वे सर्वसाधारण के लिए सुलभ हैं । उन्हें बिना किसी की सहायता से भी किया जा सकता है । मानसिक योग साधनाओं में तीन प्रमुख हैं–(१) ज्ञानयोग, (२) कर्मयोग, (३) भक्तियोग । इन्हें बाल-वृद्ध, नर-नारी, रोगी-नीरोग, शिक्षित-अशिक्षित कोई भी किसी स्थिति में रहकर बिना किसी कठिनाई के कर सकता है । और आत्मा को परमात्मा से मिलाने का योग लक्ष्य प्राप्त कर सकता है ।

ज्ञान योग का प्रयोजन है जीवन के स्वरूप, प्रयोजन लक्ष्य और सदुपयोग की रूपरेखा ठीक तरह हृदयंगम करना और अन्तःकरण में इतना उत्साह एवं साहस उत्पन्न करना कि आत्मकल्याण के उद्देश्य से अपनी विचारणा और कार्य-पद्धति के निर्माण में जुट जाये । इसके लिए हमको बार-बार आत्म-चिन्तन करना चाहिए और अपनी वर्तमान स्थिति पर विचार करना चाहिए । यह भी विचारना चाहिए कि बोलने, सोचने, पढ़ने की, उपार्जन, गृहस्थ, शिक्षा, चिकित्सा, वाहन, मनोरंजन आदि की जो सुविधाएँ किसी भी प्राणी को नहीं मिलीं, केवल मनुष्य को ही भगवान ने क्यों दीं ? यदि अकारण दी होतीं तो वह पक्षपाती कहलाता और समस्त जीव-जन्तु परमात्मा से शिकायत करते कि अकेले मनुष्य को ही वे लाभ क्यों दिये ? इस प्रश्न का उत्तर एक ही है कि परमात्मा ने मनुष्य को अपने प्रतिनिधि एवं सहयोगी के रूप में इसलिए सृजा कि वह उसके संसार को अधिक सुन्दर, सुव्यवस्थित, सुगन्धित, समुन्नत बनाने में उसका हाथ बटाये । यदि अतिरिक्त सुविधाएँ मनुष्य को प्राप्त हैं तो वे उसी महान उद्देश्य को पूरा कर सकने के साधन मात्र हैं । इनको तृष्णा वासना की पूर्ति में नहीं वरन् निर्वाह मात्र के लिए आवश्यक न्यूनतम उपभोग करके अपने भौतिक और आत्मिक साधनों को, विराटब्रह्म के लिए, विश्व मानव के लिए नियोजित करना चाहिए । यह सच्चाई जितनी स्पष्ट होने लगे और अन्तःकरण इस प्रयोजन में रस लेने लगे तभी समझना चाहिए कि आत्मबोध हुआ, अज्ञान का आवरण हटा, माया के बन्धन कटे और मन के प्रभाव का आलोक अंतःकरण में फैला । ज्ञान का उद्देश्य इसी विचारणा को इस स्तर तक जानना है कि इसकी पूर्ति के लिए अन्तःकरण बेचैन हो उठे ।

ज्ञान योग का प्रकाश जब अन्तःकरण में जाता है तब व्यक्ति को यह भान होता है कि उसे पेट और प्रजनन की तृष्णा-वासना जैसे पशु प्रयोजनों के लिए मानव-जीवन जैसी बहुमूल्य विभूति को नष्ट न कर डालना चाहिए वरन् अपनी आन्तरिक एवं बाहरी गतिविधियों का निर्धारण इस प्रकार करना चाहिए जिससे ईश्वर की इच्छा को पूर्ण करने और उपलब्धियों को अभीष्ट उद्देश्य में लगाने का सुयोग बन पड़े । इस विचारणा को चिन्तन और मनन द्वारा–स्वाध्याय और सत्संग द्वारा प्रबल और सक्रिय बनाना ही ज्ञानयोग है ।

ज्ञानयोग का व्यावहारिक रूप अगला कदम कर्मयोग है । कर्त्तव्य की दृष्टि से-आदर्श और उद्देश्य के लिए, प्रत्येक कार्य करने के लिए अपने को मुस्तैदी के साथ जुटा देना कर्मयोग की साधना है । लोभ और मोह के लिए, तृष्णा, वासना और अहंकार की पूर्ति के लिए अपने क्रिया-कलाप न हों, वरन् उनके पीछे यही भावना काम करे कि हम अपने मानवीय कर्त्तव्यों में किसी भी कारण राई-रत्ती अन्तर न पड़ने देंगे । दूसरे लोग हमारे प्रति अनुचित व्यवहार करें तो उसके समाधान के अन्य उपाय किये जायें, पर यह न सोचा जाये कि हम भी उसी स्तर पर उतर आवें और अवांछनीय एवं अनुचित कार्य करने लगें । अपने समस्त कार्य आदर्शवादिता और उत्कृष्टता से ही भरे होने चाहिए । इस सम्बन्ध में अपनी आत्मा इतनी सुदृढ़ हो कि समस्त संसार के दुर्व्यवहार मिलकर भी उसे विचलित न कर सकें ।

अधिकार में कमी पड़ती हो तो पड़े पर कर्त्तव्य पालन में अन्तर न आने पाये । जीवन सादगी भरा जिये, जिससे उच्च विचारों को कार्यान्वित करना सम्भव हो जाये । जो जितना महँगा, जितना आडम्बरी और जितना महत्त्वाकांक्षी जीवन जियेगा उसकी आवश्यकताएँ उतनी ही बढ़ेंगी और उनके दावानल में ही उसकी शुभकामनाएँ समाप्त हो जायेंगी । जीवनोद्देश्य की पूर्ति के लिए न समय बचेगा न श्रम, न मन, न धन । इसलिए उत्कृष्ट जीवन जीने वाले को सादगी ही वरण करनी चाहिए । अपने साधन महत्त्वाकांक्षाओं की सम्पन्नताओं की ललक में नहीं वरन् गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत करने वाली सत्प्रवृत्तियों में नियोजित किये जाने चाहिए । नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम, आत्मा से परमात्मा, पशु से देवता, क्षुद्र से महान होने की महत्त्वाकांक्षाएँ ही श्रेयस्कर हैं । दूरदर्शी दौलत जमा करने, अहंकार पुजवाने और वासना की आग में जल मरने के लिए नहीं जीते वरन् वे ऐसे अनुकरणीय पद चिन्ह छोड़ते हैं जिन पर चलकर असंख्य मनुष्य महानता की दिशा में अग्रसर हो सकें । ऐसा आदर्श जीवन बनाना ही कर्मयोग की साधना है ।

भक्ति का अर्थ है–प्यार, भक्तियोग का अर्थ है–प्यार का विकास । ईश्वर से प्रेम करने का–परमात्मा से भक्ति

करने का उद्देश्य है । इस विराट ब्रह्म–विश्व मानव से प्रेम करना । यह समस्त संसार ही ईश्वर का विराट रूप है । सब में समाई हुई आत्मा का सम्मिलित रूप ही परमात्मा है । समष्टि–समाज एवं विश्व चेतना के रूप में हम ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं । अर्जुन और यशोदा को दिव्य चक्षु देकर भगवान ने अपना वास्तविक विराट रूप इसी प्रकार दिखाया है । हमारे दिव्य चक्षु खुलेंगे तो समस्त संसार ईश्वर का रूप दिखाई देगा और उनके साथ आत्मीयता, सद्भावना, सेवा, उदारता का प्यार भरा व्यवहार करने को जी मचलेगा । "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना जगेगी । जिस प्रकार अपने परिवार के प्राणियों को समुन्नत बनाने की बात याद रहती है । उसी प्रकार समस्त विश्व को सुखी–समुन्नत बनाने के लिए अपने आप को जुटा देने, खपा देने की आकांक्षा प्रबल होगी । तब लोक–मंगल के लिए बहुत से कष्ट, श्रम, प्रयत्न और त्याग कर गुजरना जीवन की पहली आवश्यकता प्रतीत होगी और इस उद्देश्य के लिए निरन्तर कटिबद्ध रहना दैनिक जीवन का एक अविच्छिन्न अंग बन जाएगा । यही भक्ति योग का वास्तविक स्वरूप है ।

ज्ञान–योग, कर्म–योग और भक्ति–योग की जीवन साधना वस्तुतः अति उच्चकोटि का सर्वसुलभ योगाभ्यास है । इस त्रिविधि योग की विचारणा और कार्य–पद्धति यदि हमारे व्यावहारिक जीवनक्रम में घुल–मिल जाये तो निस्सन्देह आत्मा को परमात्मा से मिला देने का–अपूर्णता को पूर्णता में परिवर्तित कर देने का जीवन लक्ष्य सहज ही पूर्ण हो सकता है ।

प्रश्न–

(१) योग की परिभाषा बताओ ? (२) शारीरिक योग कितने हैं, उनसे क्या लाभ मिलता है ? (३) मानसिक योग कितने प्रकार के होते हैं ? (४) योग का प्रयोजन और सदुपयोग क्या है ? (५) ज्ञान योग किस प्रकार बन्धन खोलता है ? (६) कर्मयोग की व्याख्या करो ? (७) सादगी श्रेष्ठता का निर्माण कैसे करती है ? (८) भक्ति- योग का क्या अर्थ है ? (९) वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना कैसे जागती है ? (१०) आत्मा–परमात्मा में किस प्रकार मिलती है ?

आध्यात्मिक जीवन के पाँच कदम

अध्यात्मवादी उज्ज्वल और उत्कृष्ट जीवन की गतिविधियाँ–सामान्य नर पशुओं की तरह पेट और प्रजनन, वासना–तृष्णा पर आधारित नहीं होतीं वरन् उच्च आदर्शवादिता ही उनकी आकांक्षाओं और प्रेरणाओं की जननी होती है । अध्यात्मवादी वह है जो आत्मा और शरीर को एक नहीं दो मानता है । दो नहीं एक को अधिपति और दूसरे को उपकरण समझता है । यह अन्तर जिसकी दृष्टि में स्पष्ट हो गया वह काया की सुख–सुविधा, इन्द्रियों की लिप्सा और झूठी वाहवाही, शानशौकी को महत्त्व न देकर इस बात को महत्त्व देता है कि आत्मकल्याण और आत्मविकास जैसे महान प्रयोजन के लिए लाखों वर्षों बाद भूले हुए इस अमूल्य मानव जीवन का श्रेष्ठतम सदुपयोग कैसे करें ? इसी धुरी के इर्द–गिर्द उसकी आकांक्षा, अभिलाषा, विचारणा घूमती है और इसी प्रयोजन के लिए इसकी क्रिया पद्धति और रीति–नीति का निर्धारण होता है । इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यदि शारीरिक सुविधाओं, भौतिक सम्पदाओं में कुछ कमी आती है तो उसे रत्ती भर भी रंज नहीं होता, क्योंकि यह जानता है कि शरीर एक उपकरण मात्र है । इसकी सुविधाएँ घटती हैं तो आत्मा के उत्कर्ष का द्वार खुलता है । इससे हानि कम और लाभ अधिक है । इस मान्यता से प्रेरित जीवन को अध्यात्मवादी अथवा देव–जीवन कह सकते हैं ।

इसके विपरीत भौतिकवादी पशु–जीवन वह है जिसमें सारी आकांक्षाएँ, शारीरिक सुविधा और पार्थिव उपलब्धियों के लिए लालायित और नियोजित रहती हैं । हमारे पास पैसा अधिकाधिक हो, ऐश–आराम के साधन बढ़ें, इन्द्रिय भोगों की पूरी छूट हो, शौक, मौज, मनोरंजन के साधनों की कमी न रहे, लोग अपना रौब मानें और वाहवाही की झड़ी लगा दें । बस, इतनी भर लालसा जिनकी है वे इस स्तर का ताना–बाना बुनते हैं । सारा समय, सारा श्रम, सारी क्षमता और सारी योग्यता इसी गोरखधन्धे में समाप्त हो जाती है । आत्मकल्याण की बात तो तब याद आये जब आत्मा नाम का कोई अलग तत्व या तथ्य उनके सामने हो । शरीर ही उनके लिए आत्मा है वही परमात्मा है, वही सर्वस्व है । शरीर और आत्मा के स्वार्थ भिन्न–भिन्न हैं और आमतौर से एक दूसरे से टकराते हैं जो इस रहस्य को नहीं समझता उसे यह सोचने की फुरसत कहाँ है कि आत्मा की आवश्यकताओं का हनन करके शरीर की सुविधाएँ बढ़ाने में बुद्धिमानी नहीं है । चन्द रोज की जिन्दगी में काया को क्षणिक सुख देने के प्रलोभन में जो जीवन लक्ष्य और आत्मकल्याण का उद्देश्य खो बैठेगा उसे दुनियादारी की दृष्टि से तो बुद्धिमान न कहा जाएगा पर जन्म–जन्मान्तरों का भविष्य इतने भर के लिए अन्धकारमय बना लेने की दृष्टि से तो उसे महामूर्ख के अतिरिक्त कुछ कहा, समझा नहीं जा सकेगा ।

अध्यात्मवादी जीवन मनुष्य के गौरव की दृष्टि से, उज्ज्वल भविष्य की दृष्टि से, सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से और सर्वोपरि आत्मशान्ति एवं आन्तरिक संतोष की दृष्टि से नितान्त आवश्यक और अति महत्त्वपूर्ण है । ऐसा जीवन जीने के लिए प्रेरणा हो और अभिलाषा जागे, उसे सच्चे अर्थों में सौभाग्यशाली और दूरदर्शी कहना चाहिये । ऐसा दिव्य जीवन जीने के लिए किसी को कपड़े रंगने–घर छोड़ने या भीख माँगने या वेश बदलने की जरूरत नहीं है । न सारे दिन जप, तप, व्रत, स्नान, देव–दर्शन, कथा–कीर्तन में संलग्न रहने की जरूरत है । थोड़े समय आत्मचिंतन और ईश्वरीय प्रकाश की प्राप्ति के लिए उपासना करना

उचित है । पर इसका प्रभाव तो इस कसौटी पर आँका जायेगा कि अध्यात्मवाद के सिद्धान्तों और आदर्शों को किस सीमा तक हमारी विचारणा, आस्था और कार्य-पद्धति में कितना स्थान मिला ? शरीर और मन को सुख देने वाली तृष्णाओं से मन को मोड़कर उन्हें आत्मकल्याण के प्रयोजनों में किस सीमा तक लगाया जा सका, इस मार्ग पर चलाने वाले को आरम्भिक कदम (१) सादा जीवन (२) उच्च विचार की संगति मिलाते हुए चलना पड़ता है । विलास और आडम्बर की पूर्ति के लिए जो ढेरों समय और ढेरों पैसा लगाता रहता है उसे बचा कर ही आदर्शवादी प्रयोजनों के लिए अपनी क्षमता का एक अंश लगाया जा सकना सम्भव हो सकता है । जो जितना खर्चीला और आडम्बरपूर्ण जीवनक्रम चला रहा होगा उसकी उतनी ही आवश्यकताएँ उलझनें तथा चिन्ताएँ तथा व्यस्तताएँ बढ़ेंगी इसलिए दिव्यत्व का आरम्भ मितव्ययता से किया जाता है । उच्च विचारों का सीधा सम्बन्ध सदाचार, नम्रता, सादगी और साधना से है । औरों से अधिक अपना प्रदर्शन करने की या सुख भोगने की लिप्सा को जो जितना घटाता चलेगा उसे अपने तथा अपने परिवार के निरर्थक खर्च और आडम्बर अनावश्यक लगेंगे और आत्मकल्याण के लिए–लोक कल्याण के लिए अधिक समय, मन और शक्ति लगा सकना संभव हो जाता है । यह परिवर्तन जहाँ भी दिखाई दे वहाँ आध्यात्मिकता की प्रकाश की किरणें अवतरित होना आरम्भ हो गईं, यह माना जा सकता है ।

उपर्युक्त दो चरणों के अतिरिक्त आध्यात्मिक जीवन के अगले तीन चरण और हैं जो (३) 'मातृवत परदारेषु' (४) 'पर द्रव्येषुलोष्टवत् (५) 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के रूप में उठते हैं । यदि साहसपूर्वक इन्हें अपना लिया जाये तो इस यात्रा का आगामी क्रम आसानी से चल पड़ेगा । जितनी कठिनाई है वह उपरोक्त आरम्भिक पाँच चरणों में ही है । स्त्रियों के प्रति पवित्रता की उच्च भावनाएँ रखना अध्यात्मवादी के लिए आवश्यक और स्वाभाविक है । नर और नारी में तत्त्वत: कोई अन्तर नहीं । दोनों की शारीरिक मानसिक बनावट में यत्किंचित ही अन्तर है । प्रजनन की आवश्यकता पड़ने पर काम-क्रीड़ा की उपयोगिता हो सकती है पर सामान्य समय में जिस प्रकार पुरुष-पुरुषों के प्रति, नारी-नारियों के प्रति काम विचार मन में नहीं लाते उसी प्रकार नर और नारी में भी परस्पर स्वाभाविक साधना बनी रह सकती है । कामुक दृष्टि विशुद्ध रूप से एक मनोविकार है जो सम्भव-असम्भव का विचार छोड़कर उच्छृंखल मृगतृष्णा में अकारण मन को भटकाता और सारे चिन्तनतन्त्र को अस्तव्यस्त एवं दूषित करके रख देता है । नर-नारी की और नारी-नर की शारीरिक, मानसिक, आत्मिक सुन्दरता एवं महानता को देखें, समझें और प्रसन्नता व्यक्त करें इसमें हर्ज नहीं । पर यदि कामुकता, उपभोग, जुगुप्सा जैसी शोषक एवं पतनोन्मुख दृष्टि से एक दूसरे को देखें तो वह दृष्टि दोष असंख्य मानसिक एवं सामाजिक उलझनें, विकृतियाँ उत्पन्न करेगा । नारी को आयु की दृष्टि से माता, बहिन और पुत्री की दृष्टि से देखना चाहिए । अपनी पत्नी को सखा-सहचर, मित्र और भाई जैसे समता वर्ग में रखा जा सकता है । कामुकता की पाप दृष्टि नितान्त अनावश्यक और अस्वाभाविक है । प्रजनन के लिए उपयुक्त अवसर पर कुछ समय के लिए अपने दाम्पत्य जीवन में थोड़ी आवश्यकता पड़ सकती है । उसके अतिरिक्त शेष सारा समय और सारा मन भिन्न लिंग वाले व्यक्ति के प्रति स्वाभाविकता और पवित्रता में ही ओत-प्रोत रहना चाहिए । यह दृष्टि शोधन ही सच्चे अर्थों में ब्रह्मचर्य है । इसका विवाहित, अविवाहित सभी पालन कर सकते हैं और अपने आत्मबल और ब्रह्मवर्चस्व को अभीष्ट मात्रा में बढ़ा सकते हैं । धन ठीकरी के समान अर्थ और अनुपयोगी मानना आध्यात्मिकता का चौथा चरण है । हम केवल श्रमअर्जित, ईमानदारी और उचित साधनों से कमाये हुए धन की ही इच्छा करें और यह जितना भी न्यूनाधिक कमाया जा सकता हो उतने में ही निर्वाह का बजट बनायें ।

आध्यात्मिकता का पाँचवाँ चरण यह है कि हम अपने समान सब के दु:ख-सुख को समझें । दूसरों के सुख में अपने सुख की और दूसरे के दु:ख में अपने दु:ख की अनुभूति जोड़ें । अपना सुख बाँटने और दूसरों का दु:ख बाँट लेने की आकांक्षा हमें वसुधैव कुटुम्बकम् के उच्च आत्म-स्तर तक पहुँचा देती है । पीड़ित मानवता की सेवा करने की इस स्थिति में उत्कट अभिलाषा जागती है और अपने चारों ओर बिखरे पड़े पिछड़ेपन, अज्ञान, अनाचार, पाप और पतन को हटाकर उसके स्थान पर मानवीय देव आदर्शों की प्रतिष्ठा करने का उल्लास उमड़ता है । आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना से ओत-प्रोत मनुष्य जिस तरह अपने व्यक्तिगत कष्टों और अभावों को दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहता है । उसी तरह व्यापक क्षेत्र में मानवता पर लगे कलंक को धो डालने और धरती पर स्वर्ग अवतरण जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए व्याकुल रहता है और क्षुद्र स्वार्थों की कीचड़ में से निकलकर लोकमत के लिए अपने आपको समर्पित कर देता है । आत्मिक जीवन जीने वाले को उपयुक्त पाँच कदम उठाने का जैसे ही साहस हुआ कि उसकी अगली मंजिल सहज ही पूरी होने लगती है और आत्मा को परमात्मा के रूप में परिणित करने का प्रत्यक्ष आनन्द इसी जीवन में मिलने लगता है ।

प्रश्न—

(१) अध्यात्मवादी की आकांक्षाओं एवं प्रेरणाओं का मूल स्रोत क्या होता है ? (२) अध्यात्मवादी या देव जीवन किसे कहते हैं ? (३) भौतिकवादी जीवन क्यों महत्त्वपूर्ण है ? (४) जीवन में सदाचार, नम्रता, सादगी एवं साधना की क्यों आवश्यकता है ? (५) आध्यात्मिक जीवन के पाँच प्रमुख तत्वों पर प्रकाश डालिये ? (६) दृष्टि दोष दूर करने के लिए क्या करना चाहिए ? (७) दृष्टि शोधन से क्या समझते हो ? (८) मितव्ययिता एवं ईमानदारी क्यों

आवश्यक है ? (९) आत्मा को परमात्मा के रूप में परिणत करने का प्रत्यक्ष आनन्द कब व कैसे मिलता है ?

हर दिन को एक नया जन्म समझें और उसका सदुपयोग करें

हमारा कितना सौभाग्य है कि सुर-दुर्लभ मनुष्य शरीर मिला और कितना दुर्भाग्य कि उसे पेट-प्रजनन की पशु प्रवृत्ति से ही नष्ट-भ्रष्ट नहीं किया वरन् पाप और पतन का यह कलंक और ओढ़ लिया जो कीट-पतंग रहते तो न ओढ़ना पड़ता ।

जीवन के सदुपयोग की समस्या, हमारी सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण और सबसे सारगर्भित समस्या है । दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता का तकाजा है कि उसे सुलझाया जाये । उसे उलझी हुई छोड़कर बालक्रीड़ा में दिन गुजारते रहना इतनी बड़ी भूल है कि जिसके लिए चिरकाल तक असीम पश्चाताप करने के अतिरिक्त और उपचार न रह जायेगा ।

शरीर और परिवार के निर्वाह भर के लिए ही अपने पास शक्ति-सामर्थ्य हो सो बात नहीं है वरन् बारीकी से सोचा जाये तो प्रतीत होगा कि उसके अतिरिक्त भी हमारे पास कितना समय, धन एवं बल शेष रह ही जाता है जिसे चाहें तो आत्मिक प्रयोजन की पूर्ति के लिए-ईश्वर की इच्छा पूरी करने के लिए-जीवन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नियोजित कर सकते हैं । बाधा इतनी ही है कि अज्ञान के आवरण ने हमें इस बुरी तरह जकड़ रखा है कि इन्द्रियों की वासना, मन की तृष्णा एवं कुटुम्बियों की अवांछनीय मोह-ममता के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं । औचित्य का तकाजा यह है कि हम निर्वाह और सामाजिक कर्त्तव्य का पालन जितनी शक्ति शरीर और परिवार के लिए लगावें, उसे उचित प्रगति करते रहने लायक बनाये रहें और शेष सामर्थ्य को जीवनोद्देश्य के लिए लगावें । जीवन को शरीर और आत्मा का सम्मिलित व्यवसाय माना जाना चाहिए और दोनों को उसका समान लाभ मिलना चाहिए । शरीर और उसका परिवार तो उपार्जन का सारा लाभ उठाता रहे और आत्मा के हाथ कुछ भी न लगे तो इसे अनीति ही कहा जायेगा । विवेकशीलता इसमें है कि दोनों के हित का ध्यान रखा जाये । शरीर की लालसाओं और आवश्यकताओं को पूरा किया जाये पर आत्मा की भूख, शान्ति और प्रगति को सर्वथा उपेक्षित न छोड़ दिया जाये । हमें अपने अन्तःकरण में बैठे भगवान की भी आवाज सुननी चाहिए और उस निर्देश के लिए भी अपना कुछ कर्त्तव्य निर्धारित रखना चाहिए । ऐसा उभयपक्षी संतुलित जीवन ही सार्थक कहा जा सकता है अन्यथा आत्मा के हितों को पददलित करते रहने और सारा मनोयोग माया पर ही निछावर कर देने की रीति-नीति अन्ततः मूर्खतापूर्ण सिद्ध होगी और महँगी पड़ेगी ।

आध्यात्मिक प्रगति के दो पक्ष हैं-(१) अपने दोष-दुर्गुणों, दुष्प्रवृत्तियों, दुर्भावों, कुविचारों एवं कुसंस्कारों को खोजें और उनके निराकरण का प्रबल प्रयत्न करें । साथ ही गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता का अधिकाधिक समावेश करते हुए पूर्णता प्राप्त करने के लिए अग्रसर हों । (२) इस संसार को भगवान का विराट रूप मानें और उसे अधिक सुरभित, सुगंधित, सुविकसित बनाने के लिए निर्वाह से बची हुई सारी सामर्थ्य लगायें । ईश्वर की पूजा प्रसन्नता का केन्द्र लोकमंगल के लिए नियोजित परमार्थ प्रयोजनों को ही माने, और फैले हुए पिछड़ेपन अज्ञान एवं अनाचार को हटाने के लिए जो कष्ट सहना पड़े उसे उच्चकोटि की तपश्चर्या मानें । इन दोनों पक्षों पर जितना ध्यान दिया जायेगा और प्रयत्न किया जायगा उसी क्रम से आत्मिक प्रगति होती हुई और आत्मशक्ति मिलती हुई तत्काल दिखाई देने लगेगी ।

जीवन और मृत्यु को सहचर बनाकर चलने की भावना यदि मन में बनी रहे तो यह ध्यान बना रहेगा कि वर्तमान अवसर सदा ही बना रहेगा । जो सुविधा आज मिली है, उसका अधिक से अधिक सदुपयोग किया जाये । इसका एक प्रयोग यह है कि, सवेरे आँख खुलते ही, कुछ क्षण बिस्तर पर पड़े हुए यह विचारें कि आज हमारा नया जन्म हुआ है और रात को सोते समय तक समाप्त हो जाने वाला है । इसलिए उस एक दिन को जीवन मानकर उसके प्रत्येक क्षण का सदुपयोग कर लिया जाये । हर दिन नया जन्म हर रात नई मौत, इस मंत्र को जपने की जरूरत नहीं, इसे हृदयंगम किया जाना चाहिए और इसी आधार पर दिनचर्या एवं मनोदिशा निर्धारित की जानी चाहिए ।

समय ही सम्पत्ति है, उसके मूल्य पर ही प्रगति और समृद्धि खरीदी जाती है । हमें एक क्षण भी आलस्य, प्रमाद में बर्बाद नहीं करना चाहिए वरन् ऐसी दिनचर्या बनानी चाहिये जिससे सारा समय पूरी तरह व्यस्त बना रहे । मनोयोगपूर्वक किया हुआ श्रम और व्यवस्थित रूप से नियोजित किया हुआ समय हमारे सामने अगणित ऋद्धि-सिद्धियाँ और सफलताएँ सहज ही प्रस्तुत करता है । ऐसी दिनचर्या जिसमें समय की बर्बादी के लिए कोई गुंजाइश न हो और शरीर तथा आत्मा के स्वार्थों का ध्यान रखते हुए क्रम निर्धारित किया गया हो, वस्तुतः उच्चकोटि की बुद्धिमत्ता है ।

दिन भर के क्रियाकलाप के ऊपर बारीकी से ध्यान रखा जाये कि सांसारिक कर्तव्यों में कुछ उपेक्षा तो नहीं हुई और मानसिक दृष्टि से दोष-दुर्गुणों को हाथ-पैर फैलाने को तो मौका नहीं मिल गया । क्रोध,आवेश, ईर्ष्या, द्वेष,'छल, अनाचार के भाव जब भी मस्तिष्क में आवें विरोधी उत्कृष्ट विचारों से उन्हें भिड़ा देना चाहिए । यह भिड़न्त जब भी होगी कुविचार तत्काल भाग खड़े होंगे । वे

तभी विकसित होते हैं जब उन्हें बेरोक-टोक बढ़ने दिया जाता है । जिस प्रकार शत्रु के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए सेना सदा तैयार रहती है, उसी तरह हमें हर कुविचारों, से लड़ने के लिए स्तर के सद्विचार तैयार रखने चाहिए, ताकि दुर्भावनाओं का आक्रमण होते ही उन्हें लड़ पड़ने के लिए जुटाया जा सके । साथ ही सद्विचारों के कार्यान्वित होने के लिए अपनी दिनचर्या में जुटा रहने का भी अवसर देना चाहिए, ताकि सत्प्रवृत्तियाँ सक्रिय एवं अभ्यस्त होती चली जायें । पूरा समय इसी प्रकार शारीरिक और मानसिक सतर्कता से बिताया जाये तो उस एक दिन के नये जन्म में आश्चर्यजनक आत्मशान्ति एवं आत्मिक प्रगति परिलक्षित होगी ।

रात को सोते समय दिन भर की गतिविधियों का लेखा-जोखा लेना चाहिए और पिछले दिनों की तुलना में जो प्रगति हुई हैं उसके प्रति सन्तोष अनुभव करें । साथ ही यह भी देखें कि आज शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से क्या-क्या भूलें हुई हैं, जो चूक हुई है उन्हें भविष्य में अधिक सतर्कता के साथ रोकने के संकल्प के अतिरिक्त कुछ प्रायश्चित भी करना चाहिए । गाल में चपत, उठक, बैठक, खड़े रहना, भोजन का कुछ अंश जुर्माने में कम कर देना आदि शारीरिक दण्ड यदि एकान्त में देते रहा जाये तो भविष्य में वैसा न करने की याद बनी रहती है और प्रायश्चित भी हो जाता है । उसके बाद शान्तचित्त से सांसारिक राग-द्वेषों से छुटकारा पाकर निर्मल मन से नींद की गोद में जाते हुए अनुभव करना चाहिए कि हमने निर्मल मन से विदाई ली और एक दिन का जन्म सार्थक बना लिया ।

इस क्रम से यदि नित्य हर नया दिन नया जन्म, हर नई रात मौत की भावना करते हुए दिन बिताये जायें तो जीवनोद्देश्य के लिए आशाजनक प्रगति होती चली जायेगी । (१) दोष-दुर्गुणों का निवारण और गुण, कर्म, स्वभाव में सत्प्रवृत्तियों का समावेश (२) कुत्साओं और कुण्ठाओं में डूबे हुए मानव-समाज का पिछड़ापन दूर करने वाले लोकमंगल प्रयत्नों में अधिकाधिक तत्परता, इन दो लक्ष्यों की ओर हम जितना ध्यान देंगे, उतनी ही जीवन की सार्थकता अनुभव होती चली जायेगी ।

प्रश्न-

(१) जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या क्या है ? (२) जीवन लक्ष्य की प्राप्ति में प्रमुख बाधा क्या है? (३) जीवन को क्या माना जाना चाहिए ? विवेकशीलता का तकाजा क्या है ? (४) कि जीवन को सार्थक माना जा सकेगा ? (५)आध्यात्मिक प्रगति के कौन-कौन से पथ हैं ? (६) दिनचर्या बनाने व डायरी लिखने की आवश्यकता क्यों है ? (७) ऋद्धि-सिद्धियाँ एवं सफलताएँ पाने का रहस्य क्या है ? (८) प्रगति का सोपान क्या है ? (९) स्वयं को सुधारने में किस प्रकार के प्रयोग करने चाहिए ? (१०) जीवन की सार्थकता कैसे अनुभव की जा सकती है ?

स्वाध्याय दैनिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता

मनुष्य का मन कोरे कागज या फोटोग्राफी की प्लेट की तरह है जो परिस्थितियाँ, घटनाएँ एवं विचारणाएँ सामने आती रहती हैं उन्हीं का प्रभाव अंकित होता चला जाता है और मनोभूमि वैसी ही बन जाती है । व्यक्ति स्वभावतः न तो बुद्धिमान है और न मूर्ख, न भला है, न बुरा । वस्तुतः वह बहुत ही संवेदनशील प्राणी है । समीपवर्ती प्रभाव को ग्रहण करता है और जैसा कुछ वातावरण मस्तिष्क के सामने छाया रहता है उसी ढाँचे में ढलने लगता है । उसकी यही विशेषता परिस्थितियों की चपेट में आकर कभी अधःपतन का कारण बनती है । कभी उत्थान का ।

आगरा जिले के खंदौली गाँव के निकट शिकारियों ने भेड़िये की माँद में एक छः वर्षीय बालक पाया । मादा भेड़िये ने कहीं से उठाये इस बच्चे को खाया नहीं वरन् उसे अपना दूध पिलाकर पाल लिया । जब यह बच्चा पकड़ा गया तो भेड़िये की तरह चार पैर से चलता, बोलता और सिर्फ कच्चा माँस खाता था । सर्वत्र यही सिद्धान्त लागू होता है । अपनी मौलिक प्रतिभा लेकर तो कोई बिरले ही जन्मते हैं, आमतौर से सामने प्रस्तुत परिस्थितियाँ ही विचारों और आकांक्षाओं का सृजन करती हैं । उसी आधार पर व्यक्तित्व का एक कार्यक्रम ढलने लगता है । विचारों को उच्च स्तर पर ढालना मानवीय विकास की आधारभूत आवश्यकता है । प्राचीनकाल में सुसम्पन्न व्यक्ति भी अपने बालकों को निविड़ वन प्रदेशों में ऋषियों के समीप गुरुकुलों में सुशिक्षण के लिए भेजते थे । यों पढ़ाई-लिखाई के लिए नौकर, ट्यूटर, राजमहलों में भी रहते थे, रखे जा सकते थे पर परिष्कृत वातावरण में रहने के कारण मनोभूमि का लाभ उन महान् व्यक्तित्वों के सान्निध्य में ही मिल सकता था । इसलिए हर विवेकवान सत्संग का लाभ उठाने के लिए न केवल बच्चों को ऋषिकुलों में भेजता था वरन् स्वयं भी तीर्थयात्रा वनवास, वानप्रस्थ आदि के बहाने उस वातावरण में रहने का प्रयत्न करता था ताकि उस प्राण प्रवाह में अपने को प्रभावित कर सकना संभव हो सके ।

व्यक्तित्व की उत्कृष्टता के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता उस विचारणा की है जो आदर्शवादिता से ओत-प्रोत होने के साथ-साथ हमारी रुचि और श्रद्धा के साथ जुड़ जाये । यह प्रयोजन दो प्रकार से पूरा हो सकता है । एक तो आदर्शवादी उच्च चरित्र महामानवों का दीर्घकालीन सान्निध्य, दूसरा उनके विचारों का अवगाहन व स्वाध्याय । वर्तमान परिस्थितियों में पहला तरीका काफी कठिन है ।

६.२९ युग निर्माण योजना–दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम

एक तो तत्वदर्शी महामानवों का एक प्रकार सर्वनाश हो चला । श्रेष्ठता का लबादा ओढ़े कुटिल, दिग्भ्रान्त, ठलझे हुए लोग ही श्रद्धा की वेदी हथियाये बैठे हैं । उनके सान्निध्य में व्यक्ति कोई दिशा पाना तो दूर, उलटा भटक जाता है । जो उपयुक्त हैं वे समाज की वर्तमान परिस्थितियों को सुधारने के लिए इतनी तत्परता एवं व्यस्तता के साथ लगे हुए हैं कि सुविधापूर्वक लम्बा सत्संग दे सकना उनके लिए भी संभव नहीं, फिर जो सुनना चाहता है वही कहाँ खाली बैठा है । इसलिए जिन सौभाग्यशालियों को प्रामाणिक महापुरुषों का सान्निध्य जब कभी मिल जाये तब उतने में ही संतोष कर लेना पड़ेगा । दीर्घकालीन सत्संग की संभावनाएँ आज की स्थिति में कम ही हैं ।

दूसरा मार्ग ही इन दिनों सुलभ है । स्वाध्याय के माध्यम से मस्तिष्क के सम्मुख वह वातावरण देर तक आच्छादित रखा जा सकता है जो हमें प्रखर और उत्कृष्ट जीवन जी सकने के लिए उपयुक्त प्रकाश दे सके । स्वाध्याय में बौद्धिक भूख और आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमें पेट को रोटी और तन को कपड़ा जुटाने से भी अधिक तत्परता के साथ प्रयत्नशील होना चाहिए । स्वाध्याय दैनिक नित्य कर्मों में शामिल रखा जाये । क्योंकि चारों ओर की परिस्थितियाँ जो निष्कर्ष निकालती हैं उनमें हमें निकृष्ट मान्यताएँ और गतिविधियाँ अपनाने का ही प्रोत्साहन मिलता है । यदि इस दुष्प्रभाव की काट न की गई तो सामान्य मनोबल का व्यक्ति दुर्बुद्धि अपनाने और दुष्कर्म करने में ही लाभ देखने लगेगा ।

स्नान करने, दाँत माजने, कपड़े धोने और झाड़ू लगाने की नित्य आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि निरन्तर मलीनता की जो पर्त जमा होती रहती है, उसे जल्दी-जल्दी हटाये बिना स्वच्छता खतरे में पड़ जाती है । इसी प्रकार मन के ऊपर चारों ओर के गर्हित वातावरण का प्रभाव पड़ते रहने से जो मलीनता जमती है उसके परिष्कार का एकमात्र उपाय स्वाध्याय ही रह जाता है । जीवित या मृत महामानवों के विचारों, चरित्रों का प्रभाव जब चाहे तब, जितनी देर तक चाहें उतनी देर तक उनके साथ सामीप्य-सान्निध्य का लाभ ले सकते हैं । उनका साहित्य हमें हर समय उपलब्ध रह सकता है और अपनी सुविधानुसार चाहे जितना सम्बन्ध उसके साथ जुड़ा रखा जा सकता है । इस सम्बन्ध से माता का दूध पीने का लाभ उठाने वाले बच्चे तथा रक्तदान प्राप्त करने वाले रोगी की तरह हर किसी को स्वाध्याय द्वारा समुचित लाभ उठाने का अवसर मिल सकता है । पुस्तकों का मूल्य स्वल्प होता है पर उनके द्वारा जो प्रभाव उपलब्ध किया जा सकता है उसे बहुमूल्य या अमूल्य ही मानना पड़ेगा ?

सत्साहित्य ने अगणित व्यक्तियों को ऊँचा उठने और आत्मबल सम्पन्न हो सकने का अवसर दिया है । भगवान श्रीकृष्ण गीता का ज्ञान सुनाकर एक अर्जुन को ही लाभ दे सके पर उस महाग्रन्थ ने न्यूनाधिक मात्रा में उस समय से लेकर अब तक करोड़ों-अरबों मनुष्यों को प्रकाश दिया है और उस प्रकाश के माध्यम से असंख्य ने जीवन लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता पाई है । प्रेरक साहित्य सदा व्यक्तित्व, चरित्र, मनोबल और आत्मनिर्माण में सहायता करता रहा है । इस प्रेरणा से प्रभावित अगणित व्यक्ति तुच्छता के बन्धनों को तोड़कर महानता वरण करने में समर्थ हुए हैं । अस्तु, उपासना, पूजा, अर्चन, तप, व्रत, दान आदि के समकक्ष ही 'स्वाध्याय' को भी पुण्य प्रयोजनों में अति आदरपूर्वक सम्मिलित किया गया है । तत्वदर्शियों ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि मनुष्य को स्वाध्याय बिना प्रमाद किये नित्य नियमित रूप से करना चाहिए ।

इन दिनों इस संदर्भ में एक चिन्ता की बात यह बन गई है कि रूढ़िवादिता ने इस क्षेत्र में भी गहराई तक अड्डा जमा लिया है । सड़ी-गली, अप्रासांगिक और बेतुकी पौराणिक कहानियों की पुस्तकों को ही लोग धर्मग्रन्थ मान बैठे हैं और जो पुराना सो अच्छा की पृष्ठभूमि में उन्हें ही रोज-रोज दुहरा कर स्वाध्याय की लकीर पीटने लगे हैं ।

इस निरर्थक विडम्बना से भला किसका क्या लाभ हो सकता है ? स्वाध्याय के लिए वह चुना हुआ साहित्य ही उपयुक्त होगा जो व्यक्ति के गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत करने का व्यावहारिक मार्गदर्शन करे । आज व्यक्ति और समाज की परिस्थितियाँ प्राचीनकाल से भिन्न हैं, सो उनके समाधान भी युग के अनुरूप ही होने चाहिए । हर युग मे स्थिति के अनुरूप मार्गदर्शन करने के लिए विचारक, तत्वदर्शी, युगदृष्टा और देवदूत अवतरित होते रहे हैं । समय की भिन्नता के कारण को ध्यान में रखते हुए ही बार-बार और नये-नये संदेश लेकर आने वाले संदेशवाहकों की आवश्यकता पड़ती है । आज की परिस्थितियों के अनुरूप मार्गदर्शन इस युग के ऋषि ही दे सकते हैं और स्वाध्याय के लिए वैसे ही साहित्य की उपयोगिता हो सकती है ।

कहना न होगा कि युग-निर्माण योजना ने प्राचीनतम और नवीनतम का अनुपम सम्मिश्रण किया है । सृष्टि के आदिकाल से लेकर चले आ रहे सनातन धर्म सिद्धान्तों के आधुनिक बुद्धिवाद और विज्ञानवाद के साथ जोड़कर वर्तमान परिस्थितियों के उपयुक्त ऐसे समाधान प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें विवेकवानों ने अद्भुत और अनुपम कहा है । स्वाध्याय के लिए यह सस्ता और छोटा दीखने वाला साहित्य वस्तुतः तथाकथित पोथी-पत्रों से हजार गुना अधिक महत्त्वपूर्ण है । स्वाध्याय के लिए उपयुक्त साहित्य जिसने व्यक्ति और समाज के सर्वांग विकास को सांगोपांग दिशाएँ प्रस्तुत की हों शायद ही अन्यत्र कहीं उपलब्ध है । जो कुछ सर्वश्रेष्ठ इस संसार में उपलब्ध है उन फूलों का सार-मधुर मधु ही इसे कहा जाये तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी । उचित यही होगा कि हर दिग्भ्रान्त करने वाली विभिन्न पुस्तकें पढ़ने की अपेक्षा स्वाध्याय के लिए युग-निर्माण साहित्य चुने और उसे पढ़ने का क्रम नित्यकर्म की तरह अपने दिनचर्या में सम्मिलित कर लें ।

प्रश्न–

(१) सिद्ध कीजिये कि मनुष्य संवेदनशील प्राणी है। (२) मनुष्य में विचारों एवं आकांक्षाओं का सृजन कैसे होता है? (३) मानवीय विकास की आधारभूत आवश्यकता क्या है? (४) प्राचीनकाल में छात्रों को ऋषिकुल में क्यों भेजा जाता था? (५) व्यक्तित्व की उत्कृष्टता किन-किन तत्वों पर निर्भर है? (६) स्वाध्याय क्यों आवश्यक है? (७) प्रेरक साहित्य के अध्ययन से क्या लाभ हैं? (८) स्वाध्याय के लिए कैसा साहित्य होना चाहिए? (९) युग निर्माण योजना के साहित्य पर प्रकाश डाले? (१०) स्वाध्याय को नित्य कर्म क्यों मानना चाहिए?

अपना महान महत्त्व समझें और अपने को सुधारें

हमें दुनियादारी का बहुत ज्ञान है पर अपने सम्बन्ध में एक प्रकार से अनजान ही बने हुए हैं। भूगोल, इतिहास, वाणिज्य, शिल्प, कला, विज्ञान, कानून, लोक व्यवहार आदि के सम्बन्ध में हमने बहुत कुछ जाना-सीखा है। उसके बल पर आजीविका कमाने और प्रतिष्ठा पाने में भी एक हद तक सफल हुए हैं। पर उस सबसे महत्त्वपूर्ण जानकारी से वंचित ही हैं, जिसके बिना वह सारा सीखा जाना और सिखाया जाना निरर्थक है। बाहर की जानकारी और चमक-दमक के आकर्षण में हम अपने को ही भूल बैठे हैं। अपना मकान बन जाने से कितनी सुविधा होगी यह कल्पना तो है पर अपना व्यक्तित्व बन जाने से प्रगति की संभावनाएँ कितनी प्रशस्त हो जाती हैं यह पता ही नहीं। घर, कपड़े, बर्तन, फर्नीचर एवं शरीर की सफाई का महत्त्व तो मालूम है पर अन्तःकरण की स्वच्छता के फलस्वरूप हम कितने श्रद्धाभाजन बनते हैं यह तथ्य सूझता ही नहीं। शरीर और मस्तिष्क के बलवान और सुखी बनने के लिए हर संभव उपाय करते हैं। पर आत्मबल, मनोबल, प्रतिभा, दूरदर्शिता आदि की भी कुछ उपयोगिता है, यह बात सूझ नहीं पड़ती। तृष्णा और वासना की तृप्ति में जो अधिक सुख मिलता है उसके लिए मन बहुत ललचाता है और उसे प्राप्त करने का ताना-बाना निरन्तर बुनता रहता है पर यह समझ में नहीं आता कि आत्म-संतोष और आन्तरिक आनन्द जैसी कुछ दिव्य अनुभूतियाँ भी होती हैं और उनका भी अपना कुछ मूल्य होता है।

अपना आपा सबसे महत्त्वपूर्ण है। बाहरी दुनिया में जो कुछ दीखता अनुभव होता है उसकी अनुभूतियाँ अपनी आन्तरिक स्थिति पर निर्भर है। सूर्य चमकता रहे पर अपनी आँखें न हों तो उसकी रोशनी से क्या लाभ मिलेगा? अन्धे के लिए दिन और रात समान हैं। सूर्य का अस्तित्व उसे सुन्दर शोभा भरी वस्तुओं का दर्शन नहीं करा सकता है। जीभ में कोई बीमारी हो जाये तो बोलने और चखने में बहुत साधन उपलब्ध होने पर भी उससे क्या कुछ लाभ मिलेगा? कान बहरे हो जायें तो मधुर भाषण, संगीत आदि की परिस्थितियाँ संसार में भरीपूरी रहने पर भी वे अपने लिए समाप्त ही हो गईं। अपना दिमाग खराब हो तो अपने-पराये का व्यवहार बदलते देर न लगेगी और जो उपलब्धियाँ आज हाथ बाँधे खड़ी रहती हैं उनमें से एक का भी अवसर न मिलेगा। शरीर चला जाये, प्राण निकल जायें तो समझना चाहिए कि प्रलय हो गई, न कोई हमारा न हम किसी के। जिस पर, जिन पर अधिकार समझते थे वे सभी पराये हो जायेंगे। उनसे सम्बन्ध टूट जायगा और प्रस्तुत वसुधा के उपयोग करने की कोई गुंजाइश न रहेगी।

जो कुछ इस संसार में है उसकी अनुभूति हम अपने ही मापदण्ड से करते हैं। गुरु ने युधिष्ठिर को भेजा कि नगर में जो बुरे आदमी रहते हैं उनका पता लगाकर आओ। वे कई दिन घूमे और तलाश करते रहे पर उन्हें सबमें अच्छाइयाँ ही दीखीं और लौटकर गुरु को अपनी असफलता बताई। दूसरे दिन दुर्योधन भेजे गये उन्हें नगर के अच्छे आदमी ढूँढ़ने के लिए कहा गया। कई दिन की तलाश के बाद उनने यही सूचना दी कि इस नगर में एक भी भला आदमी नहीं रहता। वैसे उस नगर में दोनों ही तरह के लोग रहते थे पर अपने दृष्टिकोण के अनुरूप उपर्युक्त दोनों छात्रों को केवल एक ही प्रकार के लोग मिले। संस्कार जैसा भी कुछ भला-बुरा दीखता है उसमें मूलतः अपना ही दृष्टिकोण काम करता है। यदि उसे सुधार लिया जाय तो विक्षोभ भरी परिस्थितियाँ संतोषजनक बन सकती हैं। हर व्यक्ति और हर परिस्थिति में कुछ उज्ज्वल पक्ष रहता है। यदि उसे ही देखा जाये तो हमें सर्वत्र शुभेच्छा और शिक्षा बिखरी दिखाई पड़ेगी। लोगों में जो मिलता है वह ही पर्याप्त दीखेगा और क्षोभ, असंतोष व्यक्त करने के स्थान पर उस स्वल्प दीखने वाले सहयोग की तौल बढ़ जायेगी।

संसार में काँटे-कंकड़ बहुत हैं उन सबको हटा सकना बहुत ही कठिन है। पर यह सरल है कि अपने पैरों में जूते पहनने और बिना काँटे-कंकड़ों से कष्ट पाये निश्चिन्ततापूर्वक विचरण करें। सारी दुनिया को अपनी इच्छानुकूल चलाने वाला नहीं बनाया जा सकता पर अपना सोचने का ढंग ऊँचा उठा कर लोगों से बिना टकराये सरलतापूर्वक अपने को बचाकर रखा जा सकता है और बिना टकराये वक्त गुजारा जा सकता है। सज्जनता के आगे दुर्जनों को भी नतमस्तक होना पड़ता है। कम से कम वे अपनी शान्ति भंग कर सकने में तो सफल कदाचित् ही हो पाते हैं।

बीमारियाँ बाहर से नहीं आतीं, हमारी आहार-विहार सम्बन्धी बुरी आदतों और प्रकृति के प्रतिकूल चलने से आती हैं। यदि संयमी व्यवस्थित और प्राकृतिक जीवन जिया जाये तो प्रकृति की गोद में स्वच्छन्द विचरने वाले दूसरे पशु-पक्षियों की तरह हम भी पूर्ण स्वस्थता और दीर्घ जीवन का आनन्द लाभ कर सकते हैं। अपनी भूलें ही

हमें बीमारियों की आग में घसीट कर ले जाती हैं और असह्य कष्ट सहने के लिए विवश करती हैं । अपने शत्रु तथा निंदक अधिक बनते जाते हों और मित्र तथा प्रशंसक घटते जा रहे हों तो समझना चाहिए कि इसमें केवल बाहर वालों का ही सारा दोष नहीं है । वस्तुतः अपने में कुछ ऐसी कमियाँ आ गई हैं जिनके कारण लोग दूर हटते, खिन्न होते और विरोधी बनते चले जा रहे हैं । विद्या से हम वंचित रह गये । शिक्षा भी नगण्य है पर अपने निरन्तर और नियमित अध्यवसाय से अपने ज्ञान अनुभव को पहाड़ की तरह ऊँचा उठा लिया । निर्धनता के लिए भाग्य को दोष देना बेकार है । मितव्ययता, दूरदर्शिता बजट बनाकर खर्च करना और अर्थ स्रोतों से सम्बन्ध रखने वालों के साथ उदार मधुर सम्बन्ध रखने पर कोई भी व्यक्ति आर्थिक उन्नति की संभावनाएँ बढ़ा सकता है । जिसे कठोर परिश्रम से प्यार है वह दरिद्र क्यों रहेगा ? जो हर काम को मनोयोगपूर्वक सोच-समझ कर और प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर अच्छे से अच्छे ढंग से करता है उसे घाटा पड़ेगा और तंगी क्यों भुगतनी पड़ेगी ?

चिन्ता, निराशा, भय, शोक, आशंका, उद्वेग, आवेश आदि मनोविकारों में जकड़े हुए व्यक्ति निरन्तर उदास, दुःखी, क्षुब्ध और रोते हुए दिखाई पड़ेंगे । पर जिसको यह मालूम है कि विवेक के आधार पर हर स्थिति में मस्तिष्क को संतुलित रखा जा सकता है और प्रतिकूलताओं से खिलाड़ियों की तरह हलके मन से लड़ा जा सकता है उसे हर सम्भावना और घटना बहुत स्वल्प महत्त्व की संसार में चलने वाले ढर्रे की तरह सामान्य प्रवृत्ति मात्र दीखती है । नाटक में विभिन्न अभिनय करने वाले नट जिस प्रकार खेल में प्रस्तुत किए जाने वाले हर्ष-शोक के प्रदर्शनों से प्रभावित नहीं होते उसी प्रकार इस संसार की रंगस्थली में जो उतार-चढ़ाव आते हैं, उनमें कोई भी संतुलित मस्तिष्क वाला व्यक्ति अप्रभावित रह सकता है ।

हमें बाहर कम और भीतर अधिक देखना चाहिए । दूसरों की समीक्षा कम और अपनी अधिक करनी चाहिए । दुनिया की गतिविधियों को पढ़ने, समझने से भी ज्यादा अपनी आन्तरिक स्थिति और प्रकृति को समझना चाहिए । परिवार और संसार को सुधारने से ज्यादा अपने सुधार पर ध्यान देना चाहिए । आत्मचिन्तन, आत्म-निरीक्षण द्वारा अपना अन्वेषण करें और देखें कि अपने गुण, कर्म, स्वभाव में क्या दोष-दुर्गुण है जिनके कारण हमें पग-पग पर व्याधियों का सामना करना पड़ रहा है । प्रगति के पथ में बढ़ चलने के लिए जिस मनस्विता, प्रतिभा और चरित्रनिष्ठा की आवश्यकता है उसमें जितनी कमी हो उसे पूरा करने के लिए क्रमबद्ध योजना बनानी चाहिए । अपने जीवनोद्देश्य को समझें । मनुष्य जन्म के पीछे छिपे ईश्वर के प्रयोजन को समझें । तदनुरूप विचारणा बदलने और तदनुकूल कार्यपद्धति अपनाने का साहस उत्पन्न कर सकें तो समझना चाहिये कि आत्मबोध का लाभ मिला और आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो गया ।

प्रश्न—

(१) हमारा सीखा जाना और सिखाया जाना किस तरह निरर्थक है ? (२) हमको अपना महत्त्व समझना था, पर हमने किन चीजों का महत्व समझा ? (३) हम किन चीजों के प्राप्त होने से सुविधा अनुभव करते हैं ? (४) हम हमारे में ही उपस्थित किन चीजों का महत्व भूल गये हैं ? (५) सिद्ध कीजिए आप सबसे महत्वपूर्ण हैं ? (६) जो कुछ संसार में है, उसकी अनुभूति हम अपने ही मापदण्ड से करते हैं ? उदाहरण से समझाइये ? (७) संसार में बिना किसी से टकराये किस प्रकार मनुष्य अपना गुजारा कर सकता है ?(८) बीमारियाँ कैसे आती हैं ? तथा उनसे निपटने का रास्ता क्या है ?(९) विद्वानों की पंक्ति में किस प्रकार बैठा जा सकता है ? (१०) हमें अपना महत्व ज्ञात करने के लिए क्या करना चाहिए ?

कर्त्तव्य परायणता—मानव जीवन की आधारशिला

आकाश में अधर लटके हुए ग्रह-नक्षत्र एक दूसरे की आकर्षण शक्ति के बल पर खिंचे हुए टँगे रहे हैं । यदि यह आकर्षण शिथिल हो जाये तो अन्तरिक्ष के शोभायमान यह सितारे अपनी कक्षा से च्युत होकर किसी दूसरे ग्रह से जा टकरायें या अनन्त आकाश की किसी दिशा में डूबकर-विलीन हो जायें । इन्हें अतीत काल से यथास्थान स्थिर रखने वाली और अपनी निर्धारित क्रिया प्रणाली में नियोजित किये रहने वाली शक्ति एक ही है-'ग्रहों की पारस्परिक आकर्षण क्षमता' इसके बिना किसी नक्षत्र का अस्तित्व एवं क्रिया-कलाप एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता ।

मनुष्य जीवन की स्थिरता एवं प्रगति की आधारशिला है, उसकी कर्त्तव्य परायणता । यदि हम अपनी जिम्मेदारियों को छोड़ दें और निर्धारित कर्त्तव्यों की उपेक्षा करें तो फिर ऐसा गतिरोध उत्पन्न हो जाये कि प्रगति एवं उपलब्धियों की बात तो दूर मनुष्य की तरह जीवनयापन कर सकना भी सम्भव न रहे ।

जीवन की हर विभूति कर्त्तव्य परायणता पर निर्भर है । हर उपलब्धि की स्थिरता एवं सुरक्षा, कर्त्तव्यनिष्ठा पर ही निर्भर है । हमें बहुमूल्य शरीर मिला है । उसे नीरोग, परिपुष्ट एवं दीर्घजीवी तभी बनाया जा सकता है जब शौच, स्नान, स्वच्छता, कठोर श्रम, समय का पालन, आहार की सुव्यवस्था, इन्द्रिय संयम, विश्वास आदि की जिम्मेदारियों को ठीक तरह निबाहा जाये । मन की प्रखरता एवं समर्थता इस बात पर निर्भर है कि चिन्ता, शोक, निराशा, भय, क्रोध, आवेश आदि से उसे बचाये रखे और उत्साह, उल्लास, धैर्य, साहस, सन्तोष, विश्वास, सन्तुलन, स्थिरता, एकाग्रता जैसे सद्गुणों से सुसज्जित रखा जाये । यदि मन को वैसे ही जंगली घास-फूस और झाड़-झंखाड़ की तरह चाहे जिस दिशा में बढ़ने दिया जाये तो वह आप

ही आप अपने लिए सबसे बड़ा शत्रु सिद्ध होगा । मन को साधने और सुसंस्कृत बनाने की जिम्मेदारी उस प्रत्येक व्यक्ति की है, जिसे मानसिक क्षमता का वरदान मिला है ।

परिवार से जीवन में बहुत सुविधा और सुव्यवस्था रहती है । पर वे उपलब्धियाँ केवल उन्हीं को प्राप्त होती हैं, जो परिवार के हर सदस्य के साथ अपनी जिम्मेदारियों को पूरी तत्परता, सावधानी और ईमानदारी के साथ निबाहते हैं । स्त्री केवल सेवा के लिए नहीं मिली है । उसके विकास, सुविधा, सन्तोष एवं स्वास्थ्य की हर आवश्यकता को पूरा करना भी कर्त्तव्य है । गाय उसी को दूध देगी, जो भरपेट चारा खिलायेगा । दाम्पत्य जीवन का आनन्द उसे मिलेगा जो अपना परिपूर्ण कर्त्तव्य पालन करते हुए उसका हृदय जीत लेगा । बच्चे उसी के सुसंस्कृत और सुविकसित होंगे, जो उन्हें प्यार, समय और सहयोग देकर विकासोन्मुख एवं सुसंस्कृत बनाने को निरन्तर तत्पर रहेगा । माता-पिता एवं गुरुजनों का वात्सल्य एवं आशीर्वाद उसे मिलेगा, जो उनकी सुविधा तथा इज्जत में कमी न आने देने का शक्ति भर प्रयत्न करेगा । भाई और बहिनों का अनन्त प्रेम और सहकार पाने की आशा उन्हें ही करनी चाहिए जो उनके लिए जान देता और भरपूर प्यार करता है । परिवार का आनन्द केवल कर्त्तव्यपरायण ही लेते हैं । इसके विपरीत जिन्होंने सुविधाएँ पाने का अधिकार तो जाना, पर कर्त्तव्य पालन की शर्त भूल गये, उनके लिए घर और नरक में कोई अन्तर नहीं रहेगा । मनोमालिन्य और कलह से घर का वातावरण विषाक्त बना रहेगा । न पत्नी जीवनसंगिनी बनकर रहेगी, न बच्चे आज्ञानुवर्ती होंगे । माता-पिता का असंतोष और भाई-बहिनों का द्वेष घर को मरघट बनाये रहेंगे । परिवार स्वर्ग उनके लिए है, जो पग-पग पर अपनी जिम्मेदारियाँ निबाहने में, साथियों की कमियों को सहन करने में तत्पर हों । नरक उनके लिए है, जो घर वालों से बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते हैं, पर अपनी जिम्मेदारियों की ओर से आँखें मूँद बैठे हैं ।

धन सबको अच्छा लगता है, उसे पाना और बढ़ाना सभी चाहते हैं पर कठोर श्रम, सतर्क जागरूकता, क्रमबद्ध सुव्यवस्था, हिसाब की स्वच्छता और मिलनसारी, पुरुषार्थ और प्रतिभा पर निर्भर है । इन दोनों गुणों को बढ़ाते रहने की जिम्मेदारी जिसने समझी और उसके लिए सतत प्रयत्न किया, वह सम्पन्नता का अधिकारी बना । जिसने मितव्ययता, बजट हिसाब, धूर्तों से सतर्कता, सुरक्षा की सामर्थ्य, सदुपयोग की योजना बनाकर पैसा खर्च किया वह यशस्वी हुआ और कमाने की तरह खर्च का आनन्द लेने का सौभाग्य भी प्राप्त किया । धन आकाश से नहीं बरसता और न जमीन में से निकलता है । चोरी चांडाली से जो धन आता है वह हाथ-पाँव चलाकर बारूद की तरह 'भक्क' से उड़ जाता है । उससे किसी को न शान्ति मिलती है, न आनन्द आता है । सम्पदा और सम्पत्ति के उपार्जन एवं उपयोग के साथ अनेक उत्तरदायित्व जुड़े हुए हैं, जो उन्हें निबाहना जानता है, उसी को सार्थक सम्पन्नता का लाभ मिलता है ।

गैर जिम्मेदार, लापरवाह और अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करने वाले अपना और सम्बन्धित व्यक्तियों का केवल अहित ही करते हैं । कर्मचारी जो निरन्तर अपनी जिम्मेदारियों की उपेक्षा किया करता है, मालिक के लिए केवल घाटा ही दे सकता है और दुत्कार का भाजन ही बन सकता है । चोर और चालाक होते हुए भी तत्पर व्यक्ति लाभदायक रहता है, किन्तु ईमानदार और भला व्यक्ति होते हुए भी लापरवाही और गैर जिम्मेदारी का व्यवहार करने वाला अधिक हानिकारक सिद्ध होता है । बेईमान नौकर भी मालिक की हानि करते हैं पर गैर जिम्मेदार तो जहाँ रहेंगे वहाँ का पट्टाढार करके रहेंगे ।

महत्त्वपूर्ण कार्य सदा उन्हीं के द्वारा सम्पन्न होते हैं जो कर्त्तव्य पालन को प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं । सैनिक का सबसे बड़ा गुण अनुशासन और अपने महान उत्तरदायित्व को शानदार ढंग से निर्वाह कर देना ही तो है । सन्त, ब्राह्मण, पुरोहित, नेता और प्रवचनकर्त्ता अपनी जिम्मेदारियों के प्रति निष्ठावान रहें तो मानव जाति का हित साधन कर सकते हैं ।

शासन तन्त्र की ग़ैर जिम्मेदारी ने इस देश को कितनी क्षति पहुँचायी है, उसका लेखा-जोखा लिया जाये तो वह अकाल, बाढ़, भूकम्प एवं दैवी प्रकोप से उत्पन्न होने वाली समस्त क्षति की अपेक्षा कई गुना संकट उत्पन्न करने वाली सिद्ध होगी । लाल फीताशाही, रिश्वत, कामचोरी, बेगार भुगतने, टालने की वृत्ति आदि दोषों ने शासनतंत्र को लुंज-पुंज करके रख दिया है । इस गैर जिम्मेदारी ने अराजकता से भी बढ़कर क्षति पहुँचाई है । यदि हमारे शासकीय कार्यकर्त्ता अपने-अपने कर्त्तव्यों का पूरी ईमानदारी और जिम्मेदारी से पालन करें तो देश का कायाकल्प होने में देर न लगे ।

समाज के सदस्य-राष्ट्र का नागरिक होना भी मानवीय उत्तरदायित्वों से लदा हुआ है । अपनी सुविधा भी उसी सीमा तक चाहें जिससे दूसरों की सुविधा में व्यवधान उत्पन्न न हो यह हर किसी की नैतिक जिम्मेदारी है । सड़कों पर केले और नारंगी के छिलके फेंककर हम दूसरों को फिसल कर गिरने की कठिनाई उत्पन्न करते हैं । बायीं ओर रहने की अपेक्षा सारी सड़क को घेरकर चलना, सड़क और गलियों में यों ही घर का कूड़ा फेंक देना, बच्चों का नालियों पर टट्टी करना, बहुत रात गये तक लाउडस्पीकर चलाना, सार्वजनिक स्थानों को घेर कर बैठ जाना या गन्दा करना, नियत समय पर वचन का पालन न करना आदि ऐसी बातें हैं, जो देखने में छोटी लगती हैं पर इन्हीं से पारस्परिक सद्व्यवहारों में भारी क्षति पहुँचती है । सभ्य समाज का हर नागरिक अपनी जिम्मेदारी को समझता है और नैतिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय

जिम्मेदारियों के प्रति सजग रहकर अपनी और अपने देश की प्रतिष्ठा बढ़ाता है ।

अपने समाज के प्रति हर व्यक्ति की जिम्मेदारी है । हम समाज के एक सदस्य हैं । समाज का वातावरण हमें अतिशय प्रभावित करता है । वैयक्तिक और सामूहिक प्रगति का द्वार तब खुलता है, जब लोग अपने शरीर और परिवार की तरह सामाजिक सुव्यवस्था और उत्कर्ष का समुचित ध्यान रखें और उसके लिए कष्ट सहने और त्याग करने को तैयार रहें । सामूहिक उत्कर्ष में जो जितनी रुचि लेता है और लोकमंगल के लिए जो जितना त्याग प्रस्तुत करता है, वह उतना ही बड़ा महामानव गिना जाता है ।

आत्मा के प्रति हमारी जिम्मेदारी है, ईश्वर के प्रति भी । उन्हीं के कारण हमारा अस्तित्व है । आवश्यक है कि हम आत्मा की आवाज सुनें और परमात्मा द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करते हुए मानव जीवन को सार्थक बनाने के लिए प्रयत्नशील रहें ।

प्रश्न—

(१) आकाश में अधर में लटके हुए ग्रह-नक्षत्र किस कारण गिर नहीं पाते ? (२) मनुष्य जीवन की स्थिरता एवं प्रगति का आधार क्या है तथा उसको भुला देने से क्या हानियाँ हो सकती हैं ? (३) अपने ही शरीर के प्रति हमारी कर्त्तव्यपरायणता को हमें किस प्रकार निबाहना चाहिए ?(४) परिवार के प्रत्येक सदस्य की क्या-क्या जिम्मेदारियाँ परिवार के प्रमुख पर होती हैं ? (५) परिवार के आनन्द को कौन ले सकता है ? (६) धन का उपार्जन किन गुणों के होने पर मनुष्य कर सकता है ? (७) सार्थक सम्पन्नता का लाभ किस व्यक्ति को प्राप्त होता है ? (८) गैर जिम्मेदार व्यक्ति किस प्रकार हानिकारक है ? (९) शासन की गैर जिम्मेदारी ने भारत देश को किस प्रकार हानि पहुँचाई है ? (१०) समाज के सदस्य किस प्रकार समाज के लिए हानि पहुँचाते हैं ?

असत्य व्यवहार—सद्भावना और सामाजिकता पर कुठाराघात

भीतर और बाहर की एकता जिसे सत्य के नाम से पुकारा जाता है—मनुष्यता का सर्वप्रथम गुण है । हम जैसे हैं वैसा ही दूसरों के सामने अपने को प्रकट करें । जो मन में है वही वाणी से प्रकट करें । इस सच्चाई से अन्तरात्मा की निर्मलता बनी रहती है और चित्त प्रफुल्ल रहता है । इस प्रकार के शुद्ध अन्तःकरण में ही शान्ति रहती है और ईश्वरीय प्रकाश की किरणों का उद्भव होता है ।

हम वस्तुतः जैसे हैं उससे भिन्न प्रकार का घोषित करें तो यह लोगों के साथ धोखा करना है । हम एक दूसरे पर सहज विश्वास करें तो ही पारस्परिक सद्भावना से रह सकते हैं । समाज की सारी व्यवस्था एक दूसरे के विश्वास पर चल रही है । यह विश्वास नष्ट हो जाये तो न तो एक-दूसरे पर भरोसा करेंगे और न समाज व्यवहार स्थिर रखा जा सकेगा । प्रेम, मित्रता, सहयोग, सहायता का आधार सज्जनता है । जिसे हम भला समझते हैं उसी से स्थिर सम्बन्ध बनाते हैं और उसी से कोई भरोसे का व्यवहार करते हैं, सज्जनता की परख यह है कि व्यक्ति अपनी असलियत यथावत् प्रकट करता रहता है या नहीं । भले ही किसी ने अपनी शेखी जताने के लिए, रौब जमाने के लिए, बड़प्पन दिखाने के लिए बात बढ़ा-चढ़ाकर कही हो, लोग उसके बारे में झूठा होने की मान्यता बना लेंगे और फिर कभी महत्वपूर्ण प्रसंग में भी उसका भरोसा न करेंगे । असलियत छिपती नहीं वह आज नहीं तो कल प्रकट होकर रहती है । झूठ में एक बड़ी कमजोरी है कि वह थोड़े समय तक प्रभावित किये रह सकता है, वस्तुस्थिति देर-सबेर में प्रकट होकर रहती है । तब उस असत्यभाषी को अप्रामाणिक और अविश्वस्त जान लिया जाता है और उसकी सही बातें भी आशंका की दृष्टि से देखी और संदिग्ध मानी जाती हैं ।

विश्वास खो बैठना संदिग्ध एवं अप्रामाणिक रहना मनुष्य का अशोभनीय पतन है । प्रतिष्ठा उसी की है जिसका विश्वास किया जाता है । जिसका विश्वास उठ गया जिसे अप्रामाणिक गिन लिया गया और जिसे दूसरों को भ्रम में डालने वाला मान लिया गया उसकी सामाजिक इज्जत चली गयी ही मानी जायेगी । छल चाहे पैसा कमाने के लिये किया गया हो या भ्रम में डालकर किसी गलत निष्कर्ष पर पहुँचाने के लिए, दोनों ही समान रूप से निन्दनीय हैं । ठगी निकृष्ट स्तर का अनाचार है । चोर, उठाईगीर भी आकस्मिक लाभ दाव लगाने में दूसरे की लापरवाही और अपनी चतुरता से प्राप्त करते हैं । किसी को विश्वास दिलाकर झूठे सिद्ध नहीं होते । दूसरे प्रकार के जुआरी, लुटेरे, आक्रमणकारी, झगड़ालू को जो करना होता है अपना समझ और जता कर करते हैं । जो भरोसा कुछ दिलाता है और करता कुछ है, बताता कुछ है और होता कुछ है, उसे तो ऐसा कायर कहा जायेगा जिसने दूसरे की भलमनसाहत का अनुचित लाभ उठाया । यदि वह पहले ही झूठ मान बैठता या बात को संदेह की दृष्टि से देखता और भरोसा न करता तो सम्भवतः वह ठगी में न आता पर उसकी सज्जनता ही कहिये कि आदमी को आदमी मानकर उसकी इनसानियत पर भरोसा किया । इस प्रकार ठगा जाने वाला जितना नुकसान उठाता है ठगने वाला उससे अधिक घाटे में रहता है क्योंकि ठगे जाने वाले ने पैसे की या दूसरी तरह से हानि उठाई होगी जो सहज ही कुछ दिनों में पूरी की जा सकती है पर जिसने असत्य व्यवहार से अपना विश्वास खो दिया वह उस व्यक्ति की दृष्टि में तथा दूसरे जानकारों की दृष्टि में आजन्म अविश्वस्त रहेगा और कभी किसी की सच्ची घनिष्टता, आत्मीयता, मैत्री न प्राप्त कर सकेगा । असत्य व्यवहार से व्यक्ति की धूर्तता सिद्ध होती है और धूर्त से कोई मतलब के

लिए ऊपर मन से चापलूसी भले ही करे पर अन्तः-करण से कोई उसकी प्रामाणिकता स्वीकार न करेगा और न उसे गहरा मित्र बनायेगा। यह क्षति इतनी बड़ी है जिसकी पूर्ति आसानी से नहीं हो सकती।

दूसरों को धोखा देना एक प्रकार से अपने आप को ही धोखा देना है, अन्तरात्मा इस गिरावट को स्वीकार करती है और निरन्तर धिक्कारती है। जिसे अपनी वस्तुस्थिति तक प्रकट करने का साहस नहीं होता उस कायर का आत्मबल कहाँ टिकेगा। बहादुरी यहाँ से शुरू होती है कि व्यक्ति दूसरों से बिना डरे अपनी स्थिति ज्यों की त्यों प्रकट कर दे और फिर यथार्थता के कारण जो भी स्थिति सामने आये उसे सहन करे। वस्तुस्थिति से, भिन्न बात बताकर यदि दूसरों को अन्धेरे में रखा और धोखेबाजी के फलस्वरूप कुछ लाभ उठा लिया तो यह प्रकारान्तर से मित्र बनकर विश्वास अर्जित करने और दूसरे क्षण उसकी पीठ में छुरा मारने की तरह विश्वासघात करके यदि कुछ कमा लिया तो इस असत्य भाषण को कोई कमाई करने की कला नहीं मान लेना चाहिए। यह तो लुटेरेपन की तरह एक लौकिक अपराध ही कहा जायेगा। ऐसी रीति-नीति अपनाने वालों को चतुरों की नहीं, अपराधियों की पंक्तियों में ही खड़ा किया जायेगा।

असत्य व्यवहार एवं असत्य भाषण करना, असत्य विश्वास दिलाना, अपनी मान्यता के विपरीत कुछ का कुछ बता देना, अपनी स्थिति को छिपाकर दूसरी तरह की प्रकट करना, अपने इरादों को छिपाना, यह सब असत्य भाषण के अन्तर्गत ही आता है। केवल झूठ बोलना ही असत्य नहीं है, अन्य प्रकार से अपने द्वारा किसी को भ्रम में डाल देना यह सारी क्रिया-कलाप असत्य की परिधि में आता है। उसे चाहें तो दूसरे शब्दों में छल या ठगी भी कहते हैं। भले ही किसी का पैसा ठगा गया हो पर विश्वास को ठग लेना भी कुछ कम पाप या अपराध नहीं है।

असत्य को पातकों में मूर्धन्य माना गया है हर कर्त्तव्यनिष्ठ नागरिक से आशा की गई है कि वह सत्य का ही अवलम्बन करे। यह मानवीय कर्त्तव्य का शुभारम्भ है कि हम परस्पर एक-दूसरे को सही ही जानकारी दें और उचित ही विश्वास दिलायें। इसी आधार पर एक-दूसरे पर भरोसा कर सकेगा और पारस्परिक सहयोग की उस शृंखला को अग्रगामी बना सकेगा जिस पर प्रगति तथा समाज व्यवस्था पूर्णतया अवलम्बित है। यदि हम एक-दूसरे को गलत जानकारी देने की रीति-नीति अपना लें तो फिर कोई किसी पर क्या और क्यों विश्वास करेगा। परस्पर सन्देह, आशंका, अविश्वास और प्रवंचना की बात ही सोचते रहें तो न सहयोग देते बनेगा न लेते। इस स्थिति में प्रेम और मैत्री के नाम पर अन्तरंग में पुलकन और उल्लास भरने वाले तत्वों का पनप सकना भी सम्भव न रहेगा। आशंका का आतंक हर बात में हर व्यक्ति के प्रति सन्देह और अविश्वास करने के लिए प्रेरित करेगा। उन परिस्थितियों में श्रद्धा भावना कौन किसी पर आरोपित कर सकेगा। सज्जनता का व्यवहार करते हुए ठगे जाने का सन्देह यदि मन में बना रहा तो सभी में घृणा और धूर्तता की गन्ध आयेगी तब कोई किसी को अपना कैसे समझेगा और कैसे उसकी ओर से निश्चिन्त रह सकेगा। तब किसी को किसी से कुछ आशा भी न रहेगी। वचन का पालन और विश्वास जब मानवीय आचार का अंग नहीं रह गया तब फिर मनुष्य अपने को एकाकी ही अनुभव करेगा और यह समझेगा कि वह धोखेबाज सियारों और भेड़ियों के बीच किसी प्रकार निर्वाह मात्र कर रहा है।

दाम्पत्य जीवन से लेकर लेन-देन के व्यवसाय-व्यापार तक हर व्यवस्था के पीछे कुछ सुनिश्चित आश्वासनों को आधार माना जाता है। यदि उनकी आधारशिला हिल जाये, एक-दूसरे को झूठा, ठग, जालसाज और विश्वासघाती जान बैठें तो परस्पर निर्वाह कैसे होगा और सहयोग की गाड़ी के पहिये साथ-साथ कैसे लुढ़केंगे? एक झूठा व्यक्ति अपने दुर्व्यवहार से अनेक को आतंकित एवं आशंकित करता है इससे व्यापक क्षेत्र में अनिश्चितता फैलती है। झूठ को इसीलिए सबसे बड़ा पातक माना गया है कि इससे आत्मा अपनी दृष्टि में आप पतित होती है। असत्य से दूषित व्यक्तित्व बनता है और मनोविज्ञान की दृष्टि में दुराव के कारण अगणित शारीरिक, मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, परस्पर अविश्वास उत्पन्न होते हैं, परस्पर अविश्वास उत्पन्न होने के अतिरिक्त समाज व्यवस्था की नींव हिलती है जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। असत्य का अवलम्बन हम हँसी-मजाक में भी न करें यही उचित है।

प्रश्न—

(१) मनुष्य का सर्वप्रथम गुण कौन-सा है? (२) सज्जनता की परख क्या है? (३) मिथ्या बोलने से क्या हानि है? (४) प्रतिष्ठा किस की स्थिर रहती है? (५) धन क्यों निन्दनीय है? (६) कायर किसे कहा जाना चाहिए? (७) ठगने वाला अधिक घाटे में कैसे रहता है? (८) सिद्ध कीजिए "दूसरों को धोखा देना अपने आप को धोखा देना है।" (९) बहादुरी कहाँ से प्रारम्भ होती है? (१०) झूठ को सबसे बड़ा पातक क्यों माना गया है?

बेईमानी का नहीं, ईमानदारी का मार्ग अपनायें

लगता ऐसा है कि जल्दी और अधिक कमाने के लिए बेईमानी का प्रयोग करना आवश्यक है। क्योंकि धनवान लोगों में से अधिकांश ऐसे दीखते हैं, जिनके क्रिया-कलाप में बेईमानी का पुट मिलता है। ईमानदार लोगों में से बहुत करके गरीब दीखते हैं, इसलिए सामान्य बुद्धि से यही प्रतीत होता है कि हम भी ईमानदार रहेंगे तो गरीब बन जायेंगे।

चूँकि इन दिनों धन की प्रमुखता है । धन के आधार पर ही अधिक सुविधा-साधन और सफलता, सम्मान की उपलब्धि होती है । इसलिए मोटी बुद्धि से स्थिति का अवलोकन करने वाले और बहुसंख्यक जिस रास्ते चलें, उसी पर चलने वाले लोग आमतौर से उसी ढर्रे को अपना लेते हैं, जो पास-पड़ौस के लोग अपनाते दीखते हैं । आज की व्यापक क्षेत्र में फैली हुई बेईमानी का यही प्रथम कारण है ।

वस्तुस्थिति को बारीकी से तलाश करने पर बुद्धि-भ्रम हो जाना स्वाभाविक है । बेईमानी की गरिमा स्वीकार करके लोग बुद्धि-भ्रम से ही ग्रस्त हुए हैं । वास्तविकता वैसी है नहीं । बेईमानी से धन नहीं कमाया जा सकता । कमा लिया जाये तो स्थिर नहीं रखा जा सकता । लोग जिन गुणों से कमाते हैं, वे दूसरे ही हैं । बेईमानी की आड़ में कुछ अनुपयुक्त लाभ प्राप्त कर लिया जाये तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि उसका परिणाम लाभदायक होता है । साहस, परिश्रम, सूझ-बूझ, मधुर भाषण, व्यवस्था आदि वे गुण हैं, जो उपार्जन करते हैं । बेईमानी तो अपयश, अविश्वास, घृणा, असहयोग, राजदण्ड, आत्म-ग्लानि आदि दुष्परिणाम ही उत्पन्न करती है । वस्तुतः लोग सद्गुणों के आधार पर कमाते हैं । बेईमानी का तात्पर्य है दूसरों को धोखा देना, यह तभी सम्भव है जब उस पर ईमानदारी का आवरण चढ़ा हो । किसी को ठगा तभी जा सकता है, जब उसे अपनी ईमानदारी एवं विश्वसनीयता के बारे में आश्वस्त कर दिया जाये । यदि किसी को यह शक हो जाये कि हमारे साथ बेईमानी करने के लिए ताना-बाना बुना जा रहा है तो वह ठगाई में न आयेगा और चालाकी से मिलने वाला लाभ न मिल सकेगा । बेईमानी तभी लाभदायक हो सकती है, जब वह ईमानदारी की आड़ में भली प्रकार छिपा ली जाये । असलियत जैसे ही प्रकट हुई, बेईमानी करने वाला न केवल उस समय के लिए वरन् सदा के लिए उन लोगों से अपना विश्वास खो बैठता है और लाभ कमाने के स्थान पर उल्टा घाटा उठाता है ।

बेईमानी का प्रतिफल घृणा, अविश्वास, असहयोग, राजदण्ड और आत्मदण्ड है, उसमें उपार्जन की कोई क्षमता नहीं । उपार्जन तो सद्गुण करते हैं । उन्हीं में उत्पादक तत्वों का समावेश है । संसार में बड़े काम, बड़े व्यापार, बड़े आयोजन ईमानदारी के आधार पर जमे, बढ़े और सफल हुए हैं । जिसने अपनी विश्वस्तता का सिक्का दूसरों पर जमा दिया, अच्छी, सही, खरी चीजें उचित मूल्य पर दीं और व्यवहार में प्रामाणिकता सिद्ध कर दी, लोग उस पर मुग्ध हो गये और सदा-सर्वदा के लिए उसके ग्राहक, प्रशंसक एवं सहयोगी बन गये । उन्नति का रहस्य यही है । जिसकी प्रामाणिकता है, उसका भविष्य उज्ज्वल है । किन्तु जो अपनी मूर्खता के कारण बदनाम हो गया उसका ईश्वर ही रक्षक है । आज के मित्र, कल के दुश्मन बनेंगे, कल के मित्र परसों घृणा करने लगेंगे और अन्ततः उसका कोई सच्चा सहयोगी न रह जायेगा । स्वार्थ के लिए चापलूसी करने वाले भी आड़े वक्त काम न आयेंगे । विश्वास करके कोई जोखिम उठाने के लिए वे 'चापलूस' मित्र भी समय पड़ने पर तैयार नहीं होते ।

हमें यह भ्रम निकाल ही देना चाहिए कि बेईमानी कुछ कमा सकती है । यह शराब की तरह उत्तेजना मात्र है, जिससे ठगने वाला और ठगा जाने वाला दोनों बुद्धि भ्रम में ग्रस्त हो जाते हैं । नशा उतरने पर नशेबाज की जो खस्ता हालत होती है, वही पोल खुलने पर बेईमान की होती है । उसका न कारोबार रहता है, न कोई ग्राहक सहयोगी । दूध में पानी और घी में वेजीटेबिल मिलाने वाला तभी कमा सकता है जब वह कसम खा-खाकर अपनी ईमानदारी और चीज के असलीपन का विश्वास दिलाता रहे । यह ईमानदारी और विश्वास की विजय है । जो कमाया गया उसका आधार यही था । यदि वे लोग अपनी दुकान पर पानी और अरारोट मिला दूध, मिलावटी घी का साइनबोर्ड लगायें और अपनी वस्तु के दोषों को प्रकट कर दें, तब पता चले कि क्या बेईमानी अपने विशुद्ध रूप में कुछ कमा सकने में समर्थ है ।

वेस्ट एण्ड वाच कम्पनी की घड़ियाँ, फोर्ड मोटरें, पार्कर के पैन लोग महँगे होने पर भी खुशी-खुशी खरीदते हैं, क्योंकि वस्तु की प्रामाणिकता पर हर कोई भरोसा करता है । उनकी दिन-प्रतिदिन उन्नति होती चली जा रही है । इसके विपरीत नकली, कमजोर, खराब चीजें बेचने वाले आये दिन दिवालिया होते रहते हैं । पूँजी गँवा बैठते हैं और फिर उसी बदनामी के कारण नया काम कर सकने में भी सफल नहीं होते । बेईमानी देर तक छिपी नहीं रह सकती । पारे को पचाया नहीं जा सकता और पाप छिपाया नहीं जा सकता है । प्रकट होते समय दोनों ही भारी कष्ट देते हैं ।

व्यापार की ही भाँति जीवन के हर क्षेत्र की सफलता का स्थायित्व कठोर श्रम, सद्गुण, सद्व्यवहार, सच्चाई, ईमानदारी एवं प्रामाणिकता पर निर्भर रहता है । चालाकी से एक बार ही किन्हीं को चमत्कृत करके अपना उल्लू सीधा किया जा सकता है पर उस लाभ को स्थिर नहीं रखा जा सकता । चोर, डाकू, जुआरी, गिरहकट आये दिन बहुत पैसा कमाते रहते हैं, पर उस कमाई को स्थिर रखना या सदुपयोग करना उनके बस की बात नहीं होती । बादल की छाँह की तरह अनीति की कमाई भी अपव्यय और दुर्व्यसनों में देखते-देखते समाप्त हो जाती है ।

सम्पत्ति से नहीं, सद्बुद्धि और सत्प्रवृत्तियों से उन्नति होती है । धनवान नहीं, चरित्रवान सुख पाते हैं । ईमानदारी से यदि कम भी कमाया जाये तो वह अनीति से अधिक कमाने की अपेक्षा श्रेयस्कर है । पसीने की कमाई फलती-फूलती है और हराम का पैसा पानी के बबूले की तरह नष्ट हो जाता है । इतना ही नहीं, विदाई के समय वह बहुत पश्चाताप, सन्ताप और अपयश छोड़कर जाता है ।

यदि बेईमानी से ही धन कमाया जाता है तो आवश्यक नहीं कि धनवान ही बना जाये । संसार में अधिकांश गरीब ही रहते हैं । हम भी उन्हीं में से एक रहें तो क्या हर्ज है ? किन्तु वास्तविकता यह है कि धन ही नहीं, स्वास्थ्य, संतोष और सम्मान के क्षेत्रों में समृद्ध और सफल चरित्रवान एवं ईमानदार लोग ही बनते हैं । सफलता प्राप्त कर लेना ही काफी नहीं, उससे आत्म-सन्तोष और जन-कल्याण एवं स्वस्थ परम्परा का अभिवर्द्धन होना चाहिए । सही तरीके से प्राप्त की हुई सफलता ही वास्तविक सफलता है । यदि किसी ने कोई उन्नति या उपलब्धि अनुपयुक्त रीति से प्राप्त की है तो उससे अनेक को वैसा ही करने की इच्छा उत्पन्न होगी और समाज में एक ऐसी प्रथा चल पड़ेगी, जो हर किसी के लिए अहितकर परिणाम ही उत्पन्न करती रहे ।

सद्गुणों की खाद और सच्चाई का पानी पाकर ही व्यक्तित्व का पौधा बढ़ता और फलता-फूलता है । जादू से हथेली पर सरसों जमाई तो जा सकती है, कौतुक तो देखा जा सकता है पर उसका तेल निकालकर धन कमाया जा सके, ऐसा सम्भव नहीं होता । बेईमानी का चमत्कार तो देखा जा सकता है पर उसके सहारे सच्ची प्रगति और स्थिर सम्पदा का लाभ नहीं उठाया जा सकता । यदि हम वस्तुतः कुछ कहने लायक और आनन्द दे सकने लायक उपलब्धियाँ प्राप्त करना चाहते हैं तो एक ही रास्ता है कि हम ईमानदारी और भलमनसाहत को जीवन-नीति की तरह हृदयंगम करें । सद्गुणों की सम्पदा से अपने व्यक्तित्व को सुसज्जित करते चलें । जिस प्रकार रुपये के बदले दुकानों पर बिकने वाली चीजें आसानी से खरीदी जा सकती हैं, उसी प्रकार सद्गुणों के मूल्य पर प्रगति की किसी भी दिशा में द्रुतगति से अग्रसर हुआ जा सकता है ।

बेईमानी की रीति-नीति स्वीकार करने का प्रतिफल अपने लिए विपत्ति और समाज के लिए दुर्गति के रूप में ही प्रस्तुत होगा । हमें इस कंटकाकीर्ण पगडण्डी पर चलने की अपेक्षा यही अच्छा है कि इस मार्ग पर चलने वालों की दुर्गति देखें और उतने से ही सावधानी बरतने लग जायें । इतिहास के किसी भी पृष्ठ पर यह तथ्य देखा जा सकता है कि विभूतियों और सम्पत्तियों का लाभ केवल उनके लिए सुरक्षित रहता है, जो सद्गुणी, चरित्रवान और ईमानदार हैं ।

प्रश्न—

(१) आज के समाज में बेईमानी फैलाने के मुख्य कारण क्या हैं ? (२) धन उपार्जन के लिए ईमानदार व्यक्ति में क्या गुण होना चाहिए ? (३) बेईमानी से प्राप्त धन किस प्रकार हानि पहुँचाता है ? (४) बेईमानी किस प्रकार की जाती है ? (५) बेईमानी का प्रतिफल क्या होता है ? (६) ग्राहक किस प्रकार के व्यापारी के प्रशंसक व सहयोगी बन जाते हैं ?(७) बेईमानी से हमें क्या लाभ होता है ? (८) बेईमानी क्या केवल व्यापार में ही होती है, अन्य जगहों पर नहीं होती ?(९) ईमानदारी को छोड़कर बेईमानी को अपनाने वाले किस तरह हानि उठाते हैं ? (१०) हमें अगर ईमानदारी अपनानी हो तो किस आधार पर कह सकते हैं कि यह श्रेष्ठ है ?

हँसती और हँसाती जिन्दगी ही सार्थक है

अपने पास दूसरों को देने के लिए धन-दौलत न हो, किसी को कुछ देने की स्थिति न हो तो भी हम एक वस्तु सदा सबको देते रह सकने में समर्थ हो सकते हैं और निरन्तर पुण्य और सन्तोष लाभ करते रह सकते हैं । उस वस्तु का नाम है-प्रसन्नता । यदि अपने स्वभाव में प्रसन्न रहने का समावेश कर लिया जाये, हँसने-मुसकराने की आदत डाल ली जाये तो आप जहाँ कहीं रहेंगे वहाँ प्रसन्नता बिखेरते रहेंगे और जो कोई भी सम्पर्क में आवेगा प्रसन्न और प्रभावित होता चला जायेगा । अपने आपकी सन्तुष्टि भी प्रसन्नता की मनोदशा पर निर्भर है ।

यह अनुमान सही नहीं है कि जो सुखी एवं साधन सम्पन्न होता है वह प्रसन्न रहता है । वस्तुस्थिति इससे बिल्कुल उलटी है । जो प्रसन्न रहता है वह सुखी और साधन सम्पन्न बनता है । प्रसन्नता विशुद्ध रूप से एक ऐसी मनोदशा है, जो पूर्णतया आन्तरिक सुसंस्कारों पर निर्भर रहती है । गरीबी में भी मुसकराते और कठिनाइयों के बीच भी जी खोलकर हँसने वाले असंख्य व्यक्ति देखे जा सकते हैं । इसके विपरीत ऐसे भी अगणित लोग हैं, जिनके पास प्रचुर मात्रा में साधन सम्पन्नता भरी पड़ी है पर उनकी आँखें, नसें, तेवर तने और मुखाकृति ऐंठी रहती है । क्रुद्ध, चिन्तित, असंतुष्ट और उद्विग्न रहना एक मानसिक दुर्बलता मात्र है, जो अन्तःकरण की दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों में ही पाई जाती है । परिस्थितियाँ नहीं मनोभूमि का पिछड़ापन ही इस क्षुब्धता का कारण है । उदात्त और सन्तुलित दृष्टिकोण वाले व्यक्ति हर परिस्थिति में हँसते-हँसाते रहते हैं । वे जानते हैं कि मानव जीवन सुविधाओं, असुविधाओं, अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं के ताने-बाने से बुना गया है । संसार में अब तक एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं जन्मा, जिसे केवल सुविधाएँ और अनुकूलताएँ ही मिली हों एवं कठिनाइयों का सामना न करना पड़ा हो ।

हर किसी के जीवन में कुछ अनुकूलताएँ रहती हैं, कुछ प्रतिकूलताएँ । प्रश्न इतना भर है कि कौन किसको कितना महत्त्व देता है जो अपनी प्रतिकूलताओं पर ही विचार करता रहेगा, इन्हीं की बाबत सोचेगा, उन्हें ही महत्त्व देगा, उसे प्रतीत होगा कि वह मात्र कठिनाइयों से घिरा हुआ है । अस्तु, उसे दुःखी रहना पड़ेगा । इस कठिनाइयों के निमित्त कारण जो भी प्रतीत होंगे, उन पर क्रुद्ध रहेगा । अधिक सम्पन्न लोगों के साथ अपनी तुलना

करेगा तो अपने दुर्भाग्य पर चिढ़ आयेगी । इस स्तर पर अपनी मनोभूमि जमा देने वाला व्यक्ति सदा क्षुब्ध ही दिखाई पड़ेगा । उसके स्वभाव में चिड़चिड़ापन जुड़ जायेगा और जब भी अवसर मिलेगा वह अपनी व्यथा अथवा नाराजी व्यक्त करते हुए अपनी मानसिक अस्त-व्यस्तता प्रकट कर रहा होगा ।

इसके प्रतिकूल जिसने अपनी अनुकूलताओं पर विचार करना आरम्भ किया और अपनी तुलना पिछड़े लोगों के साथ करनी आरम्भ की, उसे लगेगा कि हम करोड़ों से अच्छे हैं हमारे पास जो है उसके लिए भी लाखों-करोड़ों तरसते हैं । इस तथ्य को जो समझ लेगा, वह अपने को सौभाग्यवान मानेगा और संतोष का बहुत बड़ा आधार प्राप्त कर लेगा । सभी सुविधाएँ किसे मिली हैं । जिसे हर सुविधा मिले तो उसे देवता या भगवान कहा जायेगा ।

प्रसन्नता एक ईश्वरीय वरदान है और यह हर सुसंस्कृत मनोभूमि के व्यक्ति को प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो सकती है । जिसे शुभ देखने की आदत है वह प्रियदर्शी सर्वत्र आनन्द मंगल देखेगा, ईश्वर की अनुकम्पा और लोगों की सद्भावना पर विश्वास रखेगा । ऐसी दशा में हँसने और हँसाने के लिए उसके पास बहुत कुछ होगा । किन्तु जिन्हें अशुभ चिन्तन की आदत है, दूसरों के दोष-गुण और अपने अभाव-अवरोध ढूँढ़ने की आदत है, जो इसी शोध में लगे रहते हैं और जो प्रतिकूलताएँ दीखती हैं, उन्हें बढ़ा-चढ़ा कर सोचते हैं, अपने चारों ओर केवल दुष्टता और विपन्नता ही दिखाई देती है, ऐसे लोगों को क्षुब्ध ही रहना पड़ेगा । वे असमंजस, खिन्नता और उद्विग्नता ही अनुभव करते रहेंगे । रोष उनकी वाणी से और असन्तोष उनकी आकृति से टपकता रहेगा, ऐसे व्यक्ति स्वयं दुःखी रहते हैं और अपने सम्पर्क में आने वाले दूसरों को दुःखी करते रहते हैं ।

मनुष्य जीवन की एक भारी विडम्बना है कि वह सृष्टि का मुकुटमणि और संसार के समस्त प्राणियों की तुलना में अधिक साधन-सम्पन्न होते हुए भी अपने को दुर्भाग्यग्रस्त माने और दुःखी रहे । यह एकाकी मनोभूमि अर्द्धांग पक्षाघात के रोगी की तरह है, जिसका एक ओर का आधा शरीर तो काम करता है और दूसरी ओर निर्बलता, रुग्णता और पीड़ा की स्थिति बनी रहती है, हम जितनी देर जितनी बढ़ा-चढ़ाकर अपनी प्रतिकूलताएँ सोचेंगे, उसी अनुपात से अपने रोष और विक्षोभ को बढ़ा लेंगे ।

हमें क्रुद्ध, रुष्ट, असन्तुष्ट और क्षुब्ध नहीं रहना चाहिए । इससे मस्तिष्क में नई विकृतियाँ उत्पन्न होती और बढ़ती चली जाती हैं । आग जहाँ रहेगी, वहाँ जलायेगी । असन्तोष जहाँ रहेगा, वहीं विक्षोभ पैदा करेगा और उससे सारा मानसिक ढाँचा लड़खड़ाने लगेगा । चिड़चिड़ा मनुष्य एक प्रकार का पागल ही है । दुःखी, निराश और चिन्तित रहने वाले को सनकी और मूर्खों की पंक्ति में बिठाया जायेगा । ऐसा व्यक्ति अपने ही दुर्गुणों से अपने आपको जलाता-गलाता रहता है और अनेक शारीरिक-मानसिक रोगों से ग्रस्त होकर घोर अशान्ति की उद्विग्न जिन्दगी जीता है ।

हँसते रहना एक दैवी गुण है, जिस पर अमीरों की सुविधाएँ निछावर की जा सकती हैं । हँसने की आदत चित्त को हल्का बनाती है और शरीर को नीरोग-दीर्घजीवी एवं सुन्दर बनने की सुविधा उत्पन्न करती है । अपना सबसे बड़ा उपहार यही हो सकता है कि प्रसन्न रहने, मुसकराने और हँसने की आदत है । खिले हुए फूल के आस-पास जिस तरह तितलियाँ और मधुमक्खियाँ घिरी रहती हैं, उसी प्रकार हँसते-हँसाते रहने वाले व्यक्ति से समीपवर्ती लोग अनायास ही आकर्षित और प्रभावित होते हैं । प्रसन्नता की आवश्यकता सभी को है, हँसी का आनन्द हर कोई लेना चाहता है । मुसकराहट के साथ बिखरने वाला सौन्दर्य हर किसी को भाता है । इस प्रकार की आकृति और प्रकृति जिस किसी की भी दिखाई पड़ती है, लोग उसकी ओर खिंचते चले आते हैं । मिठाई खरीदने वाले हलवाई की दुकान पर पहुँचते हैं । हर्ष और उल्लास की, प्रसन्नता और मुस्कान की भूख हर किसी को प्रसन्नचित मनुष्य के पास खींचकर ले आती है । उसके मित्रों, समर्थकों, प्रशंसकों और सहयोगियों की कमी नहीं रहती ।

दूसरों को हम सर्वथा निर्धन और अक्षम होते हुए भी जो बहुमूल्य उपहार निरन्तर देते रहते हैं, वह प्रसन्नता की अभिव्यक्ति ही है । चन्दन अपने चारों ओर सुगन्ध और पुष्प आस-पास शोभा-सौन्दर्य बिखेरता है । हँसमुख और प्रसन्नचित मनुष्य अपने समीपवर्ती वातावरण में, परिचितों में हर्ष-उल्लास की लहरें उत्पन्न करता रहता है । संसार में दुःख बहुत हैं, दुःखियों की कमी नहीं । रोने और रुलाने वालों की भीड़ लगी है । चिढ़ने और चिढ़ाने वाले अगणित हैं । खोज उनकी है, जो हँसने और हँसाने की विभूतियाँ बिखेरते हुए अपनी आन्तरिक समर्थता और मानसिक प्रौढ़ता का परिचय दे सकें । ऐसे ही लोग इस संसार मे आनन्द की अभिवृद्धि कर सकते हैं, उन्हीं का अनुदान समीपवर्ती लोगों की हृदय कलिका को खिला सकता है । कठिनाइयाँ अपने पुरुषार्थ से हल होती हैं पर दूसरों को उल्लास एवं उत्साह प्रदान कर हम किसी का भी चित हल्का कर सकते हैं और निराश जीवन में आशा की नई किरण बिखेर सकते हैं ।

हँसना एक दैवी गुण है, हँसाना एक उत्कृष्ट स्तर का उपकार है । मुसकराता हुआ चेहरा भले ही काला-कुरूप क्यों न हो सदा अतिसुन्दर लगेगा । प्रसन्नता एक आदत है, जो कुछ समय के निरन्तर अभ्यास से अपने अन्दर उत्पन्न की जा सकती है । अपनी सुविधाओं को देखें उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करें, सद्भावना और सत्प्रवृत्तियों का चिन्तन करें, हमें हँसने के लिए, प्रसन्न रहने के लिए बहुत कुछ मिलेगा । यदि हम हँसने और हँसाने का जीवन जी सके तो समझना चाहिए कि हमने

एक सच्चे कलाकार जैसी मंगलमयी सफलता एवं उल्लास भरी उपलब्धि प्राप्त कर ली।

प्रश्न

(१) वह क्या वस्तु है, जो धन-दौलत की जगह दूसरे को दे सकते हैं, जिससे सन्तोष व पुण्य दोनों ही प्राप्त हों? (२) प्रसन्न रहने के क्या आधार हैं? (३) क्या साधन सम्पन्न और अमीर ही केवल प्रसन्न रह सकते हैं? यदि नहीं तो समझायें? (४) व्यक्ति यदि अपने को अप्रसन्न समझता है तो क्यों? (५) प्रसन्नता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है? (६) किस प्रकार की मनःस्थिति वाला व्यक्ति प्रसन्न रह सकता है? (७) किस प्रकार की मनःस्थिति वाला व्यक्ति अप्रसन्न रहता है? (८) हमेशा हँसते-हँसाते रहने वाले व्यक्ति खुद को तथा परिवार को किस प्रकार लाभ पहुँचाते रहते हैं? (९) हँसना किस प्रकार अमीरी की दौलत से भी बढ़कर है?

अपना ही नहीं, कुछ समाज का भी हित साधन करें

अन्य जीव अपने आप में पूर्ण हैं। अपनी आवश्यकताएँ अपने बलबूते स्वयं पूरी कर लेते हैं। आहार, निवास आदि के लिए वे किसी दूसरे पर निर्भर नहीं। पर मनुष्य की स्थिति ऐसी नहीं, उसका निर्वाह, विकास एवं स्थायित्व दूसरों की आशा पर पूर्णतया आश्रित है। अन्य जीवों के बच्चे जन्म के कुछ ही समय बाद अपने पैरों खड़े हो जाते हैं, पर मनुष्य का बालक दूध पीने, करवट लेने तक में समर्थ नहीं होता। उसकी विभिन्न व्यवस्थाएँ माता न जुटाए तो जीवित रह सकना सम्भव नहीं। अपने पैरों पर खड़ा होने लायक तो वह बीस-पच्चीस वर्ष की आयु में बनता है, तब तक उसे अभिभावकों की कृपा पर अवलम्बित रहना पड़ता है। भोजन, वस्त्र, चिकित्सा, शिक्षा, विवाह आदि का प्रबन्ध वे ही करते हैं। बोलना, बात करना वह दूसरों का उच्चारण सुनकर करता है। शिक्षा दूसरों के संग्रहीत ज्ञान के आधार पर होती है। किसी की लड़की आकर अपना घर बसाती है। चिकित्सा के लिए दूसरे के ज्ञान पर अवलम्बित रहना पड़ता है। कला-कौशल दूसरे सिखाते हैं। लाखों वर्षों से करोड़ों मनुष्यों द्वारा उपार्जित एवं संग्रहीत ज्ञान हमें मिलता है और तब कहीं कुछ सीख-समझकर किसी योग्य बन पाते हैं।

रेल, तार, डाक, प्रेस आदि आविष्कारों के आधार पर हमारी सुविधाएँ टिकी हुई हैं। व्यापार जिन आधारों से चलता है, वे अगणित मनुष्यों की सूझ-बूझ मेहनत के परिणाम हैं। छोटी-सी दियासलाई बनाने में जितने यन्त्र, श्रम, साधन एवं ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, उनकी एक-एक प्रक्रिया का विकास लाखों, करोड़ों के सहयोग से ही सम्भव हुआ होता है। जंगलों, गुफाओं में रहने वाले साधु-महात्माओं को भी वस्त्र, माला, कमण्डल, कुल्हाड़ी, दियासलाई, खड़ाऊँ आदि की आवश्यकता पड़ती है। इसके बिना उनका निर्वाह नहीं होता। यह वस्तुएँ भी समाज के असंख्य व्यक्तियों के सहयोग श्रम, ज्ञान से ही उपलब्ध होती हैं। कहने का तात्पर्य इतना भर है कि मनुष्य ने जो कुछ पाया, कमाया, बढ़ाया है। उसकी स्थिति एवं प्रगति सब कुछ सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर है, इसलिए उसका स्वार्थ इस बात में समाया हुआ है कि सामाजिक वातावरण उत्तम बना रहे। यदि समाज में किसी तरह विपन्नता उत्पन्न होगी तो उसका प्रभाव अपने ऊपर पड़े बिना भी न रहेगा। मुहल्ले में दुष्ट, दुराचारी भरे पड़े हों तो अपनी इज्जत-आबरू तथा सुरक्षा खतरे में है। गाँव में हैजा फैले तो उसका प्रभाव अपने घर में भी जान-जोखिम खड़ी करेगा। पड़ोसी के छप्पर में आग लगे तो अपना छप्पर भी सुरक्षित न रहेगा। इसलिए हमें अपने-अपने बच्चों के स्वार्थों की रक्षा के लिए सामाजिक जीवन के वातावरण को उत्कृष्ट बनाये रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। ऐसे प्रयत्न इसलिए भी आवश्यक हैं कि जिस समाज की सहायता से हमने अनेक सुविधाएँ प्राप्त की हैं, स्थिरता एवं प्रगति के उपहार पाये हैं, उसके प्रत्युत्तर में प्रवृत्त होकर अपनी मानवोचित कृतज्ञता प्रकट करें। जिससे कुछ पाया है उसे देना भी चाहिए, तभी ऋण से मुक्ति मिलती है। समाज-सेवा के लिए कुछ निरन्तर करते रहने का व्रत लेकर हमें समाज-ऋण से किसी कदर उऋण होने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

पेट पालने के प्रयत्नों में जीवन की बहुमूल्य विभूति समाप्त नहीं कर दी जानी चाहिए। स्त्री-बच्चों की आवश्यकताएँ पूरी करते रहने में हमारी सारी क्षमता खर्च नहीं हो जानी चाहिए। पेट और परिवार से बाहर भी अपनत्व का विस्तार होना चाहिये। आत्म-विकास का यही रास्ता है कि हम अपनी आत्मीयता को व्यापक क्षेत्र में विस्तृत करें। दूसरे के सुख को अपना सुख और दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानकर कुछ ऐसा भी सोचें, कुछ ऐसा भी करें जिससे दूसरों का दुःख घटे और सुख बढ़े। निश्चय ही किसी की इतनी सामर्थ्य नहीं कि लोगों के अभाव अपनी सारी सम्पत्ति देकर भी पूरी कर सके। इसी प्रकार चौबीस घण्टे का समय लोगों की सेवा करने में लगा दिया जाये तो भी बहुत थोड़े लोगों की तनिक-सी आवश्यकताएँ पूरी हो सकेंगी। इसलिए अन्न, वस्त्र, जल, दवा आदि बाँटकर समाज का पिछड़ापन कष्ट, अभाव एवं अवसाद दूर होने की कल्पना नहीं की जा सकती है।

संसार में सारे कष्ट दुर्बुद्धि एवं दुष्प्रवृत्तियों के कारण हैं। इसलिए रोग के कारण को समझकर जड़ पर ही कुठाराघात करना चाहिए। समाज-सेवा का सर्वोत्तम तरीका यह है कि लोगों की विचारणा एवं प्रवृत्तियों को निकृष्टता की स्थिति से उबारकर उत्कृष्टता की दिशा में मोड़ा जाये। लोग अपना रवैया और ढर्रा बदल दें तो

अपने भीतर भरी हुई प्रचण्ड सामर्थ्य के आधार पर वे स्वयं ही अपने पिछड़ेपन एवं कष्टों का निवारण कर सकते हैं । हमें अपना सहयोग उनकी प्रवृत्तियों को इस ओर मोड़ने के लिए देना चाहिए । उनका ऐसा नेतृत्व करना चाहिए कि विघातक प्रवृत्तियों को छोड़कर वे रचनात्मक प्रवृत्तियों में रस लेने लगें और उनके अभ्यस्त बनकर अपना असंख्य दूसरों का भला कर सकें ।

आज संसार ने उत्कृष्टता के आभूषण उतार दिये हैं और निष्कृष्टता का चोला धारण कर लिया है । विचार-पद्धति और कार्य-प्रणाली में निकृष्टता घुस पड़ने के कारण प्रेत-पिशाचों जैसे जीवन बन गये हैं और मरघट जैसा वीभत्स वातावरण बन गया है । धीरे-धीरे हम अन्तर्द्वन्दों में-गृह कलह में, परस्पर उत्पीड़न में निरत होकर सामूहिक आत्म-हत्या की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं । इन परिस्थितियों में मानव-जाति की एक ही सेवा हो सकती है कि बुद्धि-भ्रम, अविवेक एवं अशुभ चिन्तन से बचाकर नीर-क्षीर विवेचना, ऋतम्भरा प्रज्ञा का आश्रय लेने के लिए तत्पर किया जाये । आज की स्थिति में समाज की यही सबसे बड़ी सेवा है । विचार-क्रांति ही वर्तमान दुर्दशा को पलटकर धरती पर स्वर्ग का अवतरण सम्भव कर सकेगी ।

विचार-क्रान्ति के लिए आदर्शवादी विचार-धारा का प्रतिपादन करने वाले पुस्तकालयों की सबसे बड़ी आवश्यकता है । देव-मन्दिरों की तरह आज ज्ञान-मन्दिरों की पुस्तकालयों की स्थापना नितान्त आवश्यक है, जिनसे जीवन को आदर्शमय बनाने और सामयिक उलझनों को सुलझाने वाला प्रकाश मिल सके । ऐसी पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ जहाँ आती हैं, लोगों के पास तक उस साहित्य को पहुँचाने और लाने देकर अपनी कमाई को धन्य बना सकते हैं । पूर्वजों की स्मृति किसी को बनती हो तो उनके नाम पर पुस्तकालय ही स्थापित करना चाहिए । परस्पर मिल-जुलकर चन्दे से भी ऐसी संस्था स्थापित की जा सकती है । कोई ऐसा प्रबन्ध न हो सके तो व्यक्तिगत रूप से भी 'झोला पुस्तकालय' बनाकर घर-घर ऐसा प्रेरक साहित्य पहुँचाने का पुण्य-परमार्थ किया जा सकता है ।

अपने देश में शिक्षा की बड़ी कमी है । लोग अभी भी शिक्षा की उपयोगिता समझ नहीं पाये हैं । देहातों में बहुत लोग अपने लडकों को पढ़ने नहीं भेजते । लड़कियों को पढ़ाने का रिवाज तो बहुत कम है । हमें टोलियाँ बनाकर घरों में जाना चाहिए और शिक्षा योग्य लड़के-लड़कियों को स्कूल भिजवाने की प्रेरणा देनी चाहिए । सरकारी और गैर सरकारी स्कूल खुलवाने चाहिए । वयस्क पुरुषों के लिए तथा महिलाओं के लिए तीसरे पहर अथवा रात्रि को चलने वाली प्रौढ़-पाठशालाएँ स्थापित करनी चाहिए, पैसा या श्रम देकर ऐसी शिक्षा-संस्थाएँ लोग हर जगह चला सकते हैं । इन कार्यों के लिए सार्वजनिक धन-संग्रह भी किया जा सकता है । काम में लगे हुए व्यक्ति आगे पढ़ने के लिए जिनमें सुविधा प्राप्त कर सकें, ऐसे रात्रि विद्यालय तथा छात्रों की सहायता करने वाले कोचिंग स्कूल हर जगह चलने चाहिए । छोटे बच्चों के लिए मुहल्ले-मुहल्ले में शिशु मन्दिर होने चाहिए । शिक्षा का जितना विकास सम्भव हो सके सरकार और गैर सरकारी दोनों स्तरों पर इसके लिए पूरा-पूरा प्रबन्ध करना चाहिए । अपने ८० प्रतिशत अशिक्षित देशवासियों को साक्षर बनाकर ही हम उन्हें अविवेक, रूढ़िवादिता के चंगुल से निकाल सकते हैं ।

आज की ज्वलन्त समस्याओं का स्वरूप समझने और उनका हल प्राप्त करने के लिए समय-समय पर, स्थान-स्थान पर विचार-गोष्ठियों के आयोजन होते रहना चाहिए जिनमें प्रश्न और उत्तर के रूप में आज की वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं का निराकरण की सुविधा सर्वसाधारण को मिल सके ।

समाज-सेवा का सबसे पहला कार्य जन-मानस में विवेकशीलता जगाना है, ताकि लोग अपनी अवांछनीय आदतें और अवांछनीय रूढ़ियों को छोड़कर औचित्य अपनाने और सन्मार्ग पर चलने के लिए तत्पर हो सकें । यह कार्य जिन प्रयत्नों से हो सकता हो उन्हें सर्वोत्तम समाज-सेवा माना जायेगा । हममें से हर भावनाशील व्यक्ति को मन से इस प्रकार के कार्यों की व्यवस्था करने में संलग्न होकर अपना परम पवित्र कर्त्तव्य पालन करना चाहिए ।

प्रश्न—

(१) अन्य पशुओं से मनुष्य आर्थिक, निवास एवं आहार के आधारों पर अलग है ? (२) मनुष्य किस तरह सामाजिक प्राणी है ? (३) सामाजिक जीवन जीने के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए ? (४) शरीर के कई ऋण हमारे ऊपर हैं, इन्हें चुकाने के लिए हमें क्या करना चाहिए ? (५) क्या हम अपना सारा समय, सारी सम्पति देकर समाज का भला कर सकते हैं ? (६) सामाजिक जीवन के उत्कर्ष के लिए हमें क्या करना होगा ? (७) आज के सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी सेवा क्या है? (८) विचार क्रान्ति अभियान की आदर्शवादी विचारधारा का प्रतिपादन करने के लिए किस प्रकार से कार्य किया जाना चाहिए ? (९) समय की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता शिक्षा के प्रचार के लिए हमें किस तरह अपना कर्त्तव्य पूरा करना होगा ? (१०) समाज के हित में विचार गोष्ठियों का आयोजन किस हद तक अपना महत्त्व रखता है ?

सज्जनता और मधुर व्यवहार मनुष्यता की पहली शर्त

किसके भीतर क्या है, इसका परिचय उसके व्यवहार से जाना जा सकता है । जो शराब पीकर और लहसुन खाकर आया होगा, उसके मुख से बदबू आ रही होगी । इसी प्रकार जिसके भीतर दुर्भावनाएँ, अहंकार और दुष्टता का ओछापन भरा होगा, वह दूसरों के साथ अभद्रतापूर्ण

व्यवहार करेगा । उसकी वाणी से कर्कशता और असभ्यता टपकेगी । दूसरे से इस तरह बोलेगा जिससे उसे नीचा दिखाने, चिढ़ाने, तिरस्कृत करने और मूर्ख सिद्ध करने का भाव टपके । ऐसे लोग किसी पर अपने बड़प्पन की छाप नहीं छोड़ सकते, उलटे घृणास्पद और द्वेषभाजन बनते चले जाते हैं । कटुवचन मर्मभेदी होते हैं, वे जिस पर छोड़े जाते हैं, उसे तिलमिला देते हैं और सदा के लिए शत्रु बना लेते हैं । कटुभाषी निरन्तर अपने शत्रुओं की संख्या बढ़ाता और मित्रों को घटाता चला जाता है ।

दूसरों के साथ असज्जनता और अशिष्टता का बरताव करके कई लोग सोचते हैं, इससे उनके बड़प्पन की छाप पड़ेगी, पर होता बिल्कुल उल्टा है । तिरस्कारपूर्ण व्यवहार करने वाला व्यक्ति घमण्डी और ओछा समझा जाता है । किसी के मन में उसके प्रति आदर नहीं रह जाता । आश्रित परिवार के सदस्यों और कुछ स्वार्थ-सिद्धि के लिए कानाफूसी करने वालों के अतिरिक्त और किसी को हमें दिलचस्पी नहीं रह जाती । उद्धत स्वभाव के व्यक्ति अपना दोष आप भले ही न समझें, दूसरे लोग उन्हें उथला, हल्का मानते हैं और उदासीनता, उपेक्षा का व्यवहार करते हैं । समय पड़ने पर ऐसा व्यक्ति किसी को अपना सच्चा मित्र नहीं बना पाता और आड़े वक्त कोई उसके काम नहीं आता । सच तो यह है कि मुसीबत के वक्त वे सब लोग प्रसन्न होते हैं । जिनको कभी तिरस्कार सहना पड़ा था । ऐसे अवसर पर वे बदला और कठिनाई बढ़ाने की ही बात सोचते हैं ।

हमें संसार में रहना है तो सही व्यवहार करना भी सीखना चाहिए । सेवा-सहायता करना है तो आगे की बात है पर इतनी सज्जनता तो हर व्यक्ति में होनी चाहिए कि जिससे वास्ता पड़े उससे नम्रता, सद्‌भावना के साथी मीठे वचन बोलें, थोड़ी-सी देर तक कभी किसी से मिलने का अवसर आये तब शिष्टाचार बरतें । इसमें न तो पैसा व्यय होता है, न समय । जितने समय में कटुवचन बोले जाते हैं, अभद्र व्यवहार किया जाता है उससे कम समय में मीठे वचन और शिष्ट तरीके से भी बरता जा सकता है । जो बात कडुवेपन और रुखाई के साथ कही गई थी उसे ही मिठास के साथ उतनी ही देर में कहा जा सकता है । उद्धत स्वभाव दूसरों पर बुरी छाप छोड़ता है और उसका परिणाम कभी-कभी बुरा ही निकलता है । अकारण अपने शत्रु बढ़ाते चलाना, कुछ बुद्धिमानी की बात नहीं । इस प्रकार के स्वभाव का व्यक्ति अन्ततः घाटे में रहता है । जिसके साथ दुर्व्यवहार किया गया अप्रसन्न केवल वही नहीं होता वरन् जिनने उस प्रसंग को देखा, सुना है वे भी दुःखी और असन्तुष्ट होते हैं । उद्धतता के ओछेपन की बुरी छाप उन सुनने, देखने वालों पर पड़ती है और उसके मन में भी ऐसा व्यक्ति हेय स्तर का ही जँचता है । ऐसे लोग किसी का सच्चा सम्मान नहीं पा सकते और उसके बिना सहयोग भी कैसे मिलता है ? एकाकी मनुष्य जिसे दूसरों का सहयोग न मिल सके । कभी कोई बड़ी प्रगति न कर सकेगा ।

श्रेष्ठ, उदार और सज्जन प्रकृति के मनुष्य सदा दूसरों का आदर करते हैं और हर किसी से सम्मान और मिठास भरे शब्द बोलते हैं । इसमें उनका जाता कुछ नहीं-अपने बड़प्पन की छाप ही दूसरों पर पड़ती है । उद्धतता से नहीं, सज्जनता से हम दूसरों का आदर पा सकते हैं । उन्हें अपना बना सकते हैं और ऐसे ही शिष्ट व्यवहार की आशा उनसे भी कर सकते हैं । सज्जनता में ही मनुष्य का वास्तविक बड़प्पन छिपा है और उसका प्रमाण मीठे वचन और शिष्ट व्यवहार से ही पाया जा सकता है । यह संसार कुँए की आवाज की तरह प्रतिध्वनि करता है । जैसा व्यवहार हम दूसरों के साथ करते हैं । लगभग उसी स्तर की प्रतिक्रिया उनसे हमें प्राप्त होती है । कटुवादी, अहम्मन्य और तिरस्कार का व्यवहार करने वाले लगभग वैसा ही व्यवहार बदले में पायेंगे । हो सकता है तत्काल किसी कारणवश लोग वैसा ही बरताव न करें पर उनके मन में वही भाव दूने-चौगुने वेग से अवश्य ही उठ रहे होंगे । अच्छा होता वे लड़ाई-झगड़े के रूप में तत्काल निकल जाते, पर यदि वे दबे पड़े रहे तो कालान्तर में ब्याज समेत छूटेंगे । तब और भी अधिक घातक सिद्ध होंगे । कटु व्यवहार की घातक प्रतिक्रिया जो दूसरों पर होती है, वह लौटकर अन्ततः अपने ही ऊपर आती है । हम दूसरे को तिरस्कृत, अपमानित करते हैं । अपने ही ओछेपन और निकृष्ट व्यक्तित्व को दुनिया के सामने प्रसिद्ध करते हैं ।

सज्जनता, मनुष्यता का ही दूसरा नाम है, जिसमें सज्जनता नहीं उसे नर-पशु ही कहना पड़ेगा । हम सच्चे अर्थों में मनुष्य हैं, इसको प्रमाणित करने के लिए ही सज्जनता की रीति-नीति अपनानी चाहिए । इसका आरम्भ मधुर भाषण और विनम्र एवं शिष्ट व्यवहार से होता है । छोटे या बड़े किसी से भी बात करनी हो, तो हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि कटु या ओछे वचन बोलकर जहाँ उसे तिरस्कृत करते हैं । वहाँ अपने को भी ओछा सिद्ध करते हैं । हमें पहले अपनी चिन्ता करनी चाहिए । अपना स्वभाव स्तर और अभ्यास गिरा कर चाहे किसी की भर्त्सना की गई तो अपने लिए ही महँगी पड़ेगी दूसरे लोग गन्दे हैं, इसलिए हम क्यों गन्दे बनें ? हमें अपना स्तर हर हालत में ऊँचा उठाये रहना चाहिए और जिससे भी-जो कुछ भी कहना हो-उसे कहें तो पर सज्जनता और शिष्टता की भाषा में ही बोलें । अच्छे शब्दों में भी हर बुरी-भली बात कही जा सकती है । इस कला को सीख लेना भलमनसाहत का पहला चिन्ह है ।

घर में छोटों से जो 'आप' या 'तुम' कहकर बोलना चाहिए । जहाँ आवश्यकता हो वहाँ नाम के आगे 'जी' भी लगाना चाहिए । 'तू' कहना अधिक निकटवर्ती स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि के लिए ही चलता है । इसमें आत्मीयता का पुट माना जाता है । पर इसमें दोष अपनी आदत बिगाड़ने का है । दूसरे-वे लोग जिन्हें 'तू' से सम्बोधन किया जाता है, देखा-देखी दूसरों से भी वैसा ही कहने

लगेंगे । आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य एकमात्र दूसरे की आयु, शिक्षा, धन अथवा पद का विचार किये बिना एक दूसरे के प्रति नम्रता और आदर भरा व्यवहार एवं वार्तालाप करें ।

जब हम किसी से मिलें या कोई हमसे मिले, प्रसन्नता व्यक्त की जानी चाहिए । मुसकराते हुए अभिवादन करना चाहिए और बिठाने-बैठने, कुशल समाचार पूछने और साधारण शिष्टाचार बरतने के बाद आने का कारण पूछना, बताना चाहिए । यदि सहयोग किया जा सकता हो तो वैसा करना चाहिए । अन्यथा अपनी परिस्थितियाँ स्पष्ट करते हुए सहयोग न कर सकने का दुःख व्यक्त करना चाहिए । इसी प्रकार यदि दूसरा कोई सहयोग नहीं कर सका है तो भी उसका समय लेने और सहानुभूति रखने के लिए धन्यवाद देना चाहिए तथा नाराजगी एवं अविश्वास उस हालत में भी व्यक्त नहीं करना चाहिए । साधारण पूछताछ का उत्तर भी मीठे और सहानुभूतिपूर्ण शब्दों में ही देना चाहिए । रूखा, कर्कश, उपेक्षापूर्ण अथवा झल्लाहट, तिरस्कार भरा उत्तर देना ढीठ और गँवार को ही शोभा देता है । हमें अपने को इस पंक्ति में खड़ा नहीं करना चाहिए ।

बड़े जो व्यवहार करेंगे बच्चे वैसा ही अनुकरण सीखेंगे । यदि हमें अपने बच्चों को अशिष्ट, उद्दण्ड बनाना हो तो ही हमें असभ्य व्यवहार की आदत बनाये रहनी चाहिए अन्यथा औचित्य इसी में है कि आवेश, उत्तेजना, उबल पड़ना, क्रोध में तमतमा जाना, अशिष्ट वचन बोलना और असत्य व्यवहार करने का दोष अपने अन्दर यदि स्वल्प मात्रा में हो तो भी उसे हटाने के लिए सख्ती के साथ अपने स्वभाव के साथ संघर्ष करें और तभी चैन लें जब अपने में सज्जनता की प्रवृत्ति का समुचित समावेश हो जाये ।

हम अपनी और दूसरों की दृष्टि में सज्जनता और शालीनता से परिपूर्ण एक श्रेष्ठ मनुष्य की तरह अपना आचरण और व्यक्तित्व बना सकें तो समझना चाहिए कि मनुष्यता की प्रथम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये । उसके आगे के कदम नैतिकता, सेवा, उदारता, संयम, सदाचार, पुण्य, परमार्थ के हैं । इसमें भी पहली एक अति आवश्यक शर्त यह है कि हम सज्जनता की सामान्य परिभाषा समझें और अपनायें, जिसके अन्तर्गत मधुर भाषण और विनम्र शिष्ट एवं मृदु व्यवहार अनिवार्य हो जाता है ?

प्रश्न—

(१) मित्रों की संख्या बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय कौन-सा है ? (२) मनुष्य का वास्तविक बड़प्पन किस में है ? (३) कटु व्यवहार-की कैसी प्रतिक्रिया होती है ? (४) मनुष्यता का सच्चा स्वरूप किसमें है ? (५) संभाषण में शिष्टाचार के नियम बताइये ? (६) अपरिचित व्यक्ति से मिलने पर कैसा व्यवहार करना चाहिए ? (७) बच्चों को शिष्टाचारी बनाने का उपाय क्या है ? (८) जीवन की प्रथम परीक्षा में उत्तीर्ण होने का उपाय क्या है ? (९) सज्जनता की सामान्य परिभाषा क्या है ? (१०) आदर्श जीवन के लिए कौन-कौन से गुण अपनाने अनिवार्य हैं ?

साहस जुटायें—औचित्य अपनायें

भय हमारी स्थिरता और प्रगति में सबसे बड़ा बाधक है । कितने ही काम ऐसे हैं जिन्हें बहुत आसानी से किया जा सकता है पर भावी कठिनाइयों, असुविधाओं और अवरोधों की मिथ्या कल्पना करके हम आगे कदम बढ़ाने की हिम्मत ही नहीं करते और उस लाभ से अकारण ही वंचित रह जाते हैं जो सहज ही उठाया जा सकता था ।

आन्तरिक दुर्बलता का बड़ा प्रमाण मनुष्य की भीरुता है और कायर मनुष्य उनसे अकारण डरता है । जिन बातों का हँसते-खेलते सामना किया जा सकता है या सहा जा सकता है, उनकी भयावह कल्पना गढ़कर डरपोक व्यक्ति राई को पहाड़ बना देता है और भी फिर उसे स्वनिर्मित भूत से डर-डर का प्राण सुखाता चला जाता है । भीरुता एक मानसिक रोग है और वह इतना कष्टकारक है कि ज्वर, दस्त, खाँसी, दमा आदि की अपेक्षा शरीर को कहीं अधिक क्षति पहुँचाता है । मन तो उसके कारण हर घड़ी उद्विग्न रहता है । ध्यान से देखा तो राई-रत्ती भर होती है और यह आशंका मूर्तिमान हो जाये तो उससे उतनी विपत्ति नहीं आती जितनी कि कल्पना की गई थी ।

हमें शारीरिक रुग्णता और दुर्बलता की तरह ही मानसिक दुर्बलता से बचना चाहिए । काया-कष्ट अपने अंग की पीड़ा को देखकर समझा जाता है । मानसिक अस्वस्थता की परख इस आधार पर करनी चाहिए कि हमें कहीं कायरता और भीरुता ने तो नहीं आ घेरा है । भविष्य की अशुभ कल्पनाएँ करके कहीं अपना चित्त विक्षुब्ध या उद्विग्न तो नहीं बना रहता । यदि ऐसा हो तो हमें अपने आपकी भर्त्सना करनी चाहिए और उन बहादुरों के साथ तुलना करनी चाहिए जिनने भयंकर विपत्तियाँ सामने आ खड़ी होने पर संतुलन नहीं खोया और साहसपूर्वक सामना करके अन्धकार को प्रकाश में बदल दिया ।

अवरोध हर कार्य में आते हैं । प्रगति का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जहां सहज ही अभीष्ट उपलब्धियाँ प्राप्त हो जाती हों । किसी वर्ग के मनुष्य ऐसे नहीं हैं जिनमें केवल सज्जनता ही भरी पड़ी हो । घटनाक्रम अपनी इच्छानुकूल हो ऐसा नियम इस सृष्टि का नहीं है । प्रतिकूलताओं और विपरीतताओं से टकराकर अपने लिए रास्ता बनाने की प्रक्रिया हर अग्रगामी को अपनानी पड़ी है । दुर्जनों को सज्जन अनायास ही नहीं बना लिया जाता । वरन् उन्हें बार-बार नरम-गरम करना पड़ता है । उनके आतंक की उपेक्षा करके साहसपूर्वक उन्हें यह बताना पड़ता है कि उन्हीं की मर्जी सब कुछ नहीं, न्याय और औचित्य का भी कोई स्थान है । आतंक की व्यर्थता और औचित्य की समर्थता अनुभव कराये बिना दुर्जनों को रास्ते पर लाने का

और कोई मार्ग नहीं है, पर इस पर केवल साहसी ही चल सकते हैं । डरपोक तो अपनी कायरता को भाग्य के पर्दे में छिपा कर रोते-कलपते रहते हैं ।

प्रतिकूल को अनुकूलता में बदलने के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है । निर्धनता को सम्पन्नता में बिना कठोर श्रम किए कैसे बदला जा सकता है, दुर्बल शरीर को परिपुष्ट बनाने के लिए स्वास्थ्य साधना करनी पड़ती है और *अशिक्षित, अविकसित* मस्तिष्क को विद्वानों, मनीषियों जैसा सुविकसित बनाना हो तो मनोयोगपूर्वक अध्ययन के तप में संलग्न होना पड़ता है । जिसके भीतर से इस प्रकार का पराक्रम करने की हिम्मत न उठती हो उसके लिए सफलता और सम्पन्नता के सारे द्वार सदा के लिए अवरुद्ध ही पड़े रहेंगे ।

ईश्वर उनकी सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करने को खड़े होते हैं । कहावत है कि हिम्मत वाले के लिए पहाड़ रास्ता देते हैं । मानवीय अन्तरात्मा में अपार शक्ति के स्रोत और सामर्थ्य के भंडार भरे पड़े हैं । पर इन्हें जगाने के लिए साहस का सम्बल चाहिए । संसार के अगणित महापुरुषों की जीवन गाथा पढ़कर इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि जन्मजात सिद्धियाँ साथ लेकर कोई नहीं आया । हर एक को कठिन परिस्थितियों से धैर्यपूर्वक स्वयं लड़ना पड़ा है और अपने लिए अपने हाथों स्वयं रास्ता बनाना पड़ा, अपनी मंजिल अपने पैरों चलनी पड़ी है । दूसरों ने तभी सहयोग दिया है जब देख लिया है कि इसमें बहादुरी कम नहीं । जब लोग किसी में कायरता भरी देखते हैं तो सहज ही अनुमान लगा लेते हैं कि इनकी नाव पार पहुँचने वाली नहीं. । डूबने वाले के साथ कौन अपनी कीमती सहायता डुबोना पसंद करेगा ? ऐसे लोगों को हर दिशा में असहयोग ही मिलता है । यद्यपि इस संसार में उदार सहायता की कोई कमी नहीं है ।

अपने भीतर अनेक दोष-दुर्गुण भरे पड़े हैं यदि उन्हें जैसे का तैसा पड़ा रहने दिया जाये, उखाड़ने की हिम्मत न की जाये तो निश्चय ही अपना व्यक्तित्व औंधा और ओछा ही बना पड़ा रहेगा । इसे बाजार में कौड़ी मोल भी कोई नहीं खरीदेगा । शोषकों का एक विशाल घेरा अपने चारों ओर घिरा पड़ा है, जो उचित-अनुचित लाभ हो पूरा लेना चाहते हैं पर बदले में सहानुभूति तथा कृतज्ञता तक व्यक्त करना नहीं चाहते । इनके चंगुल में यदि ऐसा ही फँसे पड़े रहे तो हाड़-माँस कुछ बचने वाला नहीं है । औचित्य का प्रतिपादन और अनीति का प्रतिरोध यदि न किया जाये तो फिर न्याय की आशा नहीं रखनी चाहिए और अपने आप को उस शोषण में ही गलाने के लिए तैयार करना चाहिए । यदि न्याय और औचित्य की आकांक्षा हो तो अपनी कठिनाई को साहसपूर्वक कहना चाहिए । कहना ही नहीं—सुधार के लिए अड़ना भी चाहिए । परिवर्तन इसी क्रम से होते रहे हैं, आगे होंगे पर यह है हिम्मत वालों का काम । कायर तो कोल्हू में पिलने वाले तिलों की तरह अपनी हड्डी-पसली के तेल निकलवाने के लिए ही जन्मते-मरते हैं । भाग्य भी केवल बहादुरों की सहायता करता है, कायरों की बात सुनने की शायद उसे भी फुरसत नहीं ।

नैतिक अनाचार, राजनैतिक भ्रष्टाचार और सामाजिक कुरीतियों का एक चक्रव्यूह-सा बन गया है । उसे तोड़ा न जायेगा तो हम सब रोते-कलपते ही दिन गुजारेंगे । हिम्मत न जमी, अनौचित्य का प्रतिरोध न किया गया तो यह सघन अन्धकार ऐसे ही हजारों वर्षों तक चलता रहेगा । घर-परिवार के लोगों को अपने-अपने कर्तव्य पालने के लिए इंगित न किया गया तो उसी में इतनी अवांछनीयता जम जायेगी कि दम घुटने जैसी स्थिति को वहन करना कठिन हो जायेगा । हर अवांछनीय स्थिति बदली जा सकती है । पर उसके सुधार और प्रतिरोध की तो आवश्यकता पड़ेगी ही ।

प्रचलित ढर्रे को बदले बिना अपना वर्तमान माया-मोह निष्ठ जीवन उत्कृष्टता और आदर्शवादिता के अनुरूप न ढाला जा सकेगा । शरीर की आदतें, मन की अभिरुचि, तृष्णा-वासना में डूबी पड़ी गतिविधियाँ जीवन की बर्बादी ही करेंगी । आत्मिक उत्कर्ष के लिए कुछ नया ढर्रा, कुछ नया क्रम, कुछ नई रीति-नीति अपनानी पड़ती है इससे अपने को भी अनोखा-सा लगता है और घर वाले भी व्यंग्य विरोध करते हैं । यदि उस परिवर्तन के लिए साहस न जुटाया जाये तो वही पुराने ढर्रे की अस्त-व्यस्त जिन्दगी जीनी पड़ेगी ?

मस्तिष्क में न जाने कितने प्रकार के असंबद्ध, अनर्गल और अनुपयुक्त विचार चिरकाल से ऐसा अड्डा जमाये बैठे हैं कि अब उनके प्रति मोह और पक्षपात तक जुड़ गया है । यह सूझता तक नहीं कि *इनमें कुछ अनौचित्य भी है ।* दूसरों को जिस ढर्रे पर चलते देखते हैं उसी पर चलने की अपनी भी इच्छा होती है । उचित-अनुचित का वर्ग भेद कौन करे ? जो चल रहा है वह उचित है, इस मानसिक आलस्य ने हमारी मनोभूमि का *अधिकांश भाग मूढ़ता एवं* अविवेक भरे विचारों से ही घेर लिया है और हम ऐसी रीति-नीति अपनाये रहते हैं जो अपने को ही भले अच्छी लगे पर हर विचारशील उसे अशोभनीय और अग्राह्य ही प्रतिपादित करेगा । यदि *औचित्य और न्याय पूर्ण मान्यताएँ* अपनानी हों तो नीर-क्षीर विवेक की नीति अपनानी पड़ेगी और जो अनुपयुक्त है उसे छोड़ने और जो उपयुक्त है उसे ग्रहण करने का साहस जुटाना पड़ेगा ।

हिम्मत एक आध्यात्मिक गुण है, सो हर प्रगतिशील के लिए उसे अपनाना ही उचित है । हम अपने स्वरूप को समझें, निर्मल रहें, प्रगति के लिए पुरुषार्थ करने और अनौचित्य से जूझने के लिए साहसपूर्वक कटिबद्ध हों तो इसी में अपनी महानता है ।

प्रश्न—

(१) भय हमारी प्रगति में किस प्रकार बाधक है ? (२) क्या भय की निरर्थक कल्पना करके मनुष्य अपना अहित कर रहा है ? (३) अवरोध हमें किस प्रकार सज्जन बनाते हैं ?

(४) प्रतिकूलता को अनुकूलता, निर्धनता को सम्पन्नता में बदलने के लिए कौन-से प्रयत्न करने पड़ते हैं ? (५) हिम्मत वाले को सभी कोई सहायता करते हैं, किस तरह ? (७) मनुष्य क्या प्रयत्न न करे, तो ओछा का ओछा बना रहेगा ? (८) अवांछनीय स्थितियाँ किस तरह बदली जा सकती हैं ? (९) हिम्मत क्या है ? इसे अपनाने से क्या लाभ होते हैं ? (१०) किस दुश्मन ने हमारी मनोभूमि का ढाँचा हो बदल दिया है ?

आलस्य त्यागें, सुसम्पन्न बनें

छोटे से बीज में वृक्ष की विशालता सूक्ष्म रूप से छिपी रहती है । उसी प्रकार मानव-जीवन की महान सम्भावनाएँ उसकी श्रमशीलता में छिपी हुई हैं । अगणित विभूतियाँ, समृद्धियाँ, सफलता और महान सम्भावनाएँ मानव-जीवन में सन्निहित हैं पर सभी सुप्त रूप में पड़ी हैं । उन्हें जगाने के लिए श्रमशीलता की आवश्यकता है । जिन्हें परिश्रम से प्रेम है, जो मेहनत करने में, व्यस्त रहने में रस लेता है, वह किसी भी दिशा में आशाजनक प्रगति कर सकता है । जिसने परिश्रम से जी चुराया उसके लिए प्रगति का हर द्वार बन्द होता चला जायेगा ।

आलस्य और दुर्भाग्य एक ही वस्तु के नाम हैं । जो आलसी है, न श्रम का महत्त्व समझता है, न समय का मूल्य ऐसे मनुष्य को कोई सफलता नहीं मिल सकती । सौभाग्य का पुरस्कार उनके लिए सुरक्षित है, जो उसका मूल्य चुकाने को तत्पर हैं । यह मूल्य कठोर श्रम के रूप में चुकाया जाता है । समय ही भगवान की दी हुई सम्पदा है । हमारी हर श्वास बड़ी मूल्यवान है । यदि प्रस्तुत क्षणों का ठीक तरह उपयोग करते रहा जाये तो बूँद-बूँद से घट भरने की तरह अगणित सफलताएँ और समृद्धियाँ अनायास ही इकट्ठी होने लगेंगी । पर यदि समय को आलस्य में व्यर्थ गँवाते रहा गया तो फूटे बर्तन में से बूँद-बूँद टपकने वाले दूध की जैसी दुर्गति होगी । हम सुख-सुविधाओं और सम्पदाओं से वंचित होते चले जायेंगे और केवल दरिद्रता और दुर्भाग्य भरा पश्चाताप हाथ रह जायेगा । विजयलक्ष्मी केवल पुरुषार्थी का वरण करती है । आलसी का भविष्य तो दुर्भाग्य का रोना रोने के लिए है ।

भगवान ने मनुष्य जीवन में असंख्य महान सम्भावनाओं का समावेश किया है । हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने की सुविधा प्रस्तुत की है, पर साथ ही यह भी नियन्त्रण रखा है कि उन विभूतियों का लाभ सत्पात्र ही उपलब्ध करें । सत्पात्रता का पहला चिन्ह है—श्रमशीलता । कई अनैतिक और असदाचारी भी सफलताएँ प्राप्त कर लेते हैं, भले ही पीछे उन्हें कुमार्गगामिता का दण्ड भुगतना पड़े । पर संसार में एक उदाहरण ऐसा न मिलेगा, जिसमें परिश्रम के बिना बड़ी सफलताएँ प्राप्त की गई हों । इसलिए सद्गुणों की पंक्ति में नैतिकता से भी पहला नम्बर श्रमशीलता का आता है ।

जिन्हें अपना भविष्य उज्ज्वल बनाने में दिलचस्पी हो, जिन्हें कुछ महत्त्वपूर्ण सफलताएँ पानी हों, उन्हें कठो[र] परिश्रम करने की आदत डालनी चाहिए और समय के एक-एक क्षण को व्यस्त रखने के लिए तत्पर रहना चाहिए । प्रगतिशील राष्ट्रों के नागरिक घोर परिश्रमी होते हैं । जिन समाजों ने अपना वर्चस्व प्रतिपादित किया है, उनका जातीय गुण कठोर श्रम करने में रस लेना रहा है । जिन व्यक्तियों ने उत्कर्ष किया है, उनने अपना एक-एक क्षण कड़ी मेहनत के साथ गुजारा है ।

आलसी का भविष्य अन्धकारपूर्ण है । जिसे श्रम करने में रुचि नहीं, जो मेहनत से डरता है, आरामतलबी जिसे पसन्द है जो समय को ज्यों-त्यों करके अस्त-व्यस्त करता रहता है, समझना चाहिए दुर्भाग्य उसके पीछे लग गया । वह कुछ उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकना तो दूर यदि संयोगवश उत्तराधिकार में कुछ मिल गया है तो उसे भी स्थिर न रख सकेगा । कहते हैं—लक्ष्मी आलसी के घर नहीं रहती और दारिद्रय वहीं घोंसला बनाता है, जहाँ आलस्य की सघनता छाई रहती है ।

संसार में अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने अनेक महान सफलताएँ सम्पादित की हैं । उनमें मूलतः कोई विशेषता एवं प्रतिभा न थी । सामान्य मनुष्यों जैसा ही शरीर और मन उनका भी था, पर एक गुण उन्होंने अपने में उत्पन्न किया—श्रम में रस लेना और निरन्तर मेहनत में संलग्न रहना । बस इस एक गुण ने ही उनकी प्रतिभा को निखारा, अनेक सद्गुण पैदा किये और विद्या, बुद्धि, धन, स्वास्थ्य, सहयोग एवं सुविधा-साधनों से उन्हें भरा-पूरा बना दिया । जिस काम को हम मेहनत, लगन और दिलचस्पी के साथ हाथ में लेते हैं यह चमकने लगता है । जिसे बेगार भुगतने की तरह आधे मन से करते हैं, वह बिगड़ता और घटिया होता है । यही प्रगति का रहस्य है । जो आगे बढ़ना चाहता हो, ऊँचा उठना चाहता हो, उसे यह गुरु मन्त्र गाँठ बाँध लेना चाहिए कि "निरन्तर कठोर श्रम करने में रस लिया जाये और एक क्षण भी व्यर्थ बर्बाद न किया जाये ।"

आराम की ऐसी जिन्दगी जिसमें कुछ काम न करना पड़े केवल निर्जीव, निरुद्देश्य, निकम्मे लोगों को रुचिकर हो सकती है । वे ही उसे सौभाग्य गिन सकते हैं । प्रगतिशील महत्वाकांक्षी लोगों की दृष्टि में तो यह एक मानसिक रुग्णता मात्र है, जिसके कारण व्यक्ति का भाग्य, बल और वर्चस्व निरन्तर घटता ही जाता है । अपने देश का दुर्भाग्य श्रम के प्रति उपेक्षा करने की दुष्प्रवृत्ति के साथ आरम्भ हुआ है और वह तब तक बना ही रहेगा जब तक कि हम प्रगतिशील लोगों की तरह परिश्रम के प्रति प्रगाढ़ आस्था उत्पन्न न करेंगे ।

अपने यहाँ लड़कियाँ वे सुखी मानी जाती हैं जिन्हें हाथ से कुछ काम न करना पड़े । नौकर-नौकरानी सब काम किया करें और उन्हें आराम के दिन गुजारने का अवसर मिले । ऐसी महिलाएँ सदा शारीरिक और मानसिक

दृष्टि से रुग्ण ही बनी रहेंगी । प्रसव के समय उन्हें बहुत कष्ट सहना पड़ेगा । आये दिन जुकाम, बदहजमी, सिर दर्द आदि दूसरी क़िस्म की बीमारियाँ घेरे रहेंगी । डॉक्टरों के महँगे बिल चुकाने पड़ेंगे और इन्जेक्शनों के दर्द-दण्ड सहने पड़ेंगे । श्रमशील महिलाएँ नीरोग रहती और स्वस्थ एवं दीर्घजीवी सन्तान उत्पन्न करती हैं । आरामतलबी को भ्रमवश सौभाग्य भले ही मान लिया जाय, अन्ततः यह गरीब मजदूरों के पल्ले पड़ने वाली असुविधाओं से भी अधिक महँगी पड़ती है ।

अपने यहाँ रईस, अमीर, महन्त, विद्वान, कलाकार अक्सर शारीरिक श्रम से बचना चाहते हैं, फलतः वे रुग्ण बने रहते हैं और प्रस्तुत प्रतिभा से जो अपना और दूसरों का हित साधन कर सकते थे नहीं कर पाते । धोबी, मोची, राज, मजूर, चमार, कुम्हार, श्रमजीवी वर्ग को अपने यहाँ नीच समझा जाता है । मेहनत करने वाले नीच, आरामतलब ऊँच । इस मान्यता ने हमारे समाज में हरामखोरी को प्रोत्साहन दिया । फलस्वरूप हम दरिद्र होते चले गये । दूसरी ओर रूस, ब्रिटेन, जापान और अमेरिका आदि समृद्ध देशों के नागरिकों के कठोर श्रम में भारी अभिरुचि लेने की प्रवृत्ति को देखते हैं तो सहज ही यह पता चल जाता है कि उनकी समृद्धियों और सफलताओं का कारण क्या है ? हालैण्ड, डैनमार्क, यूगोस्लाविया आदि कितने ही देशों की समृद्धि वहाँ के महिला वर्ग की श्रमशीलता पर ही निर्भर है । हमें भी यदि वर्तमान अज्ञान और दरिद्रता के दुःखदायी चंगुल से छूटना हो तो देश के हर नागरिक में कठोर श्रम करने की आलस्य से घृणा करने की और समय का एक भी क्षण व्यर्थ न गँवाने की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए ।

हम विद्या से वंचित इसलिए नहीं रहते हैं कि अमुक साधन नहीं । अशिक्षा का एकमात्र कारण इस ओर बरती जाने वाली उपेक्षा है । कोई व्यक्ति यदि एक दो घण्टा भी नियमित रूप से पढ़ने में लगाता रहे तो कुछ ही दिनों में अच्छा विद्वान बन जायेगा । परिश्रमी मनुष्य कभी भूखा-नंगा नहीं रह सकता । उपार्जन के अनेक द्वार उद्योगी के लिए खुले रहते हैं । जो मेहनत करेगा, नीरोग रहेगा । बेकार पड़े हुए चाकू को जंग खा जाती है, पर जो काम में आता रहता है, उसकी जिन्दगी बढ़ती है । तलवार वही तेज रहती और चमकती है जो शान के पत्थर पर घिसी जाती है । हीरा खराद पर चढ़कर कीमती बनता है । जिसे चमकना हो-जीवन का वास्तविक आनन्द लेना हो-उसे चाहिए कि तन्मयता, तत्परता और मनोयोगपूर्वक सामने प्रस्तुत कार्यों को पूरी मेहनत और दिलचस्पी के साथ करना सीखे ।

"खाली मस्तिष्क शैतान की दुकान" की कहावत सोलह आने सच है । जो फालतू बैठा रहेगा उसके मस्तिष्क में अनावश्यक और अवांछनीय बातें घूमती रहेंगी और कुछ न कुछ अनुचित, अनुपयुक्त करने तथा उद्विग्न, संतप्त रहने की विपत्तियाँ मोल लेगा । जो व्यस्त है, उसे बेकार की बातें सोचने की फुरसत नहीं । गहरी नींद भी उसी को आती है, कुसंग और दुर्व्यसनों से भी वही बचा रहता है । जो मेहनत से कमाता है, उसे फिजूलखर्ची भी नहीं सूझती । इस प्रकार परिश्रमी व्यक्ति अनेक दोष-दुर्गुणों से बच जाता है ।

प्रगतिशील वर्गों का जातीय गुण श्रमशीलता है । हमें अपने आपको कड़ी मेहनत करने का अभ्यस्त बनाना चाहिए । जो भी लक्ष्य, प्रयोजन एवं कार्य सामने हों उनमें तत्परतापूर्वक दिलचस्पी के साथ लगे रहना चाहिए, एक क्षण का भी समय बर्बाद नहीं करना चाहिए । यदि यह प्रकृति अपने में-अपने परिवार में और अपने समाज में हम उत्पन्न कर सके तो अगले दिनों हर दिशा में हम बहुत ही समृद्ध और समुन्नत बन सकते हैं ।

प्रश्न—

(१) मानव जीवन की महान सम्भावनाएँ किस में छिपी हैं ? (२) विजय लक्ष्मी की प्राप्ति के उपाय बताइये ? (३) सफलता की कुञ्जी क्या है ? (४) उज्ज्वल भविष्य कैसे बन सकता है ? (५) मानव का सबसे बड़ा शत्रु कौन है ? उसका कैसे बच जाय ? (६) महान बनने का सर्वश्रेष्ठ साधन क्या है ? (७) प्रगति का रहस्य क्या है ? (८) निरन्तर प्रगति एवं उन्नति का 'गुरु मन्त्र' क्या है ? (९) सिद्ध कीजिए कि आलसी हरामखोर या परिश्रमी प्रतिभावान होता है ? (१०) समृद्ध एवं समुन्नत बनने का रहस्य क्या है ?

समय का सदुपयोग सफलता के लिए अमोघ वरदान

समय मनुष्य जीवन की वह मूल्यवान सम्पत्ति है जिसकी कीमत पर संसार की कोई भी सफलता प्राप्त की जा सकती है । भगवान ने मनुष्य को अपने राजकुमार के रूप में भेजा है और साथ ही समय नाम की ऐसी बहुमूल्य सम्पदा प्रदान की है कि उसके बदले वह संसार का जो भी सुख-वैभव चाहे खरीद सकता है ।

मनुष्य का समय, मनोयोग और परिश्रम जिस दिशा में भी लग जायें उसी में चमत्कार पैदा होगा । संसार के महापुरुषों की प्रधान विशेषता यही रही है कि उन्होंने अपने जीवन का एक-एक क्षण निरन्तर काम में लगाये रखा है । वह भी पूरी दिलचस्पी और श्रमशीलता के साथ । यह रीति-नीति जो आदमी अपना ले और अपने जीवनक्रम की दिशा निर्धारित कर ले वह हर क्षेत्र में सफलता की ऊँची मंजिल पर सहज ही पहुँच सकता है । मनुष्य की सामर्थ्य का अन्त नहीं, पर कठिनाई इतनी ही है कि वह चारों तरफ बिखरी और अस्त-व्यस्त पड़ी रहती है । इसका एकीकरण, केन्द्रीकरण जो व्यक्ति कर लेगा अपनी प्रचुर शक्ति का परिचय सहज ही दे सकेगा । सूर्य की किरणें बिखरी पड़ी हैं । इसलिए उनके महत्त्व का पता

नहीं चलता पर यदि एक इंच परिधि में फैली हुई धूप को आतिशी शीशे द्वारा एक केन्द्र पर इकट्ठा कर लिया जावे तो तत्काल आग जलने लगेगी और उसे थोड़ा भी ईंधन मिल जाये तो भयंकर अग्निकाण्ड प्रस्तुत कर देगी। ठीक उसी तरह मनुष्य की बिखरी शक्तियों को यदि किसी विषय पर एकाग्रता और दिलचस्पी के साथ केन्द्रित कर दिया जाये और परिश्रमी पुरुषार्थपूर्वक तन्मयता के साथ जुट पड़ा जाये तो आश्चर्यजनक सफलता सहज ही सामने उपस्थित हो सकती है।

यों देखते-देखते जिन्दगी के कितने वर्ष ऐसे ही हँसते, रोते, खाते, खेलते व्यतीत हो जाते हैं और शरीर यात्रा सम्पन्न करते चलने के अतिरिक्त और कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हो पाता। पर यदि दिनचर्या बनाकर समय के एक-एक क्षण का ठीक तरह उपयोग करने वाला क्रम बना लिया जाये, तो पता चलेगा कि थोड़े ही समय में अभीष्ट दिशा में कितनी बड़ी प्रगति संभव हो जाती है। निरन्तरता और नियमितता के प्रतिबन्धों में बँधा हुआ समय कितनी अधिक प्रगति सम्भव कर सकता है, इस पर सुनने से नहीं अनुभव करने से ही विश्वास होता है।

विदेशों में लोग अपने दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर दो घण्टा रोज रात्रि पाठशालाओं में पढ़ने जाते रहते हैं। मामूली श्रमिक और छोटी स्थिति के लोग यह क्रम चलाते रहने पर दस-बीस वर्ष में एम० ए आदि की उच्च परीक्षाएँ पास कर लेते हैं। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान एण्डरसन ने एक घण्टा रोज अन्यान्य भाषा सीखने के लिए निर्धारित किया और वे तीस वर्ष में संसार की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं के विद्वान बन गये। अपने देश में सन्त विनोबा भावे २४ भाषाओं के विद्वान कहे जाते हैं। यह ज्ञान उन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रम में से थोड़ा-सा समय उपर्युक्त ज्ञान सम्पादन के लिए नियमित रूप से लगाकर ही उपलब्ध कर लिया था। यह रास्ता हर किसी के लिए भी खुला पड़ा है।

आलस्य और प्रमाद में हम बहुत समय गँवाते हैं। जो काम जितनी देर में हो सकता है, सुस्ती और आधे मन से करने पर वह उससे दूने-चौगुने समय में होता है। मुस्तैद और फुर्तीला मनुष्य एक घण्टे में दाल-रोटी बना, खाकर निश्चित हो सकता है पर आलसी, ढीला और मन्दधर व्यक्ति उसी काम को अव्यवस्थित ढंग से करते रहने पर आधा दिन गुजार देगा। लोग ऐसे ही ऊँघते, सुस्ताते, जैसे-तैसे करते धरते, छोटे-छोटे थोड़े से कामों में अपना सारा समय बर्बाद कर लेते हैं। जबकि मुस्तैदी और समय का मूल्य समझने वाले व्यक्ति उतने से समय में दस गुने काम निपटाकर रख देते हैं। शिथिलता से समय सिकुड़ता और मुस्तैदी से फैलता है, रबड़ खींचने से लम्बी हो जाती है और छोड़ने से सिकुड़ जाती है। इसी प्रकार ढीले-पोले मन और शरीर को लेकर काम करने से बहुत थोड़ा ही परिणाम निकलता है पर मन और शरीर को एकजुट करके उत्साह के साथ तत्परता दिखाई जाये तो थोड़े समय में कितना अधिक काम कितनी खूबसूरती के साथ सम्पन्न होता है उसका चमत्कार कहीं भी देखा जा सकता है।

समय के प्रतिफल का सच्चा लाभ उन्हें मिलता है जो अपनी दिनचर्या बना लेते हैं और नियमित रूप से निरन्तर उसी क्रम पर आरूढ़ रहने का संकल्प लेकर चलते हैं। एक दिन एक सेर घी खालें और एक महीने तक जरा भी न खायें, एक दिन सौ दण्ड पेलें और बीस दिन तक व्यायाम का नाम भी न लें तो उस ज्वार भाटे जैसे उत्साह के उठने व ठण्डे होने से क्या परिणाम निकलेगा? नियत समय पर काम करने से अन्तर्मन को उस समय वही काम करने की आदत भी पड़ जाती है और इच्छा भी होती है। चाय, सिगरेट आदि नशे जो लोग नियमित रूप से करते हैं उन्हें नियत समय पर उसकी तलब उठती है और न मिलने पर बेचैनी होती है। इसी प्रकार नियत समय पर कुछ काम करने का अभ्यास डाल लिया गया है तो उस समय वैसा करने की इच्छा होगी, मन लगेगा और काम ठीक तरह पूरा होगा। मन्द चाल से चलने वाले कछुए ने तेज उछलने वाले किन्तु क्षणिक उत्साही खरगोश से बाजी जीत ली थी। यह कहानी नियमित और निरन्तर काम करने वालों पर अक्षरशः लागू होती है। मन्दबुद्धि और स्वल्प साधनों वाले कालिदास सरीखे लोगों ने एक कार्य में दत्तचित होकर नियमित रूप से निरन्तर काम करते रहने का क्रम बनाकर उच्चकोटि का विद्वान और कवि बनने में सफलता पाई। इस तरह की सफलता कोई भी प्राप्त कर सकता है। उसमें कोई जादू-चमत्कार नहीं, केवल व्यवस्थित और नियमित रूप से मनोयोगपूर्वक क्रमबद्ध काम करने का ही प्रतिफल था। यह मार्ग कोई भी अपना सकता है और उन्नति के शिखर तक पहुँच सकता है।

सामान्यतः रोटी कमाने के लिए आठ घण्टे, सोने के लिए सात घण्टे, नित्य कर्म के लिए २ घण्टे माने जायें तो कुल मिलाकर १७ घण्टे हुए। २४ घण्टे में से ७ घण्टे फिर भी बचते हैं, जो लगभग एक पूरे काम के दिन के बराबर होते हैं। व्यक्ति चाहे तो इन ७ घण्टों को किसी भी अभिरुचि के विषय में लगाकर आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता है। दो-तीन घण्टे नियमित व्यायाम में लगाने वाले कुछ ही दिन में पहलवान बन जाते हैं। दो-तीन घण्टा रोज स्वाध्याय करने वाले अपने विषय में कुछ ही वर्षों में निष्णात हो जाते हैं। स्कूली परीक्षाएँ पास करते जाने के लिए सामान्य बुद्धि के व्यक्ति का तीन घण्टे का परिश्रम काफी है। रोजी-रोटी कमाते हुए उतना समय आसानी से निकाला जा सकता है। शर्त इतनी है कि किसी विषय में सच्ची रुचि हो और समय को नियमित रूप से लगाने का दृढ़ संकल्प कर लिया गया हो।

लोकसेवा, आत्मिक आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए जीवनोद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ समय लगाया जाना आवश्यक है। यह भी यदि कोई चाहे तो इसी बचे हुए सात घण्टे के समय में से आसानी के साथ लगा सकता

है । पिछले स्वाधीनता संग्राम के नेताओं तथा कार्यकर्त्ताओं में से अधिकांश ऐसे थे जो अपनी रोजी-रोटी भी कमाते थे और उस आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर हाथ बँटाते थे । अभी भी युग-निर्माण आन्दोलन के अनेक कार्यकर्त्ता अत्यधिक व्यस्त कार्यक्रम में से बहुत सारा समय निकालकर उतना काम कर डालते हैं जितना कि पूरे आठ घण्टे काम करने वाला कर्मचारी भी नहीं कर सकता । यह केवल लगन और मनोयोग का चमत्कार है । समय सबके पास २४ घण्टे होता है । पर जो उसके सदुपयोग का महत्त्व समझते हैं और थोड़े से भी समय की बर्बादी को अपनी भारी क्षति समझते हैं, उनके लिए उतने ही समय में आश्चर्यजनक मात्रा में काम कर सकना संभव होता है ।

फुरसत न मिलने की बात का सिर्फ इतना ही तात्पर्य है कि उस कार्य में दिलचस्पी कम है अथवा हल्के दर्जे का बेकार काम माना गया है । जिस काम को हम महत्त्वपूर्ण समझते हैं उसे अन्य कामों से आगे की पंक्ति में रखते हैं और उसके लिए पर्याप्त समय आसानी से निकल आता है । थकान भी उन्हीं कार्यों में आती है जिन्हें बेकार समझकर किया जाता है । किसान १४ घण्टे काम करता है, सो भी एक दिन नहीं जीवन भर । पान और दूध की दुकान वाले १४ घण्टे दुकान खोले बैठे रहते हैं सो भी एक दिन नहीं जीवन भर । पर न उन्हें थकान आती है न ऊब, कारण उनकी दिलचस्पी भर है ।

यदि हम जीवनोत्कर्ष के महत्त्वपूर्ण कार्यों में दिलचस्पी पैदा करें तो उसके लिए समय की कमी न रहेगी । नियमितता और व्यवस्था से भरी दिनचर्या बनाकर कोई भी व्यक्ति समय का सदुपयोग कर सकता है और अभीष्ट दिशा में आश्चर्यजनक प्रगति कर सकता है ।

प्रश्न—

(१) मनुष्य जीवन की सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु क्या है ? (२) हर क्षेत्र में सफलता के उच्च शिखर पर पहुँचने का रहस्य क्या है ? (३) जीवन में एकीकरण एवं केन्द्रीयकरण की आवश्यकता क्यों है ? (४) थोड़े समय में अभीष्ट प्रगति करने का मूल मन्त्र क्या है ? (५) एण्डरसन ने संसार की सभी भाषा कैसे सीखीं ? (६) क्या कारण है कि लोग जीवन में महान् बन जाते हैं ? (७) नियमित एवं निरन्तर काम करने से क्या लाभ हैं ? (८) आदर्श दिनचर्या बनाइये (९) लगन एवं मनोयोग से ही बड़े काम होते हैं ? सिद्ध करें । (१०) फुरसत न मिलने का बहाना बे बुनियाद कैसे है ? सिद्ध करें ।

अवरोध हमें अधीर न बनाने पावें

भगवान ने यह संसार हमारे लिए ही नहीं बनाया, इसमें अनेक लोगों का साझा है । सबको कुछ न कुछ सुविधाएँ मिल सकें, जिससे थोड़ा सन्तोष बना रहे और कुछ न कुछ असुविधाएँ भी बनी रहें, जिनको हल करने के लिए शारीरिक एवं मानसिक पुरुषार्थ में संलग्न रहें । लगता है यही तरीका मनुष्य की प्रगति और सुव्यवस्था के लिए ठीक जँचा होगा ।

हमारी इच्छानुसार सारी परिस्थितियाँ बनती चलें और हर आदमी हमारी मनमर्जी का बनकर रहे, यह असम्भव है । धूप-छाँह की तरह, दिन और रात की तरह हमारा जीवन रूपी वस्त्र सुविधा और असुविधा के, अनुकूलता और प्रतिकूलता, सफलता और असफलता के ताने-बाने से बुना हुआ है । सरसता और शोभा, प्रगति और स्पर्धा यहाँ यही कारण हैं कि संसार में विशेषताएँ बहुत हैं । यदि यहाँ केवल सुविधाएँ, सफलताएँ, अनुकूलताएँ ही बनाई गई होतीं और असुविधा, असफलता एवं प्रतिकूलता का किसी को सामना न करना पड़ता तो यह संसार बड़ा नीरस हो जाता । केवल मिठाई ही खाने को मिले, नमक, मिर्च, खटाई आदि कोई स्वाद चखने को न मिले तो भोजन का सारा आनन्द ही चला जाये । भगवान को अपना संसार सरस बनाना है, अतः उसमें प्रतिस्पर्धा, पुरुषार्थ, सूझ-बूझ एवं सन्तुलन को विकसित करने की ऐसी गुंजाइश रखी है कि हर किसी को कुछ करने और कुछ सोचने की आवश्यकता अनुभव होती रहे । प्रगति का मार्ग संघर्ष ही तो है । संघर्ष परिस्थितियों से किया जाता है । यदि प्रतिकूलता न हो तो संघर्ष किससे किया जाये ? सूझ-बूझ, संतुलन एवं समाधान के लिए प्रतिभा कैसे विकसित हो । इस आन्तरिक विकास के बिना, अपूर्णता से संघर्ष करते हुए पूर्णता का लक्ष्य कैसे पूरा हो ? उलझनों को सुलझाने के बहाने मनुष्य अपने बुद्धि-कौशल को बढ़ाने, संसार की वस्तुस्थिति को समझने, धैर्य और साहस का परिचय देने एवं परिस्थिति के अनुरूप अपने को लचकदार बनाने की महान मानसिक प्रगति उपलब्ध करता है । यही उपलब्धियाँ तुच्छ मनुष्य को महामानव बनाने एवं व्यक्तित्व को प्रखर एवं ज्योतिर्मय बनाने में समर्थ होती हैं चाकू शान के पत्थर पर घिसे बिना न तो तेज होता है, न चमकता है । कठिनाइयों, अभावों, प्रतिकूलताओं और संघर्षों का सृजन इसलिए हुआ है कि उससे टकराकर मनुष्य अपनी क्षमता और प्रतिभा का विकास करते हुए आत्म-बल और मनस्विता की महान विभूतियाँ अधिकाधिक मात्रा में संग्रह करता रहे ।

देखा यह जाता है कि कितने ही व्यक्ति अपनी आकांक्षा पूरी न होने, तनिक-सा व्यवधान आने पर बुरी तरह दुःखी होने लगते हैं । लगता है उन्हीं पर कोई वज्र गिरा हो । परीक्षा में फेल होने पर, मामूली-सी गृह कलह होने पर, व्यापार में घाटा आने पर, प्रतिस्पर्धा में पुरस्कृत न होने पर अधीर हो जाते हैं और उस असंतुलित स्थिति में घर छोड़कर निकल भागने, आत्म-हत्या करने की, हिम्मत ही हार बैठते हैं । छुई-मुई असफलताएँ इतना निराश कर देती हैं कि वे फिर कुछ बड़ा काम करने की हिम्मत ही हार बैठते हैं । छुई-मुई का पौधा किसी के ऊँगली छूने मात्र से मुरझा जाता है, दुर्बल मनःस्थिति के मनुष्य अवरोध का एक हलका झटका लगने मात्र से

अपना उत्साह खो बैठते हैं और फिर ऐसे खिन्न रहने लगते हैं मानो इसका सब कुछ डूब गया हो।

कई व्यक्ति भविष्य की कठिनाइयों, विपत्तियों की आशंकाएँ करके चिन्तित बने रहते हैं। मन में केवल कुकल्पनाएँ ही उठती रहती हैं। लगता रहता है मानो अब विपत्ति आई, अब मुसीबत में फँसे। कर्मक्षेत्र में प्रवेश करने वाला कभी अनुकूलता का लाभ लेता है और कभी प्रतिकूलता का सामना करता है। लाभ मिलने पर हर्षोन्मत्त होकर उछलने वाले और हानि होने पर सिर धुन-धुनकर रोने वाले लोग दयनीय हैं। प्रकृति उन्हीं को जीवित रखती है जो अवरोधों का सामना करने में समर्थ है। गर्मी का सामना न कर सकने वाली घास अल्पायु होती है और सर्दी का सामना न कर सकने वाले मक्खी-मच्छर बेमौत मरते हैं। जिन्हें केवल सफलता, केवल लाभ, केवल अनुकूलता ही चाहिए वे संघर्षशील संसार में अपनी समर्थता एवं दृढ़ता सिद्ध नहीं कर सकते और हवा के एक ही झोंके से इधर से उधर उड़ जाते हैं।

चिन्ता, भय, निराशा, आशंका एवं अधीरता की मानसिक दुर्बलताएँ हमारा इतना अहित करती हैं जितना कि सौ शत्रु मिलकर नहीं कर सकते। दुर्बल मन सदा अन्धकारमय भविष्य और सम्भावित विपत्तियों की ही कुकल्पना करता रहता है और इस प्रकार की अशुभ विचारणाएँ मनुष्य को घबरा देने के लिए पर्याप्त हैं। आधी शक्ति आशंकाएँ खा जाती हैं। चिन्ता एक प्रकार की ठण्डी आग है जो मनुष्य को भीतर ही भीतर जलाती रहती है। आधी से अधिक आशंकाएँ निर्मूल होती हैं। साहसी व्यक्ति हिम्मत से काम लेते हैं और सोचते हैं जो जैसा होगा सो देखा जायेगा। समय पर आगत कठिनाई का मुकाबला कर लेंगे। उसका कोई हल ढूँढ़ लेंगे। ऐसी हिम्मत वालों को यदाकदा ही सम्भावित आशंकाओं से जूझना पड़ता है। यदि कोई अवरोध आ खड़ा भी हुआ तो उसे शान्तचित्त, व्युत्पन्नमति एवं मानसिक सूझ-बूझ से हल कर लेते हैं। धैर्यवान और साहसी मनुष्य मानसिक शक्ति के उस अपव्यय से बच जाते हैं जो सफलता का पथ प्रशस्त करने में महत्त्वपूर्ण योगदान करती है।

पेड़ की जड़ें निरन्तर बढ़ती हैं। रास्ते में कोई पत्थर आ जाता है और वे उसे तोड़कर पार नहीं कर सकतीं पर दूसरी ओर मुड़ जाती हैं, अपना रास्ता दूसरा बना लेती हैं। यह मुड़ने और बदलने की कला जिन्हें मालुम है, वह लचकदार तरीका अपनाते हैं और अपने लिये दूसरा रास्ता तलाश कर लेते हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन को अपने जीवन में १८ बार तिलमिला देने वाली असफलताएँ मिलीं। कोई कमजोर तबियत का आदमी रहा होता तो टूट गया होता। निराश होकर हिम्मत खो बैठा होता। पर उन्होंने हर अवरोध के बाद दूनी-चौगुनी हिम्मत से काम लिया और अपनी रीति-नीति में जो परिवर्तन आवश्यक था सो तुरन्त कर लिया। एक व्यक्ति एक कार्य में आज असफल हुआ तो वह सदा सब कार्यों में असफल ही नहीं होता रहेगा। दूसरे काम में उसकी प्रतिभा बड़े-बड़े चमत्कार दिखा सकती है। एक बार सफलता न मिली तो कई बार प्रयत्न किया जा सकता है। राजा ब्रूसो १३ बार लड़ाई में हारा किन्तु उसने हिम्मत नहीं छोड़ी, चौदहवीं बार वह सफल हुआ। हर व्यक्ति के लिए मनोबल बढ़ाने का यही रास्ता है कि अवरोध या असफलता के आगे सिर न झुकाये, हिम्मत न हारे वरन् दूने उत्साह और उल्लास के साथ आगे बढ़े और उन त्रुटियों को दूर करे जिनके कारण पिछली बार सफलता न मिल सकी।

शोक-सन्ताप में व्यथित हो बैठना व्यर्थ है। इस संसार का यही क्रम है कि एक की हानि, दूसरे का लाभ बनती रही है। एक घर के बच्चे के जन्म की खुशी तभी मनाई जा सकेगी तब किसी के घर मृत्यु का शोक छाये। एक तभी जीतेगा जब दूसरा हारे। हार-जीत की आँख-मिचौनी यहाँ अनादि काल से चलती रही है। ताश की बाजी की तरह जो उसमें क्षुब्ध नहीं होते केवल आनन्द भर लेते हैं ऐसे खिलाड़ी की मनोवृत्ति रखने वाले लोग हँसते और हँसाते, आनन्द और सन्तोष का जीवन जी सकते हैं।

हमें सफलता की बड़ी-बड़ी आशाएँ रखनी चाहिए और मनोरथों की पूर्ति के बड़े-बड़े सपने देखने चाहिए पर साथ ही इसके लिए तैयार रहना चाहिए कि बुरी से बुरी परिस्थितियों का सामना करना पड़े। दिन और रात का, सर्दी और गर्मी का अपना-अपना आनन्द है। सफलता और असफलता भी अपनी-अपनी विशेषताएँ और विभूतियों से सम्पन्न हैं। सफलताएँ जहाँ हमारा उत्साह बढ़ाती हैं और प्रगति के लिए सुविधाएँ उत्पन्न करती हैं वहाँ असफलताएँ हमारे धैर्य, साहस, सन्तुलन, पौरुष और विवेक को चुनौती देकर हमारा आत्मबल बढ़ाती हैं, जो किसी भी साधारण सफलता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध होती है।

प्रश्न—

(१) क्या आप बता सकते हैं कि ईश्वर ने सुविधा के साथ असुविधा और सन्तोष के साथ असन्तोष को क्यों बनाया है? (२) केवल सुविधा, सन्तोष और अनुकूलता ही यदि बनाये गये होते, तो उससे हमारी क्या हानि होती? (३) प्रगति का मार्ग संघर्ष होता है? सिद्ध कीजिए। (४) यदि हम किसी महान कार्य को कर रहे हैं और उस कार्य में कोई रुकावट आ जाये तो हमें क्या करना चाहिए? (५) जिन्हें केवल सफलता, केवल लाभ, केवल अनुकूलता ही चाहिए क्यों वे इस संघर्षशील संसार में अपने को दृढ़ बनाये रह सकते हैं? (६) चिन्तित व्यक्ति और साहसी व्यक्ति में क्या अन्तर है? स्पष्ट कीजिए। (७) क्या आप कोई ऐसा उदाहरण बता सकते हैं कि किसी के सामने कई बार अवरोध आये हों, पर वह आखिर में बराबर जीता हो? (८) इस संसार में सन्तोष और आनन्द का जीवन कौन व्यतीत कर सकते हैं? (९) 'सफलता और बड़ी आशाएँ रखना' किस प्रकार हमारे लिए लाभदायक सिद्ध होगा?

आवेशग्रस्त न हों, शान्ति और विवेक से काम लें

शरीर में बुखार आने पर उसका तापमान बढ़ जाता है और कई तरह की विकृतियाँ, गड़बड़ियाँ पैदा हो जाती हैं । देह जलती है, प्यास लगती है, सिर दर्द होता है, पैर भड़कते हैं, नींद नहीं आती, भूख नहीं लगती, बेचैनी होती है आदि कितने ही कष्टकारक लक्षण होने से रोगी को बुखार के कारण असुविधा होती है । कमजोरी बहुत आ जाती है, कुछ काम करते नहीं बन पड़ता, सोचना और बोलना भी ठीक तरह सम्भव नहीं होता । इस कमजोरी और शारीरिक अस्त-व्यस्तता की क्षति-पूर्ति काफी समय लेकर आती है । थोड़े दिन का बुखार भी देह को तोड़-मोड़ कर रख जाता है ।

शरीर की तरह मन, मस्तिष्क को भी बुखार आता और वह शरीरगत उस बुखार व्यथा की अपेक्षा अधिक हानिकारक सिद्ध होता है । इस सन्ताप का नाम है–'आवेश' । तनिक-सी बात पर उत्तेजित हो जाना और मानसिक सन्तुलन खो बैठना, आवेश से भर जाना, मस्तिष्क को बुखार चढ़ जाना ही कहा जायेगा । मनुष्य का जीवनक्रम और संसार का क्रिया-कलाप कुछ ऐसे ही ढंग का है कि इसमें हर बात अपनी इच्छानुकूल नहीं हो सकती । दूसरे लोग वही करें जो हम चाहते हैं वे अपने स्वभाव और संस्कार को हमारी मन-मर्जी के अनुरूप तत्काल बदल लें, यह आशा करना अनुचित है ।

जो उपरोक्त वास्तविकता को नहीं समझते, वे तनिक-सी प्रतिकूलता आने पर मर्जी से भिन्न किसी का व्यवहार देखकर आग-बबूला हो उठते हैं, आवेश में आ जाते हैं और मानसिक संतुलन खोकर इतने विक्षुब्ध हो जाते हैं कि अपने को, सम्बन्धित व्यक्तियों तथा समीपवर्ती वातावरण को अस्त-व्यस्त बनाकर ही रहते हैं ।

आवेश एक प्रकार का मस्तिष्कीय बुखार है । इसे मानवीय दुर्बलता भी कह सकते हैं । उत्तेजना सारे आन्तरिक ढाँचे को लड़-खड़ाकर रख देती है । क्रोध का आवेश जब चढ़ता है, तब मनुष्य आधा पागल जैसा हो जाता है । उसके हाव-भाव, चेष्टाएँ, मुख-मुद्राएँ ऐसी हो जाती हैं, जैसे वह आपे से बाहर हो । न सोचने लायक बात सोचता है और न बोलने लायक वाणी बोलता है, कटुता, व्यंग्य, तिरस्कार, अहंकार, अशिष्टता आदि न जाने कितने विष उसमें घुले रहते हैं । दूसरों का राई भर दोष पर्वत जैसा दीखता है, बहुत बार तो उस आवेश ग्रस्त स्थिति में इतनी कुकल्पनाएँ और आशंकाएँ उठती हैं कि दूसरा बुरे से बुरा दीखने लगता है और प्रतीत होता है, मानो उसने जान-बूझकर द्वेषवश हानि पहुँचाने या नीचा दिखाने के लिए ही सब कुछ किया है । मस्तिष्क उत्तेजना में सही बात सोच नहीं पाता, वस्तुस्थिति समझने और वास्तविकता जानने की बुद्धि ही नहीं रहती । अस्तु, सामने वाला दोषी ही नहीं, शत्रु भी दीखता है और जिस प्रकार किसी पर आक्रमण किया जाता है, उसी तरह की गतिविधियाँ बन जाती हैं । इससे सामने वाले को भी प्रत्युत्तर और प्रतिशोध में खड़ा होना पड़ता है । बात बढ़ती है और कई बार तनिक-सी बात पर इतना बड़ा विग्रह खड़ा हो जाता है कि उसकी क्षति-पूर्ति कर सकना कठिन हो जाता है । मित्र शत्रु बन जाते हैं और जहाँ से सहयोग की आशा थी, वहाँ से विरोध और अवरोध प्राप्त होने लगता है । इन परिस्थितियों में कई बार ऐसा कटु व्यवहार बन पड़ता है, जिसका घाव आजन्म नहीं भरता और अपने पराये हो जाते हैं ।

आवेश में दुर्व्यवहार करके दूसरों को जितनी क्षति पहुँचाई जाती है, उससे कहीं अधिक हानि अपनी करता है । इसी प्रकार आवेशग्रस्त क्रोध में दूसरों को जितनी चोट पहुँचाता है, उससे कहीं अधिक हानि अपनी कर लेता है । शरीर विष से भर जाता है और अगणित मस्तिष्कीय तथा नाड़ी संस्थान के रोग उठ खड़े होते हैं । एक घण्टे के क्रोध में एक दिन के तेज बुखार से अधिक शक्ति नष्ट होती है । क्रोधी व्यक्ति कभी पनपता नहीं । उसकी जीवन शक्ति आवेग की आग में ही जलती, भुनती रहती है और ठीक तरह सोच सकने की क्षमता दिन-प्रतिदिन कम होने लगने से वह अर्द्ध-विक्षिप्त एवं सनकी जैसी मनोदशा में जा पहुँचता है ।

उचित यह है कि हम सन्तुलित स्वभाव रखना सीखें । यदि किसी का व्यवहार अप्रिय है तो तलाश करें कि उसमें उसका कितना दोष था । कई बार परिस्थितियाँ, मजबूरियाँ एवं वस्तुस्थिति समझने की भूल के कारण लोग ऐसी गलतियाँ कर बैठते हैं, जिनसे पीछे तो पछताते हैं पर समय पर वैसी कल्पना नहीं होती । मनुष्य जहाँ श्रेष्ठ है, वहाँ त्रुटियों और दुर्बलताओं से भी भरा है । पूर्ण निर्दोष, परम सज्जन एवं निर्भ्रान्त व्यक्ति आज तक इस संसार में पैदा नहीं हुआ । आगे अभी हो सकेगा इसकी सम्भावना कम ही है । इस वास्तविकता को समझते हुए यदि हमें इसी संसार में रहना है तो कामचलाऊ समझौता की नीति अपनाकर ही चलना होगा । अप्रिय व्यवहार जिनका लगता हो उनसे शान्ति और प्रेमपूर्वक वस्तुस्थिति पूछनी चाहिए और जो कारण रहा हो उसकी हानि समझाकर उसे उसके लिए तैयार करना चाहिए कि भविष्य में वैसी गलती न करे । यदि हमें ही समझने में भूल हुई है और कुछ का कुछ समझ लिया है तो अपनी भूल तुरन्त स्वीकार करने और सुधारने को तैयार रहना चाहिए । सज्जनता की पहिचान सन्तुलन से की जाती है । दूरदर्शी विवेकवान व्यक्ति की पहिचान यह है कि वह तर्क और विवेक से काम लेता है । अप्रिय प्रसंगों के कारण बारीकी से ढूँढ़ता है और उनके समाधान का शान्तचित्त से उपाय निकालता है । हर रोग की दवा है और हर अप्रिय प्रसंग का समाधान । सज्जन समाधान ढूँढ़ते हैं और उसे निकालकर रहते हैं । वे जानते है कि क्रोध और आवेश

से, लड़ाई-झगड़े से, कटु वचन और अशिष्टता से कोई प्रयोजन पूरा नहीं होता–उलटी उलझनें बढ़ती हैं ।

जिस व्यक्ति के दुर्व्यवहार से या भूल से हमें चोट पहुँचती है, उसके सम्बन्ध में यही सोचना चाहिए कि यह अपनी भूल सुधार कर भविष्य में हमारे अनुकूल हो जाये । इसके लिए क्रोध या दुर्व्यवहार करना व्यर्थ है । आतंक और आक्रमण से रोष और विक्षोभ से सम्भव है सामने वाला कुछ समय के लिए चुप हो जाये या डरकर सहमत हो जाना स्वीकार करले । पर यह केवल उतनी बाह्य प्रक्रिया मात्र ही होगी । भीतर से रोष की प्रतिक्रिया निश्चित रूप से प्रतिकूल ही होगी । प्रताड़ना और तिरस्कार को वह घायल साँप की तरह चोट को भीतर ही छिपाये रहेगा और जब अवसर मिलेगा उस दुर्व्यवहार का बदल लेगा । सुधार के लिए सज्जनतापूर्ण सद्व्यवहार ही कारगर उपाय है । क्रोध का उद्देश्य यदि भूल करने वाले को सुधारना और क्षति की पूर्ति करना हो तो समझ लेना चाहिए कि यह तरीका गलत है जो बात हम चाहते हैं, वह तो गलती करने वाले को अनुकूल बनाकर ही पूरी हो सकती है और उसके लिए जो भी उपाय कारगर होंगे, वे निश्चित रूप से क्रोध के अतिरिक्त ही कोई होंगे ।

शारीरिक स्वास्थ्य की तरह हमें मानसिक स्वास्थ्य का भी ध्यान रखना चाहिए अन्यथा मानसिक रुग्णता हमारे लिए रोगी शरीर से भी अधिक घातक सिद्ध होगी । मनोविकारों में सर्वप्रथम है क्रोध । भय सबसे बुरे किस्म का रोग है । चोरी, छल, बेईमानी, व्यभिचार आदि से दूसरों को अधिक हानि होती है । अपनी पीछे भले ही होती रहे पर तत्काल तो कुछ लाभ ही होता है किन्तु क्रोध से सारी की सारी हानि अपनी ही है । लाभ रत्ती भर भी नहीं । खून अपना सूखा, मस्तिष्क अपना खराब हुआ, स्वास्थ्य गिरा, शत्रुता बढ़ी और जो चाहते थे, उससे ठीक उल्टी प्रतिक्रिया हुई । इन सब बातों का ध्यान रखते हुए हर विवेकवान व्यक्ति का कर्तव्य है कि आत्मनिरीक्षण करके हम यह देखें कि अपना मानसिक सन्तुलन सही रहता है या नहीं । लोग बुरे हैं, गलती करते हैं तो उनके दण्ड के लिए प्रेम और सहानुभूति के साथ उनकी कठिनाई समझनी चाँहिए और सदाशयता एवं सज्जनता के साथ यह बताना चाहिए कि क्या न करके क्या किया जाना चाहिये था । अपना सन्तुलन बनाये रहकर शान्ति-चित्त, सौम्य मुद्रा हितैषी, मित्र के रूप में यदि कुछ परमार्थ किया जायेगा तो गलती करने वाले अपने को बहुत कुछ सुधार लेंगे और यदि अपनी भूल से दूसरों की गलती मान ली गई है तो विवेक उसे भी सुधार देगा और क्रोध का कोई कारण शेष न रह जायेगा ।

प्रश्न—

(१) शरीर में बुखार आने पर क्या-क्या लक्षण उत्पन्न होते तथा उनसे क्या हानियाँ होती हैं ? (२) मस्तिष्क को बुखार आ गया ऐसा हम कब कह सकते हैं ? (३) आवेशित होने के कारण क्या हैं ? (४) आवेशित होने से हम में क्या परिवर्तन हो जाते हैं तथा इससे क्या हानियाँ होती हैं ?(५) क्या आवेशित व्यक्ति स्वतः अपने आप को भी हानि पहुँचाता है ? यदि हाँ तो किस प्रकार ? (६) हमें अपना स्वभाव सन्तुलित बनाये रखने के लिए क्या-क्या उपाय करने चाहिए ? (७) दूरदर्शी और विवेकवान व्यक्ति की पहचान क्या है ? (८) सामने वाले व्यक्ति से हमें क्रोध न करके किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए । (९) क्रोध करने से हमें शारीरिक कठिनाइयाँ क्यों होती हैं ?

विचार शक्ति का महत्त्व समझें और सदुपयोग करें

मनुष्य का विकास और भविष्य उसकी मनःस्थिति पर निर्भर है । जैसा बीज होगा वैसा ही पौधा उगेगा । जैसे विचार होंगे वैसे कर्म बनेंगे । जैसा कर्म करेंगे वैसी परिस्थितियाँ बन जायेंगी । भली-बुरी परिस्थितियाँ अनायास ही सामने नहीं आ खड़ी होतीं । उनका अपने कर्त्तव्य से बड़ा सम्बन्ध होता है । वृत्तियों की प्रतिक्रिया परिस्थितियों के रूप में सामने आती हैं । यह तथ्य है कि कृतियाँ अनायास ही नहीं होने लगतीं वरन् चिरकाल से मन में स्थित विचार पद्धति का परिणाम होती हैं ।

वास्तविक पूँजी धन नहीं विचार है । वास्तविक शक्ति साधनों में नहीं, विचारों में सन्निहित है । व्यक्तित्व का निखार विचारशीलता पर अवलम्बित है । सोचने के ढंग से जीवन को दिशा मिलती है और दिशा निर्धारण पर भविष्य का भला-बुरा होना निश्चित है । सच तो यह है कि आज कोई व्यक्ति जिस भी स्थिति में है वह उसके अब तक के विचारों का ही परिणाम है और भविष्य में जैसा कुछ बन सकेगा उसका आधार उसकी विचारशैली ही होगी ।

कहा जाता है कि खोपड़ी में मनुष्य का भाग्य लिखा रहता है । इस भाग्य को ही कर्म लेख भी कहते हैं । मस्तिष्क में रहने वाले विचार ही जीवन का स्वरूप निर्धारित करने और सम्भावनाओं का ताना-बाना बुनते हैं । इसलिए प्रकारान्तर से भी यह बात सही है कि भाग्य का लेखा-जोखा कपाल में लिखा रहता है । कपाल अर्थात् मस्तिष्क । मस्तिष्क अर्थात् विचार । अतः मानस शास्त्र के आचार्यों ने यह उचित ही संकेत किया है कि भाग्य का आधार हमारी विचार पद्धति ही हो सकती है । विचारों की प्रेरणा और दिशा अपने अनुरूप कर्म करा लेती है । इसलिए कर्म में लिखा हो, जैसी भाषा का प्रयोग पुरातन पंथ से करते हुए भी तथ्य यही प्रकट होता है कि कर्तृत्व अनायास ही नहीं बन पड़ता, उसकी पृष्ठभूमि विचार शैली के अनुसार धीरे-धीरे मुद्दतों में बन पाती है ।

हाड़-माँस के खोखले में जो जादू भरा है वह विचार शक्ति ही है । अब तक के मानवीय विकास का सारा श्रेय

उसकी उसी विशेषता को दिया जा सकता है । आज व्यक्ति की स्थिति क्या है ? उसे देखकर उसके भूतकाल की विचार-शैली को बताया जा सकता है और आगे उसका भविष्य क्या होगा ? इसकी भविष्यवाणी इस आधार पर की जा सकती है कि उसका विचार प्रवाह किस दिशा में प्रवाहित हो रहा है । मोड़ आने पर परिवर्तन हो सकता है । वह चमत्कार भी विचार परिवर्तन का ही माना जायेगा । विचार निस्सन्देह मनुष्य जीवन का अतिशय महत्त्वपूर्ण तथ्य एवं ईश्वरीय अनुदान है । इसे यदि ठीक तरह सम्हाला, सुधारा जा सके तो नर पशु या नर पिशाच की स्थिति में पड़ा हुआ व्यक्ति देखते-देखते महामानवों की पंक्ति में खड़ा हो सकता है । महत्त्वपूर्ण सफलताओं का अधिकारी बन सकता है और उज्ज्वल व्यक्तित्व उपलब्ध करके अपना ही नहीं असंख्य, अनेक का भी उद्धार-उत्कर्ष कर सकता है । मानव के भौतिक शरीर में दिव्य तत्व का जो महान अंश विद्यमान है उसे 'विचार' ही कहा जा सकता है । अध्यात्म की भाषा में उसे ही मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अन्तःकरण चतुष्टय कहते हैं ।

अध्यात्म का सारा ढाँचा हमारी विचारणा, मान्यता, आस्था, निष्ठा और आकांक्षा को परिष्कृत करने के लिए ही खड़ा किया गया है । ईश्वर, कर्मफल, पुनर्जन्म, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक आदि की मान्यताएँ और पूजा-उपासना, धर्म-कर्म आदि के सारे कर्मकाण्ड, धर्मानुष्ठान इसी प्रयोजन के लिए विनिर्मित हुए हैं कि आदमी के सोचने का ढंग उच्च आदर्शों पर अवलम्बित हो । कथा वार्ता, स्वाध्याय, सत्संग, धारणा, ध्यान, शास्त्रदर्शन के पीछे छिपे तथ्य को समझा जाये तो उसका मूल प्रयोजन विचारों को अस्तव्यस्त दिशा में भटकने न देकर उन्हें सुसंस्कृत बनाने का ही दृष्टिकोण होगा । लोग स्वास्थ्य, शिक्षा, धन-वैभव, प्रभाव, पद आदि सम्पत्तियों का महत्व तो जानते हैं पर न जाने क्यों अभी तक यह समझ नहीं पाये कि वास्तविक सम्पदा तो विचारणा ही है और उसी के बल पर विभिन्न स्तर की सफलताओं तथा समृद्धियों का ताल-मेल बैठता है ।

हमें अत्यन्त बारीकी के साथ अपनी विचार-शृंखला पर गौर करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि उनका स्तर क्या है यह प्रवाह किस दिशा में बह रहा है यदि वासना, तृष्णा, क्रोध, लालच, आवेश, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार जैसी आकांक्षाओं की प्रधानता है तो समझना चाहिए कि हमें उलझाने वाली परिस्थितियों में जकड़ा रहना पड़ेगा । अपने दोष-दुर्गुणों को समझने और उन्हें सुधारने की आकांक्षा यदि जाग पड़े तो समझना चाहिए कि विचारों का महत्त्व समझ में आने लगा । कुविचार और असंस्कृत विचार ही मनुष्य के सबसे बड़े शत्रु हैं और वे ही पतन के गर्त में गिराते तथा प्रगति के पथ में अवरोध उत्पन्न करने के कारण हैं इसलिए दूरदर्शी लोग अपनी परिस्थिति को सुधारने से पूर्व मानसिक स्थिति को निष्पक्ष भाव से समझने और तीखी दृष्टि से यह देखने की कोशिश करते हैं कि किन अवांछनीय, असामाजिक और अनैतिक विचारों ने मनोभूमि पर कब्जा जमा रखा है । जिस प्रकार शत्रुओं और दुष्टों द्वारा अपने ऊपर होने वाले आक्रमण को निरस्त करने के लिए हम सतर्कता बरतते और सुरक्षात्मक तैयारी करते हैं उसी प्रकार कुविचारों की मनःक्षेत्र में कितनी जड़ जम गई हैं उसे देखने और उखाड़ने के लिए प्रबल प्रयत्न किया जाना चाहिए । आत्मशोधन को सबसे बड़ा पुरुषार्थ माना गया है जिससे चित्तवृत्तियों की चंचलता और कुपथगामिता पर नियन्त्रण कर लिया जाना चाहिए । बाहरी शत्रुओं से निपटना सरल है क्योंकि वे दिखाई पड़ते हैं किन्तु आन्तरिक शत्रु समझ में नहीं आते, दीखते भी नहीं, इसलिए उनकी ओर ध्यान भी नहीं जाता और निपटने की आवश्यकता भी अनुभव नहीं होती । इसी उपेक्षा में वे अपनी जड़ें गहराई तक जमाते चले जाते हैं और क्रमशः सारे चिन्तन तन्त्र पर कब्जा करके मनुष्य को गई-गुजरी स्थिति में ला पटकते हैं ।

जिस प्रकार हम दूसरे लोगों की समीक्षा करते हैं दोष ढूँढ़ते और आलोचना, निन्दा किया करते हैं । इसी तरह वरन् उससे भी अधिक कड़ाई के साथ अपने विचार संस्थान की-गुण, कर्म, स्वभाव की परख करनी चाहिए । यह क्रम आत्म-चिन्तन के लिए एक नियत निर्धारित समय पर नित्य ही चलाना चाहिए । असत्य, छल, निष्ठुरता, व्यभिचार, बेईमानी आदि असामाजिक अपराधों पर ही नहीं आलस्य, प्रमाद, आवेश, असहिष्णुता, कटुभाषण, अशिष्टता, अधीरता, चिन्ता, निराशा, कायरता आदि व्यक्तिगत दुर्गुणों पर भी नजर रखनी चाहिए और उन्हें हटाकर प्रतिपक्षी सद्विचारों और सद्भावना को मनोभूमि में प्रतिष्ठापित करने का वैसा ही प्रयत्न करना चाहिए जैसा चतुर किसान अपने सबसे अच्छे खेत में सबसे अच्छा बीज बोकर सबसे अच्छी फसल उगाने का लाभ प्राप्त करता है ।

चोर पर निगाह रखने से उसे चोरी करने का अवसर नहीं मिलता और अपनी हानि बच जाती है । उसी प्रकार अपने दुर्गुणों पर भी सतर्क रहा जाये और उनके आक्रमण का अवसर न आने देने के लिए पहले से ही सावधानी रखी जाये तो वे ईंधन न मिलने पर बुझ जाने वाली आग की तरह समाप्त हो जाते हैं जो विचार अभ्यास में आते और क्रियान्वित होते हैं उन्हीं की जड़ जमती है । बुरे विचारों को चित्तक्षेत्र में प्रवेश न करने दिया जाय और उनके स्थान पर तुरन्त प्रतिरोधक उच्च विचार प्रस्तुत कर दिये जायें तो चोर जैसी स्थिति के आसुरी विचारों को पलायन करते ही बनेगा । वे तभी तक ठहरते हैं जब तक कि उनका प्रबल प्रतिरोध नहीं होता, श्रेष्ठ विचारों को चिन्तन क्षेत्र में स्थान मिले और उन्हें कार्यान्वित होने के अवसर मिलते रहे तो कोई कारण नहीं कि वे हमारे गुण, कर्म, स्वभाव में सम्मिलित न हो जायें और उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत न करें ।

विचार निर्माण में सहायता करने वाले सत्साहित्य का क्रमबद्ध स्वाध्याय इस प्रयोजन के लिए नितान्त आवश्यक है । सद्‌विचार सम्पन्न, चरित्रवान, उत्कृष्ट गतिविधियों में संलग्न व्यक्तियों का सत्संग भी बहुत सहायक सिद्ध होता है । भूलों के लिए अपने आपको एकान्त में कान ऐंठने, उठक-बैठक करने, चाँटे लगाने, मुर्गा बनने, भोजन में कटौती करने जैसे शारीरिक दण्ड दिये जा सकते हैं । अगले दिन उन पिछले दिन वाली भूलों को न होने देने के लिए प्रातःकाल में ही निश्चय कर लिया जाये, दिन भर सतर्कता रखी जाये और रात को भूलों का लेखा-जोखा लेकर प्रायश्चित किया जाये तो यह प्रक्रिया थोड़े ही दिनों में हमारी विचार शक्ति को परिष्कृत कर देगी । विवेक, औचित्य, तर्क, प्रमाण, वस्तुस्थिति का निष्पक्ष भाव से पता लगाने का क्रम यदि चलता रहे तो बहुत-सी भ्रान्तियाँ सहज ही दूर हो सकती हैं और सुसंतुलित विचारणा के आधार पर शान्ति, समृद्धि, प्रगति और महानता की दशा में तेजी से बढ़ा जा सकता है ।

प्रश्न–

(१) मनुष्य का विकास किस बात पर निर्भर है ? (२) विचार धन से भी बड़ी शक्ति है–सिद्ध करो ? (३) कर्तृत्व की प्रेरणा कहाँ से आती है ? (४) मनुष्य शरीर का जादू किसे कहते हैं, क्यों ? (५) 'विचार' शक्ति का आध्यात्मिकता से क्या सम्बन्ध है ? (६) विचारों की परख किस तरह की जाये और उन्हें कैसे सुधारा जाये ? (७) आत्मालोचन क्यों आवश्यक है ? (८) बुरे विचारों से किस तरह बचा जा सकता है ? (९) विचारों के उत्पादन का स्रोत क्या है ? (१०) विचारों की भूल का प्रायश्चित, परिमार्जन कैसे किया जाये ?

आरोग्य रक्षा के लिए संतुलन आवश्यक है

भौतिक या आध्यात्मिक कोई भी पुरुषार्थ स्वस्थ शरीर से ही सम्भव है । शारीरिक सामर्थ्य बनाये रहकर ही हम जीवितों में गिने जा सकते हैं । अस्वस्थ, रुग्ण और दुर्बल तो अर्द्धमृतक ही बने रहते हैं । देहगत पीड़ा के साथ असफलता और असमर्थता की मनोव्यथा भी जुड़ी रहती है । अस्तु, उचित यही है कि स्वास्थ्य के सम्बन्ध में उपेक्षा न बरती जाये ।

स्वास्थ्य दवा-दारू पर निर्भर नहीं है । वह पैसों से भी नहीं खरीदा जा सकता । कीमती चीजें खाकर आरोग्य रक्षा की बात सोचना भी व्यर्थ है । यह सुरक्षा तो आहार-विहार, श्रम सन्तुलन पर निर्भर रहती है । जो इनकी विधि-व्यवस्था बनाये रहता है वही स्वास्थ्य का आनन्द लेता है और वही कमजोरी एवं बीमारी से अपनी रक्षा करने में समर्थ होता है ।

काम में न आने वाले चाकू को जंग खा जाता है, काम में न आने से शरीर भी अपनी क्षमता खो बैठता है । जो खाते हैं, उसे पचाने एवं शरीर के कलपुर्जों को गतिशील बनाये रखने के लिए परिश्रम करते रहना आवश्यक है । जो कड़ी मेहनत करते हैं, उनके अंग-प्रत्यंग मजबूत बनते हैं जबकि आरामतलब और काम-चोरों की काया अशक्त होती चली जाती है न उनका अन्न पचता है और न गहरी नींद आती है । अभ्यास न होने से जरा-सा काम आ पड़ने पर थक जाते हैं । बाहर से ठीक दिखते हुए भी कड़ी मेहनत न करने वाले लोग भीतर से खोखले होते चले जाते हैं, भूख घटती है और रस रक्त भी कम बनता है । उतने भर से जीवन यात्रा को दूर तक खींचते ले जाना सम्भव नहीं रहता । आरामतलबी एक अभिशाप है । शारीरिक मेहनत से जी चुराना और अस्वस्थता को आमन्त्रण देना एक ही बात है ।

लोग दिमागी बात को महत्त्व देते और शारीरिक मेहनत की उपेक्षा करने लगे हैं । लिखा-पढ़ी देर तक करते रहना पसन्द है, पर देह का श्रम बेइज्जती की निशानी मानी जाती है । पुरुष खेती-बाड़ी आदि कड़ी मेहनत के कार्यों से बचना और कलम घिसने की नौकरी करना पसन्द करते हैं । महिलाएँ चक्की पीसने जैसे पसीना लाने वाले कार्यों से कतराती हैं, उन्हें करने में अपनी हेटी समझती हैं । यही कारण है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य दिन-दिन गिरता चला जाता है और लोग बीमारी व कमजोरी के चंगुल में बुरी तरह ग्रसित होते चले जा रहे हैं ।

स्वास्थ्य रक्षा के लिए यह नितान्त आवश्यक हो गया है कि हर किसी के मन में शारीरिक श्रम की महत्ता एवं उपयोगिता भली प्रकार बैठा दी जावे । उसके बिना न हमारी गरीबी दूर होगी, न बेकारी । न बीमारी से बचेंगे, न कमजोरी से । प्रगति तथा सफलता पाने के लिए परिश्रम और पुरुषार्थ आवश्यक है और इसे वही कर सकता है जिसके शरीर में पर्याप्त सामर्थ्य है । उक्त तथ्य जिस दिन हमारी समझ में आयेगा, उसी दिन से शारीरिक श्रम व कड़ी मेहनत के पसीना बहाने वाले कार्यों के प्रति रुचि पैदा हो जावेगी । उन्हें आरोग्य का मूल समझते हुए अपनी नियमित दिनचर्या में उपयुक्त स्थान दिया जाने लगेगा । शरीर उचित परिश्रम से घिसता नहीं वरन् सशक्त और मजबूत ही होता है । आलसी मन इसे स्वीकार न करे तो भी उसे बलपूर्वक समझाना चाहिए । स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन की सम्भावना देहगत परिश्रम पर बहुत कुछ निर्भर करती है । मेहनत से बचने का दण्ड मनुष्य को बीमारी व कमजोरी से उत्पन्न परेशानियों के रूप में भुगतना पड़ता है ।

पशु-पक्षी अपने आहार की खोज में, विनोद के लिए स्वभावतः इधर-उधर भागते दौड़ते हैं, फलतः उनका शरीर सुदृढ़ और समर्थ बना रहता है । प्रकृति की इच्छा यही है कि हर जीव कड़ी मेहनत का अभ्यासी बने और स्वास्थ्य एवं पूर्ण आयुष्य का सुख भोगे । मानसिक श्रम से अधिक पैसा कमाया जा सकता है, पर शारीरिक श्रम की अपनी उपयोगिता है । कम कमाया जाये या न कमाया जाये

तो भी स्वास्थ्य व आरोग्य की दृष्टि से मेहनत हर हालत में करनी चाहिए, जिससे पसीना निकले और गहरी नींद का आनन्द मिले।

जिन्हें सुविधा हो, व्यायामशाला जाकर दण्ड-बैठक, डम्बल, मुग्दर, कुश्ती आदि व्यायाम करें। जिनमें नर-नारी, बाल-वृद्ध सभी को अपने-अपने साथियों के साथ खेलने-कूदने, भागने-दौड़ने, ड्रिल, कवायद, लाठी, बनेठी चलाने आदि का शिक्षण प्राप्त करके मनोरंजन एवं स्वास्थ्य संवर्धन का अवसर मिले, ऐसे संगठित प्रयत्न आज की महती आवश्यकता हैं। समाजसेवियों को जगह-जगह ऐसी व्यवस्थाएँ बनानी चाहिए। व्यक्तिगत रूप से आसन प्राणायाम, सूर्य नमस्कार आदि किये जा सकते हैं। सवेरे तीन-चार मील तेज चाल से भ्रमण सामान्य स्वास्थ्य और शरीर वाले के लिए उपयोगी है। जिनका धन्धा बैठे-ठाले का है उनके लिए टहलने का व्यायाम नितान्त आवश्यक है। घर के पास पौधे लगाकर उनकी गुड़ाई, निराई, सिंचाई का काम भी किया जा सकता है। महिलाएँ कपड़े धोने, चक्की चलाने जैसे पसीना बहाने वाले कार्य स्वयं कर सकती हैं। स्वेटर बुनने, भोजन बनाने जैसे कार्यों में कड़ी मेहनत और सारे शरीर के अंगों का संचालन न होने से शारीरिक परिष्कृतता का उद्देश्य पूरा नहीं होता। शरीर के हर अंग को पूरी मेहनत मिले और पसीना निकले ऐसा कार्य हर व्यक्ति को अपने लिए निकाल ही लेना चाहिए। स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से यह प्रक्रिया अति आवश्यक है।

स्वास्थ्य को चौपट करने वाले मनोविकारों से सतर्कतापूर्वक बचना चाहिए। बुखार, खाँसी, जुकाम आदि बीमारियाँ तो प्रत्यक्ष दीखती हैं, पर चिन्ता, भय, उत्तेजना, आशंका, ईर्ष्या, द्वेष जैसी मानसिक बीमारियाँ दिखाई तो नहीं पड़ती समझ में नहीं आतीं, पर हानि बुखार, खाँसी से भी अधिक पहुँचाती हैं। चिन्ता एक तरह की आग है, जो भीतर-भीतर ही हाड़-माँस जलाती रहती है। जरा-जरा सी बात में गरम और उत्तेजित हो उठने की आदत रक्त को विषैला करती है और मस्तिष्क का संतुलन बिगाड़ देती है। इसका प्रभाव नाड़ी-संस्थान पर पड़ता है, जिससे कितने ही रोग उठ खड़े होते हैं। खाया-पिया सब क्रोध की गर्मी से जल जाने से आहार का लाभ भी नहीं मिल पाता, निराशा और घुटन की मनोभूमि पाचन क्रिया को चौपट कर देती है। सारे अंग शिथिल पड़ जाते हैं, रक्त-संचार, मल-विसर्जन और श्वास-प्रश्वास की क्रिया उनकी कुछ ही दिनों में ढीली पड़ जाती है, जो अपने भविष्य को अन्धकारमय देखते हैं और अप्रिय प्रसंगों को याद करके दुःख, शोक में डूबे रहते हैं। अवांछनीय परिस्थितियों का सामना करने के लिए मानसिक सन्तुलन एवं सूझ-बूझ की आवश्यकता पड़ती है। चिन्ता, निराशा, आवेश, घुटन जैसे मनोविकार उसे आवश्यकता की पूर्ति में तो सहायक होते ही नहीं बल्कि सोचने की मशीन में गड़बड़ी कर समाधान ढूँढ़ना और भी कठिन बना देते हैं।

दूसरों की बढ़ोत्तरी देखकर कुढ़ना, दूसरों के दोष-दुर्गुण को ही ढूँढ़ते रहना, भविष्य में कोई विपत्ति आने या अशुभ घटना घटित होने की आशंका करके डरते रहना, यह देखने में बुरी आदतें मात्र मालूम होती हैं, पर बहुत कम लोग जानते हैं कि उनका स्वास्थ्य को नष्ट करने में कितना बड़ा हाथ रहता है। सदा असन्तुष्ट रहने वाले व्यक्ति अनिद्रा, सिरदर्द, दिल की धड़कन, मधुमेह जैसे अकाल मृत्यु बुलाने वाले रोगों के चंगुल में फँसते और स्वाध्याय को बर्बाद करते रहते हैं। आठ घण्टे शारीरिक श्रम में उतनी शक्ति नष्ट नहीं होती जितनी आधा घण्टा तक मनोविकारों का उद्वेग बने रहने पर हो जाती है।

जिन्हें स्वस्थ्य रहना हो वे मन को हलका रखें। हँसने की आदत डालें और चित्त को प्रसन्न व संतुष्ट रखा करें। जो अभाव तथा कठिनाइयाँ सामने हैं उनका धैर्य, साहस और सूझ-बूझ के साथ मुकाबला करें। अनुपयुक्त परिस्थितियों को बदलने और समस्याओं को सुलझाने के लिए जो उपाय सम्भव हों उन्हें योजनाबद्ध ढंग से करने में लग जायें। जो कठिनाइयाँ न टाली जा सकें उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करें। समझदार और दूरदर्शी व्यक्ति ऐसी ही रीति-नीति अपनाते हैं और हानि-लाभ के क्षणों से बने जीवन के पहिए को लुढ़काते हुए अपना काम चलाते हैं। इसके विपरीत छिछोरी प्रकृति के व्यक्ति जरा-सी बात को आकाश-पाताल जैसा महत्त्व देकर स्वयं दुःखी होते, साथियों को उद्विग्न करते तथा अपना शारीरिक या मानसिक स्वास्थ्य चौपट करते रहते हैं। स्वस्थ रहने के लिए निश्चिन्त, संतुष्ट, श्रमशील और प्रसन्न रहना आवश्यक है। यह गुण अपने में न हों तो पैदा करने चाहिए, अन्यथा मनोविकार शरीर को गलाते और परिस्थितियों को उलझाते चले जावेंगे।

प्रश्न—

(१) स्वास्थ्य की सुरक्षा के सम्बन्ध में हमें सावधानी क्यों बरतनी चाहिए ? (२) बीमारी और कमजोरी से अपनी रक्षा कौन कर पाते हैं ? (३) आराम-तलबी एक अभिशाप है-सिद्ध कीजिए ? (४) सार्वजनिक स्वास्थ्य के रोज-रोज गिरते जाने के कारण क्या हैं ? (५) स्वास्थ्य रक्षा की नितान्त आवश्यकता क्यों है ? (६) जिस दिन से शारीरिक श्रम का महत्त्व हमारी समझ में आ जावेगा, हमें क्या लाभ होगा ?(७) मेहनत न करने का दण्ड मनुष्य किस प्रकार से चुकाता है ? (८) स्वास्थ्य रक्षा के लिए मनुष्य और स्त्रियों को क्या-क्या शारीरिक श्रम करना चाहिए ? (९) हमारे मनोविकारों का हमारे स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है ? (१०) स्वास्थ्य रक्षा के लिए हमें मानसिक रूप से क्या प्रयत्न करना चाहिए ?

स्वास्थ्य रक्षा के लिए प्रकृति का अनुसरण आवश्यक

प्रकृति ने हर प्राणी को वह स्वाभाविक क्षमता और बुद्धि दी है जिसके आधार पर वह नीरोग, दीर्घजीवन प्राप्त कर सके। उस क्षमता और बुद्धि का प्रकृति के नियमों के अनुकूल उपयोग करने वाले सभी प्राणी नीरोग पाये जाते हैं। वन्य प्रदेशों में स्वच्छन्द विचरण करने वाले पशु-पक्षियों को देखते हैं तो उनमें से कोई भी रोगी नहीं दीखता। हिरण, लोमड़ी, खरगोश, शेर, कबूतर किसी को भी तो बीमारियों के चंगुल में फँसा नहीं देखते। केवल एक ही मूर्ख जानवर, मनुष्य है जो प्रकृति अवज्ञा करके अपना आहार-विहार कृत्रिमता से करता है और उस अवज्ञा के फलस्वरूप ही तरह-तरह के रोगों का संकट भोगता है। मनुष्य के चंगुल में फँसे हुए पशुओं में धीरे-धीरे अप्राकृतिक आहार-विहार की विवशता से रोगी रहने का सिलसिला चल पड़ा है।

यदि हम नीरोग रहना चाहते हैं तो उसका एक ही उपाय है अपनी शरीर की बनावट के अनुरूप आहार-विहार अपनायें और प्रकृति ने जिस ढंग से रहने का संकेत दिया है उसी का अनुसरण करें। यह प्रयोजन कृत्रिम दवा-दारू और तथाकथित डिब्बे में बन्द पौष्टिक आहारों से पूरा नहीं हो सकता। प्रकृति माता की शरण ही एक मात्र वह उपाय है, जिससे वर्तमान रुग्णता और दुर्बलता से छुटकारा पाया जा सकता है और भविष्य के लिए हँसता-खेलता दीर्घ-जीवन प्राप्त किया जा सकता है।

हमारे लिए क्या भोजन उपयुक्त है, उसके लिए किसी दूसरे से पूछताछ करने की या पुस्तकें पढ़ने की जरूरत नहीं है। मुख के दराजे पर बैठा हुआ जिह्वा रूपी डॉक्टर किसी भी वस्तु की परीक्षा करके यह बतला सकता है कि क्या अपने लिए ग्राह्य और अग्राह्य है। जो वस्तुएँ बिना जलाये-भुने, बिना मसाले-मिठाई मिले अपने-अपने मूल रूप में हमें रुचिकर, स्वादिष्ट लगें समझना चाहिए कि यही हमारा प्राकृतिक शुद्ध भोजन है। इस दृष्टि से फल हमारा सर्वोत्तम भोजन है। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि हमारी रुचि उधर से हटती जाती है, अन्यथा फलों की कृषि की जाने लगे तो वे अन्न की तुलना में सस्ते भी पड़ें और पैसा भी अधिक मिले। महँगे फल खरीद सकना सम्भव न हो तो भी ऋतुओं पर उस समय की शारीरिक स्थिति के लिए पूर्णतया उपयुक्त सस्ते ऋतु फल भी मिलते हैं वे भी कम लाभदायक नहीं होते। अपने मौसमों में आम, जामुन, बेर, अमरूद, शहतूत आदि खूब पैदा होते हैं और सस्ते भी मिलते हैं। केला, पपीता महँगे नहीं पड़ते शाक-वर्ग में उगने वाले कितने ही सस्ते फल सहज ही पाये जा सकते हैं। खरबूजा, तरबूज, ककड़ी, खीरा, टमाटर का अपनी ऋतुओं में बाहुल्य रहता है। कच्चे अन्न पकने में तो कुछ समय लगाते हैं पर जीवन तत्व उनमें भी कम नहीं रहते। मक्का, मटर, चने, ज्वार, बाजरा आदि पकने, सूखने से पहले हरी स्थिति में स्वादिष्ट भी रहते हैं और प्रकृति के अनुकूल भी। गेहूँ, चना, मूँग आदि सुपाच्य अन्न सूखे ही लेने हों तो उन्हें पानी में अंकुरित करके खाया जा सकता है। उबालने की नौबत आये तो सुपाच्य शाक अथवा चावल आदि उबाले जा सकते हैं। दलिया भी कामचलाऊ हो सकता है।

आहार को जितना अधिक जलाया जायेगा और उसमें मिर्च, मसाले , तेल, घी आदि मिलाये जायेंगे उतना ही वे अहितकर और निस्तत्व होता चला जायेगा। आज जीभ को चटोरी बनाकर उसकी आदत बिगाड़ी जाती है और उस बिगड़ी आदत को ही जायका कहकर-उदरस्थ किया जाता है। जो स्वाभाविक रूप में जैसा हो वही उसका असली स्वाद है और कौन-सा स्वाद उपयुक्त है इसे बिना बिगड़ी हुई जीभ सहज ही बता सकती है। मिर्च खाते ही जीभ जलती है, नमक खाते ही उलटी आती है। हींग, लौंग, हल्दी आदि खाकर कोई देखे तो जीभ सहज ही बतायेगी कि यह जंजाल अपने लिए सर्वथा अग्राह्य है। पर चतुर कहलाने वाले मनुष्य ने जीभ को धीरे-धीरे अवांछनीय चीजों का अभ्यस्त बना दिया और वह नशेबाज की तरह कड़ुई और विषैली, नशीली चीजों की भाँति चिकनाई और मसालों से भरे जलाने और भूनने से निस्तत्व किये गये पकवान मिष्ठान्नों को स्वादिष्ट मानकर धोखा खाती रहती है। यह आहार उसके पचाने में अनुपयुक्त होते हैं और शरीर को शक्ति देने की अपेक्षा उलटे उसकी संचित शक्ति खाते रहते हैं। ऐसी दशा में पोषणविहीन और जीवन तत्वों से रहित अप्राकृतिक भोजन करने वाला व्यक्ति बीमारी के चंगुल में फँसता चला जाये तो आश्चर्य क्या है? माँस, मदिरा, तम्बाकू जैसे अभक्ष्य पदार्थ स्वास्थ्य की बर्बादी के अतिरिक्त रत्ती भर भी लाभ नहीं दे सकते।

स्वच्छ आहार की तरह स्वच्छ जलवायु भी नीरोगिता के लिए आवश्यक है। सड़ा-गला, विषैला भोजन हानिकारक होने की बात सभी जानते हैं पर यह भूल जाते हैं कि वायु जो अन्न से भी अधिक आवश्यक है-स्वच्छ मिलनी आवश्यक है। सीलन भरे, बिना खिड़की के, तरह-तरह की चीजों से भरे मकानों में गन्दी हवा ही रहती है। गली-कूचों में, भेड़ियों की माँद की तरह गन्दे मकानों में रहने वालों की अपेक्षा खुली हवा में पेड़ों के नीचे रहने वाले अधिक नीरोग रह सकते हैं, धूल, धुएँ, सीलन, सड़न से भरा हुआ वातावरण धन कमाने के लिए भले ही उपयुक्त हो स्वास्थ्य को दिन-दिन गलाता जायेगा। मुँह ढककर खिड़की, दरवाजे बन्द करके सोने की आदत साँस के द्वारा शरीर में विषैले तत्वों के प्रवेश का खुला निमन्त्रण है। ऐसा करने वाले नीरोग कैसे रह सकते हैं?

साँस केवल नाक से ही, मुँह से ही नहीं लेते और छोड़ते हैं। यदि चमड़ी पर कोई हवा बाहर न निकलने

वाला मजबूत लेप चढ़ा दिया जाये तो आदमी थोड़ी ही देर में बेहोश हो सकता और मर सकता है । कसे हुए कपड़ों के पर्त चढ़ाकर बने-ठने रहने वाले लोग फैशन भले ही बना लेते हों कपड़े के कसाव त्वचा को साँस लेने से रोकते हैं । बहुत कपड़े पहनना ऐसा ही है जैसे नाक पर पट्टी बाँधना । इससे चमड़ी की शक्ति क्षीण हो जाती है और सर्दी-गर्मी, जुकाम, खाँसी, लू लगने जैसी शिकायत होती रहती है । यह प्रकृति के अमूल्य उपहार प्राणवायु तथा सर्दी-गर्मी की अवज्ञा करने का ही दुष्परिणाम है, जो हमें बीमारियों के रूप में भुगतना पड़ता है । उचित यही है कि हम स्वच्छ वायु में रहें, मकानों में हवा की और प्रकाश की पूरी गुंजाइश रखें, मुँह ढक कर न सोया करें, कपड़े कम से कम तथा ढीले पहनें ।

शारीरिक श्रम इतना होना चाहिए कि पसीना बहे और हर अवयव के क्रियाशील रहने की आदत पड़ी रहे । पशु-पक्षी सारे दिन आहार की तलाश में इधर-उधर घूमते हैं और उससे कठोर काम करने की आवश्यकता पूरी कर लेते हैं । मनुष्य आरामतलबी से बैठे रहने के हलके-फुलके काम करने का आदी-आलसी होता जाता है । श्रम न करने में हाथ-पाँव जैसे बाहरी और आँतें, अमाशय, दिल, गुर्दे जैसे भीतरी अवयव कमजोर होते चले जाते हैं और बीमारियों के शिकार बनते हैं । शरीर को समर्थ, शक्तिशाली और रोग निरोधक शक्ति से पूर्ण रखने की दृष्टि से कठोर शारीरिक श्रम की नितान्त आवश्यकता है । बैठे रहने वालों को यह प्रयोजन कई मील टहलने एवं आसन व्यायाम द्वारा पूरा करना चाहिए । आरामतलब, आलसी बनकर हम सुखी रहते हैं ऐसा नहीं सोचना चाहिए । स्मरण रखना चाहिए कि श्रम रहित जीवन न तो नीरोग रह सकता है और न दीर्घजीवी बन सकता है । कठोर परिश्रम हर व्यक्ति की एक स्वाभाविक आवश्यकता है जिसकी पूर्ति करने के लिए दैनिक जीवन में समुचित स्थान रहना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में जितनी अधिक सतर्कता बरती जाये उतना ही उत्तम है । पशुओं तक में इतनी बुद्धि है कि प्रजनन की आवश्यकता पड़ने पर वे चिरकाल बाद एक बार मैथुन करते हैं । मनुष्य ने इस प्रसंग को मनोरंजन या कौतूहल का विषय बनाकर अपने को खोखला करने की मूर्खता को ही अपनाया है, जीवन-तत्व की बेहिसाब बर्बादी करने वाला कितने दिन नीरोग और सशक्त रह सकेगा । मानसिक चिन्ताएँ, उद्वेग, आवेश, भय, शोक, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष जैसे मनोविकार भी मन और देह को भीतर ही भीतर घुलाते रहते हैं, जिन्हें नीरोग जीना हो उन्हें ब्रह्मचर्य की ही भाँति मानसिक संतुलन और संतुष्ट, हँसी-खुशी का जीवन जीने की आदत डालनी चाहिए कि दिन में सारे काम निपट जायें और रात सोने के लिए मिल जाये । बहुत रात तक जागना और दिन में सोना स्वास्थ्य का महत्त्व समझने वाले को तो छोड़ ही देना चाहिए । प्रकृति का अनुसरण करके ही हम नीरोग और दीर्घजीवी बन सकते हैं । इस तथ्य को जितनी जल्दी समझ लिया जाये उतना ही अच्छा है ।

प्रश्न--

(१) वन्य जीव स्वस्थ और नीरोग क्यों रहते हैं ? (२) निरोग रहने के उपाय लिखो ? (३) उपयुक्त भोजन की परीक्षा कैसे की जाय ? (४) हमारा सर्वोत्तम भोजन क्या है ? (५) आहार में सबसे हानिकारक वस्तु क्या होती है ? (६) तले व भुने पदार्थ स्वास्थ्य के लिए हानिकारक क्यों होते हैं ? (७) स्वास्थ्य के लिए कैसा वातावरण जरूरी है ? (८) परिश्रम के क्या लाभ हैं, शारीरिक श्रम कितना किया जाए ? (९) ब्रह्मचर्य जीवन के लिए क्यों आवश्यक है ? (१०) हमारा जीवन किस प्रकार का हो ?

आहार और विहार का असंयम न बरतें

शारीरिक सामर्थ्य मानव-जीवन की एक महती आवश्यकता है, स्वास्थ्य के बिना कोई गति नहीं । धन, विद्या, पद, सम्मान आदि के उपार्जन में जो श्रम करना पड़ता है, वह अस्वस्थ व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं । दुर्बल मनुष्य को सम्बन्धी अनुपयोगी ही नहीं, कुछ समय बाद भार भी मानने लगेंगे और कुछ समय बाद परिचर्या, सहायता एवं सहानुभूति से भी हाथ खींचने लगेंगे । यह स्वाभाविक भी है । स्वयं शरीर कष्ट सहना और इन्द्रिय सुखों से वंचित रहना अस्वस्थता की ही देन है । आवश्यक कर्त्तव्यों की पूर्ति एवं महत्त्वाकांक्षाओं की दिशा में प्रगति उसके लिए सम्भव नहीं, जो अस्वस्थता के कुचक्र में फँस गया । इसलिए यह आवश्यक है कि शारीरिक समर्थता को, नीरोगिता को बनाये रखने और स्वस्थता, पुष्टता बढ़ाने के लिए समुचित सतर्कता बरती जाये ।

व्यक्तिगत रूप से शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिए (१) आहार, (२) विहार, (३) श्रम, (४) सन्तुलन की दिशा सही होना आवश्यक है । इन चारों को पलंग के चार पायों की तरह सम्बद्ध मानना चाहिए । इनमें से एक भी गड़बड़ करेगा तो अस्वस्थता की विपत्ति आ दबोचेगी । कई बार प्रारब्ध एवं परिस्थितिवश संयमी लोगों को भी दुर्बलता एवं रुग्णता के कुचक्र में फँसना पड़ता है पर वह थोड़ी-सी घटनाएँ अपवाद मात्र हैं । आमतौर से यही सिद्धान्त काम करता है कि जो स्वास्थ्य के नियमों की उपेक्षा करेगा वही अस्वस्थता का शिकार होगा । अतः हम में से प्रत्येक को इस दिशा में सतर्क रहना चाहिए ।

आहार के थोड़े से नियम हैं । भूख से आधा खाये । आधा पेट अन्न से, चौथाई पानी से और चौथाई हवा आने-जाने के लिए खाली रखें । जो ठूँसकर खाता है वह पेट पर अत्याचार करता है और अपचन को आमंत्रित

करता है । जो खाना हो नियत समय पर ही खाना चाहिए । दिनभर बकरी की तरह मुँह चलाते रहना पाचन क्रिया के साथ खिलवाड़ करना है । हाँड़ी में हर बार खिचड़ी डाल दी जाये तो खिचड़ी कुछ कच्ची, कुछ पक्की, कुछ जली, कुछ गली और वह बेकार हो जायेगी । दिन भर खाते रहने वाले ऐसी ही बेकार खिचड़ी अपने पेट में पकाते हैं और हानि उठाते हैं । भोजन स्वाद के लिए नहीं शरीर-रक्षा की औषधि समझकर ग्रहण करना चाहिए । उसका स्वाद नहीं गुण देखा जाता है । जो वस्तुएँ सुपाच्य, सात्विक हों उन्हें भी बहुत जलाये, भूने बिना, मिर्च-मसालों की भरमार किये बिना खाना चाहिए । तले हुए, चटपटे मावा और चीनी वाले गरिष्ठ नशीले और माँस जैसे अभक्ष्य पदार्थों में पैसा भी अधिक लगता है और पाचन ठीक न होने से रक्त भी विषैला बनता है । स्मरण रखने की बात है कि अपचन ही समस्त रोगों का जनक है । जिसने अखाद्य खाया, अनावश्यक खाकर अपना पेट बिगाड़ा, उसे बीमारियों के चंगुल में फँसने से कोई बचा नहीं सकता ।

जो खाया जाये मुँह में अच्छी तरह चबा लिया जाये । जल्दीबाजी में ग्रास निगलते चलने से आधा चबाया भोजन पेट का बहुत समय और श्रम लेकर पचता है । स्वच्छता पूर्वक और स्वच्छता के साथ खाया हुआ भोजन ही स्वास्थ्यकर होगा । गन्दगी के सम्मिश्रण से अच्छी वस्तुएँ भी विषैली बन जाती हैं । सड़ी-गली तथा बाजारू चीजों से बचना चाहिए । जब खाना हो प्रसन्नचित्त, सन्तुष्ट, निश्चिन्त मनोभूमि के साथ आहार को ईश्वर का प्रसाद समझकर ग्रहण करना चाहिए । असन्तुष्ट, रुष्ट, उद्विग्न मनःस्थिति में नाक-भौं सिकोड़ते, नुक्ताचीनी करते हुए खाया गया अच्छा आहार भी हानिकारक परिणाम उत्पन्न करता है । हमारे भोजन में शाक-भाजी और ऋतु फलों की भी आवश्यक मात्रा रहनी चाहिए । ये बहुत महँगे नहीं हैं पर बहुमूल्य व्यंजनों से बढ़कर लाभदायक हैं ।

जब तक पिछला भोजन न पच जाये तब तक अगला ग्रहण नहीं करना चाहिए । किसी कारण पेट में अपच हो तो एक समय का भोजन तुरन्त बन्द कर देना चाहिए । सप्ताह में एक बार आधा दिन या पूरे दिन के लिए पेट को छुट्टी दे दी जाये, उपवास कर लिया जाये तो स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए यह बहुत लाभदायक सिद्ध होगा । उपवास का अर्थ है नियत अवधि तक पानी के अतिरिक्त और कुछ न लेना । आजकल की तरह फलाहार के नाम पर ही अल्लम-गल्लम ठूँसते रहने वाले उपहासास्पद उपवास स्वास्थ्य की दृष्टि से निरर्थक ही नहीं हानिकारक भी होते हैं । उपवास का उद्देश्य पेट को विश्राम देना है । उसमें पानी, ठण्डाई या नीबू की शिकंजी जैसा कोई हलका पेय ही चल सकता है ।

थाली में कम से कम किस्म के भोजन रहें । खाद्य पदार्थों की भरमार से थाली सजाना, मेहमानदारी, चटोरेपन या अमीरी का दिखावा भले ही कर लें, पाचन की दृष्टि से उसमें केवल हानि ही हानि है । अपने देश में भोजन पकाने में इतना अधिक अग्नि सम्पर्क किया जाता है कि आहार के पोषक तत्व ही जल जाते हैं और खाने वाले को मूल पदार्थ का कोयला ही हाथ लगता है । मिष्ठान्न और पकवान, दूध और अन्न जैसे पदार्थों के जीवन को नष्ट करके जलाये, भूने पदार्थों में कुछ पोषण शेष नहीं रह जाता । इसलिए उचित यही है कि कम से कम अग्नि सम्पर्क पकाने के समय किया जाये । जो शाक-भाजी, फल बिना पकाये खाये जा सकते हैं, उन्हें उसी तरह खाना चाहिए । जिनका छिलका खाया जा सकता है उन्हें छिलका समेत लेना चाहिए । क्योंकि पोषक तत्वों की अधिकता छिलके में ही होती है । आटा और दाल भी छिलका समेत लेना चाहिए । चीनी के बजाये गुड़ में कुछ जान बची रहती है । जिन्हें पकाना हो उन्हें उबाल भर लेना चाहिए । दलिया, चावल, खिचड़ी, शाक आदि सब भाप के द्वारा (कुकर पद्धति से) पकाये जायें तो उनमें पोषण बना रहेगा । सद्भावना वाले व्यक्तियों द्वारा पकाया, परोसा और हँसी-खुशी के वातावरण में मिल-जुलकर खाया हुआ सस्ता भोजन भी स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत उपयोगी सिद्ध होता है । आहार सम्बन्धी इन मुख्य नियमों की आदत डाल ली जाय तो समझना चाहिए कि शारीरिक समर्थता की पहली मंजिल पार कर ली ।

आहार के बाद विहार का नम्बर आता है । विहार का अर्थ है नियमित एवं व्यवस्थित आचरण । स्वास्थ्य की दृष्टि से नियमितता का भारी महत्त्व माना गया है । नियत समय पर सोना, जागना, नहाना आवश्यक है । नित्य कर्मों में बरती जाने वाली अस्त-व्यस्तता एवं अनियमितता स्वास्थ्य को चौपट करके रख देती है । कई व्यक्ति बड़े आलसी और लापरवाह होते हैं, अपनी दिनचर्या का कोई क्रम नहीं रखते । चाहे जब, चाहे जो करने की आदत शरीर रक्षा की दृष्टि से एक गम्भीर खतरा है ।

दिन काम करने और रात सोने के लिए है । नौ-दस बजे से अधिक नहीं जागना चाहिए और प्रातः सूर्योदय से पूर्व उठ जाना आवश्यक है । उठते ही मल-मूत्र विसर्जन की नित्य क्रिया करनी चाहिए । जब टट्टी लगेगी तब जायेंगे की नीति बहुत बुरी है । आदतों का शरीर क्रम पर बड़ा प्रभाव पड़ता है । मल विसर्जन, शारीरिक स्वच्छता और भोजन आदि का समय यदि कोई निर्धारित नहीं है, तो पाचन-यन्त्रों की क्रिया में अवश्य ही व्याघात पड़ जायेगा । जब फुरसत मिले तब खाने की आदत पेट को खराब कर देती है । सतर्क और समझदार लोग शारीरिक क्रियाएँ समय पर करने का पूरा ध्यान रखते हैं और इस प्रकार अपने आरोग्य को नष्ट होने से बचाते हैं ।

दिनचर्या को व्यवस्थित बना लेना आरोग्य-रक्षा की गारण्टी है । प्रातः उठने से लेकर रात को सोने तक की क्रमबद्ध विधि-व्यवस्था बनी रहनी चाहिए । समय का विभाजन जिस क्रम से किया जाये, कार्य-पद्धति जैसी भी निर्धारित की जाये, उसे कड़ाई से पालन किया जाये । शौच स्नान, व्यायाम भोजन, व्यवसाय, अध्ययन, खेल, शयन

आदि की कार्यपद्धति निर्धारित क्रम से चलती रहे तो शरीर की आन्तरिक प्रणाली एक ढंग पर चलने लगती है और हर कार्य बिना किसी अड़चन के सहज और सुचारू रूप से होता चलता है । इस प्रकार की व्यवस्था का स्वास्थ्य पर बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ता है और वह देर तक कार्यक्षम बना रहता है ।

संयम में ब्रह्मचर्य की बात गाँठ बाँध रखने की है । शक्तियों का कोटा सीमित है । उसे बहुत ही सोच-समझ कर खर्च करना चाहिए । आमदनी कम और खर्च अधिक करने वाले दिवालिया बनते हैं । ऐसा न हो कि हम अति उत्साह में असंयम की दिशा में दौड़ पड़ें और इन्द्रिय वासनाओं की अग्नि में अपने बहुमूल्य जीवन-तत्वों को जलाने लगें । विशेषतया कामेन्द्रियों और सम्बन्धित मनोविकारों पर तो कड़ाई का अंकुश रखना चाहिए । आहार की तरह विहार पर भी यदि सचमुच ध्यान रखा जा सके तो निःसन्देह हम स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से बहुत हद तक सफल हो सकते हैं ।

प्रश्न—

(१) 'शारीरिक-सामर्थ्य' बनाये रखना हमें क्यों आवश्यक है ? (२) अस्वस्थ रहने के कारण हमें क्या-क्या हानियाँ हैं ? (३) शारीरिक स्वास्थ्य रक्षा के लिए कौन-कौन से कार्य हमें करने चाहिए ? (४) आहार के क्या नियम हमें पालन करने चाहिए ? (५) आहार हमें किस दृष्टि से ग्रहण करना चाहिए ? (६) किस तरह की वस्तुएँ खानी चाहिए, किस तरह की नहीं तथा हमारी मनोवृत्ति उस समय किस तरह की होनी चाहिए ? (७) एक बार भोजन करने के बाद फिर भोजन कब और कैसे करना चाहिए ? (८) भोजन किस तरह से किया जाना चाहिए ? (९) आहार के सिवाय और किस पर नियन्त्रण रखा जाना चाहिए ? (१०) नियमित दिनचर्या किस प्रकार श्रेष्ठ, शक्तिशाली बनाती है ?

संयम बरतें, सुखी रहें

मनुष्य के शरीर और मन में शक्तियों का अकूत भंडार भरा पड़ा है । उनको नष्ट होने से बचाया जा सके और उस बचत का सदुपयोग किया जा सके तो अभीष्ट दिशा में आशाजनक सफलताएँ प्राप्त की जा सकती हैं । इस तथ्य को न समझकर हम अपनी बहुमूल्य शक्तियों का निरर्थक अपव्यय करते रहते हैं और ईश्वर प्रदत्त शक्ति भंडार को खोकर खोखला, रुग्ण, अशक्त और असफल जीवन जीते हुए मौत के दिन पूरे करते हैं ।

शरीर और मन अपने-अपने आहारों द्वारा शक्तियों का निरन्तर उत्पादन करते रहते हैं और हमारा सामर्थ्य भण्डार निरन्तर बढ़ता रहता है । इस उत्पादन को यदि अपव्यय से बचाया जा सके और उसे रचनात्मक दिशा में प्रयुक्त किया जा सके तो निस्सन्देह किसी भी दिशा में आशाजनक प्रगति का सुयोग मिल सकता है ।

संयम का अर्थ है—शक्तियों के अपव्यय को रोकना । यह अपव्यय अधिकतर हमारी इन्द्रियों द्वारा होता है । इन्द्रियों में दो प्रमुख हैं—एक जीभ दूसरी जननेन्द्रिय । जीभ के द्वारा हम निरर्थक बकवास करते रहते हैं । निन्दा, चुगली शेखी तथा गप्पे हाँकने में जिह्वा की बहुत भारी शक्ति का अपव्यय होता है । असत्य और कटु न बोलने का जिह्वा संयम यदि बरता जा सके तो हमारी वाणी इतनी प्रभावशाली हो सकती है कि उसका दूसरों पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़े और वरदान, आशीर्वाद देने की क्षमता उत्पन्न हो जाये । निरर्थक बकवास से हमारा मनोबल नष्ट होता है । वाचाल व्यक्ति की अन्तरंग क्षमता खोखली होती जाती है और वह एक दिन विदूषक मात्र रह जाता है । मौन को तप माना गया है । तपस्वियों जैसा मौन तो हर किसी के लिए सम्भव नहीं पर इतना तो कोई भी कर सकता है कि अनर्गल बकवास पर नियन्त्रण करे और उतना ही नपा-तुला बोले जो अपने तथा दूसरों के लिए आवश्यक एवं हितकर हो ।

जिह्वा का दूसरा असंयम है—चटोरापन । विकृत जायके के लिए हम अवांछनीय अभक्ष्य पदार्थ खाते रहते हैं । स्वाद का आकर्षण आवश्यकता से अधिक मात्रा में खाने के लिए ललचाता है । यह बढ़ी हुई मात्रा पेट पर भार बनती और उसे दिन-दिन दुर्बल करती चली जाती है, मसाले एक प्रकार के मन्द विष हैं । वे जीभ, पेट, आँतें और उदर के हर हिस्से को जलाते हैं । उत्तेजना में आदमी खा तो अधिक जाता है पर मात्रा से अधिक पचावे कौन ? धीरे-धीरे अपच बढ़ता जाता है और पाचन-तन्त्र इतना कमजोर बन जाता है कि स्वल्प मात्रा में आहार पचाना भी कठिन पड़ता है । यहीं से दुर्बलता और रुग्णता की नींव पड़ती है । बिना पचा भोजन पेट का भार मात्र है । वह शक्ति पैदा न कर सकेगा तो दुर्बलता बढ़ेगी ही । अपच के कारण पेट में जो विषैली सड़न पैदा होती है, वही शरीर के विभिन्न अंगों में पहुँचकर वहाँ विभिन्न रोगों को उत्पन्न करती चली जाती है और व्यक्ति व्यथा, पीड़ाएँ भोगता हुआ अकाल में ही काल-कवलित होता है ।

लुकमान सच कहते थे कि—"आदमी अपनी जीभ से अपने मरने-गड़ने के लिए कब्र खोदता है ।" जीभ यदि काबू में हो तो मिठाई, खटाई, मिर्च और मसाले हमारे ऊपर क्यों सवार हों और तरह-तरह के व्यंजन, पकवान, अचार-चटनी की लपक क्यों लगे ? लोग समझते भर हैं कि हमने जायकेदार और कीमती चीजें खाकर मजा उठाया पर वस्तुतः यह अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारने की तरह है । यदि हम जायके को महत्त्व न दें और केवल गुण एवं लाभ को ध्यान में रखते हुए औषधि की तरह सात्विक आहार करें तो पेट खराब न हो और दुर्बलता एवं रुग्णता का शिकार न होना पड़े । यह जीभ ही है, जो जायके और चटोरेपन की शिकार बनकर हमारे स्वास्थ्य, आनन्द और दीर्घजीवन पर कुठाराघात करती है ।

जननेन्द्रिय का संयम और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । शरीर जो कुछ उपलब्ध करता है, उसका सार तत्व-दूध में से घी की तरह बचाता है । इसी का नाम शुक्र, वीर्य और अन्ततः ओजस् है । चेहरे पर चमक, वाणी में प्रभाव, आँखों में ज्योति, मस्तिष्क में मेधा स्वभाव में साहस इसी तत्व का प्रतिफल है । देह में यह थोड़ी-सी बूँद रहती है पर वे समग्र प्रतिभा के रूप में प्रकाशवान बनती हैं । इसमें इतनी सामर्थ्य है कि अपने जैसे कितने ही नये मनुष्य विनिर्मित कर सकें । इस आश्चर्यजनक शक्ति को सर्प की मणि की तरह कहा जा सकता है । कहते हैं कि सर्प अपनी मणि जब खो बैठता है, तब उसकी देह निर्जीव जैसी बन जाती है । मनुष्य की भी यही स्थिति है । इस सार तत्व का जितना भी अपव्यय करता है, वह शारीरिक और मानसिक दृष्टि से उतना ही दुर्बल बनता चला जाता है । कामुक व्यक्ति न नीरोग रह सकते हैं और न दीर्घजीवन का आनन्द ले सकते हैं । उन्हें अनेक रोग घेरे रहते हैं और मनस्विता गँवाकर दीन, दुर्बल, कायर, भीरु, अस्थिर और अन्यमनस्क बनते चले जाते हैं । ब्रह्मचर्य की दिशा में असंयम बरतने वाले रुग्ण और दुर्बल सन्तान ही उत्पन्न करेंगे । कामुकता पर अंकुश लगाना ब्रह्मचर्य का समुचित ध्यान रखना, जननेन्द्रिय का संयम बरतना हर विचारशील व्यक्ति के लिए आवश्यक है । जिसे शारीरिक परिपुष्टता, दीर्घजीवन और समर्थ मनस्विता की आवश्यकता है, उसे यह तथ्य गाँठ बाँध लेना चाहिए कि शरीर के सार-तत्व को खिलवाड़ का विषय न बना लें । सन्तान वृद्धि की जितनी आवश्यकता हो उसके अनुरूप वासना में ढील दें, अन्यथा इस दिशा में आवश्यक मर्यादाओं का निरन्तर पालन करता रहे । विवाह का उद्देश्य दो आत्माओं का पवित्र गठबन्धन और एक-दूसरे के शारीरिक, मानसिक सार-तत्व को नष्ट-भ्रष्ट करने में जुट जाने का नाम विवाह-मैत्री नहीं है । यह तो प्रत्यक्ष शत्रुता है ।

दाम्पत्य-जीवन के बाहर का दुराचार तो अति कुत्सित है । अप्राकृतिक दुर्बुद्धि का लुक-छिपकर प्रयोग आज नवयुवकों में बहुत बढ़ चला है । इस दुर्व्यसन से वे कलियाँ असमय ही मुरझा जाती हैं । जवानी का आरम्भ भी नहीं हुआ कि बुढ़ापे ने आ घेरा । कितने ही नासमझ लड़के 'जिस डाल पर बैठना उसी को काटना' की दुर्बुद्धि चरितार्थ करते रहते हैं । इन्हें सिखाया जाना चाहिए कि जीवन रस को फुलझड़ी समझकर उसे जलाने का कौतूहल न बरतें यह खतरनाक खेल है, जिसकी कीमत आगे चलकर भारी पश्चाताप के साथ चुकानी पड़ेगी । इसी प्रकार नर-नारी के बीच पवित्र सम्बन्धों की पुण्य-परम्परा में विष घोलना हर दृष्टि से अवांछनीय है । प्रेम और मैत्री का अर्थ कामुकता नहीं है । शुभचिन्तक और हितैषी होने का अर्थ अपने प्रिय पात्र का चरित्र गिराना और उसे अपने गृहस्थ-जीवन के प्रति अनास्थावान बनाना नहीं है । नर और नारी में भी पवित्र प्रेम हो सकता है । इसमें कोई दोष नहीं, पर जब यह मैत्री कामुकता से विपाक्त होने लगे तो समझना चाहिए कि वह सद्भावना की आड़ में दुष्ट प्रयोजन खुलकर खेल रहे हैं । अच्छा हो, नर-नारी के बीच पनपने वाली मित्रता विपाक्त होने से बची रहे और उसके दूरगामी दुष्परिणामों से व्यक्ति और समाज को कुफल न भोगने पड़ें ।

अन्य इन्द्रियाँ भी ऐसी ही हैं, जिन्हें संयम की शिक्षा मिलनी चाहिए । आँखों में शुद्ध सौन्दर्य की आकांक्षा तो बनी रहे पर कामुकता की दुर्भावना से चारों ओर बिखरे सौन्दर्य को न निहारें । इससे मिलने वाला कुछ नहीं, केवल आन्तरिक शक्ति नष्ट होगी और अकारण उद्विग्नता बढ़ेगी । मन कलुषित होगा, कुमार्ग पर कदम बढ़ेंगे और अन्ततः पतन के पथ पर लुढ़क पड़ने का अवसर आ जायेगा । आँखों के लिए यही उपयुक्त है कि वे सौन्दर्य को उत्कृष्ट आध्यात्मिकता की पवित्र दृष्टि से देखें और हर घड़ी प्रमुदित और सन्तुष्ट रहने की ही स्थिति प्राप्त करें । कान शृंगार और अश्लीलता सुनने के लिए लालायित न रहें । निन्दा, चुगली में रस न लें, बहुत कुछ आवश्यक तथ्य सुनने के लिए शेष हैं, उन्हीं के लिए प्रवृत्ति क्यों न मोड़ी जाये ? नासिका माँस-मदिरा जैसे अभक्ष्यों की दुर्गन्ध को सहन क्यों करे ? नासिका की स्वाभाविक प्रीति स्वच्छता और सत्विकता को पसन्द करने में है । अच्छा हो हमारी नासिका सही पथ प्रदर्शन करने में समर्थ बनी रहे ।

संयम अर्थात् शक्तियों का संचय । असंयम अर्थात् सामर्थ्य की बर्बादी । यह मोटा तथ्य है कि बर्बादी का अवलम्बन करने वाला एक दिन दिवालिया बन जाता है और जो थोड़ा-थोड़ा बचाता रहता है, उसकी सम्पदा समय-समय पर अनेक सुविधाएँ प्रस्तुत करती हैं । इन्द्रियों का संयम अपने आपको बर्बादी से बचाकर समृद्धि की ओर अग्रसर करने का बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयास है । इसी में हम सब का कल्याण है ।

प्रश्न--

(१) संयम का अर्थ समझाते हुए उसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए ? (२) संयम कितने प्रकार का होता है ? (३) किसी संयम के प्रकार एवं लाभ बताओ ? (४) अपच का मूल कारण क्या है ? (५) ब्रह्मचर्य के महत्त्व पर प्रकाश डालिए । (६) दृष्टि-संयम से क्या लाभ है ? (७) श्रवण-संयम का तात्पर्य क्या है ? (८) नासिका संयम का ध्यान कैसे रखा जाय ? (९) समृद्धि का सदुपयोग क्या है ? (१०) सबके कल्याण का राज मन्त्र क्या है ?

हम अस्वच्छ न रहें, घृणित न बनें

अस्वच्छता मनुष्य की आन्तरिक और गई-गुजरी स्थिति का परिचय देती है । गन्दा आदमी यह प्रकट करता है कि उसे अवांछनीयता हटाने और उत्कृष्टता बनाये रखने में कोई रुचि नहीं है । लापरवाह, आलसी और प्रमादी ही गन्दे देखे गये हैं । जो अवांछनीयता से समझौता करके उसे

गले से लगाये रह सकता है, वही गन्दा भी रह सकता है। गन्दगी देखने में सबको बुरी लगती है और उस व्यक्ति के प्रति सहज ही घृणा बुद्धि उत्पन्न करती है। गन्दे को कौन अपने समीप बिठाना चाहेगा ? दुर्गन्ध से किसे अपनी नाक, मलीनता से किसे अपनी आँखें और हेय प्रवृत्ति को देखकर कौन अपनी मनोदशा क्षुब्ध करना चाहेगा। जिन्हें तिरस्कार, अपमान, घृणा, असहयोग, उपेक्षा और निन्दा प्राप्त करनी हो, दूसरों की आँखों में अपना स्तर गया-गुजरा सिद्ध करना हो उनके लिए सरल मार्ग खुला पड़ा है-गन्दा रहना शुरू कर दें। उपरोक्त सभी अभिशाप उन्हें सहज ही तुरन्त मिलने आरम्भ हो जायेंगे।

गन्दगी स्वास्थ्य की दृष्टि से अतीव हानिकारक है। उसे बीमारी का सन्देशवाहक कह सकते हैं। जहाँ गन्दगी रहेगी वहाँ बीमारी जरूरी पहुँचेगी। गन्दगी से बीमारी को बहुत प्यार है। फूलों को तलाश करती हुई तितली जिस प्रकार फूल पर जा पहुँचती है, उसी तरह जहाँ गन्दगी फलफूल रही होगी वहाँ बीमारी भी खोज, तलाश मिलाती हुई जरूरी पहुँच जायेगी। बीमारी भी गन्दगी पैदा करती है यह ठीक है पर यह निश्चित है कि जो गन्दे हैं वे स्वस्थ न रह सकेंगे। जिन्हें बीमारी से प्यार हो उन्हें गन्दा रहना शुरू कर देना चाहिए।

मनुष्य की मूल प्रकृति गन्दगी के विरुद्ध है, इसलिए किसी व्यक्ति या पदार्थ को गन्दा देखते हैं तो अनायास ही घृणा उत्पन्न होती है वहाँ से दूर हटने का जी करता है। अस्तु, जिन्हें मनुष्यता का ज्ञान है उन्हें गन्दगी हटाने का स्वभाव अपनी प्रकृति में अनिवार्यतः जोड़ लेना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं-इस दृष्टि से भारत जैसे- उष्ण देश में हर किसी के लिए खुरदरे तौलिये से रगड़-रगड़कर दिन में एक बार तो स्नान करना आवश्यक है। दो लोटे पीठ पर लुढ़का लैने और गीले बदन ही कपड़े बदल लेने की बेगार भुगतना, न नहाने से भी बुरा पड़ता है। उससे देह का मैल छूटता नहीं वरन्. पानी पड़ने से और भी अधिक फूलता-सड़ता है। नहाना हो तो इस तरह नहाना चाहिए कि शरीर का एक भी गुप्त या प्रकट अंग खुरदरे तौलये से भली प्रकार रगड़-रगड़कर इतना साफ कर लिया जाये कि चमड़ी पर थोड़ी लालिमा उभर आये। सर्दी के दिनों में बन्द स्नान घर में नहाया जा सकता है। कमजोर व्यक्ति, गरम पानी ले सकते हैं। बीमारों का भीगे तौलिए से रगड़कर भी काम चल सकता है। हर हालत में हर व्यक्ति को स्वच्छता के लिए स्नान आवश्यक मानना चाहिये। चेचक जैसे रोगों में मजबूरी उत्पन्न हो जाये तो बात दूसरी है, नहीं तो बीमारों को भी चिकित्सक के परामर्श से स्वच्छता का कोई न कोई रास्ता जरूर निकालते रहना चाहिए।

अन्य सभी इन्द्रियों के छिद्रों को भली-प्रकार साफ किया जाना चाहिए अन्यथा वहाँ मैल जमने और सड़ने लगेगा। मुँह की सफाई बहुत ध्यान देने योग्य है। जीभ पर मैल की एक पर्त जमने लगती है और दाँतों की झिरी में अन्न के कण छिपे रहकर सड़न पैदा करते हैं। मुँह से बदबू आने के यह दो ही प्रधान कारण हैं। सबेरे कुल्ला करते समय दाँतों को भली प्रकार साफ करना चाहिए। जितने बार कुछ खाया जाये उतने ही बार कुल्ला करना चाहिए और रात को सोते समय तो जरूर ही मुँह की सफाई कर लेनी चाहिए। इससे दाँत अधिक दिन टिकेंगे, मुँह में बदबू न आयेगी और लोगों को पास बैठने पर दूर हटाने की आवश्यकता न पड़ेगी।

कपड़े जो शरीर को छूते हैं उन्हें विशेष ध्यान देकर साबुन से रोज धोना चाहिए। बनियान, अण्डरवियर, धोती, पाजामा आदि पसीना सोखते रहते हैं और रोज साबुन तथा धूप की अपेक्षा करते हैं। कोट जैसे कपड़े जिनका पसीने से सम्पर्क नहीं होता, नित्य धोने से छूट पा सकते हैं। भारी बिस्तरों को धोना तो कठिन पड़ेगा पर शरीर छूने वाले चादरें जल्दी-जल्दी बदलते रहना चाहिये और बिस्तर को कड़ी धूप में हर रोज सुखाना चाहिए।

घर के बर्तन इस तरह नहीं रहने चाहिए जिन पर चूहे और छिपकली पेशाब करें और उस जहर से अप्रत्यक्ष बीमारियाँ शरीरों में घुस पड़ें। खुले हुए खाद्य पदार्थ में कीड़े-मकोड़े घुसते हैं। इसलिए हर खाने में काम आने वाली वस्तु दबी-ढकी रहनी चाहिए। कपड़े, बर्तन, फर्नीचर, किताबें, जूते तथा अन्य सामान यथास्थान रखा हो तो ही सुन्दर लगेगा अन्यथा बिखरी हुई अस्त-व्यस्त चीजें कूड़े और गन्दगी की ही शक्ल धारण कर लेती हैं, भले ही वे कितनी ही मूल्यवान हों। जिस वस्तु को झाड़ते-पोंछते न रहा जायेगा वह धूल के पर्त में जमा होने तथा लगातार ऋतु प्रभाव सहते रहने से मैली, पुरानी हो जायेगी। हर चीज सफाई, मरम्मत और व्यवस्था चाहती है। घर का हर पदार्थ हमसे यही आशा करता है कि उसे स्वच्छ और सुव्यवस्थित रखा जाये। जिन्हें स्वच्छता से सच्चा प्रेम है वे शरीर का शृंगार करके ही न बैठ जायेंगे वरन जहाँ रहेंगे वह हर पदार्थ की शोभा, स्वच्छता एवं सुसज्जा का ध्यान रखेंगे। मकान की टूट-फूट और लिपाई-पुताई का, किवाड़ों की रँगाई का ध्यान रखा जाये तो उसमें बहुत पैसा खर्च नहीं होता। थोड़ा-थोड़ा समय बचाकर घर के लोग मिल-जुलकर यह सब सहज ही एक मनोरंजन की तरह करते रह सकते हैं और घर- परिवार में शरीर और वस्त्रों में मानवोचित स्वच्छता का दर्शन हो सकता है। कलाकारिता, स्वच्छता से आरम्भ होती है। अवांछनीयता को अस्वीकार करने की प्रवृत्ति का अभिवर्द्धन शरीर से आरम्भ होकर वस्त्रों तक और मन से लेकर व्यवहार तक की स्वच्छता तक विकसित होता चला जाता है और इस अच्छी आदत के सहारे परम सौन्दर्य से भरे हुए इस

विश्व में भगवान ही प्रकाशवान कलाकारिता को देखकर आनन्दविभोर रहता हुआ पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है ।

अपने यहाँ मल-मूत्र सम्बन्धी गन्दगी के लोग बुरी तरह अभ्यस्त हो गये हैं । पुराने ढंग के पाखानों में फिनायल, चूना आदि न पड़ने से उनमें भारी दुर्गन्ध आती है । बच्चों को नालियों पर गलियों में टट्टी कराके रास्ते दुर्गन्धपूर्ण एवं जी मिचलाने वाले बना दिये जाते हैं । घरों के आगे लोग कूड़े का ढेर लगा देते हैं । पेशाब ऐसे स्थानों पर करते रहते हैं जहाँ सार्वजनिक आवागमन रहता है । सफाईकर्मी के भरोसे सब कुछ निर्भर रहता है । यह नहीं सोचते कि मल-मूत्र आखिर है तो हमारे ही शरीर का, उसकी स्वच्छता के लिए कुछ काम स्वयं भी करें और सफाईकर्मी के काम में सहयोग देकर स्वच्छता बनाये रखने का अपना कर्त्तव्य निबाहें । देहातों में तो और भी बुरी दशा का वातावरण गन्दगी, दुर्गन्ध और अस्वास्थ्यकर घृणास्पद दृश्यों से भरा रहता है । कूड़े और गोबर के ढेर जहाँ-तहाँ लगे रहते हैं और उसकी सड़न सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए संकट उत्पन्न करती रहती है । इस दिशा में विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए । सोख्ता पेशाबघर, सोख्ता नालियाँ तथा गड्ढे खोदकर लकड़ी के शौचालय बहुत सस्ते में तथा बड़ी आसानी से बनाये जा सकते हैं । गाँव में पानी का लोटा साथ ले जाने की तरह यदि एक खुरपी भी लोग साथ ले जाया करें और छोटा गड्ढा खोदकर उसमें टट्टी होने के उपरान्त गड्ढे को ढक दिया करें, तो जमीन को खाद भी मिले और गन्दगी के कारण उत्पन्न होने वाली शारीरिक, मानसिक और सामाजिक अवांछनीयता भी उत्पन्न न हो ।

स्वच्छता मानव जीवन की सुरुचि का प्रथम गुण है । हमें अपने शरीर, वस्त्र, उपकरण एवं निवास की स्वच्छता का ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे अपने को सन्तोष और दूसरों को आनन्द मिले । निर्मलता, नीरोगता, निश्चिन्तता और निर्लिप्तता के आधार पर उत्पन्न की गई आत्मा की पवित्रता हमें ईश्वर से मिलाने का पथ प्रशस्त करती है । स्वच्छता को हम अनिवार्य मानें और अस्वच्छता का निष्कासन निरन्तर करते रहें, यही हमारे लिए उचित है ।

प्रश्न–

(१) गन्दा आदमी किस कारण घृणित माना जाता है ? (२) बीमारी किस जगह में अधिक होती है ? (३) हमें भारतवर्ष में स्नान किस तरह करते रहना चाहिए ? (४) अपने दाँतों को अधिक टिकाने और मुँह में बदबू न आने देने के लिए हमें क्या करना चाहिए ? (५) अपने कपड़े, जिन्हें हम रोज व्यवहार में [illegible] किस प्रकार स्वच्छ किये जाने चाहिए ? (६) अपने घरों [illegible] ७) मलमूत्र [illegible] चाहिए ?

ढलती आयु का उपयोग इस तरह करें

भारतीय परम्परा के अनुरूप मानव-जीवन चार भागों में विभक्त है । इस विभाजन को चार आश्रम कहते हैं । मनुष्य की यदि सौ वर्ष पूर्ण आयु मानी जाये तो इसमें से २५ वर्ष ब्रह्मचर्य, विद्याध्ययन और शरीर पुष्टि के लिए । २५ वर्ष पारिवारिक उत्तरदायित्वों को निबाहने के लिए । २५ वर्ष परिवार को स्वावलम्बी, सुसंस्कृत बनाने की देखभाल रखते हुए आत्म-विकास एवं लोक-मंगल की संयुक्त साधना के लिए तथा अन्तिम २५ वर्ष घर-परिवार की मोह, ममता से छुटकारा पाकर परिभ्रमण करते हुए विश्व-मानव के लिए, परमात्मा के लिए अपना पूर्णतया समर्पण करने के लिए है । इन चार अवधि विभाजन को चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास कहते हैं । यह ऐसा संतुलित विभाजन है कि जब तक उसे क्रियान्वित किया जाता रहा यह देश संसार वासियों की दृष्टि में स्वर्ग और इस देश का नागरिक देवता की तरह आदर्श एवं अभिनन्दनीय माना जाता रहा । जीवन का यह विभाजन-क्रम प्राचीनकाल की तरह आज भी आवश्यक एवं उपयोगी है ।

यह सभी जानते हैं कि जीवन का आरम्भिक चौथाई भाग शारीरिक और मानसिक विकास के लिए है । संयम, व्यायाम, विद्याध्ययन, अनुशासन आदि सत्प्रवृत्तियों में निरत रहकर ब्रह्मचारी वर्ग भावी जीवन की आधारशिला सुदृढ़ करता है । जिसने यह मूल्यवान समय उच्छृंखलता में गँवा दिया वह शेष सारा जीवन रोते-कलपते ही गुजारेगा । युवावस्था उपार्जन, उत्पादन, अभिवर्द्धन एवं स्थिरता उत्पन्न करने के लिए है । जो विवाह करना आवश्यक समझते हों और उसके लिए अपने को सुयोग्य, समर्थ मानते हों, वे ऐसा कर सकते हैं अन्यथा माता-पिता, भाई-बहिन तथा समाज के अन्य दुर्बल परिस्थिति वालों की सहायता करने में उस आयु को नियोजित किया जा सकता है । विवाह उचित तो है पर अनिवार्य नहीं । गृहस्थ जीवन का अर्थ विवाह नहीं वरन् पारिवारिक सुव्यवस्था के लिए अपना कर्तव्य एवं अनुदान प्रस्तुत करना है । ब्रह्मचर्य की अवधि में जो शक्तियाँ प्राप्त की थीं, उनका उपयोग अपनी तथा दूसरों की परिवार संस्था के विकास में किस तरह किया जा सकता है, यही गृहस्थ जीवन की साधना है ।

व्यक्तिगत जीवन की दृष्टि से यह आधा जीवन अपने व्यक्तित्व और परिवार के लिए नियोजित है । यों उसमें भी जीवनोद्देश्य की पूर्ति के लिए समय-समय पर बहुत कुछ करते रहा जा सकता है । इसके उपरान्त वानप्रस्थ की स्थिति आती है । उसमें समर्थ और वयस्क बच्चों को स्वावलम्बी बनाना चाहिए । बूढ़े लोग अपना ही आधिपत्य नियन्त्रण घर-परिवार पर बनाये रहें तो बच्चे अनुभवहीन और अनुत्तरदायी बने रहेंगे और बूढ़ों के न रहने पर भारी

कठिनाई अनुभव करेंगे। नवयुवकों में जोश तो बहुत होता है पर अनुभव के अभाव में वे अक्सर भूल करते रहते हैं। इसलिए परामर्श, मार्ग-दर्शन एवं देखभाल की आवश्यकता बड़े लोग पूरी करते रहें, बाकी काम उन्हें करने और सँभालने दें। बड़े बच्चे अपने छोटे भाई-बहिनों को सँभालें। इस प्रकार व्यवस्था बना देने पर जो समय और मस्तिष्क बचे उसे अपनी आध्यात्मिक समर्थता बढ़ाने के लिए साधना, स्वाध्याय, संयम एवं सेवा में लगाना चाहिए। यही पूर्णता के लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ने की तैयारी है। ब्रह्मचर्य अवधि में लौकिक जीवन की प्रगति एवं स्थिरता के लिए तैयारी की गई थी। वानप्रस्थ में आध्यात्मिक जीवन की, परमात्मा, विश्व-मानव की सेवा-साधना करने के लिए अग्रसर होते हैं। यह अति महत्त्वपूर्ण समय है इसमें बच्चे भी सुयोग्य बनते हैं, अपनी आन्तरिक प्रगति का भी अवसर मिलता है और उस अवधि में लोक-मंगल के वे महत्त्वपूर्ण कार्य बन पड़ते हैं, जिनके ऊपर किसी समाज या राष्ट्र की वास्तविक प्रगति निर्भर रहती है।

जीवन का लक्ष्य पूर्णता प्राप्त करना है। अपूर्णताएँ, मानवीय दुर्बलताएँ, आत्म-निरीक्षण, आत्म-शोधन, आत्म-सुधार एवं आत्म-विकास के चार आधारों पर अवलम्बित हैं। चिन्तन और मनन के द्वारा आत्म-निरीक्षण और आत्म-समीक्षा अपनी दोष-दुर्गुणों को प्रकाश में लाती है। आत्म-सुधार के लिए शरीरगत बुरी आदतों और मनोगत दुष्प्रवृत्तियों से संघर्ष करके पुराने क्रम में आमूलचूल परिवर्तन करना पड़ता है। तपश्चर्या इसे ही कहते हैं। तप साधना का यही उद्देश्य है। यह वनवास की तरह घर में रहकर भी की जा सकती है। वानप्रस्थ इसी प्रयोजन के लिए है। लोक-मंगल में सेवा-संदर्भ में संलग्न रहने से आत्म-विकास होता है। जिस स्वार्थपरता के साथ हम अपने निजी प्रयोजनों में अब तक लगे रहें, उसी तत्परता के साथ लोक-मंगल और परमार्थ प्रयोजन में रस लेने लगे तो समझना चाहिए कि आत्म-विकास की प्रक्रिया चल पड़ी। अपनेपन की परिधि से निकलकर विश्व-मानव की सेवा में अपने समय, मन तथा धन को नियोजित करना होता है। वानप्रस्थ-साधना का यही क्रम है और भारतीय परम्परा के अनुरूप हमारा ढलता जीवन-पचास से पचहत्तर तक की आयु इसी में नियोजित होनी चाहिए।

व्यक्ति और समाज दोनो के ही कल्याण की दृष्टि से वानप्रस्थ की उपयोगिता असाधारण है। इससे समय रहते बड़े बच्चे सुयोग्य बन जाते हैं और अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व को समझने, निबाहने लगते हैं। उनमें जिम्मेदारी की भावना बढ़ती है और अनुभवी बनते हैं। यह व्यावहारिक प्रशिक्षण युवा बालकों को न मिले और वे देर तक परावलम्बी बने रहें तो आगे चलकर उन्हें उत्तरदायित्व सम्हालने, निबाहने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। परिवार को स्वावलम्बी बना देना–उसकी एक बड़ी सेवा है। उसमें छोटे बच्चे भी अपने जिम्मेदारी अनुभव करने लगते हैं और वे बिगड़ते नहीं।

उपरोक्त प्रकार की व्यवस्था बनाकर ढलती आयु के हर व्यक्ति को स्वाध्याय, उपासना और आत्म-शोधन की तपश्चर्या के लिए समय निकालना चाहिए और लोक-मंगल की साधना में नियमित रूप से कम से कम चार घण्टा समय देना चाहिए। प्रातः और सायंकाल का समय व्यक्तिगत साधना के लिए और दिन का बचा समय लोक-मंगल की सेवा प्रक्रिया में लगाने के लिए नियुक्त रहना चाहिए। कहना न होगा कि समय की आवश्यकता को देखते हुए आज की सबसे बड़ी लोकसेवा विचार परिवर्तन की दृष्टि से किये गये प्रयत्नों पर ही निर्भर है। आर्थिक, शारीरिक या बौद्धिक सुविधाएँ बढ़ाने वाले कार्य भी वो सेवा क्षेत्र में आते हैं–पर उनका भी महत्त्व तभी है, जब लोगों की विचार-पद्धति का परिष्कार हो अन्यथा अगणित सुख-सुविधाएँ रहते हुए भी दुःखी बना रहेगा। सुखों की मूल प्रवृत्ति उच्च विचारणा ही है। समाज में विचारशीलता, विवेकशीलता और सद्भावना बढ़ सके, ऐसे लोकसेवा के कार्यों को हाथ में लेना वानप्रस्थ साधना का अविच्छिन्न अंग है। इस साधना को करते हुए आत्म-कल्याण, पूर्णता की प्राप्ति और ईश्वरीय प्रकाश की उपलब्धि का पूरा लाभ एवं आनन्द उठाया जा सकता है। सत्कर्मों से ही शुभ संस्कार बनते हैं और वे ही हमारी प्रधान आध्यात्मिक पूँजी हैं। सद्भावना अभिवर्द्धन की लोक-सेवा उसी प्रयोजन की पूर्ति करती है। वानप्रस्थ में साधु-ब्राह्मण जैसे लोक-मानस को परिष्कृत करने की सेवा-साधना करती होती।

जब तक वानप्रस्थ प्रणाली जीवित रही, देश को लाखों, लोक-सेवी, अनुभवी और सुयोग्य कार्यकर्ता निःशुल्क मिलते रहे। उनके द्वारा ज्ञान कल्याण के अनेकों प्रयोजन पूरे किये जाते रहे और अपना देश सुसम्पन्न, समर्थ एवं सुसंस्कृत बना रहा। लोग स्वार्थी और संकीर्ण बनकर ढलती आयु को भी घर, परिवार के लिए ही व्यय करने लगे तो लोक-मंगल के लिए उच्च भावना सम्पन्न लोक-सेवियों का मिलना बन्द हो गया। व्यवसायी लोगों के हाथ सार्वजनिक क्षेत्र चला गया और समाज की भारी हानि हुई। देश के भावनात्मक अधःपतन का एक बहुत बड़ा कारण वानप्रस्थ परम्परा का लोप हो जाना ही है। समय की माँग है कि पचास वर्ष से अधिक आयु का हर व्यक्ति भले ही घर में रहे, पर आत्म-निर्माण और आत्मविकास की आध्यात्मिक प्रक्रिया में संलग्न होकर अपने और समाज के कल्याण का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन करने में संलग्न हो।

प्रश्न—

(१) पुरानी भारतीय परम्परा के अनुसार मानव जीवन कितने भागों में विभक्त है तथा उनमें क्या-क्या कार्य करना होता है? (२) जब तक पुरानी भारतीय परम्परा के अनुसार जीवन निर्वाह करते रहे, हमें क्या लाभ होता रहा? (३) जीवन का

प्रारम्भिक चौथाई भाग क्या कहलाता है , इसका क्या महत्व है ? (४) गृहस्थाश्रम के बारे में लिखिए ? (५) वानप्रस्थ में मनुष्य घर के लिए क्या काम करता रहता है ? (६) वानप्रस्थ में मनुष्य समाज के लिए किस प्रकार लाभदायक होता था ? (८) वानप्रस्थ परम्परा के लोप हो जाने से हमारे भारतीय समाज को क्या हानियाँ उठानी पड़ी हैं ?(९) आपके विचार में इन चारों आश्रमों में अधिक महत्त्वपूर्ण आश्रम (समाज के लिए) कौन सा है ? तथा क्यों ?

अनीति से सतर्क रहें, अन्याय को रोकें

अनीति इसलिए बढ़ती है कि उसे रोका नहीं जाता । निर्बाध गति से जिसे रास्ता मिलेगा वह आगे ही बढ़ता जायेगा । अच्छाई हो या बुराई सब की एक ही रीति है । अवरोध उन्हें रोकते हैं और निर्बाध निष्कंटक मार्ग मिले तो वे निरन्तर बढ़ती चली जाती हैं । हमें प्रगति के लिए, उपार्जन और उपलब्धियों के लिए प्रयत्न करना पड़ता है पर साथ ही यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि आक्रमणकारी शक्तियाँ अपना अनिष्ट न करने लगें । उपार्जन की तरह सुरक्षा पर भी समान रूप से ध्यान न दिया जाये तो सारा गुड़-गोबर हो जायेगा ।

पैसा कमाने के लिए कृषि, व्यापार, नौकरी आदि करते हैं और उस कमाई को सुरक्षित रखने के लिए घर, आलमारी, तिजोरी, ताला आदि का इन्तजाम करते हैं, बैंक में जमा करते हैं । यदि सुरक्षा का ध्यान न रखा जाये तो उस कमाई को चोर आसानी से अपहरण कर लेंगे । सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि के ऋतु प्रभावों से अपने को बचाये रखने के लिए वस्त्र पहनते हैं । गन्दगी के कृमि-कीटों से बचने के लिए साबुन-फिनायल आदि का प्रबन्ध करते हैं । चारों ओर आक्रमणकारी शक्तियाँ बिखरी पड़ी हैं । वे हमारे अस्तित्व को चुनौती देती हैं । जो बचाव करना नहीं जानता, प्रतिरोध के लिए तैयार नहीं होता वह बेमौत मारा जाता है । घर में चूहे इसलिए फिरते हैं कि हमारी खाद्य सामिग्री खा जायें, सिर में चीलर, कपड़ों में जुएँ इसलिए उत्पन्न होते हैं कि हमें काटकर अपना पेट भरें, अपनी खाट में जन्मे खटमलों का उद्देश्य यह है कि हमें रात भर सोने न दें और रक्त पियें । मक्खी, मच्छर अपने विषैले प्रभाव से हमारे लिए जीवन संकट उत्पन्न करने की दुरभिसन्धि में लगे रहते हैं और तो और न दीखने वाले रोग कीटाणु हवा में उड़ते रहते हैं और जब भी अवसर मिलता है चुपचाप हमारे शरीर में घुस जाते हैं और प्राणघातक बीमारियाँ उत्पन्न करते हैं । कीड़े-मकोड़ों की तो बात ही क्या है–चोर, डाकू, जेबकट, धोखेबाज, दुष्ट, दुर्जन, अन्यायी, आततायी गौर से देखते रहते हैं और जब भी उनका दाँव फंस जाता है, हमें बुरी तरह बर्बाद करके रख देते हैं ।

भगवान की इस दुनिया में पुण्य और सहयोग बहुत है । वह न होता तो यहाँ जीवित रहना असम्भव हो जाता । पर साथ ही साथ और अन्याय भी कम नहीं है । यह इसलिए है कि हम सतर्क और संघर्षशील रहें । यह दोनों ही गुण मानवीय प्रगति के लिए अति आवश्यक हैं । जो सतर्क नहीं, सावधान नहीं, लापरवाही बरतता है, वह जरूर किसी आक्रमण का शिकार होगा और घाटा उठायेगा । जो अपने बचाव और सुरक्षा का ध्यान नहीं रखता वह दुष्टता के आक्रमण का शिकार बनेगा । प्रकृति चाहती है कि हर व्यक्ति सजग और सतर्क रहे । सावधानी बरते और घात-प्रतिघात से कैसे बचा जाता है, इस कला की जानकारी प्राप्त करे । सज्जन होना उचित है पर मूर्ख होना अक्षम्य है । हम दूसरों की सेवा-सहायता विवेकपूर्वक करें तो यह ठीक है, पर कोई मूर्ख अथवा कमजोर समझकर अपनी घात चलाये और ठग ले जाये यह अनुचित है ।

हमें किसी के साथ अनीति नहीं करनी है, पर अनीति का शिकार भी नहीं होना चाहिए । ठगना बुरी बात है पर ठगाना उससे कम बुरा नहीं है । ठगी वहीं होगी जहाँ बेवकूफी और लालच की मात्रा बढ़ी-चढ़ी होगी । हमला उसी पर किया जायेगा जिसने अपना स्वरूप दूसरों की आँखों में दुर्बल जैसा बना दिया होगा । अनेक पापों में शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता भी एक भयंकर वर्ग के पातक हैं, हमें इनसे बचने के लिए अपना शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास इस तरह करना चाहिए कि किसी को अपनी दुर्बलता अनुभव न होने लगे और कोई अपनी कमजोरी भाँप कर आक्रमण की घात न लगाने लगे ।

संसार में सज्जनता बहुत है । इस विश्व का सारा सौन्दर्य और विकास ही उस पर निर्भर है, पर दुर्जनता उससे किसी प्रकार कम नहीं । देवत्व से असुरता का पलड़ा कुछ भारी पड़ता है । खासतौर से यह समय तो ऐसा ही है कि जिसमें दुष्टता और दुर्जनता अपने चरमोत्कर्ष को पहुँच चुकी है । ऐसे समय में पुण्य-परमार्थ एवं सेवा-सहायता के लिए तत्पर होने के साथ-साथ इस बात के लिए भी सजग होना चाहिए कि अनीति के आक्रमण उसकी उपलब्धियों का अपहरण न कर ले जायें । अपने को किसी घात-प्रतिघात, दुरभि-सन्धि और छलना का शिकार न बनना पड़े । सतर्कता आवश्यक है । जैसे बुद्धिमान हाथी अपने चारों ओर की परिस्थितियों का पर्यवेक्षण करता हुआ आगे बढ़ता है वैसे ही हमें भी देखते रहना चाहिए कि आक्रमणकारी शक्तियाँ गुप्त और प्रकट रूप से घात लगाये तो नहीं बैठी हैं । डरना और आशंकाग्रस्त रहना बुरी बात है पर उससे भी बुरा यह है कि व्यक्ति भुलावे में पड़ा रहे और तब सजग हो जब सब कुछ गँवा दिया गया हो । दुनिया में विश्वास के बिना काम नहीं चलता पर अविश्वासी तत्त्वों के प्रति सजगता भी अनावश्यक नहीं है । असावधानी चोरी करने के लिए प्रोत्साहन देती है । अवसर न मिलें तो हर व्यक्ति ईमानदार रह सकता है पर यदि कुछ भी कर गुजरने की खुली छूट

हो तो किसी का भी ललचा जाना सम्भव है । इसलिए व्यवस्था ऐसी बनानी चाहिए कि किसी को वैसी छूट न मिले जिसमें उसे ललचाने और अवांछनीय आचरण करने का अवसर मिले ।

मित्रों के रूप में शत्रुता करना इस युग का नया फैशन है । पुराने जमाने के लोग आमने-सामने की लड़ाई पसन्द करते थे और जिससे लड़ना होता था उससे खुले मैदान दो-दो हाथ करते थे । अब नये जमाने में दूसरे तरीके काम में लाये जाते हैं । अब जिसे पछाड़ना होता है पहले उसका मित्र बना जाता है, घनिष्टता बढ़ाई जाती है, विश्वासपात्र बना जाता है और जब यह स्थिति आ जाये कि अब पूरा भरोसा किया जाने लगा तभी ऐसी घात चली जाती है कि बेचारा विश्वासी बुरी तरह मारा जाये । इस घात-प्रतिघात की आक्रमणकारी रीति-नीति से हर किसी को सजग रहना चाहिए । भोलापन और भलमनसाहत बहुत ही प्रशंसनीय गुण हैं पर अति हर चीज की बुरी होती है । हमें इस सीमा तक भोला नहीं बनना चाहिए कि चारों ओर जाल बिछाकर बैठे हुए बहेलिये अपना उल्लू सीधा करने और हमें बर्बाद करने में सफल हो जायें । शत्रुओं से हमें सजग रहना चाहिए और मित्रों से सावधान । इन दिनों शत्रुता से जितना खतरा है मित्रता में उससे सैकड़ों गुने खतरे की सम्भावना समाई हुई है । दूसरों की नीयत पर अविश्वास करना बुरी बात है, पर उससे भी बुरा यह है कि बिना पूरी तरह जाँच-पड़ताल किये यों ही किसी पर भरोसा कर बैठा जाये । धोखा किसी को नहीं देना चाहिए पर धोखा खाना कहाँ की बुद्धिमानी है हमें हर किसी पर पूरा विश्वास करना चाहिए साथ ही पैनी निगाह से यह देखते रहना चाहिये कि कहीं असावधानी से वह अवसर तो उत्पन्न नहीं हो रहा है, जिससे दुर्बल मन मनुष्य का अविश्वासी बन जाना सम्भव है ।

हमारी असावधानी ही लोगों को अनुचित लाभ उठाने के लिए ललचाती है । हमारी दुर्बलता ही अनेक आक्रमणकारियों को आमन्त्रित करती है । हम दुर्बल न रहें, शरीर से स्वस्थ और समर्थ रहें, मन को आशंका ग्रस्त नहीं, सजगता की सहज बुद्धि से सावधान रखें । विपदा से बचना उचित है पर जब वे सामने आ ही जायें तो इतनी हिम्मत रखनी चाहिए कि बहादुर योद्धा की तरह बिना घबड़ाये, धैर्य, साहस, विवेक और पुरुषार्थ के साथ उनसे निबटने और कट-कटकर लड़ने में कोई कठिनाई प्रतीत न हो । हमें मित्रवान होना चाहिए । सच्चे और झूठे मित्रों की परख सीखनी चाहिए । चरित्रवान और आदर्शवादी व्यक्ति ही सच्चे मित्र हो सकते हैं । चापलूस, चालाक और चरित्रहीन व्यक्ति वक्त पर धोखा देते हैं । इसलिए अपनी घनिष्टता ऐसे लोगों से बढ़ानी चाहिए जिनमें सज्जनता एवं समर्थता की कमी न हो । ऐसी मैत्री भी एक शक्ति है जिसके सहारे इस अनीति भरी दुनिया में अपनी सुरक्षा की किलेबन्दी की जा सकती है ।

हमें किसी के साथ अनीति नहीं बरतनी चाहिए पर अन्याय को भी सहन नहीं करना चाहिए । संघर्ष के बिना कोई छुटकारा नहीं । प्रतिरोध में हानि उठानी पड़ सकती है पर प्रतिरोध न करने में–चुपचाप अनीति सहने रहने में और भी अधिक घाटे में रहना होगा । अनीति बरतने की प्रक्रिया तभी गतिशील रहती है, जब उसका अवरोध न हो । अनीति को हम कदापि सहन न करें भले ही उसके प्रतिरोध में कितनी ही बड़ी क्षति क्यों न उठानी पड़े । पाप को रोकना हो, अन्याय को घटाना हो तो उसके लिए समर्थ संघर्ष के लिए तत्पर होना ही पड़ेगा ।

प्रश्न–

(१) अच्छाई हो अथवा बुराई हो, वे किस कारण अधिक बढ़ती हैं ? (२) हम वस्त्र क्यों पहनते हैं, हम सारा कमाया हुआ पैसा बैंकों में क्यों रखते हैं ? यदि हम ऐसा न करें तो क्या होगा ? (३) अन्याय और पुण्य दोनों ही किस प्रकार मानवीय प्रगति में बाधक हैं, (४) यह ठीक है कि हमें किसी को ठगना नहीं चाहिए, पर क्या यह ठीक है कि हम किसी के द्वारा ठगे जायें ? (५) क्या यह ठीक है कि हमें हर किसी पर विश्वास करना ही चाहिए ? नहीं तो क्यों ? (६) इस समय देवत्व से असुरता का, सज्जनता से दुर्जनता का पलड़ा क्यों भारी है ?(७) मित्रों के रूप में शत्रुता करना इस युग का नया फैशन है । किस तरह ? सिद्ध कीजिए । (८) हमारी किन दुर्बलताओं के कारण अनीति करने वाले हमें ठग जाते हैं, (९) अनीति से, ठगी से बचने के लिए हमें क्या-क्या सावधानियाँ बरतनी चाहिए ? (१०) क्या अनीति का प्रतिरोध करने से जो हानि होती है, उसके डर से हमें अनीति का प्रतिरोध नहीं करना चाहिए ?

जो अनुचित है उससे सहमत न हों

पौधे की जड़ में पानी लगता जायेगा तो वह बढ़ता ही चलेगा । अनीति का पोषण होता रहा तो वह दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती रहेगी । अन्याययुक्त आचरण करने वालों को प्रोत्साहन उनसे मिलता है जो इसे सहन करते हैं । उत्पीड़ित चुपचाप सब कुछ सह लेता है, यह समझकर अत्याचारी की हिम्मत दूनी-चौगुनी हो जाती है और वह अपना मार्ग निष्कंटक समझकर और भी अधिक उत्साह से अनाचरण करने पर उतारू हो जाता है । अन्याय सहना–अपने जैसे अन्य असंख्य को उसी तरह का उत्पीड़न सहने के लिए परिस्थितियाँ पैदा करना है । अनीति सहना प्रत्यक्षतः आततायी को प्रोत्साहन देना है ।

दूसरों को अनीति पीड़ित होते देखकर कितने ही लोग सोचते हैं कि जिस पर बीतेगी वह भुगतेगा । हम क्यों व्यर्थ का झंझट मोल लें । एक सताया जाता रहता है–पड़ौसी चुपचाप देखता रहता है । दुष्ट लोग हमें भी न सताने लगें यह सोचकर वे आँखें फेर लेते हैं और उद्दण्डों को

वन्दनीय ही कहा जायेगा । यही रीति-नीति हर कार्य के लिए और हर व्यक्ति के लिए अपनाई जानी चाहिए । जिसने अपने स्वार्थ साधन और ऐशों-आराम के लिए सम्पदा कमाई, उसकी प्रशंसा क्यों की जाये ? जिसने अनीति के मार्ग में सफलता पाई-जिसने लोकमानस को प्रेरणा न दी ऐसे पदवीधारी, विद्वान, कलाकार, नेता, अभिनेता की सराहना में एक शब्द नहीं निकाला जाना चाहिए । एक पंक्ति भी नहीं लिखी जानी चाहिए अन्यथा अनीति का आचरण रोका नहीं जा सकेगा । वरन् दिन-दिन बढ़ेगा । सिनेमा में नाचने वाली नटनियों के रंग-बिरंगे फोटो अखबारों में छपते देखकर अब लड़के-लड़कियों के मन में वैसी ही उमंगें उठती हैं । त्याग और बलिदान को जिन दिनों अखबार सराहते थे उन दिनों स्वतन्त्रता संग्राम के लिए त्याग, बलिदान करने की लहर भी अपने देश में हिलोरें लेती हुई दीखती थी । आज मिनिस्टरों के गुणगान छपते हैं तो किसी भी तरकीब से उस पद तक पहुँचने के लिए हर प्रभावशाली व्यक्ति लालायित दीखने लगा है । यदि डाकुओं की प्रशंसा करने वाले लेख, फोटो, कविता, फिल्म, नाटक प्रस्तुत किये जायें तो निश्चित रूप से कुछ ही समय में सारा जोशीला वर्ग डाकू बनने की साधना-कामना करने लगेगा ।

सज्जनता और सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्द्धन और अभीष्ट हो तो उसके लिए प्रशंसा और प्रोत्साहन करने की तैयारी करनी पड़ेगी । दुष्टता और सम्पदा की सराहना करने वाले लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या मौजूद है । फलस्वरूप वे अवांछनीय तत्व द्रुतगति से बढ़ रहे हैं । हमें एक ऐसा वर्ग खड़ा करना है जो सज्जनता और सत्प्रवृत्तियों को सराहे और उनकी प्रशंसा व्यापक बनाने के लिए आवश्यक साधन जुटायें, पर्चे, पोस्टर, विज्ञापन और छोटे-बड़े अखबार निकालकर हमें सज्जनता के समाचार छापने चाहिए और जिन्होंने अनुकरणीय उदारता के कोई आदर्श प्रस्तुत किये हैं उनकी सराहनीय जानकारी को व्यापक क्षेत्र में फैलाया जाना चाहिए । इन दिनों राजा-रईसों के हिस्से में ही प्रशंसा पक्ष चला गया है । हमें ऐसे गरीबों और छोटे आदमियों के गुणानुवाद प्रस्तुत करने चाहिए जिन्होंने लोकमंगल के लिए अपनी छोटी शक्ति और छोटे साधनों के रहते हुए भी महानता एवं उदारता का साहसिक परिचय दे डाला । इस प्रयोजन के लिए प्रकाशन, लेखन और गायन की पूरी-पूरी साधन सामग्री जुटानी चाहिए । लोक-मंगल की दृष्टि से किये गये त्याग और बलिदानों को-फिर चाहे वे गरीब या पिछड़े लोगों द्वारा ही प्रस्तुत क्यों न हों सर्वसाधारण की जानकारी में प्रशंसात्मक घटनाएँ, जीवनियाँ खोजने और उन्हें गद्य या पद्य में छपवाने के लिए हमें हर भाषा में समर्थ तन्त्र खड़े करने चाहिए ।

अभिवन्दन, आयोजन, जयन्तियों, शताब्दियों की एक ऐसी संगठित शृंखला चलानी चाहिए जिसके अन्तर्गत शानदार उत्सव मनाये जायें और उन जीवित या स्वर्गस्थ सज्जनों का अभिनन्दन किया जाये जिन्होंने मानवता को जीवित रखने के लिए अपने अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किये । ऐसे लोगों के स्मारक बनाये जा सकते हैं । इमारतें न बन सकें तो स्मृति चबूतरों पर शिलालेख जड़े जा सकते हैं या वृक्ष लगाये जा सकते हैं । जहाँ जाकर जन-साधारण को उपयुक्त अवसरों पर श्रद्धांजलि अर्पित करने का अवसर मिलता रहे । स्वर्गीय उदारमना लोगों के शिलाचित्र या प्रतिमाएँ सार्वजनिक स्थानों में स्थापित करने का तरीका अच्छा है । जीवित लोगों को मानपत्र या उपहार, अभिनन्दन अथवा पदवी प्रदान की कुछ व्यवस्था की जा सकती है पर यह ध्यान रखा जाये कि इस प्रकार का लाभ केवल उन्हें ही मिले जो वस्तुतः उसके अधिकारी हों । यदि अनधिकारी लोग तिकड़म भिड़ाकर इस प्रकार की प्रशंसा, प्रतिष्ठा प्राप्त करने में सफल हो गये तो फिर यह महान प्रक्रिया भी अपना महत्त्व खो बैठेगी । फिर ऐसे स्तर की प्रशंसा पाने, करने में सच्चे मनुष्य अपनी बेइज्जती अनुभव करने लगेंगे, इसलिए इस प्रकार की अभिनन्दन, प्रशंसा जुटाने वालों को पूरी सतर्कता से यह ध्यान रखना चाहिए कि अवांछनीय और अनधिकारी लोग दंद-फंद, पक्षपात या पार्टी बन्दी के आधार पर इस पुण्य प्रक्रिया का अपने पक्ष में अनुचित लाभ न उठाने पायें ।

सम्पदा को प्रतिष्ठा मिलने से लालच बढ़ता है और अनैतिकता की कीमत पर अमीरी बढ़ाने की प्रवृत्ति पनपती है । अवांछनीयता के आतंक के सामने लोगों ने सिर झुकाया और विरोध से कतराकर दुष्टता को समर्थन दिया है । दुष्प्रवृत्तियाँ इसी प्रकार पनपी हैं । इसके दुष्परिणाम सामने हैं । नवनिर्माण के लिए इस विग्रह को उलटना होगा । पहले कदम के रूप में सज्जनता को अभिनन्दित प्रोत्साहित किया जाना चाहिए । दूसरे कदम के रूप में दुष्टता और अवांछनीयता की भर्त्सना के लिए व्यापक मोर्चा खड़ा करना पड़ेगा और तीसरे कदम में दुष्टता के प्रतिरोध के लिए संघर्ष की ऐसी योजना बनानी पड़ेगी जिसके भय से अनाचार करने का उत्साह ही ठण्डा हो जाये और अवांछनीय, असामाजिक कार्य करने वालों को उनके फलस्वरूप उन कठिनाइयों के बारे में हजार बार विचार करना पड़े जो उन्हें अपने कुकृत्य के फलस्वरूप अनिवार्य रूप से भुगतनी पड़ा करेंगी ।

प्रश्न—

(१) मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा क्या होती है ? (२) प्रशंसा द्वारा किस प्रकार लोगों को अच्छे या गलत मार्ग पर चलाया जा सकता है ? (३) बुरे लोगों की प्रशंसा से क्या होता है ? (४) समाज सुधार के लिए क्या किया जाये ? (५) बुरे लोगों की प्रशंसा से आज क्या बुराइयाँ फैली हैं ? (६) अच्छाई को किस तरह प्रोत्साहित किया जाये ? (७) सम्पत्ति को प्रतिष्ठा मिलने से क्या हुआ ? (८) दुष्टता के प्रतिरोध में क्या किया जाये ?

सुव्यवस्था ही परिवारों को सुविकसित रख सकेगी

परिवार यदि विसंगठित, अनियन्त्रित हो तो उससे निरन्तर क्लेश-कलह ही बना रहेगा और जी चाहेगा कि छोटी इकाई बनाकर अलग रहा जाये पर यदि उसमें सद्भावना और आत्मीयता का पुट उचित मात्रा में मौजूद है-व्यवस्थापूर्वक सारा क्रम चलता है तो उस कुटुम्ब में स्वर्ग जैसी अनुभूति होगी । भारत जैसे देश में जहाँ बालकों और वृद्धों को घर के कमाऊ लोगों पर ही निर्भर रहना पड़ता है अधिकांश को कृषि, गृह उद्योग के माध्यम से मिल-जुल कर ही चलानी पड़ती है तथा पारस्परिक सेवा-सहायता के अच्छे साधन तुरन्त उपलब्ध करना सम्भव नहीं, वहाँ संयुक्त परिवार की आवश्यकता बनी ही रहेगी । इंग्लैण्ड, अमेरिका की बात जाने दें, जहाँ सरकार वृद्धों को बेकारी की पेन्शन देती है, शिक्षा, चिकित्सा, प्रसूत आदि की सुविधा हर नागरिक को उपलब्ध है । वहाँ पारस्परिक निर्भरता उतनी न रहने में आजीविका साधन सर्वत्र उपलब्ध रहने से संयुक्त परिवार की आवश्यकता नहीं रहती और वयस्क व्यक्ति विवाह होते ही अपना अलग परिवार बना लेते हैं पर यहाँ की आर्थिक दुर्बलता और भावनात्मक स्थिति मोह-ममता की दिशा में बढ़ी-चढ़ी रहने से संयुक्त परिवार ही उत्तम रहेंगे ।

यदि हमें बड़े परिवार रखने ही हैं तो उनका ढाँचा ऐसा क्यों न बनाया जाये, जिससे सभी को उचित सम्मान, उचित अधिकार प्राप्त हो और उचित कर्तव्य पालन की आवश्यकता हर सदस्य अनुभव करे । इस ओर उपेक्षा बरती गई है तथा समयानुकूल आचार संहिता बनाने पर ध्यान नहीं दिया गया है । यही कारण है कि एक घर में एक साथ रहने वाले परिवार के बीच वैसा स्नेह-सौजन्य, सद्भाव, सहयोग और संगठन नहीं दीखता जैसा होना चाहिए । साल भर से तो अधिक कौटुम्बिकता का आनन्द नहीं लिया जा सकता ।

घर की एक व्यवस्था पद्धति होनी चाहिए । जिसके अन्तर्गत बड़ों को उचित सम्मान, श्रद्धा, सुविधा देने का सभी छोटे लोग समुचित ध्यान रखें । उनके अनुभवों से लाभ उठाने और पिछली सेवाओं के लिए कृतज्ञ रहने की भावना विद्यमान रहे । समय-समय पर उनके पास परामर्श आदि के लिए जाते रहें और उनमें से जो उचित एवं आवश्यक हो उन्हें पालन भी करते रहा जाये तो वृद्धों को संतोष रह सकता है । जिनकी शारीरिक स्थिति अधिक अशक्त हो गई है उन्हें भोजन, स्नान, स्वच्छता, चिकित्सा आदि की सुविधा देने तथा शरीर यात्रा में आवश्यक सहायता करने की व्यवस्था रखने की आवश्यकता है । इतना सहारा बड़ों-वृद्धों को कुटुम्बियों से मिलना ही चाहिए । वृद्धों को भी घर के समझदार लोगों की विवेक बुद्धि विकसित करने में सहायता तो देनी चाहिए पर बहुत नियन्त्रण नहीं करना चाहिए । जमाना तेजी से बदला है और देखते-देखते पुराने ढर्रे और नई व्यवस्था में बहुत भारी अन्तर आ गया है । नई रोशनी के लोग नये ढंग से सोचते हैं और आधुनिक रीति-नीति का जीवनयापन करना चाहते हैं । चूँकि ये बातें पुराने जमाने में नहीं होती थीं । इसलिए बुजुर्गों को व अनावश्यक और अनुचित लग सकती हैं । इसलिए वे उनका आवश्यकता से अधिक विरोध, प्रतिरोध करते पाये जाते हैं । इसकी प्रतिक्रिया अवज्ञा के रूप में सामने आती है क्योंकि वृद्धों की बुद्धिमत्ता उस बात में है कि वे अपने अनुभव परामर्श का लाभ भी नई पीढ़ी को देते रहें और इतनी ढील भी छोड़ें कि उन्हें अपनी रुचि का रहन-सहन अपनाने की छूट रहे । हाँ स्वतन्त्रता को उच्छृंखलता और अनैतिकता की सीमा तक नहीं पहुँचने दिया जाये ।

कमाऊ लोगों पर इस बात की भारी जिम्मेदारी है कि वे अपने द्वारा उपार्जित धन को पूरे परिवार की धरोहर समझें और अपने लिए अनावश्यक खर्च के लिए चाह न करें । उस पैसे से घर की नई पौध को शिक्षा, स्वास्थ्य, विनोद, अनुभव और संस्कार मिलने का समुचित अवसर मिले । इसके लिए खर्च की अपेक्षा रहेगी ही यदि कमाऊ लोग अधिक उड़ाने-खाने लगें तो उस छोटी पौध के विकास में कटौती करनी पड़ेगी । बच्चों को जन्म देने वाले माता-पिता से लेकर घर के कमाऊ लोगों तक हर सदस्य का कर्तव्य है कि अविकसित छोटी पौध को समुन्नत बनाने में कुछ उठा न रखें । यह तभी सम्भव है जबकि वे अपनी निजी आवश्यकताएँ उतनी ही रखें जितनी अनिवार्य हैं तभी कुछ बचत और उसका लाभ मिल सकना मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए सम्भव है ।

बड़े भाइयों को छोटे भाई-बहिनों का एक प्रकार से अभिभावक या पिता ही माना जाना चाहिए । उनका कर्तव्य है कि अलग-अलग रहकर अपनी कमाई खुद और पत्नी को खिलाने भर की ओछी बात न सोचें वरन् पिता ने जिस आत्मीयता और खर्च उठाकर उन्हें पाला-पोसा, समर्थ किया है इसका पितृऋण अपने छोटे भाई-बहिनों की सहायता करके चुका दें । घर में अच्छी परम्पराएँ स्थिर रखना न केवल वर्तमान लोगों की सुविधा के लिए आवश्यक है वरन् अगली पीढ़ी को संस्कारवान् बनाने के लिए भी पारिवारिक वातावरण में शालीनता सज्जनता और व्यवस्था का समुचित पुट रहना चाहिए । शिष्टाचार, मधुर भाषण, समय-समय पर विचार-विनिमय, मनोविनोद एक-दूसरे की सुविधा, असुविधा पूछते रहना, रुग्णता या अन्य कठिनाइयों में सहानुभूति, सहायता व्यक्त करना, सबकी सलाह से घर खर्च का बजट बनाना और वर्तमान तथा भावी व्यवस्था का ढाँचा सबकी सलाह से खड़ा करना आदि उचित परम्पराएँ बनी रहें तो परस्पर स्नेह, सद्भाव और संगठन की स्थिति बनी रह सकती है और आज के गृह संचालक जब वृद्ध होंगे तब उनके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं । बड़प्पन के नाम पर न कोई

निठल्ला बैठे और न मनमानी चलाये । इसी प्रकार छोटे होने के नाते किसी को सामर्थ्य से अधिक श्रम और तिरस्कार के कोल्हू में न पेला जाये तभी असंतोष भड़कने से रुक सकता है ।

घर को सुन्दर, स्वच्छ, सुव्यवस्थित बनाने में बच्चा-बच्चा योगदान देने लगे और अनुशासन, नियमितता का हर एक को समुचित ध्यान रहे, ऐसा ढर्रा रहना चाहिए । स्थिति के अनुरूप जेब खर्च करने की छूट रहे । पैसे-पैसे के लिए मुहताज घर का कोई सदस्य नहीं रहना चाहिए । क्रोध, आवेश, उत्तेजना, अवज्ञा या उच्छृंखलता के बीज जहाँ भी जिसमें भी पनपें उसे आरम्भ से ही रोके जाने, सुधारे, सँभाले जाने का ध्यान पूरे परिवार को रहे, अनुचित गतिविधियाँ किसी की भी क्यों न हों कोई भी उनका परोक्ष समर्थन न करे और न उपेक्षा बरते । सब मिलकर ऐसे विष बीज यदि आरम्भ में ही उखाड़ फैंकने के लिए सतर्क रहें और प्यार, न्याय, तर्क एवं दबाव से ऐसी विकृतियों का समाधान करते रहें तो घर में कुसंस्कारिता पनपने न पायेगी और सुसंस्कृत परिवार की संरचना एवं संघटना सम्भव हो सकेगी ।

प्रजनन की संख्या बढ़ने न पावे इसका ध्यान आरम्भ में ही रखा जाये । समय बड़ा नाजुक और महँगाई का आ गया है । अधिक बालकों का उत्तरदायित्व अब न महिलाओं की शारीरिक स्थिति रह गई है और न पुरुषों की उपार्जन शक्ति उतनी है कि बालकों के समुचित विकास कर सकने योग्य साधन जुटा सकें, इसलिए हर विवाहित के मन में यह तथ्य कूट-कूटकर भरा जाना चाहिए कि वह न्यूनतम बच्चों तक सीमाबद्ध हो जाये और जितन बच्चे आवश्यक हों उनके बीच में कम से कम पाँच वर्ष का अन्तर रखें । अन्धाधुन्ध बच्चे पैदा करते जाना सुखी गृहस्थ की आधारशिला में पलीता लगाने जैसी मूर्खता ही मानी जा सकती है ।

कुरीतियों और अन्ध-परम्पराओं में बहुत-सा पैसा और समय खर्च हो जाता है । बड़े-बूढ़े इन बातों पर प्रायः जोर देते हैं । इस सम्बन्ध में हमें विवेकवान होना चाहिए और निरर्थक रूढ़ियों को हटाने-घटाने में थोड़ा विरोध सहना पड़ता हो तो भी सहना चाहिए क्योंकि वे बुराइयाँ परिवार का अविवेक और दारिद्र्य ही बढ़ा सकती हैं । एक से दूसरा अनुकरण करता है जो यह ढर्रा दूसरे परिवार में भी चल पड़ता है जिससे अन्ततः सारे समाज और देश को हानि पहुँचती है ।

नित्य परिवार गोष्ठी के रूप में विचारोत्तेजक लेख या संस्मरण, कथा प्रसंग या समाचार सुनाने और उनकी समीक्षा करने की परिपाटी आवश्यक रूप से चलती रहनी चाहिए । शिक्षित लोग सत्साहित्य के चुने हुए प्रसंग रात्रि के समय थोड़ा समय निर्धारित करके नियमित रूप से सुनाया करें तो इस प्रशिक्षण से परिवार के भावनात्मक विकास और अनुभव में भारी वृद्धि हो सकती है और उसका आशाजनक लाभ मिल सकता है ।

प्रश्न—

(१) परिवार के विघटन से क्या हानियाँ हैं ? (२) भारतवर्ष में संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली क्यों आवश्यक है ? (३) बड़े परिवारों में सुव्यवस्था कैसे रखी जाये ? (४) छोटों के बड़ों के प्रति तथा बड़ों को छोटों के प्रति कर्त्तव्य लिखें ? (५) उपार्जन करने वाले लोग कौन-से दायित्व अनिवार्य रूप से निबाहें ? (६) बच्चों में पारिवारिक व्यवस्था के कौन-से संस्कार डाले जायें ? (७) घरेलू व्यवस्था में क्या सावधानियाँ आवश्यक हैं ? (८) संतान सीमित होना क्यों आवश्यक है ? (९) कुरीतियों और अन्ध-परम्पराओं की हानियाँ बताओ ? (१०) परिवार के भावनात्मक विकास तथा अनुभव में वृद्धि के लिए क्या करें ?

दाम्पत्य जीवन— एक आध्यात्मिक योग साधना

दो भिन्न स्थानों, भिन्न परिवारों, भिन्न वातावरणों में पैदा हुए और पले नर-नारी भिन्न प्रकृति और भिन्न आकृति के होते हुए भी समग्र एकता के सूत्र में बँधकर विवाह का प्रयोजन पूरा करते हैं । विवाह का वास्तविक उद्देश्य है दो आत्माओं की प्रथकता समाप्त करके एक-दूसरे के लिए समर्पण । इस समन्वय और समर्पण से एक ऐसी सम्मिलित सत्ता का विकास होता है जो प्रथकत्व के बाह्य लक्षण बनाये रहते हुए भी आन्तरिक एकता के रूप में परिणित हो सके ।

आध्यात्मिक प्रगति का आधार है प्रेम । जिसके अन्तःकरण में जितना अधिक, जितना निर्मल प्रेम उफनता है वह उतना ही बड़ा सन्त है । भक्ति का अर्थ है प्रेम भावना, भक्त का अर्थ है प्रेमी । भगवान से प्रेम करने की साधना हमारे जीवन को प्रेम भावना से ओत-प्रोत करने के लिए है । प्रेम को परमेश्वर कहा जाता है । मनुष्य के अन्तःकरण में भगवान की अनुभूति उफनती हुई प्रेम भावनाओं के रूप में ही होती है । इस आध्यात्मिक महत्ता का अभ्यास दाम्पत्य-जीवन की प्रयोगशाला में किया जाता है । एक-दूसरे के प्रति अनन्य आत्मीयता, श्रद्धा-सौजन्य, समता और वफादारी का आरोपण कर इतना अनुराग उत्पन्न करते हैं कि साथी यदि दोष-दुर्गुणों से भरा हुआ, अयोग्य या अकिंचन हो तो भी वह संसार का सबसे बड़ा सुन्दर, रूपवान, गुणवान, योग्य एवं सज्जन प्रतीत होने लगता है । आत्मीयता ऐसी ही वस्तु है, जिस पर भी आरोपित की जाती है उसे परम प्रिय बना देती है । पति-पत्नी में भी मनुष्योचित दुर्बलताएँ एवं त्रुटियाँ रहती हैं पर यदि विवाह के उद्देश्य को समझकर परस्पर आत्मीयता, समर्पण, एकता और ममता का आरोपण कर लिया गया है तो उन त्रुटियों के रहते हुए भी, न सुधरते हुए भी गृहस्थ जीवन की नाव आनन्दपूर्वक आगे बढ़ चलती है । ऐसे होता यह है कि अपने लिए कुछ नहीं-साथी के लिए सब कुछ की बात सोचने वाला पक्ष अपनी त्रुटियों को सहज

ही सुधार लेता है ताकि उसके कारण साथी को किसी प्रकार की असुविधा आदि का सामना न करना पड़े ।

योग का अर्थ है जोड़ । दो आत्माओं को जोड़ देना भी एक योग साधना है । राजयोग, हठयोग, जपयोग, प्राणयोग आदि की तरह गृहस्थयोग भी एक उच्चकोटि की साधना है । जिसका प्रतिफल पहले ही दिन से मिलना आरम्भ हो जाता है । अन्य साधनाएँ कालान्तर में फल देती हैं पर इस गृहस्थयोग की साधना से आरम्भ के दिन से ही प्रतिफल मिलना आरम्भ हो जाता है । एकाकीपन में जो सूनापन, नीरसता और अनिश्चितता है बात की बात में दूर हो जाती है । मिला तो एक ही साथी है पर लगता है कि उस साथी के गुण, कर्म और परिजन सभी अपनी सहायता करने वाली सेना के रूप में अपने साथी बन चले । इस अनुभूति में दाम्पत्य-जीवन के दोनों पक्ष अपने को बहुत समर्थ मानते हैं और साथी के स्नेह-सौजन्य की अमृतमयी अनुभूति से हर घड़ी सरसता अनुभव करते रहते हैं । गंगा और यमुना के मिलने का संगम तीर्थराज बन जाता है । दो आत्माओं का आन्तरिक मिलन, विवाह एक वैयक्तिक तीर्थराज है । जिसमें स्नान करते हुए पुण्य-प्रक्रिया का अनुभव पति-पत्नी को ही निरन्तर होता रहता है ।

विवाह के उपर्युक्त परम प्रयोजन को समझने और चरितार्थ करने वाले जोड़े अपने छोटे-छोटे घरौंदों में गरीबी का जीवन जीते हुए स्वर्ग जैसी शान्ति, प्रसन्नता, प्रफुल्लता, संतुष्टि, सरसता और सुविधा का आनन्द लेते हैं । उन्हें साथी के रूप, शिक्षा, गुण अथवा योग्यता की चर्चा अनावश्यक लगती है क्योंकि सच्चा प्रेम इन सबके अभाव में भी साथी को देवता जैसा बना देता है । प्रेम भरे अनुरोध से वह या तो सहचर की त्रुटियों को सुधार लेता है अथवा अपनी सहिष्णुता से उन्हें दर-गुजर करके भी काम चला लेता है । जहाँ स्नेह और सद्भावना की समुचित मात्रा विद्यमान हो वहाँ क्लेश-कलह का कोई कारण शेष नहीं रह जाता है । मिलन का प्रतिफल आनन्द ही होना चाहिए । गृहस्थयोग की साधना से जो अनेक ऋद्धि-सिद्धि मिलती हैं उनमें से सतगुणी सुयोग्य संतान और सुव्यवस्थित परिवार के प्रतिफल भी हैं । जिन पति-पत्नी में हार्दिक प्रेम और अटूट विश्वास होगा उनकी सन्तानें कभी कुपात्र नहीं निकलेंगी । प्रेम का पोषण जिन्होने अपनी माता की प्रगाढ़ आत्मीयता में से किया है उन बालकों में अनायास ही असंख्य सद्गुण विकसित रहते हैं । ऐसे व्यक्ति अपने छोटे या बड़े परिवार की स्नेह, सौजन्य की शृंखला में बँधे रहकर कुटुम्ब के हर सदस्य को सुखी एवं विकासोन्मुख होने का अवसर देते हैं ।

आज लोगों ने विवाह के उच्च उद्देश्य एवं आदर्श को ही भुला दिया । अब काम-क्रीड़ा की पशुता का एक उद्घोषित प्रमाण पत्र विवाह रह गया है । वासना और विलासिता की दृष्टि से जोड़े मिलाये जाते हैं । लड़के रूपवती और उत्तेजित लड़कियाँ ढूँढ़ते हैं, ताकि वासना का अधिक आकर्षण एवं उपयोग प्राप्त हो सके । लड़कियाँ उपर्युक्त तथ्य के अतिरिक्त अर्थ उपार्जन के अधिक चौड़े स्रोत भी ढूँढ़ती हैं ताकि उन्हें विलासिता और आरामतलबी की अधिक सुविधा मिल सके । लड़के और लड़की का रूप-लावण्य आज प्रधानतापूर्वक देखे जाते हैं । सोचा जाता है कि यह उपलब्धियाँ मिल जायें तो विवाह सार्थक माना जायेगा पर यह भुला दिया जाता है कि विवाह की सफलता का आधार साथी की मनोभूमि, संस्कृति एवं आदर्शवादिता ही है । काम-कौतुक के लिए, उपभोग के लिए विवाह नहीं किये जाते, उनका प्रयोजन आध्यात्मिक है । जहाँ इस दृष्टिकोण से विवाह सम्पन्न होगा वहाँ गृहस्थ जीवन का आनन्द मिलेगा अन्यथा काम-कौतुक के क्षणों को छोड़कर शेष समय उनमें अविश्वास और असन्तोष ही बना रहेगा । सच्ची सहानुभूति, ममता और एकता के बिना पास रहते हुए भी दूरवर्ती, अपरिचितों की तरह वे गृहस्थ की लाश ढो रहे होंगे ।

आवश्यकता इस बात की है कि जो विवाह कर चुके हैं या जिन्हें विवाह करना है वे उसके उद्देश्य और आदर्श को भी समझें । अपनी मनोभूमि में उतनी कोमलता एवं उदारता हो कि साथी को स्नेहसिक्त करके उसके विरानेपन को अपनेपन में बदल सकें, तो ही विवाह करना चाहिए अन्यथा काम-कौतुक के लिए विवाह करना बहुत महँगा और झंझट भरा सौदा है । उसमें दोनों पक्षों के हाथ केवल बर्बादी ही लगती है । पुरुष कोल्हू के बैल की तरह पिसता और स्त्री प्रजनन के कुचक्र में अपनी तन्दुरुस्ती, मनस्विता, प्रतिभा ही नहीं, कई बार तो जिन्दगी ही असमय में खो बैठती है । बालकों का लालन-पालन और उनके दोष-दुर्गुणों से उत्पन्न परिणाम इतना कठिन पड़ता है कि विवाह के असली उद्देश्य से अपरिचित लोगों को इस मार्ग में केवल शोक-सन्ताप ही हाथ लगता है ।

विवाह एक आध्यात्मिक साधना है । विवाह एक प्रेम वल्लरी का आत्मोत्सर्ग की उच्च भावनाओं द्वारा किया जाने वाला अभिसिंचन है । यह सज्जनों और शूरवीरों का काम है । कामी, दुष्ट, छली और विश्वासघाती लोग विवाह की पवित्र संस्था को बदनाम करने से दूर रहें और एकाकी जीवन जियें यही अच्छा है । जिनका विवाह हो चुका है या जिन्हें करना है उन्हें हजार बार सोच लेना चाहिए कि साथी के ऊपर समता, सद्भावना एवं आत्मीयता हमें उड़ेलनी है । उसकी प्रवृत्ति, मित्रता को निबाहना है । अभीष्ट अनुकूलता उत्पन्न न भी हो सके तो सहिष्णुता अपनाकर दर गुजर करती है । दूसरी ओर से समुचित प्रत्युत्तर न मिले तो अपनी ओर से आजीवन ऐसा व्यवहार करते रहना, जिससे विवाह साधना के पुनीत आदर्श को कलंकित होने का अवसर न मिले ।

इस दिशा में पति का कर्त्तव्य चौगुना-सौगुना है । क्योंकि परिस्थितियों ने आज उसे अधिक सार्थकता एवं सुविधा प्रदान की है । रंग-रूप की बात मस्तिष्क से

निकाल देना चाहिए । चमड़ी का आकर्षण-खिंचाव, विशुद्ध रूप से व्यभिचार है । इन्हें भले ही वह अविवाहित हो या विवाहित जीवन में कभी न अपनाया जाये । गुणों के आकर्षण पर रीझना चाहिए । विवाह करने से पूर्व साथी के बारे में हजार बार विचार करें पर यदि उसे अपना लिया तो हजार दोष-दुर्गुण रहते हुए भी उसे छाती से बाँधकर रखना चाहिए और अपनी ओर से कर्त्तव्य पालन के अन्तिम छोर तक जाना चाहिए । भारतीय धर्म में देव-साक्षी देकर दूसरे का हाथ इस शर्त पर पकड़ा जाता है कि वह अयोग्य, असमर्थ, रुग्ण अथवा दुर्गुणी हो तो भी उसे परिपूर्ण निष्ठा के साथ निबाहा जायेगा । विवाह पूर्व के चारित्रिक दोषों के बारे में सोच-विचार करना निरर्थक है । जिस दिन से अपना विवाह हुआ उसी दिन से पतिव्रत और पत्नीव्रत आरम्भ हो जाता है । उदारता और क्षमा का जितना अधिक प्रयोग परस्पर किया जा सके उतनी ही गृहस्थ जीवन की सफलता सम्भव हो सकेगी ।

ईश्वर करे अपने समाज के हर गृहस्थ में दाम्पत्य जीवन को एक पवित्र आध्यात्मिक साधना मानने और उसे निबाहने के लिए त्याग और उदारता का बढ़ा-चढ़ा परिचय देने की प्रवृत्ति पैदा हो, तभी हमारे पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में स्वर्गीय परिस्थितियों का अवतरण होगा ।

प्रश्न–

(१) आध्यात्मिक प्रगति का आधार क्या है ? (२) सिद्ध कीजिए कि दाम्पत्य जीवन आध्यात्मिकता की प्रयोगशाला है ? (३) अपनी त्रुटियों को सहज ही कौन सुधार लेता है ? (४) योग का अर्थ क्या है, योग कितने प्रकार के होते हैं ? (५) क्लेश एवं कलह मिटाने का क्या उपाय है ? (६) संतानें किन लोगों की कुपात्र नहीं होतीं ? (७) विवाह की सफलता का आधार क्या है ? (८) पाणिग्रहण की महत्ता क्या है ? (९) दाम्पत्य जीवन में स्वर्ग उतारने की व्यावहारिक योजना बताइये ।

पतिव्रत ही नहीं, पत्नीव्रत भी निभाया जाये

विवाह का अर्थ कामसेवन की सुविधा, रोटी बनाने, घर रखाने की व्यवस्था अथवा एक कमाऊ सहयोगी मिल जाना नहीं, वरन् दो आत्माओं का एकीकरण है । प्रेम मानव तत्व की सबसे उत्कृष्ट विभूति है । आनन्द और उल्लास का सारा आधार उसी पर अवलम्बित है । प्रेम का उभयपक्षीय परिपोषण और निरन्तर अभिवर्द्धन आध्यात्मिक प्रगति की एक महत्तम साधना है । इस साधना के दो पूरक पात्रों की तरह पति-पत्नी विवाह सम्बन्ध से बँधते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि वे दोनों परस्पर आजीवन वफादारी, आत्मीयता, सेवा-सम्मान, उदारता, सहयोग, सद्भावना की दृष्टि से एक-दूसरे को अपना आराध्य मानकर गृहस्थ की नाव को खेते हुए जीवन-सागर के अन्तिम छोर तक पहुँचेंगे ।

इसी आदर्श को निबाहने के ऊपर दाम्पत्य-जीवन एवं गृहस्थ-निर्माण की प्रयोजन पूर्ति सम्भव है । विवाह से तरुण वय की उमंग वासना का भी नियन्त्रण हो जाता है । छत पर परनाला लगा होने से वर्षा का पानी इकट्ठा होकर एक ही मार्ग से निकल जाता है अन्यथा उसके किधर भी फैलने और गिरने का डर रहता है । यों विवाह का उद्देश्य एक दूसरे के आध्यात्मिक स्तर को उठाकर बौद्धिक विकास एवं सांसारिक जीवन को सुविधापूर्वक बनाना है और उसमें आध्यात्मिक संयम नितान्त आवश्यक है । फिर यदि दोनों पक्ष अपने मनोविकारों को नियंत्रित न रख सकें और परिवार बढ़ाने की योग्यता से सुसम्पन्न हों तो कामसेवन की भी एक मर्यादित गुंजाइश है पर यह मानकर ही चलना चाहिए कि विवाह जैसा पवित्र प्रयोजन केवल वासना के लिए ही सम्पन्न नहीं किया जाता । यदि ऐसा ही होता तो पशुओं की तरह वह घृणित प्रयोजन पूर्ण होते ही पति-पत्नी एक-दूसरे को भूल जाते और उपेक्षा करने लगते । वेश्यावृत्ति और व्यभिचार में गृहस्थ की मर्यादित वासना की अपेक्षा आकर्षण बहुत अधिक होता है पर कोई उद्देश्य न होने से उन लोगों में कोई किसी के प्रति वफादार नहीं रहता ।

गृहस्थ जीवन की मूल शान्ति साथी के प्रति वफादारी है । सुख-सुविधाओं में ही नहीं विपत्ति, रोग और असमर्थता में भी वफादारी अक्षुण्ण बनी रहे तो समझना चाहिए कि विवाह करने वालों ने उसका आदर्श समझ लिया । सच्चे साथी की हर किसी को प्यास है । इस सम्बन्ध में गहरी निश्चिन्तता मिल जाने पर मनुष्य को भारी सन्तोष और साहस मिलता है । बेजान चीजें एक होकर दो हो सकती हैं पर सजीव मनुष्य एक और एक मिलकर ग्यारह होते हैं । जिन गृहस्थ में पति-पत्नी को एक-दूसरे से अटूट विश्वास है, जिनकी पारस्परिक वफादारी असंदिग्ध है, जिनके बीच दुराव का एक कण भी नहीं, जो सुख-दुःख में समान रूप से साझीदार रहते हैं, एक-एक पाई के आय-व्यय की जानकारी जहाँ दोनों को रहती है, जो अपनी सुविधाओं की उपेक्षा करते हुए साथी की सुविधा को प्रधानता देते हैं, जो हँसने-हँसाने की उपयोगिता समझकर एक-दूसरे के मन का भार हलका करते रहते हैं,उन्हें ही धन्य और सफल कहा जा सकता है । आनन्द ऐसे ही गृहस्थ का है । प्रगतिशील और समुन्नत जीवन में ऐसे दाम्पत्य जीवन का भारी योगदान रहता है । यदि विवाह करना हो तो ऐसा दाम्पत्य जीवन बनाने के लिए अपनी ओर से पूर्ण प्रयत्न करने और बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए उद्यत होकर कदम बढ़ाना चाहिए अन्यथा केवल कामसेवन की सुविधा के लिए विवाह करना वेश्यावृत्ति से भी गया-गुजरा घृणित कर्म है । उसमें विश्वासघात नहीं है । उसका स्वरूप स्पष्ट है पर

विवाह के साथ जुड़े हुए आदर्शों को उपेक्षा कर केवल अपना निकृष्ट स्वार्थ सिद्ध करने के लिए साथी को असमंजस के दलदल में फँसा देना एक विश्वघात जैसी पैशाचिक धोखेबाजी है।

भारतीय दर्शन के अनुसार विवाह एक आत्म-समर्पण, उत्सर्ग तथा आस्था परिपक्व करने की घर में रहकर की जाने वाली योग साधना है। हमारा दाम्पत्य जीवन इसी स्तर का होना चाहिए। तभी उसमें वफादारी, आत्मीयता, सेवा-संतोष एवं प्रगति के फल लगेंगे। सन्तान का सद्गुणी होना पति-पत्नी की इसी मनःस्थिति पर निर्भर है। गंगा और यमुना मिलकर तीर्थराज बनता है। रात्रि और दिन का मिलन सन्ध्या-काल की पुनीत बेला विनिर्मित करता है। बिजली के दो तार मिलकर प्रवाह विद्युत उत्पन्न करते हैं। दो सच्चे अर्थों में मिले हुए अन्तःकरण वाले पति-पत्नी ही सद्गुणी, समर्थ और सुविकसित सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। जिन जोड़ों के बीच अविश्वास, आशंका, रोष, घृणा, निराशा भरी होगी उनका प्रभाव सन्तान पर अवश्य आयेगा और बच्चे शरीर, मन एवं स्वभाव की दृष्टि से अनेक दोष-दुर्गुण जन्म-जात संस्कार के रूप में लेकर जन्मेंगे और सारे परिवार के लिए एक समस्या बनकर रहेंगे।

अविश्वास और अनुदार वातावरण के बीच विवाह करते हुए भी दोनों अपने को एकाकी समझते हैं और मन आशंका से भरा रहता है कि कभी भी विश्वासघात हो सकता है। किसी तरह गाड़ी लुढ़कती भी रहे तो वह एक लोक-लाज की रस्सी में बँधा हुआ बन्धन मात्र रह जाता है। उसमें न आनन्द रहता है न उल्लास, न सरसता रहती है और न सुनिश्चितता। ऐसे लाभों से रहित गृहस्थ एक कठिनाई से ढोया जाने वाला भार मात्र ही बना रहेगा।

छोटे घर-घरानों को स्वर्ग का वातावरण निर्मित करने की एक प्रयोगशाला बनाकर रखा जाना चाहिए। पतिव्रत धर्म एवं पत्नीव्रत धर्म के अन्तर्गत दोनों के ऊपर जिन कर्त्तव्यों का, उत्तरदायित्व का भार आता है उसे अति उत्साहपूर्वक वहन किया जाना चाहिए और प्रयत्न यह होना चाहिए कि साथी की तुलना में अपनी भूमिका अधिक ऊँची बनी रहे। भारतीय नारियों की पतिव्रत-साधना एक ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्य है। उनमें ९० प्रतिशत अपना भाग ईमानदारी से पूरा करती हैं। अशिक्षा, अनुभवहीनता एवं संकुचित वातावरण में आबद्ध रहने के कारण उनके कर्त्तव्य और व्यवहार में कुछ दोष रहने स्वाभाविक हैं। इन्हीं कारणों को निवारण करके बदला जा सकता है पर उनकी ईमानदारी, वफादारी, असन्दिग्ध है। यों १० प्रतिशत में पुरुषों के उत्पन्न किये मूल दोष भी हो सकते हैं पर उनमें से अधिकांश की सज्जनता असंदिग्ध है। पतिव्रत धर्म ही स्वर्ग मोक्ष की साधना है, पति को परमेश्वर मानना चाहिए, उसके प्रति वफादारी, उदारता और सेवा-भावना बरतनी चाहिए, इन उपदेशों को बहुत दिन से सुना जाता रहा है। महिला वर्ग ने उसका पालन इतनी खूबी के साथ किया है कि इस इतिहास से संसार चमत्कृत है। आज भी भारत के गये-गुजरे गृहस्थ को देखकर पाश्चात्य सभ्यताभिमानी यही सोचते हैं कि आदर्श परिवार बसाने की प्रक्रिया भारत से सीखनी होगी। इस गौरव में नारी की ही भूमिका प्रधान है।

जो आशाएँ हम पत्नी से करते हैं उसका प्रशिक्षण पति को अपने व्यवहार एवं सद्गुणों से करना चाहिए। कोई नहीं चाहता कि हमारी पत्नी दुराचारिणी, फिजूलखर्च, दुराव रखने वाली, असहिष्णु, आवेशग्रस्त, कटुभाषी जैसी दुर्गुणयुक्त हो। इसलिए उसका कर्त्तव्य है कि पत्नी के आगे इन्हीं अपनी विशेषताओं का ध्यान रखे। बीमारी, सन्तान न होने, मन्दबुद्धि अथवा व्यवहार ज्ञान की न्यूनता के कारण पत्नी को छोड़ देने, अपमानित करने अथवा सताने की बात सोचना भी पत्नीव्रत धर्म के महान आदर्श के प्रतिकूल है। शंकर जी सर्पों को शरीर से लपेटे रहते थे। चन्दन वृक्ष पर भी साँप, बिच्छू लिपटे रहते हैं। एक सज्जन पति का भी कर्त्तव्य है कि पत्नी में इस प्रकार की कमियाँ हों तो भी अपनी ओर से कर्त्तव्य पालन में रत्ती भर भी न्यूनता न आने देकर स्नेह, सद्भावना, सेवा और उदारता का ही व्यवहार करें। पतिव्रत धर्म नारी समाज में बहुत कर जिन्दा है। अब पुरुष का काम है कि पत्नीव्रत की आदर्शवादिता को अपनाये और गृहस्थ जीवन की उत्कृष्टता से घर को स्वर्ग बनाये और संसार को एक महत्तम मार्गदर्शन प्रस्तुत करे।

प्रश्न—

(१) मानवता की सबसे उत्कृष्ट विभूति क्या है? (२) दाम्पत्य सुख का सच्चा आधार क्या है? (३) धन्य एवं सफल गृहस्थ किसे कहा जा सकता है? (४) विवाह योग साधना कैसे है? (५) सन्तान का सद्गुणी होना किन तत्वों पर निर्भर है? (६) छोटे घरों में स्वर्ग का वातावरण कैसे बनाया जा सकता है? (७) पत्नीव्रत की आवश्यकता पतिव्रत से अधिक क्यों है? (८) पतिव्रत का महान आदर्श क्या है? (९) गृहस्थी को सुखी बनाने में पति का दायित्व अधिक क्यों है? (१०) गृहस्थ जीवन का मूल आधार क्या है?

संयुक्त परिवार प्रणाली-एक श्रेयस्कर परम्परा

कुछ दिन पहले अनुभवहीनता के जोश और आवेश में यह प्रतिपादन शुरू किया गया था कि संयुक्त परिवार प्रणाली को तोड़ा जाये और उसके स्थान पर पति-पत्नी मात्र के छोटे परिवार बसाये जायें। जब तक बच्चे समर्थ न हों, तब तक माँ-बाप उनका संरक्षण करें और जैसे ही वे विवाह और आजीविका की दृष्टि से समर्थ हो जायें, वैसे ही उन्हें अलग परिवार बसाने के लिए स्वतन्त्र कर दिया जाये। पाश्चात्य देशों में यह प्रयोग पिछले दिनों बड़े उत्साह के साथ हुआ है। यूरोप, अमेरिका में अब

संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा जहाँ-तहाँ ही दीखती है । अधिकांश व्यक्ति अपना छोटा परिवार ही बसाते हैं । अपने देश में भी उसका अनुकरण सुशिक्षित वर्ग में धीरे-धीरे जोर पकड़ता जाता है । ज्यादा पढ़ी-लिखी लड़कियाँ और नई रोशनी के लड़के सम्मिलित रहना नापसन्द करते हैं । वे घरवालों से अलग घर बसाने की चेष्टा करते हैं, ताकि सम्मिलित कुटुम्ब के बोझ, उत्तरदायित्व और नियन्त्रण से छुट्टी पाकर उन्हें अधिक सुविधा से दिन काटने का अवसर मिल जाये ।

इस बढ़ती हुई अलगाव की प्रवृत्ति के बारे में हमें कई पहलुओं से उसके गुण-दोषों पर विचार करना होगा । प्रथम पाश्चात्य देश जहाँ से यह प्रवृत्ति आरम्भ हुई उनके सामने प्रस्तुत हुए प्रतिफलों को देखना पड़ेगा । आरम्भ में पति-पत्नी को, अधिक खर्च करने और कम काम करने की सुविधा मिल जाती है और नये लड़के इसमें अपना लाभ देखकर प्रसन्न होते हैं; पर कुछ ही दिनों में अपनी भूल प्रतीत होने लगती है । पत्नी गर्भवती होती है, शरीर में कितने तरह के विकार उठ खड़े होते हैं, काम कम और आराम अधिक करने की इच्छा होती है, उस समय किसी सहायक की जरूरत पड़ती है पर एकाकी गृहस्थ में तो सब कुछ स्वयं को करना पड़ेगा । प्रसवकाल में कष्ट बहुत होता है उस समय भी गहरी सहानुभूति वाला कुटुम्बी आवश्यक लगता है । प्रसूति काल में लंघन के रोगी की तरह चारपाई पकड़ लेनी पड़ती है और हर घड़ी उसकी निगरानी, सफाई, सेवा की जरूरत पड़ती है । अस्वस्थ होने पर वह रोता-चिल्लाता बहुत है । कई बार तो नींद हराम कर देता है । उसे सँभालते हुए घर के दूसरे भोजन बनाने आदि का काम जो समय पर पूरा होना चाहते हैं-मुश्किल पड़ते हैं । बच्चे बढ़ते जाते, समस्याएँ भी बढ़ती जाती हैं । संयुक्त कुटुम्ब में यह सब पता भी नहीं चलता । कोई कुछ कर जाता है, कोई कुछ सँभाल जाता है । अकेली बेचारी स्त्री क्या-क्या करे । पति अपने ही गोरखधन्धे में लगे रहते हैं, सहायता करना तो दूर-अपनी ही फरमाइशें पूरी न होने और गृह व्यवस्था में कमी आने से उल्टे झल्लाये रहने लगते हैं । उस समय नववधू को समझ आती है कि सुविधा की दृष्टि से संयुक्त परिवार प्रथा ही अच्छी थी ।

हारी-बीमारी, असमर्थता, दुर्घटना, लड़ाई-झगड़ा आदि अवसरों पर संयुक्त कुटुम्ब का लाभ प्रतीत होता है । जब एक की विपत्ति में दूसरे सब उठ खड़े होते हैं और अपने-अपने ढंग से सहायता करके बोझ हलका करते हैं । विवाह-शादियों में एकबारगी बहुत खर्च करना पड़ता है । एक व्यक्ति के लिए उतनी बचत कठिन पड़ती है पर कुटुम्ब की मिली-जुली पूँजी और आर्थिक स्थिति में वह पहिया भी लुढ़कता रहता है और खर्चीली शादियाँ भी उसी ढर्रे में होती चली जाती हैं । विधवा को आर्थिक संकट और विधुरों को गृह व्यवस्था की कठिनाई नहीं पड़ती, वे भी उसी खाँचे में समा जाते हैं और निर्वाहक्रम किसी प्रकार चलता ही रहता है । परित्यक्ताएँ और पति वियुक्त महिलाएँ अपने बच्चों समेत मैके चली जाती हैं और परिवार का भी गुजारा उसी शृंखला में बँधकर होने लगता है । ऐसी महिलायें एकाकी अपना भार स्वयं नहीं उठा पातीं और यदि एकाकी भाई है तो इतना बोझ उठाना उसके लिए भी कठिन पड़ता है । संयुक्त परिवार प्रणाली ही है, जिसमें अयोग्य, असमर्थ, पागल, दुर्गुणी भी खप जाते हैं । एकाकी होते तो उन्हें भीख मिलना, जीवित रहना भी कठिन पड़ता ।

संयुक्त परिवार प्रथा में सब सदस्यों का उपार्जन एक जगह इकट्ठा होता है और उस सम्मिलित पूँजी में बड़े व्यवसाय आसानी से आरम्भ हो जाते हैं । नौकर महँगे पड़ते हैं, ईमानदार भी नहीं होते, दिन-रात जुटे भी नहीं रहते, अधिक लाभ में उनकी दिलचस्पी भी नहीं होती, इसलिए नौकरों की अपेक्षा घर के आदमी सदा अधिक लाभदायक सिद्ध होते हैं । घर की पूँजी और घर का श्रम जुट जाये तो किसी भी व्यवसाय में लाभ होगा । किसान के लिए तो यह जीवन-मरण का प्रश्न है । उसके पास घर, खेत और पशुओं के इतने अधिक काम रहते हैं कि उनमें छोटे बच्चे और बूढ़े असमर्थ भी बहुत सहायता कर सकते हैं । सबके मिले हुए श्रम से ही कृषि और पशुपालन लाभदायक रहता है अन्यथा नौकर रखकर मामूली किसान रोटी भी नहीं पा सकता ।

वृद्धावस्था का जीवन शान और शान्ति से संयुक्त कुटम्ब में ही संभव है । जरा-जीर्ण शरीर जब अपना बोझ आप नहीं ढो पाता और रुग्णता साथी बन जाती है, तब कुटुम्बियों की सेवा, सहायता अपेक्षित रहती है । अपनी निज की कमाई या बचत न होने पर आवश्यक खर्च भी बेटे-पोते ही उठाते हैं । हारी-बीमारी में उन्हीं की सहायता मिलती है । शारीरिक और मानसिक दृष्टि से दुर्बल बने व्यक्ति की आमतौर से उपेक्षा ही होती है पर संयुक्त परिवार में मान, इज्जत ज्यों की त्यों बनी रहती है, वरन् और अधिक बढ़ जाती है । बिना पूछे कोई काम नही होता इससे वृद्ध का गर्व-गौरव एवं सम्मान भी अक्षुण्ण बना रहता है ।

अपने गरीब और कृषि प्रधान देश के लिए संयुक्त परिवार प्रणाली एक वरदान है । उसके अनेक लाभ हैं । आध्यात्मिक और भावनात्मक विकास की दृष्टि से भी उसका महत्त्व है । पिता-माता की सेवा, भाई-बहिनों की सहायता, कुटुम्बियों की समस्याएँ अपनी समझने और उन्हें सुलझाने में संलग्न रहकर व्यक्ति अपनी स्वार्थपरता को घटाता और उदारता को बढ़ाता ही है । जिसकी ममता

का दायरा जितना बड़ा है, उसे उतना ही श्रेष्ठ कहा जायेगा । स्वार्थ को शरीर से बढ़ाकर कुटुम्बियों तक विस्तृत करना–"वसुधैव कुटुम्बकम्" की महानता अपनाने का एक प्रारम्भिक ही सही पर महत्त्वपूर्ण कदम है । अपनी देह और बीबी तक की बात सोचने वाला कृपण ही कहा जायेगा और उसे चढ़ती उम्र में कुछ सुविधाएँ पा लेने के अतिरिक्त शेष जीवन में इस संकीर्णता का दण्ड ही भोगना पड़ेगा ।

आज संयुक्त कुटुम्ब इसलिए अनुपयोगी और मनोमालिन्य के केन्द्र बनते और बिखरते चले जाते हैं कि उनमें कर्त्तव्यों और अधिकारों का विभाजन ठीक तरह नहीं हो पाता । कुछ लोग बड़प्पन के नाम पर मौज करते हैं, कुछ को छोटे पद के कारण कोल्हू के बैल की तरह पिसना पड़ता है । जिनके हाथ में पूँजी या सत्ता है, वे मनमाना उपयोग करते हैं और शेष को जरा-जरा सी बात के लिए मुख ताकना और विवश रहना पड़ता है । परस्पर सौजन्य, शिष्टाचार, स्नेह, सद्भाव, सम्मान और सहयोग की भावनाएँ कम पड़ने पर भी असंतोष, रोष और मनोमालिन्य रहने लगता है । इन कारणों को दूर करने के लिए परिवार के हर सदस्य का प्रशिक्षण किया जाना चाहिए । एक आचार-संहिता रहनी चाहिए, जिसके आधार पर हर छोटे-बड़े को अपने कर्त्तव्यों का पूरा ध्यान हो और हर कोई अधिकार पाने की उपेक्षा करके कर्त्तव्य पालन के लिए अधिक तत्परतापूर्वक संलग्न रहे ।

परिवार को एक सहकारी समिति मानकर इस प्रकार गठित किया जाना चाहिए कि हर किसी को अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए स्वेच्छापूर्वक विवश होना पड़े । एक दूसरे के लिए असीम प्यार रखें और अपनी अपेक्षा अन्यों की सुविधा को प्राथमिकता देते रहें । आवेश और कटुता की, दुर्भाव और तिरस्कार की, आलस्य और अकर्मण्यता की, अहंकार और दबाव की क्षुद्रताएँ यदि निरस्त की जा सकें तो बिखरते परिवारों को पुनः संयुक्त रहने के लिए सहमत किया जा सकता है । सुव्यवस्थित आचार-संहिता पर निर्धारित हमारी संयुक्त परिवार प्रणाली अपने देश के लिए तो उपयोगी सिद्ध होगी ही साथ ही समस्त संसार को इस परम्परा को अपनाने के लिये आकर्षित करेगी ।

प्रश्न—

(१) संयुक्त परिवार प्रणाली समाप्त क्यों होती जा रही है ? (२) संयुक्त परिवार प्रणाली की उपादेयता पर प्रकाश डालें ? (३) संयुक्त परिवार प्रणाली सहकारी व्यवस्था है ? सिद्ध कीजिए ? (४) कृषि, पशुपालन एवं उद्योग धन्धो में संयुक्त परिवार को अधिक लाभ क्यों होता है ? (५) वृद्ध का मान-सम्मान एवं गौरव संयुक्त परिवार में सुरक्षित है, प्रमाणित कीजिए । (६) 'वसुधैव कुटुम्बकम्' से क्या समझते हो ? (७) संयुक्त कुटुम्ब के कतिपय दोष बताइये ? (८) संयुक्त परिवार की आचार-संहिता का आधार क्या हो ? (९) संयुक्त परिवार की परम्परा को कैसे जीवित रखा जाय ?

सन्तान कितनी और क्यों पैदा करें

कोई समय था जब देश की जनसंख्या बहुत थोड़ी थी, विस्तृत वन भरे पड़े थे । पशुपालन और कृषि के लिए मनचाही जमीन उपलब्ध थी । तब अर्थव्यवस्था और सुरक्षा के लिए परिवार के सदस्यों की संख्या बड़ी होना उपयोगी था । जंगली जानवरों और दस्युओं से निपटने में भी वे समर्थ रहते थे, जिनका परिवार बड़ा था । उन दिनों पुत्र का जन्म, सन्तान की वृद्धि एक दैवी कृपा मानी जाती थी ।

इन दिनों देश की जनसंख्या खतरे के चिन्ह तक बढ़ गई है । हर मनुष्य के हिस्से में इतनी कम भूमि आती है, जिससे पर्याप्त अन्न उत्पादन के लिए सिर तोड़ परिश्रम करने पर भी विदेशों से कर्ज उधार तथा बदले में अति आवश्यक वस्तुएँ देकर किसी प्रकार पेट पालना सम्भव होता है । अनाज की महँगाई आकाश को छू रही है । दूध, घी देवताओं को दुर्लभ हो रहा है । चाय और डालडा से इन पदार्थों की स्मृति जिन्दा है । जिस क्रम से आबादी बढ़ रही है, उसे देखते हुए अगले दिनों अन्न की कमी, महँगाई, दूध-घी की दुर्लभता बढ़ेगी । मनुष्यों के लिए ही जब निवास व अन्न कठिन हो जायेगा तो बेचारे पशु कहाँ रहेंगे–कैसे जियेंगे ?

पचास वर्ष पूर्व और आज की परिस्थिति में इस जनसंख्या की वृद्धि ने जमीन, आसमान जितना अन्तर उत्पन्न कर दिया । यह क्रम, चक्रवृद्धि क्रम से बढ़ रहा है । अस्तु, अगले दिनों यह विपन्नता और भी अधिक बढ़ेगी । उद्योग-धन्धे, व्यापार, शिक्षा, सवारी आदि के साधन कितने बढ़ाये जायँ, आबादी जिस तेजी से बढ़ रही है, उसे देखते हुए व कम ही पड़ते चले जायेंगे और दरिद्रता से लेकर अव्यवस्था तक असंख्य समस्याएँ, बढ़ती और उलझती चली जायेंगी । निवास, बेराजगारी, चिकित्सा की गुत्थियाँ अब भी पेचीदा हो रही हैं, अगले दिनों तो ये न सुलझने की स्थिति में जा पहुँचेंगी ।

संतान की संख्या बढ़ाना आज की परिस्थिति में अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में विपत्तियों को सीधा आमन्त्रण देना है । महँगाई और अपर्याप्त जीविका के कारण बच्चों के निवास, खेल-कूद के लिए स्थान कम मिलता है उन्हें पौष्टिक भोजन नहीं मिल पाता है । महँगी शिक्षा और चिकित्सा के कारण न उनकी समय के अनुरूप ऊँची पढ़ाई की व्यवस्था बन पाती है और न चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध होता है । ऐसी दशा में कौन आशा करेगा कि इन ढेरों बच्चों का समुचित विकास एवं पोषण एक औसत दर्जे का आदमी कर सकता है । उँगलियों पर गिने जाने वाले अमीरों की बात दूसरी है, सर्वसाधारण के लिए

तो यह भार जितना बढ़ेगा उतना ही असह्य बनेगा । समय कम और बच्चे अधिक होने पर उनकी ओर समुचित ध्यान भी तो नहीं दिया जा सकता । उनका स्वभाव, संस्कार, स्वास्थ्य सुविकसित करने के लिए अभिभावकों को पूरा ध्यान देना सम्भव नहीं । इसलिए वे बेचारे जंगली घास-फूस की तरह बढ़ते अपनी मौत मरते-जीते और संस्कारी, कुसंस्कारी बनते रहते हैं । ऐसे बालक सारे परिवार के लिए समस्त समाज के लिए एक सिर-दर्द ही रहते हैं । कुमार्गगामी या अस्वस्थ हो गये, तब तो उन्हें एक विपत्ति एवं अभिशाप ही कहा जायेगा ।

काम उतना ही हाथ में लेना चाहिए, जो ठीक तरह निबाहा जा सके । बच्चे उत्पन्न करना क्रीड़ा-विनोद मात्र नहीं है । उसके पीछे भारी उत्तरदायित्व लदे हैं । जो उन्हें ठीक तरह वहन कर सकने में समर्थ है । उन्हें ही यह बोझ उठाने का साहस करना चाहिए अन्यथा बिना आगा-पीछा सोचे सन्तान बढ़ाते जाना, अपने लिए, बच्चों के लिए, और समस्त समाज के लिए संकट प्रस्तुत करने का अपराध ही माना जायेगा ।

सन्तान संख्या को बढ़ाना अपनी पत्नी के साथ प्रत्यक्ष अत्याचार है । बच्चे को नौ महीने पेट में रखना, उसका शरीर अपने रक्त-माँस से बनाना, प्रसव पीड़ा, दूध पिलाना और अधूरी नींद ले पाना माता के लिए एक असाधारण भार है । उसकी पूर्ति के लिए उसे बहुमूल्य पौष्टिक भोजन, विश्राम तथा कई तरह की सुविधाएँ चाहिए । ये न मिलें और एक के बाद दूसरे बच्चे जल्दी-जल्दी पैदा होते चले जायें तो निश्चित रूप से उस माता का स्वास्थ्य बिगड़ जायेगा । अपने देश की चौथाई स्त्रियों का स्वास्थ्य इसी कारण खराब है, उन्हें अनेक तरह के भीतरी रोग घेरे रहते हैं । जवानी दो चार वर्ष के भीतर चली जाती है और देखते-देखते बुढ़ापा आ घेरता है । प्रसव काल में अगणित स्त्रियाँ मरती हैं । दुर्बल शरीरों के लिए यह भार आखिर क्या परिणाम उत्पन्न कर सकता है ? यह स्पष्टतः एक हत्या-काण्डों की शृंखला है । जो जिस वजन को उठाने में असमर्थ है उसके ऊपर लादते ही चले जायें तो आखिर बेचारे को मरना ही पड़ेगा । हम कहने भर को ही अपनी पत्नी से दिखावटी प्यार करते हैं, व्यवहार हमारा कसाई जैसा होता है । प्रजनन के भार से कराहती हुई, बेमौत मरती हुई, अनेक रोगों से ग्रस्त महिलाओं की अगणित आत्माएँ अपने पतियों के नृशंस अत्याचारों की शिकार होती हैं । भले ही कोई इस तथ्य की उपेक्षा करे पर सच्चाई तो अन्ततः सच्चाई ही रहेगी । दुर्बल माताएँ चिड़चिड़ी, दुर्गुणी और रुग्ण सन्तान ही उत्पन्न करेंगी । उससे किसी परिवार को प्रसन्नता अनुभव करने का नहीं, विपत्ति का ही मुख देखना पड़ेगा । अच्छा हो हम समझ से काम लें और प्रस्तुत परिस्थितियों को देखते हुए सन्तान की संख्या वृद्धि का संकट मोल लेने से पहले हजार बार उस जिम्मेदारी के सम्बन्ध में विचार करें । यदि अपनी पत्नी की शारीरिक, मानसिक और आर्थिक स्थिति इसके लिए हर दृष्टि से उपयुक्त है तो आगे बढ़ें अन्यथा कदम रोक लेने में ही दूरदर्शिता है ।

अच्छा हो लड़के और लड़कियों के विवाह बड़ी आयु में किये जायें । अच्छा हो वानप्रस्थ की परम्परा चले और चालीस वर्ष से अधिक आयु के व्यक्ति प्रजनन क्रिया से मुँह मोड़ लें । अच्छा हो जिनके बच्चे नहीं होते उनकी सब लोग मिल-जुलकर प्रशंसा करें और उनके सौभाग्य को सराहें । अच्छा हो पहला बच्चा देर से उत्पन्न करें और दो बच्चों के बाद उस प्रक्रिया को बन्द कर दिया जाये । जिस तरह भी हो हमें जनसंख्या वृद्धि को निरुत्साहित ही करना चाहिए ।

आज की परिस्थिति में बच्चों को बढ़ाना सौभाग्य सूचक नहीं, दुर्भाग्य का प्रतीक बन गया है । प्राचीनकाल में सन्तान की कामना और प्रार्थना की जाती थी, उनके जन्म का उत्सव मनाया जाता हो तो बात समझ में आती है, पर आज भी उसी तरह सोचना अनुपयुक्त है । एक रुपये के बीस-तीस सेर गेहूँ मिकने के दिनों की बात आज पाँच सेर भाव के गेहूँ के दिनों में ज्यों की त्यों लागू नहीं की जा सकती । तब सन्तानहीन अभागे कहे जाते थे । पर आज तो सच्चे अर्थों में वे ही भाग्यवान हैं । उन्हें देशभक्त एवं पुण्यात्मा कहा जा सकता है क्योंकि उन्होंने राष्ट्रीय संकट को बढ़ाने का पाप नहीं किया ।

अपना देश मूढ़-मान्यताओं के जंजालों में जकड़ा हुआ है । इसमें लोग पाँच हजार वर्ष पुराने ढर्रे पर ही अभी भी सोचने के आदी हैं । विवाह होते ही सन्तान की शीघ्रता पड़ती है । जिसने बच्चा पैदा कर लिया, उसने किला जीत लिया, जो उससे बचा रहा वह अभागा और अभावग्रस्त समझा गया । असंख्य नर-नारी इसी मूढ़ विचार-धारा में प्रवाहित होकर सन्तान के अभाव में रोते, कलपते पाये जाते हैं । सन्तान न होने पर पति-पत्नी अधिक स्वस्थ रह सकते हैं । शिशुपालन से बचे हुए समय और धन को समाज सेवा की ज्ञान-यज्ञ जैसी अति महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं में व्यय कर सकते हैं और अपना लोक-परलोक हर दृष्टि से शानदार बना सकते हैं । बेटे से वंश चलने और पिण्ड मिलने वाली बात दिल्लगीबाजी जितना ही महत्त्व रखती है । पिण्ड अपने ही सत्कर्मों का मिलता है, बेटे का उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं । वंश अपने यश का चलता है अन्यथा ३-४ पीढ़ी के बाद तो अपने ही अंश-वंश के लोग नाम भूल जाते हैं, फिर आगे उसके चलने की क्या आशा है ।

हम आज की परिस्थितियों को समझें और सन्तान उत्पादन का उत्तरदायित्व तभी वहन करें जब उसकी योग्यता एवं क्षमता अपने में हो, ऐसी दशा में भी संख्या न्यूनतम ही रखना उचित है ।

प्रश्न—

(१) प्राचीनकाल में सन्तान की संख्या वृद्धि पर जोर क्यों दिया जाता था ? (२) आजकल परिवार नियोजन कर सन्तान की

संख्या कम करने की आवश्यकता क्यों है ? (३) आज के बालक समाज के लिए समस्या क्यों बनते जा रहे हैं (४) अपने देश में स्त्रियों के निरन्तर गिरते जाने वाले स्वास्थ्य का मूल कारण क्या है ?(५) विवाह की आयु में वृद्धि क्यों आवश्यक है ? (६) वानप्रस्थ आश्रम का पुनः प्रारम्भ किसलिए जरूरी है ? (७) जनसंख्या कम करने के व्यावहारिक उपाय क्या हैं ? (८) सिद्ध कीजिए कि आधुनिक युग में सन्तान वृद्धि की कामना एक मूढ़ मान्यता है ?

सुसंस्कृत संतान के लिए पूर्व तैयारी आवश्यक

संतानोत्पादन एक शारीरिक मनोरंजन या इन्द्रियलिप्सा की परिणति नहीं वरन् एक महान उत्तरदायित्व है । जिसके दूरगामी परिणाम होते हैं । बच्चा माँ के पेट में जिस दिन से आता है उसी दिन से अपने पिण्ड की अभिवृद्धि के लिए माता के शरीर से खुराक माँगता है । नौ महीने पेट में रहकर वह अपना माँस, अस्थि आदि से सम्पन्न कलेवर धीरे-धीरे बनाता है, यह सारी खुराक माँ के शरीर में से ही निकल कर आती है । देखना होगा कि जननी के शरीर में इतना रक्त-माँस है कि नहीं जिसके बल पर वह अपना ढाँचा खड़ा कर सके और नये शिशु की खुराक सँजो सके । इतना ही नहीं अति कष्टदायक प्रसव पीड़ा गर्भावस्था के दिनों में भूख न लगने, उलटी आने, अपच रहने, सिर दर्द, नींद न आने सरीखे शारीरिक दबावों को सहन कर सकती है या नहीं यह देखना आवश्यक है । शिशु जन्मते ही अपना आहार माता के दूध से प्राप्त करता है । यह दूध और कुछ नहीं जननी के रक्त का ही प्रकारान्तर है, फिर पालन-पोषण में दिल दत्तचित रहने, नींद पूरी न कर पाने तथा दूसरी कठिनाइयों को सहने का बोझ माता पर ही पड़ता है । यदि उसका शरीर, स्वास्थ्य इस योग्य है तो ही उसे प्रजनन के लिए कदम बढ़ाना चाहिए । शिशु जन्म से पूर्व जननी बनने की इच्छुक माता का शारीरिक स्वास्थ्य उपरोक्त भार वहन कर सकने में समर्थ है या नहीं, यह देखकर ही किसी महिला के कंधे पर यह बोझ डाला जाना चाहिए.।

पिता के ऊपर शिशु जन्म के साथ अनेक उत्तरदायित्व आते हैं । प्रजनन के साथ पत्नी के स्वास्थ्य को पहुँचने वाली क्षति की पूर्ति करने योग्य आहार-विहार की व्यवस्था, बच्चे को सुविकसित होने योग्य पौष्टिक आहार, वस्त्र, चिकित्सा, आदि का प्रबन्ध, उच्च शिक्षा का सुप्रबन्ध, विवाह शादी, आजीविका जैसे खर्चीले उत्तरदायित्व पिता के कंधे पर आते हैं । अपनी आर्थिक स्थिति कितने बच्चों का कितना बोझ उठा सकती है । इस पर हजार बार विचार किया जाना चाहिए और जितने बालकों को सुविकसित बना सकने योग्य अपनी आय है उसी के अनुरूप सन्तानोत्पादन का साहस करना चाहिए । अपनी अर्थ क्षमता से अधिक सन्तानोत्पादन एक ऐसा निन्दनीय कार्य है जिसे बच्चों के साथ अत्याचार ही कहा जा सकता है । भूखे, नंगे, बीमार, अशिक्षित, कुसंस्कारी, अविकसित, अस्त-व्यस्त बच्चे, अपने स्वयं के लिए-माता पिता के लिए एक समस्या ही बनते हैं । वे समाज के लिए भी भार बनते हैं । अर्द्धविकसित और कुसंस्कारी बालक समाज में विकृतियाँ और विपत्तियाँ ही उत्पन्न कर सकते हैं । जिनका पाप उन अविवेकी माता-पिता पर पड़ता है जिन्होंने अपनी परिस्थितियों को तोले बिना सन्तानोत्पादन जैसे अति जिम्मेदारी के कार्य को ऐसे ही आरम्भ कर डाला ।

पालन-पोषण ही नहीं, बच्चों की एक महती आवश्यकता सुसंस्कारी बनाने की है । यह स्कूली शिक्षा से भी अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है । बालक जब तक पूर्ण वयस्क नहीं हो जाता, शैशव और किशोर अवस्था से ही अपने परिवार के रहन-सहन और आचार-विचारों से ही अपनी मनोभूमि, विचारणा और आदतें विनिर्मित करता रहता है । यदि अभिभावकों ने अपने को बुरी आदतों और कुसंस्कारों से निर्मित कर रखा है तो वे बुराइयाँ बच्चे की मनोभूमि में अनायास ही उतरती चली जायेंगी । उपदेशों का प्रभाव छोटी आयु में पड़ता है छोटा बच्चा तो समीपवर्ती गतिविधियों को ही हृदयंगम करता है और वैसा ही अनुकरण करने योग्य स्वभाव का निर्माण करता है । बालक देखने में ही नासमझ मालुम पड़ता है वस्तुतः उसकी स्थूल संवेदना शक्ति युवा व्यक्तियों से भी बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है और वह बिना कहे-सुने ही जो हो रहा है सीखता रहता है ।

अभिभावक की शान्ति और प्रसन्नता उन्हीं बालकों से मिल सकती है जो सज्जन प्रकृति के, सन्मार्गगामी और सुव्यवस्थित हों अन्यथा बड़े होने पर वे माँ-बाप की सहायता करना तो दूर उन्हें तरह-तरह से त्रास देते हैं । बड़े बच्चे अपने निमित्त घर की अधिकांश पूँजी खर्च करा लेते हैं । बाप इन्तजार देखता है कि वह कुछ कमाकर अपने छोटे भाई-बहिनों की सहायता करेगा पर कमाने योग्य होते ही बीबी को लेकर अलग हो जाते हैं । खोखली आर्थिक स्थिति का दण्ड शेष छोटे बच्चों को सहना पड़ता है । कुसंस्कारी बच्चे माँ-बाप से हमेशा खर्च ही कराते हैं, उन्हें सताते और अपमानित करते हैं तथा आये दिन ऐसी घटनाएँ उत्पन्न करते रहते हैं जिनसे अभिभावकों को समाज में अपने उन कपूतों की करतूतों पर लज्जा से सिर झुकाये चलना पड़े ।

इन सब आपत्तियों से बचने के लिए सन्तानोत्पादन से पूर्व माता-पिता को बार-बार विचार करना चाहिए और

है । यों यह प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है पर उसका बहुत बड़ा अंश शैशव काल में ही पूरा हो चुकता है । इसलिए अभिभावकों को यदि अपने बच्चे संस्कारवान और सद्गुणी बनाने हों तो वातावरण ऐसा बनाने का पूरा ध्यान देना चाहिए जिससे उन्हें सुसंस्कृत बनने का उपयुक्त आधार मिल सके ।

यह भली-भाँति समझ रखना चाहिए कि व्यक्ति की सुख-शान्ति के लिए स्वास्थ्य, शिक्षा, शादी, आजीविका आदि की आवश्यकता तो है पर काम इतने से ही नहीं चल सकता । आदतें और अभिलाषाएँ यदि घटिया किस्म की हैं तो व्यक्ति का दृष्टिकोण, स्वभाव एवं व्यवहार ओछे स्तर का होगा, फलस्वरूप वह स्वयं विक्षुब्ध रहेगा, परिवार वालों को अपने व्यवहार से दुःखी करेगा और समाज के लिए ऐसी विकृतियाँ उत्पन्न करेगा जिनसे क्लेश और द्वेष भरी दुष्प्रवृत्तियों की एक लम्बी शृंखला चल पड़े ।

यदि हम अपने बालकों को समुचित प्यार करते हों और वस्तुतः उनका भविष्य उज्ज्वल देखना चाहते हों तो उचित यही है कि उनको संस्कारवान बनाने की तैयारी में जुट जायें । सन्तानोत्पादन की क्रिया आरम्भ करने से पूर्व पति-पत्नी को अपने दोष-दुर्गुणों का परिष्कार करना चाहिए और सुसंस्कृति एवं सम्भ्रान्त सज्जनों की तरह आचरण, व्यवहार एवं सम्भाषण की समस्त गतिविधियाँ सुधार लेनी चाहिए । बीज में जो प्रकृति होगी वही पौधे में आवेगी । मक्का से मक्का उगेगा और गेहूँ से गेहूँ । बाप का बीज और माता की जमीन दोनों का समान महत्त्व है सन्तान रूपी उपवन के निर्माण में । इसलिए जो केवल नर आकृति के ही नहीं मानव प्रकृति के बालक उत्पन्न करना चाहते हों उन्हें विवाह के बाद तुरन्त इस प्रयत्न से जुट जाना चाहिए कि अपने समस्त दोष-दुर्गुणों को जल्दी से जल्दी निकाल बाहर करें और प्रयत्नपूर्वक समस्त सद्गुणों को अपने आचरण में सम्मिलित कर लें । होनहार बालकों की उत्पत्ति का मूल आधार यहीं से प्रारम्भ होता है । गर्भावस्था में सुने हुए ज्ञान के आधार पर अभिमन्यु ने बड़े होकर चक्रव्यूह का वेधन किया था । अपने बालक भी माता के गर्भ में बैठे हुए बहुत कुछ सीखते, समझते और ग्रहण करते रहते हैं । गर्भवती के आस-पास प्रसन्नता, उल्लास, सद्भावना, आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता का वातावरण बना रहना चाहिए । उसे क्रुद्ध, असन्तुष्ट, खिन्न एवं उद्विग्न रहने की स्थिति सहन न करनी पड़े इसका समुचित ध्यान रखा जाये ।

शिशु जन्म के बाद माता-पिता की समस्त प्रकार की घर की ऐसी परिस्थितियाँ बननी चाहिए जिसमें अस्वच्छता, कुढ़न, मनोमालिन्य, उद्दण्डता एवं अनैतिकता के लिए कोई गुंजायश न हो । सब लोग ध्यान रखें कि बहुत ही कुशल और सम्वेदनशील गुप्तचर की तरह नवजात बालक हमारे आचरण और व्यवहार से बहुत कुछ सीख रहा है । इन दिनों जो उसे सिखाया जायेगा उसी के आधार पर उसकी प्रकृति बनेगी और बड़े होने पर उसका भविष्य उसी प्रकार का विनिर्मित होगा । इस तथ्य को समझने वाले लोगों का यह एक अनिवार्य कर्त्तव्य हो जाता है कि अपने दुर्गुणों पर नियन्त्रण रखें और घर में सज्जनता की सौम्य परिस्थितियाँ बनाये रखने के लिए जो भी त्याग करना पड़े उसके लिए खुशी-खुशी तैयार हों । माता-पिता को परस्पर लड़ने-झगड़ने से पूरी तरह बचना चाहिए और काम-क्रीड़ा पर अधिक से अधिक नियन्त्रण रखना चाहिए ताकि बच्चों के कुसमय ही बिगड़ने का दुष्परिणाम सामने न आये ।

बच्चे स्कूल में तो केवल भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल आदि पढ़ते हैं । अब वहाँ प्राचीनकाल के स्कूलों जैसा वातावरण कहाँ है जहाँ बालक सुसंस्कार भी प्राप्त करें । बच्चे का शिक्षण उपदेश पर नहीं अनुकरण पर निर्भर है । उनका अविकसित मस्तिष्क लम्बे, चौड़े उपदेशों या कठोर निर्देशों के समझने में असमर्थ रहता है पर जो कुछ हो रहा है उसे समझने और अपनाने में उसका अन्तःकरण पूर्ण समर्थ होता है इसलिए उन्हें जो कुछ सिखाया जाना हो उसका प्रत्यक्ष रूप सामने प्रस्तुत करना चाहिए । आज के स्कूल, अध्यापक बच्चों को एक बहुत छोटी सीमा तक ही सुधार सकते हैं । क्योंकि वहाँ न वातावरण है न चरित्र । बालकों के स्वभाव एवं चरित्र का निर्माण तो घर की पाठशाला से ही सम्भव है । इसलिए प्रयत्नपूर्वक यह चेष्टा की जानी चाहिए कि घर का वातावरण बहुत ही निर्मल, शान्तिमय, सदाचारी एवं सज्जनतापूर्ण हो । घर के सब लोग परस्पर मधुर सम्भाषण करें प्रेमपूर्वक रहें और एक-दूसरे की भरपूर सहायता करने को उदारतापूर्वक तत्पर रहें तो बिना किसी प्रशिक्षण, उपदेश के ही बालक उन सद्गुणों को ग्रहण करते चले जायेंगे और बड़े होने पर वैसे ही बनेंगे जैसा कि उन्हें बचपन में अभिभावकों द्वारा सिखाया एवं बनाया गया था ।

बच्चे उत्पन्न करना व्यक्तिगत क्रीड़ा-विनोद का विषय नहीं है । एक नये व्यक्ति के जन्म एवं उसके व्यक्तित्व को निर्मित करने का यह महान उत्तरदायित्व है । यदि हम इस कर्त्तव्य को भूलते हैं तो स्वयं उद्विग्न रहने वाले, परिवार को दुःखी करने वाले और समाज में दुष्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने वाले राक्षसों को उत्पन्न करेंगे और अपने पाप से अपने और सबके लिए नरक का सृजन करेंगे । उचित यही है कि यदि बालक उत्पन्न करने का साहस करते हैं तो उन्हें सुसंस्कृत बनाने का वातावरण भी उत्पन्न करें । तभी विवाह प्रजनन की सार्थकता है ।

प्रश्न--

(१) अभिभावकों के प्रमुख कर्त्तव्य क्या हैं ? (२) बच्चों का विकास किन बातों पर निर्भर करता है ? (३) शिशु निर्माण के सम्बन्ध में रहस्य की बात क्या है ? (४) व्यक्ति की सुख-शान्ति के लिए किन तत्वों की आवश्यकता है (५) बच्चों को सस्कारवान् बनाने के लिए माता-पिता को क्या करना चाहिए ? (६) गर्भवती के आस-

यदि अपने को इस उत्तरदायित्व को वहन करने योग्य पायें तो प्रजनन से बहुत पूर्व अपने शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक धरातल एवं पारिवारिक वातावरण को उतना उत्कृष्ट बनाने में जुट जायें कि जन्मने वाले बालक हर दृष्टि से परिष्कृत एवं सुसंस्कृत ही सिद्ध हों । गीली मिट्टी को जिस ठप्पे में दबाया जाता है उसी शक्ल के खिलौने में वह बदल जाती है । अभिभावक एक प्रकार के ठप्पे हैं उन्हीं की नकल, प्रतिच्छवि बालक बनते चले जाते हैं । यदि बालकों को सुख-शान्ति से जी सकने वाले और अपने सम्बन्धियों को प्रसन्न, संतुष्ट रख सकने वाले, सुसंस्कृत बनाने का मन हो तो उसका एक ही उपाय है कि माता-पिता अपने को पहले से ही वैसा बनाने और सारे परिवार को उसी ढाँचे में ढालने के लिए प्राण-पण से चेष्टा करने लग जायें ।

बिना तैयारी के कुसंस्कारी और अविकसित बालक उत्पन्न करना समाज और देश के साथ अपराध, विश्वासघात करने के समान है । देश में गुजारे के लायक अन्न, वस्त्र पैदा नहीं होता संसार भर के सामने पेट दिखाकर, गिड़गिड़ाकर हम अन्न पाते हैं । ऐसी दशा में और बच्चे बढ़ाते जाना देश की दरिद्रता एवं संकट बढ़ाना ही है । इस पर भी यदि वे अविकसित हैं तो भूखे मरेंगे, लड़ेंगे और अपराध करेंगे । इससे राष्ट्र में अशान्ति एवं विपत्ति ही बढ़ेगी । उनकी गतिविधियाँ राष्ट्र की दुर्बलता ही बढ़ा सकती हैं । कुसंस्कारी नागरिकों से भरा हुआ देश, समाज सामूहिक रूप से पतन के गर्त में ही गिरता चला जायेगा ।

प्रगति, पदार्थों या सुविधा-साधनों की अभिवृद्धि को नहीं कहते वह तो प्रतिभाशाली उत्कृष्ट व्यक्तित्वों की संख्या बढ़ाने पर निर्भर रहती है । कोई देश या समाज अपने सुयोग्य और सद्गुण सम्पन्न सुविकसित नागरिकों से ही बलवान, समृद्ध और यशस्वी बनता है । व्यक्तिगत और समूहगत वर्चस्व सुयोग्य पीढ़ियों पर ही अवलम्बित है । इस प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए प्रजनन की जिम्मेदारी उठा सकने में समर्थ दम्पति पहले अपने को शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर सुयोग्य बनाने में लग जायें और जब पूर्ण विश्वास हो जाये कि हम राष्ट्र को सुसंस्कृत एवं सुविकसित नये नागरिक दे सकने में सफल हो सकते हैं तभी उन्हें सन्तानोत्पादन का महान उत्तरदायित्व कंधे पर लेने का साहस करना चाहिए ।

प्रश्न–

(१) सिद्ध करो सन्तानोत्पादन इन्द्रिय लिप्सा नहीं एक महान उत्तरदायित्व है ? (२) सन्तानोत्पादन के साथ-साथ पिता के दायित्व क्या हैं ? (३) बच्चे समस्या कब बनते हैं ? (४) बच्चो को सुसंस्कारी बनाना क्यों आवश्यक है ? (५) अभिभावक को शान्ति व प्रसन्नता कैसे मिल सकती है ? (६) बच्चों को सुसंस्कृत बनाने के लिए माता-पिता क्या करें ? (७) कहते हैं कुसंस्कारी बालक देना राष्ट्रीय अपराध है क्यों ? (८) राष्ट्र समृद्ध और यशस्वी कैसे बनता है ? (९) प्रजनन की के निर्वाह के लिए कौन-सी तैयारियाँ आवश्यक हैं ।

बालकों को जन्म ही न दें– उनका निर्माण भी करें

बालक अपने साथ हमारे लिए कर्तव्य और उत्तरदायित्व भी लेकर आते हैं और उन्हें पालन करना अभिभावकों के लिए आवश्यक होता है । बच्चे की शरीर रक्षा के लिए उसके भोजन, वस्त्र, सफाई, चिकित्सा, विश्रान्ति आदि का प्रबन्ध करना होता है । बड़े होने पर उनकी शिक्षा, शादी, आजीविका आदि आवश्यकताएँ पूरी करने के साधन भी जुटाने होते हैं । इतना ध्यान आमतौर से अभिभावकों को रखना होता है और वे अपने-अपने ढंग से उसकी पूर्ति भी करते हैं ।

किन्तु बात यहीं तक समाप्त नहीं हो जाती । इससे भी आगे के कर्तव्य और उत्तरदायित्व अभिभावकों के हैं जिनके न समझने एवं न निबाहने से बच्चे अनेक दुर्गुणों से घिर जाते हैं और अपने लिए, परिवार के लिए-समाज के लिए एक अभिशाप सिद्ध होते हैं । दुर्गुणों से बचाना और सद्गुणों से अभ्यस्त कराना भी अभिभावकों का कर्तव्य है । यह बात भुला नहीं दी जानी चाहिए ।

बच्चा कुछ जन्मजात भले-बुरे संस्कार लेकर अवश्य आता है पर उनका विकसित अथवा नष्ट होना बहुत कुछ परिस्थितियों पर निर्भर रहता है । अभिभावकों की मनोभूमि और घर की परिस्थितियों पर प्रायः बच्चों का मानसिक विकास निर्भर रहता है । कुछ विरले ही बालक ऐसे अपवाद देखे जाते हैं जो परिवार की परिस्थितियों से भिन्न प्रकार का व्यक्तित्व निर्माण कर सके हों । व्यवसाय तो बदलते रहते हैं । गरीबी, अमीरी और रंग-रूप भी बदल जाते हैं पर स्वभाव और संस्कार प्रायः आजीवन वैसे ही बने रहते हैं जैसे बचपन में उपलब्ध हुए थे । इसलिए यदि अपने बच्चों को दुर्गुणों से बचाना हो औ सद्गुणी बनाना हो तो उनके जन्म से पूर्व ही वह तैयारी करनी चाहिए कि उन्हें सुसंस्कृत वातावरण मिले, जिसमें पलकर वे सज्जन, सुसंस्कृत एवं सद्गुणी बन सकें ।

यह एक रहस्यमय तथ्य है कि बालक गर्भ में आने के दिन से ही सीखना आरम्भ करता है और पाँच वर्ष का होने तक अपनी मनोभूमि के निर्माण का कार्य तीन चौथाई पूरा कर लेता है । इस अवधि में बालक बहुत सम्वेदनशील रहता है । किशोर एवं युवा होने पर स्कूली पढ़ाई, व्यावसायिक ज्ञान, कला-कौशल, लोक-व्यवहार, खेल-कूद आदि की शिक्षा प्राप्त की जाती है, क्योंकि इन कार्यों के उपयुक्त मस्तिष्कीय विकास बड़ी आयु में ही होता है । किन्तु स्वभाव, संस्कार, चरित्र, आस्थाएँ जिस आयु में सीखी जाती हैं वह गर्भ में प्रवेश करने वाले दिन से लेकर पाँच वर्ष तक ही हैं । उस अवधि में अचेतन मस्तिष्क बहुत संवेदनशील रहता है और निकटवर्ती वातावरण से जो कुछ सोचा या किया जाता है उसका बहुत ही स्पष्ट चित्र अपनी अन्तःभूमिका पर उतरता जाता

है । यों यह प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है पर उसका बहुत बड़ा अंश शैशव काल में ही पूरा हो चुकता है । इसलिए अभिभावकों को यदि अपने बच्चे संस्कारवान और सद्गुणी बनाने हों तो वातावरण ऐसा बनाने का पूरा ध्यान देना चाहिए जिससे उन्हें सुसंस्कृत बनने का उपयुक्त आधार मिल सके ।

यह भली-भाँति समझ रखना चाहिए कि व्यक्ति की सुख-शान्ति के लिए स्वास्थ्य, शिक्षा, शादी, आजीविका आदि की आवश्यकता तो है पर काम इतने से ही नहीं चल सकता । आदतें और अभिलाषाएँ यदि घटिया किस्म की हैं तो व्यक्ति का दृष्टिकोण, स्वभाव एवं व्यवहार ओछे स्तर का होगा, फलस्वरूप वह स्वयं विक्षुब्ध रहेगा, परिवार वालों को अपने व्यवहार से दुःखी करेगा और समाज के लिए ऐसी विकृतियाँ उत्पन्न करेगा जिनसे क्लेश और द्वेष भरी दुष्प्रवृत्तियों की एक लम्बी शृंखला चल पड़े ।

यदि हम अपने बालकों को समुचित प्यार करते हों और वस्तुतः उनका भविष्य उज्ज्वल देखना चाहते हों तो उचित यही है कि उनको संस्कारवान बनाने की तैयारी में जुट जायें । सन्तानोत्पादन की क्रिया आरम्भ करने से पूर्व पति-पत्नी को अपने दोष-दुर्गुणों का परिष्कार करना चाहिए और सुसंस्कृति एवं सम्भ्रान्त सज्जनों की तरह आचरण, व्यवहार एवं सम्भाषण की समस्त गतिविधियाँ सुधार लेनी चाहिए । बीज में जो प्रकृति होगी वही पौधे में आवेगी । मक्का से मक्का उगेगा और गेहूँ से गेहूँ । बाप का बीज और माता की जमीन दोनों का समान महत्त्व है सन्तान रूपी उपवन के निर्माण में । इसलिए जो केवल नर आकृति के ही नहीं मानव प्रकृति के बालक उत्पन्न करना चाहते हों उन्हें विवाह के बाद तुरन्त इस प्रयत्न से जुट जाना चाहिए कि अपने समस्त दोष-दुर्गुणों को जल्दी से जल्दी निकाल बाहर करें और प्रयत्नपूर्वक समस्त सद्गुणों को अपने आचरण में सम्मिलित कर लें । होनहार बालकों की उत्पत्ति का मूल आधार यहीं से प्रारम्भ होता है । गर्भावस्था में सुने हुए ज्ञान के आधार पर अभिमन्यु ने बड़े होकर चक्रव्यूह का वेधन किया था । अपने बालक भी माता के गर्भ में बैठे हुए बहुत कुछ सीखते, समझते और ग्रहण करते रहते हैं । गर्भवती के आस-पास प्रसन्नता, उल्लास, सद्भावना, आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता का वातावरण बना रहना चाहिए । उसे क्रुद्ध, असन्तुष्ट, खिन्न एवं उद्विग्न रहने की स्थिति सहन न करनी पड़े इसका समुचित ध्यान रखा जाये ।

शिशु जन्म के बाद माता-पिता की समस्त प्रकार की घर की ऐसी परिस्थितियाँ बननी चाहिए जिसमें अस्वच्छता, कुढ़न, मनोमालिन्य, उद्दण्डता एवं अनैतिकता के लिए कोई गुंजायश न हो । सब लोग ध्यान रखें कि बहुत ही कुशल और सम्वेदनशील गुप्तचर की तरह नवजात बालक हमारे आचरण और व्यवहार से बहुत कुछ सीख रहा है । इन दिनों जो उसे सिखाया जायेगा उसी के आधार पर उसकी प्रकृति बनेगी और बड़े होने पर उसका भविष्य उसी प्रकार का विनिर्मित होगा । इस तथ्य को समझने वाले लोगों का यह एक अनिवार्य कर्त्तव्य हो जाता है कि अपने दुर्गुणों पर नियन्त्रण रखें और घर में सज्जनता की सौम्य परिस्थितियाँ बनाये रखने के लिए जो भी त्याग करना पड़े उसके लिए खुशी-खुशी तैयार हों । माता-पिता को परस्पर लड़ने-झगड़ने से पूरी तरह बचना चाहिए और काम-क्रीड़ा पर अधिक से अधिक नियन्त्रण रखना चाहिए ताकि बच्चों के कुसमय ही बिगड़ने का दुष्परिणाम सामने न आये ।

बच्चे स्कूल में तो केवल भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल आदि पढ़ते हैं । अब वहाँ प्राचीनकाल के स्कूलों जैसा वातावरण कहाँ है जहाँ बालक सुसंस्कार भी प्राप्त करें । बच्चे का शिक्षण उपदेश पर नहीं अनुकरण पर निर्भर है । उनका अविकसित मस्तिष्क लम्बे, चौड़े उपदेशों या कठोर निर्देशों के समझने में असमर्थ रहता है पर जो कुछ हो रहा है उसे समझने और अपनाने में उसका अन्तःकरण पूर्ण समर्थ होता है इसलिए उन्हें जो कुछ सिखाया जाना हो उसका प्रत्यक्ष रूप सामने प्रस्तुत करना चाहिए । आज के स्कूल, अध्यापक बच्चों को एक बहुत छोटी सीमा तक ही सुधार सकते हैं । क्योंकि वहाँ न वातावरण है न चरित्र । बालकों के स्वभाव एवं चरित्र का निर्माण तो घर की पाठशाला से ही सम्भव है । इसलिए प्रयत्नपूर्वक यह चेष्टा की जानी चाहिए कि घर का वातावरण बहुत ही निर्मल, शान्तिमय, सदाचारी एवं सज्जनतापूर्ण हो । घर के सब लोग परस्पर मधुर सम्भाषण करें प्रेमपूर्वक रहें और एक-दूसरे की भरपूर सहायता करने को उदारतापूर्वक तत्पर रहें तो बिना किसी प्रशिक्षण, उपदेश के ही बालक उन सद्गुणों को ग्रहण करते चले जायेंगे और बड़े होने पर वैसे ही बनेंगे जैसा कि उन्हें बचपन में अभिभावकों द्वारा सिखाया एवं बनाया गया था ।

बच्चे उत्पन्न करना व्यक्तिगत क्रीड़ा-विनोद का विषय नहीं है । एक नये व्यक्ति के जन्म एवं उसके व्यक्तित्व को निर्मित करने का यह महान उत्तरदायित्व है । यदि हम इस कर्त्तव्य को भूलते हैं तो स्वयं उद्विग्न रहने वाले, परिवार को दुःखी करने वाले और समाज में दुष्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने वाले राक्षसों को उत्पन्न करेंगे और अपने पाप से अपने और सबके लिए नरक का सृजन करेंगे । उचित यही है कि यदि बालक उत्पन्न करने का साहस करते हैं तो उन्हें सुसंस्कृत बनाने का वातावरण भी उत्पन्न करें । तभी विवाह प्रजनन की सार्थकता है ।

प्रश्न–

(१) अभिभावकों के प्रमुख कर्त्तव्य क्या हैं ? (२) बच्चों का विकास किन बातों पर निर्भर करता है ? (३) शिशु निर्माण के सम्बन्ध में रहस्य की बात क्या है ? (४) व्यक्ति की सुख-शान्ति के लिए किन तत्वों की आवश्यकता है (५) बच्चों को संस्कारवान् बनाने के लिए माता-पिता को क्या करना चाहिए ? (६) गर्भवती के आस-

पास कैसा वातावरण रहना चाहिए ?(७) शिशु जन्म के बाद माता-पिता को अपना आचरण कैसा रखना चाहिए ? (८) बच्चों का सच्चा शिक्षण कहाँ होता है यह किस पर निर्भर है ?(९) विवाह प्रचलन की सार्थकता किस में हैं ? (१०) प्रयत्नपूर्वक कैसी चेष्टा की जानी चाहिए ?

सन्तान को स्वावलम्बी भर बनाना ही पर्याप्त है

मनुष्य यदि सन्तान उत्पन्न करता है, तो स्वभावतः उसकी यह जिम्मेदारी भी होती है कि उनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, विवाह एवं आजीविका की व्यवस्था जुटाने का भी प्रबन्ध करें । सृष्टि के सभी जीवों में यह प्रचलन है कि सन्तान जब तक अपने पैरों पर खड़ी होकर अपना निर्वाह स्वयं न करने लगे तब तक उसकी सहायता करते हैं । मनुष्य के लिए यह उचित है कि बालकपन और किशोरावस्था में बच्चों के भरण-पोषण की, भोजन वस्त्र की, शिक्षा-चिकित्सा की व्यवस्था करें और उन्हें शारीरिक, मानसिक दृष्टि से इस योग्य बनायें कि वे भावी जीवन में स्वावलम्बी जीवनयापन कर सकें । पौष्टिक आहार, उचित शिक्षा, सरल मनोरंजन, सही संगति के साधन जुटाना अभिभावकों का काम है और यह भी उन्हीं की जिम्मेदारी है कि उनके गुण, कर्म, स्वभाव को सुसंस्कृत बनाने के लिए ऐसा वातावरण एवं साधन उपस्थिति करें जिसमें उन्हें सभ्य, सुसंस्कारी एवं सज्जन बनने की दिशा मिल जाये । यदि कोई अभिभावक इन कर्तव्यों को पूरा नहीं करता है तो उसे कर्तव्य पालन में प्रमाद करने का दोषी कहा जायेगा । लाड़-प्यार के आवेश में यदि बच्चों को आलसी, विलासी, चटोरा, अहंकारी, उद्दण्ड एवं दुर्गुणी बनाया गया है तो उन अहितकर और अनावश्यक लाड़ दिखाने वाले अभिभावकों को बच्चों के साथ अन्याय करने वाला ही कहा जायेगा । जन्म देने के बाद निस्सन्देह बालकों को सुशिक्षित बनाने के लिए किशोरावस्था के अन्त और यौवन के प्रवेश तक आवश्यक साधन-सुविधाएँ उत्पन्न करना हर माता-पिता और अभिभावक वर्ग के व्यक्ति का ऐसा कर्तव्य है जिसका पालन किया ही जाना चाहिए ।

विदेशों में जहाँ शासकीय और सामाजिक व्यवस्था ठीक है वहाँ उतने से ही काम चल जाता है, पर अपने देश में वे दोनों ही व्यवस्थाएँ काफी गड़बड़ हैं, इसलिए यहाँ के अभिभावकों की तो और भी जिम्मेदारी बढ़ जाती है कि बच्चों को काम-धन्धे में लगायें और उन्हें उपार्जन कर सकने योग्य बनाने में सहायता प्रदान करें तथा उपयुक्त साथी ढूँढ़कर उनके विवाह की व्यवस्था करें ।

इतना सब कर चुकने के बाद माता-पिता का कर्तव्य पूरा हो जाता है । बच्चों को स्वावलम्बी बनाने के बाद, उनको परामर्श देने और आवश्यक अनुशासन बनाये रखने का तो ध्यान रखना चाहिए पर साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य जीवन जैसा बहुमूल्य अवसर बच्चे पैदा करने, उन्हें लाड़ करने और अन्ततः सब कुछ उन्हीं पर निछावर कर जाने के लिए नहीं मिला है । इसके अतिरिक्त भी उनके कुछ कर्तव्य हैं और वे सन्तानोत्पादन एवं परिपोषण से भी अधिक पवित्र एवं महत्त्वपूर्ण हैं । मनुष्य जीवन की स्थिरता एवं प्रगति समाज के सहयोग से ही सम्भव होती है इसलिए यह स्वभावतः समाज का ऋणी है और इस बात के लिए धर्म कर्तव्यों से बँधा हुआ है कि सामाजिक ऋण चुकाकर ही संसार से विदा हो । यह विशाल विश्व ही भगवान का विराट रूप है । जिस भगवान ने हमारे ऊपर असीम उपकार किये उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का मार्ग समाज को सुविकसित, सुरभित एवं सुगंधित बनाना ही है । इसलिए भारतीय धर्म की यह मर्यादा है कि ढलती आयु वानप्रस्थ के अनुरूप बिताते हुए अपनी बची-खुची शक्तियाँ लोक-मंगल के लिए अर्पित कर दें । आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण के लिए इसी रीति-नीति को अपनाया जाना और धर्म-कर्तव्य का पालन किया जाना आवश्यक है । इस देश में लाखों-करोड़ों वर्षों तक यही मर्यादा पालन की गई और यहाँ स्वर्गीय वातावरण बना रहा ।

अब लोभ और मोह की दुष्प्रवृत्तियों ने अभिभावकों और सन्तान के सम्बन्धों को विकृत बनाकर सारा सामाजिक ढाँचा ही लड़खड़ा दिया है । बच्चों के स्वावलम्बी हो जाने के बाद भी अभिभावक अपनी संकीर्णता और मोहवृत्ति के बन्धनों से बुरी तरह जक रहते हैं और उस ढलती आयु में जिस पर विशुद्ध रूप से समाज का हक था, पोतियों को खिलाते रहने और घ कुटुम्ब पर अनावश्यक मोह, अधिकार दिखाकर एक अनावश्यक भार बने रहते हैं । इतना ही नहीं जो कुछ सन्तान के स्वावलम्बी बनाने के अतिरिक्त पूँजी बची थी उसे भी उन्हीं लोगों को दे जाते हैं, जबकि उस धन पर विशुद्ध रूप से समाज का हक है और वह उसी की उऋणता के लिए खर्च किया जाना चाहिए था ।

सन्तान के प्रति इस क्षुद्रता और संकीर्णता भरे अनावश्यक मोह ने भारतीय समाज को भारी हानि पहुँचाई है । जो पैसा और समय समाज के उत्थान और सुख सम्वर्द्धन में खर्च होना चाहिए था यदि वह हराम की कमाई के रूप में स्वावलम्बी बच्चों को मिलता है तो उससे वे व्यसनी, आलसी, फिजूलखर्च और दुर्गुणी ही बनेंगे । आदमी उसी पैसे को ठीक और उचित तरीके से खर्च कर सकता है जो उसने कठिन परिश्रम के साथ पसीना बहाकर कमाया है । जो पैसा मुफ्त में मिलेगा उससे व्यक्ति की विलासिता ही नहीं दुर्बुद्धि भी बढ़ेगी । इसलिए जीवन भर ब्याज-भाड़े की कमाई खाने और च की वंशी बजाने की बात सोचकर जो लोग सन्तान के लिए ही अपनी कमाई उत्तराधिकार में छोड़ जाने की बात सोचते हैं वे सन्तान के साथ, आत्मा के साथ

समाज के साथ विशुद्ध रूप से एक अन्याय ही करते हैं और तीनों अदालतों में अपराधी सिद्ध होते हैं । यह एक बहुत ही भौंड़ा, फूहड़ और निकृष्ट संकीर्णता भरा व्यामोह है, कि अभिभावक स्वावलम्बी सन्तान को ही अपना श्रम, समय, मन और धन ऐसे अर्पित करें मानो वे ही भगवान हों ।

प्राचीनकाल में सन्तान अभिभावकों के भरण-पोषण और शिक्षा-दीक्षा भर के ऋण को चुकाना ही बहुत भारी समझते थे । अस्तु, उनके उत्तराधिकार में थोड़े धन को अग्राह्य मानते थे । आमतौर से ऐसा पैसा वे वयोवृद्ध लोग अपने जीते ही दान-पुण्य में, सत्कर्मों में-खर्च कर जाते थे । मरने के बाद जो बच जाता था तो सन्तान उसे मृतक श्राद्ध में-स्वर्गीय आत्मा को पुण्य फल प्रदान करने वाले लोकोपयोगी कार्यों मे लगा देते थे । वे उसमें से एक पाई भी अपने लिए रखते नहीं थे । जो उन पर ऋण चढ़ा है वही क्या कम है जो अगले जन्म में गधा-घोड़ा बनकर इस मुफ्त के माल को एक अनावश्यक ऋण के रूप में सिर पर लादें ।

आज की विचित्र स्थिति है । सन्तान से तरह-तरह के दुःख, तिरस्कार, उपेक्षा और प्रताड़ना सहते हुए भी निकृष्ट संकीर्णता के व्यामोह में जकड़ा हुआ वयोवृद्ध न देश की, धर्म की, न समाज की, न संस्कृति की आवश्यकता को समझता है, न आत्म-कल्याण, विश्व-कल्याण और ईश्वरीय निर्देशों को ध्यान में रखता है, जो कुछ पास है उसे केवल सन्तान को ही देने की बात सोचता है । सन्तान नहीं होती तो किसी की सन्तान गोद रखता है । सर्प की तरह पूँजी पर संकीर्णता की कुण्डली मारकर बैठा हुआ मूर्ख इतनी मोटी बात नहीं सोच पाता कि ढलती आयु के, स्वावलम्बी सन्तान से बचे हुए समय और पैसे का सदुपयोग किन्हीं उत्तम कार्यों के लिए किया जा सकता है या नहीं ।

आचरण और घोर स्वार्थपरता, संकीर्णता और मोह-ममता का परिचय देने वाले उदारता और लोक-मंगल की आवश्यकता देखने में विमुख इन वयोवृद्धों की धृष्टता तो देखिए कि लकड़ी की माला सटक कर और पत्थर के भगवान पर धूप-दीप सँजोकर यह आशा करते हैं कि उन्हें आत्म-कल्याण और भगवान के प्यार का लाभ मिलेगा । इनकी प्रवंचना और मनोवांछा की संगति मिलाने पर कोई विचारशील इस बाल बुद्धि पर ठठाकर हँस ही सकता है ।

काश, ढलती आयु के वयोवृद्धों में यह समझ आई होती कि सन्तान को स्वावलम्बी बनाने के बाद बचा हुआ समय और धन विशुद्ध रूप में विश्व-मानव का है और उसे लोक-मंगल में ही खर्च किया जाना चाहिए तो निस्सन्देह आज देश और विश्व का रूप ही दूसरा होता । मरणोन्मुखी ढलती आयु के लोग वानप्रस्थ की परम्पराओं को त्यागकर सन्तान के व्यामोह में जिस बुरी तरह ग्रस्त दिखाई पड़ते हैं उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे माला जपने का ढोंग बनाने पर भी अपने घृणित आचरण द्वारा अपना समाज का और सन्तान का सर्वनाश ही कर रहे हैं । ईश्वर उन्हें सद्बुद्धि दे ।

प्रश्न—

(१) मनुष्य की अपनी सन्तान के प्रति क्या जिम्मेदारियाँ हैं ? (२) अभिभावक अपनी सन्तान का पालन-पोषण किस प्रकार करें कि वह विलासी, चटोरी एवं अहंकारी न बने ? (३) अपने देश में विदेशों की अपेक्षा दो जिम्मेदारियाँ और क्या बढ़ जाती हैं ?(४) संतान के पालन-पोषण के अलावा मनुष्य के और क्या कर्तव्य हैं ? (५) मनुष्य को सन्तान के स्वावलम्बी होने के बाद अन्य क्या-क्या कर्तव्य करते रहना चाहिए ? (६) स्वावलम्बी सन्तान को अपनी बची-खुची सम्पत्ति देना किस प्रकार अपराध है ? (७) प्राचीनकाल में सन्तान किस तरह अपना कर्तव्य पूरा करती थी ? (८) आज का मानव किस प्रकार का व्यवहार कर रहा है ।

पर्दा प्रथा—नारी के साथ बरती जाने वाली एक नृशंस अनीति

नर और नारी मिलकर एक पूर्ण समाज बनाते हैं । वे दोनों पहिये मिलकर ही गाड़ी चलाते हैं, इसी प्रकार गृहस्थ जीवन भी नर और नारी दोनों के समान प्रयत्न और पुरुषार्थ से प्रगतिशील बनता और सुखी रहता है । संसार के समस्त सभ्य और प्रगतिशील देशों में यही प्रतीत होता है । दो बैल जिस प्रकार कंधे से कंधा मिलाकर काम करते हैं उसी प्रकार नर और नारी एकजुट होकर अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप पूरा पुरुषार्थ करके परिवार को सुखी एवं समुन्नत बनाने के साधन जुटाते हैं । संसार की प्रगतिशीलता का यही रहस्य है ।

अपने समाज की कुछ विचित्र स्थिति है । यहाँ नारी को घर की चहारदीवारी के भीतर बन्द रहने वाले कैदी की तरह जीवन यापन करना पड़ता है । उसको घर से निकलना, अकेली कहीं जाना, दूसरों से बात करना निषिद्ध है । पर्दा प्रथा के कारण यहाँ स्त्रियों की स्थिति इतनी दयनीय है कि उनकी तुलना में पशु-पक्षी भी अच्छी स्थिति में पाये जा सकते हैं । गाय, भैंस, घोड़ी, बकरी आदि खुले मुँह रह सकती हैं और मन्दी या जोर की आवाज में चाहे जब बोल सकती हैं । पर यह सुविधा भारतीय नारी को प्राप्त नहीं है । चिड़ियों के चहकने-फुदकने पर प्रतिबन्ध नहीं पर बेचारी भारतीय नारी के भाग्य में उतनी भी स्वतन्त्रता बदी नहीं है । उन्हें खूनी कैदी की तरह ही हर घड़ी प्रतिबन्धों से जकड़ी हुई एक छोटी कोठरी में आजीवन इस तरह रहना पड़ता है जहाँ अभिनव स्वतन्त्रता की हवा भी नहीं पहुँचने पाती । इस बन्धन में वे अपनी आत्मिक और मौलिक सभी प्रतिभाएँ खोकर पराधीन, परावलम्बी, असहाय और कातर किसी निरीह प्राणी की स्थिति में पहुँच जाती हैं ।

पास कैसा वातावरण रहना चाहिए ?(७) शिशु जन्म के बाद माता-पिता को अपना आचरण कैसा रखना चाहिए ? (८) बच्चों का सच्चा शिक्षण कहाँ होता है यह किस पर निर्भर है ?(९) विवाह प्रचलन की सार्थकता किस में है ? (१०) प्रयत्नपूर्वक कैसी चेष्टा की जानी चाहिए ?

सन्तान को स्वावलम्बी भर बनाना ही पर्याप्त है

मनुष्य यदि सन्तान उत्पन्न करता है, तो स्वभावतः उसकी यह जिम्मेदारी भी होती है कि उनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, विवाह एवं आजीविका की व्यवस्था जुटाने का भी प्रयन्ध करें । सृष्टि के सभी जीवों में यह प्रचलन है कि सन्तान जब तक अपने पैरों पर खड़ी होकर अपना निर्वाह स्वयं न करने लगे तब तक उसकी सहायता करते हैं । मनुष्य के लिए यह उचित है कि बालकपन और किशोरावस्था में बच्चों के भरण-पोषण की, भोजन वस्त्र की, शिक्षा-चिकित्सा की व्यवस्था करें और उन्हें शारीरिक, मानसिक दृष्टि से इस योग्य बनायें कि वे भावी जीवन में स्वावलम्बी जीवनयापन कर सकें । पौष्टिक आहार, उचित शिक्षा, सरल मनोरंजन, सही संगति के साधन जुटाना अभिभावकों का काम है और यह भी उन्हीं की जिम्मेदारी है कि उनके गुण, कर्म, स्वभाव को सुसंस्कृत बनाने के लिए ऐसा वातावरण एवं साधन उपस्थिति करें जिसमें उन्हें सभ्य, सुसंस्कारी एवं सज्जन बनने की दिशा मिल जाये । यदि कोई अभिभावक इन कर्तव्यों को पूरा नहीं करता है तो उसे कर्त्तव्य पालन में प्रमाद करने का दोषी कहा जायेगा । लाड़-प्यार के आवेश में यदि बच्चों को आलसी, विलासी, चटोरा, अहंकारी, उद्दण्ड एवं दुर्गुणी बनाया गया है तो उन अहितकर और अनावश्यक लाड़ दिखाने वाले अभिभावकों को बच्चों के साथ अन्याय करने वाला ही कहा जायेगा । जन्म देने के बाद निस्सन्देह बालकों को सुशिक्षित बनाने के लिए किशोरावस्था के अन्त और यौवन के प्रवेश तक आवश्यक साधन-सुविधाएँ उत्पन्न करना हर माता-पिता और अभिभावक वर्ग के व्यक्ति का ऐसा कर्तव्य है जिसका पालन किया ही जाना चाहिए ।

विदेशों में जहाँ शासकीय और सामाजिक व्यवस्था ठीक है वहाँ उतने से ही काम चल जाता है, पर अपने देश में वे दोनों ही व्यवस्थाएँ काफी गड़बड़ हैं, इसलिए यहाँ के अभिभावकों की तो और भी जिम्मेदारी बढ़ जाती है कि बच्चों को काम-धन्धे में लगायें और उन्हें उपार्जन कर सकने योग्य बनाने में सहायता प्रदान करें तथा उपयुक्त साथी ढूँढ़कर उनके विवाह की व्यवस्था करें ।

इतना सब कर चुकने के बाद माता-पिता का कर्तव्य पूरा हो जाता है । बच्चों को स्वावलम्बी बनाने के बाद, उनको परामर्श देने और आवश्यक अनुशासन बनाये रखने का तो ध्यान रखना चाहिए पर साथ हीं यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य जीवन जैसा बहुमूल्य अवसर बच्चे पैदा करने, उन्हें लाड़ करने और अन्ततः सब कुछ उन्हीं पर निछावर कर जाने के लिए नहीं मिला है । इसके अतिरिक्त भी उनके कुछ कर्त्तव्य हैं और वे सन्तानोत्पादन एवं परिपोषण से भी अधिक पवित्र एवं महत्त्वपूर्ण हैं । मनुष्य जीवन की स्थिरता एवं प्रगति समाज के सहयोग से ही सम्भव होती है इसलिए वह स्वभावतः समाज का ऋणी है और इस बात के लिए धर्म कर्तव्यों से बँधा हुआ है कि सामाजिक ऋण चुकाकर ही संसार से विदा हो । यह विशाल विश्व ही भगवान का विराट रूप है । जिस भगवान ने हमारे ऊपर असीम उपकार किये उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का मार्ग समाज को सुविकसित, सुरभित एवं सुगंधित बनाना ही है । इसलिए भारतीय धर्म की यह मर्यादा है कि ढलती आयु वानप्रस्थ के अनुरूप बिताते हुए अपनी बची-खुची शक्तियाँ लोक-मंगल के लिए अर्पित कर दें । आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण के लिए इसी रीति-नीति को अपनाया जाना और धर्म-कर्तव्य का पालन किया जाना आवश्यक है । इस देश में लाखों-करोड़ों वर्षों तक यही मर्यादा पालन की गई और यहाँ स्वर्गीय वातावरण बना रहा ।

अब लोभ और मोह की दुष्प्रवृत्तियों ने अभिभावकों और सन्तान के सम्बन्धों को विकृत बनाकर सारे सामाजिक ढाँचा ही लड़खड़ा दिया है । बच्चों के स्वावलम्बी हो जाने के बाद भी अभिभावक अपनी संकीर्णता और मोहवृत्ति के बन्धनों से बुरी तरह जकड़े रहते हैं और उस ढलती आयु में जिस पर विशुद्ध रूप से समाज का हक था, पोतियों को खिलाते रहने और घर-कुटुम्ब पर अनावश्यक मोह, अधिकार दिखाकर एक अनावश्यक भार बने रहते हैं । इतना ही नहीं जो कुछ सन्तान के स्वावलम्बी बनाने के अतिरिक्त पूँजी बची थ उसे भी उन्हीं लोगों को दे जाते हैं, जबकि उस धन प विशुद्ध रूप से समाज का हक है और वह उसी व ऊऋणता के लिए खर्च किया जाना चाहिए था ।

सन्तान के प्रति इस क्षुद्रता और संकीर्णता अनावश्यक मोह ने भारतीय समाज को भारी हानि पहुँ है । जो पैसा और समय समाज के उत्थान और सम्बर्द्धन में खर्च होना चाहिए था यदि वह हराम की कमाई के रूप में स्वावलम्बी बच्चों को मिलता है तो उससे वे व्यसनी, आलसी, फिजूलखर्च और दुर्गुणी ही बनेंगे । आदमी उसी पैसे को ठीक और उचित तरीके से खर्च कर सकता है जो उसने कठिन परिश्रम के साथ पसीना बहाकर कमाया है । जो पैसा मुफ्त में मिलेगा उससे व्यक्ति की विलासिता ही नहीं दुर्बुद्धि भी बढ़ेगी । इसलिए जीवन भर ब्याज-भाडे की कमाई खाने और चैन की वंशी बजाने की बात सोचकर जो लोग सन्तान के लिए ही अपनी कमाई उत्तराधिकार में छोड़ जाने की बात सोचते हैं वे सन्तान के साथ, आत्मा के साथ और

इससे क्या हानियाँ हैं ? (३) पर्दा प्रथा कहाँ से प्रारम्भ हुई तथा उसके प्रचलित होने के कारण क्या हैं ? (४) अपने यहाँ पर्दा प्रथा प्रचलन के कारणों पर प्रकाश डालिए ? (५) क्या अब भी वे परिस्थितियाँ रही हैं कि पर्दा प्रथा प्रचलित रहे ? (६) नारी का स्थान हमेशा कहाँ रहा है ? (७) पर्दा प्रथा के कारण आज की नारी जाति को किन-किन बातों से हाथ धोना पड़ रहा है ? (८) पर्दा प्रथा के कारण ही हमारे समाज की उन्नति रुकी हुई है । सिद्ध कीजिए ? (९) पुरुषों को इस दिशा में क्या-क्या प्रयत्न करना चाहिए ?

अपव्यय एक पाई का भी न करें

आर्थिक क्षेत्र में बुद्धिमानी का चिन्ह उपार्जन ही नहीं खर्च करने की प्रक्रिया भी है । उपार्जन केवल बुद्धिमत्ता पर ही नहीं बहुत करके परिस्थितियों पर भी निर्भर रहता है । एक सी योग्यता और बुद्धिमत्ता होते हुए किसी को बहुत उपार्जन करने का मौका मिल जाता है और किन्हीं को परिस्थितियाँ काफी पीछे छोड़ देती हैं । पर अधिक उपार्जन करने वाला, अधिक सुयोग्य, अधिक बुद्धिमान या अधिक प्रयत्नशील हो सो बात नहीं है । जिसका खाँचा बैठ गया, पूँजीवादी अर्थ प्रणाली में वही समृद्धि उपार्जित करने लगता है । पैसा पैसे को कमा सकता है, बाप-दादों की छोड़ी सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिल सकती है । जुआ, सट्टा, लाटरी फल सकती है, चोरी-चाँडाली से भी बहुत कमाया जा सकता है । कहना इतना भर है कि उपार्जन की मात्रा को ही अर्थ-क्षेत्र की बुद्धिमत्ता नहीं माना जा सकता । बुद्धिमत्ता की वास्तविक कसौटी यह है कि व्यक्ति किस तरह अपनी कमाई खर्च करता है ।

अनेक व्यक्ति कमाते तो बहुत हैं पर खर्च करने के सम्बन्ध में बड़े अदूरदर्शी होते हैं । जो आता है वही अस्त-व्यस्त तरीके से फूँक देते हैं और आये दिन अभावग्रस्त एवं कर्जदार बने रहते हैं । वे पैसे का मूल्य नहीं समझते, उसे खिलवाड़ जैसी कोई चीज समझते हैं, कि लोग हमें जितना अधिक खर्च करते देखेंगे । उतना ही अमीर या बड़ा आदमी मानेंगे और उतना सम्मान करेंगे । इस दृष्टि से कई व्यक्ति बहुत फिजूलखर्ची करते हैं । कई ने तो इतने दुर्व्यसन पाल रखे होते हैं कि कमाई का बहुत भाग उसी में खर्च हो जाता है ।

अनावश्यक रूप से हाथ खुला रखकर यदि पैसा उड़ाया जाये तो कुबेर का खजाना भी खाली हो सकता है और लक्ष्मी को भी दरिद्रता का शिकार बनना पड़ सकता है । कितने ही बड़े बर्तन में कितना ही पानी क्यों न भरा हो, तली का एक छोटा छेद कुछ ही समय में उसे खाली कर देने के लिए पर्याप्त है । बे सोचे-समझे, चाहे जिस काम में मन की तरंग के आधार पर खर्च करने वाले सदा अभावग्रस्त और दरिद्र ही रहेंगे भले ही उनकी आमदनी कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो ।

पैसा किस प्रकार, किस काम में कितना खर्च किया जाता है ? उसको पूरा जान लेने पर ही किसी की बुद्धिमत्ता का स्तर परखा जा सकता है । अपव्यय सबसे बड़ी मूर्खता है । अपनी हैसियत, औकात, आमदनी और आवश्यकता का ध्यान रखे बिना जो अनावश्यक खर्च किया जाता है वह व्यक्ति और परिवार के विकास में सबसे बड़ा अवरोध सिद्ध होता है । इन दिनों उचित और आवश्यक कार्य ही इतने बढ़े-चढ़े हैं कि उनकी पूर्ति कठिन हो जाती है । स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा, व्यवसाय आदि आवश्यक कार्यों के लिए ढेरों पैसा लगता है । अन्न, वस्त्र, मकान की जरूरतें बहुत सारा पैसा माँगती हैं । जब तक कुरीतियों का क्रान्तिकारी उन्मूलन न हो जाये तब तक विवाह-शादी, चाल-चलन, पर्व-त्यौहार आदि पर भी पैसा खर्च करना ही पड़ेगा । यदि फिजूलखर्ची की आदत पड़ गई है और पैसों को कागज का टुकड़ा समझकर ज्यों-त्यों उड़ा दिया जाता है, तो समय पर अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए हाथ खाली रहेगा और उसमें खेदपूर्वक कटौती करनी पड़ेगी ।

व्यक्ति अकेला नहीं है । वह अनेक पारिवारिक कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों से जुड़ा हुआ है । बूढ़े माता-पिता और छोटे भाई-बहिनों के अतिरिक्त घर में दूसरे लोग भी होते हैं जो उपार्जन करने वालों से अपनी आवश्यकता पूर्ति चाहते हैं । संयुक्त परिवार प्रणाली के साथ जुड़ा हुआ यह एक पवित्र कर्त्तव्य है, कि असमर्थ परिजनों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथासम्भव कुछ उठा न रखा जाये । विवाह होते ही पत्नी और उसके द्वारा सन्तान के लालन-पालन की जिम्मेदारी आती है । बड़े होने पर उनकी शिक्षा, शादी तथा आजीविका के साधन जुटाने पड़ते हैं । आजकल आये दिन अस्वस्थता का भी दौर रहता है । चिकित्सा में कंजूसी करके साथियों के जीवन से खिलवाड़ भी नहीं किया जा सकता । पारिवारिक प्रगति के अनेक द्वार खोले जा सकते हैं और प्रियजनों को सुयोग्य एवं समर्थ बनाने के लिए कितनी भी पूँजी जुटाई जा सकती है ।

यदि अनावश्यक खर्च करने की आदत है तो अधिकतर धन बेकार बातों में ही उड़ जायेगा । फिर उचित आवश्यकताओं से वंचित ही रहना पड़ेगा । हमें समझना चाहिए कि कमाते भले ही हम हों उस आजीविका में परिवार के हर सदस्य की साझेदारी है । खर्च करते समय परिवार की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए यह मानना पड़ेगा कि व्यय करने के मामले में हम स्वतन्त्र नहीं हैं । साझे की पूँजी का विनियोग साझीदारों की इच्छा, आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही करना पड़ता है । एक सद्गृहस्थ को इसी तरह सोचना चाहिए और अनावश्यक अपव्यय में एक कौड़ी भी खर्च करने से पूर्व हजार बार सोचना चाहिए ।

आजकल ठाठ-बाट और फैशन के नाम पर न जाने कितने पैसों की बर्बादी होती है । कीमती पोशाकें, जेवर, शृंगार-सामग्री, सजावट के लिए ढेरों धन बर्बाद होता रहता है । यदि विवेक से काम लिया जाता तो इसे आसानी

पर्दा प्रथा सर्वथा अभारतीय है । इसका प्रचलन अरब के उस रेगिस्तान प्रदेश में हुआ जहाँ दिन-रात रेतीले अन्धड़ चलते थे और गोदी के बच्चों की आँखों में रेत घुस जाने का हर घड़ी डर रहता था, स्त्रियाँ अपना और बच्चों का मुँह ढके रहती थीं । पीछे जब सामन्ती लूटमार में युवा महिला लूटी और गुलाम बनाई जाने लगीं तो उसके हरम में रहने वाली बेगमें और रखैलें मुँह पर पर्दा डालकर रहें ताकि उन्हें पाने के लिए कोई दूसरा सामंत झंझट खड़ा न करे । भारत मे जब मुसलमान आये तो वही सब उनके प्रभाव से प्रभावित लोगों ने सीखा । यहाँ भी बहु विवाह और सैकड़ों रखैलें रखने की सामंती प्रथा पनपी और चँगुल में फँसी महिलाओं को हाथ से न जाने देने के लिए इधर भी पर्दा प्रथा का प्रचलन हो गया । बहुतों ने उसे अन्धेर के दिनो में पर्दा प्रथा में अपना बचाव और भला समझा और स्वेच्छा से उसे अपना लिया । आततायी शासक और उनके गुमास्ते खूनी भेड़िये की तरह सुन्दर बहू-बेटियों के लिए घात लगाये फिरते थे, ऐसे विपत्ति काल में यही अच्छा समझा गया कि पर्दा अपनाकर किसी प्रकार अपनी आबरू बचाई जाये ।

अब वे परिस्थितियाँ नहीं रहीं । जो कभी पहले थीं । ग्रहण के समय चन्द्रमा पर अशुभ छाया पड़ती है उसे सदा बने रहना आवश्यक नहीं । भारतीय संस्कृति में पर्दे का कभी कोई प्रचलन नहीं रहा । यहाँ के देवता और देवियों के मुख पर कोई ऐसी कालिख पुती नहीं होती थी जिससे उन्हें अपना कलंकी चेहरा ढके रहने की जरूरत पड़े । बीच में आपत्तिकाल में इसकी विवशता प्रस्तुत की होगी पर अब वह भी कोई बात नहीं, जिसके कारण हमें अपने आधे समाज को, नारी को पंगु प्रतिबन्धित बनाकर असहाय की तरह भारभूत बनाये रखने का औचित्य सोचना पड़े ।

प्राचीन भारतीय नारी ने हर क्षेत्र में नर के कन्धे से कन्धा मिलाकर सृजनात्मक कामों में योग दिया है । घर और बाहर समान रूप से उसका कार्यक्षेत्र रहा है । रोटी पकाने और बच्चा पैदा करने की मशीन तो वह इस अन्धकार युग में बनी है । सदा से तो वह अपनी गौरव-गरिमा द्वारा समाज के हर क्षेत्र को अपनी प्रतिभा से चमत्कृत करती रही है और प्रगति एवं समृद्धि के लिए पुरुष के समान ही अपना योगदान देती रही है । संसार भर में आज भी उसका पुरुषार्थ वैसा ही उपादेय सिद्ध हो रहा है । एक समर्थ व्यक्ति के रूप में वह अपनी क्षमता और बुद्धिमत्ता का पूरा-पूरा लाभ अपने समाज को दे रही है ।

पिछड़ा हुआ भारतीय समाज पर्दा प्रथा जैसी अनीतिमूलक मूर्खतापूर्ण कुरीतियों को अब भी छाती से चिपकाये बैठा है जबकि उसके बने रहने का कोई आपत्तिकालीन कारण शेष नहीं रह गया है । यहाँ न अरब जैसे रेतीले अन्धड़ चलते हैं और न अब स्त्रियों की लूटमार, खरीद-फरोख्त होती है । जिसके कारण उन्हें लुकाने-छिपाने की जरूरत पड़े । अब तो विवेकशीलता की कसौटी पर इसे एक विशुद्ध सामाजिक अत्याचार और व्यक्ति के जन्म-जात ईश्वर प्रदत्त मानवीय अधिकार का हनन ही माना जायेगा । इस कुप्रथा ने हमारे समाज को अपंग बनाकर रख दिया है । बन्दी की तरह एक छोटे कटघरे में रहने वाली नारी दिनों-दिन शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से अशक्त होती चली जाती है । पुरुषों की तुलना में उसका स्वास्थ्य बहुत अधिक खराब है । प्रजनन के भार से उसकी बेतरह मृत्यु होती है । शिक्षा के अभाव में वह बालकों के उचित पालन-पोषण, गृह व्यवस्था और पति का महत्त्वपूर्ण सहयोग करने में असमर्थ है । अनुभव के अभाव से परिवार की किसी बड़ी समस्या को सुलझाने में कोई योगदान नहीं दे सकती । पति द्वारा उपेक्षित या परित्यक्त कर दी जाये अथवा वैधव्य की विपत्ति सिर पर आ पड़े तो उसकी दयनीय दुर्दशा पत्थर को भी रुला दे सकती है ।

जिस समाज का, व्यक्ति का, आधा अंग नारी के रूप में इस प्रकार अपंग बना हुआ हो उसकी प्रगति और समृद्धि की आशा कौन करेगा ? बालक, वृद्ध, अपंग, रोगी तो गृहपति पर भार होते ही हैं निरुपयोगी बनी बैठी नारी भी अब लगभग इसी प्रकार अपाहिजों में सम्मिलित हो गई है । पर्दा प्रथा ने हमारे समाज के आधे अंग को लकवा मार जाने वाली रोगी की स्थिति में ला पटका । आधी जनसंख्या की नारी अपने प्रबल पुरुषार्थ से पुरुष जनसंख्या की तरह ही प्रगति के हर क्षेत्र में एक कदम आगे बढ़कर दिखा सकती थी और समृद्धि भरी सुविधाएँ उत्पन्न कर सकती थी, आज निरीह बनी मन मसोसकर कैदी का तिरस्कृत और उपेक्षित जीवन जीने के लिए विवश हो रही है ।

समय आ गया है जबकि पर्दा प्रथा जैसी अनीतिमूलक कुरीति को हटाया जाये और नारी को भी नर की ही भाँति मनुष्योचित सम्मानपूर्ण जीवन जीने का अधिकार दिया जाये । उसे शिक्षा की अब पुरुषों से अधिक सुविधा मिलनी चाहिए क्योंकि वह बहुत पिछड़ गई है, जब तक पिछड़ापन दूर होने और समानता के स्तर पर आने की स्थिति उत्पन्न न हो जाये तब तक उसे शिक्षा-दीक्षा, स्वावलम्बन तथा कुशलता प्राप्त करने की अधिक सुविधा उपलब्ध करने का पूरा हक है और इस न्यायोचित सुविधा को उपलब्ध करने में हर पुरुष को पूरा-पूरा योगदान देना चाहिए । भारतीय नारी को अधिक शिक्षा, अधिक प्रतिभा, अधिक क्षमता, अधिक कुशलता प्राप्त करने का अवसर मिले तो राष्ट्र की प्रगति में देखते-देखते चार-चाँद लगा सकती है । इस मार्ग में सबसे बड़ी बाधा पर्दा प्रथा की है–उस पूतना का अब अन्त ही होना चाहिए ।

प्रश्न–

(१) नर और नारी किस तरह-से एक-दूसरे के सहयोगी हैं ? (२) अपने समाज में नारी जाति की स्थिति कैसी है ? तथा

इससे क्या हानियाँ हैं ? (३) पर्दा प्रथा कहाँ से प्रारम्भ हुई तथा उसके प्रचलित होने के कारण क्या हैं ? (४) अपने यहाँ पर्दा प्रथा प्रचलन के कारणों पर प्रकाश डालिए ? (५) क्या अब भी वे परिस्थितियाँ रही हैं कि पर्दा प्रथा प्रचलित रहे ? (६) नारी का स्थान हमेशा कहाँ रहा है ? (७) पर्दा प्रथा के कारण आज की नारी जाति को किन-किन बातों से हाथ धोना पड़ रहा है ? (८) पर्दा प्रथा के कारण ही हमारे समाज की उन्नति रुकी हुई है । सिद्ध कीजिए ? (९) पुरुषों को इस दिशा में क्या-क्या प्रयत्न करना चाहिए ?

अपव्यय एक पाई का भी न करें

आर्थिक क्षेत्र में बुद्धिमानी का चिन्ह उपार्जन ही नहीं खर्च करने की प्रक्रिया भी है । उपार्जन केवल बुद्धिमत्ता पर ही नहीं बहुत करके परिस्थितियों पर भी निर्भर रहता है । एक सी योग्यता और बुद्धिमत्ता होते हुए किसी को बहुत उपार्जन करने का मौका मिल जाता है और किन्हीं को परिस्थितियाँ काफी पीछे छोड़ देती हैं । पर अधिक उपार्जन करने वाला, अधिक सुयोग्य, अधिक बुद्धिमान या अधिक प्रयत्नशील हो सो बात नहीं है । जिसका खाँचा बैठ गया, पूँजीवादी अर्थ प्रणाली में वही समृद्धि उपार्जित करने लगता है । पैसा पैसे को कमा सकता है, बाप-दादों की छोड़ी सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिल सकती है । जुआ, सट्टा, लाटरी फल सकती है, चोरी-चाँडाली से भी बहुत कमाया जा सकता है । कहना इतना भर है कि उपार्जन की मात्रा को ही अर्थ-क्षेत्र की बुद्धिमत्ता नहीं माना जा सकता । बुद्धिमत्ता की वास्तविक कसौटी यह है कि व्यक्ति किस तरह अपनी कमाई खर्च करता है ।

अनेक व्यक्ति कमाते तो बहुत हैं पर खर्च करने के सम्बन्ध में बड़े अदूरदर्शी होते हैं । जो आता है वही अस्त-व्यस्त तरीके से फूँक देते हैं और आये दिन अभावग्रस्त एवं कर्जदार बने रहते हैं । वे पैसे का मूल्य नहीं समझते, उसे खिलवाड़ जैसी कोई चीज समझते हैं, कि लोग हमें जितना अधिक खर्च करते देखेंगे । उतना ही अमीर या बड़ा आदमी मानेंगे और उतना सम्मान करेंगे । इस दृष्टि से कई व्यक्ति बहुत फिजूलखर्ची करते हैं । कई ने तो इतने दुर्व्यसन पाल रखे होते हैं कि कमाई का बहुत भाग उसी में खर्च हो जाता है ।

अनावश्यक रूप से हाथ खुला रखकर यदि पैसा उड़ाया जाये तो कुबेर का खजाना भी खाली हो सकता है और लक्ष्मी को भी दरिद्रता का शिकार बनना पड़ सकता है । कितने ही बड़े बर्तन में कितना ही पानी क्यों न भरा हो, तली का एक छोटा छेद कुछ ही समय में उसे खाली कर देने के लिए पर्याप्त है । बे सोचे-समझे, चाहे जिस काम में मन की तरंग के आधार पर खर्च करने वाले सदा अभावग्रस्त और दरिद्र ही रहेंगे भले ही उनकी आमदनी कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो ।

पैसा किस प्रकार, किस काम में कितना खर्च किया जाता है ? उसको पूरा जान लेने पर ही किसी की बुद्धिमत्ता का स्तर परखा जा सकता है । अपव्यय सबसे बड़ी मूर्खता है । अपनी हैसियत, औकात, आमदनी और आवश्यकता का ध्यान रखे बिना जो अनावश्यक खर्च किया जाता है वह व्यक्ति और परिवार के विकास में सबसे बड़ा अवरोध सिद्ध होता है । इन दिनों उचित और आवश्यक कार्य ही इतने बढ़े-चढ़े हैं कि उनकी पूर्ति कठिन हो जाती है । स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा, व्यवसाय आदि आवश्यक कार्यों के लिए ढेरों पैसा लगता है । अन्न, वस्त्र, मकान की जरूरतें बहुत सारा पैसा माँगती हैं । जब तक कुरीतियों का क्रान्तिकारी उन्मूलन न हो जाये तब तक विवाह-शादी, चाल-चलन, पर्व-त्यौहार आदि पर भी पैसा खर्च करना ही पड़ेगा । यदि फिजूलखर्ची की आदत पड़ गई है और पैसों को कागज का टुकड़ा समझकर ज्यों-त्यों उड़ा दिया जाता है, तो समय पर अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए हाथ खाली रहेगा और उसमें खेदपूर्वक कटौती करनी पड़ेगी ।

व्यक्ति अकेला नहीं है । वह अनेक पारिवारिक कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों से जुड़ा हुआ है । बूढ़े माता-पिता और छोटे भाई-बहिनों के अतिरिक्त घर में दूसरे लोग भी होते हैं जो उपार्जन करने वालों से अपनी आवश्यकता पूर्ति चाहते हैं । संयुक्त परिवार प्रणाली के साथ जुड़ा हुआ यह एक पवित्र कर्त्तव्य है, कि असमर्थ परिजनों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथासम्भव कुछ उठा न रखा जाये । विवाह होते ही पत्नी और उसके द्वारा सन्तान के लालन-पालन की जिम्मेदारी आती है । बड़े होने पर उनकी शिक्षा, शादी तथा आजीविका के साधन जुटाने पड़ते हैं । आजकल आये दिन अस्वस्थता का भी दौर रहता है । चिकित्सा में कंजूसी करके साथियों के जीवन से खिलवाड़ भी नहीं किया जा सकता । पारिवारिक प्रगति के अनेक द्वार खोले जा सकते हैं और प्रियजनों को सुयोग्य एवं समर्थ बनाने के लिए कितनी भी पूँजी जुटाई जा सकती है ।

यदि अनावश्यक खर्च करने की आदत है तो अधिकतर धन बेकार बातों में ही उड़ जायेगा । फिर उचित आवश्यकताओं से वंचित ही रहना पड़ेगा । हमें समझना चाहिए कि कमाते भले ही हम हों उस आजीविका में परिवार के हर सदस्य की साझेदारी है । खर्च करते समय परिवार की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए यह मानना पड़ेगा कि व्यय करने के मामले में हम स्वतन्त्र नहीं हैं । साझे की पूँजी का विनियोग साझीदारों की इच्छा, आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही करना पड़ता है । एक सद्‌गृहस्थ को इसी तरह सोचना चाहिए और अनावश्यक अपव्यय में एक कौड़ी भी खर्च करने से पूर्व हजार बार सोचना चाहिए ।

आजकल ठाठ-बाट और फैशन के नाम पर न जाने कितने पैसों की बर्बादी होती है । कीमती पोशाकें, जेवर, शृंगार-सामग्री, सजावट के लिए ढेरों धन बर्बाद होता रहता है । यदि विवेक से काम लिया जाता तो इसे आसानी

से बचाया जा सकता था । शौक-मौज के नाम पर कमाई का बड़ा हिस्सा खर्च होता है । खाते-पीते लोगों का एक नया व्यसन और है–यारबाजी । पतंगबाजी, नशेबाजी, रण्डीबाजी आदि की तरह 'यारबाजी', यह भी दुर्गति की निशानी है । निठल्ले, आवारा और सिरफिरे लोग इस तलाश में रहते हैं कि कोई आँख का अन्धा और गाँठ का पूरा 'दोस्त' मिले । समय काटने और अपने दुर्व्यसन में सहायक ढूँढ़ने के लिए बड़ी चाल से और चापलूसी से दूसरों पर दोस्ती गाँठते हैं और फिर उसकी पीठ पर सवार हो लेते हैं । गपशप, ताश, चौपड़, सैर-सपाटा यही उनके धन्धे रहते हैं । ऐसे दोस्त जिनके पीछे भूत-पलीत की तरह लग जायें तो समझना चाहिए अब उनका बहुमूल्य समय और गाढ़ी कमाई का पैसा पानी की तरह बहेगा.। यारबाजी के कुचक्र में सैकड़ों ने अपने को बर्बादी के गर्त में गिराया है ।

पारिवारिक उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त सामाजिक उत्कर्ष एवं पीड़ितों की सहायता भी मनुष्य का एक पवित्र कर्तव्य है । अपनी आमदनी का एक अंश अपनी श्रद्धा और सुविधानुसार नियमित रूप से लगाते रहना चाहिए, शरीर निर्वाह के अतिरिक्त अपने और अपने परिजनों के बौद्धिक एव भावनात्मक उत्कर्ष के लिए स्वाध्याय एवं सत्संग के साधन भी जुटाये जाने चाहिए । अनुभवों के एकत्रीकरण के लिए योजनाबद्ध यात्राएँ उपयोगी होती हैं मनोरंजन के लिए भी कुछ खर्च करना चाहिए । निर्वाह के अतिरिक्त उपरोक्त खर्च भी आवश्यक मद में ही जोड़े जा सकते हैं । इसके लिए कुछ पैसा तभी बचाया जा सकता है जब फिजूलखर्ची की सारी मदें कड़ाई के साथ काट दी जायें । आमदनी हर एक की सीमित होती है । अपव्यय की कोई सीमा नहीं । यदि अविवेकपूर्ण खर्च किया जाता रहा तो उसमें महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ ही रोकनी पड़ेंगी, परिणाम दोनों ही तरह अहितकर होगा । अपव्यय से आदतें खराब होंगी, दुर्व्यसन पल्ले बँधेंगे, गैर जिम्मेदारी की प्रवृत्ति बढेगी और तंगी भुगतनी पड़ेगी । दूसरी ओर अपने तथा परिवार के विकास की उचित आवश्यकताएँ पूरी न हो सकने की आत्मग्लानि ही रहेगी ।

हमें अपनी आमदनी का एक भाग भावी उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए बचत के रूप में सुरक्षित रखना चाहिए इसके बाद जो बचे उसे बजट बनाकर खर्च करना चाहिए । व्यक्तिगत शौक-मौज का बजट छोटा रहना चाहिए और कड़ाई बरती जानी चाहिए कि उसमें निर्धारित रकम से अधिक तनिक भी खर्च न किया जाये ।

पैसा मनुष्य के कठिन परिश्रम का प्रतिफल है । उसका एक-एक छोटा सिक्का उचित और उपयुक्त कार्यों में ही खर्च होना चाहिए । धन हमारी भौतिक और आत्मिक प्रगति में बहुत सहायक हो सकता है । उससे अपना और दूसरों का भी हित साधन किया जा सकता है । पर यह सब होगा तभी जब खर्च के बारे में पूरी सतर्कता बरती जाये । उपयोगी प्रयोजनो की पूर्ति तभी हो सकती है, जब अनुपयोगी अपव्यय को कड़ाई के साथ रोका जाये । ऐसी अवस्था जहाँ बने वहाँ बुद्धिमता का कुछ प्रयोग समझा जाये ।

प्रश्न–

(१) धन का उपार्ज न किन-किन बातों पर निर्भर है ? (२) क्या आर्थिक क्षेत्र के अनुसार वह व्यक्ति बुद्धिमान कहला सकता है, जो अधिक धन उपार्जन करे ? नहीं तो कौन व्यक्ति बुद्धिमान कहला सकता है ? (३) किस प्रकार हम उस व्यक्ति को जो काफी अधिक धन उपार्जन करता है तथा काफी अधिक खर्च करता है, मूर्ख कह सकते हैं ? (४) कैसे हम किसी व्यक्ति की बुद्धिमत्ता का स्तर परख सकते हैं ? (५) वे कौन से आवश्यक कार्य हैं जिन पर हमें खर्च करना अनिवार्य होता है ? (६) परिवार के प्रति हमारे क्या आर्थिक कर्तव्य हैं ? (७) धन का व्यय करने से पहले हमें क्या सोचना चाहिए ? (८) आज के युग में अपव्यय के साधन क्या हैं ? (९) पारिवारिक उत्तरदायित्व के अतिरिक्त और हमारे ऐसे कौन से कार्य हैं, जिन पर हमे पैसे व्यय करने चाहिए ?

धन का उपार्जन ही नहीं सदुपयोग भी ध्यान में रहे

आजीविका उत्पादन में जितनी योग्यता अ.. श्रमशीलता की जरूरत पड़ती है उससे अधिक बुद्धिमता उस उपार्जन को ठीक तरह खर्च करने में अभीष्ट है । कितने ही व्यक्ति कमाते तो बहुत हैं पर सदा तंगी और कठिनाई ही अनुभव करते रहते हैं जबकि उनसे कम आमदनी वाले व्यक्ति हँसी-खुशी, संतोष और सुविधा का जीवनयापन भली प्रकार कर लेते हैं ।

अधिक आमदनी वाले के लिए अधिक खर्च करके अधिक सुविधा साधन इकट्ठा कर लेना सुगम है । पि भी यदि व्यवस्था वृद्धि न हुई तो वे अपलब्ध सुविधा सा अस्त-व्यस्त एवं बर्बाद होते रहेंगे और पैसा खर्च हो जा पर भी इनका लाभ न मिल सकेगा । इसके विपरीत कम आजीविका वाले व्यक्ति अपने एक-एक पैसे को व्यवस्था पूर्वक खर्च करके अपने थोड़े धन का पूरा लाभ उठा लेते हैं और थोड़े में ही अपनी उचित आवश्यकताएँ सरलता पूर्वक पूरी कर लेते हैं । पैसा कमा लेना अलग बात है । खर्च करने में व्यवस्था और बुद्धिमत्ता का समावेश रखना दूसरी बात । सच तो यह है कि बुद्धिमत्ता कमाने में नहीं खर्च करने की रीति-नीति में परखी जा सकती है । बाप-दादे दौलत छोड़ मरे हों या कोई बढ़िया आमदनी का धन्धा हाथ लग गया हो तो कम अकल का आदमी भी मालदार बन सकता है । अकस्मात् गढ़ा धन, सट्टा, लाटरी या मंदी-तेजी किसी को अमीर बना सकते हैं और बेईमानी, बदकारी से भी कोई हाथों हाथ मालदार बन सकता है, इसमें बुद्धि नहीं अवसर की प्रधानता है । अच्छे बुद्धिमान और सुयोग्य व्यक्ति भी परिस्थितिवश गरीबी का

जीवन जीते देखे गये हैं । यह अवसरों की करामात है । अन्धे के हाथ बटेर की तरह ऐसे मौके बेवकूफ और बेहूदे लोगों को भी मिल जाते हैं ।

दूरदर्शिता की एक उपयुक्त कसौटी यह भी है कि आदमी अपनी कमाई को किस तरह खर्च करता है । यदि हाथ ढीला और मन अस्त-व्यस्त है तो अनावश्यक वस्तुओं को आवश्यक समझकर इन्हें इकट्ठी करते रहने की लत पड़ जायेगी फिर भले ही उनकी ऐसे ही इधर-उधर बर्बादी होती फिरे । यह आदत अच्छी आमदनी वाले को भी अभावग्रस्त बनाये रहेगी । जो कमायेगा उससे पूरा न पड़ेगा या तो इधर-उधर से कर्ज लेकर काम चलाना पड़ेगा या बेईमानी की अतिरिक्त कमाई जोड़कर उसकी पूर्ति करनी पड़ेगी । दोनों ही मार्ग ऐसे हैं जो व्यक्ति का सम्मान गिराते हैं । आशंकाएँ तथा चिन्ताएँ खड़ी करते हैं और असंतोष एवं व्यग्रता की आग में जलाते रहते हैं । यदि खर्च पर नियन्त्रण रखने की बुद्धिमत्ता को विकसित कर लिया जाये और हर पैसे को केवल उपयुक्त, आवश्यक एवं हितकारी कामों में ही खर्च करने का निश्चय कर लिया जाये तो उपरोक्त अर्थ-तंगी की चिन्ता से सहज ही बचा जा सकता है और सामान्य आजीविका से सुख-शान्तिपूर्वक निर्वाह किया जा सकता है ।

क्या खर्च आवश्यक है और क्या अनावश्यक, इसकी जाँच मोटी अकल से नहीं होती । इसे बारीकी से देखना पड़ता है कि जीवन की स्थिरता और विकास के लिए अत्यधिक आवश्यक साधन क्या हैं ? उनमें से कितने ही ऐसे होते हैं, जिनकी ओर ध्यान तक नहीं जाता । उनकी पूर्ति के लिए अपने बजट में गुंजाइश रहनी चाहिए । किन्तु कितने ही काम ऐसे हैं जो किसी पुराने ढर्रे के कारण अपने खर्च में शामिल हो गये हैं जबकि उनकी न तो कोई वास्तविक आवश्यकता है और न लाभ । इन्हें हटाने में शुरू में कुछ अखरने वाली बात दीखेगी पर यदि उन खर्चों को बन्द कर दिया जाये तो जल्दी ही यह अनुभव हो जायेगा कि इस किफायत के कारण वस्तुतः कोई असुविधा नहीं होती और पैसे की काफी बचत हो जाती है ।

अपनी आमदनी में से कुछ बचत समय-कुसमय के लिए निकालते रहना जरूरी है । जितना खर्च करना है उसमें से पत्नी तथा समझदार परिजन के परामर्श से बजट बना लेना चाहिए । बजट की मदों में निर्धारित पैसा उसी क्रम से खर्च हो । बिना विशेष कारण के उसमें हेर-फेर न हो इसकी कड़ाई की जानी चाहिए । अच्छा हो पुरुष सारी कमाई पत्नी या माता के हाथ रखे और बजट के अनुरूप उन्हीं को सौंप दे । महिलाएँ स्वभावतः इस सम्बन्ध में बहुत किफायतसार और समझदार होती हैं । उनके हाथ में पैसा रहे और वे ही खर्च करें तो हर परिवार की आर्थिक तंगी की उलझन सुलझ सकती है । बहीखाता हर घर में लिखा जाना चाहिए । ताकि समय-समय पर वह पता लगता रहे कि किस मद में कितना पैसा खर्च होता है । इसी आधार पर यह सोच सकना सम्भव हो सकता है कि कहीं अनावश्यक कार्यों में पैसे की बर्बादी तो नहीं हो रही और कहीं आवश्यक कामों की उपेक्षा तो नहीं की जा रही ? तथ्य सामने होने पर ही उनका सुधार सम्भव है अन्यथा अँधेरे में कुछ पता ही न चलता कि कहाँ अनावश्यक खर्च हो रहा है और आर्थिक तंगी से बचने के लिए कहाँ कटौती और किफायत की गुंजाइश है ।

अपने बजट पर बार-बार निगाह डाली जानी चाहिए और उचित-अनुचित का निर्णय परिवार के समझदार लोगों को पास बिठाकर उनके परामर्श से करना चाहिए । देखा गया है कि जेब खर्च, फैशन, व्यसन, शान-शौकत के ठाठ-बाट बनाने, यार-दोस्तों का जमघट लगाने और सामाजिक कुरीतियों में बहुत पैसा उठाना पड़ता है । इस सम्बन्ध में कड़ाई के साथ किफायत की जाये तो बहुत बचत हो सकती है और स्वास्थ्य, स्वाध्याय, सत्कर्म, चिकित्सा, मनोरंजन, संगीत, स्वच्छता आदि के आवश्यक साधन जुटाये जा सकते हैं ।

जेब में रुपया भरके फिरते रहना बुरी बात है । इससे उन अनावश्यक चीजों को खरीदने का भी मन ललचा जाता है जो वस्तुतः अपने लिए बहुत उपयोगी नहीं होतीं । कीमती कपड़ा, कीमती फर्नीचर, कीमती सुसज्जा के स्थान पर सब कुछ सस्ता और मजबूत खरीदना चाहिए भले ही वे देखने में कम सुन्दर लगें । उधार लेने की आदत बहुत ही बुरी है । इससे चीज भी महँगी मिलती है और जरूरत से ज्यादा भी खरीद ली जाती है । सामान्य नियम यही रखा जाना चाहिए कि जितनी अपनी हैसियत है उसी के भीतर खर्च किया जाये, भले ही घी-दूध जैसी चीजों से वंचित रहना पड़े

पुरानी चीजों की मरम्मत करने में दिलचस्पी हो तो वे बहुत दिन चल सकती हैं । हाथ से काम करना पसन्द हो तो कपड़े धोने से लेकर हजामत बनाने तक और घर की सफाई, पुताई से लेकर पुस्तकों की जिल्द बाँधने तक बचे हुए समय में घरेलू मनोरंजन की तरह किए जा सकते हैं और पैसे बचाये जा सकते है । टूटी चीजों की मरम्मत, कपड़े सींना, पेटियों अथवा क्यारियों में शाक-भाजी उगा लेना, आटा पीसना, चर्खा कातना, साबुन बनाना जैसे छोटे गृह शिल्प बेकार समय को भी रचनात्मक काम में लगाने की अच्छी आदत डालने वाला प्रयोजन पूरा करते हैं और पैसे भी बचाते हैं । निर्माणात्मक योग्यता बढ़ती है सो अलग । कहना न होगा कि सुधार और सृजन का दृष्टिकोण परिष्कृत होकर यदि आदत के रूप में बदल जाये तो उन्नति के अनेक अवरुद्ध मार्ग सहज ही खुल सकते हैं और छोटा मनुष्य बड़ा बनने का रास्ता पा सकता है ।

हमें किसी की नकल नहीं करनी चाहिए वरन् अपनी व्यवस्था तथा योजना अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से बनानी चाहिए । अमीरों के यहाँ जिस ढंग से खर्च होता है और जो साधन जुटाये जाते हैं । उनकी नकल करना आरम्भ कर दिया जाये तो अपनी सीमित आय में काम कैसे

चलेगा, महँगी चीजों का अन्त नहीं । महँगे कपड़े, जेवर, उपकरण खरीदने में हाथ खुला रखा जाय तो कुबेर का भी खजाना खाली हो सकता है और उसे भी आर्थिक तंगी तथा कर्जदारी का कष्ट सहना पड़ सकता है ।

उपार्जन के उपयुक्त अधिक योग्यता एवं अनुभव बढ़ाना, साधन जुटाना, कठोर श्रम करना तथा मिलनसारी का स्वभाव इन बातों को बढ़ाना आवश्यक है । क्षमता बढ़ने से आमदनी के स्रोत खुलते हैं । हर हालत में खर्च पर नियन्त्रण तो आवश्यक ही है । अपनी हैसियत से बाहर जो कुछ है वह सब अनावश्यक समझा जाना चाहिए । सारी कमाई शरीर निर्वाह के लिए ही खर्च नहीं कर दी जानी चाहिए और न बेटे-पोतों के लिए इसे जोड़ते ही जाना चाहिए वरन् यह भी देखना चाहिए कि ज्ञान, अनुभव एवं लोकमंगल के लिए कमाई का एक अंश लगा है या नहीं । सब कुछ शरीर की सुविधा बढ़ाने में ही खर्च करते रहना आत्मिक प्रगति का द्वार अवरुद्ध करना है । ऐसी भूल पैसे सम्बन्धी व्यवस्था सोचते समय निश्चित रूप से ध्यान में रखनी चाहिए ।

प्रश्न—

(१) आजीविका प्राप्त करने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण क्या है ? (२) पैसा खर्च करने में किन-किन गुणों का होना अनिवार्य है ? (३) उन गुणों के न होने से क्या हानियाँ होती हैं ? (४) किसी व्यक्ति की बुद्धिमत्ता किस बात पर परखी जा सकती है ? (५) व्यक्ति धनवान किस प्रकार बन सकता है ? (६) सामान्य आजीविका से भी अपना खर्च किस प्रकार चलाया जा सकता है ? (७) अपना बजट हमें किस प्रकार का बनाना चाहिए ? (८) हम किन-किन आवश्यक खर्चों को कम करके बचत कर सकते हैं ? (९) जेब में रुपया रखके घूमना और उधार लेना किस प्रकार हानिकारक है ? (१०) अमीरों के रहन-सहन की नकल करना किस प्रकार हानिकारक है ?

अपव्यय और फैशनपरस्ती— एक ओछापन

पिछले दिनों अमीरी को इज्जत का माध्यम माना जाता रहा है । इज्जत पाना हर मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा है । इसलिए प्रचलित मान्यताओं के अनुसार हर मनुष्य अमीरी का इच्छुक रहता है ताकि उसे दूसरे लोग बड़ा आदमी समझें और इज्जत करें । अमीरी सीधे रास्ते नहीं आ सकती । उसके लिए टेढ़े रास्ते अपनाने पड़ते हैं । हर समाज और देश की अर्थव्यवस्था का एक स्तर होता है । उत्पादन श्रम और क्षमता के आधार पर दौलत चढ़ती है । देश में वैसे साधन न हों तो सर्व-साधारण को गुजारे भर के लिए ही मिल सकता है । अपने देश की स्थिति आज ऐसी ही है, जिसमें किसी प्रकार निर्वाह चलता रहे तो पर्याप्त है । औसत देशवासी की परिस्थिति से अपने को मिलाकर कामचलाऊ आजीविका से सन्तोष करना चाहिए । हम सब एक तरह का जीवन जीते हैं और ईर्ष्या, असन्तोष का अवसर नहीं आने देते, इतना ही सोचना पर्याप्त है । अमीरी की ललक पैदा करना–सीधा मार्ग छोड़कर टेढ़ा अपनाने को कदम बढ़ाना है । पिछले दिनों अनैतिक मार्ग अपनाने वाले, अमीरी इकट्ठी कर लेने वाले, इज्जत आबरू वाले बड़े आदमी माने जाते रहे होंगे पर अब वे दिन लद चुके । अब समझदारी बढ़ रही है । दौलत अब बेइज्जती की निशानी बनती चली जा रही है । लोग सोचते हैं, यह औंधे मार्ग अपनाने वाला आदमी है । यदि सीधे मार्ग से कमाता है तो ईमानदारी का तकाजा है कि देशवासियों के औसत वर्ग की तरह जिये और बचत को लोक-मंगल के लिए लौटा दे यदि ऐसा नहीं किया जाता, बढ़ी हुई कमाई को ऐय्याशी में, बड़प्पन के अहंकारी प्रदर्शन में खर्च किया जाता है अथवा बेटे-पोतों के लिए जोड़ा जमा किया जाता है तो ऐसा कर्तव्य विचारशीलता की कसौटी पर अवांछनीय ही माना जायेगा । अमीरी अब निस्सन्देह बेईज्जती की निशानी बनती चली जा रही है और वह दिन दूर नहीं, जब अमीरों को समाज का घृणित, अनैतिक एवं निष्ठुर वर्ग माना जायेगा । हमें सन्देह है कि अमीरी अब पचास वर्ष भी जीवित रह सकेगी । विवेकशीलता उसे छोड़ने के लिए बाध्य करेगी अन्यथा कानून अथवा विद्रोह उसका अन्त कर देगा ।

अमीरी इकट्ठी तो कोई विरले ही कर पाते हैं पर उसकी नकल बनाने वाले विदूषक हर जगह भरे पड़े हैं । चूँकि अमीरी इज्जत का प्रतीक बनी हुई थी, इसलिए इज्जत पाने के लिए अमीरी इकट्ठी करनी चाहिए और यदि वह न मिले तो कम से कम उसका ढोंग ही बना लेना चाहिए, यह बात नासमझ वर्ग में घर कर गई है और वह इस नकलचीपन पर बेतरह अपने आपको बर्बाद करता और अर्थसंकट के दल-दल में धँसता चला जाता है । लोग सोचते हैं कि हम अपना ठाठ-बाट और अमीरों जैसा बना लें तो दूसरे यह समझेंगे कि यह अमीर और बड़ा आदमी है और चटपट उसकी इज्जत करने लगेंगे । इसी नासमझी के शिकार असंख्य ऐसे व्यक्ति जिनकी आर्थिक स्थिति सामान्य जीवनयापन के भी उपयुक्त नहीं, अमीरी का ठाठ-बाट बनाये फिरते हैं । कपड़े, जेवर, फर्नीचर, सुसज्जा आदि को प्रदर्शनात्मक बनाने में इतना खर्च करते रहते हैं कि उनकी आर्थिक कमर ही टूट जाती है । दोस्तों के सामने अपनी अमीरी का पाखण्ड प्रदर्शित करने के लिए पान, सिगरेट, सिनेमा, होटल आदि के खर्च बढ़ाते हैं और उसमें उन्हें भी शामिल करते हैं ताकि उन पर अपनी अमीरी का रौब बैठ जाये और इज्जत मिलने लगे । कैसी भौंड़ी समझ है यह और कैसा फूहड़ तरीका है । कोई समझदार व्यक्ति इस नासमझी पर हँस ही सकता है । पर असंख्य लोग इसी वहम में फँसे, फिजूलखर्ची और फैशन में पैसा उड़ाते रहते और अपनी आर्थिक स्थिरता को खोखली करते चलते हैं ।

मामूली आमदनी के लोग जब अपनी स्त्रियों के बक्से कीमती साड़ियों से भरते हैं और जेवरों में धन गँवाते हैं तब उसके पीछे यही ओछापन काम करता है कि ऐसी सजी-धजी हमारी औरतों को देखकर लोग हमें अमीर मानेंगे। पुरुष साड़ी, जेवर तो नहीं पहनते पर सूट-बूट, घड़ी-छड़ी उनकी भी कीमती होती हैं, ताकि मित्रों के आगे बढ़-चढ़कर शेखी मार सकें। विवाह-शादियों के वक्त यह ओछापन हद दर्जे को पहुंच जाता है। बारातियों का औपड़पन देखते ही बनता है। ऐसा ठाठ-बाट बनाते हैं मानो कोई बड़े मिल मालिक, जागीरदार, अफसर अथवा सेठ-साहूकार हों। जानने वाले जब जानते हैं कि जरा-सी आमदनी वाला यह ढोंग बनाये फिरता है तो हर कोई असलियत समझ जाता है और दो ही अनुमान लगाता है या तो यह कर्जदार रहता होगा या बेईमानी से कमाता होगा। ये दोनों ही बातें बेइज्जती की हैं। सोचा यह गया था कि ठाट-बाट से इज्जत बढ़ेगी पर होता ठीक उलटा है। ऐसी सज-धज वाले व्यक्ति आमतौर से ओछे और अविश्वस्त समझे जाते हैं। ठाठ-बाट वाले बाबू को गैर सरकारी नौकरी नहीं मिलती। मालिक जानता है, इतना वेतन तो ठाठ-बाट में ही उठ जायेगा। फिर बच्चों को खिलाने के लिए इसे हमारे यहाँ चोरी का जाल फैलाना पड़ेगा। यही बात स्त्रियों के सम्बन्ध में है। फैशन बनाने वाली महिलाएँ दो छाप छोड़ कर जाती हैं या तो इनके घर में अनुचित पैसा आता है अथवा इनका चरित्र एवं स्वभाव ओछा है। यह दोनों ही लांछन किसी कुलीन महिला की इज्जत बढ़ाते नहीं, घटाते हैं।

घर-परिवार में यह सज-धज की प्रवृत्ति मनोमालिन्य पैदा करती है। अपव्यय हर किसी को बुरा लगता है। जो पैसा परिवार के शिक्षा, चिकित्सा, व्यवसाय, विनोद, पौष्टिक आहार आदि में लग सकता था, उसे फैशन में खर्च किया जाने लगे तो प्रत्यक्षतः परिवार के अन्य सदस्यों की सुविधा का अपहरण है। ठाठ-बाट की कोई बाहर से प्रशंसा कर दे। किसी को कुछ समय के लिए भ्रम में डाल दे यह हो सकता है, पर साथियों में घृणा और ईर्ष्या ही पैदा होगी, वहाँ इज्जत बढ़ेगी नहीं घटेगी। बढ़े-चढ़े खर्चों की पूर्ति के लिए अवांछनीय मार्ग ही अपनाने पड़ेंगे। कर्जदार और निष्ठुर जीवन जीना पड़ेगा। आमदनी सही भी है तो भी उसे व्यक्तिगत व्यय में सामाजिक स्तर के अनुरूप ही खर्च करना चाहिए। अधिक खर्च लोक-मंगल का हक मारना है।

अच्छा हो हम समझदारी और सज्जनता से भरा हुआ, सादगी का जीवन जियें। अपनी बाह्य सुसज्जा वाले खर्च को तुरन्त घटा दें और उस बचत को अपनी, अपने परिवार की तथा समाज की वास्तविक आवश्यकताओं को पूरा करने में लगाने लगें। सादगी सज्जनता का प्रतिनिधित्व करती है। जिसका वेश-विन्यास सादगीपूर्ण है उसे अधिक प्रामाणिक एवं विश्वस्त माना जा सकता है। जो जितना ही उद्धतपन दिखायेगा समझदारों की दृष्टि में उतनी ही इज्जत गिरा लेगा। इसलिए उचित यही है कि हम अपने वस्त्र सादा रखें, उनकी सिलाई भलेमानसों जैसी करायें, जेवर न लटकायें, नाखून और होठ न रँगें, बालों को इस तरह से न सजायें जिससे दूसरों को दिखाने का उपक्रम करना पड़े। नर-नारी के बीच मानसिक व्यभिचार का बहुत कुछ सृजन इस फैशन-परस्ती में होता है।

सादगी, शालीनता और सज्जनता का सृजन करती है। उसके पीछे गम्भीरता और प्रामाणिकता, विवेकशीलता और बौद्धिक परिपक्वता झाँकती है। वस्तुतः इसी में इज्जत के सूत्र सन्निहित हैं। सादगी घोषणा करती है कि यह व्यक्ति दूसरों को आकर्षित या प्रभावित करने की चालबाजी नहीं, अपनी वास्तविकता विदित कराने में सन्तुष्ट है। यही ईमानदारी और सच्चाई की राह है। यह आमदनी बढ़ाने का भी एक तरीका है। फिजूलखर्ची रोकना अर्थात् आमदनी बढ़ाना। समय आ गया है कि इस बाल-बुद्धि को छोड़कर प्रौढ़ता का दृष्टिकोण अपनाया जाये। हम गरीब देश के निवासी हैं। सर्वसाधारण को सामान्य सुसज्जा और परिमित खर्च में काम चलाना पड़ता है। अपनी वस्तुस्थिति यही है कि अपने करोड़ों भाई-बहिनों की पंक्ति में ही हमें खड़ा होना चाहिए और उन्हीं की तरह रहन-सहन का तरीका अपनाना चाहिए। इस समझदारी में ही इज्जत पाने के सूत्र सन्निहित हैं। फैशन-परस्ती और अपव्यय की राह अपनाकर हम आर्थिक संकट को ही निमन्त्रित करते हैं।

स्वच्छता के साथ जुड़ी हुई सादगी अपने आप में एक उत्कृष्ट स्तर का फैशन है। उसमें गरीबी का नहीं महानता का पुट है। सादा वेश-भूषा और सुसज्जा वाला व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा और स्वतन्त्र चिन्तन का परिचय देता है। भेड़चाल को छोड़कर जो विवेकशीलता का रास्ता अपनाता है, वह बहादुर है। सादगी हमें फिजूलखर्ची से बचाकर आर्थिक स्थिरता में ही समर्थ नहीं करती वरन् हमारी चारित्रिक दृढ़ता भी प्रमाणित करती है। अकारण उत्पन्न होने वाली ईर्ष्या और लांछनों से बचने का भी यही सरल मार्ग है।

प्रश्न—

(१) पिछले दिनों इज्जत का माध्यम क्या माना जाता रहा है ? (२) अमीरी प्राप्त करने के लिए किस तरह के रास्ते अपनाने पड़ते हैं ? (३) अपनी हैसियत से अधिक अमीरी दिखाने वाले के सम्बन्ध में लोग क्या सोचते हैं ? (४) ईमानदार अमीर का क्या कर्तव्य है ? (५) नासमझ वर्ग के लोगों के दिमाग में क्या बात घर कर गई है ?(६) अमीरी न होते हुए भी वे अमीरी किस तरह व्यक्त करते हैं ? (७) विवाहों के अवसर पर अमीरी दिखलाने की उत्कण्ठा चरम सीमा पर पहुँच जाती है, कैसे ? (८) अमीरी प्रदर्शित करने वाले स्त्री और पुरुष का समझदार वर्ग पर क्या प्रभाव पड़ता है ? (९) ठाठ-बाट और अपव्यय के बजाय बचत का पैसा हमें कहाँ खर्च करना चाहिए ? (१०) सादगी सज्जनता का प्रतिनिधित्व करती है। सिद्ध कीजिए ?

जेवरों का भौंड़ा फैशन— हर दृष्टि से हानिकारक

कोई समय था जब धन को सुरक्षित रखने के कोई उपयुक्त माध्यम नहीं थे । बैंक उस जमाने में थे नहीं और न सहकारिता, शेयर, ब्याज, उद्योग की प्रणालियाँ विकसित हुई थीं जो उन को न केवल रखवाली करें वरन् उसे बढ़ाती भी रहें । उस जमाने में लोग अपनी बचत के पैसे को सोने-चाँदी जैसी कीमती धातुओं के रूप में बदल लेते थे और कभी-कभी तो उन्हें जमीन में गाढ़ कर गुप्त कर देते तथा कभी-कभी जेवर बनवाकर उसे शरीर पर लादे रहते थे । चोर-उठाईगिरी से बचने के लिए किन्हीं परिस्थितियों में गाढ़ना ठीक पड़ता था, किन्हीं में लादना । जब दस्युओं का आतंक अधिक था और राज विप्लव होते रहते थे, तब लूटमार से बचाव हेतु जमीन में दबाई हुई सम्पत्ति सुरक्षित समझी जाती थी । पर धीरे-धीरे जब आतंक का जमाना कम हुआ तो जेवर वाली बात उपयुक्त जँचने लगी क्योंकि इससे सम्पन्नता प्रदर्शित करके गौरव पाने का अवसर मिलता था । उस पिछड़े जमाने में अपनी जमा पूँजी का विज्ञापन करने के लिए यह अच्छा ढंग था कि सोने-चाँदी के आभूषण पहने जायें । उनसे कुछ तो खूबसूरती समझी जाती थी और कुछ अमीरों का रौब-दाब जँचाने की बात भी । इस दृष्टि से औरतें ही नहीं मर्द भी उन दिनों हाथ-पैर में ही जेवर नहीं पहनते थे वरन् नाक-कान आदि कोमल अंगों को छेदकर उनमें सोने की बालियाँ तथा दूसरी चीजें पहिनते थे । एक यह भी जमाना था और उस जमाने की यह अपने ढंग की सूझ-बूझ या आवश्यकता भी थी ।

अब समय में जमीन-आसमान जैसा अन्तर आ गया है । पुरानी परिस्थितियों में फर्क पड़ गया है । अब पैसे को जेवर के रूप में बदलने की कोई उपयोगिता नहीं रह गई है । शेयर तथा बचत, धन को जमा कर ब्याज कमाने के अनेक रास्ते निकल आये हैं जिनसे कुछ ही समय के अन्दर पैसा ड्यौढ़ा-दूना हो जाता है । चोर-उठाईगिरी का कोई भय नहीं । पुराने जमाने में जेवर सीधे-सादे ढंग के गढ़ दिये जाते थे जिससे सोना-चाँदी असली रूप में ज्यों का त्यों बना रहता था और जरूरत के समय उसे लगभग उतने ही मूल्य में बेचा जा सकता था । अब फैशन की कुछ ऐसी बात आ गयी है कि जेवरों के तर्ज, डिजाइन और नमूनों ने कमाल ही कर दिखाया । टाँका, बट्टा मिलावट, मीना, नगीना आदि के जंजाल इतने अधिक हैं और उनकी गढ़ाई-बनाई इतनी महँगी है कि बनाने के दूसरे दिन यदि उन्हें गलाना, बदलना या बेचना पड़े तो मुश्किल से आधी कीमत खड़ी होगी । नाजुक किस्म के बने हुए यह हलके-फुलके जेवर घिसते, टूटते भी बुरी तरह हैं । इनकी मरम्मत और उलट-पुलट में लगती रहने वाली लागत का ब्यौरा तैयार किया जाये तो मालूम पड़ेगा कि थोड़े ही समय में बनवाने वाले की सारी पूँजी स्वर्णकारों की हथफेरी में समाप्त हो जाती है ।

जो पैसा पाँच-छह वर्ष में जमा करने पर दूना हो सकता था, वह जेवर बनवाने पर जड़-मूल से गुम गया । आर्थिक दृष्टि से वैयक्तिक रूप से बड़ी हानि है । राष्ट्रीय दृष्टि से तो जेवर बनवाने और पहनने की आदत को एक प्रकार से अभिशाप ही कह सकते हैं । बचत बैंकों में जमा पूँजी अनेक उद्योग-धन्धों के सृजन और संचालन का आधार बनकर राष्ट्रीय सम्पत्ति के उत्पादन और अनेक लोगों को आजीविका देने में योगदान कर सकती थी, इसके स्थान पर उँगली भर गिनने लायक चन्द आभूषण निर्माताओं को एक अनुपयोगी धन्धा देने भर में सीमित रह गई । सोना और चाँदी अब राष्ट्रीय साख के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय आधार का व्यवसाय बनी हुई है । दूसरे देशों से जो सामान खरीदना पड़ता है उसकी कीमत सोने-चाँदी के रूप में चुकाने का प्रचलन है । किसी देश के पास यह धातुएँ कम हों तो वह अपने यहाँ छपे नोटों के आधार पर अन्य देशों से कुछ भी न मँगा सकेगा । इसलिए अब सरकारों को अपने देश का सोना-चाँदी अन्तर्राष्ट्रीय साख के रूप में जमा रखना होता है । यदि यह दुर्लभ धातुएँ लोगों के शरीर पर जेवरों के रूप में लदी रहें तो निश्चित रूप से सरकार के पास जमा रखने व साख बनाने और आवश्यक आयात करने के साधन स्वल्प रह जायेंगे । इससे राष्ट्रीय व्यवसाय एवं उत्पादन में कठिनाई ही उत्पन्न होगी । जेवर पहनने की प्रथा राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव ही डालेगी ।

स्वास्थ्य की दृष्टि से जेवर केवल हानिकारक ही सिद्ध होते हैं । वे शरीर के जिस भी अंग पर धारण किये जायेंगे उसकी स्वच्छता में गड़बड़ी उत्पन्न करेंगे । वहाँ के रोमकूप रुकेंगे, पसीना ठीक तरह न निकलेगा, चमड़ी कड़ी पड़ेगी और बीमारियों की जड़ जमने का आधार बनेगा । नाक-कान जैसे कोमल मर्म स्थलों को छेदकर उनमें जेवर ठूँसना तो प्रकृति प्रदत्त इन अंगों की शोभा-सुषमा को नष्ट कर डालना ही है । नाक में पहने जाने वाले जेवर मैल जमा करते हैं । नाक से निकले वाला पानी उनके भीतर जमने और सूखने लगता है जिसकी दुर्गन्ध निरन्तर साँस के साथ मस्तिष्क में जाती रहती है । और दिमाग को दुर्बल एवं बीमार बनाने की भूमिका प्रस्तुत करती है । नाक में बालियाँ, लौंग आदि पहनने वाली स्त्रियाँ अकसर सिर दर्द, जुकाम आदि की शिकायतों से ग्रस्त पाई जाती हैं । कान छेद-छेदकर उनमें ऊँट-पटाँग लटकन टाँगना आदि काल की जंगली आदतों का स्मरण

दिलाता है । जानवरों के नाक-कान आदि छेदकर उसमें रस्सी डालकर काबू में रखने जैसा कर्तव्य यदि मनुष्यों के साथ दिखाया जाये तो इसे असभ्यता ही कहा जावेगा । देह पर गुदने गुदाना, नाक-कान में छेदकर जेवर लटकाना किसी जमाने में सौन्दर्य साधन माना जाता रहा होगा पर इस बीसवीं शताब्दी में कोई सभ्य व्यक्ति इस कुरीतिपूर्ण भौंड़ेपन का समर्थन नहीं कर सकता है । यदि किसी के पास सौन्दर्य देखने को आँख हों तो वह इस भौंड़ेपन को असभ्य कुरूपता की ही पंक्ति में रखेगा ।

अमीरी का प्रदर्शन सो भी जेवरों के रूप में-अब शालीनता का चिन्ह नहीं रह गया है । आर्थिक विषमता के विरुद्ध रोष बढ़ता जा रहा है और अमीरों को अप्रतिष्ठित और अप्रामाणिक, अवांछनीय वर्ग का घोषित किया जा रहा है । ऐसी लहर में अमीर लोग भी अपनी अमीरी छिपाने की बात सोचते हैं, जिससे लोकनिन्दा और रोष से बच सकें । ऐसे जमाने में जेवरों के रूप में अमीरी का भौंड़ा विज्ञापन करना अपने को चोर-बाजारियों, जमाखोरों, पूँजीपतियों, शोषकों को मिलने वाली घृणा और गाली आमन्त्रित करना है । गृह कलह के आधार जेवर हैं । क्रमबद्ध जेवर मिलने के कारण सद्गृहस्थों में भी ईर्ष्या, द्वेष की भावना भड़कती है । शौकीन स्त्रियाँ पतियों का आवश्यक काम रोककर जेवर बनवाने का आग्रह करती हैं फलस्वरूप मनोमालिन्य बढ़ते और अर्थ सन्तुलन बिगड़ते हैं । चोर, डाकुओं की घात लगती है सो अलग । उचक्के, उठाईगीरे जेवर के लोभ में बालकों महिलाओं को बहकाकर इन्हें अकेला-दुकेला पाकर जान के ग्राहक बनते रोज ही देखे-सुने जाते हैं । इन परिस्थितियों में नासमझ लोग ही जेवर की उपयोगिता और आवश्यकता का समर्थन कर सकते हैं ।

विवाह-शादियों में दहेज की माँग को प्रोत्साहन देने का एक बहुत बड़ा कारण लड़की वालों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कीमती जेवर चढ़ाने की माँग करना भी है अच्छा हो हम जेवरों के जंजाल से छूटें । इस भौंड़े फैशन को छोड़ें और उन दुष्परिणामों से बचें जो जेवरों के कारण नैतिक, सामाजिक, शारीरिक एवं आर्थिक क्षेत्र में आये दिन विविध-विधि बुराइयाँ उत्पन्न करते रहते हैं ।

प्रश्न–

(१) पिछले समय मे जेवरों के बनवाने के कारणों पर प्रकाश डालिए ? (२) अब पैसे को जेवरों के रूप में बदलना हानिकारक क्यों है ? (३) वर्तमान समय में भी यदि जेवरों का प्रचलन रहा तो हमारे देश को किस तरह हानि उठानी पड़ेगी ? (४) स्वास्थ्य की दृष्टि से भी जेवरों का पहनना हानिकारक है, सिद्ध कीजिए ? (५) जेवरो के बनवाने के कारण हमारे परिवारों को क्या हानियाँ होती हैं ? (६) क्या ऐसे कोई कारण हैं कि जिनके आधार पर हमें यह जेवरों का भौंड़ा फैशन छोड़ना चाहिए ? (७) जेवरों से खुद को क्या हानि होती है ? (८) जेवर प्रथा बन्द होने से विवाहों की आस्था में क्या सुधार हो सकता है ?

माँस मनुष्यता को त्याग कर ही खाया जा सकता है

विश्व विख्यात सुप्रसिद्ध दार्शनिक जार्ज बर्नाडशा को एक बार डाक्टरों ने सलाह दी कि-"आप माँसाहार न करेंगे तो जल्दी ही मर जायेंगे ।" शा ने उत्तर दिया-"यदि मैं दूसरों का प्राणघात किये बिना जिन्दा नहीं रह सकता तो मेरा मर जाना ही उत्तम है । " वे कहा करते थे-"अपने कुटुम्बियों को मारकर खा जाना और पशु-पक्षियों का माँस खाना समान स्तर के अपराध हैं ।"

वस्तुतः मनुष्य के छोटे भाई-बहिनों की तरह ही अन्य पशु-पक्षी हैं । सब में एक ही आत्मा है । सभी ईश्वर के पुत्र हैं । शान्तिपूर्वक जीने और दूसरों को जीने देने का अधिकार भले ही निम्न स्तर के जीव-जन्तु न मानें यह बात अलग है पर मनुष्य को इतना जानना और मानना ही चाहिए । मानव प्राणी की सबसे बड़ी विशेषता उसकी दया, करुणा, सहृदयता और स्नेह भरी सद्भावना है । इसी कारण वह ईश्वर का ज्येष्ठ पुत्र और सृष्टि का सबसे उत्तम प्राणी बना है । मनुष्य की महत्ता उसकी बुद्धिमत्ता पर नहीं सहृदयता पर निर्भर है । यदि वह उसे भी खो दे तो समझना चाहिए कि उसने मनुष्यता के सर्वप्रथम और सर्वप्रधान आदर्श को ही तिलांजलि दे दी ।

करुणा की प्रवृति अविच्छिन्न है । उसे मनुष्य और पशुओं के बीच विभाजित नहीं किया जा सकता । पशु-पक्षियों के प्रति बरती जाने वाली निर्दयता मनुष्यों के साथ किये जाने वाले व्यवहार को भी प्रभावित करेगी । जो मनुष्यों से प्रेम और सद्व्यवहार का मर्म समझता है वह पशु-पक्षियों के प्रति निर्दय नहीं हो सकता । अपना प्राण सभी को समान रूप से प्रिय है । पीड़ा सबको समान होती है । अपनी चमड़ी में सुई चुभो कर अथवा कोई अंग काट कर हम अनुभव कर सकते हैं कि शरीर घात कितना कष्टकारक है । अपने बच्चों और प्रियजनों को अपनी आँखों के आगे काटे जाने और उनके करुण चीत्कार करने की कल्पना करके हम सोच सकते हैं कि माँस आखिर किस तरह प्राप्त होता है । स्वास्थ्य और स्वाद के लिए हम अपने बच्चों को मारकर खा सकें तो ही हमें दूसरे जीवों की हत्या के लिए तैयार होना चाहिए । बूचरखाने में छुरी के नीचे तड़पते हुए पशु और कत्ल किये जाते मनुष्य को देखकर कोई अन्तर नहीं कर सकता कि पीड़ा के स्तर में दोनों के बीच कोई अन्तर है । पशु-पक्षी भी सिर कटते और पेट फटते समय उतना ही चीत्कार करते हैं जितना मनुष्य करता है । दोनों के हा-हाकार, तड़फन और व्यथा में कोई अन्तर नहीं । मनुष्यों को मारकर खाने वाला और अन्य जीवों को मारकर खाने वाला हमारे कानूनों की दृष्टि से न्यूनाधिक अपराधी हो सकता है, पर ईश्वर की दृष्टि में दोनों की पैशाचिकता एक स्तर की है ।

किसी बड़े स्वार्थ के लिए कोई बड़ी दुष्टता कर बैठे तो बात समझ में आती है, पर अकारण, निष्प्रयोजन, निरर्थक ही नहीं–उल्टी हानि, बीमारी, विकृत एवं जोखिम की मूर्खतापूर्ण उपलब्धियों के लिए माँस खाया जाता हो तो दोनों ही बातें पूर्णतया अज्ञानमूलक हैं । माँस की गन्ध, बनावट, स्वाद सभी कुछ ऐसे हैं जो अपने असली रूप में घृणा उत्पन्न करते हैं और उसके समीप आने पर एक वीभत्सता अनुभव होती है और मतली आती है । उबालकर चिकनाई में भूनकर मसालों की भरमार में तब कहीं वह उस लायक होता है कि उसकी असलियत छिपा सके और मुख उसे पेट में जाने के लिए इजाजत दे सके । माँस में हिंसक जानवरों के लिए कोई स्वादिष्टता हो सकती है पर मनुष्य की इन्द्रियों के लिए तो उसमें रत्तीभर भी आकर्षण नहीं है । जो आकर्षण है वह मसाले का है ।

किस प्राणी के लिए कौन पदार्थ स्वास्थ्यवर्धक है । कौन सा हानिकारक, इसकी मोटी परीक्षा उसके खाद्य-यन्त्रों की बनावट है । माँसाहारी जीवों के दाँतों के कीले बड़े नुकीले होते हैं ताकि वे जीवित प्राणी को चीर-फाड़ कर सकें । उनके नाखून इतने पैने और मजबूत होते हैं कि किसी के शरीर में गड़ाकर उसे जकड़ सकें । वे जीभ से चाट कर पानी पीते हैं और रतिक्रिया के समय जुड़ जाते हैं । यह एक भी स्थिति मनुष्य शरीर में नहीं है । बन्दर विशुद्ध शाकाहारी है । मनुष्य की भी बनावट शाकाहारी प्राणी की है । अपनी मूल प्रकृति के विपरीत आहार सदा हानिकारक होता है, क्योंकि पाचन मन्त्र में उत्पन्न होने वाले रस प्रकृति विरुद्ध वस्तुओं को हजम करने को उपयुक्त ही नहीं होते । शाकाहारी गाय, भैंस, बकरी, बन्दर आदि को माँस खिलाया जाय तो वह पहले तो उसके लिए तैयार ही न होंगे यदि किसी तरह खिला भी दिया जाये तो ठीक तरह हजम न होने के कारण बीमार पड़ जायेंगे । यही बात सिंह, व्याघ्र आदि के बारे में है उन्हें अन्न, शाक, घास पर रखा भी जाये तो पहले वह हजम ही न होगा । बलात् खिलाया जाये तो पाचन तन्त्र उसे स्वीकार न करेगा और बीमारी आ खड़ी होगी । मनुष्य की प्रकृति से माँस सर्वथा विपरीत है । वह कच्चा माँस पचा नहीं सकता, कच्चा रक्त पी ले तो आँतें सड़ जायें । कितनी ही उलट-पुलट करके उसे खाने योग्य बनाया जाये । प्रकृति के मूल आधार को नहीं बदला जा सकता । माँस हमारे लिए सदा हानिकारक परिणाम उत्पन्न करेगा । जो उसे मानवीय स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त बनाते हैं वे केवल गहरे अज्ञान में गोते लगा रहे हैं ।

जिन्होंने मानव शरीर शास्त्र का गहरा अन्वेषण किया है, उनका निष्कर्ष स्वास्थ्य की दृष्टि से माँसाहार को सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध करता है । हेंग का कथन है–"शाकाहारी ही शक्ति उत्पन्न करता है । माँस से केवल उत्तेजना बढ़ती है ।" डाक्टर क्लेमड ने लिखा है–"बच्चों को माँस की आदत डालना इन्हें आलसी, दुर्बल और झगड़ालू बनाने की शुरूआत है ।" शोधकर्त्ता मेनरी पडरी ने लिखा है–"शाकाहारियों की तुलना में माँसाहारी अधिक बीमार पड़ते और जल्दी मरते हैं ।" डाक्टर पारकर ने कहा है–"सिरदर्द, अपच, गठिया, थकान, रक्तपात, मधुमेह आदि का कारण यूरोप, अमरीका में बढ़ा हुआ माँसाहार ही है । डाक्टर रसेल ने कहा है–"यदि माँसाहार बन्द हो जाये तो दुनियाँ में आधी बीमारियाँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी ।" डाक्टर एन० चर्चिन ने सिद्ध किया है कि माँस से प्रोटीन का प्रमुख लाभ सोचा जाता है । पर वह प्रोटीन इतना घटिया होता है जिससे हानि की ही सम्भावना है ।

जापान के प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० वेज्ल अनेक निष्कर्ष के बाद इस नतीजे पर जा पहुँचे हैं कि "मनुष्य की प्रकृति में क्रोध, उदण्डता, आवेश, अविवेक, कामुकता और अपराधी प्रवृत्ति उत्पन्न करने तथा भड़काने में माँसाहार का बहुत बड़ा हाथ है ।" वस्तुतः मनुष्य जैसा खाता है उसका मन भी वैसा ही बन जाता है । पशुओं का माँस खाकर अपने शरीर का भाग बनाने वालों का मन पशु-प्रवृत्तियों से भर जाता है और वे कोई उच्च आदर्श उपस्थित कर सकने में असमर्थ हो जाते हैं । उनकी चेतना में पशुता का बाहुल्य होते रहने से उनको विचारपद्धति एवं कार्यशैली में लगभग वैसे ही लक्षण दिखाई देने लगते हैं ।

भारत यात्रा करने वाले सुप्रसिद्ध फाह्यान, मार्कोपोलो, जे० टी० ह्वीलर, हारफ्लायर सरीखे विदेशी यात्रियों ने अपनी भारत यात्राओं के विशद् वर्णनों में यही लिखा है–"भारत में चाण्डालों के अतिरिक्त और कोई सभ्य व्यक्ति माँस नहीं खाता था ।" धार्मिक दृष्टि से तो इसे सदा निन्दनीय पाप कर्म बताया जाता रहा है । बौद्ध और जैन धर्म तो प्रधानतया अहिंसा पर ही आधारित है । वैष्णव धर्म भी इस सम्बन्ध में इतना ही सतर्क है । वेद, पुराण, स्मृति, सूत्र आदि हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में पग-पग पर माँसाहार की निन्दा और निषेध भरा पड़ा है । बाइबिल में कहा गया है–"ऐ देखने वाले देखता क्यों है, इन काटे जाने वाले जानवरों के विरोध में अपनी जुबान खोल ।" ईसा कहते थे–" किसी को मत मार । प्राणियों की हत्या न कर और माँस न खा ।" कुरान में लिखा है–हरा पेड़ काटने वाले, मनुष्य बेचने वाले, जानवरों को मारने वाले और पर स्त्रीगामी को खुदा माफ नहीं करता । जो दूसरों पर रहम करेगा, वही खुदा की रहमत पायेगा ।"

हमें बढ़ते हुए माँसाहार की प्रवृत्ति में होने वाली हानियों पर विचार करना चाहिए और अपनी मूल प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुकूल आचरण करना चाहिए ताकि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य नष्ट होने से बच सकें । निष्ठुरता और क्रूरता का दूसरा नाम ही माँसाहार है । अच्छा हो हम अपनी प्रकृति में से इन तत्वों को निकालें अन्यथा हमारा व्यवहार मनुष्यों के प्रति भी इन्हीं दुर्गुणों से भरा होगा और संसार में नरक के दृश्य दीखेंगे ।

प्रश्न–

(१) अनिष्ट आहार की हानियों पर प्रकाश डालिए ? (२) जार्ज बर्नार्डशा के शब्दों में माँस खाना अपराध क्यों है ? (३) मानव प्राणी की सबसे बड़ी विशेषता क्या है ? (४) सिद्ध कीजिए कि माँसाहार मानव की प्रकृति के विरुद्ध है ? (५) माँसाहार के विरुद्ध विदेशी डाक्टरों के कथन देते हुए सिद्ध कीजिए कि असाध्य रोगों का कारण माँसाहार है ? (६) क्या यह सत्य है कि "जैसा खाये अन्न, वैसा बने मन ।" सप्रमाण सिद्ध कीजिए । (७) विभिन्न धर्मोपदेशकों के मतों को उद्धृत करते हुए सिद्ध कीजिए, कि माँसाहार पाप है ? (८) "न केवल शरीर अपितु मन की पवित्रता के लिए भी माँसाहार नहीं करना चाहिए ।" इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए ? (९) "माँसाहार निष्ठुरता एवं क्रूरता का प्रतीक है ।" विवेचन कीजिए ? (१०) शाकाहारी दीर्घजीवी होते हैं- सिद्ध कीजिए ?

तम्बाकू का दुर्व्यसन छोड़ा ही जाना चाहिए

बुद्धिमान समझा जाने वाला मनुष्य जब न करने योग्य करता है और न खाने योग्य खाने लगता है तब सहज ही उसकी बुद्धिमत्ता पर सन्देह होता है । तम्बाकू एक विषैला पदार्थ है जो मनुष्य की प्रकृति और शारीरिक स्थिति में समाविष्ट कराये जाने पर सुखद परिणाम कभी भी उत्पन्न नहीं कर सकता । उससे केवल हानि ही हानि है–लाभ तनिक भी नहीं । फिर न जाने क्यों उसके सेवन की प्रथा बढ़ती ही जा रही है । लोग उसे खाने, पीने से लेकर सूँघने, दाँतों से रगड़ने आदि कामों में लाकर अपने धन, समय और स्वास्थ्य की बर्बादी ही करते चले जा रहे हैं ।

स्पष्टतः तम्बाकू एक विषैला पौधा है । उसमें निकोटीन, कोलतार, कार्बन मोनाक्साइड जैसे घातक विष तत्वों की काफी मात्रा रहती है । इन विषों की थोड़ी मात्रा भी शरीर में इकट्ठी हो जाने पर मन्दाग्नि, रक्तचाप, खाँसी, दमा, अनिद्रा, अन्धता, मधुमेह सरीखे रोग पैदा करने का कारण बन जाती है । कच्ची उम्र में बच्चे धूम्रपान करने लगें तो उनकी शारीरिक बढ़ोत्तरी रुक जाती है, नाटे और दुबले रह जाते हैं । स्वप्नदोष होने लगते हैं और मुँह से बदबू आने लगती है । रक्त में तम्बाकू का विषैलापन घुल जाने से फुन्सी, दाद, खाज, खुजली, छाजन, चमड़ी फटना, बिवाई, गठिया और ब्लड प्रेशर, भयंकर फोड़े जैसे अन्य रोगों की सम्भावना बनी रहती है । कैन्सर जैसे अति भयंकर और असाध्य रोग का कारण तो प्रधानतया तम्बाकू ही बताया गया है ।

संसार के समस्त देशों की शारीरिक शोध ने तम्बाकू को मनुष्य के लिए हर दृष्टि से अनुपयुक्त बताया है । अमेरिका की सरकार ने कानून बनाकर हर सिगरेट और पैकट पर "स्वास्थ्य के लिए खतरनाक" लिखने तक का प्रतिबन्ध लगा दिया है । वहाँ यह घोषणा प्रत्येक सिगरेट पर छपी रहती है । मनोवैज्ञानिकों ने भी इसके प्रभाव ऐसे हो पाये हैं । तम्बाकू से क्रोध की मात्रा बढ़ती है । चिड़चिड़ापन, झुँझलाहट, आवेश में उत्तेजित हो जाना तम्बाकू के प्रसिद्ध परिणाम हैं । काम-वासना भड़काने में यह अग्रणी है । स्मरण शक्ति का घटना और आलस्य, प्रमाद का बढ़ना तम्बाकू की अपनी अलामतें हैं । जो इसे पियेगा अपने में इन दोषों की बढ़ोत्तरी देखेगा ।

नशा एक क्षणिक उत्तेजना पैदा करता है । जैसे कि हण्टर मारने पर घोड़ा तिलमिला कर दौड़ने लगता है वैसे ही नशेबाजी भी संचित शक्ति-कोष को भड़काती है और पीते समय लगता है कुछ फुर्ती-सी आई पर अन्ततः इसका परिणाम घातक ही होता है । बार-बार हण्टर मारकर सामर्थ्य से अधिक दौड़ाने पर घोड़ा जल्दी थक और मर जाता है यही बात शरीर पर लागू होती है । तम्बाकू जैसे नशों से बार-बार भड़काये जाने पर शरीर का संचित शक्ति कोष बुरी तरह बहुत जल्दी समाप्त हो जाता है और जवानी में बुढ़ापा आ घेरता है और खाँसी-दमा तरह-तरह की बीमारियों से ग्रसित होकर समय से पहले ही मरने की स्थिति बन जाती है । दुःख इसी बात का है कि इतनी हानि उठाकर भी लोग पैसा खर्च कर दुर्व्यसन को खरीदते हैं और खुशी-खुशी एक मन्द विष पीकर धीरे-धीरे आत्म-हत्या करने के खेदजनक मार्ग पर चलते रहते हैं ।

धीरे-धीरे कितना पैसा इस दुर्व्यसन में खर्च हो जाता है इसका हिसाब लगाते हैं, तो आश्चर्य होता है कि अपने गरीब देश के निवासी क्यों इतनी बर्बादी करते हैं । प्रति व्यक्ति न्यूनतम ३० पैसा बीड़ी माचिस का खर्च माना जाये तो साल में लगभग १००) वार्षिक होता है । १५ साल की उम्र से लेकर ६५ वर्ष की उम्र तक ५० वर्ष इसे पियें तो ५००० हुए । यदि यही पैसा बैंक में जमा करते रहा जाये तो चक्रवृद्धि ब्याज से लगभग तीन गुना अर्थात् १५,००० हो जाता है । इतनी बड़ी धनराशि की ब्याज से कोई व्यक्ति बुढ़ापा काट सकता है अथवा किसी परमार्थ कार्य में लगा सकता है । पर होता उलटा है । इतना धन भी खर्च होता है और शरीर की बर्बादी और मन की दुर्गति की भयावह हानियाँ भी उठानी पड़ती हैं ।

मुँह से हर घड़ी दुर्गन्ध आते रहने से पास बैठने वालों को घृणा उत्पन्न होती है और इस विषाक्त धुएँ से वायु-मण्डल दूषित होकर समीपवर्ती लोगों को ही नहीं दूरवर्ती लोगों को भी क्षति पहुँचती है । इस प्रकार तम्बाकू का दुर्व्यसन अपने लिए ही नहीं दूसरों को भी क्षति पहुँचाने का पाप अनजाने ही बटोरता रहता है । राष्ट्रीय क्षति तो इससे अपार है । प्रतिदिन करोड़ों रुपये की तम्बाकू भारतवासी पी जाते हैं, जो प्रतिवर्ष के हिसाब से अरबों-खरबों रुपये तक जा पहुँचती है । इतनी बड़ी धन राशि यदि राष्ट्रोत्थान में लग सके तो अपने देश का कायाकल्प हो सकता है ।

तम्बाकू का दुष्प्रभाव शरीर और धन तक ही सीमित नहीं है । उसके परिणाम सामाजिक भी हैं । जितने मजदूर इस उत्पादन में लगे हैं, वे यदि घर निर्माण, वस्त्र निर्माण, गो पालन, मधु उत्पादन जैसे उपयोगी कार्यों में लगा दिये

जायें तो बढ़े हुए किरायों पर गन्दे मकान मिलने की कठिनाई हल हो जाय। कपड़े की तंगी और महँगाई हल हो जाय। दूध-घी और शहद की नदियाँ बहने लगें, पर लाखों श्रमिकों की इतनी बड़ी जन-शक्ति का पसीना जब विनाश के उत्पादन में लगा हो और कितने ही व्यापारी इस विष विक्रय में अपनी पूँजी चतुरता और मेहनत जोड़े हों, तो उपयोगी व्यवसायों का क्षेत्र संकुचित होता ही चलेगा। इस संदर्भ में होने वाला प्रचार और विज्ञापन यदि स्वास्थ्य और चरित्र बढ़ाने की दिशा में लगता तो जन-प्रवृत्ति को कुमार्गगामी बनाने की अपेक्षा विकास की दिशा में कितनी प्रगति होती ?

अन्य नशों की भाँति तम्बाकू में भी तामसिक दुर्बुद्धि और अपराधी दुष्प्रवृत्ति भड़काने का दोष है। नशेबाज व्यक्ति की आध्यात्मिक संवेदनशीलता घटती है और उसे दुष्कर्म करते लज्जा, संकोच नहीं होता। उद्धतकर्म करने और उच्छृंखलता बरतने में उसे झिझक नहीं लगती। मानवीय प्रवृत्ति में अपराधी तत्वों का समावेश करने में नशेबाजी का भारी हाथ है।

इसीलिए सभी धर्मों ने, शास्त्रों ने एक स्वर से नशेबाजी की तम्बाकू पीने की निन्दा की है, इसे पाप बताया है। वेदों में इसकी निन्दा है। मनुस्मृति में इसे द्योतक-पातक माना है। बौद्ध धर्म में गिनाये चार पापों में एक नशेबाजी भी है। कुरान के पारा सात सूरत माया का रूक एक में कहा गया है-"हे ईमानवालो ! नशीली चीजें हराम हैं। इनसे बचते रहो।" बाइबिल का कथन है-"अन्त में नशेबाज की भी शैतान की तरह दुर्गति होगी, जो नशा पियेगा खुशहाल न रहेगा।"

हमारी प्रकृति इस तथ्य को जानती है, इसलिए तम्बाकू को भीतर प्रवेश होने देने में हर सम्भव प्रतिरोध करती है। धुआँ पीते हैं तो नाक मुँह से बाहर निकालना पड़ता है। खाते हैं तो थूकना पड़ता है। सूँघते हैं तो छींक उसे भगाती है। दाँतों में रगड़ते हैं तो पानी का प्रवाह उसे बहा देता है। फिर भी न जाने क्यों हम प्रकृति विरोधी कार्य करके अपना चतुर्दिक विनाश करने में जुटे हुए हैं।

अच्छा हो हम स्वयं तम्बाकू से बचें। पीते हों तो साहसपूर्वक छोड़ें, जो पी रहे हैं उन्हें अनुरोधपूर्वक इसे छोड़ने का आग्रह करें।

प्रश्न—

(१) बुद्धिमानों एवं शिक्षकों के व्यसनों में प्रमुख कौन-सा व्यसन है ? इसे मिटाना क्यों आवश्यक है ? (२) तम्बाकू में कौन-कौन से विष होते हैं ? (३) तम्बाकू के सेवन से कौन-कौन से रोग होते हैं ? (४) तम्बाकू स्वास्थ्य के लिए क्या हानि करता है ? (५) तम्बाकू खाने वाला अल्पजीवी क्यों होता है ? (६) तम्बाकू पीने वाले के आर्थिक व्यय पर प्रकाश डालिए ? (७) तम्बाकू के व्यसन से राष्ट्रीय क्षति कितनी होती है ? (८) विनाश के उत्पादन से आप क्या समझते हैं ? इस व्यय को अन्य उद्योगों में कैसे लगाया जा सकता है ? (९) तम्बाकू से अपराध वृत्ति किस प्रकार पनपती है ? (१०) "सभी धर्मों ने नशेबाजी की निन्दा की है।" सिद्ध कीजिये। तम्बाकू का सेवन अप्राकृतिक है ?

देशभक्त नवनिर्माण के कार्य में जुट जायें

अपना समाज पिछले दो हजार वर्ष से अवसादग्रस्त चला आ रहा है। आन्तरिक दोष-दुर्गुण जैसे-जैसे बढ़ते चले गये वैसे-वैसे परिस्थितियाँ भी उलझती चली गईं और पग-पग पर कठिनाइयाँ बढ़ीं। व्यक्तियों के दोष-दुर्गुणों के कारण समाज कमजोर हो जाता है और कमजोर समाज का शोषण करने के लिए कोई न कोई आक्रमणकारी कहीं न कहीं से आ ही कूदता है। अपना भी यही हुआ। गिरे में लात जमाने के लिए विदेशी आक्रमणकारी यहाँ आते रहे और अपने-अपने ढंग से रोमांचकारी शोषण करते रहे। इस पराधीनता ने उन दोष-दुर्गुणों को और भी बढ़ाया जिनके कारण अनेक प्रकार की दुर्बलताएँ और विपत्तियाँ पहले से ही उत्पन्न हो रही थीं। अभी स्वाधीनता मिली है, पर हमारे जातीय दोष-दुर्गुण जहाँ के तहाँ हैं। फलस्वरूप संसार के स्वतन्त्र राष्ट्र जिस प्रकार उन्नति कर रहे हैं, उनकी तुलना में हमारा पिछड़ापन नगण्य ही सुधरा है।

सरकार अपराधियों को दण्ड दे आर्थिक प्रगति के थोड़े साधन जुटा सकती है। व्यक्तिगत मूढ़ता एवं दुष्टता को, सामाजिक भ्रष्टता एवं अस्त-व्यस्तता को मिटाना उसके बलबूते की बात नहीं। अधिनायकवाद की बात दूसरी है। प्रजातन्त्र में यह बात नहीं। प्रजातन्त्र में व्यक्ति अथवा समाज-सुधार का कार्य लोकसेवियों पर निर्भर रहता है। उन्हीं की सत्ता, व्यक्ति या समाज का स्तर ऊँचा उठा सकने में समर्थ हो सकता है। प्राचीनकाल में देश का गौरव उच्च शिखर पर पहुँचाये रखने का सारा श्रेय यहाँ के लोक-सेवियों को है। वे अपना सारा समय दो कार्यों में खर्च करते थे। (१) अपना व्यक्तित्व उच्चकोटि का विनिर्मित करना, ताकि जनता पर उसका उचित प्रभाव पड़ सके। (२) निरन्तर अथक परिश्रम तथा अनवरत उत्साह के साथ जन-मानस में उत्कृष्टता भरने के लिए संलग्न रहना। साधु-ब्राह्मण और वानप्रस्थों की यही परम्परा एवं कर्म पद्धति थी। उनकी संख्या जितनी बढ़ती थी उसी अनुपात से राष्ट्रीय जीवन की हर दिशा में समृद्धि का अभिवर्द्धन होता चलता था। यही रहस्य था अपने गौरवमय इतिहास का। दुर्भाग्य ही कहना चाहिए, कि वे तीनों ही संस्थाएँ आज नष्ट हो गईं। ब्राह्मण, साधु और वानप्रस्थ तीनों ही दिखाई नहीं पड़ते। उनकी तस्वीरें और प्रतिमाएँ बड़ी संख्या में घूमती-फिरती नजर आती हैं पर उनका लक्ष्य, आदर्श और कर्त्तव्य सर्वथा 'अपरीत' हो गया, ऐसी दशा में उनकी उपयोगिता भी नष्ट हो गई।

दुर्भाग्य का रोना-रोने से काम न चलेगा । अभाव की पूर्ति दूसरी तरह करनी होगी । हम गृहस्थ लोग ही थोड़ा-थोड़ा समय निकाल कर लोक-मंगल की सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्द्धन करना अपना धर्म-कर्त्तव्य समझें और उसके लिए निरन्तर कुछ न कुछ योगदान देने के लिए तत्परता प्रकट करने लगें तो उस आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है, जिस पर प्रगति का सारा आधार अवलम्बित है । यदि हमारे मन में राष्ट्रीय प्रगति और सामाजिक उन्नति के लिए व्यक्तिगत लाभों जैसी दिलचस्पी पैदा हो जाये तो हम व्यस्त दिखाई देने वाले लोग भी थोड़ा-थोड़ा योगदान देकर ऐसे सामूहिक अभियान चला सकते हैं, जिनसे वर्तमान दुर्दशा का कायाकल्प होने में देर न लगे । आवश्यकता ऐसे लोगों की है, जिनके अन्तःकरण में देशभक्ति, समाज-सेवा एवं लोक-मंगल के लिए कुछ करने की उमंग भरी भावनाएँ लहरा रही हों । ऐसे ही नर-रत्न अपना जीवन धन्य करते हैं, अपने समय की महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ सम्पादित करते हैं ।

यों राजनीतिक पार्टियों के पास अभी भी बहुत कार्यकर्त्ता हैं पर वे राजनीति को ही सब कुछ मान बैठे हैं । सत्ता-संघर्ष में यश, पद पाने में ही उनकी प्रधान अभिरुचि है । कूटनीति में जिस तरह की तिकड़में भिड़ानी एवं विडम्बनाएँ जुटानी पड़ती हैं, उन सबके अभ्यस्त होने से वे व्यक्तिगत आत्मबल भी खो बैठते हैं और ऐसे रचनात्मक कार्यों में उनकी रुचि भी नहीं रहती है । उनका ढर्रा भी सन्त-महन्तों की तरह अपनी पूजा, महिमा और गद्दी बनाने की दिशा में ही लुढ़कने लगता है । जो जिस ढाँचे में ढल गया उसके लिए बदलना मुश्किल पड़ता है । इसलिए राजनीतिक क्षेत्र में लगे हुए लोगों से भी उनकी मनोभूमि देखते हुए आशा करनी कठिन है कि देश की प्रगति के लिए नितान्त आवश्यक जन-मानस का परिष्कार–रचनात्मक अभिवर्द्धन और समाज की दिशाएँ मोड़ने का अभियान उनके द्वारा सम्भव हो सकेगा । यह नया कार्य एक नये वर्ग को करना चाहिए । धार्मिकता के सहारे भावनात्मक नव-निर्माण की दिशा में जुट सकें– साधु ब्राह्मणों की परम्परा को गृहस्थ रहकर भी निभा सकें–ऐसे व्यक्तियों की आज नितान्त आवश्यकता है । इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सबसे पहले हमें आगे आना चाहिए ताकि दूसरों को भी उसी मार्ग पर अनुगमन करने की प्रेरणा मिल सके ।

भावनात्मक नव-निर्माण की आवश्यकता का महत्त्व समझने वाले और उसके लिए कुछ त्याग-बलिदान करने की हिम्मत करने वाले लोगों का एक वर्ग हर जगह ढूँढ़ा जाना चाहिए । उसे संगठित किया जाना चाहिए । क्योंकि एकाकी प्रयत्नों का परिणाम बहुत बड़ा नहीं होता । सम्मिलित शक्ति द्वारा किये गये संगठित प्रयत्नों का चमत्कार सदा से होता रहा है । उसी की आवश्यकता आज भी है । लोक-मंगल के लिए किये गये सामूहिक सत्प्रयत्न यदि सज्जनों द्वारा आरम्भ किये जायें तो उनसे जन-मानस के परिष्कार में, भावनात्मक नव-निर्माण में, भारी सहायता मिले और प्रगति के पथ का सबसे बड़ा अवरोध सहज ही दूर हो जाये ।

कितने ही काम हैं जो ऐसे सत्प्रयत्नों द्वारा सम्पन्न किये जा सकते हैं । (१) प्रेरक विचारधारा प्रस्तुत करने वाले ज्ञान-मन्दिरों की-प्रेरक पुस्तकालयों की व्यापक शृंखला का निर्माण इस दिशा में सबसे पहला काम है । यदि व्यवस्थित रूप से वह प्रक्रिया पूरी की जा सके तो विचार-क्रांति का महायज्ञ बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न होगा और उससे प्रबुद्ध पीढ़ी विनिर्मित होते हुए और उसके कर्तृत्व से वर्तमान दुर्दशा समाप्त होते हुए हम अपनी आँखों से देखेंगे । (२) अशिक्षा दूर करने–७० प्रतिशत अशिक्षित लोगों को साक्षर बनाने का काम बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । इसके लिए सरकारी, गैर सरकारी प्रयत्नों से विभिन्न स्तर के शिक्षण प्रयत्नों की वृद्धि होनी चाहिए । प्रौढ़-पाठशालाओं और रात्रि-पाठशालाओं की इस सन्दर्भ में महती आवश्यकता है । (३) व्यायामशालाएँ, खेलकूद, शस्त्र-संचालन और शरीर बल प्रदर्शन की प्रतियोगिताएँ, (४) देहाती क्षेत्रों में स्वच्छता आन्दोलन । नये ढंग के टट्टीघर , पेशाब घर, सोख्ता, नाली कूड़े के लिए गढ़े गोबर न जलाने, मिल-जुलकर गाँव की सफाई करने जैसी प्रवृत्तियाँ पैदा करके ग्रामीण जीवन में व्याप्त गन्दगी को दूर करने का अभियान (५) खर्चीली विवाह-शादियों के स्थान पर बिना खर्च के आदर्श विवाहों का प्रचलन । मृत्यु-भोज, भूत-पलीत, भिक्षावृत्ति, पर्दा, ऊँच-नीच, बाल-विवाह जैसी अगणित सामाजिक कुरीतियों को हटाने के लिए विभिन्न स्तरों के प्रचार, विरोध एवं प्रतिरोधात्मक आन्दोलन का सृजन एवं नेतृत्व । (६) भावनात्मक नवनिर्माण के लिए साहित्य, संगीत, कला, अभिनय, चित्र-प्रदर्शनी, प्रवचन, सम्मेलन आदि के समस्त प्रचार साधनों का प्रारम्भ एवं अभिवर्द्धन । (७) शाक, फल, फूल, वृक्ष आदि उगाने, अन्न बचाने, झूठन न छोड़ने, दावतों पर नियन्त्रण, सुधरे ढंग की कृषि, पकाने तथा खाने सम्बन्धी जानकारी, कम ईंधन से जलने वाले चूल्हे आदि के द्वारा खाद्य समस्याओं का समाधान । (८) धार्मिक, नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा के लिए व्यापक एवं प्रखर प्रशिक्षण व्यवस्था । व्यक्तिगत जीवन में सत्प्रवृत्तियों के समावेश को प्रोत्साहन, सत्कार्यों का अभिनन्दन । (९) जीव दया, पशु-पक्षियों के साथ सद्व्यवहार । (१०) गृह उद्योगों का व्यापक प्रचलन । फैशन, फिजूलखर्चा एवं अपव्यय को निरुत्साहित करना ।

इन दशसूत्री कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने में हमें अपनी परिस्थिति एवं सुविधा के अनुरूप योजनाएँ बनाकर कार्य संलग्न होना चाहिए । इस दिशा में किये गये प्रयत्न ही राष्ट्रीय प्रगति के आधार बनेंगे ।

जायें तो बढ़े हुए किरायों पर गन्दे मकान मिलने की कठिनाई हल हो जाय । कपड़े की तंगी और महँगाई हल हो जाय । दूध-घी और शहद की नदियाँ बहने लगें, पर लाखों श्रमिकों की इतनी बड़ी जन-शक्ति का पसीना जब विनाश के उत्पादन में लगा हो और कितने ही व्यापारी इस विष विक्रय में अपनी पूँजी चतुरता और मेहनत जोड़े हों, तो उपयोगी व्यवसायों का क्षेत्र संकुचित होता ही चलेगा । इस संदर्भ में होने वाला प्रचार और विज्ञापन यदि स्वास्थ्य और चरित्र बढ़ाने की दिशा में लगता तो जन-प्रवृत्ति को कुमार्गगामी बनाने की अपेक्षा विकास की दिशा में कितनी प्रगति होती ?

अन्य नशों की भाँति तम्बाकू में भी तामसिक दुर्बुद्धि और अपराधी दुष्प्रवृत्ति भड़काने का दोष है । नशेबाज व्यक्ति की आध्यात्मिक संवेदनशीलता घटती है और उसे दुष्कर्म करते लज्जा, संकोच नहीं होता । उद्धतकर्म करने और उच्छृंखलता बरतने में उसे झिझक नहीं लगती । मानवीय प्रवृत्ति मे अपराधी तत्वों का समावेश करने में नशेबाजी का भारी हाथ है ।

इसीलिए सभी धर्मों ने, शास्त्रों ने एक स्वर से नशेबाजी की तम्बाकू पीने की निन्दा की है, इसे पाप बताया है । वेदों मे इसकी निन्दा है । मनुस्मृति में इसे घोतक-पातक माना है । बौद्ध धर्म में गिनाये चार पापों में एक नशेबाजी भी है । कुरान के पारा सात सूरत माया का रूक एक में कहा गया है--''हे ईमानवालो ! नशीली चीजें हराम हैं । इनसे बचते रहो ।'' बाइबिल का कथन है--''अन्त में नशेबाज की भी शैतान की तरह दुर्गति होगी, जो नशा पियेगा खुशहाल न रहेगा ।''

हमारी प्रकृति इस तथ्य को जानती है, इसलिए तम्बाकू को भीतर प्रवेश होने देने में हर सम्भव प्रतिरोध करती है । धुआँ पीते हैं तो नाक मुँह से बाहर निकालना पड़ता है । खाते हैं तो थूकना पड़ता है । सूँघते हैं तो छींक उसे भगाती है । दाँतों में रगड़ते हैं तो पानी का प्रवाह उसे बहा देता है । फिर भी न जाने क्यों हम प्रकृति विरोधी कार्य करके अपना चतुर्दिक विनाश करने में जुटे हुए हैं ।

अच्छा हो हम स्वयं तम्बाकू से बचें । पीते हों तो साहसपूर्वक छोड़ें, जो पी रहे हैं उन्हें अनुरोधपूर्वक इसे छोड़ने का आग्रह करें ।

प्रश्न--

(१) बुद्धिमानों एवं शिक्षकों के व्यसनों में प्रमुख कौन-सा व्यसन है ? इसे मिटाना क्यों आवश्यक है ? (२) तम्बाकू में कौन-कौन से विष होते हैं ? (३) तम्बाकू के सेवन से कौन-कौन से रोग होते हैं ? (४) तम्बाकू स्वास्थ्य के लिए क्या हानि करता है ? (५) तम्बाकू खाने वाला अल्पजीवी क्यों होता है ? (६) तम्बाकू पीने वाले के आर्थिक व्यय पर प्रकाश डालिए ? (७) तम्बाकू के व्यसन से राष्ट्रीय क्षति कितनी होती है ? (८) विनाश के उत्पादन से आप क्या समझते हैं ? इस व्यय को अन्य उद्योगों में कैसे लगाया जा सकता है ? (९) तम्बाकू से अपराध वृत्ति किस प्रकार पनपती है ? (१०) ''सर्व नशेबाजी की निन्दा की है ।'' सिद्ध कीजिये । तम्बाकू अप्राकृतिक है ?

देशभक्त नवनिर्माण के का जुट जायें

अपना समाज पिछले दो हजार वर्ष से चला आ रहा है । आन्तरिक दोष-दुर्गुण जै चले गये वैसे-वैसे परिस्थितियाँ भी उलझती पग-पग पर कठिनाइयाँ बढ़ीं । व्यक्तियों के कारण समाज कमजोर हो जाता है और क का शोषण करने के लिए कोई न कोई कहीं न कहीं से आ ही कूदता है । अपना भ गिरे में लात जमाने के लिए विदेशी आक्रा आते रहे और अपने-अपने ढंग से रोमांच करते रहे । इस पराधीनता ने उन दोष-दुर्गुण बढ़ाया जिनके कारण अनेक प्रकार की विपत्तियाँ पहले से ही उत्पन्न हो रही स्वाधीनता मिली है, पर हमारे जातीय दोष तहाँ हैं । फलस्वरूप संसार के स्वतन्त्र र उन्नति कर रहे हैं, उनकी तुलना में ह नगण्य ही सुधरा है ।

सरकार अपराधियों को दण्ड दे अ थोड़े साधन जुटा सकती है । व्यक्तिगत को, सामाजिक भ्रष्टता एवं अस्त-व्यस्त उसके बलबूते की बात नहीं । अधिना दूसरी है । प्रजातन्त्र में यह बात नहीं । अथवा समाज-सुधार का कार्य लोकर रहता है । उन्हीं की सत्ता, व्यक्ति या सम उठा सकने में समर्थ हो सकती है । का गौरव उच्च शिखर पर पहुँचाये र यहाँ के लोक-सेवियों को है । ये अ कार्यों में खर्च करते थे । (१) अपना का विनिर्मित करना, ताकि जनता पर पड़ सके । (२) निरन्तर अथक पर्य उत्साह के साथ जन-मानस में उत्कृ संलग्न रहना । साधु-ब्राह्मण और परम्परा एवं कर्म पद्धति थी । उनकी थी उसी अनुपात से राष्ट्रीय जीवन का अभिवर्द्धन होता चलता था । गौरवमय इतिहास का । दुर्भाग्य ही तीनों ही संस्थाएँ आज नष्ट हो गईं वानप्रस्थ तीनों ही दिखाई नहीं पड़ते प्रतिमाएँ बड़ी संख्या में घूमती-फि उनका लक्ष्य, आदर्श और कर्तव्य गया, ऐसी दशा में उनकी उपयोगिता

है तो जरूर उसे छिलका फेंकने के लिए धैर्यपूर्वक उसके लिए उचित स्थान तलाश करने की बात याद रहती । पर जहाँ दूसरों की सुविधा की बात कभी ध्यान में ही आती न हो, वहाँ ऐसा विचार करने का कष्ट कौन उठाये ? नारंगी आदि के छिलके लोग यों ही फेंकते रहते हैं और आये दिन दुर्घटनाएँ होती रहती हैं ।

कितने ही लोग गाय पालते हैं और दूध दुह कर उन्हें आवारा यह समझकर छोड़ देते हैं किसी की चीज खाकर अपना पेट भर लायेगी और हमें दूध देगी । गो माता के प्रति प्रचलित श्रद्धा के आधार पर कोई उसे मारेगा नहीं और अपना काम बन जायेगा । इस तरह वह गाय लोगों की वस्तुएँ खाकर, बिखेर कर, दूसरों का रोज नुकसान करती और पिटती, कुटती रहती है । इस तरह दूसरों को कष्ट देने तथा स्वयं लाभ उठाने को क्या कहा जाये ? स्वयं कीर्तन करने का मन है तो अपने घर में पूजा के उपयुक्त मन्द स्वर में प्रसन्नतापूर्वक करें । पर लाउडस्पीकर लगाकर रात भर धमाल मचाने और पड़ौस के बीमारों, परीक्षार्थियों तथा अन्य लोगों की नींद नष्ट करने वाली ईश्वरभक्ति से भी पहिले हमें अपनी नागरिक मर्यादाओं और जिम्मेदारियों को समझना चाहिए । जिसका अर्थ है कि दूसरों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए अपनी स्वेच्छा को स्वेच्छापूर्वक सीमाबद्ध करना ।

वचन का पालन और ईमानदारी का व्यवहार मनुष्य का प्राथमिक एवं नैतिक कर्त्तव्य है । जिस समय पर जिससे मिलने का, कोई वस्तु देने काम पूरा कर देने का वचन दिया है । उस वचन को ठीक समय पर पूरा करने का ध्यान रखना चाहिए ताकि दूसरों को असुविधा का सामना न करना पड़े । यदि हम दर्जी या मोची हैं तो उचित है कि वायदे के समय पर उसे देने का शक्ति भर प्रयत्न करें । बार-बार तकाजे करने और निराश वापिस लौटने में जो समय खर्च होता है और असुविधा होती है, उसे देखते हुए ऐसे दर्जी, धोबी अपनी प्राप्त मजूरी से ग्राहक का चौगुना-दसगुना नुकसान कर देते हैं । भाषण करना है तो हमें ठीक समय पर पहुँचना और नियमित समय में ही पूरा करना चाहिए । समय का ध्यान न रखना सुनने वालों के साथ बे इन्साफी है । दावत जिस समय की रखी है, उसी समय आरम्भ कर देनी चाहिए । मेहमानों को घण्टों प्रतीक्षा में बिठाये रहना–एक प्रकार से उनका समय बर्बाद करना है । जिसे धन की बर्बादी के समान ही हानिकारक समझा जाना चाहिए ।

वस्तु का मूल्य और स्वरूप जो बताया गया है वही वस्तुतः होना चाहिए, असली में नकली की मिलावट कर देना, दामों में घिसा-पिटी करके कमीवेशी करना, व्यापार करने वालों के लिए सर्वथा अशोभनीय है । नागरिक कर्त्तव्य की अवहेलना है । दाम अधिक बताया पीछे फिर घिस-घिस कर कमी करना, अपनी विश्वसनीयता तथा प्रामाणिकता पर कलंक लगाना है । असली और नकली अलग-अलग बेची जायें और उनके दाम वैसे ही महँगे, सस्ते स्पष्ट किये जायें तो व्यापारी की साख बढ़ेगी और ग्राहकों का समय बचेगा तथा सन्तोष होगा । एक दुकानदार असली लालमिर्च बेचते थे और उचित दाम बताते थे जो बाजार के हिसाब से कुछ महँगे पड़ते थे । ग्राहक जब पूछते तो पिसा हुआ गेरू सामने रखकर वे पूछते आप जितना कहें उतना गेरू मिर्चों में मिला दूँ । उतने ही दाम सस्ते हो जाएँगे । दूसरी दुकान पर बिकने वाली लाल मिर्चों का नमूना मँगाकर वे पानी में घोलते और नीचे जब गेरू बैठ जाता तब कहते यह मिलावट ही सस्तेपन का कारण है । ग्राहक वस्तुस्थिति समझ जाता और फिर सदा उसी दुकान से महँगे दाम के शुद्ध मसाले खरीदता । ईमानदारी घाटे का सौदा नहीं है । वह प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता की परीक्षा भर चाहती है । इस कसौटी पर सही होना हर व्यवसायी का नागरिक कर्त्तव्य है । यह कर्त्तव्य पालन व्यक्ति का सम्मान भी बढ़ाता है और व्यवसाय भी ।

दूसरों की असुविधा को ध्यान में रखते हुए अपनी सुविधा को सीमाबद्ध रखना, शिष्टता और सभ्यता भरा मधुर व्यवहार करना और मीठे वचन बोलना, वचन का पालन करना, प्रामाणिकता और विश्वस्तता की रीति-नीति अपनाना, समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को ठीक तरह निभाना नागरिक कर्त्तव्यों का शुभारम्भ है । इतना तो हममें से प्रत्येक को सीखना और करना ही चाहिए अपने आचरणों से समाज में स्वस्थ परम्पराओं का प्रचलन करके हम वह स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं जिससे सभ्य समाज में शिष्ट नागरिकों की तरह हम ठीक जी सकें और दूसरों को जीने दे सकें ।

प्रश्न–

(१) अपने देश के प्रति नागरिक का कर्त्तव्य क्या है ? (२) दूसरों की सुविधा का ध्यान रखने से क्या लाभ है ? (३) घर, मुहल्ले एवं नगर में सफाई रखने के लिए क्या किया जाये ? (४) नागरिकता किसे कहते हैं ? सार्वजनिक स्थानो पर लोग किस प्रकार गन्दगी फैलाते हैं ? (५) मनुष्यता की आरम्भिक शिक्षा क्या है ? (६) ईश्वर भक्ति से भी पहले नागरिक मर्यादाओं एवं जिम्मेदारियों को क्यो निभाना चाहिए ? (७) मनुष्य का प्रामाणिक एवं नैतिक कर्त्तव्य क्या है ? (८) समय की बर्बादी धन की बर्बादी से भी अधिक अहितकर है-सिद्ध करें ? (९) व्यवसाय में सफलता का रहस्य क्या है ?(१०) मिलावट से क्या हानि है ?

व्यक्तिगत स्वार्थ भी सामाजिक सुव्यवस्था पर निर्भर है

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । उसकी प्रक्रिया का इतिहास यही प्रतिपादित करता है । पारस्परिक सहकारिता और उदारता के भावनात्मक सद्गुणों ने वह स्थिति पैदा की जिसके अनुसार लोग एक-दूसरे को अपना बौद्धिक और क्रियात्मक सहयोग दे सके और इस विनिमय ने ज्ञान,

प्रश्न—

प्रजातंत्र में देशभक्तों के कर्त्तव्य क्या हैं ? (२) युग निर्माण योजना द्वारा प्रसारित रचनात्मक नवनिर्माण के कार्यों का उल्लेख करते हुए युग की आवश्यकता पर लघु निबन्ध लिखिये ? (३) लोकसेवक अपना सारा समय किन दो कामों में खर्च करते थे ? (४) हमारे देश के उस प्रकार उन्नति कर सकने के क्या कारण हैं, जिस प्रकार एक स्वतन्त्र राष्ट्र के नाते हमारे उन्नति हो सकती थी ? (५) राष्ट्रीय प्रगति और सामाजिक उन्नति के लिए नवयुवकों को क्या करना चाहिए ? (६) राजनैतिक पार्टियों के कार्यकर्त्ता किस प्रकार अपना समय व्यय कर देते हैं ? (७) ऐसे कौन से १० सूत्री कार्यक्रम हैं जिनके अन्तर्गत हम नवयुवक भी देश की प्रगति में सहायक बन सकते हैं ? (८) एक-एक कार्यक्रम का अलग-अलग वर्णन करो ?

नागरिक कर्त्तव्य पालें और समाज में स्वस्थ परम्परा डालें

समाज में स्वस्थ परम्पराएँ कायम बनी रहें उसी से अपनी और सबकी सुविधा बनी रहेगी । यह ध्यान में रखते हुए हम में से प्रत्येक को अपने नागरिक कर्त्तव्यों का पालन करने में भावनापूर्वक दत्तचित्त होना चाहिए । समाज सबका है । सब लोग थोड़ा-थोड़ा बिगाड़ करें तो सब मिलाकर बिगाड़ की मात्रा बहुत बड़ी हो जायेगी । किन्तु यदि थोड़े-थोड़े प्रयत्न सुधार के लिए चल पड़ें तो उस सुधार से सब मिलाकर सुधार भी बहुत हो सकता है । उचित यही है कि हम सब मिलकर अपने समाज को सुधारने, संचालित करने और स्वस्थ परम्पराएँ प्रचलित करने का प्रयत्न करें और सभ्य, सुविकसित लोगों की तरह भौतिक एवं आत्मिक प्रगति का सुख-संतोष प्राप्त कर सकें ।

दूसरों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए अपनी सुविधा और स्वतन्त्रता को स्वेच्छापूर्वक सीमित करना, सभ्य देश के सभ्य नागरिक का कर्त्तव्य है । स्वच्छता को ही लीजिए कहीं भी नाक, थूक साफ करना, पान-तम्बाकू की पीक डाल देना अपने लिये कुछ दूर जाने का कष्ट भले ही बचावे पर दूसरों को घृणा असुविधा पैदा होगी और यदि अपने को कोई रोग है तो उसका आक्रमण उस गन्दगी में आने-जाने वाले पर होगा । यदि भले ही कोई रोके नहीं पर हमारा नागरिक कर्त्तव्य है, कि दूसरों की असुविधा को ध्यान में रखते हुए स्वयं उस गन्दगी को डालने के योग्य उपयुक्त स्थान तक जाकर उसे साफ करें । बीड़ी-सिगरेट हम पीते हैं तो ध्यान रखें कि अपने अस्वच्छ धुआँ छोड़ने से पास में बैठे हुए दूसरे लोगों की तबियत खराब तो नहीं होती, स्वयं ही पता लगायें कि किसी को असुविधा तो नहीं होती । यदि हमारी उस क्रिया से दूसरों को तकलीफ होती है, तो सभ्यता का तकाजा यही है कि कहीं अन्यत्र जाकर बीड़ी पियें और धुआँ छोड़ें ।

घरों की गन्दगी लोग अक्सर गली या सड़क पर डाल देते हैं, उसमें रास्ता निकलने वालों को असुविधा होती है और सार्वजनिक स्थानों की स्वच्छता अस्त-व्यस्त होती है । उचित यही है कि घरों में कूड़ेदान रखें और जब सफाई कर्मचारी आवें तब उसे उठवा दें । छोटे बच्चों को अपने घरों में ही टट्टी कराने का प्रबन्ध करना चाहिए, यह अनुचित है कि गली की नाली के ऊपर उन्हें बिठावें और गन्दगी, बदबू तथा अशोभनीय अस्वच्छता से उस गली में रहने वाले तथा निकलने वालों को कष्ट पहुँचावें । छत की ऊपरी मंजिल से फूटा घड़ा फेंक देने से एक बार उस रास्ते से निकलने वाले बच्चे का सिर फूट गया और उसकी मृत्यु हो गई । सार्वजनिक स्थानों की स्वच्छता और व्यवस्था नष्ट करना यह बताता है कि इन घिनौने व्यक्तियों को मनुष्यता के आरम्भिक कर्त्तव्य नागरिकता तक का ही ज्ञान नहीं है ।

मुसाफिरखाने, धर्मशाला, पार्क, नदी-किनारे, सिनेमाघर आदि सबके काम में आने वाले स्थानों में लोग जहाँ-तहाँ रद्दी कागज, दोने, पत्ते, सिगरेट के खोखे, मूँगफली के छिलके आदि पटकते रहते हैं और देखते-देखते स्थान गन्दगी से भर जाते हैं । रेलगाड़ियों के डिब्बे में जहाँ हर आदमी को पिचपिच बैठना पड़ता है, ऐसी गन्दगी बहुत ही अखरती है । सँडासों में मलमूत्र का विसर्जन गलत स्थानों पर करने से वहाँ की स्थिति ऐसी हो जाती है कि दूसरों को उसका उपयोग करना कठिन पड़ता है । जबकि कितने ही मुसाफिर खड़े चल रहे हैं तब कुछ लोग बिस्तर बिछाये, टाँग लम्बी किये लेटे रहते हैं और उठाने पर झगड़ते हैं । इन लोगों को मनुष्यता की आरम्भिक शिक्षा सीखनी ही चाहिए कि सार्वजनिक उपयोग के स्थान या वस्तुओं का उतना ही उपयोग करें जितना कि अपना हक है । थर्डक्लास के डिब्बे बैठने भर के लिए हैं । खाली हो तो कोई लेट भी सकता है, पर जबकि अनेक मुसाफिर खड़े या लटकते चल रहे हैं और चन्द लोग लेटने का ऐसा आनन्द उठायें जिसे प्राप्त करने का हक उन्हें नहीं है तो उसे ढीठता या पशुता ही कहा जायेगा ।

प्रसिद्ध भारत भक्त अँग्रेज सी. एफ. एन्ड्रूज ने अपना जीवन हमारे देश की सेवा के लिए समर्पित किया । उनके वयोवृद्ध पिता का पैर सड़क पर पड़े हुए केले के छिलके पर से फिसला वे नाली में गिरे-पैर टूटा-अस्पताल में पड़े रहे । उनकी मृत्यु का जिम्मेदार वह व्यक्ति था जिसने केले खाने की धुन में छिलका कहाँ फेकना चाहिए इसका ध्यान नहीं रखा । ऐसे ही लापरवाही से उन्हें सड़क पर फेकता चला गया । यदि उसने केले खाते या छीलते हुए यह सोचा होता कि इस प्रकार सड़क पर छिलका फेंकने से दूसरों का पैर फिसल सकता है और उसे घातक चोट लग सकती

है तो जरूर उसे छिलका फेंकने के लिए धैर्यपूर्वक उसके लिए उचित स्थान तलाश करने की बात याद रहती । पर जहाँ दूसरों की सुविधा की बात कभी ध्यान में ही आती न हो, वहाँ ऐसा विचार करने का कष्ट कौन उठाये ? नारंगी आदि के छिलके लोग यों ही फेंकते रहते हैं और आये दिन दुर्घटनाएँ होती रहती हैं ।

कितने ही लोग गाय पालते हैं और दूध दुह कर उन्हें आवारा यह समझकर छोड़ देते हैं किसी की चीज खाकर अपना पेट भर लायेगी और हमें दूध देगी । गो माता के प्रति प्रचलित श्रद्धा के आधार पर कोई उसे मारेगा नहीं और अपना काम बन जायेगा । इस तरह वह गाय लोगों की वस्तुएँ खाकर, बिखेर कर, दूसरों का रोज नुकसान करती और पिटती, कुटती रहती है । इस तरह दूसरों को कष्ट देने तथा स्वयं लाभ उठाने को क्या कहा जाये ? स्वयं कीर्तन करने का मन है तो अपने घर में पूजा के उपयुक्त मन्द स्वर में प्रसन्नतापूर्वक करें । पर लाउडस्पीकर लगाकर रात भर धमाल मचाने और पड़ौस के बीमारों, परीक्षार्थियों तथा अन्य लोगों की नींद नष्ट करने वाली ईश्वरभक्ति से भी पहिले हमें अपनी नागरिक मर्यादाओं और जिम्मेदारियों को समझना चाहिए । जिसका अर्थ है कि दूसरों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए अपनी स्वेच्छा को स्वेच्छापूर्वक सीमाबद्ध करना ।

वचन का पालन और ईमानदारी का व्यवहार मनुष्य का प्राथमिक एवं नैतिक कर्त्तव्य है । जिस समय पर जिससे मिलने का, कोई वस्तु देने काम पूरा कर देने का वचन दिया है । उस वचन को ठीक समय पर पूरा करने का ध्यान रखना चाहिए ताकि दूसरों को असुविधा का सामना न करना पड़े । यदि हम दर्जी या मोची हैं तो उचित है कि वायदे के समय पर उसे देने का शक्ति भर प्रयत्न करें । बार-बार तकाजे करने और निराश वापिस लौटने में जो समय खर्च होता है और असुविधा होती है, उसे देखते हुए ऐसे दर्जी, धोबी अपनी प्राप्त मजूरी से ग्राहक का चौगुना-दसगुना नुकसान कर देते हैं । भाषण करना है तो हमें ठीक समय पर पहुँचना और नियमित समय में ही पूरा करना चाहिए । समय का ध्यान न रखना सुनने वालों के साथ बे इन्साफी है । दावत जिस समय की रखी है, उसी समय आरम्भ कर देनी चाहिए । मेहमानों को घण्टों प्रतीक्षा में बिठाये रहना-एक प्रकार से उनका समय बर्बाद करना है । जिसे धन की बर्बादी के समान ही हानिकारक समझा जाना चाहिए ।

वस्तु का मूल्य और स्वरूप जो बताया गया है वही वस्तुतः होना चाहिए, असली में नकली की मिलावट कर देना, दामों में घिसा-पिटी करके कमीवेशी करना, व्यापार करने वालों के लिए सर्वथा अशोभनीय है । नागरिक कर्त्तव्य की अवहेलना है । दाम अधिक बताया पीछे फिर घिस-घिस कर कमी करना, अपनी विश्वसनीयता तथा प्रामाणिकता पर कलंक लगाना है । असली और नकली अलग-अलग बेची जायें और उनके दाम वैसे ही महँगे, सस्ते स्पष्ट किये जायँ तो व्यापारी की साख बढ़ेगी और ग्राहकों का समय बचेगा तथा सन्तोष होगा । एक दुकानदार असली लालमिर्च बेचते थे और उचित दाम बताते थे जो बाजार के हिसाब से कुछ महँगे पड़ते थे । ग्राहक जब पूछते तो पिसा हुआ गेरू सामने रखकर वे पूछते आप जितना कहें उतना गेरू मिर्चों में मिला दूँ । उतने ही दाम सस्ते हो जाएँगे । दूसरी दुकान पर बिकने वाली लाल मिर्चों का नमूना मँगाकर वे पानी में घोलते और नीचे जब गेरू बैठ जाता तब कहते यह मिलावट ही सस्तेपन का कारण है । ग्राहक वस्तुस्थिति समझ जाता और फिर सदा उसी दुकान से महँगे दाम के शुद्ध मसाले खरीदता । ईमानदारी घाटे का सौदा नहीं है । वह प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता की परीक्षा भर चाहती है । इस कसौटी पर सही होना हर व्यवसायी का नागरिक कर्त्तव्य है । यह कर्त्तव्य पालन व्यक्ति का सम्मान भी बढ़ाता है और व्यवसाय भी ।

दूसरों की असुविधा को ध्यान में रखते हुए अपनी सुविधा को सीमाबद्ध रखना, शिष्टता और सभ्यता भरा मधुर व्यवहार करना और मीठे वचन बोलना, वचन का पालन करना, प्रामाणिकता और विश्वस्तता की रीति-नीति अपनाना, समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को ठीक तरह निभाना नागरिक कर्त्तव्यों का शुभारम्भ है । इतना तो हममें से प्रत्येक को सीखना और करना ही चाहिए अपने आचरणों से समाज में स्वस्थ परम्पराओं का प्रचलन करके हम वह स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं जिससे सभ्य समाज में शिष्ट नागरिकों की तरह हम ठीक जी सकें और दूसरों को जीने दे सकें ।

प्रश्न--

(१) अपने देश के प्रति नागरिक का कर्त्तव्य क्या है ? (२) दूसरों की सुविधा का ध्यान रखने से क्या लाभ है ? (३) घर, मुहल्ले एवं नगर में सफाई रखने के लिए क्या किया जाये ? (४) नागरिकता किसे कहते हैं ? सार्वजनिक स्थानों पर लोग किस प्रकार गन्दगी फैलाते हैं ? (५) मनुष्यता की आरम्भिक शिक्षा क्या है ? (६) ईश्वर भक्ति से भी पहले नागरिक मर्यादाओं एवं जिम्मेदारियों को क्यों निभाना चाहिए ? (७) मनुष्य का प्रामाणिक एवं नैतिक कर्त्तव्य क्या है ? (८) समय की बर्बादी धन की बर्बादी से भी अधिक अहितकर है- सिद्ध करें ? (९) व्यवसाय में सफलता का रहस्य क्या है ?(१०) मिलावट से क्या हानि है ?

व्यक्तिगत स्वार्थ भी सामाजिक सुव्यवस्था पर निर्भर है

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । उसकी प्रक्रिया का इतिहास यही प्रतिपादित करता है । पारस्परिक सहकारिता और उदारता के भावनात्मक सद्गुणों ने वह स्थिति पैदा की जिसके अनुसार लोग एक-दूसरे को अपना बौद्धिक और क्रियात्मक सहयोग दे सके और इस विनिमय ने ज्ञान,

अनुभव, साधन, उत्पादन, चिन्तन एवं विकास के अनेक द्वार खोले । इसी सड़क पर चलता हुआ दुर्बल मानव प्राणी वर्तमान स्थिति तक पहुँच सकने में समर्थ हुआ है । यदि वह एक एकाकी अपने आप तक सीमित, स्वार्थी, सहयोग में रुचि न लेने वाला और अनुदार रहा होता तो प्रकृति के झंझावातों मे संभव है उसका अस्तित्व ही–अनेक प्रागैतिहासिक प्राणियो की तरह लुप्त हो गया होता । ऐसा न होता तो भी सहयोग साधना के बिना उसका वर्तमान विकसित स्थिति तक पहुँच सकना असम्भव था । बुद्धि की महत्ता बहुत मानी जाती है और श्रेय भी उसी को दिया जाता है । तथ्य यह है कि बुद्धि का विकास भी सामाजिक और परस्पर सहयोग की मूल मानवीय प्रवृत्ति द्वारा ही संभव हुआ । इस प्रवृति को चाहे तो मानव धर्म का मूल आधार भी कह सकते हैं ।

आज मनुष्य की आत्मनिर्भरता का अधिकांश भाग समाज के स्वरूप, स्तर और संगठन पर निर्भर है । वह ढाँचा जहाँ मजबूत, सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत है, वहाँ व्यक्ति को विकसित होने की सुविधा उतनी ही अधिक मिल सकती और उतना ही आनन्द, उत्साह का वातावरण बन जाता है । जहाँ यह व्यवस्था जितनी घटिया और विसंगतियों से भरी है वहाँ उतनी ही असुविधायें और पीड़ाएँ नागरिकों को सहनी पड़ती हैं । इन बातों को ध्यान में रखते हुए आधुनिक दर्शन शास्त्र, समाज शास्त्र, मनःशास्त्र एक ही प्रतिपादन करते हैं कि व्यक्ति अपनी सुख–सुविधाओं का जितना ध्यान रखता है और प्रयत्न करता है उससे कम नहीं अधिक ही समाज की सुव्यवस्था और उज्ज्वल परम्परा बनाये रखने में भी सचेष्ट रहना चाहिए । इसी मनोवृत्ति को देशभक्ति, नागरिकता, कर्त्तव्यनिष्ठा, लोकसेवा परायणता, सज्जनता आदि नाम से पुकारते हैं ।

किसी जमाने में व्यक्ति वन्य पशुओं की तरह एकाकी और आत्मनिर्भर रहा हो पर आज तो उसकी स्थिरता, सुविधा, व्यस्तता, प्रगति और प्रसन्नता सब कुछ समाज व्यवस्था पर निर्भर हो गई है । अन्न दूसरे उगाते हैं तब अपने को रोटी मिलती है । चौका में काम आने वाले बर्तन आदि उपकरण दूसरों ने बनाये हैं । वस्त्र, साबुन, जूते, कंघा, तेल जो उपलब्ध हैं, अन्यत्र बने हैं । इन्हें हम तक पहुँचने में जिन यन्त्रों, वाहनों और साधनों का प्रयोग हुआ है वे दूसरे के बनाये हैं । दैनिक जीवन में प्रयोग होने वाली वस्तुओं के लिए हमें पूर्णतया दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है । यदि यह सुविधाएँ न मिल सकें तो तथाकथित एकाकी और अतिसीमित जीवन जी सकने की इन दिनों कल्पना कर सकना भी कठिन है ।

डाकखाना, तार, रेल, मोटर, जहाज, रेडियो, सड़क, पुल, स्कूल, प्रेस, पुस्तकें, अस्पताल, कारखाने, बिजली आदि साधनों के बिना हम किस स्थिति में पहुँच जायेंगे, इसकी कल्पना करने पर पता चलता है कि उनके बिना हम क्या रह जायेंगे । सरकारी स्तर पर पुलिस, कचहरी, जेल, फाँसी, सेना, कानून, नियन्त्रण, निरीक्षण, शिक्षा व्यवस्था आदि के जो कार्य चलते हैं, यदि वे न रहें तो सुरक्षा और व्यवस्था का सारा ढाँचा ही लड़खड़ा जाये और सर्वत्र अनिश्चितता, आशंका और अशान्ति की काली घटाएँ ही छाई दीखें । कवि, कलाकार, गायक, साहित्यकार, चित्रकार, सन्त, सुधारक, लोकसेवी प्रतिभाएँ यदि अपने अनुदान देना बन्द कर दें । तो सर्वत्र नीरसता और कर्कशता ही दीखे । गम्भीरता से विचार करें तो प्रतीत होगा कि अपना और अपने परिवार का वर्तमान तथा भविष्य बहुत कुछ समाज की स्थिति पर निर्भर करता है । चोर, गुण्डे, दुष्ट, दुराचारियों का बाहुल्य ही चले और हम उनके दामों में घिरे रहें तो व्यक्तिगत रूप से सज्जन और धार्मिक होते हुए भी विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा और आये दिन अवांछनीय एवं आक्रमणात्मक दुष्टता का सामना करना पड़ेगा । इस स्थिति में अपनी सुरक्षा, शान्ति व्यवस्था और भविष्य की आशा सब कुछ धूमिल तमसावृत्त बन जायेगी ।

यह भली प्रकार समझ लिया जाना चाहिए कि समाज की स्थिति अच्छी रहना व्यक्ति को प्रगति और शान्ति की गारन्टी है । यदि वह बिगड़ती है तो कोई भी चैन से न बैठ सकेगा । अपने देश में इन दिनों बढ़ी हुई अशिक्षा, मूढ़ता, अनैतिकता और असामाजिकता ने प्रगति का पथ कितना अवरुद्ध कर रखा है और पग–पग पर कितने कंटक बिखेर रखे हैं, उसका प्रभाव हम अपने वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन पर पड़ता हुआ प्रत्यक्ष देखते हैं । मिलावट भरे और नकली खाद्य पदार्थ ही विवश होकर खरीदने पड़ते हैं और उनके कारण स्वास्थ्य गिरता चला जाता है । नकली दवा–दारू और ओछे चिकित्सकों ने हमारे स्वास्थ्य को बर्बाद कर दिया, कुसंस्कारी बच्चों के साथ मिलने–जुलने पर अपने बालक वैसे ही आवारा हो गये । पक्षपाती और अनाचारी अफसरों के नीचे रहने से प्रगति के द्वार बन्द हो गये । गन्दे साहित्य, चित्र फिल्म और गायनों ने घर को नई पीढ़ी को कुमार्गगामी कर दिया । चोरों ने श्रम संचित पूँजी चुराकर दीन–दरिद्र बना दिया, गुण्डा तत्वों ने हमारी नींद हराम कर दी । रिश्वत खोरी के कारण हमारा उचित काम हो ही न सका जबकि दूसरों ने उसी आधार पर अपने अनुचित कार्य आनन–फानन में करा लिए ।

यह एक झाँकी है जो बताती है कि सामाजिक अस्त–व्यस्तता की परिस्थिति में व्यक्ति की प्रगति, शान्ति और सुरक्षा असंभव है । इसलिए व्यक्तिगत सुख–सुविधाएँ बढ़ाने की तरह ही हमें सामाजिक सुव्यवस्था की बात परमार्थ देशभक्ति के आधार पर ही नहीं व्यक्तिगत सुविधा की दृष्टि से भी सोचनी चाहिए । सीमा पर सेना नियुक्त कर के ही हम अपनी नगर में शत्रु देशों के आक्रमण से बचे हुए हैं अन्यथा यदि अलग–अलग लोग अपनी–अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध करते तो आक्रमणकारी सामंत युग की तरह कत्लेआम करने, सारे शहर को लूट करने और समर्थ नर–नारियों को गुलाम बनाकर घसीट ले जाने के कुकृत्य आज

भी कर रहे होते । सेना की नियुक्ति हर सीमा पर करके हमने अपने घर, नगरों की सुरक्षा का ही प्रबन्ध किया है । इसी तरह हम समाज निर्माण और समाज सुधार के कामों में दिलचस्पी लेते और योगदान देते हैं, तो न केवल अपनी वरन् अपने स्वजन-सम्बन्धियों की सुख-सुविधा भी बढ़ाते हैं । स्वार्थ और परमार्थ का सुन्दर समन्वय इसी में है कि व्यक्ति अपनी ही नहीं सारे समाज की प्रगति एवं व्यवस्था पर पूरा-पूरा ध्यान दें ।

सुविकसित समाजों में व्यक्ति की सुरक्षा और प्रगति सुनिश्चित रहती है । बुढ़ापे के लिए वृद्ध-गृह, अशक्तों की पेंशन, रोगियों को चिकित्सा, बालकों को शिक्षा का अच्छे से अच्छा प्रयत्न सामाजिक स्तर पर बड़ी खूबसूरती के साथ हो सकता है । प्रगतिशील देशों में वैसा हो भी रहा है । बुढ़ापे या अशक्तता के लिए अपनी चिन्ता करते रहने में उतना सार नहीं है जितना इस बात में है कि समाज को सुविकसित करके इस योग्य बना दिया जाये कि हमारी और हमारे तरह के दूसरे लोगों की सुनिश्चितता का भार उठा सकने योग्य समाज की स्थिति को बना दिया जाये । बच्चों के लिए धन छोड़ जाने पर भी कोई निश्चिन्तता नहीं, पर यदि समाज हर व्यक्ति को उचित काम देने में समर्थ हो जाता है तो बच्चों के लिए उत्तराधिकार में धन न छोड़ जाने पर भी यह निश्चिन्तता बनी रहेगी कि उन्हें रोटी कमाने और सुख से रहने के साधन मिल जायेंगे ।

व्यक्तिगत स्वार्थपरता जिसमें मनुष्य अपने और अपने बच्चों के लाभ भर की बात सोचता है वस्तुतः एक मानसिक ओछापन और बौद्धिक संकीर्णता भर है । हमें ध्यान रखना होगा कि मनुष्य तेजी से कठोर सामाजिकता के बन्धन में आबद्ध होता चला जा रहा है । विज्ञान ने सारी दुनिया को एक कर दिया है और दूरी को समीपता में बदल दिया है । ऐसी दशा में सारा मानव समाज एक कुटुम्ब की तरह हो चला है । कुटुम्ब में एक आदमी मिठाई खाये और दूसरे भूखों मरें तो मिठाई खाने वाले को संकट में फँसना पड़ेगा । इसी प्रकार समाज का पिछड़ापन रहते, व्यक्तिगत उन्नति, समृद्धि और शौक-मौज के स्वप्न देखना, सर्वथा अदूरदर्शिता है । हममें से प्रत्येक को समय, श्रम, मन और धन समाज को समुन्नत बनाने में, व्यक्तिगत स्वार्थों की सुरक्षा की दृष्टि से भी लगाना चाहिए । क्योंकि सुव्यवस्थित समाज रचना पर ही व्यक्तिगत सुविधाओं की स्थिरता पूर्णतया निर्भर रहती है ।

प्रश्न—

(१) मानव धर्म का मूल आधार क्या है ? (२) मनुष्य को व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा सामाजिक सुव्यवस्थाओं पर ध्यान क्यों देना चाहिए ? (३) आधुनिक युग मे एकाकी एव अति सीमित जीवन जीना क्यों कठिन है ? (४) सिद्ध कीजिए, कि सुरक्षा और व्यवस्था का सारा ढाँचा समाज की ही देन है ? (५) व्यक्तिगत प्रगति एवं शान्ति के लिए क्या किया जाना चाहिए ? (६) समाज के विकृत होने से मानव भी विकृत कैसे हो जाता है ? (७) स्वार्थ एवं परमार्थ का समन्वय किस में है ? (८) सुविकसित समाज में क्या विशेषताएँ होती हैं ? (९) व्यक्तिगत स्वार्थपरता, मानसिक ओछापन एवं बौद्धिक संकीर्णता क्यों है ?

प्रौढ़ों को साक्षर बनाया जाना युग की अनुपेक्षणीय माँग

शिक्षा रहित व्यक्ति एक प्रकार से अन्धा है । जीवनोपयोगी जानकारियाँ, आँख-कान के द्वारा ही प्राप्त नहीं हो जातीं वरन् उनका वास्तविक आधार तो साहित्य है । जिसके आधार पर बिना दूसरे के द्वारा प्रत्येक शिक्षण दिये, अपने आप व्यक्ति लोक-परलोक की, देश-विदेश की, अगणित सद्प्रवृत्तियों की उपलब्धि एवं दुष्प्रवृत्तियों की विभीषिका से परिचित हो सकता है । ज्ञान, विज्ञान, कला, शिल्प, चिकित्सा, अर्थ, शासन, धर्म अध्यात्म आदि न जाने कितनी ज्ञानधाराएँ हमें साहित्य के द्वारा मिलती हैं और उन्हीं उपलब्धियों के आधार पर न जाने कितनी प्रतिभाएँ और क्षमताएँ विकसित होती हैं । कहना न होगा कि यह सत्साहित्य के माध्यम से प्राप्त हो सकने वाला ज्ञान केवल उन्हें ही प्राप्त हो सकता है जो शिक्षित हैं । अशिक्षित बेचारा तो उतना ही जान सकता है जितना उसने आँखों से देखा और कान से सुना है । इस आधार पर ज्ञान प्राप्त कर सकने की मर्यादा और सम्भावना बहुत ही स्वल्प है । अतएव अशिक्षित व्यक्तियों की ज्ञान परिधि बहुत ही छोटी रहने से उनके मानसिक विकास की व्यवस्था भी नगण्य जितनी ही बन पाती है । यही कारण है कि अशिक्षितों को अर्द्धअन्ध-अर्द्धविकसित या अर्द्धमनुष्य कहते हैं । कोई व्यक्ति महत्त्वपूर्ण प्रगति शिक्षित होते हुए भी न कर सके यह हो सकता है पर जिस किसी ने कुछ कहने लायक भौतिक या आत्मिक उन्नति की है वह बिना शिक्षा का सहारा लिए वैसा कर सका है ऐसा नहीं देखा गया । शिक्षा निस्सन्देह मनुष्य की एक महती आवश्यकता है और उसे पूरा किया ही जाना चाहिए ।

अशिक्षा एक अभिशाप है, जिसे दूर किये बिना कोई समाज प्रगति के पथ पर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता । हमें अपनी प्रगति की कामना करने के साथ सर्वप्रथम साक्षरता की समस्या को हाथ में लेना चाहिए । इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि भारत में लगभग ८० प्रतिशत व्यक्ति अशिक्षित हैं । यदि सरकारी प्रयत्न इस दिशा में गहरे और गम्भीर होते तो स्वाधीनता प्राप्ति के बाद विगत ४२ वर्षों में यह समस्या बहुत ही सरलता से हल हो गई होती । पर दोष अपने दुर्भाग्य का ही है, जिसने हमें क्यूबा सरीखी चेतना नहीं दी । 'क्यूबा' अमेरिका महाद्वीप में एक छोटा देश है । वहाँ भी दस वर्ष पूर्व निरक्षरता की ऐसी ही समस्या थी । सरकार ने ग्रेजुएटों को उपाधि पत्र देने से पूर्व यह प्रतिबन्ध लगाया कि उन्हें ५ निरक्षर व्यक्तियों को साक्षर

अनुभव, साधन, उत्पादन, चिन्तन एवं विकास के अनेक द्वार खोले । इसी सड़क पर चलता हुआ दुर्बल मानव प्राणी वर्तमान स्थिति तक पहुँच सकने में समर्थ हुआ है । यदि वह एक एकाकी अपने आप तक सीमित, स्वार्थी, सहयोग में रुचि न लेने वाला और अनुदार रहा होता तो प्रकृति के झंझावातों में संभव है उसका अस्तित्व ही—अनेक प्रागैतिहासिक प्राणियों की तरह लुप्त हो गया होता । ऐसा न होता तो भी सहयोग साधना के बिना उसका वर्तमान विकसित स्थिति तक पहुँच सकना असम्भव था । बुद्धि की महत्ता बहुत मानी जाती है और श्रेय भी उसी को दिया जाता है । तथ्य यह है कि बुद्धि का विकास भी सामाजिक और परस्पर सहयोग की मूल मानवीय प्रवृत्ति द्वारा ही संभव हुआ । इस प्रवृत्ति को चाहे तो मानव धर्म का मूल आधार भी कह सकते हैं ।

आज मनुष्य की आत्मनिर्भरता का अधिकांश भाग समाज के स्वरूप, स्तर और संगठन पर निर्भर है । यह ढाँचा जहाँ मजबूत, सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत है, वहाँ व्यक्ति को विकसित होने की सुविधा उतनी ही अधिक मिल सकती और उतना ही आनन्द, उत्साह का वातावरण बन जाता है । जहाँ यह व्यवस्था जितनी घटिया और विसंगतियों से भरी है वहाँ उतनी ही असुविधायें और पीड़ाएँ नागरिकों को सहनी पड़ती हैं । इन बातों को ध्यान में रखते हुए आधुनिक दर्शन शास्त्र, समाज शास्त्र, मनःशास्त्र एक ही प्रतिपादन करते हैं कि व्यक्ति अपनी सुख-सुविधाओं का जितना ध्यान रखता है और प्रयत्न करता है उससे कम नहीं अधिक ही समाज की सुव्यवस्था और उज्ज्वल परम्परा बनाये रखने में भी सचेष्ट रहना चाहिए । इसी मनोवृत्ति को देशभक्ति, नागरिकता, कर्त्तव्यनिष्ठा, लोकसेवा परायणता, सज्जनता आदि नाम से पुकारते हैं ।

किसी जमाने में व्यक्ति वन्य पशुओं की तरह एकाकी और आत्मनिर्भर रहा हो पर आज तो उसकी स्थिरता, सुविधा, व्यस्तता, प्रगति और प्रसन्नता सब कुछ समाज व्यवस्था पर निर्भर हो गई है । अन्न दूसरे उगाते हैं तब अपने को रोटी मिलती है । चौका में काम आने वाले बर्तन आदि उपकरण दूसरों ने बनाये हैं । वस्त्र, साबुन, जूते, कंघा, तेल जो उपलब्ध हैं, अन्यत्र बने हैं । इन्हें हम तक पहुँचने में जिन यन्त्रों, वाहनों और साधनों का प्रयोग हुआ है वे दूसरे के बनाये हैं । दैनिक जीवन में प्रयोग होने वाली वस्तुओं के लिए हमें पूर्णतया दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है । यदि यह सुविधाएँ न मिल सकें तो तथाकथित एकाकी और अतिसीमित जीवन जी सकने की इन दिनों कल्पना कर सकना भी कठिन है ।

डाकखाना, तार, रेल, मोटर, जहाज, रेडियो, सड़क, पुल, स्कूल, प्रेस, पुस्तकें, अस्पताल, कारखाने, बिजली आदि साधनों के बिना हम किस स्थिति में पहुँच जायेंगे, इसकी कल्पना करने पर पता चलता है कि उनके बिना हम क्या रह जायेंगे । सरकारी स्तर पर पुलिस, कचहरी, जेल, फाँसी, सेना, कानून, नियन्त्रण, निरीक्षण, शिक्षा व्यवस्था आदि के जो कार्य चलते हैं, यदि वे न रहें तो सुरक्षा और व्यवस्था का सारा ढाँचा ही लड़खड़ा जाये और सर्वत्र अनिश्चितता, आशंका और अशान्ति की काली घटाएँ ही छाई दीखें । कवि, कलाकार, गायक, साहित्यकार, चित्रकार, सन्त, सुधारक, लोकसेवी प्रतिभाएँ यदि अपने अनुदान देना बन्द कर दें । तो सर्वत्र नीरसता और कर्कशता ही दीखे । गम्भीरता से विचार करें तो प्रतीत होगा कि अपने और अपने परिवार का वर्तमान तथा भविष्य बहुत कुछ समाज की स्थिति पर निर्भर करता है । चोर, गुन्डे, दुष्ट दुराचारियों का बाहुल्य ही चले और हम उनके दायरे में घिरे रहें तो व्यक्तिगत रूप से सज्जन और धार्मिक होते हुए भी विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा और आये दिन अवांछनीय एवं आक्रमणात्मक दुष्टता का सामना करना पड़ेगा । इस स्थिति में अपनी सुरक्षा, शान्ति व्यवस्था और भविष्य की आशा सब कुछ धूमिल तमसावृत्त बन जायेगी ।

यह भली प्रकार समझ लिया जाना चाहिए कि समाज की स्थिति अच्छी रहना व्यक्ति की प्रगति और शान्ति की गारन्टी है । यदि वह बिगड़ती है तो कोई भी चैन से न बैठ सकेगा । अपने देश में इन दिनों बढ़ी हुई अशिक्षा, मूढ़ता, अनैतिकता और असामाजिकता ने प्रगति का पथ कितना अवरुद्ध कर रखा है और पग-पग पर कितने कंटक बिखेर रखे हैं, उसका प्रभाव हम अपने वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन पर पड़ता हुआ प्रत्यक्ष देखते हैं । मिलावट भरे और नकली खाद्य पदार्थ ही विवश होकर खरीदने पड़ते हैं और उनके कारण स्वास्थ्य गिरता चला जाता है । नकली दवा-दारू और ओछे चिकित्सकों ने हमारे स्वास्थ्य को बर्बाद कर दिया, कुसंस्कारी बच्चों के साथ मिलने-जुलने पर अपने बालक वैसे ही आवारा हो गये । पक्षपाती और अनाचारी अफसरों के नीचे रहने से प्रगति के द्वार बन्द हो गये । गन्दे साहित्य, चित्र फिल्म और गायनों ने घर की नई पीढ़ी को कुमार्गगामी कर दिया । चोरों ने श्रम संचित पूँजी चुराकर दीन-दरिद्र बना दिया, गुण्डा तत्वों ने हमारी नींद हराम कर दी । रिश्वत खोरों के कारण हमारा उचित काम हो ही न सका जबकि दूसरों ने उसी आधार पर अपने अनुचित कार्य आनन-फानन में करा लिए ।

यह एक झाँकी है जो बताती है कि सामाजिक अस्त-व्यस्तता की परिस्थिति में व्यक्ति की प्रगति, शान्ति और सुरक्षा असंभव है । इसलिए व्यक्तिगत सुख-सुविधाएँ बढ़ाने की तरह ही हमें सामाजिक सुव्यवस्था की बात परमार्थ देशभक्ति के आधार पर ही नहीं व्यक्तिगत सुविधा की दृष्टि से भी सोचनी चाहिए । सीमा पर सेना नियुक्त कर के ही हम अपनी नगर में शत्रु देशों के आक्रमण से बचे हुए हैं अन्यथा यदि अलग-अलग लोग अपनी-अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध करते तो आक्रमणकारी सामंत युग की तरह कत्लेआम करने, सारे शहर की लूट करने और समर्थ नर-नारियों को गुलाम बनाकर घसीट ले जाने के कुकृत्य आज

भी कर रहे होते । सेना की नियुक्ति हर सीमा पर करके हमने अपने घर, नगरों को सुरक्षा का ही प्रवन्ध किया है । इसी तरह हम समाज निर्माण और समाज सुधार के कामों में दिलचस्पी लेते और योगदान देते हैं, तो न केवल अपनी वरन् अपने स्वजन-सम्बन्धियों की सुख-सुविधा भी बढ़ाते हैं । स्वार्थ और परमार्थ का सुन्दर समन्वय इसी में है कि व्यक्ति अपनी ही नहीं सारे समाज की प्रगति एवं व्यवस्था पर पूरा-पूरा ध्यान दें ।

सुविकसित समाजों में व्यक्ति की सुरक्षा और प्रगति सुनिश्चित रहती है । बुढ़ापे के लिए वृद्ध-गृह, अशक्तों की पेंशन, रोगियों को चिकित्सा, बालकों को शिक्षा का अच्छे से अच्छा प्रयत्न सामाजिक स्तर पर बड़ी खूबसूरती के साथ हो सकता है । प्रगतिशील देशों में वैसा हो भी रहा है । बुढ़ापे या अशक्तता के लिए अपनी चिन्ता करते रहने में उतना सार नहीं है जितना इस बात में है कि समाज को सुविकसित करके इस योग्य बना दिया जाये कि हमारी और हमारे तरह के दूसरे लोगों की सुनिश्चितता का भार उठा सकने योग्य समाज की स्थिति को बना दिया जाये । बच्चों के लिए धन छोड़ जाने पर भी कोई निश्चिन्तता नहीं, पर यदि समाज हर व्यक्ति को उचित काम देने में समर्थ हो जाता है तो बच्चों के लिए उत्तराधिकार में धन न छोड़ जाने पर भी यह निश्चिन्तता बनी रहेगी कि उन्हें रोटी कमाने और सुख से रहने के साधन मिल जायेंगे ।

व्यक्तिगत स्वार्थपरता जिसमें मनुष्य अपने और अपने बच्चों के लाभ भर की बात सोचता है वस्तुतः एक मानसिक ओछापन और बौद्धिक संकीर्णता भर है । हमें ध्यान रखना होगा कि मनुष्य तेजी से कठोर सामाजिकता के बन्धन में आबद्ध होता चला जा रहा है । विज्ञान ने सारी दुनिया को एक कर दिया है और दूरी को समीपता में बदल दिया है । ऐसी दशा में सारा मानव समाज एक कुटुम्ब की तरह हो चला है । कुटुम्ब में एक आदमी मिठाई खाये और दूसरे भूखों मरें तो मिठाई खाने वाले को संकट में फँसना पड़ेगा । इसी प्रकार समाज का पिछड़ापन रहते, व्यक्तिगत उन्नति, समृद्धि और शौक-मौज के स्वप्न देखना, सर्वथा अदूरदर्शिता है । हममें से प्रत्येक को समय, श्रम, मन और धन समाज को समुन्नत बनाने में, व्यक्तिगत स्वार्थों की सुरक्षा की दृष्टि से भी लगाना चाहिए । क्योंकि सुव्यवस्थित समाज रचना पर ही व्यक्तिगत सुविधाओं की स्थिरता पूर्णतया निर्भर रहती है ।

प्रश्न—

(१) मानव धर्म का मूल आधार क्या है ? (२) मनुष्य को व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा सामाजिक सुव्यवस्थाओं पर ध्यान क्यों देना चाहिए ? (३) आधुनिक युग में एकाकी एवं अति सीमित जीवन जीना क्यों कठिन है ? (४) सिद्ध कीजिए, कि सुरक्षा और व्यवस्था का सारा ढाँचा समाज की ही देन है ? (५) व्यक्तिगत प्रगति एवं शान्ति के लिए क्या किया जाना चाहिए ? (६) समाज के विकृत होने से मानव भी विकृत कैसे हो जाता है ? (७) स्वार्थ एवं परमार्थ का समन्वय किस में है ? (८) सुविकसित समाज में क्या विशेषताएँ होती हैं ? (९) व्यक्तिगत स्वार्थपरता, मानसिक ओछापन एवं बौद्धिक संकीर्णता क्यों है ?

प्रौढ़ों को साक्षर बनाया जाना युग की अनुपेक्षणीय माँग

शिक्षा रहित व्यक्ति एक प्रकार से अन्धा है । जीवनोपयोगी जानकारियाँ, आँख-कान के द्वारा ही प्राप्त नहीं हो जातीं वरन् उनका वास्तविक आधार तो साहित्य है । जिसके आधार पर बिना दूसरे के द्वारा प्रत्येक शिक्षण दिये, अपने आप व्यक्ति लोक-परलोक की, देश-विदेश की, अगणित सद्प्रवृत्तियों की उपलब्धि एवं दुष्प्रवृत्तियों की विभीषिका से परिचित हो सकता है । ज्ञान, विज्ञान, कला, शिल्प, चिकित्सा, अर्थ, शासन, धर्म अध्यात्म आदि न जाने कितनी ज्ञानधाराएँ हमें साहित्य के द्वारा मिलती हैं और उन्हीं उपलब्धियों के आधार पर न जाने कितनी प्रतिभाएँ और क्षमताएँ विकसित होती हैं । कहना न होगा कि यह सत्साहित्य के माध्यम से प्राप्त हो सकने वाला ज्ञान केवल उन्हें ही प्राप्त हो सकता है जो शिक्षित है । अशिक्षित बेचारा तो उतना ही जान सकता है जितना उसने आँखों से देखा और कान से सुना है । इस आधार पर ज्ञान प्राप्त कर सकने की मर्यादा और सम्भावना बहुत ही स्वल्प है । अतएव अशिक्षित व्यक्तियों की ज्ञान परिधि बहुत ही छोटी रहने से उनके मानसिक विकास की व्यवस्था भी नगण्य जितनी ही बन पाती है । यही कारण है कि अशिक्षितों को अर्द्धअन्ध-अर्द्धविकसित या अर्द्धमनुष्य कहते हैं । कोई व्यक्ति महत्त्वपूर्ण प्रगति शिक्षित होते हुए भी न कर सके यह हो सकता है पर जिस किसी ने कुछ कहने लायक भौतिक या आत्मिक उन्नति की है वह बिना शिक्षा का सहारा लिए वैसा कर सका है ऐसा नहीं देखा गया । शिक्षा निस्सन्देह मनुष्य की एक महती आवश्यकता है और उसे पूरा किया ही जाना चाहिए ।

अशिक्षा एक अभिशाप है, जिसे दूर किये बिना कोई समाज प्रगति के पथ पर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता । हमें अपनी प्रगति की कामना करने के सर्वप्रथम साक्षरता की समस्या को हाथ में ... दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि भारत में लगभग ८० व्यक्ति अशिक्षित हैं । यदि सरकारी प्रयत्न इस ... और गम्भीर होते तो स्वाधीनता प्राप्ति के बाद ... में यह समस्या बहुत ही सरलता से हल हो गई ... दोष अपने दुर्भाग्य का ही है, जिसने हमें ... चेतना नहीं दी । 'क्यूबा' अमेरिका ... देश है । वहाँ भी दस वर्ष पूर्व निरक्षरता की ... थी । सरकार ने ग्रेजुएटों को उपाधि पत्र ... प्रतिबन्ध लगाया ... निरक्षर

अनुभव, साधन, उत्पादन, चिन्तन एवं विकास के अनेक द्वार खोले । इसी सड़क पर चलता हुआ दुर्बल मानव प्राणी वर्तमान स्थिति तक पहुँच सकने में समर्थ हुआ है । यदि वह एक एकाकी अपने आप तक सीमित, स्वार्थी, सहयोग में रुचि न लेने वाला और अनुदार रहा होता तो प्रकृति के झंझावातों में संभव है उसका अस्तित्व ही—अनेक प्रागैतिहासिक प्राणियों की तरह लुप्त हो गया होता । ऐसा न होता तो भी सहयोग साधना के बिना उसका वर्तमान विकसित स्थिति तक पहुँच सकना असम्भव था । बुद्धि की महत्ता बहुत मानी जाती है और श्रेय भी उसी को दिया जाता है । तथ्य यह है कि बुद्धि का विकास भी सामाजिक और परस्पर सहयोग की मूल मानवीय प्रवृत्ति द्वारा ही संभव हुआ । इस प्रवृत्ति को चाहे तो मानव धर्म का मूल आधार भी कह सकते हैं ।

आज मनुष्य की आत्मनिर्भरता का अधिकांश भाग समाज के स्वरूप, स्तर और संगठन पर निर्भर है । वह ढाँचा जहाँ मजबूत, सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत है, वहाँ व्यक्ति को विकसित होने की सुविधा उतनी ही अधिक मिल सकती और उतना ही आनन्द, उत्साह का वातावरण बन जाता है । जहाँ यह व्यवस्था जितनी घटिया और विसंगतियों से भरी है वहाँ उतनी ही असुविधायें और पीड़ाएँ नागरिकों को सहनी पड़ती हैं । इन बातों को ध्यान में रखते हुए आधुनिक दर्शन शास्त्र, समाज शास्त्र, मनःशास्त्र एक ही प्रतिपादन करते हैं कि व्यक्ति अपनी सुख-सुविधाओं का जितना ध्यान रखता है और प्रयत्न करता है उससे कम नहीं अधिक ही समाज की सुव्यवस्था और उज्ज्वल परम्परा बनाये रखने में भी सचेष्ट रहना चाहिए । इसी मनोवृत्ति को देशभक्ति, नागरिकता, कर्त्तव्यनिष्ठा, लोकसेवा परायणता, सज्जनता आदि नाम से पुकारते हैं ।

किसी जमाने में व्यक्ति वन्य पशुओं की तरह एकाकी और आत्मनिर्भर रहा हो पर आज तो उसकी स्थिरता, सुविधा, व्यस्तता, प्रगति और प्रसन्नता सब कुछ समाज व्यवस्था पर निर्भर हो गई है । अन्न दूसरे उगाते हैं तब अपने को रोटी मिलती है । चौका में काम आने वाले बर्तन आदि उपकरण दूसरों ने बनाये हैं । वस्त्र, साबुन, जूते, कंघा, तेल जो उपलब्ध हैं, अन्यत्र बने हैं । इन्हें हम तक पहुँचने में जिन यन्त्रों, वाहनों और साधनों का प्रयोग हुआ है वे दूसरे के बनाये हैं । दैनिक जीवन में प्रयोग होने वाली वस्तुओं के लिए हमें पूर्णतया दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है । यदि यह सुविधाएँ न मिल सकें तो तथाकथित एकाकी और अतिसीमित जीवन जी सकने की इन दिनों कल्पना कर सकना भी कठिन है ।

डाकखाना, तार, रेल, मोटर, जहाज, रेडियो, सड़क, पुल, स्कूल, प्रेस, पुस्तकें, अस्पताल, कारखाने, बिजली आदि साधनों के बिना हम किस स्थिति में पहुँच जायेंगे, इसकी कल्पना करने पर पता चलता है कि उनके बिना हम क्या रह जायेंगे । सरकारी स्तर पर पुलिस, कचहरी, जेल, फाँसी, सेना, कानून, नियन्त्रण, निरीक्षण, शिक्षा व्यवस्था आदि के जो कार्य चलते हैं, यदि वे न रहें तो सुरक्षा और व्यवस्था का सारा ढाँचा ही लड़खड़ा जाये और सर्वत्र अनिश्चितता, आशंका और अशान्ति की काली घटाएँ ही छाई दीखें । कवि, कलाकार, गायक, साहित्यकार, चित्रकार, सन्त, सुधारक, लोकसेवी प्रतिभाएँ यदि अपने अनुदान देना बन्द कर दें । तो सर्वत्र नीरसता और कर्कशता ही दीखे । गम्भीरता से विचार करें तो प्रतीत होगा कि अपना और अपने परिवार का वर्तमान तथा भविष्य बहुत कुछ समाज की स्थिति पर निर्भर करता है । चोर, गुण्डे, दुष्ट, दुराचारियों का बाहुल्य ही चले और हम उनके दायरे में घिरे रहें तो व्यक्तिगत रूप से सज्जन और धार्मिक होते हुए भी विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा और आये दिन अवांछनीय एवं आक्रमणात्मक दुष्टता का सामना करना पड़ेगा । इस स्थिति में अपनी सुरक्षा, शान्ति व्यवस्था और भविष्य की आशा सब कुछ धूमिल तमसावृत्त बन जायेगी ।

यह भली प्रकार समझ लिया जाना चाहिए कि समाज की स्थिति अच्छी रहना व्यक्ति की प्रगति और शान्ति की गारन्टी है । यदि वह बिगड़ती है तो कोई भी चैन से न बैठ सकेगा । अपने देश में इन दिनों बढ़ी हुई अशिक्षा, मूढ़ता, अनैतिकता और असामाजिकता ने प्रगति का पथ कितना अवरुद्ध कर रखा है और पग-पग पर कितने कंटक बिखेर रखे हैं, उसका प्रभाव हम अपने वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन पर पड़ता हुआ प्रत्यक्ष देखते हैं । मिलावट भरे और नकली खाद्य पदार्थ ही विवश होकर खरीदने पड़ते हैं और उनके कारण स्वास्थ्य गिरता चला जाता है । नकली दवा-दारू और ओछे चिकित्सकों ने हमारे स्वास्थ्य को बर्बाद कर दिया, कुसंस्कारी बच्चों के साथ मिलने-जुलने पर अपने बालक वैसे ही आवारा हो गये । पक्षपाती और अनाचारी अफसरों के नीचे रहने से प्रगति के द्वार बन्द हो गये । गन्दे साहित्य, चित्र फिल्म और गायनों ने घर की नई पीढ़ी को कुमार्गगामी कर दिया । चोरों ने श्रम संचित पूँजी चुराकर दीन-दरिद्र बना दिया, गुण्डा तत्वों ने हमारी नींद हराम कर दी । रिश्वत खोरों के कारण हमारा उचित काम हो ही न सका जबकि दूसरों ने उसी आधार पर अपने अनुचित कार्य आनन-फानन में करा लिए ।

यह एक झाँकी है जो बताती है कि सामाजिक अस्त-व्यस्तता की परिस्थिति में व्यक्ति की प्रगति, शान्ति और सुरक्षा असंभव है । इसलिए व्यक्तिगत सुख-सुविधाएँ बढ़ाने की तरह ही हमें सामाजिक सुव्यवस्था की बात परमार्थ देशभक्ति के आधार पर ही नहीं व्यक्तिगत सुविधा की दृष्टि से भी सोचनी चाहिए । सीमा पर सेना नियुक्त कर के ही हम अपनी नगर में शत्रु देशों के आक्रमण से बचे हुए हैं अन्यथा यदि अलग-अलग लोग अपनी-अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध करते तो आक्रमणकारी सामंत युग की तरह कत्लेआम करने, सारे शहर की लूट करने और समर्थ नर-नारियों को गुलाम बनाकर घसीट ले जाने के कुकृत्य आज

भी कर रहे होते । सेना की नियुक्ति हर सीमा पर करके हमने अपने घर, नगरों की सुरक्षा का ही प्रबन्ध किया है । इसी तरह हम समाज निर्माण और समाज सुधार के कामों में दिलचस्पी लेते और योगदान देते हैं, तो न केवल अपनी वरन् अपने स्वजन-सम्बन्धियों की सुख-सुविधा भी बढ़ाते हैं । स्वार्थ और परमार्थ का सुन्दर समन्वय इसी में है कि व्यक्ति अपनी ही नहीं सारे समाज की प्रगति एवं व्यवस्था पर पूरा-पूरा ध्यान दें ।

सुविकसित समाजों में व्यक्ति की सुरक्षा और प्रगति सुनिश्चित रहती है । बुढ़ापे के लिए वृद्ध-गृह, अशक्तों की पेंशन, रोगियों को चिकित्सा, बालकों को शिक्षा का अच्छे से अच्छा प्रयत्न सामाजिक स्तर पर बड़ी खूबसूरती के साथ हो सकता है । प्रगतिशील देशों में वैसा हो भी रहा है । बुढ़ापे या अशक्तता के लिए अपनी चिन्ता करते रहने में उतना सार नहीं है जितना इस बात में है कि समाज को सुविकसित करके इस योग्य बना दिया जाये कि हमारी और हमारे तरह के दूसरे लोगों की सुनिश्चितता का भार उठा सकने योग्य समाज की स्थिति को बना दिया जाये । बच्चों के लिए धन छोड़ जाने पर भी कोई निश्चिन्तता नहीं, पर यदि समाज हर व्यक्ति को उचित काम देने में समर्थ हो जाता है तो बच्चों के लिए उत्तराधिकार में धन न छोड़ जाने पर भी यह निश्चिन्तता बनी रहेगी कि उन्हें रोटी कमाने और सुख से रहने के साधन मिल जायेंगे ।

व्यक्तिगत स्वार्थपरता जिसमें मनुष्य अपने और अपने बच्चों के लाभ भर की बात सोचता है वस्तुतः एक मानसिक ओछापन और बौद्धिक संकीर्णता भर है । हमें ध्यान रखना होगा कि मनुष्य तेजी से कठोर सामाजिकता के बन्धन में आबद्ध होता चला जा रहा है । विज्ञान ने सारी दुनिया को एक कर दिया है और दूरी को समीपता में बदल दिया है । ऐसी दशा में सारा मानव समाज एक कुटुम्ब की तरह हो चला है । कुटुम्ब में एक आदमी मिठाई खाये और दूसरे भूखों मरें तो मिठाई खाने वाले को संकट में फँसना पड़ेगा । इसी प्रकार समाज का पिछड़ापन रहते, व्यक्तिगत उन्नति, समृद्धि और शौक-मौज के स्वप्न देखना, सर्वथा अदूरदर्शिता है । हममें से प्रत्येक को समय, श्रम, मन और धन समाज को समुन्नत बनाने में, व्यक्तिगत स्वार्थों की सुरक्षा की दृष्टि से भी लगाना चाहिए । क्योंकि सुव्यवस्थित समाज रचना पर ही व्यक्तिगत सुविधाओं की स्थिरता पूर्णतया निर्भर रहती है ।

प्रश्न—

(१) मानव धर्म का मूल आधार क्या है ? (२) मनुष्य को व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा सामाजिक सुव्यवस्थाओं पर ध्यान क्यों देना चाहिए ? (३) आधुनिक युग में एकाकी एव अति सीमित जीवन जीना क्यों कठिन है ? (४) सिद्ध कीजिए, कि सुरक्षा और व्यवस्था का सारा ढाँचा समाज की ही देन है ? (५) व्यक्तिगत प्रगति एवं शान्ति के लिए क्या किया जाना चाहिए ? (६) समाज के विकृत होने से मानव भी विकृत कैसे हो जाता है ? (७) स्वार्थ एवं परमार्थ का समन्वय किस में है ? (८) सुविकसित समाज में क्या विशेषताएँ होती हैं ? (९) व्यक्तिगत स्वार्थपरता, मानसिक ओछापन एवं बौद्धिक संकीर्णता क्यों है ?

प्रौढ़ों को साक्षर बनाया जाना युग की अनुपेक्षणीय माँग

शिक्षा रहित व्यक्ति एक प्रकार से अन्धा है । जीवनोपयोगी जानकारियाँ, आँख-कान के द्वारा ही प्राप्त नहीं हो जातीं वरन् उनका वास्तविक आधार तो साहित्य है । जिसके आधार पर बिना दूसरे के द्वारा प्रत्येक शिक्षण दिये, अपने आप व्यक्ति लोक-परलोक की, देश-विदेश की, अगणित सद्प्रवृत्तियों की उपलब्धि एवं दुष्प्रवृत्तियों की विभीषिका से परिचित हो सकता है । ज्ञान, विज्ञान, कला, शिल्प, चिकित्सा, अर्थ, शासन, धर्म अध्यात्म आदि न जाने कितनी ज्ञानधाराएँ हमे साहित्य के द्वारा मिलती हैं और उन्हीं उपलब्धियों के आधार पर न जाने कितनी प्रतिभाएँ और क्षमताएँ विकसित होती हैं । कहना न होगा कि यह सत्साहित्य के माध्यम से प्राप्त हो सकने वाला ज्ञान केवल उन्हें ही प्राप्त हो सकता है जो शिक्षित हैं । अशिक्षित बेचारा तो उतना ही जान सकता है जितना उसने आँखों से देखा और कान से सुना है । इस आधार पर ज्ञान प्राप्त कर सकने की मर्यादा और सम्भावना बहुत ही स्वल्प है । अतएव अशिक्षित व्यक्तियों की ज्ञान परिधि बहुत ही छोटी रहने से उनके मानसिक विकास की व्यवस्था भी नगण्य जितनी ही बन पाती है । यही कारण है कि अशिक्षितों को अर्द्धअन्ध-अर्द्धविकसित या अर्द्धमनुष्य कहते हैं । कोई व्यक्ति महत्त्वपूर्ण प्रगति शिक्षित होते हुए भी न कर सके यह हो सकता है पर जिस किसी ने कुछ कहने लायक भौतिक या आत्मिक उन्नति की है वह बिना शिक्षा का सहारा लिए वैसा कर सका है ऐसा नहीं देखा गया । शिक्षा निस्सन्देह मनुष्य की एक महती आवश्यकता है और उसे पूरा किया ही जाना चाहिए ।

अशिक्षा एक अभिशाप है, जिसे दूर किये बिना कोई समाज प्रगति के पथ पर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता । हमें अपनी प्रगति की कामना करने के साथ सर्वप्रथम साक्षरता की समस्या को हाथ में लेना चाहिए । इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि भारत में लगभग ८० प्रतिशत व्यक्ति अशिक्षित हैं । यदि सरकारी प्रयत्न इस दिशा में गहरे और गम्भीर होते तो स्वाधीनता प्राप्ति के बाद विगत ४२ वर्षों में यह समस्या बहुत ही सरलता से हल हो गई होती । पर दोष अपने दुर्भाग्य का ही है, जिसने हमें क्यूबा सरीखी चेतना नहीं दी । 'क्यूबा' अमेरिका महाद्वीप में एक छोटा देश है । वहाँ भी दस वर्ष पूर्व निरक्षरता की ऐसी ही समस्या थी । सरकार ने ग्रेजुएटों को उपाधि पत्र देने से पूर्व यह प्रतिबन्ध लगाया कि उन्हे ५ निरक्षर व्यक्तियों को साक्षर

बनाने की अपनी समाज सेवा का परिचय देना चाहिए। इसी प्रकार सरकारी नौकरों पर उन्नति के पद पाने की योग्यता सिद्ध करने के लिए अपनी लोकसेवा प्रवृत्ति बना देने को ४ निरक्षरों को साक्षर बना देने का नियम बना दिया। फलस्वरूप सुशिक्षित और सरकारी वर्ग के लोग निरक्षरता निवारण के प्रयत्नों में जुट गये और देखते–देखते साक्षरता की समस्या हल हो गई। अपने देश में ऐसा कभी कुछ हो सकेगा इसकी अभी तो प्रतीक्षा ही की जा सकती है।

जो सरकारी प्रयत्न शिक्षा प्रसार के चल रहे हैं वह बहुत ही अपर्याप्त हैं। जिस गति से जनसंख्या बढ़ रही है, उस गति से स्कूलों की अभिवृद्धि सम्भव नहीं हो सकती। फलस्वरूप शिक्षा प्रसार में बढ़ाई जाने वाली धन राशि में हर वर्ष वृद्धि होते चलने पर भी निरक्षरता का प्रतिशत बहुत ही धीमी गति से सुधर रहा है। यह प्रगति चींटी की चाल जैसी है और उसके ऊपर निर्भर रहा गया तो साक्षरता प्रसार की समस्या जो राष्ट्रीय प्रगति के लिए नितान्त आवश्यक है, बहुत लम्बी, अप्रत्याशित अवधि में कहीं जाकर पूरी हो सकेगी।

इसको हमें गैर सरकारी स्तर पर सँभालना होगा और जन-सहयोग से लोकसेवा की प्रवृत्तियों को जगाकर देशभक्त और उदार मनोवृत्ति के सज्जनों का सहयोग लेकर पूरा करना होगा। बच्चों की समस्या और व्यवस्था तो सरकारी स्कूल भी हाथ में ले सकते हैं, पर वयस्कों की तीन चौथाई जनता ऐसी है जिसकी निरक्षरता असह्य है। जिस पीढ़ी के हाथ में वर्तमान की बागडोर है वह वयस्क होते हुए भी अशिक्षित है। भारत ८० प्रतिशत गाँवों में बिखरा पड़ा है। वहाँ शिक्षा के न तो साधन हैं और न उत्साह। कुछ दिन से जहाँ-तहाँ स्कूल खुले हैं, और उनमें सिर्फ थोड़े-बहुत लड़के पढ़ने जाने लगे हैं, वे भी सवर्णों के। छोटी जातियों में लड़कों को पढ़ाने के लिए भी उत्साह नहीं। लड़कियाँ शहरों में तो पढ़ती हैं पर गाँवों में इसे आवश्यक नहीं माना जाता है। महिलाओं में से तो पीछे दो-चार भी पढ़ी-लिखी न मिलेंगी। सवर्णों में आधे, असवर्णों में ९९ प्रतिशत अशिक्षित हैं। स्त्रियाँ तो सवर्णों की भी इन देहाती क्षेत्रों में अनपढ़ ही मिलेंगी। यह इन्तजार नहीं किया जा सकता कि अगली पीढ़ी जब शिक्षित होकर आवे तब राष्ट्रीय प्रगति की बागडोर हाथ में सँभाले। दुनिया इतनी तेजी से बढ़ और बदल रही है, कि जो लोग आज सामने हैं उन्हीं को सुयोग्य और समर्थ बनाये बिना काम चलने वाला नहीं है। निरक्षरता निवारण की समस्या आगे के लिए नहीं टाली जा सकती, वह आज ही हाथ में लेनी होगी और सरकार का मुँह ताके बिना उसे जन-सहयोग के स्तर पर हल करना होगा।

उपाय एक ही है कि हर शिक्षित व्यक्ति अपने ऊपर यह 'ज्ञान-ऋण' समझे कि उसे साक्षरता प्रसार के लिए कुछ न कुछ योगदान देना है। प्रौढ़ पाठशालाओं की स्थापना और उनका संचालन हर शिक्षित का इन दिनों एक धर्म कर्त्तव्य बन जाना चाहिए। थोड़े से उत्साही शिक्षित लोग ऐसी छोटी रात्रि पाठशालाएँ गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले चला सकते हैं, जिनमें निरक्षर वयस्कों को पढ़ने की सुविधा मिल सके। महिलाओं के लिए रात्रि का नहीं तीसरे पहर का समय सुविधाजनक रहता है। दो-दो तीन-तीन घण्टे की भी यह पाठशालाएँ चलती रहें, तो एक वर्ष में ये किसी भी व्यक्ति को प्राथमिक शिक्षा की जितनी योग्यता कराके उसे साक्षरों की पंक्ति में बिठा सकती हैं।

शिक्षा की उपयोगिता, आवश्यकता, महत्ता से अभी अपने देशवासी बुरी तरह अनभिज्ञ हैं। इसलिए इस संदर्भ में यह काम भी साथ ही हाथ में लेना होगा कि जन-साधारण को अशिक्षा के बुरे परिणाम बताये जायें। इसके लिए घर-घर जाकर जनसम्पर्क, गोष्ठियाँ, पंचायतें, चित्र-प्रदर्शनियाँ, गीत, सम्मेलन, नाटक, अभिनय आदि जो भी प्रचार माध्यम सम्भव हों उन्हें काम में लाया जाना चाहिए। शिक्षितों में पुस्तक पर्चे आदि के माध्यम से भी कुछ प्रचार किया जा सकता है। पर अशिक्षितों में तो दृश्य और श्रव्य कार्यक्रमों के माध्यम से ही कुछ प्रभाव पड सकता है और यदि शिक्षा का महत्व समझाने वाली टोलियाँ निकल पड़ें तो निस्सन्देह साक्षरता की रुचि जगाई जा सकती है और यदि गाँव-गाँव, गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले, प्रौढ़ पाठशालाओं का रात्रि तथा तीसरे पहर का क्रम बनाया जा सके तो यह उत्साह एक से दूसरे में छूत की तरह लगेगा और उस उमंग भरे प्रवाह में देश के माथे पर से निरक्षरता का कलंक सुगमतापूर्वक धोया जा सकेगा।

आवश्यकता है विचारशील लोगों का ध्यान इस छोटे किन्तु महान रचनात्मक कार्य की ओर आकर्षित करने की। विद्यादान के इस पुनीत यज्ञ में हर व्यक्ति अपने ढंग से समय, श्रम या मनोयोग देकर सहयोग करने लगे तो जनस्तर पर भी चन्द दिनों में हमारा देश साक्षरता का लाभ प्राप्त कर तेजी के साथ प्रगति पथ पर अग्रसर हो सकता है।

प्रश्न–

(१) साहित्य द्वारा होने वाले लाभों पर प्रकाश डालिए? (२) अशिक्षितों को अर्द्ध मनुष्य क्यों कहते हैं? (३) क्यूबा ने अपनी अशिक्षा को समस्या कैसे हल की? (४) सिद्ध कीजिए कि–"भारत में साक्षरता की प्रगति बहुत ही धीमी है।" (५) निरक्षरता की समस्या को हल करने के लिए अशासकीय स्तर पर कौन-से कदम उठाने चाहिए? (६) 'ज्ञान ऋण' से क्या समझते हो? प्रत्येक शिक्षित का इस युग मे क्या कर्त्तव्य है? (७) साक्षरता प्रसार आन्दोलन कैसे चलाया जाय? (८) जन-साधारण में शिक्षा का महत्व प्रतिष्ठापित करते हेतु क्या किया जाना चाहिए? (९) देश में शत-प्रतिशत साक्षरता कैसे लाई जा सकती है।

व्यायाम एवं स्वास्थ्य शिक्षा समाज की एक महती आवश्यकता

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार, स्वच्छता, स्नान, निद्रा आदि की तरह श्रम की भी अनिवार्य आवश्यकता है । शरीर के कलपुर्जों को ठीक तरह गतिशील एवं परिपुष्ट रखने के लिए हर प्राणी को समुचित श्रम करना पड़ता है । आहार की खोज में पशु-पक्षी लम्बी यात्राएँ करके और शरीर को श्रम से थकाकर स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाये रहते हैं । मनुष्य ने जब से आरामतलबी की आदत अपनाई तब से उसे अल्पायु और अस्वस्थता का अभिशाप भुगतने के लिए विवश होना पड़ा ।

अभी भी जो प्रकृति पुत्र कृषक, मजदूर अथवा वन जातियों के रूप में कठोर श्रम के अभ्यस्त हैं, वे रूखा-सूखा खाकर, अभावग्रस्त जीवन जीते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक दीर्घजीवी और नीरोगी पाये जाते हैं । श्रम की उपेक्षा और आरामतलबी की आदत यदि आज की तरह ही अपने स्वभाव का अंग बनी रही तो देश की अर्थ-व्यवस्था, समृद्धि और प्रगति पर असर पड़ेगा ही—स्वास्थ्य की समस्या भी दिन-दिन अधिक विकट होती चली जायेगी । अमीर लोग फैशनेबुल बाबू और कोमलांगी महिलाएँ आरामतलबी का जितना आनन्द लेना चाहेंगे उससे हजार गुना अधिक दुःख अस्वस्थताजन्य संकटों के साथ भुगतना पड़ेगा । इस तथ्य को जितनी जल्दी गहराई तक जन-मानस में उतार दिया जाये उतनी ही भलाई है ।

कठोर श्रम की उपयोगिता एवं आवश्यकता से हर मनुष्य को परिचित होना चाहिए । सम्पदाएँ और विभूतियाँ कठोर श्रम से ही उपलब्ध होती हैं । हरामखोरी पर दरिद्रता की लानत ही बरसती है । इतना ही नहीं जो काम से जी चुरायेगा, हरामीपन अपनायेगा उसे प्रकृति का कोप पग-पग पर दुर्बलता और बीमारियों के रूप में भुगतना पड़ेगा । इस तथ्य से सर्व-साधारण को अवगत कराने के लिए हमें श्रम की महत्ता प्रतिपादित कराने वाला आन्दोलन चलाना चाहिए । श्रम की प्रतिष्ठा के गीत गाये जाने चाहिए और पुरुषार्थी श्रमिकों का अभिनन्दन करना चाहिए । उन नौकरी पसन्द शिक्षितों की भर्त्सना करनी चाहिए जो श्रम से जी चुराकर देहातों को छोड़ शहरों के गन्दे वातावरण में भागते और सफेदपोश बाबू का खोखला और गन्दा जीवन जीने को पसन्द करते देखे जाते हैं ।

श्रम की प्रतिष्ठा अपने देश की समृद्धि और स्वस्थता की दृष्टि से नितांत आवश्यक है । इसी विचार ने श्रमिकों को अछूत बनाकर तिरस्कार और उन्हें विधर्मी बनने के लिए विवश किया । हिन्दू जाति के घटते जाने और उसके अन्य धर्मों में घुसते जाने से जो राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक संकट उत्पन्न हो रहा है उसके मूल में यही श्रम के तिरस्कार की विडम्बना घुसी बैठी है । सामूहिक श्रमदान का महत्त्व हमने समझा होता तो गपशप में गुजारने वाले समय का सदुपयोग करके हम अगणित ऐसे रचनात्मक कार्य कर सकते थे जिससे राष्ट्र की समृद्धि, सुव्यवस्था और प्रगति में भारी सहायता मिल सकती थी ।

श्रम की महत्ता समझाने के लिए हमें व्यायाम आन्दोलन को प्रोत्साहन देना चाहिए । जगह-जगह व्यायामशालाएँ खोलनी चाहिए और खेल-कूदों से लेकर आसन, प्राणायाम तक, सामान्य परेड से लेकर शस्त्र संचालन तक की शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए । इस रचनात्मक प्रक्रिया द्वारा राष्ट्र के शारीरिक और मानसिक बल में आशाजनक अभिवृद्धि होगी ।

नियमित व्यायाम एक बहुत ही अच्छी आदत है जिसका शारीरिक ही नहीं मानसिक बल-वर्द्धन पर भी आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है । परिश्रमशील होकर दिनभर थकाने वाली कड़ी मेहनत करना अच्छी नींद लाने और खुल कर भूख लगने के लिए सबसे अच्छी और सस्ती दवा है । इसमें खर्च कुछ नहीं आमदनी बढ़ने की सम्भावना निश्चित है पर व्यायाम का चमत्कार तो दूसरा है । उसका प्रभाव केवल शरीर संचालन तक सीमित नहीं वरन् वह स्वभाव और मनोबल के परिष्कार की भी सुविधा प्रस्तुत करता है । दिनभर लोहा पीटने वाले लुहार की अपेक्षा अखाड़े में दो घण्टे कसरत करने वाला पहलवान अधिक परिपुष्ट पाया जाता है । इसका कारण व्यायाम के साथ जुड़ी हुई उत्साहवर्द्धक भावना है । कसरत करते समय यह मान्यता रहती है कि हम स्वास्थ्य साधना कर रहे हैं और इस आस्था का मनोवैज्ञानिक असर ऐसा चमत्कारी होता है कि देह ही परिपुष्ट नहीं होती, मन की हिम्मत तथा सशक्तता भी बहुत बढ़ जाती है ।

व्यायाम के साथ जुड़े हुए खेलकूद बढ़िया किस्म के प्रत्यक्ष उल्लास करने वाले मनोरंजनप्रद होते हैं । शरीर की उपेक्षा से ही शरीर बिगड़ता है । व्यायाम हमारा ध्यान स्वास्थ्य की ओर आकर्षित करता है और उसकी सुरक्षा तथा परिपुष्टि के लिए उमंग पैदा करता है । आलस्य का त्याग और श्रम में अभिरुचि उत्पन्न करने वाली मनोदशा बनती है । खेलकूदों के साथ जुड़ी हुई प्रतियोगिताएँ मन में स्पर्धा उत्पन्न करती हैं कि हमें साथियों के समान सशक्त होना चाहिए और उनसे आगे बढ़ना चाहिए । शरीर तक ही सीमित नहीं वरन् वह मन को दुर्बल और रुग्ण बनाती है जो कि देह की अस्वस्थता से भी अधिक अहितकर है । व्यायाम इन विपत्तियों और व्याधियों से बचाता है । फौजी दौड़ के ढंग के व्यायाम, अनुशासन, क्रमबद्धता मिलकर चलना जैसे सद्गुणों को विकसित करते हैं । शस्त्र संचालन को यदि व्यायाम के साथ जोड़ लिया जाये तो व्यक्ति साहसी, शूरवीर, धैर्यवान, अनीति का प्रतिरोध, बलिदान की तत्परता जैसी सद्प्रवृत्तियों को पनपाता है । आतंकवादी दुष्ट, दुरात्माओं को डराने और नियन्त्रण में

रखने के लिए हमारी समर्थता और तेजस्विता को यह शस्त्र व्यायाम भली प्रकार प्रदर्शित कर सकता है और इस प्रदर्शन मात्र से दुष्ट-दुरात्माओं के आक्रमणकारी हौंसले आधे तो स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं ।

सर्वतोमुखी समर्थता का अभिवर्द्धन करने के लिए अपने देश में व्यायाम शिक्षा को, व्यायामशालाएँ स्थापित करने की प्रवृत्ति को, व्यायाम प्रतियोगिताओं को समुचित प्रोत्साहन मिलना चाहिए । हमें एक व्यायाम आन्दोलन चलाना चाहिए जिससे न केवल शारीरिक परिपुष्टता अभिवर्धन एवं स्वास्थ्य रक्षा की समग्र शिक्षा दी जाये वरन् यह भी सिखाया जाये कि ब्रह्मचर्य का शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य पर कैसा जादू भरा असर पड़ता है । चिन्ता, निराशा, भय, कायरता, लोभ, कृपणता, छल एवं दुष्टता आदि मनोविकारों के कारण स्वास्थ्य पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव से यदि जन साधारण को भली-भाँति परिचित कराया जा सके तो लोग बीमारी से बचने के लिए सदाचरण की रीति-नीति अपनाकर एक समय सुविकसित समाज की रचना में योगदान देंगे ।

स्वास्थ्य सम्बन्धी समुचित जानकारी न होने से स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सभी को अल्पायु और रुग्णता का कष्ट सहना पड़ता है । स्वास्थ्य संरक्षण के सर्वतोमुखी शिक्षण के साथ जुड़ा हुआ व्यायाम आन्दोलन चलाने के लिए लोक-सेवी कार्यकर्त्ता यदि आगे आयें और उसकी सुव्यवस्थित योजना बनायें तो निस्सन्देह वे मानव जाति की एक महती सेवा कर सकने मे समर्थ हो सकते हैं ।

प्रश्न—

(१) मनुष्य की अल्पायु एवं अस्वस्थता का मूल कारण क्या है ? (२) सम्पदाएँ एवं विभूतियाँ कैसे उपलब्ध होती हैं ? (३) श्रम की प्रतिष्ठा प्रतिपादित करने के लिए क्या किया जाना चाहिए ? (४) हिन्दू जाति के घटते जाने का मूल कारण क्या है ? (५) व्यायामशालाओं की आवश्यकता क्यों है ? (६) दिन भर लोहा पीटने वाले लोहार की अपेक्षा दो घण्टे कसरत करने वाला पहलवान अधिक ताकतवर क्यों होता है ? (७) खेल-कूद के लाभ बताइये ? (८) व्यायाम आन्दोलन की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए ।

अध्यापक अपने पद, गौरव और उत्तरदायित्व को निबाहें

अध्यापक का पद, गौरव और उत्तरदायित्व-आजीविका के लिए नौकरी करने वाले साधारण कर्मचारियों से कहीं ऊँचा है । भले ही उसे निर्वाह के लिए वेतन लेना पड़ता हो पर जिस प्रकार अन्य वेतनभोगी कर्मचारी सामने प्रस्तुत किये गये काम को निपटाकर छुट्टी पा लेते हैं उतने मात्र से अध्यापक का काम नहीं चल सकता । उसे अपने पद के साथ जुड़े हुए उस उत्तरदायित्व को समझना चाहिए कि बालकों का मानसिक स्तर, उनका भावी चरित्र और उस पर निर्धारित राष्ट्र का भविष्य निर्माण करना है ।

निस्सन्देह माता-पिता अन्य अभिभावकों की तरह अध्यापक का भी बालकों के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ होता है । अभिभावक आमतौर से जन्म देते, भरण-पोषण की व्यवस्था करते तथा लाड़-चाव ही दे पाते हैं । वे बच्चों की विवाह-शादी, आजीविका जैसे साधन जुटाने तक ही सीमित रह जाते हैं क्योंकि अधिकांश अभिभावक उस ज्ञान और विधान से अपरिचित ही होते हैं जिसके आधार पर बालकों की मनोभूमि तथा प्रवृत्तियों का विकास सुसंस्कारिता की दिशा में किया जा सकना सम्भव होता है । इसी कमी की पूर्ति अध्यापक के जिम्मे आती है । छात्र के रूप में विद्यालय में प्रवेश करता हुआ बालक अपने साथ जिज्ञासाओं की एक नई भूख साथ लेकर जाता है । वहाँ उसे सहपाठियों के रूप में एक नया समाज मिलता है और अध्यापक के रूप में एक नया मार्गदर्शक । इस वातावरण का उसके गुण, कर्म, स्वभाव पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है जितना घर-परिवार का भी नहीं पड़ा था । यो पारिवारिक संस्कारों का महत्त्व भी कम नहीं है पर यह स्वीकार किया ही जाना चाहिए कि विद्यालय, शिक्षा पद्धति एवं अध्यापक की रीति-नीति की महत्ता उससे अधिक ही है कम नहीं ।

बालकों का व्यक्तित्व ढालने में अध्यापकों के व्यक्तित्व प्रभाव एवं प्रयत्नों का भारी योगदान रहता है । प्राचीन काल का भारत इसीलिए देवोपम व्यक्तियो और स्वर्गोपम परिस्थितियों से भरा-पूरा बना रहा क्योंकि यहाँ की शिक्षा और शिक्षण व्यवस्था ऋषियों के हाथ में थी । राष्ट्र का निर्माण शिक्षण द्वारा ही सम्भव है । आज का बालक ही कल के नागरिक, व्यवस्थापक और नेता होते हैं । जिस ढाँचे मे उन्हें ढाला जायेगा कुछ दिनों बाद राष्ट्र का स्वरूप वैसा ही बन जायेगा । व्यक्तियों का समूह ही तो राष्ट्र है । इसमें से शिक्षकों का महत्त्व और अधिक है । शिक्षकों की विचारणा एवं रीति-नीति के अनुसार ही राष्ट्र बनते और बिगड़ते हैं । इस तथ्य को सदा से समझा जाता रहा है । हिटलर ने जर्मनी को फासिस्ट बनाने के लिए शिक्षा पद्धति को प्रधान माध्यम बनाया था । इटली में भी मुसोलिनी ने यही किया था । रूस और चीन के नागरिकों में जो अटूट निष्ठा साम्यवाद के प्रति पाई जाती है उसका कारण उनकी शिक्षा प्रणाली में ही देखा जा सकता है । जापान की समृद्धि और सुव्यवस्था का श्रेय वहाँ के सुशिक्षितों को ही दिया जाना चाहिए ।

अपना देश एक हजार वर्ष की राजनैतिक गुलामी से अभी-अभी मुक्त होकर उठा है । दासता एक अभिशाप है जो पराधीन जातियों के नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक स्तर को बुरी तरह चकनाचूर करके रख देती है । अपने

देश को उसी दुर्भाग्य में लम्बे समय से पिसना पड़ा है । अस्तु, वैयक्तिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में अगणित दोष-दुर्गुणों का बुरी तरह समावेश हो गया, इन्हें ज्यों का त्यों पड़ा रहने दिया जाये तो राजनैतिक स्वतन्त्रता का कोई लाभ न मिल सकेगा । दुर्गुणी समाज अपने ही अनाचार से संत्रस्त रहकर पतन के गर्त में गिरता है और आये दिन विविध विधि शोक-संताप भोगता है । इस विभीषिका से बचाव केवल सुशिक्षण द्वारा ही सम्भव है और वह आदि से अन्त तक शिक्षकों के स्तर पर निर्भर रहा करता है । इसलिए शिक्षक का पद्गौरव और महत्त्व की दृष्टि से अत्यधिक ऊँचा माना जाता रहा है । उसे 'गुरु' की पदवी दी गई है जो जनसम्मान की दृष्टि से सर्वोच्च कही जा सकती है ।

इन तथ्यों को अध्यापक वर्ग स्वीकार करे तभी काम चलेगा । उसे नौकरी की दृष्टि से सौंपे गये सरकारी कार्यभार के अतिरिक्त अपने पद की गरिमा के अनुरूप अपने व्यक्तित्व को ढालने, गतिविधियाँ अपनाने तथा छात्रों की प्रेम-पिपासा तथा जिज्ञासाओं की भूख पूरी करने के लिए अपने को एक साधक की तरह विनिर्मित करना चाहिए । इससे कम में वह अपने और अपने पद का गौरव अक्षुण्ण न रख सकेगा । वेतन मात्र के लिए श्रम करने वाले, कमजोर और गैर जिम्मेदार मजदूरों की पंक्ति में यदि वे भी जा बैठे तो समझना चाहिए कि राष्ट्र का भविष्य अन्धकारमय ही बना रहेगा और कहीं उन्होंने अपने में अवांछनीय दोष-दुर्गुणों की मात्रा बढ़ा ली तब तो समझना चाहिये कि पीढ़ियों का सर्वनाश होकर ही रहेगा ।

दुर्भाग्य से अपने देश में शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण के तथ्य को नहीं समझा गया और अँग्रेजों ने काले साहब एवं किरानी लार्ड ढालने की जो शिक्षा पद्धति चलाई थी उसे ही छाती से चिपकाये रखा गया है । व्यक्ति और समाज के नये निर्माण के लिए जिस प्रखर चेतना समुन्नत शिक्षा पद्धति की जरूरत थी और उसके उपयुक्त जिस प्रकार के शिक्षक ढाले जाने थे उसके लिए कुछ ठोस काम नहीं हुआ । पढ़ाई का लँगड़ा-लूला ढर्रा भी चल रहा है । विद्यालयों में से निकलने वाले छात्र कोई उमंग या दिशा लेकर नहीं निकलते वरन् निराशा और आक्रोश के साथ ही शिक्षा की निरर्थकता और भविष्य की अनिश्चितता को आँकते हैं । उनकी यह घुटन विविध-विधि उच्छृंखलताओं के रूप में फूटती हम-पग-पग पर देखते हैं और कडुवे-मीठे शब्दों में उनकी भर्त्सना करते हैं पर इस पारस्परिक विवाद-विषाद की चर्चा बनाये रखने से कुछ काम नहीं चलेगा । समस्या का हल तो प्रयत्नों से होता है । सरकार अपना कर्त्तव्य पालन करे तो इसका अर्थ यह नहीं कि सर्वसाधारण को हाथ पर हाथ रखे ही बैठा रहना चाहिए ।

इस संदर्भ में सबसे प्रमुख और सबसे पवित्र कर्त्तव्य अध्यापक वर्ग का है । उसे अपने पद और उत्तरदायित्व को वहन करने के लिए स्वेच्छापूर्वक आगे आना चाहिए । वे चाहें तो व्यक्तिगत रूप से भी इतना कुछ कर सकते हैं जो राष्ट्र निर्माण के महत्त्वपूर्ण योगदान की तरह सराहा जा सके । यदि वे सच्चे मन से भावी नागरिकों की मनोदशा, चरित्रनिष्ठा एवं लोकसेवा जैसी सत्प्रवृत्तियों की ओर मोड़ने का संकल्प कर लें और तदनुरूप गतिविधियाँ अपनायें तो शिक्षा पद्धति कैसी ही क्यों न बनी रहे—असुविधाएँ कितनी ही क्यों न हों—अपनी अन्तःप्रेरणा और कर्मनिष्ठा के बल पर इतना कर सकते हैं जिससे अन्धकार में प्रकाश की किरणें फूटती देखी जा सकें ।

अध्यापक के महान पद की माँग है कि प्रत्येक शिक्षक को चरित्रवान और उत्कृष्ट व्यक्तित्व का होना चाहिए । उनका व्यक्तिगत जीवन पवित्र, निर्दोष और दुर्गुणों से रहित होना चाहिए । इसके बिना छात्रों पर क्या किसी पर भी उनकी छाप न पड़ेगी और सम्मान न मिलेगा । साँचे में खिलौने ढाले जाते हैं उसी प्रकार चरित्रवान अध्यापक ही सच्चरित्र छात्रों का निर्माण कर सकते हैं । यों व्यक्तिगत दोष-गुण सभी को दूर करने चाहिए पर शिक्षिकों को विशेष रूप से इस पर ध्यान देना चाहिए क्योंकि उनके आचरण रहन-सहन, वेश-भूषा आदि की सीधी छाप छात्रों पर पड़ेगी । उन्हें ऐसा वेष विन्यास नहीं बनाना चाहिए, ऐसा रहन-सहन नहीं अपनाना चाहिए जो उनके पद की गरिमा को घटाये और बालकों को भी उद्धत अनुकरण करने की बुरी प्रेरणा दे ।

मिठास, शिष्टाचार, आत्मीयता, सज्जनता, उदारता और प्रेम भरा व्यवहार करने का अभ्यास उन्हें करना ही चाहिए । बालक छोटे हैं इसलिए उनके साथ अशिष्ट अथवा कर्कश व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए । सद्व्यवहार की छाप सभी पर पड़ती है । बालकों के कोमल मन पर तो उसकी छाप और गहरी पड़ती है । इसे पूरी तरह ध्यान में रखा जाये । बच्चों का निर्माण करने के लिए पहिले अपने को ही ढालना चाहिए । उपदेश नहीं चरित्र ही प्रभाव डालता है । इसलिए अध्यापकों को आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार और आत्म-निर्माण के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न करना चाहिए ।

पाठ्य पुस्तकों में जो कुछ लिखा है उसी की उचित, बुद्धिसंगत और भावनापूर्ण व्याख्या करके इस प्रकार के निष्कर्ष समेत समझाया जा सकता है कि शिक्षार्थी पर चरित्रवान, उदार, शिष्ट, सज्जन और सेवाभावी बनने की छाप पड़े । यों इस प्रकार का शिक्षण भी एक कला है पर उसे हर भावनाशील अध्यापक कुछ दिन में स्वयं ही अपने भीतर से विकसित कर सकता है ।

प्रश्न—

(१) "अध्यापक का दायित्व केवल शिक्षा देना ही नहीं है ।" इस कथन की पुष्टि करते हुए दर्शाइये कि अध्यापक के प्रमुख कर्त्तव्य क्या हैं ? (२) छात्रों के गुण, कर्म, स्वभाव पर विद्यालय का प्रभाव सर्वाधिक क्यों होता है ? (३) प्राचीनकाल में

शिक्षा पद्धति किन लोगों के हाथ में थी ? उससे क्या लाभ हुआ ? (४) शिक्षक को राष्ट्र निर्माता क्यों कहा जाता है? (५) अध्यापकों के प्रमुख कर्त्तव्य बताइये ? (६) अध्यापक मे क्या-क्या गुण होने चाहिए ? (७) अध्यापक का रहन-सहन 'सादा जीवन उच्च विचार' पर आधारित क्यों होना चाहिए ?(८) उपदेश नहीं चरित्र का क्या प्रभाव पड़ता है-सिद्ध करे ? (९) 'आत्म-चिन्तन', 'आत्म-सुधार' एवं 'आत्म-निर्माण' से क्या समझते हो ? (१०) अध्यापन कला के आवश्यक तत्व बताइए ।

छात्र अपने भविष्य का निर्माण आप करें

प्रत्येक छात्र को यह अनुभव करना चाहिए कि वह एक ऐसी अवधि में होकर गुजर रहा है जो उसके भाग्य और भविष्य का निर्माण करने की निर्णायक भूमिका अदा करेगी । मनुष्य शरीर की कोई महत्ता नहीं वह तो पशु-पक्षियों से भी अनेक बातों में पिछड़ा हुआ है । व्यक्ति की सारी गरिमा उसके गुण, कर्म, स्वभाव पर निर्भर है । क्या बाह्य-क्या आन्तरिक दोनों ही क्षेत्रों की प्रगति इस बात पर निर्भर है कि किसी का व्यक्तित्व किस स्तर का है । धन, विद्या, सम्मान, पद, स्वास्थ्य, मित्रता जैसी विभूतियाँ किसी को अनायास ही नहीं मिल जातीं । उसके लिए उपयुक्त साधन और तरीके प्रयुक्त करने पड़ते है और यह कर सकना उसी के लिए संभव है, जिसने अपना व्यक्तित्व, गुण, कर्म, स्वभाव सही ढंग से ढाला और विनिर्मित किया है । सफलताओं की इच्छा सभी करते हैं पर इन्हें पा सकना हर किसी के लिए नहीं केवल गुणवान व्यक्तियों के लिए ही सम्भव होता है ।

व्यक्तित्व ढालने का सबसे उपयुक्त और सही समय वह है जिसे अध्ययन काल कहते हैं । किशोरावस्था और उभरती आयु में जोश रहता है । शरीर में सामर्थ्य और मस्तिष्क में धारणा-शक्ति का बाहुल्य रहता है और भी कई प्रकृति प्रदत्त ऐसी विशेषताएँ रहती हैं जिनके कारण व्यक्तित्व को चाहे जैसा इस अवधि में ढाला जा सकता है । आयु जैसे बढ़ती जाती है स्वभाव संस्कार परिपक्व होने लगते हैं फिर उनका बदलना कठिन पड़ता है । हरी लकड़ी को किधर भी मोड़ा जा सकता है सूखी को नहीं । गीली मिट्टी से खिलौना बनाने आसान हैं सूखी से नहीं । उभरती आयु गीली मिट्टी या हरी लकड़ी की तरह है जिसका उपयोग उस तरह की ढलाई से किया जाना चाहिए, जिससे भविष्य को उज्ज्वल बनाने की सम्भावना स्पष्ट होने लगे ।

जोश अधिक और होश कम रहने के कारण उठती उम्र में किसी भी आकर्षण की ओर खिंच जाना सरल होता है । कहना न होगा कि अवांछनीय प्रवृत्तियों में आकर्षण और मनोरंजन अधिक है । पानी का स्वभाव नीचे की ओर गिरना है । मनोवृत्तियाँ भी पानी की तरह अधोगामी बनने के लिए सहज ही तैयार हो जाती हैं, फिर जीवन भर पिण्ड नहीं छोड़तीं । कहना न होगा कि दुर्गुणी व्यक्ति अपने लिए और सम्बन्धित लोगों के लिए शोक संताप भरी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता हुआ अभिशाप जैसा नारकीय जीवन ही जी सकता है । इन्हीं दिनों यदि श्रेष्ठ वातावरण का सम्पर्क बना रहे और सद्भावनाओं एवं सत्प्रवृत्तियों को अभ्यास किया जाता रहे तो उसका प्रभाव सारे जीवन भर बना रहेगा और फलस्वरूप सुख-शान्ति की संभावनाएँ सदैव साकार होती रहेंगी ।

मित्रों का आकर्षण यों सदा ही रहता है पर किशोरावस्था में उसके प्रति खिंचाव अपनी चरम सीमा पर रहता है । मित्रता बुरी नहीं-अच्छे साथी मिले तो विकास एवं प्रसन्नता की वृद्धि में सहायता ही मिलती है । पर दुर्भाग्य से आज आवारा और दुर्गुणी लड़के ही मित्रता के जाल में फँसाकर अच्छे लड़कों को अपने जैसा बना लेने का जाल फैलाते हैं । जो स्वयं पढ़ते-लिखते नहीं, खुराफातो में घूमते हैं, उन्हें अपनी आवारागर्दी के लिए साथियों की जरूरत पड़ती है । वे चालाक लड़के मीठी बात करके सब्जबाग दिखाकर भले लड़कों को फँसाते हैं और धीरे-धीरे उन्हें आवारागर्दी के अनेक हथकण्डे सिखाकर ऐसा बना देते हैं । जो शिक्षा से वंचित रह जायें, स्वास्थ्य खो दें, स्वभाव बिगाड़ लें और सम्मान तथा विश्वास गँवा बैठें । किसी का भविष्य अन्धकारमय बनाने के लिए इतनी बातें काफी हैं । इसलिए हर समझदार छात्र का कर्त्तव्य है कि मित्रता करने और दोस्तों के साथ फिरने से पूर्व हजार बार सोचें कि कहीं उसे आवारागर्दी की ओर तो घसीटा नहीं जा रहा है । यों आज की परिस्थिति में अधिक उपयुक्त यही है कि बिना गहरी दोस्ती के काम चलाया जाये और हर साथी से सामान्य शिष्टाचार और मेल-जोल उस सीमा तक रखा जाये जिससे समय की बर्बादी और किसी खतरे की आशंका न हो ।

स्वास्थ्य-संरक्षण के लिए यही समय सबसे अधिक उपयुक्त है । आहार-विहार का, सोने-जागने का, यदि ठीक ध्यान रखा जाये तो तन्दुरुस्त ऐसी बन जायेगी जो जीवन भर साथ दे । इस संदर्भ में कामुकता के खतरे को पूरी तरह ध्यान में रखा जाना चाहिए । गन्दे फिल्म, गन्दे गाने, गन्दे उपन्यास, गन्दे मित्र तथा गन्दे विचार चित्त को उसी तरह उद्विग्न कर देते हैं और उन घिनौने कार्यों को प्रेरणा देते हैं जिससे शरीर और मस्तिष्क खोखला हो जाये और जवानी में बुढ़ापा आ घेरे । कच्ची उम्र में इस तरह का घुन लग जाने से देह जिन्दगी भर के लिए रोगों का शिकार बन जाती है और गृहस्थ जीवन भार बन जाता है । इसलिए इन दिनों ब्रह्मचर्य और सद्विचारों के बारे में पूरी सतर्कता रखी जाये और अश्लील परिस्थिति से ऐसे बचा जाये जैसे साँप, बिच्छू, आग या जहर से बचा जाता है ।

अवज्ञा, उच्छृंखलता, अशिष्टता और अनुशासनहीनता जैसे दुर्गुण, साहसिकता की भयंकर विकृतियाँ जिनके कारण दूसरों को चोट ही नहीं पहुँचती अपना स्वभाव भी

ऐसा निकृष्ट बन जाता है जिससे कोई सृजनात्मक कार्य नहीं बन सकता । साहस अच्छा गुण है—अनीति का प्रतिरोध करने की हिम्मत भी होनी चाहिए । यह साहसिकता उपयुक्त मर्यादाओं एवं नागरिक कर्त्तव्यों के उल्लंघन में लग पड़े तो यह अशिष्ट, असज्जन, अशीलन, आतंकवादी आचरण अपने सम्पर्क में लोगों का कुछ भी भला न कर सकेगा । भलाई सृजनात्मक, सज्जनोचित, सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने में है । विकास की सम्भावनाएँ सज्जनोचित्त प्रवृत्तियों में सन्निहित हैं । उद्दण्ड मनुष्य किसी को डरा भर सकते हैं । प्रेममय सहयोग पाने से उन्हें वंचित ही रहना पड़ता है अन्ततः वह कमजोरी उन्हें सदा असफल और मनुष्य ही बनाये रखती है । प्रगति के स्वप्न देखने वाले हर दूरदर्शी युवक को शालीनता की सज्जनोचित आदतें ही अपने में पड़ने और बढने देने के लिए सतर्क रहना चाहिए ।

शिक्षा का ऊँचा स्तर ही व्यक्ति की भौतिक प्रगति का इन दिनों प्रमुख आधार है । अशिक्षित या स्वल्प शिक्षित व्यक्ति शारीरिक श्रम भर से थोड़ी आजीविका कमा सकता है । ऊँचे पद और कार्य कर सकने की योग्यता तो ऊँची शिक्षा के आधार पर ही मिलती है । व्यक्तिगत अर्थ लाभ या सम्मान प्राप्ति के लिए अथवा लोक-मंगल के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने के लिए ऊँची शिक्षा आवश्यक है । विचारशक्ति और व्यक्तित्व के निखार की दृष्टि से भी शिक्षा के महत्त्व और महात्म्य को ठीक तरह समझा जाये तो उसके लिए अधिक तत्परता, मेहनत एवं एकाग्रता कुछ कठिन न रह जायेगी और यह स्पष्ट है कि परिश्रमी एवं दिलचस्पी लेने वाले मन्द बुद्धि लड़के अस्त-व्यस्त तीव्र बुद्धि लडकों से बाजी मार ले जाते हैं ।

घर के कामों में बड़ों का हाथ बँटाना, आत्मनिर्भरता विकसित करने के लिए अपने बहुत से काम निपटा लेना, कम खर्च में काम चलाना, समय का विभाजन करके नियत दिनचर्या के अनुरूप चलना, समय तनिक भी बर्बाद न होने देना, आवेश और चिड़चिड़ेपन से बचकर शान्त, सन्तुलित मस्तिष्क बनाये रहना, सत्साहित्य के स्वाध्याय की आदत डालना, कठोर परिश्रम की आदत डालना और हँसमुख, शिष्ट एवं विनम्र रहना युवावस्था को अलंकृत करने वाले सद्गुण हैं । उस स्तर की शालीनता, सज्जनता का उपार्जन अभ्यास आदि नवयुवक करने लगे तो उनके भीतर अनेक ऐसी विशेषताएँ उगती चली आवेंगी जिनके द्वारा उनका भविष्य स्वर्णिम और शानदार बन सके ।

प्रश्न—

(१) व्यक्ति की गरिमा किस बात पर निर्भर है ? (२) सफलता प्राप्त करने के उपाय क्या हैं ? (३) व्यक्तित्व ढालने का उपयुक्त समय कौन-सा है व क्यों ? (४) उठती उम्र में किसी भी आकर्षण की ओर खिंच जाना सरल क्यों होता है ? (५) मित्रता का स्वर्णिम सूत्र क्या है ? (६) विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन क्यों आवश्यक है ? (७) आतंकवादी असुर प्रवृत्ति किसे कहते हैं ? (९) युवावस्था को अलंकृत करने वाले सद्गुण कौन-कौन से हैं ? (१०) युवकों को अपना स्वर्णिम एवं शानदार भविष्य बनाने के लिए क्या करना चाहिए ?

नवयुवक सज्जनता और शालीनता सीखें

जीवन निर्माण का महत्त्वपूर्ण समय १२ से लेकर २० वर्ष तक की आयु तक रहने वाली किशोर अवस्था है । इस अवधि में मनुष्य गीली मिट्टी और सूखी लकड़ी की तरह जैसा उठती उम्र में बन गया, प्रायः वैसा ही अन्त तक बना रहता है । जो बूढ़े हो चले उन ढलती आयु के लोगों के दिन करीब हैं, उनके दोष-दुर्गुणों को सहन भी किया जा सकता है और उपेक्षा भी की जा सकती है, पर नई पीढ़ी के विकासवान बालकों की उपेक्षा नहीं हो सकती । अगले दिनों महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ उन्हें ही सम्पादित करनी हैं । नेतृत्व उन्हीं के कन्धों पर आने वाला है । वे जैसे भी कुछ भले-बुरे होंगे उसी के अनुरूप समाज की भावी सम्भावनाएँ बनेंगी । यदि हम निकट भविष्य में अपने समाज को समुचित सुसंस्कृत देखना चाहते हैं तो सारा ध्यान अपनी होनहार, उदीयमान पीढ़ी पर केन्द्रित करना पड़ेगा ।

कहना न होगा कि समस्त श्री, समृद्धि, प्रगति और शान्ति का सद्भाव मनुष्य के सद्गुणों पर अवलम्बित है । दुर्गुणी व्यक्ति हाथ में आई हुई, उत्तराधिकार में मिली हुई समृद्धियों को गँवा बैठते हैं और सद्गुणी गई-गुजरी परिस्थितियों में रहते हुए भी प्रगति के हजार मार्ग प्राप्त कर लेते हैं । सद्गुणी की विभूतियाँ ही व्यक्तित्व को प्रतिभावान बनाती हैं और प्रखर व्यक्तित्व ही हर क्षेत्र में सफलताएँ वरण करते चले जाते हैं । विद्या, धन और स्वास्थ्य के आधार पर उन्नति करने की बात कही जाती है पर उनसे भी बढ़कर प्रगति के आधार सद्गुण हैं । दुर्गुणी व्यक्ति अपने कौशल के आधार पर कुछ उपलब्धियाँ प्राप्त कर भी लें तो उन्हें सुरक्षित नहीं रख सकता । इतना ही नहीं वह घमण्ड में उद्धत आचरण करके अपनी तथा दूसरों की शान्ति नष्ट करता है, अपने को तथा अपने समीपवर्ती समाज को संकट में डालता है ।

उठती आयु में सबसे अधिक उपार्जन सद्गुणों का ही किया जाना चाहिए । विद्या पढ़ी जाये सो ठीक है, खेल-कूद, व्यायाम आदि के द्वारा स्वास्थ्य बढ़ाया जाये, सो भी अच्छी बात है, विभिन्न कला-कौशल और चातुर्य सीखे जायें, वह भी सन्तोष की बात है पर सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि इस आयु में जितनी अधिक सतर्कता और तत्परतापूर्वक सद्गुणों का अभ्यास किया जा सके, करना चाहिए । एक तराजू में एक ओर विद्या, बुद्धि, बल और धन आदि की सम्पत्तियाँ रखी जायें और दूसरे पलड़े में सद्गुण तो निश्चय ही यह दूसरा पलड़ा अधिक भारी और अधिक श्रेयस्कर सिद्ध होगा । दुर्गुणी व्यक्ति साक्षात संकट स्वरूप है । वह अपने लिए पग-पग

पर काँटे खड़े करेगा, अपने परिवार को त्रास देगा और समाज में अगणित उलझनें पैदा करेगा । उसका उपार्जन चाहे कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो, कुकर्म बढ़ाने और विक्षोभ उत्पन्न करने वाले मार्ग में ही खर्च होगा । ऐसे मनुष्य अपयश, घृणा, द्वेष, निन्दा और भर्त्सना से तिरस्कृत होते हुए अन्ततः नारकीय यन्त्रणाएँ सहते हैं ।

अभिभावकों को केवल इतना ही नहीं सोचना चाहिए कि उनके बच्चे कमाऊ, चतुर और कोई पदाधिकारी बन जायें । अधिक ध्यान इस बात का रखना चाहिए कि बच्चे सच्चरित्र, सद्गुणी, सज्जन एवं संस्कारवान बनें । यही उपलब्धि उनके जीवन की सबसे बड़ी लाभदायक सम्पदा सिद्ध होगी । इसी के आधार पर वे अपना जीवन सुखी एवं समुन्नत बना सकेंगे । सच्चा प्यार इसी को कहते हैं । वे अभिभावक ही अपने कर्त्तव्य पालन में सफल कहे जायेंगे, जिन्होंने अपने बच्चों को सद्गुणी बनाने में कुछ उठा नहीं रखा । सच्चे अध्यापक वे हैं, जो खेल, गणित, भूगोल, इतिहास आदि किताबी ज्ञान देकर ही निवृत्त नहीं हो जाते वरन् छात्रों की गतिविधिओं में सद्गुणों की मात्रा बढ़ाने में संलग्न हैं ।

आज कुछ ऐसी गन्दी हवा चली है, जिसने नई पीढ़ी को उद्धत एवं उच्छृंखल बनाने की विभीषिका खड़ी कर दी है । हमारे होनहार बच्चों में से अधिकांश में उच्छृंखलता, अवज्ञा, उद्दण्डता, अनुशासनहीनता की मात्रा बहुत बढ़ती चली जाती है, यह चिन्ता की बात है । इसमें देश के दुर्भाग्य का खतरा छिपा हुआ है । परस्पर छुरेबाजी, अध्यापकों की अवज्ञा, परीक्षा में नकल, बिना टिकट यात्रा, लड़कियों को छेड़ना, सिनेमा की शौकीनी, शृंगार-सजाव की फिजूलखर्ची, उद्धत आचरण एवं वार्तालाप में विनय तथा शिष्टता का अभाव आदि कितने ही दुर्गुण अपने होनहार बालकों में देखते हैं तो भारी चिन्ता होती है कि इतने उथले व्यक्तित्व को लेकर वे किस प्रकार अपने भविष्य को उज्ज्वल और अगले दिनों जो जिम्मेदारी उनके कन्धे पर आने वाली है, उसका निर्वाह किस प्रकार कर पायेंगे ।

जो नवयुवक अपना भला-बुरा समझने की स्थिति में हैं, उन्हें गिरह बाँध लेनी चाहिए कि सभ्य समाज के जिम्मेदार नागरिक हमेशा अपने व्यक्तित्व को तेजस्वी बनाने के लिए सद्गुणों को अपने स्वभाव में निरन्तर सम्मिलित करते रहते हैं । शिष्टता ही लोकप्रिय बनाती है । अनुशासनप्रिय व्यक्ति के अनुशासन में ही दूसरे लोग रहते हैं । सज्जनों को ही श्रद्धा मिलती है । सद्गुणी दूसरों का हृदय जीतते हैं और दसों दिशाओं में उन पर स्नेह, सहयोग बरसता है । इस राज-मार्ग को जिसने अपनाया उसे ही मनस्वी, तेजस्वी और यशस्वी बनने का अवसर मिला है और जो दुष्टता के दुर्गुणों में ग्रस्त हो गये, वे थोड़े समय औरों को आतंकित करके, क्षणिक रौब-दाब जमा सकते हैं और डरा-धमका कर कुछ उल्लू सीधा कर सकते हैं, पर यह तनिक-सी सफलता अन्ततः बहुत महँगी और भारी पड़ती है । लोगों की निगाह में जब व्यक्तित्व गिर गया और गुण्डा या उपद्रवी माना जाने लगा तो समझना चाहिए कि सम्मान और सहयोग की स्थिति समाप्त हो गई । जीवन में प्रगति और शान्ति के लिए दूसरों की सद्भावना और सहायता की जरूरत पड़ती है । पर यह दोनों ही अनुदान केवल सज्जनों को मिलते हैं । आतंकवादी और उद्धत व्यक्ति किसी के हृदय में अपने लिए स्थान न बना सकेंगे, उनके लिए सबके भीतर घृणा और अविश्वास भरा रहता है । ऐसे व्यक्ति जीवन में कोई ऊँचा स्थान प्राप्त नहीं कर सकते और न उन्हें कोई बड़ी सफलता ही मिलती है ।

हमारे नवयुवकों को समझना चाहिए कि ध्वंसात्मक दुष्प्रवृत्तियों को, अशिष्टता एवं उच्छृंखलता को अपना लेना अति सरल है । छिछोरा साथी अथवा उद्धत अगुआ लोग उठती आयु के बालकों को आसानी से गुमराह कर सकते हैं पर शालीनता और सज्जनता का अभ्यास बनाना उनके बस की बात नहीं । इसलिए हेय व्यक्तित्व के जोशीले और उच्छृंखल लोगों को अपने ऊपर हावी ही नहीं होने देना चाहिये । उनके प्रभाव और सान्निध्य से दूर रहना चाहिए, अन्यथा उनकी मैत्री अपने को उच्छृंखल बना देगी और यह स्थिति पैदा कर देगी, जिसमें अपनी निज की और दूसरों की आँखों में अपना व्यक्तित्व गया-गुजरा, ओछा, कमीना और निकृष्ट स्तर का बन जाये । इस स्थिति में जो पड़ा उसके सौभाग्य का सूर्य एवं उज्ज्वल भविष्य अस्त हो गया ही समझना चाहिए ।

सभ्य, समुन्नत देशों के नवयुवक अपने राष्ट्रों की स्थिरता एवं प्रगति में भारी योगदान दे रहे हैं । उनकी प्रवृत्तियाँ रचनात्मक दिशा में लगी हैं । अध्ययन में गम्भीर रुचि लेकर वे अपनी योग्यता बढ़ाते हैं, ताकि अवसर आने पर अपनी प्रतिभा को किसी भी कसौटी पर खरी सिद्ध कर सकें ।

एक हम हैं कि जिनके बच्चे हर कहीं सिर दर्द होते हैं । अभिभावक रुष्ट, अध्यापक दुःखी, साथी क्षुब्ध, स्वयं उद्विग्न । इन सबका एक ही कारण है–दुर्गुणों की मात्रा बढ़ जाना । बुखार बढ़ने की तरह मर्यादाओं का उल्लंघन करने की प्रवृत्ति का बढ़ना भी खतरनाक है । अपने बालकों के उद्धत आचरण देखकर हम दुःख, पश्चाताप और दुर्भाग्य की कल्पना करते रहें यह स्थिति हम सबके लिए लज्जाजनक है ।

जो भी हो हमें अपने बच्चों को समझाने और सिखाने का हर कडुआ-मीठा उपाय करना चाहिए कि वे सज्जन, शालीन, परिश्रमी और सत्पथगामी बनें, इसी में उनका और हम सबका कल्याण है ।

प्रश्न–

(१) निकट भविष्य में यदि हमें अपने समाज को समुन्नत देखना है तो हमें क्या करना चाहिए और किस तरह करना

चाहिए ? (२) मनुष्य की प्रगति किन गुणों पर अवलम्बित है तथा दुर्गुणी व्यक्ति तथा सद्‌गुणी व्यक्ति किस प्रकार भिन्न कहे जा सकते हैं ? (३) उठती आयु में हमें सद्‌गुणों के साथ-साथ और किन-किन गुणों को हस्तगत करना चाहिए ? (४) सद्‌गुण और अन्य गुणों कौन-सा गुण श्रेष्ठ है ? व क्यो ? (५) दुर्गुणी व्यक्ति अपने स्वत: के लिए किस प्रकार हानिकारक है ? (६) सच्चे अध्यापक और सच्चे अभिभावक कौन कहे जा सकते हैं ? किस आधार पर ? (७) क्या आप बता सकते हैं कि आज के होनहार बालकों मे कौन-से दुर्गुण अधिक पाये जाते हैं ? (८) मर्यादा के उल्लंघन से क्या हानियाँ हैं ? (९) आज के युवकों में अनुशासनहीनता क्यों है उन्हे कैसे सभ्य नागरिक बनाया जा सकता है ?

उदार सहकारिता से हमारी उलझनें सुलझेंगी

अकेला व्यक्ति कितना ही प्रतिभावान क्यों न हो, अपने ही बल-बूते पर बहुत कुछ नहीं कर सकता । हाथी, सिंह, घोड़ा, गुरिल्ला आदि बलवान जानवर भी अपनी शक्ति से केवल अपना निर्वाह ही कर सकते हैं । समग्र प्रगति तो हमेशा सम्मिलित शक्ति से ही होती है । मनुष्य ने अन्य जीवों की तुलना में जो असाधारण प्रगति की है उसका प्रधान कारण उसकी बुद्धिमत्ता ही नहीं, दूरदर्शिता भी है, जिनके आधार पर सहकारिता की शक्ति को उसने पहचाना और मिल-जुलकर काम करने के लिए तैयार हो गया । यदि एकाकी जीवन पर ही उसका विश्वास रहा होता, संयुक्त प्रयत्नों की दिशा में उसकी प्रगति न मुड़ी होती तो सृष्टि के अनेक मानसिक क्षमता सम्पन्न प्राणियों की तरह मनुष्य भी केवल अपने शरीर निर्वाह मात्र की समस्याएँ सुलझाने तक सीमित रह गया होता ।

सहकारिता की प्रवृत्ति में आध्यात्मिक आदर्श जुड़े हुए हैं । मिल-जुलकर कमाना, मिल-जुलकर खाना, मिल-जुलकर पारस्परिक समस्याओं को सुलझाना और मिल-जुलकर दु:ख-सुख के भार को बाँट लेना, यह उदार हृदय अपनेपन को व्यापक बना सकने वाले सद्‌भाव सम्पन्न मनुष्यों के लिए ही सम्भव है । आध्यात्मिक आदर्श हमें इसी दिशा में अग्रसर होने के लिए प्रकाश देते और प्रोत्साहित करते हैं । अपनी ही समस्याओ में उलझा, अपनी ही प्रगति और सुख-सुविधा चाहने वाला, आप ही कमाने और आप ही खाने वाला, अपनी ही चिन्ता में डूबा रहने वाला व्यक्ति संस्कृत में 'कृपण' और लौकिक भाषा में 'स्वार्थी' कहा जाता है । स्वार्थी व्यक्ति कितना ही सम्पन्न क्यों न हो, लोगो की दृष्टि में घृणास्पद ही बना रहेगा ।

सम्मिलित शक्ति का महत्त्व हम सभी जानते हैं । कमजोर सींक एकाकी होने पर अति दुर्बल होती है, जरा-से आघात से टूट सकती है । पर उन्हें इकट्ठा करके बनाई गई बुहारी झाड़ने-बुहारने का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध करती है । सूत के कच्चे धागे क्या सामर्थ्य रखते हैं ? पर जब वे इकट्ठे हो जाते हैं, तो इतना मजबूत रस्सा बन जाता है, जो हाथी को बाँध सके । बूँद इकट्ठी होने से समुद्र बना है । अणुओं का पारस्परिक संगठन विशालकाय पर्वत के रूप में दृष्टिगोचर होता है । एक दिशा में साथ-साथ उड़ने वाली टिड्डियाँ गजब के करतब दिखाती हैं । मधुमक्खियों की सहकारिता शहद का भण्डार जमा करने में सफल होती है । अनुशासित और संघबद्ध सैनिक आक्रमणकारी शत्रुओं के दाँत खट्टे करते हैं । किन्तु यदि उपरोक्त तत्त्व एकाकी बिखरे पड़े हों, कोई किसी का सहयोग न करे, तो अपनी ढपली अपना राग बेसुरा बजने लगे । आठ कनौजिया नौ चूल्हे की उक्ति जैसा उपहास हो । डेढ़ चावल की अलग खिचड़ी पकाने का प्रयत्न करते हुए हर किसी को असफलता हाथ लगे ।

थोड़े से डाकू मिलकर एक विशाल क्षेत्र की जनता को आतंकित कर सकते हैं, तब सज्जनों का सच्चा सहयोग यदि इकट्ठा किया जा सके तो अपना चमत्कार क्यों न दिखायेगा ? सज्जन हमेशा मिटते इसलिए रहे हैं कि वे अपनी व्यक्तिगत उत्कृष्टता मात्र से सन्तुष्ट हो जाते हैं और यह भूल जाते है कि सम्मिलित शक्ति का कितना अधिक महत्त्व है । उसके बिना सज्जनता भी अधूरी रहती है । सज्जनता की परिभाषा में सत्प्रवृत्तियों वाले व्यक्तियों का संघबद्ध होना भी आता है । एकाकी जीवन से जो भी सन्तुष्ट हो जायेगा और अपनी विचारणा तथा गतिविधियों को अपने सीमित दायरे तक अवरुद्ध कर लेगा, वह कोई भी क्यों न हो–असफलता और अभाव को कष्ट सहने के लिए विवश होगा ।

मनुष्य की अब तक की वैज्ञानिक, आध्यात्मिक, शैक्षणिक, आर्थिक, पारिवारिक प्रगति का सारा श्रेय पारस्परिक सहयोग को दिया जा सकता है । यदि एक ने अपनी योग्यता का लाभ दूसरे को न दिया होता और सहयोग का क्रम अपनाया न होता तो हम अभी भी आदिम युग की जंगली दशा में विचरण कर रहे होते । यह तथ्य हम जानते तो हैं पर मानते नहीं । समय आ गया है कि हम संघबद्धता की शक्ति को समझें और वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रगति के लिए उसका उपयोग करें । इस प्रजातन्त्र युग में तो यही शक्ति सर्वोपरि है । जन-समूह के गिरोह ने अँग्रेजों को भगा दिया और जन-समर्थन के आधार पर काँग्रेस पार्टी राज्य सिंहासन पर जा विराजी शास्त्रकार ने 'संघे शक्ति कलौयुगे' की सूक्ति में वर्तमान युग की सर्वोपरि शक्ति का संगठन को घोषित करके सामयिक तथ्य का ही उद्‌घाटन किया है ।

सहकारिता की प्रवृत्ति हर क्षेत्र में विकसित होनी चाहिए । कृषि, व्यवसाय, उद्योग, उत्पादन जिस सरलता और सफलता के साथ सामूहिक प्रयत्नों से बढ़ सकते हैं उस स्तर की सम्भावना एकाकी प्रयत्नों से कदापि सम्भव नहीं हो सकती । विदेशों में जहाँ श्रम बहुत महँगा है और

व्यवसाय के लिए बड़ी पूँजी अपेक्षित होती है, वहाँ सहकारिता के आधार पर ही सारे उद्योग-धन्धे चलते हैं। बड़े-बड़े फर्म, उद्योग और मिल शेयरों के आधार पर चलते हैं। छोटे पैमाने पर अब उत्पादन और व्यवसाय का जमाना धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है। प्रतिस्पर्धा के अनेक व्यवधान अब ऐसे पैदा हो गये हैं, जिनके कारण एकाकी प्रयत्न से किया गया छुटपुट उत्पादन महँगा पड़ता है और उसकी निकासी स्वल्प प्रयास से छोटे क्षेत्र से सम्भव नहीं हो पाती फलस्वरूप घाटा उठाना पड़ता है। विकल्प में यदि थोड़ी-थोड़ी पूँजी और थोड़े-थोड़े श्रम का एकीकरण कर लिया जाये तो वह क्षमता इस स्तर की हो जायेगी कि पूँजीपतियों के एकाधिकार को चुनौती दी जा सके। लाभ एक व्यक्ति को न मिलकर समूह को मिले, इस प्रयोजन की पूर्ति केवल सहकारिता ही कर सकती है। भारत को कभी समृद्ध-सम्पन्न बनाना होगा तो उसके मूल में सहकारिता की उदीयमान शक्ति ही काम कर रही होगी।

सार्वजनिक क्षेत्र की अगणित समस्याएँ उलझी पड़ी हैं। इन्हें सुलझाने में ब्रह्मास्त्र केवल सहयोग ही सिद्ध होगा। ग्रामीण जीवन में स्वच्छता की समस्या अति विकट है। गन्दगी ने उस प्राकृतिक वातावरण में बसे जनसंकुलों को दुर्गन्ध, घृणा और रुग्णता का घर बना दिया है। खेल-कूदों और व्यायामशालाओं की अभिरुचि घट जाने से शारीरिक और मानसिक स्तर गिर गया। अशिक्षा ने हमें पशुवत् बना दिया है। अपराधों और उच्छृंखलता की वृद्धि ने सुरक्षा को खतरे में डाल दिया है। पूँजीपतियों का शोषण अपने ढंग से चलता है। कष्टों के लिए की गई फरियाद कोई सुनता नहीं। सामाजिक कुरीतियाँ जर्जर बनाये दे रही हैं और अनैतिक दुष्प्रवृत्तियाँ प्रतिरोध के अभाव में आँधी-तूफान की तरह तीव्र होती चली जा रही हैं। इन सब समस्याओं का हल इस बात पर निर्भर है कि लोकमंगल का उद्देश्य आगे रखकर सज्जन प्रकृति के लोग संगठित होते हैं या नहीं? यदि उनमें सहकारिता और सेवाप्रवृत्ति जाग पड़े और थोड़ा-थोड़ा समय, श्रम तथा धन लोक-कल्याण के लिए नियोजित करने लगें, तो वह स्वयंसेवक सेना चमत्कार उत्पन्न कर सकती है। उपरोक्त स्तर की हर कठिनाई से यह संगठन सहज ही निपट सकता है। शक्ति का प्रदर्शन होने से ही लोग झुक जाते हैं, अक्सर शक्ति का प्रयोग करने की आवश्यकता कम ही पड़ती है। आवश्यकता शक्ति के उद्भव की है और इस युग में बहुत करके संगठन पर ही निर्भर है।

हम एक हजार वर्ष की लम्बी गुलामी से उठे हैं। इस अन्धकार युग ने हमें अगणित बौद्धिक एवं सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों का दास बना दिया है। अतीत का गौरवपूर्ण इतिहास तो है पर उसी अनुपात से हम दुर्दशाग्रस्त हो रहे हैं। यदि किसी को सुधार के लिए दर्द और परिवर्तन के लिए उत्साह उठता हो तो सबसे पहले काम यह हाथ में लेना चाहिए कि सेवाभावी सज्जनों को संगठित कर डालें और उनके सामूहिक सत्प्रयत्नों को हर क्षेत्र में नियोजित करने के लिए प्रेरित करते रहें। युग-निर्माण योजना का यही प्रयत्न है। इन प्रयत्नों का अभीष्ट सहयोग मिल सका तो संगठन और सहकारिता की सम्मिलित शक्ति से हर दिशा में प्रगति और समृद्धि का सत्परिणाम प्रस्तुत किया जा सकता है। उचित यही है कि उदार सहकारिता को अंगीकार करें तथा अपना और समस्त मानव जाति का भला करें।

प्रश्न—

(१) पशु और मानव दोनों की प्रगति में इतना अधिक अन्तर क्यों है? सामाजिक आधार पर समझाइये। (२) सहकारिता की प्रवृत्ति मे आध्यात्मिक आदर्श किस प्रकार जुड़े हुए हैं? (३) स्वार्थी व्यक्ति की परिभाषा कीजिए? (४) किस प्रकार इकाई-इकाई मिलकर एक विशाल समूह का निर्माण करते हैं? उदाहरणों के द्वारा समझाइये। (५) प्रजातन्त्र युग में सहकारिता का महत्त्व कहाँ तक है? (६) कृषि, व्यवसाय, उत्पादन, उद्योग आदि में भी सहकारिता का महत्त्व कहाँ तक है? (७) युग निर्माण योजना इस समय सहकारिता का युग स्थापित करने के लिए क्या प्रयत्न कर रही है? (८) सामाजिक शोषण, अशिक्षा आदि सहकारिता के द्वारा किस प्रकार हल हो सकेंगे?

प्रगति के लिए श्रम-सम्मान एवं गृह-उद्योगों की आवश्यकता

वह समय चला गया जब एक कमाता था और सारा परिवार आनन्द से निर्वाह किया करता था। आसमान को छूने वाली आवश्यकताओं ने हमारा सारा आर्थिक सन्तुलन बिगाड़ कर रख दिया है। अब कोई बिरले ही आसानी से अपना खर्च चला पाते हैं। कइयों की स्थिति तो ऐसी है कि वे बेईमानी की अतिरिक्त कमाई छोड़ दें तो उन्हें पेट पालना कठिन हो जाये। इन परिस्थितियों में हमें अपने आर्थिक स्तर को व्यवस्थित करने के लिए नये सिरे से, नये ढंग से सोचना होगा। कुड़कुड़ाते रहने से नहीं वरन् उन उपायों को शान्त मस्तिष्क से ढूँढ़ना होगा, जिनसे इस अभाव और अशान्ति भरी परिस्थिति का हल निकाला जा सके।

अब न तो महँगाई कम की जा सकती है और न भोजन व्यवस्था, निवास, शिक्षा, चिकित्सा, आतिथ्य आदि के आवश्यक खर्चे घटाये जा सकते हैं। बेईमानी का क्रम व्यापक हो गया तो ठगने वालों को भी ठग बेतरह हैरान करेंगे और जो अतिरिक्त कमाया था वह अतिरिक्त खर्चों में ही चला जायेगा। देश में इतने अधिक साधन नहीं हैं कि वेतन, उत्पादन या व्यवसाय में बहुत लाभ हो सके। चन्द भाग्य के सिकन्दरों की बात दूसरी है, सर्वसाधारण के लिए यही परिस्थिति है। ऐसी दशा में आर्थिक स्थिति सम्भालने का एक ही हल दिखता है कि घर का हर समर्थ और वयस्क व्यक्ति कुछ उपार्जन की बात सोचे और उसका रास्ता निकाले। अब वह समय आ गया है कि जब सब

कमायें तो सबका पेट भर सकेगा । एक की कमाई इतनी नहीं हो सकती कि समस्त आवश्यकताएँ ठीक तरह पूर्ण हो सकें ।

जापान बहुत ही छोटा देश है पर उसकी समृद्धि संसार के सर्वोच्च देशों की तुलना में अधिक है । समुद्र के बीच छोटा-सा टापू जहाँ प्राकृतिक साधन बहुत कम हैं । आये दिन भूकम्प आते रहते हैं, जिससे वहाँ के निवासी उनके झटकों को ध्यान रखते हुए लकड़ी के बने हलके मकानों में गुजारा करते हैं । ऐसी विषम परिस्थितियों का देश समृद्धि की चोटी पर पहुँच गया, इसका एक ही कारण है-घर-घर में गृह उद्योगों का प्रसार । जापान में एक भी घर नहीं, जहाँ कोई व्यक्ति खाली बैठा रहता हो । वयस्क पुरुष कल-कारखानों में काम करने जाते हैं और घर पर रहने वाले अन्य व्यक्ति, चाहे वे स्त्रियाँ हों या बालक और बूढ़े कुछ गृह उद्योग चलाते रहते हैं । वहाँ पर छोटी-छोटी मशीनें लगी हैं, जिनके सहारे घर पर रहने वाले लोग अपनी सामर्थ्य और सुविधानुसार कुछ न कुछ कमाते रहते हैं । यह कमाई मिल-जुलकर इतनी हो जाती है कि कारखानों में काम करने वाले वयस्कों की तुलना में कुछ अधिक ही पड़ती है ।

इससे कई लाभ होते हैं । बेकारी के समय में निरर्थक विचार और अवांछनीय कार्य करने की जो दुष्प्रवृत्ति पनपती है उसके लिए कोई अवसर नहीं रहता । हर व्यक्ति की कुशलता और क्षमता बढ़ती है, आर्थिक स्थिति सुधरती है और उत्पादन की वृद्धि से राष्ट्रीय समृद्धि में योगदान मिलता है । कहना न होगा कि पैसे की सुविधा रहने से स्वास्थ्य, शिक्षा, विनोद, पुण्य-परमार्थ आदि अनेक दिशाओं में प्रगति कर सकना सम्भव होता है । दरिद्र व्यक्ति को तो पग-पग पर मन मारकर बैठना पड़ता है और उसकी प्रगति के सभी द्वार अवरुद्ध बने पड़े रहते हैं ।

अपने देश का दुर्भाग्य ही है कि यहाँ काम करना बुरा और आराम से बैठे रहना अच्छा माना जाता है । जिन्हें काम नहीं करना पड़ता है वे अपने को भाग्यवान मानते हैं । पुरुष अपने घर की स्त्रियों को काम नहीं करते देते, करती हैं तो वे अपनी बेइज्जती समझते हैं, वे बड़े आदमी माने जाते हैं । शिक्षा प्राप्त करते ही हर युवक अपने बाप-दादे के धन्धे कृषि व्यवसाय में परिश्रम लगता देखकर जी चुराने लगता है और क्लर्क बनकर किसी दफ्तर में मेज कुर्सी की आरामतलबी ढूँढ़ता है । गाँवों में श्रम के अभाव से खेती मुरझाई पड़ी है और शहरों में मुदरसी तथा मुहर्रिरी के लिए पोस्ट-ग्रेजुएट की लम्बी कतारें इधर से उधर दुतकार खाती मारी-मारी फिरा करती हैं । श्रम के प्रति अरुचि अपने देश के दुर्भाग्य और दारिद्रय का प्रधान कारण है । सम्पन्न देश के नागरिकों ने बड़ी मशक्कत करके दौलत कमाई है । एक हम है, जो लाटरी, सट्टा, ब्याज तथा चोर-चाण्डाली की रीति-नीति अपनाकर मालदारी के सपने देखते रहते हैं । समय आ गया है कि हम अपनी गतिविधियों को बदलें और यह सोचना आरम्भ करें कि श्रमशीलता मनुष्य का गौरव है ।

'आराम हराम है'– की उक्ति हमें आज की आर्थिक दुर्दशा से उबारने में पतवार का काम कर सकती है । दरिद्रता और अभावग्रस्तता को दूर करने के लिए कठोर उत्पादक श्रम में अधिकाधिक तत्परता प्रकट करना ही एकमात्र उपाय है, जिससे सभ्यता सम्पन्नता के साथ-साथ सद्गुणों की अभिवृद्धि भी सम्भव है । जो मेहनत से कमाता है वही उसका सदुपयोग भी करता है । हराम की कमाई तो ऐसे ही व्यसन-व्यभिचार में तथा रोग-शोक की परिस्थिति उत्पन्न करने में खर्च होती है । शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की स्थिरता भी उत्पादक श्रम पर निर्भर है ।

शिक्षित नारी अपनी शिक्षा का लाभ समाज को देने के साथ समय बचाकर उपार्जन भी कर सकती है । अध्यात्म जैसी नौकरी कर लेने में तनिक भी हर्ज नहीं । शिशु-शिक्षण महिला शिक्षण की स्वतन्त्र पाठशालाएँ भी वे आसानी से चला सकती हैं । भोजन, गृह-व्यवस्था से बहुत सारा समय उपार्जन के कामों के लिए बचाया जा सकता है । घर की दूसरी महिलाएँ कुछ समय उनके बच्चे संभाल लिया करें तो बच्चों वाली शिक्षित महिलाएँ अपने बचे समय में भी कई तरह से काम कर सकती हैं । सिलाई या टाइप-राइटिंग यदि आता हो तो घर पर भी उन्हें किया जा सकता है ।

गृह उद्योग शिक्षित और अशिक्षित सभी के लिए उपयोगी हो सकते हैं । कढ़ाई, बुनाई, जरी का काम, कण्ठी-माला बनाना, रेडीमेड कपड़े सीना जैसे काम घरेलू उद्योगों की तरह कितनी ही जगह होते हैं और उनसे महिलाएँ कुछ न कुछ उपार्जन करती रह सकती हैं । गाँधीजी ने भारत की स्थिति के अनुसार चर्खा कातने का गृह-उद्योग प्रस्तुत किया था, यदि उसे अपना लिया होता तो देहाती क्षेत्रों में उपार्जन और बचत का वह सुन्दर समन्वय बड़ा उपयोगी सिद्ध होता ।

शिक्षा की वृद्धि के साथ-साथ पढ़े-लिखे लोगों की बेकारी का प्रश्न भी टेढ़ा होता चला जाता है । अब हर शिक्षित को नौकरी मिलना मुश्किल है । पैतृक व्यवसाय में सब बच्चों की खपत और गुजर कर सकना भी कठिन है । ऐसी दशा में गृह उद्योगों पर ही ध्यान केन्द्रित होता है । जापान की तरह अपना गरीब देश भी घरेलू कला-कौशल को अपनाकर आजीविका के नये स्रोत उत्पन्न कर सकता है । इस संदर्भ में विचारशील लोगों को अधिक ध्यान देना चाहिए और छोटी पूँजी तथा स्वल्प प्रयत्नों से चल सकने वाले कुटीर उद्योगों को संगठित करना चाहिए और उत्पादन को उचित मूल्य पर बेचने के लिए तन्त्र खड़े करने चाहिए ।

मथुरा में युग-निर्माण विद्यालय ऐसी एक अच्छी शुरुआत है । यहाँ रेडियो-ट्रांजिस्टर बनाना तथा सुधारना, बिजली फिटिंग तथा बिजली से चलने वाले पंखे-हीटर, लाउडस्पीकर आदि की मरम्मत, साबुन, फिनायल, स्याही, सुगन्धित तेल आदि का निर्माण, प्रेस का सम्पूर्ण शिक्षण, रबड़ की मुहरें, जिल्दसाजी जैसे अनेक उद्योग

सिखाये जाते हैं । एक वर्ष में इनमें से कितने उद्योग बिना किसी फीस के सीखे जा सकते हैं ।

विद्यालय में जीवन जीने की कला तथा नव-निर्माण के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्य कर सकने की क्षमता भी छात्रों में विकसित की जाती है । जिस प्रकार उपरोक्त विद्यालय मथुरा में खोला गया है उसी तरह अनेक विद्यालय गाँव-गाँव में खुल जायें, सामान तैयार कराने और बेचने के लिए समितियाँ गठित हो या कोई व्यक्ति विशेष इस कार्य को अपने कन्धों पर उठावें तो बेकारी की समस्या का समाधान हो, आर्थिक प्रगति के सूत्र मिलें और मुरझाये चेहरों को ताजगी का एक नया आधार मिले ।

जहाँ अपने देश में गृह-उद्योगों शिक्षण, संगठन और विक्रय केन्द्रों के संचालन की आवश्यकता है, वहाँ यह भी बहुत जरूरी है कि सर्वसाधारण के मन मे श्रम के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की जाये । दरिद्रता दूर करने के लिए प्रयत्न करने, मनुष्यों के जीवन स्तर उठाने एवं सद्गुणों के अभिवर्द्धन की दृष्टि से यह एक उपयोगी एवं आवश्यक कार्य है । यदि सर्वसाधारण की मनोभूमि में श्रम की उपयोगिता समा सके तो क्या गरीब, क्या अमीर सभी हरामखोरी से बचने का रास्ता ढूँढ़ लें । सरकार लघु उद्योगों को संरक्षण दे, जनता श्रम में रुचि ले और उत्पादन को खपाने के लिए तन्त्र खड़े हों तो हमारी आर्थिक दशा सुधरे तथा हमारी प्रगति की दिशा में एक नया द्वार खुल जाये ।

प्रश्न–

(१) आर्थिक कठिनाई हम क्यो उठा रहे हैं ? (२) आर्थिक कठिनाई की समस्या को हल करने के लिए क्या करना होगा ? (३) जापान के आधार पर समझायें कि उन्नति किस प्रकार की जा सकती है ? (४) जापान की तरह नीति अपनाने पर हमें क्या लाभ हो सकते हैं ? (५) हमारे देश मे बेकारी की समस्या फैलने के क्या कारण हैं ? (६) "आराम हराम है," यह उक्ति हमें किस प्रकार आर्थिक दुर्दशा से उबरने के लिए पतवार का काम कर सकती है ? (७) शिक्षित नारी भी किस विधि से आर्थिक स्थिति सुधारने में मदद दे सकती है ? (८) शिक्षित युवकों की बेकारी की समस्या किस प्रकार हल की जा सकती है ? (९) 'युग निर्माण विद्यालय' यह आप किस आधार पर कह सकते हैं कि यह विद्यालय व्यक्ति को रोजगार, आर्थिक उन्नति प्राप्त करने में सहयोगी है ? (१०) सरकार, जनता तथा पूँजीपति इसमें कहाँ तक सहयोग दे सकते हैं ?

अन्न संकट की चुनौती का सामना कैसे करें ?

जनसंख्या की वृद्धि और तम्बाकू जैसी हानिकारक फसलों से बहुत जमीन घिर जाने के कारण अब अपना अन्न-बाहुल्य कृषि-प्रधान देश दूसरों से उधार, कर्ज या खरीदकर पेट पालने वाले पिछड़े देशों की पंक्ति में आ खड़ा हुआ है । कारण जो भी हो पर यह ऐसा राष्ट्रीय दुर्भाग्य है जिसके खतरे की गम्भीरता हम सबको समझनी चाहिए और जितनी जल्दी हो सके इस पिछड़ेपन के कलंक से अपने मुख की कालिमा धोनी चाहिए । अन्न के लिए परावलम्बी देश सदा अपने अन्नदाता के पिछलग्गू बनकर रहने के लिए विवश किये जाते हैं । जो सहायता करेगा वह कुछ तो अपने स्वार्थ की सिद्धि चाहेगा ही । समय आने पर उसकी प्रत्यक्ष या परोक्ष दासता भी स्वीकार करनी पड़ सकती है । 'विभुक्षित किं न करोति पापम्' की उक्ति के अनुसार भूखे को जो भी काम करना पड़े कम है'।

खाद्य पदार्थों के उत्पादन की वृद्धि के लिये देश में एक युद्धस्तरीय उमंग व स्वस्थ प्रतिस्पर्धा उत्पन्न होने की जरूरत है । हर किसान अपने अथक परिश्रम और क्रिया-कौशल द्वारा अपने पड़ौसी से बाजी लगाये कि वह अधिक उत्पादन करके अपनी देशभक्ति का अधिक बड़ा प्रमाण प्रस्तुत कर सकता है । अपनी जमीनों से दूसरे देशों की तुलना में प्रायः आधी फसल उगती है । अधिक उत्पादन के तरीके आसानी से ढूँढ़े और सीखे जा सकते है । उमंग हो तो कुछ हो सकता है, सोचती तो सरकार भी बहुत कुछ है और योजनाएँ भी कई बनाती है, पर कर्मचारियों का जो ढर्रा है, उससे सब गुड-गोबर हो जाता है फिर भी कुछ लाभ तो उससे भी लिया जा सकता है ।

शाक-भाजियाँ कम भूमि में अधिक पैदा होती है । यदि हमारे खाने की आदत में शाक-भाजियों को कुछ अधिक स्थान मिल सके तो अन्न की कमी उससे पूरी होने लगे, उत्पादन का लाभ अधिक मिले और शाकों का जीवन तत्व स्वास्थ्य को भी सँभाले ।

इस समस्या का दूसरा पहलू है अन्न के अपव्यय को रोकना । अपने देश में बड़ी दावतों का, उनमें अनेक प्रकार के व्यंजन परोसने का, आवश्यकता से अधिक खाने का बहुत रिवाज है । छोटे-छोटे हर्षोत्सवों में बड़े-बड़े प्रीतिभोज खडे कर दिये जाते हैं । बच्चो के जन्म, मुण्डन, जनेऊ, विवाह में दावतों की धूम रहती है । इतना ही नहीं किसी के मर जाने पर भी लोग दावतें खाने और खिलाने से नहीं हिचकते । आये दिन दावतों की धूम रहती है । विदेशों में जलपान, चाय-पार्टी जैसे स्वल्पाहारों का सीमित मित्र-मंडली तक प्रचलन होता है, पर गाँव भर के, बिरादरी भर के लोगों को अन्धाधुन्ध संख्या में स्त्री-बच्चो सहित दावतें देने की धूम कहीं नहीं रहती है । यहाँ तो दावतों ने धर्मपुण्य का भी स्थान ग्रहण कर लिया है । पुण्य किसको, किस प्रयोजन के लिए, क्या देने से होता है, इस सोच-विचार में पड़ने की अपेक्षा लोग लम्बी-चौड़ी दावतें कर देते हैं और अपने आपको धर्मात्मा-पुण्यात्मा मानकर, स्वर्ग में उसका लाखों गुना प्रतिफल पाने का इन्तजार करने लगते हैं । अन्नदान अभावग्रस्तों की आपत्ति निवारण के लिए उपयोगी भी हो सकता है और उसे दान-पुण्य की गिनती में भी गिना जा सकता है पर भरे पेट वाले, खाते-

पीते लोगों को दावत खिलाने में धर्म-पुण्य की संगति कैसे बिठाई जाये, यह समझ में नहीं आता ।

जो हो बड़ी दावतों में अन्न की बुरी तरह बर्बादी होती है । ड्यौढ़ा-दूना खाकर पेट भी खराब करते हैं और अनाज भी । इसके साथ-साथ एक बुरी प्रथा यह जुड़ी हुई है कि दावतों की शान पत्तलों पर छोड़ी हुई जूठन से की जाती है । खाने वालों की अमीरी और खिलाने वाले की दिलेरी इससे आँकी जाती है कि जूठन कितनी छोड़ी गई । यह अन्न देवता के अपमान का बहुत ही बुरा पहलू है । एक ओर तो हम अन्न को देवता कहें और दूसरी ओर उसे इस प्रकार तिरस्कृत स्थिति में फेंक दें, यह कितनी बुरी बात है ?

जूठन भंगी के आगे फेंक दी जाती है, वह उसे समेट ले जाता है । अपने सूअर और जानवरों के आगे डाल देता है । लोभवश कुछ खुद भी खा लेता है । यह और भी अधिक दुःखदायी दृश्य है । भंगी को मानवीय स्वाभिमान का लाभ लेने देना चाहिए । उसमें भी आत्म गौरव की इतनी अनुभूति रहने देनी चाहिए कि किसी का फेंका हुआ-जूठा अन्न खाकर अपने स्वाभिमान और स्वास्थ्य को न गिराये । मिठाई ही क्यों न हो जूठन खाना प्रत्यक्ष ही हीनता का चिन्ह है । इससे एक की बीमारियाँ दूसरे को लग सकती हैं । जूठन देना भंगी के साथ उदारता बरतना नहीं है । यदि उसके साथ सहानुभूति है तो अच्छा स्वच्छ, ताजा-भोजन सम्मानपूर्वक दिया जाना चाहिए । किसी के स्वाभिमान को चोट पहुँचाकर उसे बीमारियों के चंगुल में फँस जाने की विभीषिका के साथ, यह जूठन का उपहार दिया गया है, तो समझना चाहिए कि यह धन देने वाले और लेने वाले के पक्ष में प्रतिकूल पड़ने से अधर्म ही कहलायेगा । अन्न की बर्बादी का यह बहुत ही बुरा तरीका है, जिसका कुरुचि विरोधी आन्दोलन के स्तर पर सामूहिक निश्चय के साथ निषेध किया जाना चाहिए ।

वर्तमान अन्न की तंगी के दिनों में जबकि हम अपनी बहुमूल्य विदेशी मुद्रा तथा राष्ट्रीय स्वाभिमान बेचकर अमरीका आदि से अनाज मँगाते है, तब बड़ी दावतों द्वारा होने वाली अनाज की बर्बादी पर हमें अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्य का ध्यान रखते हुए स्वयं प्रतिबन्ध लगाना चाहिए । जूठन छोड़ने की प्रथा तो एकदम बन्द कर देनी चाहिए । खाने वाले यह ध्यान रखें कि जिसके यहाँ भोजन करने आये हैं, उसके शत्रु नहीं मित्र हैं जितना खाना हो उतना खा ले पर बर्बादी का भार तो उस पर न डालें । यह सज्जनता और भलमनसाहत का तकाजा है, जिसका स्मरण हर दावत खाने वाले को बराबर रखना चाहिए । इसी प्रकार भोजन परोसते समय ध्यान रखा जाये कि आग्रह भले ही कितना भी किया जाये, पर परोसा उतना ही जाये जिसके लिए खाने वाले ने स्पष्ट स्वीकृति दी हो । बिना मागे या बिना पूछे पत्तल पर यों ही पटकते रहना, प्रेम, आदर या अनुग्रह का चिन्ह नहीं वरन् विशुद्ध रूप से गँवारपन है, जिसके कारण खाने वाले को असमंजस में पड़ना पड़ता है और अन्न जैसे आज के बहुमूल्य पदार्थ की बर्बादी होती है ।

अपने देश में उपवासों को धार्मिक दृष्टि का महत्त्व दिया गया है । कर्मचारियों की तरह सप्ताह में एक दिन छुट्टी मिल जाने से पेट को भी नई शक्ति सम्पादित करके अधिक उत्साह से काम करने का अवसर मिलता है और उदर रोगों से बचे रहने के साथ-साथ स्वास्थ्य-संवर्द्धन का भी संयोग प्राप्त होता है । सप्ताह में एक दिन अथवा कम से कम एक जून तो हर कोई बड़ी आसानी से उपवास रख सकता है । निराहार रहना कठिन लगे तो अन्न, रहित-शाक, फल, दूध आदि लेकर भी ऐसा उपवास हो सकता है । हम सब यदि धार्मिक अथवा राष्ट्रीय दृष्टि से ऐसे उपवासों का नियम बना लें तो देश को इन दिनों जितनी कमी अन्न की पड़ती है, उसकी पूर्ति बहुत ही आसानी से हो सकती है । जिनमें देश भक्ति अथवा समाजनिष्ठा के तत्व मौजूद हैं उनको थोड़ी असुविधा या कष्ट सह लेना भी कठिन न होना चाहिये जिसके साथ आर्थिक बचत और स्वास्थ्य-रक्षा के लाभ जुड़े हुए हैं ।

चूहों से, कीड़ों से अन्न बचाने की सावधानी यदि हर गृहस्थ में, अन्न भण्डारों में बरती जाने लगे तो भी बहुत काम चल सकता है । अधिक बच्चों की उत्पत्ति से बढ़ने वाले अन्न संकट की ओर भी हमारा ध्यान रहे तो हम उस विभीषिका का बहुत हद तक सामना कर सकते हैं, जो हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान और भविष्य को अन्धकारमय बनाने पर तुली हैं ।

प्रश्न—

(१) हमारा देश कृषि प्रधान होते हुए भी कभी-कभी विदेशों से अन्न क्यों मँगाता है ? (२) खाद्य पदार्थों के उत्पादन की वृद्धि के लिए क्या किया जाना चाहिए ? (३) शाक-भाजियों के उत्पादन से क्या लाभ होगा ?(४) अन्न के अपव्यय को रोकने के लिए क्या किया जाना चाहिए ? (५) बड़ी दावतों से क्या हानि है ? (६) जूठन खाने से स्वाभिमान व स्वास्थ्य दोनों गिरते हैं ? सिद्ध कीजिए । (७) भोजन परोसने में क्या सावधानी रखनी चाहिए ? (८) सप्ताह में एक उपवास क्यों आवश्यक है ? उपवास के लाभ बताइए । (९) चूहों व कीड़ों से अन्न की बर्बादी बचाने के लिए क्या किया जाये ? (१०) अन्न संकट को उत्पादन वृद्धि से ही नहीं संरक्षण एवं उपयोग के विवेकपूर्ण तरीकों से भी टाला जा सकता है-सिद्ध करें ।

शाक हमारी खाद्य समस्या का हल करेंगे

अपने देश में इन दिनों अन्न की कमी है । जनसंख्या बहुत बढ़ जाने और उपयोगी जमीन कम होने से आज अनाज उतना पैदा नहीं होता जितनी की आवश्यकता है ।

सरकार क्या करने जा रही है और नेता क्या सोचते हैं—इसकी परीक्षा किए बिना हमें अपनी स्वल्प

सामर्थ्य पर छोटे विचार के अनुसार कुछ काम आरम्भ कर देना चाहिए। इस दिशा में हम दो कार्य कर सकते हैं–(१) शाक-सब्जियों को भोजन में अधिक स्थान देना। (२) शाक-भाजी उगाना। इन दोनों कार्यों से भोजन की समस्या उपयुक्त ढंग से हल होती है और अन्न भी बचता है। यह बचत हमें अन्न की दृष्टि से स्वावलम्बी बना सकती है।

शाक-भाजी हर दृष्टि से हमारा उपयुक्त भोजन है। उनमें अन्न से भी अधिक जीवन-तत्व, क्षार, विटामिन लवण आदि भरे पड़े हैं। वे सुपाच्य होते हैं और अन्न न पचने पर जिन विकृतियों और बीमारियों की सम्भावना रहती है, शाकों से उसका बचाव सहज ही हो सकता है। सूखे अन्नों से हरे शाकों में फलों की अपेक्षा कुछ ही कम गुण होते हैं। वस्तुतः वे भी एक प्रकार के फल ही हैं–सस्तेपन के कारण उन्हें घटिया माना जाता है पर कई बार तो वे कीमती फलों से भी अधिक उपयोगी होते हैं। गाजर और टमाटर में बहुमूल्य विटामिनों की भारी मात्रा विद्यमान है। अन्य शाकों की अपनी-अपनी उपयोगिता व विशेषताएँ हैं। आलू अन्न के समान ही एक परिपुष्ट एवं समग्र भोजन है। खरबूजा, तरबूज, खीरा, ककड़ी जैसे शाक की तरह उगने वाले फल सस्तेपन के साथ-साथ लाभ में भी कीमती फलों का मुकाबला करते हैं। आहार में इनका अधिक समावेश करना स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक लाभदायक सिद्ध होगा।

किसान जिनके पास जमीन हैं कुछ बीघे जमीन शाक उगाने के लिए सुरक्षित रखें। आलू, रतालू, अरबी, प्याज, शकरकन्द, गाजर, चुकन्दर, अदरक आदि कितने ही ऐसे कन्द हैं–जिनकी माँग भी रहती है और पैसे भी बहुत दे जाते हैं। लौकी, तौरई, बैंगन, भिन्डी, परवल, टमाटर, कद्दू, पेठा, गोभी, बन्दगोभी जैसे शाक उगाना अति सरल है। पालक, चौलाई, मैथी, पोदीना, धनियाँ, सरसों, बथुआ, नोनिया जैसे पत्ती वाले शाक कहीं भी उगा सकते हैं। खरबूजे, तरबूज, ककड़ी, खीरा आदि की फसलें उगाने वालों को मालामाल कर देती हैं। किसान समय-समय पर उन्हें बोने लगें तो बाजार में भी उनकी बहुत खपत हो सकती है और घर में उपयोग बढ़ाकर आर्थिक लाभ स्वास्थ्य रक्षा और अन्न-बचत में योगदान बन सकता है। किसान का ध्यान इस ओर मुड़ जाये और वे थोड़ी जमीन इसके उत्पादन के लिए निश्चित सुरक्षित रखने लगें तो शाक के लिए आज जो तरसना पड़ता है और अनाज में भी अधिक दाम देने पड़ते हैं वह परिस्थिति न रहे। सजीव-भोजन से हमारे शरीर नीरोग एवं स्फूर्तिवान हों और आर्थिक लाभ भी प्रत्यक्ष सामने आये।

इस दिशा में किसान भी काम कर सकते हैं और एक उत्साहवर्द्धक आन्दोलन खड़ा हो सकता है। बहुत घने शहरों में जहाँ काल-कोठरियों में चींटियों की तरह लोगों को किराये के घरों में रहना पड़ता है वहाँ की बात छोड़कर–अन्यत्र गाँव, कस्बों में लोगों के घर ऐसे होते हैं जिनमें आँगन, छतें, बरामदे तथा आस-पास की खुली जगह हो। गाँवों में तो अक्सर ऐसी गुंजायश जरूर रहती है। इस खाली जगह में थोड़ा खोदकर, खाद देकर शाक-भाजी उगाये जा सकते हैं। गमलों में, फूटे हुए घड़ों के आधे पेंदे में लकड़ियों की रद्दी पेटियों में मिट्टी भरकर आँगन या छत पर रखा जा सकता है और उसमें कुछ न कुछ उगाया जा सकता है। अदरक, धनियाँ, पोदीना, हरी मिर्च जैसी चीजें तो हर कहीं उग सकती हैं। यह चटनी का काम देंगी। भिण्डी, तोरई, लौकी, टमाटर, मैथी, पालक जैसी चीजों का उगना वर्षा के दिनों में तो अति सुगम है। थोड़ी मेहनत में तो घर के आस-पास इतना उत्पादन हो सकता है कि शाक-भाजी की आवश्यकता को एक हद तक पूरा किया जा सके। यह शौक बहुत ही लाभदायक है। व्यायाम एवं परिश्रम भी होता है, समय का सदुपयोग रहता है, उत्पादन एवं निर्माण की प्रवृत्ति बढ़ती है। हरीतिमा की शोभा रहती है। पौधों से आक्सीजन-प्राण वायु मिलती है और ताजे शाक-भाजी खाने तथा पैसे बचने की सुविधा रहती है। यह शौक यदि अपने जातीय स्वभाव में सम्मिलित हो सके–एक की देखा-देखी दूसरा अनुकरण करने लगे–तो उसके बहुत ही अच्छे परिणाम आ सकते हैं।

सौन्दर्य, शोभा, सुगन्ध, वायु शुद्धि और चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न होने की दृष्टि से फूलों का भी अपना महत्त्व है। शाकों की तरह जहाँ-तहाँ फूल भी उगा सकते हैं। भगवान की पूजा, मित्रों को उपहार, मेज पर गुलदस्ते, महिलाओं, बच्चियों के लिए बालों का शृंगार, गजरे गहनों की पूर्ति, बच्चों के कोट पर लगाने के गुलाब आदि अनेक उपयोग फूलों के हैं। इनसे घर-आँगन की शोभा-सुसज्जा कई गुना बढ़ जाती है। फूलों की कृषि, व्यावसायिक आधार पर भी की जा सकती है। बड़े नगरों और कस्बों के आस-पास तो उनकी दैनिक बिक्री ही बहुत होती है। छोटे देहातों में गुलाब की कृषि हो सकती है। इसमें सब फसलों से अधिक अर्थ लाभ है। दवाओं के लिए, ठण्डाई के लिए सूखे गुलाब पुष्पों की भारी माँग रहती है। इत्र और गुलाब जल बनाने का उद्योग भी थोड़े से प्रशिक्षण से आरम्भ हो सकता है। अलीगढ़ जिले के बरमाना गाँव में अधिकांश किसान गुलाब की कृषि बड़े पैमाने पर करते हैं और साधारण किसानों से कई गुना अधिक लाभ कमाते हैं। पुष्पवाटिका हमारे शौक का विषय बन जाये तो भी एक अच्छी प्रवृत्ति पनपे।

शाक-भाजी का उद्योग अनेक बेकारों को जीविका दे सकता है। उनसे हाट-बाजार में एक मण्डी आरम्भ हो सकती है। शहरों के लिए उन्हें ढोने वाले वाहनों को काम

मिल सकता है । फेरी वाले धन्धा पा सकते हैं । बीज और पौध बेचने का भी धन्धा हो सकता है । इस सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी देने वाली छोटी-बड़ी पुस्तकें छपने और बिकने का काम बढ़ सकता है । इस प्रकार इस उद्योग में कितने ही व्यक्ति खपाये जा सकते हैं ।

एक बीघा जमीन में यदि अन्न बीस मन उत्पन्न होता हो तो आलू सहज ही उसमें १० गुना अर्थात् २०० मन मिलेगा । गेहूँ की फसल प्रायः एक वर्ष ले जाती है, इतने समय में शाक-भाजी की तीन फसलें आसानी से ली जा सकती हैं । किसी के पास थोड़ी जमीन हो तो भी अपने परिवार का निर्वाह उतने में ही कर सकता है । विस्तार कम होने से रखवाली, सिंचाई, गुड़ाई, निराई आदि आसानी से हो सकती है । उसे घर के थोड़े-से व्यक्ति भी बिना मजदूरों की खुशामद किये अपने आप सँभाल सकते हैं । नाश्ता हर समय तैयार है । कोई मेहमान आ जाये तो कुछ न कुछ उपहार देने की परिस्थिति हरियाली से आँखों की ज्योति ठीक रहना, रोज भोजन के समय शाक-भाजी की सरसता, गाय-भैंस दूध के पशु रखने के लायक घास तथा पत्तियों का मुफ्त चारा आदि कितने ही लाभ हैं जो शाक उत्पादन में हमें सहज ही मिल सकते हैं । घर-घर में तुलसी के पौधे लगाना भी एक आन्दोलन हो सकता है । तुलसी के बीज तथा पौधे रोपकर हर घर में आरोग्यवर्द्धक और धार्मिक वातावरण बनाया जा सकता है । यह लाभ सबकी समझ में आने योग्य है पर कठिनाई इतनी है कि इस ओर लोकरुचि में उपेक्षा तथा अन्यमनस्कता घुस गई है, इसे निकाला जाना चाहिए । लोगों को समझाया जाना चाहिए । हरीत क्रान्ति के लिए, हरियाली उगाने के लिए एक जोश एवं उत्साह भरा आन्दोलन उत्पन्न करें । समझदार लोग इस संदर्भ में लोक-शिक्षण के लिए टोलियाँ बनाकर निकलें । घर-घर जाकर हरीतिमा का संदेश सुनायें । वर्षा के दिनों में तो इसे हर जगह तुरन्त कार्यान्वित कराया जा सकता है । बीज और पौध थोड़ी-थोड़ी उपहार में देकर-लगाने बोने में थोड़ी सक्रिय सहायता देकर, इस संदर्भ में आवश्यक उत्साह कहीं भी उत्पन्न किया जा सकता है ।

प्रश्न-

(१) आज राष्ट्र की प्रमुख समस्या एवं चिंता की बात क्या है ? (२) खाद्य समस्या को हल करने में प्रत्येक परिवार क्या योगदान दे सकता है ? (३) शाकों का उपयोग अन्न से अधिक गुणकारी क्यों है ? (४) सरलता से उगने वाले कंद, मूल, फलों के नाम बताओ ? (५) किसानों को शाक-सब्जी क्यों उगाना चाहिए ? (६) खाली जगहों का उपयोग शाक उगाने में कैसे किया जा सकता है ? (७) हर जगह कौन-कौन से शाक उगाये जा सकते हैं ? (८) फूलोत्पादन से क्या लाभ हैं ? (९) पौध एवं नर्सरी लगाने से क्या लाभ हैं ? (१०) हरित-क्रान्ति से क्या समझते हो ? (११) कम खर्च में थोड़ी भूमि में कौन-कौन उपाय पनप सकता है ?

वृक्षारोपण और संवर्धन- एक अति आवश्यक कार्य

मनुष्य के जीवन धारण और उत्कर्ष में जिन अन्य जीवधारियों का प्रमुख सहयोग है, उनमें पशु और वृक्ष की गणना प्रमुख है । गौमाता के गुण गाते-गाते हम नहीं अघाते, क्योंकि उसके द्वारा प्राप्त होने वाले दूध, गोबर, बैल, चर्म आदि सभी उपकरणों द्वारा पौष्टिक आहार तथा दूसरी सुविधाओं की प्राप्ति होती है । ठीक ऐसा ही अनुदान वृक्षों से प्राप्त होता है । उसके द्वारा प्राप्त होने वाले लाभों की कोई गणना नहीं । वे बोलते भर नहीं, जीव तो उनमें भी हैं और वह जीव भी ऐसा है जो संतों जैसी गरिमा रोम-रोम में भरा बैठा है । वृक्ष यदि संसार में न होते तो संभवतः हमारे लिए जीवित रहना ही संभव न हुआ होता । घासपात और वनस्पतियों की महिमा तो लोग पशुओं के आहार, औषधि अन्न तथा रस्सी, फूँस आदि के रूप में जानते हैं पर वृक्षों की उपयोगिता की कम ही जानकारी लोगों के ध्यान में आई है ।

आमतौर से इतना ही जाना जाता है कि वृक्षों की छाया या फल-फूल काम में आते हैं । हमें यह भी जानना चाहिए कि मनुष्य की साँस से निकलने वाली विषैली कार्बन गैस को सोख कर निरन्तर वायु को शुद्ध करते रहने का श्रेय वृक्षों को ही है, वे दिन भर यही काम करते हैं । रात को वे थोड़ी कार्बन गैस निकालते तो हैं, पर वह मनुष्य शरीर से निकलने वाली विष-वायु जैसी हानिकारक नहीं होती । दिन भर वृक्ष आक्सीजन नामक प्राण वायु उगलते हैं । मनुष्य के लिए यही जीवनाधार है । ऑक्सीजन की कमी पड़ जाने से मनुष्य का जीवन संकट में पड़ जाता है और वह अन्न, जल से भी अधिक उपयोगी है । ऐसा बहुमूल्य आहार जिसकी पल-पल पर जरूरत पड़ती है और जो रक्त में लालिमा से लेकर जीवन धारक अनेक साधन जुटाता है, वृक्ष ही देते रहते हैं । वृक्ष न हों तो ऑक्सीजन की सारे संसार में कमी पड़ जाये और शरीर से तथा आग जलने से निकलने वाली विष वायु सारे आकाश को दूषित कर ऐसी घुटन पैदा कर दे कि प्राणियों का जीवन धारण ही संभव न रहे । हर दृष्टि से उन्हें जीवन दाता कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी ।

वृक्षों में एक ऐसा विशिष्ट आकर्षण है जो बादलों को खींचकर लाता है और वर्षा की परिस्थितियाँ पैदा करता है । जहाँ वृक्ष अधिक होते हैं वहाँ वर्षा भी अधिक होती है । वृक्ष रहित प्रदेश में स्वयंमेव वर्षा की कमी हो जाती है । वृक्षों की अभिवृद्धि अपने सुख-साधनों को बढ़ाना है । उनमें कमी आना अपनी ही आवश्यकताओं की पूर्ति पर कुठाराघात होना है । प्राण-वायु कम मिले वर्षा कम हो और वनस्पतियाँ कम उगें तो हम कितने घाटे में रहेंगे, इसका लेखा-जोखा रख सकना कठिन है ।

आँखों पर हरीतिमा का बड़ा शान्तिदायक प्रभाव पड़ता है । उससे सहज ही जी प्रसन्न हो उठता है । घास तो वर्षा के दिनों में ही शोभा देती है, पर वृक्ष तो साल भर अपनी शीतलता प्रदान करते रहते हैं । उनकी छाया में कितने मनुष्य और पशु-पक्षी विश्राम पाते हैं, यह देखते हुए उन्हें एक खुली धर्मशाला कहा जा सकता है । फूलों की शोभा देखते ही बनती है । उनकी सुगन्ध मस्तिष्क में प्रफुल्लता और शक्ति का संचार करती है । फलों में ही वे जीवन तत्व हैं । जो मनुष्य को नीरोग और दीर्घजीवी बना सकते हैं । अन्न-आहार तो मजबूरी और अभाव की परिस्थिति में स्वीकार करना पड़ा है, अन्यथा मनुष्य की शरीर रचना बन्दर जैसे फलाहारी-वर्ग में ही आती है । उसका प्राकृतिक और स्वाभाविक भोजन फल है । देह में जो-जो जीवन तत्व पाये जाते हैं और जिनकी निरन्तर आवश्यकता रहती है वे अधिकतर फलों में ही भरे रहते हैं । इसलिए पूर्ण समर्थ, पौष्टिक, सात्विक और स्वास्थ्य रक्षक आहार में फलों की ही गणना की जाती है । उनमें शरीर ही नहीं मस्तिष्क और स्वाभाव को भी उच्चस्तरीय पोषण प्रदान करने की क्षमता है । इसलिए धार्मिक दृष्टि से फलों को बहुत प्रधानता दी गई है । देवता पर चढ़ाने में फल और उपवास में फल सर्वत्र उन्हीं की गरिमा फैली पड़ी है । चिकित्सक भी रोगियों को फलों का आहार बतलाते हैं । क्योंकि वे शीघ्र पचने वाले, पेट पर बोझ न डालने वाले और जीवन तत्वों से भरपूर रहते हैं, रोगों से लड़ने की क्षमता पैदा करते हैं । ऋषि मुनियों का प्रधान आहार फल है । वन्य प्रदेशों में वे फल वाले वृक्षों का रोपण करके आहार समस्या से निश्चिन्त हो जाते थे । इसमें जहाँ सुगमता थी वहाँ दीर्घ, सुदृढ़ स्वास्थ्य बुद्धि में सात्विकता तथा मनोबल बढ़ने जैसे अगणित लाभ थे । ऐसे आहार से साधना, उपासना में प्रखरता आती थी और उसी क्षेत्र में रहकर विद्याध्ययन करने वाले छात्र मनस्वी, तेजस्वी और सुदृढ़ शूरवीर बनकर वापिस लौटते थे ।

वृक्षों की इस उपयोगिता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होना ही चाहिए और उत्साहपूर्वक वृक्षो का आरोपण, संवर्धन, संरक्षण करना चाहिए । कीमती फलों वाले वृक्ष आमदनी भी मामूली खेती से कहीं अधिक दे सकते हैं । संतरा, मौसमी, नीबू, चीकू, सेब, नाशपाती, अमरूद, लीची, लुकाट, आड़ू, अनन्नास, शहतूत, अंजीर जैसे फल आसानी से उगाये जा सकते हैं । तीन-चार वर्ष में उनकी रखवाली, सिंचाई आदि का प्रबन्ध कर लिया जाये तो आगे फिर उनके लिए कुछ अधिक नहीं करना पड़ता है । आम, जामुन, खिरनी, महुआ, कटहल, आँवला, गूलर, पीपल जैसे वृक्ष एक बार लगे तो सदा के लिए निश्चिन्तता हो गई । अंगूर, केले, पपीते जैसे सामान्य फलों को तो खेल-खेल में ही थोडी-सी जगह में उगाया जा सकता है और हरियाली की शोभा के साथ-साथ बहुमूल्य आहार भी प्राप्त किया जा सकता है ।

दुर्भाग्य से अपने देश में वृक्षारोपण के लाभों की तरफ ध्यान नहीं दिया जा रहा है जबकि सुविकसित देशों में उनके सम्वर्धन के लिए हर नागरिक मे पूरा उत्साह पाया जाता है । पशुओं से भी अधिक उपयोगी वृक्षों को उगाने और बढाने की जहाँ विशाल योजनाएँ बनती रहती हैं वहाँ अपने देश में इनको काट-काट कर समाप्त करते हुए 'गौहत्या' जैसे कुकृत्य में हम लगे हुए हैं । कृषि के लोभ में वृक्षों का सफाया हो चला और खेतो की मेंड़ों पर जहाँ कभी पेड़ों की हरीतिमा छाई रहती थी और उन पर चढ़कर बच्चे बढ़िया मनोरंजन व्यायाम करते थे वहाँ अब सर्वत्र सुनसान ही दिखाई पड़ता है । लोग सोचते यह है कि इससे जमीन खेती के लिए निकल आयेगी, पर वे यह भूल जाते हैं कि वृक्षों के अभाव में वर्षा की कमी तथा सदी-गर्मी की मात्रा अधिक हो जाने से फसलों को जो नुकसान होगा वह पेड़ों द्वारा छोड़ी हुई जमीन की अपेक्षा अधिक हानिकारक सिद्ध होगा ।

हमें जहाँ भी सुविधा हो वृक्ष लगाने और उनकी रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए । धर्म-शास्त्रों में वृक्ष लगाने का पुण्य बहुत माना गया है । पीपल, बरगद, आँवला जैसे वृक्षों की तो पूजा भी होती है । लोकोपयोगी हर कार्य धर्म, पुण्य की गणना में आता है । इस दृष्टि से शास्त्रों और ऋषियों ने वृक्षारोपण को यदि स्वर्गदाता परमार्थ बताया है तो उनका मन्तव्य सच ही माना जाना चाहिए ।

अपने देश में लोग गोबर जैसी बहुमूल्य खाद को जलाऊ लकड़ी की जगह काम में लाते हैं । यदि हम बेकार और हल्की भूमि में जलाऊ लकडी वाले वृक्ष लगा दें तो ईंधन की समस्या हल हो सकती है और मजबूरी में जो कीमती गोबर खाद नष्ट हो जाती है उसे बचाकर उत्पादन की दृष्टि से प्रयोजन पूरा किया जा सकता है । इमारती लकड़ी अपने यहाँ कितनी कम होती जा रही है उसका अनुभव उसकी दिन-दिन बढती जा रही कीमतों को देखकर तब किया जा सकता है जब इमारत या फर्नीचर की लकड़ी का उससे बनी वस्तुएँ खरीदनी पड़ती हैं । लकड़ी की जरूरत बात-बात में पड़ती है । वृक्षारोपण के अभाव मे वह इतनी महँगी होती चली जाय कि सर्वसाधारण को उसका खरीदना कठिन पड़े तो इसे एक दुर्भाग्य ही कहा जायेगा

इस आवश्यकता को समझा ही जाना चाहिए कि वृक्ष मनुष्य की एक महती आवश्यकता हैं और उनकी अभिवृद्धि के लिए नया उत्साह और नई चेतना पैदा की जानी चाहिए । रास्ते के किनारे हर जगह वृक्ष लगाये जाने चाहिए ताकि पथिको को सरलता और बिना थकान के यात्रा करने का अवसर मिलता रहे । जहाँ भी अवसर हो हमें फलदार अथवा जलाऊ या इमारती लकड़ी वाले वृक्षों को लगाने के लिए स्वयं आगे बढ़ना चाहिए और दूसरों को प्रोत्साहन देना चाहिए ।

प्रश्न–

(१) वृक्षारोपण क्यों आवश्यक है ? (२) वृक्षों के संरक्षण से मानव समाज को क्या लाभ होते हैं ? (३) वृक्षों की तुलना सन्तों से क्यों की जाती है ? (४) वृक्ष बिना कारण ही मानव समाज का हित करते हैं–सिद्ध करो । (५) वन्य प्रदेश में वर्षा अधिक क्यो होती है ? (६) वनों से नेत्रों की तेजी बढ़ती है–सिद्ध करो ।(७) फल-फूल एवं हरियाली के लाभ बताइये ? (८) वृक्षों से भूमि सरक्षण कैसे होता है ? (९) पीपल, बड़ एवं आँवले की पूजा क्यों की जाती है ? (१०) वृक्ष हमारी खाद्य समस्या को हल करने में कैसे सहायक होते हैं ?

तुलसी हमारे हर घर में शोभायमान रहे

प्राचीनकाल में यह प्रथा थी कि भोजन में तुलसी पत्र भगवान का प्रसाद समझकर डालते थे, तब उसे खाते थे । इस प्रथा में तुलसी की उपयोगिता से नित्य प्रति लाभ उठाने और उसके प्रति श्रद्धा बनाये रखने का भाव था । निस्सन्देह यह साधारण दीखने वाला पौधा अपनी स्थूल एवं सूक्ष्म महत्ता के कारण असाधारण है, इसी से अपनी संस्कृति में उसे इतना ऊँचा स्थान मिला है । पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, वृहद् धर्म पुराण, स्कन्दपुराण, गरुड़पुराण आदि में तुलसी की महिमा के सम्बन्ध में अनेक अध्याय पाये जाते हैं, जिनमें धार्मिक उपाख्यानों के रूप में उसके प्रभाव और लाभों का वर्णन किया गया है । इसके सिवाय महानारायणोपनिषद्, राम रहस्योपनिषद्, वासुदेवोपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी तुलसी की स्तुति, प्रार्थना आदि का समावेश है, जिससे उस समय उसके प्रचार का अनुमान सहज ही किया जा सकता है । 'तुलस्यु उपनिषद' में तो केवल तुलसी की ही महिमा तथा उसकी सेवा-पूजा का विधान है । उसमें तुलसी के स्वास्थ्य प्रदायक और रोगनाशक गुणों का भी संकेत मिलता है ।

शारीरिक दृष्टि से तुलसी एक सर्व रोग-निवारक औषधि का काम देती है । विभिन्न अनुपातों के साथ वह ज्वर, खाँसी, जुकाम, सर्दी, उदररोग, धातुरोग, स्त्री-रोग, मुख-रोग, सर्पदंश, कैंसर आदि सैकड़ों रोगों में शीघ्र ही अपना प्रभाव दिखलाती है । नित्य सेवन करने से स्वास्थ्य को स्थिर रखती है और अनेक संक्रामक व्याधियो से रक्षा करती है । इसके प्रयोग से सात्विक भाव की वृद्धि होती है, जिससे हृदय में श्रद्धा, भक्ति, कोमलता क्षमा, दया आदि सत्प्रवृत्तियों की वृद्धि होती है । जो गुण तुलसी की पत्तियों में बतलाये गये हैं उससे मन की हानिकारक वासनाएँ और भावनाएँ नष्ट होती हैं और तरह-तरह के कुविचार, बुरे स्वप्न, अनिद्रा और हृदय की धड़कन में लाभ पहुँचता है । तुलसी-पत्र को जल मे मिलाकर प्रयोग करने से उसकी शक्ति बहुत बढ़ जाती है और तुरन्त ही प्रभाव डालती है । इसीलिए पूजा-पाठ, हवन आदि धर्मकृत्यों के अवसर पर चरणामृत सेवन करने का नियम रखा गया है । इसके फलस्वरूप मन में स्वभावतः उठते हुए अनेक सांसारिक भोगों और कामकाजों के विचार शान्त हो जाते हैं और मनःस्थिति धर्म कार्य के उपयुक्त बन जाती है । इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए शास्त्रों में कहा गया है–

त्रिकालं विनातापुत्र प्राशर्य तुलसी यदि ।
विशिष्यते कायशुद्धिश्चान्द्रायण शत बिना ॥१॥
तुलसी गन्धमादाय यत्र गच्छति मारुतः ।
दिशो दशश्च पूतास्युर्भुत ग्रामश्चतुर्विध ॥२॥
महाप्रसाद जननी, सर्व सौभाग्य वर्द्धिनी ।
आधि-व्याधि हरिर्नित्य तुलसित्वंनमोस्तुते ॥३॥
या दृष्ट्वा निखिलाघसंघशमनी स्पृष्ट्वा वपुपाविनी ।
रोगनामभिवदिता निरशिनीसिक्तान्तक त्रासिनी ॥४॥
प्रत्यासक्ति विधायिनी भगवतः कृष्णस्यरोपिता ।
न्यास्तातश्चरणे विमुक्ति फलदा तस्यै तुलस्यै नमः ॥५॥
सर्वौषधरसेनैव पुराह्यमुतमन्थने ।
सर्वसत्वोपकराय विष्णुनातुलसी कृता ॥६॥
तुलसी कानन राजन गृहे यस्यावतिष्ठिति ।
तद्गृह तीर्थरू पन्तुनायन्ति यथकिंकराः ॥७॥
रोपनात्पालनात् सेकात् दर्शनात्स्पर्शनान्नृणाम् ।
तुलसी दह्यते पापं वाड्मनः कायसचितम् ॥८॥
दर्शनं नर्मदायास्तु गंगा स्नान तथैव च ।
तुलसीवन संसर्गः सममेकार्य स्मृतम् ॥९॥
पुष्कराद्यानि तीर्थानि गंगाद्या सरितस्तथा ।
वासुदेवादयो देवस्तिष्ठन्ति तुलसी दले॥१०॥
तुलस्यां सकला देवाः वसन्ति सततं यतः ।
अतस्तामर्चयेल्लोकः सर्वान्देवानसमर्चयन् ॥११॥
यत्किचद् दीयतेदानं तुलस्या च समन्वितम् ।
अपारतु प्रयुक्तं तन्न ब्रजेन्नरकन्नरः ॥१२॥
तुलसी काननोद्भूता छाया यत्र भवेन्मुने ।
त्रश्रद्धेप्रदातव्य पितृणां तृप्तिहेतवे ॥१३॥
स स्नातः सर्वतीर्थ सर्वयज्ञेयुदीक्षितः ।
तुलसीपत्रतोयं च योऽभिषेक समाचरेत् ॥१४॥
यस्मिनगृहे द्विजश्रेष्ठ ! तुलसी तल मृतिका ।
तत्रैव नोपसर्पन्ति भूतले यमकिंगखरा ॥१५॥

अर्थात्– जो व्यक्ति सदैव तीनों समय तुलसी पत्र का सेवन करता है उसका शरीर ऐसा शुद्ध हो जाता है जैसा कि अनेक चन्द्रायण व्रतों द्वारा सम्भव होता ॥१॥ तुलसी की गन्ध को लेकर वायु जिस दिशा में जाती है वह दिशा तथा वहाँ रहने वाले सब प्राणी पवित्र, दोष रहित हो जाते हैं । ॥२॥ हे महा महिमाशाली तुलसी माता आप समस्त सौभाग्यों को देने वाली और आधि-व्याधि को मिटाने वाली हैं । आपको मेरा नमस्कार है ॥३॥ जिसकी दृष्टि मात्र से ही सब पाप नष्ट हो जाते हैं, स्पर्श करने से जो शरीर को पवित्र कर देती है, जिसका सेवन करने से सब रोग मिट जाते हैं, जिसको सींचने से यमराज का त्रास जाता रहता है, जिसको लगाने से भगवान की सायुज्यता

प्राप्त होती है, भगवान कृष्ण के चरणों मे जिसे चढ़ाने से मुक्ति प्राप्त होती है, उस तुलसी को हम नमस्कार करते हैं । ।।४-५।। अमृत मन्थन के अवसर पर सब औषधियों और रसों से पूर्व भगवान विष्णु ने समस्त प्राणियों के उपकारार्थ तुलसी को उत्पन्न किया ।।६।। हे राजन् जिस घर में तुलसी का उद्यान लगाया होता है वह तीर्थ रूप होता है और उसमें यमराज के दूतों का प्रवेश नहीं होता । ।।७।। तुलसी के लगाने, पालन करने, उसमें जल डालने, दर्शन करने, छूने से मनुष्यों के वाणी, मन और काया में संचित समस्त पाप भस्मीभूत हो जाते हैं । ।।८।। नर्मदा जी का दर्शन, गंगाजी में स्नान करना और तुलसी वन का संसर्ग यह तीनों एक समान कल्याणकारी हैं । ।।९।। तुलसी में पुष्कर आदि तीर्थ, गंगा आदि सरिताओं और वासुदेव आदि देवों का निवास होता है । ।।१०।। तुलसी में समस्त देवताओं का निवास है, अतएव उनकी अर्चना करने से समस्त देवों के पूजन का फल मिलता है ।।११।। जो दान तुलसी के संयोगपूर्वक दिया जाता है वह अपार फलदायी होता है पर जो लोग दान देते समय तुलसी का सम्पर्क नहीं करते वे दुर्गति को प्राप्त होते हैं । ।।१२।। तुलसी वन की छाया में पितरों का श्राद्ध करना उनके लिए विशेष तृप्तिकारक सिद्ध होता है ? ।।१३।। जो व्यक्ति स्नान के जल में तुलसी डालकर उपयोग में लाता है वह सब तीर्थों में नहाया हुआ समझा जाना चाहिए और वह सब यज्ञों में बैठने का अधिकारी है । ।।१४।। जिस घर की भूमि तुलसी की मिट्टी से लिपी रहती है, उसमें यमराज के किंकर (रोगों के कीटाणु) प्रवेश नहीं करते ।।१५।।

आयुर्वेद के सर्वश्रेष्ठ और प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाने वाले चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट में भी तुलसी के गुणों और प्रयोगों का वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है । चक्रदत्त, शारंगधर संहिता, भावप्रकाश, राजनिघण्टु, कैयदेव निघण्टु, योगरत्नाकर आदि में भी तुलसी के अनेक उपयोगी प्रयोग सन्निवेशित हैं ।

धार्मिक, सांस्कृतिक, शारीरिक, मानसिक हर दृष्टि से तुलसी का पौधा बड़ा उपयोगी है उसे घर-घर में लगाया जाना चाहिए । गौ माता की तरह तुलसी का भी सांस्कृतिक महत्त्व है इसलिए उसके संस्थापन और अभिवर्द्धन के लिए शक्ति भर प्रयत्न किये जाने चाहिए । उत्साही, सेवाभावी व्यक्ति अपनी जमीन में तुलसी के बीज बोकर पौध लगावें और उन पौधों का घर-घर जाकर आरोपित कराने के लिए प्रयत्न करें । जहाँ सम्भव हो तुलसी उद्यान लगाये जायें और तुलसी सम्मिश्रण से बन सकने वाली अनेक प्रभावशाली औषधियों के द्वारा तुलसी चिकित्सालय चलाये जायें । माला बनाने तथा जड़ी-बूटियों की तरह प्रयुक्त करने के लिए भी व्यावसायिक दृष्टि से तुलसी उत्पादन किया जा सकता है । तुलसी चिकित्सा की छोटी पुस्तकें छापी जा सकती हैं जिससे हर गृहस्थ इस अनुभव औषधि के द्वारा घरेलू चिकित्सा समेत समस्त रोगों और आधि-व्याधियों से छुटकारा प्राप्त कर सके । तुलसी संस्थापन एवं उपयोगी आन्दोलन सिद्ध हो सकता है जो आगे चलकर घरों में फुलवारी तथा शाक-भाजी लगाने की पद्धति को भी प्रोत्साहित करेगा ।

प्रश्न–

(१) तुलसी के पत्तों का उपयोग पूजा में क्यों किया जाता है ? (२) तुलसीदल के सेवन से क्या लाभ है ?(३) हर घर में तुलसी का पौधा क्यो होना चाहिए ?(४) तुलसी को औषधि के रूप में कैसे प्रयोग किया जा सकता है ? (५) तुलसी की उपयोगिता पर एक लघु निबन्ध लिखें ? (६) तुलसी के लाभो के पाँच श्लोक सुनाओ और उनका अर्थ बताओ ? (७) तुलसी चरणामृत क्यों आवश्यक है ? (८) तुलसी के समन्वय में किन-किन प्राचीन ग्रन्थो में वर्णन मिलता है ।

गौ संरक्षण हमारी एक महती आवश्यकता

अपने देश में गौ-रक्षा का, गौ-पालन और गौ-पूजा का महत्व बहुत है । भगवान कृष्ण ने अपनी अभिरुचि इस दिशा में सबसे अधिक प्रदर्शित करके सर्वसाधारण का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि उन्हें गौ का महत्त्व और उपयोग भली प्रकार समझना चाहिये और इस संदर्भ में व्यवहारत: कुछ करते रहना चाहिए ।

मानवी स्वास्थ्य-सुरक्षा के लिए पौष्टिक आहार की आवश्यकता है, उसमें गौ-दुग्ध अग्रणी है यों दूध तो भैंस और भेड़ बकरी का भी मिलता है और कहीं-कहीं गधी और ऊँटनी का भी प्रयुक्त होता है, पर विटामिन 'ए' जैसे बहुमूल्य तत्त्व जितनी मात्रा में गाय के दुग्ध में हैं, उतने और किसी में नहीं । देखने मे भैंस या भेड़ का दूध चिकना गाढ़ा निकलता है पर गुणों में गोरस से उसकी कोई तुलना नहीं जितने उपयोगी खनिज लवण, रोग-निरोधक, बलवर्द्धक जीवन तत्व गाय के दूध में हैं, उतने किसी मे नहीं मिलेंगे । यही कारण है कि संसार भर में सभ्य और शिक्षित देशों में जहाँ गुण और लाभ को परखना जानते हैं, केवल गौ दुग्ध ही प्रयुक्त होता है । यूरोप और अमेरिका के समस्त देश प्राय: गौ दुग्ध ही सेवन करते हैं । भैंस तो अफ्रीका और भारत को छोड़कर अन्यत्र कहीं और पाई भी नहीं जातीं ।

आयुर्वेद शास्त्र में भी गौ दुग्ध का ही प्रतिपादन है । धर्म ग्रन्थों में जहाँ कहीं दूध, घी की आवश्यकता का वर्णन है, वहाँ गोरस का ही उल्लेख समझना चाहिए । दूरदर्शी ऋषियों को लौकिक दृष्टि से गोरस की शारीरिक उपयोगिता विदित ही थी, इसके अतिरिक्त वे उसके मानसिक और आध्यात्मिक गुणों से भी परिचित थे । गाय में, गाय के बछड़े में-जैसी फुर्ती और चतुरता रहती है वैसी भेड़ या भैंस मे नहीं स्पष्टत: इन पशुओं का मानसिक सार भी दूध में घुला रहता है । भैंस

का दूध पीने से उसी जैसा आलस्य, प्रमाद एवं बुद्धूपन बढ़ता है । 'भेड़चाल' उक्ति में उस प्राणी की अदूरदर्शिता का ही वर्णन है । गाय इन सबसे निराली है । उसकी स्फूर्ति एवं चतुरता बात-बात में परखी जा सकती है । मार्ग में खेलते हुए बच्चे को गाय बचाती हुई चलेगी पर भैंस अपनी राह चलती जायेगी, चाहे बूढ़ा-बच्चा कोई भी क्यों न कुचल जाये । तनिक-सी गर्मी-सर्दी और थकान बर्दाश्त करना भैंस के लिए कठिन है । माता का जैसा स्वभाव होता है, बच्चा भी वैसी प्रकृति का बन जाता है । यह दूध का गुण है । भैंस या भेड़-बकरी का दूध पीने वाले उन्हीं जैसे हेय गुणों वाले बनते चले जाते हैं ।

गाय की सबसे बड़ी विशेषता इसमें पाई जाने वाली आध्यात्मिक विशेषता है । हर पदार्थ एवं प्राणी में कुछ अति सूक्ष्म एवं रहस्यमय गुण होते हैं । सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की मात्राएँ सबमें पाई जाती हैं । जिस प्रकृति के पदार्थों और प्राणियों से हम सम्पर्क रखते हैं हमारी अन्तःस्थिति भी उसी प्रकार ढलने लगती है । हंस पाल कर बढ़ता हुआ सतोगुण और कौआ पालकर बढ़ता हुआ तमोगुण कभी भी अनुभव किया जा सकता है । भेड़-बकरी और भैंस को तमोगुण प्रधान माना गया है । गाय में सतोगुण की भारी मात्रा विद्यमान है । अपने बच्चे के प्रति गाय की ममता प्रसिद्ध है । वह अपने पालन करने वाले तथा उस परिवार को भी बहुत प्यार करती है । जंगलों में शेर, बाघ का सामना होने पर अपने ग्वाले को चारों ओर से घेरकर गाय झुण्ड बना लेती है और अपनी जान पर खेलकर अपने रक्षक को बचाने का त्याग, बलिदान एवं कृतज्ञता, आत्मीयता का आदर्श भरा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं । ऐसी आध्यात्मिक विशेषता और किसी प्राणी में नहीं पाई जाती । इस स्तर के उच्च सद्गुण उन लोगों में भी बढ़ते हैं, जो उसका दूध पीते हैं । बैल की परिश्रमशीलता और सहिष्णुता प्रख्यात है । यह विशेषताएँ गौ दुग्ध का उपयोग करने वाले में भी बढ़ती हैं ।

गौरस एक सर्वांगपूर्ण परिपुष्ट आहार है । उसमें मानसिक स्फूर्ति एवं आध्यात्मिक सतोगुणी तत्वों का बाहुल्य रहता है, इसलिए मनीषियों तथा शास्त्रकारों ने-गाय का वर्चस्व स्वीकार करते हुए उसे पूज्य, संरक्षणीय, सेवा के योग्य माना है । गाय की ब्राह्मण से तुलना की है और उसे अवध्य-न मारे जाने योग्य घोषित किया गया है । गोपाष्टमी और गोवर्धन-पूजा दो त्यौहार ही गोरक्षा की ओर जनसाधारण का ध्यान स्थिर रखने के लिए बनाये गये हैं । चौके में पहली रोटी गाय के लिए निकालने की परम्परा भी इसीलिये है कि गाय को एक कौटुम्बिक प्राणी समझते रहा जाये । राजा दिलीप जैसे ऐतिहासिक महापुरुष की गौ-भक्ति प्रसिद्ध है, जिसके कारण उन्होने सुसन्तति प्राप्त की । आज भी वह तथ्य ज्यों का त्यों है । गाय के सम्पर्क में रहने वाले, गोरस पीने वाले पति-पत्नी निस्सन्देह सुयोग और स्वस्थ सन्तान पैदा कर सकते हैं, उनका पुरुषत्व साँड़ की तरह सुस्थिर बना रहता है । पुराणों में गौ-भक्ति और गौ सेवा के लिए बहुत कुछ कर सकने वाले सत्पुरुषों के अगणित उदाहरण विद्यमान हैं । उस समय शिक्षा की गुरुकुल प्रणाली थी । हर छात्र को आश्रम की गौयें चरानी पड़ती थीं और आहार में गोरस की समुचित मात्रा मिलती थी । उस समय छात्रों को प्रतिभा, परिपुष्टता एवं सज्जनता की अभिवृद्धि के महत्त्वपूर्ण लाभ मिलते थे, उनमें गौ-सम्पर्क भी एक बहुत बड़ा कारण था ।

भारत कृषि प्रधान देश है । यहाँ जुताई, सिंचाई और गुड़ाई-मड़ाई (अन्न को पौधे से अलग करना) के लिए बैल की अनिवार्य आवश्यकता है । गाय का गोबर अपने ढंग की अति उर्वरक खाद है । अपने देश की कृषि गोवंश पर निर्भर है । रासायनिक खाद अचार, चटनी की तरह है, उससे धरती की भूख नहीं बुझ सकती वह तो गोबर से ही सम्भव है । महँगी बार-बार बिगड़ने वाली, खर्चीली और तकनीकी ज्ञान की अपेक्षा रखने वाली मशीनें भारत की कृषि समस्या को हल नहीं कर सकतीं । अनेक कारणों से यहाँ तो बैल ही सफल होगा । अन्न और दूध हम गौवंश की कृपा से ही प्राप्त कर सकते हैं, इसीलिए उसका संरक्षण सब प्रकार से उपयुक्त है ।

गोबर से लीपने पर तो रोग-कीटाणु मुक्त होते हैं । गौ-मूत्र असाध्य रोगों में भी रामबाण औषधि का काम करता है । इसकी गन्ध से विषैले रोग कृमि अनायास ही मरते हैं और स्वास्थ्य रक्षा की एक सहज व्यवस्था बनती रहती है । आवश्यक है कि हम गोरक्षा पर ध्यान दें और अपनी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति को परिपुष्ट बनाने के लिए इस दिशा में ठोस कदम उठायें ।

यह एक दुर्भाग्य ही है कि जिस देश में गौ को पूज्य और गौ रक्षा को धर्म माना जाता है, उसी में उसकी सबसे अधिक दुर्गति हो । गौ नसल बुरी तरह खराब हो चुकी है । वे जरा-सा दूध देती और बेकार समझी जाती हैं । कसाई की छुरी के नीचे ही उन्हें आश्रय मिलता है । गौवंश बुरी तरह घटता और नष्ट होता चला जा रहा है । उसका एकमात्र कारण उस ओर बरती जाने वाली हमारी उपेक्षा ही है । माँसाहारी देशों में गायें एक-एक मन दूध दें और गोरस की नहरें बहें और हम गौ-भक्तों में उसका दर्शन भी दुर्लभ रहे यह कैसी विडम्बना है ।

हमें चाहिए कि गौ-दुग्ध की उपयोगिता स्वीकार करें और उसी की माँग करें । ऐसी दशा में भैंस पालने वाले सहज ही गौ पालने लगेंगे । जिसकी माँग होगी उसका उत्पादन भी होगा और उसका स्तर भी उठेगा । हम जय गाय की बोलते हैं और दूध भैंस का पीते हैं । इस प्रकार गोरक्षा कैसे सम्भव होगी । जिस दिन जन-साधारण की समझ में गोरस की उपयोगिता आ जावेगी, इसी की माँग की जावेगी तो देखते-देखते यह देश गोधन से भरा-पूरा दिखाई देने लगेगा । हमें चाहिए कि गौदुग्ध एवं गौघृत के सेवन का व्रत लें और दूसरों को भी इसके लिए तैयार करें । जब गोरस की माँग बढ़ेगी तब गो-पालन की व्यवस्था भी बनेगी । जो लोग गाय का धार्मिक

का महत्त्व समझते है, उनके लिए उचित है कि गोपालन, गोसंवर्द्धन और गोरस उत्पादन के लिए बड़े पैमाने पर व्यावसायिक स्तर पर काम करें, चाय वालों की तरह गोरस की महत्ता समझाने के लिए व्यापक प्रचार करें और धर्म, पुण्य तथा राष्ट्र की महती सेवा का सुयोग प्राप्त करे । सरकार और जनता ये दोनों वर्ग मिलकर गौरक्षा के लिए कुछ ठोस काम करें यह आज की एक महती आवश्यकता है ।

प्रश्न—

(१) भारत मे गौ पालन का क्या महत्त्व है ? (२) गाय का दूध सर्वश्रेष्ठ क्यों माना जाता है ? (३) सिद्ध कीजिए कि गौ–रस सर्वांगपूर्ण परिपुष्ट आहार है ? (४) गौ–रक्षा के महत्त्व दर्शाने वाले दो पर्वों का वर्णन करो । (५) राजा दिलीप ने गौ की सेवा क्यों की थी ? (६) बैल की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए । (७) गोवर्धन पूजा का महत्त्व स्पष्ट कीजिए । (८) गौ–वंश नष्ट होने के कारण बतायें ? (९) गौ–पालन के लाभों पर प्रकाश डालिए । (१०) गौ–दुग्ध और गौ–घृत के सेवन का व्रत क्यो लेना चाहिए ?

अधिकार गौण और कर्त्तव्य प्रधान माना जाये

सुविधाओं का लाभ उठाने और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं का उत्पादन करना पड़ता है । यह उत्पादित वस्तुएँ ही सम्पदा कहलाती हैं । सिक्का तो इस उत्पादन शक्ति का प्रतिनिधि मात्र है जिसे वस्तुओं के स्थानान्तरण की सुविधा के लिए तीनों को भले ही एक व्यक्ति जुटावे पर काम इनकी सम्मिलित शक्ति से ही चलेगा । जीवनयापन की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए अन्न से लेकर यन्त्रों तक और शिल्पियों से लेकर व्यवस्थापकों तक विभिन्न स्तर के जड–चेतन साधन जुटाने पड़ते हैं । यही सम्पदा उत्पादन का तन्त्र हमारी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने और सुविधाएँ जुटाने में समर्थ होता है ।

इन दिनों उत्पादन क्षेत्र में दो प्रधान पक्ष हैं– (१) मालिक, (२) मजदूर । दोनों के उचित सहयोग से सम्पदा ठीक तरह उपजती है । जिनके पास पूँजी एवं ज्ञान, अनुभव नहीं है वे मजदूर अकेले कुछ बड़ा काम नहीं कर सकते । इसी प्रकार जिनके पास पूँजी अथवा अनुभव ज्ञान है, बिना श्रमिक के सहयोग के काम नहीं चला सकते । सहयोग के बिना दोनों की क्षमता व्यर्थ है । सरकारी व्यवस्था तन्त्र भी छोटे कर्मचारियो से लेकर बड़े अफसरों तक श्रमिकों की शृंखला में ही आते हैं । सरकार वेतन क्रम तथा कार्यपद्धति का निर्धारण करती है, कर्मचारी श्रम करते हैं । दोनों का सहयोग ही सरकारी अथवा गैर सरकारी संस्थानों को चला सकने में समर्थ होता है । यदि विभिन्न उत्पादनों एवं व्यवस्थाओं का क्रम ठीक चलाकर सुविधाओं तथा सम्पदाओं का उचित संवर्धन आवश्यक हो तो दोनों के बीच सहयोग एवं सद्भावनाओं का तारतम्य घनिष्ठतम ही करना पड़ेगा ।

दुर्भाग्यवश इन दिनों मालिक और श्रमिक वर्ग में दिन–दिन खाई चौड़ी होती जा रही है और सहयोग के सूत्र शिथिल हो रहे हैं । उसका परिणाम उत्पादन की कमी के रूप में सामने आ रहा है और महँगाई बढ़ रही है । इसका दुष्परिणाम सभी को भुगतना पड़ रहा है और देश का अर्थतंत्र लड़खड़ाने लगा है । इस अवांछनीय स्थिति को रोका और सँभाला जाना ही चाहिए ।

मालिकों को यह मानकर चलना चाहिए कि उनकी पूँजी और अनुभव का जितना श्रेय है, उससे ज्यादा मजदूर के परिश्रम का है । श्रम के बिना उसकी पूँजी और ज्ञान अपंग है, इसलिए उत्पादन में से उचित अंश श्रमकर्ता को भी दिया जाये । यह न्यायानुकूल है इसलिए किया जाये औ इसलिए भी किया जाये कि आवश्यक सुविधाएँ मिलने प ही श्रमिक अपनी शारीरिक और मानसिक क्षमता ठीक रख सकता है और उसी आधार पर अपना कर्त्तव्य ठीक तरह निभा सकता है । इसलिए उचित यही है कि लाभ का जितना अधिक अंश श्रमिक को दिया जा सकता हो, उतना उन्हें वेतन, बोनस अथवा अन्य सुविधाओं के रूप में दिया जाये और उनके सम्मान का उचित ध्यान रखा जाये ।

दूसरी ओर श्रमिको को भी पूर्ण सहयोग की भावना लेकर चलना चाहिए और ध्यान रखना चाहिए कि उत्पादन बढ़ाकर वे समाज की महत्त्वपूर्ण सेवा कर रहे हैं । अपने इस कर्त्तव्य में किसी प्रकार की कमी लाकर देश को दुर्बल न बनने दें । उन्हें यह भी अनुभव कर चाहिए कि मालिक और मजदूर दोनों एक–दूसरे के पूर हैं । परस्पर सहयोग के बिना दोनों की ही गाड़ी रुक जायेगी और उस अवरोध का दुष्परिणाम सारे समाज को भोगना पड़ेगा ।

अधिकार की प्रधानता और कर्त्तव्य की उपेक्षा का जो घातक क्रम हर क्षेत्र मे चल पड़ा है उसने पारस्परिक सहयोग की नींव हिला दी है । असहयोग, घृणा और द्वेष की मनःस्थिति में न परिवार चल सकते हैं, न समाज की व्यवस्था ठीक रह सकती है और न उपार्जन के क्षेत्र में प्रगति हो सकती है । तनाव की स्थिति में हर वर्ग, हर पक्ष का नुकसान है । मनोमालिन्य और असन्तोष के कोई कारण हों तो उन पर शान्तचित्त से विचार–विनिमय किया जाना चाहिए और उलझनों का एक–दूसरे की स्थिति समझते हुए न्यायानुकूल ढंग से समाधान खोज लेना चाहिए । बुद्धिमत्ता इसी में है कि अवरोध और तनाव पैदा करने में कोई भी घृणा–प्रचारक या भ्रम फैलाने वाला आसानी से सफल हो सकता है । बुद्धिमत्ता सहयोग के अभिवर्धन में है । सो सस्ती नेतागीरी लूटने और अपना उल्लू सीधा करने वाले विघ्न सन्तोषी लोगों से सावधान रहना चाहिए उनकी करतूतें हर पक्ष को, केवल हानि ही पहुँचा सकती हैं ।

हर पक्ष को कर्त्तव्य को प्रधान मानकर चलना चाहिए । मनुष्यता और देशभक्ति इसी प्रकार के आचरण पर अवलम्बित है । पग-पग पर अधिकार को आगे रखने और कर्त्तव्य को भुला देने से केवल विद्वेष ही बढ़ेगा और एक-दूसरे को दुष्ट अनुभव करने लगेंगे । घृणा से घृणा बढ़ेगी और असहयोग से असहयोग । श्रमिक और मालिकों के बीच में इस प्रकार के असन्तोष का बढ़ना, उस तन्त्र को दुर्बल करेगा जिसके वे दोनों अंग हैं । यह दुर्बलता अन्ततः सारे समाज के लिए कष्टकारक और दुःखदायी सिद्ध होगी । इसलिए सहयोग के आधार पर अधिक से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये जाने चाहिए और मतभेद तुरन्त हल न होते हों तो क्रमशः सुधारने के लिए धैर्यपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए । भले ही इसमें थोड़ा समय लग जाये, पर सब मिलकर दोनों पक्षों को लाभ ही होगा और उस उत्पादन से लाभ उठाने वालों को भी राहत मिलेगी । इसलिए दूरदर्शिता तनाव पैदा करने में नहीं, एक-दूसरे की कठिनाई को समझने और उचित समाधान ढूँढ़ने में ही केन्द्रित करनी चाहिए ।

किसी भी पक्ष को किसी भी हालत में अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । मतभेद हो सकते हैं और रह सकते हैं, पर उन्हें सुलझाने का यह तरीका नहीं है कि उत्तरदायित्वों से इनकार कर दिया जाये । जापान स्थित अमेरिकन फैक्टरियों में सप्ताह में दो दिन की छुट्टी की घोषणा की गई तो जापानी श्रमिकों ने उसका विरोध किया और कहा कि हम काम का एक दिन घटाकर देश को उत्पादन के लाभ से वंचित नहीं कर सकते । द्वितीय महायुद्ध के बाद ध्वस्त चैकोस्लोवकिया के श्रमिकों ने आठ घण्टे के स्थान पर दस घण्टे काम करने की अड़ ठानी । यद्यपि मालिक इस पक्ष में न थे कि श्रमिक इतना अधिक काम करें, तो भी श्रमिकों के इस आग्रह की ही जीत हुई कि देश को जल्दी ही दुर्दशा से बाहर निकालने के लिए वे हर रोज दो घण्टे अधिक श्रम करेंगे । यही मनोवृत्ति हर क्षेत्र और वर्ग में रहनी चाहिए । वेतन लेना काम न करना काम देने वाले को शोषक समझना और उसे हानि पहुँचाने की चेष्टा करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता । कम सुविधाएँ मिलने की प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यवस्था तन्त्र एवं कर्त्तव्य-धर्म को तोड़-फोड़ डालने में नहीं होनी चाहिए । उत्पादन न घटाते हुए, व्यवस्था न बिगाड़ते हुए और साधन-तन्त्र को क्षति न पहुँचाते हुए भी, सत्याग्रह जैसे अनेक दबाव ऐसे हैं जो आवश्यकता पड़ने पर उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं ।

दोनों पक्ष एक-दूसरे की कठिनाई को महानुभूति और उदारता के साथ समझने की चेष्टा शान्तचित्त से करें तो अधिकांश उलझनें सफलतापूर्वक सुलझाई जा सकती हैं । जोशीला दबाव डालकर अधिक लाभ प्राप्त करना भी अन्ततः निरर्थक ही साबित होता है । वेतन बढ़ाने की आवश्यकता टैक्स लगाने या उत्पादन महँगा करने से ही पूरी हो सकती है और वह बढ़े हुए टैक्स या महँगाई उस श्रमिक पर भी असर डालती है और बढा हुआ वेतन नई मूल्य वृद्धि में चला जाता है । इसलिए श्रमिक का हित केवल इतने में ही नहीं है कि उसका वेतन-मान बढता चले । दूसरा पक्ष यह भी सोचना होगा कि महँगाई न बढ़े, उत्पादन न गिरे अन्यथा वेतन वृद्धि का क्या लाभ मिलेगा ? कर्त्तव्य में ढील न डालने और भरपूर श्रम करने में ही देशभक्ति और लोक-मंगल की भावना सन्निहित है और उसे हर नागरिक को पूरी ईमानदारी से निबाहना चाहिए, चाहे वह मालिक हो या श्रमिक ।

श्रम और कर्त्तव्य की उपेक्षा का जो दौर इन दिनों चल पड़ा है वह राष्ट्र के भविष्य को उज्ज्वल नहीं बनने देगा । अधिकार की प्रधानता तक ही हमारा दृष्टिकोण सीमित नहीं रहना चाहिए, वरन् अधिक ध्यान ईमानदारी और जिम्मेदारी के साथ अपना कर्त्तव्य पालन करने पर केन्द्रित करना चाहिए । सामने वाला पक्ष गलती करता है तो हम क्यों करें ? हम उसके स्तर तक क्यों गिरें ? इस उदात्त भावना से ही श्रम-समस्या का हल हो सकता है और इसी आधार पर राष्ट्रीय सम्पत्ति तथा मानवीय सुख-सुविधाओं का अभिवर्द्धन हो सकता है ।

प्रश्न—

(१) उत्पादन के प्रमुख पक्ष कितने हैं और कौन-कौन हैं ? (२) उत्पादन में उचित अंश श्रमकर्ता को देना क्यों आवश्यक है ? (३२) कर्त्तव्य की उपेक्षा क्यों नहीं की जानी चाहिए ? (४) मनुष्यता एवं देशभक्ति का सहज प्रमाण क्या है ? (५) मतभेद सुलझाने का सही तरीका क्या है ? (६) उदात्त भावना का क्या तात्पर्य है ?(७) अधिकार से अधिक कर्त्तव्य का महत्व क्यों है ?(८) जापान स्थित अमेरिकन फैक्टरियों के श्रमिकों ने काम के दो घण्टा कम करने का सुझाव क्यों नहीं माना ? (९) श्रमिक एवं स्वामी के संघर्ष पर प्रकाश डालते हुए समस्या का यथार्थ हल सुझाये ।

वोटरों की सतर्कता पर प्रजातन्त्र का भविष्य निर्भर है

प्रजातंत्र का मतलब है जनता का शासन । इस प्रणाली में हर नागरिक को अपने ऊपर, अपने राष्ट्र के ऊपर शासन करने का अधिकार प्राप्त होता है । इस शासन पद्धति में प्रतिनिधियों की नियुक्ति, निर्वाचन-प्रणाली के अन्तर्गत की जाती है और यह चुने हुए लोग ही शासन तन्त्र का संचालन करते हैं । इस प्रकार निर्वाचित लोग ही प्रजा की आकांक्षाओं, आवश्यकताओं एवं हितों के संरक्षक होते हैं । यदि वह निर्वाचन प्रणाली सही हो और प्रजाजनों को अपना प्रतिनिधि चुनते वक्त यह ध्यान हो कि यह कोई खिलवाड़ नहीं वरन् राष्ट्र का शासन करने के लिए किसी सुयोग्य व्यक्ति की नियुक्ति करने का ऐसा परम

पवित्र कर्त्तव्य पूरा किया जा रहा है जिसके परिणाम दूरगामी होंगे तो निस्सन्देह प्रजातंत्र सर्वोत्तम शासन-पद्धति सिद्ध हो सकती है।

हमारे देश में प्रजातंत्र की शासन प्रणाली है। यहाँ हर वयस्क को मतदान करके अपने प्रतिनिधि चुनकर उन्हें शासन सौंपने का अधिकार है। ऐसी दशा यहाँ सब कुछ प्रजा के हित में होना ही चाहिए पर बारीकी से देखने पर, अपने शासकों और उनकी कार्य पद्धतियों में भारी दोष मालूम पड़ते हैं। इन दोषों का आये दिन समाचार पत्रों में भण्डाफोड़ होता रहता है और हममें से प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव भी करता है कि अपने शासन में उतनी कुशलता, ईमानदारी, दूरदर्शिता और कर्त्तव्य-परायणता नहीं है जैसी कि होनी चाहिए।

इसका मूल कारण क्या है ? इसका पता लगाने के लिए हमें अधिक गहराई तक प्रवेश करना होगा। पता चलेगा कि भूल जिस मर्मस्थान में होती है उसे सुधारे बिना कुशासन की बुराई दूर न हो सकेगी। प्रथम भूल वहाँ से आरम्भ होती है जहाँ मतदाता-प्रतिनिधि चुनकर शासन तन्त्र उसके हाथ में सौंपते समय मतदान में प्रमाद बरतता है। वोट देना हल्का-बचकाना या छिछोरा काम नहीं है कि किसी के पक्ष में भी उसे डाल या फेंक दिया जाये। यह राष्ट्रीय कर्त्तव्य की परम पवित्र थाती केवल उन्हें सौंपी जानी चाहिए जो व्यक्तिगत चरित्रनिष्ठा की कसौटी पर असंदिग्ध रूप से कस लिये जायें और जिनकी निष्ठा इस बात के लिए प्रामाणिक सिद्ध हो चुकी है कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए लोकहित को रत्ती भर भी आँच न आने देंगे। पंच को परमेश्वर कहा गया है। चुना हुआ पंच प्रतिनिधि ही तो है, उसकी चरित्रनिष्ठा, देशभक्ति, सेवाबुद्धि एवं अब तक की जीवन पद्धति हर दृष्टि से-हर कसौटी पर कसी हुई और खरी सिद्ध हुई होनी चाहिए। इससे कम व्यक्तित्व का यही प्रतिनिधि बनने के लिए खड़ा होता है तो राष्ट्रहित में वह एक अभिशाप ही सिद्ध होगा और किसी भी ऐसे अयोग्य को वोट देना मतदाता का राष्ट्रीय सुव्यवस्था के साथ विश्वासघात ही माना जायेगा।

इसे एक दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि भारतीय मतदाता को वोट का वजन और संभावित प्रतिफल नहीं समझाया गया और इस अवसर पर बरती गई असावधानी समस्त देश और समाज के लिए विपत्ति सिद्ध हो सकती है, यह नहीं बताया गया। यदि यह तथ्य मतदाता नागरिकों को भली-भाँति समझ में आ गये होते तो वे जाति-बिरादरी, सिफारिश, खुशामद या छुट-पुट लालच जैसे कारणों से प्रभावित होकर उन लोगों को वोट न देते जिनकी चरित्र-निष्ठा, दूरदर्शिता, असंदिग्ध रूप से खरी सिद्ध नहीं हुई है।

मतदाता का भोलापन यदि इसी स्तर का बना रहे कि उससे कोई भी व्यक्ति कुछ भी प्रचार-हथकंडा अपनाकर वोट झटक ले तब तो देश के भविष्य का ईश्वर ही रक्षक है। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए या तो मतदाता को इतना जागरूक होना चाहिए कि वह अपनी प्रखर विवेक बुद्धि को सजग रखे और किसी झूठे प्रचार से प्रभावित न होकर केवल हर दृष्टि से खरे व्यक्ति को ही वोट दे। अन्यथा यदि प्रजाजनों की मनोभूमि भोले भण्डारी जैसी ही रहे तो फिर दूसरा उपाय यह है कि मतदान का अधिकार सीमित कर दिया जाये और केवल उन्हें ही वोटर रहने दिया जाये जिनकी प्रतिभा बहकाव, पक्षपात या प्रलोभन से प्रभावित न होकर सही प्रतिनिधि चुन सकने योग्य सिद्ध हो सके।

जो हो-अन्ततः प्रजातन्त्र में वोट और वोटर का महत्त्व रहेगा और उसी के आधार पर शासन तन्त्र की व्यवस्था चलाने वाले प्रतिनिधियों का मंडल नियुक्त होगा। कहना न होगा कि इस मंडल के स्तर के अनुरूप से ही शासन की रीति-नीति और कर्मचारियों की गतिविधियाँ रहेंगी। आज शासन कर्मचारी यदि रिश्वत, अशिष्टता, आलस्य और अवरोध उत्पन्न करता है तो जितना कसूर उसका है उससे अधिक उस संचालक मंडल का माना जायेगा जिसको जनता ने सर्वसत्ता सम्पन्न बनाकर चुना है। वे लोग चाहें तो दुष्ट कर्मचारियों को कड़े दण्ड भी दे सकते हैं और उनके पद छीन सकते हैं। इतनी शक्ति हाथ में रहते हुए भी यदि विभागीय धृष्टता बरतते हैं तो यह माना ही जाना चाहिए कि उन्हें नियुक्त करने, वेतन देने और स्थिर रखने वाले 'तंत्रों' ने भी इन कर्मचारियों की भाँति ही अपना कर्त्तव्य नहीं निबाहा।

जनहित की आवश्यक योजनाएँ यदि कार्यान्वित नहीं होतीं तो उसका मूल दोष प्रतिनिधि मण्डल का है। बढ़ते हुए अपराध, भ्रष्ट तरीके, अनुत्पादक योजनाएँ हमारी राष्ट्रीय स्थिरता और प्रगति की प्रधान बाधाएँ हैं और जो इन बाधाओं को दूर कर सकने की प्रतिभा से सम्पन्न न हों उन्हें शासन का उत्तरदायित्व सँभालने और प्रतिनिधि के उपयुक्त कहे जाने का अधिकार नहीं। कभी-कभी कुछ परिस्थितियाँ कष्टसाध्य और शासन तन्त्रों से प्रभावित भी होती हैं पर आमतौर से यही देखने में आता है कि जिनके शासन तन्त्रों में कुशल एवं खरे प्रतिनिधि पहुँचे उन छोटे एवं साधनविहीन राष्ट्रों ने भी स्वल्प काल में आशातीत उन्नति कर दिखाई।

अपने देश में वोटरों को बहकाया जाना सरल है वह हर चुनाव में मौका खोता है। जिन्हें अविश्वस्त समझता है वे भी चुनकर आ जाते हैं। चुनाव के हथकण्डे भारतीय वोटरों की जागरूकता की तुलना में अक्सर बाजी मारते हैं। यदि ऐसा न होता तो दल बदलने का धंधा करने वालों को नया चुनाव लड़े बिना वैसा करने की छूट न मिलती। जिन प्रतिनिधियों की काली करतूतें सामने आ चुकी हैं उन्हें दुबारा जनता के सामने मुँह दिखाने की हिम्मत न पडती। पर देखते हैं कि वे ही दूने उत्साह से चुनाव लड़ते और धड़ल्ले से जीतते है। इसे स्पष्टतः लोक मानस के स्तर की हार कहना चाहिए।

परिस्थिति ऐसी पैदा की जानी चाहिए कि चरित्रवान और दूरदर्शी व्यक्ति अपनी महत्ता के आधार पर चुने जा सकें । उन्हें एक पैसा भी खर्चा न करना पड़े । जो चुनाव में पैसा पानी की तरह बहाता है और ओछे हथकण्डे अपनाकर जाति-बिरादरी, प्रलोभन, खुशामद आदि के आधार पर चुने जाने के षड्यन्त्र बना रहा है उसे निश्चित रूप से हराया जाना चाहिए । पार्टियाँ अपना गौरव खो चुकीं अब व्यक्ति की उत्कृष्टता और दूरदर्शी देशभक्ति ही वोट पाने की योग्यता होनी चाहिए यह तथ्य यदि वोटर समझ सकें तो ही अनुशासन की आशा करनी चाहिए । आज की स्थिति जब तक न बदलेगी भविष्य अन्धकारमय ही बना रहेगा ।

प्रश्न—

(१) प्रजातन्त्र का क्या अर्थ है तथा इस प्रणाली में शासन तंत्र कैसे चलता है ? (२) हमारे शासन तंत्र में अपेक्षित कार्य-कुशलता न होने का क्या कारण है ?(३) प्रतिनिधि कैसे चुना जाना चाहिए ? (४) आजकल नागरिक मतदान करते समय किन बातों से प्रभावित होकर मतदान करते हैं ? क्यों ? (५) वर्तमान परिस्थितियों से मतदान का अधिकार सीमित करना क्यो आवश्यक है ? (६) शासकीय कर्मचारी अशिष्टता व भ्रष्टाचार, आचरण एवं अवरोध वृत्ति के शिकार क्यों बनते जा रहे हैं ? (७) योजनाएँ समयावधि में कार्यान्वित क्यो नहीं होतीं ? (८) अपने देश मे वोटरों को बहकाया जाना सरल क्यों है ? (९) लोकमानस का स्तर ऊँचा उठाने के लिए क्या किया जाना चाहिए ? (१०) पार्टियाँ अपना गौरव क्यों खो चुकी हैं ?

प्रबुद्ध नारी-महिला जागरण की कमान सँभालें

किसी को गिराने का पाप तो कोई दूसरा भी कर सकता है पर उठाने के लिए यह आवश्यक है कि गिरने वाला स्वयं उस उत्थान प्रक्रिया में पूरे मन से सहयोग दे । स्त्री जाति की वर्तमान पददलित स्थिति का पाप सामन्तकालीन युग के पुरुष ने किया है । उसके मानवोचित अधिकार छीने और घरों की छोटी कोठरी में कैद करके उसे पर्दे के आवरण से जकड़ दिया । इस जकड़न में उसकी शारीरिक एवं मानसिक प्रतिभाएँ सड़-गल गई । परकटे पक्षी की तरह असहाय स्थिति में वह पहुँच गई । आर्थिक दृष्टि से परावलम्बी और मानसिक दृष्टि से पिछड़ी हुई आज की नारी की दशा अति दयनीय है । उसे पुरुष के उचित एवं अनुचित आदेश नतमस्तक होकर सहने पड़ते हैं । संयोगवश उसे निराश्रित, विधवा, परित्यक्ता जैसी स्थिति में पड़ना पड़े तब तो मरण से भी बुरा और कष्टकारक जीवन जीते देखकर पत्थर भी रो सकता है ।

इस विपन्न परिस्थिति से नारी को निकाला जाना मानवता की एक आवश्यक एवं न्यायोचित ऐसी माँग है जिसे अविलम्ब पूरा किया जाना चाहिए । अर्द्धांग लकवे से पीड़ित शरीर की तरह जिस समाज की आधी जनसंख्या अपंग बनी पड़ी हो उसका गृहस्थ जीवन, पीढ़ियों का निर्माण तथा प्रगति का प्रयास दिवा-स्वप्न की तरह असंभाव्य ही बना रहेगा । सर्वांगीण प्रगति की दिशा में प्रथम कदम हमको नारी-उत्कर्ष के लिए प्रबल प्रयत्नों की योजना के साथ आगे बढ़ाने चाहिए । कहना न होगा कि इस संदर्भ में पुरुष जाति को पाप-प्रायश्चित की तरह नारी उत्कर्ष के लिए बड़ी से बड़ी सुविधाएँ देने की तैयारी करनी होगी वहाँ नारी को स्वयं भी इस अभाव की पूर्ति के लिए बढ़-चढ़कर योगदान देना चाहिए । अपने उत्कर्ष के लिए हर किसी को प्रबल प्रयत्न करने पड़े हैं आज की नारी के सामने भी कर्त्तव्य की यह विकट चुनौती सामने खड़ी है ।

आवश्यकता ऐसी बहादुर नारियों की है जो अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं को लात मार महिला कल्याण के महान यज्ञ में अपने जीवनों का उत्सर्ग करने के लिए साहस भरे अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत कर सकें । अपने देश में शिक्षित नारी की संख्या बढ़ती ही जाती है पर उनमें से कुछ ही ऐसी निकलती हैं जो अपने वर्ग की दयनीय दुर्दशा के लिए कसक अनुभव करें और उन्हें उठाने के लिए बहादुरों जैसी चिन्तन क्रिया अपनायें । विवाह की इच्छा स्वाभाविक है, पर अपने वर्ग की दुर्दशा मिटाने के लिए उस सुख को लात मार देना भी अस्वाभाविक नहीं है । आज तो सुशिक्षित महिलाओं में से बहुतों को दहेज जैसे अभिशापों के कारण अविवाहित रहने के लिए विवश होना पड़ता है । यह लड़कियाँ भी नौकरी करतीं और पेट पालतीं और विलासिता के कुछ अधिक साधन जुटा लेने भर के गोरखधन्धे में पड़ी हुई-घर कुटुम्ब वालों के लिए आमदनी का साधन मात्र बनकर जिन्दगी गुजारती हैं । काश, इनमें से कुछ के मन में अपने वर्ग के प्रति करुणा जग सकी होती तो निस्सन्देह वे रूखी-सूखी रोटी खाकर अपने निरर्थक और नीरस जीवन को नारी उत्कर्ष की सेवा-साधना में लगाकर धन्य बना सकती थीं । कितनी ही विधवाएँ-कितनी ही परित्यक्ताएँ हैं-जो अपने लिए और अपने आश्रयदाताओं के लिए भार बनकर जी भर रही हैं । यह बहुमूल्य जीवन यदि महिला-कल्याण के लिए नियोजित हो सके होते तो परिस्थितियाँ वैसी न होतीं जैसी आज दीख रही हैं । कितनी ही सुसम्पन्न महिलाएँ ऐसी हैं जिनके घर प्रचुर सुविधा-साधन हैं । नौकर-चाकर रहते हैं और जिन्हें बहुत-सा समय खाली काटना पड़ता है । इन्होंने अन्य लोगों की तरह यदि शौकिया रूप में भी महिला-मंगल का काम सँभाला होता तो अनेक को इनका अनुकरण करने की प्रेरणा मिलती । नारी उत्थान का आन्दोलन जो अपने देश में बड़े आदमियों के परिवार की महिलाओं का चोचला भर बनकर रह गया है एक प्रखर क्रान्ति का रूप धारण कर सकता था-यदि उसमें कर्मठ, त्यागी, बहादुर और दर्दमन्द प्रबुद्ध महिलाओं का समुचित योगदान मिल सकना सम्भव हुआ होता ।

समय की माँग है कि बिना वक्त गँवाये नारी उत्थान का एक प्रचण्ड आन्दोलन खड़ा किया जाये । पुरुषों को उसके लिए पृष्ठभूमि तैयार करनी चाहिए, पर आगे नारी को ही आना पड़ेगा । बागडोर उसे ही सँभालनी चाहिए और नेतृत्व उसे ही करना चाहिए । ऐसी सुशिक्षित महिलायें जिनके कन्धे पर पारिवारिक उत्तरदायित्वों का बहुत बोझ नहीं है, आयें और और ऐसी महिलाओं को ढूँढ़ निकालें जिनमें सेवा के बीजांकुर मौजूद हों और जिनमें बहादुरी तथा प्रतिभा की रोशनी थोड़ी बहुत हो । उन्हें साथ लेकर एक महिला-संगठन कहीं भी तैयार किया जा सकता है यह कार्य कथा-कीर्तन, भजन, सत्संग जैसे स्तर का भी रखा जा सकता है जिससे पुरानखण्डी प्रकृति के लोग भी इस प्रकार के आयोजनों में अपनी महिलाओं को उसमें जाने और सम्मिलित होने की छूट दे सकते हैं । महिलाओं को उनके घर वाले चहारदीवारी से बाहर कहाँ निकलने देते हैं पर एक बार यदि थोड़ी-थोड़ी छूट उन्हें मिलने लगी तो यह क्रम आगे चलकर इतना समर्थ भी हो सकता है कि वे समाज-सेवा, शिक्षा तथा दूसरे मंगलमय कार्यों में योगदान दे सकें । दूरदर्शी लोग तो स्वेच्छापूर्वक अपनी महिलाओं को ऐसे संगठनों और आयोजनों में भेजेंगे क्योंकि इससे उनकी प्रतिभा निखरेगी और उस प्रतिभा से अन्ततः ये अपने परिवार के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होंगी ।

कितने ही कार्य ऐसे हैं जो नारी उत्थान के लिए हर जगह आरम्भ किये जा सकते हैं और किये जाने चाहिए । शिक्षा का स्थान सर्वप्रथम है । निरक्षरता मिटाये बिना ज्ञान के कपाट खुलने का अवसर ही नहीं आता । प्रौढ़ महिलाओं के लिए तीसरे पहर चलने वाली पाठशालाएँ मुहल्ले-मुहल्ले और गाँव-गाँव स्थापित की जानी चाहिए । इनसे अक्षर ज्ञान ही नहीं मानव-जीवन एवं सामाजिक स्थिति की सभी छोटी-बड़ी समस्याओं के स्वरूप समझाये जायें और चारों ओर फैली हुई विकृतियों के दुष्परिणाम एवं निराकरण करने के उपाय सिखाये जायें । इस प्रकार का शिक्षण नारी उत्कर्ष की आधारशिला बन सकता है । जहाँ सम्भव हो सिलाई आदि गृह-उद्योगों का भी उसमें सम्मिश्रण रखा जाये । कन्या पाठशालाएँ, महिला-विद्यालय, बाल-मन्दिर, शिल्प-शिक्षा, आरोग्यशाला, प्रसूति गृह, संगीत-प्रशिक्षण, कला-कौशल जैसी कितनी ही रचनात्मक गतिविधियाँ महिला सेवा-संगठनों द्वारा चलाई जा सकती है । सुशिक्षित महिलाएँ उनके संस्थापन एवं संचालन का उत्तरदायित्व सँभालें तो धन के अभाव में ये प्रवृत्तियाँ रुक सकने वाली नहीं हैं । अवश्य ही जनता का उदार सहयोग उन्हें मिलेगा ।

कितने ही आन्दोलन ऐसे हैं जो घर-घर जाकर चलाये जा सकते हैं । (१) घरों, दुकानों तथा कमरो में टँगे हुए नारी को अपमानित करने वाले अश्लील चित्रों को हटाया जाना और उनके स्थान पर गायत्री मन्त्र तथा प्रेरणाप्रद वाक्य तथा आदर्श चित्रों का लगाया जाना, (२) जूठन न छोड़ने की प्रतिज्ञा, (३) भौंड़ी फैशन, चुश्त कपड़े, भद्दे श्रृंगार तथा जेवर लादने जैसे ओछी टीपटाप छोड़कर शालीन वेश-विन्यास अपनाने का अनुरोध (४) घरों में उपासना कक्षों की स्थापना, (५) उत्सवों में भद्दे गीत न गाने की प्रतिज्ञा, (६) पर्दा प्रथा का त्याग, (७) अन्ध-विश्वासों का बहिष्कार, (८) मृतक-भोज, विवाह-शादियों के अपव्यय का विरोध, (९) घरेलू शाक-वाटिका का प्रशिक्षण, (१०) गृह-व्यवस्था के अगणित पक्षों का ज्ञान तथा उनका व्यवहार । इस प्रकार के अनेक कार्यक्रम ऐसे हो सकते हैं जो घर-घर जाकर सिखाने, समझाने की अपेक्षा रखते हैं । परिस्थिति के अनुसार और भी कितने ही कार्य ऐसे हो सकते हैं जो नारी की खोई हुई शक्ति को जगाने और समर्थ प्रतिभावान बनाने में सहायता कर सकते हैं । काम बहुत पड़ा है, कहीं से भी किया जा सकता है । आवश्यकता ऐसी प्रतिभावान् नारियों की है जो महिला-कल्याण के लिए अपनी भावना एवं शक्ति का एक बड़ा अंश इस परम उपयोगी और अति महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए समर्पित कर सकें ।

प्रश्न—

(१) वर्तमान स्त्री जाति को पददलित स्थिति में पहुँचाने का पापी कार्य किसने किया है ? (२) पद-दलित स्थिति में पड़े रहने के कारण स्त्री जाति की क्या स्थिति हो गई है ? (३) इस विपन्न परिस्थिति से स्त्री जाति को निकालने के लिए क्या प्रयत्न होने चाहिए ? (४) इस स्थिति से नारी जाति को निकालने के लिए स्वयं नारी को क्या प्रयत्न करने चाहिए ? (५) इस समय स्त्री जाति किस तरह जीवनयापन कर रही है ? (६) स्त्री-जाति को अपमान भरे जीवन से निकाल कर ऊँचा उठाने के लिए पुरुषों को क्या करना चाहिए ? (७) नारी जाति को ऊँचा उठाने मे सहायक ऐसे कौन से कार्य हैं ? (८) घर-घर में चलाये जा सकने योग्य ऐसे कौन-से आन्दोलन हैं, जिनमें स्त्री जाति की प्रतिष्ठा फिर स्थापित हो सकती है ?

नारी उत्कर्ष के लिए कुछ विशेष प्रयत्न किये जायें

भारतीय धर्म और संस्कृति ने नारी का दर्जा नर से ऊँचा माना है । मातृ-देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव की उक्ति में देवताओं की गणना करते हुए पहले माता, फिर पिता व आचार्य की गणना है । भगवान के साथ उनकी सहधर्मिणी शक्ति का नाम प्राथमिकता के साथ जुड़ा हुआ है । लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधे-श्याम, उमा-महेश, शची-पुरन्दर, सिद्धि-गणेश आदि युग्मों में नारी पहले और नर पीछे है । हिन्दू धर्म के आदि व्यवस्थापक मनु ने नारी की वरिष्ठता का प्रतिपादन करते हुए कहा है-"जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं ।"

यह मान्यता जब तक अपने समाज में बनी रही तब तक वह समृद्ध और समुन्नत बना रहा । अपना लाखों वर्ष

का गौरवपूर्ण इतिहास ऐसा ही है जिसमें व्यक्तियों का निर्माण, परिवार में स्वर्ग का अवतरण और समाज का समुन्नत स्वरूप अक्षुण्ण रूप से बना रहा । इस सृजन में नारी का ही योगदान अधिक रहा है । पुरुष उपार्जन एवं संघर्ष की क्षमता में आगे है तो नारी में भावनात्मक उत्कृष्टता एवं रचनात्मक सूझ-बूझ का बाहुल्य है । दोनों की तुलना में नारी की विशेषताओं का ही मूल महत्त्व आगे है ।

इसे एक दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि भारत को राजनैतिक पराधीनता के चंगुल में फँसना पड़ा और आक्रमणकारियों ने हमें धन-मान से ही वंचित नहीं किया वरन् उन सांस्कृतिक मूल्यों को भी कुचल-मसलकर रख दिया, जिनके कारण हमारी जातीय एवं राष्ट्रीय गरिमा आकाश को छूती रही थी । नारी का अपने यहाँ बहुत मान था । वह कन्धे से कन्धा मिलाकर हर क्षेत्र में संयोगिनी ही नहीं थी वरन् नेतृत्व भी करती थी । आत्म-विकास और सामाजिक रचना के सभी साधन उसे उपलब्ध थे । पर आक्रमणकारियों ने न केवल आर्थिक लूट-खसोट का कुचक्र चलाया वरन् हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को भी इस चतुरता के साथ गिराया कि हम मुद्दतों तक खड़े हो सकने लायक ही नहीं रह गये । ऐसी ही एक दुरभिसन्धियों में एक यह भी है कि हम नारी को हेटी, नगण्य, दुर्बल, अविश्वस्त, दासी एवं रमणी मात्र मानने लगे और उसके महान गौरव को पैरों तले रौंद डाला ।

प्राचीनकाल की और आज की नारी में आकाश-पाताल जैसा अन्तर कर दिया गया । तब वह हर क्षेत्र में नेतृत्व करती थी और पूज्य थी पर अब तो पद-दलित बनी बेतरह कराह रही है । मानो वह कोई अविश्वस्त, अक्षम्य अपराधिनी हो । पालतू पशु मुँह खोलकर घर में रह सकते हैं और बाजार में घूम सकते हैं पर सवर्ण और ऊँचे कहे जाने वाले परिवारों की नारियों को पर्दे के भीतर रहना होगा । उनके मुख पर पर्दा पड़ा रहना चाहिए । गाय मारने वाले, हत्यारों को प्रायश्चित में मुँह ढककर एक वर्ष तक रहने का पहले प्रचलन था, उन्हें कलंकी कहते थे–वे किसी को अपना मुँह नहीं दिखाते थे । गाय न मारने पर भी भारतीय नारी को गौ हत्यारी की तरह आजीवन मुँह ढककर रहना पड़ता है । पुरातन पंथियों के यहाँ पर्दा, मर्दों की नाक का प्रश्न बना हुआ है । यदि वे मुँह खोल दें तो समझना चाहिए कि उस घर में मर्दों की नाक कटकर गिर पडी ।

लड़कियो की शिक्षा अनावश्यक मानी जाती है । बहुत हुआ तो चिट्ठी-पत्री लिखने या सुख-सागर, प्रेम-सागर पढ़ने जितना अक्षर ज्ञान करा दिया । पढ़-लिखकर लड़कियाँ बुरी हो जाती हैं, उन्हें कोई नौकरी करनी है ? सयानी लड़कियों को घर से बाहर नहीं जाने देना चाहिए आदि प्रतिपादन लोग बड़ी शान के साथ करते हैं ।

शिक्षा मनुष्य मात्र के लिए आवश्यक है । उससे बौद्धिक विकास होता है और मानसिक दृष्टि से विकासवान होना हर मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है । इस तथ्य को लड़कों के लिए ठीक समझा जाता है और लड़कियों के लिए गलत । किसी को पद-दलित रखना हो तो उसे असहाय और असमर्थ बनाये रखना पड़ता है । नारी पर हमने इतने प्रतिबन्ध लगा रखे हैं कि वह अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का कभी विकास ही नहीं कर सकती । उसे इन परिस्थितियों में आजीवन असहाय और अपंग बनकर ही रहना पड़ता है ।

लड़की और लड़के के बीच आकाश-पाताल जैसा अन्तर किया जाता है । लड़की का जन्म घर भर में उदासी और चिन्ता का कारण माना जाता है और लड़का जन्मते ही ढोल बजते और बतासे बँटते हैं । लड़कों से लड़कियाँ पिटती रहती हैं और माँ-बाप हँसते रहते हैं । भोजन और वस्त्र में बहुत अन्तर रखा जाता है । मनोरंजन, खेलकूद की सुविधा केवल लड़कों को है । विवाह-शादी के वक्त यह अन्तर और भी वीभत्स रूप धारण करता है । बूढ़ी गाय दान करनी हो तो पण्डा साथ में चारे-दाने के लिए दक्षिणा माँगता है । लड़कियाँ बूढ़ी गायों की तरह हैं, जिन्हें किसी को दिया जाय तो पहिले यह पूछा जाता है इस निरर्थक कूड़े को घर में तब घुसने देंगे जब बड़ी से बड़ी रकम उसके चारे-दाने को दहेज में और दी जाये । यह नारी जाति का नृशंस अपमान है । लक्ष्मी के रूप में जिस देवी का, जिस निःस्वार्थ परोपकारिणी का प्रवेश परम मंगलमय और सौभाग्य माना जाना चाहिए था, उसी को लेने में लोग सीधे मुँह बात नहीं करते और हजार तरह के नखरे दिखाते हैं, यह कितनी निर्लज्ज परिस्थिति है । विधवा होने पर तो वह एक प्रकार से विशुद्ध कलंकिनी बन जाती है । उसे छूना, मुँह देखना, अच्छा खाना, पहनना, हँसना बोलना सब कुछ निषिद्ध कर दिया जाता है, मानो उसी ने पति की जान-बूझकर हत्या की हो ।

आधे शरीर को लकवा मार जाने पर जो दुर्दशा शरीर की होती है वही हमारे समाज की हो रही है । अशिक्षित, अविकसित और पद-दलित नारी किसी के लिए भी सुखकर नहीं हो सकती । अपनी अयोग्यता के कारण वह अपना शरीर, मन, स्वभाव और कर्तृत्व दोष-दुर्गुणयुक्त और रुग्ण रखेगी । पति को प्रसन्न रखने, उसके कार्यों में हाथ बँटाने और बोझ हलका करने के सम्बन्ध में उसे कुछ ज्ञान ही न होगा, कुछ सीखा, जाना ही न होगा तो बेचारी करेगी भी क्या ? बच्चों का प्रजनन तो हर योनि की मादा कर सकती है, पर उनका निर्माण और विकास करना माता का काम है । माता का उत्तरदायित्व सँभालने के लिए उसका शिक्षित, सुविकसित और सुसंस्कृत होना आवश्यक है । आज के घुटन भरे वातावरण में कोई नारी

अपने शारीरिक, मानसिक, दाम्पत्य, पारिवारिक, शिशु निर्माण एवं सामाजिक उत्तरदायित्व का भार उठा सकती है यह सोचना ही व्यर्थ है । अविकसित नारी स्वयं ही एक समस्या बनकर रहेगी ।

प्रकृति ने नर और नारी के बीच नाम मात्र का ही अन्तर किया है । एक को मूँछें आती हैं एक को नहीं आतीं । ऐसी छोटी-मोटी शारीरिक भिन्नताओं को छोड़कर दोनों की प्रतिभा, क्षमता, योग्यता, सामर्थ्य एवं समानता एक जैसी है । कई संदर्भ में तो नारी और भी आगे बढ़ी-चढ़ी है । उसकी योग्यता एवं सामर्थ्य का लाभ समाज को न मिले तो यह सदा अर्द्ध विकसित ही रहेगी । आधी जनसंख्या कैदियों की तरह भार बनी बैठी रहे, भोजन बनाने जैसी एक दो घण्टों में ही सम्पन्न हो सकने वाली प्रक्रिया में ही सारा समय लगा दे और आये दिन बच्चे पैदा करने के जंजाल में अपने को लगाये-घुलाये रहे यह कोई गौरव की बात नहीं है, न इसमें नारी की शोभा है और न उस नर की जो अपने को अधिपति बनाये बैठा है ।

समय आ गया है कि विपन्नता को सुधारा और बदला जाये । नारी की उत्कृष्टता को समझा और उसके प्रति आदर-कृतज्ञता का भाव रखा जाये । बीमारी से उठने के बाद रोगी के साथ अन्य घर वालों की अपेक्षा कुछ अधिक उदार व्यवहार किया जाता है । दो हजार वर्ष की पद-दलित स्थिति के कारण नारी को जो क्षति पहुँची है उसकी पूर्ति के लिए अब ब्याज सहित अधिक सद्व्यवहार पाने का उसे अधिकार है । लड़कों की अपेक्षा हर क्षेत्र में लड़की को अधिक सुविधाएँ मिलनी चाहिए और नारी के विकास का क्रम तीव्रगति से अग्रगामी करने के लिए उसे पुरुषों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ मिलनी चाहिए । तभी तो वर्तमान विषमता का अन्त हो सकेगा ।

हर विचारणीय व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने समाज की अर्द्धांग मूर्छा को दूर करने का प्रयत्न करें और वे सब परिस्थितियाँ उत्पन्न करें जिनसे नारी भी नर के समान ही समर्थ और कार्य-कुशल बनकर समाज की अभिनव रचना में समान रूप से योगदान दे सके ।

प्रश्न–

(१) नारी का सम्मान क्यों किया जाना चाहिए ? (२) विदेशियों ने हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को किस प्रकार गिराया ? (३) भारत में नारियों की वर्तमान अवस्था पर प्रकाश डालिए ? (४) पर्दा-प्रथा से क्या हानियाँ हैं ? (५) भारतीय समाज ने नारी को अबला और अपंग क्यों बना रखा है ? (६) नारी जाति का नृशंस अपमान क्या है ? (७) आज हमारे समाज की हालत कैसी है ? (८) सिद्ध कीजिए कि अविकसित नारी एक समस्या है ? (९) नारी के प्रति हमारा क्या कर्तव्य है ? (१०) नारी को पुरुषों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ क्यों मिलनी चाहिए ? (११) विचारशील व्यक्ति का नारी समाज के प्रति क्या कर्तव्य है ।

ऊँच-नीच की मान्यता अन्याय मूलक है

घोड़ा, गाय, बन्दर, कबूतर आदि पशु-पक्षियों की तरह मनुष्य भी एक जाति है । उसके रंग, आकृति में प्रदेश और प्रकृति के कारण कुछ अन्तर भी हो सकता है, पर मूलतः वे एक ही वर्ग या जाति के गिने जाते रहेंगे । यदि भाषा, प्रदेश, आकृति, प्रकृति आदि के आधार पर उनका वर्गीकरण भी किया जाये तो भी उससे मूल जातीय एकता में कोई अन्तर नहीं आता । मनुष्य भगवान का पुत्र है । पिता को अपने हर बच्चे से समान प्यार होता है और वे सभी बच्चे एक वंश वर्ग के माने जाते हैं । परस्पर भाई-भाई एक ही परिवार एवं अंश-वंश के हैं ।

प्राचीनकाल में कार्य और व्यवसाय के विभाजन की दृष्टि से समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्गों में बाँटा गया था । वह विभाजन स्वाभाविक है । इस विभाजन में स्वाभाविक सुविधा रहती है और वंश परम्परा से चली आने वाली कुशलता में अक्षुण्यता एवं अभिवृद्धि होती चलती है । योग्यता, प्रकृति, परिस्थिति एवं अभिरुचि के अनुसार इस कार्य विभाजन में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती पर कठिनाई तब उत्पन्न होती है, जब वंश या कार्य के कारण किसी वर्ग को ऊँच और किसी को नीच बताया जाने लगे । अध्यापक अपने को ऊँच कहे और सैनिक नीचा माना जाये । इतना ही नहीं इस विभेद के कारण कोई किसी को छूने तथा हाथ से छुआ पानी पीने, रोटी खाने तक से इन्कार करने लगे, तब आश्चर्य होता है और कठिनाई उत्पन्न होती है ।

दुष्टता भरे दुष्कर्म करने वाले को नीच कहा जाये और उसके सामाजिक बहिष्कार का क्रम बनाया जाये तो बात समझ में आती है । ज्ञान, सेवा, सद्गुण, सदाचरण के आधार पर किसी को बड़ा, ऊँचा माना जाये और सम्मानित किया जाये, इसके पीछे भी कारण है । सम्मान और असम्मान की स्थिति किसी को अपनी चारित्रिक उत्कृष्टता-निकृष्टता के आधार पर मिले तो इसमें औचित्य माना जायेगा पर गुण, कर्म ,स्वभाव की समानता होते हुए भी केवल वंश के आधार पर कुछ लोग ऊँचे समझे जायें और कुछ को नीचा कहा जाये, यह बात तर्क या कारण की परख पर उचित नहीं उतरती है । कोई वंश ऊँचा क्यों हो सकता है ? कोई वंश नीचा क्यों कहलाये ? इसका न कोई कारण समझ में आता है और न इस प्रतिपादन का कोई औचित्य ही सिद्ध होता है ।

किसी वंश में किसी समय कुछ श्रेष्ठ पुरुष हुए थे, इसलिए उस वंश के लोगों को अभी भी श्रेष्ठ पुरुषों जैसा सम्मान मिले, यह दावा बेबुनियाद है । ब्राह्मण वंश में वशिष्ठ, अत्रि, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज आदि ऋषि-मुनि तपस्वी, त्यागी हुए हैं, तो रावण, कुम्भकरण, मारीच, खरदूषण जैसे दुष्ट भी हुए हैं । उत्तराधिकार का दावा

किया जाये तो उसमें श्रेष्ठता ही नहीं, निकृष्टता भी हिस्से में आयेगी । तब सम्मान ही नहीं, तिरस्कार का भाजन भी बनना पड़ेगा । किसी वंश में न तो सभी लोग अच्छे हुए हैं, न बुरे । सबको उनकी उत्कृष्टता-निकृष्टता के अनुरूप मान, तिरस्कार मिलता रहा है । उत्कृष्टता किसी वंश की बपौती नहीं । हर वर्ग में श्रेष्ठ व्यक्ति होते रहे हैं । इसी प्रकार कोई वर्ग ऐसा नहीं जिसमें निकृष्ट चरित्र के पूर्व पुरुषों की एक लम्बी श्रृंखला न मिल सके फिर उनके वशजों का दावा केवल उत्कृष्टता पर ही हो और वे उसी आधार पर अपने को ऊँचा घोषित करें और ऊँचे लोगों को मिलने वाले सम्मान को प्राप्त करना चाहें तो यह उनकी अनधिकार चेष्टा होगी । इसी प्रकार किसी वंश के किन्हीं पूर्व पुरुषों ने कुछ अनुपयुक्त कार्य किये हों और उस कारण तिरस्कार मिला हो तो उन दोषों से रहित वंशजों का इस कारण तिरस्कृत किया जाना भी अन्यायमूलक है ।

जाति-पाँति की बात समझ में आ सकती है पर ऊँच-नीच का विभेद सर्वथा अवांछनीय है । कोई ईमानदार और समझदार व्यक्ति इसका समर्थन नहीं कर सकता । भारतीय धर्म शास्त्र इस मान्यता का सर्वथा विरोधी है । यहाँ अपने श्रेष्ठ कर्मों के कारण क्षुद्र-वंश के अगणित व्यक्ति ब्राह्मण पद पाते रहे हैं । इन प्रमाणों से भारतीय इतिहास-पुराणों का पन्ना-पन्ना भरा पड़ा है । मध्यकाल में भी रैदास, कबीर, नानक, दादू, नामदेव, विवेकानन्द आदि अनेक भक्त ब्राह्मणोत्तर जातियों में, कितने ही तो क्षुद्र-वर्ण में पैदा हुए, पर उनकी गरिमा किसी ब्राह्मण से कम नही आँकी गई । गाँधी, बुद्ध, महावीर भी तो ब्राह्मण नहीं थे । राम-कृष्ण क्षत्रिय थे पर उनकी पूजा ब्राह्मण भी करते हैं । श्रेष्ठता को जातीयता की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता ।

आज अपने देश की विचित्र दशा है । हिन्दू-समाज की एक तिहाई जनसंख्या अछूत, अस्पृश्य कहलाती है । उन्हें सवर्ण हिन्दुओं के समान नागरिक अधिकार अभी भी नहीं मिले हैं । संविधान ने अस्पृश्यता को अवांछनीय और कानून ने उसे दण्डनीय माना है । जनमत का विवेक ऊँच-नीच की मान्यता को अनर्गल घोषित कर चुका है । पर अभी भी हमारे मस्तिष्क और व्यवहार में वे ही मान्यताएँ जमी बैठी हैं । यह विष इतना गहरा उतर गया है कि एक ही जाति के लोग अपनी उपजातियों को नीच-ऊँच मानते हैं ।

बहुत सोचने पर भी इस ऊँच-नीच की मान्यता का कोई औचित्य समझ में नहीं आता । शास्त्रों और पूर्व पुरुषों की दुहाई देना व्यर्थ है । अन्धकार युग में किसी ने कुछ श्लोक गढ़कर किसी ग्रन्थ में चिपका दिये हों तो बात दूसरी है पर महान हिन्दू धर्म इतना अनुदार और संकीर्ण तो नहीं हो सकता कि वह मनुष्य-मनुष्य के बीच पड़ने वाली घृणा-द्वेष को बढ़ाकर सामाजिक एकता को छिन्न-भिन्न करने वाली खाई खोदे । हमने बारीकी से हिन्दू धर्म का अध्ययन किया है और उसमें इस बात की कहीं गन्ध भी नहीं पाई है कि केवल वंश परम्परा के कारण किसी को नीच, किसी को ऊँच माना जाये फिर यह मान्यता कहाँ से चल पड़ी ।

वर्ण भेद के अनुदार और संकीर्ण विचारधारा की संपूर्ण विश्व में भर्त्सना हो रही है । अमेरिका की तरह काले-गोरे रंग के आधार पर ऊँच-नीच की भावना जहाँ-तहाँ पाई जाती है, उसको विश्व में लोकमत ने एक स्वर से धिक्कारा है । अफ्रीका की जो गोरी सरकारें इस नीति पर चल रही हैं, उनकी राष्ट्र-संघ तक ने भर्त्सना की है और इस चाल से बाज आने की चेतावनी दी है । महात्मा गाँधी ने इसके विरुद्ध दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह आन्दोलन चलाया था । जहाँ कहीं यह नीति बरती जाती है, जो भी इसका प्रतिपादन करता है वह विवेकशील लोकमत के आगे अपराधी ठहरता है । न्याय और विवेक की कसौटी पर मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊँच-नीच की मान्यता का समर्थन करना मानवता के प्रति एक अपराध ही माना जाता रहेगा ।

इस मान्यता ने हिन्दू समाज की अपार क्षति की है । अछूत वर्ग इस तिरस्कृत सामाजिक स्थिति को स्वीकार न करेगा, यह निश्चित है । जैसे-जैसे उनमें चेतना उभरेगी वे इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह करेंगे । यह विद्रोह पहले पचास वर्ष से दिन-दिन उग्र होता चला जा रहा है । मुसलमानी शासन में अगणित अछूत मुसलमान बने, ईसाई शासन में उनका झुकाव ईसाई शासन की ओर हुआ । अब वे अपनी स्वतन्त्र चेतना के उभार पर बौद्ध और ईसाई इतनी तेजी से होते चले जाते हैं कि यह आशंका होती है कि कुछ दिन में एक भी अछूत वर्तमान मान्यताओं वाले हिन्दू समाज में न रह सकेगा । मद्रास में यह विद्रोह शासन-सत्ता तक अपने हाथ में ले चुका है । नागालैण्ड का ईसाईस्तान इसी भूल की प्रतिक्रिया है । इन दिनों जिस प्रकार के राजनैतिक षड्यन्त्र चल रहे हैं, उन्हें देखते हुए यह असम्भव नहीं कि अछूत, सवर्ण हिन्दुओं से अलग होकर ईसाई मुसलमानों में जा मिलें और बहुमत उनका हो जाये । ऐसी दशा में सवर्ण-हिन्दुओं को सामाजिक अन्याय का कैसा कठोर प्रायश्चित करना पड़ेगा, उसका अनुमान लगा सकना किसी भी दूरदर्शी के लिए कठिन नहीं होना चाहिए ।

वर्तमान ऊँच-नीच परक वंश जाति की मान्यताएँ हिन्दू-समाज की न्यायनिष्ठा पर भारी कलंक लगाती हैं । इससे विश्व के हर विचारशील वर्ग में हमारी अप्रतिष्ठा होती है । हमें संकीर्ण, अनुदार और अन्यायी कहा जाता है । सामाजिक दृष्टि से हम छिन्न-भिन्न, विभाजित और अस्त-व्यस्त होते हैं । अन्याय का दोष लगाकर अपना ही एक तिहाई वर्ग अपने से अलग हो जाये, यह हमारे लिए हर दृष्टि से लज्जा की बात है । बात यहीं तक सीमित नहीं, हमारी अनीति से क्षुब्ध होकर दूसरे धर्मों में गये हुए अपने लोग अगले दिनों

प्रतिशोध की भावना से ओत-प्रोत होंगे और हमें अपनी करतूतों का दण्ड भुगतना पड़ेगा।

अच्छा हो हम समय रहते चेतें। अपनी भूल सुधारें और मानव मात्र की एकता एवं समता के सार्वभौम न्याय सिद्धान्त को स्वीकार करें। ऊँच-नीच की मान्यताओं का जितना शीघ्र उन्मूलन हो उतना ही हमारा कल्याण है।

प्रश्न–

(१) सिद्ध कीजिए कि 'मनुष्य मात्र की जाति एक है।' (२) प्राचीनकाल में समाज को कितने वर्ग में बाँटा गया था व क्यों? (३) ऊँच-नीच का आधार गुण होना चाहिए या वंश (४) क्या पूर्वजों के कारनामों के कारण उनके वंशजों को ऊँच या नीच माना जाना चाहिए? कारण सहित बताओ। (५) आज भारतीय समाज की विचित्र दशा क्यों है क्या प्राचीनकाल में जाति भेद था?(६) वर्णभेद की संकीर्ण नीति से देश का क्या अहित हुआ है? (७) हिन्दू समाज की संख्या निरन्तर कम होने का क्या कारण है? (८) हिन्दू समाज संकीर्ण, अनुदार एवं अन्यायी क्यों कहा जाता है? (९) ऊँच-नीच के मामलों में हमारा कर्तव्य क्या है।

अशलीलता की बाढ़ हमें पतित बना रही है

स्त्री-पुरुषों के बीच का सम्बन्ध अति पवित्र और अति उच्च स्तर का है। माता और पुत्र, बहिन और भाई, बाप और बेटी के रूप में नर-नारी के सम्बन्धों की चर्चा सदा बहुत ही पवित्रता और शालीनता के साथ की जाती है। पति-पत्नी के बीच भी जिस रिश्ते का निर्वाह होता है वह सखा, मित्र, सहायक, विश्वासी, साझीदार, सम्पर्क और घनिष्ठतम सद्भावना सम्पन्न स्नेही का है। दाम्पत्य-जीवन की सारी अवधि इसी दृष्टिकोण के साथ वे काटते हैं।

वासना का, काम क्रीड़ा का स्थान मानव जीवन में, गृहस्थ जीवन में नगण्य-सा है। जो है उसे भी इतना गुह्य रखा जाता है कि किसी तीसरे को उसे देखने-सुनने का अवसर न मिले। जन-जीवन की दृष्टि में इस अति नगण्य और गुह्य तथ्य को सदा सार्वजनिक चर्चा अथवा चिन्तन में अधिक स्थान देना हेय माना जाता रहा है। क्योंकि यौन विषयक चर्चा एवं चिन्तन से अनेक शारीरिक, मानसिक एवं सार्वजनिक हानियाँ हैं। काम-चिन्तन शरीर में अनावश्यक उत्तेजना पैदा करके वीर्य जैसी अमूल्य धातु के अपव्यय का द्वार खोलता है, इससे जीवन-शक्ति रूपी मूल्यवान पूँजी घटती है और शरीर दुर्बल, अशक्त एवं रुग्ण बनकर अल्पायु के संकट में फँसता है। स्वप्नदोष, प्रमेह, शीघ्रपतन, नपुंसकता आदि कितने ही रोग घेर लेते हैं। शरीर को जितना अधिक कामोत्तेजना से जलाया, उबाला, गलाया जायेगा उतना ही वह क्षीण और अशक्त होता चला जायेगा। मानसिक दृष्टि से भी अनेक हानियाँ हैं, अश्लील-चिन्तन में इतना आकर्षण है कि मस्तिष्क उन्हीं बातों में रुचि लेने का अभ्यस्त बन जाता है और ऐसी अनैतिक, अमर्यादित कल्पनाओं की घटा घुमड़ने लगती है जिन्हें शेखचिल्ली की कल्पना के समकक्ष रखा जा सके। जिनके मस्तिष्क में कामुकता के विचार घूमेंगे उनके लिए शिक्षण, अध्ययन, भजन, चिन्तन, मनन तथा महत्त्वपूर्ण विषयों पर एकाग्र होना कठिन हो जायेगा।

सामाजिक दृष्टि से कामुकता और अश्लील चिन्तन नारी जाति के प्रति उस घृणित स्तर की कल्पना करने के लिए घसीट ले जाते हैं जैसी कि वह वस्तुतः है नहीं। नारी बहिन है, नारी माता है, नारी बेटी है और नारी सहधर्मिणी है। उसे रमणी, कामिनी, वासना एवं उपभोग की प्रतिमा के रूप में देखना, सोचना ऐसा ही है जैसे किसी मन्दिर में प्रतिष्ठापित देव प्रतिमा को उठाकर दुर्गन्धित सड़ी कीचड़ में पटक देना। नारी पवित्रता की प्रतिमा है। नर के लिए उसके अगणित उच्चस्तरीय अनुदान हैं। चिन्तन ही करना हो तो उसे दूध पिलाती हुई माँ के रूप में, गोद में खेलती बेटी के रूप में चित्रित किया जा सकता है।

आज कामुकतापूर्ण उपन्यासों की बाढ़ आ गई है। काम-कला का दिग्दर्शन करने वाली नंगी, गन्दी और गुह्य क्रिया-कलापों को सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत करने वाली किताबें तथा तस्वीरें बाजार में भरी पड़ी हैं। देवी-देवताओं के युग्म कलेण्डरों और तस्वीरों में वे इस पोज के साथ छपते हैं मानो कोई वेश्या और लम्पट काम कौतुक करने के लिए उतारू हो रहे हों। अवतारों के महान प्रयोजन को विस्मृत कर उन्हें वासना का प्रतीक बना दिया गया है।

दुकानों, घरों और कमरों में टँगी हुई अर्द्धनग्न महिलाओं की तस्वीरें बताती हैं कि हम नारी को उसकी गरिमा से गिराकर निर्लज्ज वेश्या के स्तर पर खड़ा करने के लिए उतारू हैं। उसकी सारी महत्ताएँ समाप्त हो गईं केवल कामुकता की एक विशेषता ही शेष है। चढ़ते यौवन को, अर्द्धनग्न देखने के लिए नारी को हम महत्त्व देते हैं। शेष असंख्य विशेषताओं और गरिमाओं की ओर से आँखें बन्द कर ली गई हैं। नारी की वृद्धावस्था, शैशव, वात्सल्य, कठोर श्रम एवं शालीनता का लगता है अब कोई महत्त्व नहीं रहा अन्यथा उस स्थिति के भी चित्र बनते और वे भी हमारे घर-कमरों की शोभा बढ़ाते। नारी का नग्न, अश्लील और कामुक चित्रण हमारी रुग्ण मनोभूमि का चिन्ह है। सिनेमा के पोस्टरों से लेकर ग्रामोफोन के रिकॉर्डों तक, सभी ने मानो नारी की आबरू पर हमला करने की ठानी है और वे उसे वासना के उपभोग की प्रतिमा मात्र अंकित करना चाहते हैं। बरसाती घास-पात की तरह छपने और बिकने वाला साहित्य आजकल अश्लीलता और कामुकता की दुष्प्रवृत्ति को भड़काने के लिए प्रस्तुत होता है, लोगों की पशुता से अनुचित लाभ उठाने के लिए उसे विष के घूँट पिलाने वाले, उपकरण जुटाने वाले दोनों हाथों से दौलत समेटने में लगे हुए हैं।

लेखनी और वाणी का सारा प्रवाह इसी दिशा में लगा हुआ है । कला मानो जन-साधारण की पशु-प्रवृत्तियों को भड़काने के लिए ही सृजी गई हो । भगवती, सरस्वती को जिस घृणित कार्य में आज के कलाकार, गायक, अभिनेता, चित्रकार, साहित्यकार एवं दुकानदार ने बलात् नियोजित कर दिया है उसे कला के प्रति किया गया जघन्य अपराध ही कहना चाहिए ।

इस भौंड़े विचार-प्रवाह का प्रभाव नारी पर भी पड़ा है और वह नर की पशुता के अनुरूप झुकने के लिए अपने को तैयार करती जा रही है । चूँकि नर-पशुओं द्वारा नारी की माँसलता और नग्नता को सराहा जाता है इसलिए नई पीढ़ी की नारी ज्ञात या अज्ञात रूप में अपने को उसी ढाँचे में ढालने लगी है । शृंगार और फैशन के नाम पर अब उसने ऐसा वेष-विन्यास बनाना शुरू कर दिया है जो भौंड़ा और फूहड़ कहा जा सकता है । अर्द्धनग्नता और उभारों को सर्व-साधारण की आँखों में आकर्षक ढंग से लाने का विन्यास वेश्याओं को शोभा देता है, शालीन परिवारों की महिलाओं के लिए यह किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं । जिससे दूसरों को अपनी ओर घूरने की उत्तेजना मिले, ऐसा शृंगार भारतीय ललनाओं के गौरव को गिराने वाला ही कहा जायेगा । हम अपनी भोली बच्चियों को सतर्क करें कि वे अनजान में ही देखा-देखी ऐसे शृंगार एवं विन्यास को न अपनायें जो पुरुष-वर्ग की पशुता को और अधिक उत्तेजित करने में सहायक बने । लज्जा और शालीनता ही नारी का भूषण है । यह तथ्य भारतीय नारी के रोम-रोम में समाया रहना चाहिए ।

अश्लीलता की पूतना हमारी आत्मा को विष के घूँट पिलाने आई है । इस पिशाचिनी से जैसे भी बने पिण्ड छुड़ाया जाना चाहिए तभी हम शालीनता, सज्जनता एवं संस्कृति के सजग प्रहरी कहला सकेंगे । मद्य और माँस बेचने की तरह इस प्रकार की पुस्तकें, तस्वीरें बेचने से दुकानदार इन्कार कर दें जो कि कामुकता भड़काकर जन-मानस को अधःपतित बनाने की भूमिका बनाती हैं । कलाकार अपनी कला को कलंकित न करें । गायक वह न गायें, जिसमें मनुष्य की प्रवृत्तियाँ पशुता की ओर उन्मुख हों । वादक वह न बजायें जिससे वासना भड़के । अभिनेता वैसा अभिनय न करें जिससे अपरिपक्व बुद्धि की नई पीढ़ी कामुकता के दुष्परिणाम भुगते । साहित्यकारों के लिखने के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा है । उसमें से अश्लीलता पर प्रतिबन्ध लगाकर और कुछ ही लिखें ।

सबसे बड़ी बात यह है कि प्रत्येक विचारशील ऐसे उत्पादन से घृणा करे । इस व्यवसाय से धन कमाने वालों की भर्त्सना करे और सर्व-साधारण को सचेत करे कि अश्लीलता की सर्वनाशी आग से खेलने का भौंड़ा मनोरंजन बन्द करें अन्यथा यह बहुत महँगा पड़ेगा । पुस्तकालयों में ऐसी उत्तेजित पुस्तकें बहिष्कृत करा दी जायें । घर-कमरों में टँगे ऐसे चित्र हटा दिये जायें जिनकी बाप-बेटी साथ-साथ बैठकर समीक्षा न कर सकें । रेडियो और रिकार्डों में से उत्तेजक गानों को न सुनने की ठान-ठानी जाये । सभी सार्वजनिक प्रदर्शनों के रूप में अश्लीलता को पूतना को एक आसुरी विभीषिका के रूप में निकाला जाये और दुष्ट होलिका राक्षसी की तरह उसे जलाया जाये । किसी जमाने में विदेशी वस्त्रों की होली जलाते थे, अब समय आ गया है कि अश्लीलता और कामुकता भड़काने वाले समस्त प्रसाधनों को कूड़े-करकट की तरह इकट्ठे करके उन्हें होली की तरह जलायें और उस दुष्प्रवृत्ति की हानि सर्व-साधारण को समझायें । इन सबसे हम बचें अपने बच्चों को बचायें और सर्व-साधारण को अश्लीलता की अनैतिकता से सतर्क करें । यही हमारे लिए उचित है ।

प्रश्न—

(१) अनेक रूपों में नर और नारी के बीच का सम्बन्ध हमारे भारतवर्ष में किस तरह का माना जाता रहा है ? (२) वासना की चर्चा क्या सामाजिक जीवन में करना उपयुक्त होगा ? (३) वासना की चर्चा सामाजिक जीवन में करने से हमें क्या हानियाँ हैं ? (४) मस्तिष्क में कामुकता का विचार भरने से हमें क्या हानियाँ हैं ? (५) आज नारी जाति का किस प्रकार अपमान किया जा रहा है ? (६) उपन्यास और चित्र-तस्वीरें आज किस तरह पेश की जा रही हैं ? (७) पवित्र नारी को निर्लज्ज वेश्या के रूप में पेश करने में कौन-कौन से उद्योग बढ़-चढ़कर भाग ले रहे हैं ? (८) इस समय नारियों को क्या करना चाहिए, पर वे क्या कर रही हैं ? (९) अश्लीलता की बाढ़ से समाज को बचाये रखने के लिए हमें क्या करना चाहिए ?

भिक्षा-वृत्ति को व्यवसाय न रहने दें

मनुष्यता का यह सबसे बड़ा अपमान है कि समर्थ होते हुए भी व्यक्ति दूसरों के आगे अपने व्यक्तिगत व्यय के लिए हाथ पसारे । स्वाभिमान, आत्म-सम्मान को कष्ट और अभाव सहकर भी सुरक्षित रखा जाना चाहिए । कोई दुर्घटना अथवा आकस्मिक विपत्ति के समय आपत्ति धर्म की बात दूसरी है पर सामान्यतया यही नीति है कि मनुष्य अपने हाथ-पैर से काम करके गुजारा करे । दूसरों के आगे हाथ न पसारें और अपने आत्म-सम्मान को न गिराये ।

अपने देश में अब भिखमंगेपन ने एक सुव्यवस्थित व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है । पिछली सरकारी जनगणना के अनुसार अपने यहाँ ८० लाख व्यक्ति भिक्षा-व्यवसाय से अपनी आजीविका चलाते हैं, इसमें असमर्थ एवं अपंगों की संख्या एक लाख से भी कम है, शेष सभी इस योग्य हैं कि अपनी आजीविका अपने श्रम द्वारा उपार्जित कर सकें पर वे करते नहीं ।

भिक्षा व्यवसाय पर निर्भर लोगों में ७० लाख व्यक्ति साधु-ब्राह्मणों का वेश बनाकर विचरण करते हैं और १० लाख अपने को दरिद्र-असमर्थ बतलाते हैं । दोनों ही वर्गों

में अधिकांश की स्थिति ऐसी नहीं है कि उन्हें भीख माँगने पर उतारू होने के अतिरिक्त कोई मार्ग न हो । भजन के लिए यह आवश्यक नहीं कि भिक्षाजीवी बनकर ही उसे किया जाये । अपनी आजीविका से निर्वाह करते हुए भी भजन का उद्देश्य पूरा हो सकता है अन्यथा ऋण भार में यह भजन भी चला जायेगा । यह बात मोटी बुद्धि से भी समझी जा सकती है । ८० लाख तो ये भिखारी हैं, जिन्होंने अपनी एकमात्र आजीविका भिक्षा घोषित की है । ऐसे लोग जो व्यवसाय तो दूसरे करते हैं पर समय-समय पर भिक्षा का लाभ भी लेते रहते हैं, ऐसे 'अर्द्ध-भिक्षुक' भी लगभग इतने ही होंगे । इन डेढ़ करोड़ से अधिक लोगों का भार ९० करोड़ हिन्दुस्तानी जनता को वहन करना पड़ता है । भिक्षा की यह वृत्ति बहुत ही बुरी लत है । इससे अपने समाज के गये-गुजरे आत्म-सम्मान का घृणित चित्र उपस्थित होता है ।

प्राचीनकाल में साधु-ब्राह्मण भिक्षा माँगा करते थे । इसलिए कि वे अपना सारा समय लोक-मंगल के लिए समर्पित कर सकें, आत्म-शुद्धि और आत्म-समर्थता के लिए ये थोड़ा समय भजन, स्वाध्याय में लगाते थे और शेष सारा समय लोक-मंगल में देते थे । निज की न उनकी कोई सम्पत्ति होती थी, न आकांक्षा । भजन और स्वाध्याय भी वे इसलिए करते थे कि इन माध्यमों से विनिर्मित उनका प्रखर व्यक्तित्व लोक-मंगल के लिए अधिक उपयोगी एवं समर्थ सिद्ध हो सके । भिक्षा इसलिए माँगते थे कि आजीविका उपार्जन में उनका बहुमूल्य समय नष्ट न होकर वह समाज के काम आये । ऐसे लोकसेवी कम संख्या में होते थे, उनके पुनीत कर्तृत्व को देखकर लोग भिक्षा देते हुए भी अपने को धन्य मानते थे । उन दिनों हजारों-लाखों लोक-सेवी, साधु-ब्राह्मणों के सत्प्रयत्नों से अपना समाज हर दृष्टि से सुविकसित और समुन्नत बनता था । तब साधु-ब्राह्मणों की संख्या वृद्धि, राष्ट्रीय सौभाग्य की वृद्धि गिनी जाती थी । आज परिस्थितियाँ बिल्कुल उल्टी हो गई हैं । प्राचीनकाल जैसे साधु-ब्राह्मण अब इतने कम हैं कि उन्हें उँगलियों पर गिना जा सके । अधिकांश तो परिश्रम से बचने के लिए यह धन्धा अपनाये हुए हैं ।

पचास लाख साधु भी यदि रचनात्मक कार्यों में लग सके होते तो आज परिस्थितियाँ कुछ और ही रही होतीं । भारत में सात लाख गाँव हैं । पचास लाख व्यक्ति यदि उनका काया-कल्प करने के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, सदाचार आदि समस्याओं को हल करने के लिए-जुट पड़ें तो हर गाँव के पीछे ७ साधु आते हैं और वे अपने प्रयत्न से वहाँ स्वर्गीय वातावरण पैदा कर सकते हैं । साक्षरता की आवश्यकता एक-दो वर्षों में पूरी हो सकती है । गृह-उद्योग पनप सकते हैं । व्यायामशालाएँ, पाठशालाएँ, पुस्तकालय, रक्षादल, सार्वजनिक स्वच्छता, सामाजिक कुरीतियाँ, आलस्य आदि दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण आदि कार्यक्रमों से क्षेत्रों में आशाजनक परिवर्तन देखा जा सकता है । इतने लोक-सेवियों द्वारा देश की परिस्थितियाँ कुछ से कुछ बनाई जा सकती हैं । चीन की ५० लाख सेना संसार भर में आतंक पैदा करती हैं अपने ८० लाख सन्त सारे संसार में भारतीय धर्म और संस्कृति की ध्वजा फहरा सकते हैं पर दुर्भाग्य को क्या कहा जाये जिसने साधु-वेशधारी तो हमारे सामने खड़े कर दिये किन्तु प्राचीनकाल जैसा दृष्टिकोण और कर्तृत्व उनमें ढूँढ़े नहीं दीखता ।

ऐसी दशा में क्या यह उचित है कि इतनी बड़ी जनसंख्या इस प्रकार जनता पर भार बनी बैठी रहे और अपनी उपयोगिता सिद्ध करने के लिए नाना प्रकार के प्रपंच तथा मूढ़ विश्वास फैलाती हुई लोकमानस को विकृत करती रहे । इसी प्रकार उन भिखारियों का प्रश्न है, जो काम करने में सर्वथा असमर्थ न होते हुए भी भिक्षा पर उतर आये हैं । यदि मनुष्य चाहे तो थोड़ी-बहुत शारीरिक असमर्थता के बीच भी कुछ न कुछ श्रम और उपार्जन कर सकता है इच्छा हो तो काम भी मिल सकता है और राहें भी । अनिच्छा हो तो असमर्थता, अपंगता और दरिद्रता का ढोंग बनाने में अब ये प्रवीण हो गये हैं । ऐसे भी अनेक उदाहरण मिले हैं कि यह निष्ठुर लोग बालकों के हाथ-पैर तोड़कर, आँखें फोड़ उन्हें अपंग बना देते हैं ताकि उनके बहाने अधिक आजीविका उपार्जन हो सके ।

राष्ट्र की आर्थिक और नैतिक कमर तोड़ देने वाले इस भिक्षा-व्यवसाय का अन्त करने के लिए हर विचारशील व्यक्ति को सजग होना चाहिए । कुपात्रों को दान देना इस दुष्प्रवृत्ति को फलने-फूलने का अवसर देता है । हर उदार मनुष्य को विवेक से भी काम लेना चाहिए और देते समय यह भली-भाँति परख लेना चाहिए कि उसका पैसा किस प्रयोजन में लगेगा । ढोंग या परम्परा से प्रभावित होकर दान देने की मानसिक दुर्बलता से जब तक जूझा न जायेगा भिक्षा-व्यवसाय की विष-बेल बढ़ती ही चली जायेगी ।

जो सर्वथा अपंग, असहाय हैं, उनके निर्वाह का प्रबन्ध संस्थाओं अथवा सरकार को करना चाहिए । जो लोक-सेवा में संलग्न साधु-ब्राह्मण हैं, उनके निर्वाह का प्रबन्ध धर्म संस्थाओं को करना चाहिए । प्राचीनकाल में यातायात, डाक, बैंक आदि का प्रबन्ध न होने से सर्वत्र मिल सकने वाली भिक्षा उपयोगी रही होगी । अब सुयोग्य लोक-सेवी साधुओं के निर्वाह का क्रम ईसाई मिशनों के पादरियों की तरह बड़ी आसानी से हो सकता है । उपरोक्त दोनों ही वर्गों के अधिकारी व्यक्तियों को छोड़कर शेष उन सभी भिक्षुओं को निरुत्साहित किया जाना चाहिए, जो न तो लोकसेवी हैं और न अपंग । प्राचीनकाल में साधु पुजते थे-इसलिए इन्हें भी गुणी न होते हुए वेश धारण मात्र से पूजा जाये यह कोई तर्क नहीं । प्राचीनकाल के ब्राह्मण अपने महान व्यक्तित्व और कर्तृत्व के कारण श्रद्धास्पद थे । वे गुण न रहने पर भी उनके वंशज वही सम्मान पायें, इसका कोई कारण नहीं । सेवा, कर्तव्य है-भिक्षा अधिकार । यदि सेवा नहीं-तो भिक्षा भी नहीं । यह तथ्य सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर लिया जाये तो यह एक करोड़ लोगों की भिक्षुक एवं अर्द्ध-भिक्षुक जनसंख्या कुछ

उपार्जन में लग सकती है । गरीब-जनता पर पड़ने वाला एक भार बच सकता है, उपार्जन और श्रम से इन लोगों का आत्म-गौरव और कर्तृत्व निखर सकता है, वे अपने लिए और समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं ।

भिक्षा अनैतिक है । भिक्षा व्यवसायी की मनोभूमि दिन-दिन पतित होती जाती है । उसका शौर्य, साहस, पौरुष, गौरव सब कुछ नष्ट हो जाता है और दीनता मस्तिष्क पर बुरी तरह छाई रहती है । अपराधी की तरह उसका सिर नीचा रहता है । अपनी स्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए उसे हजार ढोंग रचने पड़ते हैं और लाख तरह की मूढ़ताएँ फैलानी पड़ती हैं । यह भार जनमानस को विकृत बनाने की दृष्टि से और भी अधिक भयावह है ।

हर विचारशील का कर्त्तव्य है कि भिक्षा व्यवसाय को निरुत्साहित करे । कुपात्रों को वाणी मात्र से भी उत्साह न दें । जिन पर प्रभाव पड़ सके, उन्हें भिक्षा छोड़ने और श्रम करने के लिए कहें । इतनी बड़ी जनसंख्या को इस अवांछनीय व्यवसाय से विरत करने के लिए हमें गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिए और उसके लिए कुछ ठोस प्रयत्न करना चाहिए ।

प्रश्न—

(१) समर्थ होते हुए भी किसी के आगे हाथ पसारने मे क्या-क्या हानियाँ होती हैं ? (२) भारत में भिक्षा व्यवसाइयों की संख्या बतलाते हुए, इनके भिक्षा माँगने की शैली बतलाइये ? (३) प्राचीनकाल के साधुओं की स्थिति को स्पष्ट कीजिए ? (४) सारे साधु यदि जीविका उपार्जन के लिए भिक्षा-वृत्ति के साथ-साथ ही रचनात्मक कार्यक्रमों में जुट जायें, तो ये देश का भला किस प्रकार कर सकते हैं, (५) भिखारियों से देश और समाज को कैसे हानि है, सिद्ध कीजिए ? (६) विचारशील व्यक्तियों को भिक्षावृत्ति को समाप्त करने के लिए किस प्रकार का कार्य करना पड़ेगा ? (७) हमारी सरकार तथा धर्म संस्थाएँ भिक्षा उन्मूलन में किस प्रकार सहयोग दे सकती हैं ? (८) यदि भिक्षा व्यवसाय खत्म कर दिया जाय तो समाज कैसे इनके बोझ से छूटेगा ?

मृतक भोज भी अविवेकपूर्ण न हों

मनुष्य के मरने के बाद उसके परिवारी प्रियजनों को वियोग-जन्य दुःख और संचित सम्बन्ध के यकायक सदा के लिए टूट जाने से एक भावनात्मक उफान आता है । उस समय वे लोग स्वर्गीय आत्मा के लिए कुछ करने के मूड में होते हैं । कुछ करते भी हैं । संसार भर में मृत आत्मा के कल्याण एवं सुख-सुविधा के लिए पूजा, प्रार्थना, श्राद्ध, पिण्ड से लेकर दान, पुण्य तक कुछ न कुछ किया जाता है । भारतवर्ष में भी ऐसा ही प्रचलन है ।

भारतीय आदर्श यह रहा है कि—हर व्यक्ति उपार्जित श्रमसिक्त आजीविका को ही उचित मानता रहा है । दूसरों के अनुदान पर निर्भर रहना, बिना परिश्रम की कमाई खाना, यहाँ सदा से गर्हित माना गया है । क्योंकि किसी का संचित धन—बिना परिश्रम किये किसी को मिले और वह उस हराम की कमाई से बैठे-बैठे गुलछर्रे उड़ावे, तो समाज में एक बुरी परम्परा का जन्म होता है । बिना श्रम उपार्जित धन में अनेक दोष-दुर्गुण उत्पन्न होते हैं और देखा-देखी दूसरे भी वैसी ही हरामखोरी की सुविधाएँ पाने के लिए मुफ्त का काम तलाश करते हैं और अपराधों की दुष्प्रवृत्तियाँ पनपती हैं । इस तथ्य को भारतीय दर्शन ने भली प्रकार समझाया और चरित्र में सम्मिलित रखा है ।

बच्चे जब तक अशक्त एवं अविकसित रहें तब तक अभिभावकों से उन्हें पोषण पाने का अधिकार है पर जब वे समर्थ हो जाते हैं तो उन्हें स्व-उपार्जित आजीविका पर निर्भर रहना चाहिए । यदि बच्चे स्वावलम्बी हो गये हैं तो उन्हें मृत पूर्वज की कमाई समाज को लौटा देनी चाहिए ।

प्राचीन प्रथा यह थी कि दिवंगत व्यक्ति के आश्रित अवयस्क अथवा उपार्जन में असमर्थ उत्तराधिकारी पालन, शिक्षा, विवाह एवं विकास के लिए जितना धन अति आवश्यक हो उतना रखकर शेष लोकमंगल के लिए, स्वर्गीय आत्मा की शान्ति और सद्गति के लिए दान कर देते थे । जिनके परिवारी समर्थ एवं स्वावलम्बी हैं वे मृतक का सारा पैसा समाज के लिए खर्च करते थे । साधारण स्थिति में किसी मृतक के छोड़े हुए धन का उपयोग उसके उत्तराधिकारियों के लिए अग्राह्य एवं अनुचित ही माना जाता था । अतएव वह स्वयं ही अथवा समाज के लोग इकट्ठे होकर उस धन को लोक-मंगल के लिए खर्च करने की योजना एवं प्रक्रिया बनाते थे । मृतक के प्रति बरती हुई इसी श्रद्धा-सद्भावना का नाम श्राद्ध था । पुण्य फल से ही आत्मा की सद्गति होती है । जो दान—लोभ—मोह अथवा परिस्थितिवश मृतक न कर सका उसकी पूर्ति उत्तराधिकारी कर देते थे । अनीति से उपार्जन का प्रायश्चित भी हो जाता था और पुण्य-फल से शान्ति सद्गति भी मिलती थी । इस दृष्टि से उस जमाने की यह श्राद्ध परम्परा उचित ही थी । तथ्य सदा शाश्वत और सनातन होते हैं । वे आज भी उतने ही उपयोगी एवं उचित हैं । उत्तराधिकार में प्रचुर धन पाना अब भी औचित्य की दृष्टि से अनुपयुक्त है । इसलिए सरकार 'मृत्यु टैक्स' आदि लगा कर उसे वापिस समाज के लिए माँग भी रही है । कई उदार व्यक्ति अपने पूर्वजों के नाम पर स्मारक रूप से कुछ 'लोकोपयोगी कार्य भी करते देखे जाते हैं । यह स्वस्थ परम्परा अति उचित, न्यायानुकूल एवं प्रशंसनीय है ।

पूर्वकाल में मृतक भोज का आधार यही था । पीछे अन्धकार और अज्ञान का जमाना आया, जीभ के लोभी लोगों ने लोक-मंगल की बात भुला दी और बढ़िया दावतें उड़ाने का नया सिलसिला शुरू कर दिया । मृतक की बची सम्पत्ति खूब मिठाई और मालपुओं के रूप में उड़ा डालने

का क्रम चल पड़ा । बाप ने कुछ छोड़ा हो या न छोड़ा हो, घर की स्थिति कैसी ही दयनीय क्यों न हो मृतक भोज के नाम पर यार-दोस्तों और परिचितों को एक लम्बी-चौड़ी दावत देनी पड़ती है । लोक मंगल के कार्यों में लगने वाला धन चतुर पण्डित ठग लेता है । वही चीजें मृतक को दिला देने का झाँसा देकर अन्न, वस्त्र, पात्र, पलंग, गाय, मकान, आभूषण आदि झटक ले जाते हैं । यदि किसी परमार्थ कार्य में लगाकर वह पैसा पुण्य बन गया होता तो सम्भव है उससे स्वर्गीय आत्मा का कुछ हित भी होता पर किसी वंश विशेष में उत्पन्न हुआ व्यक्ति स्वयं खाकर मृतक को उसका लाभ पहुँचा देने में किसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता । शैय्यादान, गौदान आदि मृतक के नाम पर जो लोग लेते हैं वे उन वस्तुओं को अथवा अनुदान से प्राप्त शक्ति को परमार्थ कार्य में तो लगाते नहीं, फिर मृतक को उसका लाभ मिलेगा कैसे ? 'ब्राह्मण वंश का व्यक्ति जो भले ही परमार्थ परायण न हो-दान पाकर पुण्य-फल उत्पन्न कर सकता है ।' यह मान्यता सर्वथा भ्रमपूर्ण है । आज ब्रह्म-भोजों का आडम्बर इसी भ्रम पर टिका हुआ है । इसमें दाता के धन की बर्बादी है और ब्राह्मण वंश के लोगों का दूसरों की कमाई खाकर भिक्षुक जैसी पतित मनोभूमि में उतरना, उनको भी हर दृष्टि से हानिकारक है । बेचारों पर व्यर्थ ऋणभोज बढ़ता है, जो आगे चलकर उन्हें ही चुकाना भी पड़ेगा ।

आज की परिस्थितियाँ बहुत बदल गई हैं । अब प्राचीनकाल जैसी स्थिति नहीं रही । उपार्जन के साधन सीमित हैं । महँगाई बढ़ रही है । पहले कृषि, शिल्प आदि घरेलू कार्य में सारा घर लगा रहता था और आवश्यकता भर के लिए पर्याप्त कमा लेता था । अब घर के प्रमुख व्यक्ति ही कमाते हैं और घर के अन्य सदस्य बैठ कर खाते हैं । फैशन तथा स्टैण्डर्ड बनाने के फालतू खर्च भी एक आवश्यकता ही बन गये हैं तथा महँगी चिकित्सा, शिक्षा, कमर-तोड़ भार डालती है । ऐसी दशा मे औसत परिवारों को बड़ी तंगी के साथ गुजारा करना पड़ता है । उनमें इतनी गुंजाइश नहीं रहती कि घर में फालतू पैसा ढूँढ़ निकाला जाये और उसे अनावश्यक समझकर मृतक भोज जैसी रूढ़ि के नाम पर खर्च कर डाला जाये ।

प्राचीनकाल में ब्राह्मण, साधु जैसे लोक-मंगल में संलग्न वर्गों की भोजन, वस्त्र एवं आवश्यक उपकरणों की व्यवस्था कर देना उचित था पर जब आज उस प्रवृत्ति के व्यक्ति रहे ही नहीं तो ब्रह्म-भोज की बात भी कहाँ रही ? सर्व साधारण के लिए, मित्र, परिजनों के लिए तो आज जैसी मृतक भोजन की दावत हर दृष्टि से अवांछनीय और अग्राह्य है । जिसके घर में पन्द्रह दिन भी मृत्यु हुए नहीं बीते हैं-जिस घर में लोग शोक-संतप्त हैं, एक उपयोगी व्यक्ति के चले जाने से जिस घर को आर्थिक एवं व्यवस्था सम्बन्धी आघात लगा है, उसी आँगन में दावत खाने पहुँचना किसी स्वाभिमानी व्यक्ति के गौरव के सर्वथा विपरीत है । कोई कठोर, निष्ठुर और निर्लज्ज मनुष्य ही ऐसी दावत गले उतार सकता है । सामान्य सज्जनता और विचारशीलता जिसके भीतर विद्यमान है वह ऐसी दावतें करने की न तो किसी को सलाह दे सकता और न उसमें सम्मिलित होना ही स्वीकार कर सकता है ।

आज रूढ़िवादिता से ग्रसित एवं साधारण के सामने मृतक भोज एक प्रतिष्ठा का विषय बन गया है । घर मे न होने पर कर्ज लाकर भी इसे करना पड़ता है और बहुत कर देखा गया है कि उस कर्ज और ब्याज के कुचक्र से ही घर की पूँजी, सुविधा तथा इज्जत नीलाम हो जाती है । इस व्यय भार से दब जाने पर परिवार के बच्चों की शिक्षा, बीमारों की चिकित्सा, वयस्कों के विवाह आदि आवश्यक कार्यों में भारी अड़चन उत्पन्न हो जाती है और इस कुप्रथा का बहुत बुरा परिणाम दुःखपूर्वक बहुत दिनों तक भोगना पड़ता है । घर का एक व्यक्ति गया, उसकी चिकित्सा, अन्त्येष्टि आदि में पैसा लगा और अन्त में मृतक भोज का भारी दबाव सिर पर आ गया । यह परिस्थितियाँ किसी चैन से गुजर करने वाले परिवार को भी विपत्ति में फँसा देने के लिए पर्याप्त हैं ।

विचारशीलता का तकाजा है कि हम अनावश्यक और अवांछनीय रूढ़ियों को उखाड़ फेकें और इसके लिए अन्ध परम्पराओं के अनुयायी, अविवेकी लोग विरोध या निन्दा करें तो उसे उपेक्षा में उड़ा दें । उचित बात बच्चे को भी मानना भी चाहिए और अदूरदर्शितापूर्ण सलाह चाहे बूढ़ा सम्बन्धी अथवा पंच कहलाने वाले व्यक्ति की ही क्यों न हो-हमको उसे मानने से साहस-पूर्ण दृढ़ता से और नम्रतापूर्वक इन्कार कर देना चाहिए । इन सत्यानाशी कुप्रथाओं का अन्त साहसी लोगों की दृढ़ता और अग्रगामिता से ही होगा ।

यदि किसी के पास मृतक का छोड़ा हुआ ऐसा धन है, जिसके बिना भी परिवार का काम चल सकता है तो उस पैसे के प्रति उत्तराधिकारियों को लोभ-मोह न बढ़ाकर उसे लोक-मंगल के विद्यालय, पुस्तकालय स्थापना जैसे उपयोगी कार्यों में लगा देना चाहिए, अथवा थोड़ा बहुत जितनी श्रद्धा हो इन निमित्तों में दे देना चाहिए । मृतक श्राद्ध की परम्परा पर हमें इसी दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए ।

प्रश्न—

(१) मृतक भोज के कारण एवं प्रयोजन पर प्रकाश डालिए ? (२) भारतीय आदर्श क्या रहा है ? (३) हरामखोरी से क्या हानि है ? (४) आत्मा की सद्गति कैसे होती है ? (५) मृत्यु टैक्स क्यों लगाया जाता है ? (६) हिन्दू समाज की सर्वाधिक भ्रमपूर्ण मान्यता क्या है ? (७) बदली हुई परिस्थितियों में मृतक भोज अनावश्यक क्यों हो गया है ? (८) मृतक भोज खाना स्वाभिमानी व्यक्ति के गौरव के सर्वथा विपरीत क्यों है ?

(९) सत्यानाशी कुप्रथाओं का अन्त कैसे होगा ?(१०) मृतक की सम्पत्ति का सर्वोत्तम सदुपयोग किन-किन कामों में करना चाहिए ।

भूत-पलीत और उद्भिज देवी-देवताओं का जंजाल

आध्यात्मिक प्रगति के लिए बड़ी उपयोगिता है । इन सद्गुणों के आधार पर आत्मोत्कर्ष का पथ-प्रशस्त होता है पर यह श्रद्धा, विश्वास, विवेक, तर्क और वास्तविकता पर निर्धारित होनी चाहिए । अज्ञान, भ्रम और मिथ्यात्व पर आधारित श्रद्धा अन्ध-विश्वास एवं मूढ़ता मानी जाती है । उससे गलत दिशा में चल पड़ने और भयानक परिणाम भुगतने का क्रम बन जाता है । इस जाल-जंजाल में फँसा हुआ भोला मनुष्य हर प्रकार हानि उठाता और घाटे में रहता है । हमें विवेक और तथ्य पर आधारित श्रद्धा विश्वास अपनाना चाहिए किन्तु अन्धविश्वास और मूढ़ता से बचना चाहिये ।

भारतीय जनता का एक बहुत बड़ा भाग अशिक्षा, भोलेपन एवं धूर्तों के बहकाये जाने से अन्ध-विश्वास के भ्रम-जंजालों में बुरी तरह जकड़ा पड़ा है और जिनका कोई सिर-पैर नहीं है ऐसी मिथ्या मान्यताओं को अपना कर भारी विपत्तियाँ एवं हानियाँ आमन्त्रित करता रहता है । आवश्यकता इस बात की है कि विवेक, तर्क, तथ्य और वास्तविकता को ढूँढ़ने की स्वतन्त्र चेतना हर मनुष्य में पैदा हो जाये जो निराधार मान्यताएँ अपना रखी हैं उन्हें छोड़ने का साहस उत्पन्न किया जाये ।

अपने देश की पिछड़ी जनता में भूत-पलीतों और देवी-देवताओं की भीरू-मान्यताएँ बेतरह जड़ पकड़े हैं । मरने के बाद भारतीय मान्यता के अनुसार प्राणी स्वर्ग-नरक में जाता या नये जन्म लेता है । कोई दुष्ट या अशान्त आत्मा ही यदा-कदा प्रेत बनता है और वह भी एकान्त में कर्मफल भोगकर नई गति पाता है । मनुष्यों को डराने वाले कुकृत्य करने की प्रेतों की प्रवृत्ति भी नहीं होती । अधिक से अधिक वे कभी अपने अस्तित्व का परिचय दे सकते हैं । जहाँ कहीं भी प्रेत-पितरों का धर्म-शास्त्रों में वर्णन है, इतना ही है । आजकल भूतों का दूसरा ही स्वरूप है । बीमारी अर्थात् भूत । कोई जरा भी बीमार हुआ कि भूतों का कुचक्र समझ लिया गया । ओझा, सयाने व दीवाने, तरह-तरह की किम्वदन्तियाँ गढकर भोले मनुष्यों के मन में अन्धविश्वास, भय और भ्रम पैदा करते हुए अपना उल्लू सीधा करते हैं । अपने देश में अब मानसिक रोग भी समाज की विषम परिस्थितियों ने बहुत बढ़ा दिये हैं । इन मानसिक रोगियों को भूत की कल्पना देने से उनका मन उसी पर जम जाता है और वे इस प्रकार का कथन एवं आचरण प्रस्तुत करते हैं मानो सचमुच ही उन पर भूतों का आधिपत्य हो । लाखों व्यक्ति भ्रम-जंजाल में जकड़े हुए वास्तविक चिकित्सा से वंचित रहते हैं और उस भ्रम के दलदल में दिन-दिन अधिक गहरे उतरते हुए अपना स्वास्थ्य, समय, धन और बहुमूल्य प्राण गँवाते रहते हैं । भूतों का जंजाल किसी महामारी से कम धन-जन की हानि नहीं करता, इसे एक पूरी मनोवैज्ञानिक विपत्ति ही मानना चाहिए । अशिक्षित ही नहीं शिक्षित जनता का भी एक बहुत बड़ा भाग इस व्यवस्था से बुरी तरह पीड़ित है ।

विचारने की बात है कि यदि भूतों का ऐसा ही अस्तित्व और वर्चस्व रहा होता तो वह मूढ़मति भारतीयों तक ही सीमित न रहते । बुखार, खाँसी की तरह संसार के हर देशों में अपना प्रभाव दिखाते । शिक्षित और सभ्य जनता में भी उनका अस्तित्व दीख पड़ता, पर स्पष्ट वे केवल पिछड़े लोगों तक ही सीमित हैं । बौद्धिक दृष्टि से समुन्नत लोगों में भूत-पलीत की चर्चा तक सुनने को नहीं मिलती । इससे प्रकट होता है कि यह एक भ्रम जंजाल मात्र है, जो आस्था का रूप धारण करके लाखों-करोड़ों व्यक्तियों के गले में फाँसी की तरह लिपटा बैठा है और उन्हें बुरी तरह पीड़ा देकर संत्रस्त कर रहा है । वास्तविकता को परखने का बारीकी से प्रयत्न किया जाये 'शंका डायन-मनसाभूत' की उक्ति सच प्रतीत होती है । आशंकाएँ ही डायन-चुड़ैल बनती हैं और मन के सन्देह डर एवं भ्रम ही भूत बन जाते हैं । यदि विवेक, स्वतन्त्र चिन्तन एवं तथ्य खोजने की प्रवृत्ति हममें जग पड़े तो रूस, इंग्लैण्ड, जर्मन आदि देशों की तरह अपने यहाँ भी कहीं भूत-पलीतों की चर्चा सुनाई न पड़े और भारतीय जनता की एक भारी विपत्ति टल जाये ।

ईश्वर एक है । उसकी विभिन्न कार्य-शक्तियों को अलंकारिक रूप में देव मानते हैं । भारतीय धर्म एक ईश्वरवादी है । देवताओं की जहाँ कहीं भी चर्चा है वहाँ एक ईश्वर की विशेषताओं एवं शक्तियों का सचित्र उल्लेख मात्र है । बहुत स्वभावों और प्रकृतियों के बहुत देवता यदि रहे होते तो उनके पारस्परिक विग्रह से ही भारी अशान्ति और उलझन पैदा हो जाती । तब वे देवता मनुष्यों के लिए एक विपत्ति बनकर खड़े हो जाते । अच्छा यही है कि ऐसी कोई बात नहीं ईश्वर एक है । उसका प्रतिद्वन्दी, साझीदार तथा सहायक कोई नहीं है । आवश्यकतानुसार उसके नाम, रूप भर हम गढ़ लेते हैं और अपनी श्रद्धा-पूजा की रुचि-भिन्नता के अनुरूप समाधान करते हैं ।

उपरोक्त तथ्य से प्रतिकूल भारत के पिछड़े वर्ग में असंख्य देवी-देवताओं की कल्पना है । इनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते करोड़ों तक पहुँच गई है । हर कुल, परिवार, गाँव के अलग कुल देवता, कुल देवी, ग्राम देवता, ग्राम-देवी, बरसाती मेढकों की तरह उपज पड़े हैं । कुछ देवी-देवताओं के नाम तो पूजा-पुस्तकों में भी पढ़े-सुने जाते हैं पर इन प्रचलित देवी-देवताओं का उनसे कोई सम्बन्ध

नहीं, यह तो पावस की उद्‌भिज उपज की तरह यों ही अन्धाधुन्ध उपज पड़े हैं । वे अपनी पूजा करने वालों का कुछ हित तो कर नहीं सकते केवल डराते और त्रास देते रहते हैं । जरा-जरा सी बात पर अकारण नाराज होते हैं । बच्चे का मुण्डन उनकी मढ़िया पर न कराया तो नाराज, घर में कोई उत्सव हुआ और उनकी मर्जी की पूजा में भूल हो गई तो नाराज । नाराजी अर्थात् बीमारी और कठिनाई । लोग डर के मारे उन्हें पूजते हैं । यदि विश्वास हो जाये कि यह कुल देवता, ग्राम देवता नाराज नहीं होते या नाराज होकर कुछ कष्ट नहीं पहुँचाते तो अधिकांश में पूजने वाले उन्हें छोड़ बैठें । क्योंकि ये लाभ तो किसी का कुछ कर नहीं सकते । अधिकांश केवल हानि ही पहुँचाते हैं । देवता शब्द की कैसी दुर्गति है । देवता तो देने वाले को कहते हैं । जो व्यक्ति या शक्ति हमें कुछ देने में समर्थ हो देव शब्द उन्हीं के लिए प्रयुक्त होता है पर यहाँ तो परिभाषा ही दूसरी है । जो देने में असमर्थ हो, मिठाई प्रसाद, माँस, मदिरा आदि के लिए लालायित रहे और उनके मिलने पर हर उचित-अनुचित मनोकामनाएँ पूरी करने लगे, न मिलने पर शत्रु जैसा आक्रमण करे-भला ऐसे भी कोई देवता होते हैं ।

भगवान की भक्ति-देव पूजा एक उत्कृष्ट आस्था है । उससे आत्मिक प्रगति एवं नैतिकता के समर्थन में सहायता मिलती है । पर इन दिनों पिछड़े लोगों में प्रचलित देवी-देवताओं का स्वरूप उस धर्म आस्था के सर्वथा प्रतिकूल है । यह न आस्तिकता है न पूजा । इसके पीछे न श्रद्धा है और न विश्वास । यह तो मूढ़ता, अज्ञान और अविश्वास के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुआ भ्रम जंजाल मात्र है, जिसमें अपने लाखों-करोड़ों लोग बुरी तरह ग्रस्त-त्रस्त हो रहे हैं । जीवन में वैसे ही विपत्तियाँ क्या कम हैं जो भ्रम और अज्ञान के आधार पर भूत-पलीतों और उद्‌भिज देवी-देवताओं के रूप में एक मनोवैज्ञानिक संकट अपने लिए गढ़कर खड़ा करें और उससे उलझकर धन, समय, स्वास्थ्य की बर्बादी और अशान्ति का संकट ओढ़ें ।

अन्ध-विश्वासों की एक बड़ी शृंखला जन-मानस को सन्देह और आशंकाओं के जाल में जकड़े हुए है । जादू-टोना, शकुन-ज्योतिष आदि की उलझनों में पड़े हुए कितने लोग अपना और दूसरों का क्या-क्या अनर्थ करते रहते हैं, इसकी एक लम्बी करुण कथा है । समय आ गया है कि लोग स्वतन्त्र चिन्तन सीखें और विवेक से काम लें । तब इस प्रकार के भूत-पलीत और उद्‌भिज देवी-देवता जो हमारे मस्तिष्क और समाज पर बुरी तरह छाये हुए हैं सहज ही हमें चिन्ता-मुक्त करके वहीं विलुप्त हो जायेंगे, जहाँ से उत्पन्न हुए थे ।

प्रश्न—

(१) श्रद्धा और विश्वास किस प्रगति के लिए आवश्यक है ? (२) अन्ध-विश्वास की परिभाषा कीजिए ? (३) भारतीय जनता का एक बहुत बड़ा भाग अन्ध-विश्वास में जकड़ा हुआ है क्या कारण है ?(४) हम जिन्हें भूत-प्रेत आदि कहते हैं व उनसे डरते हैं, वह वास्तव में क्या हैं तथा वस्तुस्थिति क्या है ? (५) यदि कोई बीमारी आदि हो जाती है, तो ओझाओं द्वारा उसे किस प्रकार का रूप दिया जाता है ? (६) यदि यह मान लिया जाये कि भूत-प्रेत हैं, तो शिक्षित समाज पर उसका प्रभाव न होना क्या सिद्ध करता है ? (७) ईश्वर कौन है ? क्या ईश्वर अनेक हैं ? (८) गाँवों के पिछड़े लोग किस प्रकार के देवी-देवताओं को मानते हैं तथा उनसे उन्हें क्या हानियाँ हैं ? (९) भूत-पलीत और इनका उद्‌भिज देवी-देवताओं के जंजाल से छूटने के लिए क्या किया जाना चाहिए ?

पशुबलि भारतीय धर्म पर एक कलंक

देवता उन्हें कहते हैं जो दें । प्यार, सेवा, सहायता, सौजन्य, करुणा, सद्‌भावना और समता का जो निरन्तर परिचय देते रहते हैं, वे देवता हैं । अन्तरिक्ष में रहने वाली परमेश्वर की ऐसी ही अदृश्य शक्तियाँ जो संसार के हित साधन में निरन्तर प्रवृत्त रहती हैं, देवता मानी और पूजी जाती हैं । इन गुणों वाले मनुष्य भी धरती के देवता भूसुर-महामानव, नर-नारायण कहलाते हैं । चाहे दृश्य हो चाहे अदृश्य, जो उच्च आध्यात्मिक तत्वों से, सत्प्रवृत्तियों एवं सद्‌भावनाओं से परिपूर्ण हैं, वे सत्ताएँ देव ही कहीं जायेंगी और सदा उनका अर्चन-अभिनन्दन होता रहेगा । भारतीय धर्म में अनेक देवताओं का अस्तित्व माना गया है । यह और कुछ नहीं एक ही परमेश्वर की ऐसी विभिन्न शक्तियाँ एवं गतिविधियाँ हैं जो विश्व-मंगल में निरन्तर संलग्न हैं ।

देव-पूजन में स्वागत-सम्मान के उपयुक्त वस्तुओं का नियोजन-अर्पण किया जाता है । धूप-दीप, नैवेद्य, चन्दन, पुष्प रोली, अक्षत जैसी मांगलिक वस्तुओं में ही वह सात्त्विकता रहती है जिसे इष्ट देवता की परम सतोगुणी सत्ता प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करें । देव पूजा में दिव्य वातावरण एवं सतोगुणी भावनाओं की गतिविधियों एवं वस्तुओं का अर्पण अभीप्सित है । होता भी यही है ।

तथ्य के सर्वथा विपरीत कुछ शताब्दियों से अपने देश के हर क्षेत्र में बहुत कुछ ऐसा उद्दण्ड आचरण प्रचलित हो चला है, जिसको मूल तत्व के साथ कोई संगति नहीं बैठती । देव पूजा के लिए निरीह पशु-पक्षियों की नृशंस हत्या उन्हीं की प्रतिमाओं के सामने की जाये, इस कृत्य का किसी दृष्टि में कोई औचित्य दिखाई नहीं पड़ता । आध्यात्मिकता के तत्व ज्ञान, देवता की प्रकृति एवं स्थिति, पूजा की पवित्रता पर जितना अधिक विचार करते हैं, उतनी ही बलिदान की प्रचलित प्रथा सर्वथा अनुपयुक्त और अवांछनीय प्रतीत होती चली जाती है । निरीह प्राणियों की हत्या से देवता प्रसन्न होंगे और इस कुकृत्य को उचित

मानकर उस कर्त्ता को कल्याणकारी वरदान देंगे, यह बात यदि वस्तुतः सही हो तो हमें देवत्व की स्थिति पर ही पुनर्विचार करना होगा । तब दया, करुणा और देने की प्रकृति को उसके स्वभाव का अंग न मानकर यह कहना होगा कि वे निष्ठुर, नृशंस, दुष्ट, शोषण के प्रतीक हैं और मूल्य प्राप्त करने के बाद ही अपनी कृपा बेचते हैं । वह मूल्य सज्जनतापूर्ण नहीं–कि उनको अपनी अन्तःवेदना में आमन्त्रित करके हम कहीं भारी भूल तो नहीं कर रहे हैं । देवत्व की दिशा में चलने की अपेक्षा हम कहीं असुरत्व को तो आमन्त्रित नहीं कर रहे हैं ?

मध्यकालीन अन्धकार युग में इस देश में अनेक प्रकार की मूढ़ताओं का उद्भव हुआ है । उसने धर्म-क्षेत्र को भी अछूता नहीं छोड़ा । दया की देवी-करुणा की सरिता ममतमयी माता भगवती महाशक्ति मनुष्यों को करुणा, सहृदयता, सज्जनता और उदारता की ही प्रेरणा दे सकती है । उसे ऐसे वीभत्स स्वरूप में प्रस्तुत करना कि उसे नृशंस निर्दयता पसन्द है । वस्तुतः भगवती अम्बा को ही नहीं समस्त देव सत्ता को ही कलंकित करना है । देवता यदि माँस लोलुप हैं, हत्या देखकर प्रसन्न होते हैं, करुणा का परित्याग कर नृशंस आचरण करने की प्रेरणा करते हैं–तो उनमें और असुर में क्या अन्तर रहा ? यदि ऐसा ही सच होता तो फिर देव और असुर को परख करना असम्भव ही हो जाता ।

मध्यकालीन मूढ़ता और बौद्धिक विकृतियों की ही यह एक झाँकी है कि हम देवताओं के सामने मूक और निरीह पशुओं के हृदय विदारक उत्पीड़न और चीत्कार भरा वध करने को उचित मानने लगे । उचित ही नहीं मानते वरन् उसे करने के लिए भी उत्साहपूर्वक अग्रसर होते हैं । कितने ही प्रान्तों में–कितने ही मठों में देवी, भवानी अथवा भैरव की प्रतिमाओं के सामने आये दिन इन मूक प्राणियों की रक्त-धारा बहती रहती है । उसे बलिदान कहा जाता है । बलिदान शब्द त्याग, उदारता एवं तपश्चर्या के अर्थ में प्रयुक्त होता है । बलिदान अपना किया जाता है । शास्त्रों में अलंकार रूप से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर जैसे दुर्गुणों को पशु कहा है और उनका वध करने की, परित्याग करने की पुण्य-प्रक्रिया को, बलिदान के रूप में इंगित किया है, यह कैसा बलिदान जिसमें कर्त्ता को अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए–मनोकामनाएँ पूरी कराने के लिए, देवता को रिश्वत प्रस्तुत करते हुए एक दुष्ट कर्म करना पड़े । देवता यदि किसी के प्राण लेकर अपनी क्रूरता को तुष्ट करने लगे और रिश्वत लेकर मनोकामनाएँ पूरी करने लगे तो हम फिर मनुष्यों के सामने घोर अन्धकार ही अन्धकार है । हमें करुणा, दया, सेवा और उदारता की शिक्षा प्रेरणा कौन देगा ? देवताओं में से देवत्व चला गया तो हम मनुष्यों में उसका संचार कैसे होगा । जब देवताओं ने आसुरी प्रकृति और प्रवृत्ति अपना ली तो हम मनुष्यों के लिए पैशाचिकता ही स्वाभाविक बन जायेगी । तब धर्म का स्वरूप अनर्थ के अतिरिक्त और क्या रह जायेगा ? फिर देवत्व की व्याख्या दयालुता के अर्थ में कौन करेगा ?

हो सकता है कि किसी माँसाहारी को अपने अभक्ष्य भोजन को भी देवता का प्रसाद समझकर खाने की सूझी हो और उसने वध की क्रिया को देव-बलिदान कहकर जीभ लोलुपता में देव प्रसन्नता की उड़ान भरी हो । हो सकता है प्राचीनकाल के तलवार युद्ध में सैनिकों का हाथ साफ करने का अभ्यास भैंसे, बकरी की गरदन पर कराया जाता हो और सोचा गया हो कि यह कृत्य करते समय किसी अभ्यासी के मन की करुणा उसे विचलित न कर दे इसलिए उसे देव-बलिदान का रूप दे दिया जाये । हो सकता है कि किन्हीं पुजारियों और उनकी मण्डली ने माँसाहार की लोलुपता तृप्त करने के लिए भोले-भक्तों को पशुबलि की सूझ-सुझाई हो । हो सकता है कि किसी मठाधीश ने माँस-चमड़ा और हड्डियों का अनायास ही बहुत-सा लाभ पाने का रास्ता खोजा हो । हो सकता है किसी ने देवताओं की प्रकृति तक में दुष्टता सिद्ध करके अपनी दुष्टता की स्वाभाविकता और आवश्यकता प्रतिपादित की हो । कह नहीं सकते इस पशुबलि प्रचलन के पीछे क्या कारण थे और यह प्रथा कैसे चल पड़ी । कारण जो भी रहा हो यह एक तथ्य है कि सत्य और अहिंसा, दया और करुणा का आधार लेकर खड़ा हुआ भारतीय धर्म देवताओं के सामने पशुबलि जैसी नृशंस प्रक्रिया का समर्थन नहीं कर सकता ।

हो सकता है कि किन्हीं पुस्तकों में संस्कृत के कुछ श्लोक इस समर्थन में जुड़े हों । उन्हें अवांछनीय तत्वों द्वारा की गई घुसपैठ या मिलावट ही कहा जा सकता है । ऐसे दो-पाँच श्लोक प्रस्तुत करके भारतीय धर्म की आत्मा को नहीं झुठलाया जा सकता । देवी सपना देकर या किसी अन्य प्रकार से ऐसा संकेत करती है कि मुझे हत्या और माँस द्वारा प्रसन्न किया जाये, यह कल्पना आदि से अन्त तक निर्मूल है । जिस दिन देवी का हृदय इतना कठोर हो जायेगा उस दिन देवी कहलाने का अधिकार ही न रहेगा । वरदान, अनुदान या आशीर्वाद जिस दिन माँस-मदिरा के मूल्य पर खरीदे जाने लगेंगे उस दिन वरदान दे सकने वाली अध्यात्म शक्ति का संसार से पलायन हो जायेगा । इन मान्यताओं में रत्ती भर भी सच्चाई नहीं है कि–देवता पशुबलि चाहते हैं या इस कुकृत्य द्वारा उन्हें प्रसन्न, सन्तुष्ट किया जा सकता है । यदि कर्मफल का सिद्धान्त सत्य है और यदि हत्या की गणना पाप कर्मों में है तो निश्चित रूप से इस नृशंस आयोजन से सम्बन्ध रखने वाले और समर्थन करने वाले अपनी आत्मा और परमात्मा के सामने पापी के [illegible] का दण्ड भोगेंगे ।

[illegible] की विकृतियों का [illegible] अनुचित है उसे तिरस्कृत, बहिष्कृत करने के लिए साहसपूर्वक आगे आयें । पशुबलि भारतीय धर्म पर कलंक है । इस कालोंच

के रहते हम सत्य और अहिंसा का प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं फिर हमें भारतीय धर्म को असत्य और हिंसा का प्रतीक ही कहना पड़ेगा । देवताओं को दयालुता का ही प्रतीक रहने दिया जाये । जिन्हें माँसाहार करना हो उसे व्यक्तिगत रूप से करें, बेचारे देवताओं को उसमें सम्मिलित न करें । मन्दिरों की पवित्रता अक्षुण्ण रखी जानी चाहिए । पूजा-प्रक्रिया में सात्विकता जुड़ी रहनी चाहिए । धर्म-कृत्यों का वातावरण सद्‌भावनापूर्ण रहना चाहिए इसके लिए यह नितांत आवश्यक है कि पशुबलि जैसी नृशंस प्रक्रिया को किसी धर्म स्थान या धर्म आयोजन में तनिक भी स्थान या समर्थन न मिले ।

प्रश्न--

(१) देवता की परिभाषा कीजिये ? (२) देव-पूजन के समय उनके स्वागत सम्मान के लिए किन वस्तुओं का उपयोग किया जाना चाहिए ? (३) बलिदान की प्रचलित प्रथा किस प्रकार अनुपयुक्त है ? (४) यदि यह मान लिया जाये कि देवता पशुबलि से प्रसन्न होते होंगे, तो उस ईश्वर का स्वरूप किस तरह का होगा ? (५) बलिदान की परिभाषा कीजिए ? (६) पशुबलि के प्रचलन के क्या कारण हो सकते हैं ? (७) क्या पशुबलि भारतीय देवताओं को प्रिय है ? (८) पशुबलि समाप्त करने के लिए क्या प्रयत्न किये जाने चाहिए ? (९) आधुनिक युग में बलि की प्रथा में कैसे संशोधन किया जाये ? (१०) पशुबलि का समर्थन कौन करता है ?

प्राणियों के प्रति निर्मम और निष्ठुर न बनें

भगवान का एकमात्र पुत्र मनुष्य ही नहीं, दूसरे जीव-जन्तु भी उसी के हैं । मनुष्य ज्येष्ठ पुत्र है, इसलिए उसकी जिम्मेदारी भी अधिक है । विवेक, करुणा, स्नेह, सौजन्य का जो भावनात्मक अनुदान मनुष्य को मिला है वह किसी और को नहीं मिला । अन्य जीव अविकसित होने के कारण परस्पर दुर्व्यवहार भी कर सकते हैं पर मनुष्य के लिए वैसी छूट नहीं । यही तो पशु और मनुष्य का अन्तर है । अन्य जीव अपने स्वार्थ को प्रधान रखते हैं, दूसरों की हानि की वे परवाह नहीं करते पर मनुष्यों को दूसरों के सुख में अपना सुख और दूसरों के दुःख में अपना दुःख मानकर चलना होता है । धर्म, अध्यात्म और दर्शन का प्रयोजन यही तो है कि व्यक्ति अधिक उदार, सहृदय, दयार्द्र हो सबमें अपनी आत्मा समाई हुई देखे और अपना ही नहीं दूसरों का भी कष्ट मिटाने एवं सुख बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहे । जो इस कर्तव्य धर्म की उपेक्षा करता है उसे मानवता से च्युत, अधःपतित मनोभूमि का नर पशु ही कहा जायेगा ।

पालतू पशुओं से श्रम लेते समय यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि यह उनकी सामर्थ्य और शक्ति से बाहर तो नहीं है । मनुष्य को एक निर्धारित मात्रा में, निर्धारित दबाव का, निर्धारित समय तक ही काम करना पड़ता है । इसी प्रकार पशुओं के बारे में भी ध्यान रखा जाये । वजन ढोने, सवारी में काम आने वाले तथा कृषि कार्यों में प्रयुक्त होने वाले जानवरों से प्रायः इतना काम लिया जाता है जितना करने में वे समर्थ नहीं । मार-पीटकर बलात् काम लेने से बेचारे कुछ कह तो नहीं सकते, पर धीरे-धीरे चलते हुए अकाल मृत्यु के मुँह में चले जाते हैं । ताँगे-इक्के वाले इतनी सवारियाँ बिठा लेते है कि उन्हें खींचना बेचारे घोड़े के लिए भारी कष्टकारक होता है । न चल सकने पर निर्दयतापूर्वक पिटाई होती है, गधे ईंट, चूना तथा दूसरी चीजें ढोते हैं, वजन की अधिकता और लगातार काम करने से उनकी पीठ में घाव हो जाते हैं और पिछली टाँगें आपस में टकराकर लहूलुहान हो जाती हैं । बोझ की भारी गाड़ियाँ ढोने वाले बैल और भैंसों की गरदनों पर घाव देखे गये हैं । इतने पर भी इन घायलों को जोता जाता है और इच्छानुसार गति से न चल पाने पर उन्हें बुरी तरह पीटा जाता है ।

पशुओं के प्रति बरती जाने वाली यह निर्दयता मानवता के सर्वथा विपरीत है । ऐसा क्रूर व्यवहार सर्वथा निन्दनीय है । सोचना चाहिए कि हम इन पशुओं की स्थिति में होते तो अपने ऊपर कैसी बीतती । असम्भव नहीं कि कभी अपने को भी पशु योनि में जाना पड़े और ऐसी क्रूर निर्दयता का शिकार बनना पड़े । उचित यही है कि जन-मानस में सहृदयता जगाई जाये, जिससे इस स्तर की नृशंसता पर अंकुश लग सके । यद्यपि कानून में निर्दयता निवारक एक धारा है और ऐसी क्रूरता करने वालों को, घायल पशुओं को जोतने तथा अधिक सवारी बिठाने तथा बोझा लादने वालों को अदालत के कटघरे में खड़ा करके उन्हें जेल पहुँचाया जा सकता है, पर वह कानून आज पुस्तकों तक ही सीमित है । पुलिस पर इस कानून के पालन कराने की जिम्मेदारी है पर वह कितना कर पाती हैं, यह सभी जानते हैं ।

सहृदय लोगों को यह कार्य हाथ में लेना चाहिए और जिनका भी पालतू पशुओं से किसी प्रकार का सम्बन्ध है उन्हें मनुष्यों के आदर्श और कर्त्तव्य के प्रति दया और करुणा अपनाने के प्रति चेतना जगानी चाहिए । पशु पालकों के लिए उचित है कि उनसे उतना श्रम लें जो उनकी साधारण शक्ति के अन्तर्गत है । निर्दयतापूर्वक मार-काट न करें, घायल हों तो जोतें नहीं, इतना भार न लादें जिससे उन्हें अधिक घायल होना पड़े । यदि घाव हो गया है तो पूरी तरह अच्छा हो जाने तक उसे विश्राम दें । अशक्त और घायलों को घर से पीटकर निकाल देते हैं और कौए, कुत्तों के खा जाने के लिए अक्सर गधे और घोड़े वाले छोड़ देते हैं, यह बुरी बात है । अशक्तता या बुढ़ापे की स्थिति में-पेंशन की तरह उन्हें कुछ दिन बिना काम लिए भी भोजन देना चाहिए । अशक्त वृद्ध गाय, बैलों को कसाई के हाथ बेच देना एक बुरे किस्म की कृतघ्नता है ।

पक्षियों को पिंजड़े में बन्द करके पालना, एक प्रकार से उन्हें आजीवन कैद में डाल देना है । घर की शोभा

बढ़ाने के लिए उसे स्वतन्त्र जीवनयापन की सुविधा से वंचित करना एक निर्दयता ही है जो पक्षी पिंजड़े से बाहर रखकर कबूतर, मोर आदि की तरह पाले जा सकते हैं उनकी बात समझ में आती है पर पिंजड़ा तो साक्षात नरक है। तोते, तीतर सुन्दर लगते हैं तो उसका मतलब यह नहीं कि उसकी सुन्दरता को बन्दी बनाया और सताया जाये। हमारे द्वारा दिये गये तथाकथित बढ़िया भोजन और बढ़िया निवास से पक्षी को सदा अपना स्वछन्द विचरण पसन्द होता है। उन्हें भी मनुष्य की तरह स्वतन्त्रता प्रिय है तो पक्षियों को पिंजड़े में क्यों परतन्त्र बनायें ?

रेशमी कपड़े पहनने वाले यह नहीं जानते कि यह धागा किस निर्दयता से प्राप्त किया जाता है। रेशम का कीड़ा जीवित ही खौलते पानी में उबाला जाता है और असहाय वेदना के साथ उसका प्राण लिया जाता है। तब कहीं उसके शरीर से वह खोल छूटता है। जिसके धागे से रेशम बनता है। असंख्य प्राणियों का प्राण लेकर रक्त-रंजित रेशम पहनकर इतराना प्रसन्नता की नहीं लज्जा की बात है। मोटे और भद्दे किस्म का एक रेशम ऐसा भी होता है जिसे कीड़ा छोड़ जाता है और उसमें हत्या की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसका उपयोग हो सकता है पर अधिक महीन धागे वाला और अधिक चमकने वाला रेशम तो एक पूरे बूचरखाने की तरह ही प्राप्त किया जाता है। ऐसी वस्तुएँ धारण करना आँखों को शोभायमान भले ही लगे सहृदय अन्त:करण को वे कचोटती ही रहेंगी। अच्छा हो ऐसे फैशन और चमक-दमक से हम बाज आयें जिसके लिए असंख्य जीवों को तड़प-तड़पकर अपना प्राण देना पड़ता हो, ऐसी ही कई अन्य वस्तुएँ भी हैं जो प्राणि वध के हत्यारे तरीकों से ही प्राप्त की जाती हैं। कस्तूरी जीवित मृग को मारकर निकाली जाती है। चँवर डुलाने की शोभा तब बनती है जब चँवर गाय की हत्या करके उसकी पूँछ काटी जाती है। जीवित सीपों को पकड़कर उन्हें तेजाब के पानी में तड़पाकर मारा जाता है, तब उसका पेट फाड़कर मोती निकालते हैं। बालों वाले बच्चों के कोट, मोजे, दस्ताने, टोपे आदि के लिए लाखों सुन्दर लोमड़ियाँ बन्दूक का निशाना बनती हैं। हिरन अब अपनी मौत नहीं मरते, शिकारी ही उन्हें भून डालते हैं। मृगछाला बिछाकर भजन करना उस जमाने में उचित रहा होगा जब हिरन स्वाभाविक रूप से अपनी मौत मरते थे। आज तो मृगछाला वाले सन्तों की जरूरतें पूरी करने को बेचारे हिरन कराहते हुए प्राण गँवाते हैं और इन भजन करने वालों को शाप दे जाते हैं जिन्होंने उनके प्राण लेने की आवश्यकता व्यक्त की एवं भूमिका बनाई। आजकल चमड़ा आमतौर से काटे हुए पशुओं का आता है। स्वाभाविक मौत तो कोई भाग्यवान पशु ही मरता है। पशु वध से माँस में जितना लाभ है उससे बहुत ज्यादा चमड़े में है। चमड़े का अधिक उपयोग होने से पशु वध का प्रचलन बहुत बढ़ा है। यदि हम चमड़े का उपयोग छोड दें और उसकी जरूरत रबड़, कैनवैस आदि से निकाल लें तो हर साल करोड़ों निरीह पशुओं की हत्या रोकी जा सकती है। अच्छा हो अपने भीतर करुणा मिश्रित मानवता जगायें और हम तनिक-से फैशन के लिए असंख्य प्राणियों को अकारण हत्या से बचायें।

दवाओं के लिए, पौष्टिक आहार के लिए विज्ञान के नाम पर प्रतिदिन करोड़ों प्राणी काटे, उबाले, जलाये और भूने, चीरे जाते हैं। यह दवाएँ तत्काल लाभ कुछ भले ही दिखा दें पर अन्तत: उन निरीह प्राणियों का चीत्कार उन सेवनकर्त्ताओं को भी रुलाकर ही रहेगा। परमात्मा के दरबार में देर है अन्धेर नहीं। दूसरों के प्राण लेकर अपना सुख चाहने वालों को निराश ही होना पड़ेगा। बिना हत्या की दवाएँ भी हर रोग की मौजूद हैं। उनका प्रयोग इन घृणित रक्त मिश्रित दवाओं से अधिक लाभदायक है, फिर भी न जाने किस बहकावे में आकर लोग मद्य-माँस मिश्रित इन घृणित दवाओं का सेवन करते हैं। सम्भव है इनसे किसी का शरीर सुधर जाये पर आत्मा का पतन तो निश्चित रूप से होगा। माँसाहार शरीर को बढ़ाने का नहीं गिराने का ही निमित्त बन सकता है, भले ही वह दवाओं के रूप में प्रयुक्त किया जाये। प्राणियों के प्रति बरती जाने वाली हर व्यापक निर्दयता का अन्त जितनी जल्दी हो सके उतना ही मनुष्य का गौरव कलंकरहित बन सकेगा।

प्रश्न—

(१) क्या यह उचित है कि जिस तरह अविकसित जीव परस्पर दुर्व्यवहार करते हैं, हमें भी करना चाहिए ? (२) धर्म अध्यात्म और दर्शन का प्रयोजन क्या है ?(३) घोड़े, गधे तथा अन्य सवारी में काम आने वाले तथा वजन ढोने वाले पशुओं से हमे किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए ?(४) निर्दयता निवारक धारा के अनुसार पुलिस को क्या अधिकार दिये गये हैं ? (५) घायल, अशक्त जानवरों के साथ किस प्रकार व्यवहार किया जाता है ? (६) क्या हमें पक्षियों को निर्दयतापूर्वक पिंजड़ो मे बन्द करना चाहिए ? (७) क्या रेशम के कपड़े पहनना ठीक है नहीं तो क्यों ? (८) कस्तूरी, चँवर, मोती, बालों वाले बच्चों के कोट, मोजे, दस्ताने, टोपे आदि किस प्रकार प्राप्त किये जाते हैं, (९) चमड़े की जगह हमें किन वस्तुओं को उपयोग में लाना चाहिए कि निरीह प्राणियों का संहार न हो ? (१०) क्या माँसाहार द्वारा अपने शरीर को सुदृढ़ बना सकते हैं ?

विवाहों के आदर्श ऊँचे रखे जायें

विवाह दो आत्माओं का एक पवित्र गठबन्धन एवं वर-वधू का एक-दूसरे के लिए किया गया दिव्य-समर्पण है। विवाह को एक यज्ञ कहा गया है। उसका आधार और वातावरण यज्ञ जैसा होना चाहिए, ताकि शुभारम्भ के अवसर पर जैसा वातावरण था आजीवन वैसी ही परिस्थितियाँ बनी रहें। किन्तु आज तो सब कुछ उलटा ही हो गया है। उपयुक्त जोड़े के नहीं वरन् दो परिवारों की सम्पन्नता के मोल-तोल के आधार पर सम्बन्ध पक्के किये

जाते हैं । अमीरी में दाम्पत्य-जीवन की सफलता सोची जाती है । पैसे का पैसे के साथ विवाह करना हो तो उसका माध्यम भी पैसा ही हो सकता है । वरपक्ष की ओर से दहेज और कन्या पक्ष की ओर से जेवर की प्रचुरता ही आज के अभिभावकों की संतुष्टि का कारण है । लड़की-लड़कों को रूप की प्यास है । उनकी पसन्दगी रंग-रूप पर अवलम्बित होती जाती है । यही धन और रूप के आकर्षण आज विवाहों को जोड़ने वाली कड़ी है । जब कि होना यह चाहिए था कि परिवारों का मिलन सदाचार के दृष्टिकोण एवं आदर्श पर रखा जाये और वर-कन्या के गुण, कर्म, स्वभाव की अनुरूपता मिलाई जाये । विवाह उत्सव के समय जिस धन का आदान-प्रदान होता है वह प्राय: उन्हीं दिनों दिखावे की होली में जल-भुनकर खाक हो जाता है । रूप-यौवन की बहार किशोर अवस्था के अन्त और यौवन के आरम्भ के दो-चार वर्ष रहती है । गृहस्थ का भार पड़ते ही वह बहार उड़ जाती है और काम चलाऊ शरीर मात्र शेष रह जाता है । काम तो मारे जीवन, व्यक्तित्व, चरित्र एवं कौशल से पड़ता है । इन्हें देखना जरूरी नहीं समझा जाता । अतएव आज के विवाह आमतौर से असफल रहते हैं ।

सफल विवाहों के लिए आवश्यकता इस बात की है कि परिवारों की धन सम्पन्नता को सम्बन्ध का आधार बिल्कुल न रहने दिया जाये । विवाह अतिसादगी के साथ बिना खर्च के हों । लड़के वाले यह आशा न करें कि लड़की दौलत लेकर आवेगी और लड़की वालों को यह आशा न हो कि बड़प्पन का गर्व जेवरों से लिपटा हुआ है । बच्चों के उपयुक्त शारीरिक, मानसिक स्थिति के समान जोड़े तभी मिल सकते हैं जब पैसे का व्यवधान बीच में से हटे । इसी प्रकार भारत जैसे गर्म देश की जलवायु तथा वंश परम्परा सामान्य रंग-रूप की है । यहाँ रंग-रूप में सिनेमा जैसे अभिनेता वर-वधू कहीं-कहीं ही मिल सकते हैं । अस्तु, सर्व-साधारण को अपनी बहिन-बेटियों जैसे सामान्य रंग-रूप की वधुओं से ही सन्तोष करना होगा । साँवला रंग या काला रंग बुरा नहीं होता । चमड़ी का रंग या चेहरे का कट किसी श्रेष्ठता की निशानी नहीं है । उस पसन्दगी के पीछे के घृणित कामुकता का ओछापन ही झलकता है । मानसिक उत्कृष्टता ही गृहस्थ की सुख-शान्ति की आधारशिला है और वह रूपवानों में ही सीमित हो यह जरूरी नहीं । सच पूछा जाये तो उसका बाहुल्य कुरूपों में अधिक होता है । वे रंग-रूप के अहंकार और आकर्षण से बचकर अपने चरित्र और मस्तिष्क को अपेक्षाकृत अधिक सही रख सकते हैं और साथी के प्रति अधिक वफादार हो सकते हैं ।

हमें यदि अपने बच्चों को सुखी गृहस्थ बनाना हो तो उनके बौद्धिक विकास, चरित्र एवं स्वभाव को प्रमुखता देनी होगी और इसके लिए दो सबसे बड़ी बाधाओं, धन और रूप को प्रधानता देनी बन्द करनी होगी । गरीब घरों में आमतौर से परिश्रमी, शिष्ट-सहिष्णु और सेवाभावी स्वभाव की कन्याएँ पाई जाती हैं । वे उन्हीं को मिल सकती हैं जो धन के लालची न हों । इसी प्रकार जिसे रूप नहीं मिला है वह अपनी विशेषताएँ गुणों में बढ़ाने का प्रयत्न करेगा । यह अति स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि सुखी और सन्तुष्ट गृहस्थ बसाना हो तो आज के दोनों ही दृष्टिकोण बदलने होंगे ।

विवाहोत्सव का स्वरूप, धर्मानुष्ठान जैसा अति सादगी, पवित्रता और सद्भावना भरा होना चाहिए । अहंकारी, उद्धत, कृतघ्न और लुटेरों जैसा नहीं । कन्या का पिता प्रसन्न है कि उसकी पुत्री को अच्छा साथी एवं सज्जन परिवार मिला । उसकी कृतज्ञता और नम्रता स्वाभाविक है । लड़के वालों को इससे भी चौगुना-सौगुना अधिक कृतज्ञ एवं नम्र होना चाहिए । मनुष्य से बढ़कर मूल्यवान वस्तु संसार में और कुछ नहीं । अपनी आत्मा के अंश को-भाव भरी कन्या को जो दे रहा है उसका अनुदान राजा बलि से भी बढ़कर है । बलि के दरवाजे कुछ लेने भगवान गये थे तो उन्हें भी बावन अंगुल का छोटा रूप-नम्र कलेवर-बनाकर जाना पड़ा था । यह एक ही अनुदान अहसान इतना बड़ा है कि इसके लिए वर पक्ष वाले हर व्यक्ति को-उसके माता-पिता को कृतज्ञता के भार से नत-मस्तक हो जाना चाहिए । उससे जैसा भी आतिथ्य बने भूरि-भूरि प्रशंसा के साथ स्वीकार करना चाहिये और जो दे रहा हो उसमें कमी करने के लिए बार-बार अनुरोध भरा आग्रह करते रहना चाहिए । बारात की संख्या एवं अपने लोगों की आवभगत का अथवा उपहार, दहेज देने का ऐसा दबाव नहीं डालना चाहिए । जिसका उस परिवार की आर्थिक स्थिति पर तनिक भी दबाव पड़ता हो । जो कन्या जैसा संसार का महत्तम अनुदान दे रहा है उस घर-परिवार की आर्थिक स्थिति पर चोट पहुँचाना अथवा दबाव डालना परले सिरे की हृदयहीनता तथा कृतघ्नता है, हममें से किसी को भी इस नीचे स्तर पर नहीं उतरना चाहिए ।

आमतौर से लड़के वालों की मनोभूमि लुटेरों जैसी और कन्या पक्ष वाले की पुलिस में पकड़े हुए दीन-दुर्बल अपराधी जैसी होती है । एक का अहंकार आसमान को छू रहा है और दूसरा अपने स्वाभिमान को ताक पर रखकर दीनतापूर्वक गिड़गिड़ा रहा होता है । यह स्थिति उत्पन्न करना हृदयहीन और उद्धत लोगों को ही शोभा दे सकता है । जहाँ सहृदयता, मनुष्यता और कृतज्ञता के कुछ ही अंश होंगे वहाँ परिस्थितियाँ बिल्कुल उलटी दिखाई देंगी । तब सास को जमाता के पैर नहीं छूने पड़ेंगे वरन् जमाता अपनी माता से भी अधिक पूज्य सास के चरण स्पर्श करेगा तब वह मोटर साइकिल दहेज में लेने के लिए अड़ेगा नहीं, वरन् आग्रहपूर्वक यही कहता रहेगा कि वधू प्राप्त कर लेने के बाद केवल आपके आशीर्वाद और मार्गदर्शन भर की आवश्यकता शेष है, जिसके बलबूते पर हम अपने पुरुषार्थ और सद्गुणों से सुन्दर गृहस्थी बना सकें ।

बड़ी संख्या में बारात बेटी वाले के दरवाजे तक पहुँचना व्यर्थ है । अपने मित्रों का प्रीतिभोज करना हो तो विवाह के बाद वर-कन्या के हाथों भोजन परोसवाकर अपने घर दावत करनी चाहिए । महँगे दाम के बाजे बजवाने, सजधज की बारात निकालने और अतिशबाजी छूटने की फिजूलखर्ची हम मध्यम श्रेणी के लोगों को शोभा नहीं देती, जिनके लिए एक-एक पैसे का बड़ा मूल्य है । लड़की पर चढ़ाने के लिए इतने महँगे कपड़े किस काम के जिन्हें पहनकर यह बन्दर जैसी अजनबी और बिल्कुल कृत्रिम लगे ? घर में जैसे पहने जाते हैं उससे ड्यौढ़े-दूने दाम तक के कपड़े वर-वधू को दिये जा सकते हैं, पर नाटकों में नाचने वाले नटों जैसी पोशाकों पर पैसा लूट देना किसलिए ? सभी जानते हैं कि जेवरों में पूँजी रुकती है । आधा पैसा बनवाई, मिलावट और टाँके बट्टे में चला जाता है । रोज टूटते हैं । ईर्ष्या पैदा करते हैं और चोरी, उठाईगिरी का डर रहता है । अब विचारशील लोगों में जेवर जंगली युग के अवशेष कहे जाते हैं । उनका लटकाना, मटकाना, असभ्यता एवं भोंड़ेपन की निशानी मानी जाती है । अच्छा यही है कि अँगूठी, मंगलसूत्र जैसी प्रतीक आभूषणों को छोड़कर इस जंजाल में पैसा न लुटाया जाये । हर पैसे को उपयोगिता की कसौटी पर कसकर ही खर्च किया जाना चाहिए । विवाह भी इसी शाश्वत नियम के अपवाद नहीं हो सकते । उस छोटे से उत्सव में भी मितव्ययिता का ध्यान रखा जाये । हाँ, भावनात्मक, पवित्रता एवं स्नेह, सौजन्य में भरा दो परिवारों का मिलन का ऐसा हर्षोल्लास जरूर मनाया जाये, जिसमें संगीत, संभाषण, परस्पर-परिचय, मनोरंजन, अभिनन्दन, आशीर्वाद, मण्डप-पण्डाल, यज्ञ-संस्कार आदि की सांस्कृतिक मधुरिमा टपकती हो । कला में रुचि रखने वाले व्यक्ति ऐसी सूझ-बूझ के अनुरूप शोभा व्यवस्था स्वल्प व्यय से भी बना सकते हैं । विवाह का उद्देश्य महान है इसलिए उसका स्तर एवं वातावरण भी महानता से, उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता से भरा-पूरा होना चाहिए । ऐसे ही शुभारम्भ के साथ आरम्भ किया हुआ यह यज्ञ दो परिवारों में, वर-वधू में-गृहस्थ जीवन में, सन्तान मे सद्भावना भरे रह सकता है । विवाहों की रूप-रेखा हमें इसी स्तर की बनानी है. ।

प्रश्न–

(१) विवाह क्या है, आजकल विवाह सम्बन्ध किन आधारो पर तय किये जाते हैं ? (२) विवाह सम्बन्ध का सच्चा आधार क्या होना चाहिए ? (३) गृहस्थ के सुख-शान्ति की आधारशिला क्या है ? (४) विवाहोत्सव कैसा होना चाहिए ? विवाहोत्सव में होने वाले अपव्यय पर प्रकाश डालिए ? (५) विवाहों की रूपरेखा किस तरह बनानी चाहिए ? (६) आभूषण क्यों आवश्यक हैं ?(७) विवाह में लड़के व लड़की वालों की मनोभूमि कैसी होती है ? (८) कृतज्ञ किसे होना चाहिए व क्यों ? (९) आज के युवकों का क्या कर्त्तव्य है ? (१०) हिन्दू समाज के संगठित न होने का प्रमुख कारण क्या है ?

बाल-विवाह एक अति घातक कुप्रथा

अपने देश में बाल-विवाहों का प्रचलन बहुत है । पिछड़े वर्गों में, छोटे देहातों में तो इतना बड़ा शौक-चाव रहता है कि छोटे बच्चों का विवाह करते हुए एक हर्षोत्सव को देखने का अवसर जितनी जल्दी मिल जाये उतना ही अच्छा है । कुछ दिन पहले तक तो गर्भस्थ बच्चों की अगाऊ शादियाँ हो जाती थीं और दूध पीते बच्चों का गोदी में लेकर अभिभावक विवाह कर लेते थे । अब थोड़ा सुधार हुआ है तो १० और १५ के वर्ष के बीच देहाती क्षेत्र में इतने अधिक विवाह होते हैं, जिन्हें देखकर यही लगता है कि हमारा पिछड़ापन अभी भी ज्यों का त्यों बना हुआ है । शारदा एक्ट और दूसरे बाल-विवाह विरोधी कानून यों तो बने पड़े हैं पर वे राजकीय आधार पर मुकदमे चलाकर दण्डनीय न होने के कारण प्रभावहीन बने हुए हैं । लाखों बाल-विवाह हर साल अपने देश में होते हैं और उनसे इन बालकों की शारीरिक, मानसिक क्षति तो होती ही है, उसका साथ ही दुष्परिणाम समस्त समाज को भोगना पड़ता है ।

विवाह का अर्थ ही इन दिनों कामुकता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना बन गया है । विवाह होते ही बालकों के मस्तिष्क में वही चिन्तन घूमता है । साथी वैसा ही प्रोत्साहन देते हैं । फलतः कच्ची आयु में ही यह विचारणा एवं प्रक्रिया चल पड़ती है जो उन दिनों सर्वथा अवांछनीय है । २५ वर्ष की आयु तक शरीर के अन्तरंग तत्व विकास और पुष्टि की दिशा में गतिशील रहते हैं । यदि काम-क्रीड़ा द्वारा उन तत्वों को निचोड़ा जाने लगे तो स्वभावतः शारीरिक विकास की प्रक्रिया रुकेगी । देह बलिष्ठ न हो सकेगी । छोटे पेड़ के तने खोदकर यदि उसमें से गोंद निकालना आरम्भ कर दिया जाये तो पेड़ जहाँ का तहाँ रह जायेगा, उसका बढ़ना और पुष्ट होना रुक जायेगा । यही बात बच्चों पर लागू होती है । उन्हें संयम, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, खेलकूद और दूसरे आधारों के सहारे अभिवृद्धि की आयु २५ वर्ष तक विकसित होने का अवसर न मिले तो स्वभावतः वे दुर्बल एवं अविकसित रह जायेंगे । इसका फल सारे जीवन उन्हें शरीर की समस्त दुर्बलता एवं रुग्णता के रूप में भोगना पड़ेगा ।

समस्त शरीर के साथ ही जननेन्द्रियों के कोमल कल-पुर्जों की परिपक्वता पुष्ट होती है । असमय ही उन्हें छेड़ना और सताना शुरू कर दिया जाये तो उसका परिणाम यौन रोगों के रूप में सामने आता है । बाल-विवाह जननेन्द्रियों सम्बन्धी अनेक रोगों को आमन्त्रण देना है । अपने देश में

यौन रोगों की चर्चा एक लज्जा का विषय माना जाता है, इसलिए अधिकांश व्यक्ति उन कष्टों से ग्रसित होने पर भी छिपाये रहते हैं । कहते तब हैं जब पीड़ा असह्य हो जाती है । तलाश किया जाये तो बाल-विवाह के फलस्वरूप प्रमेह, स्वप्नदोष, बहुमूत्र, पेशाब की लत, नपुंसकता, शीघ-पतन, बाँझपन, प्रदर मासिक धर्म की गड़बड़ी एवं पीड़ा जैसे असंख्य यौन रोगों से ग्रसित लाखों नर-नारियाँ मिल सकते हैं । यह रोग शरीरों को खोखला करते रहते हैं और उनमें तरह-तरह की छोटी-बड़ी बीमारियों को पैदा करते रहते हैं ।

ऐसे दम्पत्ति जिन्होंने छोटी आयु से ही अपने शरीरों को निचोड़ना शुरू कर दिया कभी परिपुष्ट, सुन्दर और नीरोग सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकते, कच्चे बीज यदि बोये जायें तो अच्छी फसल उगने की आशा कौन करेगा ? बाल-विवाह के कुचक्र ने जिन्हें चूसे हुए आम की तरह निचोड़ डाला है, उनकी सन्तान कमजोर, बीमार, अल्प आयु, मन्दबुद्धि तथा अधपगली जैसी ही होगी । वे बच्चे किसी तरह जी भी लिये तो उनसे किसी महत्त्वपूर्ण प्रयोजन या पुरुषार्थ की आशा नहीं की जा सकती । ऐसे दुर्बलकाय और मानसिक दृष्टि से पिछड़ी हुई धरती माता के ऊपर भार बढ़ाना ही है । पीढ़ियाँ एक के बाद एक क्रमश दुर्बल होती चली जायेंगी और राष्ट्रीय स्वास्थ्य एवं बौद्धिकता का स्तर दिन पर दिन गिरता चला जायेगा । बाल-विवाह सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए एक खतरा है । राष्ट्रीय समर्थन के लिए यह एक सघन संकट है । हमें अपनी नस्ल खराब करने की जोखिम नहीं उठाना है तो प्रचलित बाल-विवाह प्रथा की उपेक्षा करनी चाहिए । अपरिपक्व शरीर से अल्प आयु की लड़कियाँ यदि प्रजनन करती हैं तो उनका अपना जीवन भी संकट में रहता है । अस्पतालों की रिपोर्ट बताती है कि बीस वर्ष से कम उम्र की जितनी लड़कियाँ प्रसव पीड़ा में मरती हैं उसमें चौथाई भी बड़ी आयु की स्त्रियाँ उस संकट में प्राण नहीं गँवाती । लड़कियों की जान को जोखिम में डालकर विवाह का हर्षोत्सव मनाने वाले अभिभावक किस प्रकार समझदार कहे जायें और कैसे माना जाये कि वे अपने बच्चों को सच्चा प्यार करते हैं ? बाल-विवाह के शिकार लड़के प्रसव पीड़ा में तो नहीं मरते पर उनकी भी कम दुर्दशा नहीं होती । रुग्ण शरीर, रुग्ण पत्नी, रुग्ण सन्तान को लेकर जिस तरह रोते-कलपते उसे देखते हुए बाल-विवाह का खेल एक कौतुक मात्र नहीं रह जाता वरन् एक भयावह अभिशाप के रूप में उन्हें आजीवन उस दुर्भाग्य के लिए रोना पड़ता है ।

बाल-विवाह का मनोवैज्ञानिक प्रभाव विशेषत: लड़कियों पर बहुत ही बुरा पड़ता है । ससुराल में बहू को कुछ दूसरे किस्म से रहना पड़ता है । उठती उमर की आकांक्षाओं को कुछ अधिक हँसी-खुशी और स्वच्छन्दता की जरूरत पड़ती है । माँ-बाप के घर ही यह सहज सुलभ स्थिति सम्भव है । इसी वातावरण में मनोविकास के लिए खुली हुई और उपयुक्त परिस्थितियाँ मिलती हैं । यदि उठती उमर की मनोवांछाएँ बन्दीगृह जैसी ससुराल में दबी-भिची बना दी जायें तो उसमें भीतर ही भीतर एक घुटन जैसी पैदा होती है । छोटी आयु की लड़कियाँ इस विवशता में भीतर ही भीतर बुरी तरह फड़फड़ाती हैं, पर कुछ कर नहीं सकतीं । उनकी यह विवशता मानसिक रोगों के रूप में फूट पड़ती है । नई उम्र की लड़कियों को मूर्छा, दौरा, मृगी, भूत-प्रेत, भयंकर स्वप्न, दिल की धड़कन, डर आदि कितनी ही ऐसी व्यथाएँ फूट पड़ती हैं जिनका एकमात्र कारण मनोवैज्ञानिक अवरोध एवं शारीरिक घुटन ही होता है । बड़ी आयु में लड़कियाँ दाम्पत्य जीवन में रस लेने लगती हैं और वे ससुराल के दबे-भिचे वातावरण को भी सन्तुलित कर लेती हैं, पर छोटी आयु की अविकसित मस्तिष्क की भावुक लड़कियाँ उन परिस्थितियों में अपने आपको ढाल न सकने के कारण उद्विग्न, विक्षिप्त-सी रहने लगती हैं और अपना शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य खो बैठती हैं । भारतीय नारी की मानसिक दुर्दशा का एक बड़ा कारण असमय ही एक भार पड़ जाना है । बड़ी उम्र में विवाह होने पर मानसिक दृष्टि से समर्थ लड़कियाँ ही इस भार से बच सकती हैं और मानसिक स्थिरता बनाये रह सकती हैं ।

यह सोचना उचित नहीं है कि जल्दी विवाह कर देने पर लड़कियाँ शीलवान बनी रहती हैं और बड़ी आयु पर विवाह होने से उनमें चारित्रिक दोष आने का खतरा रहता है । खतरा आयु से नहीं वातावरण से सम्बन्धित है । छोटे बच्चे भी कुमार्गगामी हो सकते हैं । दूषित वातावरण और गन्दी परिस्थितियों में रहना पड़े तो गृहस्थ, वैधव्य और वृद्धावस्था तक में चरित्रहीनता का खतरा बना ही रहेगा । अविवाहित दुराचारी हो जाते हैं और विवाहित सदाचारी बने रहते हैं यह सोचना भ्रमपूर्ण है । बाह्य प्रतिबन्धों से नहीं, मानसिक प्रतिबन्ध ही किसी को सदाचारी बनाये रह सकते हैं । सो हमें अपने बच्चों पर विश्वास करना चाहिए उन्हें मनस्वी और चरित्रवान बनने के उपयुक्त वातावरण में प्रशिक्षण देना चाहिए अन्यथा विवाह होने पर भी इस बात की कोई गारण्टी नहीं कि वे पतनोन्मुख होने से बच जायेंगे ।

किसी जमाने में जब अनाचारी शासक प्रजा की लड़कियों पर कुदृष्टि लगाये रहते थे और सयानी बच्चियों की सुरक्षा संकट से भरी थी तब छोटे बच्चों के विवाह करके उन्हें घरों की आड़ में छिपाये रहना और विवाह कर देना सामयिक आवश्यकता के रूप में आवश्यक रहा होगा और धर्म माना जाता रहा होगा । अब ऐसा कोई खतरा नहीं रहा इसलिए अब बाल-विवाह को धार्मिकता के साथ जोड़ना गलत है । बच्चे हों या बच्चियाँ उनकी किशोरावस्था शिक्षण एवं स्वास्थ्य-संवर्द्धन में लगाई जानी चाहिये । उन्हें मानसिक और शारीरिक विकास का अवसर उठती उम्र में प्राप्त करने देना चाहिए । बूढ़े पुराने लोग अपने मरने की बात कहकर विवाह अपने आँखों के आगे देख जाने की अभिलाषा आमतौर से व्यक्त करते रहते

हैं और घर वालों को जल्दी ब्याह करने के लिए उकसाते रहते हैं । उन्हें समझना और समझाना चाहिए कि उनकी यह उतावली बच्चों के लिए कितने घातक परिणाम उत्पन्न करेगी ? समय आ गया है कि हम विवेक के आधार पर हर बात सोचें और बाल-विवाह जैसी मूर्खता का अविलम्ब परित्याग कर दें ।

प्रश्न–

(१) बाल-विवाह के आधार पर सिद्ध कीजिए कि हम अभी तक पिछड़े हुए हैं ? (२) शारदा एक्ट तथा दूसरे बाल-विवाह विरोधी कानून क्यों प्रभावहीन हैं ? (३) बाल-विवाह में मानसिक एवं शारीरिक हानियाँ क्या हैं ? (४) बाल-विवाह से उत्पन्न संतान किस तरह की होती है ? (५) बाल-विवाह लड़की के लिए किस प्रकार घातक सिद्ध हो सकता है ? (६) बाल-विवाह का मनोवैज्ञानिक प्रभाव लड़कियों पर किस प्रकार बुरा पड़ता है ? (७) बड़ी आयु में लड़कियाँ दाम्पत्य जीवन के अनुरूप क्यों हो जाती हैं ? (८) क्या छोटी आयु में विवाह कर देने से लड़कियाँ शीलवान बनी रह सकती हैं ? (९) उस कारण को समझाइये जिसके कारण लड़कियों का विवाह छोटी उम्र में ही कर दिया जाता था ?

खर्चीली शादियाँ हमें बेईमान और दरिद्र बनाती हैं

संसार भर में विवाहोत्सव एक सरल पारिवारिक उत्सव के रूप में प्रचलित है । सयाने लड़की-लड़के जब विवाह योग्य हो जाते हैं, तो उपयुक्त जोड़ा ढूँढ़कर एक छोटा-सा पारिवारिक उत्सव कर दिया जाता है । धर्म-संस्कार करा दिये जाते हैं और वर-वधू अपना गृहस्थ बनाना आरम्भ कर देते हैं ऐसे उत्सव संसार भर के–हर धर्म-समाज मे बहुत ही सस्ते होते हैं । मध्यम श्रेणी के लोग उपहारों सहित हजार-पाँच सौ भी मुश्किल से खर्च करते हैं । विवेकवान और व्यवहारवादी लोगों की यही परम्परा प्राचीनकाल से थी–अब भी है ।

अपने समाज के अविवेकपूर्ण रीति-रिवाजों के लिए क्या कहा जाये ? विवाह-उत्सव अपने लिए एक कमर-तोड़ भार बना हुआ है । लड़के वाले दहेज की लम्बी-चौड़ी रकमें और कीमती सामान माँगते हैं । लड़की वालों की माँग कन्या के लिए बहुमूल्य जेवरों कीमती कपड़ों की रहती है । तमाशबीन, सजधज की बारात-बाजे, पर निरर्थक नेग-जोग इतने खड़े रहते हैं कि उनमें ढेरों खर्च होता है । तीन दिन के इस छोटे से प्रदर्शन की उपयोगिता, आवश्यकता भी कुछ है क्या ? इसका विचार न करके लोग उन्माद में आवेशग्रस्त हो जाते हैं । उसे शान-शौकत की प्रतिष्ठा का, प्रश्न नाक का सवाल बनाते हैं और आर्थिक दृष्टि से बुरी तरह कट मरते हैं ।

औसत दर्जे का आदमी इस घोर महँगाई और बढ़े-चढ़े खर्च के जमाने में किसी प्रकार मुश्किल से ही अपनी गुजर कर पाता है । कुछ बचा सकने वाले तो हजारों में एक ही होंगे । बच्चों की ऊँची शिक्षा दिलाने वाले गृहस्थ के लिए अपना पारिवारिक तथा शिक्षा सम्बन्धी खर्च चलाना भी मुश्किल होता है, फिर विवाह के लिए इतनी लम्बी-चौड़ी रकमें कहाँ से आयें ? जब बच्चे बड़े होने लगते हैं तब लगातार दो-दो वर्ष बाद उनके विवाह करने पड़ते हैं । लड़की वाला ही नहीं, लड़के वाला भी परेशान रहता है । क्योंकि अधिकांश पैसा वह ऐसे दिखावटी सामान के रूप में पाता है जिसकी कोई आवश्यकता न थी । थोड़ी-सी नगदी मिलती है जो बेटे वाले को जेवर आदि का खर्च जुटाने में कम पड़ती है । इस प्रकार दोनों ही पक्ष इस सत्यानाशी विवाहोन्माद में आर्थिक दृष्टि से खोखले हो जाते हैं ।

यह अतिरिक्त धन आखिर आये कहाँ से ? ईमानदारी से आज की परिस्थितियों में कोई गुजारे भर को कमा सकता है । जमा करना अति कठिन है । विवाहों में इतना प्रचुर धन फूँकना जब आवश्यक ही हो गया है तो बेईमानी का रास्ता अपनाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह जाता । यदि बच्चे हैं और उनका विवाह भी करना है और हिन्दू भी हैं तो फिर दिन-रात बेईमानी करते हुए पैसे का जुगाड़ बनाने के अतिरिक्त किसी के सामने और कोई उपाय नहीं रहता । सरकारी कर्मचारियों को रिश्वत-मजदूरों के लिए चोरी, व्यापारी के लिए मिलावट करना या कम तोलना, लोक-सेवकों के लिए चालबाजियों, चिकित्सक के लिए रोगी को डराकर पैसे ऐंठना आदि अनीतिपूर्ण मार्ग ही शेष रह जाते हैं । जो चतुरतापूर्वक छिपी रहने वाली चालाकी नहीं कर सकते, उन्हें जोखिम भरे और फूहड़ कहे जाने वाले चोरी-डकैती, कत्ल,, ठगी, बेईमानी, विश्वासघात, शोषण, अपहरण के ऐसे तरीके अपनाने पड़ते हैं, जो बदनामी और राज-दण्ड भी साथ लिए रहते हैं ।

अपने समाज में अपराध बुरी तरह बढ़ गये हैं–चोरी, बेईमानी की प्रवृत्ति हर क्षेत्र में पनप रही है । इसका एक बहुत बड़ा कारण विवाह-शादियों में होने वाला अन्धाधुन्ध अपव्यय भी है । जो वैसा करना नहीं चाहते उन्हें भी ऐसे पाप मजबूर होकर करने पड़ते हैं अन्यथा शादियों का खर्चा जुटे कैसे ? अपने समाज की नैतिक, ईमानदारी इस घातक कुरीति के कारण बुरी तरह नष्ट हो चली है । हिन्दू समाज के लिए जिसमें खर्चीले विवाहों की प्रथा प्रचलित है, अनीति का मार्ग अपनाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है । वे ईमानदार रहें तो आखिर रहें कैसे ? ईमानदारी से इतना विपुल धन कमा लेना सामान्य मनुष्य के लिए असम्भव है ।

हमें विचार करना होगा कि शादियों का वर्तमान खर्चीला स्वरूप जारी रहने दिया जाये अथवा नहीं ? यदि इसे जारी रखना हो तो अपने व्यवहार में कूट-कूटकर बेईमानी भर लेने के अतिरिक्त अनन्त काल तक दरिद्र बने रहने को भी तैयार रहना चाहिए । हर सद्-गृहस्थ को

जीवन में ४-६ विवाह अपने हाथों जरूर करने पड़ते हैं । एक विवाह में कुल मिलाकर इतनी बड़ी रकम हो जाती है जिसका परिवार की आर्थिक स्थिति बनाने-बिगाड़ने से भारी सम्बन्ध है, यदि यह पैसा घर में रहा होता तो उससे कृषि, व्यवसाय आदि जो भी काम होता है उसमें पूँजी बढने से बहुत उन्नति हो सकती थी । उस पैसे से घर का मकान बन सकता, परिवार को अच्छा भोजन मिलने से शरीर स्वस्थ और दीर्घजीवी हो सकते थे । बच्चों को उच्च शिक्षा मिल सकती थी और बुढ़ापे, बीमारी में कुछ सहारा हो सकता था पर जब सारा पैसा शादियों के अपव्यय में नष्ट हो गया तो घर का खोखला हो जाना स्वाभाविक है । प्रगति के हर द्वार बन्द होंगे ही और अनेक असुविधाओं से भरा जीवन सारे परिवार को जीना ही पड़ेगा ।

शादियों की खर्चीली प्रथा हमें कर्तव्यहीन, मुफलिस, बेईमान और हीन स्थिति में दुःख-दारिद्र्य से भरा जीवन जीने के लिए मजबूर करती है । आमदनी बढाने के कुछ रास्ते निकलते भी हैं तो उसी हिसाब से उन शादियों का और उसके बाद वर्षों तक चलने वाले अलन-चलनों का खर्च इतना बढ़ा रहता है कि किसी को बढी हुई आमदनी का लाभ नहीं मिल सकता । यदि इस अनावश्यक बर्बादी से हम बच सके तो हर घर में थोडा पैसा जमा होता और उससे कुछ प्रगति के नये कार्य बनते और धीरे-धीरे वह बढोत्तरी आर्थिक समृद्धि के रूप में दीखती । अमेरिका, जापान आदि देशो के लोग अपनी बचत को ऐसे कामों में लगाते हैं, जिनसे उनकी समृद्धि बढ़े । धीरे-धीरे वे धनी होते चलते हैं । हमारे सामने शादियों के खर्च की मजबूरी न रही होती तो अपने परिवार में भी खुशहाली होती और हर किसी के चेहरे आशा, उत्साह से चमक रहे होते । हर कोई अच्छी आर्थिक स्थिति के कारण ऊँचे स्तर का सुखी जीवन जीने की दिशा में बढ़ रहा होता । तब सर्व-साधारण को बेईमान बनने के लिए मजबूर न होना पड़ता ।

विवेकशीलता का तकाजा है कि हम इस बात पर पुनर्विचार करें कि अपने समाज में प्रचलित विवाहों की खर्चीली प्रथा क्या उचित है ? क्या आवश्यक है ? क्या झूठी शेखीख़ोरी के पीछे कुछ वास्तविकता है ? यदि नहीं तो सर्व-साधारण के लिए प्राण-घातक बनी हुई, चिन्ता से हर गृहस्थ का आधा खून सुखा देने वाली और आधी जिन्दगी कम कर देने वाली–इस कुप्रथा का अन्त कर देने की बात सोचनी चाहिए ।

यदि यह सही है कि विवाह-शादियों का वर्तमान खर्चीला स्वरूप अनुपयुक्त है तो हर विवेकशील और देशभक्त का कर्तव्य है कि उस अवांछनीयता को हटाने के लिए कुछ साहस प्रदर्शित करें, जिसके कारण अपने समाज का नैतिक और आर्थिक स्तर दिन-दिन चकनाचूर होता चला जा रहा है ।

आरम्भ हमें अपने घर से करना चाहिए । अपने बच्चों की शादियाँ बिना खर्च के करेंगे, न तो दहेज लेंगे और न देंगे के सिद्धान्त पर दोनों पक्षों का असमंजस दूर हो सकता है । जब मिटने होंगे तो दहेज और जेवर एक साथ मिटेंगे । एक पक्षीय सुधार सम्भव नहीं । समाज के विचारशील व्यक्ति औचित्य को कार्यान्वित करने के लिए अग्रसर हों तो इस कुप्रथा के उन्मूलन के लिए पंचायती निर्णय हो सकते हैं और उसका उत्साहवर्द्धक लाभ सारे समाज को मिल सकता है । समय आ गया है कि हम चेतें और सादगी के वातावरण में मितव्ययिता वाले सज्जनता और विवेकशीलता के आधार पर विवाह आयोजन की योजना बनायें ।

प्रश्न–

(१) विवाहोत्सव की परम्परा प्राचीनकाल में कैसी थी ? (२) आजकल विवाहोत्सव को कमरतोड़ भार क्यों कहा जाता है ? (३) हमारे देशवासियों की औसत आय क्या है ? (४) विवाहोन्माद से दोनों पक्षों को कैसे हानि होती है ? (५) विवाह के भार का सामना करने के लिए समाज के विभिन्न अंग किस प्रकार की बेईमानी करते हैं ? (६) यदि विवाह में कम खर्च किया जाय तो समाज को क्या लाभ होगा ? (७) बढ़ी हुई आमदनी को लाभ क्यों नहीं मिल पाता है ? (८) विवेकशीलता का तकाजा क्या है ? (९) विवाह प्रथा में सुधार का प्रारम्भ कैसे किया जाय ? युग की माँग क्या है ? (१०) विवाहोत्सव की योजना के सही आधार क्या हैं ।

बेटे वाले व्यर्थ ही घाटा और बदनामी न उठायें

जब तक सामाजिक कुरीतियों के दुष्परिणाम पर ध्या
नहीं गया था तब तक कोई बात नहीं थी पर अब-जबवि
अधःपतन के कारणों की ढूँढ-खोज की जा रही है औ
लेखा-जोखा लिया जा रहा है तब यह तथ्य सबके सा
आ गया है कि विवाह-शादियों में होने वाले अपव्यय
इस देश को बेईमानी, कर्जदारी, गरीबी और आर्थिक
नैतिक दुर्दशा को बेतरह बढ़ावा दिया है और इस-कुप्रथा
के रहते अपने समाज का अधःपतन रोका न जा सकेगा ।
तथ्य समाप्त होने के बाद हर विचारशील इस बात से
सहमत है कि इस अनावश्यक अपव्यय की बेवकूफी को
जितनी जल्दी हो सके बन्द कर देना चाहिये इस बढ़ती हुई
महँगाई के दिनों में जो लोग पुरातन पंथ के नाम पर पैसे
की होली फूँकने और मूर्खतापूर्ण धूम-धड़क्का मचाने का
समर्थन करते हैं उन्हें ओछा, अविवेकी, दुष्ट और दुराव ही
कहकर घृणा की दृष्टि से देखा जाता है ।

कोई जमाना था कि शादियों में धूम उड़ाने वाले
रईस, अमीर समझे जाते थे पर आज तो गरीबों को अपनी
अमीरी का स्वाँग सजाने वाले प्रतिगामी गँवार मात्र कहा
जाता है । पैसा अपना उड़ता है-बदले में प्रशंसा मिलने
की अब कोई गुंजाइश नहीं रही । उलटा घृणा और भर्त्सन
का ठीकरा सिर पर फूटता है । ऐसी दशा में अब घर फूँव
तमाशा देखने का यह खेल पिछड़े जमाने का स्वाँग

गया, अब उसे खेलने वाले कहीं भी प्रशंसा प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकते । उलटे यही सुनने को मिलेगा कि कहीं से ब्लैक की हराम की कमाई हाथ लगी है जो इस बेदर्दी से उड़ाई जा रही है । अपना घर बेचकर अमीरी का स्वाँग रचा सो भी प्रशंसा तक न दिला सका उलटा बदनामी का कारण बना तो फिर उसकी लकीर पीटने से क्या लाभ ? जो मर गया उसे जला ही देना चाहिए । खर्चीली शादियों की धूम-धाम एक ऐसी मृत प्रायः कुरीति है जिसकी लाश छाती से चिपकाये रहना व्यर्थ है । उचित यही है कि उसे सड़ाकर बदबू फैलाने का अवसर न देकर समय रहते जला या गाड़ दिया जाये ।

'विवाहोन्माद' में होने वाले अपव्यय का इन दिनों सारा दोष बेटे वाले पर थोपा जाता है । उन्हें कसाई और जल्लाद की उपमा दी जाती है । कहा जाता है कि यह लोग अपने लड़के का माँस बेचते हैं । कोई कहता है कि दुष्ट लोग कुछ समय पहले लड़कियाँ बेचकर मालदार बनते थे अब उनने लड़के बेचने का धन्धा पकड़ा है । हो सकता है यह लोग अगले दिनों अपने औरतें और माँ-बाप बेचने लगें, पैसे के लिए आदमी क्या कुकर्म नहीं करता । कोई कहता है जब लड़की का विवाह करना पड़ेगा तो यही लोग जो आज शेर की बोली बोलते हैं, तब बकरी की तरह मिमियायेंगे । ऐसे एक अनेक बहुवचन सुनने को मिलते हैं । जिस घर से दहेज लिया गया है वे बाहर से तो मिन्नतें करते हैं पर पेट में इतनी घृणा दबाये बैठे हैं कि उनका बस चले तो इस बेटे के बाप, समधी का भी छुरे से पेट चीर डालें और स्कूटर के लिए अड़े बैठे लड़के की नाक ही कतर लें । बेचारों की मजबूरी है कि लड़की के हाथ पीले करने हैं, इसलिए सिर-झुकाकर मेंमने को भेड़िये की शर्तें माननी पड़ती हैं पर भीतर ही भीतर कोसता वह भी यही है कि हत्यारे पर बिजली गिरे और उसका अंश-वंश मिट जाये ।

इसी जल्लादी की कीमत पर खड़ी की गई दो दिन की धूमधाम निस्सन्देह हजार मुख से धिक्कारने लायक है । यह इतना महँगा सौदा है कि जिसे खरीदने का साहस किसी भी समझदार बेटे वाले को नहीं करना चाहिए ।

विचार करने की बात यह है कि क्या लड़के वालों को सचमुच इतना लाभ मिलता है जिसके लिए इस प्रगतिशील युग में दसों-दिशाओं से बरसने वाली भर्त्सना का लोभ छोड़ सकना कठिन हो । बारीकी से देखने पर पता चलता है कि लड़के वाला अपनी जिद और मूर्खता मात्र के कारण बदनाम होता है । पल्ले उसके भी कुछ नहीं पड़ता वरन् उलटा घाटे में रहता है । जो कुछ लड़की वाले ने दिया था वह तो अस्त-व्यस्त हो जाता ही है, इसके अतिरिक्त उसे निश्चित रूप से कुछ घर से भी लगाना पड़ता है । बदनामी नफा कमाने वाले के रूप में हुई और वस्तुतः रहे घाटा उठाने वालों में । ऐसा सौदा करने से क्या लाभ जिसमें नुकसान भी रहे और बदनामी की हाँड़ी सिर पर फूटे ?

लड़की वाले को कमर तोड़ खर्च करना पड़ता है । बारात की आवभगत, ज्यौनार, भेंट-उपहार का खर्च बहुत बढ़ा-चढ़ा होता है । उसी में ढेरों पैसा लग जाता है, इसके बाद उन चीजों का नम्बर आता है जिन्हें भेंट-उपहार की चीजें कहते हैं, कपड़े, फर्नीचर, खिलौने, रंग-बिरंगे कपड़े, बर्तन, शृंगारदान, रेडियो, घड़ी, पैन आदि ऐसी चीजें दी जाती हैं जो खरीदने वाले की तो रकम खा जाती हैं पर जिसके घर गई हैं उसके लिए सर्वथा अनावश्यक और निरर्थक सिद्ध होती हैं, जगह घेरती हैं और कूड़े-करकट की तरह पड़ी रहती हैं । जरूरत की चीजें हर गृहस्थी में पहले से ही मौजूद रहती हैं । दिखनौटी, विलासी चीजें बाजार में बेची भी नहीं जा सकती । उनका कुछ उपयोग भी नहीं । बेटे वाला बदनाम भी हुआ और उस कूड़े-करकट का कुछ लाभ भी न उठा सका । जेवर आदि जो मिलते हैं वे भी ऐसे हैं जिसकी आधी कीमत सुनार के पेट में पहले ही चली जाती है और आधी से बचती है उसे पहनने वाली औरतें दो-चार वर्ष में तोड़-फोड़कर बराबर कर देती हैं । जो नकदी मिली उससे कहीं ज्यादा लडकी के लिए जेवर, कपड़े, शृंगार, साधन, उपहार, मेवे-मिठाई आदि खरीदने पड़ते हैं और बारात का किराया, आतिशबाजी, बाजा, दरवाजे की शोभा के नाम पर इतना खर्च होता है कि अपने घर पर होने वाली मेहमानबाजी के साथ बहुत भारी पड़ती है और उससे हर बेटे वाला घाटे में रहता है ।

इस दृष्टि से बेटे वाला निस्सन्देह दया का पात्र है । उसने पैसे की दृष्टि से कुछ कमाया नहीं, गँवाया । बदनामी इतनी सही कि विचारशील लोगों की दृष्टि में वह गाय मार डालने से भी बढ़कर है । दकियानूस, प्रगति विरोधी, कुरीति-पोषक, स्वार्थी, जल्लाद, हराम की कमाई खाने वाला आदि न जाने क्या-क्या कहलाया । इस धूमधाम में प्रशंसा मिलेगी, प्रतिष्ठा बढ़ेगी वाली बात तो केवल स्वप्न-लोक की तरह ही थी जिस पर बहुत सड़े-गले किस्म के लोग ही विश्वास कर सकते हैं ।

इन परिस्थितियों में हर बेटे वाले को नये दृष्टिकोण से रहना होगा और आदर्शवादी विवाह पद्धति अपनाकर अपनी प्रगतिशीलता की प्रशंसा पाने और अपने तथा अपने सम्बन्धी के पैसे बचाने का कदम उठाना होगा । दावत या धूमधाम करना जरूरी हो तो बेटे वाला अपने घर और बेटी वाला अपने सम्बन्धी, मित्रों की आवभगत में कर सकता है । उसे बेटी वाले से कहना चाहिए–"हम विवाह के अवसर पर एक आदमी, एक जोड़ा-साडी जम्फर लड़की के लिए लावेंगे और बिना धूमधाम के विशुद्ध पारिवारिक उत्सव तथा धर्मानुष्ठान की तरह विवाह करके लड़की को विदा करा ले जायेंगे । विवाह के अवसर पर कोई प्रशंसात्मक उपहार या नकदी स्वीकार न करेंगे । व्यर्थ की रस्म-रिवाज और अलन-चलन में पैसा तथा समय खराब न करेंगे, विवाह पूर्ण सादगी के वातावरण में होगा ।"

इस सन्देश से बेटी वाला यदि वज्र मूर्ख न हुआ तो खुशी-खुशी सहमति प्रकट करेगा और लड़के को एक अँगूठी, एक जोड़ी कपड़ा, दस बारातियों का सत्कार जैसे कार्य में हजार दो हजार रुपया खर्च करके आसानी से एक अग्निपरीक्षा जैसी चिन्ता से छूट जायेगा और उसे अपनी लड़की को कुछ देना ही होगा तो विवाह के दो-चार महीने बाद बिना किसी दबाव या प्रदर्शन के अपनी लड़की को स्वेच्छापूर्वक दे देगा, जो स्त्री धन के रूप में कभी उसके काम आ सके । यह बाप-बेटी के बीच का आदान-प्रदान होगा इसमें दोनों पक्षों के लोग कुछ दिलचस्पी न लेंगे ।

ऐसे आदर्श विवाहों का प्रचलन करने में बेटे वाले को पहल करनी चाहिए और जल्लादी पंक्ति में से अपना नाम काटकर देवताओं में गणना करानी चाहिए । इनसे उनका आर्थिक लाभ तो स्पष्ट ही है ।

प्रश्न—

(१) दहेज तथा शादियों का असह्य अपव्यय समाज को अध:पतन की ओर किस प्रकार ले जा रहा है ? (२) पहले शादियों पर अपव्यय होने के क्या कारण थे ? (३) अब अपव्यय करने पर समाज हमसे किस प्रकार बरताव करता है ? (४) विवाहोन्माद मे होने वाले इस सारे अपव्यय का दोष बेटे वाले के सिर पर क्यो थोपा जा रहा है ? (५) हर बेटे वाला दहेज रहने के बाद भी घाटे में किस प्रकार रहता है ? (६) यह आप किस तरह कह सकते हैं कि बेटे वाला दया का पात्र है ? (७) इस आदर्शवादी विवाह पद्धति में बेटे वाले को किस तरह का रोल अदा करना होगा ? (८) बेटी वाले को किस प्रकार का बरताव करना चाहिए ?

उच्च शिक्षित कन्या की विवाह समस्या और उसके नये हल

मानव जाति का उज्ज्वल भविष्य नारी का स्तर ऊँचा उठाये जाने पर निर्भर है । सही माता के रूप में निर्मात्री, पत्नी के रूप में शक्ति, भगिनी के रूप में शालीनता और पुत्री के रूप में मधुरमा बनकर नर को सजीव, सशक्त, सज्जन और सहृदय बनाती है । नारी की प्रस्तुत गरिमा जाग्रत करने के लिए उसकी अलौकिक विशेषताओं और विभूतियों को जगाया जाना आवश्यक है । इस जागरण का प्रथम सोपान शिक्षा है । यों आज की शिक्षा के साथ कितने दोष-दुर्गुण भी जुड़ गये हैं और उनसे सतर्क रहने की आवश्यकता है, पर इतना सब होते हुए भी शिक्षा के बिना कोई गति नहीं । शिक्षित नारी में भी दोष होना सम्भव है पर समग्र रूप से नारी को विकसित करने के लिए शिक्षा की उपेक्षा करके नहीं चला जा सकता । नारी शिक्षा एक ऐसा तथ्य है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । प्रगति के द्वार उसके बिना अवरुद्ध ही बने रहेंगे ।

जीवन विकास की आवश्यक जानकारी, गृहस्थ संचालन की क्षमता और पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन को सुसम्पन्न बनाने के लिए जिस बौद्धिक कुशलता की आवश्यकता है, उसके लिए शिक्षा अनिवार्य रूप से आवश्यक है । समय की पुकार है कि इस दिशा मे लड़कों से भी अधिक अवसर लड़कियों को मिलना चाहिए । इसका एक कारण तो यह है कि अगला समय-नया युग नारी के नेतृत्व आ रहा है । पुरुष ने अपनी उद्दण्डता से समाज में दुष्टता को ही बढ़ाया है । नारी की करुणा और कोमलता को जब नेतृत्व का अवसर मिलेगा तब सर्वत्र ममता और मानवता की धाराएँ बहेंगी और समस्याओं का हल जिसकी लाठी उसकी भैंस के आधार पर न होकर ममता और करुणा के आधार पर होगा, नारी में वे विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर वह हर क्षेत्र में कुशल नेतृत्व कर सके, उसे अपना उचित योगदान दे सकने की क्षमता से युक्त बनाने के लिए शिक्षा का अधिकाधिक अवसर मिलना चाहिए ।

दूसरा कारण यह है कि भौतिकवादी लोलुपता एवं कामुकता अब दम्पत्ति जीवन के आधारभूत आदर्शों में आग लगाने पर तुल गई है । पत्नीव्रत धर्म एक मखौल बनता जा रहा है । कला के हर माध्यम ने जिन पैशाचिक वितृष्णा को जगाया है, उसने हर पढ़े-लिखे लड़के को ऐसी स्थिति में डाल दिया है कि वह कभी भी पत्नी के साथ विश्वासघात करके उसे बीच भँवर में डुबो दे । ऐसे उदाहरण आँधी-तूफान की तरह बढ़ते जाते है जिससे योरोप की तरह जल्दी-जल्दी पत्नियाँ बदलने के शौकीनों ने अपनी धर्मपत्नी को निरीह और अनाथ बनाकर खून के आँसुओं से जिन्दगी भर रोने के लिए विवश कर दिया । इस बढ़ती हुई दुष्प्रवृत्ति के दिनों में हर सयानी लड़की का भविष्य खतरे में है और उसे इस योग्य बनाया जाना चाहिये कि बीच नदी में धकेल दिये जाने पर भी वह तैरकर पार हो सके ।

तीसरा कारण यह है कि आज की महँगाई में एक सुखी और सुविकसित गृहस्थ सँजोने के लिए केवल पुरुष की कमाई ही पर्याप्त नहीं, पत्नी को भी उपार्जन में योगदान देना आवश्यक हो गया है और यह कार्य केवल शिक्षित नारी ही कर सकती है । ऐसे असंख्य कारणों को देखते हुए हर अभिभावक का कर्त्तव्य है कि अपनी लड़कियों को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए लड़कों से भी अधिक सुविधा उसे प्रदान करें ।

इस तथ्य को अनेक अभिभावक स्वीकार करते हैं और अपनी बच्चियों को पढ़ाते भी हैं पर उस संदर्भ में उन्हें एक नई कठिनाई का सामना करना पड़ता है । अपने देश में रिवाज है कि "कन्या की अपेक्षा वर अधिक शिक्षा वाला और अधिक आयु वाला होना चाहिए ।" इस मान्यता के अनुसार लड़की जितनी अधिक पढ़ती जाती है उसी अनुपात से अधिक शिक्षित लड़के की जरूरत पड़ती है । पढ़े-लिखे लड़कों का बाजार उनकी शिक्षा के हिसाब

से महँगा होता जाता है और फिर क्रमशः कन्या के पिता का उतनी कीमत चुका सकना कठिन पड़ता है । दूसरी दिक्कत यह पड़ती है कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर लड़का ढूँढ़ते-ढूँढ़ते देर हो जाती है और बड़ी उम्र की लड़कियों को उनसे अधिक आयु के लड़के मिलने कठिन हो जाते हैं, कुछ समय तक पहले अपने देश में बाल-विवाह का रिवाज था, अब कुछ सुधार हुआ है तो भी आमतौर से बीस-पच्चीस वर्ष की आयु में लड़कों के विवाह हो जाते हैं । इससे अधिक आयु के कुँआरे लड़के जहाँ-तहाँ ही देखे जाते हैं । बड़ी आयु के मिलते हैं तो ३-४ बच्चों के बाप विधुर होते हैं । इन दो कठिनाइयों के कारण सुशिक्षित कन्याओं के विवाह की समस्या अति जटिल होती जाती है और ऐसे उदाहरण तेजी से बढ़ते जाते हैं जिससे उपयुक्त दो उलझनों का हल न निकलने के कारण हजारों सुशिक्षित कन्याओं को कुँआरी रहने के लिए विवश होना पड़ा और वे उच्च शिक्षा को अभिशाप अनुभव करने लगीं ।

इस कठिनाई के डर से या तो लड़कियों को कम पढ़ा रख कर छोटी आयु में विवाह कर देना पड़ेगा या फिर कोई दूसरा हल निकालना पड़ेगा । विवेक की दृष्टि से कन्याओं को उच्च शिक्षा का अवसर मिलना नितान्त आवश्यक है । किसी भी कारण उस अवसर को खोया नहीं जाना चाहिए । हमें उस दृष्टिकोण को बदलना चाहिए ताकि ये सुयोग्य, सुशिक्षित कन्याएँ प्राप्त कर सकें । इसके अतिरिक्त इस मूढ़-मान्यता को भी बदला जाना चाहिए कि कन्या से वर अधिक आयु का और अधिक शिक्षित होना चाहिए । इसमें कुछ तुक नहीं । सच बात तो यह है कि वधू की वयस्कता और परिपक्वता पर गृह-व्यवस्था और सुयोग्य सन्तान का होना निर्भर है । वर की आयु इससे कुछ छोटी हो तो भी इससे कुछ बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है । सामन्तवादी युग में औरत को मारने-पीटने और पैरों तले दबाये रखने के लिए मर्द का बड़ा होना जरूरी था अब वैसी कोई आवश्यकता नहीं रही । इसी प्रकार क्या शिक्षित वर से इतनी हानि हो सकती है कि वह कुछ कम कमाये । इसके अतिरिक्त छोटी आयु कम शिक्षा के वर से दाम्पत्य जीवन पर किसी प्रकार का कोई बुरा असर नहीं पड़ने वाला है । अधिक पढ़ा अधिक बुद्धिमान, अधिक समर्थ और अधिक कमाऊ वर जिस प्रकार से पत्नी के लिए लाभदायक है उसी प्रकार अधिक वयस्क, अधिक शिक्षित और अधिक सुयोग्य और अधिक कमाऊ पत्नी का सीधा लाभ पति को मिलना चाहिए ।

कन्या को उच्च शिक्षा दिलाने के साथ-साथ यह मनोभूमि भी हमें तैयार करनी चाहिए कि लड़की से कम उम्र और कम शिक्षा वाला लड़का ढूँढ़ने में कोई ऐतराज नहीं होना चाहिए । लड़कों को यह बात सोचनी चाहिए कि अपने से बड़ी आयु और बड़ी शिक्षा वाली लड़की प्राप्त करना यह उसके गौरव, सौभाग्य एवं उज्ज्वल भविष्य का चिन्ह है इसमें उन्हें अपनी हेटी नहीं प्रतिष्ठा अनुभव करनी चाहिए । लड़की कुछ अधिक कमा सके और लड़का कुछ कम कमाये तो दाम्पत्य जीवन की एकता को देखते हुए इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं । दहेज में कोई रकम पाने की अपेक्षा सुशिक्षित, कमा सकने योग्य लड़की वह जायदाद है जो हर महीने ब्याज-भाड़े की तरह आमदनी दे सकती है । कन्या की उच्च शिक्षा बढ़नी चाहिए । साथ ही उसके विवाह में उत्पन्न अवरोधों के ऐसे हल ढूँढ़े जाने चाहिए इस प्रकार के दृष्टिकोण बरते जाने चाहिए जैसे कि ऊपर की पंक्तियों में सुझाये गये हैं ।

प्रश्न—

(१) मानव जाति का उज्ज्वल भविष्य नारी का स्तर ऊँचा उठाये जाने पर निर्भर है ? (२) आजकल लड़कियों को शिक्षा दिलाना क्यों आवश्यक है ? (३) आज का युवक अपनी पत्नी को किस प्रकार धोखा दे सकता है तथा इसका कारण क्या है ? (४) महँगाई के इस जमाने में नारी का क्या कर्त्तव्य हो जाता है ? (५) उच्च शिक्षित कन्या को शादी के बाद किस तरह का जीवन व्यतीत करना पड़ता है ? (७) नारी के नेतृत्व से समाज का क्या कल्याण होगा ? (८) शिक्षित नारी के विवाह की कठिनाइयों को दूर करने के लिए किन-किन धारणाओं को बदलना चाहिए ? (९) शिक्षित लड़की खुद ही दहेज किस प्रकार से है ?

विधुर और विधवाएँ समान न्याय के अधिकारी

नर और नारी ईश्वर की दो आँखें, दो भुजाएँ, दो सन्तान हैं । दोनों ही उसे समान रूप से प्रिय हैं । दोनों के लिए उसके मन में समान रूप से स्नेह और न्याय है । कोई सहृदय पिता अपने बालकों को दुलार, वात्सल्य मे कमी कर भी नहीं सकता । ईश्वर ने नर और नारी की आकृति में थोड़ा अन्तर और प्रजनन-प्रणाली में थोड़ा हेर-फेर सृष्टि का आकर्षण और सौन्दर्य बनाये रखने की दृष्टि से भले ही किया हो, उनके अधिकार और स्तर में तनिक भी न्यूनाधिकता नहीं रखी है ।

धर्म और कर्त्तव्य तथा अधिकार दोनों के एक समान हैं । पाप-पुण्य भी दोनों के लिए एक ही हैं । जो नैतिक और सामाजिक कर्त्तव्य नर के लिए निर्धारित हैं, उन्हीं से नारी भी बँधी हुई है । जो स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता एक उत्तरदायी नागरिक की दृष्टि से नारी पर लदी है उन्हीं से नर भी समान रूप से जकड़ा हुआ है । चाहे धर्म हो चाहे कानून किसी के साथ रियायत नहीं करते । यदि रियायत का प्रश्न कभी आये तो भी वह सहृदयता की दृष्टि से सदा दुर्बल को सुविधा देने के पक्ष में जायेगा । प्रजनन का अधिक भार उठाने के कारण बहुत करके नारी का पक्ष ही कुछ घाटे में रहता और दुर्बल पड़ता है इसलिए ईश्वरीय तथा मानवीय न्याय ने यत्किंचित न्याय और कर्त्तव्य पालन में थोड़ी सुविधा नारी को ही दी है । नर को

प्रकृतिगत सुविधा अधिक मिल जाने से उस पर कर्त्तव्य का उत्तराधिकार अधिक ही छोड़ा है और न्याय की जंजीर में उसे ही अधिक कड़ाई से कसा है ।

विवाह नर-नारी का पवित्र गठबन्धन है । उसमें जो लाभ है, उन्हें दोनों समान रूप से उठायें और जो उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्य हैं उन्हें समान रूप से पालें यह नितान्त आवश्यक है । ईश्वर की यही इच्छा और न्याय की सही दिशा है । पतिव्रत धर्म नारी के लिए आवश्यक है । नर के लिए पत्नीव्रत पालन करने की कड़ाई तथा जिम्मेदारी उससे कम नहीं वरन् अधिक है । दोनों को विवाह बन्धन में बँधने के बाद परस्पर वफादार और ईमानदार रहना ही चाहिए ।

यदि कोई पक्ष इन कर्त्तव्यों से छूट लेना चाहे तो ठीक वही छूट उसे दूसरे पक्ष को भी देने के लिए भली प्रकार तैयार रहना चाहिए । बहु पत्नी प्रथा आवश्यक हो-यदि एक पत्नी के रहते दूसरी पत्नी की आवश्यकता अनुभव करे तो उसे आगे बढ़कर नारी मात्र को वही सुविधा सम्मानपूर्वक मिलने का समर्थन करना चाहिए । हिमालय की छाया में जौनसार नामक क्षेत्र में एक नारी कई पति खुले रूप में सामाजिक समर्थन से रखती है । ऐसे ही क्षेत्र में बहुत पत्नी प्रथा का भी समर्थन किया जा सकता है पर जो लोग अपनी नारी को शील और सतीत्व पालन करती हुई देखना चाहते हैं, उन्हें वही औचित्य पूर्णतया शत-प्रतिशत अपने ऊपर लागू करना चाहिए । पुरुष को व्यभिचार की छूट और स्त्री को पतिव्रत का बन्धन यह दुहरा मापदण्ड न ईश्वरीय इच्छा के अनुकूल है न सामाजिक न्याय है । मानवीय आचार-शास्त्र में इस प्रकार के भेद-भाव को समर्थन नहीं मिल सकता । स्थिति के अनुरूप सामाजिक विधान और परम्पराएँ बदले जाने की बात समझ में आती है, पर उसका परिणाम नर और नारी को समान रूप से मिलना चाहिए । धर्म और इन्साफ सदा इसी बात का समर्थन करेगा ।

भारतीय समाज में पिछले सामन्तवादी अन्धकार युग से जिसकी लाठी उसकी भैंस वाले जंगली कानून चल पड़े हैं । उन प्रथाओं के अनुसार नारी को बहुत अधिक प्रतिबन्धित किया गया है और नर को उच्छृंखल आचरण की सुविधा दी गई है । नारी के शील पर संदेह होने की दशा में पुरुष उसका परित्याग करते देखे गये हैं । जबकि उनके आचरण और भी अधिक भ्रष्ट होते हैं । नारी की शील रक्षा के लिए पर्दा और नर को वैश्या नृत्य देखने की खुली छूट । इस प्रकार के भेद-भाव ने धर्म, न्याय, औचित्य सभी का सिर नीचा किया है । कुछ दिन पहले पति के मर जाने पर पत्नी को सती होना पड़ता था । यदि वह उचित था तो न्याय और धर्म की दुहाई यह भी होनी चाहिए थी कि पत्नी के मरने पर पति उसके साथ 'सता' हुआ करते । एकांगी परम्परा भले ही वह कुछ भी क्यों न हो सर्वथा अन्याय कही जायेगी ।

वैधव्य और वैध्वर्य को किस तरह निबाहा जाये इसके लिए न्यायोचित परम्परा एक ही हो सकती है । यदि विधुर होने के बाद पुरुष को दूसरा विवाह करने की छूट है तो ठीक उसी तर्क और उसी न्याय के आधार पर नारियों को भी वैसी ही सुविधा मिलनी चाहिए । यदि साथी के बिछुड़ जाने पर अविवाहित रहना उचित है तो उस बन्धन का समान रूप से नर और नारी दोनों को पालन करना चाहिए । यदि वैसा कार्य कठिन लगता है तो जो सुविधा नर चाहे उसी का समर्थन आगे बढ़कर नारी के लिए भी प्रदान करे । एकपक्षीय सुविधा, एकपक्षीय बन्धन यह तो सरासर अन्याय है ।

अपने देश में नारी विधवा होने के बाद दूसरा विवाह नहीं कर सकती, ऐसा सवर्ण कहलाने वाली ऊँची जातियों में रिवाज है । इन वर्गों को विचार करना चाहिए कि यदि उचित हो तो यही बन्धन और भी अधिक कठोरता के साथ पुरुषों पर लागू कर दें । किन्तु यदि उसमें नर को असुविधा लगे और उसे दूसरे विवाह की छूट देना उचित प्रतीत हो तो प्रत्येक न्यायशील व्यक्ति को वैसी ही छूट, सुविधा, समर्थन एवं प्रोत्साहन, परामर्श नारियों को देने के लिए भी आगे आना चाहिए । न्याय की तुला बेईसाफी तथा पक्षपात का रूप न नर के साथ अपनाये न नारी के साथ । इस पर हर धर्म और ईमान की महत्ता समझाने वाले व्यक्ति को पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए ।

आज की परिस्थिति में साधारणतया ही सुविधाजनक प्रतीत होता है कि जिनको बिगड़ी गृहस्थी को फिर से जमाने की आवश्यकता अनुभव होती है उन्हें वैसा करने की छूट दी जाये । विधुर भी पुनर्विवाह कर सके और विधवा भी । यहाँ एक बात यह ही ध्यान रखने की है कि विधुर लोग कुमारी कन्याओं से विवाह कर लेते हैं, इससे ही हानियाँ होती हैं । एक तो असमान वय के नर-नारियों का दाम्पत्य जीवन सुखी नहीं होता, आयु में अन्तर रहने से ये लड़कियाँ जल्दी ही विधवा हो जाती हैं और उनके बच्चे अनाथ भटकते हैं । इसके अतिरिक्त विधवाओं को, कुँवारे लड़के स्वीकार नहीं करते अतएव उन्हें पुनर्विवाह की सुविधा नहीं मिल पाती । अतः विधुर नफे में और विधवाएँ घाटे में रहती हैं । इस असमानता के दूर करने के लिए यही एकमात्र उपाय है कि विधुर विधवाओं से विवाह करें और विधवाएँ विधुरों से । यदि बच्चे वाला विधुर विवाह करना चाहता है तो उसे बच्चे वाली विधवा से ही विवाह करना चाहिए । ताकि जिस प्रकार अपने बच्चे का पालन-पोषण करने के लिए नयी पत्नी की जरूरत पूरी करनी पड़ी इसी प्रकार किसी विधवा को भी अपने बच्चे का पालन करने के लिए नये पति की सुविधा उपलब्ध हो सके । इस प्रकार से दो परिवारों के अनाथ जैसे बालकों को नये माता-पिता का स्नेह प्राप्त होगा और जनमानस पर भी यही छाप पड़ेगी कि सौतिया डाह तथा विमाता का वैमनस्य, स्वाभाविक नहीं संकीर्णता की देन है । उदार अभिभावक अपने और

पराये बच्चे को समान रूप में वात्सल्य और सहयोग प्रदान कर सकते हैं ।

प्रश्न--

(१) सिद्ध करो कि नर-नारी भगवान की दो भुजायें हैं ? (१) क्या नारी कर्तव्य और अधिकार में पुरुषों के समान नहीं ? (३) पति-पत्नी के प्रति वफादार कैसे रह सकता है ? (४) हिमालय के जानसर बावर की प्रथा का वर्णन करो, उपयोगिता बताओ ? (५) नारी को हीन मानने से क्या दुष्परिणाम हुए ? (६) विधवा को समान न्याय किस प्रकार मिल सकता है ? (७) विधवा विवाह के लिए क्या आवश्यक है ? (८) विधवाओं के साथ क्या उदारता बरती जानी चाहिए ।

मनस्वी शूरवीर विवाहोन्माद असुर से जूझें

धर्म के मूल सिद्धान्त तो सनातन हैं वे अपरिवर्तित रहते हैं पर रीति-रिवाज, देशकाल, पात्र की बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं । विवाह-शादियों को ही लें, किसी जमाने में जब यह देश सर्व-सम्पदाओं का स्वामी रहा था, वैभव और ऐश्वर्य चारों ओर बिखरा पड़ा था, जीवन निर्वाह के साधनों तथा शिक्षा, चिकित्सा आदि की कोई चिन्ता न थी तब लोग संभव है जन्म, विवाह, मरण आदि को हर्ष का दिखावा मानकर लम्बे-चौड़े प्रीतिभोज करते और दान की व्यवस्था मुक्तहस्त से करते हों । लेने की इच्छा न रखने वालों को भी उस ऐश्वर्य में से यथोचित लाभ मिलता हो पर आज की स्थिति का उस समय से क्या मुकाबला और आज उस तरह के अनुकरण का क्या सवाल ? कमरतोड़ महँगाई और जीवनयापन और शिक्षा, चिकित्सा आदि के भारी खर्च वाले इस जमाने में जबकि समय काटना मुश्किल पड़ रहा है । उस ऐश्वर्य वाले जमाने की तरह खर्च करने और हर्षोत्सव मनाने की बात सोचना व्यर्थ है । आजीविका और अमीरी उस जमाने जैसी हो, निर्वाह उस जमाने जितना सस्ता हो तो बचत की दौलत शादियों की धूमधाम तथा दान-दहेज में फूँकने की बात कुछ समझ में आती थी, अब जबकि आर्थिक तंगी से ही मध्यवर्ती और गरीब व्यक्ति का दम घुटा जा रहा है, तब उसे पैसे को जिसकी स्वास्थ्य तथा व्यवसाय, शिक्षा-चिकित्सा आदि के लिए बेहद जरूरत है, उन्मादियों की तरह किस प्रकार विवाह-शादियों में होली की तरह फूँकना उचित कहा जा सकता है ?

हर कोई जानता है कि अपने हिन्दू समाज में यह सबसे बड़ी फूहड़ और मूर्खतापूर्ण कुरीति है कि विवाह शादी जैसे पारिवारिक, स्वाभाविक, सीधे-सादे आयोजन में अन्धाधुन्ध पैसा उड़ाया और बहाया जाये । इस कुरीति ने अनेक दुष्परिणाम पैदा किये हैं । अपना देश बहुत गरीब है । इन दिनों शायद ही कोई ईमानदार व्यक्ति कुछ बचत कर सकता है, फिर हर गृहस्थ में तीसरे चौथे वर्ष एक शादी अक्सर होती है । हर मनुष्य को अपने परिवार में ४-५ शादी तो निपटानी ही पड़ती हैं । २५ हजार भी हर शादी में लगे तो १२५ हजार चाहिए । उतनी बचत सर्वसाधारण के लिए असंभव है पर वर्तमान रीति से नहीं बेईमानी से ही पूरी होती है । इसलिए अपने देश में हर किसी को हर व्यवसाय में बेईमानी का सहारा लेना पड़ता है । अपना सबसे अधिक धार्मिक कहा जाने वाला देश व्यवहार में सबसे अधिक बेईमान है । ईमानदार कर्मचारी, व्यवसायी, अफसर नेता कहीं बहुत ढूँढ़ने पर ही मिल सकेंगे । बेईमानी किसी समाज को अपराधी मनोवृत्ति का बनाती है और वह अपनी दुर्बलता से ही नष्ट एवं पतित होता चला जाता है । अपनी आज यही स्थिति है और इस स्थिति की बहुत कुछ जिम्मेदारी विवाह में फूँकी जाने वाली पैसे की होली जैसी कुरीतियों पर है ।

ये कुरीतियाँ हमें नैतिक दृष्टि से बेईमान, आर्थिक दृष्टि से गरीब कर्जदार और सामाजिक दृष्टि से ढोंगी तथा स्वार्थी बनाती चली जा रही हैं । लड़के खुलेआम बेचे जाते हैं और उनका बैल, भैंस जैसा मोल भाव होता है । इन बुराइयों का प्रभाव गरीब घर की सुयोग्य कन्याओं पर कितना विघातक पड़ रहा है, इसकी चर्चा करना और सुनना दिल हिला देने वाला होगा । दहेज के राक्षस की चपेट में कितनी सुयोग्य कन्याओं को किस तरह रक्त के आँसू पीने पड़े और कितनों के जीवन किस तरह बर्बाद हुए उन कथाओं को कोई क्रमबद्ध रूप से सुन सके तो पत्थर के कलेजों को भी आँसू बहाने पड़ें । इस कुचक्र में कितने सद्गृहस्थों को दर-दर का भिखारी बनना पड़ा है इसका किस्सा कहा और सुना जा सके तो इस हिन्दू समाज की दुष्टता पर आसमान को भी आँसू बहाने पड़ें निस्सन्देह यह प्रथा जारी रही तो अपना समाज और देश अभी हजार वर्ष तक भी उन्नति न कर सकेगा ।

यह परिस्थितियाँ उन मनस्वी-महामानवों को पुकारती हैं जो संव्याप्त मूढ़ता के विरुद्ध बगावत खड़ी कर सकें और बहुसंख्यक लोगों के मस्तिष्कों पर छाये हुए अन्धकार को उखाड़ फेंकने के लिए एकाकी प्रकाशवान दीप की तरह ज्योतिर्मय हो सकें । समय की, युग की, मानवता की पुकार है कि 'विवाहोन्माद' के असुर को रावण, कंस, हिरण्यकश्यप, जरासिन्धु, वृत्रासुर की तरह विश्वमानव का महानतम शत्रु माना जाये और उसके उन्मूलन के लिए हर देव प्रकृति के विवेकवान एवं मनस्वी व्यक्ति को भिड़ जाने के लिए आमंत्रित किया जाये ।

जिनके मुख में जीवन्त वाणी हो वह इस अनाचार की पूरी-पूरी भर्त्सना करे । जिनके पास लेखनी हो वह इस दुष्टता से उत्पन्न होने वाले उत्पीड़न को प्रकाश में लायें । जिनके पास मस्तिष्क हो वह यह योजना बनायें कि किस प्रकार इस पैशाचिकता से अपना समाज मुक्ति पाये । पंच और चौधरी यदि सचमुच सड़ नहीं गये हों तो अपने प्रभाव को इस बात में लगायें कि हर दृष्टि से हेय और निन्दनीय

इस कुप्रथा को उनके क्षेत्र में से कितनी जल्दी विदाई मिल जाये । जिसके पास आत्मा हो उस हर अभिभावक को अपनी कन्या की तरह दूसरे की कन्या पर भी रहम करना चाहिए और अपनी बर्बादी की तरह सम्बन्धी की बर्बादी का भी दुःख, दर्द अनुभव करना चाहिए । जहाँ कहीं भी सज्जनता, करुणा, विवेकशीलता, सहृदयता और न्याय जिन्दा हो उसे दुहाई देकर पुकारा जाना चाहिए कि वह यदि मर नहीं गई हो तो जीवित होकर इस युग में इस नृशंस असुर विवाहोन्माद से लड़ पड़ने के लिए शौर्य और साहस का परिचय दे ।

नये रक्त, नये विवेक, नये जोश और नये यौवन को पीड़ित मानवता ने पुकारा है कि अनाचार के साथ समझौता करने से स्पष्ट इन्कार कर दें । अभिभावक लाख बकते-झकते रहें उन्हें यही कहना चाहिए कि हम लड़की देने वाले के प्रति कोमल भावनाएँ रखते हैं । हम उस उदार परिवार का रक्त पीने की दुष्टता न करेंगे । भले ही हमें अविवाहित रहना पड़े पर दहेज, धूमधाम, लम्बी बारात तथा दूसरे कमरतोड़ खर्चों से जुड़े हुए विवाह न करेंगे । प्रह्लाद को पिता की, भरत को माता की, विभीषण को भाई की अवज्ञा करनी पड़ी थी । अनीति के विरुद्ध भगवान की भी अवज्ञा की जा सकती है और उसमें पाप या अनुचित होने की रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं है । समय ने अविवाहित युवक और युवतियों को भी पुकारा है कि यदि उनके अभिभावक लोभ और व्यामोह की कीचड़ में बुरी तरह फँस गये हैं तो साहसपूर्वक आगे बढ़कर उन्हें निकालें और कलंक की कालिमा से हम सभी का मुँह उज्ज्वल करें । खर्चीले विवाहों का अन्त हर कीमत पर होना चाहिए और विवाहोन्माद विरोधी आन्दोलन को हर दिशा में सहयोग एवं समर्थन मिलना चाहिए ।

प्रश्न—

(१) बदले हुए जमाने में विवाह पर अधिक खर्च करना अनुचित है-सिद्ध करें ? (२) दहेज की प्रथा ने अभिभावकों को बेईमान बना दिया है क्यों ? (३) विवाह की कुरीतियों पर प्रकाश डालें तथा उनसे होने वाली हानियाँ दर्शाइये ? (४) समय की पुकार क्या है ? (५) शौर्य एवं साहस के साथ विवाहोन्माद के विरुद्ध आन्दोलन चलाना क्यों आवश्यक है ? (६) 'अनीति के विरुद्ध भगवान की अवज्ञा की जा सकती है ।' इससे क्या समझते हो ? (७) विवाह के सम्बन्ध में युवकों के क्या कर्तव्य हैं ? (८) भारतीय समाज में विवाह की प्रथा में क्या-क्या संशोधन होना आवश्यक है ।

बिना खर्च के विवाहों का प्रचण्ड आन्दोलन चल पड़े

इस देश में ८ लाख गाँव और ९० करोड़ लोग बसते हैं । यदि हिन्दू परिवारों की संख्या ७ करोड़ भी मान ली जाय और हर परिवार को औसतन तीन वर्ष में एक विवाह करना पड़े और ऐसे में विवाह का औसत कुल खर्च पाँच हजार की औसत से भी फैलाया जाये तो हर वर्ष प्रायः ३० अरब रुपया खर्च होता है । यह पैसा राष्ट्रीय दृष्टि से इतना अधिक है कि इसे बचाकर देश का पूरा वार्षिक बजट अथवा बिना किसी कठिनाई के घर-परिवारों के स्वास्थ्य, निवास, चिकित्सा, व्यवसाय आदि आवश्यक कार्यों में लगाया जाये तो उससे अपने देशवासियों का स्तर हर क्षेत्र में ऊँचा उठ सकता है और वे प्रगति के आवश्यक साधन उपलब्ध होने पर समृद्धि देश की पंक्ति में सहज ही खड़े हो सकते हैं । उपार्जन बढ़ा किन्तु बर्बादी न रुकी तो उस बढ़ोतरी से भी क्या बनेगा ? सामाजिक कुरीतियाँ हमारी नैतिक, आर्थिक और सामाजिक ही नहीं शारीरिक, मानसिक एवं पारिवारिक बर्बादियों की भी निमित्त बनी हुई हैं । इन कुरीतियों में सबसे भयानक और सबसे अविवेकपूर्ण विवाहों के नाम पर बुद्धि बेचकर पैसे की होली फूँकने की मूर्खता को ही कहा जा सकता है । समय आ गया है कि हम अपना भला-बुरा सोचें और जो अनुचित है उसे हटा दें ।

हर व्यक्ति जानता है कि सारे संसार के सभ्य समाजों की तरह हमें भी विवाह को एक छोटा पारिवारिक उत्सव मात्र मानकर उसे सादगी के साथ सम्पन्न कर लेना ही उचित है । इसमें सभी का हित है । कोई दलील ऐसी नहीं जो विवाहोन्माद का समर्थन करती हो । इतने पर भी इस कुप्रथा का प्रचलित रहना, तोड़ने का प्रयत्न न किया जाना यह साबित करता है कि अपनी विचारशीलता का-अनुचित को हटाकर-उचित को अपनाने की विवेक-बुद्धि का दिवाला निकल गया है । उसे अवांछनीय समझते हैं उसे ही छाती से चिपटाये बैठें रहें यह मूढ़ता और रूढ़िवादिता का एक घिनौना उदाहरण है । बुढ़िया पुराण के आगे नतमस्तक होकर-नासमझ रूढ़िवादियों की हाँ में हाँ मिलाकर-विचारशील वर्ग चले यह लज्जा की बात है । विवेक को नेतृत्व करना चाहिए । साहस का औचित्य अपनाना चाहिए । यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिए कि जीवित और जागृत लोगों के उपयुक्त चेतना को यह समाज खो बैठा । अनौचित्य को जो लोग सहन कर लेते हैं, उपयुक्त को अपनाने की जिनमें हिम्मत नहीं होती, जो अनर्थकारी रूढ़िवादिता के आगे नाक रगड़ते हैं, उन्हें साँस लेने वाले मृतक ही कहा जायेगा ।

पैसा बर्बादी की चीज नहीं है । अमीर लोग उसे लोकोपयोगी कार्यों में लगा सकते हैं । गरीबों के लिए तो एक-एक पैसे का मूल्य है । उसके लिए बर्बादी का रास्ता अपनाना अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है । विवाहों के नाम पर एक तिहाई आमदनी की बर्बादी एक दर्दनाक घटना है । इस अनर्थ को यों ही चुपचाप नहीं देखते रहना चाहिए वरन् उसे मिटाने के लिए एक प्रचण्ड आन्दोलन खड़ा करना चाहिए । युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत ऐसा ही देशव्यापी और कारगर आन्दोलन छेड़ा गया है और हर

विचारशील से अनुरोध किया गया है कि सम्मिलित होने के लिए उत्साहपूर्वक आगे आयें ।

विवाहों को विना दहेज, जेवर, बिना धूमधाम, बिना बारात और अति सादगी के साथ न्यूनतम खर्च में सम्पन्न करने के आदर्श विवाह आन्दोलन की उपयोगिता एवं आवश्यकता जन-साधारण को समझाई जानी चाहिए । अधिक खर्च करने और कराने वालों का विरोध करना चाहिए । ऐसी शादियों में-जिनमें बर्बादी का दौर-दौरा हो, सम्मिलित नहीं होना चाहिए । बारातों में नही जाना चाहिए और उस निरर्थक धूमधाम में सहयोग नहीं देना चाहिए । अभी तो समझाने का-प्रचार और आन्दोलन का ही प्रथम चरण है । आगे चलकर आर्थिक आत्महत्या करने वालों को रोकने के लिए सत्याग्रही स्वयंसेवक सेना भी गठित करनी चाहिए ।

विवाह योग्य वर-कन्याओं और उनके अभिभावकों को ऐसी प्रतिज्ञा करने के लिए कहा जा रहा है कि वे अति सादगी के आदर्श विवाह ही करेंगे । इस प्रतिज्ञा पर उन्हें आरूढ़ ही रहना चाहिए और किसी भी दबाव में आकर नरम नही पड़ना चाहिए । वयस्क छात्रों और छात्राओं में यह प्रतिज्ञा आन्दोलन व्यापक रूप से चलाया जा रहा है और विचारशील अध्यापकों से इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने के लिए कहा जा रहा है । रूढ़िवादियों के विरोध के लिए तो हमें अवांछनीय तत्वों से लोहा लेने की हिम्मत के साथ कटिबद्ध होना चाहिए । ऐसे प्रतिरोध अन्ततः श्रेयस्कर भी सिद्ध होते हैं । प्रह्लाद, भरत, विभीषण, बलि और मीरा की परम्परा को यदि विवाहोन्माद के प्रतिरोध मे नई पीढ़ी अपनाये तो उसे अनुचित नहीं वरन् हर दृष्टि से सराहनीय ही माना जायेगा, इस आग्रह से वे अपने अभिभावकों को भी खलनायक की भूमिका प्रस्तुत करने के कलंक से बचाकर विचारशील लोगों की पंक्ति में बिठाने का हित साधन ही करेंगे ।

दूसरा पक्ष अपने विचारों का न मिलने की कठिनाइयाँ होने से सुधारवादी होते हुए भी विवश होकर रूढ़िवादी कार्य करते हैं । इस कठिनाई को दूर करने के लिए विवाहोन्माद की व्यर्थता स्वीकार करने वाले परिवारों के विवाह लड़की-लडकों की व्यापक सूची युग-निर्माण योजना द्वारा एकत्रित करनी आरम्भ कर दी गयी है । जिससे हर वर्ग अपने उपयुक्त सम्बन्ध तलाश कर सकें । एक रुपये की टिकिट भेजकर ऐसी जानकारियाँ कुछ समय बाद हर सुधारवादी प्राप्त कर सकेगा । शर्त यही है कि केवल लड़की के बारे में ही नहीं ऐसी सुधार परम्परा जो अपने लड़के के बारे में भी अपनाने को तैयार हों उन्हें इस योजना से लाभान्वित होने दिया जायेगा । ऐसे धूर्तों की कमी नहीं जो लड़की के वक्त सुधारक और लड़के के वक्त बिगाड़क का चेहरा बदलने में संकोच नहीं करते ।

जहाँ ऐसे विवाह हों वहाँ के सुधारकों और बुद्धिजीवियों का कर्त्तव्य है कि उन आयोजनों को अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बनायें । अधिक जनता को उसमें एकत्रित करें और प्रस्तुत योजना की सरलता और उपयोगिता समझायें, ताकि दूसरों को भी वैसा ही अनुकरण करने का प्रोत्साहन मिले । जहाँ रूढ़िवादियों का विरोध तीव्र हो और सुधारक कमजोर हों वहाँ अच्छा तरीका यह है कि ऐसे वर-वधू दो-दो, चार-चार अभिभावकों के साथ युग-निर्माण योजना के मुख्य कार्यालय (गायत्री तपोभूमि, मथुरा) में आकर पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से, गायत्री माता की छाया में विद्वान, तपस्वियों के आशीर्वाद सहित विवाह सम्पन्न करा लें । इसमें किराया-भाड़ा तो जरूर लगता है पर अलन-चलन, नेग-जोग, उपहार, फर्नीचर के निरर्थक जंजालों से बचत भी सहज ही हो जायेगी । जहाँ ऐसे कई विवाह एक क्षेत्र में बन पड़ें वहाँ सामूहिक गायत्री यज्ञ आयोजनों के साथ उन्हें और भी प्रभावशाली धार्मिक वातावरण में सम्पन्न किया जा सकता है ।

इस सन्दर्भ में यदि एक बात और भी बन पड़े तो उत्तम रहेगा कि उपजातियों का दायरा बढ़ा दिया जाये और बड़ी जातियों को ही पर्याप्त माना जाये । ब्राह्मण-ब्राह्मण मात्र में, राजपूत-राजपूत मात्र में, वैश्य-वैश्य मात्र में, कायस्थ-कायस्थ मात्र में, विवाह करने लगें तो इसमें शास्त्रीय परम्परा एवं संस्कृति का तनिक भी उल्लंघन नहीं होता । सनातन तो वर्ण मात्र है । उपजातियाँ तो यातायात की कठिनाइयों के दिनों में क्षेत्रीय लोगों का एक व्यापक वर्ग बन जाने से चल पड़ी हैं । अब उसे क्षेत्रीयता और संकीर्णता को बिना किसी संकोच के प्रसन्नतापूर्वक व्यापक क्षेत्र में परिणत किया जा सकता है । इसमें अच्छे जोड़े तलाश करने में बहुत सुविधा मिलेगी और देन-दहेज का चक्रव्यूह भी सहज ही टूट जायेगा ।

युग-निर्माण योजना ने आदर्श-विवाह आन्दोलन को बड़े सुव्यवस्थित और व्यापक परिमाण में आरम्भ किया है और हर विचारशील, भावना सम्पन्न व्यक्ति का आह्वान किया है कि वह इसमें भाग लेने के लिए साहसपूर्वक आगे आये और अपना सहयोग प्रदान करें ।

प्रश्न—

(१) राष्ट्र में प्रतिवर्ष विवाहों पर कितना खर्च होता है ? (२) कैसे कह सकते हैं कि हमारी विवेक बुद्धि का दिवाला निकल गया है ? (३) स्वास लेने वाले किसे कहा जा सकता है ? (४) आदर्श विवाह किसे कहते हैं ? (५) सत्याग्रही स्वयं सेवक सेना से क्या समझते हो ? (६) विवाहोन्माद के प्रतिरोध के लिए नई पीढ़ी को क्या करना चाहिए ? (७) सामूहिक विवाह करने से क्या लाभ हैं ? (८) उपजातियाँ कैसे बनीं ? दहेज से बचने के लिए क्या किया जाय ? (९) युग-निर्माण योजना द्वारा इस सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यों पर प्रकाश डालिए ।

आततायी उद्दण्डता का डटकर मुकाबला किया जाये

अपराधों की अभिवृद्धि के आँकड़े जिस तेजी से बढ़ रहे हैं उन्हें देखते हुए भय होता है कि यह छूत की बीमारी सारे समाज को ग्रसित न कर ले और हममें से प्रत्येक व्यक्ति कहीं अपराधी ही न बन जाये। मनुष्यता की मर्यादाओं का पालन करना, नीति-कर्त्तव्य और सदाचरण को अपनाना तथा सामाजिक मर्यादाओं का पालन करना हर व्यक्ति का धर्म है। यदि नागरिक कर्त्तव्यों का पालन करने में जन-साधारण की निष्ठा अक्षुण्ण बनी रहे तभी समाज में शान्ति और सुव्यवस्था बनी रह सकती है और प्रगति एवं समृद्धि की आशा की जा सकती है अन्यथा बढ़ती हुई उच्छृंखलता व्यक्ति को पतित और समाज को दुर्बल बनाती चलेगी और क्रमशः सर्वनाश की घड़ी समीप आती चली जायेगी।

वैयक्तिक सदाचरण और सामाजिक कर्त्तव्यों के प्रति उपेक्षा एवं अवहेलना की प्रवृत्ति निस्सन्देह एक भयावह विपत्ति ही समझी जानी चाहिए। इससे क्षोभ, असन्तोष, रोष, प्रतिशोध का ऐसा प्रवाह बढ़ता है जिससे घात-प्रतिघात की दुर्घटनाएँ निरन्तर बढ़ती जाती हैं और रचनात्मक दिशा में लग सकने वाली शक्ति दुरभिसंधियों में संलग्न होकर विनाशकारी परिस्थितियाँ उत्पन्न करती चली जाती हैं। परस्पर स्नेह, सद्भाव, सहयोग के आधारों की जड़ काटते हुए यह बढ़ते अपराध अविश्वास एवं असंतुलन का वातावरण उत्पन्न करते हैं और उसकी प्रतिक्रिया अन्ततः हर किसी के सामने दुर्भाग्यपूर्ण बनकर ही आती है।

अपराधी मनुष्य घृणा का पात्र, अविश्वस्त, आततायी बनकर अपने लिए सर्वत्र असहयोग एवं अवरोध उत्पन्न करते हैं। आतंक, भय से दूसरे लोग चुप भले ही हो जायें डरकर कुछ काम भले ही कर दें पर उस स्नेह, सद्भाव से सर्वथा वंचित ही रहना पड़ता है जो चिरस्थायी प्रगति का एकमात्र आधार है। दुष्ट और असुरों के वर्ग में गिना जाने वाला यह व्यक्ति अपने आत्मा और परमात्मा के सामने पतित सिद्ध होता है और अपने मनोबल को खोकर प्रगति के वास्तविक आधारों से वंचित हो जाता है। अपराधियों की अभिवृद्धि एक अभिशाप है जिससे किसी समाज का भविष्य अन्धकारमय हो सकता है। अनैतिक आचरणों की बाढ़ को एक प्रकार से गृह युद्ध ही कहना चाहिए जिसके दुष्परिणाम अन्ततः सामूहिक आत्म-हत्या के रूप में ही सामने आते हैं।

अपने देश में इन दिनों नागरिक कर्त्तव्य की अवहेलना एक प्रकार का फैशन बनता चला जा रहा है। उच्छृंखलता और उद्दण्डता प्रदर्शित कर लोग दूसरों पर आतंक जमाने को कुचेष्टा में लगे दिखाई देते हैं। धूर्तता और अनीति के आधार पर प्राप्त सफलता को कुशलता और चतुरता माना जाता है। धर्म से लेकर राजनीति तक-व्यवसाय से लेकर दैनिक गतिविधियों तक अप्रामाणिकता का ही बोलबाला है। यह बहुत ही चिन्ताजनक स्थिति है। ऐसा ही मखौल बना रहा तो परस्पर विश्वास, सद्भाव और सहयोग का आधार ही नष्ट हो जायेगा तब एक दूसरे से आशंकित और आतंकित रहने वाले समाज में विकास और उल्लास की परिस्थितियों का दर्शन दुर्लभ होता चला जायेगा। इस वातावरण में प्रगति के लिए किये गये सारे प्रयत्न बालू की दीवार जैसे धराशायी होते चले जायेंगे।

आवश्यकता इस बात की है कि हर मनुष्य को अपने नागरिक, धार्मिक, सामाजिक एवं मानवीय कर्त्तव्यों के पालन करने के लिए प्रशिक्षित किया जाये। शिक्षा का मूल आधार यही होना चाहिए। लोक-शिक्षण का उत्तरदायित्व उठाने वाले साहित्य, संगीत एवं कला की दिशा यही होनी चाहिये, लेखनी और वाणी का प्रस्फुरण इसी प्रयोजन के लिए हो। पत्रकारिता इसी मुहिम को सँभाले। सरकारी नियन्त्रण में चलने वाले रेडियो में इसी स्तर का प्रसारण हो। सार्वजनिक प्रयोजन का स्थान ग्रहण करने वाले सिनेमा में जो कुछ दिखाया जाये वह इसी प्रयोजन की पूर्ति करे। संगीत और गायन की हर तरंग द्वारा नैतिकता का समर्थन किया जाये। धर्म से जो कुछ भी कथा-प्रवचन प्रस्तुत किया जाये वे मनुष्य को सदाचारी, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं लोक-मंगल के लिए त्याग-बलिदान की प्रेरणा से भरे रहें। शासन व्यवस्था के अन्तर्गत नैतिकता के पक्ष में अति सतर्कता बरती जाये और अनैतिकता को कठोरतापूर्वक कुचलने की समर्थ व्यवस्था बनाई जाये। इस प्रकार के सर्वतोमुखी प्रयत्नों द्वारा ही नर-पशु को मानवीय कर्त्तव्यों का पालन करने वाला सज्जन एवं सद्भाव सम्पन्न बनाया जा सकता है। यह मानव जाति की महती आवश्यकता है। हर विचारशील का ध्यान इधर जाना चाहिए और हर समर्थ को इस दिशा में अधिकतम सहयोग प्रदान करना चाहिये। सदाचरण के संरक्षण से ही संसार में शान्ति और सुव्यवस्था बनी रहने तथा प्रगति का मंगलमय वातावरण बनने की आशा की जा सकती है।

इस प्रकार के रचनात्मक प्रयत्नों के साथ-साथ जन-चेतना में अपराधियों के प्रतिरोध का समुचित साहस जाग्रत रहना चाहिए होता यह है कि कुछ आततायी-अनीति और उच्छृंखलता करते रहते हैं और लोग उसे दर्शक मात्र बनकर देखते रहते हैं। उस अनीति का प्रतिरोध करने से अपने को ही कुछ नुकसान न सहना पड़े। यह भीरुता सार्वजनिक जीवन की निन्दनीय दुर्बलता है जिसके कारण आततायी निर्भय होकर अपनी दुष्टता को दिन-दिन अधिक बढ़ाते चले जाते हैं। हजार मनुष्यों के सामने चोर-गुण्डे मनमानी कर सकें तो यह उन दर्शकों में से प्रत्येक के लिए डूब मरने जैसी लज्जा की बात है। हर एक को यह सोचना चाहिए कि यदि उसके ऊपर अनीतिपूर्वक आक्रमण हो तो उसे दूसरे सज्जनों से सहायता, तनाव या

अवरोध की आशा करनी चाहिये या नहीं ? यदि हाँ, तो उसका भी कर्त्तव्य है कि जहाँ उद्दण्डता हो रही हो वहाँ उपस्थित लोगों में चेतना उत्पन्न करें और अवरोध के लिए साहसपूर्वक भिड़ जाये ।

अनीति को सहन न करने–किसी पर अनीति न होने देने की हिम्मत हर जीवित मनुष्य में होनी चाहिए । बहादुरी मानवता का एक आवश्यक अंग है । पौरुष सम्पन्न को ही पुरुष कहते हैं । शौर्य और साहस मनुष्य-जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं । इनके बिना अन्न खाने और साँस लेने भर के लिए जीवित मनुष्य को एक प्रकार से मृतक या पतित ही कहा जा सकता है । कहना न होगा कि शौर्य का प्रदर्शन और परीक्षण अनीति का अवरोध करने का अवसर आने पर ही किया जा सकता है । दुष्टता होती रहे और भयभीत, असहाय एवं कायर कायों की तरह कोई मनुष्य दर्शक मात्र बनकर खड़ा रहे इससे अधिक धिक्कार की दयनीय स्थिति और क्या हो सकती है । कोई अवसर ऐसे होते हैं जिनमें जोखिम उठाना भी गर्व और गौरव का कारण होता है । आतंकवादी उद्दण्डता के अवरोध में जोखिम उठाकर आगे आना मत्साहस है जिसकी प्रशंसा मूक मानवता का कण-कण करता रहेगा ।

अपराधी मनोवृत्ति के पनपने से एक बहुत बड़ा दोष प्रतिरोध का साहस शिथिल हो जाने की भीरुता पर है । मानवीय भविष्य को उज्ज्वल बनाने की दृष्टि से इस दुर्बलता का अन्त होना चाहिए और सर्व-साधारण में यह उत्साह उत्पन्न होना चाहिए कि आततायी आतंक का हर मोर्चे पर हर स्थिति में मुकाबला किया जाये और उच्छृंखलता के हर कदम को आगे बढ़ने से रोकने के लिए डटकर मुकाबला किया जाये ।

प्रश्न–

(१) अपराधों की वृद्धि के दुष्परिणाम लिखो ? (२) व्यक्तिगत सदाचार और सामाजिक कर्त्तव्य क्यों आवश्यक हैं ? (३) सिद्ध करो अपराध व्यक्ति के लिए स्वयं घातक होते हैं ? (४) अपने देश की उन्नति नहीं हो रही है क्यों ? (५) मनुष्य को सदाचार से किस तरह प्रशिक्षित किया जाय ? (६) सदाचार और समाज सुधार के रचनात्मक कार्यक्रम बताओ ? (७) सिद्ध करो कि अनीति करने की तरह अनीति सहना भी पाप है ? (८) अपराध क्यों बढ़ रहे हैं ? (९) उन्हें कैसे रोका जाना चाहिए ?

धर्मतंत्र को प्रगतिशील बनने दिया जाये

जिस तरह व्यक्तिगत जीवन में 'वासना और तृष्णा' दो बड़े और प्रभावी तत्व हैं उसी तरह सामाजिक जीवन में 'राजनीति और धर्म' भी प्रमुख हैं । राजनीति का प्रभाव सर्वविदित है । शासन के सही-गलत होने और शासकों की प्रवृत्ति मनोवृत्ति से देशों का ढाँचा और स्वरूप ही बदल जाता है । समाजगत और अगणित समस्याओं का उद्भव और समाधान बहुत करके उसकी राजकीय स्थिति पर निर्भर रहता है । इस तथ्य को सभी लोग समझते हैं और राजनीति में प्रवेश करके अपना वर्चस्व बढ़ाने और देश की स्थिति को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं ।

अपने देश में राजनीति से भी बड़ा महत्त्व धर्म का है । इस देश की ८० फीसदी जनता अशिक्षित है और गाँवों में रहती है । उसके विचार स्तर में यदि कोई तथ्य अवस्थित है, तो वह धर्म की तथाकथित अभिरुचि । समाज-विज्ञान, नागरिकता, देश-भक्ति, अन्तर्राष्ट्रीयता, कूटनीति, सहकारिता, नीतिशास्त्र, कानून, तर्क आदि की तो उन्हें जानकारी है नहीं । मस्तिष्क की पहुँच दैनिक जीवन की अनिवार्य समस्याओं से आगे बढ़कर केवल धर्म तक है । जब कभी महत्त्वपूर्ण चर्चा चलती है, विचार-विनिमय, शंका-समाधान तथा ऊहापोह होता है तो उसका विषय धर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता । घर से बाहर कभी भ्रमण को जाना हो तो तीर्थयात्रा धन का सदुपयोग करना हो तो ब्राह्मण, साधुओं, देव-मन्दिरों में दान-पुण्य । समय को शुभ कार्य में लगाना हो तो कथा-कीर्तन, मनोरंजक आयोजनों में रामलीला, रासलीला, धार्मिक मेलों, कुम्भ, सोमवती, दर्शन, झाँकी आदि की गणना होती है । तात्पर्य यह है कि रोजी, रोटी के अतिरिक्त इस ८० फीसदी जनता की उत्कट आकांक्षाएँ यदि कभी उठें तो ये धर्म तक ही सीमित रहेंगी ।

राजनीति को समझ सकना उन शिक्षित लोगों का कार्य है जो रोज अखबार पढ़ते हैं, अथवा उसके सम्पर्क में रहते हैं । सामान्य जनता उससे उतनी ही परिचित हो पाती है जितना कि टैक्स-कन्ट्रोल आदि का सीधा प्रभाव उस पर पड़ता है । अन्य पहलुओं में वह प्रायः अपरिचित ही रहती है । पर धर्म के बारे में यह बात नहीं है । उसकी कथाएँ, प्रथाएँ तथा बारीकियाँ स्त्री-बच्चों तक को मालूम रहती हैं । यही कारण है कि अपना धर्म कलेवर बहुत भारी और महँगा होते हुए भी जनता द्वारा खुशी-खुशी वहन किया जा रहा है ।

कहना यह है कि इस देश की जनता में कोई उत्कृष्टता, महत्ता, हलचलें एवं परिवर्तन करना हो तो उसके लिए धर्म मंच ही सबसे प्रभावशाली माध्यम हो सकता है । जो समझाना हो धर्म के साथ-साथ उसका सम्बन्ध जोड़ते हुए समझाया जा सके तो उसमें आशाजनक सफलता मिल सकती है । गाँधीजी इस देश की नब्ज देखने और जनता की मनःस्थिति को समझने में बहुत कुशल थे । उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम को धार्मिक आन्दोलन के रूप में चलाया । स्वयं मिस्टर गाँधी, बैरिस्टर गाँधी न रहकर महात्मा गाँधी के रूप में सामने आये । वैसा ही वेश कलेवर उन्होंने धारण किया । सत्य-अहिंसा के प्राथमिक धर्म-सिद्धान्त को आधार बनाया । सामाजिक धर्म-राज्य के लिए धर्म-युद्ध छेड़ा । गौ-माता के उद्धार का आश्वासन दिया । 'रघुपति राघव राजाराम' की कीर्तन ध्वनि लेकर चले और भारत-माता की जय बोली । यह प्रक्रिया

भारतीय धार्मिकता से जुड़ती है । अतएव उनका सत्याग्रह आन्दोलन शिक्षित-अशिक्षित सभी में लोकप्रिय बना और अन्ततः उन्हें सफलता मिलकर ही रही । उन दिनों अन्य प्रमुख राज-नेता भी उसी प्रक्रिया को न्यूनाधिक रूप से—अपने-अपने ढंग से अपनाते थे । अपने स्वतन्त्रता संग्राम की सफलता का यह एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य तथा आधार था । यदि यह आधार न अपनाया गया होता तो मार्ग काफी लम्बा पड़ता और बहुत कीमत चुकाने पर थोड़ी सफलता की आशा बँधती ।

स्थिति अभी भी वही है राजनैतिक स्वतन्त्रता के बाद अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करने हैं । सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन, नैतिक आचार व्यवहार का समाधान, शिक्षा में अभिरुचि, सहयोग भावना, शुभ का सम्मान, स्वतन्त्र चिन्तन, सदाचरण, आहार-व्यवहार की शुद्धि, संघबद्धता, अनुशासन आदि कितनी ही अभिनव प्रवृत्तियों को जन्म देना है । हजार वर्ष की गुलामी के बाद हमारा मानसिक धरातल इतना विपन्न हो गया है कि उसके हर पहलू में भारी परिवर्तन की आवश्यकता है । राष्ट्र का नये सिरे से निर्माण करना होगा । यदि जन-मानस में उत्कृष्टता और आदर्शवादिता के तत्वों का समावेश न हुआ तो आजीविका, शिक्षा, चिकित्सा आदि की सुविधाएँ बढ़ते चलने पर भी केवल विपत्तियों, विग्रह एवं अपराधों की ही वृद्धि होगी ।

इस नव-निर्माण का आधार भारत की वर्तमान स्थिति में केवल धर्म ही हो सकता है । उसी से जोड़कर हम आवश्यक विचार परिवर्तन एवं सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्द्धन कर सकते हैं । शहरी और सुशिक्षित जनता में भी धर्म को यदि विवेकपूर्ण और बुद्धिसंगत ढंग से प्रस्तुत किया जा सके तो वहाँ भी उसे अभीष्ट सम्मान और उचित स्थान मिल सकता है । अस्तु, राष्ट्र की अभिनव रचना में विश्वास रखने वाले हर विचारशील का कर्त्तव्य है कि राजनीति में जहाँ पहले से ही बहुत घुसपैठ और धक्का-मुक्की है वहाँ प्रवेश करने की अपेक्षा धर्मतन्त्र का अवलम्बन लेकर व्यक्ति के उत्कर्ष एवं समाज के परिष्कार के लिए आगे आयें । यह मार्ग यदि प्रबुद्ध प्रतिभाशाली व्यक्ति अपना सकें तो सुधार कार्यों मे आशाजनक सफलता मिल सकती है और राष्ट्र के सर्वांगीण नव-निर्माण का प्रयोजन आश्चर्यजनक गति से सम्पन्न हो सकता है ।

भारतीय जनता की धर्म-श्रद्धा का आज इतना शोषण और दुरुपयोग हो रहा है कि किसी भी विचारशील को भारी दुःख हुए बिना नहीं रह सकता । जन-गणना के अनुसार देश के ८० लाख व्यक्ति साधु-महात्मा और धर्मजीवी का कलेवर ओढ़कर भिक्षावृत्ति करते हैं और तरह-तरह के भ्रम, अन्धविश्वास फैलाते हैं । गरीब जनता इनके निर्वाह का भारी व्यय वहन करती है । यदि यह ८० लाख जन-शक्ति लोक-मंगल में लगाई जा सके तो जिन १ लाख पादरियों ने थोड़े ही दिनों में विश्व की एक तिहाई-दो अरब जनता को ईसाई बना लिया उनकी तुलना में हम ८० गुना काम अधिक कर सकते हैं । भारत के ७ लाख गाँवों में वह ८० लाख सेवारत हो जायें तो हर गाँव पीछे ८ लोकसेवी होंगे । इससे वहाँ की शिक्षा, सदाचार, स्वास्थ्य, स्वच्छता, मूढ़ता, कुप्रथा आदि समस्याओं का देखते-देखते हल किया जा सकता है ।

करोड़ों व्यक्ति धर्म के नाम पर ढेरों पैसा, समय और ढेरों श्रम खर्च करते हैं । यदि उनका विवेकसम्मत और योजनाबद्ध उपयोग होने लगे तो उनसे सरकारी विकास योजनाओं की अपेक्षा सौ गुना अधिक कार्य स्वेच्छापूर्वक हो सकता है । हर सोमवती अमावस्या पर गंगा स्नान करने प्रायः ५० लाख व्यक्ति आते हैं । हर व्यक्ति के समय तथा खर्च करने का औसत लगाया जाये तो १० करोड़ होता है । यदि वह पैसा गंगा में पड़ने वाले गन्दे नाले कृषि कार्य के लिए मोड़ देने में लगाया जा सके तो एक साल में ही गंगा माता की स्वच्छता और सिंचाई में करोड़ों की आमदनी बढ़ सकती है । ऐसा निर्माणात्मक नेतृत्व यदि धर्मतन्त्र का विवेक रखने वालों ने किया होता तो देश की स्थिति न जाने कहाँ से कहाँ पहुँच गई होती ।

मन्दिर-मठों में प्रायः ८०० अरब की चल सम्पत्ति लगी है । हर साल उनकी आय प्रायः ३० अरब रुपया है । जनता जितना सरकारी टैक्स देती है । उससे कहीं अधिक यह स्वेच्छा अनुदान है । यदि यह पैसा रचनात्मक प्रवृत्तियों की ओर मोड़ा जा सके तो उससे काया-कल्प जैसा परिवर्तन प्रस्तुत हो सकता है । कथा-सत्संगों के नाम पर जो कूड़ा-करकट जनता के दिमाग में भरा जाता है उसके स्थान पर यदि सच्चे धर्म तत्व, अध्यात्म, नीति-सदाचार, कर्त्तव्यपरायणता और सामाजिकता का प्रशिक्षण बन पड़े तो सोया हुआ भारतवर्ष एकाकी जग सकता है और आत्म-निर्माण ही नहीं विश्व भर का नेतृत्व करने में समर्थ हो सकता है ।

आज धर्म-तत्व प्रायः प्रतिक्रियावादी, प्रतिगामी और जन-मानस को भ्रम-जंजाल में घसीटने वाले पाखण्डियों के हाथ में है । वे धर्म के नाम पर जनता का बुरी तरह शोषण करते हैं और बदले में उन्हें मूढ़ता के जाल-जंजाल में फँसाते रहते हैं । इस परिस्थिति को बदला जाना चाहिए । इसके लिए आलोचना करने या कुड़कुड़ाते रहने से काम नहीं चलेगा । हमें आगे बढ़कर इस अति महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में प्रवेश करना होगा और जनता को उचित नेतृत्व देकर उस प्रचण्ड जन-शक्ति, श्रद्धा एवं सम्पदा को उपयोगिता की दिशा में प्रस्तुत करना होगा । राजनीति में सुधार के प्रयत्न किये जा रहे हैं सो ठीक हैं । पर इससे अधिक ध्यान दिये जाने योग्य 'धर्म-नीति' है । विवेक का, दूरदर्शिता का यही तकाजा है कि प्रबुद्ध व्यक्ति धर्मतन्त्र स्वयं सँभालें और प्रतिगामिता को दानशीलता में बदल दें ।

प्रश्न—

(१) राष्ट्रोद्धार का प्रभावकारी माध्यम क्या हो सकता है-राजनीति या धर्म ? कारण सहित बताइये । (२) गाँधी जी ने

स्वतंत्रता संग्राम में धर्म को आधार कैसे बनाया ? (३) देश की वर्तमान प्रमुख समस्याओं पर प्रकाश डालिए (४) क्या राष्ट्र में विचार-क्रांति की आवश्यकता है यदि है तो क्यों ? (५) भारत में साधु-संयासियों की संख्या क। सदुपयोग कैसे किया जा सकता है ? (६) भारत में धार्मिक कार्यों पर होने वाले व्यय पर प्रकाश डालते हुए उसके सदुपयोग की योजना प्रस्तुत करें ? (७) मन्दिर-मठों की सम्पत्ति का सदुपयोग कैसे किया जा सकता है ? (८) धर्म के नाम पर पाखण्ड एवं शोषण से जनता को कैसे मुक किया जा सकता है ? (९) राजनीति से अधिक महत्त्व धर्मनीति का क्यों है ? (१०) धर्म के सच्चे स्वरूप पर प्रकाश डालिए ।

साधु-ब्राह्मण समाज अपना कर्त्तव्य और दायित्व समझें

अपने देश में साधुओं और ब्राह्मणों के प्रति जनता की भारी श्रद्धा रही है । उनके सम्मान, सत्कार और भरण-पोषण के लिए बहुत कुछ किया जाता रहा है । अब भी किसी अंश में वह परम्परा विद्यमान है । ८० लाख की विशाल संख्या वाले साधु समाज का निर्वाह जो सामान्य जन-स्तर से कहीं ऊँचा है, धार्मिक जनता ही वहन करती है । ब्राह्मण वर्ग उस संख्या के अतिरिक्त हैं । पंडित, पुरोहित, पुजारी, तीर्थ-पंडे, कथा-वाचक, कीर्तनकार आदि वर्गों में बँटे हुए उस ब्राह्मण समाज की संख्या भी लगभग इतनी ही हो सकती है जितनी कि साधु समाज की है । साधु-ब्राह्मणों को मिलाकर लगभग एक करोड़ हो जाते हैं । ९० करोड़ के लगभग हिन्दुस्तानी जनता में हर गाँव पीछे ८ साधु ब्राह्मण आते हैं । जिसका निर्वाह इस गरीब देश के भूखे-नंगे निवासी बड़ी श्रद्धा और आशा के साथ अपना पेट काट कर करते हैं । भारतीय जनता में इस गये-गुजरे जमाने में भी जो धर्म श्रद्धा विद्यमान है उसकी सराहना ही करनी पड़ेगी ।

इस श्रद्धा का प्रतिदान देने की जिम्मेदारी अपने साधु-ब्राह्मण समाज पर आती है । प्राचीनकाल में इस वर्ग के लोग अपने उच्च चरित्र, महान ज्ञान और उदात्त सेवा-भावना का पूरा-पूरा लाभ जनता को देते थे और स्वयं इतने निस्पृह रहते थे कि भोजन वस्त्र की बात भी भगवान पर छोड़ देते थे, जिसे सचमुच जनता-जनार्दन के द्वारा पूरा भी किया जाता था । इस वर्ग का थोड़ा समय ईश्वर उपासना और आत्मबल के परिष्कार में और स्वाध्याय द्वारा ज्ञानवर्द्धन में भी लगता था, पर अधिकांश समय तो जन-साधारण की भौतिक एवं आत्मिक जीवन की प्रगति में सहायता करते हुए ही बीतता था । यही ऋषि धर्म है । साधु और ब्राह्मण इस पवित्र कर्त्तव्य में अपने आपको बँधा हुआ मानते थे । उपासना और स्वाध्याय द्वारा बढ़ाया हुआ आत्मबल और ज्ञानबल भी उन्हें अपने स्वार्थ साधन के लिए नहीं वरन् इसलिए अभीष्ट था कि उसके द्वारा लोक-मंगल के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कर सके ।

साधु और ब्राह्मण के रूप में लोकसेवियों की एक विशाल सेना समाज को उपलब्ध रहती थी । शिक्षक, चिकित्सक, इन्जीनियर, कलाकार, न्यायाधीश, धर्मोपदेशक, समाज-व्यवस्थापक, वैज्ञानिक, अन्वेषक, योद्धा आदि सभी लोक-मंगल के लिए अभीष्ट कार्यकर्त्ता इसी वर्ग में मिल जाते थे । इसलिए जनता उनके भरण-पोषण का भार उठाकर कुछ घाटे में नहीं रहती थी । उसके द्वारा दिया हुआ आर्थिक तथा भावनात्मक अनुदान हजार गुना होकर वापिस लौटता था । इसलिए इस उदारमना अति उपयोगी वर्ग का भाव-भरा आदर जन-जन के मन में भरा रहता था । सरकारी भारी खर्चे पर जो लोकोपयोगी कार्य आधे-अधूरे ढंग से इन दिनों किये जाते हैं वे प्राचीनकाल में साधु-ब्राह्मण समाज द्वारा अति स्वल्प खर्च में अति सावधानी और अति उत्कृष्टतापूर्वक सहज ही सम्पन्न होते रहते थे । जनता पर टैक्सों का भार भी नहीं पड़ता था और वे कार्य, जो सरकारों को रो-खीझकर पूरे करने पड़ते हैं प्राचीनकाल में साधु-ब्राह्मण वर्ग द्वारा सहज ही पूरे कर दिये जाते थे और समाज दिन-प्रतिदिन समर्थ, सम्पन्न और प्रगतिशील बनता, बढ़ता चला जाता था ।

अज्ञानी जनता अपना कर्त्तव्य भूलती तो क्षम्य भी था पर भारत की आत्मा का प्रतीक प्रतिनिधि वर्ग यदि अपने कर्त्तव्य को भूलें तो उसे एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना ही कहा जायेगा । आज ऐसी ही दयनीय दशा इस मूर्धन्य वर्ग की हो चली है, जिसे देखकर रोना आता है । जनता से येन-केन-प्रकारेण अर्थ-लाभ और पूजा सम्मान प्राप्त करने के लिए तो ऋषियों ने इस वर्ग की रचना नहीं की थी । बिना प्रतिदान के अर्थ लाभ करना तो बहुत ही घृणित है । चोरी से मुफ्तखोरी का पाप बड़ा माना गया है । भिक्षावृत्ति से प्राप्त आजीविका अपंग, असहाय या लोकसेवी के लिए ही ग्राह्य है । दूसरों के लिए तो यह पतन और तिरस्कार के योग्य ही मानी जाती है । भारतीय तत्त्ववेताओं ने निस्सन्देह साधु-ब्राह्मण वर्ग की रचना मुफ्तखोरी के लिए नहीं की थी स्वल्प अनुदान पाकर उसके बदले में असंख्य गुना प्रतिदान देने के लिए यह वर्ग सृजे गये थे । यदि उन सृजनकर्त्ताओं का यह अनुमान-आभास रहा होता कि जनता से अर्थलाभ और सम्मान पाकर भी यह लोग उसका बदला नहीं चुकायेंगे तो सम्भवतः उन महान तत्त्ववेत्ताओं ने साधु-ब्राह्मण वर्ग को किसी और ही ढाँचे में ढाला होता ।

आज उपरोक्त वर्ग में मुफ्तखोरी को अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानने की अहंता जम गई है । अपने को देवताओं के प्रतिनिधि या पूजा-पाठ के जानकार भर घोषित कर वंश या कुल के नाम पर ही दान-दक्षिणा वसूल करने का जो क्रम चल पड़ा है, यह सर्वथा अवांछनीय है । वंश, वेष या पूजा-पाठ के आधार पर जनता से आजीविका या सम्मान पाना अनुचित है । ऐसा लाभ तो उसी को प्राप्त करना चाहिए जो प्राणपण से अपना सारा समय और मनोयोग लोकमंगल के लिए ही नियोजित कर सके । औचित्य-अनौचित्य के प्रकाश मे हमारे साधु-

ब्राह्मण समाज को अपनी गति-स्थिति को बार-बार परखना चाहिए और समय रहते अपनी रीति-नीति में अन्तर कर लेना चाहिए ताकि इस बुद्धिवादी युग में तिरस्कृत, बहिष्कृत होने से पूर्व ही स्थिति को सुधारा जा सके।

जिन्हें लोकमंगल में रुचि नहीं है और जो जन-कल्याण के लिए कुछ कर सकने में अपने आपको अयोग्य असमर्थ मानते हैं, उनके लिए यही उचित है कि वेश या वंश के नाम पर दान या भिक्षा लेना तुरन्त बन्द कर दें और सर्व-साधारण की तरह श्रम द्वारा आजीविका चलाते हुए अपने को उच्च वर्ग का प्रतिनिधि होने का दावा तुरन्त रद्द कर दें।

जिनमें सेवा की बुद्धि, उमंग और योग्यता जीवित है वे ही उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करें। ऐसे सच्चे साधु-ब्राह्मण यदि थोड़े ही बने रहें तो उनका प्राचीन गौरव बना रहेगा और जनता की श्रद्धा आगे भी बनी रहेगी, अन्यथा अगले दिनों इस मूर्धन्य वर्ग को मुफ्तखोरी और अवांछनीय परम्परा प्रस्तुत करने के अपराध में बुरी तरह तिरस्कृत किया जाने लगेगा।

साधु और ब्राह्मण में अन्तर इतना ही है कि एक वर्ग अविवाहित रहता है दूसरा विवाहित जीवनयापन करता है। लक्ष्य, उद्देश्य और कार्यक्रम दोनों का एक है। इसलिए उन्हें एक ही वर्ग तथा एक ही स्तर का माना जाता रहा है। दोनों की जीवनचर्या एक-सी हो सकती है कि वे जन-मानस को ऊँचा उठाने और समाज की सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन करने के लिए अपनी सारी क्षमता और योग्यता नियोजित किये रहें। देश में शिक्षा, साक्षरता की भारी कमी है। बालकों, प्रौढ़ों और नारियों के लिए पूरे समय अपने स्वल्पकाल में चलने वाले शिक्षा प्रयत्नों की गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले जरूरत है। इस प्रयोजन के लिए सर्वत्र व्यवस्था जुटाई जा सकती है। सामाजिक कुरीतियाँ और अनैतिक दुष्प्रवृत्तियों से जर्जर इस देश को विवेकपूर्ण विचारधारा की पग-पग पर आवश्यकता है। इसके लिए शिक्षणात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक अनेक प्रयत्न खड़े किये जा सकते हैं। युग-निर्माण योजना में शतसूत्री कार्यक्रमों द्वारा राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए सर्वतोमुखी जो पुण्य-प्रक्रिया प्रस्तुत की है, उसका एक-एक चरण साधु-ब्राह्मणों द्वारा अपनाये जाने, कार्यान्वित किये जाने योग्य है। अच्छा हो हमारा सम्मानित साधु-ब्राह्मण समाज समय रहते चेते और अपनी गतिविधियों को उसी दिशा में मोड़े जिसके लिए उसका सृजन किया गया था।

प्रश्न—

(१) भारतवर्ष में धर्मजीवियों की संख्या कितनी है? (२) धर्मजीवियों के कर्तव्य क्या हैं? (३) प्राचीनकाल के साधु-ब्राह्मणों की आज के साधु-ब्राह्मणों से तुलना करो? (४) लोक-अनुदान का अधिकार किसे है और क्यों? (५) साधु-ब्राह्मणों में फैली बुराइयाँ बताओ? (६) जिनकी लोकमंगल में अभिरुचि नहीं वे साधु-ब्राह्मण क्या करें? (७) साधु-ब्राह्मण समाजोत्थान और देश की प्रगति में किस प्रकार सहायक हो सकते हैं?

मन्दिर आस्तिकता और सत्प्रवृत्तियाँ जगाने में लगें

विशालकाय मंदिरों का निर्माण करने की प्रक्रिया भारतीय मनीषियों ने अति महत्त्वपूर्ण प्रयोजन की पूर्ति के लिए विनिर्मित की थी। भगवान के मन्दिरों की स्थापना करके सर्व-साधारण के मन में आस्तिकता की मान्यताएँ परिपुष्ट करना हमारे देवालयों का मुख्य प्रयोजन है। आस्तिकता का अर्थ है ईश्वर के आदेशों का पालन करना, नैतिक जीवन जीना। दुष्कर्म से बचे रहना और विश्वात्मा-परमात्मा-को सुरभित बनाने के लिए अपना अधिकाधिक योगदान देना। आस्तिकता का प्रथम चरण जप ध्यान एवं पूजा-पाठ हो सकता है, पर उसकी पूर्णता भगवान को, उनके आदेशों को जीवन में घुला देना ही है। नेक-सदाचारी भला और परमार्थ-परायण जीवन-क्रम ही किसी की आस्तिकता का प्रमाण हो सकता है। इस आस्तिकता के ऊपर ही व्यक्ति और समाज की उत्कृष्टता एवं सुख-शान्ति निर्भर है। भगवान हमारे अति समीप अन्तःकरण में विद्यमान है। उसे किसी की निन्दा-स्तुति से कुछ लेना-देना नहीं। उसकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता-कृपा अकृपा इस बात पर निर्भर है कि कौन उसके आदेशों का कितना पालन करता है। इस तथ्य को समझने वाला सज्जनोचित सदाचारी जीवन ही जियेगा और समाज के प्रति अपने महान कर्त्तव्यों को ध्यान में रखते हुए लोक-मंगल के लिए अपना बढ़ा-चढ़ा अनुदान देने में तत्पर रहेगा। आस्तिकता व्यक्ति और समाज की भावनात्मक भूमिका को ऊँचा उठाने का प्रयोजन पूरा करती है। इसलिए उसे मानव जीवन की एक महती आवश्यकता माना गया है। पूजा-उपासना का सारा कलेवर इसी प्रयोजन के लिए खड़ा किया गया है। मन्दिरों की स्थापना के मूल में मनीषियों का एकमात्र प्रयोजन यही था कि इन धर्म केन्द्रों के द्वारा आस्तिकता के आदर्शों का जन-मानस में व्यापक प्रकाश पहुँचाया जाये।

मन्दिरों के निर्माण में विपुल धन-सम्पत्तियों के लगाये जाने का एकमात्र प्रयोजन यह है कि इन धर्म-केन्द्रों के द्वारा आस्तिकता की सर्वतोमुखी प्रवृत्तियों का विस्तार किया जाये। पूजा-आरती भी यहाँ होती रहे सो ठीक है। लोग दर्शन करने आयें और यह स्मरण करें कि भगवान की सत्ता इस संसार में विद्यमान है। अस्तु हमें उसके दण्ड से बचने और अनुग्रह को पाने के लिए सज्जनोचित जीवन जीना चाहिए। मनुष्य आस्तिकता की भावना को भूलकर ही कोई कुकर्म कर सकता है। यदि परमात्मा और उसकी

न्याय व्यवस्था हमारी स्मृति में बनी रहे तो अनीति की दिशा में एक कदम भी बढ सकना सम्भव नहीं । भावनात्मक परिष्कार की दृष्टि से आस्तिकता का भारी महत्त्व है । व्यक्ति एवं समाज का कल्याण उसी पर निर्भर है । मन्दिरों का प्रयोजन है कि भगवान की प्रतिमा का दर्शन, पूजन करने के लिए जन-साधारण को आमन्त्रित, आकर्षित करें, साथ ही उन आगन्तुकों में आस्तिकता की मूल मान्यताएँ हृदयंगम कराने के लिए बहुमुखी प्रवृत्तियों का संचालन करे ।

मन्दिर वस्तुतः एक धर्म-केन्द्र है, जहाँ से मनुष्य के भावनात्मक निर्माण के लिए आवश्यक सत्प्रवृत्तियों का संचालन होता रहे । नित्य के कथा-प्रवचन वहाँ इसीलिये होते हैं । जुमें की नमाज के बाद मस्जिदों में मुल्ला लोग भाव भरे और दिशा देने वाले प्रवचन करते हैं । गिरजाघरों में पादरी लोग रविवार की प्रार्थना के बाद उपस्थिति धर्म प्रेमियों को उनके व्यक्तिगत एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का बोध कराते हैं । हिन्दू धर्म किसी समय सबसे आगे था । वहाँ कथा-प्रवचनों के माध्यम से वह सब कुछ हर दिन नियमित रूप से सिखाया जाता था जो समग्र स्थिरता एवं प्रगति के लिए आवश्यक था । इतना ही नहीं, वहाँ पाठशालाओं, पुस्तकालयों, व्यायामशालाओं, संगीत एवं कला-कौशलों की समस्त उन प्रवृत्तियों का संचालन होता था, जो भावनात्मक निर्माण में सहायक हो सकती हैं । सर्वतोमुखी विकास की सम्पूर्ण योजनाएँ और प्रक्रियाएँ मन्दिरों के धर्म-केन्द्र ही संचालित करते थे । उनका भारी प्रभाव पड़ता था । आस्तिकता की भावनाएँ किस प्रकार कार्यान्वित की जा सकती हैं उनका रचनात्मक, व्यावहारिक स्वरूप क्या हो सकता है । इसका प्रत्यक्ष स्वरूप देखने और प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए हर व्यक्ति मन्दिरों में आता था और उनकी उपयोगिता अनुभव करता था । उनके निर्माण को पुण्य कर्म माना और उनमें विपुल धन लगाया जाना इसलिए उपयुक्त माना जाता था कि उस रचना में अगणित व्यक्ति प्रकाश पाने और समग्र उत्कर्ष पाने के लिए अग्रसर होने में समर्थ होंगे ।

धर्म-प्रेमी लोग अपनी उपार्जित सम्पत्ति को मन्दिरों के बनाने और उनके चलाने में समर्पित करके अपने को धन्य मानते थे क्योंकि उससे अच्छा उपयोग पैसे का हो नहीं सकता । जनता भी देव प्रतिमा के आगे कुछ न कुछ श्रद्धांजलि अर्पित करती रहती थी, ताकि उस पैसे से रचनात्मक सत्प्रवृत्तियों का संचालन हो सके । पुजारी लोग पूजा-अर्चना में प्रातः सायंकाल देव प्रतिमा के लिए थोड़ा समय और धन लगाकर शेष सारा समय और पैसा मन्दिर संस्था द्वारा संचालित सत्प्रवृत्तियों से लगाते रहते थे । वे सुयोग्य विद्वान ही नहीं सदाचारी और लोक-सेवी भी होते थे । उन्हें सामाजिक आवश्यकताओं का ज्ञान रहता था तदनुरूप वे अपने व्यक्तित्व, प्रभाव एवं श्रम का उपयोग जन-मानस की दिशा सुव्यवस्थित करने में लगाते रहते थे । समर्थ गुरु रामदास ने महाराष्ट्र में सैकड़ों महावीर मन्दिर स्थापित किये थे और उन स्रोतों से शिवाजी के स्वतन्त्रता संग्राम के लिए धन एवं जनशक्ति को विपुल मात्रा में उपलब्ध किया था । सिख धर्म के सारे गुरुद्वारे अनुपयुक्त शासन को हटाने में केन्द्रबिन्दु बनकर अपनी स्थापना का महत्त्व प्रतिपादन करते रहे । बुद्ध-विहार विश्वव्यापी धर्म प्रसार योजना के सुव्यवस्थित केन्द्र थे । यहाँ सदा से यही परम्परा प्रचलित रही और मन्दिरों ने अविस्मरणीय भूमिका सदा से प्रस्तुत की है ।

आज सब कुछ उल्टा हो गया है । मन्दिर केवल शंख, घड़ियाल बजाने और आरती उतारने तक सीमित हैं । पुजारी लोग प्रातः सायं की थोड़ी-सी टण्ट-घण्ट करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर लेते हैं । उन विशाल इमारतों का कोई उपयोग नहीं, और जो प्रचुर धन उसमें लगा हुआ है, वह उन मठाधीशों की व्यक्तिगत सम्पदा बनता और उन्हीं के उपयोग में व्यय होता देखा जाता है । किन्हीं प्रेरक प्रवृत्तियों के संचालन की बात भी वहाँ सुनाई नहीं पड़ती । ऐसी दशा में उन्हें प्राण रहित निर्जीव कलेवर की तरह ही जहाँ-तहाँ खड़ा देखा जा सकता है । उपयोगिता खो जाने पर जन-आकर्षण का घट जाना भी स्वाभाविक है । किन्हीं मेले-उत्सव पर थोड़ी भीड़ दीखने के अतिरिक्त नियमित रूप से पहुँचने वाले वहाँ थोड़े से ही रहते हैं । जो पहुँचते हैं वे भी समय काटने की दृष्टि से ही जाते हैं । मिलता इन्हें भी कुछ नहीं । अनुपयोगी चीज सड़ने लगती है । इन धर्म स्थानों में धीरे-धीरे अनाचार का प्रवेश जिस प्रकार हो रहा है, उससे दुःख और दोष ही उत्पन्न होते हैं ।

अपने मन्दिरों में लगभग सात सौ अरब रुपये की सम्पत्ति लगी है । उनकी दैनिक आमदनी करोड़ों रुपया है इमारतें इतनी विस्तृत हैं कि उनमें ईसाई मिशन के द्वारा संसार भर में हो रहे कार्यों से भी अधिक कई गुने रचनात्मक कार्य आरम्भ किये जा सकते हैं । करीब एक लाख व्यक्ति उन मन्दिरों की सेवा-पूजा में नियुक्त हैं । इतने व्यक्ति यदि काम के हों और उन्हें रचनात्मक दिशा में लगाया जा सके तो सारे समाज का कायाकल्प हो सकता है । जनता जिस श्रद्धा से इनमें धन चढ़ाती है, उसके अनुरूप यदि धर्म संस्थापना की बहुमुखी प्रवृत्तियाँ भी इनमें संचालित हो सकें तो हमारा समाज कुछ ही दिनों में कहाँ से कहाँ पहुँच सकता है । साधनों के अभाव में काम रुका रहे यह समझ में आता है, किन्तु प्रचुर साधन होते हुए भी उनका सदुपयोग न हो सके, यह बड़ी लज्जा और पीड़ा की बात है ।

समय आ गया है कि इन धर्म केन्द्रों का सदुपयोग करने की दिशा में हम विचार करें और साहसपूर्ण कदम उठावें । जिनके हाथ में मन्दिर की संचालन व्यवस्था है, उन्हें सोचना चाहिए कि क्या इन केन्द्रों में लगे हुए धन का सही उपयोग हो रहा है ? भगवान की पूजा उचित है और आवश्यक भी, पर यह अबुद्धिमत्तापूर्ण है कि प्रचुर धन-राशि और जन-शक्ति का उपयोग इतने भर के लिए ही

समाप्त हो जाये । ईश्वर-भक्ति, पूजा-आरती तक ही सीमित नहीं है । व्यक्ति और समाज का भावनात्मक उत्कर्ष भी ईश्वर-भक्ति का ही अंग है । देश, धर्म, समाज और संस्कृति की उत्कृष्टता अभिवर्द्धन के लिए रचनात्मक कार्य हो सकते है । उन्हें ईश्वर पूजा से कम महत्त्व का किसी भी प्रकार नहीं समझा जाना चाहिए । मन्दिरों की उपयोगिता तभी अक्षुण्ण रह सकती है, जब उनमें पूजा के साथ-साथ आस्तिकता के अभिवर्द्धन एवं परिपोषण की सत्प्रवृत्तियाँ भी संचालित होती रहें ।

प्रश्न—

(१) भगवान के मन्दिरों की स्थापना करने का मुख्य प्रयोजन क्या है ? (२) आस्तिकता से क्या तात्पर्य होता है ? (३) आस्तिक मनुष्य समाज को किस तरह लाभ पहुँचाता है ? (४) मन्दिरों के निर्माण में इतनी अधिक धन-सम्पत्ति लगाने का कारण क्या हो सकता है ?(५) मन्दिरों में कथा-प्रवचन किस हद तक सत्प्रवृत्तियों को जगाने में सहायक हैं ? (६) मन्दिरों के पुजारी किस तरह के व्यक्ति होते हैं ? (७) आज के मन्दिरों के रूप, कार्यों पर प्रकाश डालिए ? (८) हमारे मन्दिरों मे लगी सम्पत्ति तथा व्यक्तियों के क्या पूजा और आरती के सिवाय भी कोई कर्तव्य हैं ?

त्योहार और संस्कार प्रेरणाप्रद पद्धति से मनाये जायें

पर्व, त्यौहारों का प्रचलन मात्र हर्षोत्सव मनाने के लिए विनिर्मित नहीं हुआ है, इनके पीछे समाज-निर्माण की एक अति महत्त्वपूर्ण प्रेरक-प्रक्रिया सन्निहित है । किन्हीं पौराणिक कथानकों की स्मृति मात्र के लिए अथवा किसी देवता की पूजा मात्र के लिए पर्वों की समय तथा धन खर्च कराने वाली पद्धति प्रचलित नहीं है, वरन् इनके पीछे मुख्य प्रयोजन यह है कि सामाजिक जीवन की हर समस्या को सुलझाने के लिये वर्ष में कई दिन ऐसे रखे जायें जिन पर इकट्ठे होकर जनता को वर्तमान परिस्थितियों पर विचार करने और उनका हल खोजने का अवसर मिले ।

हमारा प्रत्येक पर्व समाज की कुछ समस्याओं पर विचार करने और यदि वर्तमान में कुछ विकृतियाँ उत्पन्न हो गई हों तो उनका हल ढूँढ़ने की प्रेरणा देने आता है । प्राचीनकाल में हमारे त्यौहार का यही स्वरूप था । पर्वों पर हर्षोत्सव मनाने के लिए स्थानीय जनता एक स्थान पर एकत्रित होती थी । पूजा-प्रार्थना के धार्मिक कर्मकाण्डों के साथ प्रत्येक वैयक्तिक एवं सामाजिक कार्य सम्पन्न हों, यह अपनी प्राचीन परम्परा है । पर्वोत्सवों के समय पर भी वैसा होता था । धर्मकृत्यों के बाद मनीषी विद्वान उपस्थित जनता का उद्बोधन करके सामाजिक सत्प्रवृत्तियों को अक्षुण्य बनाये रखने का उद्बोधन करते थे । तत्कालीन सामाजिक गतिविधियों के सम्बन्ध में आत्म-निरीक्षण और परिष्कार-परिमार्जन करने का सहज ही अवसर मिल जाता था । कोई विकृति आँख से ओझल नहीं हो पाती थी । उठते हुए विकारों का तत्काल समाधान निकाल लिया जाता था और सामाजिक प्रखरता में कोई त्रुटि न आने पाती थी । इस प्रकार पर्वोत्सव का मनाया जाना एक वरदान सिद्ध होता था और उस माध्यम से राष्ट्रीय एवं सामाजिक सुदृढ़ता निरन्तर परिपुष्ट बनी रहती थी ।

यों पर्व-त्यौहार अनेक हैं पर उनमें से दस ऐसे हैं जिन्हें प्रमुखता दी जानी चाहिए । इनमें से हर पर्व के पीछे कुछ महत्त्वपूर्ण सन्देश एवं प्रयोजन जुड़े हुए हैं । यथा–(१) गुरु-पूर्णिमा–अनुशासन मर्यादाओं का पालन (२) श्रावणी–वृक्षारोपण, आत्म-निरीक्षण, भूलों का प्रायश्चित और सुधार, नैतिकता का व्रत धारण । (३) पितृ अमावस्या–बड़ों के प्रति श्रद्धा, सद्व्यवहार, कृतज्ञता, सत्पुरुषों और सत्परम्पराओं का अनुसरण । (४) विजयादशमी–स्वास्थ्य-रक्षा, संगठन, मनोबल, शक्ति-संचय अनीति के विरुद्ध संघर्ष । (५) दीपावली–ईमानदारी और परिश्रमपूर्वक उपार्जन, मितव्ययतापूर्वक धन का सदुपयोग । (६) गीता जयन्ती–धर्मनिष्ठा, कर्तव्यपरायणता, मानसिक सन्तुलन, दूरदर्शिता । (७) बसन्त पंचमी–शिक्षा, सद्ज्ञान संगीत, साहित्य, कला सुसज्जा । (८) शिवरात्रि–व्यापक सहयोग, समन्वय, नशा-निवारण । (९) होली–देशभक्ति, स्वच्छता, समता विस्तार ।(१०) गायत्री जयन्ती– (गंगा-दशहरा) विवेकशीलता, सद्भावना, आस्तिकता, सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्द्धन ।

प्रस्तुत त्यौहारों के पीछे जो इतिहास जुड़े हुए हैं तथा जिन क्रिया-कृत्यों के साथ उन्हें मनाया जाता है, उन पर पैनी दृष्टि डालने से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें मनाये जाने के पीछे किस प्रेरणा एवं प्रशिक्षण की भूमिका सन्निहित है, उस मूल प्रयोजन की रक्षा की जानी चाहिए, जिसके कारण इनका प्रचलन किया गया था । लकीर पीटने से काम न चलेगा । हमें उस प्राचीन परम्परा को पुनर्जीवित करना चाहिए, और पर्वों को उसी प्रकार पुनः मनाना आरम्भ करना चाहिए, जैसे कि वह पूर्वकाल में मनाये जाते थे । हर पर्व को मनाने की विधि और व्याख्यायें छोटी पुस्तिकाओं के रूप में छापी जा चुकी है पर संक्षिप्त में यह जान लेना आवश्यक है, कि पर्व वाले दिन व्यक्तिगत रूप से घरों में जो भी क्रिया-कृत्य किया जाता हो, उसके अतिरिक्त सामूहिक रूप से ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिसमें अधिकाधिक जनता भाग ले, मिल-जुलकर धार्मिक कर्मकाण्ड सम्पन्न किया जाये और इसी सुसज्जित धर्म मंच से पर्व के साथ जुड़ी हुई प्रेरणा पर सुलझे हुए विचारों द्वारा प्रकाश डाला जाये । यदि उस संदर्भ में इन दिनों कुछ विकृतियाँ चल पड़ी हों तो उन्हें सुधारने के लिए लोगों से कहा और उस सुधार का व्यावहारिक मार्ग बताया जाये । इस प्रकार प्रेरक पद्धति से मनाये गये यह पर्व-त्यौहार लोक-शिक्षण की अति

महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादित कर सकते हैं । सामाजिक उत्कर्ष के लिए ऐसे लोक-शिक्षण की आज जितनी आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं रही । इसलिए प्रबुद्ध व्यक्तियों को धर्म-मंच के माध्यम से भारतीय जनता का अभीष्ट मार्ग-दर्शन करने के लिए उन पुण्य-परम्पराओं को पुनर्जीवित करने के लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए ।

समाज-शिक्षण की जो आवश्यकता पर्वोत्सवों द्वारा पूरी हो सकती है, वही परिवार-प्रशिक्षण के लिए संस्कारों द्वारा सम्पन्न की जा सकती है । जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त भारतीय धर्मानुयायी अपने संस्कार कराते रहते हैं, ताकि उनकी संस्कारवान परम्परा एवं सुसंस्कृत मनोभूमि को निरन्तर अक्षुण्य रखा जा सके । प्राचीनकाल में सोलह संस्कार होते थे । अब उनमें से कितने ही असामयिक हो गये । 'गर्भाधान' अब सम्भव नहीं रहा । इसी प्रकार 'कर्णवेध' अनुपयोगी समझा जाने लगा । आज की स्थिति के अनुरूप दस संस्कार पर्याप्त हैं । समय-समय पर यदि उन्हें ठीक तरह मनाया जाने लगे, तो उस व्यक्ति को तो सुसंस्कारी बनने का अवसर मिलेगा ही, घर-परिवार के सदस्यों तथा समारोह में उपस्थिति लोगों को भी अपने कौटुम्बिक कर्त्तव्यों की जानकारी एवं प्रेरणा मिलेगी, यह प्रशिक्षण पारिवारिक समस्याओं को सुलझाने तथा संयुक्त परिवार प्रणाली को उपयोगी बनाये रखने में बहुत सहायक सिद्ध होगा ।

संस्कारों में से प्रत्येक में कुछ शिक्षा एवं प्रेरणा भरी पड़ी है, यथा-(१) पुंसवन-गर्भवती स्त्री को उन दिनों की शारीरिक, मानसिक स्थिति ठीक रखने सम्बन्धी शिक्षा तथा घर वालों को तत्सम्बन्धी वातावरण उत्पन्न करने की प्रेरणा । (२) नामकरण-परिवार के बालक को सुसंस्कृत बनाने की विधि-व्यवस्था का शिक्षण (३) अन्न प्राशन-बालक की आहार सम्बन्धी सतर्कताओ की जानकारी । (४) मुण्डन में बौद्धिक एवं भावनात्मक विकास की शिक्षा । (५) विद्यारम्भ-शिक्षा की उपयोगिता, दिशा प्रयोजन एवं उपलब्धि के आधार पर सिद्धान्तों की विवेचना और बालक के लिए उपयुक्त दिशा-योजना बनाकर देना । (६) यज्ञोपवीत-मानवता के मूलभूत आदर्शों, कर्त्तव्यों एवं आधारों को समझना और पशुता से बचने की, दुष्प्रवृत्तियों से बचने की शिक्षा । (७) विवाह-विवाह के उद्देश्य, कर्त्तव्य एवं सफलता के सिद्धान्तों से पति-पत्नी को परिचित कराना । गृहस्थ के दायित्वों को निबाहने की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की दोनों परिवारों को शिक्षा देना । (८) वानप्रस्थ- बच्चों के समर्थ होने पर ढलती आयु लोकसेवा के लिये समर्पित करने की प्रतिज्ञा, उपार्जन का दायित्व घर के समर्थ नये सदस्यों पर छोड़कर स्वयं परमार्थ के कार्यों में लगना । (९) अन्त्येष्टि-मृत शरीर का यज्ञ संस्कार । मानव जीवन के अमूल्य अवसर का सदुपयोग करने की उपस्थित लोगों को शिक्षा । (१०) मरणोत्तर संस्कार-मृत्यु के उपरान्त घर, परिवार की यज्ञ आदि से शुद्धि, दिवंगत आत्मा के सद्गुणों की शिक्षा, उसके छोड़े हुए उत्तरदायित्वों को पूरा करने की योजना एवं व्यवस्था ।

इन संस्कारों का भी पर्वों की भाँति ही विस्तृत कर्मकाण्ड और विधान है, जिनकी छोटी पुस्तिकाएँ युग-निर्माण योजना द्वारा प्रस्तुत की गई हैं । उन्हें स्थानीय लोकाचार के अनुरूप बनाया जा सकता है । प्रमुखता कर्मकाण्ड की नहीं, लोक-शिक्षण की है । यह उद्देश्य ध्यान में रखा जाये और उपस्थिति लोगों को उस अवसर से सम्बन्धित समस्या को हल करने के लिए प्रशिक्षित किया जाये ।

सारे मुहल्ले-गाँव को इकट्ठा करके सामूहिक रूप से यदि पर्व मनाये जाने लगें और उसमें धर्म-श्रद्धा के आधार पर लोग इकट्ठे होने लगें, तो उस एकत्रीकरण में त्यौहार के छिपे हुए समाज-निर्माण के रहस्यों को चतुर वक्ता भली प्रकार समझा सकता है और सामाजिक कुरीतियों एवं विकृतियों के उन्मूलन एवं स्वस्थ परम्पराओं की स्थापना के लिए महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि बना सकता है ।

इसी प्रकार पारिवारिक धर्म गोष्ठियों का सिलसिला संस्कार मनाने की परम्परा पुनर्जीवित करके बड़ी आसानी से प्रचलित किया जा सकता है । घर परिवार एवं पड़ौस के थोड़े लोग इकट्ठे हों तो भी उन्हें व्यक्ति निर्माण एवं परिवार निर्माण की नीति-रीति से सहमत किया जा सकता है ।

प्रश्न—

(१) प्रमुख नव पर्वों के नाम बताइये (२) प्रत्येक पर्व की विशेषता एवं महत्व पर प्रकाश डालिए (३) प्रमुख १० संस्कारों के नाम बताइये (४) प्रत्येक संस्कार की उपादेयता पर प्रकाश डालिए (५) पर्व और त्यौहार मनाने के पीछे हमारा क्या प्रयोजन होता है ? (६) पर्वोत्सव एक वरदान है-सिद्ध कीजिए । (७) पर्व और त्यौहार समाज शिक्षण की आवश्यकता किस प्रकार पूरी कर सकते हैं ? (८) किस प्रकार कोई चतुर वक्ता कुरीतियों एवं विकृतियों का उन्मूलन कर सकता है ?

जन्म दिवस और विवाह दिवस मनाये जायें

सभी अवतार सहस्र कलाओं वाले परब्रह्म के छोटे-छोटे अंशधर होते हैं । सामान्य मनुष्यों की तुलना में उनने अपने भीतर अधिक सद्गुण धारण किये होते हैं इसलिए हम उनकी पूजा और यशगान करते हैं । वैसे हर मनुष्य एक कला का ईश्वरीय अवतार है । यदि वह अपने स्वरूप और महत्त्व को समझने लगे तो अपनी आन्तरिक स्थिति को अधिक प्रखर बनाने में लग जाये तो उसी क्रम से अपनी कलाओं का अभिवर्द्धन करता हुआ ईश्वर बनने की पूर्णता प्राप्त करने की दिशा में तेजी से उठ सकता है ।

वस्तुतः हम अपने आपको भूल गये हैं । हाड़-माँस का बना चलता-फिरता शरीर मात्र अपने आपको मानते हैं । अस्तु, शरीर से सम्बन्धित क्षेत्र में ही अपनी

गतिविधियाँ सीमित रखते हैं । शरीर को भूख लगती है उसे पूरा करने के लिए उपार्जन करना होता है । उपार्जन के साथ लोभ-लालच की बौद्धिक विकृतियाँ जुड़ जाने से उसकी बहुत लम्बी शृंखला बन जाती है । इसी कमाई के फेर में जीवन का बहुत भाग नष्ट हो जाता है, यद्यपि यह कमाई पीछे वालों के लिए छोड़नी पड़ती है, अपने कुछ भी काम नहीं आती । शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इनके अपने-अपने स्वाद हैं । इन स्वादों की लिप्सा मन को उद्वेलित किये रहती है । इन इन्द्रियों में एक अति प्रबल कामेन्द्रिय है । यह अपनी कामना पूर्ति के लिए मन को बुरी तरह उद्वेलित किये रहती है । इस ललक में हम विवाह तो करते ही हैं इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ उचित-अनुचित करते रहते हैं, उनकी प्रतिक्रियाओं के दबाव से मनुष्य कोल्हू के बैल से भी गई-गुजरी स्थिति में जा पहुँचता है । निर्वाह भी आजकल सरल नहीं रहा । उसमें इतनी प्रतिस्पर्धा, द्वेष, दुर्भाव, छल-कपट, अनीति-अत्याचार की मात्रा भर गई है कि उन विकृतियों से उत्पन्न विफलता भी अपने साथ जुड़ी रहती है । यही है आज के जीवन का स्वरूप । ऐसा ही हेय जीवन जीते हुए हम मौत के दिन पूरे करते हैं । रोते हुए खाली हाथ आये हैं और ठीक उसी स्थिति मे विदा होते हैं ।

मनुष्य-जन्म पाना एक दुर्लभ सौभाग्य है । उसमें महान से महान संभावनाएँ तथा शक्तियाँ भरी पड़ी हैं । इसमें इतना अवसर है कि प्राप्त उपलब्धियों का यदि सदुपयोग किया जा सके तो निकृष्ट परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ मनुष्य भी ऐसे कार्य कर सकता है जिससे उसे महामानव, नररत्न, पृथ्वी का देवता, देवदूत, साक्षात भगवान कहा जा सके । इस प्रकार की उत्कृष्ट गतिविधि को अपना सकना अति सरल और स्वाभाविक है । निकृष्ट जीवन जीने में जितनी चतुरता, खींचतान और कठिनाई आती है, उसका सौवाँ भाग भी जीव को ईश्वर की दिशा में चलते हुए नहीं आती । जीवन के धन्य बना सकने की योग्यता, क्षमता, बुद्धि और हिम्मत मनुष्य में पर्याप्त मात्रा में मौजूद है । एक कला का ईश्वर अशक्त नहीं हो सकता । उसके पास बहुत कुछ है, पर जो है उसका सही उपयोग हम कर नहीं पाते, करना नहीं चाहते । इसी विडम्बना को माया कहते हैं । माया के चंगुल में फँसा हुआ प्राणी कीड़े-मकोड़ों की मौत मरता है और यह अलभ्य अवसर यों ही विनष्ट हो जाता है ।

मानव जीवन जैसा महत्वपूर्ण अवसर पशुओं जैसी शरीरचर्या में व्यतीत हो जाये तो उसे एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना ही कहा जा सकता है । वस्तुतः हम अपने स्वरूप को, कर्त्तव्य को, उद्देश्य को, भविष्य को बुरी तरह भूल गये हैं । शरीर की वासना और मन की तृष्णा पूरी करने के लिए ही निरन्तर जुटे रहते हैं, आत्मा की आवश्यकताओं के बारे में सोचने की तो क्षण मात्र फुरसत नहीं मिलती । बहुत हुआ तो एकाध माला सटका देने या राई-रत्ती पूजा-पत्री का थोड़ा खेल-मेल करके संतुष्ट हो जाते हैं । इन बाल-क्रीड़ाओं से कुछ प्रयोजन पूरा होने वाला नहीं है । जीवन मिला है तो उसका लाभ भी लेना चाहिए । लाभ तब मिले जब हम उसके स्वरूप, कर्त्तव्य और लक्ष्य को समझें । आत्मविस्मृति को समस्त पापों और दुःखों की जननी कहा जाता है । ज्ञान का उपदेश करते हुए तत्वदर्शियों ने मनुष्य को हजार बार एक ही उपदेश दिया है–अपने को जानो, अपने सम्बन्ध में विचार करो और अपनी सही दिशा निर्धारण करके उस पर चल पड़ो ।

यह निरन्तर विचारा जाने वाला एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और इस सम्बन्ध में अधिक चिन्तन करने के लिए एक भावपूर्ण हर्षोत्सव से जुड़ा हुआ पुनीत पर्व भी नियत है–उसका नाम है जन्म-दिन । व्यक्तिगत जीवन में जन्म-दिन से बढ़कर सन्तोष, उल्लास एवं प्रकाश से भरा हुआ त्यौहार नहीं हो सकता । सन्तोष इस बात का कि ८४ लाख वर्ष बाद हम एक अलभ्य अवसर प्राप्त कर सके हैं । उल्लास इस बात का कि हम चाहें तो अपनी दिशा बदलकर आज की तुलना में लाख गुनी मंगलमयी परिस्थितियाँ प्राप्त कर सकने की क्षमता में ओत-प्रोत हैं । प्रकाश इस बात का कि शरीर तथा मन की गतिविधियों को सही दिशा में नियोजित कर सकना सम्भव हो रहा है और अपना कायाकल्प दिखाई दे सकता है ।

संसार भर के सभ्य देशों में जन्म-दिन मनाने की प्रथा है । स्वजन-सम्बन्धी एवं मित्र मिलकर उस दिन एक हर्षोत्सव मनाते थे और उस व्यक्ति की प्रगति एवं सुख-शान्ति की कामना करते हैं । यह प्रचलन अपने यहाँ भी होना चाहिए । अपना चेहरा शीशे में बार-बार देखने की इच्छा होती है, अपना फोटो प्रिय लगता है, अपने नाम की चर्चा होने या छपने मे मजा आता है । अपनत्व संसार में सबसे प्रिय वस्तु है । इस अपनेपन के वातावरण का शुभ दिन भी हमारे लिए आकर्षक एवं उल्लास भरा हो सकता है, होना भी चाहिए ।

युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत जन्म-दिन मनाने पर बहुत जोर दिया गया है । पूजन, हवन, घृत, दीप, संगीत, प्रवचन, आशीर्वाद आदि की एक मिश्रित पद्धति भी है, जिसे सभी सदस्य जानते हैं । उस पद्धति से अपनी-अपनी विवेक-बुद्धि से जन्म-दिन के आयोजन सर्वत्र मनाये जाने चाहिए । व्यक्ति को स्वयं यह आयोजन करने में संकोच लगे, तो युग-निर्माण योजना की शाखाएँ अपने सदस्यों के जन्म-दिन मनाने की व्यवस्था इस तरह करें, जिससे खर्च न्यूनतम पड़े, और उत्सव का स्वरूप अधिक से अधिक आकर्षक एवं प्रभावशाली बन सके । आनन्द और उल्लास के अवसरों का बढ़ाना भी शोक संतप्त मानव जाति की

एक महती सेवा ही मानी जायेगी । यह प्रथा-परम्परा प्रचलित करने में हममें से प्रत्येक को पूरा उत्साह दिखाना और प्रयत्न करना चाहिए ।

जन्म-दिन मनाने का वास्तविक लाभ तब है, जब वह व्यक्ति आत्म-चिन्तन करे और आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण एवं आत्म-विकास की सुव्यवस्थित योजना बनाकर उस पर चल पड़ने का साहस दिखावे । इस अवसर पर ऐसे ही संगीत तथा प्रवचनों का तारतम्य होना चाहिए । जिनमें जीवन की महिमा समझने तथा उस अलभ्य अवसर का सदुपयोग करने की प्रेरणा मिले । भजन भर करने की बात उस सन्दर्भ में पूरी नहीं रहेगी । जीवन सुधार तथा लोक-मंगल के लिए साहसपूर्ण कार्य किये बिना, जीवन की सार्थकता भजन करते रहने पर भी संभव नहीं हो सकती, यह तथ्य इस अवसर पर भली प्रकार प्रतिपादित किया जाना चाहिए । देखने में यह एक हर्षोत्सव मात्र है, पर आध्यात्मिक जागरण एवं भावनात्मक नवनिर्माण की महान संभावनाएँ उसमें सन्निहित हैं । इसलिए जन्म-दिन मनाने की प्रथा चलाये जाने के लिए प्रबल प्रयत्न किये जाने चाहिए ।

जन्म-दिन की भाँति विवाह-दिन का भी महत्त्व है । विवाह सामाजिक जीवन का शिलान्यास है । विवाह की आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता अक्षुण्य रखने पर ही बच्चों का तथा समस्त परिवार का भावनात्मक विकास निर्भर है । लोग आमतौर से विवाह के साथ जुड़े हुए कर्तव्यों एवं प्रतिज्ञाओं को भूल जाते हैं । अवांछनीय गतिविधियाँ अपनाने लगते हैं । विवाह-दिवसोत्सव मनाकर उन कर्त्तव्यो एवं प्रतिज्ञाओं का पुनः स्मरण किया और कराया जाता है । उसकी भी पद्धति युग-निर्माण शाखाओं को विदित है । प्रयत्न यह भी होना चाहिए कि विवाह-दिवसोत्सव भी मनाये जायें और दाम्पत्य जीवन में हर साल एक नई उमंग, नई भावना और नई प्रेरणा उत्पन्न की जाये । इस प्रकार सरस और प्रखर दाम्पत्य जीवन, परिवार निर्माण की दिशा में अति प्रभावकारी सिद्ध हो सकता है । जन्म-दिनों की तरह विवाह दिन भी मनाने की प्रथा को हमें एक व्यापक परम्परा बनाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए ।

प्रश्न—

(१) इसे आप कैसे कह सकते हैं कि एक सामान्य मनुष्य भी अवतारी पुरुष बन सकता है । (२) मनुष्य शरीर पाकर जो काम हमें करने चाहिए वे हम किस प्रकार नहीं कर पा रहे हैं ? (३) माया किसे कहते हैं तथा माया के चंगुल में फँसा व्यक्ति किस प्रकार विनष्ट हो जाता है ?(४) मानव अपनी शरीरचर्या किस प्रकार व्यतीत करता है ? (५) जीवन मिला है तो उसका लाभ किस प्रकार लेना चाहिए ? (६) जन्मदिन से बढ़कर और कोई त्यौहार व्यक्तिगत जीवन में क्यों नहीं है ? (७) जन्मदिन किस प्रकार मनाया जाना चाहिए ? (८) जन्मदिन का वास्तविक लाभ किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ?(९) युग-निर्माण योजना के अनुसार विवाह दिन किस प्रकार मनाया जा सकता है ।

गायत्री और यज्ञ—भारतीय धर्म-संस्कृति के माता-पिता

गायत्री भारतीय संस्कृति की जननी और यज्ञ भारतीय धर्म का पिता है, भारतीय तत्व-ज्ञान का सार मर्म इन्हीं दो तथ्यों में समाया हुआ है । इसलिए गायत्री और यज्ञ को हम अनादि काल से अपने आध्यात्मिक माता-पिता मानते रहे हैं ।

गायत्री महामन्त्र उपासना की दृष्टि से परम सामर्थ्यवान है । शास्त्रकारों ने उसके पाँच मुख, पाँच नाम बताये हैं–(१)अमृत (२) पारस (३) कल्पवृक्ष (४) कामधेनु (५) ब्रह्म । इन पाँचों द्वारा जो लाभ उठाये जा सकते हैं, उन सभी को दे सकने की क्षमता इस महामन्त्र में विद्यमान है । मनुष्य के भीतर अन्नमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश यह परम सामर्थ्यवान पाँच आवरण हैं । इन पाँचों में अगणित रहस्यमय शक्तियाँ सन्निहित हैं, उन्हें जगाने के लिए गायत्री उपासना से बढ़कर और कोई साधना नहीं । षट्चक्रों का भेदन, कुण्डलिनी जागरण, स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीरों का परिशोधन तथा १२ महत्त्वपूर्ण योग साधनाओं की सफल साधना गायत्री के माध्यम से ही की जाती है । इस महाशक्ति को तन्त्र-मार्ग से प्रयुक्त करके आश्चर्यचकित कर देने वाली सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं । योग-साधना का केन्द्र-बिन्दु अपने धर्म में गायत्री महामन्त्र ही रहा है ।

आत्म-बल बढ़ाने और आत्म-परिशोधन का यह सार्वजनिक सार्वभौम मन्त्र है । इसकी उपासना नर-नारी, बाल-वृद्ध कोई भी कर सकता है । बुद्धि को प्रकाशवान और प्रखर बनाना, अन्तःकरण में ऋतुम्भरा प्रज्ञा को प्रकाशवान करना गायत्री की सबसे बड़ी विशेषता है । इसलिए भारतीय धर्म के हर अनुयायी को नित्य इस मन्त्र की उपासना अनिवार्य बताई गई है । जो इसकी उपेक्षा करता है, उसकी कड़े शब्दों में भर्त्सना की गई है । कोई किसी देवता या मन्त्र की साधना भले ही करता हो पर उसे सबसे पहले गायत्री द्वारा अन्तःकरण चतुष्टय तथा इन्द्रिय समूह को शुद्ध करना पड़ता है, इसके बिना कोई साधना सफल नहीं हो सकती । कष्ट, संकट, विपत्ति और चिन्ताजनक उलझनों में फँसे हुए व्यक्ति इस साधना का आश्रय लेकर अपनी समस्याओं को हल करते और उलझनों को सुलझाने का मार्ग प्राप्त कर सकते हैं । निराशाजनक परिस्थितियों में आशा का प्रकाश उत्पन्न करने एवं विपन्नता को सम्पन्नता में बदल देने की शक्ति इस महामन्त्र में किस सीमा तक भरी पड़ी है, इसकी परीक्षा कोई भी व्यक्ति श्रद्धापूर्वक गायत्री मन्त्र की उपासना करके कभी भी कर सकता है ।

भारतीय धर्म का सारा विस्तार वेदों में हुआ और चारों वेद गायत्री के चारों चरणों की व्याख्या मात्र हैं ।

बीज रूप से गायत्री में वह सब मौजूद है, जो हमारे धर्म-ग्रन्थों में कहा, समझाया गया है । इस मन्त्र में २४ अक्षरों की व्याख्या की जाये तो उनमें नीति, धर्म, सदाचरण, लोक-व्यवहार की ऐसी शिक्षाएँ ओत-प्रोत मिलेंगी जिन्हें अपनाकर मनुष्य अपना लोक और परलोक सुख-शान्तिमय बना सकता है । विवेक-बुद्धि को प्राथमिकता देना और उसे सर्वोपरि ईश्वरीय सन्देश मानना गायत्री का सार है । यह मन्त्र हमें विवेकवान, विचारशील एवं हंस की तरह नीर-क्षीर का विवेक करते हुए अनुचित को त्यागने एवं उचित को अपनाने का निर्देश करता है । माता के रूप में गायत्री की प्रतिमा बनाकर यह प्रतिपादन किया जाता है, कि नारी की पवित्रता एवं सत्ता नर की अपेक्षा अधिक है । इसलिए उसे हर क्षेत्र में अधिक श्रेय, सम्मान प्रदान किया जाना चाहिए । गायत्री का तत्व-ज्ञान अपनाकर यदि हम दूरदर्शी, विवेकशील एवं नीतिवान बन सकें और नारी के प्रति अति पवित्र बुद्धि रखें तो इस धरती पर स्वर्ग के अवतरण की सम्भावनाएँ मूर्तिमान कर सकते हैं ।

हमें नित्य नियमित रूप से गायत्री-उपासना के लिए थोड़ा समय निकालते रहना चाहिए और घर-परिवार में यह प्रथा-परम्परा चलानी चाहिए कि घर का हर सदस्य नित्य गायत्री मन्त्र की साधना किया करे, भले ही वह पाँच मिनट भर ही क्यों न हो ।

गायत्री माता के रूप में ईश्वर की उपासना करने से प्रेम का सर्वोपरि केन्द्र-बिन्दु मातृ-हृदय की भावना का अवसर हमें मिलता है । जिस रूप में हम भगवान को भजते हैं, वे उसी की अनुभूति प्रदान करते हैं । स्नेहमयी माता का ध्यान हमें वात्सल्य की भाव भरी अनुभूतियों से पुलकित कर देता है । जिन्हें माता के रूप में गायत्री महाशक्ति की उपासना में निराकार-साकार के झंझट को लेकर कुछ आपत्ति हो वे प्रातःकाल उदय होते हुए समस्त प्राणियों को प्राण प्रदान करने वाले परम तेजस्वी सूर्य का ध्यान करते हुए, गायत्री मन्त्र का ध्यान कर सकते हैं । पूजा की विधि अति सरल है । शरीर को शुद्ध कर, स्वच्छ स्थान एवं शान्त वातावरण में आसन बिछाकर बैठना चाहिए । आचमन के लिए जल और प्रकाश एवं ऊर्जा के लिए अगरबत्ती आदि से अग्नि की स्थापना सम्भव हो तो और भी उत्तम है । पवित्रीकरण, आचमन आदि क्रियाओं के बाद भगवान की समीपता का ध्यान करते हुए गायत्री मन्त्र का जप करना चाहिये, नियत संख्या, नियत समय का ध्यान रखना चाहिए, और अन्त में सूर्य की दिशा में जल का अर्घ्य देकर श्रद्धांजलि अर्पित करनी चाहिए । यों गायत्री महाविज्ञान ग्रन्थ में उपासना के विस्तृत योग एवं तन्त्र मार्ग के प्रयोग लिखे हैं पर सर्व-साधारण का काम उपरोक्त संक्षिप्त विधि से भी चल सकता है ।

गायत्री का पूरक यज्ञ है । यह एक अतीव महत्त्वपूर्ण विज्ञान है, जो विश्व-व्यापी चेतन जगत को प्रभावित करता है । जड़-जगत को प्रभावित करने वाली अनेक वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं । सर्दी को गर्मी में बदलने वाले हीटर और गर्मी को सर्दी में बदलने वाले कूलर अपना चमत्कार दिखलाते हैं । अँधेरे को रोशनी में बदलने वाली बिजली का लाभ हर कोई जानता है । पर मानवीय चेतना और विश्व-व्यापी चेतना को प्रभावित करने वाली यज्ञ विद्या के बारे में बहुत ही कम जानकारी शेष रह गई है । प्राचीनकाल का अध्यात्मवादी विज्ञान अपनी सक्रियता के लिए महत्त्वपूर्ण सहायता यज्ञीय ऊर्जा से ग्रहण करता था । शारीरिक ही नहीं, मानसिक रोगों के निवारण की अमोघ क्षमता यज्ञीय प्रक्रिया में मौजूद है । व्यक्तिगत तथा सामूहिक संकटों का निवारण करने वाली शक्तिशाली ऊर्जा यज्ञों के द्वारा वातावरण में संव्याप्त कराई जा सकती है । प्रकृतिगत वातावरण उसके द्वारा बदला जा सकता है । पर आज तो वह सारा विज्ञान ही विस्मृत हो गया । उसकी शोध पुनः की जानी चाहिए और इस सरल किन्तु महत्त्वपूर्ण विज्ञान का सर्व-साधारण की सुख-शान्ति बढ़ाने के लिए उपयोग किया जाना चाहिए । यह कार्य शोधकर्त्ता अध्यात्म विज्ञानियों का है, कि वे अपनी लुप्त विद्याओं का अन्वेषण कर उन्हें पुनः प्राप्त करें और उनके द्वारा मानवीय प्रगति में महत्त्वपूर्ण योगदान दें । यह कार्य कुछ ही दिन बाद हम आरम्भ करने वाले हैं और आशा करनी चाहिए कि यज्ञ विद्या के माध्यम से मानव जाति को एक अति नवीन, अति प्राचीन, अति महत्त्वपूर्ण शक्ति हाथ लगेगी और उसके माध्यम से हम अपने खोये हुए वर्चस्व को पुनः प्राप्त कर सकने में समर्थ होंगे ।

यज्ञ दर्शन की प्रबल प्रेरणा यह है कि मनुष्य यज्ञीय जीवन जियें । जिस प्रकार हवन-कुण्ड में लपटें उठती हैं, उसी प्रकार हमारे अन्तःकरण में शौर्य, साहस, विवेक, सत्य, कर्त्तव्य आदि सद्‌गुणों की प्रखरता दीप्तिमान रहे । जिस प्रकार हवन के द्वारा वायु-मण्डल सुगन्धित होता है, उसी प्रकार हमारा कर्त्तव्य दया, करुणा, सेवा और सहृदयता की भावनाओं से ओत-प्रोत होता हो, उस कर्त्तव्य के द्वारा सहयोग, सद्‌भावना का,सुख-शान्ति का वातावरण बने, इसका प्रयत्न किया जाना चाहिए । यज्ञ पवित्रता और प्रखरता का प्रतीक है और यज्ञ-पूजकों की विचारधारा एवं क्रिया-पद्धति इन्हीं मान्यताओं से ओत-प्रोत होनी चाहिये । व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिए जिस प्रकार हम प्रयत्नशील रहते हैं, उसी प्रकार घी, शक्कर, औषधियाँ आदि का हवन करके हमें सुखदायी वायुमण्डल बनाने और उनका लाभ समस्त प्राणियों को देने की भावना रखनी चाहिए । हमारा समस्त जीवन यज्ञमय बने-और उसका लाभ समस्त अग्निहोत्र की धार्मिक प्रक्रिया जीवन को यज्ञमय बनाने के आध्यात्मिक क्षेत्र में भी प्रकट कर सकें, हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए । गायत्री और यज्ञ का युग्म हमारी संस्कृति और धर्म का जनक है, उनका समुचित प्रभाव हमारे जीवन पर बना रहे, यही उचित है ।

प्रश्न–

(१) गायत्री और यज्ञ इन दोनों का भारतीय संस्कृति के साथ क्या नाता है ? (२) शास्त्रकारों ने गायत्री जी के कितने मुख बताये हैं तथा इनके लाभ प्राप्त करने की क्षमता किसमें है ? (३) गायत्री महामन्त्र की उपासना करके मनुष्य क्या लाभ प्राप्त कर सकता है ? (४) गायत्री की प्रतिमा माता के रूप में बनाकर क्या प्रतिपादित किया जाता है ? (५) हमे अपने परिवार को किस प्रकार की आदत डालनी चाहिए ? (६) निराकार गायत्री की उपासना करने वाले को वह किस प्रकार से करनी पड़ती है ? (७) यज्ञ का विज्ञान से किस तरह का सम्बन्ध है ? (८) यज्ञ से मनुष्य को क्या प्रेरणाएँ ग्रहण करनी चाहिए ?

गायत्री यज्ञ-आन्दोलन–एक महान रचनात्मक अभियान

यों यज्ञ कई प्रकार के होते हैं, अलग-अलग देवी-देवताओं तथा मन्त्रों के हिसाब से उनके अलग-अलग नाम और विधान भी हैं । पर वह सब तो सकाम कामनाओं, विविध प्रयोजनों के लिए प्रस्तुत किए गए सम्प्रदाय विशेष की अनगढ़ गढन्तें ही हैं । यज्ञ शब्द का व्यापक प्रयोजन 'गायत्री-यज्ञ' से ही जुड़ा हुआ है । यद्यपि अति प्राचीनकाल से लेकर अद्यावधि सभी छोटे-बड़े यज्ञ गायत्री महामन्त्र के माध्यम से ही सम्पन्न होते रहे हैं और उन्हें गायत्री यज्ञ के नाम से ही सम्बोधित किया जाता रहा है । गायत्री भारतीय संस्कृति की जननी और यज्ञ भारतीय धर्म का पिता है । गायत्री तत्व ज्ञान, विवेकशीलता और सद्‌भावना की देवी है और यज्ञ संयम, उत्कर्ष एवं संतुलन का देवता । इन दोनों के समन्वय से ही परिपूर्ण मानवता और समर्थ सामाजिकता का उद्‌भव हो सकता है । अतः भारतीय धर्मावलम्बियों ने सदा से अपने शुभ कर्मों के साथ गायत्री यज्ञों को जोड़े रखा है । अपनी महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक प्रवृत्तियों का शुभारम्भ भी इसी धर्मकृत्य के साथ होता रहा है ।

अव्यवस्थित राजनीतिक स्थिति का एकीकरण, सुधार एवं सन्तुलन करने के लिए समय-समय पर अश्वमेध जैसे राजसूय यज्ञों के नाम पर प्रचण्ड आन्दोलन, सम्मेलन एवं अभियान खड़े किए जाते थे और अव्यवस्थित, नैतिक सामाजिक परिस्थितियों का पुनर्गठन एवं विकृतियों का निराकरण कराने के लिए बाजपेय यज्ञों की योजना बनती थी । आज की स्थिति में देश की ही नहीं समस्त विश्व की नैतिक आस्थाएँ, बौद्धिक दिशाएँ एवं सामाजिक विधि-व्यवस्थाएँ बुरी तरह लड़खड़ाने लगी हैं । उनका पुनः उपयोग करने के लिए प्राचीनकाल के बाजपेय यज्ञों की परम्पराएँ अपनाकर गायत्री यज्ञ आन्दोलन नई उमंग, नई दिशाएँ और नई योजनाओं के साथ प्रस्तुत हुआ है । इसे पण्डा-पुजारियों की लूट-खसोट के लिए आए दिन होते रहने वाले विडम्बनात्मक यज्ञ-हवनों से सर्वथा पृथक और सर्वथा भिन्न प्रयोजन का एक अतीव क्रांतिकारी और नव-निर्माण की विशाल योजनाएँ लेकर प्रस्तुत हुआ इस युग का एक अद्‌भुत और अनुपम आन्दोलन ही समझा और कहा जा सकता है ।

गायत्री 'यज्ञ' यों पूजा-पाठ की एक धर्म प्रक्रिया मात्र मालूम पड़ती है और समझा जाता है कि उसके माध्यम से देवताओं की प्रसन्नता, वायुशुद्धि, मनोविकारों का शमन, प्राणप्रद वर्षा जैसे लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं । पर यज्ञ को अपनी संस्कृति में जो इतना महत्त्व दिया गया है, उसे धर्म का जनक कहा गया है, उसका प्रधान कारण यह है कि इस माध्यम से यज्ञीय जीवन जीने की और समाज में यज्ञीय परम्पराओं के प्रचलन का लोक-शिक्षण किया जा सकता है । वायुशुद्धि, देवपूजा, आरोग्य संवर्द्धन जैसे लाभों के अतिरिक्त यह भावनात्मक उत्कर्ष एवं लोक-शिक्षण ही वह कारण है, जिसने भारतीय धर्म में 'यज्ञ' शब्द को परम पवित्र वाचकों में गिनाया गया और उसे अति उच्चकोटि की श्रद्धा के साथ सम्मानित किया गया । अपना कोई व्रत, पर्व, त्यौहार, संस्कार एवं शुभ कर्म ऐसा नहीं जो यज्ञ के बिना सम्पन्न होता हो । मरने के बाद हिन्दू की अन्त्येष्टि जिस यज्ञ विधि के साथ सम्पन्न की जाती है वह आज कितनी ही भौंड़ी क्यों न हो गई हो स्मरण यही दिलाती है–भारतीय जीवन का आदि और अन्त यज्ञ के साथ ही होता रहा है–होना चाहिए ।

यज्ञ शब्द का अर्थ है–त्याग, सेवा, प्रेम, सहयोग, सदाचरण और उदात्त दृष्टिकोण । इन प्रवृत्तियों को व्यक्तिगत जीवन में समन्वय कर लेने से समान स्तर का मनुष्य भी देवोपम मनोभूमि एवं परिस्थितियों का सृजन कर सकता है । वह जिनके भी सम्पर्क में आवेगा उन्हें प्रसन्नता, प्रकाश एवं प्रोत्साहन प्रदान करेगा स्वयं तो आत्म-शान्ति और लोक-श्रद्धा का अनुभव करता ही रहेगा । व्यक्ति के जीवनोत्सर्ग से तत्त्व-ज्ञान इतना अधिक योगदान दे सकता है कि उसकी यदि लोहे के पारस छूकर स्वर्ण बनने की बात से तुलना की जाये तो कुछ अत्युक्ति न होगी ।

सामूहिक जीवन का, समाज का, विकासक्रम पूर्णतया पारस्परिक सद्‌भावना और सहकारिता पर अवलम्बित है । संगठित चरित्रवान और आदर्शों को प्रधानता देने वाले समाज ही समर्थ और समृद्ध हो सकते हैं । इसलिए सामाजिक विकास की आधारशिला-यज्ञीय प्रवृत्ति को जन-मानस और लोक-आचार में स्थान मिलना ही चाहिए । इस प्रवृत्ति को देशभक्ति, लोकसेवा, जन मंगल आदि नाम भी दिये जा सकते हैं । धार्मिक भाषा में इसे ही यज्ञीय परम्परा कहते हैं । यज्ञ आयोजनों के कर्मकाण्ड के साथ-साथ उसकी व्याख्या करते हुए जन-समुदाय को यह बहुत ही आसानी और सफलता के साथ समझाया जा सकता है कि किस प्रकार व्यक्ति और समाज को यज्ञीय ढाँचे में ढाला जा सकता है और व्यक्ति में देवत्व और समाज में स्वर्गीय वातावरण का सृजन किया जा सकता है । अपना गायत्री यज्ञ आन्दोलन धार्मिक

पृष्ठभूमि में आवृत विशाल जनसम्मेलनों द्वारा व्यक्ति और समाज को आदर्शवादी परम्पराओं की ओर उन्मुख करने के लिए तत्परतापूर्वक प्रयत्नशील है, जानने वाले जानते हैं कि धार्मिक मनोवृत्ति की भारतीय जनता में अपना यह पुण्य-प्रयोजन कितना लोकप्रिय और कितना सफल हुआ है ।

यज्ञीय कर्मकाण्डों में खाद्य पदार्थ जलने की व्यर्थता पर अक्सर आलोचनाएँ होती हैं । अपने यज्ञों में वैसे अवसर पहले से ही नहीं आने दिया है । अन्न का एक दाना भी नहीं होमा जाता वरन् सुगन्धित वनस्पतियों की सामग्री ही काम में आती है और घी की मात्रा भी इतनी प्रतिबन्धित और न्यून रहती है, कि प्रयोजन की महानता को देखते हुए वह थोड़ा-सा खर्च किसी भी प्रकार अनुचित नहीं कहा जा सकता । समूह एकत्रित करने के लिए अब तक प्रयोग किये जाने वाले विविध क्रिया-कलापों में आर्थिक दृष्टि से देखा जाये तो अपने यज्ञ प्रयोजन सबसे सस्ते बैठते हैं । इस प्रकार उसके साथ जितने दुरागामी सत्य परिणाम जुड़े हुए हैं, जिन्हें देखते हुए उस खर्च को हर विचारशील आलोचना का विषय न मानकर मुक्त कण्ठ से प्रशंसा ही कर सकता है ।

गायत्री यज्ञ आयोजन में उपस्थित जनता को जहाँ व्यक्तिगत जीवन में से अनैतिक आचरण और सामाजिक जीवन में से अवांछनीय गतिविधियाँ हटाने के लिए प्रेरित किया जाता है, वहाँ यज्ञ वेदी पर ऐसी प्रतिज्ञाएँ भी कराई जाती है, जिनसे व्यक्ति की निर्मलता और समाज की समर्थता का अभिवर्धन होता है । हर कोई जानता है कि अपने हर यज्ञ में सुरक्षा सहस्त्रों बार नर-नारी अपनी अवांछनीय कुप्रवृत्तियों को किस उत्साह के साथ सदा के लिए परित्याग कर कर्त्तव्यनिष्ठ नागरिक बनने के लिए व्रत धारण करते हैं और सामाजिक कुरीतियों एवं राष्ट्रीय दुर्बलताओं को पदच्युत करने के लिए जोश-आवेश के साथ कार्यक्रम बनाते हैं । इन सम्मेलनों के बाद उन क्षेत्रों में सृजनात्मक सत्प्रवृत्तियों की कैसी बाढ़ आती है, इसे देखकर आलोचकों को भी यह स्वीकार करना पड़ा है कि यह आन्दोलन वर्तमान के सभी सृजनात्मक आन्दोलनों में अपने ढंग का 'अनुपम है और देश की मनोभूमि को समझते हुए अपने कार्यक्रम बनाने की दूरदर्शिता के कारण असाधारण रीति से सफल है ।

देश में परिष्कृत नागरिकता, उत्कृष्ट विचारणा, उदात्त आस्था एवं लोक-मंगल की निष्ठा और उमंगभर प्रचण्ड सृजनात्मक तत्परता उत्पन्न करने में अ० भा० गायत्री परिवार के तत्वाधान में चल रहे यज्ञ आन्दोलन ने थोड़े ही समय में जैसी सफलता पाई है, उसे देखते हुए यह आशा प्रगाढ़ विश्वास के रूप में परिणित होती जाती है कि मनुष्य में देवत्व और धरती पर स्वर्ग अवतरण करने के अपने स्वप्न साकार होकर रहेंगे ।

प्रश्न—

(१) 'यज्ञ' शब्द का व्यापक प्रयोजन 'गायत्री यज्ञ' से किस प्रकार जुड़ा है ? (२) क्या गायत्री और यज्ञ इन दोनों के समन्वय से ही परिपूर्ण मानवता का उद्भव हो सकता है । (३) गायत्री यज्ञ आन्दोलन किस तरह से पुराने और वर्तमान समय के यज्ञों में समानता ला रहा है ? (४) यज्ञ की महिमा को बतलाइये ? (५) यज्ञ शब्द का क्या अर्थ होता है ? (६) यज्ञीय जीवन को अपनाने पर मानव महान् कैसे बन सकता है ? (७) गायत्री यज्ञ आन्दोलन सामाजिक जीवन को यज्ञीय जीवन के अनुरूप ढालने में प्रयत्नशील है किस प्रकार ? (८) क्या गायत्री यज्ञ आन्दोलन आर्थिक दृष्टि से भी अधिक खर्चीला है किस तरह ? (९) नर और नारी गायत्री यज्ञ आन्दोलन से किस प्रकार लाभ प्राप्त कर सकते हैं ?

शिखा भारतीय संस्कृति की धर्म-ध्वजा

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के दो प्रमुख प्रतीक हैं एक शिखा (चोटी) दूसरा सूत्र (यज्ञोपवीत) । अपने यहाँ इन दो प्रतीकों को हटा देना ही धर्म परिवर्तन का-धर्मच्युत होने का संकेत माना जाता रहा है । जिन दिनों बलपूर्वक इस्लाम फैलाया जा रहा था उन दिनों यही प्रक्रिया चलती थी कि चोटी काट दी जाये और जनेऊ तोड़ दिया जाये, बस इतने भर से यह मान लिया जाता था कि जिनने यह प्रतीक हटा दिये, उनने हिन्दू धर्म छोड़ दिया । उन बलात् धर्म परिवर्तन के दिनों में लोगों ने चोटी काटने का प्रश्न सामने आने पर यही कहा-"कटनी ही है, तो सिर सहित चोटी कटेगी ।" वैसा ही हुआ भी । लोगों ने बोटी-बोटी नुचवादी पर चोटी नहीं कटवाई ।

राणाप्रताप और शिवाजी जैसे धर्मरक्षकों ने चोटी और जनेऊ की रक्षा के लिए अपने बहुमूल्य जीवन संकट में डाले और जनसाधारण में साहस भरा कि अपने धर्म और उसके प्रतीकों की हर कीमत पर रक्षा की जानी चाहिए । अति प्राचीन काल में जो लोग इन प्रतीकों के प्रति उपेक्षा, अनादर और आलस्य बरतते थे, इन्हें धारण नहीं करते थे उन्हें सामाजिक बहिष्कार का दण्ड भुगतना पड़ता था । शिखा स्थापना, मुण्डन संस्कार-अपने धर्म में एक पवित्र आवश्यक परम्परा है, इसी प्रकार यज्ञोपवीत धारण का धर्म-कृत्य भी उच्च वर्ण वाले लोगों में बड़े समारोहपूर्वक मनाया जाता है और उसमें विवाह संस्कार जैसा खर्चीला समारोह होता है। वस्तुतः यह दोनों ही परम्पराएँ-धारणाएँ अति महत्त्वपूर्ण हैं । इसलिए संस्कार- समारोहों की आवश्यकता समझी गई तो यह उचित ही था ।

आज कुछ विचित्र हवा चली है और इन दोनों धर्म प्रतीकों को निरर्थक माना जाने लगा है । अन्य सभी धर्मों के निष्ठावान युवक अपने प्रतीकों को गर्व और गौरव के साथ धारण करते हैं । पर अपने लोग अपनी उपयोगी धर्म

परम्पराओं की खेदजनक उपेक्षा करते चले जा रहे हैं । ईसाई युवक ईसा की फाँसी का प्रतीक 'टाई' को गले में बाँधते हैं । मुसलमान युवक अपनी मूँछें, पोशाक, सुन्नत आदि की उपेक्षा नहीं करते, सिख युवकों को केश, कड़ा आदि धारण किए ही पाया जायेगा, पर हिन्दू धर्मानुयायियों को न जाने क्या हो गया है कि वे अपनी संस्कृति को तिलांजलि देते हुए अपने पुण्य-प्रतीकों का परित्याग करते चले जा रहे हैं, जिनकी रक्षा के लिए अपने पूर्वजों ने बड़े से बड़े बलिदान करने में हिचक नहीं की थी । अब तो कुछ वर्षों से हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही एक ऐसा पंथ निकल पड़ा है जो चोटी, जनेऊ त्यागने का उपदेश अपने अनुयायियों को करता है । समय की विपरीतता का कोई क्या करे ?

शिखा संरक्षण का वैज्ञानिक महत्त्व है । लघु और दीर्घ मस्तिष्कों के जोड़ने वाले केन्द्र-बिन्दु को अति महत्त्वपूर्ण मर्मस्थल माना गया है । समस्त मानसिक शक्तियों का उद्‌भव यही है । यहाँ जो बाल उगते हैं उनकी जड़ें उन चेतना केन्द्रों तक चली गई हैं जो हमें बुद्धिमान और मनस्वी बनाते हैं । इस स्थान के बालों की निरन्तर वृद्धि होनी चाहिए । काटने से उस मर्म स्थल की सुरक्षा खतरे में पड़ती है और बुद्धिमत्ता के केन्द्र डगमगाने लगते हैं । बुद्धिमत्ता मानव जीवन की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है इसलिए उसे सुरक्षित रखने की चेष्टा में शिखा-संरक्षण का क्रम अपने यहाँ चिरकाल से चला आता है । रेडियो में 'एरियल' खड़ा कर देने से जैसे आकाश में बहने वाली ईथर तरंगों से अपने काम की आवाज पकड़ ली जाती है और रेडियो बजने लगता है, इसी प्रकार मस्तिष्क की छत परा खड़ा किया गया शिखा रूपी 'एरियल' महान अन्तरिक्ष में प्रवाहित होने वाली शुभ चेतनाओं, शुभ संकल्पों, सद्विचारों एवं उपयोगी ज्ञान को पकड़कर मस्तिष्क रूपी रेडियो में भेजता है और हमारी बुद्धिमत्ता बढ़ने की एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया बन जाती है ।

इस तथ्य को भारतीय तत्ववेत्ता भली प्रकार जानते थे इसलिए ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी सभी केश रखाते थे । मध्य बिन्दु में शिखा रखने की उपयोगिता को तो वे स्वीकार करते ही थे वरन् एक कदम और भी बढ़कर सारे सिर पर केश रखते थे । महिलाएँ तो आजीवन पूरे सिर पर शिखा रखती हैं और अब तो लड़कों ने जबसे चोटी की उपेक्षा करनी शुरू की है तबसे लड़कियों ने उसे उपेक्षा का प्रायश्चित करना आरम्भ किया है और वे दो चोटी रखने लगी हैं ? महिलाएँ की यह सांस्कृतिक चेष्टा सराही जायेगी । एक विशेष सम्प्रदाय के सन्यासी शिखा सहित पूरे सिर का मुण्डन इसलिए कराते हैं कि उन्हें सांस्कृतिक बुद्धिमत्ता की जरूरत नहीं रही उनके लिए आत्मिक आनन्द ही पर्याप्त है । जो हो, शिखा ऐसी आवश्यकता है जिसकी उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता । वह मानसिक रोगों से बचाती है । लाखों वर्षों का इतिहास साक्षी है कि संसार के अन्य भागों की तुलना में शिखाधारी भारतीय, मनोविकारों और मस्तिष्कीय रोगों से बहुत ही कम ग्रसित हुए । उनकी बुद्धिमत्ता और मनस्विता का प्रकाश सर्वत्र फैला रहा और उस उपलब्धि के आधार पर वे मानव जाति की महान सेवा कर सकने में समर्थ रहे ।

शिखा हमारे मस्तिष्क रूपी किले पर गढ़ा हुआ धर्म-ध्वज है । जिस प्रकार आजकल सरकारी इमारतों पर तिरंगा झण्डा फहराता है वैसे ही हर भारतीय मस्तिष्क रूपी दुर्ग पर अपनी संस्कृति की विजय पताका शिखा के रूप में फहराती है । सन्ध्या वन्दन आदि धर्म कृत्यों में शिखा बन्धन की क्रिया की जाती है । इसका प्रयोजन एक प्रकार से 'झण्डाभिवादन' जैसा ही है । इस संस्थापन का प्रयोजन यह है, कि हर भारतीय धर्मानुयायी का मस्तिष्क केवल उच्च विचारणा, विवेकशीलता, उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता का ही केन्द्र रहना चाहिए । उसमें निकृष्ट, ओछे, स्वार्थी, संकीर्ण और अनैतिक आकांक्षाओं को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए । जिस राजा का किला होता है उसमें उसी की सेना या प्रजा निवास करती है । शत्रु सैनिकों को उसमें एक कदम भी नहीं रखने दिया जाता । उसी प्रकार जिस मस्तिष्क दुर्ग पर भगवती गायत्री की धर्म ध्वजा शिखा के रूप में फहराती है उसके संरक्षकों का आवश्यक कर्त्तव्य है कि दुष्ट मनोविकारों को अपने विचार क्षेत्र में प्रवेश न करने दें और अपने गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता को, सदाचरण को सर्वथा अक्षुण्ण बनाये रखें ।

इन दिनों शिखा संरक्षण की ओर से जो उपेक्षा बरती जा रही है उसे दूर किया जाना चाहिए अन्यथा यह प्रतीक परित्याग धीरे-धीरे धर्म और संस्कृति के परित्याग में विकसित होने लगेगा । आवश्यक यह है कि शिखा संरक्षण को एक धर्म अभियान का रूप दिया जाये और सजगता पूर्वक यह प्रयत्न किया जाये कि किसी भी भारतीय धर्मानुयायी का मस्तिष्क बिना शिखा के न रहने पावे । भगवती गायत्री रूपी विवेकशीलता की धर्मध्वजा हमारे हर सिर पर फहराती हुई ही दिखाई देनी चाहिए और हर कन्धे पर यज्ञोपवीत को धारण किए रहना चाहिए । यज्ञोपवीत की महत्ता दूसरी विज्ञप्ति में बताई जायेगी ।

अपने गायत्री यज्ञ आयोजनों में एक महत्त्वपूर्ण कृत्य शिखा संस्थापन का भी होना चाहिए । छोटे बच्चे जिनका मुण्डन नहीं हुआ है, उनका मुण्डन कराके आरम्भिक शिखा रखाई जाये । जो बड़ी आयु के हैं और जिनने शिखा रखाना छोड़ दिया है और मुण्डन नहीं कराना चाहते उनके लिए ऐसा भी हो सकता है कि अन्य बाल छँटवाकर शिखा स्थान के थोड़े बाल कटवा लिए जायें और हर बार बालों की छँटाई होने पर शिखा को बचाया जाता रहे । इस प्रकार कुछ समय में उनकी भी शिखा हो जायेगी । यह शिखा संस्कार बालक और वयोवृद्ध सभी का नये सिरे से होना चाहिए । गायत्री यज्ञों के अवसर पर इस प्रतिष्ठापना को सामूहिक रूप से निर्धारित धर्म संस्कार के साथ किया

जाने लगे तो उसका प्रभाव और भी अधिक पड़ेगा । सर्व-साधारण को चोटी के महत्त्व का पता चलेगा और जो लोग नहीं रखते हैं उनमें भी इसके लिए आवश्यक उत्साह उत्पन्न होगा । भारतीय संस्कृति को सुदृढ़ बनाने के लिए यह एक छोटा आन्दोलन दीखने पर भी अन्ततः बड़ा उपयोगी और महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा । इसके सांस्कृतिक निष्ठा की दृष्टि से दूरगामी परिणाम होंगे ।

शिखा रखते समय हर व्यक्ति को इसके मूल प्रयोजन का ध्यान रखना चाहिए । मस्तिष्क में उन्हीं विचारणाओं, मान्यताओं और आकांक्षाओं को स्थान मिले जो विवेकशीलता, नैतिकता, मानवता, सामाजिकता की कसौटी पर खरे उतरते हों । दुर्बुद्धि, दुर्भावना और दुष्टता की जो दुष्प्रवृत्तियाँ चारों ओर फैली हैं उनका उन्मूलन करने के लिए हमें शिखा रूपी धर्मध्वजा फहराते हुए एक ऐसा भावनात्मक महाभारत खड़ा करना चाहिए, जिसमें अनौचित्य की कौरवी सेना को परास्त कर औचित्य अर्जुन के गले में विजय वैजयन्ती पहनाई जा सके ।

प्रश्न--

(१) शिखा तथा यज्ञोपवीत हमारी संस्कृति का प्रतीक हैं, सिद्ध कीजिए पुराने लोगों के आधार पर ? (२) प्राचीनकाल में शिखा का क्या महत्त्व था ?(३) आज कैसा व्यवहार हो रहा है, शिखा और यज्ञोपवीत कैसा था हमारे यहाँ ? (४) शिखा संरक्षण का वैज्ञानिक महत्व किस प्रकार है सिद्ध कीजिए ? (५) हमारे भारतीय तत्ववेत्ताओं ने इसकी उपयोगिता क्या बताई थी ?(६) शिखा बन्धन का उद्देश्य क्या है ? (७) शिखा रखवाने के लिए किस तरह का उपाय करना चाहिए ?

यज्ञोपवीत धारण-नीति और कर्त्तव्य अपनाने का व्रतबंध

भारतीय समाज के दो प्रधान चिन्ह हैं-(१) शिखा (२) यज्ञोपवीत । शिखा का प्रयोजन मस्तिष्क की गतिविधियों, विचारणा, आकांक्षा, आस्था एवं अभिरुचि पर विवेकशीलता का, आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता का नियन्त्रण स्थापित करना है । भगवती गायत्री माता की धर्मध्वजा सिर-दुर्ग पर फहराने का मतलब ही यह है कि इस किले पर देवत्व का शासन स्थापित हो गया, इस मस्तिष्क के भीतर दुष्टता एवं मूढ़ता का प्रवेश न हो सकेगा । यज्ञोपवीत का अर्थ है-इस शरीर में यज्ञीय जीवन जीने का फैसला किया है, अब कोई ऐसा क्रिया-कृत्य न किया जायेगा जो आत्मा के देवत्व को कलंकित कर सके । यज्ञीय जीवन अर्थात्-संयमी, सज्जनतापूर्व, उदात्त एवं लोकमंगल के लिए जिया जीने वाला जीवन । जिन्दगी ऐसी ही रीति-नीति और गतिविधि अपनाने से बनती है । यज्ञोपवीत ऐसी ही रीति-नीति को अपनाने की प्रतिज्ञा लेकर जीने की घोषणा है । फौजी सिपाही की वेशभूषा में जैसे कुछ विशेष वस्त्र एवं उपकरण लगे रहते हैं, इसी प्रकार यज्ञीय-जीवन जीने की सेना में भर्ती होने वाले देव पक्षों का उपकरण प्रतीक चिन्ह यज्ञोपवीत ही है ।

भारतीय धर्मानुयायी अपने आपको 'द्विज' कहते हैं । द्विज अर्थात् दो बार जन्म लेने वाले । माता के पेट से तो शरीर मात्र पैदा होता है । यह अवतरण मनुष्य और पशु का एक रहा है । दुबारा जन्म-आदर्शों के लिए जीने की प्रतिज्ञाओं से सम्पन्न होने के साथ आरम्भ होता है । यज्ञोपवीत धारण द्विजत्व की प्रतिज्ञा-घोषणा एवं आस्था है । जनेऊ पहनने के साथ ही द्विजत्व देव जन्म आरम्भ होता है । भारतीय संस्कृति की यह महान परम्परा मनुष्य को दैवी आदर्शों के अनुरूप जीने की प्रेरणा देती है ।

यज्ञोपवीत धारण की पुण्य प्रक्रिया को एक प्रचंड अभियान की तरह अग्रगामी किया जाना चाहिए । प्रत्येक भारतीय धर्मानुयायी को कहा जाना चाहिए कि वह अपनी संस्कृति के दोनों प्रतीक-शिखा और यज्ञोपवीत श्रद्धापूर्वक धारण करे । यह परम पवित्र प्रतीक उसे मानव जीवन के महान आदर्श एवं स्वरूप का स्मरण कराते रहेंगे और यह स्मृति उसे महामानव बनने की दिशा में आगे धकेलेगी, भले ही वह प्रगति तीव्र हो या मन्द ।

पिछले दिनों यज्ञोपवीत संस्कार बहुत महँगा, खर्चीला और आडम्बरपूर्ण हो चला था । लोग एक तो वैसे ही आदर्शवादिता अपनाने से कतराते हैं इस पर भी यदि उसके प्रतीक बहुत महँगे और झंझट के हो चलें तब तो उनकी ओर से मन हटना स्वाभाविक है । मुण्डन की शर्त ने नवयुवकों को उस धर्म-कृत्य से रुष्ट कर दिया । छोटे बच्चों की बात दूसरी है, अब बड़ी आयु के व्यक्ति माता-पिता की मृत्यु तक पर तो बाल कटाते नहीं जनेऊ धारण करने के लिए उन्हें कटाने को भला क्यों तैयार हों ? अभिभावक भी इस महँगाई और व्यस्तता के दिनों में उससे कतराने लगे और धीरे-धीरे अपनी संस्कृति के प्रधान चिन्ह उपनयन की उपेक्षा ही हो गई । विवाह के वक्त ही पण्डित लोग गले में धागा डाल देते हैं ।

इस स्थिति को बदलने का यही उपयुक्त तरीका है कि गायत्री यज्ञों के समय सामूहिक यज्ञोपवीत आन्दोलन भी हों और उनमें न सिर मुड़ाने की अनिवार्य शर्त रहे और न किसी प्रकार का खर्च उठाने की मजबूरी सामने आये । पण्डित लोग पूजा-पाठ का क्रिया-कृत्य तो बहुत करते थे पर यह नहीं बताते थे कि इस प्रक्रिया का तात्पर्य एवं प्रयोजन क्या है ? सामूहिक आयोजनों में व्याख्या-विवेचन द्वारा यज्ञोपवीत की उपयोगिता भी सर्व-साधारण को समझाई जा सकती है जिससे न केवल धारण करने वाले वरन् उपस्थित सभी लोग अपनी धर्म-परम्परा के इन दोनों प्रतीकों से परिचित हो सकते हैं और इस माध्यम से भारतीय संस्कृति के तत्व-ज्ञान के व्यापक बनने में बड़ी सुविधा हो सकती है ।

यज्ञोपवीत के ९ धागे नौ सद्गुणों के प्रतीक हैं । इन गुणों को थोड़े विस्तार के साथ इस प्रकार समझा जा सकता है-(१) हृदय में प्रेम (२) वाणी में माधुर्य

(३) व्यवहार में सरलता (४) नारी मात्र के प्रति पवित्र भावना, (५) कर्म में कला और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति(६) सबके प्रति उदारता और सेवा-भावना (७) शिष्टाचार और अनुशासन (८) स्वाध्याय एवं सत्संग (९) स्वच्छता, व्यवस्था और निरालस्यता । ये सद्गुण मानव जीवन की सच्ची शोभा और विभूति हैं । यज्ञोपवीत धारण करने वालों की आस्था इस बात पर जमाई जानी चाहिए कि वे इन सद्गुणों को अपने में बढ़ाते चलने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहें ।

यज्ञोपवीत गायत्री माता का स्वरूप और यज्ञ भगवान का प्रतीक है । गायत्री मन्त्र के ९ शब्द,यज्ञोपवीत के ९ धागे, ३ गाँठें, तीन व्याहृतियाँ-और बड़ी ग्रन्थि 'ॐ' की प्रतीक हैं । गायत्री रूपी परमात्मा को कन्धे पर हृदय पर, कलेजे पर, पीठ पर धारण करने वाले प्रत्येक जनेऊधारी को यह विश्वास करना चाहिए कि वह चारों ओर से भगवान द्वारा घिरा बँधा है । इसलिए उसे ऐसा उत्कृष्ट जीवन जीना चाहिए जो भगवान की इच्छा, प्रसन्नता एवं रचना के अनुरूप हो । यज्ञोपवीत गले में बँधा हुआ एक धर्म रस्सा है जो प्रकट करता है कि व्यक्ति को नीति, धर्म, सदाचार और कर्त्तव्यों के बन्धनों में स्वेच्छापूर्वक बँधे रहकर मानवीय मर्यादाओं के अन्तर्गत ही जीवनयापन करना चाहिए । उच्छृंखलता किसी भी स्थिति में नहीं बरतनी चाहिए ।

मन को-विचारों को पवित्र रखने की प्रेरणा शिखा में है और शरीर के, कर्म के पवित्र रखने की निष्ठा यज्ञोपवीत उत्पन्न करता है । इस प्रकार इन दोनों प्रतीकों द्वारा मानसिक और शारीरिक-वैचारिक और कार्यात्मक-उत्कृष्टता उत्पन्न करने, सुरक्षित रखने और बढ़ाने का तत्व ज्ञान शिखा सूत्र के पुण्य प्रतीकों में सन्निहित है । इन सन्देशों को हृदयंगम करने वाला व्यक्ति निस्सन्देह नर से नारायण-पुरुष से पुरुषोत्तम लघु से महान और आत्मा से परमात्मा बन सकता है ।

उपनयन धारण करने की गुरु दक्षिणा के स्वरूप अपने वर्तमान शारीरिक, मानसिक, सामाजिक दोष, दुर्गुणों में से कुछ को प्रतिज्ञापूर्वक परित्याग करके संस्कार की दक्षिणा देनी चाहिए । माँसाहार, नशेबाजी, व्यभिचार, जुआ, बेईमानी, विश्वासघात, आलस्य, क्रोध, अविवेक, नास्तिकता, जाति और लिंग के आधार पर ऊँच-नीच का भेद-भाव, विवाहोन्माद, मृतक भोज, कृपणता आदि दोष-दुर्गुणों में से कोई न कोई अपने में जरूर होगा । जो हो उसे त्यागने की प्रतिज्ञा इस शुभ संस्कार के पुण्य अवसर पर करनी चाहिए और यह सिद्ध करना चाहिए कि शिखा-सूत्र धारण करने का पुण्य-प्रयोजन उसी दिन से आरम्भ कर दिया गया ।

गायत्री यज्ञों के अवसर पर एक-एक दिन, एक-एक आयोजन रखा जा सकता है । एक दिन सामूहिक शिखा संस्थापना अर्थात् विचार क्रान्ति सम्मेलन, एक दिन सामूहिक यज्ञोपवीत धारण अर्थात् नैतिक क्रान्ति सम्मेलन, एक दिन सामूहिक विवाह संस्कार अर्थात् सामाजिक क्रान्ति सम्मेलन । तीन-तीन दिन के गायत्री यज्ञ आयोजनों के साथ अगर यह तीन विशेष सम्मेलन रखे जा सकें, उनकी ठीक प्रकार व्याख्या, विवेचना की जा सके और कर्मकाण्डों का आकर्षक स्वरूप बताया जा सके तो निस्सन्देह युग-निर्माण योजना के उद्देश्यों की पूर्ति में बड़ी सहायता मिल सकती है और अपने यह धर्म आयोजन अपनी उपयोगिता में चार चाँद लगा सकते हैं ।

प्रश्न–

(१)शिखा का प्रयोजन क्या है ? (२) यज्ञोपवीत धारण करने का क्या तात्पर्य है ? (३) यज्ञोपवीत धारण द्विजत्व की प्रतिज्ञा किस प्रकार है ? (४) यज्ञोपवीत संस्कार न कराने का कारण क्या है ? (५) यज्ञोपवीत संस्कार को उसके स्थान पर पुनः प्रतिष्ठापित करने के लिए हमें क्या करना चाहिए ? (६) यज्ञोपवीत के ९ धागे किन-किन सद्गुणों के प्रतीक हैं ? (७) यज्ञोपवीत गायत्री माता का स्वरूप क्यों माना जाता है तथा इसका तात्पर्य क्या है ? (८) नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम, लघु से महान और आत्मा से परमात्मा किस तरह बना जा सकता है ? (९) उपनयन संस्कार करवाने की दक्षिणा के स्वरूप हमें क्या देना चाहिए ? (१०) युग-निर्माण योजना के उद्देश्यों की पूर्ति में बड़ी सहायता किस प्रकार मिल सकती है ?

ज्ञान यज्ञ का प्रकाश घर-घर पहुँचाया जाये

कहना न होगा कि मनुष्य की महानता और निकृष्टता उसकी मनःस्थिति पर निर्भर है । जिसके विचार ओछे, स्वार्थी और संकीर्ण हैं, उसकी गतिविधियाँ घृणित स्तर की होंगी । फलस्वरूप उसका स्तर नर-पशुओं एवं नर-पिशाचों जैसा बन जायेगा । इसके विपरीत जिसके विचार ऊँचे, उत्कृष्ट, उदात्त हैं । सद्भावना और सज्जनता के आदर्श जिस मस्तिष्क में जम गए हैं, उसके समस्त क्रिया-कलाप में शालीनता एवं महानता की ही झाँकी मिलेगी । उसका हर काम ऐसा होगा जिससे दूसरों को सुख मिले । वह स्वयं उस कर्त्तव्य से संतुष्ट रह सके । ऐसे व्यक्ति आजीवन अपने लिए आनन्द उत्पन्न करते और दूसरों के लिए उल्लास बिखेरते ही देखे जाते हैं ।

विचारों की शक्ति अपरिमित है । यों भी कहा जा सकता है कि आदमी के कलेवर में जो कुछ विभूतियाँ एवं विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं वे उसकी विचारणा का ही परिणाम या परिपाक हैं । जिसके पास आदर्शवादी विचारों का अभाव होगा वह सुविधा-साधनों से लदा रहने पर भी जानवर जैसा जीवन जियेगा, कीड़े-मकोड़े जैसी गतिविधियाँ अपनावेगा और साँप-बिच्छुओं जैसा विक्षोभ उत्पन्न करेगा । प्रगति या अवनति का आधार भी व्यक्ति के विचार ही हैं । विचार ही प्रौढ़ एवं परिपक्व होकर गुण,

कर्म, स्वभाव तथा संस्कार के रूप में परिणत होते हैं । ये ही संस्कार कहलाते हैं और चरित्र के रूप में परिलक्षित होते हैं । मनुष्य जैसा भी कुछ हो वस्तुत: अपने विचारों की प्रतिक्रिया या प्रतिध्वनि मात्र है । जीवन का प्रेरणा स्रोत तलाश किया जाये तो वह व्यक्ति के विचार प्रवाह में ही सन्निहित मिलेगा ।

व्यक्ति का उत्कर्ष करना हो अथवा समाज का उत्थान दोनों ही प्रयोजनों लिए प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि आदर्शवादी, उत्कृष्ट एवं विवेकसम्मत परिष्कृत विचारणा को जनमानस में प्रतिष्ठापित किया जाये । इसके बिना गाड़ी एक कदम भी आगे बढ़ने वाली नहीं है । कार्यक्रम चाहे एक से एक अच्छे प्रस्तुत किये जायें, योजनाएँ चाहे कितनी ही उत्तम क्यों न बनाई जायें-ओछे मस्तिष्क और ओछे व्यक्तियों के हाथों में पहुँचते-पहुँचते उसका सारा गुड़गोबर हो जायेगा । इन दिनों प्रगति की विविध-विध चेष्टाएँ की जा रही हैं । पर उनमें से एक भी फलवती न हो सकी कारण स्पष्ट है-ओछे विचारों वाले व्यक्ति सब कुछ अपने ही ढंग से सोचेंगे और वैसे ही करेंगे । फलस्वरूप बालू में से तेल निकालने की तरह परिणाम शून्य ही हाथ लगेगा । अविवेकी और निकृष्ट आधार पर सोचने वाले मनुष्य संसार में कभी कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने में समर्थ नहीं हुए ।

अस्तु,आवश्यकता इस बात की है अपने दुर्बल राष्ट्र को समर्थ और सुसम्पन्न बनाने के लिए जन-साधारण की मनोभूमि में विवेकशीलता और आदर्शवादिता की फसल बोई तथा उगाई जाये तो आशा भरी उमंग उत्पन्न करने वाली हरीतिमा उत्पन्न होगी । हजार वर्ष की गुलामी से ग्रसित रहने के कारण हमारे विचार हर दिशा में बहुत ही पिछड़े हुए हैं । सभ्य देशों में सर्वत्र पाई जाने वाली नागरिक कर्तव्यनिष्ठा की अभी अपने यहाँ शुरूआत भी नहीं हुई है । रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों के कारण जो अपार क्षति उठानी पड़ रही है उसकी ओर किसी का ध्यान भी नहीं गया है । वैयक्तिक सद्‌गुण किस प्रकार किसी आदमी को सुखी, समुन्नत एवं समर्थ बनाते हैं इसकी चर्चा भी सुनने में नहीं आती । सामाजिकता एवं सामूहिकता के प्रति निष्ठा उत्पन्न किए बिना कोई राष्ट्र बलवान नहीं बन सकता है, इस तथ्य को हममें से कितने लोग अनुभव करते हैं । विचारों का यह पिछड़ापन ही हमारी अवनति के लिए जिम्मेदार है । उसी ने हमें हजार वर्ष तक गुलाम रखा और उसी अवरोध ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इतनी लम्बी अवधि बीत जाने पर भी हमारी प्रगति में पग-पग पर अवरोध उत्पन्न किया है ।

हमें वास्तविकता समझनी चाहिए और जन-मानस में विवेकशीलता एवं उत्कृष्ट आदर्शवादिता का बीजारोपण करने के लिए प्रबल प्रयत्न करने की आवश्यकता अनुभव करनी चाहिए । राजनैतिक क्रान्ति के बाद अब सबसे बड़ी और सबसे पहली आवश्यकता विचार-क्रान्ति की है । उसके बिना प्रगति के सारे प्रयत्न दिवा-स्वप्न मात्र बनकर रह जायेंगे ।

उस प्रयोजन की पूर्ति के लिए युग-निर्माण योजना ने एक अति सुव्यवस्थित कार्य-पद्धति अपनाकर 'ज्ञान-यज्ञ' के नाम से विचार-क्रान्ति का अभिनव आन्दोलन आरम्भ किया है । यह समय की सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता थी जिसे पूरा करने को पिछले दिनों से सुसंगठित अभियान चला है और थोड़े ही समय में आशातीत सफलता प्राप्त की है । वैयक्तिक समस्याओं में से प्राय: प्रत्येक के ऊपर प्रकाश डालने वाला और सामाजिक राजनैतिक उलझनों का दूरदर्शितापूर्ण हल करने वाला जैसा प्रभावपूर्ण एवं सार्थक साहित्य इस प्रयास के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है । उसे इस युग की अनुपम घटना ही कहना चाहिए । अब तक इस प्रयत्न के अन्तर्गत लाखों नहीं करोड़ों व्यक्तियों का उत्कर्ष हुआ है और पाठकों की विचारणा कार्य-पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत किया गया है । संगठन की दो मासिक पत्रिकाएँ 'अखण्ड-ज्योति' और 'युग-निर्माण योजना' जादू जैसा काम कर रही हैं और लगता है कि अपना यह प्रयास जन-मानस के नव निर्माण की आवश्यकता को आश्चर्यजनक रीति से पूरा कर सकने में समर्थ होगा ।

आवश्यकता इस बात की है कि इस ज्ञान यज्ञ की पुण्य-प्रक्रिया को व्यापक बनाने में प्रत्येक प्रबुद्ध देशभक्त का समुचित सहयोग मिल सके । इस प्रेरणा-प्रवाह को जन-जन तक पहुँचाने के लिए आवश्यक है कि बीस पैसा और दो घण्टा समय रोज देने की उदारता बरती जाये और इस सेवा-भावना से अपने घर में एक युग-निर्माण पुस्तकालय चलाया जाये । बीस पैसा रोज निकालने से युग-निर्माण योजना द्वारा प्रकाशित पत्रिकाएँ, पुस्तिकाएँ, विज्ञप्तियाँ सभी उपलब्ध होती रह सकती हैं । इस साहित्य को अपने घर, परिवार, पड़ौस, सम्बन्ध तथा सम्पर्क क्षेत्र मे पढ़ाने या सुनाने का अभियान चलाने में एक घण्टा रोज का समय खर्च किया जा सकता है । यह साहित्य अशिक्षितों को सुनाने और शिक्षितों को पढ़ाने में यदि नियमित रूप से एक घण्टा लगाया जा सके तो उतने भर से वर्ष में एक व्यक्ति सैकड़ों लोगों को इस विचारधारा से परिचित एवं प्रभावित कर सकता है । अपने देश में बड़े पुस्तकालय हैं, पर कार्य नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि पहला कार्य लोक-रुचि जगाने का है । पढ़े-लिखे लोगों को भी मनोरंजक और उथला साहित्य पसन्द है इसलिए पुस्तकालयों में भी ऐसी ही घटिया चीज पढ़ी जाती हैं । प्रेरक साहित्य तो वहाँ भी सड़ता ही रहता है । इसलिए व्यक्ति और समाज के नव-निर्माण की प्रेरणा देने वाले साहित्य से विचारधारा में अभिरुचि पैदा करना पहला काम है । सो यह जन-जन से सम्पर्क स्थापित करके, उसे व्यक्तिगत रूप से प्रेरित एवं प्रभावित करने और युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत सुव्यवस्थित विचारणा उन तक पहुँचाने से ही वह प्रयोजन पूरा हो सकता है । झोला

पुस्तकालय इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए हैं । हर प्रबुद्ध देशभक्त का सहयोग इस प्रयोजन में मिलने लगे तो व्यक्ति और समाज के सम्पर्क की महती आवश्यकता हम लोग सहज ही पूरा कर सकते हैं और धरती पर स्वर्ग अवतरण के सपने को मूर्तिमान हुआ देख सकते हैं ।

प्रश्न—

(१) मनुष्य की महानता और निकृष्टता किस तरह उसकी मनः स्थिति पर आधारित है ? (२) विचार किस तरह मनुष्य के लिए उपयोगी हैं ? (३) इस समय जो प्रगति की विविध-विध चेष्टाएँ की जा रही हैं, वे सफल क्यों हो रही हैं ? (४) अब समाज की उन्नति के लिए किस तरह के प्रयत्न किये जायें ? (५) राजनैतिक क्रान्ति के बाद सबसे पहली आवश्यकता क्या है ? (६) युग-निर्माण योजना द्वारा संचालित 'ज्ञान-यज्ञ' की कार्य पद्धति को समझाइये ? (७) इस ज्ञान यज्ञ की प्रक्रिया को व्यापक बनाने के लिए क्या और किस तरह का सहयोग आवश्यक है ? (८) झोला- पुस्तकालय किस प्रयोजन की पूर्ति के लिए है ?

ज्ञान-यज्ञ नव निर्माण का महानतम अभियान

आज व्यक्ति को अनेक व्यथा-वेदनाओं में डूबा हुआ और समाज को अनेक समस्याओं में उलझा हुआ पाते हैं । सर्वत्र अशान्ति, आशंका और असंतोष का जो वातावरण देखते हैं उसके पीछे एक ही कारण है—मानवीय दुर्बुद्धि का बढ़ जाना और उसका दुष्प्रवृत्तियों की ओर मुड़ जाना । यदि यह प्रवाह रोका जा सके लोगों को उच्च आदर्शवादिता की रीति-नीति समझाने के लिए तैयार किया जा सके, तो परिस्थितियाँ बिलकुल उलट सकती हैं । जो क्षमता आज विघटनात्मक, अनीतिमूलक क्रिया-कलापों में लगी है वह यदि उलटकर सृजनात्मक और सद्भाव संवर्द्धन में लग जाये जो देखते-देखते जादू की तरह सारी परिस्थितियों का काया-कल्प हो सकता है । वर्तमान नारकीय वातावरण देखते-देखते स्वर्गीय सुषमा में बदल सकता है ।

धन सम्पदा और साधन सुविधाएँ बढ़ाकर मानवीय सुख-शान्ति के प्रयत्नों में दूसरे लोग लगे हुए हैं, वह सराहनीय हैं । पर हमें सोचना यह है कि दुर्बुद्धि का वर्तमान क्रम यदि इस तरह चलता रहा तो कुबेर की तरह सम्पत्ति और इन्द्र की तरह साधन बढ़ जाने पर भी दुर्बुद्धि के रहते विपत्तियाँ ही बढ़ेंगी । सद्बुद्धि ही अभावग्रस्त जीवन को भी सुख-शान्ति से भरपूर रख सकती है । चूँकि इस अति महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर दूसरों का ध्यान नहीं है अतः उसे अपने हाथ में लेना चाहिए और दुर्बुद्धि के उन्मूलन एवं संस्थापन में प्राणपण से जुटा जाना चाहिए । यह प्रयास आँखों से दिखाई न पड़ने के कारण सस्ती वाहवाही भले ही न दिला सके पर अपनी उपयोगिता के कारण उसका महत्त्व इतना बड़ा है कि उसके ऊपर पुण्य-परमार्थ कहे जाने वाले समस्त कार्यों को निछावर करके फेंका जा सकता है ।

युग-निर्माण योजना का 'ज्ञान-यज्ञ अभियान' इतिहास में उपलब्ध अब तक के सबसे महान सृजनात्मक कार्यों में से एक है । इसकी कार्यपद्धति यह है कि घर-घर, जन-जन से सम्पर्क स्थापित कर व्यक्ति और समाज के सामने प्रस्तुत अगणित समस्याओं का स्वस्थ और सही समाधान समझाया जाये । हजार वर्ष की गुलामी के बाद भारतीय जनता की विचार-पद्धति में बड़ी विकृति आई है और उसमें से अधिकांश मान्यताएँ निरर्थक ही नहीं अनर्थमूलक भी बन गई हैं । पर लोग उन्हें परम्परा मान के छाती से चिपकाएँ बैठे हैं और तरह-तरह के कष्ट सहते हैं । ज्ञान-यज्ञ का प्रयोजन व्यक्ति की विवेकशीलता को जाग्रत करना है जो उचित-अनुचित का भेद समझ सके और जो अवांछनीय है उसे हटाने तथा औचित्य को स्वीकार करने का साहस जगा सके ।

औचित्य, न्याय और विवेक से सम्पुटित एक प्रगतिशील विचारधारा का सृजन युग-निर्माण योजना द्वारा किया गया है । अत्यन्त प्रखर प्रकाश से परिपूर्ण व्यक्ति और समाज की हर समस्या का महत्त्वपूर्ण हल प्रस्तुत करने वाला अत्यन्त सस्ता साहित्य प्रचुर मात्रा में प्रकाशित किया जाता है । ज्ञान-यज्ञ का एक भाग यह सृजन है जिसे केन्द्र द्वारा देश की हर भाषा में प्रचुर परिमाण में लिखा और छापा जा रहा है । दूसरा भाग उसका प्रसार है । भावनात्मक नव-निर्माण का महत्त्व समझने वाले हर विचारशील व्यक्ति को इसके लिए आमन्त्रित किया गया है । प्रसन्नता की बात है कि ऐसे परमार्थ प्रेमियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जा रही है और वे अपने समय तथा साधनों का एक अंश नियमित रूप से लगाने लगे हैं कि घर-घर जाकर जन-जन से सम्पर्क स्थापित करें और उनकी मनोभूमि तथा आवश्यकता को देखते हुए नव-निर्माण का वह सृजनात्मक साहित्य पढ़ने को दें, जो छोटे-छोटे ट्रैक्टों, विज्ञप्तियों एवं अखण्ड-ज्योति, युग-निर्माण पत्रिकाओं के रूप में उपलब्ध हैं, जो पढ़े नहीं हैं उन्हें सुनाने का कार्य करना होता है । चूँकि देश में ७० प्रतिशत लोग अशिक्षित हैं । इसलिए सुनाना भी इस देश में पढ़ने से भी अधिक आवश्यक है ।

ज्ञान-यज्ञ के होता, उद्गाता वे लोग हैं जिनने जन-मानस में विचार परिष्कार के सर्वोपरि परमार्थ का महत्त्व समझ लिया है और उसके लिए कुछ अनुदान नियमित रूप से देते रहने का व्रत धारण कर लिया है । ऐसा अनुदान न्यूनतम एक घण्टा समय और बीस पैसा नित्य का होना चाहिए । बीस पैसा देने में नियमितता बनी रहे और उसे एक दैनिक अनिवार्य नित्य-कर्म की तरह स्मरण रखा जा सके इसके लिए ज्ञान-यज्ञ के धर्मघट (गुल्लकें) पैसे जमा करने के लिए बना दी गई हैं । इन्हें पूजा की वेदी पर स्थापित करना होता है और बीस पैसे नित्य उसमें डालने

पड़ते हैं । ताला कुंजी उसमें रहने से महीने पर जब आवश्यकता पड़े तभी उसे खोला जा सकता है । इस पैसे से वह सारा साहित्य मँगाया जाता रहता है जो विचार क्रान्ति और समाज क्रान्ति के लिए युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत केन्द्र से निरन्तर प्रस्तुत किया जाता रहता है । इस प्रकार एक घरेलू पुस्तकालय बनता चला जाता है जिसे हर घर की एक सच्ची सम्पत्ति कहनी चाहिए ।

दो एक घण्टा समय का अनुदान इसलिए है कि बीस पैसा रोज देकर जो साहित्य उपलब्ध किया गया है उसे अपने घर के परिवार के हर सदस्य को नित्य थोड़ा-थोड़ा कर पढ़ाया-सुनाया जाया करे तथा पड़ौसी, मित्र, परिचित , सम्बन्धी जो भी अपने प्रभाव तथा परिचय क्षेत्र में आता है, उन्हें इस साहित्य से परिचित कराने, महत्त्व, माहात्म्य समझाने, रुचि उत्पन्न करने और पढ़ाने के लिए बार-बार सम्पर्क स्थापित किया जाता रहे । जिनमें थोड़ी-सी भी विचारशीलता है उनके साथ किया हुआ परिश्रम सफल भी होता है । जो लोग यह पढ़ने-सुनने में रुचि लेने लगते हैं उनमें से अधिकांश को इस प्रखर विचारधारा से प्रभावित होना पड़ता है और वे उस प्रकाश को जीवन में उतारने तथा अपने सम्पर्क क्षेत्र में फैलाने का साहस भी करते हैं । इस प्रकार भावनात्मक नव-निर्माण की, विचार क्रान्ति की यह पुण्य-प्रक्रिया दिन-दिन आगे बढ़ती जाती है ।

दो घण्टा समय और बीस पैसा नित्य ज्ञान-यज्ञ के लिए नियमित रूप से देने का व्रत लेने वाले भावनाशील लोगों को युग-निर्माण योजना का सदस्य माना जाता है और उन्हीं का संगठन इस प्रकार अभियान के अतिरिक्त शतसूत्री रचनात्मक एवं संघर्षात्मक कार्यक्रमों को हाथ में लेकर भावनात्मक नव-निर्माण के पुण्य-प्रयोजन को आगे बढ़ाता है । हर सदस्य को कम से कम दस व्यक्तियों तक इस विचारधारा के प्रसार का प्रयत्न करना पड़ता है इसलिए कि दस हजार कर्मठ सदस्य एक लाख को निरन्तर प्रभावित, प्रोत्साहित करते रह सकते हैं । यह प्रक्रिया चक्रवृद्धि ब्याज के क्रम से बढ़ती हुई चार-पाँच छलाँगों में भारत को ही नहीं, सारे विश्व को अपने प्रभाव क्षेत्र में ले सकती है, ले भी रही है ।

झोला पुस्तकालय ज्ञान-यज्ञ का महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम है । जहाँ कहीं भी जाया जाये एक झोले में युग-निर्माण के ट्रैक्ट, पत्रिकाएँ, विज्ञप्तियाँ लेकर जाया जाये और जहाँ उपयुक्त अवसर जान पड़े वहीं अपने मिशन की चर्चा छेड़ दी जाये । जितना परिचय साहित्य के माध्यम से कराया जा सकता हो कराया जाये । लोगों के घरों पर जाकर पुस्तकें देना और फिर जाकर वापस लाना ऐसा क्रम है, जिससे किसी को भी प्रभावित और आकर्षित किया जा सकता है । झोला-पुस्तकालय अपने नगर में सारे शिक्षित समाज को इस विचारधारा परिचित और प्रभावित कर सकता है । इतना ही नहीं वे रेल, मोटर के सफर प्रवास, या जहाँ भी जाया जाये साथ रह सकता है और इन चिनगारियों को कहीं भी बिखेरता रह सकता है । वे अवसर पाकर कहीं भी अनीति एवं अविवेक का उन्मूलन करने में प्रचंड दावानल की भूमिका सम्पादित कर सकती हैं । जहाँ संभव हो चल पुस्तकालय ढकेल गाड़ी के रूप में चलाया जा सकता है । उसके द्वारा लोगों के पढ़ने की यह चीजें दी जाती रहें और जिन्हें पसन्द आयें उन्हें बेची भी जा सकती हैं । इस तरह उस कार्य में लगे व्यक्ति को थोड़ी आजीविका भी मिल सकती है और वह इस अति उपयोगी कार्य में लगा भी रह सकता है । सेवाभावी लोग अवैतनिक रूप में भी यह चल पुस्तकालय चलाने में अपना योगदान दे सकते हैं ।

ज्ञान-यज्ञ देखने-सुनने में छोटी बात-लगती है, पर उसकी संभावनाएँ इतनी विशाल हैं कि यदि ठीक तरह से अभियान को चलाया जा सका तो विश्वास है कि लोक-मानस में विवेकशीलता और सत्प्रवृत्तियों की गहरी स्थापना संभव हो सकेगी और नये युग के अवतरण का स्वप्न साकार किया जा सकेगा ।

प्रश्न--

(१) युग की अशान्ति, आशंका एवं असन्तोष का मूल कारण क्या है ? (२) वर्तमान नारकीय वातावरण को स्वर्गीय सुषमा में कैसे बदला जा सकता है ?(३) मानवीय सुख-शान्ति बढ़ाने के लिए आजकल क्या किया जाता है, वास्तव में क्या किया जाना चाहिए ? (४) सद्बुद्धि के संस्थापन हेतु क्या किया जाना चाहिए ? (५) 'ज्ञान-यज्ञ' अभियान से क्या समझते हो ? इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कार्य-पद्धति पर प्रकाश डालें । (६) ज्ञान-यज्ञ का प्रयोजन समझाये ? (७) युग-निर्माण योजना द्वारा किस प्रकार के विचार प्रसारित किए जाते हैं ? (८) ज्ञान-यज्ञ के होता, उद्गाता कैसे लोग हैं ? (९) हर घर की सच्ची सम्पति क्या है ? (१०) झोला पुस्तकालय के महत्त्व पर प्रकाश डालिए ।

व्यक्ति और समाज का समग्र निर्माण कर सकने वाली शिक्षा-पद्धति

शिक्षा का उद्देश्य मात्र काम-चलाऊ व्यवहार, गणित आदि सीखना एवं रोटी कमाने की क्षमता उत्पन्न करना भर नहीं है वरन् उससे बहुत ऊँचा और गहरा है । व्यक्तित्व का निर्माण, प्रतिभाओं का विकास एवं समाज को ऊँचा उठा सकने की क्षमताओं का परिष्कार, शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य यह तीन हैं । ऐसी समग्र शिक्षा की व्यवस्था बनाकर ही व्यक्ति और समाज को प्रशिक्षण का समुचित लाभ होता है ।

प्राचीनकाल में शिक्षा सूत्र बहुत ही उत्कृष्ट स्तर के मर्म: शास्त्र के निष्णात एवं व्यक्तित्व गढ़ सकने की क्षमता सम्पन्न व्यक्तियों के हाथ में थे । पाठशालाओं, गुरुकुलों,

आचार्य पीठों और विश्वविद्यालयों का संचालन ऐसे ही महामानव करते थे । फलस्वरूप यह भारतवर्ष देवभूमि कहलाता था । यहाँ के तेतीस कोटि निवासी, तेतीस कोटि देवताओं की तरह समस्त विश्व में प्रख्यात थे । यह शिक्षा पद्धति का ही चमत्कार था । आधुनिक काल में भी प्रगतिशील राष्ट्रों ने अपनी समर्थता, सुयोग्य नागरिकों द्वारा ही उपलब्ध की और उस उपलब्धि के लिए उन्होंने सोद्देश्य शिक्षा को ही प्रधान माध्यम बनाया । हिटलर ने विश्व विजय के स्वप्न देखे और उस प्रयोजन की पूर्ति के लिए सारे राष्ट्र को दो दशाब्दियों में ढाल दिया । जर्मन नागरिकों के मन में उत्साह और महत्त्वाकांक्षाएँ हिलोरें ले रही थीं और जब द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ तो आरम्भ में उनने जो शौर्य और कौशल दिखाया उससे सारी दुनिया काँपने लगी । पीछे मित्र राष्ट्रों की सम्मिलित शक्ति और व्यूह रचना के आगे हार माननी पड़ी यह दूसरी बात है, पर इससे उस निष्कर्ष में कोई अन्तर नहीं आता जिसके अनुसार किसी भी देश के नागरिकों को शिक्षा-पद्धति के आधार पर किसी भी स्तर का बनाया जा सकता है । आधुनिक चीन जैसा भी कुछ है, पिछले बीस वर्ष की शिक्षा प्रणाली के फलस्वरूप है । रूस की दृढ़ता उन नागरिकों पर अवलम्बित है जिनका मनोबल वहाँ की शिक्षा प्रणाली ने उभारा और सँभाला है । जापान, स्पेन, इजरायल, यूगोस्लेविया आदि थोड़े ही दिनों में बहुत ऊँचे बढ़ चले देशों की प्रगति का मूल कारण उन देशों की शिक्षा पद्धति में उन तत्वों का समावेश ही है, जो नागरिकों के चरित्रबल, मनोबल तथा ऊँचे दृष्टिकोण का परिष्कार कर सकने में समर्थ हैं । व्यक्तियों की प्रतिभा निखारने और समाज को समर्थता प्रदान करने में सोद्देश्य शिक्षा-पद्धति से बढ़कर और कोई माध्यम हो ही नहीं सकता ।

दुर्भाग्यवश अपने देश में इस ओर ध्यान नहीं दिया गया । स्कूल कालेज तो बहुत खुले पर उनके सामने कोई स्पष्ट लक्षण न होने के कारण उन बेकार और असन्तुष्ट शिक्षाविदों की संख्या बढ़ी जो अशिक्षित रहने की अपेक्षा प्रस्तुत सुशिक्षा को घाटे का सौदा अनुभव नहीं करते हैं । ईश्वर ही जाने हमारे राष्ट्र के कर्णधार इस देश की आवश्यकता के अनुसार कोई शिक्षण तन्त्र दे सकेंगे या नहीं । इसके लिए जिस मौलिक शिक्षण और साहसिक चिन्तन की आवश्यकता है, वह न हो तो पढ़ने-लिखने की लकीर भर पिटती रहेगी पर शिक्षा पर लगने वाले श्रम और धन का सदुपयोग न हो सकेगा ।

सरकार क्या करेगी, कब करेगी ? इसकी प्रतीक्षा में बैठे रहने और केवल आलोचना, शिकायत करने से कुछ काम चलने का नहीं है । हमें अपने स्वल्प साधनों से—जन स्तर पर वर्तमान शिक्षा में जो कमी है उसकी पूर्ति का प्रयत्न करना चाहिए । जन स्तर पर किये गये प्रयत्नों की शक्ति नगण्य नहीं है । बिना सरकारी सहायता के भी संसार में बड़े-बड़े आन्दोलन जन्मे, पनपे और सफल हुए हैं । आपका स्वराज्य आन्दोलन गैर सरकारी—जन स्तर पर चलाया गया था और उसने सरकार को झुकने-बदलने के लिए मजबूर कर दिया । इसके अतिरिक्त अगणित आन्दोलन समय-समय पर गैर-सरकारी स्तर पर जन्मे और सफल हुए हैं । हमें शिक्षा में जो कमी है उसे पूरा करने के लिए इसी प्रकार का अभियान जन-सहयोग से आरम्भ करना चाहिए ।

इसका छोटा-सा आरम्भ इन्हीं दिनों किया गया है । व्यक्ति, सरकार और समाज के नव-निर्माण का अत्यन्त प्रखर साहित्य युग-निर्माण के अन्तर्गत छप रहा है इसमें चुने हुए भागों को पाठ्यक्रम के रूप में निर्धारित किया गया है और सुकरात की प्रश्न-प्रणाली से शिक्षार्थियों के अन्तःकरण में गहराई तक उस विचारधारा को उतार देने का कार्यक्रम बनाया गया है । युग-निर्माण शाखाएँ, जगह-जगह ऐसी रात्रि पाठशालाएँ, प्रौढ़ पाठशालाएँ खोलेंगी जिनमें अशिक्षितों को साक्षर बनाने की भी व्यवस्था रहेगी पर साथ ही जिस भावनात्मक नव-निर्माण की देश के नागरिकों को नितान्त आवश्यक है, उसे शिक्षित-अशिक्षित सभी को अनिवार्य रूप से पढ़ाया जायेगा । इसके लिए संक्षिप्त पाठ्य-पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं । पढ़ाने की शैली अपनी वैसी ही होगी जैसी प्राचीनकाल में भारतीय ऋषियों की थी अथवा सुकरात, अरस्तु आदि सभी तत्वदर्शी प्रश्नोत्तर क्रम से पढ़ाया करते थे । इस पद्धति से पाठ्यक्रम छोटा भले ही सही पर उससे शिक्षार्थी सीखने, समझने और हृदयंगम करने में पूर्णतया सफल होता है । इस शिक्षण को सेवाभावी, अवैतनिक कार्यकर्त्ता जगह-जगह चलायेंगे । छह-छह महीने के पाठ्यक्रम रहेंगे । वर्ष में दो बार परीक्षाएँ हुआ करेंगी और उनमें उत्तीर्ण होने वाले छात्रों को अति आकर्षक प्रमाण-पत्र दीक्षान्त समारोह के साथ दिए जाया करेंगे । बसन्त पंचमी और गुरुपूर्णिमा यह दो युग-निर्माण सम्मेलन हर शाखा में सम्पन्न होंगे और उसी दिन से उपरोक्त पाठ्यक्रम का समापन तथा शुभारम्भ हुआ करेगा । यह बहुत ही सरल तथा आरम्भिक पाठ्य-क्रम है ।

जहाँ सुविधा होगी वहाँ पूरे समय के विद्यालय चलाये जायेंगे । उसका आधार गायत्री तपोभूमि में संचालित वर्तमान युग-निर्माण विद्यालय के आधार पर होगा । व्यक्ति, समाज-निर्माण की शिक्षा-पद्धति और उसे छात्रों को हृदयंगम कराने तथा व्यवस्था चलाने का सर्वांगपूर्ण शिक्षण यहाँ चलाया जाता है । यहाँ से निकले विद्यार्थी एक प्रकार से ट्रैन्ड अध्यापक सिद्ध होते हैं और अपने-अपने स्थानों पर रात्रि पाठशाला में तथा पूरे समय के विद्यालय चलाने में समर्थ

होते हैं । अभी तो किशोर छात्र आते हैं, जरूरत समझी गई तो प्रौढ़ों को भी इस प्रकार की तीन महीने की ट्रेनिंग लेने के लिए बुलाया जा सकेगा–ताकि वे अपने स्थानों पर पूरे समय के विद्यालय चला सकें ।

युग–निर्माण विद्यालय में ऐसे शिल्प भी सिखाये जाते हैं, जो सुशिक्षितों को भर पेट रोटी दे सकने में समर्थ हैं । जापान गृह–उद्योगों के बल पर ही इतना सम्पन्न और सुविकसित बना है । बिजली की शक्ति से चल सकने वाले और थोड़ी पूँजी से चल सकने वाले उद्योगों की अभिवृद्धि से ही अपने देश के शिक्षितों की बेकारी दूर होगी । लाखों छात्र जो हर साल पढ़कर निकलते हैं उन सबको नौकरी मिलना असम्भव है । कृषि के लिए भूमि वर्तमान किसानों के लिए ही अपर्याप्त है । ऐसी दशा में गृह उद्योग ही एकमात्र अवलम्बन रह जाते हैं जो बिजली से चलने के कारण अधिक शारीरिक श्रम खर्च न करावें, और उत्पादन भी कर सकें तथा आजीविका भी अधिक दे सकें ।

इन दिनों बिजली की मशीनों की मरम्मत, रेडियो ट्रांजिस्टर का निर्माण तथा सुधार, प्रेस उद्योग रबड़ की मुहरें, साबुन बनाना, सुगन्धित तेल, स्याहियाँ आदि का रासायनिक निर्माण आदि उद्योग सिखाये जाते हैं । अगले ही दिनों गोबर गैस, पेन्ट, मधुमक्खी पालन, बिस्कुट–डबल रोटी बनाना, घरेलू शाक उत्पादन, हेन्डपम्प का निर्माण, चीनी–मिट्टी के बर्तन, विविध प्रकार के फ्लैश पाखाने, रेशमी तथा सूती कपड़े, निवाड़, कम्बल, दरी आदि बुनना, नये उद्योग भी इसी वर्तमान प्रशिक्षण में सम्मिलित किए जायेंगे । यह शिल्प, शिक्षा सहित जीवन निर्माण करने की कला में सम्मिलित की जाने वाली हैं, इनमें से जहाँ जो उद्योग उपयुक्त हों वहाँ चलाया जा सकता है और पूरे समय के विद्यालय की व्यवस्था की जा सकती है ।

रात्रि पाठशालाओं तथा पूरे समय के विद्यालयों में अपनी शिक्षा प्रचार योजना आरम्भ हो रही है । उसके अगले कदम इतने व्यापक बढ़ेंगे कि गैर सरकारी स्तर पर जनसहयोग से हम नव–निर्माण की सर्वतोमुखी आवश्यकता प्रस्तुत शिक्षा–पद्धति द्वारा सम्पन्न कर सकेंगे । प्रारम्भ की रूपरेखा ऊपर है इसका विस्तार कितने बड़े परिमाण में होगा उसे अगला समय भली प्रकार सिद्ध कर देगा ।

प्रश्न–

(१) शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य कितने व कौन–कौन से हैं ? (२) प्राचीनकाल में भारत की शिक्षा प्रणाली कैसी थी ? (३) सिद्ध कीजिए कि प्रगति का मूल मन्त्र शिक्षा पद्धति है ? (४) वर्तमान शिक्षा प्रणाली के दोष बताइये ? (५) शिक्षा में परिवर्तन जन–सहयोग से कैसे संभव है ?(६) युग–निर्माण योजना की शिक्षा–पद्धति पर प्रकाश डालिए ? (७) युग निर्माण विद्यालय की कार्य–प्रणाली पर प्रकाश डालिए ? (८) छात्रों द्वारा सीखे जाने वाले गृह उद्योगों पर प्रकाश डालिए ? (९) जीवन निर्माण की कला से आप क्या समझते हैं ? (१०) रात्रि पाठशालाओं की आवश्यकता क्यों है ?

कला लोकरंजन ही नहीं, भावनाओं का परिष्कार भी करे

भावनाओं के विकास और परिष्कार में कला का अति महत्त्वपूर्ण उपयोग है । संगीत, गायन, वाद्य, अभिनय, नृत्य, चित्र, साहित्य आदि कला पक्ष भावनाओं को उभारने में बहुत सहायक होते हैं । इन दिनों इस पक्ष का दुरुपयोग भी बहुत हुआ है । कामुकता भड़काने और लम्पटता को प्रोत्साहित करने में आज के कलाकार, कलाप्रेमी और संचालक बुरी तरह जुटे हुए हैं । फलस्वरूप जन–मानस में आदर्शवादी उमंगें उठना बन्द हो गई हैं और लोगों के मन माँसल रूप–विन्यास–शृंगार, यौन आकर्षण की अधोगामी चेतनाओं को अपना आकांक्षा का केन्द्र बनाकर शारीरिक और मानसिक स्तर पर दिन–दिन अधिक पतनोन्मुख होते चले जा रहे हैं । कला का यह प्रत्यक्ष दुरुपयोग ही है । इसे सरस्वती माता को वैश्या के स्तर पर ला खड़ा करने जैसी दुष्टता ही कहा जायेगा ।

कला की शक्ति महान है, वह मानवीय अन्तःकरण को भाव–विभोर कर सकने और उसमें प्रस्तुत उच्च आस्थाओं एवं मान्यताओं को ऊर्ध्वगामी बना सकने में समर्थ है । प्राचीनकाल में कला का उपयोग लोक–मानस में उत्कृष्टता का संचार करने वाली कोमल भावनाओं को तरंगित करने के लिए ही किया जाता था । कला भक्ति–रस के इर्द–गिर्द घूमती थी । ईश्वर प्रेम, भगवान को आत्मसमर्पण की हिलोरें–उत्कृष्टता के पुंज परब्रह्म के साथ व्यक्ति की अन्तरात्मा को सद्भाव सम्पन्न बनाने के लिए अग्रसर करती थीं । आत्म–विज्ञान वेत्ता मनीषियों ने इसी प्रयोजन के लिए भक्ति रस का विशाल कलेवर खड़ा किया और उसके साथ कला के समस्त अंग–प्रत्यंगों को जोड़ा । मूर्तिकला, चित्रकला, कीर्तन, प्रभुस्तवन, वंदना, नृत्य, कथा, साहित्य आदि प्राचीनकाल के सारे कला प्रयास भक्तिरस का अभिवर्द्धन करने के लिए नियोजित थे । इससे अन्तःकरण गुदगुदाने की भावनात्मक अभिव्यंजना का आनन्द भी मिलता था और आस्थाएँ एवं मान्यताएँ ही ऊर्ध्वगामी बनती थीं । वास्तव में इस प्रकार के सोद्देश्य कला प्रयासों को ही सार्थक कहा जा सकता है ।

नारद से लेकर मीरा तक प्रायः सभी सन्तों ने स्वान्तः सुखाय एवं लोकमंगल के लिए कला का उपयोग किया । यही उचित भी है । कला को व्यभिचारिणी बनाकर उससे फूहड़ मनोरंजन और कुत्साओं को भड़काने का प्रयोजन पूरा किया जाये तो इससे मनुष्य के उठने में नहीं गिरने में ही सहायता मिलेगी । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए युग–निर्माण योजना का एक महत्त्वपूर्ण कदम कला को

परिष्कृत स्वरूप देने और उसके माध्यम से लोक-मानस की उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता की ओर उन्मुख करने के लिए उठाया जा रहा है।

कामुकता भड़काने वाले कुरुचिपूर्ण चित्रों से बाजार पटा पड़ा है और ये ही घरों मे लगे हैं। इनको हटाकर उनके स्थान पर इतिहास की आदर्शवादी घटनाओं के चित्र तथा आदर्श वाक्यों के रंगीन पोस्टर छापे गये हैं, जिन्हें घरों की सुसज्जा के लिए प्रयुक्त किया जा सके। पुस्तकों के रूप में चित्रावलियों की सीरीज आरम्भ की गई है। जो अवांछनीयता के विरुद्ध घृणा एवं सत्प्रवृत्तियों की ओर आस्था मोड़ने में योगदान दे सके। चित्र-प्रदर्शनियों की विशालकाय योजना है और इस प्रयोजन के लिए बड़े साइज के चित्रों का निर्माण करने का काम हाथ में लिया जा रहा है। प्रकाश चित्रों की व्यापक शृंखला चलाने के लिए स्लाइड प्रोजेक्टर प्रकाश यन्त्रों के माध्यम से प्रेरणाप्रद चित्रों को गाँव-गाँव गली-गली प्रदर्शित करने की योजना बनी है।

संगीत, नाट्य, अभिनय का प्रभाव सबसे अधिक है साँप जैसा दुष्ट जीव संगीत की लहरों पर लहराने लगता है, फिर मानवीय अन्तःकरण को उस माध्यम से लहरा देना और उस तरंगित हृदय को उत्कृष्टता की दिशा में मोड़ देना कुछ भी कठिन नहीं होना चाहिए। इस प्रयोजन के लिए प्रेरणाप्रद गीत लिखे और प्रकाशित किये गये हैं और उन्हें व्यापक बनाने के लिए शांतिकुंज, हरिद्वार में संगीत विद्यालय की स्थापना की गयी है, जिसमें सीमित तर्जों पर भावपूर्ण गीत गाये जा सकने और वाद्य यन्त्रों को बजाये जाने का अभ्यास सुगमतापूर्वक स्वल्पकाल में किया जा सके। इन गीतों और ध्वनियों को लोकप्रिय बनाने के लिए ऑडियो कैसेट बनाने का काम हाथ में लिया गया है। टेपरिकॉर्डरों के माध्यम से इन्हें स्वल्प काल में देशव्यापी बनाने और जन-जन को गुनगुनाने की स्थिति तक उस जिसके अन्तर्गत ऊँचे कवि भले ही स्वयं अपनी कविता पाठ करने न आयें पर उनकी प्रेरक भावनाओं को बहुत ही आकर्षक ढंग से सुनाकर जनता को प्रेरणाप्रद मनोरंजक का लाभ दिया जाये। जगह-जगह संगीत सम्मेलन भी इसी प्रयोजन के लिए होते रहेंगे।

संगीत, नृत्य, अभिनय और नाट्य का इस युग में यन्त्रीकरण सिनेमा के रूप में हुआ है। विज्ञान ने कला के इस पक्ष को सस्ता और सर्वसुलभ बनाया है। शहरों और कस्बों में नित्य नये सिनेमा घर खुलते जा रहे हैं और लाखो दर्शक उन्हें रोज देखते हैं पर खेद इस बात का है कि अपने देश में अति महत्त्वपूर्ण कलामंच का उपयोग जनता की पशु प्रवृत्तियों के भड़काने में किया जा रहा है। अधिकांश फिल्में कामुकता भड़काने वाली तथा उच्छृंखलता सिखाने वाली ही बनती हैं। यदि फिल्म उद्योग का उद्देश्य लोकशिक्षण रहा होता तो हजार वर्ष की गुलामी से उठे इस देश के पिछड़े लोकमानस को परिष्कृत करने के लिए फिल्म उद्योग अति महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादित कर सकता था पर जिनने पशु-प्रवृत्तियों के उभारने के सस्ते तरीके अपनाकर अपनी जेबें भर लेने की ठान-ठानी हो, उनसे कोई क्या कहे और कहने का क्या परिणाम निकले ?

एक उपाय यह था कि आदर्शवादी फिल्म उद्योग का गठन किया जाये। लोक-शिक्षण का प्रयोजन पूरा करने वाली फिल्म बनें तो उनको विचारशील जनता जरूर पसन्द करेगी और वे अवश्य सफल होंगे। पर यह उद्योग बहुत महँगा हो गया है, उसमें लगाने के लिए बड़ी पूँजी की जरूरत है। आशा तो है कि सन्मार्गगामी प्रतिभाएँ और मानवता के काम आने वाली पूँजी इस प्रयोजन के लिए आगे आयेगी और अगले दिनों आदर्शवादी फिल्म उद्योग स्थापित होकर वर्तमान कूड़े-कबाड़े को पीछे धकेल देने में समर्थ होगा। पर अभी युग-निर्माण योजना जिन स्वल्प साधनों से चल रही है उसे ध्यान में रखते हुए सुलभ नाट्य मंच को विकसित करने का काम हाथ में लिया गया है। रासलीला, रामलीला, नौटंकी, स्वाँग आदि भी जिन्दा हैं। और देहातों कस्बों ही नहीं शहरों में भी उनकी आवभगत की जाती है। इन्हें आधुनिक साधनों से सुरुचिपूर्ण करके अधिक कलापूर्ण बनाकर ऐसे नाट्य दल खड़े किये जा सकते हैं, जो लोक-रंजन के साथ-साथ नैतिक क्रान्ति, बौद्धिक क्रान्ति और सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता को पूरा कर सकें और मानवता के विकास एवं परिवर्तन की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सकें। सिनेमा के वर्तमान स्वरूप को हटाना और इसके स्थान पर आदर्शवादी फिल्में प्रस्तुत करना इस समय अपने लिए संभव नहीं पर उपरोक्त नाट्यमंच को स्वल्प पूँजी में विकसित करके और उसके प्रसार का क्षेत्र व्यापक बनाकर लोकरंजन को नई दिशा देने में अभी भी अपनी वर्तमान क्षमता से बहुत कुछ किया जा सकता है। सो वही किया भी जा रहा है। युग-निर्माण योजना का कला-मंच इन दिनों इसी प्रकार का सृजनात्मक प्रयत्नों द्वारा अति उत्साह के साथ चल रहा है।

ऊपर की पंक्तियों में युग-निर्माण योजना द्वारा आरम्भ किये गये कलाकारिता के थोड़े-से सत्प्रयत्नों की संक्षिप्त सी चर्चा है यह इसलिए की गई है कि इस क्षेत्र का महत्त्व समझने वाले और अभिरुचि रखने वाले लोग दिशा प्राप्त करें और अपने-अपने साधनों से कला को मानव जाति के भावनात्मक उत्कर्ष के लिए नियोजित करने का साहसपूर्ण कदम उठायें। एक कार्य यह भी है, कि केन्द्र से संचालित कला प्रयत्नों की साधनहीनता को दूर करने के लिए अपना योगदान प्रदान करके उसे भी योग्य बनायें ताकि उस संगति प्रयत्न का लाभ अधिक परिमाण में उठा सकना जन-साधारण के लिए संभव हो सके।

प्रश्न—

(१) कला एवं संगीत का मुख्य प्रयोजन क्या है ?

(२) आजकल कला का दुरुपयोग अधिक हो रहा है, सदुपयोग

क्यों नहीं कारण सहित समझाये । प्राचीनकाल में कला का उपयोग किस लिए किया जाता था ? (३) किन कला प्रयासों को सार्थक कहा जा सकता है ? (५) मनोरंजन की सुरुचिपूर्ण योजनायें किस प्रकार चलाई जा सकती हैं ? (६) वर्तमान फिल्मों में क्या त्रुटियाँ हैं, फिल्म उद्योग का उपयोग सद्प्रवृत्तियों की प्रसन्नता हेतु कैसे किया जा सकता है ? (७) न्यायालयों का मुख्य प्रयोजन क्या होना चाहिए ? (८) कला का उपयोग युग-निर्माण हेतु कैसे किया जा सकता है ?

रचनात्मक कार्यक्रमों से ही देश समर्थ बनेगा

अधिक प्रभाव उन घटनाओं का पड़ता है, जो आँख के आगे से गुजरती हैं और अपना दृश्य एवं प्रत्यक्ष प्रभाव मस्तिष्क पर छोड़ती हैं । यों मनन, चिन्तन एवं समझने-समझाने से भी विचारों का परिष्कार होता है पर सर्व-साधारण की बौद्धिक क्षमता इतनी संवेदनशील नहीं होती कि अपने आपको विवेकशीलता के आधार पर उचित को ग्रहण करने और अनुचित को त्यागने के लिए तैयार हो जायें । इसलिए लेखनी और वाणी के माध्यम से किये जाने वाले लोक-शिक्षण में ऐसे रचनात्मक कार्यों की ऐसी कड़ी भी जोड़नी पड़ती है, जो उपयोगिता की ओर लोकरुचि के जोड़ने में प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन कर सके । कोई संगठन या व्यक्ति आरम्भ में रचनात्मक कार्यों को सर्व-साधारण के सामने प्रस्तुत करते और उसका महत्त्व समझाते हैं । यह शुभारम्भ आगे चलकर जनता का अपना प्रिय विषय बन जाता है और फिर वे प्रवृत्तियाँ स्वयंमेव अग्रसर होने लगती हैं और लोग स्वयं उत्साहपूर्वक उन्हें कार्यान्वित करने लगते हैं । आरम्भ में ही लोकसेवी संगठनों या कार्यकर्त्ताओं को उनका शुभारम्भ करने की व्यवस्था करनी पड़ती है । रचनात्मक कार्यक्रमों का यही प्रयोजन है ।

युग निर्माण योजना के शतसूत्री कार्यक्रम प्रख्यात हैं । समाज का पिछड़ापन दूर करने के लिए हममें से हर व्यक्ति को अपनी योग्यता, क्षमता और परिस्थिति के अनुरूप कुछ न कुछ प्रयत्न करने चाहिए । देश सभी का है, उसके उत्थान-पतन में सभी की लाभ-हानि है । हर नागरिक पर देशभक्ति की पवित्र जिम्मेदारियाँ हैं और उन्हें अपना निजी काम छोड़कर भी पूरा किया जाना चाहिए । सरकार के भरोसे सब बात छोड़ बैठने से काम न चलेगा । हम सभी को अपने इस परम पवित्र कर्त्तव्य का ध्यान रखना चाहिए, अपने देश का पिछड़ापन दूर करने के लिए हम कुछ न कुछ रचनात्मक कार्य करने के लिए अपने समय, श्रम एवं धन का एक अंश लगाया करें । विभिन्न परिस्थितियों और योग्यताओं के व्यक्ति विभिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्य अपने ढंग से कर सकते हैं । उनकी विस्तृत चर्चा 'शत सूत्री योजना' में प्रस्तुत की गई है, उनमें से ही कुछ की चर्चा नीचे की पंक्तियों में की जा रही है ।

अपने देश में शिक्षा ३० प्रतिशत है, ७० फीसदी बिना पढ़े हैं । प्रगति के लिए शिक्षा अति आवश्यक है । इसलिए निरक्षरता को दूर भगाया जाना चाहिए । सरकारी स्कूल कालेजों में आधे-चौथाई अल्प वयस्क बालकों को पढ़ने का ही इन्तजाम है, शेष बालकों तथा वर्तमान प्रौढ़ और महिलाओं की साक्षरता भी आवश्यक है । इन्हीं कुछ वर्षों में संसार के भविष्य का निर्माण होना है, इसलिए वर्तमान निरक्षरों की उपेक्षा इस आशा पर नहीं की जा सकती कि स्कूलों में पढ़ने वाले लड़के बड़े होकर सब कार्य सँभाल लेंगे । प्रौढ़ शिक्षा की जनस्तर पर व्यापक व्यवस्था बनानी पड़ेगी । इसके लिए शिक्षित लोग विद्या-ऋण चुकाने के लिए जगह-जगह प्रौढ़ पाठशालाएँ, रात्रि पाठशालाएँ, खोलें, जिसमें दिन भर व्यस्त रहने वाले लोग अवकाश के समय शिक्षा प्राप्त कर सकें । महिलाओं के लिए दिन के तीसरे पहर की पाठशालाएँ चलें । किसान मजदूरों के बच्चे जो दिन भर काम में लगे रहते हैं, रात्रि पाठशालाओं में ही पढ़ सकते हैं । सेवाभावी शिक्षित व्यक्ति ऐसी पाठशालाएँ आसानी से चला सकते हैं ।

बेकारी दूर करने के लिए कुटीर उद्योगों का शिक्षण, प्रचलन और उत्पन्न माल को खपाने वाले तन्त्र खड़े किये जाने चाहिए । जापान ने कुटीर उद्योगों को बिजली से चलाने की व्यवस्था बनाकर बड़े कारखानों से अधिक सस्ता उत्पादन किया है और हर नागरिक को काम दिया है हमें भी इस स्तर के प्रचलन करने चाहिए तथा उद्योग शालाएँ एवं संगठित उत्पादन विक्रय व्यवस्थाएँ बनानी चाहिए ताकि शिक्षितों और अशिक्षितों की बेकारी दूर हो और आर्थिक स्थिति सुधरे ।

अन्न, शाक, फल, वृक्ष एवं पुष्प अपने देश में यह सभी कम उत्पन्न होते हैं । पौष्टिक खाद्य मिलने की समस्या जटिल होते जाने से दिन-दिन दुर्बलता और अस्वस्थता बढ़ रही है । इसके लिए घरों में शाक-वाटिका लगाने, फूल उगाने का आम रिवाज चलाया जाये । फूलो के बगीचे लगाये जायें, कृषि में अधिक श्रम साधन लगाकर अधिक अन्न उत्पादन पर ध्यान दिया जाये, खाली जगहों पर जलाऊ लकड़ी के वृक्ष लगाये जायें और गोबर जैसी बहुमूल्य खाद को ईंधन बनने से बचाया जाये । किसानों को शाक उत्पादन के लाभ तथा उपाय बताये जायें । जूठन न छोड़ने, बड़ी दावतें न करने तथा सप्ताह में एक समय आहार न करने की परिपाटी चला कर भी खाद्य-समस्या सुलझाई जा सकती है और विदेशो से अन्न माँगने की लज्जा से बचा जा सकता है ।

स्वास्थ्य, संरक्षण एवं मनोबल बढ़ाने के लिए गाँव-गाँव व्यायामशालाएँ खुलनी चाहिए । कसरत, ड्रिल, खेल-कूद के साथ-साथ लाठी, तलवार, बन्दूक आदि चलाना सिखाने की भी व्यवस्था उनमें रहे । स्वास्थ्य गोष्ठियाँ तथा परामर्श तथा प्राकृतिक जीवन एवं प्राकृतिक चिकित्सा का सम्बन्ध भी इन स्वास्थ्य केन्द्रों में रहा करे । खेलकूद प्रतियोगिताएँ तथा अच्छे स्वास्थ्य वालों को पुरस्कार देने के सार्वजनिक आयोजनों की योजनाएँ बनाई जाये ।

लोक-शिक्षण के लिए सभा, सम्मेलन, विचार-विनिमय, कला, प्रवचन आदि की व्यवस्थाएँ समय-समय पर होती रहें । वाद-विवाद प्रतियोगिताएँ, कविता-सम्मेलन, संगीत-सम्मेलन आदि के द्वारा विचारोत्तेजक साधन जुटाये जायें । भारतीय समाज के पर्व और त्यौहार इस दृष्टि से बहुत ही उपयोगी तथा प्रेरणाप्रद हैं । सोलह संस्कारों के माध्यम से परिवारों का शिक्षण हो सकता है । अपनी सत्यनारायण कथा इस दृष्टि से बहुत सारगर्भित है । विवाह दिन और जन्म दिन मनाने के लिए रिवाज चल पड़े तो जीवनोद्देश्य की पूर्ति तथा पारिवारिक जीवन की सफलता के लिए लोगों को निरन्तर स्वच्छ मार्गदर्शन मिलता रहे । उपरोक्त या अन्य प्रकार के जन-सम्मेलनों के आयोजनों की इन दिनों भारी आवश्यकता है जो विचार-क्रान्ति की आवश्यकता पूर्ण कर सकने में समर्थ हों । गायत्री यज्ञों के साथ जुड़े हुए युग-निर्माण सम्मेलन उसी शृंखला में जोड़े जा सकते हैं । सत्कर्म करने वाले आदर्शवादियों का सार्वजनिक अभिनन्दन तथा महापुरुषों की जयन्तियाँ मनाने की बात भी उसी क्षेत्र में आती है ।

सेवा दलों की संगठन के उद्देश्यों से आवश्यकता है । बढ़ती हुई गुण्डागर्दी से निबटने और सुरक्षा की भावना उत्पन्न करने के लिए साहसी युवकों का संगठित दल बहुत काम कर सकता है । गन्दगी की अपनी आदत ने गाँव नगरों को बुरी तरह अस्वच्छ बना रखा है । यह सेवा दल लोगों को साथ लेकर सफाई अभियान चलायें । स्वच्छता के महत्त्व समझायें और गन्दगी फैलाने वालों को रोकें । सामूहिक श्रमदान संगठित करके ग्राम-नगरों में रास्ते एवं तालाब साफ रखने, कुएँ, स्कूल आदि बनाने का बहुत काम बिना कुछ खर्च के ही हो सकता है । सहकारी मण्डलों द्वारा उपयोग की वस्तुएँ सस्ती और सही मिल सकती हैं । इस तरह की सत्प्रवृत्तियों का संचालन करने के लिए सेवाभावी सज्जनों के संगठित प्रयासों की सर्वत्र बड़ी आवश्यकता है, उनकी पूर्ति की जाये ।

पुस्तकालयों, वाचनालयों की इस देश में भारी आवश्यकता है । इन्हें सच्चे देव-मन्दिर या ज्ञान-मन्दिर कहना चाहिए । कूड़े-कबाड़े की तरह आज छपता-बिकता तो बहुत साहित्य है पर व्यक्ति तथा समाज निर्माण करने वाला साहित्य ढूँढे नहीं मिलता, न उसके पढ़ने की लोगों में रुचि ही है जबकि इसी साहित्य के प्रचार एवं अवगाहन पर समाज का भविष्य निर्भर है । गरीब देश के लोग अभी बौद्धिक भूख बुझा सकने योग्य साहित्य खरीद भी नहीं सकते । यह भारी आवश्यकताएँ ऐसे पुस्तकालय पूरा कर सकते हैं जिनमें केवल प्रेरणाप्रद चुनी हुई पुस्तकें ही रहने का नियम हो । घर-घर पुस्तकें पहुँचाने तथा वापस लाने का प्रबंध हो, जहाँ अशिक्षितों को सुनाने की भी व्यवस्था हो । ऐसे पुस्तकालय की शृंखला गली-गली, गाँव-गाँव फैलाई जाने की आवश्यकता है ।

ऊपर केवल थोड़े-से रचनात्मक कार्यक्रमों की चर्चा की गई है । ऐसे १०८ कार्यक्रम अपनी शत-सूत्री योजना के अन्तर्गत आते हैं । उनमें से जहाँ जैसी सुविधा हो वहाँ उस स्तर के कार्यक्रम आरम्भ किये जाने चाहिए, ताकि लोगों को उन सत्प्रवृत्तियों का महत्त्व समझने और अपनाने का अवसर मिले । ध्वंस सरल है, निर्माण कठिन । स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना सरल था । अब केवल आलोचना, निन्दा से कुछ काम न चलेगा । देश की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए हमारा ध्यान रचनात्मक कार्यक्रमों की ओर जाना चाहिए और उन्हें पूरे उत्साह, साहस तथा त्याग-बलिदान की भावना से चलाया जाना चाहिए।

प्रश्न–

(१) रचनात्मक कार्यक्रमों का क्या प्रयोजन है ? (२) युग-निर्माण योजना के रचनात्मक कार्य क्या हैं ? (३) रचनात्मक कार्यक्रम के अन्तर्गत शिक्षा का प्रसार एवं फैलाव किस तरह किया जाना चाहिए ? (४) कुटीर उद्योगों को किस प्रकार चलाना चाहिए ? (५) अन्न की उपज बढ़ाने तथा खाद्य वस्तुओं मे देश को आत्म-निर्भर करने के लिए क्या प्रयत्न होने चाहिए ? (६) स्वास्थ्य और मनोबल बढ़ाने के लिए किस तरह की कार्य प्रणाली अपनानी चाहिए ? (७) लोकशिक्षण के लिए क्या-क्या कार्य किया जा सकता है ? (८) सेवा दलों के संगठन का महत्त्व रचनात्मक कार्यों के अन्तर्गत क्यों है ? (९) क्या पुस्तकालयों की आज के समय में अत्यन्त आवश्यकता है ?

अनीति, असुरता के विरुद्ध प्रबल संघर्ष किया जायेगा

कोमल और सौम्य तत्वों को इशारे से समझाकर विवेक एवं तर्क द्वारा औचित्य सुझाकर सन्मार्गगामी बनाया जा सकता है पर कठोर और दुष्ट तत्वों को बदलने के लिए लोहे को आग में तपाकर पिटाई करने वाली लुहार की नीति ही अपनानी पड़ती है । दुर्योधन को समझाने-बुझाने में जब श्री कृष्ण जी सफल न हो सके तब उसे अर्जुन के बाणों द्वारा रास्ते पर लाने का प्रबन्ध करना पड़ा । हिंसक पशु नम्रता और औचित्य की भाषा नहीं समझते, उन्हें तो शस्त्र ही काबू में ला सकते हैं । भगवान को बार-बार धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेना पड़ता है, साथ ही वे असुरता के उन्मूलन का रुद्र कृत्य भी करते हैं ।

व्यक्तिगत जीवन में देवशक्ति का अवतरण निस्सन्देह एक सृजनात्मक कृत्य है, उसके लिए सद्‌गुणों के अभिवर्द्धन की साधना निरन्तर करनी पड़ती है पर साथ ही अन्तरंग में छिपे हुए दोष-दुर्गुणों से जूझना भी पड़ता है । यदि कुसंस्कारों को उन्मूलन न किया जाये तो सद्‌गुण पनप ही न सकेंगे और सारी शक्ति इन कषाय-कल्मषों में ही नष्ट होती रहेगी । आलस्य, प्रमाद, आवेश, असंयम आदि दुर्गुणों के विरुद्ध कड़ा मोर्चा खड़ा करना पड़ता है और पग-पग पर उनसे जूझने के लिए तत्पर रहना पड़ता है । गीता का रहस्यवाद अन्तरंग के इन्हीं शत्रुओं को

कौरव मानकर अर्जुन रूपी जीव को इनसे लड़ मरने के लिए प्रोत्साहित करता है। जिसने अपने से लड़कर विजय पाई वस्तुत: उसे ही सच्चा विजेता कहा जायेगा।

सामूहिक जीवन में समय-समय पर अनेक अनाचार उत्पन्न होते रहते हैं और उन्हें रोकने के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी स्तर पर प्रबल प्रयत्न करने पड़ते हैं। पुलिस, जेल, अदालत, कानून, सेना आदि के माध्यम से सरकारी दण्ड संहिता अनाचार को रोकने का यथा संभव प्रयत्न करती है। जन-स्तर पर भी अवांछनीय और असामाजिक तत्वों का प्रतिरोध अवश्य होता है। यदि वह रोकथाम न हो, उद्दण्डता और दुष्टता का प्रतिरोध न किया जाये तो वह देखते-देखते आकाश-पाताल तक चढ़ दौड़े और अपने सर्वभक्षी मुख में शालीनता और शान्ति को देखते-देखते निगल जायें।

इन दिनों नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र में अवांछनीय तत्वों का इतना अधिक बाहुल्य हो गया है कि शान्ति और सुव्यवस्था के लिए एक प्रकार से संकट ही उत्पन्न हो गया है। छल, असत्य, बनावट और विश्वासघात का ऐसा प्रचलन हो गया है कि किसी व्यक्ति पर सहज ही विश्वास करना खतरे से खाली नहीं रहा। विचारों की दृष्टि से मनुष्य बहुत ही संकीर्ण, स्वार्थी, ओछा और कमीना होता चला जाता है। पेट और प्रजनन के अतिरिक्त कोई लक्ष्य नहीं। आदर्शवादिता और उत्कृष्टता अब कहने-सुनने भर की बात रह गई है। व्यवहार में कोई बिरला ही उसे काम में लाता हो। सामाजिक कुरीतियों का तो कहना ही क्या ? विवाहोन्माद, मृत्यु-भोज, ऊँच-नीच, नारी तिरस्कार, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि न जाने कितने प्रकार की कुरीतियाँ अपने समाज में घुसी बैठी हैं। यदि उन्हें ज्यों का त्यों ही बना रहने दिया गया तो हम संसार के सभ्य देशों में पिछड़े हुए और उपहासास्पद ही न माने जायेंगे वरन् अपनी दुर्बलताओं के शिकार होकर आप अपना अस्तित्व ही खो बैठेंगे।

अगले दिनों इस बात की आवश्यकता पड़ेगी कि व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में संव्याप्त अगणित दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध व्यापक परिमाण में संघर्ष आरम्भ किया जाये। इसलिए हर नागरिक को अनाचार के विरुद्ध आरम्भ किये गये धर्म-युद्ध में भाग लेने के लिए आह्वान करना होगा। किसी समय तलवार चलाने वाले और सिर काटने में अग्रणी लोगों को योद्धा कहा जाता था, अब मापदण्ड बदल गया। चारों ओर संव्याप्त आतंक और अनाचार के विरुद्ध संघर्ष में जो जितना साहस दिखा सके और चोट खा सके उसे उतना ही बड़ा बहादुर माना [illegible] समाज [illegible] से लड़ [illegible] पीड़ित [illegible]।

भारतीय समाज को बेईमान और गरीब बनने के लिए विवश करने वाले सत्यानाशी विवाहोन्माद-असुर से पूरी शक्ति के साथ जूझना पड़ेगा। अभी प्रचार, विरोध, प्रतिज्ञापत्र आदि के हल्के कदम उठाये गये हैं, आगे चलकर असहयोग, सत्याग्रह और घिराव जैसे बड़े कदम उठाकर इस कुप्रथा को गर्हित और वर्जित बनने के लिए घृणित और दुष्ट समझे जाने के लिए विवश करेंगे। अगले दिनों ऐसा प्रबल लोकमत तैयार करेंगे जिसमें विवाहों के नाम पर प्रचलित उद्धतपन को जीवित रह सकना असम्भव हो जाये। पूर्ण सादगी और स्वल्प खर्च के विवाहों का प्रचलन होने तक अपना संघर्ष चलता रहेगा। हम तब तक न चैन लेंगे और न लेने देंगे जब तक कि इस अनैतिक एवं अवांछनीय प्रथा का देश से काला मुँह न हो जाये।

मृतक भोज के नाम पर घृणित दावतें खाने की निष्ठुरता, पशुबलि की नृशंसता, ऊँच-नीच के नाम पर मानवीय अधिकारों का अपहरण, नारी को पद-दलित और उत्पीड़ित करने की क्रूरता हमारे समाज पर लगे हुए ऐसे कलंक हैं जिनका समर्थन कोई भी विवेकशील और सहृदय व्यक्ति कर ही नहीं सकता। मूढ़ परम्पराओं ने इन कुरीतियों को धार्मिकता के साथ जोड़ दिया है, इस स्थिति को कब तक सहन किया जाता रहेगा ? इस मूढ़ता के विरुद्ध प्रचार मोर्चे से आगे बढ़कर हमें कई और ऐसे सक्रिय कदम उठाने पड़ेंगे जिन्हें भले ही अशान्ति उत्पन्न करने वाले कहा जाये परन्तु रुकेंगे तभी, जब मानवता के मूलभूत आधारों को स्वीकार करने को तत्पर हो जायें, हम लोगों से कहेंगे कि घृणा फैलाने वाले और झगड़ालू का खतरा मोल लेकर भी वे अनीति से हर मोर्चे पर जूझने के लिये कमर कस लें-भले ही इस संदर्भ में उन्हें कोई भी खतरा क्यों न उठाना पड़े।

वैयक्तिक दोष-दुर्गुणों से लड़ने और जीवन को स्वच्छ, पवित्र, निर्मल बनाने के लिए अगर कुसंस्कारों से लड़ना पड़ता है तो वह लड़ाई लड़ी ही जानी चाहिए। परिवार में कुछ सदस्यों को दास-दासी की तरह और कुछ को राजा-रानी की तरह रहने की यदि परम्परा का पालन माना जाता है तो उसे बदल कर ऐसी परम्पराएँ स्थापित करनी पड़ेंगी जिनमें सबको न्यायानुकूल अधिकार, लाभ तथा श्रम सहयोग करने की व्यवस्था रहे। आर्थिक क्षेत्र में बेईमानी को प्रश्रय न मिले। व्यक्तिगत व्यवहार मे छल करने और धोखेबाजी की गुंजाइश न रहे। ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए प्रबल लोकमत तैयार करना पड़ेगा और अवांछनीय तत्वों के उग्र प्रतिरोध को इतना सक्रिय बनाना पड़ेगा कि अपराध, उद्दण्डता और गुण्डागर्दी करने की हिम्मत करना किसी के लिए भी सम्भव न रहे। हराम की कमाई खाने वाले, भ्रष्टाचारी बेईमान लोगों के विरुद्ध इतनी तीव्र प्रतिक्रिया उठानी होगी जिसके कारण उन्हें सड़क पर चलना और मुँह दिखाना कठिन हो जाये। जिधर से वे निकलें उधर से ही धिक्कार की आवाजें ही उन्हें सुननी पड़ें। समाज में उनका उठना-बैठना बन्द हो जाये और नाई, धोबी, दर्जी कोई उनके साथ किसी प्रकार का सहयोग करने के लिए तैयार न हो।

सार्वजनिक संस्थाओं में स्वार्थपरता और नेतागिरी लूटने के लिए जिन दुरात्माओं ने अड्डा जमा लिया है उन्हें दूध में से मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दिया जाये। धर्म और अध्यात्म का लबादा ओढ़कर जो रंगे सियार अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं उनकी असलियत चौराहे पर नंगी खड़ी कर दी जाये ताकि लोग उन्हें भरपूर धिक्कारें। भोले लोगों को अनेक हाथों से लूटने से बचाना एक ऊँची और श्रेष्ठ सेवा होती है। ८० लाख भिखमंगे नाना प्रकार के ढोंग बनाकर जिस तरह ठगी और हरामखोरी करने में जुटे हुए हैं, आखिर उसे कब तक सहन किया जाता रहेगा। स्वच्छ शासन प्रदान करने के लिए राजनैतिक नेता और विधायकों, शासकों और अफसरों को यह सोचने के लिए बाध्य किया जायेगा कि वे अपनी निजी लाभ के लिए नहीं, लोक-मंगल के लिए ही शासनतंत्र का उपभोग करें।

इस प्रकार संघर्ष की बहुमुखी प्रचण्ड प्रक्रिया अगले दिनों युग-निर्माण योजना आरम्भ करेगी। उसके साधन जैसे-जैसे विकसित होते जायेंगे, संघ शक्ति जितनी मात्रा में उसके हाथ लगेगी उसी अनुपात से यह शान्त, अहिंसक, सज्जनोचित, सांस्कृतिक कार्य के अथक सम्पादन में जुटेगी और पग-पग पर अनौचित्य के अन्याय के साथ लड़ा जाने वाला यह धर्म-युद्ध तभी समाप्त होगा जब मानवता के आदर्श की विजय पताका सारे विश्व में फहराने लगेगी।[1]

प्रश्न–

(१) गीता के रहस्यवाद से क्या समझते हो? मानव के आन्तरिक शत्रु कौन-कौन से हैं? (२) अनीति को रोकने के लिए कठोर कदम उठाना क्यों आवश्यक है? (३) समाज की वर्तमान स्थिति में किसी भी व्यक्ति पर सहज ही विश्वास करना खतरे से खाली नहीं है, इस वाक्य का मर्म समझाइये? (४) वर्तमान समाज की प्रगति में कौन-सी कुरीतियाँ आड़े आ रही हैं? उनके उन्मूलन हेतु सुझाव दें। (५) इस युग में बहादुर किसे माना जायेगा, (६) हमारे समाज के प्रमुख कलंक कौन से हैं? उनसे बचने के उपाय बताओ? (७) आगामी युग में कैसे परिवारों की स्थापना करनी होगी? (८) अवांछनीय तत्वों का उग्र प्रतिरोध कैसे किया जायेगा (९) ठगी एवं हरामखोरी को मन्द करने के लिए कौन-से कदम उठाये जायें? (१०) संघर्ष की बहुमुखी प्रचण्ड-प्रक्रिया से क्या समझते हो?

आज के व्यक्ति के सामने उलझनें और जिज्ञासाएँ उपस्थित हैं। उन समस्त ज्वलन्त प्रश्नों के उचित समाधान प्रस्तुत करने वाले प्रशिक्षण की नितान्त आवश्यकता थी। युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही उक्त शत-सूत्री परिष्कृत विचारधारा प्रस्तुत की गयी है और उसका प्रकाश जन-जन तक पहुँचने का प्रयास किया जा रहा है।



युग निर्माण योजना का शत-सूत्री कार्यक्रम

युग की वह पुकार जिसे पूरा होना ही है

आत्म-निर्माण, परिवार-निर्माण और समाज-निर्माण का उद्देश्य लेकर 'युग-निर्माण योजना' नामक एक आध्यात्मिक प्रक्रिया 'अखण्ड-ज्योति' के सदस्यों द्वारा जून, १९६३ से आरम्भ की गई है। स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज की अभिनव रचना का लक्ष्य पूरा करने के लिए बढ़ रहा है तभी से यह आन्दोलन सफलतापूर्वक चल और द्रुतगति से आगे बढ़ रहा है।

आन्दोलन के आरम्भ में जनसाधारण को उसका स्वरूप समझाने के लिए जो सूत्र दिये गये थे, उनका समग्र स्वरूप इस पुस्तक में है। इसलिए पाठकों को ऐसा प्रतीत होगा मानो यह कोई विचाराधीन योजना या किसी भावी कार्यक्रम की कल्पना है, पर वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं। विगत कई वर्षों से इस शतसूत्री योजना के यह सभी कार्यक्रम देश-विदेश के लाखों सदस्यों द्वारा बड़े उत्साहपूर्वक कार्यान्वित किए जा रहे हैं। प्रगति जिस आशाजनक और उत्साहपूर्ण ढंग से हो रही है, उसे देखते हुए प्रतीत होता है कि किसी समय का यह स्वप्न अगले कुछ ही समय में एक विशाल वृक्ष का रूप धारण करने जा रहा है और युग-निर्माण की बात जो अत्युक्ति जैसी लगती थी अगले दिनों एक सुनिश्चित तथ्य के रूप में मूर्तिमान होने वाली है।

नव-निर्माण का यह अभिनव आन्दोलन समय की एक अत्यन्त आवश्यक एवं महत्वपूर्ण पुकार है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के लिए यह योजना अपनाये जाने योग्य है। कारण आज जिस स्थिति में होकर मनुष्य जाति को गुजरना पड़ रहा है वह बाहर से उत्थान जैसी दीखते हुए भी वस्तुतः पतन की है। दिखावा, शोभा, शृंगार का आवरण बढ़ रहा है, पर भीतर ही-भीतर सब कुछ खोखला हुआ जा रहा है। दिमाग बड़े हो रहे हैं पर दिल दिन-दिन सिकुड़ते जाते हैं। पढ़-लिखकर लोग होशियार तो खूब हो रहे हैं, पर साथ ही अनुदारता, स्वार्थपरता, विलासता और अहंकार भी उसी अनुपात से बढे हैं। पोशाक, शृंगार, स्वादिष्ट भोजन और मनोरंजन की किस्में बढ़ती जाती हैं, पर असंयम के कारण स्वास्थ्य दिन-दिन गिरता चला जा रहा है। दो-तीन पीढ़ी पहले जैसा अच्छा स्वास्थ्य था वह अब देखने को नहीं मिलता। कमजोरी और अशक्तता हर किसी को किसी न किसी रूप में घेरे हुए हैं। डॉक्टर-देवताओं की पूजा- प्रदक्षिणा करते-करते लोग थक जाते हैं पर स्वास्थ्य लाभ का मनोरथ किसी बेचारे को कदाचित् ही प्राप्त होता है।

धन बढ़ा है पर साथ ही महँगाई और जरूरतों की असाधारण वृद्धि हुई है। खर्चों के मुकाबिले आमदनी कम रहने से हर आदमी अभावग्रस्त रहता है और खर्चे की तंगी अनुभव करता है। पारस्परिक सम्बन्ध खिंचे हुए, संदिग्ध और अविश्वास से भरे हुए हैं। पति-पत्नी, पिता-पुत्र और भाई-भाई के बीच मनोमालिन्य ही भरा रहता है। यार-दोस्तों में से अधिकांश ऐसे होते हैं जिनसे विश्वासघात, अपहरण और तोताचश्मी की ही आशा की जा सकती है। चरित्र और ईमानदारी की मात्रा इतनी तेजी से गिर रही है कि किसी को किसी पर विश्वास नहीं होता। कोई करने भी लगे तो बेचारा धोखा खाता है। पुलिस और जेलों की, मुकदमें और कचहरियों की कमी नहीं, पर अपराधी मनोवृत्ति दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती है।

जीवन-संघर्ष अब इतना कठिन होता जाता है कि सुख-शान्ति के साथ जिन्दगी के दिन पूरे कर लेना अब सरल नहीं रहा। हर व्यक्ति अपनी-अपनी समस्याओं में उलझा हुआ है। चिन्ता, भय, विक्षोभ और परेशानी से उसका चित्त अशान्त बना रहता है। शारीरिक व्यथाएँ, मानसिक परेशानियाँ, पारस्परिक दुर्भाव, न सुलझने वाली उलझनें, आर्थिक तंगी, अनीति भरे आक्रमण, छल और विश्वासघात, प्रवंचना, विडम्बना, असफलताएँ और आपत्तियाँ, घात-प्रतिघात और उतार-चढ़ाव का जोर इतना बढ़ गया है कि साधारण रीति से जीवन व्यतीत कर सकना कठिन होता जाता है। संघर्ष इतना प्रबल हो चला है कि जनसाधारण को निरन्तर विक्षुब्ध रहना पड़ता है। इस प्रबल मानसिक दबाव को कितने ही लोग सहन नहीं कर पाते, फलस्वरूप आत्म-हत्याओं की पागलों की, निराश-हताश और दीन-दुःखियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती ही चली जा रही है।

व्यक्तिगत जीवन में हर आदमी को निराशा, तंगी और चिन्ता घेरे हुए है। सामाजिक जीवन में मनुष्य अपने को चारों ओर भेड़ियों से घिरी हुई स्थिति में फँसा अनुभव करता है। राजनीति इतनी विषम हो गई है कि उसमें सत्ताधारी लोगों की मनमानी के आगे जनहित को ठुकराया ही जाता रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अविश्वास और भय का इतना बाहुल्य है कि अणु-युद्ध में सारी मानव सभ्यता का विनाश एक-दो घण्टे के भीतर ही हो जाने का खतरा नंगी तलवार की तरह दुनिया के सिर पर लटक रहा है। कोई प्रसन्न नहीं, कहीं सन्तोष नहीं, किधर भी शान्ति नहीं। दुर्दशा के चक्रव्यूह में फँसा हुआ मानव-प्राणी अपनी मुक्ति का मार्ग खोजता है, पर उसे किधर भी आशा की किरणें दिखाई नहीं पड़तीं। अन्धकार और निराशा के श्मशान में भटकती हुई मानव अन्तरात्मा खेद और विक्षोभ के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त

नहीं करती। बाहरी आडम्बर दिन-दिन बढ़ते चले जा रहे हैं, पर भीतर ही भीतर सब कुछ खोखला और पोला बनता चला जा रहा है। उस स्थिति में रहते हुए न कोई सन्तुष्ट रहेगा और न शान्त।

यह प्रत्यक्ष है कि यदि सम्पूर्ण विनाश ही अभीष्ट न हो तो आज की परिस्थितियों का अविलम्ब परिवर्तन अनिवार्यतः आवश्यक है। स्थिति की विषमता को देखते हुए अब इतनी भी गुंजाएश नहीं रही कि पचास-चालीस वर्ष भी इसी ढर्रे को और आगे चलने दिया जाए। अब दुनिया की चाल बहुत तेज हो गई है। चलने का युग बीत गया, अब हम लोग दौड़ने के युग में रह रहे हैं। सब कुछ दौड़ता हुआ दीखता है। इस घुड़दौड़ में पतन और विनाश भी उतनी ही तेजी से बढ़ा चला आ रहा है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रतिरोध एवं परिवर्तन यदि कुछ समय और रुका रहे तो समय हाथ से निकल जाएगा और हम इतने गहरे गर्त में गिर पड़ेंगे कि फिर उठ सकना सम्भव न रहेगा। इसलिए आज की ही घड़ी इसके लिए सबसे श्रेष्ठ मुहूर्त है, जबकि परिवर्तन की प्रतिक्रिया का शुभारम्भ किया जाए।

(१) स्वस्थ शरीर, (२) स्वच्छ मन और (३) सभ्य समाज की अभिनव रचना, यही युग-निर्माण का उद्देश्य है। इसके लिए अपना व्यक्तित्व, अपना परिवार और अपना समाज हमें आत्मिक दृष्टि से उत्कृष्ट बनाना पड़ेगा। भौतिक सुसज्जा कितनी ही प्राप्त क्यों न करली जाए, जब तक आत्मिक उत्कृष्टता न बढ़ेगी तब तक न मनुष्य सुखी रहेगा और न सन्तुष्ट। उसकी सफलता एवं समृद्धि भी क्षणिक तथा दिखावटी मानी जाएगी। मनुष्य का वास्तविक पराक्रम उसके सद्‌गुणों से ही निखरता है। सद्‌गुणी ही सच्ची प्रगति कर सकता है। उच्च अन्तःकरण वाले, विशाल हृदय, दूरदर्शी एवं दृढ़-चरित्र व्यक्ति अपना गौरव प्रकट करते हैं, दूसरों का मार्गदर्शन कर सकने लायक क्षमता-सम्पन्न होते हैं। ऐसे लोगों का बाहुल्य होने से ही कोई राष्ट्र सच्चे अर्थों में समर्थ एवं समृद्ध बनता है।

योजना के विविध कार्यक्रमों में यही तथ्य सन्निहित है। व्यक्ति का विकास, परिवार का निर्माण और सामाजिक उत्कर्ष में परिपूर्ण सहयोग की त्रिविधि-प्रवृत्तियाँ जन-साधारण के मन:क्षेत्र में प्रतिष्ठापित एवं परिपोषित करने के लिए यह अभियान आरम्भ किया गया है। इसकी सफलता पर हमारा वैयक्तिक एवं सामूहिक भविष्य उज्ज्वल या अन्धकारमय बनेगा।

आज आर्थिक विकास पर अत्यधिक जोर दिया जा रहा है, जितनी भी योजनाएँ हैं, इस तथ्य को ध्यान में रखकर बनाई जा रही हैं कि मनुष्य को अधिक समृद्ध बनाया जाए। शिक्षा भी इसी दृष्टि से दी जा रही है कि पढ़ने वाला अधिक कमाऊ बन सके। इस बात की सर्वत्र उपेक्षा ही दीखती है कि मनुष्य का व्यक्तित्व ऐसा बने, जिसकी सुगन्ध से सारा वातावरण महँकने लगे। नैतिकता की धर्म-भावना, कर्तव्य परायणता एवं सदाचरण की अभिवृद्धि के लिए हमारे नेताओं का ध्यान नहीं के बराबर है। इस दिशा में जो किया जा रहा है, वह बहुत ही स्वल्प एवं निराशाजनक है। आवश्यकता इस बात की है कि आर्थिक विकास से भी अधिक ध्यान नैतिक उत्कर्ष के लिए दिया जाए और अभी उसके लिए विशाल परिमाण में रचनात्मक कार्यक्रमों का विस्तार किया जाए। आर्थिक विकास का कोई मूल्य तभी रह सकता है, जब वह सज्जनता सम्पन्न व्यक्तियों का होता हो। यदि दुष्ट और दुर्जन साधन सम्पन्न बन जाएँगे तो उससे उनका तथा सारे समाज का अधिक अहित ही होगा। दुर्गुणी व्यक्तियों की बढ़ी हुई कमाई ऐसे कामों में खर्च होती है, जिनसे अशान्ति और अनाचार का ही सृजन होता है। अस्तु, आवश्यकता इस बात की है कि समाज के कर्णधारों का जितना ध्यान आर्थिक विकास योजनाओं में लगा हुआ है, जितना प्रयत्न और खर्च उन कार्यों के लिए किया जाता है, कम से कम, उतना तो नैतिक उत्कर्ष के लिए किया ही जाना चाहिए। होना तो उससे भी अधिक चाहिए क्योंकि धन की अपेक्षा व्यक्तित्व का मूल्य अधिक है। व्यक्तित्वसम्पन्न व्यक्ति निर्धन रहकर भी ऋषियों की तरह प्रकाशवान बन सकता है, पर अपार धन होते हुए भी दुर्जन मनुष्य केवल विनाश ही प्रस्तुत कर सकता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए नैतिक उत्कर्ष का मूल्य धन की अपेक्षा अनेक गुना अधिक है। अतएव उसके लिए प्रयत्न भी अधिक ही होना चाहिए था, पर खेद इसी बात का है कि सबसे अधिक उपेक्षा इसी दिशा में बरती जा रही है।

व्यक्ति के परिवर्तन से ही समाज, विश्व एवं युग का परिवर्तन सम्भव है। इस धरती पर स्वर्गीय वातावरण का सृजन करने के लिए हमें जन-मानस का स्तर बदलना पड़ेगा। आज जिस स्वार्थपरता, संकीर्णता, असंयम और अनीति ने अपना पैर पसार रखा है उसे हटाने का प्रयत्न करना होगा और उसके स्थान पर सज्जनोचित सद्‌भावनाओं एवं सत्प्रवृत्तियों को प्रतिष्ठापित करना पड़ेगा। यह कार्य केवल कहने-सुनने से, लिखने-पढ़ने से सम्भव नहीं, लेखनी एवं वाणी मे प्रचारात्मक शक्ति तो होती है, पर इनका प्रभाव बहुत थोड़ा और बहुत स्वल्प काल तक रहता है। मनुष्यों में एक-दूसरे को देखकर अनुकरण करने की प्रवृत्ति ही प्रधान रूप से काम करती है। दुष्कर्मों को देखकर लोग दुष्कर्म करते हैं। सत्कर्मों को देखकर वैसी गतिविधि अपनाने को जी करता है। इसलिए प्रयत्न करना होगा कि सुधरे हुए आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार लोग अपना जीवनक्रम बनावें। श्रेष्ठ व्यक्तियों के श्रेष्ठ आचरणों को देखकर ही जन-साधारण में वे सत्प्रवृत्तियाँ विकसित होंगी जो युग-निर्माण जैसे महान् अभियान के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

अच्छा होता कि यह कार्य राष्ट्र के कर्णधारों द्वारा विशाल पैमाने पर सुसंगठित रूप से किया जाता, पर आज हमारे नेताओं की विचारधारा बिलकुल दूसरी है, वे

आर्थिक उन्नति को सर्वोपरि मानते हैं और नीति-सदाचार की बात एक फैशन की तरह कहते-सुनते तो रहते हैं, पर उस तरह की स्थिति पैदा करने के लिए कोई ठोस कदम उठाने का उनका कोई मन दिखाई नहीं पड़ता। ऐसी निराशाजनक परिस्थितियों में हम जो कुछ भी हैं- जिस छोटी स्थिति में भी हैं, वहीं से अपनी स्वल्प सामर्थ्य के अनुसार कार्य आरम्भ कर देना चाहिए, वही कर भी रहे हैं।

युग-निर्माण योजना का आरम्भ किसी संस्था के आधार पर नहीं, वरन् एक वैयक्तिक प्रयत्न के रूप में आरम्भ कर रहे हैं। समयानुसार उसका कोई संगठित रूप बन जाए, यह आगे की बात है, पर आज तो अपनी स्वल्प सामर्थ्य को देखते हुए ही उस कार्य का श्रीगणेश किया जा रहा है।

अखण्ड-ज्योति परिवार श्रेय-पथ पर चलने वाले २४ लाख व्यक्तियों को एक आध्यात्मिक शृंखला में पिरोये रहने वाला सूत्र है। लेखों के आधार पर नहीं, भावना और आत्मीयता के सुदृढ़ सम्बन्धों की मजबूत रस्सी से बँधा हुआ यह एक ऐसा संगठन है, जिसे कौटुम्बिक परिजनों से किसी भी प्रकार कम महत्व नहीं दिया जा सकता। व्यक्तिगत एकता और आत्मीयता के बन्धन हम लोगों के बीच इतनी मजबूती से बँधे हुए हैं कि इस समूह को हमें अपना व्यक्तिगत परिवार कहने में तनिक भी अत्युक्ति दिखाई नहीं पड़ती।

जिस प्रकार सर्वसाधारण को अपने रक्त-सम्बन्धित परिवार को सुविकसित करने की जिम्मेदारी उठानी पड़ती है, उसी प्रकार हम अपने इन लाखों कुटुम्बियों को लेकर जीवन-निर्माण कार्य में अवतीर्ण हो रहे हैं। उन्हें सन्मार्ग पर चलने की शिक्षा तो बहुत पहले से दे रहे थे, पर अब उनके सामने शत-सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत करके आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता को जीवन व्यवहार में समन्वित करने का अभ्यास करा रहे हैं। यों इन कार्यक्रमों को लाखों व्यक्तियों द्वारा अपनाये जाने पर इनका प्रभाव समाज के नव-निर्माण की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण, दूरवर्ती एवं चिरस्थायी होगा। बौद्धिक एवं सामाजिक क्रान्ति की महान आवश्यकता की यह चिनगारी जलेगी जो आगे चलकर पाप-तापों को भस्मसात करने में दावानल का रूप धारण कर सके। साथ ही इसमें आत्म-कल्याण एवं जीवन-मुक्ति का उद्देश्य भी सन्निहित है। यह योजना व्यक्ति को निकृष्ट स्तर का जीवनयापन करने की दुर्दशा से ऊँचा उठाकर उत्कृष्टता अपनाने की आध्यात्मिक साधना का अवसर उपस्थित करती है। इसलिए उसे एक प्रकार की योग-साधना, तपश्चर्या, नर-नारायण की भक्ति तथा भावोपासना भी कह सकते हैं।

इस मार्ग पर चलते हुए- शतसूत्री कार्यक्रमों में से जिसे जितने अनुकूल पड़ें, उन्हें अपनाते हुए निश्चित रूप से साहस एवं मनस्विता का परिचय देना पड़ेगा। कई व्यक्ति उपहास एवं विरोध करेंगे। स्वार्थों को भी सीमित एवं संयमित करना पड़ेगा। आर्थिक दृष्टि से थोड़ा घाटा भी रह सकता है और अपने पूर्व संचित कुसंस्कारों से लड़ने में कठिनाई भी दृष्टिगोचर हो सकती है। जो इतना साहस कर सकेगा, उसे सच्चे अर्थों में साधना-समर का शूरवीर योद्धा कहा जा सकेगा। यह साहस ही इस बात की कसौटी मानी जाएगी कि किसी व्यक्ति ने आध्यात्मिक विचारों को हृदयंगम किया है या केवल सुना-समझा भर है। योजना एक विशुद्ध साधना है, जो युग निर्माण का, समाज की अभिनव रचना का उद्देश्य पूरा करते हुए व्यक्ति को उसका जीवन लक्ष्य पूरा कराने में किसी भी अन्य जप-तप वाली साधना की अपेक्षा अधिक सरलता से पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचा सकती है।

हम ३० हजार व्यक्ति एकजुट होकर इस शत-सूत्री कार्यक्रम में संलग्न हुए थे। गुरु-पूर्णिमा (आषाढ़ सुदी १५) जून, १९६२ को इस महान् अभियान का विधिवत् शुभारम्भ हुआ था। इन सभी को हर सदम्य कार्यान्वित करें, यह आवश्यक नहीं, पर जिससे जितना संभव हो सके, जिन कार्यक्रमों को अपनाया जा सके, उन्हें अपनाना चाहिए। वैसा ही परिजन कर भी रहे हैं। जैसे-जैसे साहस एवं मनोबल बढ़ता चलेगा, अधिक तेजी से कदम आगे बढ़ेंगे।

अखण्ड-ज्योति के दस सदस्य या उससे थोड़े न्यूनाधिक सदस्य जहाँ कहीं हैं, वहाँ उनका एक संगठन बनाया जा रहा है। एक शाखा-संचालक तथा पाँच अन्य व्यक्तियों की कार्य समिति चुन ली जाती है। इस शाखा का कार्यालय जहाँ रहता है उसे युग-निर्माण केन्द्र कहते हैं। यह केन्द्र सदस्यों के परस्पर मिलने-जुलने का एक मिलन मन्दिर बनकर योजना की रचनात्मक प्रवृत्तियों के संचालन का उद्गम बन जाता है। इस स्थान पर अनिवार्य रूप से एक युग-निर्माण पुस्तकालय रहता है, जहाँ से जनता में घर-घर जीवन निर्माण का सत्साहित्य पहुँचाने, पढ़ाने, वापिस लाने एवं अभिरुचि उत्पन्न करने की प्रक्रिया चलती रहती है। परस्पर विचार-विनिमय द्वारा सुविधानुसार जो कुछ जहाँ किया जाना सम्भव होता है, वह वहाँ किया जाता रहता है। इन कार्यों की सूचना पहले 'युग निर्माण योजना' मासिक और अब 'प्रज्ञा अभियान' पाक्षिक पत्रिका में छपती रहती है, जिससे सभी शाखाओं को देशभर में चलने वाली इस महान् प्रक्रिया की प्रगति का पता चलता रहता है और समय-समय पर आवश्यक प्रकाश एवं मार्गदर्शन भी प्राप्त होता है।

यह सोचना उचित नहीं कि इतने बड़े संसार में २४ लाख व्यक्ति नगण्य हैं, उनके सुधरने से क्या बनने वाला है? परिवार के प्रत्येक सदस्य को यह विचारधारा दस अन्य व्यक्तियों तक प्रसारित करते रहने की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा लेनी पड़ती है। उसके पास जो 'अखण्ड-ज्योति' मासिक एवं 'युग-निर्माण' पत्रिकाएँ पहुँचती हैं, उन्हें स्वयं ही पढ़ना पर्याप्त नहीं होता, वरन् कम से कम दूसरे दस को उन्हें पढ़ाने या सुनाने की भी व्यवस्था करनी

पड़ती है। इस प्रकार अपने २४ लाख व्यक्ति दस-दस से सम्बन्धित रहने के कारण २४ करोड़ व्यक्तियों तक यह प्रकाश पहुँचाते रहते हैं। इनमें से निश्चित रूप से कुछ योजना के विधिवत् सदस्य बढ़ेंगे ही-अखण्ड-ज्योति परिवार में सम्मिलित होंगे ही, फिर उन्हें भी दस नये व्यक्तियों तक यह प्रकाश पहुँचाने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होना पड़ेगा। इस तरह प्रचार परम्परा की यह पीढ़ी-एक से दस में गुणित होती हुई पाँच-छह छलाँगों में सारे विश्व में अपना प्रभाव प्रस्तुत कर सकेगी और जो अभियान आरम्भ किया गया है, उस स्वप्न को साकार रूप में प्रस्तुत कर सकेगी। 'युग निर्माण योजना' इसी अभाव की पूर्ति का एक विनम्र प्रयास है।

युग-निर्माण योजना का शत-सूत्री कार्यक्रम

युग-निर्माण के लिए आवश्यक विचार-क्रान्ति का उपयोग यदि शरीर-क्षेत्र में किया जा सके तो हमारा बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य सुधर सकता है। बीमारियों से सहज ही पिण्ड छूट सकता है। आज अपने शरीर की जो स्थिति है कल से ही उसमें आशाजनक परिवर्तन आरम्भ हो सकता है, अस्वस्थता का कारण असंयम एवं अनियमितता ही है। प्रकृति के आदेशों का उल्लंघन करने के दण्डस्वरूप ही हमें बीमारी और कमजोरी का कष्ट भुगतना पड़ता है। सरकारी कानूनों की तरह प्रकृति के भी कानून हैं। जिस प्रकार राज्य के कानूनों को तोड़ने वाले अपराधी जेल की यातना भोगते हैं वैसे ही प्रकृति के कानूनों की अवज्ञाकर स्वेच्छाचार बरतने वाले व्यक्ति बीमारियों का कष्ट सहते हैं और अशक्त, दुर्बल बने रहते हैं। पूर्व जन्मों के प्रारब्ध दण्डस्वरूप मिलने वाले तथा प्रकृति प्रकोप, महामारी, सामूहिक अव्यवस्था, दुर्घटना एवं विशेष परिस्थितिवश कभी-कभी संयमी लोगों को भी शारीरिक कष्ट भोगने पड़ते हैं, पर ९० प्रतिशत शारीरिक कष्टों में हमारी बुरी आदतें और अनियमितता ही प्रधान कारण होती हैं।

सृष्टि के सभी जीव-जन्तु नीरोग रहते हैं। अन्य पशु और उन्मुक्त आकाश में विचरण करने वाले पक्षी यहाँ तक कि छोटे-छोटे कीट-पतंग भी समय आने पर मरते तो हैं पर बीमारी और कमजोरी का कष्ट नहीं भोगते। जिन पशुओं को मनुष्य ने अपने बन्धन में बाँधकर अप्राकृतिक रहन-सहन के लिए जितना विवश किया है उतनी अस्वस्थता का त्रास उन्हें भोगना पड़ता, अन्यथा रोग और दुर्बलता नाम की कोई वस्तु इस ससार में नहीं है। उसे तो हम स्वेच्छाचार बरतकर स्वयं ही बुलाया करते हैं। यदि अपना दृष्टिकोण बदल दिया जाए, संयम और नियमितता की नीति अपना ली जाए तो फिर न बीमारी रहे और न कमजोरी। अपनी आदतें ही संयमशीलता और आहार-विहार में व्यवस्था रखने की बनानी होंगी। इस निर्माण में जिसे जितनी सफलता मिलेगी वह उतना आरोग्य लाभ का आनन्द भोग सकेगा। इस संदर्भ में पालन करने योग्य १० नियम नीचे दिये जा रहे हैं।

१- दो बार का भोजन-भोजन, दोपहर और शाम को दो बार ही किया जाए। प्रातः दूध आदि हल्का पेय पदार्थ लेना पर्याप्त है। बार-बार खाते रहने की आदत बिल्कुल छोड़ देनी चाहिए।

२- भोजन को ठीक तरह चबाया जाए- भोजन उतना चबाना कि वह सहज ही गले से नीचे उतर जाए। उसकी आदत ऐसे डाली जा सकती है कि रोटी अकेली, बिना साग के खावे और साग को अलग से खावे। साग के साथ गीली होने पर रोटी कम चबाने पर भी गले से नीचे उतर जाती है। पर यदि उसे बिना शाक के खाया जा रहा है तो उसे बहुत देर तक चबाने पर ही गले से नीचे उतारा जा सकेगा। यह बात अभ्यास के लिए है। जब आदत ठीक हो जाए तो शाक मिलाकर भी खा सकते हैं।

३-भोजन अधिक मात्रा में न हो-आधा पेट भोजन, एक चौथाई जल, एक चौथाई साँस आने-जाने के लिए खाली रखना चाहिए। अर्थात् भोजन आधे पेट किया जाए।

४-स्वाद की आदत छोड़ी जाए- अचार-मुरब्बे, सिरका, मिर्च-मसाले, खटाई-मीठा की अधिकता पेट खराब होने और रक्त को दूषित करने का कारण होती है। इन्हें छोड़ा जाए। हल्का-सा नमक और जरूरत हो तो थोड़ा धनियाँ, जीरा सुगन्ध के लिए लिया जा सकता है, पर अन्य मसाले तो छोड़ ही देने चाहिए, शरीर के लिए जितना नमक, शक्कर आवश्यक है उतना अन्न, शाक आदि में पहले से ही मौजूद है। बाहर से जो मिलावट की जाती है वह तो स्वाद के लिए है। हमें स्वाद छोड़ना चाहिऐ । अभ्यास के लिए कुछ दिन तो नमक मीठा बिल्कुल ही छोड़ देना चाहिए और अस्वाद व्रत पालन करना चाहिए। आदत सुधर जाने पर हल्का-सा नमक, नीबू, आँवला, अदरक, हरा धनिया, पोदीना आदि को भोजन में मिलाकर उसे स्वादिष्ट बनाया जा सकता है। सूखे मसाले स्वास्थ्य के शत्रु ही माने जाने चाहिए। मीठा कम से कम लें। आवश्यकतानुसार गुड़ या शहद से काम चलायें।

५-शाक और फलों का अधिक प्रयोग-शाकाहार को भोजन में प्रमुख स्थान रहे। आधा या तिहाई अन्न पर्याप्त है। शेष भाग शाक, फल, दूध, छाछ आदि रहे। ऋतु-फल सस्ते भी होते हैं और अच्छे भी रहते हैं। आम, अमरूद, बेर, जामुन, शहतूत, पपीता, केला, ककड़ी, खीरा, तरबूज, खरबूजा आदि-आदि अपनी - अपनी फसलों पर काफी सस्ते रहते हैं। लौकी, तोरई, परबल, टमाटर, पालक, मेथी आदि सुपाच्य शाकों की मात्रा सदा अधिक ही रखनी चाहिए। गेहूँ, चना आदि को

अंकुरित करके खाया जाए तो उनसे बादाम जितना पोषक तत्व मिलेगा। उन्हें कच्चा हजम न किया जा सके तो उबाला, पकाया भी जा सकता है। अन्न, शाक और फलों के छिलकों में जीवन-तत्व(विटामिन) बहुत रहता है, इसलिए आम, केला, पपीता आदि जिनका छिलका आवश्यक रूप से हटाना पड़े उन्हें छोड़कर शेष के छिलके खाये जाने ही ठीक हैं।

६–हानिकारक पदार्थों से दूर रहें–माँस, मछली, अण्डा, पकवान, मिठाई, चाट, पकौड़ी जैसे हानिकारक पदार्थों से दूर ही रहना चाहिए। चाय, भाँग, शराब आदि नशों को स्वास्थ्य का शत्रु ही माना गया है। तमाखू खाना, पीना, सूँघना, पान चबाना आदि आदतें आर्थिक और शारिरिक दोनों ही दृष्टि से हानिकारक हैं। बासी-कूसी, सड़ी-गली, गन्दगी के साथ बनाई हुई वस्तुओं से स्वास्थ्य का महत्व समझने वालों को बचते ही रहना चाहिए।

७–भाप से पकाये भोजन के लाभ–दाल-शाक पकाने में भाप की पद्धति उपयोगी है। खुले मुँह के बर्तन में तेज आग से पकाने से शाक के ७० प्रतिशत जीवन-तत्व नष्ट हो जाते हैं। हाथ की चक्की का पिसा आटा काम में लेना चाहिए। मशीन की चक्कियों में पिसे आटे के अधिकांश जीवन तत्व नष्ट हो जाते हैं। हाथ की चक्कियों और भाप से पकाने के बर्तनों का घर-घर प्रचलन होना चाहिए। ढीले और कम कपड़े पहनने चाहिए। सर्दी-गर्मी का प्रभाव सहने की क्षमता बनाये रहनी चाहिए। चिन्ता और परेशानी से चिन्तित न रहकर हर क्षण प्रसन्न मुद्रा बनाये रहनी चाहिए।

८– स्वास्थ्य रक्षा के लिए सफाई आवश्यक है–सफाई का पूरा ध्यान रखा जाए। शरीर को अच्छी तरह घिसकर नहाना चाहिए। शरीर को स्पर्श करने वाले कपड़े रोज धोने चाहिए । बिस्तरों को जल्दी-जल्दी धोते रहा जाए। धूप में तो उन्हें नित्य ही सुखाया जाए। घरों में ऐसी सफाई रखनी चाहिए कि मकड़ी, मच्छर, खटमल, पिस्सू, जुँए, चीलर, छिपकली, छछूँदर, चूहे, घुन आदि बढ़ने न पावें। मल-मूत्र त्यागने के स्थानों की पूरी तरह सफाई रखी जाए। नालियाँ गन्दी न रहने पावें। खाद्य पदार्थों को ढककर रखा जाए और सोते समय मुँह ढका न रहे । मकान में इतनी खिड़कियाँ और दरवाजे रहें कि प्रकाश है और हवा आने-जाने की समुचित व्यवस्था बनी रहे। बर्तनों को साफ रखा जाए और उनके रखने का स्थान भी साफ हो। दीवार और फर्शों की जल्दी-जल्दी पुताई, लिपाई, धुलाई करते रहा जाए। सफाई का हर क्षेत्र में पूरा-पूरा ध्यान रखा जाए। हर भोजन के बाद कुल्ला करना, रात को सोते समय दाँत साफ करके सोना, अधिक ठण्डे और गरम पदार्थ न खाना दाँतों की रक्षा के लिए आवश्यक है। जो इन नियमों पर ध्यान नहीं देते उनके दाँत जल्दी ही गिरने और दर्द करने लगते हैं।

९–खुली वायु में रहिये–रात को जल्दी सोने और प्रातः जल्दी उठने की आदत डाली जाए। इससे स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और सवेरे के समय का जिस कार्य में भी उपयोग किया जाए उसी में सफलता मिलती है। प्रातः टहलने, व्यायाम एवं मालिश करने के उपरांत रगड़-रगड़कर नहाने का अभ्यास प्रत्येक स्वास्थ्य के इच्छुक को करना चाहिए। सवेरे खुली हवा में टहलने वाले और व्यायाम करने वालों का स्वास्थ्य कभी खराब नहीं होने पाता। जो स्त्रियाँ टहलने नहीं जा सकतीं उन्हें चक्की पीसनी चाहिए या ऐसा ही कोई पसीना निकलने वाला कड़ा काम करना चाहिए।

१०–ब्रह्मचर्य का पालन–ब्रह्मचर्य का समुचित ध्यान रखा जाए। विवाहितों और अविवाहितों को मर्यादाओं का समुचित पालन करना चाहिए। इस सम्बन्ध में जितनी कठोरता बरती जाएगी स्वास्थ्य उतना ही अच्छा रहेगा। बुद्धिजीवियों और छात्रों के लिए तो यह और भी अधिक आवश्यक है क्योंकि इन्द्रिय असंयम से मानसिक दुर्बलता आती है और उन्हें अपने लक्ष्य तक पहुँचने में भारी अड़चन पड़ती है।

यह दस साधारण नियम हैं जिनका व्यक्तिगत जीवन में प्रयोग करने के लिए हममें से हर एक को अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहिए। परिवार के लोगों को इन स्वास्थ्य मर्यादाओं को पालन करने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए। जो लोग अपने सम्पर्क में आएँ उन्हें भी इन अमृत औषधियों का अवलम्बन करने के लिए प्रेरणा देनी चाहिए। बदले हुए दृष्टिकोण को अपनाने से स्वास्थ्य की समस्या हल हो सकती है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य की समस्या का हल इन्हीं तथ्यों को अपनाने से होगा। इसलिए धर्म-कर्तव्यों की तरह ही इन आरोग्य-मर्यादाओं का हमें पालन करना चाहिए और धर्म प्रचार की भावना से ही इन तथ्यों को अपनाने के लिए दूसरों को प्रेरित करना चाहिए।

स्वास्थ्य सम्वर्द्धन के सामूहिक प्रयास

हमें मिलजुल कर ऐसा कार्यक्रम बनाना चाहिए । जिससे स्वास्थ्य संवर्धन की दिशा में आन्दोलन जैसी गतिविधियाँ सजीव हो उठें। सम्मिलित प्रयासों से कार्यकर्ताओं में उत्साह आता है, आत्म-संतोष बढ़ता है और जन-कल्याण की भावना भी अधिक प्रशस्त हो जाती है। स्वास्थ्य आन्दोलन के सम्बन्ध में कुछ सुझाव नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं–

११–वनस्पतियों का उत्पादन–शाक, फल, वृक्ष और पुष्पों को उत्पन्न करने का आन्दोलन स्वास्थ्य संवर्धन की दृष्टि से बड़ा उपयोगी हो सकता है। घरों के आस-पास फूल उगाने, छप्परों पर लौकी, तोरई, सेम आदि की बेल चढ़ाने, आँगन में तुलसी का बिरवा रोपने तथा जहाँ भी

खाली जगह हो वहाँ फूल, पौधे लगा देने का प्रयत्न करना चाहिए। केला-पपीता आदि थोड़ी जगह होने पर भी लग सकते हैं। कोठियों, बंगलों में अक्सर थोड़ी जगह खाली रहती है वहाँ शाक एवं फूलों को आसानी से उगाया जा सकता है। लगाने, सींचने, गोड़ने, मेड़ बनाने आदि का काम घर के लोग किया करें, तो उससे श्रमशीलता की आदत पड़ेगी और स्वास्थ्य सुधरेगा।

किसानों को शाक और फलों की खेती करने की प्रेरणा देनी चाहिए। जिससे उन्हें लाभ भी अधिक मिले और स्वास्थ्य सम्बन्धी एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति भी होने लगे। जहाँ-तहाँ बड़े वृक्षों को लगाना लोग पुण्य कार्य समझें । रास्तों के सहारे पेड़ लगाये जाएँ। बाग-बगीचे लगाने की जनरुचि उत्पन्न की जाए। वायु की शुद्धि, वर्षा की अधिकता, फल, छाया, लकड़ी आदि की प्राप्ति, हरियाली से चित्त की प्रसन्नता, भूमि की उर्वरा-शक्ति बढ़ना आदि अनेक लाभ वृक्षों से होते हैं। यह प्रवृत्ति जनसाधारण में पैदा करके संसार में हरियाली और शोभा बढ़ानी चाहिए। आवश्यक वस्तुओं के बीज, गमले, पौधे आदि आसानी से मिल सकें ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए। जड़ी-बूटियों के उद्यान एवं फार्म लगाने का प्रयत्न करना भी स्वास्थ्य संवर्धन की दृष्टि से आवश्यक है। पंसारियों की दुकानों पर सड़ी, गली, वर्षों की पुरानी, गुणहीन जड़ी-बूटियाँ मिलती हैं। उनसे बनी आयुर्वेदिक औषधियाँ भला क्या लाभ करेंगी? इस कमी को पूरी करने के लिए जड़ी-बूटियों की खेती की जानी चाहिए और चिकित्सा की एक बहुत बड़ी आवश्यकता को पूरा करने का प्रयत्न होना चाहिए।

१२- पकाने की पद्धति में सुधार—भाप से भोजन पकाने के बर्तन एवं घरेलू चक्कियाँ उपलब्ध हो सकें ऐसी निर्माण और विक्रय की व्यवस्था रहे। इनका मूल्य सस्ता रहे जिससे उनकी लोकप्रियता बढ़े। अब बाल बियरिंग लगी हुई चक्की बनने लगी हैं, चलने में बहुत हलकी होती हैं तथा एक घण्टे में काफी आटा पीसती हैं। इनका प्रचलन घर-घर किया जाए और इनकी टूट-फूट को सुधारने तथा चलाने सम्बन्धी आवश्यक जानकारी सिखाई जाए। खाते-पीते घरों की स्त्रियाँ चक्की पीसने में अपमान और असुविधा समझने लगी हैं, उन्हें चक्की के स्वास्थ्य सम्बन्धी लाभ समझाये जाएँ। पुरुष स्वयं पीसना आरम्भ करें। लोग हाथ का पिसा आटा खाने का ही व्रत लें तो चक्की का प्रचलन बढ़ेगा इसी प्रकार भाप से भोजन पकने लगा तो वह ७० फीसदी अधिक पौष्टिक होगा और खाने में स्वाद भी लगेगा। इनका प्रसार आन्दोलन के ऊपर ही निर्भर है।

१३- सात्विक आहार की पाक विद्या—तली हुई, भुनी और जली हुई अस्वास्थ्यकर मिठाइयों और पकवानों के स्थान पर ऐसे पदार्थों का प्रचलन किया जाए जो स्वादिष्ट भी लगें और लाभदायक भी हों। लौकी की खीर, गाजर का हलुआ, सलाद, कचूमर, श्रीखण्ड, मीठा दलिया, अंकुरित अन्नों के व्यंजन जैसे पदार्थ बनाने की एक स्वतन्त्र पाक-विद्या का विकास करना पड़ेगा जो दावतों में भी काम आ सके और हानि जरा भी न पहुँचाते हुए स्वादिष्ट भी लगें। चाय पीने वालों की आदत छुड़ाने के लिए गेहूँ के भुने दलिए को या जड़ी-बूटियों से बने हुए क्वाथ की चाय बनाना बताया जा सकता है। पान-सुपाड़ी के स्थान पर सौंफ और धनिया संस्कारित करके तैयार किया जा सकता है। प्राकृतिक आहार के व्यंजनों की पाक-विद्या का प्रसार हो सके तो स्वास्थ्य रक्षा की दिशा में बड़ी सहायता मिले।

१४—गन्दगी का निराकरण—सार्वजनिक सफाई का प्रश्न सरकार के हाथों छोड़ देने से ही काम न चलेगा। लोगों को अपनी गन्दी आदतें छोड़ने के लिए और सार्वजनिक सफाई में दिलचस्पी लेने की प्रवृत्ति पैदा करनी पड़ेगी। बच्चों को घर से बाहर सार्वजनिक स्थानों पर एवं नालियों पर टट्टी करने बिठा देना, सड़कों तथा गलियों में घर का कूड़ा बिखेर देना, धर्मशालाओं में, प्लेटफार्मों, रेल के डिब्बों और सार्वजनिक स्थानों को फलों के छिलके तथा नाक-थूक, रद्दी कागज, दौने, पत्तल आदि डालकर गन्दा करना बुरी आदतें हैं, इससे बीमारी और गन्दगी फैलती है। देहातों में टट्टी-पेशाब के लिए उचित स्थानों की व्यवस्था नहीं होती। गाँव के निकटवर्ती स्थानों तथा गली-कूचों में इस प्रकार की गन्दगी नहीं रोकी जाती । यह प्रवृत्ति बदली जानी चाहिए। लकड़ी के बने इधर से उधर रखे जाने वाले शौचालय यदि देहातों में काम आने लगें तो खेती को खाद भी मिले, गन्दगी भी न फैले और बेपर्दगी भी न हो। खुरपी लेकर शौच जाना और गड्ढा खोदकर उसमें शौच करने के उपरान्त मिट्टी डालने की आदत पड़ जाए तो भी ग्रामीण जीवन में बहुत शुद्धि रहे। गड्ढे खोद कर उसमें कंकड़-पत्थर के टुकड़े डालकर सोखने वाले पेशाबघर बनाये जाएँ और उनमें चूना, फिनायल पड़ा रहे तो जहाँ-तहाँ पेशाब करने से फैलने वाली बीमारियों की बहुत रोकथाम हो सकती है। इसी प्रकार पशुओं के मल-मूत्र की सफाई की भी उचित व्यवस्था रहे तो आधे रोगों से छुटकारा मिल सकता है; सार्वजनिक गन्दगी की समस्या देखने में तुच्छ प्रतीत होने पर भी वस्तुतः बहुत बड़ी है। लोकसेवकों को जनता की आदतें बदलने के लिए इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ करना ही होगा, अन्यथा बढ़ते हुए रोग घट न सकेंगे।

१५—नशे का त्याग—नशेबाजी की बुराइयों को समझाने के लिए और इस बुरी आदत को छुड़ाने के लिए सभी प्रचार साधनों का उपयोग किया जाए। पंचायतों, धार्मिक समारोहों एवं शुभ कार्यों के अवसर पर इस हानिकारक बुराई को छुड़ाने के लिए प्रतिज्ञाएँ कराई जाएँ।

१६-व्यायाम और उसका प्रशिक्षण—आसन, व्यायाम, प्राणायाम, सूर्य नमस्कार, खेल-कूद, सवेरे का टहलना, अंग संचालन, मालिश आदि की विधियाँ सिखाने के लिए

'वर्ग' चलाये जाएँ। सामूहिक व्यायाम करने के लिए जहाँ सम्भव हो वहाँ दैनिक व्यवस्था की जाए। व्यायाम अपने आप में एक सर्वांगपूर्ण चिकित्सा शास्त्र है। चारपाई पर पड़े हुए रोगी भी कुछ खास प्रकार के अंग-संचालन, हलके व्यायाम करते हुए कठिन रोगों से छुटकारा पा सकते हैं। बूढ़े आदमी अपने बुढ़ापे को दस-बीस साल आगे धकेल सकते हैं। कमजोर प्रकृति के व्यक्ति, छोटे बच्चे, विद्यार्थी, किशोर, तरुण, स्त्रियाँ-लड़कियाँ, यहाँ तक कि गर्भवती स्त्रियों के लिए भी उनकी स्थिति के उपयुक्त व्यायाम बहुत ही आशाजनक प्रतिफल उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार का ज्ञान हम लोग प्राप्त करें और उसको सर्वसाधारण को दें। समय-समय पर ऐसे आयोजन करते रहें जिन्हें देखकर लोगों में इस प्रकार की प्रेरणा स्वयं पैदा हो।

अखाड़े, व्यायामशाला, क्रीड़ा-प्रांगण आदि स्वास्थ्य-संस्थानों की जगह-जगह स्थापना की जानी चाहिए। लाठी, भाला, तलवार, छुरा; धनुष आदि हथियार चलाने की शिक्षा जहाँ स्वास्थ्य सुधारती है, व्यायाम की आवश्यकता पूर्ण करती है, वहीं वह मनोबल और साहस भी बढ़ाती एवं आत्मरक्षा की क्षमता उत्पन्न करती है। इस प्रकार के प्रशिक्षण देने वाले तैयार करना तथा लोगों में उसके लिए आवश्यक उत्साह पैदा करना हमारा काम होना चाहिए। कुश्ती, दौड़, तैराकी, रस्साकशी, लम्बी कूद, ऊँची छलाँग, कबड्डी, गेंद आदि का दंगल एवं प्रतियोगिता आयोजनों और पुरस्कार व्यवस्था करवाने से भी इन कार्यों में लोगों का उत्साह बढ़ता है। ऐसे सम्मेलन यदि ईर्ष्या-द्वेष से बचाये रखे जाएँ और गलत प्रतिस्पर्धा न होने दी जाए तो पारस्परिक प्रेम-भाव बढ़ाने एवं गुण्डागर्दी के विरुद्ध एक शक्ति प्रदर्शन का भी काम दे सकते हैं।

डम्बल, मुगदर, लेजम, खींचने के स्प्रिंग, तानने के रबड़ के घेरे, गेंद-बल्ला आदि व्यायाम सम्बन्धी उपकरण तथा साहित्य हर जगह मिल सके ऐसी विक्रय व्यवस्था भी हर जगह रहनी चाहिए।

'फर्स्ट-एड' की शिक्षा का प्रबन्ध हर जगह रहना चाहिए और उसे विधिवत् सीखने तथा रैडक्रास सोसाइटी का प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए उत्साह पैदा करना चाहिए । स्काउटिंग की भी भावना और शिक्षा का प्रसार होना आवश्यक है।

१७—साप्ताहिक उपवास—साप्ताहिक छुट्टी पेट को भी मिलनी चाहिए। छह दिन काम करने के बाद एक दिन पेट को काम न करना पड़े, उपवास रखा जाए करे, तो पाचन क्रिया में कोई खराबी न आने पाए। विश्राम के दिन सप्ताह भर की जमा हुई कब्ज पच जाया करे और अगले सप्ताह अधिक अच्छी तरह काम करने के लिए पेट समर्थ हो जाया करे। देश में अन्न की वर्तमान कमी के कारण विदेशों से बहुत दुर्लभ विदेशी मुद्रा व्यय करके अन्न मँगाना पड़ सकता है। यदि सप्ताह में एक दिन उपवास का क्रम चल पड़े तो यह समस्या उत्पन्न न हो। पूरे दिन न बन पड़े तो एक समय भोजन छोड़ने की व्यवस्था तो करनी ही चाहिए। जो लोग अधिक अशक्त होवें, वे दूध, फल, शाक आदि भले ही ले लिया करें, पर सप्ताह में एक समय अन्न छोड़ने, उपवास करने का तो प्रचलन किया जाए। उपवास का शारीरिक लाभ तो स्पष्ट ही है, आध्यात्मिक लाभ भी कम नहीं।

१८—बड़ी दावतें और जूठन— बड़ी दावतों में अन्न का अपव्यय न होने देना चाहिए। प्रीतिभोजों में खाने वालों की संख्या कम से कम रहे और खाने की वस्तुएँ कम संख्या में ही परोसी जाएँ, जिससे अन्न की बर्बादी न हो।

थाली में जूठन छोड़ने की प्रथा बिलकुल ही बन्द की जाए। महतर या कुत्ते को भोजन देना हो तो अच्छा और स्वच्छ भोजन देना चाहिए। उच्छिष्ट भोजन कराने से तो उल्टा पाप चढ़ता है। खाने वाले की भी शारीरिक और मानसिक हानि होती है। अन्न देवता का अपमान धार्मिक दृष्टि से भी पाप है। अन्न की बर्बादी तो प्रत्यक्ष ही है।

१९—सन्तान की सीमा मर्यादा—देश की बढ़ती हुई जनसंख्या, आर्थिक कठिनाई, साधनों की कमी और जन साधारण के गिरे हुए स्वास्थ्य को देखते हुए यही उचित है कि प्रत्येक गृहस्थ कम से कम सन्तान उत्पन्न करें। अधिक सन्तान उत्पन्न होने से माताएँ दुर्बलताग्रस्त होकर अकाल ही काल-कवलित हो जाती हैं। बच्चे कमजोर होते हैं और ठीक प्रकार पोषण न होने पर अस्वस्थता एवं अकाल मृत्यु के ग्रास बनते हैं। शिक्षा और विकास की समुचित सुविधा न होने से बालक भी अविकसित रह जाते हैं। इसलिए सन्तान को न्यूनतम रखने का ही प्रयास किया जाए। लोग ब्रह्मचर्य से रहें अथवा परिवार नियोजन विशेषज्ञों की सलाह लें। सन्तान के उत्तरदायित्वों एवं चिन्ताओं से जो व्यक्ति जितने हलके होंगे—वे उतने ही नीरोग रहेंगे, यह तथ्य हर सद्गृहस्थ भली प्रकार समझ सके इसी में उसका कल्याण है।

२०—प्राकृतिक चिकित्सा की जानकारी—पंचतत्वों से रोग निवारण की प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति को लोक प्रिय बनाया जाना चाहिए। जगह-जगह ऐसे चिकित्सालय रहें। इनमें उपवास, एनेमा, जल चिकित्सा, सूर्य चिकित्सा, मिट्टी, भाप आदि साधनों की सहायता से शरीर का कल्प जैसा शोधन होता है और एक रोग की ही नहीं, समस्त रोगों की जड़ ही कट जाती है । सर्वसाधारण को इस पद्धति का इतना ज्ञान करा दिया जाए कि आवश्यकता पड़ने पर अपनी तथा अपने घर के लोगों की चिकित्सा स्वयं ही कर लिया करें।

यह सभी प्रयत्न ऐसे हैं जो सामूहिक रूप से ही प्रसारित किए जा सकते हैं। इन्हें आन्दोलन का रूप मिलना चाहिए और इनका संचालन 'अखण्ड-ज्योति' परिवारों के सम्मिलित प्रयत्नों से होता रहना चाहिए।

अशिक्षा का अन्धकार दूर किया जाए

जीवन को सुविकसित करने के लिए जिस मानसिक विकास की आवश्यकता है उसके लिए 'शिक्षा' की भारी आवश्यकता होती है। माना कि शिक्षा प्राप्त करके भी कितने ही लोग उसका सदुपयोग नहीं करते । इस बुराई के रहते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि मानसिक विकास के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। ज्ञान का प्रकाश अन्तरात्मा में शिक्षा से ही पहुँचता है। भौतिक विकास के लिए भी शिक्षा की आवश्यकता अनिवार्य रूप से अनुभव की जाती है। खेद की बात है कि देश में अभी तक चौथाई जनता भी साक्षर नहीं हो पाई है। युग-परिवर्तन के लिए ऐसा प्रबल प्रयत्न करना चाहिए कि कोई वयस्क व्यक्ति निरक्षर न रहे। इस सम्बन्ध में दस कार्यक्रम नीचे प्रस्तुत हैं-

२१-बच्चों को स्कूल भिजवाया जाए-जो बच्चे स्कूल जाने लायक हैं उन्हें पाठशालों में भिजवाने के लिए उनके अभिभावकों को सहमत करना चाहिए। जिन्होने पढ़ना छोड़ दिया है, उन्हें फिर पाठशाला में प्रवेश करने या प्राइवेट पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। वयस्कों को इसके लिए तैयार किया जाए कि वे प्रौढ़ पाठशालाओं में पढ़ने लगें। परिवार के साक्षर लोग मिलकर अपने घर की नारियों या अन्य अशिक्षितों को शिक्षा का महत्व समझाते हुए उन्हें पढ़ने के लिए रजामन्द करें।

२२-शिक्षितों की पत्नी अशिक्षित न रहें- शिक्षितों को इसके लिए तैयार किया जाए कि वे अपने घर के निरक्षरों को साक्षर बनाने के लिए उन्हें समझावें, सहमत करें और पढ़ाने के लिए स्वयं नियमित रूप से समय निकालें। स्त्रियाँ अधिकांश घरों में अशिक्षित या स्वल्पशिक्षित होती हैं। शिक्षित पतियों का परम पवित्र धर्म-कर्तव्य यह है कि पत्नी को सच्चे अर्थों में अर्धांगिनी बनाने के लिए उन्हें शिक्षित बनाने का प्रयत्न करें। स्वयं न पढ़ा सकें तो दूसरे माध्यम से उनकी पढ़ाई का प्रबन्ध करें।

२३- प्रौढ़ पाठशालाओं का आयोजन-सेवाभावी शिक्षित लोग मिल-जुलकर गाँव-गाँव और मुहल्ले में रात्रि को फुरसत के समय चलने वाली प्रौढ़ पाठशालाएँ स्थापित करें। अशिक्षितों को समझा-बुझाकर उनमें भर्ती करना और प्रेमपूर्वक पढ़ाना उन सरस्वती पुत्रों का काम होना चाहिए। धन उसी का धन्य है जो दूसरों की सुविधा बढ़ाने में काम आवे। शिक्षा उसी की धन्य है जो दूसरे अशिक्षितों को शिक्षित बनाने में प्रयुक्त हो। जिस प्रकार अशिक्षितों को पढ़ने के लिए सहमत और तत्पर करना एक बड़ा काम है, उसी प्रकार शिक्षा की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए नित्य नियमित रूप से कुछ समय देते रहने वाले सेवाभावी सज्जनों को तैयार करना और फिर उनके उत्साह को बनाये रहना एक महत्वपूर्ण प्रयत्न है। दोनों ही वर्गों को प्रेरणा देकर जगह-जगह प्रौढ़ पाठशालाएँ चालू कराई जानी चाहिए।

२४- प्रौढ़ महिलाओं की शिक्षा व्यवस्था-महिलाओं की प्रौढ़ पाठशालाएँ चलाने का समय दिन ढलते तीसरे पहर का ठीक रहता है। घर गृहस्थी के काम से निवृत्त होकर महिलाएँ तीसरे पहर, प्रायः दो से चार बजे तक फुरसत में होती हैं। उनकी पाठशालाएँ उसी समय चलें। अच्छा हो शिक्षित महिलाएँ ही नारी शिक्षा का कार्य अपने हाथ में लें। पर यदि वैसा न हो सके तो १५-१६ वर्ष से कम आयु के प्रतिभावान लड़के अथवा वयोवृद्ध सज्जन इसके लिए उपयुक्त रह सकते हैं।

२५-शिक्षा के साथ दीक्षा भी-प्रौढ़ शिक्षा के लिए एक व्यवस्थित पाठ्यक्रम बनाया जाए, इसके लिए ऐसी पुस्तकें उपयोग में लाई जावें जो ज्ञान-दीक्षा पूरा करती हों। अक्षर ज्ञान के साथ-साथ मानव-जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालने वाले पाठ इन पुस्तकों में रहें। विचार क्रान्ति, नैतिक-उत्कर्ष एवं युग-निर्माण की विचारधारा इन पाठ्य पुस्तकों में आ जाए। शिक्षक पढ़ाते समय शिक्षार्थियों से उन पाठों में आए हुए विषयों पर विचार-विनिमय भी किया करें। समाजशास्त्र, नागरिक शास्त्र, स्वास्थ्य, धर्म-सदाचार, राजनीति, विश्व परिचय आदि की मोटी-मोटी जानकारियों का इस शिक्षण में ऐसा समावेश रहे कि शिक्षार्थी आज की परिस्थितियों से, वर्तमान युग से और मानव जाति के सामने प्रस्तुत समस्याओं से भली प्रकार परिचित हो सके।

२६- नये स्कूलों की स्थापना- जहाँ स्कूलों की आवश्यकता है, वहाँ उसकी पूर्ति के लिए प्रयत्न किए जाएँ, जनसहयोग से नए विद्यालयों की स्थापना तथा आरम्भ करके पीछे उन्हें सरकार के सुपुर्द कर देने की पद्धति अच्छी है। स्कूल की इमारतों के लिए खाली जमीनें या मकान लोगों से बिना मूल्य प्राप्त करना या जन सहयोग से नए सिरे से बनाना, उत्साही प्रयत्नशील लोगों की प्रेरणा से सुविधापूर्वक हो सकता है। अध्यापकों का खर्च भी फीस की तरह सहायता देकर लोग आसानी से चला सकते है। धनीमानी लोग इस दिशा में कुछ विशेष उत्साह दिखा सकें ऐसा वातावरण तैयार करना चाहिए।

२७-रात्रि पाठशाला चलाई जाएँ-ऐसी रात्रि पाठशालाएँ भी चलाई जाएँ जिनमें साधारण पढ़े-लिखे काम-काजी लोग अपनी शिक्षा को आगे बढ़ा सकें। स्वल्पशिक्षित लोग जो अपनी पढ़ाई समाप्त कर चुके हैं और काम-काज में लग गए हैं, उनके लिए शिक्षा सम्बन्धी उन्नति के द्वार प्रायः रुके हुए ही पड़े रहते हैं। इस कठिनाई को दूर किया जाना चाहिए। निरक्षरों को साक्षर बनाने के लिए जिस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षा आवश्यक है, उसी प्रकार स्वल्प शिक्षितों को सुशिक्षित बनाने के लिए ऐसे प्रयत्न भी चलने चाहिए, जिनमें रात्रि को फुरसत के समय दो घण्टे पढ़ने की सुविधा प्राप्त कर लोग आगे उन्नति कर सकें। प्राइवेट पढ़कर परीक्षा देने

की सुविधा कई सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं में होती है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन पुरुषों के लिए और महिला विद्यापीठ की परीक्षाएँ स्त्रियों के लिए उपयोगी रहती हैं। प्राइमरी, मिडिल और हाईस्कूल तक की प्राइवेट परीक्षाएँ सरकारी शिक्षा-विभाग भी स्वीकार कर लेता है। जहाँ जैसी सुविधा हो वहाँ उसी प्रकार की ऐसी पाठशालाएँ चलें। ऐसी पाठशालाओं का खर्च चलाने के लिए छात्रों से फीस भी ली जा सकती है।

२८-शिक्षित ज्ञान ऋण चुकाएँ - शिक्षित लोग पाँच व्यक्तियों को शिक्षित करना अपना एक ज्ञान-ऋण जैसा उत्तरदायित्व मानें और उसे चुकाने के लिए प्रतिज्ञाएँ लेकर जुट जावें, ऐसा लोक-शिक्षण करना चाहिए। जिस प्रकार धनी लोग कुछ दान-पुण्य करते रहते हैं, उसी प्रकार शिक्षारूपी धन से भी दान-पुण्य करने की प्रथा आरम्भ करनी चाहिए।

तीर्थयात्रा करके जब तक कोई व्यक्ति घर आकर कर कुछ दान-पुण्य, कथा-ब्रह्मभोज नहीं करता तब तक उसकी तीर्थ-यात्रा सफल नहीं मानी जाती। इसी प्रकार ज्ञान-ऋण चुकाये बिना किसी की शिक्षा को सफल एवं सार्थक न माने जाने की मान्यता जाग्रत की जाए। सरकारी टैक्स या उधार लिया हुआ कर्जा चुकाया जाना जिस प्रकार आवश्यक माना जाता है उसी प्रकार हर शिक्षित पाँच अशिक्षितों को शिक्षित बनाने के लिए समयदान या धन-दान देकर अपने को ऋणमुक्त करने का प्रयत्न करें। जो लोग समय नहीं दे सकते वे धन देकर अध्यापकों के वेतन के लिए दान दिया करें, यह भी हो सकता है और इस प्रकार भी ज्ञान-ऋण चुक सकता है।

२९-पुस्तकालय और वाचनालय-पुस्तकालयों और वाचनालयों की स्थापना की जाए। उनमें केवल ऐसी चुनी हुई पुस्तकें या पत्र-पत्रिकाएँ ही मँगाई जावें जो जीवन-निर्माण की सही दिशा में प्रेरणा दे सकें। अश्लील, जासूसी, भद्दी-भौंडी विचारधारा देने वाली या मनोरंजन मात्र का उद्देश्य पूरा करके समय नष्ट करने वाली, भ्रम उत्पन्न करने वाली पुस्तकें संख्या की अधिकता के मोह में भूलकर भी इन पुस्तकालयों में जमा न की जाएँ। भोजन में जो स्थान विषाक्त खाद्य पदार्थों का है वही पुस्तकालयों में गन्दे साहित्य का है। इस शुद्धि का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए चुनी हुई पुस्तकों के वाचनालय, पुस्तकालय स्थापित किए जाएँ। उनका खर्च पढ़ने वालों से कुछ शुल्क लेकर या चन्दा से पूरा किया जाए। जिनके यहाँ अच्छी पुस्तकें जमा हैं या पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं उनसे वह पुस्तकें उधार भी माँगी जा सकती हैं और इस प्रकार प्रयत्न करने से भी पुस्तकालय, वाचनालय चल सकते हैं। लोक-शिक्षण के लिए इनकी भी बड़ी आवश्यकता है।

३०-अध्ययन की रुचि जगावें- पढ़ने की अभिरुचि उत्पन्न करना, युग-निर्माण की दृष्टि से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता है। आमतौर से स्कूली शिक्षा समाप्त करने के बाद लोग पुस्तकों को नमस्कार कर लेते हैं और अपने काम-धन्धे को ही महत्व देते हैं। उनकी दृष्टि में पुस्तकें-पत्रिकाएँ आदि पढ़ना, ताश खेलने की तरह समय को व्यर्थ गँवाने वाला मनोरंजन मात्र होता है। इस मान्यता को हटाया ही जाना चाहिए और निरक्षरता की भाँति 'ज्ञान-वृद्धि' की उपेक्षा से भी प्रबल संघर्ष आरम्भ करना चाहिए। जनमानस में यह बात गहराई तक प्रवेश कराई जानी चाहिये कि पेट को रोटी देने की भाँति बुद्धि को ज्ञान-वर्द्धक साहित्य की आवश्यकता है। उसकी उपेक्षा करने पर आन्तरिक विकास की समस्या हल नहीं हो सकती है।

घर-घर जाकर पढ़ने में अभिरुचि उत्पन्न कराना, पुस्तकें पढ़ने का महत्व बताना और फिर उन्हीं के निवास स्थानों पर उपयोगी पुस्तकें पहुँचाना एक बहुत बड़ा काम है। चलते-फिरते पुस्तकालयों का यही रूप रहे कि ज्ञान प्रचारक लोग अपने झोले में कुछ पुस्तकें रखकर घर से निकला करें और जन-सम्पर्क बढ़ाकर जिनमें अभिरुचि उत्पन्न हो जाए उन्हें पुस्तकें पढ़ने देने तथा वापिस लेने जाया करें। चाय का प्रसार इसी प्रकार घर-घर जाकर मुफ्त में चाय पिलाकर प्रारम्भिक प्रचारकों ने किया था। अब तो चाय की आदत इतनी बढ़ गई है कि पीने वाले हड़बड़ाते फिरा करते हैं। इसी प्रकार की अभिरुचि सत्साहित्य पढ़ने और स्वाध्याय को नित्य-नियमित रूप से करते रहने के लिए उत्पन्न हो सके ऐसा प्रयत्न किया जाना चाहिए। इस प्रवृत्ति की अभिवृद्धि पर युग-निर्माण योजना की सफलता बहुत कुछ निर्भर रहेगी।

शिक्षा प्रसार आवश्यक है। मानसिक उत्कर्ष के लिए यह एक अनिवार्य कार्य है। इसके बिना देश आगे नहीं बढ़ सकता। विचार क्रान्ति के उद्देश्य की पूर्ति लोक-शिक्षण पर ही निर्भर है और वह कार्य शिक्षा प्रसार से ही होगा। हमें इसके लिए जी-जान से जुटना चाहिए।

जन-मानस को धर्म-दीक्षित करने की योजना

ज्ञान को उपनिषदों में अमृत कहा गया है। जीवन को ठीक प्रकार जीने और सही दृष्टिकोण अपनाये रहने के लिए प्रेरणा देते रहना और श्रद्धा स्थिर रखना यही ज्ञान का उद्देश्य है। जिन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया उनका मनुष्य जन्म धन्य हो गया है। शिक्षा का उद्देश्य भी ज्ञान की प्राप्ति ही है। सद्ज्ञान को ही विद्या या दीक्षा कहते हैं। इसे यह सम्पत्ति प्राप्त हो गई उसे और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता।

जीवन में ज्ञान को कैसे धारण किया जाए और उसे व्यापक कैसे बनाया जाए, इस सम्बन्ध में कुछ कार्यक्रम नीचे प्रस्तुत हैं-

३१-आस्तिकता की आस्था-आस्तिकता में गहरी निष्ठा मन में जमी रहने से मनुष्य अनेक दुष्कर्मों से बच

जाता है और उसकी आन्तरिक प्रगति सन्मार्ग की ओर उन्मुख होती रहती है। परमात्मा को सर्व-व्यापक और न्यायकारी मानने से छुपकर पाप करना भी कठिन हो जाता है। राजदण्ड से बचा जा सकता है पर सर्वज्ञ ईश्वर के दण्ड से चतुरता करने वाले भी नहीं बच सकते । यह विश्वास जिनमें स्थिर रहेगा वे कुमार्ग से बचेंगे और सत्कर्मों द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने और उसकी कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहेंगे। आस्तिकता, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को सुख-शान्तिमय बनाये रहने का अचूक साधन है। उसे हर व्यक्ति अपने अन्त:करण में गहराई तक प्रतिष्ठित रखे यह प्रयत्न करना चाहिए।

चाहे कितना ही व्यस्त कार्यक्रम क्यों न हो, प्रातः सोकर उठने और रात को सोते समय कम से कम १५-१५ मिनट सर्वशक्तिमान-न्यायकारी परमात्मा का ध्यान करना चाहिए और उससे सद्विचारों एवं सत्कर्मों की प्रेरणा के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। इतनी उपासना तो प्रत्येक व्यक्ति करने ही लगे। जिन्हें कुछ सुविधा और श्रद्धा अधिक हो तो वे नित्य-नियमपूर्वक स्नान करके उपासना स्थल पर गायत्री महामन्त्र का जप किया करें। अन्य देवताओं या विधानों से उपासना करने वाले भी कुछ गायत्री मन्त्र अवश्य जप कर लिया करें। इससे आत्मिक-प्रगति में बड़ी सहायता मिलती है।

३२–स्वाध्याय की साधना– जीवन-निर्माण की आवश्यक प्रेरणा देने वाला सत्साहित्य नित्य-नियमपूर्वक पढ़ना ही चाहिए। स्वाध्याय को भी साधना का ही एक अंग माना जाए और कुछ समय इसके लिए नियत रखा जाए। कुविचारों को शमन करने के लिए नित्य सद्विचारों का सत्संग करना आवश्यक है। व्यक्ति का सत्संग तो कठिन पड़ता है पर साहित्य के माध्यम से संसार भर के जीवित या मृत सत्पुरुषों के साथ सत्संग किया जा सकता है। यह जीवन का महत्वपूर्ण लाभ है, जिससे किसी को भी वंचित नहीं रहना चाहिए। जो पढ़े-लिखे नहीं हैं उन्हें दूसरों से सत्साहित्य पढ़ाकर सुनने की व्यवस्था करनी चाहिए।

३३–संस्कारित जीवन–जीवन को समय-समय पर संस्कारित करने के लिए हिन्दू धर्म में षोडश संस्कारों का महत्वपूर्ण विधान है। पारिवारिक समारोह के उत्साहपूर्ण वातावरण में सुव्यवस्थित जीवन की शिक्षा इन अवसरों पर मनीषियों द्वारा दी जाती है और अग्निदेव तथा देवताओं की साक्षी में इन नियमों पर चलने के लिए प्रतिज्ञा कराई जाती है तो उसका ठोस प्रभाव पड़ता है। पुंसवन, सीमन्त, नामकरण, मुण्डन, अन्न-प्राशन, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, वानप्रस्थ, अन्त्येष्टि आदि संस्कारों का कर्मकाण्ड बहुत ही शिक्षा और प्रेरणा से भरा हुआ है। यदि उन्हें ठीक तरह किया जाए तो हर व्यक्ति पर गहरा प्रभाव पड़े।

खेद है कि संस्कारों के कर्मकाण्ड अब केवल चिन्ह-पूजा मात्र रह गये हैं। उनमें खर्च तो बहुत होता है पर प्रेरणा कुछ नहीं मिलती। हमें संस्कारों का महत्व जानना चाहिए और कराने की विधि तथा शिक्षा को सीखना समझना चाहिए। संस्कारों का पुन: प्रसार किया जाए और उनके कर्मकाण्ड इस प्रकार किये जाएँ कि कम से कम खर्च में अधिक से अधिक प्रेरणा प्राप्त कर सकना सर्वसुलभ हो सके।

३४–पर्व और त्यौहारों का सन्देश–जिस प्रकार व्यक्तिगत नैतिक प्रशिक्षण के लिए संस्कारों की उपयोगिता है उसी प्रकार सामाजिक सुव्यवस्था की शिक्षा, पर्व और त्यौहारों के माध्यम से दी जाती है। हर त्यौहार के साथ महत्वपूर्ण आदर्श और संदेश सन्निहित हैं, जिन्हें हृदयंगम करने से जनसाधारण को अपने सामाजिक कर्तव्यों का ठीक तरह बोध हो सकता है और उन्हें पालन करने की आवश्यक प्रेरणा मिल सकती है।

त्यौहारों के मनाये जाने के सामूहिक कार्यक्रम बनाये जाया करें और उनके विधान, कर्मकाण्ड ऐसे रहें जिनमें भाग लेने लिए सहज ही आकर्षण हो और इच्छा जगे। सब लोग इकट्ठे हों, पुरोहित लोग उस पर्व का संदेश सुनाते हुए प्रवचन करें और उस संदेश में जिन प्रवृत्तियों की प्रेरणा है उन्हें किसी रूप से कार्यान्वित भी किया जाया करे।

संस्कारों और त्यौहारों को कैसे मनाया जाए और उपस्थिति लोगों को क्या सिखाया जाए इसकी शिक्षा व्यवस्था हम जल्दी ही करेंगे, उसे सीखकर अपने संबद्ध समाज में इन पुण्य-प्रक्रियाओं को प्रचलित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

३५–जन्म-दिन समारोह–हर व्यक्ति का जन्मदिन मनाया जाए। उसके स्वजन-सम्बन्धी बधाई और शुभ कामनाएँ दिया करें। एक छोटा जन्मोत्सव मनाया जाया करे जिसमें वह व्यक्ति आत्म-निरीक्षण करते हुए शेष जीवन को और भी अधिक आदर्शमय बनाने के लिए कदम उठाया करे। बधाई देने वाले लोग भी कुछ ऐसे ही प्रोत्साहन उसे दिया करें। हर जन्म-दिन जीवन-शोधन की प्रेरणा का पर्व बने, ऐसी प्रथा-परम्पराएँ प्रचलित की जानी चाहिए।

३६–व्रतशीलता की धर्म धारणा–प्रत्येक व्यक्ति व्रतशील बने, इसके लिए व्रत आन्दोलन को जन्म दिया जाना चाहिए। भोजन, ब्रह्मचर्य, अर्थोपार्जन, दिनचर्या, खर्च का निर्धारित बजट, स्वाध्याय, उपासना, व्यायाम, दान, सोना, उठना आदि हर कार्य की निर्धारित मर्यादाएँ अपनी परिस्थितियों के अनुकूल निर्धारित करके उसका कड़ाई के साथ पालन करने की आवश्यकता हर व्यक्ति अनुभव करे, ऐसा लोकशिक्षण किया जाए। बुरी आदतों को क्रमशः घटाते चलना और सद्गुणों को निरन्तर बढ़ाते चलना भी इस आन्दोलन का एक अंग रहे। साधनामय, संयमी और मर्यादित जीवन बिताने की कला हर व्यक्ति को सिखाई जाए ताकि उसके लिए प्रगतिशील हो सकना संभव हो सके।

३७–मन्दिरों को प्रेरणा-केन्द्र बनाया जाए– मन्दिर, मठों को नैतिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों का केन्द्र बनाया जाए। इतनी बड़ी इमारतों में प्रौढ़ पाठशालाएँ रात्रि पाठशालाएँ, कथा-कीर्तन, प्रवचन, उपदेश, पर्व-त्यौहारों के सामूहिक आयोजन, यज्ञोपवीत, मुण्डन आदि संस्कारों के कार्यक्रम, औषधालय, पुस्तकालय, संगीत, शिक्षा, आसन, प्राणायाम, व्यायाम की व्यवस्था, व्रत आन्दोलन जैसी युग-निर्माण की अनेक गतिविधियों को चलाया जा सकता है। भगवान की सेवा-पूजा करने वाले व्यक्ति ऐसे हों जो बचे हुए समय का उपयोग मन्दिर को धर्म-प्रवृत्तियों का केन्द्र बनाये रहने और उनका संचालन करने में लगाया करें। प्रतिमा की आरती, पूजा, भोग, प्रसाद की तरह ही जन-सेवा के कार्यक्रमों को भी यज्ञ माना जाना चाहिए और उनके लिए मन्दिरों के संचालकों एवं कार्यकर्त्ताओं से अनुरोध करना चाहिए कि मन्दिरों को उपासना के साथ साथ-धर्म सेवा का भी केन्द्र बनाया जाए।

३८–युग-निर्माण के ज्ञान मन्दिर–जगह-जगह ऐसे केन्द्र स्थापित किये जाएँ जिनका स्वरूप ज्ञान-मन्दिर जैसा हो। सद्‌भावना और सत्प्रवृत्ति की प्रतीक गायत्री माता का सुन्दर चित्र इन केन्द्रों में स्थापित करके, प्रातः-सायं पूजा, आरती, भजन, कीर्तन की व्यवस्था करके इन केन्द्रों में मन्दिर जैसा धार्मिक वातावरण बनाया जाए। उसमें पुस्तकालय , वाचनालय रहें। सदस्यों के नित्यप्रति मिलने-जुलने, पढ़ने-सीखने और विचार-विनिमय करने एवं रचनात्मक कार्यों की योजनाएँ चलाने के लिए इसे एक क्लब या मिलन-मन्दिर का रूप दिया जाए। योजना की स्थानीय प्रवृत्तियों के संचालन के लिए इस प्रकार के केन्द्र कार्यालय हर जगह होने चाहिए।

३९–साधु-ब्राह्मण भी कर्तव्य पालें–पंडित, पुरोहित, ग्राम गुरु, पुजारी, साधु, महात्मा, कथावाचक आदि धर्म के नाम पर आजीविका चलाने वाले व्यक्तियों की संख्या भारतवर्ष में ८० लाख है। इन्हें जनसेवा एवं धर्म प्रवृत्तियों को चलाने के लिए प्रेरणा देनी चाहिए। ईसाई धर्म में करीब १ लाख पादरी हैं जिनके प्रयत्न से संसार की तीन अरब आबादी में से करीब एक अरब लोग ईसाई बन चुके हैं। इधर लाखों सन्त-महन्तों के होते हुए भी हिंदू धर्म की संख्या और उत्कृष्टता दिन-दिन गिरती जा रही है, यह दुःख की बात है। इस पुरोहित वर्ग को समय के साथ बदलने और जनता से प्राप्त होने वाले मान एवं निर्वाह के बदले कुछ प्रत्युपकार करने की बात सुझाई-समझाई जाए। इतने बड़े जनसमाज को केवल आडम्बर के नाम पर समय और धन नष्ट करते हुए नहीं रहने देना चाहिए। यदि यह प्रयत्न सफल नहीं होता है तो धर्म-प्रचार के उत्तरदायित्व को हम लोग मिल-जुलकर कंधों पर उठावें, हम में हर व्यक्ति धर्म प्रवृत्तियों को अग्रगामी बनाने के लिए कुछ समय नियमित रूप से दिया करें।

४०–वानप्रस्थ का पुनर्जीवन–जिन्हें पारिवारिक उत्तर-दायित्वों से छुटकारा मिल चुका है, जो रिटायर्ड हो चुके हैं या जिनके घर में गुजारे के आवश्यक साधन मौजूद हैं उन्हें अपना अधिकांश समय लोकहित और परमार्थ के लिए लगाने की प्रेरणा उत्पन्न हो ऐसे प्रयत्न किये जाएँ। वानप्रस्थ आश्रम पालन करने की प्रथा अब लुप्त हो गई है। उसे पुनर्जीवित किया जाए। ढलती आयु में गृहस्थी के उत्तरदायित्वों से मुक्त होकर लोग घर में रहते हुए लोकसेवा में अधिक समय दिया करें तो सन्त-महात्माओं और ब्राह्मण-पुरोहितों का आवश्यक उत्तरदायित्व किसी प्रकार अन्य लोग अपने कंधे पर उठाकर पूरा कर सकते हैं। वानप्रस्थ की पुण्य-परम्परा का पुनर्जागरण युग-निर्माण की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है।

सभ्य समाज की स्वस्थ रचना

सामाजिक सुव्यवस्था के लिए हमें अपना वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन भी ऐसा बनाना चाहिए कि उसका सत्प्रभाव सारे समाज पर पड़े। इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था में जहाँ व्यतिक्रम उत्पन्न हो गया है, उसे सुधारना चाहिए। स्वस्थ परम्पराओं को सुदृढ़ बनाने और अस्वस्थ प्रथाओं को हटाने का ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि सभ्य समाज की रचना का लक्ष्य पूर्ण हो सके, नीचे कुछ ऐसे ही कार्यक्रम दिये गये हैं–

४१–सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा–सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। व्यक्ति अपने आपको संकीर्ण दायरे तक ही सीमित न रखे। स्त्री-बच्चों को ही अपना न माने वरन् भाई, माता-पिता एवं अन्य सम्बद्ध कुटुम्बियों की प्रगति एवं सुव्यवस्था का भी आत्मीयतापूर्ण ध्यान रखना चाहिए। सब लोग मिल-जुलकर रहें, एक दूसरे की सहायता करें, सहनशीलता, सहिष्णुता, त्याग और उदारता की सद्‌वृत्तियों को बढ़ावें, यही आत्म-विकास की श्रेष्ठ परम्परा है। स्वार्थ को परमार्थ में परिणत करने की परम्परा सम्मिलित कुटुम्ब में ही संभव है। अशान्ति और मनोमालिन्य उत्पन्न करने वाले कारणों को हटाना चाहिए किन्तु मूल आधार को नष्ट नहीं करना चाहिए। समाजवाद का प्राथमिक रूप सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा ही है, उसे सुविकसित करना ही श्रेष्ठ है।

४२–पारिवारिक विचारगोष्ठी– प्रत्येक परिवार में नित्य विचार गोष्ठी के रूप में सत्संग क्रम चला करे। कथा-कहानी, पुस्तकें पढ़कर सुनाना सामयिक समाचारों की चर्चा करते हुए जीवन की विभिन्न समस्याओं के सुलझाने का प्रशिक्षण करना चाहिए। बड़ों के चरण छूकर प्रणाम करने की और छोटों को भी तू न कहकर तुम या आप करने की शिष्ट परम्पराएँ हर परिवार में चलनी चाहिए। हर घर में उपासना कक्ष हो जहाँ बैठकर कम से कम दस मिनट घर का हर सदस्य उपासना किया करे। घरेलू पुस्तकालय से विहीन कोई घर न रहे। जिन्दगी कैसे जिएँ और नित्यप्रति सामने आती रहने वाली गुत्थियों को सुलझाने के लिए संजीवन-विद्या का साहित्य बचपन से ही पढ़ा और सुना जाना चाहिए। उपासना, स्वाध्याय और

सत्संग की नियमित व्यवस्था रहे तो उसका प्रतिफल सुखी परिवारों के रूप में सामने आवेगा और सभ्य समाज की रचना का उद्देश्य आसानी से पूर्ण होगा।

४३–सत्प्रवृत्ति का अभ्यास–परिवारों में पारस्परिक सहयोग, सभी का परिश्रमी होना, टूटी, पुरानी वस्तुओं की मरम्मत और सदुपयोग, कोने-कोने में सफाई,वस्त्रों के धोने का काम अधिकांश घर में होना, सभी सदस्यों का नियमित व्यायाम, घरेलू झगड़ों को सुलझाने की व्यवस्था, शिक्षा में सभी की अभिरुचि, स्वावलम्बन और बौद्धिक विकास के लिए सतत् प्रयत्न मितव्ययिता और सादगी, कपड़ों की सिलाई आदि गृह उद्योगों का सूत्रपात, लोक हित के लिए नित्य-नियमित दान जैसे अनेक कार्यक्रम घर की प्रयोगशाला में चलाये जा सकते हैं। यही प्रशिक्षण बड़े रूप से विकसित हों तो सारा समाज सभ्य और सुसंस्कृत बन सकता है।

४४–सन्तान और उसकी जिम्मेदारी–नई पीढ़ी का निर्माण एक परम पवित्र और समाज सेवा का श्रेष्ठ साधन माना जाए। सन्तानोत्पादन को विलास का नहीं, राष्ट्रीय कर्तव्य की पूर्ति का एक देशभक्तिपूर्ण कार्य माना जाए। इसके लिए माता-पिता अपनी शारीरिक, मानसिक और आर्थिक तैयारी बहुत पहले से ही आरम्भ करें। जो गुण-दोष माता-पिता में होते हैं वही सन्तान में आते हैं, इसलिए पति-पत्नी अपने सद्गुणों को ऊँची से ऊँची स्थिति तक चढ़ावें और अत्यन्त प्रेम एवं आत्मीयता से रहें। इसी एकता की उत्कृष्टता पर बालक का आन्तरिक विकास निर्भर रहता है। परस्पर द्वेष, अविश्वास एवं कलह रखने वाले माता-पिता दुष्टात्मा सन्तान को ही जन्म देते हैं। गर्भावस्था में माता की भावनाएँ जिस प्रकार की रहती हैं वे ही संस्कार बच्चे में आते हैं। बालकों की शिक्षा माता के गर्भकाल से तो आरम्भ हो ही जाती है, वस्तुतः वह इससे भी बहुत पहले होती है। माता-पिता के गुण, कर्म, स्वभाव, स्वास्थ्य, मनोभाव, बौद्धिक स्तर का प्रभाव बालकों पर आता है। इसलिए सभ्य पीढ़ी उत्पन्न करने की क्षमता विचारशील पति-पत्नी को वैवाहिक जीवन के आरम्भ से ही प्राप्त करने में लग जाना चाहिए। अधिक ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए और दाम्पत्य जीवन को प्रत्येक दृष्टि से आदर्श बनाना चाहिए।

४५– सत्कार्यों का अभिनन्दन–प्रतिष्ठा की भूख स्वाभाविक है। मनुष्य को जिस कार्य में बड़प्पन मिलता है वह उसी ओर झुकने लगता है। आज धन और पद को सम्मान मिलता है तो लोग उस दिशा में आकर्षित हैं, यदि यह मूल्यांकन बदल जाए और ज्ञानी, त्यागी एवं पराक्रमी लोगों को सामाजिक प्रतिष्ठा उपलब्ध होने लगे तो इस ओर भी लोगों का ध्यान जाएगा और समाज में सत्कर्म करने की प्रगति बढेगी। हमें चाहिए कि ऐसे लोगों को मान देने के लिए, सार्वजनिक अभिनन्दन करने के लिए समय-समय पर आयोजन करते रहें। मानपत्र भेंट करना, सार्वजनिक अभिनन्दन, पदक-उपहार, समाचार पत्रों में उन सत्कर्मों की चर्चा, फोटो, चरित्र-पुस्तिका आदि का प्रकाशन हम लोग कर सकते हैं। उन सत्कर्मकर्ताओं को इसकी इच्छा न होना ही उचित है, पर दूसरों को प्रोत्साहन देने और वैसे ही अनुकरण की इच्छा दूसरों में जाग्रत हो, इस दृष्टि से सत्कर्मों के अभिनन्दन की परम्परा प्रचलित करना ही चाहिए। ऐसे आयोजन हलके कारणों को लेकर या झूठी प्रशंसा में न किये जाएँ, अन्यथा ईर्ष्या, द्वेष की दुर्भावनाएँ बढ़ेंगी। सभ्य समाज का निर्माण करने के लिए धन एवं शक्ति को नहीं, आदर्श को ही सम्मान मिलना चाहिए।

४६–सज्जनता का सहयोग–यदि मानवता का स्तर ऊँचा उठा हो तो सज्जनता के साथ सहयोग की नीति अपनाई जानी चाहिए। सज्जनता को यदि सहयोग और प्रोत्साहन न मिले तो वह मुरझा जाएगी। इसी प्रकार दुष्टता का विरोध न किया गया तो वह भी दिन-दिन बढ़ती चली जाएगी। इसलिए प्रत्येक सभ्य नागरिक का कर्तव्य है कि वह अपनी नीति ऐसी रखे जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष में सत्प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि होती रहे और अनीति को निरुत्साहित होना पड़े।

परिस्थितिवश यदि दुष्टता का पूर्ण प्रतिरोध संभव न हो, इसमें अपने लिए खतरा दीखता हो तो कम से कम इतना तो करना ही चाहिए कि उनकी हाँ में हाँ मिलाने, सम्पर्क रखने या साथ में रहने से बचा जाए, क्योंकि इससे दूसरे प्रतिरोध करने वाले की हिम्मत टूटती है और अनीति का पक्ष मजबूत होता है। संभव हो तो तीव्र संघर्ष न हो तो दुष्टता से असहयोग तो हर हालत में करने का साहस रखना ही चाहिए।

४७–नैतिक कर्तव्यों का पालन–नैतिक एवं नागरिक कर्तव्यों का पालन, सामाजिक स्वस्थ परम्पराओं का समर्थन, धर्म और नीति के आधार पर आचरण, शिष्ट व्यवहार, वचन का पालन, सहयोग और उदारता का अवलम्बन, ईमानदारी और श्रम उपार्जित कमाई पर सन्तोष, सादगी और सच्चाई का जीवन –ऐसे ही सद्गुणों को अपनाना चाहिए। मानवता की रीति-नीति को अपना कर हमें सदा सन्मार्ग पर ही चलना चाहिए भले ही इसमें अभावों, असुविधाओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़े।

आलसी नहीं बनना चाहिए और न समय का एक क्षण भी बर्बाद करना चाहिए। श्रम और समय का सदुपयोग यही सफलता के माध्यम हैं। जुआ, चोरी, बेईमानी, रिश्वत, मिलावट, धोखेबाजी जैसे अवांछनीय उपायों से कमाई करके बड़ा आदमी बनने की अपेक्षा ईमानदारी को अपनाकर गरीबी का जीवन बिताना श्रेयस्कर समझना चाहिए। इसी अवस्था और गतिविधि को अपनाकर हम अपना और समाज का उत्थान कर सकते हैं, यह भली प्रकार समझ लिया जाए।

४८–सहयोग और सामूहिकता–सहयोगपूर्वक, मिलजुल कर सम्मिलित कार्यक्रम को बढ़ाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। आर्थिक क्षेत्र में सहयोग

समितियों के आधार पर व्यापारिक, औद्योगिक एवं उत्पादन के कार्यों को विकसित किया जाए। इसमें पूँजी की कठिनाई रहती है। बड़े पैमाने पर कार्य होने से चीजें सस्ती एवं अच्छी तैयार होती हैं। इससे उत्पादकों को भी लाभ मिलता है। उपभोक्ताओं की भी सुविधा बढ़ती है। कार्यकर्त्ताओं में पारस्परिक प्रेम भी बढ़ता है। व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा सामूहिक लाभ एवं संगठन की भावनाएँ विकसित होती हैं।

पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही जीवन के हर क्षेत्र में प्रगति हो सकती है। इसलिए सामूहिकता और संगठन के आधार पर संचालित प्रवृत्तियों में भाग लेना, योग देना और उन्हें बढ़ाना ही उचित है। सहयोग की नीति अपनाकर ही शिथिलता आने से सामाजिक पतन और तीव्रता आने से उत्थान का मार्ग प्रशस्त होता है। इस तथ्य को भली प्रकार हृदयंगम करते हुए सहयोग एवं संगठन की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन करना चाहिए।

४९–कंजूसी और विलासिता छूटे–धन का अनावश्यक संग्रह करने और देश के मध्यम स्तर से अधिक ऊँचा रहन-सहन बनाने को निरुत्साहित किया जाना चाहिए। इससे व्यक्तियों में अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और सामाजिक स्तर गिरता है। लोग कमावें तो सही पर उसका न्यूनतम उपयोग अपने लिए करके शेष को समाज के लिए लौटा दें। समाज में जबकि अनेक दीन-दुःखी, अभावग्रस्त और पिछड़े हुए व्यक्ति भरे पड़े हैं अनेक समस्याएँ समाज को परेशान कर रहीं हैं, इन सब की उपेक्षा करके अपने लिए अनावश्यक संग्रह मानवीय आदर्श के प्रतिकूल है।

सन्तान को सुशिक्षित और सुयोग्य बनाने के लिए प्रयत्न करना उचित है पर उनको बैठे-ठाले, ब्याज-भाड़े की कमाई पर निकम्मी जिन्दगी काटने की व्यवस्था सोचना भारी भूल है। इससे सन्तान का अहित होता है। कई व्यक्ति सन्तान न होने पर अपने धन को लोकहित के कामों में न लगाकर झूठी सन्तान ढूँढ़ते हैं, दूसरों के बच्चों को गोद रखकर अपनत्व का बहकावा खड़ा करते हैं और उसी को जमा की हुई पूँजी देते हैं। ऐसी संकीर्णता जब तक बनी रहेगी समाज कभी पनपेगा नहीं।

कमाई को लोकहित में लगाने का गर्व और गौरव अनुभव कर सकने की प्रवृत्ति को जगाया जाना आवश्यक है। लोग उदार और दानी बनेंगे तो ही सत्प्रवृत्तियों का उत्पन्न होना और बढ़ाना सम्भव होगा। कंजूसी को घृणित पाप और विलासिता को पाषाण हृदयों के योग्य निष्ठुरता माना जाए, ऐसा लोक-शिक्षण करना चाहिए।

५०–श्रम का सम्मान–श्रम का सम्मान बढ़ाया जाए। बौद्धिक श्रम करने वालों को धन और यश अधिक मिलता है और शारीरिक श्रमिकों को हेय दृष्टि से देखा जाता है। इस दृष्टिकोण में परिवर्तन होना चाहिए। शारीरिक श्रम एवं श्रमिकों को भी उचित सम्मान मिले। राजा जनक ने हल जोतकर अपनी जीविका कमाने का आदर्श रखा था और नासिरुद्दीन बादशाह टोपियाँ सींकर तथा कुरान लिखकर अपना गुजारा करता था।

हमारे समाज में सफाई करने वाले, कपड़े बुनने वाले, जूता बनाने वाले, कपड़े धोने वाले, इमारतें चिनने वाले, बोझा ढोने वाले, मजूरी करने वाले लोग इसीलिए नीच और अछूत माने गये कि वे शारीरिक श्रम करते हैं। थोड़ा-सा अपना बोझ ले चलने में बेइज्जती अनुभव करना आज के शिक्षित एवं सम्पन्न कहे जाने वाले लोगों का स्वभाव बन गया है। ऐसे लोगों की स्त्रियाँ भोजन बनाने, बर्तन माँजने, झाड़ू लगाने, बिस्तर बिछाने जैसे कामों में बेइज्जती समझती और इन छोटे-छोटे कामों के लिए नौकर चाहती हैं। अमीर लोग जूतों और कपड़े पहनाने का काम तक नौकरों से कराते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ किसी भी समाज के पतन का कारण होती हैं।

श्रम का सम्मान घटने से इस ओर लोगों की अरुचि हो जाती है। आरामतलबी को श्रेय मिले तो सभी वैसा बनना चाहेंगे। प्रगति से सहयोग मिलता है, पर उसको साकार रूप तो श्रम से ही मिलता है। इसलिए श्रमिक को प्रोत्साहन भी मिलना चाहिए और सम्मान भी। हम में से हर व्यक्ति को शारीरिक दृष्टि से भी श्रमिक जैसी अपनी स्थिति और मनोभूमि बनानी चाहिए। सामाजिक प्रगति का बहुत कुछ आधार 'श्रम के सम्मान' पर निर्भर है।

इन कुरीतियों को हटाया जाए

पिछले दो हजार वर्ष के अज्ञान से भरे अन्धकारयुग में हमारी कितनी ही उपयोगी प्रथाएँ, रूढ़िवादिता में ग्रस्त होकर अनुपयोगी बन गई हैं। इन विकृतियों को सुधार कर हमें अपनी प्राचीन वैदिक सनातन स्थिति पर पहुँचने का प्रयत्न करना होगा, तभी भारतीय समाज का सुविकसित समाज जैसा रूप बन सकेगा। इस सम्बन्ध में हमें निम्न प्रयत्न करने चाहिए।

५१–वर्ण व्यवस्था का शुद्ध स्वरूप–ब्रह्माजी ने अपने चार पुत्रों को चार कार्यक्रम सौंपकर उन्हें चार वर्णों में विभक्त किया है। ज्ञान, धर्म, बल और श्रम यह चारों ही शक्तियाँ मनाव समाज के लिए आवश्यक थीं। इनकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए वंशगत प्रयत्न चलता रहे और उसमें कुशलता तथा परिष्कृति बढ़ती रहे, इस दृष्टि से इन चार कामों को चार पुत्रों में बाँटा गया था। चारों सगे भाई थे, इसलिए उनमें ऊँच-नीच का कोई प्रश्न न था। किसी का सम्मान, महत्व और स्तर न न्यून था, न अधिक। अधिक त्याग-तप करने के कारण अपनी आन्तरिक महानता प्रदर्शित करने के कारण ब्राह्मण की श्रेष्ठता तो रही पर अन्य किसी वर्ण को हेय या निम्न स्तर का नहीं माना गया था।

आज स्थिति कुछ भिन्न ही है। चार वर्ण अगणित जातियों, उपजातियों में बँटे गये और इससे समाज में भारी

अव्यवस्था एवं फूट फैली। परस्पर एक दूसरे को ऊँचा-नीचा समझा जाने लगा। यहाँ तक कि एक ही वर्ण के लोग अपनी उपजातियों में ऊँच-नीच की कल्पना करने लगे। यह मानवीय एकता का प्रत्यक्ष अपमान है। व्यवस्थाओं या विशेषताओं के आधार पर वर्ण, जाति रहे, पर ऊँच-नीच की मान्यता को स्थान न मिले। सामाजिक विकास में भारी बाधा पहुँचाने वाले इस अज्ञान को जितना जल्दी हटा दिया जाए उतना ही अच्छा है।

५२-उपजातियों का भेदभाव हटे-चार वर्ण रहें पर उनके भीतर की उपजातियों की भिन्नता ऐसी न रहे, जिसे कारण परस्पर रोटी-बेटी का व्यवहार भी न हो सके। प्रयत्न ऐसा करना चाहिए कि उपजातियों का महत्व गोत्र जैसा स्वल्प रह जाए और एक वर्ण के विवाह-शादी पूरे उस वर्ण में होने लगें। ब्राह्मण जाति के अन्तर्गत सनाढ्य, गौड़, गौतम, कान्यकुब्ज, मालवीय, मारवाड़ी, सारस्वत, मैथिल, सरयूपारीण, श्रीमाली, पर्वतीय आदि अनेक उपजातियाँ हैं। यदि इनमें परस्पर विवाह-शादी होने लगें तो उससे उपयुक्त वर-कन्या ढूँढ़ने में बहुत सुविधा रहेगी। अनेक रूढ़ियाँ मिटेंगी और दहेज जैसी हत्यारी प्रथाओं का देखते-देखते अन्त हो जाएगा। इस दिशा में साहसपूर्ण कदम उठाये जाने चाहिए।

एक-एक पूरे वर्ण की जातीय सभाएँ बनें और उनका प्रयत्न, इस प्रकार का एकीकरण ही हो। जातिगत विशेषताओं को बढ़ाने, बिलगाव की भावनाओं को हटाने तथा उन वर्गों में फैली कुरीतियों का समाधान करने के लिए ये जातीय सभाएँ कुछ ठोस काम करने को खड़ी हो जाएँ तो सामाजिक एकता की दिशा में भारी मदद मिल सकती है। अच्छे लड़के और अच्छी लड़कियों के सम्बन्ध में जानकारियाँ एकत्रित करना और विवाह सम्बन्धों में सुविधा उत्पन्न करना भी इन सभाओं का काम हो।

५३-नर-नारी का भेदभाव-जातियों के बीच बरती जाने वाली ऊँच-नीच की तरह पुरुष और स्त्री के बीच रहने वाली ऊँच-नीच की भावना निन्दनीय है। ईश्वर के दाहिने-बायें अंगों की तरह नर-नारी की रचना हुई है। दोनों का स्तर और अधिकार एक है । इसलिए सामाजिक न्याय और नागरिक अधिकार भी दोनों के एक होने चाहिए। प्राचीनकाल में था भी ऐसा ही। तब नारी भी नर के समान ही प्रबुद्ध और विकसित होती थीं। नई पीढ़ियों की श्रेष्ठता कायम रखने तथा सामाजिक स्तर की उत्कृष्टता बनाये रखने में उसका पुरुष के समान ही योगदान था।

आज नारी की जो स्थिति है वह अमानवीय और अन्यायपूर्ण है। उसके ऊपर पशुओं जैसे प्रतिबन्धों का रहना और सामान्य नागरिक अधिकारों से वंचित किया जाना, भारतीय धर्म की उदारता, महानता और श्रेष्ठता को कलंकित करने के समान है। पुरुषों के लिए भिन्न प्रकार की और स्त्रियों के लिए भिन्न प्रकार की न्याय-व्यवस्था रहना अनुचित है। दाम्पत्य-जीवन में सदाचार का दोनों पर समान प्रतिबन्ध होना चाहिए। शिक्षा और स्वावलम्बन के लिए दोनों को समान अवसर मिलने चाहिए।

पुत्र और पुत्रियों के बीच बरते जाने वाले भेद-भाव को समाप्त करना चाहिए। दोनों को समान स्नेह, सुविधा और सम्मान मिले । पिछले दिनों जो अनीति नारी के साथ बरती गई है उसका प्रायश्चित यही हो सकता है कि नारी को शिक्षित और स्वावलम्बी बन सकने में उचित योग्यता प्राप्त करने का अधिकाधिक अवसर प्रदान किया जाए। सरकार ने पिछड़े वर्गों को संविधान में कुछ विशेष सुविधाएँ दी हैं, ताकि वे अपने पिछड़ेपन से जल्दी छुटकारा प्राप्त कर सकें। सामाजिक न्याय के अनुसार नारी को शिक्षा और स्वावलम्बन की दिशा में ऐसी ही विशेष सुविधा मिलनी चाहिए ताकि उनका पिछड़ापन अपेक्षाकृत जल्दी ही प्रगति में बदल सके।

पर्दा प्रथा उस समय चली जब यवन लोग बहू-बेटियों पर कुदृष्टि डालते और उनका अपहरण करते थे। आज वैसी परिस्थितियाँ नहीं रहीं तो पर्दा भी अनावश्यक हो गया। यदि उसे जरूरी ही समझा जाए तो स्त्रियों की तरह पुरुष भी घूँघट किया करें। क्योंकि चारित्रिक पतन के सम्बन्ध में नारी की अपेक्षा नर ही अधिक दोषी पाये जाते हैं।

५४-अश्लीलता का प्रतिकार-अश्लील साहित्य, अर्द्धनग्न युवतियों के विकारोत्तेजक चित्र, गन्दे उपन्यास, कामुकता भरी फिल्में, गन्दे गीत, वेश्यावृत्ति, अमर्यादित कामचेष्टाएँ, नारी के बीच रहने वाली शील, संकोच और मर्यादा का व्यतिक्रम, दुराचारों की भौंडे ढंग से चर्चा, आदि अनेक बुराइयाँ अश्लीलता के अन्तर्गत आती हैं। इनसे दाम्पत्य-जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है और शरीर एवं मस्तिष्क खोखला होता है। शारीरिक व्यभिचार की तरह यह मानसिक व्यभिचार भी मानसिक एवं चारित्रिक संतुलन को बिगाड़ने में दावाग्नि का काम करता है। उसका प्रतिकार किया जाना चाहिए। ऐसे चित्र, कलेण्डर, पुस्तकें, मूर्तियाँ तथा अन्य उपकरण हमारे घरों में न रहें जो अपरिपक्व मस्तिष्कों में विकार पैदा करें। शील और शालीनता की रक्षा के लिए विरोधी बातों को हटाया जाना ही उचित है।

५५-विवाहों में अपव्यय-संसार के सभी देशों और धर्मों के लोग विवाह-शादी करते हैं, पर इतनी फिजूलखर्ची कहीं नहीं होती, जितनी हम लोग करते हैं। इससे आर्थिक सन्तुलन नष्ट होता है, अधिक धन की आवश्यकता उचित रीति से पूरी नहीं हो सकती तो अनुचित मार्ग अपनाने पड़ते हैं। इन खर्चों के लिए धन जोड़ने के प्रयत्न में परिवार की आवश्यक प्रगति रुकती है, अहंकार बढ़ता है तथा कन्याएँ माता-पिता के लिए भार रूप बन जाती हैं। विवाहों का अनावश्यक आडम्बरों से भरा हुआ और खर्चीला शौक बनाये रहना सब दृष्टियों से हानिकारक और असुविधाजनक है।

दहेज की प्रथा तो अनुचित ही नहीं अनैतिक भी है, कन्या-विक्रय, वर-विक्रय का यह भौंडा प्रदर्शन है। कहने

की आवश्यकता नहीं कि इस प्रथा के कारण कितनी कन्याओं को अपना जीवन नारकीय बनाना पड़ता है और कितने ही अभिभावक इसी चिन्ता में घुल-घुलकर मरते हैं। इस हत्यारी प्रथा का जितना जल्दी काला मुँह हो सके उतना ही अच्छा है।

विचारशील लोगों का कर्तव्य है कि वे इस दिशा में साहसपूर्ण जन-नेतृत्व करें। उन रूढ़ियों को तिलांजलि देकर अत्यन्त सादगी से विवाह करें। परम्पराओं से डर कर-उपहास के भय से ही अनेक लोग साहस नहीं कर पाते, यद्यपि वे मन से इस फिजूलखर्ची के विरुद्ध होते हैं। ऐसे लोगों का मार्ग-दर्शन उनके सामने अपना उदाहरण प्रस्तुत करके ही किया जा सकता है। युग-निर्माण परिवार के लोग अपने ही विचारों के वर-कन्या तथा परिवार ढूँढ़ें और सादगी के साथ आदर्श विवाहों का उदाहरण प्रस्तुत करें, इससे हिन्दू समाज की एक भारी समस्या हल हो सकेगी।

५६–बाल-विवाह और अनमेल विवाह–बाल विवाहों की भर्त्सना की जाए और उनकी हानियाँ जनता को समझाई जायँ। स्वास्थ्य, मानसिक संतुलन, आगामी पीढ़ी एवं जीवन-विकास के प्रत्येक क्षेत्र पर इनका बुरा असर पड़ता है। लड़की-लड़के जब तक गृहस्थ का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर सँभालने लायक न हों तब तक उनके विवाह नहीं होने चाहिए। इस संबंध में जल्दी करना अपने बालकों का भारी अहित करना ही है। अशिक्षित और निम्न स्तर के लोगों में अभी भी बाल-विवाह का बहुत प्रचलन है। उन्हें समझाने-बुझाने से या कानूनी भय बताकर इस बुराई से विरत करना चाहिए। अनमेल विवाहों को भी रोका जाना और उनके विरुद्ध वातावरण बनाना आवश्यक है।

५७–भिक्षा व्यवसाय की भर्त्सना–समर्थ व्यक्ति के लिए भिक्षा माँगना उसके आत्म-गौरव और स्वाभिमान के सर्वथा विरुद्ध है। आत्म-गौरव खोकर मनुष्य पतन की ओर ही चलता है। खेद है कि भारतवर्ष में यह वृत्ति बुरी तरह बढ़ी है और उसके कारण असंख्य लोगों का मानसिक स्तर अधोगामी बना है।

जो लोग सर्वथा अपंग, असमर्थ हैं, जिनके परिजन या सहायक नहीं, उनकी आजीविका का प्रबन्ध सरकार को या समाज को स्वयं करना चाहिए, जिससे इन अपंग लोगों को बार-बार हाथ पसारकर अपना स्वाभिमान न खोना पड़े और बचे हुए समय में कोई उपयोगी कार्य कर सकें। अच्छा हो ऐसी अपंग संस्थाएँ जगह-जगह खुल जाएँ और उदार लोग उन्हीं के माध्यम से वास्तविक दीन-दुःखियों की सहायता करें।

बहानेबाज समर्थ लोगों को भिक्षा नहीं देनी चाहिए, इससे आलस और प्रमाद बढ़ता है, जनता को अनावश्यक भार सहना पड़ता है और आडम्बरी लोग दुर्गुणों से ग्रस्त होकर तरह-तरह से जनता को ठगते एवं परेशान करते हैं। भजन का उद्देश्य लेकर चलने वालों के लिए भी यही उचित है कि वे अपनी आजीविका स्वयं कमायें और बाकी समय में भजन करें।

५८–मृत्यु-भोज की व्यर्थता–किसी के मरने के बाद उस घर में दो सप्ताह के भीतर विवाह-शादियों जैसी दावत का आयोजन होना दिवंगत व्यक्ति के प्रति अपमान है; दावतें तो खुशी में उड़ाई जाती हैं। मृत्यु को शोक का चिन्ह मानते हैं तो फिर दावतों का आयोजन किस उद्देश्य से? मृतक के मित्रों और सम्बन्धियों के लिए भी यही उचित है कि इस क्षति-ग्रस्त परिवार की कोई सहायता न कर सकते हों तो कम से कम दावतों की सलाह देकर उसका आर्थिक अहित तो न करें।

मृतक की आत्मा को शान्ति देने के लिए धार्मिक कृत्य कराये जाएँ, सहानुभूति प्रकट करने वाले लोग यदि दूर से आये हैं, तो वे भी ठहरें, घर, परिवार और सम्बन्धी लोग श्राद्ध के दिन एक चौके में खाएँ। यहाँ तक तो बात समझ में आती है पर बड़े-बड़े मृत्युभोज सर्वथा असंगत हैं, उनकी न कोई उपयोगिता है और न आवश्यकता। यदि हो सके तो ऐसे शुभ कार्यों में जिनसे मानवता की कोई सेवा होती हो, श्राद्ध के उपलक्ष्य में कितना ही बड़ा दान किया जा सकता है। वही सच्ची श्रद्धा का प्रतीक होने से सच्चा श्राद्ध कहा जा सकता है।

५९–जेवरों में धन की बर्बादी–जेवरों में धन की बर्बादी प्रत्यक्ष है, जो पैसा किसी कारोबार में या ब्याज पर लगने से बढ़ सकता था वह जेवरों में कैद होने पर दिन-दिन घिसता और कैद पड़ा रहता है। टूट-फूट, मजूरी, टाँका-बट्टा में काफी हानि सहनी पड़ती है। पहनने वाले का अहंकार बढ़ता है। दूसरों में ईर्ष्या जगती है। चोर-लुटेरों को अवसर मिलता है जिस अंग में उन्हें पहनते हैं वहाँ दबाव और अस्वच्छता बढ़ने से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। चमड़ी कड़ी पड़ जाती है और पसीने के छेद बन्द होते हैं। नाक के जेवरों से तो सफाई में भी अड़चन पड़ती है। विवाह-शादियों के अवसर पर तो वह एक समस्या बन जाते हैं। दहेज जैसी हानिकारक प्रथा का मूल भी जेवरों में रहता है। लड़की वाले जब तक जेवरों की आवश्यकता अनुभव करेंगे, तब तक लड़के वाले दहेज भी माँगते रहेंगे। जेवरों का शौक हर दृष्टि से हानिकारक है, इसे छोड़ने में ही लाभ है।

६०–भूत-पलीत और बलि प्रथा–भूत-पलीतों का मानसिक विभ्रम पैदा करके स्याने, दिवाने और ओझा लोग भोली जनता का मानसिक और आर्थिक शोषण बुरी तरह करते हैं। मानसिक रोगों, शारीरिक कष्टों एवं दैनिक जीवन में आती रहने वाली साधारण-सी बातों को भूत की करतूत बनाकर व्यर्थ ही भोले लोग भ्रमित होते हैं। उस भ्रम का इतना घातक प्रभाव पड़ता है कि कई बार तो उस प्रकार के विश्वास से जीवन-संकट तक उपस्थित हो जाते हैं।

धर्म-ग्रन्थों में जिन देवी-देवताओं का वर्णन है, उनकी संख्या भी पर्याप्त है। पर उतने से भी सन्तोष न करके लोगों ने जाति-जाति के, वंश-वंश के, गाँव-गाँव के इतने

अधिक देवता गढ़ लिए हैं कि आश्चर्य होता है। उन पर मुर्गे, अण्डे, भैंसे, बकरे, सुअर आदि चढ़ाते हैं। यह कैसी विडम्बना है कि दया और प्रेम के लिए बने हुए देवता अपने ही पुत्र पशु-पक्षियों का खून पीवें।

हमें एक परमात्मा की ही उपासना करनी चाहिए और इन भूत-पलीतों के भ्रम-जंजाल से सर्वथा दूर रहना चाहिए। जन-समाज को भी इससे बचाना चाहिए।

हमारे समाज में अनेक कुरीतियाँ विभिन्न रूपों में पाई जाती हैं। हानिकारक और अनैतिक बुराइयों का उन्मूलन करना ही श्रेयस्कर है। सभ्य समाज को विवेकशील ही होना चाहिए और इन उपहासास्पद विडम्बनाओं से जल्दी ही अपने को मुक्त कर लेना चाहिए।

विभूतिवान व्यक्ति यह करें

विशिष्ट प्रतिभावान व्यक्ति अपने विशेष व्यक्तित्व के द्वारा युग-निर्माण की दिशा में विशेष कार्य कर सकते हैं। कलाकारों का योग इस सम्बन्ध में विशेष रूप से अभीष्ट है। लेखक,कवि, वक्ता, संगीतज्ञ, चित्रकार, धनी, विद्वान, राजनीतिज्ञ यदि चाहें तो अपनी विभूतियों का सदुपयोग करके नव-निर्माण के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं। इस प्रकार के प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों के सामने युग-निर्माण योजना निम्न सुझाव प्रस्तुत करती है-

६१-लेखकों और पत्रकारों से अनुरोध-देश की विभिन्न भाषाओं में जो लेखक और कवि आजकल लेखन कार्य में लगे हुए हैं, उनसे सम्पर्क बनाकर यह प्रेरणा दी जाए कि वे युग-निर्माण की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखा करें। इसी प्रकार जो पुस्तक प्रकाशक एवं पत्रकार साहित्य प्रकाशन की कार्य हाथ में लिए हुए हैं, उन्हें मानव जीवन में प्रकाश भरने वाला साहित्य छापने की प्रेरणा की जाए। समाचार-पत्र एवं पुस्तक-विक्रेताओं से भी यही अनुरोध किया जाए कि उन वस्तुओं के विक्रय में विशेष ध्यान दें जो जन-कल्याण के लिए वर्तमान साहित्य क्षेत्र में लगे हुए लोगों से सम्पर्क स्थापित करके उन्हें युग की आवश्यकता पूर्ण करने की प्रेरणा दी जाए।

६२-युग-साहित्य के नव निर्माता-इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में विशेष मनोयोग-पूर्वक युग की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए मिशनरी ढंग से काम करने वाले लेखकों एवं कवियों का एक विशेष वर्ग तैयार किया जाए जो साहित्य-निर्माण कार्य को अपना प्रधान सेवा-साधन बनाकर तत्परतापूर्वक इसी कार्य में लग सके। ऐसे अनेक व्यक्ति मौजूद हैं जिनमें इस प्रकार की प्रतिभा और सेवा-भावना पर्याप्त मात्रा में मौजूद है, पर आवश्यक साधन, मार्ग-दर्शन एवं प्रोत्साहन न मिलने से वे अविकसित ही पड़े रहते हैं। अपना प्रयत्न ऐसे लोगों को संगठित एवं विकसित करने का हो। इस अभिरुचि एवं योग्यता के लोगों को ढूँढ़ना, उन्हें इकट्ठा करना और आवश्यक प्रशिक्षण देकर इस योग्य बनाना हमारा काम होगा कि वे कुछ ही दिनों में युग-निर्माता साहित्यकारों की एक भारी आवश्यकता की पूर्ति कर सकें। 'अखण्ड-ज्योति परिवार' में इस प्रतिभा के जो लोग होंगे उन्हें हम सर्वप्रथम तैयार करेंगे और उनको आवश्यक शिक्षा देने के लिए जल्दी-जल्दी ही शिविरों की शृंखला आरम्भ करेंगे।

६३-प्रत्येक भाषा में प्रकाशन-युग निर्माण के लिए आवश्यक एवं उपयुक्त साहित्य प्रकाशित करने के लिए देश की प्रत्येक भाषा में प्रकाशक उत्पन्न किये जाएँ, जो व्यवसाय ही नहीं मिशनरी भावना भी अपने कार्यक्रम में सम्मिलित रखें और इसी दृष्टि से अपना कार्यक्रम चलावें। देश में १५ भाषाएँ राज्य भाषा का स्थान प्राप्त कर चुकी हैं। सोलहवीं अँग्रेजी है। इन सभी भाषाओं में युग-निर्माण साहित्य स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित और प्रचारित होने लगे, उसके लिए आवश्यक प्रयत्न किया जाना चाहिए।

६४-अनुवाद कार्य का विस्तार-जो व्यक्ति कई भाषाएँ जानते हैं वे एक भाषा का सत्साहित्य दूसरी भाषा में अनुवाद करें और उस भाषा के प्रकाशकों के लिए एक बड़ी सुविधा उत्पन्न करें। भाषाओं की भिन्नता के कारण उच्चकोटि का ज्ञान सीमाबद्ध न पड़ा रहे इसलिए यह अनुवाद कार्य भी स्वतन्त्र लेखन से कम महत्वपूर्ण नहीं है। संसार के महान मनीषियों ने जो ज्ञान अपनी-अपनी भाषाओं में प्रस्तुत किया है, उसका लाभ सीमित क्षेत्र में न रहकर समस्त भाषा-भाषी लोगों के लिए उपलब्ध हो ऐसा प्रयास करने से ही एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति हो सकेगी। हिन्दी भाषा परिवार के साहित्यकार जो उत्कृष्ट रचनाएँ प्रस्तुत करें, उनका अनुवाद जल्दी ही देश की १६ भाषाओं में हो जाया करे, तो विचार-विस्तार का क्षेत्र बहुत व्यापक हो सकता है। आगे चलकर तो यही प्रक्रिया विश्वव्यापी बननी है। संसार के किसी भी कोने में, किसी भाषा में छपे उत्कृष्ट विचार विश्व भर की जनता को उपलब्ध हो सकें ऐसे प्रकाशन तन्त्र का विकास होना आवश्यक है और वह हम भी करेंगे।

६५-पत्र पत्रिकाओं की आवश्यकता-युग-निर्माण लक्ष्य में निर्धारित प्रेरणाओं को विशेष रूप से गतिशील बनाने वाले पत्र-पत्रिकाओं की बहुत बड़ी संख्या में आवश्यकता है। जीवन को सीधा स्पर्श करने वाले ऐसे अगणित विषय है जिनके लिए अभी कोई शक्तिशाली विचार केन्द्र दृष्टिगोचर नहीं होते। नारी-समस्या, शिशु-पालन, स्वास्थ्य, परिवार-समस्या, अर्थ-साधन, गृह-उद्योग, कृषि, पशु पालन, समाजशास्त्र, जातीय समस्याएँ अध्यात्म, धर्म राजनीति, कथा-साहित्य, बाल शिक्षण, मनोविज्ञान, मानवता, सेवा धर्म, सदाचार आदि कितने ही विषय ऐसे हैं जिन पर नाममात्र का साहित्य है और पत्र-पत्रिकाएँ तो नहीं के बराबर हैं। आज जो पत्र निकल रहे हैं वे एक खास ढर्रे के हैं उनमें न तो मिशिनरी जोश है और न वैसा कार्य-क्रम ही लेकर वे चलते हैं। अब ऐसे पत्र-पत्रिकाओं को बड़ी संख्या में प्रकाशित होना चाहिए जो मानव जीवन के हर पहलू पर प्रकाश डाल सकें।

योजना के अनुरूप कम से कम सौ पत्र तो इन विषयों पर तुरन्त निकलने चाहिए। जिनमें आवश्यक योग्यता और उत्साह हो उन्हें उसके लिए प्रशिक्षित किया जाना आवश्यक है।

६६-प्रकाशन की सुगठित शृंखला-पुस्तक प्रकाशकों की एक सुगठित ऐसी शृंखला होनी चाहिए जो एक-एक विषय पर परिपूर्ण साहित्य तैयार करे। शृंखला से संबद्ध प्रकाशक एक-दूसरे से अपनी पुस्तकों का विनिमय कर लिया करें। इस प्रकार हर प्रकाशक के पास प्रत्येक विषय का प्रचुर साहित्य जमा हो जाया करेगा। अपनी निजी दुकान चलाकर, फेरी से, विज्ञापन आदि से जैसे भी उपयुक्त हो उस साहित्य का विक्रय किया जाए । इस प्रकार एक विषय का प्रकाशक पारस्परिक सहयोग के आधार पर सभी विषयों की पुस्तकों का प्रचारक बन सकेगा। अनेक वस्तुएँ पास में होने से विक्रय सम्बन्धी असुविधा भी न रहेगी

६७- युग-निर्माण प्रेस-प्रायः प्रत्येक नगर में एक-एक युग निर्माण प्रेस होना चाहिए, जिसके माध्यम से उसके संचालक अपनी रोजी-रोटी सम्मानपूर्वक कमा लिया करें और साथ ही उस केन्द्र से आस-पास के क्षेत्र में भावनाओं के विस्तार का कार्यक्रम चलता रहा करे। छोटे प्रेस न्यूनतम पूँजी से भी चल सकते हैं। साधन सम्पन्न प्रेसों के लिए अधिक पूँजी उपलब्ध करनी पड़ेगी।

व्यक्तिगत पूँजी से या सहयोग समितियाँ गठन करके यह कार्य आरम्भ किए जा सकते हैं। आमतौर से नये कार्यकर्ताओं को निजी अनुभव तो होता नहीं, उस व्यवसाय में लगे हुए लोग बारीकियों को बताते नहीं, इसलिए ऐसे कार्यक्रम प्रायः असफल हो जाते हैं पर जब उन्हें सांगोपांग शिक्षण उपलब्ध हो जाएगा तो फिर किसी कठिनाई की सम्भावना न रहेगी और ऐसे प्रेस प्रत्येक नगर में चलने लगेंगे। इन केन्द्रों से विचार-क्रान्ति में भारी योगदान मिल सकता है।

६८- कविताओं का निर्माण और प्रसार -युग निर्माण विचारधारा के उपयुक्त भावनापूर्ण कविताएँ प्रत्येक क्षेत्रीय भाषा में लिखी जाएँ। उन्हें सस्ते मूल्य पर छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में छापा जाए। जीवन के हर पहलू को स्पर्श करने वाली प्रेरणाप्रद कविताएँ सर्वत्र उपलब्ध हों जिससे गायन सम्बन्धी जन-मानस की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति हो सके। लोकगीतों में प्रेरणा भर देने का कार्य हमें पूरा करना चाहिए। गायन का कोई क्षेत्र ऐसा न बचे जहाँ उत्कर्ष की ओर ले जाने वाली कविताएँ गूँज न रही हों। स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले गीत मंगल अवसर की आवश्यकता के अनुरूप लिखे-छापे और उन्हें सिखाये जाने चाहिए। उच्च साहित्य क्षेत्र से लेकर हल जोतते हुए किसानों तक में गाये जाने योग्य प्रेरणाप्रद कविताओं की भारी आवश्यकता है । इसकी पूर्ति सुसंगठित योजना बनाकर ही की जानी चाहिए। यह अभाव किसी भी क्षेत्र में, किसी भी भाषा में रहने न पावे। इस रचनात्मक कार्य को पूरा किए बिना धरती पर स्वर्ग लोक का स्वप्न साकार न हो सकेगा। इसके लिए कवि-हृदय साहित्यकारों को बहुत कुछ करना है।

साहित्य-निर्माण की उपरोक्त योजनाएँ सब दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। इनमें भाग लेने वाले अपना जीवन धन्य बनावेंगे और देश, जाति की भी बहुत बड़ी सेवा करेंगे। प्रतिभावान लोगों को इस क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए हम भावनापूर्वक आमन्त्रण भेजते हैं, उन्हें आवश्यक मार्ग-दर्शन मिलेगा और सहयोग भी।

कला और उसका सदुपयोग

मानव अन्तःकरण को पुलकित एवं भावविभोर करने की क्षमता कला में रहती है। कला का वासना को भड़काने में इन दिनों बड़ा हाथ रहा है। अब इस महान शक्ति को हमें जीवन-निर्माण एवं समाज-रचना की महान प्रक्रिया में लगाना होगा। कला शाश्वत है। उसमें दोष कुछ नहीं वरन् मानव अन्तःकरण का सीधा स्पर्श करने की क्षमता से सम्पन्न होने के कारण यह आवश्यक है और अभिवन्दनीय है। विरोध का एकमात्र तथ्य है कला का दुरुपयोग, इसे रोका जाना चाहिए और इस सृजनात्मक शक्ति को जनमानस की श्रेष्ठता की ओर प्रेरित करने के लिए प्रयुक्त करना चाहिए।

इस सन्दर्भ में नीचे आठ सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं-

६९- वक्तृत्व कला विकास-बोलना संसार की सबसे बड़ी कला है। व्यक्तिगत जीवन में जनसहयोग का लाभ प्राप्त करना मुख्यतया मनुष्य के बोलने, बात करने की शैली पर निर्भर है। मीठा बोलने से पराये अपने हो जाते हैं और कटु भाषण से अपने पराये बनते हैं। जीवन की प्रगति में उतनी और कोई बात सहायक नहीं होती जितनी शिष्ट, मधुर, उदार और परिमार्जित वाणी। इसी प्रकार सामाजिक जीवन में सफलता प्राप्त करने का भी बहुत कुछ श्रेय विधिवत् वक्तृता पर ही निर्भर रहता है। अपने पक्ष को ठीक प्रतिपादित करने में वही व्यक्ति सफल होता है जिसकी भाषण-शैली परिमार्जित है। युग-निर्माण के लिए प्रधानतया हम सबको इसी शस्त्र का पग-पग पर उपयोग करना पड़ेगा। इसलिए उसका अभ्यस्त भी होना ही चाहिए। व्यक्तिगत वार्तालाप में और जनसमूह के सामने भाषण देने में किन तथ्यों का ध्यान रखना और किन बातों का अभ्यास करना आवश्यक है, इसका प्रशिक्षण अखण्ड-ज्योति के सदस्यों को विधिवत् मिलना चाहिए अन्यथा बौद्धिक क्रान्ति का यह विशाल अभियान किस प्रकार व्यापक बन सकेगा?

७०- गायत्री का संगठन- भाषण की भाँति ही गायन का भी महत्व है। विधिवत् गाया हुआ गायन मनुष्य के हृदय को पुलकित कर देता है। भावनाओं को तरंगित करने की उतनी ही शक्ति गायन में रही है, जितनी विचारों को बदलने की भाषण मे रहती है। गायकों को संगठित

करना चाहिए और उन्हें युग-निर्माण भावनाओं के अनुरूप कविताएँ सीखने तथा गाने की प्रेरणा देनी चाहिए।

जहाँ-तहाँ भजन-मण्डलियाँ और कीर्तन-मण्डलियाँ अपने बिखरे रूप में पाई जाती हैं, उन्हें संगठित करना अभीष्ट होगा। व्यक्तिगत रूप से जो लोग गाया करते है, उन्हें भी अपनी कला द्वारा जन-समूह को लाभ पहुँचाने की चेष्टा करनी चाहिए। सामूहिक संगीत कार्यक्रमों का आयोजन समय-समय पर होता रहे और उनमें उत्कर्ष की भावनाओं की प्रधानता रहे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

७१– संगीत शिक्षा का प्रबन्ध– गाने-बजाने के क्रमबद्ध शिक्षण की व्यवस्था न होने से ऐसे लोगों की कला अविकसित ही पड़ी रहती है, जिनके गले मधुर हैं और लोगों को प्रभावित करने की प्रतिभा विद्यमान है । साधारण गायन और मामूली बाजे बजाने का शिक्षण कोई बहुत बड़ा काम नहीं है। उसे मामूली जानकार भी कर सकते हैं। खंजरी, करताल, मजीरा, ढोलक, चिमटा, इकतारा जैसे बाजे लोग बिना किसी के सिखाये-देखा-देखी ही सीख जाते हैं। यदि उनकी व्यवस्थित शिक्षण व्यवस्था हो तो उसका लाभ अनेक को आसानी से मिल सकता है और नये गायक तथा वादक तैयार हो सकते हैं।

७२–चित्रकला का उपयोग–सजावट की दृष्टि से चित्रों का प्रचलन अब बहुत बढ़ गया है। कमरों में, पुस्तकों में, पत्र-पत्रिकाओं में, दुकानों पर, कलेण्डरों में, विज्ञापनों में सर्वत्र चित्रों का बाहुल्य रहता है। इनमें से अधिकांश कुरुचिपूर्ण, गन्दे, अश्लील, किम्बदन्तियों पर आधारित, निरर्थक एवं प्रेरणाहीन पाये जाते है। आवश्यकता इस बात की है कि महापुरुषों, त्यागियों, लोकसेवियों और आदर्श चरित्र व्यक्तियों के तथा प्रेरणाप्रद घटनाओं के चित्रों का बाहुल्य हो और उन्हें देखकर मन पर श्रेष्ठता जाग्रत करने वाले संस्कार पड़ें। इस परिवर्तन में ऐसे चित्रकारों का सहयोग अभीष्ट होगा जो अपनी कला से जन-मानस में ऊर्ध्वगामी भावनाओं का संचार कर सकें। ऐसे भावपूर्ण चित्र तथा प्रेरणाप्रद आदर्श वाक्यों, सूक्तियों तथा अभिवचनों के अक्षर भी कलापूर्ण ढंग से चित्र जैसे सुन्दर बनाये जा सकते हैं। अनीति के विरोध में व्यंग्य चित्रों की बड़ी उपयोगिता है। कलाकारों को ऐसे ही चित्र बनाने चाहिए और कला द्वारा जनमानस को बदल डालने में महत्वपूर्ण योगदान देना चाहिए।

उपरोक्त प्रकार के चित्रों का प्रकाशन व्यवसाय बड़े पैमाने पर आरम्भ करके और उन्हें अधिक सस्ता एवं अधिक सुन्दर बनाकर समाज की बड़ी सेवा की जा सकती है। चित्र प्रकाशन जहाँ एक लाभदायक व्यवसाय है, वहाँ वह प्रभावोत्पादक भी है। चित्रकारों से चित्र बनवाने, उन्हें छापने, विक्रेताओं के पास पहुँचाने, बेचने के काम में अनेक व्यक्तियों को रोटी-रोजी भी मिल सकती है। इस व्यवसाय को आरम्भ करने वाले कितने ही आदमियों को रोटी देने, समाज में भावनाएँ जाग्रत करने एवं अपना लाभ कमाने का श्रेयस्कर व्यापार कर सकते हैं। साहित्य की ही भाँति जन भावनाओं के जाग्रत करने में चित्रकला भी उपयोगी है।

७३– प्रदर्शनियों का आयोजन-प्रदर्शनियों के जगह-जगह आयोजन किये जाएँ! वर्तमान काल की सामाजिक एवं नैतिक बुराइयों के कारण होने वाले दुष्परिणामों के बड़े-बड़े चित्र बनाकर उन्हें सुसज्जित रूप से किसी कमरे या टेण्ट में लगाया जाए और दर्शकों को चित्रों के आधार पर वस्तुस्थिति समझाई जाए तो यह एक बड़ा प्रभावशाली तरीका होगा। बुराइयों की बढ़ोत्तरी की चिन्ताजनक स्थिति से भी जनता को अवगत रखा जाना आवश्यक है। इसके लिए पत्रों में छपे हुए समाचारों या रिपोर्टों के उद्धरण छोटे अक्षरों में चित्रों की भाँति ही सुसज्जित बनाकर प्रदर्शित किए जा सकते हैं।

बुराइयों के प्रति क्षोभ और घृणा, सतर्कता, विरोध और संघर्ष की भावना उत्पन्न करने के लिए जिस प्रकार चित्रों और वाक्यपटों का प्रदर्शन आवश्यक है, इसी प्रकार अच्छाइयों की बढ़ती हुई प्रगति एवं घटनाओं की जानकारी कराने वाले चित्र एवं वाक्य-पट इन प्रदर्शनियों में रहें, जिससे सेवा त्याग, प्रेम, उदारता की भावनाओं को चरितार्थ करने, सन्मार्ग पर चलने और सत्कर्म करने के लिए प्रेरणा मिले। इस प्रकार की प्रदर्शनियाँ मेले-उत्सवों पर तथा अन्य अवसरों पर करते रहने के लिए व्यवस्थित योजना बनाकर चला जाए तो इससे भावनाओं के उत्कर्ष में बड़ी सहायता मिलेगी।

७४– अभिनय और लीलाएँ–भगवान राम और कृष्ण की लीलाएँ जगह-जगह धूम-धाम से होती हैं। इसके व्यवस्थापक ऐसा प्रयत्न करें कि उनमें से निरर्थक एवं मनोरंजक अंश कम करके शिक्षा एवं सन्मार्ग की प्रेरणा उत्पन्न करने वाले अंश बढ़ा दें। उपस्थिति जनता को समझाने को भी सुधरा हुआ ढंग काम में लाया जाय।

जगह-जगह अगणित मेले-ठेले होते हैं। उनके पीछे कोई न कोई इतिहास या परम्परा होती है। इसके किसी लीला, अभिनय, एकांकी, प्रदर्शनी, गायन, संगीत, पोस्टर आदि के रूप में उपस्थिति किया जाए, जिससे उन मेलों में आने वाली जनता उन आयोजनों के मूल कारणों को समझे और उस मेले का कुछ भावनात्मक लाभ भी उठाये। रामलीला आदि में अभिनय करने वाले या उनका संचालन करने में कुशल लोग अपने-अपने क्षेत्रों में ऐसे आयोजनों का प्रबन्ध कर सकते हैं। इससे मेलों का आकर्षण भी बढ़ेगा और प्रचार कार्य की भी श्रेष्ठ व्यवस्था बनेगी।

७५–नाटक और एकांकी–सामूहिक खुले लीला अभिनयों की भाँति ही उनका सुधरा और अधिक सुन्दर रूप नाटक मण्डलियों के रूप में बनता है। रासलीलाओं का वर्तमान रूप वैसा ही है। बड़ी नाटक मण्डलियों की बात यहाँ नहीं की जा रही है। थोड़े से उपकरणों का रंगमंच बनाकर अनेक महापुरुषों के जीवन की श्रेष्ठ घटनाओं, ऐतिहासिक तथ्यों तथा सामाजिक स्थिति का चित्रण करने वाले नाटकों की व्यवस्था करके उन्हें

साधारण जनता के मनोरंजन का माध्यम बनाया जा सकता है। ऐसी मण्डलियाँ व्यावसायिक आधार पर गठित हो सकती हैं। जिन्हें स्थिति के अनुरूप खर्च वसूल करके उन्हें सस्ता और लोकप्रिय बनाया जा सकता है।

छोटे-मोटे आयोजनों में एकांकी अभिनय भी बड़े रोचक और मनोरंजक होते हैं। विद्यालयों में एकांकी अभिनय बड़े सफल होते हैं, उन्हें दूसरे उत्सव-आयोजनों पर भी प्रदर्शित किया जा सकता है। ऐसे एकांकी एवं नाटक लिखे और प्रदर्शित किए जाने चाहिए जो नैतिक एवं विचार क्रान्ति में आवश्यक योगदान दे सकें।

७६-कला के वैज्ञानिक माध्यम-विज्ञान के माध्यम से कुछ कलात्मक माध्यमों का इतना विकास हो गया है कि उनका उपयोग तो जनता करती है पर निर्माण ऊँचे स्तर पर ही हो सकता है। ग्रामोफोन के रिकार्ड और सिनेमा फिल्में इसी प्रकार के दो माध्यम हैं, जिन्होंने जन-मानस पर भारी प्रभाव डाला है। ग्रामोफोन का प्रचलन तो रेडियो के विस्तार से घट गया है, पर उत्सवों के अवसरों पर लाउडस्पीकरों द्वारा रिकार्ड अभी भी बजाये जाते हैं और उन्हें लाखों व्यक्ति प्रतिदिन सुनते हैं। इसी प्रकार देशभर में हजारों सिनेमाघर हैं, जिनमें लाखों फिल्में चल जाती हैं। इन्हें भी करोड़ों व्यक्ति हर साल देखते हैं और जैसे भी विचार व संदेश उन दृश्यों में होते हैं उन्हें देखने वाले ग्रहण करते हैं। मानवीय मस्तिष्क को प्रभावित करने के लिए विज्ञान की यह दो बड़ी कलात्मक देन हैं। पर खेद इसी बात का है कि इनका दुरुपयोग ही अधिक होता है। यदि इनका सदुपयोग हो सका होता तो जन-जाग्रति एवं चरित्र-निर्माण में भारी योग मिला होता।

सद्‌भावनाएँ बढ़ाने के लिए यह करें

दया, करुणा, सेवा, उदारता, सहयोग, परमार्थ, न्याय, संयम और विवेक की भावनाओं का जनमानस में जगाया जाना संसार की सबसे बड़ी सेवा हो सकती है। निष्ठुरता, संकीर्णता और स्वार्थपरता ने ही इस विश्व को नरक बनाया है। यदि यहाँ स्वर्गीय वातावरण की स्थापना करनी हो तो उसका एक ही उपाय है कि मानवीय अन्तस्तल को निम्न स्तर का न रहने दिया जाए। उसकी प्रसुप्त सद्‌भावनाओं को जगाया जाए। भावनाशील व्यक्तियों को ही देवता कहा जाता है। जहाँ देवता स्वभाव के व्यक्ति रहते हैं, वहाँ ही स्वर्गीय-शान्ति और समृद्धि रहती है।

सद्‌भावनाओं के जगाने वाले और इस दिशा में कुछ ठोस प्रेरणा देने वाले कार्यक्रम नीचे दिये हैं-

७७- **सेवा कार्यों में अभिरुचि**-व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से ऐसे सेवा कार्यों का कुछ न कुछ आयोजन होते रहना चाहिए, जिससे आवश्यकता वाले व्यक्तियों की कुछ सहायता होती रहे और दुखियों को सुख मिले। ईसाई मिशनों में हर जगह चिकित्सा कार्यों को स्थान रहता है। प्राचीनकाल में बौद्ध विहारों में भी ऐसी व्यवस्था रहती थी। राम-कृष्ण परमहंस मिशन ने भी ऐसे ही चिकित्सालय जगह-जगह बनाये हैं। हम लोग 'तुलसी के अमृतोपम गुण' पुस्तक के आधार पर तुलसी के पत्तों में कुछ साधारण वस्तुएँ मिलाकर औषधियाँ बना सकते हैं और उनसे अन्य प्रकार की औषधियों की अपेक्षा कहीं अधिक रोगियों की सेवा कर सकते हैं। तुलसी के पौधे बोने और थोड़ा-सा खर्च करने से इस प्रकार की हानिरहित चिकित्सा का क्रम हर जगह चल सकता है। सूर्य चिकित्सा की विधि भी इस दृष्टि से बड़ी उपयोगी हो सकती है।

सेवा-समितियाँ जिस प्रकार मेलों का प्रबन्ध, महामारी, दुर्घटना आदि से ग्रस्त लोगों की सहायता या दूसरे प्रकार के सेवा कार्य करती हैं, वैसे ही जनहित के कोई कार्य हमें भी करते रहने चाहिए ताकि सद्‌भावनाओं को जगाने में सहायता मिले। अपंग भिक्षुओं के लिए निर्वाह साधन बनाने के प्रयत्न भी उपयोगी रहेंगे।

७८-**सार्वजनिक उपयोग के उपकरण**-अपनी समिति के पास कुछ ऐसे उपकरण रखे रहें जिन्हें लोग अक्सर दूसरों से माँगकर काम चलाया करते हैं। विवाह-शादियों में काम आने वाले बड़े बर्तन, जलपात्र, फर्श, बिछौने, नसैनी, लालटेनें, सजावट का सामान, कुएँ में गिरे हुए डोल रस्सी निकालने के काँटे, आटे की सेमई बनाने की मशीन जैसी छोटी-मोटी चीजें एकत्रित रखी जाएँ और उन्हें मरम्मत खर्च लेकर लोगों को देते रहा जाय तो उससे भी सहानुभूति एवं सद्‌भावना बढ़ती है।

७९- **जीव-दया के सत्कर्म**-पशु-पक्षियों और जीव-जन्तुओं के प्रति करुणा उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। पशु-पक्षी भी अपने ही भाई-भतीजे है, उनका माँस खाने, खून पीने की आदत छुड़ानी चाहिए। उससे आध्यात्मिक सद्‌गुण नष्ट होते हैं, नृशंसता पनपती है। चमड़ा भी आजकल जीवित काटे हुए पशुओं का ही आ रहा है। उसका उपयोग करने से भी पशु वध में वृद्धि होती है। हमें चमड़े के स्थान पर कपड़ा या रबड़ के जूते पहनकर काम चलाना चाहिए और दूसरी चमड़े की बनी वस्तुएँ भी प्रयोग नहीं करनी चाहिए। मृगछालाएँ भी आजकल हत्या किये हुए पशुओं की ही मिलती हैं इसलिए पूजा में उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो रेशम कीड़ों को जिन्दा उबालकर निकाला जाता है वह भी प्रयोग न किया जाय।

सामर्थ्य से अधिक काम लिया जाना, अधिक भार लादा जाना, बुरी तरह पीटना, घायल बीमारों से काम लेना, फूँका प्रथा के अनुसार दूध निकालना आदि अनेक प्रकार से पशुओं के साथ बरती जाने वाली नृशंसता का त्याग करना चाहिए।

गौ-पालन, गौ दुग्ध को प्राथमिकता देना जैसे धर्म कृत्यों की तरफ ध्यान देना चाहिए, जिससे स्वास्थ्य,

समृद्धि और सद्भावना की अभिवृद्धि का मार्ग प्रशस्त हो सके।

८०– ईमानदार उपयोगी स्टोर–ऐसे स्टोर चलाये जाएँ जहाँ शुद्ध खाद्य वस्तुएँ उचित मूल्य पर मिल सकें। खाद्य पदार्थों की अशुद्धता अक्षम्य है। इससे जनस्वास्थ्य पर घातक प्रभाव पड़ता है। इस अभाव की पूर्ति कोई ईमानदार व्यक्ति कर सकें तो उससे उसकी अपनी आजीविका भी चले और जनता की आवश्यकता भी पूर्ण हो। आटा, दाल, चावल, तेल, घी, दूध, शहद, गुड़, मेवा, मसाले, औषधियाँ, चक्की, भाप से पकाने के बर्तन, व्यायाम साधन, साहित्य पूजा-उपकरण एवं अन्य आवश्यक जीवनोपयोगी वस्तुओं की उचित मूल्य पर अभाव पूर्ति करने वाले व्यापारी आज की स्थिति में समाजसेवी ही कहे जा सकते हैं।

८१–सम्मेलन और गोष्ठियाँ– सद्भावनाओं को जाग्रत करने वाला लोक-शिक्षण भी व्यापक रूप से आरम्भ किया जाना चाहिए। इसके लिए समय-समय पर छोटे-बड़े सम्मेलन, विचार-गोष्ठियाँ, सत्संग एवं सामूहिक आयोजन करते रहना चाहिए। एकत्रित जन-समूह को विचार देने में सुविधा रहती है और उत्साह भी बढ़ता है। गायत्री यज्ञों के छोटे-छोटे आयोजन भी इस दृष्टि से उपयोगी रहते हैं। बहुत बड़ी सभाएँ भी भीड़-भाड़ की अपेक्षा विचारशील लोगों के छोटे सम्मेलन अधिक उपयोगी रहते हैं। उनमें ही कुछ ठोस कार्य की आशा की जा सकती है।

८२– नवरात्रि में शिक्षण शिविर–समय-समय पर सद्भावना शिक्षा शिविर होते रहें, इस दृष्टि से आश्विन और चैत्र की नवरात्रियाँ सर्वोत्तम रहती हैं। उस समय नौ-नौ दिन के शिविर हर जगह किए जाया करें। प्रातःकाल जप, हवन, अनुष्ठान का आयोजन रहे। तीसरे पहर विचार गोष्ठी और भजन-कीर्तन एवं रात्रि को सार्वजनिक प्रवचनों का कार्यक्रम रहा करे। अन्तिम दिन जुलूस, प्रभात-फेरी एवं बड़े सामूहिक यज्ञ के साथ पूर्णाहुति, प्रसाद-वितरण आदि का कार्यक्रम रहा करे। प्रसाद में सच्चा सत्साहित्य भी वितरण किया किया जाया करे। बलिदान में बुराइयाँ छुड़ाई जाया करें। नारी प्रतिष्ठा की दृष्टि से अन्त में कन्या भोज किया जाया करे। भाषणों और प्रवचनों की आवश्यकता युग-निर्माण की विचारधारा को प्रस्तुत कर सकने वाले कोई भी कुशल वक्ता आसानी से पूरी कर सकते हैं। वर्ष में नौ-नौ दिन के दो नवरात्रि आयोजन शिक्षण-शिविरों के रूप में चलते रहें, तो इससे उपासना और भावना के दोनों ही महान् लाभों से जन-साधारण को लाभान्वित किया जा सकता है। पर्व और त्यौहारों पर भी इन्हें विकसित बनाने के लिए ऐसे ही आयोजन किये जाते रहने चाहिए।

८३–धर्म-प्रचार की पदयात्रा- घरेलू कार्यों से छुट्टी लेकर कुछ विचारशील लोग टोली बनाकर पद-यात्रा पर निकला करें। पूर्व निश्चित प्रोग्राम पर एक-एक दिन ठहरते हुए आगे बढ़ें। प्रातः जप, हवन, तीसरे पहर विचारगोष्ठी और रात्रि को सामूहिक प्रवचनों का कार्यक्रम रहा करे। जिन जगहों में टोली को ठहरना हो, वहाँ पहले से ही आवश्यक तैयारी रहे, ऐसा प्रबन्ध कर लेना चाहिए। सन्त बिनोवा की भूदान जैसी पद-यात्राएँ युग-निर्माण योजना के प्रसार के लिए भी समय-समय पर की जाती रहनी चाहिए।

८४–आदर्श वाक्यों का लेखन–दीवारों पर आदर्श वाक्यों का लेखन एक सस्ता लोक-शिक्षण है, गेरू में गोंद पकाकर दीवारों पर अच्छे अक्षरों में आदर्श, शिक्षात्मक एवं प्रेरणाप्रद वाक्य लिखे जाएँ तो उनसे पढ़ने वालों पर प्रभाव पड़ता है। जिस जगह प्रेरणाप्रद विचार पढ़ने को मिलें तो उस स्थान के सम्बन्ध में स्वतः ही अच्छी भावना बनती है। जहाँ स्याही का ठीक प्रबन्ध न हो सके तो सूखे गेरू की डली से भी लिखते रहने का कार्यक्रम चलता रह सकता है। कई व्यक्ति मिलकर अपने नगर की दीवारों पर इस प्रकार लिख डालने का कार्यक्रम बना लें तो जल्दी ही नगर की सारी दीवारें प्रेरणाप्रद बन सकती हैं।

८५–संजीवनी विद्या का विधिवत् प्रशिक्षण – संजीवनी विद्या का एक केन्द्रीय विद्यालय बनाया जाना चाहिए। जिसमें जीवन की प्रत्येक समस्या पर गहन अध्ययन करने और उन्हें सुलझाने सम्बन्धी तथ्यों को जानने का अवसर मिले। अव्यवस्था, गृहकलह, आर्थिक तंगी, विरोधियों का आक्रमण, अस्त-व्यस्त दाम्पत्य जीवन, बालकों के भविष्य निर्माण की समस्या, आत्म-कल्याण पक्ष की बाधाएँ, गरीबी और असफलता, चिन्ता और उद्वेग, अयोग्यता एवं अशक्ति, प्रगति पथ के अवरोध आदि अनेक कठिनाइयों के हल व्यक्तिगत परिस्थितियों के अनुरूप सुलझाने का प्रशिक्षण उस विद्यालय में रहे। स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय करते हुए मनुष्य किस प्रकार लोक और परलोक में सुख-शान्ति का अधिकारी बन सकता है, यह पूरा शिक्षण मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और लोक-व्यवहार के सर्वांगपूर्ण आधार पर दिया जाए जिससे व्यक्तित्व के विकास में समुचित सहायता मिले।

ऐसे विद्यालय का अभाव बहुत खटकने वाला है। अनेक प्रकार की शिक्षा संस्थाएँ सर्वत्र मौजूद हैं। पर जिन्दगी जीने की विद्या जहाँ सिखाई जाती हो ऐसे प्रबन्ध कहीं भी नहीं हैं, हमें यह कमी पूरी करनी है। गायत्री शक्तिपीठें हमारे ऐसे ही प्रशिक्षण केन्द्र हैं जहाँ इस प्रकार के प्रशिक्षण सत्र चलेंगे, जैसे कि अभी शांतिकुंज में चल रहे हैं। प्रयत्न यह होना चाहिए कि परिवार के सभी विचारशील लोग क्रमशः उनका लाभ उठाते चलें।

८६–छोटे स्थानीय शिक्षण सत्र–जो लोग शांतिकुंज हरिद्वार नहीं पहुँच सकते और इतना लम्बा समय भी नहीं दे सकते, उनके लिए एक महीना का छोटा शिक्षण-सत्र प्रत्येक केन्द्र पर चलता रहे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए। शिक्षार्थी जीवन-विद्या की पाठ्य पुस्तिकाओं के आधार

पर समस्याओं को सुलझाने का ज्ञान प्राप्त करें। इस प्रकार एक महीने में ३० ट्रैक्टों का अध्ययन हो सकता है, अन्तिम दिन समावर्तन होगा। शिक्षार्थियों के ज्ञान की परीक्षा भी हुआ करेगी। यह पाठ्य भी सस्ती ट्रैक्ट पुस्तिका के रूप में तैयार है। इसका प्रचलन आसानी से आरम्भ कर सकते हैं।

इन सत्रों के चलाने के लिए जगह-जगह व्यवस्था की जाय, जिससे युग-निर्माण के लिए आवश्यक संजीवनी विद्या का ज्ञान व्यापक बन सके।

सद्भावनाओं को बढ़ाने के लिए हर प्रकार के प्रयत्न होने चाहिए। कुछ कार्यक्रमों का विवरण ऊपर दिया गया है। ऐसे और भी अनेक कार्य हो सकते हैं, जिन्हें परिस्थितियों के अनुरूप जन-मानस में सद्भावनाएँ बढ़ाने की दृष्टि से उत्साहपूर्वक कार्यान्वित करते रहना चाहिए।

राजनीति और सच्चरित्रता

आज की परिस्थितियों में शासन-सत्ता की शक्ति बहुत अधिक है। इसलिए उत्तर-दायित्व भी उसी पर अधिक हैं। राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान और पतन में भी शासन-तंत्र अपनी नीतियों के कारण बहुत कुछ सहायक अथवा बाधक हो सकता है। नीचे कुछ ऐसे सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं जिनके आधार पर राजनीति के क्षेत्र से चरित्र निर्माण की दिशा में बहुत काम हो सकता है। हम लोग आज की प्रत्यक्ष राजनीति में भाग नहीं लेते पर एक मतदाता और राष्ट्र के उत्तरदायी नागरिक होने के नाते इतना कर्तव्य तो है ही कि शासन-तंत्र में आवश्यक उत्कृष्टता लाने के लिए प्रयत्न करें।

जो लोग आज चुने हुए हैं उन तक यह विचार पहुँचाए जाएँ और जो आगे चुने जाएँ उन्हें इन विचारों की उपयोगिता समझाई जाए। चुने हुए लोगों का बहुमत तो इस दिशा में बहुत कुछ कर सकता है। अल्पमत के लोग भी बहुमत को प्रभावित तो कर ही सकते हैं। जनआन्दोलन के रूप में यह विचारधारा यदि सरकार तक पहुँचाई जाए तो उसे भी इस ओर ध्यान देने और आवश्यक सुधार करने का अवसर मिलेगा। हमें रचनात्मक प्रयत्न करने चाहिए और शासन में चरित्र निर्माण का उपयुक्त वातावरण रहे इसके लिए प्रयत्न करते रहना ही चाहिए।

नीचे कुछ विचार प्रस्तुत हैं। इनके अतिरिक्त तथा विकल्प में भी अनेक विचार हो सकते हैं जिनके आधार पर राष्ट्र का चारित्रिक विकास हो सके, उनको भी सामने लाना चाहिए।

८७-गीता के माध्यम से जनजागरण-जिस प्रकार भागवत् कथा सप्ताहों के धार्मिक अनुष्ठान होते हैं। उसी प्रकार गीता कथा सप्ताहों के माध्यम से जनजागरण के आयोजन किये जाएँ। युग निर्माण योजना के अन्तर्गत जिस आर्ष विचारधारा का प्रतिपादन है, वह गीता में समग्र रूप से विद्यमान है। मोह-ग्रस्त अर्जुन को जिस प्रकार भगवान कृष्ण ने गीता का सन्देश सुनाकर उसे कर्तव्य पथ पर संलग्न किया था उसी प्रकार प्रस्तुत भारत को जाग्रत करने के लिए जन-जीवन में गीता ज्ञान का प्रवेश कराया जाना चाहिए।

इस प्रकार गीता प्रवचनों के प्रशिक्षण के लिए एक विशेष योजना तैयार की गई है। गीता श्लोकों से संगति रखने वाली रामायण की चौपाइयों में इतिहास पुराणों की कथाओं का समावेश करके ऐसी पुस्तकें तैयार की गई हैं। जिनके माध्यम से गीता की कथा को बाल-वृद्ध, नर-नारी, शिक्षित-अशिक्षित सभी के लिए आकर्षक, प्रबोधक एवं हृदयस्पर्शी बनाया जा सकता है। राधेश्याम तर्ज पर गीता का ऐसा पद्यानुवाद भी छापा गया है जिसे कीर्तन भजन की तरह गाया जा सकता है। आयोजनों में भाग लेने वाले व्यक्ति दो भागों में विभक्त होकर बारी-बारी इन पद्यानुवादों का सामूहिक पाठ करें तो यह गीतापरायण बहुत ही आकर्षक बन सकता है। किस श्लोक के साथ किस युग-निर्माण सिद्धान्त का समावेश किया जाए और उसका प्रतिपादन किस प्रकार हो यह विधान इस गीता-सप्ताह साहित्य में समाविष्ट कर दिया गया है। ऐसे प्रवचनकर्ताओं को व्यावहारिक शिक्षा देने के लिए केन्द्र में एक-एक महीने के शिक्षण शिविर भी होते हैं, जिनमें प्रशिक्षण प्राप्त कर गीता के माध्यम से जनजागरण के लिए नई पीढ़ी के नये प्रवचनकर्ता-कथा-व्यास तैयार किये जा सकते हैं।

८८-मतदान और मतदाता-जहाँ प्रजातन्त्र पद्धति है वहाँ शासन के भले या बुरे होने का उत्तर-दायित्व वहाँ के उन सभी नागरिकों पर रहता है जो मतदान करते हैं। 'वोट' राष्ट्र की एक परम पवित्र थाती है। उसकी महत्ता हम में से हर एक को समझनी चाहिए। किसी पक्षपात, दबाव या लोभ में आकर इसे चाहे किसी को दे डालने का उथलापन नहीं अपनाना चाहिए। जिस पार्टी या उम्मीदवार को वोट देना हो उसकी विचारधारा, भावना एवं उत्कृष्टता को भली- भाँति परखना चाहिए। राष्ट्र के भाग्य-निर्माण का उत्तरदायित्व हम किसे सौंपे? इस कसौटी पर जो भी खरा उतरे उसे ही वोट दिया जाय। प्रजातन्त्र का लाभ तभी है जब हर नागरिक उसका महत्व और उत्तरदायित्व समझे और अनुभव करे। शासन में आवश्यक सुधार अभीष्ट हो तो इसके लिए मतदाताओं को समझाया और सुधारा जाना आवश्यक है।

८९-शिक्षा पद्धति का स्तर-शिक्षालय व्यक्तित्व ढालने की फैक्टरियाँ होती हैं। वहाँ जैसा वातावरण रहता है, जिस व्यक्तित्व के अध्यापक रहते हैं, जैसा पाठ्यक्रम रहता है, जैसी व्यवस्था बरती जाती है उसका भारी प्रभाव छात्रों की मनोभूमि पर पड़ता है और वे भावी जीवन में बहुत कुछ उसी ढाँचे में ढल जाते हैं। आज शिक्षा का पूरा

नियन्त्रण सरकार के हाथ में है, इसलिए छात्रों की मनोभूमि का निर्माण करने की जिम्मेदारी भी बहुत कुछ उसी के उपर है। शिक्षण पद्धति में ऐसा सुधार करने के लिए सरकार को कहा जाए जिससे चरित्रवान्, कर्मठ, सभ्य और सेवाभावी नागरिक बनकर शिक्षार्थी निकल सकें। सैनिक शिक्षा को शिक्षण का अनिवार्य अंग बनाया जाए और नैतिक एवं सांस्कृतिक भावनाओं से विद्यालयों का वातावरण पूर्ण रहे। इसके लिए सरकार पर आवश्यक दबाव डाला जाए।

१०—**कुरीतियों का उन्मूलन**—सामाजिक कुरीतियों की हानियाँ नैतिक अपराधों से बढ़कर हैं। भले ही उन्हें मानसिक दुर्बलतावश अपनाये रखा गया हो पर समाज का अहित तो बहुत भारी ही होता है । इसलिए इनके विरुद्ध भी कानून बनाने चाहिए। स्वर्ण नियन्त्रण का कानून कड़ाई के साथ अमल में आते ही जेवरों का सदियों पुराना मोह सप्ताहों के भीतर समाप्त हो गया। इसी प्रकार सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध अन्य कानून भी बनाये जाएँ और उनके पालन कराने में स्वर्ण-नियन्त्रण जैसी कड़ाई बरती जाए। यों दहेज, मृत्युभोज, बाल-विवाह, वेश्यावृत्ति आदि के विरुद्ध कानून मौजूद हैं पर वे इतने ढीले-पोले हैं कि उससे न्याय और कानून का उपहास ही होता है। यदि सचमुच ही कोई सुधार करना हो तो कानूनों में तेजी और कड़ाई रहनी आवश्यक है। सरकार पर ऐसे ही सुधारात्मक कड़े कानून बनाने के लिए जोर डाला जाए।

११—**सस्ता, शीघ्र और सरल न्याय**-आज का न्याय बहुत पेचीदा, बहुत लम्बा, बहुत व्यय-साध्य और ऐसी गुत्थियों से भरा है कि बेचारा निर्धन और भोला-भाला व्यक्ति न्याय से वंचित ही रह जाता है। धूर्तों के लिए ऐसी गुंजायश मिल जाती है कि वे पैसे के बल पर सीधे को उल्टा कर सकें। न्यायतंत्र में से ऐसे सारे छिद्र बन्द किए जाने चाहिए और ऐसी व्यवस्था बननी चाहिए तथा ऐसा परिवर्तन होना चाहिए कि सरल रीति से ही व्यक्ति को शीघ्र और सस्ता न्याय प्राप्त हो सके। इस विभाग के कर्मचारियों के हाथ में जनता को परेशान करने की क्षमता न रहे तो रिश्वत सहज ही बन्द हो सकती है।

१२—**अपराधों के प्रति कड़ाई**-अपराधियों के प्रति कड़ाई की कठोर-नीति रखने की प्रेरणा सरकार को करनी चाहिए। स्वल्प दण्ड और जेलों में असाधारण सुविधाएँ मिलने से बन्दी सुधरते नहीं वरन् निर्भय होकर आते हैं। सुधारने वाला वातावरण जेलों में कहाँ है? यदि वहाँ असुविधा भी न रहेगी तो अपराधी लोग उसकी परवाह न करते हुए दुस्साहसपूर्ण अपराध करते ही रहेंगे। रूस आदि जिन देशों में अपराधी को कड़ी सजा मिलती है वहाँ के लोग अपराध करते हुए डरते हैं। यह डर घट जाय या मिट जाए तो अपराध बढ़ेंगे ही। इसलिए स्वल्प दण्ड देने वाले कानून और जेल में अधिक सुविधाएँ मिलना चरित्र-निर्माण की दृष्टि से हानिकारक है, इस तथ्य को सरकार से मनवाने का प्रयत्न किया जाए।

कानूनी पकड़ से जो लोग बच जाते हैं उन असामाजिक गुण्डातत्वों की अपराधवृत्ति रोकने के लिए विशेष तन्त्र गठित रहे, जिसमें उच्च आदर्शवान, परखे हुए लोग ही गुप्तचरों के रूप में वस्तुस्थिति का पता लगाते रहें। इनकी जाँच के आधार पर गुण्डा-तत्वों को नजरबन्द किया जा सके, ऐसी व्यवस्था रहे। आज अपराधी लोग कानून की पकड़ से आतंक, धन और चतुरता के आधार पर बच निकलते हैं। यह सुविधा बन्द की जाए। न्यायालयों से ही नहीं वस्तुस्थिति जाँच करने वाली उच्चस्तरीय जाँच समिति की सूचना के आधार पर भी दण्ड व्यवस्था की जा सके, ऐसी व्यवस्था की जाए।

१३—**अधिकारियों की प्रामाणिकता**-अपराधों को रोकने वाले शासनाधिकारियों को उनकी ईमानदारी और विश्वसनीयता की लम्बी अवधि तक परख होते रहने के बाद नियुक्त किया जाए। उन्हें विभागों में से लिया जाय और यह देखा जाए कि अपराधों को रोकने में इनकी भावना एवं प्रतिभा कैसी रही है। अनुभवहीन लड़कों को एकदम अपराध निरोधक पदों पर नियुक्त कर दिया जाना और उनके चरित्र की गुप्त जाँच न होते रहना शासन में भ्रष्टाचार उत्पन्न करता है। जिन पदों पर भ्रष्टाचार की सम्भावना है उन पर नियुक्तियाँ शिक्षा एवं योग्यता के अतिरिक्त अनुभव एवं चरित्र को प्रधानता देते हुए की जाया करे। अपराधी अधिकारियों को जन-दण्ड की अपेक्षा दस-बीस गुना दण्ड मिलने की व्यवस्था कानून में रहे। अधिकारियो का भ्रष्टाचार मिटे बिना जनता की अनैतिकता का मिट सकना कठिन है।

१४— **आर्थिक विषमता घटे**—आर्थिक विषमता और फिजूलखर्ची पर नियन्त्रण रहे। आर्थिक कारणों से अधिकतर अपराध बढ़ते हैं। इसलिए उपलब्धि के साधन हर व्यक्ति को इतने मिलें जिससे उसकी ठीक गुजर हो सके। यह तभी सम्भव है जब अधिक उपभोग एवं संग्रह की सीमा पर भी नियन्त्रण हो। मिलों में कपड़ों की डिजायनें कम बनें तो कपड़े का खर्च बहुत घट जाए। इसी प्रकार उपयोगी वस्तुओं की संख्या एवं भिन्नता सीमित करदी जाए। राष्ट्रीय उत्पादन का एक स्तर कायम हो, जिसमें थोड़ा अन्तर तो रह सकता है पर जमीन-आसमान जैसा अन्तर न हो। सामूहिकता और समता के आधार पर समाज का पुनर्गठन किया जाए तो उसमें अपराधों की गुंजायश सहज ही बहुत घट जायगी।

युग-निर्माण की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

युग-निर्माण की पृष्ठभूमि राजनैतिक एवं सामाजिक नहीं वरन् आध्यात्मिक है। उतना महत्वपूर्ण कार्य इसी स्तर

पर उठाया या बढ़ाया जा सकता है। राजनैतिक एवं सामाजिक स्तर पर किए गए सुधार प्रयत्नों में यह श्रद्धा, भावना, तत्परता एवं गहराई नहीं हो सकती, जो आध्यात्मिक स्तर पर किए गए प्रयत्नों में सम्भव है। हम इसी स्तर से कार्य आरम्भ कर रहे हैं। इसलिए हम सबको उपासना, तपश्चर्या एवं आध्यात्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत होना चाहिए तथा योजना के सम्पर्क में आने वाले दूसरे लोगों को भी इसी भावना से प्रभावित करना चाहिए। हमारे सुधार आन्दोलन आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक साधन मात्र है इसलिए साधन के साथ साध्य को भी ध्यान में रखना ही होगा। हमारे छह आध्यात्मिक कार्यक्रम नीचे प्रस्तुत हैं-

९५—गायत्री उपासना—संस्कृति का मूल उद्गम गायत्री महामन्त्र है। उसमें जीवनोत्कर्ष की समस्त शिक्षाएँ बीज रूप से मौजूद हैं। उपासना का मूल उद्देश्य, भावनाओं और प्रवृत्तियों का सन्मार्ग की ओर प्रेरणा प्राप्त करना हो तो होता है। यह आधार गायत्री में है और उसकी उपासना में वह शक्ति भी है कि अन्तःकरण को इसी दिशा में मोड़े। इस दृष्टि से गायत्री सर्वांगपूर्ण एवं सार्वभौम मानवीय उपासना कही जा सकती है। उसके लिए हमें नित्य नियमित रूप से कुछ समय निकालना चाहिए, चाहे वह समय पाँच मिनट ही क्यों न हो। १०८ गायत्री मन्त्र जपने में प्रायः इतना ही समय लगता है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि अपने घर, परिवार, सम्बन्धी, समाज और परिचय-क्षेत्र के भी लोग गायत्री उपासना में संलग्न रहें। इससे अतिरिक्त उपासनाएँ जो करते हैं वे उन्हें भी करते हुए गायत्री जप कर सकते हैं।

९६—यज्ञ की आवश्यकता—जिस प्रकार गायत्री सद्भावना की प्रतीक है, उसी प्रकार यज्ञ सत्कर्मों का प्रतिनिधि है। अपनी प्रिय वस्तुओं को लोकहित के लिए निरन्तर अर्पित करते रहने की प्रेरणा यज्ञीय प्रेरणा कहलाती है। हमारा जीवन ही एक यज्ञ बनना चाहिए। इस भावना को जीवित-जाग्रत रखने के लिए यज्ञ प्रक्रिया को दैनिक जीवन में उपासनात्मक स्थान दिया जाता है। हमें नित्य यज्ञ करना चाहिए। यदि विधिवत् यज्ञ करने में समय और धन खर्च होने की असुविधा हो तो चौके में बने भोजन के पाँच छोटे ग्रास गायत्री मन्त्र बोलते हुए अग्निदेव पर होमे जा सकते हैं अथवा भोजन करते समय इसी प्रकार का अग्निपूजन किया जा सकता है। घी का दीपक एवं अगरबत्ती जलाना भी यज्ञ विधि का ही एक रूप है। इनमें से जिसे जैसी सुविधा हो वह यज्ञ क्रम बना ले, पर यह प्रथा 'अखण्ड ज्योति परिवार' के हर घर मे जीवित अवश्य ही रहनी चाहिए।

९७—समय-दान यज्ञ—प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का कर्तव्य है कि व दूसरों को विचारशील बनाने के लिए युग-निर्माण की भावनाओं को अपने तक ही सीमित न रखकर दूसरों तक पहुँचाने के लिए नियमित रूप से कुछ समयदान करे। जन-सम्पर्क के लिए समय निकाले। मित्रों, स्वजन, सम्बन्धियों, रिश्तेदारों एवं परिचितों से, अपरिचितों से सम्पर्क बनाने के लिए नियमित रूप से उनके घर जाए, अपने विषय की पुस्तकें उन्हें पढ़ने को दे तथा अपने मिशन की चर्चा करे। इस प्रकार अपने सम्पर्क क्षेत्र में प्रकाश फैलाने के लिए अपने समय का एक अंश परमार्थ कार्यों में उसी तरह लगाते रहना चाहिए जिस तरह अन्य दैनिक आवश्यक कार्यों के लिए लगाते रहते हैं।

९८—आत्म-चिन्तन और सतसंकल्प—युग निर्माण का सतसंकल्प हमें नित्य प्रातः उठते समय और रात को सोते समय पढ़ना चाहिए। उसके अनुसार जीवन ढालना चाहिए। सोते समय दिन भर के कामों का लेखा-जोखा लेना चाहिए और जो भूलें उस दिन हुई हों वे दूसरे दिन न होने पावें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। जीवन को दिन-दिन शुद्ध करते रहा जाए।

९९—अविच्छिन्न दान परम्परा—नित्य कुछ समय और कुछ धन परमार्थ कार्यों के लिए देते रहने का कार्यक्रम बनाना चाहिए। दान हमारे जीवन की एक अविच्छिन्न आध्यात्मिक परम्परा के रूप में चलता रहे। इस प्रकार अपनी आजीविका का एक अंश नियमित रूप से परमार्थ के लिए लगाया जाता रहे। इसके लिए कोई धर्मपेटी या धर्मघट में अन्न या पैसा डालते रहा जाए। यह धन केवल सद्भावना प्रसार के ज्ञानयज्ञ में ही खर्च हो, युग-निर्माण का आधार यही तो है।

इसी प्रकार धर्म प्रचार के लिए, जनसम्पर्क के लिए कुछ समय भी नित्य दिया जाए। नित्य न बन पड़े तो साप्ताहिक अवकाश के दिन अधिक समय देकर दैनिक क्रम की पूर्ति की जाए। सद्भावनाओं के प्रसार और जागरण के लिए जनसम्पर्क ही प्रधान उपाय है। इसमें झिझक या संकोच करने की, अपमान अनुभव करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है।

१००—सत्याग्रही स्वयंसेवक सेना—सामाजिक कुरीतियों एवं नैतिक बुराइयों को मिटाने के लिए राग-द्वेष से रहित, संयमी, मधुर व्यवहार वाले और दृढ़-चरित्र व्यक्तियों की एक ऐसी सत्याग्रही सेना गठित की जानी है, जो दूसरों को बिना कष्ट पहुँचाए अपने ही त्याग, तप से बुराइयाँ छुड़ाने के लिए कष्ट सहने को तैयार हों। सत्याग्रह कहाँ, किस प्रकार किया जाए यह एक बहुत ही दूरदर्शिता का प्रश्न है, अन्यथा सुधार के स्थान पर द्वेष फैल सकता है। इन सब बातों का ध्यान रखते हुए सत्याग्रही स्वयं सेवक सेना का गठन और उसके द्वारा बुराइयों के उन्मूलन की व्यवस्था भी करनी ही पड़ेगी। इसके लिए उपयुक्त व्यक्तियों को अपना नाम स्वयं सेवकों की श्रेणी में लिखाना चाहिए। शक्ति को देखते हुए वैसे ही कार्यक्रम आरम्भ किये जावेंगे और पहले उन्हें प्रशिक्षित भी करना पड़ेगा।

बौद्धिक क्रान्ति की तैयारी

मनुष्य शरीर में विचार ही प्रधान हैं। भावनाओ के अनुरूप ही मनुष्य का व्यक्तित्व उठता-गिरता है। वैयक्तिक

जीवन की समस्त असुविधाओं और कुण्ठाओं का प्रधान कारण विचारणा का दोषयुक्त होना ही होता है। सामाजिक समस्याएँ और कठिनाइयाँ भी जन-मानस के विचारों के नीचे-ऊँचे होने पर ही उलझती-सुलझती हैं। नव-निर्माण का आधार भी विचार स्तर को ऊँचा उठाया जाना ही हो सकता है। ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है। विवेक से ही कल्याण होता है। भावना से ही यह जड़, मन, जगत, चेतन ब्रह्म का मंगलमय स्वरूप परिलक्षित होने लगता है।

धरती पर स्वर्ग का अवतरण-नवयुग का आगमन बौद्धिक क्रान्ति के द्वारा ही सम्भव होगा। जन-समाज की विचारधारा को, आकांक्षाओं और आदर्शों के बदल देने से युग परिवर्तन स्वयंमेव उपस्थित हो जाता है। भौतिकवाद से मुँह मोड़कर यदि हम आध्यात्मिक आदर्शों को अपनालें तो मनुष्य की स्थिति देवताओं जैसी दिव्य बन सकती है और वह हर घड़ी स्वर्गीय सुख का आनन्द लेता रह सकता है।

बौद्धिक क्रान्ति के लिए (१) लेखनी, (२) वाणी और (३) प्रक्रिया के तीन ही माध्यम होते हैं। युग-निर्माण योजना अपने साधनों के अनुरूप इन तीनों ही माध्यमों को कार्यान्वित कर रही है। 'अखण्ड-ज्योति' मासिक पत्रिका विचार क्रान्ति के सारे ढाँचे प्रस्तुत करती रहती है और प्रज्ञा अभियान पाक्षिक के द्वारा उन विचारों को कार्यान्वित किए जाने का व्यवहारिक मार्गदर्शन होता रहता है। सिद्धान्त और कार्यक्रम-थ्यौरी और प्रैक्टिस -का प्रयोजन यह दोनों पत्रिकाएँ जिस सुन्दर ढंग से पूर्ण कर रही हैं उससे लाखों व्यक्ति चमत्कृत, प्रभावित, उत्साहित और कर्मरत हुए हैं। इन्हें नियमित रूप से पढ़ने वाले ही योजना के सदस्य होते हैं। इन दो उपकरणों के माध्यम से उनका व्यक्तित्व एवं मानसिक स्तर इतना ऊँचा उठा है कि उसे देखते हुए हमें प्रस्तुत योजना बना डालने और उसे उसकी सफलता पर पूर्ण विश्वास करने का साहस हो सकता है। नव-निर्माण की दिशा में यह दो माध्यम ऐतिहासिक भूमिका उपस्थित कर रहे हैं। एक शब्द में यों भी कहा जा सकता है कि योजना शरीर के अन्तर्गत श्वास-प्रश्वास की क्रिया इन्हीं दो नासारंध्रों से होती है। इन्हें ही उसका जीवन प्राण एवं मेरुदण्ड कहना चाहिए। इन्हीं से पाठकों का यह परिवार बना है। उन्हीं को सदस्य मानकर शाखा-संगठनों के आगे बढ़ाया जा रहा है।

भारतीय संस्कृति के अनुरूप विशुद्ध अध्यात्मदर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए आर्ष ग्रन्थों को सर्वसुलभ बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई। उसकी पूर्ति के लिए चारों वेदों का सायण भाष्य के आधार पर हिन्दी अनुवाद किया गया और उसे सर्वसुलभ मूल्य पर छापा गया। उसी प्रकार १०८ उपनिषदों का भाष्य भी तीन बड़ी जिल्दों में और छह दर्शनों का विस्तृत भाष्य छह जिल्दों में प्रस्तुत करके उसे प्रकाशित कराया गया। अब गीता का एक विश्व कोष तैयार किया जा रहा है जो १८ बड़ी-बड़ी जिल्दों में प्रकाशित होगा। इसमें संसार भर के समस्त गीता भाष्यों का समावेश तथा उनमें दीखने वाली उलझनों का विस्तृत समाधान होगा। यह ग्रन्थ इस दृष्टि से इन पंक्तियों के लेखक ने विगत ६५ वर्षों के निरन्तर श्रम से प्रस्तुत किया है ताकि बौद्धिक क्रान्ति तथा सामाजिक क्रान्ति की अपनी योजना को भारतीय संस्कृति का पुनरुद्धार मात्र सिद्ध किया जा सके।

युग-निर्माण विचारधारा को स्थायी साहित्य का रूप देने के लिए सर्वसाधारण के उपयुक्त 'युग निर्माण योजना' द्वारा तीन हजार से अधिक पुस्तकें अत्यन्त सस्ते मूल्य पर प्रकाशित की गयी हैं। आगे भी प्रयत्नपूर्वक बौद्धिक क्रान्ति का प्रयोजनपूर्ण करने वाला साहित्य छपता रहेगा। प्रयत्न यह किया जा रहा है कि उठते हुए राष्ट्र की बौद्धिक भूख बुझाने के लिए अनेक संस्थानों द्वारा, अनेक भाषाओं में अनेक प्रकार का प्रकाशन बहुत बड़े पैमाने पर होने लगे।

हर शाखा में युग-निर्माण पुस्तकालय स्थापित किए जा रहे हैं। जहाँ से निःशुल्क घर-घर पुस्तकें पहुँचाने और वापिस लाने की प्रक्रिया आरम्भ करके जन-मानस को अभीष्ट दिशा में ढाला जा सके।

पिछले दिनों मथुरा गायत्री तपोभूमि में दो प्रकार के शिक्षण शिविरों की योजनाएँ चलती रहीं। (१) संजीवनी विद्या शिविर। (२) गीता प्रशिक्षण शिविर, दोनों ही एक-एक महीने के लिए होते रहे। अब वही शिविर परिवर्तित एवं परिष्कृत रूप में सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप शांतिकुंज; हरिद्वार में चल रहे हैं। किस महीने में कौन शिविर होगा इसकी सूचनाएँ समय-समय पर अखण्ड ज्योति में छपती रहती हैं। इन दोनों शिविरों की रूपरेखा आगे दी जा रही है।

संजीवनी विद्या प्रशिक्षण

युग-निर्माण योजना तीन भागों में विभक्त है। उसके तीन प्रधान कार्यक्रम हैं। (१) स्वस्थ शरीर, (२) स्वच्छ मन, (३) सभ्य समाज। इन तीन आयोजनों द्वारा व्यक्ति और समाज का उत्कर्ष सम्भव है। यह तीन कार्यक्रम ही आन्दोलनों के रूप में परिणित किये जाते हैं, इनकी पूर्ति के लिए जहाँ जिस प्रकार की क्रम व्यवस्था बन सकती हो वह बनाई जानी चाहिए।

यह निश्चित है कि जिन आदर्शों को हम विश्वव्यापी बनाना चाहते हैं उनका आरम्भ हमें अपने निज के जीवन से करना होगा। हमारा अपना जीवन आदर्श, सुविकसित, सुखी, सुसंस्कृत एवं सम्मानास्पद बने तभी उसे देखकर दूसरे लोग उस प्रकाश को ग्रहण करने में तत्पर हो सकते हैं। इस दृष्टि से यह आवश्यक समझा गया है कि जीवन जीने की कला-व्यावहारिक अध्यात्म को सिखाने के लिए एक सर्वांगीण प्रबन्ध किया जाए। यह प्रशिक्षण योजना गायत्री तपोभूमि में १९७० तक बराबर चलती रही एक-एक महीने के शिविर यहाँ नियमित रूप से होते रहे जिनकी रूप-रेखा नीचे दी जा रही है-

(१) शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सम्वर्धन की दृष्टि से यह एक-एक महीने के शिविर लगाये जायेंगे। पूर्णिमा से पूर्णिमा तक इनका क्रम चला करेगा। जिनकी धर्म पत्नियाँ भी आ सकती हों वे उन्हें भी लाने का प्रयत्न करें। वयस्क बच्चे भी इस शिक्षण का लाभ उठा सकते हैं।

(२) शिक्षार्थियों के निवास के लिए स्वतन्त्र कमरे मिलेंगे। भोजन व्यय तथा बनाने का कार्य शिक्षार्थी स्वयं करेंगे।

(३) इस एक मास में प्रत्येक शिक्षार्थी दो गायत्री अनुष्ठान पूरे करेगा। एक पूर्णिमा से अमावस्या तक दूसरा अमावस्या से पूर्णिमा तक। जिन्हें कोई विशेष उपासना की आवश्यकता समझी जाएगी उन्हें यह भी बता दी जायगी।

(४) शरीर एवं मन के शोधन के लिए जो सज्जन चान्द्रायण व्रत करना चाहेंगे उन्हें आवश्यक देख-रेख के साथ उसे आरम्भ कराया जाएगा। जो वैसा न कर सकेंगे उन्हें दूध-कल्प, छाछ-कल्प, शाक-कल्प, फल-कल्प, अन्न-कल्प आदि के लिए कहा जाएगा। जो उसे भी न कर सकेंगे उन्हें चिकित्सा विभाग की एक विशेष पद्धति द्वारा अन्न-कल्प कराया जाएगा, जो बालकों तक के लिए सुगम हो सकता है। इन व्रतों का परिणाम शारीरिक ही नहीं, मानसिक परिशोधन की दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है।

(५) प्राकृतिक चिकित्सा विधि से शिक्षार्थियों के पेट सम्बन्धी रोगों की चिकित्सा इस अवधि में होती रहेगी और यह प्रयत्न किया जाएगा कि पाचन-यन्त्र की विकृति को सुधारने के लिए अधिक से अधिक उपचार किया जाए। पाचन-तन्त्र के उदर रोगों के अतिरिक्त अभी अन्य रोगों की चिकित्सा का प्रबन्ध यहाँ नहीं हो पाया है। उपवास, एनेमा, मिट्टी की पट्टी, टबबाथ, सूर्य-स्नान, आसन, प्राणायाम, वाष्पस्नान, मालिश आदि उपचारों का लाभ देने के अतिरिक्त इस विज्ञान की आवश्यक शिक्षा भी दी जाएगी ताकि अपने या दूसरों के स्वास्थ्य संकट को निवारण कर सकने में यह शिक्षार्थी समर्थ हो सकें।

(६) आवेश, ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता, निराशा, भय, क्रोध, चंचलता, उद्विग्नता, संशय, इन्द्रिय-लोलुपता, व्यसन, आलस और प्रमाद जैसे मनोविकारों का उपचार प्रवचनों द्वारा वस्तुस्थिति समझाकर विशिष्ट आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा तथा व्यावहारिक उपाय बताकर किया जाएगा। प्रयत्न यह होगा कि मानसिक दृष्टि से भी शिक्षार्थी रोग मुक्त होकर जाए।

(७) मधुरभाषण, शिष्टाचार, नम्रता, सज्जनता, स्वच्छता, सदा प्रसन्न रहना, नियमितता, मितव्ययता, सादगी, श्रमशीलता, तितिक्षा, सहिष्णुता जैसे सद्गुणों को विकसित करने के लिए आवश्यक उपाय कराये जावेंगे। बौद्धिक और व्यावहारिक प्रशिक्षण का मनोवैज्ञानिक क्रम इस प्रकार रहेगा जिससे शिक्षार्थी को सद्गुणी बनने का अधिकाधिक अवसर मिले।

(८) जीवन में विभिन्न अवसरों पर आने वाली समस्याओं को हल करने के लिए ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जाएगा, जिसके आधार पर शिक्षार्थी हर परिस्थिति में सुखी और सन्तुलित रहकर प्रगति की ओर अग्रसर हो सके।

(९) दाम्पत्य-जीवन में आवश्यक विश्वास, प्रेम तथा सहयोग रखने, बालकों को सुविकसित बनाने तथा परिवार में सुव्यवस्था रखने के सिद्धान्तों एवं सूत्रों का प्रशिक्षण।

(१०) आध्यात्मिक उन्नति एवं मानव जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने का सुव्यवस्थित एवं व्यवहार में आ सकने योग्य कार्यक्रम बनाकर चलने का परामर्श एवं निष्कर्ष।

उपरोक्त आधार पर एक महीने की प्रशिक्षण व्यवस्था बनाई गई है। सप्ताह में छह दिन शिक्षा चलेगी, एक दिन छुट्टी रहेगी, जिसका उपयोग शिक्षार्थी मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, महावन, दाऊजी, गोवर्द्धन, नन्दगाँव, बरसाना, राधाकुण्ड आदि व्रज के प्रमुख तीर्थों को देखने में कर सकेंगे। शिक्षण का कार्यक्रम काफी व्यस्त रहेगा, इसलिए उत्साही एवं परिश्रमी ही उसका लाभ उठा सकेंगे। आलसी, अवज्ञाकारी, व्यसनी तथा उच्छृंखल प्रकृति के लोग न आयें तो ही ठीक है।

यह शिक्षापद्धति बहुत महत्वपूर्ण है पर स्थान सम्बन्धी असुविधा तथा अन्य कठिनाइयों के कारण अभी थोड़े-थोड़े शिक्षार्थी ही लिए जा सकेंगे। जिन्हें आना हो पूर्व स्वीकृति प्राप्त करके ही आयें । बिना स्वीकृति प्राप्त किए, अनायास या कम समय के लिए आने वाले इस शिक्षण में प्रवेश न पा सकेंगे।

परिवार के सदस्यों में से जिन्हें अपने लिए यह उपयुक्त लगे वे अपने आने के सम्बन्ध में पत्र व्यवहार द्वारा महीना निश्चित करलें, क्योंकि शिक्षार्थी अधिक और व्यवस्था कम रहने से क्रमशः ही स्थान मिल सकना सम्भव होगा।

गीता के माध्यम से जन-जागरण

गीता के माध्यम से जन-जाग्रति, बौद्धिक क्रान्ति की—जो रूपरेखा युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत तैयार की गई है, उसका आधार असाधारण महत्व से परिपूर्ण है। यह प्रक्रिया चल पड़ने से नव-निर्माण कार्य के लिए उपयुक्त जन-मानस तैयार हो सकता है। रूप-रेखा नीचे देखिए और फिर उसे सफल बनाने के लिए सच्चे मन से प्रयत्न कीजिए-

मोह और अज्ञान में डूबे हुए अर्जुन को कठोर कर्तव्य में प्रवृत्त करने के लिए भगवान कृष्ण ने उसे गीता सुनाई और उसे सुनकर निराशा में डूबे हुए भ्रमग्रस्त धनञ्जय ने अपना विचार बदल दिया। कठोर कर्तव्य सभी को भयंकर लगता है, उसे अपनाने का साहस सहसा बन नहीं पड़ता, मनुष्य का स्वभाव किसी तरह काम चलाने और दिन पूरे करने का होता है, झंझट से बचे रहने को ही उसका जी

करता है। उसी को वह 'शान्ति' मान बैठता है। पर प्रेरक विचारों का जादू तो देखिए-गीता के अमृत छिड़कने से अर्जुन को नया आत्म-बोध हुआ और उसने अपनी कुण्ठा, भीरुता और उदासी को छोड़ कर कठोर कर्तव्य को अपनाया।

आज हमारा समाज ठीक मोहग्रस्त अर्जुन की स्थिति में है। दीनता और दासता ने उसे गई-गुजरी स्थिति में पहुँचा दिया है। छुटकारा राजनैतिक गुलामी भर से हुआ है। मानसिक दृष्टि से हम अभी भी गुलाम हैं। पश्चिम में से आई अनार्य संस्कृति के व्यामोह से हमारा कण-कण मूर्छित हुआ पड़ा है। अपना सब कुछ हमें तुच्छ दीखता है और बिरानी पत्तल का भात मोहन-भोग जैसा मधुर सूझ रहा है। सामाजिक, नैतिक, मानसिक, शारीरिक, आर्थिक, बौद्धिक, भावनात्मक सभी क्षेत्रों में कुण्ठाएँ हमें घेरे खड़ी हैं। प्रगति की स्वर्णिम किरणों का विश्व के नागरिक आनन्द ले रहे हैं,पर हम अभी भी अवसाद की मूर्छा में पड़े इधर-उधर लुढ़क रहे हैं। इस अवांछनीय स्थिति से हमें उबरना ही होगा, अन्यथा इस घुड़दौड़ की प्रगति में बहुत पिछड़ जाने पर हम कहीं के भी न रहेंगे।

समय की पुकार है कि हम जगें, उठें और आगे बढ़ें, इसके लिए जिस प्रेरणा और चेतना की आवश्यकता है, वह हमें गीता द्वारा ही उपलब्ध होगी। भगवान की वही सन्देश वाणी सुनकर हम मोहमुक्त होंगे और गाण्डीव टंकारते हुए, पाँचजन्य बजाते हुए कठोर कर्तव्य के धर्म-क्षेत्र (कुरुक्षेत्र) में अपने पुरुषार्थ का परिचय दे सकने में सफल होंगे।

युग निर्माण योजना के प्रचारक-कार्य का माध्यम गीता को ही रखा गया है। साधारण मनुष्यों द्वारा दी हुई शिक्षा में वह भावना एवं प्रेरणा कम ही होती है, जो भगवान की अमृतवाणी में विद्यमान है। अखण्ड-ज्योति में यह कार्यक्रम विस्तारपूर्वक छप चुका है। परिवार के सक्रिय कार्यकर्ताओं को ऐसे प्रचारक, ऐसे कथा-वाचक के रूप में सुशिक्षित किया जा रहा है जो पेट पालने के लिए अन्ट-सन्ट किस्से दुहरा देने मात्र की लकीर न पीटते रहें, वरन् गीता के एक-एक श्लोक को सुनने वालों के अन्तःकरण में प्रविष्ट करके उन्हें मानवता का और कर्तव्य परायणता का महत्व समझने वाला बना सकें, उनके मन को देश, धर्म, समाज तथा संस्कृति के अधःपतन पर आँसू बहाने के लिए विवश कर सकें और साथ ही उनकी भुजाओं को कुछ कर गुजरने के लिए फड़का सकें । ऐसी ही कथा कहना और सुनना सार्थक हो सकता है। शुकदेवजी ने सात दिन परीक्षित को कथा सुनाई थी, वह कथा जीवन की धारा को ही पलट डालने वाली थी। तभी तो आज मरणासन्न समाज को ऐसी ही अमर-कथा सुनने और सुनाने की आवश्यकता है।

कार्यक्रम और रूप-रेखा–ऐसी गीता-कथा का एक विशेष ढाँचा खड़ा किया गया है। भागवत सप्ताहों की तरह ठीक उसी श्रद्धा और सुसज्जा के साथ गीता की कथा जगह-जगह एक सप्ताह तक हो और अन्तिम दिन सामूहिक गायत्री यज्ञ रखा जाए। कन्या भोजन, यज्ञोपवीत आदि षोडश संस्कार, शोभायात्रा(जुलूस), भजन, कीर्तन प्रवचन आदि के कार्यक्रम रहें। यह उसकी मोटी रूप-रेखा है।

गीता का छन्द -बद्ध पद्यानुवाद कर दिया गया है। जहाँ कथा होगी, वहाँ सुनने वालों दो भागों में विभक्त होकर बैठा करेंगे। प्रातः सायं डेढ़-डेढ़ घण्टा गीता पारायण हुआ करेगा। यह पारायण इस ढंग से होगा कि एक श्लोक का पद्यानुवाद मधुर स्वर में सम्मिलित रूप से, हो सके तो बाजे के साथ भी, पहले भाग के लोग कहेंगे। दूसरा श्लोक इसी प्रकार दूसरे भाग वाले कहेंगे। तीसरा श्लोक पहली पार्टी, चौथा श्लोक दूसरी पार्टी। इस प्रकार पारायण क्रम एक घण्टा चलता रहेगा। भजन-कीर्तन का आनन्द भी रहेगा और हर श्लोक का भावार्थ प्रत्येक सुनने वाला भली प्रकार समझ भी लेगा। इस आयोजन में भाग लेने वाले श्रोता मात्र ही न रहेंगे, वरन् गीता पारायण का श्रेय भी उन्हें मिलेगा।

कथा-वाचक पारायण के पश्चात् डेढ़-डेढ़ घण्टा प्रवचन किया करेंगे। प्रवचन सब श्लोकों का नहीं, वरन् जो विशेष मार्मिक होंगे, उन्हीं पर होगा। इन मार्मिक श्लोकों के सन्देश की पुष्टि तुलसीकृत रामायण की चौपाइयों से, पौराणिक धर्म-कथाओं से तथा ऐतिहासिक घटना, संस्मरणों से की जाया करेगी। इस शैली से वह कथा प्रत्येक स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध, शिक्षित, अशिक्षित के लिए बहुत ही आकर्षक एवं समझने लायक बन जाएगी। गीता को अन्तःकरण में उतारने और व्यावहारिक रूप में परिणत करने करने के लिए कथा-वाचक मार्गदर्शन करेंगे। लोगों को ऐसी प्रेरणा देंगे कि वे कथा सुनने मात्र से स्वर्ग जाने की मूढ़ कल्पना त्याग कर भगवान की शिक्षा को जीवन में उतारें और अर्जुन की तरह सच्चे भक्त कहलाने के अधिकारी बनें।

साथ में रचनात्मक कार्य भी–कथा-वाचक केवल कथावाचक न होंगे। वे एक सप्ताह तक जहाँ भी रहेंगे, वहाँ संगठन, रचनात्मक कार्यक्रमों का नियोजन, जीवन-निर्माण के लिए परामर्श, सामाजिक एवं बौद्धिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि आदि उद्देश्यों की पूर्ति में लगे रहेंगे। कथा तो तीन घण्टे हुआ करेगी। सारा दिन जो शेष रहेगा उसका उपयोग वे जन-सम्पर्क में करेंगे और व्यक्ति निर्माण, परिवार-निर्माण, समाज-निर्माण की प्रवृत्तियों को अग्रसर करने के लिए जो सम्भव हो सकेगा, उसमें पूरी तत्परता के साथ लगे रहेंगे। यह कथा एक प्रकार से युग-निर्माण शिक्षण शिविरों का काम करेगी। सुनने मात्र से लोगों को सन्तुष्ट न रहने दिया जाएगा, वरन् उन्हें कुछ करने के लिए भी प्रेरणा मिलेगी। विवाहों में अपव्यय रोकने, आदर्श विवाहों एवं जातीय संगठनों की व्यवस्था बनाने जैसे कितने ही रचनात्मक कार्यक्रमों का ढाँचा खड़ा करने का प्रयत्न किया जाएगा। इस प्रकार यह कथा, 'कथा' मात्र न रहकर

नव-युग की ऊषा उत्पन्न करने का काम करेगी। आशा यह करनी चाहिए कि यहाँ नव-जागरण का वातावरण उत्पन्न होगा। इनका आयोजन ही इस उद्देश्य से किया गया है तो फिर वैसा ही प्रतिफल भी क्यों न होगा?

प्रशिक्षण के लिए शिविर–कथा-वाचक श्लोक की व्याख्या करें, किस श्लोक में साथ रामायण की किन चौपाइयों, किन दृष्टान्तों, अन्त:कथाओं का खाँचा मिलावें, इसकी साङ्गोपाङ्ग रूप-रेखा बना ली गई है। श्लोकों का पद्यानुवाद हो गया है। यह सब साहित्य तीन बड़ी पाठ्य पुस्तकों में छापा भी जा चुका है । इसकी व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए कार्तिक, पौष फाल्गुन और बैसाख में एक-एक महीने के चार शिविर रखे गये हैं। कथा का क्रम, रचनात्मक कार्यों का ढंग प्रवचन की शैली, कथावाचक का आदर्श एवं उद्देश्य जैसे विषयों की शिक्षा के लिए यों एक महीने का समय बहुत ही कम है पर लोगों की व्यस्तता को देखते हुए एक 'स्वल्प कालीन शिक्षण' की तरह अभी वैसी ही व्यवस्था बनाई गई है। जिन्हें अवकाश होगा वे उपरोक्त अभ्यास के लिए अधिक समय भी ठहर सकेंगे।

षोडश संस्कारों की शिक्षा–इसी एक महीने की अवधि में सोलह संस्कार कराने का विधान सीखने का अभ्यास भी प्रत्येक कथावाचक को करा दिया जाएगा, ताकि वह पुंसवन, नामकरण, अन्न-प्राशन, मुण्डन, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, वानप्रस्थ एवं जन्म दिन, पर्व-त्यौहार आदि विधान जानकर उन शुभ कार्यों को भी विधिवत् करा सकें। कारण कि इन आयोजनों के द्वारा भी व्यक्ति-निर्माण, परिवार-निर्माण एवं समाज-निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य हो सकता है। इन अवसरों पर जो प्रवचन किये जाते हैं, संस्कार की प्रत्येक क्रिया का जो मर्म समझाया जाता है, उससे निश्चय ही उस भावनापूर्ण वातावरण में भाग लेने वालों पर विशेष प्रभाव पड़ सकता है। अपनी संस्कार पद्धति में प्रत्येक संस्कार के साथ-सम्बन्धित समस्याओं का विवेचन तथा कर्तव्यों का उद्‌बोधन ऐसे अच्छे ढंग से सम्बन्धित कर दिया गया है कि यह षोडश-संस्कार भी युग-निर्माण की आवश्यकता को प्रभावशाली ढंग से पूरा करने में सहायक हो सकते हैं। होली, दीपावली आदि पर्व-त्यौहारों को भी यदि अपनी पद्धति से मिला-जुला कर मनाया जा सके तो उससे भी नैतिक, सामाजिक एवं बौद्धिक क्रान्ति की आवश्यकता पूरी हो सकती है।

उपरोक्त शिक्षण भी इस एक महीने की गीता प्रवचन शिक्षा के साथ ही जोड़ दिया गया है। आशा यह की जानी चाहिए कि मनोयोगपूर्वक जो भी इस एक महीने की शिक्षा प्राप्त करेगा, वह युग-निर्माण योजना का एक प्रभावशाली कार्यकर्त्ता बनकर निकलेगा और जन नेतृत्व को आज की महती आवश्यकता को पूरा करने में बहुत हद तक योग देगा।

जिन्हें प्रचारक का कार्य करना नहीं है, अपने कार्य में व्यस्त हैं और बाहर जा सकने की सुविधा नहीं है वे स्वान्त: सुखाय भगवान के इस महान् ज्ञान की उपलब्धि के लिए भी आ सकते हैं और गीता की चमत्कारी रचना के रहस्यों को समझते हुए यह जान सकते हैं कि इस महान ज्ञान द्वारा मनुष्य की वैयक्तिक एवं सामूहिक समस्याओं का हल किस प्रकार हो सकता है? इस पृथ्वी पर स्वर्ग का अवतरण करने के लिए गीता कैसी दिव्य विभूति सिद्ध हो सकती है?

शाखाओं में, साप्ताहिक सत्संगों में गीता-कथा हुआ करे तो कितना अच्छा रहे। प्रतिदिन सांयकाल गीता के दो श्लोकों की व्याख्या का क्रम कहीं चलने लगे तो एक वर्ष में वह धर्मानुष्ठान विधिवत् पूरा हो सकता है। कुल ७०० श्लोक हैं, दो श्लोक से ३५० दिन में पूरे हो सकते हैं। बाहर के किसी को न सही अपने घर के लोगों को ही उसे नित्य सुनाया जाया करे तो परिवार-निर्माण की समस्या सुलझाने में महत्वपूर्ण योग मिल सकता है। इस प्रकार प्रचार कार्य के लिए बाहर न जा सकने वाले लोगों के लिए भी यह प्रशिक्षण बहुत मूल्यवान सिद्ध हो सकता है।

इन गीता-सप्ताहों के धर्मानुष्ठानों में बहुत स्वल्प व्यय होगा। महत्वपूर्ण आयोजन के लिए इतनी रकम कोई अधिक नहीं है और ऐसी भी नहीं है, जो छोटे गाँवों में भी इकट्ठी न की जा सके, शाखाओं के वार्षिकोत्सव इसी रूप में होते रह सकते हैं। इसके लिए कोई तिथियाँ हर साल के लिए निश्चित भी रह सकती हैं ताकि उन दिनों अवकाश निकालने की बात सदस्यों के मन में पहले से ही बनी रहे।

हर सुयोग्य व्यक्ति के लिए सरल-गीता प्रसार की इस महती लोकसेवा को अपनाने के लिए गृह-कार्यों से निवृत्त सेवा-भावी वानप्रस्थ लोग बहुत ही उपयुक्त रह सकते हैं। पर उन लोगों के लिए भी यह सरल है जिनको ऊपर अपने गृहस्थ को चलाने की जिम्मेदारी उठानी पड़ती है। महीने में चार कथाओं का प्रोग्राम बन सकता है। तीन महीने एक क्षेत्र में लगाने से १२ कथाएँ की जा सकती हैं। इनमें १२ x ४० = ४८० मिल सकता है। तीन महीने बाद एक महीना घर आकर विश्राम किया जाए तो चार महीने में ४८०) मिलने से महीने में १२०) की आमदनी हो सकती है। भोजन मार्ग-व्यय आदि अपना निकालते रहने पर १००) मासिक बच्चों के लिए मिलता रहे तो इस महँगाई के जमाने में भी ब्राह्मणोचित सन्तोष के साथ काम चलाने वाला व्यक्ति रूखी-सूखी खिलाकर अपने बच्चों का पालन कर ही सकता है। इस प्रकार आर्थिक कठिनाई या पारिवारिक जिम्मेदारी के कारण जो लोग जन-नेतृत्व का कार्य नहीं कर सकते, युग-निर्माण योजना में भाग नहीं ले सकते, उनका रुका हुआ मार्ग भी खुल सकता है।

सामाजिक नवनिर्माण के लिए

युग निर्माण योजना– लौकिक दृष्टि से प्रस्तुत योजना सामाजिक क्रान्ति एवं बौद्धिक क्रान्ति की आवश्यकता पूरी

करती है। आज की सबसे बड़ी आवश्यकताएँ यही दो हैं। हमारी विचारणा और सामाजिकता इतनी दुर्बल हो गई है कि इसे बदला जाना आवश्यक है। राजनैतिक क्रान्ति हो चुकी। स्वराज्य प्राप्ति के द्वारा हमें अपने मानस को बनाने बिगाड़ने का अधिकार मात्र मिला है। स्वराज्य की-प्रजातन्त्र की सार्थकता तभी है जब प्रजातन्त्र सामाजिक एवं मानसिक दृष्टि से परिपुष्टि हो। पिछले दो हजार वर्षों के अज्ञानान्धकार ने हमारी नस-नस को पराधीनता पाश से जकड़ रखा है। बौद्धिक दृष्टि से अभी भी हम पाश्चात्य बौद्धिकवाद के गुलाम हैं। आसुरी संस्कृति हमारे रोम-रोम में बसी हुई है। हर व्यक्ति पाशविक जीवन जीने की लालसा लिए हुए श्मशान वासी प्रेत-पिशाच की तरह उद्विग्न फिर रहा है। सामाजिकता के मूल्य नष्ट हो रहे हैं और लोग अपने आत्मीयजनों से भी स्वार्थ सिद्धि का ही प्रयोजन रख रहे हैं। फलस्वरूप समाज एवं कुटुम्बों का सारा ढाँचा बुरी तरह लड़खड़ाने लगा है।

इन विपन्न परिस्थितियों का बदला जाना आवश्यक है। बौद्धिक एवं सामाजिक क्रान्ति आज के युग को सब से बड़ी आवश्यकता है। इन्हें पूरा किए बिना हमारा आर्थिक विकास का प्रयोजन भी पूरा न होगा। कमाई यदि बढ़ भी जाए तो वह सामाजिक कुरीतियों, दुर्व्यसनों में खर्च हो जाएगी और मनुष्य फिर गरीब का गरीब, अभावग्रस्त का अभावग्रस्त रह जाएगा। इसलिए आर्थिक योजनाओं से भी पहले सामाजिक एवं बौद्धिक युग-निर्माण को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

युगनिर्माण योजना इस प्रयोजन को पूरा करने के लिए केवल विचार ही नहीं देती वरन् कार्यक्रम भी प्रस्तुत करती है। कोई प्रयोजन तभी पूरा होता है जब उसे कार्य रूप में परिणत होने का अवसर मिले। आज हिन्दू-समाज में सबसे बड़ी सामाजिक कुरीति विवाह-शादियों में होने वाला अपव्यय है। इन कार्यों में इसकी कमाई का प्रायः एक तिहाई भाग खर्च हो जाता है। कई बार तो उसे इन्हीं प्रयोजनों की पूर्ति के लिए बेईमानी द्वारा पैसा कमाने के अतिरिक्त और कोई चारा ही शेष नहीं रहता। नैतिक आचरण के मार्ग में यह एक बहुत बड़ी बाधा है। सामाजिक क्रान्ति का आरम्भ इस अत्यधिक खटने वाली बुराई से लड़ने की मुहिम ठानने के रूप में कर देना चाहिए। अखण्ड ज्योति परिवार के लाखों सदस्य अपने दायरे से इस प्रक्रिया को कार्यान्वित करना आरम्भ कर दें तो अन्य लोगों को भी उसके अनुसरण का साहस पैदा हो जाए और युग की एक बहुत बड़ी आवश्यकता पूरी हो सके।

आदर्श विवाहों की एक रूपरेखा नीचे प्रस्तुत की जा रही है- इसके जितने अंश जहाँ पूरे किये जा सकें वहाँ उसके लिए पूरा-पूरा प्रयत्न होना चाहिए।

आदर्श विवाहों के लिए २४ सूत्री योजना

१– वर-कन्या की आयु–कन्या की आयु १८ और वर की आयु २१ से कम न हो।

इससे कम आयु के विवाह कानून में भी 'बाल विवाह-विरोधी एक्ट' के अनुसार दण्डनीय हैं और वर-कन्या के स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाले, मनोबल को गिराने वाले तथा भावी पीढ़ियों को दुर्बल बनाने वाले हैं। इससे कम आयु के बच्चों का विवाह करना उनके जीवन के साथ खिलवाड़ करना है। इसलिए बाल विवाहों से सर्वथा बचा जाए। उत्तम विवाह तो २० वर्ष की कन्या तथा २५ वर्ष के लड़कों का है। विवाह की जल्दी न करके बच्चों को शिक्षा तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से विकसित होने देना चाहिए और परिपक्व आयु के होने पर ही उनका विवाह करना चाहिए।

२–अनमेल विवाह न हो–कन्या वर में आयु, शिक्षा, स्वभाव आदि की दृष्टि से उपयुक्तता का ध्यान रखा जाए। विवाह दोनों की सहमति से हो।

कन्या से वर की आयु १० वर्ष से अधिक बड़ी न हो। जिनमें इससे अधिक अन्तर होता है वे अनमेल विवाह कहे जाते हैं। अनमेल विवाहों से दाम्पत्य जीवन में गड़बड़ी उत्पन्न होती है। लड़की-लड़कों को एक दूसरे की स्थिति से भली प्रकार परिचित करा दिया जाए और वे बिना दबाव के उसे स्वीकार करते हों तो ही उसे पक्का किया जाए। अभिभावक यथासम्भव उपयुक्त जोड़ा मिलाने का अधिक से अधिक ध्यान रखें।

३–दो परिवारों की सांस्कृतिक समानता–वर-पक्ष और कन्या-पक्ष के परिवारों में विचार, आदर्श आहार-विहार, व्यवसाय आदि की समानता रहे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णों के अन्तर्गत जो उपजातियाँ हैं, उनमें विवाह की रोक न हो। इससे उपयुक्त लड़की-लड़के ढूँढ़ने का क्षेत्र अधिक व्यापक हो जावेगा। आजकल एक-एक वर्ण के अन्तर्गत दसियों उपजातियाँ हैं और वे परस्पर रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं करतीं। कोई-कोई तो अपने को ऊँच और दूसरी समान उपजाति वाले को नीच मानते हैं। इस तरह की रूढ़िवादिता अब समाप्त करने की आवश्यकता है। हिन्दू समाज का चार भागों में बँटा रहना भी कम नहीं है, इससे अधिक खण्डों में उसे बाँटने से हर दृष्टि से हम कमजोर होते चले जाएँगे। विवाह सम्बन्धी अनेक समस्याएँ तो इसी प्रतिबन्ध के कारण उपजी हैं।

यह समानता वर-कन्या को एक-दूसरे के लिए अनुकूल रखने में सहायक होती है। शाकाहारी, माँसाहारी, बहुत दूर, ठण्डे प्रान्त, गरम प्रान्त, आस्तिक, नास्तिक, भिन्न भाषा-भाषी, भिन्न धर्मावलम्बी, भारतीय ढंग, पश्चिमी

ढंग सुधारवादी, अमीर-गरीब जैसी भिन्नताएँ परिवारों में रहेंगी। तो उनमें पले हुए लड़की-लड़के आपस में ठीक तरह घुल-मिल न सकेंगे। इसलिए समान स्थिति के सम्बन्ध करने में ही ध्यान रखा जाए। लोग अपने से बहुत अधिक ऊँचे स्तर के घर या लड़के न ढूंढ़े।

४–उपजातियों को बहुत महत्त्व न दिया जाय–प्राचीनकाल में चार वर्ण थे। प्रत्येक वर्ण के अन्तर्गत गोत्र बचाकर विवाह होते रहें। उपजातियों के कारण विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध शिथिल किये जाएँ।

५–विधवा या विधुरों के लिए समान सुविधा-असुविधा– पुरुष और स्त्री के अधिकारों और कर्तव्यों में बहुत कुछ समानता है। इसलिए विधवा और विधुरों को भी समान सुविधा-असुविधा उपलब्ध हों।

साथी के मरने के बाद शेष जीवन एकाकी व्यतीत करना दोनों के लिए प्रशंसनीय है पर यदि वे पुनः विवाह करना चाहें तो उन्हें समान रूप से सुविधा रहे। विधुरों के लिए यही उचित है कि वे विधवा से विवाह करें। विधवाओं का विवाह उतना ही अच्छा या बुरा माना जाए जितना विधुरों का।

६–आर्थिक आदान-प्रदान न हो– न तो कन्या के मूल्य के रूप में लड़की वाले वर पक्ष से कुछ धन माँगें और न लड़के वाले वर की कीमत लड़की वाले से पाने की आशा करें।

आदिवासियों, वन्य-जातियों, पिछड़े लोगों और पहाड़ी लोगों में यह रिवाज है कि वे लड़की का मूल्य लड़के से वसूल करते हैं। ऊँचे वर्णवालों में ऐसा तभी होता है जब बूढ़े या अयोग्य लड़के को कोई लोभी बाप अपनी कन्या देता है पर पिछड़े लोगों में कन्या का मूल्य लेना आम रिवाज है। इसी प्रकार सर्वत्र लोगों में लड़के की कीमत लड़की वालों से दहेज के रूप में तय की जाती है और उसमें कमी रह जाए तो अवांछनीय उपायों से उसे वसूल किया जाता है।

यह दोनों ही रिवाज समान रूप से घृणित और गर्हित हैं। इन्हें अनैतिक एवं मानवीय आदर्शों के विपरीत भी कहा जा सकता है। इन दोनों ही जंगली रिवाजों के सभ्य समाज में पूर्णतया बहिष्कृत किया जाना चाहिए। विवाह जैसे दो आत्माओं के एकीकरण संस्कार को अधिक सौदेबाजी से सर्वथा दूर रखा जाय।

७–दहेज लोभ के लिए नहीं दक्षिणा के रूप में–मांगलिक कार्यों में पूजा-सामग्री के रूप में दक्षिणा का भी स्थान है। वर-पूजन के रूप में एक रुपया या ग्यारह विशेष मांगलिक अवसरों पर दिया जा सकता है अधिक से अधिक यह राशि १०१) हो सकती है।

विवाह में तीन ऐसे अवसर रह सकते हैं। पक्की, दरवाजे पर स्वागत, विदाई। इन तीन रस्मों में नकदी ३००) से अधिक न दी जानी चाहिए। यह विशुद्ध रूप से पूजा-दक्षिणा मानी जाय, कोई इसे लेन-देन, ठहराव या लाभ, लोभ की दृष्टि से न गिने। इससे अधिक लेन-देन या ठहरौनी को अवांछनीय माना जाय। वर्तमान कानूनों के अनुसार यह एक अपराध है। उसमें जेल जाने और कड़ा दण्ड भुगतने की व्यवस्था तो है ही । कानून के भय से नहीं, नैतिकता एवं मानवता के कर्तव्यों का ध्यान रखकर भी इस दहेज प्रथा का उन्मूलन करने के लिए प्राण-पण से प्रयत्न किया जाए जिसने हिन्दू जाति को आर्थिक दृष्टि से खोखला, नैतिक दृष्टि से बेईमान, मानसिक दृष्टि से चिन्तातुर एवं असहाय बना रखा है। इस सामाजिक पाप से कलंकित सवर्ण हिन्दुओं के मुख को धोने का प्रयत्न हमें विशेष भावनापूर्वक करना चाहिए।

लड़के के अभिभावक या लड़का धन या वस्तुओं की कोई माँग न करें।

८–वरपक्ष जेवर न चढ़ावें–कीमती जेवर और कपड़े चढ़ाने की समस्या लड़के वालों के लिए उतनी ही विकट है जितनी लड़की वालों के लिए दहेज देने की। यह दोनों प्रथाएँ एक दूसरे के साथ घनिष्ट रूप में जुड़ी हुई हैं। इसलिए दोनों को एक ही बार में समाप्त करना होगा।

लड़की वाले यह आशा करते हैं कि लड़के की ओर से कीमती जेवर, कपड़े कन्या के लिए आवें। इसमें जो खर्च पड़ता है उसे लड़के वाला दहेज के रूप में वसूल करता है। लड़के की शिक्षा आदि में वह भी इतना खर्च कर चुका होता है कि इन दिखावे मात्र की बेकार चीजों में धन लुटाने के लिए उसके पास भी बचा नहीं होता। कन्या वालों को अपनी ही तरह लड़के वालों की भी कठिनाई समझनी चाहिए और उन्हें जेवर, कपड़े में धन खर्च करने की चिन्ता से मुक्त कर देना चाहिए।

विवाह में वर पक्ष की ओर से लड़की के लिए एक सोने की अँगूठी, पैरों के लिए चाँदी के तोड़िए यह दो जेवर ही चढ़ायें जाएँ और एक सूती, एक रेशमी जोड़ी कपड़े हों। जो कुछ लड़की के लिए लाया गया है उसका दिखावा जरा भी न हो।

९–बेटी को विदाई उपहार–कन्या के माता-पिता अपनी बच्ची की विदाई के समय उसे कुछ कपड़े, जेवर, बर्तन, फर्नीचर, मिठाई, पैसा आदि दें तो वह लड़की का विशुद्ध रूप से 'स्त्रीधन' माना जाय। उसका न तो कोई प्रदर्शन हो और न लेखा-जोखा।

बाप-बेटी के व्यक्तिगत स्नेह-सौजन्य एवं विदाई उपहार में सुसराल वालों को जरा भी दिलचस्पी नहीं लेनी चाहिए। यह विशुद्ध रूप से बाप-बेटी के बीच का मामला है। उसमें औरों के दखल देने या नुक्ताचीनी करने की कोई आवश्यकता नहीं है। साधारणतया रस्म के रूप में नाक और कान के छोटे दो जेवर ही लडकी को उसके अभिभावकों के द्वारा विवाह समय पर दिए जाने चाहिए। ताकि नकदी के रूप से हटकर जेवर के रूप में दहेज का पिशाच फिर नया रूप बनाकर सामने न आ खड़ा हो। बाप यदि अपनी बेटी को कुछ अधिक देना चाहता है तो वह विवाह संस्कार के एक-दो महीने बाद दे और सुसराल

वाले स्त्री-धन के रूप में उसे लड़की के पास ही रहने दें। उसे बहू से माँगना, बच्चों के पैसे छीनने जैसा निष्ठुर कृत्य माना जाएगा।

१०- लड़की का स्त्री-धन-पिता के यहाँ से जो कन्या को दिया गया है तथा ससुराल आने पर प्रत्येक सम्बन्धियों ने तथा सास-ससुर ने जो उपहार दिए हों वे वधू की सुरक्षित पूँजी माने जाएँ। उसे ससुराल वाले छीनने का लालच न करें।

'स्त्री-धन' की एक छोटी पूँजी वधू के पास रहनी चाहिए जो किसी विशेष आपत्ति के समय काम आ सके या उसके बुढ़ापे तक बनी रह सके। इस पावन पूँजी का स्वामित्व लड़की का ही हो और उसी के संरक्षण में ही रहे। अच्छा हो उसे लम्बे समय के सार्टीफिकेटों में लगा दिया जाए जिससे ब्याज भी बढ़ती रहे। जेवर कपड़ों का उपहार देने की अपेक्षा दोनों पक्ष के लोग नववधू को कुछ धन दें और उसे उसकी सुरक्षित पूँजी बना दें। विवाह के समय मिला यह उपहार लड़की के उत्साह बढ़ाने के एक अच्छा माध्यम हो सकता है। यथाशक्ति हर विवाह में यह किया जाए पर इसका कोई दिखावा या शर्त न हो। वरना यह भी दहेज का ही एक दूसरा रूप बन जाएगा।

११-विवाह के लिए नियत पर्व-सालग सोधने के झंझट में यदि उपयुक्त समय पर विवाह न बनता हो तो शुभ देव-पर्वों पर उन्हें निस्संकोच कर लिया जाए।

कई बार अभिभावकों की सुविधा के विपरीत पण्डित लोग विवाह न बनने का अड़ंगा लगाकर एक बड़ी कठिनाई उत्पन्न कर देते हैं। यों मासिक होने पर ज्योतिष शास्त्र के अनुसार सूर्य, गुरु, चन्द्र आदि के देखने की बिलकुल भी जरूरत नहीं है और उसका विवाह किसी भी शुभ दिन किया जा सकता है। फिर भी अनाड़ी पण्डित कुछ न कुछ अड़ंगे खड़े करते रहते हैं। ऐसी उलझनों से बचने के लिए देव पर्वों पर पहले भी बिना पण्डित से पूछे विवाह होते थे। (१) कार्तिक मे देवोत्थान, (२) माघ में बसन्त पंचमी, (३) बैसाख में अक्षय तृतीया, (४) आषाढ़ में शुक्ल पक्ष की नवमी इन चार अवसरों पर अभी भी विवाह किए जाते हैं। अब इनके अतिरिक्त छह नए और बढ़ा दिए जाएँ (१) कार्तिकी (कार्तिक सुदी १५) (२) गीता जयन्ती (मार्गशीर्ष सुदी ११) (३) शिवरात्रि (फाल्गुन वदी १३) (४) राम नवमी (चैत्र सुदी ९) (५) हनुमान जयन्ती (चैत्र सुदी १५) (३) गायत्री जयन्ती गंगा दशहरा (ज्येष्ठ सुदी १०)।

१२- विवाह का शुभ समय गोधूलि बेला-सायंकाल सूर्य अस्त होते समय विवाह सस्कार के लिए सर्वोत्तम समय माना जाए।

बहुत रात गए विवाह संस्कार होने में, (१) बारात रात मे चढ़ती है और रोशनी, सजावट का बेकार खर्च बढ़ता है, (२) भोजन कराने में अनावश्यक विलम्ब होता है, (३) सारी रात बेकार जगते जाती है। (४) संस्कार के धर्मानुष्ठान देखने एवं शिक्षाओं को सुनने कम लोग वहाँ बैठते हैं अधिकांश तो थके-माँदे सो ही जाते हैं। (५) अधिक रात में विवाह का यज्ञ करने से उसमें कीड़े-मकोड़े गिरने का डर रहता है। (६) वर कन्या अलसाये व उनींदे रहते हैं। इन सब अड़चनों को हटाने के लिए गोधूलि हर विवाह के लिए उपयुक्त मानी जाए। सूर्य अस्त होने से एक घण्टे पूर्वकार्य आरम्भ करके एक दो घण्टे रात गये तक सब कार्य समाप्त हो सकता है और उस समय सब लोग उस आनन्द समारोह में उत्साहपूर्वक भाग लेने का लाभ उठा सकते हैं।

१३-पवित्र धर्मानुष्ठान का यज्ञीय वातावरण रहे-माँस, मदिरा, वैश्या, भाँड़, नचकैये, अश्लील गीत, गन्दे मजाक आदि के हेय असुर कृत्यों से इस धर्म संस्कार की पवित्रता नष्ट न होने दी जाए।

विवाह एक श्रेष्ठ यज्ञ है। उसमें देवताओं का आह्वान वेद पाठ एवं दो आत्माओं को जोड़ने वाला महान धर्मानुष्ठान सम्पन्न होता है। ऐसे शुभ समय में उपरोक्त बुराइयों के समावेश का कोई तुक नहीं। जहाँ इन बातों का रिवाज चल पड़ा है, वहाँ उसे बन्द किया जाए। गन्दे रिकार्ड भी लाउडस्पीकर द्वारा विवाह में न बजें।

१४-विवाह संस्कार प्रभावशाली ढंग से हों-विवाह मण्डप की बढ़िया सजावट, हवन की सुव्यवस्था दोनों पक्ष के नर-नारियों के बैठने योग्य समुचित स्थान, कोलाहल, धुँआ आदि से बचाव, विद्वान पण्डित जो विवाह विधान को व्याख्यापूर्वक समझा सके-इस सब बातों का प्रबन्ध विशेष ध्यान देकर किया जाए।

विवाह संस्कार जैसी दो आत्माओं के आत्मसमर्पण की धर्म प्रक्रिया का अत्यन्त महत्व है। उसी के उपलक्ष्य में ही इतना सारा आडम्बर रचा जाता है। खेद है कि संस्कार कराने वाले पण्डितों के अनाड़ीपन तथा घरवालों की उपेक्षा के कारण संस्कार की विधि-व्यवस्था भार रूप, चिन्ह पूजा मात्र रह जाती है, जिससे हर कोई जल्दी से जल्दी पिंड छुड़ाना चाहता है। आदर्श विवाहों में यह स्वरूप बदला जाना चाहिए और सुयोग्य पण्डितों के द्वारा शास्त्रोक्त विधि विधान के साथ ऐसे सुन्दर ढंग से विवाह कराने का प्रबन्ध किया जाए जिसे देखने में सबका मन लगे। मन्त्र की व्याख्या भी ऐसे प्रभावशाली ढंग से हो कि वर-वधू ही नहीं उपस्थित समस्त नर-नारी भी अपने विवाहित जीवन का उद्देश्य और कर्तव्य समझ सकें। इसके लिए आवश्यक प्रबन्ध पहले से ही कर रखा जाए।

१५-वर कन्या भारतीय पोशाक में हों- विवाह एक यज्ञ एवं धर्मानुष्ठान है। इसमें सम्मिलित होने के लिए वर-वधू को भारतीय वेश-भूषा में ही रहना चाहिए।

आजकल पढ़े-लिखे लड़के विवाह के समय भी ईसाई पोशाक धारण करके अपनी मानसिक गुलामी का परिचय देते हैं। यह अभागा भारत ही ऐसा है जहाँ के नवयुवक अपनी भाषा, अपनी संस्कृति तथा अपनी वेश-भूषा को तुच्छ समझकर ईसाई संस्कृति की नकल करने में गौरव समझते हैं। विवाह के समय भी ये पेन्ट, टाई जैसे ईसाई

लिबास के लिए ही आग्रह करते हैं। उनकी मानसिक दासता विवाह जैसे धर्म कृत्य में तो इस भौंडे ढंग से प्रदर्शित न हो तो ही अच्छा है। लड़का धोती-कुर्ता पहने। ऊपर से जाकिट या बन्द गले का कोट पहना जा सकता है।

१६-सार्वजनिक सत्कार्यों के लिए दान-विवाह के हर्षोत्सव में अपनी प्रसन्नता की अभिव्यक्ति लोकोपयोगी सार्वजनिक कार्यों के लिए मुक्त-हस्त से दान देकर की जाए।

विवाहों में दोनों पक्षों को अपने-अपने बड़प्पन की बहुत चिन्ता रहती है। यह दिखाने की कोशिश की जाती है कि हम कितने अमीर और उदार हैं। उसका एक ठोस कसौटी यह है कि दोनों पक्ष अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार सार्वजनिक सत्कर्मों के लिए उदारतापूर्वक दान देकर अपने सच्चे बड़प्पन का परिचय दें।

१७-प्रीतिभोज कन्या के स्वागत-समारोह के रूप में हो- विवाह से एक दिन पहले लड़के के यहाँ प्रीतिभोज करने का रिवाज है। इसके स्थान पर बारात घर लौट आने पर नववधू के स्वागत में एक छोटा सम्मान समारोह किया जाए।

विवाह से पूर्व किए गए प्रीतिभोज में जो लोग जाते हैं उनसे शिष्टाचारवश बारात में चलने के लिए कहना पड़ता है और मन में कम व्यक्ति ले जाने की इच्छा होते हुए भी बारात बढ़ जाती है। इसलिए उसे बारात लौटने पर किया जाए। वे वधू को आशीर्वाद देने आवें और उसे कुछ उपहार भी दें। इससे वधू का मान-गौरव बढ़ेगा और उसे प्रसन्नता भी होगी। तब उसे बहुत बड़ा न करके संक्षिप्त या स्वल्पाहार तक सीमित करना भी सरल हो जाएगा।

१८-बारात की संख्या कम से कम रहे-केवल अत्यन्त आवश्यक एवं निजी व्यक्ति ही बारात में जावें। इसमें कुटुम्बी, रिश्तेदारों या अत्यन्त आवश्यक व्यक्तियों के अतिरिक्त फालतू लोग न हों।

अकसर बड़े आदमियों या उजले कपड़े वालों को बारात की शोभा बढ़ाने के लिए खुशामदें करके, मिन्नत करके ले जाया जाता है। इसमें उनका अहसान होता है, अपना खर्चा पड़ता है और बेटी वाले की परेशानी बढ़ती है। इन सब असुविधाओं का ध्यान रखते हुए, इस अन्न संकट तथा महँगाई के जमाने में बारात की संख्या बढ़ाना सर्वथा अनुचित है। साधारणतया १०-२० आदमी की बारात पर्याप्त होगी। अधिकतम संख्या ५१ तक हो सकती है।

१९- बारात चढ़ाई सादगी के साथ-बारात चढ़ाने और उसकी शोभा बनाने में ढेरों निरर्थक पैसा बर्बाद होता है और उसका स्वरूप दम्भ, अहंकार एवं नकली अमीरी जैसा उपहासास्पद बन जाता है। इसे बदलकर सादगी एवं सौम्यता बरती जाए।

वर.की सवारी घोड़े पर निकले जैसा कि बड़े शहरों में रिवाज है। बारात वर के पीछे पैदल शोभा यात्रा में चले। गाँव और कस्बों में भी यही तरीका उचित है। बारातियों के बैठने के लिए जो सवारियाँ ली गई हों, उनके इस शोभा यात्रा में न रखा जाए। बाजे में १० से अधिक व्यक्ति न हों। आतिशबाजी, फुलझड़ी, कागज के घोड़े, हाथी, परियाँ, लड़की-लड़के के ऊपर पैसों को बखेर जैसे बेकार खर्च बिल्कुल भी न किये जाएँ। गोधूलि का विवाह रहने से बारात दिन में ही चढ़ेगी इसलिए रात में ही अच्छी लगने वाली इन बेकार चीजों की जरूरत भी न पड़ेगी। बारात के साथ रोशनी का प्रबन्ध भी नहीं करना पड़ेगा।

२०-दावत में अधिक संख्या में मिठाइयाँ न हों-खाद्य संकट और चीनी की कमी का ध्यान रखते हुए मिठाइयाँ न बनाई जाएँ और बनानी भी हों तो उसकी संख्या दो तीन से अधिक न हो।

अधिक संख्या में मिष्ठान्न-पकवान बनाने से उनकी तादाद इतनी हो जाती है कि उन सबको खा सकना सम्भव नहीं होता। फलस्वरूप वे बचती और बर्बाद होती हैं। आज ऐसी बर्बादी का समय नहीं। खाने वालों से अनुरोध किया जाए कि वे उतनी वस्तुएं लें जो खा सकें।परोसने वालों से कहा जाए कि वे प्रेम और आतिथ्य तो दिखाएँ पर बर्बादी जरा भी न हो इस कला से परसे। अन्न की बर्बादी को देशद्रोह समझा जाए। अन्न देवता को जूठन के रूप में तिरस्कृत करना धार्मिक दृष्टि से भी अवांछनीय है। सफाईकर्मी को जूठन देने की 'उदारता' दरसाने के स्थान पर उसे और भी अधिक उदारता के साथ अच्छा शुद्ध भोजन देना चाहिए।

२१-उच्छृंखलता एवं अशिष्टता न बरती जाए- हल्दी के थापे लगाना, रंग फेंककर कपड़े खराब करना, भद्दे मजाक करना जैसे उच्छृंखल अशिष्ट व्यवहार न हों।

देखा जाता है कि विवाहों के अवसर पर उच्छृंखलता और गन्दे मजाकों का वातावरण बन जाता है। यह अवांछनीय है। इस महँगाई के जमाने में कपड़े खराब कर देना, कहीं पर गुलाल, बूरा आदि वस्तुएँ मलकर आँखों को हानि पहुँचाने का खतरा उत्पन्न कर देना अनुचित है। महिलाएँ अश्लील गीत गाकर अपना गौरव ही घटाती हैं और आगन्तुक, अतिथियों का मजाक उड़ाना धृष्टता है। ऐसे ओछी बातें सभ्य लोगों के लिए अशोभनीय हैं, जहाँ ऐसा कुछ प्रचलित हो उसे रोका जाए।

२२-बारात कम समय ठहरे-समीप की बारात का एक दिन और दूर की बारात का दो दिन ठहरना पर्याप्त है।

अधिक दिनों बारात रुकने से सभी को असुविधा होती है और तरह-तरह के खर्च बढ़ते हैं। समय और पैसे की बर्बादी होती है इसलिए कम समय ही बारात का रुकना उचित है।

२३-नेग अपने-अपने चुकाएँ- कहीं-कहीं ऐसे रिवाज अभी भी हैं कि लड़की वाले के 'काम वालों' के नेग बेटे वाले को चुकाने पड़ते हैं। कुछ नेग बेटी वाले को बेटे वाले के कर्मचारियों के चुकाने पड़ते हैं। यह झंझट बन्द करके दोनों अपने-अपने कर्मचारियों खर्चे चुकावें।

उपरोक्त प्रकार के हेर-फेर से 'काम वाले' या तो असन्तुष्ट रहते हैं या अनुचित लाभ लेते हैं। मनोमालिन्य भी बढ़ता है और देखने में भी यह बात भद्दी लगती है। उचित यही है कि उनके परिश्रम का ध्यान रखते नेग या वेतन अपने आप ही चुकाया जाए। दूसरे पक्ष पर उसका भार न डाला जाए।

२४-छुट-पुट रस्म-रिवाजें संक्षिप्त की जाएँ-बार-बार छुट-पुट रस्म-रिवाजें चलानें में समय और दिन की बर्बादी न की जाए।

विवाह पक्का होने से लेकर बारात विदा होने तक ही नहीं वरन् एक साल तक और रिवाज चलाने पड़ते हैं और उनमें बेकार की चीजें खरीदकर इधर से उधर भेजनी पड़ती हैं। इनका खर्च कई बार विवाह जितना ही जा पहुँचता है। इन बेकार बातों को जितना घटाया जा सकता हो तो अवश्य घटाना चाहिए। विवाह के अवसर पर देन-दहेज देने के अनेक 'ठिक' बने हुए हैं । इन्हें कम करके (१) पक्की (घर के घर पर) (२) द्वार स्वागत (लड़की के घर) यह दो ही प्रमुख रखें। विदाई, गोद भरना जैसी शुभ समझे जाने वाले रस्म भी स्थानीय लोकाचार के अनुसार की जा सकती हैं।

हर प्रान्त के सब क्षेत्रों में अपने-अपने ढंग की अगणित प्रकार के अनेक छुट-पुट रस्म-रिवाज हैं। उनमें से कौन-कौन पूरी तरह तुरन्त ही छोड़ देने चाहिए और कौन-कौन किस तरह घटाई जानी चाहिए यह स्थानीय परिस्थितियों को देखकर किया जाए। दृष्टिकोण यही रहे कि जो रूढ़ियाँ अनावश्यक हैं उन्हें घटाकर समय और धन की बर्बादी रोकी जाए।

आदर्श विवाहों का प्रचलन कैसे हो?

आदर्श विवाहों का प्रचलन हिन्दू समाज की आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसे युग की महत्वपूर्ण माँग कहना चाहिए। नवनिर्माण के लिए कुप्रथाओं को हटाकर उनके स्थान पर स्वस्थ परम्पराओं को जन्म दिया जाना आवश्यक है। ऐसे प्रयत्नों से ही सामाजिक क्रान्ति का उद्देश्य पूर्ण होगा।

आदर्श विवाहों की २४ सूत्री रूपरेखा मूर्त रूप कैसे धारण करें, इसके लिए नीचे आठ उपाय प्रस्तुत किया जा रहे हैं। इनको अपनाने से ही यह महान विचारधारा कार्यान्वित हो सकेगी।

(१) समान विचार वालों की तलाश-आदर्श विवाह तभी संभव, सफल और सार्थक हो सकते हैं जब दोनो पक्ष समान विचार के हों। एकपक्ष आदर्शवादी हो और दूसरा रूढ़िवादी तो 'आधा तीतर आधा बटेर' कहावत के अनुसार यह विवाह भी आधा सुधरा, आधा प्रतिक्रियावादी रहेगा। कभी-कभी तो यह मदभेद उग्र होकर संघर्ष और द्वेष का रूप भी धारण कर लेता है। जो वे मन से ठोक-पीट कर आदर्शवादी बनते हैं वह गुप्त रूप से दहेज आदि माँगते हैं और इच्छानुसार न मिलने पर किसी अन्य बहाने अपना रोष प्रकट करते हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि दोनों ही पक्ष आदर्शवादी विचारों के मिलें। यह खोज काफी कठिन होती है। धन, शिक्षा, स्वास्थ्य की दृष्टि से तो अच्छे लड़के मिल जाते हैं पर विचारों के साथ ताल-मेल न बैठने से उनको नीलामी बोली पर ही खरीदना संभव होता है। अस्तु, हमें वह माध्यम ढूँढ़ निकालना पड़ेगा जिसके अनुसार परस्पर विवाह संबंध करने वाली इकाइयों में जो भी प्रगतिशील विचारों के हों वे एक संगठन सूत्र में बँधे हों और उनका परस्पर परिचय सुलभ हो सके। इस वर्ग में से अपनी-अपनी स्थिति के अनुकूल जोड़े ढूँढ़ लिए जाया करें, तब आदर्श विवाहों की परम्परा सरल हो जाएगी।

कई जातीय पत्रों में वर कन्या का परिचय, विवरण छपता रहता है, उससे कुछ विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। ऐसी जानकारी तो किसी भी कालेज में जाकर आसानी से प्राप्त की जा सकती है। जब तक लड़का और उसके घर वाले आदर्श रीति से विवाह करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध न हों, तब तक लड़कों की सूची छपना कुछ महत्व नहीं रखता। हमें उन जातीय इकाइयों को संघबद्ध करना पड़ेगा जो परस्पर विवाह-शादी करती हैं। इसके लिए दो उपाय हो सकते हैं (१) प्रगतिशील जातीय सभाओं का संगठन(२) उन संगठनों द्वारा आयोजित वार्षिकोत्सव या जातीय मेले। दोनों की रूपरेखा आगे प्रस्तुत की जाती है।

(२) प्रगतिशील जातीय संगठन-यों रूढ़ियों के समर्थक पंच चौधरियों का मान बढ़ाने के लिए अभी भी बहुत-सी जातीय सभाएँ बनी हुई हैं। पर उनका स्वरूप और उद्देश्य बारीकी से देखने पर पता चलता है कि एकाध छोटी-मोटी बात सुधार की रखकर अधिकांश में वे रूढ़िवाद का पोषण करती हैं और संकीर्णता, पृथकता एवं जन्म-जाति के बड़प्पन का समर्थन करती हैं। इसीलिए विचारवान एवं प्रगतिशील लोग इन जातीय संगठनों को अनुपयोगी एवं हानिकारक मानकर उनसे उपेक्षा या घृणा का भाव रखते हैं, जो उचित भी है।

हमें जातीय संगठनों की आवश्यकता अनुभव हो रही है पर उनका उद्देश्य सर्वथा भिन्न है। हम सामाजिक क्रान्ति का एक महान् मिशन लेकर अग्रसर हो रहे हैं। उसमें विवाहों में होने वाले अपव्यय को रोकना हमारा प्रथम मोर्चा है। इसके लिए पृष्ठभूमि तैयार करनी है। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई प्रगतिशील विचार के लोगों का परस्पर परिचय न होना है। चूँकि अभी लोग छोटी-छोटी जातीय इकाइयों में ही विवाह-शादी करते हैं, इस दायरे को बढ़ाना, आदर्श विवाहों से भी अधिक कठिन है। इसलिए प्रारम्भ में आदर्श विवाहों को ही हाथ में लिया जाए और विवाहों की जातीय इकाइयों को उतना ही बढ़ाया जाए

जितना कि वर्तमान परिस्थितियों में आरम्भिक प्रयास में सम्भव है। इसमें उन जातियों के बन्धन ढीले करने तक की बात ही अभी व्यावहारिक हो सकती है। अन्त में हर जाति की प्रगतिशील सभाएँ गठित करनी चाहिए। इनका उद्देश्य कुरीतियों का उन्मूलन एवं स्वस्थ परम्पराओं का प्रचलन हो।

इन सभाओं के सदस्य केवल वे बनाये जाएँ जो विवेक एवं औचित्य पर आस्था रखते हों। सदस्यता के प्रतिज्ञा-पत्र में यह बातें लिखी हुई हों। भले ही आरम्भ में संख्या थोड़ी हो और उसमें 'बड़े लोग' भले ही सम्मिलित न हों पर यह ध्यान रखा जाए कि इन संगठनों में रहें वे लोग जो सुधारवाद पर विश्वास करते हों। प्रयत्न करके ऐसे लोग ढूँढ़े और पैदा किये जाएँ, इसमें देर लगे तो हर्ज नहीं। पर जल्दी से बड़ी सभा बना लेने के मोह में रूढ़िवादियों को उसमें भर लेने से वे अपनी मनमानी चलाएँगे और संगठन का उद्देश्य ही नष्ट कर देंगे। यह शुभारम्भ अपने युग निर्माण परिवार से ही आरम्भ होता है, इसलिए हम लोगों को अपनी-अपनी प्रगतिशील जातीय सभाओं के संगठन की तैयारी में लग जाना चाहिए।

(३) जातियों के प्रान्तीय सम्मेलन-जिन जाति-उपजातियों में परस्पर विवाह हो सकता है उनके क्षेत्रीय मेले सम्मेलन तीन दिन के हुआ करें। इनमें प्रवचन, भाषण ही नहीं, मनोरंजन के मेले जैसे आयोजन भी रहें। ठहरने और खाने का उचित प्रबन्ध रहे। उन मेलों में उस क्षेत्र के लोग जहाँ समाज सुधार ज्ञान-चर्चा, संगठन व्यवस्था आदि की बातें कहें-सुनें, वहाँ परस्पर परिचय बढ़ाकर अपने बच्चों के विवाह-शादी की समस्या भी सुलझावें। हो सके तो विवाह योग्य लड़का-लड़की को भी साथ लेते आवें, जिससे सम्बन्ध पक्के करने में और भी अधिक सुविधा हो सके।

ऐसे जातीय मेलों की तारीखें तथा स्थान नियत रहे। पचास-पचास मील चारों ओर का घेरे एक मेले का विशेष कार्यक्षेत्र उस मेले से सम्बन्धित हो। इससे उस प्रदेश के लोग परस्पर परिचित हो जायेंगे, उपयुक्त जोड़े ढूँढ़ने में अधिक आसानी से सफल हो जाया करेंगे। ऐसे मेले उन प्रदेशों के अलग-अलग क्षेत्रों में होते रहें जहाँ वे परस्पर विवाह करने वाली जाति-उपजातियाँ फैली हुई हों।

इन मेलों में जो जातीय वार्षिक सम्मेलन हों, उनके संगठन एवं प्रगतिशीलता की योजना विशेष रूप से बनाई जाए और उसी तरह के भाषण, प्रवचन एवं विचार-विनिमय होता रहे। इन सम्मेलनों में सामूहिक विवाहों का भी आयोजन हो। ऐसे विवाह बहुत ही सस्ते पड़ते हैं और दूर-दूर तक कुरीति विरोधी आन्दोलन की सफलता का प्रचार करते हैं। बिहार के मैथिल ब्राह्मणों में तथा पंजाब के सिखों में इस प्रकार की व्यवस्था बनाई हुई भी है। आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे जातीय मेले, जो आदर्श विवाहों का उद्देश्य पूरा करने में सहायक हों, जगह-जगह लगाये जाएँ और उन्हें सफल बनाया जाए। जबकि निरर्थक मेले हर साल हजारों की संख्या में होते रहते हैं तो कोई कारण नहीं कि विचारशील लोगों द्वारा, सदुद्देश्य के लिए सूझ-बूझ के साथ लगाए गए यह मेले सफल न हों। इनमें विवाह-शादियों के अतिरिक्त सामूहिक यज्ञोपवीत आदि भी हो सकते हैं और अन्य अनेक कुरीतियों का निवारण तथा जातीय समस्याओं का हल हो सकता है। ध्यान रखने की बात इतनी ही है कि इन सम्मेलनों में प्रगतिशील लोगों की प्रमुखता हो। भावावेश में उनका संचालन तथाकथित बड़े आदमियों के हाथों दे दिया गया तो वे लाल-बुझक्कड़ इस माध्यम का उपयोग संकीर्णता एवं रूढ़िवादिता फैलाने में करने लगेंगे। इससे अपना मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा।

(४) आदर्श विवाहों का अभिनन्दन-सामाजिक कुरीतियों को कुचलते हुए, प्रतिक्रियावादियों का उपहास, व्यंग्य एवं विरोध सहते हुए जिन लोगों ने इस प्रकार का साहस प्रदर्शित किया है, लोगों की परवाह न करते हुए विवेक को महत्व दिया है, निस्सन्देह वे साहसी, शूर, आदर्शवादी और नेतृत्व कर सकने की क्षमता सम्पन्न व्यक्ति हैं। उनकी प्रशंसा और प्रतिष्ठा होनी चाहिए। जहाँ वीर पूजा नहीं होती वहाँ भूमि वीरविहीन हो जाती है, इसलिए प्रयत्न यह किया जाना चाहिए कि इन आदर्शवादी विवाहों को, उनके संयोजकों को, विवेकशील लोगों का समर्थन-सहयोग, सद्भाव एवं आशीर्वाद प्राप्त हो।

ऐसे विवाहों के अवसर पर सम्भ्रान्त लोगों के पास स्वयं व्यक्तिगत अनुरोध एवं निवेदन लेकर जाना चाहिए और उन्हें अधिकाधिक संख्या में एकत्रित करना चाहिए। जितने लोग इस प्रकार के आयोजन को देखेंगे उतनी ही चर्चा फैलेगी और अपने उद्देश्य की पूर्ति सम्भव हो सकेगी। इसलिए काफी दिन पहले से यह निमन्त्रण देने आरम्भ करने चाहिए।

ऐसे उत्सवों में उपस्थित जो सज्जन आशीर्वाद एवं समर्थन देने आवें उनमें से जो भाषण कर सकते हों वे खड़े होकर अपने विचार भी व्यक्त करें। फूल माला लेकर सभी आगन्तुक आवें उन्हें दोनों ओर के अभिभावकों को पहनावें, जिन्होंने यह साहस प्रदर्शित किया। छपे अभिनन्दन पत्र भेंट करने की व्यवस्था हो सके तो और भी उत्तम है। उस नगर में या आस-पास जो सार्वजनिक संस्थाएँ हों वे भी अपनी ओर से अभिनन्दन करें। युग-निर्माण शाखाओं को तो विशेष उत्साहपूर्वक ऐसे आयोजनों का अभिनन्दन करें। युग-निर्माण शाखाओं को तो विशेष उत्साहपूर्वक ऐसे आयोजनों का अभिनन्दन करना चाहिए। जहाँ जुलूस सम्भव हों वहाँ वह भी निकाले जाएँ और लाउडस्पीकरों से उस विवाह की विशेषता जनता को बताई जाए। आशीर्वाद देने आने वाले व्यक्ति भोजन स्वीकार न करें। इलाइची जैसा छोटा सत्कार ही पर्याप्त माना जाए।

(५) प्रचार की आवश्यकता-आदर्श विवाहों की ख्याति दूर-दूर तक फैलानी चाहिए ताकि वैसा करने का

उत्साह दूसरे लोगों में भी उत्पन्न हो। हमारे देश में अभी विवेकशीलता जाग्रत नहीं हुई है। हर बात 'भेड़ियाधसान' की तरह एक दूसरे की देखा-देखी होती है। लोग चाहते हुए भी किसी सुधार को साहस के अभाव में अपना नहीं पाते, पर जब उन्हें पता लगता है कि ऐसा तो अन्य कितने ही लोग कर रहे हैं तब उनकी हिम्मत बढ़ जाती है और वे भी वैसा ही करने उद्यत हो जाते हैं। विशेषत: आदर्श विवाहों की ख्याति दूर-दूर तक अवश्य ही फैलाई जानी चाहिए।

समाचार पत्रों में ऐसे समाचार अवश्य भेजे जाएँ। युग-निर्माण योजना पत्रिका में ऐसे समाचार बहुत प्रेम और उत्साहपूर्वक छापे जाते हैं। जिन अभिभावकों या लड़की लड़के के विशेष साहस से यह शुभ कार्य सम्पन्न हुआ हो उनके फोटो भी छापे जाते हैं। युग निर्माण के केन्द्रीय कार्यालय से ऐसे समाचार भारत भर में अनेक भाषाओं में छपने वाले पत्रों में छपने भेज दिये जाते हैं।

जहाँ समाचार पत्र नहीं पहुँचते वहाँ पत्र, विज्ञप्ति आदि छापकर यह समाचार घर-घर पहुँचाया जा सकता है और उनके पोस्टर दीवारों, खम्भों आदि पर चिपकाये जा सकते हैं और भी जो तरीके ऐसे समाचार दूर प्रदेशों तक अधिक जनता तक पहुँचाये जाने के लिए सम्भव हों सभी करने का प्रयत्न करना चाहिए। ताकि बढ़ती हुई सुधारात्मक प्रवृत्तियों का परिचय अधिकाधिक जनता को हो सके और सर्वसाधारण के मन में उसी तरह के अनुकरण की आकांक्षा जाग्रत हो सके।

(६) प्रतिज्ञा आन्दोलन-कमरतोड़ खर्चीले विवाहों की कुरीति को त्यागने के लिए विचारशील लोगों से प्रतिज्ञा पत्र भराये जाएँ कि अवसर आने पर अपने बच्चों की शादी आदर्श विवाह वाली संहिता के अनुसार ही करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा सर्वसाधारण से कराई जाए। इसके लिए जो छपे प्रतिज्ञापत्र हों उन्हें खेल-कौतूहल की दृष्टि से नहीं वरन् ईश्वर को साक्षी देकर भरा जाना चाहिए और प्रण के निवाहने की दृढ़ता के साथ उसे निबाहा जाना चाहिए।

छात्रों, छात्राओं एवं अविवाहितों से भी ऐसे प्रतिज्ञा-पत्र भराये जाने चाहिए। जिनमें आदर्श विवाह न होने पर अविवाहित ही रहने की प्रतिज्ञा हो। जो युवक ऐसे प्रतिज्ञा-पत्र भरें वे अपने अभिभावकों को भी इसकी सूचना दे दें ताकि पीछे उन्हें विरोध-प्रतिरोध का सामना न करना पड़े।

समाज निर्माण की पुण्य प्रवृत्ति में जिन्हें भावना एवं उत्साह हो वे ऐसी प्रतिज्ञा-पत्र पुस्तिकाएँ अपने साथ रखें और जहाँ जावें वहीं अपनी बात का प्रचार करें, जो सहमत हो जावें उनसे फार्म भरा लें और साथ ही धन्यवाद का अभिनन्दन पत्र भी उन्हें दे दें।

इस प्रकार की प्रतिज्ञा फार्मों की पुस्तिकाएँ तथा स्वीकृति के सुन्दर अभिनन्दन प्रमाणपत्रों की पुस्तिकाएँ युग-निर्माण योजना के केन्द्रीय कार्यालय में छापी जा रही है। आवश्यकतानुसार शाखाएँ उन्हें अपने यहाँ मँगाले और कार्यकर्ताओं के लिए सुलभ बनाया करें। यह प्रतिज्ञा पुस्तिकाएँ लागात से भी कम मूल्य पर प्रस्तुत की गई हैं।

यह हस्ताक्षर आन्दोलन तेजी से चलाया जाना चाहिए और प्रत्येक कार्यकर्ता को इस प्रकार के प्रयत्न को अपना एक आवश्यक कर्म मानकर उसके लिए सचेष्ट रहना चाहिए।

(७) सुधार, प्रतिरोध और असहयोग- जहाँ विवाहों में अपव्यय करने का पागलपन गहराई तक जड़ जमाये बैठा हो, वहाँ यह आशा नहीं जा सकती कि प्रचार से ही सब कुछ ठीक हो जाएगा। इसके लिए उस किसान या माली से प्रेरणा लेनी पड़ेगी जो अवांछनीय झाड़झंखाड़ों को उखाड़ फेंकने के लिए उनकी जड़ों पर अपने पैने औजारों के तीव्र प्रहार करता है। कूड़ा-करकट अपने आप नहीं हटता उसे झाड़ू से घसीटकर बाहर करना होता है। कुरीतियाँ अपने आप मिटने वाली नहीं हैं, उनके विरुद्ध संघर्ष करना पड़ेगा। उस संघर्ष में अपने को कुछ चोट पहुँचती हो तो उसे धर्मवीरों की परम्परा के अनुसार त्याग-बलिदान का छोटा-सा सौभाग्य मानने के लिए तैयार रहना चाहिए।

हम में से जिनका प्रभाव जहाँ हो, वहाँ उस प्रभाव का उपयोग करके इन कुरीतियों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। अपने घर, कुटुम्ब, मित्र एवं रिश्तेदारों में तो ऐसा सुझाव बलपूर्वक भी किया जा सकता है और यदि वे न मानें तो अपने असहयोग की, उस विवाह में सम्मिलित न होने की बात भी कही जा सकती है।

जिन विवाहों में अपने को सम्मिलित होने का अवसर मिले उनमें पूर्णतया न सही, जितना कुछ वश चले, २४ में से जितने भी सूत्र जितने अंशों में भी कार्यान्वित किये जा सकें, उसके लिए जोर देना चाहिए, प्रयत्न करना चाहिए। जो अन्य प्रभावशाली व्यक्ति उस उत्सव में आते हों, उनमें से कोई विचारवान दीखे तो उनके माध्यम से प्रभाव डलवाना चाहिए ताकि जितने अंशों में कुरीतियाँ हट सकें उतना तो किया ही जाए। आदर्श विवाह आन्दोलन के सम्बन्ध में छपे ट्रैक्ट भी ऐसे अवसरों पर रखने चाहिए और उन्हें पढ़ा-सुनाकर ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि सुधारवादी विचारधारा के लिए कोई स्थान उनके मन में बने। यह सब काम बिना कटु संघर्ष के, चतुरता एवं बुद्धिमत्ता द्वारा, मधुरता के वातावरण में भी सम्पन्न हो सकता है।

असहयोग वहीं करना चाहिए जहाँ अपना दबाव हो। अन्य विवाहों में सम्मिलित होकर अपनी विचारधारा के पक्ष में जितना भी वातावरण बन सके उतना बनाना चाहिए। रूठ बैठना या ऐसे पुराने ढर्रे से जहाँ विवाह हो रहा हो वहाँ जाना ही नहीं इस प्रकार का असहयोग व्यर्थ है। वहाँ तो भीतर घुसकर ही कुछ काम हो सकता है।

यों कानून द्वारा भी दहेज, अधिक बारात ले जाने पर कड़े प्रतिबन्ध लगे हुए हैं, पर उनका प्रयोग न करके जहाँ तक सम्भव हो सके प्रेम, मधुरता, प्रचार, समझाना,

धमकी, नाराजी आदि शस्त्रों से ही काम लेना चाहिए, जहाँ अनिवार्य हो जाए वहाँ कानूनी सहायता ली जाए।

(८) लोकसेवी युग-निर्माता की धर्म सेवा— संसार में जितने भी महत्वपूर्ण जन-आन्दोलन चले और सफल हुए हैं उनके पीछे भावनाशील, उच्चचरित्र, आदर्शवादी लोकसेवकों की शक्ति ही प्रधान आधार रही है। इस बल के अभाव में अन्य साधन कितने ही अधिक होने पर भी कोई बड़ा काम, खासतौर से नवनिर्माण जैसा महान अभियान सफल नहीं हो सकता। इसलिए हमें इस बात का घोर प्रयत्न करना होगा कि कुछ व्यक्ति भजन करके स्वर्ग प्राप्ति के लिए लाल कपड़े वाले बाबाजी नहीं वरन् युग रचना के लिए जनता-जनार्दन की आराधना करने वाले विवेकशील त्यागी, तपस्वी लोग कर्मक्षेत्र में उतरें और भौतिक एषणाओं से ऊँचे उठकर सच्चे महामानवों की तरह अपनी हस्ती विश्वमंगल के लिए लगा दें।

जिनके बच्चे समर्थ होकर कमाने-खाने लगे हैं, जिनके ऊपर ईश्वर की कृपा से हो कमाने की या बच्चों की जिम्मेदारी नहीं है, वे वानप्रस्थ की तरह अपने घर रहते हुए भी अपने क्षेत्र में प्रकाश स्तम्भ की तरह काम कर सकते हैं। जिनके ऊपर पारिवारिक जिम्मेदारियाँ हैं वे भी अवकाश का थोड़ा-बहुत समय समाज सेवा के लिए लगा सकते हैं। इन समय-दानी, लगनशील लोगों के भगीरथ प्रयत्नों से ही आदर्श विवाहों की प्रथा का प्रचलन सम्भव हो सकेगा।

युग-निर्माण योजना के सदस्यों को इस धर्म-सेना में सम्मिलित होना चाहिए। इस सेना में भर्ती की शर्त लोक-मंगल के लिए नियमित रूप से समयदान करने लगना है। जो पारिवारिक जिम्मेदारियों से निवृत्त हैं, उनका धर्म कर्तव्य यह है कि लोक और मोह के बन्धनों को काट कर जनता-जनार्दन की सेवा के लिए एक सच्चे तपस्वी की तरह काम करने का व्रत धारण कर लें। जिनके पास बहुत जिम्मेदारियाँ हैं वे भी एक दो घण्टे का समय तो नित्य लगा ही सकते हैं। अपना काम-काज करते हुए भी सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को इस मिशन की प्रेरणा दे सकते हैं। छुट्टी का पूरा दिन इस कार्य के लिए दे सकते हैं।

प्रगतिशील जातीय संगठनों की रूपरेखा

आदर्श विवाह तभी सम्भव हो सकते हैं जब वर और कन्या दोनों पक्ष इसके लिए सहमत हों। एक पक्ष कितना ही आदर्शवादी क्यों न हो, बिना दूसरा पक्ष अपने अनुकूल मिले इन विचारों को कार्यान्वित न कर सकेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसा तन्त्र खड़ा किया जाए जिसके माध्यम से एकसमान विचार और आदर्शों के लोगों को ढूँढने की सुविधा मिल सके। यह प्रयोजन प्रगतिशील जातियों के संगठनों के माध्यम से ही पूरा हो सकता है।

अत्यधिक उत्साही लोग यह भी सोच कर सकते हैं कि अपनी जाति को छोड़कर अन्य जातियों में अपने विचार के लोगों को साथ विवाह क्यों न आरम्भ किए जाएं? आदर्श के लिए यह विचार उत्तम है। ऊँचे स्तर के लोगों के लिए सम्भव भी है। पर भारत की वर्तमान स्थिति में सर्वसाधारण के लिए इतना बड़ा कदम उठा लेने के बाद जो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, उन्हें नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत योजना अखण्ड-ज्योति परिवार के लोगों को ध्यान में रखते हुए आरम्भ की गई है। उनकी स्थिति हमें विदित है। इसलिए उन्हें अभी मितव्ययी विवाह के लिए ही जोर दे सकना उचित है। उप जातियों के बन्धन शिथिल करने के लिए ही उन्हें कहा जा सकता है। जिनमें अधिक साहस हो वे जाति-पाँति की परवाह किये बिना भी विवाह करें पर जो एक बार भी उतना न कर सकेंगे वे अपनी जातियों में सम्बन्ध करने को उत्सुक होंगे। उनका काम इतने साहस से भी कहा जाएगा। रूढ़िग्रसित समाज में आर्थिक सुधार ही सफल हो सकते हैं। अत्यधिक उत्साह आदर्शवाद की दृष्टि से प्रशंसनीय हो सकता है पर समय से पूर्व उठाये गए कदमों के असफल होने की ही सम्भावना ज्यादा रहती है।

जातीय-संगठनों के वर्तमान स्वरूप और जाति-पाँति से उत्पन्न होने वाली बुराइयों को ध्यान में रखते हुए तत्काल तो कोई भी विचारशील व्यक्ति इस प्रकार के प्रयत्नों का विरोध नहीं करेगा। जब उसे हमारे प्रयोजन का पता चलेगा और वस्तुस्थिति पर विचार करेगा तो उसे इसकी सामयिक उपयोगिता एवं आवश्यकता का महत्व भी स्वीकार करना पड़ेगा। कुएँ में गिरना एक बात है और कुएँ में गिरे हुए को निकालने के लिए कुएँ में घुसना दूसरी बात है। जातिवाद की संकीर्णता से लड़ने के लिए और उस बुराई का उन्मूलन करने के लिए बनाये गये जातीय संगठन लहर एक जैसे दीख पड़ सकते हैं, पर वस्तुतः उनमें कुएँ में गिरने वाले और निकालने के लिए उतरने वाले की तरह जमीन-आसमान का अन्तर है। हम संकीर्णता फैलाने के लिए नहीं वरन् उसके उन्मूलन के लिए जातीय संगठन बना रहे हैं। अस्तु, इसका परिणाम भी हमारी भावना के अनुरूप ही होगा।

अखण्ड-ज्योति परिवार के लिए लोग अपने जातीय संगठन बनाने और उनके द्वारा आदर्श विचारों का प्रयोजन पूरा करने का प्रयत्न करें। इन संगठनों को अधिक सहायक बनाकर हम सामाजिक क्रान्ति की एक भारी आवश्यकता को पूरा भी कर सकते हैं।

१—संगठनों का नामकरण—इन जातीय संगठनों का निर्माण प्रगतिशीलता बढ़ाने के लिए किया जा रहा है। आज जातिवाद जिन कारणों से बदनाम है, उन्हें हटाना अपना उद्देश्य है। संकीर्णता, वंशगत अहंकार, अपनी जाति वालों के साथ पक्षपात, अपने वर्ग में प्रचलित रूढ़ियों का अन्ध-समर्थन जैसे कारणों से जातिवाद बदनाम हुआ है। हमें इन बातों से तनिक भी लगाव नहीं, अपना उद्देश्य तो

जिस क्षेत्र में अपना अधिक परिचय, अधिक प्रभाव एवं अधिक सम्बन्ध रहता है, उसे अधिक सुविकसित, सुसंस्कृत एवं प्रगतिशील बनाना है। इसलिए अपने द्वारा संगठित सभाओं के साथ अनिवार्यत: प्रगतिशील शब्द जुड़ा रहना चाहिए, ताकि अपने उद्देश्यों की प्राथमिकता और पुराने ढंग की जातीय सभाओं से अपनी भिन्नता सिद्ध कर सकें।

२-उपजातियों के प्रथम संगठन-प्रगतिशील भटनागर सभा, प्रगतिशील श्रीवास्तव सभा, प्रगतिशील सक्सेना सभा जैसे छोटे संगठन अलग-अलग से बनेंगे। लेकिन वे अन्ततः प्रगतिशील कायस्थ सभा के अन्तर्गत रहेंगे। इसी प्रकार अन्य जातियों के भी, उपजातियों के अलग-अलग संगठन होने चाहिए, ताकि उसी समुदाय के अन्तर्गत विवाह करने वाले या उसे छोड़कर अन्यों में करने वाले लोगों को विवाह सम्बन्ध करने में सुविधा रह सके। उपजातियों के यह पृथक-पृथक संगठन अन्ततः अपनी मूल जाति के केन्द्रीय संगठन के अन्तर्गत रहेंगे। आरम्भिक गठन उपजातियों के द्वारा शुरू करना चाहिए और पीछे उन सब प्रतिनिधियों को लेकर एक मूल जाति की प्रगतिशील सभा गठित कर लेनी चाहिए। जैसे-ब्राह्मणों की सनाढ्य, गौड़, कान्यकुब्ज, सरयूपारीण, सारस्वत, औदीच्य, श्रीमाली, गौतम आदि उप-जातियों की अलग सभाएँ बन गईं तो उनके दो-दो प्रतिनिधि लेकर एक केन्द्रीय प्रगतिशील ब्राह्मण सभा बना दी जाएगी।

३-सदस्यता की शर्तें- इन संगठनों के सदस्यों की भर्ती सामाजिक सुधारों को, विशेषतया विवाहों में होने वाले अपव्यय को रोकने के प्रति आस्थावान होने की शर्त पर की जानी चाहिए। भले ही २४ सूत्रीय आदर्श विवाहों की रूपरेखा को वे आज पूरी तरह कार्यान्वित करने की स्थिति में न हों, पर विचारों की दृष्टि से तो उसके औचित्य को पूर्णतया मानना ही चाहिए और अवसर आने पर समर्थन भी उन्हीं बातों का करना चाहिए। २४ सूत्रों में से कोई पूरी तरह न निभ सके तो उसे अपनी कमजोरी ही मानना चाहिए और उसके लिए दु:ख एवं लज्जा अनुभव करनी चाहिए । उस दुर्बलता का उन्हें समर्थन तो कदापि न करना चाहिए।

ऐसे आस्थावान व्यक्तियों की सहमति-प्रतिज्ञा का एक फार्म होगा, जिस पर सदस्यगण अपने हस्ताक्षर करेंगे। इन हस्ताक्षरकर्त्ताओं के प्रार्थना-पत्र क्षेत्री संगठन द्वारा स्वीकार किए जाने पर उन्हें सदस्य घोषित किया जाएगा और उन्हें प्रमाण-पत्र दिया जाएगा। अवांछनीय व्यक्तियों के सदस्यता-पत्र अस्वीकृत कर दिए जायेंगे। पीछे भी कभी कोई सदस्य संगठन को कलंकित करने वाले काम करता पाया गया तो उसकी सदस्यता क्षेत्रीय संगठन की शिफारिश पर केन्द्रीय संगठन रद्द कर देगा। सदस्यता की कोई फीस नहीं होगी। वयस्क नर-नारी सभा का सदस्य बन सकता है।

४-कार्य का आरम्भ-यह प्रगतिशील जातीय सभाओं का संगठन कार्य अखण्ड-ज्योति परिवार के सदस्यों द्वारा आरम्भ किया जा रहा है। इसलिए प्रेरक सदस्यों की तरह आरम्भ में वे ही अपनी-अपनी उपजाति का क्षेत्रीय संगठन बना लें। क्षेत्र की परिधि साधारणतया ५०-५० मील चारों ओर होनी चाहिए। सौ मील लम्बे और सौ मील चौड़े क्षेत्र में भी सैकड़ों गाँव-कस्बे होते हैं। उतने क्षेत्र को ठीक तरह संगठित कर सकना भी कठिन नहीं है। इसलिए आरम्भ में भले ही यह क्षेत्र अधिक विस्तृत हो, पर अन्त में इनका कार्य-क्षेत्र उतना ही बड़ा रहना चाहिए, जितने में कि कार्यकर्तागण आसानी से आपस में मिलते-जुलते रह सकें। इस दृष्टि से सौ-सौ मील की लम्बाई-चौड़ाई का क्षेत्र पर्याप्त है। विशेष परिस्थिति होने पर ही उसे घटाया-बढ़ाया जाए।

अखण्ड-ज्योति सदस्यों के यह उपजातियों के आधार पर क्षेत्रीय संगठन तुरन्त बन जाने चाहिए। इसके लिए कुछ अधिक सेवा-भावी व्यक्तियों को आगे आना चाहिए और इन सब सदस्यों से मिलकर उन्हें मीटिंग के लिए आमन्त्रित करना चाहिए। सब लोग इकट्ठे होकर अपनी-अपनी सदस्यता को नियमित कर लें। दस व्यक्तियों की कार्यसमिति गठित कर लें और प्रधानमन्त्री तथा कोषाध्यक्ष चुन लें। युग निर्माण केन्द्रों में पाँच व्यक्तियों की कार्य-समिति होती है और एक शाखा संचालक ही पदाधिकारी रहता है,पर इन जातीय संगठनों में उपरोक्त तीन पदाधिकारी और १० सदस्य रहने चाहिए, क्योंकि इनका कार्यक्षेत्र बड़ा है।

५-क्षेत्रीय संगठनों का विस्तार-यह प्रारम्भिक गठन हो जाने के बाद इन प्रेरक सदस्यों को अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में सदस्य बनाने के लिए छोटी-छोटी मित्र-मण्डलियों के रूप में नये सदस्य भर्ती करने निकल पड़ना चाहिए। जिन गाँवों में कम से कम पाँच सदस्य भी बन जाएँ, वहाँ ग्रामसभाएँ बना दी जाएँ। प्रयत्न यह होना चाहिए कि जहाँ भी जिस उपजाति के लोग हों, उनकी एक-एक ग्राम-सभा वहाँ गठित रहे। क्षेत्रीय सभाओं के अन्तर्गत जितनी ग्राम सभाएँ होंगी, वह उतनी ही सफल मानी जाएँगी और उनकी गतिविधियाँ उतनी ही बढ़ सकेंगी। इसलिए क्षेत्रीय संगठनों के कार्यकर्त्ताओं को दौरा करके अपना कार्य-क्षेत्र सुगठित कर लेने के लिए तत्परतापूर्वक लग जाना ही पड़ेगा

६-संगठन-कर्त्ता की आवश्यकता-अच्छा यही हो कि क्षेत्रीय प्रचार के लिए कम से कम एक वैतनिक या अवैतनिक पूरे समय का कार्यकर्त्ता नियत हो। वह अपना पूरा समय उसी कार्य के लिए लगाता रहे। अपने साथ-एक दो सक्रिय प्रभावशाली सदस्यों को लेकर वह जन-सम्पर्क के लिए प्रयत्न करता रहे । लोगों को इकट्ठा करने, समझाने तथा प्रभावित करने का गुण कार्यकर्त्ता में अवश्य होना चाहिए। संकोची, दब्बू प्रकृति के या आलसी व्यक्ति इस कार्य को ठीक तरह नहीं कर सकते। इसलिए संगठनकर्त्ता नियत करते समय यह बातें देख लेनी चाहिए।

क्षेत्रीय शाखा का एक कार्यालय नियत होना चाहिए। यथासम्भव उसे प्रधान या मन्त्री के निकट होना चाहिए।

किसी उदार व्यक्ति का एक कमरा इस कार्य के लिए प्राप्त करना चाहिए। उसमें दफ्तर तथा सदस्यों के विचार-विनिमय कर सकने जैसी गुंजाइश होनी चाहिए। जहाँ संगठनकर्ता की नियुक्ति सम्भव न हो, वहाँ क्षेत्रीय संगठन के सदस्यगण स्वयं ही थोड़ा-थोड़ा समय देकर यह कार्य करते रहें। कोई भी उपाय क्यों न हो, इस कार्य में समय की नितान्त आवश्यकता है, सो लगाने के लिए किसी न किसी प्रकार व्यवस्था बननी ही चाहिए।

७-दोनों कार्यक्रम एक दूसरे से पूरक-युग निर्माण केन्द्रों और इन जातीय संगठनों में कोई प्रतिद्वन्द्विता या भिन्नता नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः दोनों को एक ही समझना चाहिए। यह भिन्नता केवल विवाह-शादियों की सुविधा की दृष्टि से की गई है। सो हर जगह इन जातीय संगठनों को अपना सम्मिलित स्वरूप युग-निर्माण शाखाओं के रूप में भी रखना चाहिए। एक व्यक्ति उन दो संगठनों का सदस्य आसानी से रह सकता है, जो परस्पर एक दूसरे के पूरक है। इस प्रकार युग-निर्माण योजना के सदस्यों को दो उत्तरदायित्व वहन करने पड़ेंगे। एक सभी जाति, धर्मों का सम्मिलित युग-निर्माण आन्दोलन चलाने का, दूसरा समाज सुधार के लिए अपने व्यक्तिगत प्रभाव-क्षेत्र में जाति की ओर ध्यान देने का। इनमें परस्पर कोई भिन्नता या झंझट नहीं। वरन् एक दूसरे के पूरक हैं। रोटी खाना और पानी पीना देखने में दो अलग प्रकार के काम हैं, उनका दृश्य स्वरूप भी भिन्न प्रकार का है, पर वस्तुतः वे दोनों एक दूसरे के पूरक हैं इसलिए किसी रोटी खाने वाले को पानी पीना कोई अलग काम या भिन्न प्रकार का झंझट मालूम नहीं पड़ता। इसी प्रकार युग-निर्माण आन्दोलन और जातीय-संगठनों में बाहर से देखने का ही अन्तर है, वस्तुतः युग-निर्माण की सामाजिक क्रान्ति योजना का एक पहलू या मोर्चा भर जातीय संगठन है।

अस्तु, हर जगह इस प्रकार का खाँचा मिलाया जाना चाहिए कि दोनों कार्य एक ही साथ चलते रहें। प्रत्येक कार्यकर्त्ता दोनों कार्य करता रहे। यह दोनों अपास में टकराते नहीं। दुहरा झंझट तभी तक मालूम पडेगा, जब तक उसे व्यवहार में न लाया जाए। जो उसे कार्यान्वित करेंगे, वे देखेंगे कि युग-निर्माण योजना की शत-सूत्री योजना का जातीय संगठन भी एक अंग मात्र है। जिस प्रकार प्रौढ़ पाठशाला, पुस्तकालय, वृक्षारोपण, हवन आदि में एक ही व्यक्ति कई प्रवृत्तियों में एक साथ भाग लेता रह सकता है, उसी प्रकार यह दोनों कार्यक्रम एक साथ चलाये जा सकने में पूर्णतया सरल एवं शक्य हैं।

८-विवाह योग्य लड़की-लड़कों की जानकारी-संगठन बन जाने पर उसका प्रथम कार्य प्रगतिशील लोगों के लड़के- लड़कियों की जानकारी क्षेत्रीय दफ्तर में एकत्रित करना है। प्रत्येक ग्राम सभा अपने यहाँ से इस प्रकार की सूचना संग्रह करके क्षेत्री कार्यालयों में भेजा करेगी। जो लोग आदर्श विवाह करने के लिए सहमत हो, उन्हीं की जानकारियाँ संग्रह की जाएँ, क्योंकि यह सारा प्रयत्न ही आदर्श विवाहों के प्रचलन के लिए किया गया है। जिन्हें पुराने ढर्रे के देन-दहेज और ठाट-बाट के विवाह करने हैं वे अपने आप, अपने ढंग से लड़की-लड़के ढूँढ़ते रहते हैं। हमें तो उन लोगों की सुविधा की दृष्टि से इतना बड़ा यह ढाँचा खड़ा करना पड़ रहा है जो आदर्श विवाहों के इच्छुक हों, उनको अपने ही विचारों एवं आदर्श वाले सम्बन्धी मिल सकें यही हमारा उद्देश्य रहना चाहिए।

ऐसी सूचनाएँ एक क्षेत्र के एक ही दफ्तर में रह सकती हैं। उस क्षेत्र की सभी उपजातियों या जातियों की सूचनाएँ अलग-अलग फाइलों में एक ही दफ्तर में एकत्रित रह सकती हैं। सभी जातियों का एक ही दफ्तर रह सकता है। इसी प्रकार संगठनकर्त्ता भी एक ही सब जातियों के लिए काम दे सकता है। क्षेत्रीय प्रगतिशील जातीय सभा कार्यालय आरम्भ में एक ही रखना होगा। पीछे जब काम का बहुत विस्तार हो तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि चार वर्णों के अलग-अलग कार्यालय बाँटे जा सकते हैं और यदि काम बहुत बढ़ जाए तो उपजातियों के लिए भी अलग दफ्तर की आवश्यकता पूरी की जा सकती है, पर आरम्भ में एक ही संगठन-कर्ता की नियुक्ति करना उचित होगा।

९-प्रचार साधन और सुविधाएँ-आदर्श विवाहों की आवश्यकता, उपयोगिता एवं रूप-रेखा समझने के लिए व्यापक प्रचार की आवश्यकता होगी। इन विचारों से जब तक लोगों को प्रभावित न किया जाएगा, तब तक वे उससे सहमत न होंगे और वैसा करने के लिए साहस न कर सकेंगे। इसलिए छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ पढ़ना, भजन, गायन, चित्र प्रदर्शिनी, कवि-सम्मेलन, सभा-सम्मेलन, गोष्ठियों आदि के छोटे-छोटे आयोजन आदि माध्यमों से लोगों में आदर्श विवाहों की भावना, आकांक्षा एवं हिम्मत पैदा करनी चाहिए। वैसे जोड़े ढूँढ़ने में अधिक व्यक्तियों की सहायता की जानी चाहिए। उत्सव का रूप प्रभावशाली एवं आकर्षक कैसे बने, इसकी व्यवस्था बनाने में सहयोग होना चाहिए तथा जहाँ भी ऐसे विवाह हों, उनका प्रचार दूर-दूर तक करने के लिए प्रयत्न होना चाहिए। यह सुविधाएँ प्रस्तुत करना क्षेत्रीय संगठन का काम है। इन प्रयत्नों से ही उत्साह उत्पन्न होगा और उत्साह सामूहिक कार्यक्रमों की प्रगति का मूलभूत आधार होता है।

१०-आन्दोलन का खर्च-हर आन्दोलन कुछ खर्च चाहता है । पैसे के बिना कोई भी काम, संस्थाएँ भी अपना काम ठीक नहीं कर पातीं। जातीय-संगठनों का कार्य और आदर्श विवाहों की योजना भी व्ययसाध्य हैं। संगठन-कर्त्ता, दफ्तर, पत्र-व्यवहार, मार्गव्यय, प्रचार आदि सभी कार्यों के लिए तो पैसा चाहिए। इसकी पूर्ति हमें निष्ठावान् सदस्यों से मासिक चन्दे के रूप में करना चाहिए। युग निर्माण योजना के सदस्यों को अपनी आय का एक अंश सामाजिक पुनरुत्थान के लिए अनिवार्य रूप से निकालना होगा। भावनाशील लोगों से यह आशा की जाती है कि वे

अपने हृदय की विशालता और उच्च आदर्शवादिता के अनुरूप समय ही नहीं, धन भी उदारतापूर्वक देंगे। मासिक चन्दा हर सक्रिय कार्यकर्त्ता को देना चाहिए। इसका आरम्भ अपने लोगों से ही होगा। बाहर के नये लोगों से प्रारम्भ में ही चन्दा माँगने लगने से वे बिदक जाते हैं। जो जितना आस्थावान बनता जाए, उससे उसी अनुपात से आर्थिक सहयोग की भी आशा की जा सकेगी। सम्पन्न एवं दानी लोगों से जो सक्रिय कार्य नहीं कर सकते, पर पैसा दे सकते हैं, उनसे लेना चाहिए। किन्हीं दानी उदार सज्जनों से इन कार्यों के लिए कोई स्थायी जमीन-जायदाद मिल सके तो उसके लिए भी प्रयत्न करना चाहिए, धर्मशालाओं की खाली इमारतें संगठन के कार्यालय का काम देने योग्य मिल सकें तो उन्हें लेने का भी प्रयास करना चाहिए, ताकि मकान सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति बिना खर्च के भी हो सके। धर्म घट रखकर प्रतिदिन एक मुट्ठी अन्न या धर्म पेटी रखकर कुछ पैसे लेने वाला क्रम भी जहाँ जम सके, वहाँ अवश्य जमाना चाहिए।

११-वार्षिकोत्सव-संगठनों में चेतना और सक्रियता बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि उस तरह के विचारों के लोगों का परस्पर सम्मिलन होता रहे। उत्सवों के द्वारा प्रत्येक चेतना को नवजीवन तथा प्रोत्साहन प्राप्त होता है। बड़े उत्सव खर्चीले होते हैं, किन्तु छोटे-छोटे आयोजन तो आसानी से हो सकते हैं। जातीय संगठनों के मेले आयोजित करने की बात बहुत ही महत्वपूर्ण है। आदर्श विवाहों की पृष्ठभूमि रूपी उन सम्मेलनों में सामूहिक विवाह होने की प्रथा चल पड़े तो और भी उत्तम रहे।

इन उत्सवों को गायत्री यज्ञ का रूप दिया जाना चाहिए। यज्ञ से उत्पन्न की शोभा-सज्जा ही नहीं, भावनात्मक, धार्मिक वातावरण भी बनता है और शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक कई प्रकार के लाभ भी होते हैं। सामूहिक यज्ञोपवीत, संस्कार, मुण्डन आदि भी उस अवसर पर हो सकते हैं। प्रचार के लिए तो यह एक प्रभावशाली माध्यम है ही । इन यज्ञों में कुछ लोग विधिवत् वानप्रस्थ लेकर समाज-सेवा के लिए अपना जीवन उत्सर्ग किया करें, ऐसी चेष्टा भी करते रहना चाहिए।

जिस जाति का सम्मेलन हो उसके लोगों को तो आना ही चाहिए, पर साथ ही अन्य जातियों के लोगों को भी बुलाया जाना आवश्यक है, ताकि वे भी उसके अनुकरण की प्रेरणा ले सकें।

निश्चित ही युग-निर्माण योजना का उद्देश्य व्यक्ति, परिवार और समाज की ऐसी अभिनव रचना करते हैं जिसमें मानवीय आदर्शों का अनुसरण करते हुए सब लोग प्रगति, समृद्धि और शान्ति की ओर अग्रसर हो सकें। मानव-जीवन को वैयक्तिक एवं सामूहिक रूप में दुर्भावना एवं दुष्प्रवृत्तियों ने ही नरकमय बना रखा है। इस स्थिति को बदलना होगा और ऐसा प्रयत्न करना होगा कि इस अन्धकार के स्थान पर नया प्रकाश प्रतिष्ठित हो सके। सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि ही उज्ज्वल भविष्य की सम्भावनाएँ प्रशस्त कर सकती हैं। इसलिए हमें इन दोनों को बढ़ाने के लिए सभी सम्भव उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। हम गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से उत्कृष्ट एवं आदर्श मानव बन सकें तो ही वे परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी जिन में अपनी और दूसरों की सुख-शान्ति की सुरक्षा सम्भव हो सके।

दूसरे क्षेत्रों में आर्थिक, राजनैतिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक एवं अन्यान्य प्रगतियों के लिए विविध प्रयत्न किए जाते हैं, वे स्वागत योग्य हैं। पर व्यक्तियों के दृष्टिकोण को आदर्शवादिता की ओर उन्मुख करने के लिए नहीं के बराबर ध्यान दिया जा रहा है। जो हो रहा है उसमें दिखावा अधिक और तथ्य कम है। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य को आदर्श-वादिता को अपनाने के लिए-सदाचार, संयम, उदारता, सज्जनता जैसे सद्गुणों का विकास करने के लिए, लोकमंगल के लिए, त्याग-बलिदान का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए ऐसी प्रेरणा दी जाए जिससे उसकी वर्तमान हेय मनोदशा में आमूलचूल परिवर्तन हो सके।

इसी प्रयास का आरम्भ अखण्ड-ज्योति परिवार के सदस्यों ने अपने छोटे क्षेत्र से कर दिया है। बड़े लोगों की बड़ी योजनाएँ इस दिशा में बनें और वे व्यापक रूप से कार्यान्वित की जाएँ, आवश्यकता तो इसी बात की है। पर जब तक समाज के कर्णधारों एवं शक्तिशाली पुरुषों की अभिरुचि इस ओर उत्पन्न नहीं होती तब तक भावनाशील लोगों के लिए निष्क्रिय बैठे रहना उचित न होगा। इससे हम लोगों ने अपने छोटे-से परिवार से यह कार्यक्रम आरम्भ कर दिया है। यह पंक्तियाँ लिखे जाते समय इस परिवार के प्रमुख और सहायक सदस्यों को मिलाकर चौबीस लाख के लगभग संख्या हो जाती है। इतनी जनसंख्या अपने वैयक्तिक एवं सामूहिक जीवन में नव-निर्माण की रचनात्मक योजना अपना ले तो उसका कुछ न कुछ प्रभाव शेष समाज पर भी पड़ेगा। इसी आशा से उपर्युक्त वर्णित योजनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। प्रसन्नता की बात है कि यह आशाजनक गति से उत्साहवर्द्धक प्रगति करती चली जा रही है। मानव-समाज के पुनरुत्थान में एक छोटा-सा प्रयत्न पंचवर्षीय योजना तैयार की गयी है, जिसके आधार पर कार्यक्रम चलाते रहने से वह समय शीघ्र ही आ पहुँचेगा, जिसके लिए युग निर्माण आन्दोलन खड़ा किया गया है।

पंचवर्षीय योजना के पाँच कार्यक्रम

नवनिर्माण का जो शुभारम्भ इन दिनों किया गया है वह अगले तीस वर्षों में पूरी तरह शाखा-प्रशाखाओं समेत

विशाल वट वृक्ष के रूप में पल्लवित, पुष्पित और फलित होगा। पर उसका महत्वपूर्ण भाग बीजारोपण तो आज ही करना है। सांस्कृतिक पुनरुत्थान का जो विशाल भवन खड़ा होने जा रहा है, उसकी नींव तो इन्हीं दिनों भरी जा रही है। हमारे जीवन के अन्तिम अध्याय का यह अतीव सौभाग्य भरा सुअवसर है जबकि पिछले ३० वर्षों में युग-निर्माण की पृष्ठभूमि बनाने के उपरान्त अब उसे व्यवस्थित क्रिया-कलाप का रूप दे रहे हैं।

यह हमारी प्रथम पंचवर्षीय भावात्मक नव-निर्माण की, युग परिवर्तन की योजना है। हमारी हार्दिक इच्छा यह है कि अपने परिवार का प्रत्येक सदस्य इसमें सच्चे मन से भाग ले। यों हम जिस जमाने में रह रहे हैं वह बड़ी दुर्बल मनोभूमि वाले, आन्तरिक दृष्टि से छोटे, संकीर्ण, ओछे और बौने लोगों का जमाना है। इन दिनों दृढ़ संकल्प किन्हीं विरलों में ही दीख पड़ते हैं। जिनका थोड़ा मन अच्छे कामों की ओर चलता है वे भी क्षणिक आवेश के बाद अपनी गर्मी खो बैठते हैं और उसी पुराने निर्जीव ढर्रे पर घूमने लगते हैं। ऐसे लोग अपने परिवार में भी कम नहीं, फिर भी उसमें जीवित और जाग्रत लोगों का बाहुल्य है। ऐसी प्रत्येक प्रबुद्ध आत्मा से हमें यही आशा है कि वे इस ऐतिहासिक अवसर पर अपनी भूमिका एवं जिम्मेदारी का सही ढग से निर्वाह करेंगे और इस योजना को सफल बनाने में सच्चे मन से योग देंगे।

हमें केवल एक ही पंचवर्षीय योजना पूरी करानी है। शेष चार को हमारे उत्तराधिकारी पूरी करेंगे। पाँच-पाँच वर्ष की पाँच योजनाओं में हम विश्व के नये निर्माण का स्वप्न पूर्ण तथा साकार होने का विश्वास रखते हैं और यह मान ही लेना चाहिए कि यह संभावना सुनिश्चित रूप में पूरी होकर रहेगी। योजना के प्रथम चरण में हमने साथी स्वजनों को प्रबल अनुरोध के साथ हमारे कदम से कदम मिलाकर चलने के लिए आह्वान किया है। आशा यही करनी चाहिए कि इसे सहायक स्वजन अस्वीकार न करेंगे।

इन पाँच वर्षों में प्रथम वर्ष की योजना इन पंक्तियों में प्रस्तुत की जा रही है। दूसरी अगली पंचवर्षीय योजना दूसरों को आरम्भ करनी है। वे दूसरे लोग वे होंगे जो इस योजना में समुचित सहयोग देकर अपनी आन्तरिक समर्थता परिपुष्ट कर लेंगे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष में पाँच कार्यक्रम रखे गये हैं। जिनमें से तीन हैं-

(१) उच्चस्तरीय उपासना। (२) भावनात्मक नव-निर्माण का ज्ञान यज्ञ। (३) जीवन निर्माण की सर्वांगपूर्ण शिक्षा। इन तीनों का स्वरूप हमें भली-भाँति समझ लेना चाहिए।

(१) प्रथम पंचवर्षीय योजना में जिस उच्चस्तरीय गायत्री उपासना की प्रेरणा दी गई है, वह जितनी सरल है उतनी प्रखर भी है। उसे श्रद्धापूर्वक अपनाये रहने वाले के अन्तःकरण में प्रेम तत्व का ऐसा निर्झर उद्भूत होगा जिससे वह स्वयं भी आनन्द, उल्लास से ओत-प्रोत रहे और अपने साथियों को भी स्नेह-सौहार्द्र में द्रवित कर दे। यही सच्चा भक्तियोग है। प्रथम वर्ष में जो शिक्षण है उसे ठीक तरह कर लिया गया तो अगले वर्ष और भी अधिक प्रेरक प्रकाश प्राप्त करने का मार्गदर्शन मिलेगा और इस प्रकार पाँच वर्ष में उपासक की मनोभूमि में आशाजनक उत्कर्ष दृष्टिगोचर होगा। इसी उपासना का अविच्छिन्न अंग है-आत्म-विकास। प्रातः सोकर उठते ही और सोते समय जिस विचारणा के द्वारा जीवन-क्रम व्यवस्थित किया जाता है, उसे उपासना का अनिवार्य अंग माना जाए । हम जितने-जितने सुसंस्कृत, सुव्यवस्थित होते चलेंगे उतनी ही हमारी उपासना सफल होगी।

(२) योजना का दूसरा अंग है- भावनात्मक नव-निर्माण के प्रारम्भ में किया गया ज्ञान-यज्ञ, भगवान् को मन्दिरों तथा ध्यान भूमिका में जिस प्रतिमा के साथ देखा जाता है, वह तो उसके स्मरण का आरम्भिक प्रयास मात्र है। वस्तुतः भगवान् मनुष्य के अन्तःकरण में उच्च भावनाओं का रूप धारण करके ही उपस्थिति होता है। किसी को भगवान् मिला कि नहीं, इसकी पहचान यह नहीं है कि स्वप्न में या अर्द्ध तंद्रा में अमुक कल्पित छवि के दर्शन हुए या नहीं, यह तो मस्तिष्क की एक सुखद-सी लहर मात्र है। असली भगवान् की प्राप्ति तब समझनी चाहिए जब ऊँची-से-ऊँची भावनाएँ आत्मा में उठने लगें, तब समझना चाहिए कि असली भगवान् का प्रकाश जीवन में आ गया। जो ध्यान-जप तो घण्टों करे पर जिसके अन्तःकरण में स्वार्थ, संकीर्णता, आलस्य, अवसाद जैसी कमीनी प्रवृत्तियाँ भरी पड़ी हों, समझना चाहिए कि वह व्यक्ति अभी भगवान् से लाखों कोस दूर है।

जन-जन के मन-मन में भगवान की प्रतिष्ठापना करने की महानतम भक्ति-भावना का प्रकाश हमें देवर्षि नारद के, भगवान बुद्ध, शंकराचार्य एवं प्राचीनकाल के सच्चे साधु ब्राह्मणों के पद-चिन्हों पर चलकर करना होगा। युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत युग परिवर्तन की समस्त सम्भावनाओं में परिपूर्ण अत्यन्त तेजस्वी साहित्य का सृजन किया जा रहा है। इसका प्रसार अपने परिवार एवं परिचय क्षेत्र में करने की जो कार्य पद्धति चल रही है, उसे अग्रसर करके प्रस्तुत ज्ञानयज्ञ को सफल बनाने में हमें आवश्यक योगदान देने, एक घण्टा समय बीस पैसा रोज़ खर्च करने की जो प्रेरणा दी गई है, वह देखने में छोटी बात भले ही लगे पर उसका परिणाम इतना महान, इतना उत्साहवर्द्धक हो सकता है। कि उसे संसार का ऊँचे-से-ऊँचा परमार्थ कहने में भी कोई अत्युक्ति नहीं मानी जा सकती।

(३) योजना का तीसरा अंग है-जीवन निर्माण की शिक्षा का व्यापक एवं व्यवस्थित आयोजन। उत्कृष्ट व्यक्तियों का निर्माण, उत्कृष्ट स्तर की शिक्षा ही कर

सकती है। शिक्षा का उद्देश्य पेट पालने की कला में प्रवीणता उत्पन्न करना ही नहीं, व्यक्तित्वों में महानता उत्पन्न करना भी होना चाहिए। इस दृष्टि से आज की शिक्षा प्रणाली को सर्वथा असफल ही कहा जा सकता है। हमें मानव जाति के सम्मुख नई शिक्षा पद्धति उपस्थित करनी है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा में जिस प्रशिक्षण व्यवस्था का शुभारंभ किया गया है वह एक शुभारम्भ एवं क्रियात्मक मार्गदर्शन मात्र है। यहाँ प्रयोग किए जाएँगे और यहाँ से वे अध्यापक, उपाध्याय तैयार किए जाएँगे जो देशभर में इस स्तर की शिक्षा पद्धति का अपने-अपने क्षेत्रों में प्रसार करें। हम गुरुकुल विद्यालय चलाते, पर हमारे साधन बहुत स्वल्प हैं। गायत्री तपोभूमि में एक सौ से अधिक छात्रों को रखने एवं पढ़ाने के स्थान नहीं है। इसलिए हम प्रधानतया एकवर्षीय शिक्षा को ही प्रमुखता देते जा रहे हैं। १८ से लेकर २० वर्ष तक के ऐसे व्यक्ति उसमें पढ़ेंगे जो स्वावलम्बनपूर्वक अपनी आजीविका चलाने की कला सीखकर अपना शेष समय रचनात्मक कार्यों में लगावें। इस शिक्षण में यों (१) प्रेस व्यवसाय-रबड़ की मुहरें तथा (२) साबुन मोमबत्ती, यह दो ही कार्य रखने की घोषणा की गई है। परन्तु प्रयत्न यह कर रहे हैं कि इसी स्तर के दस-बारह उद्योग सिखाने का प्रबन्ध हो जाए। जिससे जिन्हें जो उद्योग अपनी परिस्थिति के अनुरूप अनुकूल लगे उसे वे अपना सकें। अपने स्त्री-बच्चों के द्वारा उस गृह-उद्योग के अपने घर में चलाने की व्यवस्था करके आजीविका का प्रश्न हल करलें और शेष समय नव निर्माण की विचारधारा को व्यापक बनाने में लगावें। सम्भव हो तो इसी स्तर का विद्यालय भी अपने क्षेत्र में चलावें ताकि वहाँ के लोगों की आजीविका तथा स्वावलम्बन की दिशा में प्रगति करके इन निर्माणात्मक कार्यों में योग देने की सुविधा मिल सके।

ढलती आयु के गृह निवृत्तों को झकझोरे बिना राष्ट्र को सच्चा नेतृत्व नहीं मिल सकेगा। नौकरी के लिए समाज सेवा करने वाले अपना गौरव खो बैठते हैं। इसलिए उनके ऊपर परिवार की आर्थिक जिम्मेदारी नहीं रही, उन्हें समाज की बहुमूल्य सम्पत्ति ही माना जाएगा। इसकी बर्बादी नहीं ही होने देनी चाहिए। इस स्तर के लोग मोहग्रस्त स्थिति में पड़े घरों में घुसे सड़ते रहे तो इसे वर्ग को प्रशिक्षित करके आत्म-कल्याण और विश्व कल्याण के लिए सुयोग्य बनाना चारवर्षीय वानप्रस्थ शिक्षण का उद्देश्य है। आशा करनी चाहिए कि इस प्रशिक्षण में आये व्यक्ति निकम्मे, बुढऊ की घृणित स्थिति से उठकर राष्ट्र के भाग्याकाश में उज्ज्वल नक्षत्रों की तरह चमकेंगे। वे यहाँ से जाने के बाद अपने-अपने क्षेत्रों में जीवन निर्माण की शिक्षा व्यवस्था का भी आयोजन करेंगे।

पन्द्रह से अठारह वर्ष तक की आयु के लड़कों का एक वर्ग ही आरम्भ किया जा सके तो बहुत है। नमूने के लिए हम लोगों को बताना चाहते हैं कि किशोरवय सबसे महत्वपूर्ण, सबसे भयानक समय है। इसी अवधि में लड़कों का स्वभाव एवं चरित्र बनता-बिगड़ता है। इस वय को सम्भाल लिया गया तो समझना चाहिए कि उज्ज्वल भविष्य की सारी सम्भावनाएँ मूर्तिमान होंगी अन्यथा यदि बिगड़ने की ओर पैर बढ़े तो सर्वनाश-सत्यानाश निश्चित है। किशोरों का निर्माण एक बहुत बड़ी जीवन कला है। इस कला का प्रयोगात्मक स्वरूप लोगों के सामने हम रखने जा रहे हैं ताकि लोग इस पद्धति की समग्र रूपरेखा, देख-समझ सकें।

वस्तुतः यहाँ आरम्भ किया गया प्रशिक्षण एक मार्गदर्शक नमूना भर है। यह व्यवस्था देश के कोने-कोने में गाँव-गाँव में बनानी होगी। तपोभूमि में १०० छात्रों का स्थान मुश्किल ही है। यहाँ सारा देश कैसे पढ़ेगा? अभी तो १५ वर्ष तक की प्राथमिक, माध्यमिक शिक्षा व्यवस्था बनाई, चलाई जानी है, जिनका प्रयोग मथुरा में ही नहीं वरन् अन्यान्य स्थानों पर जहाँ साधन होंगे वहाँ होना है।

कार्य अत्यन्त विशाल है, उसे कैसे किया जाए, इसका मार्गदर्शन करने, व्यावहारिक स्वरूप बताने के लिए शिक्षण सत्रों का शुभारम्भ किया जा रहा है, इसे सफल बनाने के लिए प्रयत्न करना हर अखण्ड-ज्योति परिवार के सदस्य का पवित्र कर्तव्य है। इस समस्याओं पर विस्तृत विचार-विनिमय करने के लिए उन्हें इन शिविरों में आना आवश्यक है तथा जो प्रौढ़, किशोर, वृद्ध उपर्युक्त तीनों शिक्षाओं के उपयुक्त जान पड़ें, उनसे व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करके इन प्रशिक्षणों में सम्मिलित होने की प्रेरणा देनी चाहिए। अध्यापक, चिकित्सक या ऐसे ही दूसरे वे लोग जिनका जन-सम्पर्क अधिक रहता है, यदि आवश्यक दिलचस्पी लें तो अच्छे शिक्षार्थी अभीष्ट मात्रा में उपलब्ध हो सकेंगे। यह प्रक्रिया यदि ठीक से चल पड़ी तो युग-निर्माण योजना का एक महत्वपूर्ण अंग पूरा होने लगेगा।

(४) हमारी प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रथमवर्षीय कार्यक्रम का चौथा अंग है-प्रबुद्ध व्यक्तियों के जन्मदिन मनाना। पिछले कई वर्षों से इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि प्रबुद्ध परिजनों को जन्मदिन मनाने की प्रेरणा दी जाए। यह प्रक्रिया जहाँ भी आरम्भ हुई है वहाँ बड़े उत्साहवर्द्धक परिणाम निकले हैं। (१) जिसका जन्म दिन मनाया जाता है उसे उस दिन अपने जीवन की महत्ता समझने और भावी जीवन को अधिक सुन्दर ढंग से बिताने के लिए कदम उठाने की प्रेरणा मिलती है। (२) मित्रों, कुटुम्बियों एवं गुरुजनों द्वारा आशीर्वाद, अभिवादन, पुष्प उपहार, दीपदान, जल-पान आदि के आकर्षक कार्यक्रम द्वारा जिसका जन्मदिन होता है उसे बहुत उत्साह मिलता है, जो प्रगति की प्रेरणा देने में उपयोगी सिद्ध होता है। (३) इस आयोजन से उस व्यक्ति के सम्पर्क रखने वाले जो नये लोग आते हैं, उनमें यह विचारधारा फैलने का अवसर मिलता है। (४) साप्ताहिक हवनों की अपेक्षा यह घर-घर पर होने वाले सत्संग सम्मेलन अधिक सफल होते हैं और उससे संस्था का संगठन बढ़ता एवं मजबूत होता है।

इन लाभों पर ध्यान रखते हुए जहाँ जितने अखण्ड ज्योति सदस्य हैं, उन सबका जन्म दिन मनाने की व्यवस्था हर जगह बना ली जाए। छोटे बच्चों के जन्म दिन मनाने का आरम्भ संस्था के जिम्मे पर छोड़ा जाय, यह कार्य उनके माता-पिता का है। संगठित रूप से केवल वयस्कों के जन्म दिन मनाये जाएँ जिससे उन्हें कुछ प्रेरणा दी जा सके। बच्चों के जन्म दिन तो एक खुशी मनाना मात्र है। उपर्युक्त प्रयोजन तो परिवार के वयस्क व्यक्तियों के जन्म दिन मनाने से ही पूरा होता है। हर जगह यह प्रचलन आरम्भ किया जाए। अखण्ड-ज्योति का एक भी सदस्य ऐसा न बचे जिसका जन्म दिन न मनता हो।

अब हम स्वयं अपने परिजनों के जन्म दिन अपनी पूजास्थली पर बैठकर मनाया करेंगे और उनके लिए विशेष प्रेरणा एवं विशेष आशीर्वाद भेजा करेंगे। जो पंचवर्षीय स्थायी सदस्यता फार्मों के साथ लिख चुके हैं, उन्हें छोड़कर शेष सभी अखण्ड-ज्योति के सदस्य अपनी जन्म-तिथि, महीना, सन् संवत्सहित लिखकर भेज दें। उस अवसर पर हम उन्हें प्रेरणाप्रद संदेशों से भरी एक छोटी उपहार पुस्तिका भी भेजा करेंगे। पाँच वर्ष तक यह पुस्तिकाएँ हमारे एक चिरस्मरणीय उपहार की तरह जिनके पास रहेंगी, वे उनसे आजीवन महत्त्वपूर्ण प्रेरणाएँ प्राप्त करते रहेंगे। हमें भी इस निमित्ति से साल में एक बार उनका विशेष स्मरण आया करेगा और उनसे अपनी आत्मीयता का आनन्द अधिक मात्रा में उपलब्ध कर लिया करेंगे।

(५) योजना का पाँचवाँ अंग है-भावनात्मक नव निर्माण का सर्वांगपूर्ण साहित्य सृजन एवं उसका व्यापक प्रसार। अब तक अखण्ड ज्योति एवं युग निर्माण पत्रिकाओं द्वारा एक छोटे क्षेत्र में-अपने परिचित परिजनों में हम युग के अनुरूप अध्यात्म तत्त्व ज्ञान का प्रसार करते हैं। हमारे सामने समस्त राष्ट्र, समस्त विश्व, समस्त मानव समाज है, उसका सर्वांगीण भावनात्मक परिवर्तन करने के लिए-अभिनव प्रेरणाओं का क्षेत्र भी उसी अनुपात से बढ़ा किया जाना है। अत्यन्त सस्ते, लागत मात्र मूल्य के ट्रैक्टों को इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए उपयुक्त समझा गया है। इस समस्त साहित्य का एक-एक अक्षर ऐसा प्रखर एवं प्रेरणाप्रद होगा जो पढ़ने वाले की विचारधारा पर सीधी चोट करे, उसे अनुपयुक्त ढंग से सोचने का तरीका बदल कर सही ढंग से विचार करने की रीति-नीति विदित हो जाए। विचार क्रान्ति का महान् प्रयोजन यह साहित्य पूरा करेगा। इसे पढ़ों को पढ़ाया जाना और अनपढ़ों को सुनाया जाना एक आवश्यक कार्य है जो हमें ही पूरा करना है। हिन्दी में लिखे-छपे इस साहित्य को भारत की १५ भाषाओं में अनुवादित, प्रकाशित किया जाना है। इतना ही नहीं, इसे संसार की समस्त भाषाओं में भी प्रस्तुत किया जाएगा।

यह कार्य अत्यन्त विशद् एवं महान है। ईसाई मिशन ने अपना धर्म समस्त विश्व में लगभग ६०० भाषाओं में अनेक सस्ती पुस्तकों द्वारा पहुँचाया है। हमें भी इस मार्ग का अनुकरण करना होगा। यहाँ लिखने-छापने का प्रश्न काफी पेचीदा है, यहाँ इसका प्रकार भी नये ढंग से गठित करना होगा। वर्तमान पुस्तक विक्रेता इसे बेचने को तैयार नहीं होते, क्योंकि यह चीज जन-रुचि की नहीं, गन्दे उपन्यासों की तरह अंधाधुन्ध नहीं बिकती। फिर इनमें कमीशन की भी बहुत स्वल्प गुंजायश है। ऐसी दशा में इनके विक्रय प्रसार की मशीन भी अपनी निज की ही गठित करनी पड़ेगी। जो सज्जन किसी अन्य वस्तु की दूकान चलाते हैं वे एक अलमारी इस साहित्य की भी रख सकते हैं और जो ग्राहक आयें, उससे इस साहित्य की भी चर्चा एवं प्रेरणा कर सकते हैं।

कुछ सज्जन इस कार्य में पूरी तरह संलग्न होकर सेवा भाव से तथा थोड़ी आजीविका कमाने के लिए भी इस महान् कार्य में जुट सकते हैं। सवेरे से दोपहर तक थैलों में भरकर शिक्षा-संस्थाओं तथा पढ़े-लिखे लोगों में इस साहित्य को दिखाने ले जा सकते हैं। शाम को ३-४ घण्टे बाजार में या अपनी बैठक में पुस्तकालय एवं विक्रय विभाग चला सकते हैं। ढकेलने की गाड़ी में सजाकर भी इसे उपयुक्त लोगों के पास, पार्कों के समीप, मेले-ठेलों में ले जाया जा सकता है। इस तरह से थोड़ी आजीविका कमा लेंगे और उस पर सन्तोषपूर्वक गुजर करना वैसा ही है जैसा प्राचीनकाल के ऋषि कन्दमूल, फल, घास के बीज खाकर अपना गुजारा कर लेते थे और जीवन को जन-कल्याण के कार्यों में समर्पित किए रहते थे। इस गतिविधि को अपनाने वाले लोग अपने परिवार में से निकलने चाहिए। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपयुक्त कार्यकर्त्ताओं की तलाश अभी से की जानी चाहिये। उतनी संख्या में ट्रैक्ट हो जाएँगे, जिनके आधार पर विक्रय की उपर्युक्त प्रकार की व्यवस्था बन सके। इसलिए इस संदर्भ में पूरा या अधूरा समय लगाकर कुछ कार्य कर सकने वाले सज्जन पत्र-व्यवहार करना आरम्भ कर सकते हैं।

उपर्युक्त पाँच कार्यक्रम हमारी प्रथम पंचवर्षीय योजना के पहले वर्ष के हैं। इनके शुभारम्भ में प्रत्येक परिजन को यह विचार करना है कि वह किस प्रकार उसमें योगदान कर सकता है। आत्म-निर्माण और समाज-निर्माण के दोनों मोर्चों पर परिवार के प्रबुद्ध व्यक्ति को अपना कर्तव्य निर्धारित करना चाहिए। हम में से एक भी ऐसा न रहे जो इस युग के इस महानतम अभियान में निरपेक्ष होकर अलग बैठा रहे। संस्कृति-सीता को वापिस लाने का, त्रेता-युगी अभियान-रीछ बन्दरों के ही नहीं, बालों में धूलि भरकर समुद्र पाटने में सहायता करने वाली गिलहरी तक के सहयोग से आगे बढ़ा था। युग-निर्माण अभियान भी अखण्ड-ज्योति परिवार के हर प्रबुद्ध सदस्य से उसकी स्थिति के अनुरूप सहयोग की अपेक्षा करेगा।

छोटा किन्तु महान शुभारम्भ

पाँच तत्वों से शरीर बनता है, इसलिए शरीर रचना में मिट्टी, पानी, हवा, आग, आकाश का योगदान अनिवार्य

है। यदि इन तत्वों का समन्वय न हो तो शरीर का निर्माण ही न हो सके। इसी प्रकार शरीर-रक्षा के लिए भोजन, वस्त्र, निद्रा, साँस, सफाई की पाँचों क्रियाएँ आवश्यक हैं। इनकी व्यवस्था न हो तो पाँच तत्वों से बन जाने पर भी शरीर जीवित न रह सके। इन तथ्यों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि जीवन का आरम्भ पाँच तत्वों का एकीकरण होने पर और उस जीवन की रक्षा पाँच उपकरण होने पर ही सम्भव है। यह दोनों ही व्यवस्थाएँ जीवन धारण की दृष्टि से नितान्त आवश्यक हैं।

इतने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि शरीर निर्माण एवं उसे जीवित रहने के साधन बन जाने पर जीवन का शरीर धारण का उद्देश्य पूरा हो गया। मानव शरीर किसी महान प्रयोजन के लिए मिला है, उस लक्ष्य पूर्ति में यदि जीवन की गतिविधियाँ संलग्न हों तो यह माना जाएगा कि शरीर धारण की प्रक्रिया सार्थक हुई। भगवान का राजकुमार-मानव प्राणी अपने पिता के इस परम सुरम्य संसार की अव्यवस्था दूर कर उसे सुन्दर-सुरम्य-सुविकसित बनाने आता है। पिता का राज्य कुत्सित एवं गर्हित परिस्थितियों से भरा न रहे यह देखना और व्यवस्थाओं का संचालन राजकुमार का काम है। उत्तराधिकार में जहाँ राजकुमार को अन्ततः वैभव मिलता है वहाँ उसे जिम्मेदारियाँ भी उठानी पड़ती हैं। उन जिम्मेदारियों को ठीक तरह वहन करने के लिए एक सर्वांगपूर्ण साधन-यन्त्र चाहिए, वही शरीर है। शरीर सबसे महत्वपूर्ण, सबसे बड़ा-सर्वांगपूर्ण साधन है, जिसके माध्यम से जीव के लिए अपना प्रयोजन पूरा कर सकना सम्भव होता है। शरीर न हो तो आकाश में घूमता हुआ बेचारा वायुभूत जीव इस सृष्टि की सुव्यवस्थिता में, अपनी जिम्मेदारियाँ पूरी करने में भला कैसा सफल हो सकेगा?

ठीक यही बात युग परिवर्तन के भावनात्मक नव-निर्माण का प्रयोजन पूरा करने के महान लक्ष्य के सम्बन्ध में लागू होती है। इस योजना के अन्तर्गत विश्व का सर्वांग सुन्दर नवनिर्माण किया जाना है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए आवश्यक आधार की, अभीष्ट पृष्ठभूमि की आवश्यकता होगी। यह न हो तो फिर योजना को मूर्त रूप कैसे मिलेगा? व्यक्ति और समाज की अभिनव रचना करने के लिए उत्कृष्ट स्तर के व्यक्तित्व चाहिए। ईंट, चूना न हो तो इमारत कैसे बने? सूत, कपास न हो तो कपड़ा कहाँ से बने? अन्न, जल न हो तो भोजन किस प्रकार बने? बाँस और फूँस न हो तो छप्पर किस तरह छाया जाए? युग परिवर्तन के लिए भावनाशील और कर्मठ व्यक्ति चाहिए यह दो गुण जिनमें होंगे वे ही युग-निर्माण की भूमिका सम्पादन कर सकेंगे अन्यथा वाणी और लेखनी के द्वारा किए जाने वाले प्रयत्न एक विडम्बना बनकर रह जाएँगे।

युग-निर्माण की प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष में कार्यान्वित करने के लिए जो पाँच कार्यक्रम प्रस्तुत किए गए हैं, उन्हें भूमि निर्धारण कहना चाहिए। कोई सुन्दर उद्यान लगाना हो तो पहले जमीन को उसके उपयुक्त बनाना पड़ता है। झाड़-झंखाड़ काटना, समतल करना, मेड़ बाँधना, खाद देना, जोतना इन पाँच संस्कारों के द्वारा जब भूमि का निर्धारण पूरा हो जाता है तब उसमें जिस प्रकार के पौधे उगाने हों, उनका आरोपण किया जाता है। ऊसर भूमि में तो कोई भी पौधा लगाया जाए वह सूख ही जाएगा। आज जन-मानस की स्थिति ऊसर भूमि की तरह है। रोज-रोज भाषण, प्रवचन सुनने, लेख, ग्रन्थ पढ़ने पर भी मन जहाँ का तहाँ रहता है। चिकने घड़े पर जैसे पानी नहीं ठहरता वैसे ही उत्कृष्टता के आदर्शों को लोग सुन समझ तो लेते हैं पर उन्हें ग्रहण रत्ती-भर भी नहीं करते। इस कान से सुन उस कान से निकाल देने वाली उक्ति ही सर्वत्र चरितार्थ होती दीखती है। कठोर जमीन पर विपुल पानी की वर्षा भी बहुत काम नहीं करती। जिस जमीन में थोड़ा पोलापन होगा उसी में वर्षा का जल प्रवेश करेगा और उसी में पौधे अंकुरित होने की सम्भावना बनेगी। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए योजना के प्रथम वर्ष में केवल एक काम हाथ में लिया गया है-भूमि निर्धारण। इन पंक्तियों में प्रस्तुत पाँचों आयोजन केवल इस प्रारम्भिक आवश्यकता को पूर्ण करेंगे।

इसका अर्थ यह नहीं है कि योजना इतनी-भर है जितनी कि प्रथम वर्ष में बनाई या बताई गई। यह तो किसी विशाल भवन की नींव खोदने और उसे मजबूत पत्थरों से भरने-भर की बात है। इस आधार पर आगे महल खड़ा होगा और उस महल में जो महान कार्य होने हैं उसकी व्यवस्था बनेगी। यह कार्य अगले दिनों के हैं। नींव के गड्ढे खुदने, उसमें कंकड़-पत्थर भरे जाने का क्रिया-कलाप होते देखकर किसी को निराश नहीं होना चाहिए। कोई बड़ा कार्य इस स्थान पर होना चाहिए था, यहाँ तो कारखाने का उत्पादन दिखाई देना था, पर यहाँ तो गड्ढे खुद रहे हैं, कंकड़ पत्थर भरे जा रहे हैं, यह देख कर मोटी बुद्धि वाले को निराशा हो सकती है। वह सोच सकता है कि यहाँ बड़ी बड़ी मशीनें चलनी थीं, यहाँ हर घण्टे में हजारों गज कपड़ा बुना जाना था, पर यह तो कुछ दीखता नहीं, गड्ढे खुदने और कंकड़-पत्थर भरने जैसी छोटी बात यहाँ हो रही है, भला इस प्रकार वस्त्र उत्पादन का लक्ष्य कैसे पूरा होगा? यह तो निराशा जैसी बात हुई।

किन्तु दूरदर्शी, विवेकशील दर्शक के लिए उसमें कोई परेशानी की बात नहीं। वह जानता है- वस्त्र उत्पादन के लिए जो कारखाना चलेगा-उसके लिए इमारत तो चाहिए ही और इमारत बनानी है तो उसकी नींव भी खुदेगी और भरी भी जाएगी। काम यहीं से तो शुरू होगा। खुले आकाश के नीचे तो मशीनें खड़ी नहीं की जा सकतीं? इसके लिए छायादार स्थान की सबसे पहली आवश्यकता है। कारखाना चलाने से पहले उसी का प्रबन्ध करना पड़ता है। इस प्रयोजन के लिए इमारत बनती देखकर कोई विवेकशील एवं दूरदर्शी दर्शक प्रसन्न ही होंगे और विश्वास करेगा कि जब कारखाने की इमारत बननी शुरू

हो गई तो अगले दिनों इसकी अन्य व्यवस्थाएँ भी बनती चली जाएँगी। नव-निर्माण जैसा महान प्रयोजन एक बड़ा कारखाना चल पड़ने और उसके वस्त्रों से शीत निवारण का प्रयोजन पूरा होने जैसी बात है, उसकी पूर्ति के लिए इमारत बनते देखकर कोई उतावला व्यक्ति ही नाक-भौं सिकोड़ सकता है। जिसे यह ज्ञान है कि बड़े काम के लिए बड़े साधन चाहिए, यह एक क्रियाबद्ध व्यवस्था का आरम्भ होते देख आशाजनक भविष्य की उज्ज्वल सम्भावना सहज ही सोच सकता है और उस प्रयास की सराहना कर सकता है। वह जानता है कि कहने भर से,चाहने भर से हथेली पर सरसों नहीं जमती । बड़े प्रयोजन की पूर्ति के लिए आवश्यक एवं उपयुक्त साधन पहले जमा करने पड़ते हैं। योजना के प्रथम वर्ष में यही प्रयत्न किया गया है।

अगले दिनों में बड़े-बड़े काम करने हैं। युग परिवर्तन कार्य अपने देश और अपने समाज के नव-निर्माण से आरम्भ करके उसे विश्वव्यापी बनाना है। अपने सामने अनेक समस्याएँ उलझी पड़ी हैं, अनेक आवश्यकताएँ अपनी पूर्ति के लिए पुकार रही हैं, उनका समाधान उचित रीति से करने के लिए विशाल कार्य व्यवस्थाएँ जुटाई जानी हैं। किन्तु यह सब कौन करे-किन साधनों से करे, यह प्रथम प्रश्न है। उत्कृष्ट व्यक्तित्व जो नवनिर्माण के महान प्रयोजन की पूर्ति के लिए अभीष्ट क्षमता से सम्पन्न सम्भव हो, वे ही हमारी प्रथम आवश्यकताएँ हैं। महल बनाने के लिए भूमि खोदने के लिए सबसे पहले फावड़ा चाहिए। फावड़ा न हो तो योजना का आरम्भ कैसे हो। बातूनी, कायर, स्वार्थी, संकीर्ण और ओछे मनुष्यों से अपना समाज भर पड़ा है। जिनकी भावनाएँ उत्कृष्टता से भरी हुई हों और जिनकी गतिविधियाँ आदर्शवादिता के लिए तड़पें ऐसे व्यक्तित्व जब तक उभर न आवें तब तक बिल्ली के गले में घण्टी बाँधने जैसे कठिनाई ही होगी। आरम्भ इसी आवश्यकता की पूर्ति से किया जाना चाहिए- वही किया भी जा रहा है।

देश के सामने महँगाई, अन्न संकट की समस्या है। अपराध बढ़ रहे हैं और हर व्यक्ति अपने को असुरक्षित समझने लगा है। पारस्परिक व्यवहार इतने दूषित हो गए हैं कि किसी पर विश्वास करना कठिन हो रहा है पर बिना विश्वास किए काम नहीं चलता है। माँसाहार की दुष्प्रवृत्ति गौ तथा दूसरे उपयोगी प्राणियों को सफाचट करती जा रही है। नशेबाजी में विपुल धन खर्च होता है और बदले में अस्वस्थता पल्ले बँधती है। शिक्षा केवल २० प्रतिशत तक पहुँच सकी, ८० प्रतिशत अब भी देश में अपढ़ हैं । गरीबी के कारण जीवन-विकास के सभी द्वार बन्द हैं। विवाह-शादियों में होने वाला अपव्यय समाज की कमर तोड़कर रखे दे रहा है। देश का आधा अंग स्त्री समाज पिंजड़ों में बन्द पक्षियों की तरह बेवश, बेजवान और बेकार होकर जी भर रहा है। जाति-पाँति, ऊँच-नीच और भेद-भाव ने समाज को हजारों टुकड़ों में बाँट कर विसंगठित कर दिया है। रूढ़िवादिता, ढोंग और अन्धविश्वास ने लोगों को बौद्धिक पराधीनता में जकड़ दिया है। सर्वसाधारण का स्वास्थ्य बुरी तरह गिरता जा रहा है। राजनेता जिस अदूरदर्शिता और घटिया चरित्र का परिचय दे रहे हैं, उससे उद्विग्नता और निराशा बढ़ रही है। पड़ोसी चीन-पाकिस्तान आक्रामक बने हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और वैज्ञानिक प्रगति विश्व-मानव के लिए सर्वनाश का कारण बनी हुई है। विलासिता की अभिवृद्धि से लोग कायर और कुचाली बनते चले जा रहे हैं। स्वार्थपरता और संकीर्णता ने प्रत्येक क्षेत्र को धूर्तता, दुष्टता और अनैतिकता को बाहुल्य से भर दिया है।

उपरोक्त प्रकार की अगणित समस्याएँ हमारे सामने हैं। ये अपने हल माँगती हैं। यदि इन्हें ऐसे ही पड़ा रहने दिया गया तो अगले थोड़े ही दिनों में सर्वनाशी और सर्वग्राही संकट मानव-समाज के सामने उठ खड़ा होगा और लाखों-करोड़ों वर्ष की संग्रहीत सभ्यता सहित मानव समाज अपनी सामूहिक आत्म-हत्या करने के लिए विवश हो जाएगा। इस विभीषिका से बचने के लिए हमें प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक स्तर के-रचनात्मक आयोजन कार्यान्वित करने होंगे। नरक को स्वर्ग में परिणत करने के लिए अगणित प्रकार के, अगणित स्तरों के, अगणित कलेवरों के, अगणित रचनात्मक एवं संघर्षात्मक आयोजन प्रस्तुत करने पड़ेंगे। सर्वांगीण उत्कर्ष के लिए सर्वांगीण योजनाएँ अनिवार्य रूप से आवश्यक होंगी। छोटे-मोटे बाँध बनाने के लिए कितने इन्जीनियर कितने ओवरसियर, कितने मजदूर, कितने यन्त्र, कितने वाहन, कितने साधन और कितने धन की आवश्यकता पडती है? यह हम रोज ही देखते हैं। फिर युग-निर्माण के लिए कितने व्यक्तियों और कितने साधनों की जरूरत पड़ेगी-इसका अनुमान लगाना कुछ अधिक कठिन नहीं होना चाहिए। जादू की फूँक मार देने मात्र से इतने बड़े प्रयोजन पूर्ण नहीं होते। इसके लिए वैसी ही महान् उपलब्धियाँ विनिर्मित करनी पड़ेंगी, जैसा कि महान् लक्ष्य एवं आयोजन है।

बात फिर घूम-घाम कर वहीं आ जाती है। यह सब करेगा कौन? देश में न पैसे की कमी है, न योग्यता की, न साधनों की, न सुविधाओं की। कमी केवल एक ही बात की है- इन्सान बहुत छोटे, ओछे और बौने हो गये हैं। उन्हें वासना और तृष्णा की कीचड़ अपने दलदल में बुरी तरह फँसाये हुए है। बेचारे नाली के कीड़ों की तरह बुज-बुजाती हुई जिन्दगी जीते हैं। आदर्शवादिता और उत्कृष्टता उनके लिए कहने या सुनने भर की ऐसी चीज है जिसे व्यवहार में लाने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसे लोग स्वयं ही धरती के भारभूत हैं। जिन्दा रहकर स्वयं ही परेशान नहीं होते, दूसरों को भी अपार कष्ट देते हैं। इन क्षुद्र प्राणियों को दयनीय ही कहा जा सकता है, भले ही वे मनुष्य का कलेवर धारण कर शौक-मौज की जिन्दगी जीते हों। इस स्तर के लोग, जो स्वयं एक समस्या बने रहते हैं, वे देश, धर्म, समाज, संस्कृति के पुनरुत्थान में

विश्व-भाग्य के नव-निर्माण में भला क्या योग दे सकते हैं?

मर्मस्थल यही है। हमें यहीं चोट करनी होगी। परिवर्तन यहीं से आरम्भ करना होगा। व्यक्ति को ओछा न रहने देकर ऊँचा बनाने का कार्य उसी सार से आरम्भ करना होगा, जिस पर कि वह आज है। छोटे बच्चों को लड़की की तीन पहिए वाली गाड़ी दी जाती है ताकि वे उसे पकड़कर खड़े हो सकें और चलने का अभ्यास कर सकें। इसका अर्थ यह नहीं कि भविष्य में उसे मोटर चलाने ही नहीं दी जाएगी। जरूर वह बड़े-बड़े वाहन और यन्त्र चलाएगा पर आज जबकि उसका शरीर नन्हा- सा है, उसी के उपयुक्त लकड़ी की तीन पहिए की गाड़ी देनी होगी। हमारी प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रथम वर्षीय कार्यक्रम मानवीय महानता की दृष्टि से अभी शिशु जीवन बिताने वाले जन-साधारण के लिए है। देखने में बात छोटी है-पर उसमें वे सभी महान् सम्भावनाएँ बीज रूप में विद्यमान हैं जो ठीक तरह विकसित की जा सकीं तो कल एक महान् वट-वृक्ष के रूप में परिणत होंगी।

अगले कुछ ही दिनों में एक महानतम, सर्वांगीण, सार्वभौम आन्दोलन एक प्रचण्ड दावानल की तरह प्रकट होने वाला है। उसके अनेक रूप और अनेक प्रकार होंगे, अनेक नामों, से अनेक संस्थाओं-संगठनों के द्वारा अनेक रूपों में अनेक व्यक्तियों द्वारा वह चलेगा। धर्म-क्षेत्र से लेकर अन्न-क्षेत्र, समाज-क्षेत्र, राज्य-क्षेत्र तक में एक महानतम विचार क्रान्ति उत्पन्न होगी। यह विचार-परिवर्तन नये युग का सृजन करेगा। उस प्रयोजन की पूर्ति के लिए अनेक सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ चलेंगी और अनेक धरती को लाल कर देने वाले संघर्ष होंगे। युग-परिवर्तन की बात आज हँसी-दिल्लगी जैसी लगती है पर उसकी प्रचण्डता अगले दिनों हर आँखों वाला देख सकेगा। इस समुद्र-मन्थन के बाद जो अमृत निकलेगा उसी को पीकर मानव जाति देवत्व, अमरत्व एवं धरती पर स्वर्ग अवतरित करने वाले सतयुग का आनन्द उपलब्ध करेगी।

अखण्ड-ज्योति परिवार द्वारा आरम्भ की गई इस पुण्य प्रक्रिया का- युग निर्माण योजना का यही प्रयोजन है । इसके लिए जन-मानस में उत्कृष्टता की, विवेकशीलता की, लोकमंगल के लिए मानवोचित कर्तव्यपालन करने की ज्योति का जागरण किया जाना आज की सर्वप्रथम, सर्वप्रधान आवश्यकता है। हमारा प्रथम चरण इसी के लिए है। (१) अन्तरात्मा में प्रेमतत्व का अमृत निर्झर स्रवित करने के लिए हमारी बसन्त पंचमी से आरम्भ हुई साधना अनुपम प्रतिफल उत्पन्न करेगी। प्रातः-सायं आत्म-निरीक्षण और दिनचर्या के सुव्यवस्थिति निर्धारण से व्यक्तित्वों में प्रखरता आएगी। लोग प्रतिभाशाली, सुसंस्कृत, सहृदय एवं सुविकसित बनेंगे।

(२)ज्ञान-यज्ञ से ब्रह्म विद्यालयों के प्रचलन से अँधेरी कोठरियों में विवेक के दीप जलने लगेंगे। जिनने कभी विवेकशीलता, विचारकता, तथ्य एवं सत्य की दृष्टि से सोचा तक नहीं, ढर्रे की रूढ़िवादिता में ही सोचते-विचारते रहे, उन्हें हमारा ज्ञान-यज्ञ एक नई दिशा देगा।

(३) शिक्षा पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन करने की जिस प्रयोगात्मक प्रक्रिया का मिशन द्वारा शुभारंभ किया गया है, उसके द्वारा हजारों ऐसे प्रबुद्ध व्यक्तित्व कुछ ही दिनों में विनिर्मित होंगे जो अपनी निजी समस्याओं को ही नहीं सुलझाएँगे वरन् देश और समाज की समस्याओं का हल करने वाले-युग-निर्माताओं की कमी भी पूर्ण कर सकें।

(४) जन्म दिनों की प्रेरणा सज्जनों को संगठित करेगी उन्हें जीवन के सर्वोत्तम सदुपयोग का व्यावहारिक मार्गदर्शन करेगी। जीवनों का वास्तविक जीवन बनाने में सहायक होगी।

(५) विचार-क्रान्ति के लिए उपयुक्त भावनापूर्ण प्रेरक साहित्य जन-मानस की दिशा को उस ओर मरोड़कर रख देगा, जिधर विश्व-कल्याण की वास्तविक संभावनाएँ सन्निहित है।

प्रस्तुत पंचसूत्री योजना, मानवजाति के उज्ज्वल भविष्य का सर्वांगपूर्ण निर्माण कर सकने वाले साधन उत्पन्न करेगी। उच्चस्तरीय भावनाएँ जाग पड़ने से आज के निकम्मे प्रतीत होने वाले व्यक्ति ही कल नर रत्नों और महापुरुषों में परिणत हो जाएँगे। आज जो स्वयं भार बने हुए हैं, कल दूसरों के भारी उत्तरदायित्व अपने कंधों पर वहन करेंगे। उनके प्रयत्नों से ऐसी सत्प्रवृत्तियाँ विनिर्मित, विकसित एवं सफल होंगी जो व्यक्ति और समाज को आज की विपन्न परिस्थितियों को आमूलचूल परिवर्तन करके सतयुग का स्वर्गीय वातावरण सृजन करें।

नई पीढ़ी में संसार की महान् आत्माएँ अवतरित होने वाली है। वे आत्माएँ 'यदा-यदा हि धर्मस्य..... वाली प्रतिज्ञा को पूर्ण करेंगी। उनका जन्म होगा ऐसे माता-पिता द्वारा जो स्वयं विचार-व्यवहार की उत्कृष्टता के कारण ऐसी आत्माओं को जन्म देने और पालने-पोसने के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकें। यह प्रयोजन वे ही दम्पत्ति एवं परिवार पूरा करेंगे जो उक्त पंचसूत्री कार्यक्रम अपनाकर चहुँओर आदर्शपूर्ण वातावरण उत्पन्न कर सकें।

भावनात्मक निर्माण की, युग निर्माण की प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रथमवर्षीय कार्यक्रम सरल एवं छोटा होते हुए भी महान् है। इसे सफल बनाने में योगदान देकर हमें अपना युग-धर्म पालन करना ही चाहिए।

दस तथ्य-जिन पर हम दस-दस बार विचार करें

हमारे ज्ञान-यज्ञ को इस युग का, इस शताब्दी का, सहस्राब्दी का सबसे महत्वपूर्ण, सबसे महान् एवं सबसे व्यापक अभियान कहा जा सकता है। यों धन एवं प्रदर्शन की दृष्टि से इसका रूप सामान्य ही है पर आज आरम्भिक

स्थिति में भी लाखों व्यक्ति इसके सम्पर्क में हैं और अपनी, अपने परिवार की तथा अन्य अनेक की विचारधारा को उलट-पुलट करने में संलग्न हैं। यह एक सत्य है कि विचार बदलने के साथ मनुष्य के कार्य भी बदलते हैं। जो शक्तियाँ आज आसुरी एवं ध्वंसक बनी हुई हैं, वे यदि कल दैवी एवं रचनात्मक बन जाएँ तो विनाश के स्थान पर निर्माण की, नरक के स्थान पर स्वर्ग की गतिविधियाँ परिलक्षित होंगी।

इमारतें और कारखाने बनाना सरल है। स्कूल और बाँध भी थोड़ी अर्थ-व्यवस्था हो जाने पर आसानी से बन सकते हैं। असली काम व्यक्ति निर्माण का है जो जितना ही कठिन है उतना ही महत्वपूर्ण भी है। ताजमहल बनाने वाले शाहजहाँ की तुलना में समर्थ गुरु रामदास द्वारा शिवाजी का निर्माण अधिक महत्वपूर्ण है। गाँधी की तुलना टाटा के लोह संस्थानों से नहीं की जा सकती । निजीधाम का सारा स्वर्ण कोष लोकमान्य तिलक के मूल्य से बढ़कर नहीं हो सकता। किसी समाज की असली सम्पत्ति उसके चरित्रवान्, मनस्वी और परमार्थ परायण व्यक्ति ही होते हैं। ये ही करोड़ों जीवनों को प्रभावित करते, वातावरण को बदलते और अन्धकार में प्रकाश उत्पन्न करते हैं। ऐसे सत्पुरुषों का निर्माण कार्य जिस संस्थान द्वारा होता है उसे इस धरती पर अवतरित देवदूत ही माना जाएगा । इस दृष्टि से अपना 'ज्ञान-यज्ञ' एक ऐसा ऐतिहासिक अनुदान है जिसे भावी पीढ़ियाँ लाखों वर्षों तक विस्मरण न कर सकेंगी।

'ज्ञान-यज्ञ' का अभी आरम्भ काल है। उसमें से अग्नि की लपटें फूटने लगी हैं। अभी उसे विश्व-व्यापी ऐसी प्रचण्ड दावानल का रूप धारण करना शेष है, जिसकी आग में मानव समाज के समस्त पाप-ताप जल जाएँ और शुद्ध स्वर्ण जैसी कान्तिमान होकर वह विश्व मंगल का नया सूत्रपात कर सके। अभी हिन्दी भाषा में थोड़ा लेखन एवं प्रकाशन कार्य आरम्भ हुआ है, आगे यह विचार-धारा भारतीय भाषाओं में ही नहीं-संसार की १०० प्रमुख भाषाओं में प्रकट होगी और विश्व का प्रत्येक नागरिक उससे एक नया प्रकाश, नया प्रभाव ग्रहण करेगा। यह सब कुछ कौतूहलवर्द्धन प्रचार कार्य नहीं वरन् मनोभूमि का परिवर्तन है, जो व्यक्तियों को कुछ सुझाव मात्र नहीं देगा वरन् उनकी जीवन-दिशा और क्रियापद्धति को ही पलट कर रख देगा। आज जो भारभूत, निकम्मे व्यक्ति दीखते हैं कल वे ही एक से एक बढ़-चढ़ कर महत्वपूर्ण भूमिकाएँ प्रस्तुत करेंगे, ऐसे होगा अपने 'ज्ञान यज्ञ' का प्रभाव । यह कल्पना नहीं सच्चाई है, जिसे कुछ ही वर्षों में हर कोई अपनी इन्हीं आँखों से मूर्तिमान प्रत्यक्ष देख सकेगा।

'ज्ञान-यज्ञ' से परिष्कृत मनोभूमि अपनी एक संघर्ष भूमिका प्रस्तुत करेगी। सड़ी-गली जीर्णता अपने विकृत रूप में जहाँ कहीं जड़ जमाए बैठी होगी वहाँ से उठाकर फेंकने के लिए एक और कदम बढ़ाना पड़ेगा। 'ज्ञान-यज्ञ' से प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता केवल संस्कारवान् व्यक्तियों में ही होती है। जिनमें जड़ता और दुष्टता मजबूती से जड़ जमाये बैठी है, वे न इस प्रभाव को ग्रहण करते हैं और न बदलते हैं। इनके भाग्य में दुर्गति ही लिखी है। इन कराल काल की दाढ़ों में चिपके हुए मरण प्राणियों पर महाकाल का प्रकोप होना ही है और उनकी लाशों को ठिकाने लगाने का कार्य आखिर इन प्रबुद्ध व्यक्तियों को ही करना है। एक देवासुर संग्राम फिर होगा। गुर्राने वाली असुरता का मुँह तो तोड़ा ही जाएगा। न बदलने के लिए आग्रह किये बैठे लोगों को युग के अनुरूप बनाने के लिए विवश किया ही जाएगा। इसमें हाथा-पाई होनी ही है। 'ज्ञान-यज्ञ' अन्त में एक ऐसे अश्वमेध का रूप धारण करेगा। जिसमें समस्त दुर्बुद्धि और दुष्टता का तिरोधान हो जाय।

इस 'ज्ञान-यज्ञ' के आरम्भिक होता यजमानों का श्रेय लेने के लिए 'अखण्ड-ज्योति' के परिजनों को सादर आमन्त्रित किया गया है। इस आह्वान को न अस्वीकृत किया जाना चाहिए और न उपेक्षित । इसे स्वीकार करना ही बुद्धिमान और दूरदर्शिता होगी, इस दृष्टि में निम्न तथ्यों पर हमें पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए।

(१) सन १९६७ के अखण्ड-ज्योति पत्रिका के कई अंकों को हमें बहुत ही ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए। जुलाई का अंक अब से तीस वर्षों की सुनिश्चित संभावनाओं का रेखा-चित्र है। नवम्बर का अंक बताता है कि भावी संसार की रीति-नीति क्या होगी? समय के साथ बदलना ही बुद्धिमानी है। अपने मस्तिष्क की बनावट उसी ढाँचे में ढालनी चाहिए जो समय के अनुरूप है। अपने क्रिया-कलाप को उस ढर्रे पर छोड़ना चाहिए, जिसकी पटरी अगले समय के साथ ठीक तरह बैठ सके। यदि ऐसा परिवर्तन अपने भीतर किया जा सका तो समझना चाहिए कि बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता की एक बहुत बड़ी परीक्षा पास कर ली। अगला समय जैसा आ रहा है उसके प्रतिकूल स्तर की अपनी आकांक्षाएँ, गतिविधियाँ एवं योजनाएँ चलती रहीं तो आकस्मिक परिवर्तन का इतना बड़ा झटका लगेगा कि सम्भालना मुश्किल हो जाएगा। अप्रत्याशित परिस्थितियाँ जो बिल्कुल ही वर्तमान ढाँचे से विपरीत हों-जब सामने आ खड़ी होती हैं तब पश्चाताप और दुःख बहुत होता है। जब समयानुसार बदले हुए लोग चिर प्रतीक्षित सुअवसर आने का मोद मना रहे होते हैं तब अड़ियल लोग हक्का-बक्का होकर शोक-संताप में डूबे खड़े होते हैं। अच्छा हो इस विपन्नता से बचा जा सके।

(२)अक्टूबर के अंक में यह बताया गया है कि 'महाकाल का युग निर्माण प्रत्यावर्तन अब द्रुतवेग से गतिशील होने जा रहा है। उसके इस अभियान में प्रबुद्ध आत्माओं को महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करनी होगी। जिनकी जड़ता और अनुदारता न छूट सके उन्हें समय से टकराकर चूर-चूर होने की तैयारी करनी होगी। बीच को

कोई स्थिति नहीं। जैसा अब तक चलता रहा है आगे भी वैसा ही ढर्रा चलता रह सकता है, ऐसा किसी को भी नहीं सोचना चाहिए। इधर या उधर अपना एक स्थान नियत कर लेना चाहिए। वह स्थान क्या होना चाहिए। उसका उद्‌बोधन अक्टूबर अंक में है। 'अखण्ड-ज्योति' परिवार में बहुत प्रयत्नपूर्वक संस्कारवान प्रबुद्ध आत्माएँ मूल्यवान मणियों की तरह एकत्रित कर एक माला में संजोई गई हैं। उनके जीवनोद्देश्य पूरा करने की भूमिका में प्रवेश करने का ठीक यही समय है। इस अवसर को न चूका जाना चाहिए। क्योंकि यह चूक अन्ततः बहुत महँगी पड़ेगी।

(३) दिसम्बर ६७ के अंक में परिजनों के कर्तव्य का और भी अधिक स्पष्टीकरण किया गया है। अच्छा हो इस उद्‌बोधन को प्रत्येक पाठक को दो बार पढ़े। एक सबसे बड़ा परिवर्तन दृष्टिकोण में यह करना चाहिए कि धन एकत्रित करने और उसे बेटे-पोतों को बैठकर खाने के लिए छोड़ जाने वाली बात मन में से बिल्कुल निकाल देनी चाहिए। सादगी से रहना चाहिए। गुजरभर के लिए कमाना चाहिए। इस प्रकार जो समय और धन की बचत होगी उसे उन प्रयोजनों में लगाया जा सके, जिनसे आत्म-कल्याण, परमार्थ एवं नव-निर्माण के लिए अवकाश तथा साधन बच सकें। आमतौर से बढ़ी हुई तृष्णा, कामना एवं विलासिता की पिशाचिनी ही हमारा सब कुछ खा जाती है और जब कभी परमार्थ प्रयोजनों की पूर्ति का तकाजा सामने आता है तब दाँत निपोर कर फुरसत न मिलने, साधन न होने का निर्लज्ज बहाना बनाकर आत्म-प्रवंचना करनी पड़ती है। इस कुत्सित स्थिति से बचाव तभी सम्भव है जब घरेलू गोरखधन्धों से कम महत्व आत्मिक एवं दैवी कर्तव्यों की पूर्ति को न दें। यह तृष्णा मिटाने और संकीर्णता का दायरा छोटा करने से ही सम्भव होगा। अतएव हो सके तो ऐसा परिवर्तन हमें आज ही अपने दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप में कर लेना चाहिए और सोचना चाहिए कि ऐतिहासिक बेला में हम दैवी आह्वान का अनुसरण करने के लिए क्या कुछ कर सकते हैं? बारीकी से सोचने और कड़ाई से पूछने पर जो उत्तर मिलेगा वह यही होगा कि हम इन गई-गुजरी परिस्थितियों में भी बहुत कुछ कर सकते हैं-इतना कर सकते हैं जिसके प्रकाश से भीतर और बाहर सर्वत्र उजाला-ही-उजाला दृष्टिगोचर होने लगे।

अपने तीन खण्डों में बँटे हुये व्यक्तित्व में देवत्व का जागरण करने की पंचसूत्री साधना पद्धति देखने में ही साधारण लगती है, इसकी प्रतिक्रिया बहुत ही प्रबल है । जो इस सरल साधना को सच्चे मन से अपना सकेगा वह देखते-देखते अपने में जादू जैसा परिवर्तन करेगा। वह न नर पशु रह सकता है न नर पिशाच। दोनों ही योनियों से मुक्ति पाकर वह इसी जीवन में नर नारायण का अवतार बनेगा, इसे प्रतिज्ञापूर्वक कहा और विश्वासपूर्वक सुना-समझा जा सकता है।

(४) स्थूल शरीर की, देवत्व की साधना के लिए कर्मयोग का अभ्यास आवश्यक है और इसके लिए प्रातः उठते ही 'हर दिन नया जन्म, हर रात नई मौत' मंत्र के आधार पर दिनभर की शारीरिक, मानसिक दिनचर्या तैयार करनी चाहिए। सारे दिन कड़ी निगाह रखनी चाहिए। कि निर्माण कार्यपद्धति का ठीक तरह पालन होता रहे रात को सोते समय वैराग्य भाव से जो सब कुछ भगवान का था उसे भगवान को सौंपकर चिर-निद्रा की गोद को आनन्द सागर मानकर उसमें शान्तिपूर्वक निमग्न हो जाना चाहिए।

(५) सूक्ष्म शरीर में देवत्व की साधना के लिए 'ज्ञान-योग' का अभ्यास आवश्यक है। साथ में एक दिन जन्म दिवस आता है, उस दिन विशेष रूप से जीवन के उद्देश्य, स्वरूप और उपयोग पर विचार करना चाहिए। वैसे हर दिन ही इस तत्वज्ञान का स्मरण बनाये रखना चाहिए जीवनोत्कर्ष की समस्याओं को सुलझाने वाले साहित्य का नित्य-नियमित स्वाध्याय करना और अपने परिवार तथा परिचितों में 'झोला पुस्तकालय' द्वारा प्रकाश पहुँचाना ज्ञान-योग की एक सरल किन्तु प्रभावशाली पद्धति है। इसको आहार, स्नान, शयन की तरह ही आवश्यक अनिवार्य नित्य कर्मों में स्थान देना चाहिए।

(६) कारण शरीर में देवत्व की साधना के लिए भक्तियोग का अभ्यास करना चाहिए। उचित विचारों को स्वीकार करने और सत्कर्म करने में झिझक, संकोच और कायरता को छोड़कर साहसपूर्वक औचित्य को अपना लेना, यह भावनात्मक विकास का प्रथम परिचय है। अन्तःकरण में प्रेम-भावना का अधिकाधिक समावेश, यही ईश्वर को हृदय मन्दिर में प्रत्यक्ष प्रतिष्ठापित करने की प्रक्रिया है। ध्यान में परमेश्वर को सरल भाव से आलिंगन करना अपनी श्रद्धा और विभूतियाँ उसके लिए समर्पित करना और बदले में उसका अपार अनुग्रह और असीम प्रकाश प्राप्त करने के आदान-प्रदान की भावना परिपक्व करना बहुत ही उत्तम है। इसके लिए दीपक और पतंगों का आत्म-समर्पण और दो समवयस्क बालकों का परस्पर आलिंगन वाले ध्यान बड़े आकर्षक और प्रभावी सिद्ध होते हैं। प्रातःकाल आधा घण्टा इस ध्यान को नित्य किया जाए। जप आदि की साधारण उपासना जारी रखी जाए। जब भी अवकाश हो इन ध्यानों को हृदयंगम किया जाए। व्यावहारिक जीवन में अधिक मधुरता, क्षमा, दया, सेवा, सज्जनता, उदारता का व्यवहार हर किसी के साथ बढ़ाया जाय। इस प्रकार कारण शरीर में देवत्व की जाग्रति आत्मा में परमात्मा की प्रतिष्ठापना का कार्य बड़ी उत्तमता के साथ दिन-दिन अग्रगामी होता रह सकता है।

युग निर्माण योजना की यही प्रथमवर्षीय पंचसूत्री योजना है। इसे हर व्यक्ति के आध्यात्मिक जागरण का शुभारम्भ करने की व्यापक तैयारी ही कहना चाहिए। साधन सरल है पर इनके पीछे उत्कर्ष की महान सम्भावनाएँ परिपूर्ण रूप से विद्यमान हैं। कर्म-योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग की यह सुलभ साधना हमारे जीवनक्रम

में आश्चर्यजनक परिवर्तन कर सकती है। परिजन आज से ही इनका प्रयोग प्रारम्भ करें और अगले वर्ष इन्हीं दिनों देखें कि इस थोड़ी-सी अवधि के अन्दर ही अपना बाह्य और अन्तरंग स्तर कितना बदल गया है।

(७) जिन साधकों के कदम दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ेंगे उनकी व्यक्तिगत रूप से हम पूरी-पूरी आध्यात्मिक सहायता करेंगे। प्रात: दो से छ:बजे तक हमारा समय आध्यात्मिक प्रयोजनों के लिए निर्धारित है। उस समय इस योगत्रयी का अभ्यास करने वाले साधकों से हमारा सम्पर्क बना रहेगा और उन्हें आवश्यक सहयोग देने का प्रयत्न किया जाता रहेगा। हमारा कार्यकाल यहाँ ३।। वर्ष मात्र रहा है और परिजनों में से भी न जाने कौन कितना ठहर सके। इसलिए इस छोटी-सी अवधि का अधिकतम सदुपयोग किया जाना चाहिए। जिस ढर्रे पर चलते हुए जीवन का बहुमूल्य भाग ऐसे ही बर्बाद हो गया, उसी को और अधिक आगे नहीं चलने देना चाहिए। पिछली भूल का यही प्रायश्चित है कि जो शेष है उसका अधिकाधिक तत्परतापूर्वक सदुपयोग किया जाय।

(८) हमारा 'ज्ञान-यज्ञ' इस युग का सबसे महान् ऐतिहासिक अभियान है। इसमें परिवार के प्रत्येक परिजन को प्रतिस्पर्धापूर्वक आत्म-योग प्रदान करना चाहिए। छुट-पुट अनेक पुण्य-परमार्थों की बात सोचने की अपेक्षा युग की महती आवश्यकता को पूर्ण करने वाले इस एक ही अभियान को हमें एकाग्रतापूर्वक पूर्ण करना चाहिए। संस्कृति सीता को अज्ञान असुर के चंगुल से छुड़ाना-हम रीछ-वानरों का एक ही लक्ष्य और एक ही कार्यक्रम होना चाहिए। अनेक दिशाओं में न भटकें, अपनी समस्त श्रद्धा इस एक ही बिन्दु पर केन्द्रित करें। हनुमान की तरह "राम काज कीन्हें बिना, मोहि कहाँ विश्राम" की एक ही रट लगानी चाहिए और अपने को तिल-तिल जलाकर संसार में सद्ज्ञान का प्रकाश करने वाले इस ज्ञान दीप को 'ज्ञान-यज्ञ' को प्रदीप्त रखने में बड़े से बड़ा पुरुषार्थ, बड़े से बड़ा त्याग, बलिदान करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

नवनिर्माण के उक्त कार्यक्रमों को देश-व्यापी, विश्व व्यापी बनाने के लिए प्रबुद्ध व्यक्तियों का अधिकाधिक मनोयोग, श्रम और समय आवश्यक है। युग निर्माण के शत-सूत्री कार्यक्रम समय और श्रम न मिलने पर कैसे पूरे होंगे? 'ज्ञान-यज्ञ' के लिए हमारा समय और श्रम का एक बड़ा भाग लगना चाहिए। अपने स्थान पर 'अखण्ड-ज्योति' के कम-से कम- दस सदस्य बनाकर उसका एक छोटा संगठन-युग निर्माण शाखा की स्थापना ऐसा कार्य है, जिसे कोई भी सच्चा उत्साही व्यक्ति कहीं भी सफलतापूर्वक पूरा कर सकता है। यह शाखा स्थापना आरम्भ मे एक छोटा काम लगेगा पर यदि व्यक्तिगत रूप से चलता रहा तो यह छोटा संगठन जन-जागरण की, युग परिवर्तन की महान् भूमिका सम्पन्न कर सकने में सफल होगा। 'अखण्ड-ज्योति' के नये और पुराने सदस्यों के पास एक टोली बनाकर जाया जा सकता है और उन्हें संघबद्ध किया जा सकता है। शिथिल संगठनों को इस महीने सजीव कर लिया जाए तो ज्ञान-यज्ञ की परिपुष्टि के लिए यह एक बहुत बड़ा काम होगा। आगे इसी संगठन द्वारा जन्मोत्सव, संस्कार पर्व, विचार-गोष्ठी, सम्मेलन आदि के आयोजन करने का क्रम चलाया जा सकता है और विकास संघ शक्ति के अनुरूप बड़े से बड़ा कार्य आरम्भ किया जा सकता है। संघ शक्ति युग परिवर्तन की आधारभूत शक्ति है। इसके लिए हमें अपने प्रबुद्ध परिवार को तो एक बार पूरे जोश के साथ पुरुषार्थ करके सुव्यवस्थित और सुसंगठित कर ही लेना चाहिए। इतना कर लेने पर ही विश्व संगठन की दिशा में पथ प्रशस्त होगा।

(९) 'ज्ञान-यज्ञ' के अन्तर्गत हमें चतुर्विधि कार्यक्रम चलाने हैं। प्रखर विचारधारा के निर्माण का जो महान एवं मूलभूत कार्य चल रहा हैं। उसकी गति बहुत ही मन्द है। साधन इतने स्वल्प हैं, कि जन-मानस की क्षुधा तृप्त कर सकने योग्य भोजन संजोया नहीं जा रहा है। जो ट्रैक्ट कई हजार छपने पर सस्ते पड़ते ये आर्थिक संकोच के कारण एक-एक हजार छपाने पड़ रहे हैं और उनकी लागत छपे मूल्य से भी अधिक आ रही है। थोड़ी आर्थिक सुविधा होती तो ये अधिक संख्या में छपते, सस्ते पड़ते और अधिक लोगों की सेवा करते पर मजबूरी के लिए क्या किया जाए? गुजराती, मराठी, बंगला, अँग्रेजी भाषा में इनके अनुवाद छपने हैं। इन क्षेत्रों की जनता इस ज्ञान के पढ़ने के लिए आतुर है। पर; हिन्दी क्षेत्र तक ही हमें सीमित रहना पड़ रहा है। विवशता में क्या किया जाए? भीख की झोली घुमाने की अपनी आदत नहीं। इससे लोगों की श्रद्धा और अपनी निष्ठा दोनों में ही कमी आती है। चन्दा-चट्टू लोगों के द्वारा फैलाई गई दुर्गन्ध को देखते हुए वैसा हुए वैसा कदम उठाने का साहस जरा भी नहीं होता। फिर भी आवश्यकता तो आवश्यकता ही है, वह और रहेगी। इसे इस प्रतीक्षा के अधर में लटका छोड़ दिया गयाहै कि देखें अपने परिवार में कुछ सहृदय और उदार व्यक्ति भी हैं या नहीं? अपने कितने ही व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी संतानें नहीं हैं, हैं तो काम-धन्धों से लगी हुई हैं। पैसा पास में है। उसे देने के लिए मौसी, फूफी के बाल-बच्चों को तो गिनते रहते हैं पर देश-धर्म की आवश्यकता को भूल जाते हैं। ऐसे लोग जग जाएँ तो छोटे भामाशाहों की भूमिका सम्पन्न करके 'ज्ञान-यज्ञ' की हव्य सामिग्री का अभाव दूर कर सकते है, इनके लिए सद्बुद्धि की ही प्रार्थना की जा सकती है।

यों चाहे तो इसमें से साधारण और गरीब स्तर के लोग भी 'ज्ञान-यज्ञ' को अपने बच्चों में एक और बच्चा गिन सकते हैं और जितना पालन-पोषण एक बच्चे के लिए करना पड़ता, उसे इस परमार्थ कार्य के लिए लगाते रह सकते हैं। बात हिम्मत करने और उदारता लाने भर की है। यों तो 'अखण्ड-ज्योति' का चन्दा भेजने में भी कई को आर्थिक कठिनाई का बहाना करना पड़ता है। पर यदि दिल में गुंजायश हो तो गरीब लोग भी उतना कर

सकते हैं, जिससे अमीरों की आँख नीची हो जाएँ। युग निर्माण योजना के शतसूत्री ज्ञान-यज्ञ के चार सूत्री कार्यक्रमों को व्यापक बनाने के लिए प्रचारकों, साहित्यकारों, कलाकारों, नेताओं, अभिनेताओं, वक्ताओं, संगठनकर्ताओं, लेखकों, अध्यापकों एवं कार्यकर्त्ताओं की हजारों-लाखों की संख्या में आवश्यकता है। रोटी-कपड़े का प्रबन्ध हो सके तो कर्मवीरों की यह बड़ी सेना सहज ही खड़ी की जा सकती है। जो लोग स्वयं क्षेत्र में काम करने नहीं जा सकते वे कार्यकर्त्ताओं की रोटी का प्रबन्ध करके उन्हें अपने प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने के लिए छोड़ सकते हैं। हो बहुत कुछ सकता है-होना भी चाहिए। हम 'अखण्ड-ज्योति' परिवार के धनी, निर्धन भी बहुत कुछ कर सकते हैं। पर हत्यारी संकीर्णता कुछ करने दे तब न। आशा है और प्रार्थना करनी चाहिए कि प्रबुद्ध परिजनों की अन्तरात्मा उन्हें झकझोर कर कुछ कह देगी और 'ज्ञान-यज्ञ' के महान अभियान का हर पहलू अपने ढंग से विकास करता चला जाएगा।

(१०) जिनके घर में रोटी की पूर्व संचित व्यवस्था मौजूद है, उन्हें और अधिक कमाने की बात नहीं सोचनी चाहिए। उपलब्ध सुविधा के आधार पर पेट पालने और समय को लोक-मंगल के लिए लगा देना ही उनके लिए उचित है। पृथक परिवार जमाने और बढ़ाने की अपेक्षा विश्व परिवार में सुख-शान्ति उत्पन्न करने के लिए अपना उत्सर्ग करना अधिक बड़ी बुद्धिमत्ता है। जीवन का सारा स्वत्व घर-परिवार का गौरव-धन्धा ही चूस लेता है। जिन्हें साहस हो वे आरम्भ में ही ऐसी योजना बना सकते हैं। जिसके अनुसार उन्हें विश्व परिवार के लिए ही अपना उत्सर्ग करने का लाभ मिल सकें।

महाकाल का महान् युग निर्माण प्रत्यावर्तन अब बिल्कुल समीप है। अच्छा हो हम अपनी गतिविधियाँ बदलें और कुछ ऐसी साहसपूर्ण भूमिका का सम्पादन करें जिससे इस संधि वेला में ऐतिहासिक कर्तृत्व सम्पादित करने का अवसर मिल सके। ईश्वर की महती कृपा ही हमें यह सौभाग्य प्राप्त करने का अवसर दे सकती है।



परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगदृष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में जितना भी कुछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनों का निर्माण, उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युग निर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईंट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह-संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़, पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद काँग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं-सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति-स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनेतृत्व भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी रंग में रँगे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे- सृजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन बुनियादी आधार पर टिका- मानव को बनाने का तंत्र-आश्रम तंत्र जो सेवाग्राम-साबरमती आश्रम के रूप में कार्य करता रहा और वह भी शीर्ष-पुरुष के न रहने, बिनोवाजी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण, आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक, भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि.संवत् २०८६ में जन्मे, राष्ट्र की आजादी में उन्मत्त बने श्रीराममत्त कहलाने वाले, आचार्यश्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रान्ति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माताजी के रूप में खड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अपनी लेखनी से लिखी, ममत्व भरी चिट्ठियों व छोटी-छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर उन्होंने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्वदर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनों में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में सम्पन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरुसत्ता को त्याग करने की, यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा बलवती होने लगी। उन्होंने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेध के रूप में अपने आप को समाज के हित न्यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से सम्पन्न हुआ, एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई- वह थी गायत्री तपोभूमि, मथुरा जो वृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक अपनी जन्मभूमि आँवलखेड़ा से,जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा वहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी १२ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनों का निर्माण उनके अंतःस्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा हवेली कहा

जाता था, में अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, **अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी,** मथुरा के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जो कि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ में बनाई गई। १९५३ में क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदेव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों, भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों, चरणपीठों का महत्त्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं, ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा जा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत् उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्यपूर्ण था।

परमपूज्य गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ इस प्रकार हैं-

(१) युगतीर्थ आँवलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शान्तिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार ।

युगतीर्थ आँवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन, ब्राह्ममुहूर्त में, जो अँग्रेजी तारीख से २० सितम्बर, १९११ के दिन आती थी, में जन्मा। एक श्रीमंत ब्राह्मण परिवार में, जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित, पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित, बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलालेखों की स्थापना हुई है- वहीं पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रम में गिर सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं- जैसी उनके समय में थीं। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुँआ जिसे पूरे गाँव का एकमात्र मीठे जल वाला कुँआ माना गया- वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीरधारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशाधारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क-पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। आँवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इण्टर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धनराशि द्वारा विनिर्मित है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकल कर आत्म-निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ एवं कन्या इंटर कॉलेज की स्थापना का ताना-बाना बुना जाने लगा जो एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था करने वाले, उन्हें सुशिक्षित, संस्कारवान, आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब रूप ले चुका है। प्रथम पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया कि यहाँ से उद्भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर जाए व राष्ट्र के नव-निर्माण की सांस्कृतिक व भावनात्मक क्रान्ति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३६-३७ तक ही रहे, कुछ दिन आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये, जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान किराये पर लिया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव सीमित साधनों में अपने अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की जन-जन तक अपने क्रान्तिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरम्भ कर दी गयी थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ व अन्यान्य लेखों की पंक्तियों के माध्यम से सम्पन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतःस्थल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। यहीं पर अगणित दुःखी, तनावग्रसित

व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परमवंदनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी ट्रेडिल मशीनों द्वारा यहाँ पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छापी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी-सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजाघर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में १९४२-४३ में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी घीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनी, १९५८ में सहस्र कुण्डी यज्ञ की आधारशिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार बनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परमवंदनीया माताजी पढ़ती जातीं एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ। जनसम्मेलनों, छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डी पाँच विराट् यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन, विस्तार, डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्याप्त अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परमवंदनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन वहाँ विद्यमान हैं, यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू. गुरुदेव की साधनास्थली व प्रातःकाल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में १९५३ में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डी यज्ञायोजन सम्पन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा सम्पन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्यश्री ने युग निर्माण योजना के शत-सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युग निर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरम्भ होने की घोषणा की। यह विधिवत् १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युग निर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शान्तिकुंज, हरिद्वार ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवंदनीया माताजी को अखण्ड ज्योति दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुनः एक वर्ष बाद लौटे व तब शांतिकुंज को उनने एक बड़ा विराट रूप देने, सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवंदनीया माताजी ने २४ कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़

गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्तन सत्र, जीवन साधना सत्र, वानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता यहीं गढ़े। यह सत्र शृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का ताँता लगा रहता है। पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें करा लेते हैं।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सप्तऋषियों की मूर्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहाँ सभी संस्कारों को सम्पन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत् चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार सम्पन्न होते हैं। इस बीच परमवंदनीया माताजी ने जागरण सत्र शृंखलाएँ सम्पन्न करना आरम्भ रखा। देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर जो आज एक विराट स्थापना के रूप में, एक एकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं, १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ। विलक्षण, दुर्लभ जड़ी-बूटियों के पौधे यहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी तीर्थस्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहीं उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सत्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता-जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर उज्ज्वल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवीं स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७१ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था। वर्तमान शांतिकुंज- गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनों को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फलश्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच-पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहाँ पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों, जैव विद्युत आदि पर पड़ा, यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहीं किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित है, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहाँ प्रायः ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टास्तर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीला संदोह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान ४०००० से अधिक प्रज्ञामण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जाएँ तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावनत होने का मन करता है। □□□

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारो की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है । जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१ युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियो का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६ साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जागृति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरदः शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं विद्या
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ
५६.ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)

वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे—

७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवनः एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिह
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहि
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें

□□

हर निमिष उनका साथ रहा ।
बीस वर्ष शांतिकुंज हरिद्वार या सूक्ष्म शरीर से हिमालय में बीते। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, सिद्ध तीर्थ गायत्री तीर्थ का निर्माण एवं वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के लिए संकल्पित ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान व समर्थक साहित्य का लेखन इसी अवधि में हुआ। जीवन भर उनने लिखा, हर विषय को स्पर्श किया एवं जीवन मूरि की तरह भाव-संवेदना को अनुप्राणित करने वाली अपनी लेखनी साधना की। स्वयं के बारे में वे कहते थे- ''न हम अखबार नवीस हैं, न बुक सेलर, हम तो युगदृष्टा हैं। हमारे ये विचार, क्रांति के बीज हैं। ये फैल गए तो सारी विश्व-वसुधा को हिलाकर रख देंगे।''

गद्य ही नहीं, पद्य पर भी उनकी उतनी ही पकड़ थी। हजारों को प्रेरित कर उनने सृजनात्मक काव्य लिखवाया। लेखनी उनकी पत्रों के माध्यम से करोड़ों व्यक्तियों के जीवन को बदलती चली गयी। प्राय: श्रेष्ठ लेखक, श्रेष्ठ वक्ता नहीं होते। किन्तु उनकी ओजस्वी अमृतवाणी ने लाखों का कायाकल्प कर दिया। उनके उद्बोधनों को, जो उनने भारत के कोने-कोने व मथुरा-हरिद्वार की पावन भूमि में दिए, इस वाङ्मय में देने का प्रयास किया गया है। करुणा छलकाती उनकी वाणी, अंत: को स्पर्श करती हुई जीवन-शैली बदलने को प्रेरित रहती प्रतीत होती है।

सत्तर खण्डों में जो पाँच-पाँच सौ पृष्ठ के हैं, प्राय: वह सब कुछ समा गया है, जो ऋषि युग्म के माध्यम से प्रकट हुआ। जो कमियाँ हैं, वह संपादन मण्डल की हैं। जो कुछ भी श्रेष्ठ है, वह सब उसी गुरु-सत्ता का है, उन्हीं का है, उन्हीं को समर्पित है।